अष्टाध्यायी-भाष्यम्

ओ३म्

अष्टाध्यायीभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण दयानन्दसरस्वती
स्वामिना प्रणीतम्

प्रथमो भागः

(आद्यमध्यायद्वयम्)

अजमेरनगरे

वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्दः १०३

प्रथमं संस्करणम् } वैक्रमाब्दः १९८४ { मूल्यम् ८) रु०

अष्टाध्यायी-भाष्यम्

ओ३म्

भूमिका

महर्षि के प्रायः सब ग्रन्थ उन के जीवनकाल में प्रकाशित हुए। केवल ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, जो महर्षि के स्वर्गवास समय तक मुंशी बख़तावरसिंह आदि यन्त्रालय के अध्यक्षों के कुप्रबन्ध और शिथिलता के कारण सम्पूर्ण न छप चुके थे, वे उन के स्वर्गवास के पश्चात् वर्षों तक छपते रहे। तथा सत्यार्थप्रकाश का परिमार्जित संशुद्ध और परिवर्द्धित (सोत्तरार्द्ध) द्वितीय संस्करण भी उन के स्वर्गवास के अनन्तर ही प्रकाशित हुआ। किन्तु अष्टाध्यायीभाष्य न ही महर्षि के जीवनकाल में और न ही उन के स्वर्गारोहण के बहुत वर्षों बाद तक प्रकाशित हो सका। फलतः साधारण आर्य जनता अष्टाध्यायीभाष्य की सत्ता से नितान्त अपरिचित रही। अब ४९ वर्षों के महान् विलम्ब के पश्चात् जनता के सम्मुख यह पुस्तक प्रस्तुत होती है, सो कोई सज्जन पुस्तक के महर्षिकृत होने में आशंका न करें, इसलिये हम प्रामाणिक बाह्य तथा आन्तरिक साक्षी के कतिपय उद्धरण देते हैं। बाह्य साक्षी में महर्षि के विज्ञापन और पत्र ही सर्वमान्य होने से प्रथम उद्धृत किये जाते हैं॥

विक्रमीय संवत्सर १९३५ के वैशाख[2] मास में प्रकाशित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तिम अर्थात् १५, १६ वें अङ्क के अन्त में निम्नलिखित विज्ञापनपत्र छपा—

---

१. समस्त ग्रन्थ संस्कृत तथा आर्यभाषा में है, इसलिये हमारा विचार था कि भूमिका भी इन दोनों भाषाओं में लिखते, किन्तु अधिक व्यय तथा विस्तरभय से भूमिका केवल आर्यभाषा में लिखी है॥

२. ऋग्०भूमिका के १५, १६ वें अंक के अग्रिम पृष्ठ के नीचे के प्रान्त पर यह विज्ञप्ति है—"विदित हो कि सं० १९३५ ज्येष्ठ मास अन्त पर्यन्त पञ्जाब देश के अमृतसर नगर में पं० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी निवास करेंगे॥"

इस विज्ञापन से विदित होता है कि वैशाख मास के अन्त अथवा ज्येष्ठ मास के आरम्भ में यह अंक प्रकाशित हो कर ग्राहकों के पास पहुंच चुका था॥

"आगे यह विचार किया जाता है कि संस्कृत विद्या की उन्नति करनी चाहिये। सो बिना व्याकरण के नहीं हो सकती। जो आजकल कौमुदी[1], चन्द्रिका[2], सारस्वत, मुग्धबोध[3] और आशुबोध[4] आदि ग्रन्थ प्रचलित हैं, इन से न तो ठीक २ बोध और न वैदिक विषय का ज्ञान यथावत् होता है[5]। वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान से बिना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता, और इस के बिना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उस में अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है। जैसे वेद-भाष्य प्रतिमास ३२ पृष्ठों में १ अंक छपवाता हूं, इसी प्रकार ४६ [४८] पृष्ठ का अंक मुंबई में छपवाया जाय, तो बहुत सुगमता से सब लोगों को महा लाभ हो सकता है। इस में हज़ारों रुपये का ख़र्च और बड़ा भारी परिश्रम है॥

"इस का मासिक मूल्य जो प्रथम दें, उन से ॥= आने के हिसाब से ७॥ रुपये लिये जायें। उधार लेने वालों से ॥≡ के हिसाब से ११। लिये जायें। विद्योत्साही सब सज्जनों की सम्मति प्रथम मैं जाना चाहता हूं, सो सब लोग अपना अपना अभि-प्राय जनावें इति॥"

इसी विज्ञापन के सिलसिले में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने माधवलालजी मन्त्री आर्यसमाज दानापुर[6] को भी कई पत्र लिखे, जिन में से उपलब्ध पत्र[7] नीचे दिये जाते हैं—

---

१. कौमुदियों में से रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी, मेघविजयसूरि (संवत् १७५७) की हैमकौमुदी तथा भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी, ये तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इन में भी सिद्धान्तकौमुदी ही समस्त उत्तरीय भारत में प्रच-लित है। दक्षिण में कहीं २ जैन मठों में हैम-कौमुदी का पठन पाठन होता है। तथा जब से सिद्धान्तकौमुदी बनी, तब से प्रक्रियाकौमुदी का प्रचार बिल्कुल बन्द हो गया॥

२. चन्द्रिका से सम्भवतः रामचन्द्राश्रमकृत सिद्धा-न्तचन्द्रिका अभिप्रेत है॥

३. यह ग्रन्थ बोपदेव ने बनाया था। इस का प्रचार विशेष कर बङ्ग देश तक ही परिमित रहा है॥

४. बोपदेव की शैली का अनुकरण करके रामकिङ्कर सरस्वती ने यह बालोपयोगी ग्रन्थ बनाया था। इस का प्रचार भी बङ्ग देश में अधिक रहा है॥

५. कौमुदी आदि ग्रन्थों में वैदिक प्रक्रिया को लौ-किक प्रक्रिया से पृथक् दिया गया है। इससे प्रायः विद्यार्थी इस को छोड़ देते हैं। तथा वैदिक शब्दों के अर्थों में भी बहुत सी भूलें हैं। चन्द्रिका आदि में तो वैदिक विषय है ही नहीं। मुग्धबोध ने भी वैदिक प्रकरण की "बहुलं ब्रह्मणि॥" इस अन्तिम सूत्र में परिसमाप्ति की है॥

६. महर्षि के जीवनकाल में आर्यसमाज दानापुर संयुक्त प्रान्त की मुख्य आर्यसमाजों में से थी॥

७. देखो "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" द्वितीय भाग पत्रसंख्या ९०, ९१, ९२, १००॥

"नं० २१६

बाबू माधवलालजी आनन्द रहो। विदित हो कि चिट्ठी आप की आई। बहुत हर्ष हुआ। आप पाणिनीयाष्टाध्यायीभाष्य के ग्राहकों की सूचीपत्र बनाकर भेज दीजिये। क्योंकि जो इस में ख़र्च होगा, वह तो आप को ज्ञात ही होगा। १००० ग्राहक जब हो जायंगे, तब आरम्भ करेंगे। सब सभासदों को नमस्ते॥

रुड़की ज़िले सहारनपुर २१ जुला० ७८ दयानन्द सरस्वती"

"[नं०] १००

बाबू माधोलालजी आनन्द रहो।...और ग्राहक अष्टाध्यायी के भेज दो, क्योंकि अब तैयार होने लगी है॥

रुड़की ज़ि० सहारनपुर ६ अगस्त ७८ दयानन्द सरस्वती"

"नं० १०१

बाबू माधोलालजी आनन्द रहो।...अष्टाध्यायी की वृत्ति बनने का आरम्भ हो गया है॥...

रुड़की ज़िले सहारनपुर १२ अगस्त ७८ दयानन्द सरस्वती"

अन्तिम पत्र से निश्चित होता है कि १५ अगस्त १८७८ अर्थात् श्रावण ब० २ संवत् १९३५ से पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती अष्टाध्यायीभाष्य को प्रारम्भ कर चुके थे॥

"

Dehra Dun

24th April 1879.

...The As[h]tadhyaee has not met the sufficient number of subscribers yet; the four adhya[ya]s of this are just ready but the work is going on quite well, though not [a] copy [has] passed in the press up to date. ...

दयानन्द सरस्वती"

इस पत्र में अष्टाध्यायीभाष्य के चार अध्याय पूरे हो जाने की सूचना है। और साथ ही यह भी निर्देश है कि यद्यपि पर्याप्त ग्राहक न मिलने के कारण प्रकाशन आरम्भ नहीं किया जा सका, तथापि कार्य अच्छी प्रकार चल रहा है॥

महर्षि के उपर्युद्धृत लेख अष्टाध्यायीभाष्य के महर्षि कृत होने में अकाट्य और पर्याप्त प्रमाण हैं, इसलिये अष्टाध्यायीभाष्य की सूचना पाकर बहुत से लोगों ने श्री स्वामीजी महाराज तथा मैनेजर वैदिक यन्त्रालय को जो पत्र लिखे, उन का विस्तार भय से हम यहां उल्लेख नहीं करते॥

अब क्रमागत अष्टाध्यायीभाष्य के विषय तथा शैली की महर्षि के अन्य ग्रन्थों से तुलना करके हम प्रमाणित करेंगे कि जिस महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका लिखी तथा जिस ने पारिभाषिक और सौवर आदि ग्रन्थ लिखे, उसी महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य रचा—

१. अष्टाध्यायीभाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के स्वरव्यवस्था तथा वैदिकव्याकरण विषय में अष्टाध्यायी और महाभाष्य के कतिपय सूत्र और भाष्य तथा उन के संक्षिप्त व्याख्यान दिये हैं । प्रतिपाद्य विषय केवल वैदिक व्याकरण होने पर भी भाष्यभूमिका की अष्टाध्यायीभाष्य से सहोदर समानता की झलक पदे २ प्रकट हो रही है । निदर्शनार्थ—

> (१) "स्वयं राजन्त इति स्वराः । आयामः, दारुण्यं, अणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता । अणुता कण्ठस्य कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि[1] शब्दस्य ॥
>
> "अन्ववसर्गः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैःकराणि' शब्दस्य । अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैः-कराणि शब्दस्य ॥
>
> " 'त्रैस्वर्येणाधीमहे' त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चि-दुभयगुणैः । तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति ॥
>
> "स एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः । उदात्ततरः । अनुदात्तः । अनुदा-त्ततरः । स्वरितः । स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः । एकश्रुतिः सप्तमः ॥ अ० १ । पा० २ । 'उच्चैरुदात्तः' इत्याद्युपरि ॥" (प्रथम संस्करण पृ० ३९३, ३९४)

अष्टाध्यायीभाष्य (तथा सौवर में) १ । २ । २९, ३०, ३१, ३२ ॥ इन सूत्रों के व्याख्यान में यही महाभाष्य की पंक्तियें उद्धृत की गई हैं और आर्यभाषा में भी दोनों स्थलों पर समान अर्थ किया है । जैसे—

---

१. ऋग्०भूमिकाटिप्पण्योऽष्टाध्यायीभाष्ये चोभयत्र "उदात्तविधायकानि, अनुदात्तविधायकानि" इत्येवं "उच्चैःकराणि, नीचैःकराणि" इत्येतौ शब्दौ व्याख्यातौ ॥

"श्वेत और काला रंग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रंग उत्पन्न हो, उस का नाम तीसरा होता है अर्थात् खाकी या आसमानी ।"

कल्माष और सारङ्ग शब्द का यही अर्थ अष्टाध्यायीभाष्य तथा सौवर में किया गया है ॥

(२) दोनों ग्रन्थों में 'उणादयो बहुलम् ॥' (३ । ३ । १) सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य की तीन कारिकाओं का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया है—

अष्टाध्यायीभाष्ये	ऋग्०भूमिकायाम्
" 'तनुदृष्टेः' अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते । तत्र बहुलवचनादविहिताभ्यो ऽपि प्रकृतिभ्यो भवन्ति ।	" (बाहुलकं०) उणादिपाठेऽल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्यो अपि भवन्ति ।
"तथा च उणादयः प्रत्यया अपि न 'समुच्चिताः' एकीकृताः, किन्तु 'प्रायेण' बाहुल्येन प्रत्ययविधानमुणादौ कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिताः प्रत्यया भवन्ति । यथा ऋफातेः फिडफिड्डौ भवतः ।	"एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः, किन्तु 'प्रायेण' सूचनतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः ।
"सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा 'ऋषकः' इत्यत्र प्रत्ययादेर्ककारस्य इत्-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा न भवति । तदुक्तमे[त]दर्थं 'बहुलम्' इति ।	'तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्ति, अविहितानि च भवन्ति । यथा 'ऋषकः' इत्यत्र क-प्रत्ययस्य ककारस्य इत्-सञ्ज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव ।
"इदं पूर्वोक्तं त्रिविधं कार्यमुणादौ किमर्थं क्रियत इत्युच्यते—'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' 'नैगमाः' वैदिकाः शब्दाः, 'रूढयः' लौकिकाश्च 'सुसाधु' शोभनाः साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।	" (किं पुनः०) अनेनैतत्प्रतिपाद्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि, तावत्स्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते (नैगम०) 'नैगमाः' वैदिकाः शब्दाः, 'रूढयः' लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ।
"(नाम च०) 'नाम' सञ्ज्ञाशब्दान् 'निरुक्ते' निरुक्तकारा धातुजान् यौगिकान् 'आहुः' वदन्ति । 'व्याकरणे' वैयाकरणेषु, शकटस्य तोकमपत्यम्, शाकटायनस्यैकस्य मतेनेदं— सञ्ज्ञाशब्दा यौगिका इति ।	" (नाम०) सञ्ज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः । (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः । तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् ।
"(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थाच्च सम्युत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-	"(यन्न०) यद्विशेषात् पदार्थाच्च सम्युत्थितम्, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधाने-

न म व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ..."	न म व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । ..." (प्रथम संस्करण पृ० ३१८, ३१९)

(३) जिस प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदे, वेदविषये' इत्यादि किया है, उसी प्रकार ऋग्०भूमिका में भी सर्वत्र 'वेदविषये, वेदेषु इत्यादि समान अर्थ किया है । 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥' (२ । ३ । ६२) सूत्र पर अष्टाध्यायीभाष्य में छन्दस्-शब्द का विशेष व्याख्यान है—

"छन्दस्-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति । ब्राह्मण-शब्देनैतरेयादि-व्याख्यानानाम् । अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दो-ग्रहणं कृतम् ।"

इस की पूरक और अतएव पोषक ऋग्०भूमिका[1] की निम्नलिखित पंक्ति है—

"महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि[2] प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् छन्दो-ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।" (प्रथम संस्करण पृ० ३२१)

२. अष्टाध्यायीभाष्य और सौवर

अष्टाध्यायीभाष्ये	सौवरे
(१) "उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सख़्त कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें । 'दारु-ण्यम्' शब्द के निकलने के समय सख़्त रूखा स्वर निकले अर्थात् कोमल नहीं । 'अ-णुता' और कण्ठ को रोक लेना अर्थात् फैलाना नहीं । ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है । यही उदात्त का लक्षण है ॥" (१ । २ । २९॥ 'आयामो०' का भाषाभाष्य)	"उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें—(आयामः) शरीर के सब अवयवों को रोक लेना अर्थात् ढीले न रखना, (दारुण्य-म्)शब्द के निकलते समय तीखा रूखा स्वर निकले और (अणुता खस्य) कण्ठ को रोक के बोलना चाहिये फैलाना नहीं । ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है। यही उदात्त का लक्षण है॥" (पृ० ३ 'आयामो०' का भाषाभाष्य)
(२) "उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में 'समाहारः' मेल हो, वह 'अच्' अच् 'स्वरितः' स्वरित-	"उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में मेल हो, वह अच् स्वरित-सञ्ज्ञक होता

---

१. अपि च सत्यार्थप्रकाशे—'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ॥' [४ । २ । ६६] यह पाणिनीय सूत्र है । इस से भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है ।" (शताब्दीसंस्करण पृ० ३१८ पं० १५–१७)

२. "या खर्वेण पिबति" इत्याद्युदाहरणं महाभाष्यकारेण तैत्तिरीयसंहिताया ब्राह्मणभागादुदाहृतम् ॥ (तै० २ । ५ । १)

सञ्ज्ञक हो ।...जैसे श्वेत और काला रंग अलग २ होते हैं, परन्तु इन दोनों को मिला[1] कर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तीसरा नाम पड़ता है, अर्थात् खाकी वा आस्मानी । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥" (१।२।३१)

(२) "इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज़ होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है । जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है । इसलिये मित्र होके पाणिनिजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिस से मालूम हुआ कि इतना उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

"(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं ।—(प्र०) वे बातें कौन हैं । (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान ।— (उत्तर) व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में वे स्थान आदि का विस्तार लिख चुके थे । क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें । और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता । इसलिये जो बातें वहां नहीं लिखीं, उन को

है ।... जैसे श्वेत और काला ये रंग अलग २ होते हैं, परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है, उस को (कल्माष) खाखी वा आसमानी कहते हैं । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं ॥" (पृष्ठ ३, ४ सूत्र १ । २ । ३१)

"इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कौनसा कितना भाग है । जैसे दूध और जल मिला है, तो यह नहीं विदित होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इस कारण जाना नहीं जाता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, और किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है । इसलिये सब के मित्र होके पाणिनि महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, जिस से ज्ञात हो जावे कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

"(प्रश्न) जो पाणिनि महाराज सब के ऐसे परम मित्र थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं । जैसे स्थान, करण, प्रयत्न, नादानुप्रदान आदि (उत्तर) जब व्याकरण अष्टाऽध्यायी बनाई गई थी, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि कई ग्रन्थ बन चुके थे, जिन में स्थान करण आदि का प्रकार लिखा है । क्योंकि शब्द के उच्चारण में जितने साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें । और जो बातें उन ग्रन्थों में लिख चुके थे, उन को फिर अष्टाऽध्यायी में भी लिखते, तो पिष्टपेषण दोषवद् पुनरुक्त दोष समझा जाता । इसलिये

यहां प्रसिद्ध किया । तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा अङ्ग है । किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जावेंगे, तब स्थानादि की सब बातें जान लेंगे । पीछे व्याकरण पढ़ेंगे । इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया ॥

जो बातें वहां नहीं लिखीं, वे यहां प्रसिद्ध की हैं । तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा वेदाङ्ग है, इसलिये पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया है । जो इस सूत्र का प्रयोजन और इस पर प्रश्नोत्तर लिखे हैं, सो सब महाभाष्य में स्पष्ट करके इसी सूत्र पर लिखे हैं[1] ॥" (पृ० ५, ६ सूत्र १।२।२७)

इसी सूत्र पर यह टिप्पण है—

"इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है । सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है । 'अर्ध-ह्रस्वमात्रम्' इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है । अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है । इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है ॥" (१।२।३२)

"(तस्यादित०) इस सूत्र के व्याख्यान में काशिकाकार जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण शास्त्रविरुद्ध है । सो यह केवल उन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध कर देते । उन्हों ने तो जो इस में सन्देह हो सकता है, उस का समाधान किया है कि अर्ध-ह्रस्व-शब्द के आगे मात्रच्-प्रत्यय का लोप जानो, जिससे दीर्घ प्लुत स्वरित में भी उदात्त का विभाग हो जावे । ह्रस्वस्यार्द्धमर्द्धह्रस्वम् । एक मात्रा का ह्रस्व है । उस की आधी मात्रा जो आदि में है, वह उदात्त और शेष इस से परे सब अनुदात्त है । यह बात इस (अर्द्धह्रस्व) के ग्रहण ही से जानी गई ॥"

(५) "'छन्दसि' वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर 'विभाषा' विकल्प करके रहता है । ....सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं । सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि 'यज्ञकर्म०' [१।२।३४] इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध किया है ॥" (१।२।३६)

"वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुति स्वर विकल्प करके होता है । एकश्रुति पक्ष में उदात्तादि का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता । सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं । सामवेद में तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि (११) सूत्र ['यज्ञकर्म०' १।२।३४] से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध कर चुके हैं ॥" (पृ०६,७ सूत्र १।२।३६)

---

१. यहां निर्दिष्ट महाभाष्यान्तर्गत प्रश्नोत्तर अष्टाध्यायीभाष्य के संस्कृत भाग में उद्धृत किये गये हैं ॥

३. अष्टाध्यायीभाष्य और पारिभाषिक

महर्षि से पूर्व सीरदेव, नीलकण्ठ दीक्षित तथा नागेशभट्ट प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्यस्थ मुख्य २ परिभाषाओं को संग्रह करके उन पर विस्तृत व्याख्याग्रन्थ लिखे थे। काशिकादि सूत्रव्याख्याग्रन्थों के समान इन ग्रन्थों में भी विविध प्रकार के दोष थे। इन दोषों का उद्घाटन तथा उद्धार करने के लिये महर्षि ने पारिभाषिक नाम का ग्रन्थ रचा। इस की हस्तलिखित प्रति महर्षि के ग्रन्थसंग्रह में अब तक विद्यमान है। प्रत्येक पृष्ठ पर महर्षि के अपने हाथ से संशोधन किया हुआ है, तथा ग्रन्थ के अन्त में तीन पंक्तियें भी उन्हों ने स्वयं ही लिखी हैं। अत एव इस ग्रन्थ के साथ अष्टाध्यायीभाष्य का सन्तोलन विशेष महत्त्व रखता है॥

(१) जिन २ परिभाषाओं का प्रयोग महर्षि ने अष्टाध्यायीभाष्य में करना आवश्यक समझा, प्रायः उन सब परिभाषाओं को उन्हों ने पारिभाषिक में स्थान दिया, यद्यपि नागेश आदि ने इन में से कई एक को अनावश्यक समझ कर अपने ग्रन्थों में संगृहीत नहीं किया। यथा—

"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः॥" (अष्टा० भा० १।१।२१॥ पारि० ८)
"तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते॥" (अष्टा० भा० १।१।७१॥ पारि० ७८)
"वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति॥" (अष्टा० भा० १।२।७१॥ पारि० ११२)
"गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति॥" (अष्टा० भा० १।२।६४॥ पारि० १००)

ये चारों परिभाषाएं परिभाषेन्दुशेखर में उपलब्ध नहीं॥

(२) अष्टाध्यायीभाष्य तथा पारिभाषिक के समान पाठ महर्षि के उभयत्रव्यापक वैयक्तित्व तथा समानरचयितृत्व का प्रबल प्रमाण हैं। निदर्शनार्थ यहां दो उदाहरण देते हैं—

(क) परिभाषेन्दुशेखर (३४) और परिभाषावृत्ति (२२) के "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति" इस परिभाषान्तर्गत विभाषया-पद के स्थान में अष्टाध्यायीभाष्य (१।२।६३) तथा पारिभाषिक (३४) दोनों में समानरूपेण विभाषा-शब्द पढ़ा है॥

(ख) तथा अष्टा० भा० (१।२।६४) और पारि० (१०७) में उदाहृत

"गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति" इस परिभाषा में पठित हि-शब्द किसी मुद्रित अथवा हस्तलिखित महाभाष्य की प्रति में, जो हमारे देखने में आई हैं, उपलब्ध नहीं[1] ॥

(३) जिस प्रकार और जहां २ पारिभाषिक में महर्षि ने नागेश आदि के दोष दर्शाए हैं, उसी प्रकार और वहां २ ही अष्टाध्यायीभाष्य में भी उन्हीं दोषों का निरूपण तथा निराकरण किया गया है । निदर्शनार्थ—

पारिभाषिके	अष्टाध्यायीभाष्ये
"जो नागेश और भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोग इस परिभाषा को (यदागमास्तद्गुणी-भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते) इस प्रकार की लिखते मानते और व्याख्यान भी करते हैं, सो यह पाठ महाभाष्य से विरुद्ध [है ।] महाभाष्य में यह परिभाषा ऐसी कहीं नहीं लिखी, इसलिये इन लोगों का प्रमाद है ।" (पृ० ६ टिप्पण ७)	"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ '...इमामेव परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति— 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥' इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति ।" (१ । १ । ११)

४. अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षिकृत अन्य ग्रन्थों की लेखशैली

(१) आर्यभाषा के इतिहास में सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदादि शास्त्रों को सर्वसाधारण में प्रचारार्थ आर्यभाषा में उपस्थित करने का निश्चय किया और तदनुसार ऋग्०भूमिका, ऋग् और यजुर्वेद भाष्य, पञ्चमहायज्ञविधि आदि बड़े और छोटे सभी ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे[2] । किन्तु जहां उन्हों ने सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय आदि ग्रन्थ जनता के उपकारार्थ केवल मात्र आर्यभाषा में लिखे, वहां वेदभाष्यादि ग्रन्थों में वर्तमान और भविष्य के

१. पं० राजाराम शास्त्री और पं० बालशास्त्री ने सं० १९२७ में कैयटप्रदीपयुक्त महाभाष्य प्रकाशित किया था । इस की एक प्रति महर्षि के संग्रह में सुरक्षित है । इस में भी हि-शब्द नहीं ॥

२. उणादिकोष को केवलमात्र संस्कृत में लिखने का हेतु महर्षि स्वयं भूमिका में लिखते हैं— "संस्कृत में वृत्ति बनाने का यही प्रयोजन है कि जो लोग पठन पाठन व्यवस्था के पहिले पुस्तकों को पढ़ेंगे, उन के लिये संस्कृत कुछ कठिन नहीं होगा । और संस्कृत भी सरल ही बनाया है । कई शब्दों के अर्थ इति शब्द लगा कर भाषा में भी खोल दिये हैं ।"

स्वदेशी विदेशी पण्डितों और विद्वानों के लिये देशकालसीमातीत देववाणी का प्रयोग भी करना अनिवार्य समझा। यही भाषाद्वयान्वित भाष्य की अपूर्व शैली प्रस्तुत पुस्तक अष्टाध्यायीभाष्य में विद्यमान है ॥

(२) पुरातन आर्ष ग्रन्थों के सदृश महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों की संस्कृत अत्यन्त सरल है। लोकप्रसिद्ध छोटे २ शब्दों तथा सर्वगम्य वाक्य-रचना को देख कर तो कई बार आधुनिक विद्वान् महर्षिकृत प्रयोगों को भाषा शैली (Vernacular idiom) कह उठते हैं। यह तो हम कभी फिर प्रमाणित करेंगे कि जिन प्रयोगविशेषों को कई आधुनिक विद्वान् भाषा शैली (Vernacular idiom) कहते हैं, वे वास्तव में प्राचीन संस्कृत शैली (Sanskrit idiom) हैं, यहां केवल हम कुछ उदाहरण देकर यह दर्शाएंगे कि ये "भाषा शैली" के प्रयोग (Vernacular idiom) अष्टाध्यायीभाष्य तथा महर्षि के इतर ग्रन्थों में सर्वत्र समान रूप से विद्यमान हैं। यथा—

(क) निस्+सृ

अष्टा०भाष्ये—"इयं परिभाषा निस्सृता ("निस्सरति" वा)" पृ० ६६ पं० ४, पृ० ६९ पं० १७, पृ० १३३ पं० ३, पृ० ३९३ पं० २३.
सप्त स्वराः मुखेभ्य एव निस्सरन्ति" पृ० १२२ पं० २५.
"कार्यं कदापि न निस्सरति" पृ० ८८ पं० १.
"प्रयोजनं निस्सारितम्" पृ० १०७ पं० १८.
ऋग्०भूमिकायाम्—"एतन्मन्त्रादिभ्यो बीजमपि नं निस्सरति" पृ० १७३ पं० ८.
वर्णोच्चारणशिक्षायाम्—"अर्थो न निस्सरेत्" पाद २ सू० ८२.

(ख) उपरि

अष्टा०भाष्ये—"इदं वचनं महाभाष्ये.. इति सूत्रस्योपरि वर्तते" पृ० २६७ पं० १६.
ऋग्०भूमिकायाम्—"...इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्" पृ० २६ पं० २८.
अपि च द्रष्टव्याः पृ० ३२ पं० २६, पृ० ३७ पं० ३२, पृ० ७२ पं० १५, पृ० ८७ पं० १२, पृ० ३६७ पं० २१...

(ग) वा

अष्टा०भाष्ये—"बहुवचने वा सप्तम्यर्थे वर्तिः" पृ० ३८ पं० १८.
ऋग्०भूमिकायाम्—"ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती" पृ० १० पं० २१
श्रीमत्यै रमाबाई लिखिते भगवद्दयानन्दपत्रे—"यथाऽनेकाः स्त्रियः... गृहकृत्यानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते, तथैव भवत्या इच्छा अस्ति वा पुनरपि कन्याभ्योऽध्यापनस्य स्त्रीभ्यः सुशिक्षा करणेच्छा अस्ति।" ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन १म भाग पृ० ७८ पं० २०.

(घ) अर्थात्

महा०भाष्ये—"अतन्त्रम् अर्थात् निष्प्रयोजनम्" पृ० १२१ पं० ४.

"पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति । अर्थात् समा[सा]र्थः पूर्वपदे स्थितो भवतीति ।" पृ० १०० पं० १८.

" आकृतिगणोऽयम् । अर्थादविहितलक्षणः समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादित्वात् सिद्धो भवति ।" पृ० २३१ पं० ३.

" 'आश्रितप्रतिषेधः' अर्थात् 'असत्त्वानि' इति यः प्रतिषेधः" पृ० २७१ पं० ११.

अपि च द्रष्टव्यौ पृ० १२९ पं० ५, ७, पृ० १०७ पं० २०.

ऋग्०भूमिकायाम्—"सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थाने आदेशा भवन्ति । अर्थात् शब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते ।" पृ० ११ पं० २८.

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम दो में आर्य्यभाषा के निकलने-पद का निस्+सृ-धातु से तथा ऊपर-शब्द का उपरि-अव्यय से अनुवाद आधुनिक विद्वानों को आर्यभाषा की प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार विकल्पित शब्दों के मध्य में वा-अव्यय के प्रयोग को ये लोग संस्कृत के शब्द विन्यास के नियमों के विरुद्ध समझ कर आर्यभाषा का अनुकरण समझते हैं। एवमेव उन के मतानुसार शब्दार्थ तथा भावार्थ द्योतक अर्थात्-पद का प्रयोग महर्षि की अपनी विशेष कल्पना है। प्रायः अन्य ग्रन्थकारों ने इन अर्थों में तथा इस प्रकार से अर्थात्-पद का कहीं प्रयोग नहीं किया, किन्तु महर्षि ने तो केवल पञ्चमहायज्ञविधि में ही २० से अधिक बार इस का प्रयोग किया है॥

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं महर्षि का उद्देश सुगम सुबोध संस्कृत लिखने का था और इसीलिये अपने समकालीन पण्डितों के उपहास की सर्वथा उपेक्षा करके विस्तृत संस्कृत वाङ्मय में से उन्हों ने वे प्रयोग छांटे कि जिन के आधार पर भाषा शैली (Vernacular idiom) बनी और अतएव जो आर्यभाषाभाषियों के समीपतम थे। जैसे "अठारह २ प्रकार के अ, इ, उ, ऋ ये वर्ण होते हैं" इस भाव को "अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णाः प्रत्येकमष्टादशभेदा भवन्ति" इस प्रकार न रचके "अष्टादशाष्टादशप्रकारका अ, इ, उ, ऋ इत्येते वर्णा भवन्ति" (अष्टा०भा० पृ० २४ पं० १७) इस प्रकार रचा है। जो व्यक्ति इन को और एतादृश अन्य प्रयोगों को संस्कृत शैली के अनुकूल नहीं मानते, उन से

हम यहाँ नम्र निवेदन करेंगे कि 'महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः, सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः' बिना इस समस्त साहित्य को देखे कुछ भी सम्मति देना विद्वत्ता से कहीं दूर है ॥

(३) जिस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में महर्षि ने अज्ञानान्धकार तथा कुरीतियों को प्रबलता से दलन किया और जिस प्रकार वेदभाष्य में ब्राह्मण और निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर शब्दार्थ और भावार्थ सम्बन्धी स्वदेशी और विदेशी विद्वानों की त्रुटियों और प्रमादों को मूल से उखाड़ फेंकने का महान् यत्न किया, ठीक उसी प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य में महर्षि पतञ्जलि के आधार पर उत्तरकालीन काशिकाकार आदि की त्रुटियों और प्रमादों का प्रबल निराकरण वेदभाष्य और अष्टाध्यायीभाष्य में समानरचयितृत्व की व्यापकता का द्योतक है। अपि च काशिकाकारादि के दोषप्रख्यापन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उन शब्दों का ऋग्०भूमिका के समान प्रकरणों में प्रयुक्त शब्दों से सन्तोलन पाठकों को हमारे कथन में और भी अधिक दृढ विश्वास दिलाएगा। यथा —

अष्टा०भाष्ये	ऋग्०भूमिकायाम्
"तेषां भ्रम एवास्ति" पृ० २४३ पं० १.	"एषां भ्रम एवास्ति" पृ० १०४ पं० २०.
"एतेषां महान् भ्रमो जातः" पृ० १४ पं० ११.	"यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जातः" पृ० ३४० पं० ११.
"महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम्" पृ० ३६० पं० ९.	"यच्चोक्तं ब्राह्मणमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति तदत्यसङ्गतम्" पृ० ७१ पं० ६.
"जयादित्यादिभिः... इति स्वकीयकल्पना कृता, सा मिथ्याऽस्ति" पृ० ३३६ पं० ७.	"...मह्मोक्षमूलरेण... स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्ति" पृ० १६६ पं० ३०.
"एतन्महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति" पृ० २४३ पं० २५.	"अस्मात्कृतपञ्चाङ्गव्याख्यानादर्थात् महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति" पृ० ३३६ पं० १५.
"अतस्तत्कथनमसत्यमेवास्तीति मन्तव्यम्" पृ० १२३ पं० ३.	"अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्" पृ० ३३६ पं० १३.

लेखशैली के विविध प्रकार के शतशः प्रमाणों में से हम ने स्थालीपुलाकन्यायेन केवल दो चार उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों से यह निर्विवाद है कि अष्टाध्यायीभाष्य स्वयं महर्षि ही की कृति है। यदि ग्रन्थविस्तार का भय न होता

तो और भी अधिक आन्तरिक और बाह्य साक्षी के आधार पर हम प्रमाणित करते कि महर्षि के अतिरिक्त भीमसेन ज्वालादत्त और दिनेशराम इन तीनों महर्षि के लेखकों में से किसी पर ग्रन्थरचयितृत्व का आरोपण सर्वथा युक्तिशून्य है। बुद्धिमानों के लिये पूर्वोद्धृत प्रमाणों को ही पर्याप्त जान कर हम इस विषय को यहां समाप्त करते हैं और आशा रखते हैं कि महर्षि के भक्त अध्यापक और छात्रवर्ग निश्शंक मन से इस भाष्य का अभिनन्दन करेंगे और महान् लाभ उठाएँगे॥

अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन

पूर्वोद्धृत महर्षि के पत्रों से प्रतीत होता है कि महर्षि एक सहस्र ग्राहक बन जाने पर ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ करना चाहते थे, किन्तु प्रयत्न करने पर भी जब पर्याप्त ग्राहक न मिल सके और आर्यसमाजों ने व्याकरण को "अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाशन करने का" आग्रह किया, तो उन्हें आर्यभाषा के व्याकरण ग्रन्थों के मुद्रण कार्य के समाप्त होने तक अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। ऋग्वेदभाष्य अंक १५, १८ तथा यजुर्वेद भाष्य अंक १५ (संवत् १९३७) में प्रकाशित एतद्विषयक विज्ञापन विशेषरूपेण द्रष्टव्य होने से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

> "विदित हो कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वैसे तो वेदों का सत्युत्तम प्राचीन ऋषि मुनियों के प्रमाण सहित संस्कृत और आर्यभाषा में भाष्य कर ही रहे हैं, परन्तु अब उन्हों ने आर्यसमाजों के कहने से व्याकरण आदि वेदों के अङ्ग और उपाङ्ग आदि को भी अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाश करने का प्रारम्भ किया है कि जिस से मनुष्य शीघ्र संस्कृत विद्या को पढ़ कर मनुष्यजन्म के समग्र आनन्द को भोगें॥
>
> "अभी तक निम्नलिखित पुस्तक पठन पाठन विषय सुगम आर्यभाषा में प्राचीन रीति से बनाये गये हैं और क्रम से इस वैदिक यन्त्रालय में छपते जाते हैं—
>
> १. वर्णोच्चारणशिक्षा २. संस्कृतवाक्यप्रबोधः ३. व्यवहारभानुः॥
>
> "नीचे के सन्धिविषय आदि ग्यारह ११ पुस्तक अष्टाध्यायी के एक २ विषय पर भाषा में व्याख्या सहित छप रहे हैं—
>
> ४. सन्धिविषयः...........................१४. गणपाठः।
>
> १५. अष्टाध्यायी—यह पुस्तक अलग भी संस्कृतवृत्ति सहित छपेगा[1]।"

इस विज्ञापन से सिद्ध है कि यदि गणपाठ नामक आर्यभाषा के अन्तिम

[1]. संवत् १९३७ में छपे सत्यधर्मविचार नामक ग्रन्थ में भी यह विज्ञप्ति छपी है॥

व्याकरण ग्रन्थ के संवत् १९४० श्रावण कृष्णा चतुर्दशी में मुद्रण के पश्चात् ही संवत् १९४० कार्तिक अमावास्या को महर्षि का स्वर्गवास न होता, तो गणपाठ के अनन्तर ही क्रमप्राप्त अष्टाध्यायीभाष्य का प्रकाशन महर्षि स्वयं आरम्भ करते। महर्षि के स्वर्गवास के पश्चात् वैदिक यन्त्रालय के संचालकों ने इस को वर्षों तक छापने का यत्न किया, किन्तु सफल न हुए। जिस कारण से संवत् १९३९ और संवत् १९३६ में महर्षि दयानन्द सरस्वती इस को प्रकाशित करने में असमर्थ रहे, वही कारण दूसरी बार पुनः उपस्थित हुआ। शिवदयाल सिंह प्रबन्धकर्ता वैदिक यन्त्रालय प्रयाग[1] ने संवत् १९४६ मास वैशाख शुक्ल पक्ष में प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य अङ्क ११४, ११५ में निम्नलिखित विज्ञापन दिया—

> "सब आर्य सज्जन महाशयों को विदित हो कि श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत अष्टाध्यायी की टीका धरी हुई है। इसलिये मेरा विचार है कि यजुर्वेद समाप्त होने पर अष्टाध्यायी संस्कृत और भाषा टीका सहित मासिक छपाई जावे। ... सो २०० दो सौ ग्राहक हो जाने पर छपने का प्रारम्भ होगा। वर्ष भर में छः अंक ग्राहकों के पास पहुंचा करेंगे॥
>
> "... कई एक महाशय गत मास में ग्राहक हो गये हैं, परन्तु संख्या अभी २०० की पूरी नहीं हुई है॥
>
> "यजुर्वेदभाष्य के २ अङ्क छपने और रह गये हैं। जीलाई के अन्त में जो अंक निकलेगा, वह यजुर्वेद के समाप्ति का होगा। तत्पश्चात् अष्टाध्यायी आरम्भ होगी। जिन महाशयों को ग्राहक होना स्वीकार हो, वे मुझे शीघ्र ही सूचित करें॥"

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तो १००० ग्राहकों के मिलने पर ग्रन्थमुद्रण का विचार किया था, किन्तु शिवदयाल सिंह ने केवल २०० ग्राहक मिलने पर ही अष्टाध्यायीभाष्य छापने का निश्चय किया था। जब २०० ग्राहक भी शिवदयाल सिंह को न मिले, तब विवश होकर उन को मौन करना पड़ा। समय अपनी शीघ्र गति से व्यतीत होता चला गया, और आर्य विद्वान् इस भाष्य की सत्ता तक को भूल गये। आर्य जगत् के किसी २ कोण से कभी २ ध्वनि उठती थी और शान्त हो जाती थी। पं० लेखराम तथा मास्टर आत्मारामजी ने भी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र में आवाज़ उठाई—

---

१. वैदिक यन्त्रालय चैत्र शु० १ सं० १९३८ में काशी से प्रयाग लाया जा चुका था और तत्पश्चात् १ अप्रैल १८९१ में अजमेर लाया गया॥

"एक और अपूर्व ग्रन्थ महर्षि का रचा हुआ यन्त्रालय में पड़ा है, जो कि अभी तक नहीं छपा।

"महर्षिकृत अष्टाध्यायी की इस टीका की जितनी ज़रूरत है, उस को दुनिया जानती है। ऐसे अपूर्व और परम उपयोगी ग्रन्थ का आज तक न छपना हम को विस्मित कर रहा है।" (पृष्ठ ४७१)

इस का भी परिणाम कुछ न निकला। सन् १९१७ में कुछ आर्य पुरुषों ने विशेष यत्न किया और श्रीमती परोपकारिणी सभा का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। श्रीमती परोपकारिणी सभा ने अपना कर्त्तव्य अनुभव करके २९ दिसम्बर सन् १९१८ को श्रीयुत रामदेवजी को अष्टाध्यायीभाष्य सुपुर्द किया और उन से प्रार्थना की कि लुप्त भाग को पूर्ण करा देवें[1]। तत्पश्चात् ११ नवम्बर १९२० को भाष्य का सम्पादन कार्य श्रीयुत भगवद्दत्तजी को सौंपा गया[2]। उन के सम्पादकत्व में चार २ फॉर्म के दो अङ्क प्रकाशित हुए। श्रीमद्दयानन्द कॉलेज अनुसन्धान विभाग का अधिक कार्यभार होने से तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर से ६०० मील की दूरी पर लाहौर में रहने से वे सम्पादन कार्य अधिक दिनों तक न कर सके। जो दो अङ्क छपे भी थे, श्रीयुत भगवद्दत्तजी उन से अत्यन्त असन्तुष्ट थे, क्योंकि उन के पास प्रूफ़ न पहुंचने के कारण स्थान २ पर पाठ अशुद्ध छपे थे और कहीं २ एक २ दो २ शब्द तथा पंक्तियें तक छूट गई थीं॥

लगभग पांच वर्ष तक मुद्रण बन्द रहा। तदनन्तर श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मुझे यह शुभ अवसर दिया कि जो ग्रन्थ वर्षों से अप्रकाशित पड़ा था, उस का मैं सम्पादन करूं और महर्षि के प्रति प्रत्येक आर्य का जो ऋण है, उस से कुछ अंश में उऋण हो जाऊं॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर दो अध्यायों का यह प्रथम भाग हम ने सम्पादित किया है, उस से पाठकों का परिचय कराना आवश्यक है—

पतले श्वेत विलायती ८"×१२" परिमाण के काग़ज़ पर २९८ पृष्ठों में दोनों अध्याय समाप्त हुए हैं। इतना अधिक समय व्यतीत होने के कारण काग़ज़

१. देखो "कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९१८" प्रस्ताव २४॥

२. देखो "कार्यवाही श्रीमती परोपकारिणी सभा सन् १९२०" प्रस्ताव ६॥

कड़कीला और किञ्चिन्मात्र मटियाले रंग का हो गया है। आरम्भ के पृष्ठों में दो चार स्थानों पर कुछ अक्षर टूट भी गये हैं। तथा १२०–१२४ पृष्ठ के बीच में से १२३ पृष्ठ सर्वथा लुप्त हैं। जो हानि इन पृष्ठों (अर्थात् प्रथमाध्याय के तीसरे और चौथे पाद के भाष्य) के लुप्त हो जाने से हुई है, वह आर्य जनता कभी पूरी न कर सकेगी। हम ने इन पृष्ठों को ढूंढ निकालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु कृतकार्य न हुए। अतएव लुप्त भाग के स्थान में सूत्रपाठ मात्र प्रकाशित किया है। विद्यार्थियों के पठनपाठन में विच्छेद न हो इसलिये हमारा विचार है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली का यथामति अनुकरण करके हम परिशिष्टरूप में तृतीय और चतुर्थपाद का भाष्य शीघ्र ही प्रकाशित करें ॥

पुस्तक के आदि में पाठक अष्टाध्यायीभाष्य के २५ वें पृष्ठ की प्रतिलिपि को देख कर हस्तलेख के सौन्दर्य, स्पष्टता, सुपाठ्यता तथा पारिभाषिक के हस्तलेख के साथ समानता का स्वयं परीक्षण कर सकेंगे। सूत्र और संस्कृत भाग मोटी कलम से तथा आर्य्यभाषा पतली कलम से लिखी गई है। सर्वत्र देशी काली स्याही का प्रयोग किया गया है। ११६ पृष्ठ (अर्थात् सूत्र १। २। ७१) तक पंक्तियों के ऊपर और प्रान्तों पर लाल स्याही से संशोधन भी किया हुआ है। आरम्भ से अन्त तक समस्त पृष्ठ एक ही लेखक के लिखे हुए हैं, और यह लेखक वही है कि जिस ने पारिभाषिक लिखा था ॥

प्रत्येक पत्र दोनों ओर से लिखा हुआ है और प्रत्येक पृष्ठ में साधारणतः २६ पंक्तियें हैं ॥

सम्पादन

यद्यपि हस्तलिखित प्रति प्रायः शुद्ध है, तथापि लेखक प्रमादों से सर्वथा रहित नहीं। जिन किन्हीं भी महानुभावों को प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ देखने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, वे सब हमारे साक्षी होंगे कि अच्छे से अच्छे तथा शुद्ध से शुद्ध लिखे हुए ग्रन्थों में भी लेखक दोष रह ही जाते हैं। सो केवल अष्टाध्यायीभाष्य में ही नहीं, किन्तु महर्षि के समस्त ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों में साधारण से साधारण तथा भयंकर से भयंकर लेखक दोष विद्यमान हैं ॥

साधारण दोषोद्धार तथा संशोधन करना तो हमारा कर्त्तव्य था, किन्तु किसी स्थल पर विशेष परिवर्त्तन करना हमारे अधिकार से बाहर था। इसीलिये जिस किसी स्थल पर हम ने किञ्चिन्मात्र परिवर्त्तन किया है, वहां टिप्पणी में मूल प्रति का पाठ दर्शा दिया है ॥

वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में दिये हुए निर्देश के आधार पर ग्रन्थ को अधिक सुबोध बनाने के लिये सूत्र, संस्कृत, आर्यभाषा और टिप्पणों में भिन्न भिन्न टाइप प्रयुक्त किये गये हैं ॥

संस्कृत भाग में उद्धृत मन्त्र, सूत्र, वार्त्तिक आदि अन्य ग्रन्थों के अवतरण तथा कुछ देश और व्यक्तिविशेषों के नाम मोटे टाइप में दिये गये हैं। महाभाष्य के वचनों को यथासम्भव शेष संस्कृत भाग से पृथक् करके मुद्रित किया गया है ॥

महाभाष्य के वचनों में अन्तर्गत मन्त्र, सूत्र, वार्त्तिक, (पारिभाषिक में सङ्गृहीत) परिभाषाएं तथा अन्य ग्रन्थों के वचन पतले तिरछे टाइप में प्रकाशित किये हैं। पृष्ठ १४२, १५८, १८६, २००, २४० इत्यादि में "वा०—" अर्थात् वार्त्तिक-शब्द पूर्व लिखे हुए होने पर भी हम ने "वार्त्तिक" को पतले तिरछे टाइप में न छाप कर मोटे टाइप में ही प्रकाशित किया है। कारण यह है कि ये वास्तव में वार्त्तिक नहीं, किन्तु पतञ्जलिकृत वार्त्तिकव्याख्यान हैं। महाभाष्यकार वार्त्तिक की व्याख्या करते समय प्रायः वार्त्तिक के ही शब्दों को दोहरा कर "इति वाच्यं" अथवा "इति वक्तव्यम्" ये शब्द उस के आगे जोड़ देते हैं। वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान में इतनी समानता को देख कर लेखकों ने इस का अनुचित लाभ उठाया और कई स्थानों पर वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान के स्थान में केवल मात्र वार्त्तिकव्याख्यान देना पर्याप्त समझा[1]। इसी लेखक दोष के कारण काशिका, सिद्धान्तकौमुदी और अन्य

---

१. कुछ ने तो वार्त्तिक और वार्त्तिकव्याख्यान में समान भाग को एक बार लिख कर उस के आगे दो का अंक लिख दिया, कुछ ने अङ्क दो की अपेक्षा विरामदण्ड का प्रयोग किया, कुछ ने विरामदण्ड अथवा अङ्क दो इन में से किसी का भी प्रयोग न करके केवलमात्र अपेक्षित दण्ड अथवा अङ्क दो के पूर्व तथा पर शब्दों में सन्धि नहीं की और शेष ने वार्त्तिकव्याख्यान के पूर्ववर्ति वार्त्तिक की सत्ता का कोई भी चिह्न देना आवश्यक नहीं समझा ॥

ग्रन्थों में वार्त्तिकों के स्थान में पदे २ वार्त्तिकव्याख्यान दिये गये हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा और जिस स्थल पर उन को अपनी महाभाष्य की प्रति में वार्त्तिक न मिला, वहां उस के स्थान में उन को वार्त्तिकव्याख्यान ही देना पड़ा॥

आर्यभाषा में सामान्यतः समस्त संस्कृत पद तथा कुछ एक जयादित्यादि प्राचीन ग्रन्थकारों के नाम तथा विशेषण मोटे अक्षरों में दिये गये हैं॥

ग्रन्थ को विशेष रूप से उपयोगी बनाने के लिये हम ने संस्कृत भाग पर संस्कृत में तथा आर्यभाषा भाग पर आर्यभाषा में विविध प्रकार के टिप्पण दिये हैं। इन का विवरण संक्षेप से इस प्रकार है—

(१) यथासम्भव समस्त उद्धृत मन्त्रों, सूत्रों और महाभाष्यादि अन्य ग्रन्थों के वचनों के पते दिये गये हैं। तथा जहां मूल में किसी वस्तु का निर्देशमात्र था, किन्तु अवतरण नहीं दिया गया था, वहां टिप्पण में वह अवतरण दे दिया गया है। तद्यथा—"न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः॥" (१।२।३७) सूत्र के व्याख्यान में शतपथ ब्राह्मण का अवतरण न दे कर केवल काण्ड प्रपाठकादि का पता दिया है। इस पते के निर्देश से शतपथ के मूल वचन की आकांक्षा और भी बढ़ गई है। टिप्पण में हम ने इस आकांक्षा को पूर्ण कर दिया है। स्वरविषय होने से ब्राह्मणपाठ सस्वर दिया है॥

(२) उद्धृत महाभाष्य वचनों में जहां २ विशेष पाठान्तर हैं, वे सब टिप्पणों में दे दिये गये हैं। इन पाठान्तरों को ध्यान से पढ़ कर पाठकों को निश्चय हो जायगा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो पाठ गुरुपरम्परा से सीखे थे, वे प्रायः मुद्रित ग्रन्थों से बहुत उत्कृष्ट थे। इस का एक उज्ज्वल उदाहरण देते हैं। "न वेति विभाषा॥" (१।१।४६) सूत्र पर महर्षि ने महाभाष्य की यह पंक्ति दी है—

> "आचार्यः खल्वपि संज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति—बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषामिति॥"

मुद्रित महाभाष्य के ग्रन्थों में "भूयिष्ठमन्यैरेव" के स्थान में "भूयिष्ठ-

मन्यैरपि" यह पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करते हुए उपर्युक्त पंक्ति का भावार्थ इस प्रकार होगा—"आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।" वाक्य के पूर्वार्द्ध में निषेधार्थक न-शब्द का प्रयोग करके उत्तरार्ध में समुच्चयार्थक अपि(=भी)-शब्द का प्रयोग निरर्थक ही नहीं, किन्तु अर्थस्पष्टता का बाधक है। निषेधार्थक न-शब्द के उत्तर अवधारणार्थक एव(=ही)-शब्द का प्रयोग होना चाहिये। सो महर्षि दयानन्द सरस्वती अपि के स्थान में एव पढ़ते हैं। अर्थात् महर्षि के अनुसार पतञ्जलि मुनि का भावार्थ यह है—"आचार्य पाणिनि अधिकतम सूत्रों में विकल्प अर्थ में विभाषा-शब्द का प्रयोग न करके बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इन शब्दों का ही प्रयोग करते हैं।" इस भावार्थ का प्रबल पोषण अष्टाध्यायी के सूत्रों में विद्यमान है—विभाषा-शब्द[१] केवल लगभग ११० सूत्रों में, परन्तु बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा वा, एकेषाम्, ये शब्द लगभग १८० सूत्रों में प्रयुक्त हुए हैं॥

(३) विद्यार्थियों के सुभीते के लिये महर्षि कृत वेदाङ्गप्रकाश नामक प्रक्रियाग्रन्थ में व्याख्यात पाणिनीय सूत्रों का भी प्रायः सर्वत्र पता दे दिया है। सब पते प्रथमावृत्ति के अनुसार दिये गये हैं, क्योंकि बाद की आवृत्तियों में भीमसेन, ज्वालादत्त तथा ब्रह्मदत्त के बहुत कुछ घटाने बढ़ाने के कारण ग्रन्थ में बहुत अनावश्यक परिवर्तन हुआ है॥

परिभाषाओं के लिये वेदाङ्गप्रकाश (पारिभाषिक) और परिभाषेन्दुशेखर दोनों के पते दिये हैं॥

(४) ब्राह्मणों (पृ० ११६...), शाङ्खायन और कात्यायन श्रौतसूत्रों (पृ० ११४, १२२...), शौनक, कात्यायन, तैत्तिरीय, साम और अथर्व प्रातिशाख्यों तथा चतुरध्यायिका प्रभृति ग्रन्थों से स्वर, सन्धि आदि विषयक पाणिनीय सूत्रों के साथ समानार्थक वचनों को टिप्पणों में संग्रह किया है। आशा है कि व्याकरण में और विशेषकर पाणिनि से प्राचीन व्याकरण में अनुसन्धान करने वाले विद्वान् इस से लाभ उठाएंगे॥

१. नेमासित-शब्द की गणना भी हम ने विभाषा- शब्द में की है॥

(५) सूत्रों अथवा भाष्य में जो प्राचीन आचार्यों तथा अज्ञातप्राय देश और नगरादिकों के नाम आये हैं, उन में से बहुतों के विषय में हम ने वेद की शाखाओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्र ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराणों, बृहत्संहिता, राजतरङ्गिणी, कथासरित्सागर, तथा फाहियान और ह्यूनत्सांग प्रभृति चीनी यात्रियों के यात्राविवरणों आदि लगभग दो सौ देशी और विदेशी प्राचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों और ताम्रपत्रों से आवश्यक और परम उपयोगी अवतरण दिये हैं ॥

पृष्ठ ८६ पर पुष्यमित्र तथा पुष्पमित्र इन दोनों में से शुद्ध पाठ का निर्णय करने के लिये हम ने २१०० वर्ष पुराने शिलालेख की प्रतिलिपि दी है। यह लेख स्वयं महाराज पुष्यमित्र के किसी वंशज का लिखाया हुआ है। ब्राह्मीलिपि से परिचित विद्वान् देखेंगे कि पु-अक्षर के नीचे य बिल्कुल स्पष्ट खुदा है ॥

(६) जिन सूत्रों अथवा शब्दविशेषों के व्याख्यान में अन्य वैयाकरण महर्षि से सहमत नहीं, वहां प्रायः उन वैयाकरणों का मत टिप्पण में दर्शा दिया है ॥

(७) जहां महर्षि दयानन्द सरस्वती अन्य वैयाकरणों के मत का खण्डन करते हैं, वहां हम ने महर्षि के पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये प्राचीन ग्रन्थों से प्रबल प्रमाण उद्धृत किये हैं ॥

(८) पाणिनि मुनि के सूत्रपाठ में अब तक बहुत ही कम परिवर्त्तन हुआ है, किन्तु गणपाठ में समय २ पर इतना अधिक परिवर्त्तन होता रहा है कि आज गणपाठ के कोई दो हस्तलिखित ग्रन्थ नहीं कि जिन में गणान्तर्गत शब्दों के पाठ, संख्या अथवा क्रम कुछ भी सर्वथा समान हों। कई गण तो आरम्भ से ही आकृतिगण थे, सो उन में तदनुकूल शब्दों को जोड़ देना साधारण बात थी। अन्यत्र भी सूत्रों से यथेष्ट सिद्धि होते न देख कर बहुत से शब्द गणों में जोड़े गये। यदि वैदिक निघण्टुकार महर्षि यास्क के समान पाणिनि मुनि भी प्रत्येक गण के अन्त में गणान्तर्गत शब्दों की संख्या का उल्लेख करते, तो इतनी दुर्व्यवस्था न होती। कोई ही गण बचा होगा कि जिस के विषय में निश्चय रूप से कहा जा सके कि पाणिनि के समय से अब तक इस में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ। जैसे—सर्वादि ॥

चन्द्रगोमिन् ने पाणिनीय सूत्रपाठ की नक़ल करके अपना सूत्रपाठ रचा और स्वयं ही वृत्ति लिख कर उस में कुछ गणों का भी उल्लेख किया । उपलब्ध गणपाठ कोशों में यह सब से प्राचीन कोश समझना चाहिये । एक दो स्थानों में चन्द्रगोमिन् ने गणान्तर्गत शब्दों की संख्या भी दी है । जैसे—"न गोपवनादिभ्योऽष्टभ्यः ॥" (२ । ४ । २१६) चन्द्रगोमिन् के सूत्र का अनुकरण करके काशिकाकार ने (२ । ४ । ६७) भी गण के अन्त में लिखा—"एतावन्त एवाष्टौ गोपवनादयः ।"

चन्द्रगोमिन् के उत्तरकालीन जयादित्य ने प्रथम वार सब गणों का अपनी वृत्ति में समावेश किया । तत्पश्चात् कतिपय गणों को रामचन्द्र ने प्रक्रियाकौमुदी[1] में और शेष को प्रक्रियाकौमुदी के टीकाकार विट्ठलाचार्य ने उद्धृत किया । इन के पश्चात् भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में कुछ गण दिये और कुछ छोड़ दिये ॥

संवत् १९४३ में जर्मन देश वासी ओटो बोटलिङ्ग ने बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर गणपाठ का अत्यन्त सुन्दर तथा प्रामाणिक संस्करण तय्यार किया ॥

पूर्वोक्त छःओं विद्वान् अपने २ समय और देश के धुरन्धर अद्वितीय पण्डित हुए हैं । सो इन के ग्रन्थों के आधार पर हम ने महर्षि दयानन्द सरस्वती पठित गणपाठों के नीचे टिप्पणी में पाठान्तर और शब्दक्रमभेदों को दर्शाया है । इस के अतिरिक्त कठिन, अप्रसिद्ध और वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उन के अर्थ और उदाहरण भी दिये हैं । लौकिक शब्दों के व्युत्पत्ति और अर्थ देने में हम को वर्धमान कविकृत गणरत्नमहोदधि (संवत् ११९७) से विशेष सहायता मिली है । व्युत्पत्त्यादि के अतिरिक्त पाणिनि, चन्द्र, शाकटायन, वामन, भोज प्रभृति पूर्वकालीन वैयाकरणों के परस्पर पाठान्तर उद्धृत करके वर्धमान कवि ने विद्वानों का बड़ा उपकार किया है । जैसे चूडारक-शब्द पर—" 'बडारक' इति भोजः, 'भटारक' इति वामनः ।" (१ । २९) आरद्वायनिवान्धनि-शब्द पर—"कश्चिद् 'आरद्वायनिबन्धनि' इत्याह ।

१. प्रक्रियाकौमुदी का केवल प्रथम भाग मुद्रित हुआ है । सम्पादक की मृत्यु हो जाने से द्वितीय भाग अब तक मुद्रित नहीं हो सका । अतएव हम तदन्तर्गत गणपाठों से लाभ न उठा सके ॥

पाणिनिस्तु 'आरड्डायनिबन्धकी' इत्याह ।" (२ । ८३) इत्यादि । पाठक इन सब पाठान्तरों को यथास्थान हमारे टिप्पणों में पायेंगे ॥

विद्यार्थियों के पठनपाठन की सुगमता के लिये श्रीवर्धमान ने गणशब्दों को पद्यों में संगृहीत करके गद्य में उन की व्याख्या की है । पद्य बनाते समय शब्दों के प्राचीन क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया और न ही सम्भवतः रक्खा जा सकता था । तथा भिन्न २ कई वैयाकरणों के गणपाठों का इस में समावेश किया गया है । इसीलिये जिस प्रकार चान्द्रवृत्ति में गणशब्दों की संख्या अति न्यून है, उसी प्रकार गणरत्नमहोदधि में अत्यधिक है । टिप्पणों से यह बात पाठकों को भली भांति विदित हो जायगी ॥

गणान्तर्गत वैदिक शब्दों के व्याख्यान ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु, भगवद्दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य, उणादिकोष, अव्ययार्थ प्रभृति ग्रन्थों के अनुकूल किये हैं । यथावश्यक संहिताओं के उदाहरण भी दिये हैं । जैसे चषाल-शब्द का साधारण यूपकङ्कण अर्थ दे कर मुखार्थवाचक चषाल-शब्द का उदाहरण मैत्रायणीसंहिता (१ । ६ । ३) से दिया है—" 'यावद्वै वराहस्य चषालं, तावतीयमग्र आसीत् ।' वराहस्य मुखमित्यर्थः ॥" गणों में अपठित वैदिक शब्द भी प्रकरण-वश कहीं २ टिप्पणों में दर्शाये हैं । जैसे जाया और पति का द्वन्द्व समास किये हुए जायापती, जम्पती और दम्पती, केवल ये तीन शब्द गणपाठ में पढ़े हैं । हम ने काठकसंहिता में (६ । ४) प्रयुक्त चौथे जायम्पती-शब्द का भी उल्लेख कर दिया है—"अग्निहोत्रे वै जायम्पती[1] व्यभिचरेते ।"

(६) वैदिक सूत्रों पर विशेष प्रकाश डाला गया है । जैसे "उच्चैरुदात्तः ॥" आदि (१ । २ । २९, ३०, ३१) सूत्रों की व्याख्या में महर्षि ने केवल ऋग्वेद और तदनुसारी यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्वरचिह्नों का निर्देश किया है, किन्तु सामवेद, मैत्रायणी और काठक संहिता तथा शतपथ और तदनुसारी ताण्ड्य, कालबविन्, भाल्लविन् तथा शाट्यायनिन् ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों का कोई उल्लेख नहीं किया । प्रायः आधुनिक वैयाकरण वैदिक विषय का ध्यान से पठन पाठन नहीं करते । अत एव वेद, शाखा और ब्राह्मणों के स्वरचिह्नों तक का ज्ञान उन को नहीं होता कि किस

१. मैत्रायणीय संहिता में (१ । ८ । ४) इसी वाक्य में जायम्पती के स्थान में दम्पती पढ़ा है ॥

वेद, शाखा और ब्राह्मण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पर क्या २ चिह्न लगता है । सामवेद में अक्षरों के ऊपर ३क, २र आदि तथा काठक संहिता और माध्यन्दिन शतपथ आदि में अक्षरों के नीचे ‸, ..., = इत्यादि चिह्नों को देख कर वैयाकरण पण्डित और उन के विद्यार्थी विस्मित होते हैं कि न मालूम ये क्या हैं । सो इस कमी को यथावकाश टिप्पण में पूरा किया गया है । नये स्वरचिह्न बनवाने में वैदिक-यन्त्रालय के अध्यक्ष ने जो हमारा सहयोग दिया है, उस के लिये पाठकवर्ग यन्त्रालयाध्यक्ष को अत्यन्त धन्यवाद देंगे, क्योंकि ये सूक्ष्म टाइप के स्वरचिह्न योरोप और आर्यावर्त्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं । काण्वीय शतपथ का माध्यन्दिन शतपथ से जो स्वरविषय में भेद है[1], स्थानाभाव से हम उस का निर्देश न कर सके ॥

सम्पादन कार्य के विवरण के पश्चात् उपसंहार में हम इतना विशेष कहेंगे कि महर्षि ने इस भाष्य में अनेकानेक विशेषताएं की हैं । जैसे स्थान २ पर अनार्ष वैयाकरणों के भ्रमों का सप्रमाण निराकरण किया है, तथा महाभाष्य के शतशः उद्धरण दे कर ग्रन्थ को बालोपयोगी महाभाष्य प्रवेशिका का रूप दिया है । इस छोटी सी भूमिका में हम इन सब का उल्लेख न कर सके । तथापि हमें पूर्ण आशा है कि आर्ष ग्रन्थों के प्रेमी महर्षि के महत्त्व पूर्ण भाष्य को पठन पाठन का अंग बना कर वेद वेदांग को हृदयंगम करने का यत्न करेंगे ॥

रघुवीर

---

१. जैसे—यदि चन्द्रबिन्दु से पूर्व स्वर उदात्त हो, तो उदात्तरेखा चन्द्रबिन्दु तथा उस से पूर्ववर्ती स्वर दोनों के नीचे दी जाती है—"ता॒ँ॒ ह्यश्विरभि॒द्ध्यौ मिथुन्येनाऽँ स्यामिति ।" (१ । २ । ४ । ११)

अष्टाध्यायीभाष्यस्थ संकेतसूची

अ०	अव्यय	प्र०	प्रश्न
उ०	उत्तर	भा०	महाभाष्य
का०	कारिका	वा०	वार्तिक
प०	परिभाषा	विधिलि० प्र०	विधिलिङि प्रथमपुरुषः

टिप्पणस्थ संकेतसूची

अ०	अथर्ववेद	धा०	धातुपाठ
अश्वा०	अश्वादिगण	नपुं०	नपुंसकलिङ्ग
अ० । पा० । आ० ।	अध्याय । पाद । आह्निक ।	ना०	नामिक
		नि०	निरुक्त
अ० प्रा०	अथर्वप्रातिशाख्य	प०	परिभाषेन्दुशेखर
[illegible]	अष्टाध्यायी	पं०	पंक्ति
[illegible]	आख्यातिक	पा०	पारिभाषिक
उ०, उणा०	उणादिकोष	पृ०	पृष्ठ
[illegible]	ऋक्संहिता	प्र० कौ०	प्रक्रियाकौमुदी
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य	बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण	भ्वा०	भ्वादिगण
का०	काठकसंहिता	म० भा०	महाभारत
कार०	कारकीय	मै०	मैत्रायणीसंहिता
का० श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्र	रु०	रुधादिगण
कोश	हस्तलिखित ग्रन्थ	व०	वर्णोच्चारणशिक्षा
कौ० ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मण	वा०	वाजसनेयिसंहिता
गण० म०	गणरत्नमहोदधि	वा० प्रा०	वाजसनेयिप्रातिशाख्य
गो० ब्रा०	गोपथब्राह्मण	श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
चा० श०	चान्द्रशब्दलक्षण	शा०	शाकटायन (जैन)
चुरा०	चुरादिगण	श्लो०	श्लोक
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्	स०	सन्धिविषय
जुहो०	जुहोत्यादिगण	सा०	सामवेद
जै० उ०	जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण	सा० पृ०...	सामासिक पृष्ठ...
टि०	टिप्पण	सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
तु०	तुदादिगण	सू०	सूत्र
तै०	तैत्तिरीयसंहिता	सौ०	सौवर
तै० प्रा०, तैत्ति० प्रा०	तैत्तिरीयप्रातिशाख्य	स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग
दिवा०	दिवादिगण	स्त्रै०	स्त्रैणतद्धित

ओ३म्

अथाष्टाध्यायीभाष्यम्

अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥

'अथ' इत्यव्ययपदम् । 'शब्दानुशासनम्' प्रथमैकवचनम् । शब्दानामनुशासनं =शब्दानुशासनम् । कर्मणि षष्ठी । अथेत आरभ्य शब्दानामनुशासनं करिष्यामीत्याचार्य्याणां प्रतिज्ञा । एवं शब्दाः सेध्याः, सम्बन्धनीयाः, प्रयोक्तव्याश्चेति ॥

इदं सूत्रं पाणिनीयमेव[1] । प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति[2] । दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि[3] ॥ १ ॥

इस सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार के लिये है । 'शब्दानुशासनम्' यह अधिकार

---

१. अत्र मेधातिथिर्भृगुप्रोक्तमनुसंहितायाः प्रथमश्लोकव्याख्याने यत्नेनाधमादिराह—"यैरुपैयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते, तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनं 'अथ शब्दानुशासनम् ॥' इति शास्त्रसन्दर्भमारभते ॥"

सृष्टिधरश्चात्र पुरुषोत्तमदेवकृतभाषावृत्तेष्टीकायां भाषावृत्त्यर्थविवृत्त्यभिधायामाह—"व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते 'अथ शब्दानुशासनम् ॥' इति ॥"

अतः सिद्धं यत् पुरातनानां कैयटादीनामाधुनिकानां च शिवदत्तादीनां प्रलापमात्रमेतद् यत् कथयन्ति भाष्यकारस्येयमुक्तिर्न सूत्रकारस्येति ॥

२. भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः सङ्ग्रहे भाषायामष्टाध्याय्यां 'अथ शब्दा० ॥' इत्यनेनैव सूत्रेणारम्भः क्रियते । तिथिश्च पुस्तकान्ते सं० १६६२ इति—

"सप्तनेत्ररसक्षितिन्दुमितेऽब्दे दक्षिणायने ।
प्रावृट्काले शुभे मासि भाद्रे नवमीतिथौ ॥
[नि]शानाथे तु लिखितं महाव्याकरणं शुभम् ॥"

लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दमहाविद्यालयस्थानुसन्धानपुस्तकालयेऽपि वर्तत एकमष्टाध्यायीपुस्तकं यस्मिन्नादाविदमेव सूत्रमस्ति ॥

अपि च १६४४ तमे विक्रमाब्दे जर्मनीदेशे ओटोबोटलिङ्कमहोदयेन सम्पादिताष्टाध्याय्येतेनैव सूत्रेणारभ्यते । युक्तं चैतद्, यतः 'शब्दानुशासनम्' इति नामैतदस्याः । यथा पूर्वोद्धृत सृष्टिधरमतं, तथैव न्यासकारोऽप्यत्र "व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम 'शब्दानुशासनम्' इति ॥" इति कथयति ॥

भाष्ये तु स्पष्टमेव—"शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥"

३. यथा "अथ योगानुशासनम् ॥" इति योगशास्त्रे ॥

अन्यानि प्रमाणवचनानि भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृते सत्यार्थप्रकाशे प्रथमसमुल्लासे द्रष्टव्यानि ॥

है, अर्थात् यहां से लेके शब्दों के सिद्धि, सम्बन्ध और प्रयोग इस प्रकार करने चाहियें। सो इस ग्रन्थ में कहेंगे, यह पाणिनिजी महाराज की प्रतिज्ञा है॥

'अथ शब्दा०॥' यह सूत्र पाणिनिजी का बनाया है, क्योंकि प्राचीन लिखे हुए पुस्तकों में सर्वत्र लिखा है, और प्रायः सब ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रतिज्ञासूत्र देखने में आते हैं॥१॥

अइउण् ॥ २ ॥

'अ, इ, उ' इत्येतान् त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति। प्रत्याहारार्थम्। तेनाण्-प्रत्याहारसिद्धिः। अण्-प्रदेशानि सूत्राणि 'उरण् रपरः॥'[1] इत्यादीनि। अनेन णकारेणाणेवैकः प्रत्याहारो वेद्यः।

भा०—*अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः*[2]॥

किं प्रयोजनम्। अकारः सवर्णग्रहणेनाऽऽकारमपि यथा गृह्णीयात्॥[3]

अयमकार इह शास्त्रे विवृत उपदिश्यते, प्रयोगे तु संवृत एव। कथम्। इह शास्त्रादौ संवृतस्य विवृतं प्रतिपाद्य शास्त्रान्ते 'अ अ॥' इत्यत्र विवृतस्य संवृतं प्रतिपादयति। एवमिकारोकारविषयेऽपि बोध्यम्॥

शब्दलक्षणमाह—

भा०—श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः॥[4] २॥

'अ, इ, उ' इस क्रम से इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में णकार इत् का है। एक अण्-प्रत्याहार की सिद्धि के लिये। अण्-प्रत्याहार के सूत्र 'उरण् रपरः[5]॥' इत्यादि जानना चाहिये। इस सूत्र में 'अ, इ, उ' इन तीन वर्णों को सब अष्टाध्यायी में दीर्घ और प्लुत के साथ ग्रहण होने के लिये विवृत उपदेश किया है। उच्चारण के लिये तो इन को ह्रस्व ही समझना चाहिये, क्योंकि अष्टाध्यायी की समाप्ति में विवृत के स्थान में ह्रस्व उच्चारण किया है॥

शब्द उस को कहते हैं कि जो कान से सुनने में आवे, बुद्धि से जिस का अच्छी प्रकार ग्रहण हो, वाणी से बोलने से जो जाना जाय और आकाश जिसका स्थान है॥ २॥

---

१. स०—प्र० १॥
२. १।१।५०॥
३. वार्त्तिकमिदम्॥
४. अ० १। पा० १। आ० २॥
५. ८।४।६८॥

ऋऌक् ॥ २ ॥

'ऋ, ऌ,' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य ककारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम् । अक् । इक् । उक् ॥ निदर्शनम्—'अकः सवर्णे दीर्घः[१] ॥' 'इको गुणवृद्धी[२] ॥' 'उगितश्च[३] ॥'

(प्रश्नः) अकारादयो वर्णा बहुप्रयोजनाः, ऌकारस्तु स्वल्पप्रयोजन एव । कथम् । इह शब्दशास्त्रे ऌकारः क्लृपिस्थ एक एव । तस्य च 'पूर्वत्रासिद्धम्[४] ॥' इति लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वाद् ऋकारे सर्वाणि कार्याणि[५] सेत्स्यन्ति । पुनर्लृकारोपदेशः किमर्थः । (उत्तरम्) लत्वविधानात् पराणि यान्यच्कार्याणि तानि यथा स्युः—प्लुति-द्विर्वचन-स्वरिताः । क्लृ३प्तशिखः । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः ॥

> भा०—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ॥
>
> त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ॥
>
> (प०) *प्रकृतिवदनुकरणं भवति[६]* ॥
>
> इति किं प्रयोजनम् । द्विः पचन्त्वित्याह । 'तिङ्ङतिङः[७] ॥' इति निघातो यथा स्यात् ॥[८] २ ॥

'ऋ ,ऌ' इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ककार इत् पढ़ा है । उस से तीन प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । उन के सूत्र ये हैं—'अकः सवर्णे दीर्घः[१] ॥' इको गुणवृद्धी[२] ॥' 'उगितश्च[३] ॥'

अकारादि वर्णों के उपदेश करने में तो प्रयोजन बहुत हैं । परन्तु ऌकार के उपदेश में कम प्रयोजन देखने में आते हैं । (शङ्का) व्याकरणशास्त्र में 'कृपू सामर्थ्ये' धातु में एक ही जगह ऌकार है । उस की लकार-विधि के असिद्ध होने से ऌकार के काम ऋकार से हो सकते हैं । फिर इस सूत्र में ऌकार का उपदेश क्यों किया । (समाधान) इस के करने में तीन प्रयोजन हैं । एक तो प्लुतविधान—'क्लृ३प्तशिखः' इस शब्द में स्वर

---

१. स०—सू० ९ ॥
२. ६ । १ । १०१ ॥
३. १ । १ । ३ ॥
४. ४ । १ । ६ ॥ ६ । ३ । ४५ ॥
५. ८ । २ । १ ॥
६.=अच्कार्याणि ॥
७.=वा ॥
८. पा०, प०—सू० ३६ ॥
९. ८ । १ । २८ ॥
१०. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

का धर्म जो प्लुत है, सो ऌकार में हुआ । दूसरा—'क्लृप्तः' यहां स्वर से परे पकार को द्वित्व हो गया है । तीसरा—'प्रक्लृ॒प्तः' यहां ऌकार के ऊपर स्वरित हो गया है ॥

शब्द चार प्रकार के होते हैं । एक जातिशब्द—मनुष्य, पशु इत्यादि । दूसरे गुणशब्द—शुक्ल, कृष्ण इत्यादि । तीसरे क्रियाशब्द—भवति, पठति इत्यादि । चौथे यदृच्छाशब्द—डित्थक[1] । एक पक्ष में तीन प्रकार के ही शब्द माने हैं । यहां यदृच्छाशब्द का खण्डन है ॥ ३ ॥

एओङ् ॥ ४ ॥

'ए, ओ' इत्येतौ द्वौ वर्णावुपदिश्य ङकारमितं करोति । एकप्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । एङ् । निदर्शनम्—'एङि पररूपम्[3] ॥' इति ॥ ४ ॥

'ए, ओ' इन दो वर्णों का उपदेश करके ङकार इत् पढ़ा है । उस से एक एङ्-प्रत्याहार बनता है । उस का सूत्र—'एङि पररूपम्[3] ॥' यह है ॥ ४ ॥

ऐऔच्[4] ॥ ५ ॥

'ऐ, औ' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य चकारमितं करोति । प्रत्याहारचतुष्टयसिद्ध्यर्थम् । अच् । इच् । एच् । ऐच् । निदर्शनम्—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[5] ॥' 'नादिचि[6] ॥' 'वृद्धिरेचि[7] ॥' 'वृद्धिरादैच्[8] ॥'

इमानि चत्वारि सन्ध्यक्षराणि । तत्र ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्य्यं न भवति । तदर्थं नुड्विधि-लादेश-विनामेषु ऋकारग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ नुड्-विधौ—आनृधतुः, आनृधुः । ल-आदेशे—क्लृप्तः, क्लृप्तवान् । विनामे—कर्तॄणाम् ॥ ५ ॥

'ऐ, औ' इन दो वर्णों का उपदेश करके चकार इत् अन्त में पढ़ा है । इस से चार प्रत्याहार बनते हैं । अच् । इच् । एच् । ऐच् । इन के सूत्र ये हैं—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[5] ॥' 'नादिचि[6] ॥' 'वृद्धिरेचि[7] ॥' 'वृद्धिरादैच्[8] ॥'

'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार सन्ध्यक्षर कहाते हैं, अर्थात् पूर्वोक्त स्वरों को मिलके बनते हैं । अकार इकार को मिलके एकार, अकार उकार को मिलके ओकार, तथा अकार एकार को मिलके ऐकार, और अकार ओकार को मिलके औकार बनता है । परन्तु इन में अवयवों का काम नहीं ले सकते, अर्थात् एकार से अकार और इकार के भिन्न २ कार्य नहीं हो सकते ।

---

१. किसी व्यक्ति का नाम ॥
२. सं०—सू० ३ ॥
३. ६ । १ । ९४ ॥
४. सं०—सू० ४ ॥
५. १ । १ । ५७ ॥
६. ६ । १ । १०४ ॥
७. ६ । १ । ८८ ॥
८. १ । १ । १ ॥

इसी से रेफ का काम ऋकार से नहीं हो सकता। इसलिये तीन जगह ऋकार का ग्रहण करना चाहिये। नुट्-विधि में—'आनृधतुः' यहां ऋकार के पूर्व नुट् का आगम हो गया। 'क्लृप्तः' [यहां] ऌकार में रेफ मानके लकारादेश होता है। 'कर्तॄणां' यहां ऋकार से परे णकार को णत्व हो गया। ये कार्य रेफ से परे विधान थे ॥ ५ ॥

हयवरट्[1] ॥ ६ ॥

'ह य, व, र' इति चतुरो वर्णानुपदिश्य टकारमितं करोति। एक-प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम्। अट्। निदर्शनम्—शश्छोऽटि[2]॥'

> भा०—सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते, पूर्वश्चैव परश्च ॥[3]

उभयत्र ग्रहणस्य प्रयोजनम्। पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसतीति हश्-प्रत्याहारार्थं पूर्वोपदेशः। अधुक्षत्, अलिक्षदिति शल्-प्रत्याहारार्थं परोपदेशः ॥

> रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥
>
> इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च, तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः[4]। विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-अनुस्वार-यमाः[5]। कथं पुनरयोगवाहाः। यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते ॥
>
> अयोगवाहानामट्सु णत्वम्[6] ॥
>
> उरःकेण। उरꣳकेण। उरःपेण। उरꣳपेण। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि'[7] इति णत्वं सिद्धं भवति ॥ अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते। इह—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकं, तँल्लोकमिति परसवर्ण-स्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यय्-ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात् ॥

---

१. सं०—सू० ५ ॥
२. ८। ४। ६३ ॥
३. अ० १। पा० १। आ० २ ॥
४. दृश्यतां चात्र वर्णोच्चारणशिक्षायां प्रथमप्रकरणेऽयोगवाहवर्गः ॥
५. अत्र भाष्यकोशेषु पाठभेदाः—
ऽनुस्वारानुनासिक्ययमाः।
ऽनुस्वारानुनासिक्ययमाः।
ऽनुस्वारनासिक्ययमाः ॥
६. वार्त्तिकमिदम् ॥
७. परीक्ष्यतां ८। ४। २।

यदि य-व-लानामण्सु पाठो नो चेत्, तर्हि य-व-लाः सवर्णग्राहका न स्युः । कथम् । 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' इत्यणेव सवर्णस्य ग्राहको भवति । य-व-ला उदितोऽपि न सन्ति । य-व-लाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च भवन्ति । [य-व-लानां निरनु[2]]नासिकानां सवर्णाः सानुनासिका य-व-ला एव भवन्ति । तेन[अनुस्वारस्य परसवर्णे कर्त्तव्ये[2]] यँल्लोकं, वँल्लोकमित्यादिषु 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[3]॥' इति[सूत्रेणानुस्वारस्य स्थाने निरनु[2]]नासिकानां य-व-लानां सवर्णाः सानुनासिका य-व-ला यथा स्युः ॥ [रेफ-ग्रहणं[2]] हश्-प्रत्याहारार्थम् । [स्व[2]]र्यो रौतीत्यादिषूत्वं यथा स्यात् ॥६॥

'ह, य, व, र' इन चार वर्णों का उपदेश करके अन्त में टकार इत् पढ़ा है । इस से एक प्रत्याहार बनता है । अट् । उस का सूत्र—'शश्छोऽटि[4]॥'

इस वर्णसमाम्नाय में हकार दो बार इसलिये पढ़ा है कि पहले हकार के पढ़ने से 'पुरुषो हसति' इस प्रयोग में हश्-प्रत्याहार में हकार को मानके 'पुरुषो' ओकारान्त शब्द हो जाता है । अन्त के हकार का प्रयोजन यह है कि 'अधुक्षत्, अलिक्षत्' यह प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥

रेफ और श, ष, स, ह के सवर्णी नहीं हैं । इस के कहने का प्रयोजन यह है कि परसवर्ण-कार्य अनुनासिक के स्थान में होता है । सो 'य, व, ल' ये तीनों वर्ण सानुनासिक निरनुनासिक दोनों ही हैं । इससे रेफ और ऊष्म के परे अनुस्वार को कुछ नहीं होता । वेदादि ग्रन्थों में ꣳकार तो कर देते हैं ॥

अयोगवाह उन को कहते हैं कि जिन का कहीं उपदेश तो किया नहीं, और सुनने में आते हैं । वे ये हैं—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, यम । इनका उपदेश अट्-प्रत्याहार में करना चाहिये, जिससे कि 'उरःकेण, उरःपेण' इत्यादि शब्दों में णकारादेश हो जावे ॥

(प्र०) 'य, र, ल, व' इन अक्षरों का उपदेश अण्-प्रत्याहार में क्यों किया । (उ०) अण् प्रत्याहार में पढ़ने से 'सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्' में अनुस्वार को परसवर्ण होता है, क्योंकि अण् और उदित् सवर्ण के ग्राहक होते हैं । जो यह अण् में न होते, तो उदित् भी नहीं थे, फिर सवर्ण के ग्राहक कैसे होते ॥ ६ ॥

लण्[5] ॥ ७ ॥

'ल' इत्येकं वर्णमुपदिश्य णकारमितं करोति । प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम् ।

---

१. १ । १ । ६८ ॥
२. कोष्ठान्तर्गताक्षराणि त्रुटितानि ॥
३. ८ । ४ । ५८ ॥
४. ८ । ४ । ६३ ॥
५. अ०—अ० १ ॥

अण् । इण् । यण् । निदर्शनम्—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' 'इणो यण्[2]॥' इण्-ग्रहणानि सूत्राणि सर्वाणि परेण णकारेण । अण्-ग्रहणानि पूर्वेण, 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' इत्येतं विहाय ॥

अण्-ग्रहणे प्रमाणम् । यदयं 'उर्ऋत्[3]॥' इत्यृकारे तपरकरणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्य्यः, परेण न पूर्वेण । यदि पूर्वेण स्यात्, ऋकारे तपरकरणमनर्थकं स्यात् । तपरकरणमेतदर्थं, ऋकारः सवर्णान्न गृह्णीयात् । अन्येष्वण्-ग्रहणेषु परेण चेत्, तत्राज्-ग्रहणं कुर्यात् ॥

इण्-ग्रहणेषु प्रमाणम् । 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ[4]॥' यदि इण्-ग्रहणं पूर्वेणेष्टं स्यात्, तर्हि 'य्वोः' इत्यस्य स्थाने 'इणः' इति ब्रूयात् ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादीभिरुक्तं—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः । लकारे त्वनुनासिकः प्रतिज्ञायते । तेन 'उरण् रपरः[5]॥' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणाल्लपरत्वमपि भवति[6]॥' तदिदमवद्यम् । कुतः । इह व्याकरणे क्लृपिस्थ एक एव ऌकारः । स च रपरकरणेऽसिद्धः । तेन ऌकारस्य कार्य्याणि ऋकारे भविष्यन्तीति लपरप्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

'ल' इस एक वर्ण का उपदेश करके णकार अन्त में इत् पढ़ा है । उस से तीन प्रत्याहार बनते हैं । अण् । इण् । यण् । इन के सूत्र ये हैं—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1]॥' 'इणो यण्[2]॥' वर्णसमाम्नाय में णकार दो वार पढ़ा है । इससे अण्- और इण्-प्रत्याहार के ग्रहण में सन्देह होता है कि किस सूत्र में पूर्व णकार से जानें, किस में पर से । अण्-प्रत्याहार का सर्वत्र पूर्व णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि जो पर णकार से होता, तो उन सूत्रों में अच्-ग्रहण करते । और 'अणुदित्०[1]॥' इस सूत्र में पर णकार से अण् का ग्रहण होता है, क्योंकि 'उर्ऋत्[3]॥' इस सूत्र में तपरकरण इसलिये है कि ऋकार सवर्णों का ग्राहक न हो । जो पूर्व णकार से ग्रहण होता, तो सवर्णों का ग्रहण होता ही नहीं, फिर तपरकरण किसलिये किया जाय ॥ इण्-प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से ग्रहण होता है, क्योंकि पाणिनि आदि ऋषियों को जहां पूर्व णकार से लेना होता, तो वहां वे लोग 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ[4]॥' इस सूत्र में 'य्वोः' इस के स्थान में 'इणः' ऐसा पढ़ते ॥

---

१. १।१।६८ ॥
२. ६।४।८१ ॥
३. ७।४।७ ॥
४. ६।४।७७ ॥
५. १।१।५० ॥
६. इदं काशिकावचनम् । ईदृशान्येव वचनानि मिताक्षरावृत्ति-प्रक्रियाकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभादिषु सन्त्युपलभ्यन्ते ॥

इस सूत्र में काशिका के बनाने वाले पण्डित जयादित्य और सिद्धान्तकौमुदी के बनाने वाले भट्टोजिदीक्षितादि ने कहा है कि इकारादि वर्णों में तो अकार उच्चारण करने के लिये है, परन्तु लकार में जो अकार है, वह अनुनासिक होने से इत्-संज्ञक होता है। उस से एक र-प्रत्याहार नया बनता है। उस का काम 'उरण् रपरः[1]॥' सूत्र में रपर होने के लिये पड़ता है। अब देखना चाहिये, पाणिनिजी महाराज ने सब प्रत्याहार हल् अक्षरों से बांधे हैं। ये लोग उन से विरुद्ध चलते हैं कि अकार की इत्-संज्ञा करके र-प्रत्याहार बनाते हैं। यह बात महाभाष्य में भी कहीं नहीं। उन के अभिप्राय से इस बात का खण्डन तो होता है। यहां व्याकरण में लृकार एक क्लृप् धातु में है। उस को जो लत्व होता है, सो एक पाद और सात अध्याय में असिद्ध है। उस के असिद्ध होने से लृकार के काम ऋकार से हो जावेंगे। फिर लृकार का उपदेश......[2]कार्यों के लिये किया है। 'उरण् रपरः[1]॥' इस में लपर ऋकार से ही हो जायगा। फिर इन लोगों का विरुद्ध चलना, नवीन प्रत्याहार का बनाना, केवल मिथ्या ही है॥ ७॥

ञमङणनम्[3] ॥ ८ ॥

'ञ, म, ङ, ण, न' इति पञ्च वर्णानुपदिश्य मकारमितं शास्ति। प्रत्याहारत्रयसिद्ध्यर्थम्। अम्। यम्। ङम्। निदर्शनम्—'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'हलो यमां यमि लोपः[5]॥' 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्[6]॥' उणादौ तु 'अमन्ताड्डः[7]॥' इति चतुर्थोऽपि॥ ८॥

'ञ, म, ङ, ण, न' इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में मकार इत् पढ़ा है। इस से तीन प्रत्याहार बनते हैं। अम्। यम्। ङम्। इनके सूत्र—'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'हलो यमां यमि लोपः[5]॥' 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्[6]॥' उणादिपाठ में मकार से चौथा प्रत्याहार अम् भी है॥ ८॥

झभञ्[8] ॥ ९ ॥

'झ, भ' इति द्वौ वर्णावुपदिश्य ञकारमन्त इतं प्रतिपादयति। एकप्रत्याहारार्थम्। यञ्। निदर्शनम्—'अतो दीर्घो यञि[9]॥' ९॥

'झ, भ' इन दो वर्णों का उपदेश करके ञकार इत् किया है। इस से एक प्रत्याहार बनता है। यञ्। उस का सूत्र—'अतो दीर्घो यञि[9]॥' ९॥

---

१. १।१।५०॥
२. यहां से अक्षर त्रुटित हैं। पं० भगवद्दत्तजी सम्पादित अङ्क में "क्यों किया? (उत्तर) लपर" इस प्रकार से है॥
३. सं०—सू० ७॥
४. ८।३।६॥
५. ८।४।६४॥
६. ८।३।३२॥
७. उ०—१।११४॥
८. सं०—सू० ८॥
९. ७।३।१०१॥

घढधष्[1] ॥ १० ॥

'घ, ढ, ध' इति त्रीन् वर्णानुपदिश्यान्ते षकारमितं करोति । प्रत्याहारद्वयसिद्ध्यर्थम् । भष् । झष् । निदर्शनम्—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' इति ॥ १० ॥

'घ, ढ, ध' इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में षकार इत् पढ़ा है । इस से दो प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । भष् । झष् । इन का सूत्र—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' १० ॥

जबगडदश्[3] ॥ ११ ॥

'ज, ब, ग, ड, द' इति पञ्चवर्णानुपादिश्य शकारमन्त इतं शास्ति । षट्-प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । अश् । हश् । वश् । जश् । झश् । बश् । निदर्शनम्—'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि[4]॥' 'हशि च[5]॥' 'नेड्वशि कृति[6]॥' 'झलां जश् झशि[7]॥' 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' ११ ॥

'ज, ब, ग, ड, द' इन पांच वर्णों का उपदेश करके अन्त में शकार इत् किया है । इस से छः प्रत्याहार बनते हैं । अश् । हश् । वश् । जश् । झश् । बश् । इन के सूत्र—'भो-भगो-अघो अपूर्वस्य योऽशि[4]॥' 'हशि च[5]॥' 'नेड्वशि कृति[6]॥' 'झलां जश् झशि[7]॥' 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[2]॥' ११ ॥

खफछठथचटतव्[8] ॥ १२ ॥

'ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त' इत्यष्टौ वर्णानुपदिश्यान्ते वकारमितं करोति । एकप्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । छव् । निदर्शनम्—'नश्छव्यप्रशान्[9]॥' १२ ॥

'ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त' इन आठ वर्णों का उपदेश करके वकार अन्त में इत् किया है । इस से एक प्रत्याहार बनता है । छव् । 'नश्छव्यप्रशान्[9] ॥' १२ ॥

कपय्[10] ॥ १३ ॥

'क, प' इति द्वौ वर्णानुपदिश्य पूर्वोश्चान्ते यकारमितं करोति । तेन प्रत्याहारपञ्चतयसिद्धिः । यय् । मय् । झय् । खय् । चय् । [निदर्शनम्—] 'अनु-

---

१. स०—सू० ९ ॥
२. ८ । २ । ३७ ॥
३. स०—सू० १० ॥
४. ८ । ३ । १७ ॥
५. ६ । १ । ११४ ॥
६. ७ । २ । ८ ॥
७. ८ । ४ । ५३ ॥
८. स०—सू० ११ ॥
९. ८ । ३ । ७ ॥
१०. स०—सू० १२ ॥

स्वारस्य ययि परसवर्णः[1]॥' 'मय उञो वो वा[2]॥' 'झयो होऽन्यतरस्याम्[3]॥' 'पुमः खय्यम्परे[4]॥' [का०—] 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः[5]॥' १३ ॥

'क, प' इन दो वर्णों का उपदेश करके यकार अन्त में चार प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये इत् किया है । यय् । मय् । झय् । खय् । इन के सूत्र ये हैं—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[1]॥' 'मय उञो वो वा[2]॥' 'झयो होऽन्यतरस्याम्[3]॥' 'पुमः खय्यम्परे[4]॥' 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः[5]॥' [चय्] यह वार्त्तिक का प्रत्याहार है ॥ १३ ॥

शषसर्[6] ॥ १४ ॥

'श, ष, स' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं प्रशास्ति । तेन पञ्च प्रत्याहाराः सिद्ध्यन्ति । यर् । झर् । खर् । चर् । शर् । निदर्शनम्—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा[7]॥' 'झरो झरि सवर्णे[8]॥' 'खरि च[9]॥' 'अभ्यासे चर्च[10]॥' 'वा शरि[11]॥' १४ ॥

'श, ष, स' इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में रेफ इत् पढ़ा है । इस से पांच प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । यर् । झर् । खर् । चर् । शर् । इन के सूत्र ये हैं—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा[7]॥' 'झरो झरि सवर्णे[8]॥' 'खरि च[9]॥' 'अभ्यासे चर्च[10]॥' 'वा शरि[11]॥' १४ ॥

हल्[12] ॥ १५ ॥

'ह' इत्येकं वर्णमुपदिश्य सर्वेषां वर्णानामन्ते लकारमितं करोति । तेन षट् प्रत्याहारा भवन्ति । अल् । हल् । वल् । रल् । झल् । शल् । निदर्शनम्—'अलोऽन्त्यस्य[13]॥' 'हलोऽनन्तराः संयोगः[14]॥' 'लोपो व्योर्वलि[15]॥' 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च[16]॥' 'झलो झलि[17]॥' 'शल इगुपधादनिटः क्सः[18]॥'

---

१. ८ । ४ । ५८ ॥
२. ८ । ३ । ३३ ॥
३. ८ । ४ । ६२ ॥
४. ८ । ३ । ६ ॥
५. कोरो त्विदं वार्त्तिकं 'चयो द्वितीयादि. पौष्करसादेः ॥' इत्येवम् ॥ सिद्धान्तकौमुद्यां '०सादेरिति वाच्यम् ॥' इति । हरदत्तमिश्रः 'खयो द्वितीयाः०॥' (८ ।२ । २८ ॥ ८ । ४ । ४८) इत्येवं पठति । अस्माभिस्तु सन्धिविषयसम्मतो भाष्यपाठः स्वीकृतः ॥
६. स०—सू० १३ ॥
७. ८ । ४ । ४५ ॥
८. ८ । ४ । ६५ ॥
९. ८ । ४ । ५५ ॥
१०. ८ । ४ । ५४ ॥
११. ८ । ३ । ३६ ॥
१२. स०—सू० १४ ॥
१३. १ । १ । ५२ ॥
१४. १ । १ । ७ ॥
१५. ६ । १ । ६६ ॥
१६. १ । २ । २६ ॥
१७. ८ । २ । २६ ॥
१८. ३ । १ । ४५ ॥

सर्वे प्रत्याहारा मिलित्वा ४३ त्रयश्चत्वारिंशद् भवन्ति । तद्यथा—

[१] अण् । [२] अक्, [३] इक्, [४] उक् । [५] एङ् । [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच् । [१०] अट् । [११] अण्, [१२] इण्, [१३] यण् । [१४] अम्, [१५] यम्, [१६] ङम्[१], [१७] ञम् । [१८] यञ् । [१९] भष्, [२०] झष् । [२१] अश्, [२२] हश्, [२३] वश्, [२४] जश्, [२५] झश्, [२६] बश् । [२७] छव् । [२८] यय्, [२९] मय्, [३०] झय्, [३१] खय्, [३२] चय् । [३३] यर्, [३४] झर्, [३५] खर्, [३६] चर्, [३७] शर् । [३८] अल्, [३९] हल्, [४०] वल्, [४१] रल्, [४२] झल्, [४३] शल् ॥

अस्मिन् व्याकरणेऽक्षरसमाम्नायस्थाः सर्वे प्रत्याहारा एतावन्त एव सन्ति ॥

भा०—*प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ।*
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥ १ ॥
उकालोऽजिति वा योगस्तत्कालाना यथा भवेत् ।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥ २ ॥

एवमपि 'कुक्कुटः' इत्यत्र[३] प्राप्नोति । तस्मात् पूर्वोक्त एव परिहारः ॥ अपर आह[४]—

हलग्रहणानां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कानेतरु कार्याणि ॥ ३ ॥[५]

(प्र०) प्रत्याहारेषु येऽनुबन्धाः सन्ति, तेषामज्-ग्रहणेन ग्रहणं कथं न भवति ।

(उ०) 'आचाराद्'—आचार्याणां सूत्रेषु तत्कार्यव्यवहाराभावात्। 'अप्रधानत्वात्'—तेषां प्राधान्येन पाठो हल्षु, अप्राधान्येनाक्षु । 'लोपश्च बलवत्तरः'—इत्-सञ्ज्ञकत्वाल्लोपो भविष्यति ॥ १ ॥

१ तथा च काशिकायां प्रक्रियाकौमुद्यां च— एकस्माद् ङञणवटाः, द्वाभ्यां षः, त्रिभ्य एव कणमाः स्युः । ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यः, रः पञ्चभ्यः, शलौ षड्भ्यः ॥ प्रक्रियाकौमुदीटीकाकारो विट्ठलाचार्योऽस्य (व्याख्या-कृत्-)सङ्ग्रहस्य श्लोक इत्यस्मभ्यो विज्ञापयति । वृषवरद्धिधरस्त्वेतत् प्रमादाद् भाष्यवचनमाह । अत्र सूत्रव्याख्याने ॥

कात्तिकोणादिषु प्रत्याहारौ न कथितौ ॥
२ चान्द्रे...पाठे—२ । ३६ ॥
३. पाठान्तरम् –०ऽपि ॥
४. नागेश.—[illegible]
५. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

अथ वा 'ऊकालोऽच्[1]' इति सूत्रं विभज्य 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' इति पृथक्करणेन तत्कालानामचां ग्रहणेन तेषामनुबन्धानां ग्रहणमच्कार्य्यं च नैव भविष्यति ॥ २ ॥

एतदेव प्रयोजनं तृतीयस्यापि ॥ ३ ॥

अत्र प्रत्याहारेषु केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयः[2] सम्प्रवदन्ति[3]—इमानि माहेश्वराणि सूत्राणीति । महेश्वरादागतानि महेश्वरेण प्रोक्तानि वा । तदिदमसत्यम् । कथम् । तत्र प्रमाणाभावात् । अत्र तु प्रमाणम्—

> भा०—एषा ह्याचार्य्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति । अचोऽक्षु, हलो हल्षु ॥[4]

अत्र 'उपदिशति' इति क्रियायाः कर्त्ता पूर्वस्याः षष्ठ्या विपरिणामादाचार्य्यः पाणिनिरेवास्ति । येषामेतावज्ज्ञानं नास्तीमानि सूत्राणि केन रचितानि, ते व्याकरणस्य ग्रन्थान् रचितुमुद्यताः, महदाश्चर्य्यमेतत्[5] ॥ १५ ॥

'ह' इस एक वर्ण का उपदेश करके सब प्रत्याहारों के अन्त में लकार हल् पढ़ा है । इस से छः प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । अल् । हल् । वल् । रल् । झल् । शल् । इन के सूत्र ये हैं—'अलोऽन्त्यस्य[6]॥' 'हलश्च[7]॥' 'लोपो व्योर्वलि[8]॥' 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च[9]॥' 'झलो झलि[10]॥' 'शल इगुपधादनिटः क्सः[11]॥'

ये सब प्रत्याहार मिलके ४२ बयालीस[12] होते हैं । वे ये हैं—

---

१. १ । १ । ७० ॥

२. यथा कथासरित्सागरे—

अतः तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात् ।
सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम् ।
(१ । ४ । २२)

नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ १ ॥

विशेषविस्तार उपमन्युव्याख्याने द्रष्टव्यः ॥

सर्वैरार्वाचीनपाणिनीयशिक्षायां (श्लो० ५८), याजुषशाखीयायां श्लो० १४) अन्यत्र च ॥

३. परिवादपरमिदं वचनम् ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० २ । हयवरट्—सूत्रव्याख्याने ॥

५. नागेशस्य महान् भ्रमो जातो यत् कथयति "आचार्यशब्देनानादिः शब्दपुरुषः ।" एष एवाचार्य-शब्दे ऽन्यत्र नागेशेन स्वयमनादिशब्दपुरुषपरतया न कचिद् व्याख्यातः । यथा 'प्राक्कडारात् समासः ।' (२ । १ । ३) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते० ।" इत्यत्र ॥

६. १ । १ । ५१ ॥

७. ६ । १ । ६८ ॥

८. ६ । १ । ६६ ॥

९. १ । २ । २६ ॥

१०. ८ । २ । २६ ।

११. ३ । १ । ४५ ।

१२. संस्कृत में सङ्ख्या ४२ दी गई है । वहां पूर्व और पर णकार से होने वाले अण् प्रत्याहार को दो बार गिना गया है ॥

[१] अण् । [२] अक्, [३] इक्, [४] उक् । [५] एङ् । [६] अच्, [७] इच्, [८] एच्, [९] ऐच् । [१०] अट् । [११] इण्, [१२] यण् । [१३] अम्, [१४] यम्, [१५] ञम्, [१६] ङम् । [१७] यञ् । [१८] झष्, [१९] भष् । [२०] अश्, [२१] हश्, [२२] वश्, [२३] झश्, [२४] जश्, [२५] बश् । [२६] छव् । [२७] यय्, [२८] मय्, [२९] झय्, [३०] खय्, [३१] चय् । [३२] यर्, [३३] झर्, [३४] खर्, [३५] चर्, [३६] शर् । [३७] अल्, [३८] हल्, [३९] वल्, [४०] रल्, [४१] झल्, [४२] शल् ॥

व्याकरणशास्त्र में इतने ही प्रत्याहार हैं ॥

अब यह विचार करते हैं कि प्रत्याहारों में सूत्रों के अन्त में जो हल्-अक्षर पड़े हैं, उन का प्रत्याहारों के साथ ग्रहण क्यों नहीं होता ।

(उ०) 'आचारात्'—सूत्र रचने वाले आचार्य ऋषि लोगों का व्यवहार सूत्रों में नहीं दिखता। जैसे—'इको गुणवृद्धी'[1]॥' इस सूत्र में ककार का ग्रहण अच्-प्रत्याहार में होता, तो ककार को अच् मानके इकार के स्थान में य हो जाता। 'अप्रधानत्वात्'—उन हलों का पाठ मुख्य करके हलों ही में किया है, अचों में तो गौणता से है। इससे भी उन को अच् नहीं मान सकते। 'लोपश्च बलवत्तरः'—और इन इत् सञ्ज्ञक वर्णों का बलवान् होने से लोप हो जाता है ॥ १ ॥

'ऊकालो०' अथवा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत धर्म वाले वर्णों को अच् कहते हैं। सो धर्म उन में नहीं है, इससे उन का ग्रहण न होगा ॥ २ ॥

तीसरी कारिका का अभिप्राय भी दूसरी के तुल्य है ॥ ३ ॥

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में सिद्धान्तकौमुदी के बनाने पढ़ने वाले लोगों ने कहा और कहते हैं कि प्रत्याहारसूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव के बनाये हैं। सो देखो इन लोगों को कैसा भ्रम हुआ है कि जिन पाणिनिजी महाराज ने सब व्याकरण के सूत्र बनाये, तो क्या प्रत्याहारसूत्र नहीं बना सकते थे। तथा उन लोगों के कहने में कोई प्रमाण भी नहीं है। यहां तो पाणिनि के बनाने में प्रमाण बहुत हैं। 'एषा०' इस पंक्ति में प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले आचार्य्य पाणिनिजी महाराज हैं। जिन लोगों को इतना भी बोध नहीं कि ये सूत्र किस ने बनाये हैं, वे लोग व्याकरण के ग्रन्थ बनाने लगते हैं, बड़े आश्चर्य की बात है ॥ १५ ॥

इत्यक्षरसमाम्नायः ॥

---

1. १ । १ । ३ ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ सञ्ज्ञासूत्राणि ॥

वृद्धिरादैच्[1] ॥ १ ॥

वृद्धिः । १ । १ । आदैच् । १ । १ । आच्च ऐच्च [=आदैच् ।] समाहारद्वन्द्वः । वृद्धिः सञ्ज्ञा । आदैचः सञ्ज्ञिनः । तद्भावितातद्भावितानां 'आ, ऐ, औ' इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकं वृद्धि सञ्ज्ञा भवति । आश्वलायनः । ऐतिकायनः । औपगवः । वृद्धि-प्रदेशानि सूत्राणि—'वृद्धिरेचि[2] ॥' इत्यादीनि ॥

भा०—कुत्वं कस्मान्न भवति 'चोः कुः[3] ॥' 'पदस्य[4] ॥' इति । भत्वात् । कथं भ सञ्ज्ञा । 'अयस्मयादीनि च्छन्दसि[5] ॥' इति । 'छन्दसि' इत्युच्यते, न चेदं छन्दः । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति ॥

सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः । कुतो ह्येतत् । वृद्धि-शब्दः सञ्ज्ञा, आदैचः सञ्ज्ञिन इति । न पुनरादैचः सञ्ज्ञा, वृद्धि शब्दः सञ्ज्ञीति ॥

अनाकृतिः सञ्ज्ञा, आकृतिमन्तः सञ्ज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

अथ वाऽऽवर्तिन्यः सञ्ज्ञा भवन्ति । वृद्धि शब्दश्चावर्तते, नादैच् शब्दः । तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्त-शब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः ॥

अथ वा पूर्वोच्चारितः सञ्ज्ञी, परोच्चारिता सञ्ज्ञा । कुत एतत्[6] । सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सञ्ज्ञा क्रियते ॥

---

१. स०—सू० १७ ॥
२. ६ । १ । ८८ ॥
३. ८ । २ । ३० ॥
४. ८ । १ । १६ ॥
५. १ । ४ । २० ॥
६. लेखकप्रमादादत्रापि "तद्यथा" इति ॥

कथं 'वृद्धिरादैच्॥' इति। एतदेकमाचार्य्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्य्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धि-शब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि[1] भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः॥[2]

त-परकरणमुभाभ्यां सह सम्बध्यते।

तः परो यस्मात् सोऽयं=त-परः।

तादपि परः=त-परः॥

तेन तत्कालस्य ग्राहकत्वात् त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति[3]॥ १॥

'आदैच्' आ, ऐ, औ, इन का 'वृद्धिः' वृद्धि नाम है। ये नामी हैं। यहां वृद्धि सञ्ज्ञा और आदैच् सञ्ज्ञी हैं। यौगिक शब्दों में जो आ, ऐ, औ हैं, उन को तद्भावित कहते हैं। तथा रूढि शब्दों में जो हैं, वे अतद्भावित होते हैं[4]। इन दोनों प्रकार के आ, ऐ, औ, प्रत्येक की वृद्धि सञ्ज्ञा है। आश्वलायनः—यहां 'आ' वृद्धि हुई है। इत्यादि॥

(प्र०) इस सूत्र के अन्त में ['चोः कुः[5]॥ पदस्य[5]॥' इन दो सूत्रों से] चकार के स्थान में ककार पाता है, सो क्यों नहीं होता। (उ०) पद-सञ्ज्ञा होने से पाता है। यहां तो 'अयस्मय०[6]॥' इस सूत्र करके वेद में भ-सञ्ज्ञा होती है। वेदों के समान सूत्रों को भी मानके कार्य्य कर लेते हैं॥

अब सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी का विचार करते हैं। (प्र०) यहां कैसे जानते हो कि वृद्धि सञ्ज्ञा है, आदैच् सञ्ज्ञी है। इस से उलटा क्यों नहीं समझें कि वृद्धि सञ्ज्ञी और आदैच् सञ्ज्ञा। (उ०) सञ्ज्ञा वह कहाती है कि जिस की कुछ आकृति न हो, और सञ्ज्ञी वह, जो आकृतिवाला हो। क्योंकि लोक में भी आकृतिवाला मांस का पिण्ड, जो बालक होता है, उस का नाम देवदत्त धरते हैं। अथवा, जिस का आवर्त्तन, अर्थात् व्यवहार में वारंवार उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञा। वृद्धि-शब्द का ही वारंवार उच्चारण होता है, आदैच् का नहीं। लोक में भी देवदत्त-शब्द का वारंवार उच्चारण होता है, मांसपिण्ड का

---

१. पाठान्तरम्—०पुरुषकाणि। भर्तृहरिविरचित-श्रीमहाभाष्यटीकायां (जर्मनीदेशराजधानी-)बर्लिन-पुस्तकालयस्थकोशे भगवद्दयानन्दसरस्वतीपठितं पाठं पुष्णाति॥

२. अ० १। पा० १। आ० ३॥

३. महाभाष्ये—"अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।६९) इति नियमात्।" (अ० १। पा० १। आ० ३)

४. जिनेन्द्रबुद्धिकृत काशिकाविवरणपञ्जिका में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार से की है—"ते तद्भाविता ये वृद्धि-शब्देनोत्पादिताः। ततोऽन्येऽतद्भाविताः॥"

५. क्रम से ८। २। ३०। ८। १। १६॥

६. १। ४। २०॥

नहीं । अथवा, पहले जिस का उच्चारण हो, वह सञ्ज्ञी, पीछे हो, वह सञ्ज्ञा । क्योंकि जब कोई वस्तु विद्यमान है, तब उस का नाम धरेंगे । तो विद्यमान का प्रथम उच्चारण होता है, इससे वह सञ्ज्ञी । और जिस का पीछे उच्चारण किया जाय, वह सञ्ज्ञा । इस सूत्र में वृद्धि-शब्द सञ्ज्ञा है । उस का प्रथम उच्चारण ग्रन्थ के आदि में मङ्गलार्थ पढ़ा है । मङ्गल है प्रयोजन जिन का, ऐसे आचार्य्य, अर्थात् पाणिनिजी महाराज ने बड़े व्याकरणशास्त्र के आदि में मङ्गल के लिये वृद्धि-शब्द का प्रयोग किया है । प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने पढ़ाने वाले वीर पुरुष हों, और उन की उमर अधिक हो, और उन की सब प्रकार बढ़ती हो । यह ऋषि लोगों का आशीर्वाद पढ़ने पढ़ाने वालों के लिये है ॥

त-पर का अर्थ यह है कि त जिस से परे हो, और त से परे जो हो, इन दोनों को त-पर कहते हैं । सो इस सूत्र में इसलिये है कि तीन मात्रा चार मात्रा के स्थान में तीन मात्रा चार मात्रा के आदेश न हों ॥ १ ॥

अदेङ् गुणः[1] ॥ २ ॥

अदेङ् । १ । १ । गुणः । [१ । १ ।] अच्च एङ् च=अदेङ् । समाहार-द्वन्द्वः । तद्भावितानामतद्भावितानां 'अ, ए, ओ' इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकं गुण-सञ्ज्ञा भवति । तपरकरणं पूर्ववत् । कर्त्ता, हर्त्ता । चेता । स्तोता । गुण-प्रदेशानि—'मिदेर्गुणः[2]॥' इत्येवमादीनि ॥ २ ॥

पूर्वोक्त तद्भावित और अतद्भावित 'अदेङ्' अ, ए, ओ, इन वर्णों की 'गुणः' गुण-सञ्ज्ञा है । [अथवा] यहां 'अ, ए, ओ' ये सञ्ज्ञी, और 'गुण' यह सञ्ज्ञा है । जैसे—'कर्त्ता' इस पद में 'कृ+ता' इस को गुण हो गया तो 'कर्त्ता' हो गया । तथा 'चेता, स्तोता' इन दोनों प्रयोगों में 'इ, उ' इन के स्थान में ए और ओ गुण हुआ है ॥ २ ॥

इको गुणवृद्धी[3] ॥ ३ ॥

इकः । ६ । १ । गुणवृद्धी । १ । २ ।

> 'वृद्धिर्भवति', 'गुणो भवति' इति यत्र ब्रूयात्, 'इकः' इति तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्[4]॥

गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी । द्वन्द्वसमासः ।

'द्वन्द्वे घि[5]॥' इति वृद्धेः पूर्वनिपाते प्राप्ते 'धर्मादिषूभयं पूर्वं निपतति[6]॥'

१. स०—सू० १८ ॥
२. ७ । ३ । ८२ ॥
३. स०—सू० ५० ॥
४. पाठान्तरम्—इत्येतत् ॥
५. २ । २ । ३२ ॥
६. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

'अल्पाच्तरम् ॥' (२ । २ । ३४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने 'धर्मादिषूभयम्॥' इति वार्त्तिकम् । तत्र चेदं भाष्यम् ॥

(भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्यां, अन्नम्भट्टश्च अष्टाध्यायीवृत्तौ मिताक्षरायां 'धर्मादिष्वनियमः ॥' इति पठतः । शब्दकौस्तुभे 'इष्यते' इत्यधिकम् ॥)

इति गुण-शब्दस्य पूर्वनिपातः । तत्रोभयं भवति—गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ ॥

अनियमप्रसङ्गे नियन्त्रीयं परिभाषा । औपगवः ॥

'इकः' इति किम् । व्यञ्जनस्य गुणवृद्धी मा भूताम् । अन्तगाः । अन्त-उपपदे गमि-धातोर्डे प्रत्यये कृते ओष्ठ्यस्य मकारस्य ओकारो गुणः प्राप्नोति । 'इकः' इति वचनान्न भवति ।

'गुणवृद्धी' इति किम् । गुण-वृद्धि-शब्दाभ्यां यत्र वृद्धिगुणावुच्येते, तत्रैवेकः स्थाने भवतः । इह मा भूताम्—द्यौः, पन्थाः, स इति ॥

इहान्ये[1] वैयाकरणा मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिममृजतुः । परिममार्जतुरित्याद्यर्थम् ॥

'अजादौ सङ्क्रमे'=अजादौ क्ङिति[2] ॥ २ ॥

जिन सूत्रों में 'गुणवृद्धी' सञ्ज्ञा किये हुए गुण और वृद्धि शब्द कहें, वहां वे इक् के स्थान में हों । इक् वृद्धि और गुण सञ्ज्ञाओं का नियम करने वाली यह परिभाषा है । जैसे 'औपगव' इस शब्द में इक् के स्थान में गुण और वृद्धि दोनों कार्य्य हुए हैं । अर्थात् 'उपगु' [यहां] आदि में तो वृद्धि और अन्त में गुण हुआ है ॥ 'इकः' यह पद इस सूत्र में इसलिये है, कि व्यञ्जन के स्थान में गुण, वृद्धि न हों । अर्थात् 'अन्त+गम्+ड' इस अवस्था में मकार के स्थान में ओकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ । और 'गुणवृद्धी' इसलिये पढ़े हैं, कि जिन सूत्रों में 'गुण, वृद्धि' इन्हीं शब्दों से गुण, वृद्धि विधान किये हों, वहीं इक् के स्थान में होने का नियम रहे । यहां न हों—'द्यौः' । इस शब्द में औकारादेश व्यञ्जन [व्] के स्थान में हुआ है । औकार की वृद्धि-सञ्ज्ञा होने से इक् के स्थान में पाता था, सो नहीं हुआ ॥

अन्य वैयाकरण लोग मृज् धातु को अजादि कित्, ङित् में विकल्प करके वृद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

न धातुलोप आर्धधातुके[3] ॥ ४ ॥

न । अव्ययपदम् । धातुलोपे । ७ । १ । आर्धधातुके । ७ । १ ।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे[4] सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥

---

१. "इहान्ये" इत्यस्मात् पूर्वं "वा० -" इति कोशे दृश्यते । इदं वार्त्तिककर्त्तुर्मतमित्यर्थः ।

२. अत्र नागेशः—"सङ्क्रम इति गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयक्ङितः प्राचां सञ्ज्ञा ॥"

३. म०—पृ० ५५३ ॥

४. कोशे "लोपे" इत्यतः पूर्वं "धातु—" इति पङ्क्त्यंशः परिभागेऽर्थस्य स्पष्टीकरणार्थं पश्चाल्लिखितम् ॥

धातोरवयवः=धात्ववयवः । धात्ववयवस्य लोपः=धातुलोपः । उत्तरपदलोपी समासः ॥

आर्धधातुक-ग्रहणं लोप-विशेषणम् । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । सरीसृपः ॥

धातु-ग्रहणं किमर्थम् । [इह मा भूत्] लूञ्—लविता, लवितुम् । 'आर्धधातुके' इति किमर्थम् । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'॥
इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः ॥

इह मा भूत्—अभाजि, रागः॥ ४ ॥[2]

'आर्धधातुके' आर्धधातुकनिमित्त जहां 'धातुलोपे' धातु के अवयव का लोप हो, वहां 'इकः' इक् के स्थान में 'गुणवृद्धी' गुण, वृद्धि 'न' न हों। गुण, वृद्धि का जो विधान किया है, उस का यह अपवाद है । जैसे—'लोलुवः' । यहां गुण नहीं हुआ । तथा 'मरीमृजः' यहां वृद्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में 'धातु' का ग्रहण इसलिये है, [कि] 'लविता' यहां गुण का निषेध न हो । 'आर्धधातुक' ग्रहण इसलिये है कि 'रोरवीति' यहां सार्वधातुक में गुण का निषेध न हो । इक् के स्थान में जो गुण, वृद्धि प्राप्त हों, उन का निषेध है । इससे 'राग' यहां प्रतिषेध नहीं हुआ ॥ ४ ॥

क्क्ङिति च[3]॥ ५ ॥

'न' इत्यनुवर्तते । क्क्ङिति । ७ । १ । च । अ० । [क्क्ङित्-] प्रत्यय-निमित्ते इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतः, ते न भवतः । गश्च कश्च ङश्च =क्क्ङः । इच्च इच्च इच्च=इतः । क्क्ङ इतो यस्य तत् [क्क्ङित्] । चितः । चितवान् । भिन्नः । भिन्नवान् ॥

क्ङिति—चिनुतः । सुनुतः ॥

---

१. ऋ०—४ । ५८ । ३ ॥
वा०—१७ । ९१ ॥
का०—४० । ७ ॥
नि०—१३ । ७ ॥
• मैत्रायणीयसंहितायां—"त्रेधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।" इति ॥ (१ । ६ । २ ॥ ८७ । १८)
२. अत्र कोशे "भा० ४ [=भाष्यस्य चतुर्थाह्निके] व्याख्यातम्" इति ॥
३. भा०—सू० ४५ ॥
कोशे 'क्ङिति' इत्येक एव ककारः । अत्र ककारद्वयवानेव पाठः साधीयानिति सूत्र-वार्तिक-भाष्येभ्यो निश्चीयते । सूत्रं यथा—"श्र्याजि०॥" (१ । १ । २३६) भाष्ये तु स्पष्टमेव—"ककारे गकारस्य चर्त्वभूतो निर्दिश्यते 'क्क्ङिति च' इति ।" वार्तिककृतापि चोक्तम्—
"क्क्ङोर्गित्वाद् स्थ ईकार ङित्तेरीत्त्वशासनात् ।
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः।"
इति ॥

[ककारे] गकारश्चर्त्वभूतो निर्दिश्यते[1] ।

'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः[2] ॥' जिष्णुः । भूष्णुः ॥ ५ ॥[3]

'क्ङिति' क्, ङ् और ग् जिन प्रत्ययों के इत्-संज्ञक होके लोप होते हैं, वे प्रत्यय परे हों, तो 'इकः' इक् के स्थान में 'गुणवृद्धी' जो गुण, वृद्धि प्राप्त हैं, वे 'न' न हों । जैसे—चितः । चितवान् । यहां कित्-प्रत्यय के परे गुण प्राप्त था, सो न हुआ । 'चिनुतः' यहां ङित् प्रत्यय के परे गुण न हुआ । तथा 'जिष्णुः' यहां गित्-प्रत्यय के परे गुण का निषेध हो गया ॥ ५ ॥

दीधीवेवीटाम्[4] ॥ ६ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । दीधीवेवीटाम् । ६ । ३ । 'दीधी, वेवी, इट्' एषां गुण-वृद्धी न भवतः । दीधी च वेवी च इट् च, तेषां द्वन्द्वः । 'दीधीङ्' दीप्तिदेवन-योः[5] । 'वेवीङ्' वेतिना तुल्ये[6] । छान्दसौ धातू[7] । 'इट्' चागमः । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेव्यनम् । आवेव्यकः । इट्—श्वः कणिता । श्वो रणिता ॥ ६ ॥[3]

'दीधीवेवीटाम्'—'दीधीङ्' दीप्तिदेवनयोः[8] । 'वेवीङ्' वेतिना तुल्ये[9] । ये दोनों वेद के धातु और इट् का आगम, इन को 'गुणवृद्धी न' गुण, वृद्धि न हों । जैसे—'आदीध्यनम्' यहां दीधी धातु को गुण, [और] 'आदीध्यकः' यहां वृद्धि, [तथा] 'आवेव्यनम्' यहां वेवी धातु को गुण [और] 'आवेव्यकः' यहां वृद्धि, और 'श्वः कणिता' यहां इट् के आगम को गुण प्राप्त है, सो न हुआ ॥ ६ ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः[10] ॥ ७ ॥

हलः । १ । ३ । अनन्तराः । १ । ३ । संयोगः । १ । १ । अतज्जातीयै-स्स्वरैरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञा भवन्ति[11] । हल् च हल् च=हलौ । हल् च हल् च[12]=हलः । हलौ च हलश्च=हलः । अविद्यमानमन्तरमेषां ते

१. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥ "ग्लाजि०॥" (३ । २ । १३९) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानात्सर्मनम् ॥
२. ३ । २ । १३९ ॥
३. कोरेऽत्रापि—"आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥
४. आ०—सू० ५२ ॥
५. धा०—अदा० ६७ ॥
६. धा०—अदा० ६८ ॥
७. भाष्ये "दीधीवेव्यौ छन्दोविषयौ ॥" इति ॥ (अ० १ । पा० १ । आ० ४)
८. दीधीङ् धातु=चमकना और खेलना ॥
९. वेवीङ् धातु=गति करना ॥
१०. स०—सू० ११ ॥ शौनकप्रातिशाख्ये ऽपि—"संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः ॥" इति ॥ "संयोग विद्याद् व्यञ्जनसङ्गमम् ॥" इति च ॥ (क्रमेण १ । १ । २७ ॥ ३ । ३८ । ३९)
११. भाष्ये—"स्वरैरनन्तर्हिता हलः संयोगसञ्ज्ञा भवन्ति । सर्वत्रैव अतज्जातीयकं व्यवायकं भवति ॥" (अ० १ । पा० १ । आ० ४)
१२. कोरे "हल् च ३" इति दृश्यते ॥

ऽनन्तराः । उक्तसमासेन द्वयोर्बहूनां च संयोग-सञ्ज्ञा भवति । गोमान् । यवमान् ॥

'हलः' इति किम् । तितउच्छत्रम् । 'संयोगान्तस्य लोपः'[1] ॥' इत्युकारलोपः प्राप्नोति । 'अनन्तराः' इति किम् । 'पचति पनसम् ।' इति सकारमकारयोः संयोग-सञ्ज्ञायां सत्यां 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'[2] ॥' इति सकारलोपः प्राप्नोति ॥७॥[3]

'अनन्तराः' जिन के बीच में कोई अच् न हो, इस प्रकार के जो 'हलः' हल हैं, वे दो और बहुत भी 'संयोगः' संयोग-सञ्ज्ञक हों । जैसे—गोमान् । यवमान् । यहां संयोग-सञ्ज्ञा के होने से अन्त के तकार का लोप हो गया है ॥

हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है, कि 'तितउच्छत्रम्' यहां अचों की संयोग-सञ्ज्ञा होके उकार का लोप न हो जाय । अनन्तर, अर्थात् स्वरों से रहित हलों की संयोग-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि 'पचति पनसम्' यहां स्वरों के व्यवधान में सकार मकार की संयोग-सञ्ज्ञा से सकार का लोप पाता है, सो न हो ॥ ७ ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः[4] ॥ ८ ॥

मुखनासिकावचनः । १ । १ । अनुनासिकः । १ । १ । मुखनासिकमा वचनं यस्य वर्णस्य सोऽनुनासिक-सञ्ज्ञो भवति ।

मुखं च नासिका च=मुखनासिकम् ।

'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्[5] ॥' इत्येकवद्भावः । आवचनं च आवचनं च=आवचनम् । ईषद् वचनम्=आवचनम् ॥

भा०—अथ वा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकाऽऽवचनः । अथ किमिदमावचनमिति । ईषद् वचनं=आवचनमिति । किञ्चिन्मुखवचनं, किञ्चिन्नासिकावचनम् । मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥[6]

[अनुनासिक-प्रदेशानि सूत्राणि—] 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि[7] ॥' [इत्यादीनि । अत्रोदाहरणे—] 'अभ्र आँ अपः[8] ।' 'चन आँ इन्द्रः ॥'

---

१. ८ । २ । २३ ॥
२. ८ । २ । २९ ॥
३. अत्र पुनः कोष्ठे "आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥
४. वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—"मुखनासिका-करणोऽनुनासिकः" इति ॥ (१ । ७५)
५. २ । ४ । २ ॥
६. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥
७. ६ । १ । १२६ ॥
८. ऋ०—५ । ४८ । १ ॥ नि०—५ । ५ ॥

मुख-ग्रहणं किमर्थम् । 'नासिकावचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-च्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्राप्नोति[1] ॥

नासिका-ग्रहणं किमर्थम् । 'मुखवचनोऽनुनासिकः ॥' इतीयत्यु-च्यमाने क-च-ट-त-पानामेव प्राप्नोति[2] ॥ ८ ॥[3]

'मुखनासिकावचनः' कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस का उच्चारण हो, ऐसा जो वर्ण है, उस की 'अनुनासिकः' अनुनासिक-सञ्ज्ञा है । जैसे—'अभ्र आँ अपः[4] ।' यहां आकार के ऊपर अनुनासिक हो गया है ॥

मुख-ग्रहण इसलिये है कि अनुस्वार और यम्-प्रत्याहार की ही अनुनासिक सञ्ज्ञा[5] हो जाए। नासिका ग्रहण इसलिये है कि क, च, ट, त, प, इन वर्णों की अनुनासिक-सञ्ज्ञा न हो ॥ ८ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्[6] ॥ ९ ॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् । १ । १ । सवर्णम् । १ । १ । तुल्य आस्यप्रयत्न एषां ते वर्णाः सवर्ण-सञ्ज्ञा भवन्ति । तुला-शब्दो भिदादित्वात्[7] स्त्रियां वर्तते, तस्मात् 'नौवयोधर्म०[8] ॥' इति सम्मितार्थे यत् ॥

अस्यन्ति वर्णाननेन, वा आस्यं = मुखम् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्[9] ॥' इति करणे ण्यत् । ततः शरीरावयवाद् यत् । आस्ये = मुखे भवं ताल्वादिस्थानं = आस्यम् ॥

प्रयतनं = प्रयत्नः[10] ॥ प्र-पूर्वाद् यतेर्भावसाधनो नङ्-प्रत्ययः ॥

समान च तद्वर्णं = सवर्णम् । 'ज्योतिर्जनपद०[11] ॥' इति समानस्य सः । वर्ण-शब्दस्यार्धर्चादिपाठान्नपुंसकत्वम् ॥

त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम् [इति] ।
अथ वा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये = तुलास्यः, तुलास्यः प्रयत्न एषाम् [इति] । अथ वा परस्तत्पुरुषस्ततो

१. कोशे पङ्क्त्युपरिभागे "अ" इति ॥
२. पाठान्तरम्—"प्रसज्येत" इति ॥
३. कोशे "आ० ४ व्याख्यातम्" इत्यत्र दृश्यते ॥
४. ऋ०—२ । ४८ । १ ॥ नि०—५ । ५ ॥
५. कोश में यहां "न" लिखा है । इस पर विस्तारपूर्वक विचार हम अपनी टीका में करेंगे ॥
६. स०—सू० २१ ॥
७. "भिदादिराकृतिगणः" इति भाषावृत्तिः । (३ । ३ । १०४) वाचस्पत्याभिधाने—"तुला स्त्री तुल भिदा० अङ् ।" इति ॥ गणरत्नमहोदधौ चापि तुला शब्दो भिदादिगणे वर्तते ॥
८. ४ । ४ । ९१ ॥
९. ३ । ३ । ११३ ॥
१०. वर्णोच्चारणशिक्षायामष्टमप्रकरणे चतुर्थे पत्रे "प्रयतनं प्रयत्नः ।" इति ॥

बहुव्रीहिः—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः, [तुल्य आस्यप्रयत्न एषामिति ॥]

आभ्यन्तरप्रयत्नाः—

भा०—*स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्*[1] ॥ *ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्*[1] ॥ *विवृतमूष्मणाम्*[1] ॥ ईषदित्येवानुवर्त्तते ॥ *स्वराणां च*[1] ॥ विवृतम् । ईषदिति निवृत्तम् ॥[2]

स्पर्शानां कादि-मपर्यन्तानां पञ्चवर्गाणां स्पृष्टः प्रयत्नः । अन्तःस्थानां य-व-र-लानामीषत्स्पृष्टः प्रयत्नः । ऊष्मणां स-ष-श-हानामीषद्विवृतः प्रयत्नः । स्वराणामकारादि-औकारान्तानां विवृत एव ॥

अथ बाह्याः प्रयत्नाः—

भा०—विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषवता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः, श्वासानुप्रदानाः, अघोषाश्च । *एकेऽल्पप्राणाः, इतरे*[3] *महाप्राणाः*[4] ॥ तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठाः, नादानुप्रदानाः, घोषवन्तः । *एकेऽल्पप्राणाः, इतरे*[3] *महाप्राणाः*[4] ॥ *यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः*[4] ॥ आनुनासिक्यवर्जम् । *आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः*[4] ॥[5]

अत्र स्थानानि[6]—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

---

१. शौनकप्रातिशाख्यवचनानीमानीति शिवदत्तः, परं तत्र नोपलभ्यन्ते ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥ "तपरस्तत्कालस्य ॥" (१ । १ । ७०) इति सूत्रस्य व्याख्याने ॥

३. "अपरे" इति पाठान्तरम् ॥

४. द्र०—४ । ३, ५, ६, ७ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ४ ॥

६. उपरिष्टाल्लिखिताः श्लोका अर्वाचीनपाणिनीयशिक्षाया उद्धृताः । एषा शिक्षा षष्टिश्लोकमाना ऋग्वेदीया, षट्त्रिंशच्छ्लोकमिता यजुर्वेदीया चाधुना लन्डनपुस्तकागारे (India Office Library, London) सार्धत्रिंशतिश्लोका एषा शिक्षा (Ms.no. 544. 3193).

इमां शिक्षां भगवद्दयानन्द आचार्यपाणिनिकृतां न मेन इति "चतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते दले"[1] मुद्रितायां वर्णोच्चारणशिक्षायाः सुस्पष्टं कथ्यते । तत्र भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना पाणिनीयानि सूत्राणि महतानुसन्धानपरिश्रमेण प्रकाशितानि । अत्र तानि सूत्राणि नोद्धृतानीत्यतो ज्ञायते नास्य भाष्यस्य काले ... ——

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥[1] १ ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरस्यं तं विजानीयात्, कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ २ ॥
कण्ठ्यावहौ,इ-चु-य-शास्तालव्याः, ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्द्धन्या ऋ-टु-र-षाः, दन्त्या लृ-तु-ल-साः स्मृताः ॥[1] ३ ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः, दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः ।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ, ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥[1] ४ ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं, विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्वे, अघोषा विवृताः स्मृताः ॥ ५ ॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च ॥ ६ ॥
अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः[2] ॥७ ॥[2]

अक्षरसमाम्नायस्थानां सर्वेषां वर्णानामुच्चारणायाष्टौ स्थानानि सन्ति । तद्यथा [१] उरः । [२] कण्ठः । [३] शिरः । [४] जिह्वामूलम् । [५]

---

१. याजुषशाखीयायां शिक्षायां क्रमेण श्लोकाः १३, १४, १५, १७ (उत्तरार्धम्) च । नन्दननगरस्थकोशे तु १६, १२, १३, १४ (उत्तरार्धम्) इति क्रमः ॥

२. ऋग्वेदीयशिक्षायां श्लोकाः १९, १६, १७, १८, १०, २१, २२ ॥

"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।" इत्यतो ज्ञायते नास्ति पाणिनेः काचित् कृतिरेतद्विधा, न चेमे श्लोकाः सा कृतिरिति । पुण्यनगरे दक्षिणमहाविद्यालये(Deccan College, Poona) वर्तते एकस्त्वापिशलिशिक्षाया कोशो (Ms. no. 289 of 1875–76) यतः शक्यते निश्चेतुं पाणिनिनाऽपि भगवता स्वशिक्षा सूत्रैर्निबद्धेति । यथा हि चन्द्रेण पाणिनीयं शब्दानुशासनमनुकृत्य स्वकीयं शब्दलक्षणं, पाणिनीयान्युणादिसूत्राणि चानुकृत्य स्वोणादयो निर्ममिरे, तथैवेमानि तस्य वर्णसूत्राण्यपि पाणिनेर्ग्रन्थस्यानुकृतिरेव । तस्य च चान्द्रवर्णसूत्राणामाधारभूतग्रन्थस्येदं प्रथमं प्रकरणम् —अकुहविसर्जनीयाःकण्ठ्याः । हविसर्जनीयौ उरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः । कवर्गस्त्ववर्णश्च जिह्व्यः । सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके । कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके । इचुयशास्तालव्याः । ऋटुरषा मूर्धन्याः । रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् । दन्तमूलस्तु तवर्गः । लृतुलसा दन्त्याः । वकारो दन्त्योष्ठ्यः । सृक्किणीस्थानमेके । उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः । अनुस्वारयमा नासिक्याः । कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके । यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् । एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ । ओदौतौ कण्ठोष्ठ्यौ । ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः । द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति । सरेफ ऋवर्णः ॥

दन्ताः । [६] नासिका । [७] ओष्ठौ । [८] तालु च । एषु स्थानेषु यथोक्ता वर्णा उच्चारणीयाः ॥ १ ॥

यदा हकारः पञ्चमैर्ङ-ञ-ण-न-मैः, अन्तःस्थैर्य-र-ल-वैश्च संयुक्तो भवेत्, तदो-रस्युच्चारणीयः । केवलो हकारः कण्ठेनोच्चारणीयः । यथा—'गृह्णाति' [इति] णका-रेण संयुक्तः, 'ह्नुते' इति नकारेण युक्तः, 'ब्रह्म' इति मकारेण संयुक्तः ॥ २ ॥

अकारहकारयोः कण्ठ-स्थानम् । इकार-चवर्ग-यकार-शकाराणां तालु-स्था-नम् । उकार-पवर्गयोरोष्ठ-स्थानम् । ऋकार-टवर्ग-रेफ-षकाराणां मूर्धा स्थानम् । लृकार-तवर्ग-लकार-सकाराणां दन्ताः स्थानम् ॥ ३ ॥

कवर्गस्य जिह्वामूलं स्थानम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । ए ऐ कण्ठतालव्यौ । ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ ॥ ४ ॥

पञ्चमषष्ठौ स्पष्टार्थौ ॥ ५ ॥ ६ ॥

'अयोगवाहा आश्रयस्थानभागिनः ।' यस्य वर्णस्य संयोगेऽयोगवाहा भवन्ति, तस्य यत् स्थानं, तत्तेषामपीति ॥ ७ ॥

अकारादि-ऋकारान्तानां वर्णानामेकैकस्याष्टादश भेदाः । तद्यथा—ह्रस्वो-दात्तः । ह्रस्वानुदात्तः । ह्रस्वस्वरितः । दीर्घोदात्तः । दीर्घानुदात्तः । दीर्घस्वरितः । प्लुतोदात्तः । प्लुतानुदात्तः । प्लुतस्वरितः । इमे नव सानुनासिक-निरनुनासिक-भेदेनाष्टादश भवन्ति । अष्टादशाष्टादशप्रकारका 'अ, इ, उ, ऋ' इत्येते वर्णा भवन्ति । लृकारस्य दीर्घाभावात्, सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वाभावाद् द्वादश द्वादश भेदा भवन्ति । एवं द्वात्रिंशदुत्तरं शतं स्वरभेदा भवन्ति । य-व-लाः सानुनासिक-निरनुनासिकभेदेन षट् । कादि-मपर्यन्ताः पञ्चविंशतिः । रेफोष्माणः पञ्च । एषां सवर्णा न सन्ति । एवं सभेदा व्यञ्जनाः षट्त्रिंशत् ॥

तुल्यस्थानप्रयत्नानामेतेषां वर्णानां परस्परं सवर्ण-सञ्ज्ञा भवति । निशाऽम्म् । खट्वाऽम्म् । अत्र सवर्ण-सञ्ज्ञत्वादकाराऽऽकारयोर्दीर्घैकादेशः ॥

आस्य ग्रहणं किमर्थम् । भिन्नस्थानानां तुल्यप्रयत्नानां क-च-ट-त-पानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । 'तप्तो, तप्तुम्' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे'[१] इति पका-रस्य तकारे लोपः प्राप्नोति ॥

प्रयत्न-ग्रहणं किम् । तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नानामि-चु-य-शानां मा भूत् । किञ्च स्यात् । 'अक्षश्च्योतति' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे'[१] इति शकारस्य

---

१. ८ । ४ । ६५ ॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ २९ (पूर्वार्द्ध)

ऋकारे लोपः प्राप्नोति॥

भा०—ऋकारऌकारयोः सवर्णविधिः[1]॥ होतृ+ऌकारः=होतॄकारः। किं प्रयोजनम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः[2]॥' इति दीर्घत्वं यथा स्यात्॥[3]

उभयोरन्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति कृत्वा ऋकार एव दीर्घो भवति। अनेनैतदपि सिध्यति, ऌकारस्य दीर्घत्वं न भवति। ऋकार-ऌकारयोः सवर्णे ऋकार एव दीर्घो भवति। ऋकार-ऌकारयोः सवर्णविधानं भिन्नस्थानत्वान्न प्राप्तम्॥

भा०—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्-सञ्ज्ञा। इत्-सञ्ज्ञोत्तरकालः 'आदिरन्त्येन सहेता[4]॥' इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण-सञ्ज्ञा। सवर्ण-सञ्ज्ञोत्तरकालं 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[5]॥' इति सवर्ण-ग्रहणम्॥[3]

कार्येषु शब्देषु व्याकरणस्य प्रवृत्तिक्रमोऽयम्॥ ९॥[6]

'तुल्यास्यप्रयत्नम्' जिन वर्णों का तालु आदि स्थानों में समान प्रयत्न हो, उन की 'सवर्णम्' सवर्ण-सञ्ज्ञा हो॥

आभ्यन्तर प्रयत्न। ककार से लेके मकार पर्यन्त वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में सामान्य स्पर्श होने से इन का उच्चारण होता है। 'य, र, ल, व' इन वर्णों का ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में थोड़ा स्पर्श करने से उच्चारण होता है। 'श, ष, स, ह' इन वर्णों का ईषद्-विवृत, अर्थात् थोड़ा अधिक स्पर्श से उच्चारण होता है। तथा स्वरों का बिना स्पर्श के[7] उच्चारण होना चाहिये॥

अब वर्णों के स्थान ये हैं—हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। वर्णों के उच्चारण करने के लिये ये आठ स्थान हैं॥ १॥

[ङ,] ञ[8] ण, न, म, य, र, ल, व, इन अक्षरों के साथ जो हकार मिला हो, तो उसका उच्चारण हृदय से होना चाहिये। जैसे—ब्रह्म, गृह्णाति, अह्नुतः, ह्यः, ह्रीः, ह्लादः, ह्वरः। इन शब्दों में पूर्वोक्त वर्ण हकार के साथ मिले हैं, सो यथोक्त उच्चारण करना चाहिये॥ २॥

---

१. वार्त्तिकमिदम्॥

२. ६।१।१०१॥

३. अ० १। पा० १। आ० ४॥

४. १।१।७१॥

५. १।१।६९॥

६. कोशेऽत्रापि "आ० ४ व्याख्यातम्" इति॥

७. कोश में "स्वरों का अधिक स्पर्श होने से" ऐसा लिखा है। वह लेखक प्रमाद अथवा अनवस्थित ध्यान के कारण लिखाया गया है। देखो वर्णोच्चारणशिक्षा (४।८)—"जिसलिये उक्त स्थानों में जीभ को अलग रखके स्वरों का उच्चारण करना योग्य है, इसलिये इन का विवृत प्रयत्न है॥"

८. ङ, ञ, के उदाहरण नहीं हैं॥

अष्टाध्यायीभाष्य की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ २६ (पूर्वार्द्ध)

चकारे लोपः प्राप्नोति ॥

भा०—ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः[1] ॥ होतृ + लृकारः = होतॄकारः। किं प्रयोजनम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः[2] ॥' इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ॥[3]

उभयोरन्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति कृत्वा ऋकार एव दीर्घो भवति। अनेनैतदपि सिध्यति, लृकारस्य दीर्घत्वं न भवति। ऋकार-लृकारयोः सवर्णो ऋकार एव दीर्घो भवति। ऋकार-लृकारयोः सवर्णविधानं भिन्नस्थानत्वान्न प्राप्तम् ॥

भा०—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्-सञ्ज्ञा। इत्-सञ्ज्ञोत्तरकालः 'आदिरन्त्येन सहेता[4] ॥' इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्ण-सञ्ज्ञा। सवर्ण-सञ्ज्ञोत्तरकालं 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[5] ॥' इति सवर्ण-ग्रहणम् ॥

कार्येषु शब्देषु व्याकरणस्य प्रवृत्तिक्रमोऽयम् ॥ ९ ॥[6]

'तुल्यास्यप्रयत्नम्' जिन वर्णों का तालु आदि स्थानों में समान प्रयत्न हो, उन की 'सवर्णम्' सवर्ण सञ्ज्ञा हो ॥

आभ्यन्तर प्रयत्न। ककार से लेके मकार पर्य्यन्त वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में सामान्य स्पर्श होने से इन का उच्चारण होता है। 'य, र, ल, व' इन वर्णों का ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न, अर्थात् स्थानों में थोड़ा स्पर्श करने से उच्चारण होता है। 'स, ष, श, ह' इन वर्णों का ईषद्-विवृत, अर्थात् थोड़ा अधिक स्पर्श से उच्चारण होता है। तथा स्वरों का बिना स्पर्श के[7] उच्चारण होना चाहिये ॥

अब वर्णों के स्थान ये हैं—हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। वर्णों के उच्चारण करने के लिये ये आठ स्थान हैं ॥ १ ॥

[क.] ङ[8], म, ण, न, य, र, ल, व, इन अक्षरों के साथ जो हकार मिला हो, तो उसका उच्चारण हृदय से होना चाहिये। जैसे—ब्रह्म, गृह्णाति, अह्नुः, ह्मः, ह्रीः, ह्लादः, ह्वरः। इन शब्दों में पूर्वोक्त वर्ण हकार के साथ मिले हैं, सो यथोक्त उच्चारण करना चाहिये ॥ २ ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. ६। १। १०१ ॥

३. अ० १। पा० १। आ० ४ ॥

४. १। १। ७१ ॥

५. १। १। ६९ ॥

६. कोशेऽपि "आ० ४ व्याख्यातम्" इति ॥

७. कोश में "स्वरों का अधिक स्पर्श होने से" ऐसा लिखा है। यह लेखक प्रमाद अथवा अनवस्थित ध्यान के कारण लिखाया गया है। देखो वर्णोच्चारणशिक्षा (४। ८)—"जिसलिये उक्त१ स्थानों में जीभ को अलग रखके स्वरों का उच्चारण करना योग्य है, इसलिये इन का विवृत प्रयत्न है ॥"

८. ङ, ञ, ण, के उदाहरण नहीं हैं ॥

अकार और हकार का कण्ठ-स्थान है । किसी २ का मत है कि अकार का सर्वमुख-स्थान[1] है । इकार, चवर्ग, यकार और [शकार], इन का तालु-स्थान; उकार और पवर्ग का ओष्ठ-स्थान; ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार, इन का मूर्धा-स्थान; लृकार, तवर्ग, लकार और सकार, इन का दन्त-स्थान है ॥ ३ ॥

कवर्ग का जिह्वामूल; वकार का दन्त और ओष्ठ; ए, ऐ, इन का कण्ठ और तालु; ओ, औ, इन का कण्ठ और ओष्ठ स्थान है । जिन २ वर्णों का जो २ स्थान उच्चारण के लिये नियत किया गया है, उन २ वर्णों का उसी २ स्थान में उच्चारण होना चाहिये ॥ ४ ॥

'अस्मान्त्सु तत्र चोदय०[2]।' यहां सु और नकार के बीच में जो तकार है, उस की यम-सञ्ज्ञा है । इस प्रकार बीच में हो जाने वाले वर्णों को यम कहते हैं[3] । यम और अनुस्वार, इन का नासिका-स्थान है । तथा विसर्जनीय, जिह्वामूलीय [और] उपध्मानीय, ये जिस वर्ण के आश्रित हों, उस का जो स्थान है, वह इन का भी जानना चाहिये ॥ [७[4] ॥]

एक मात्रा के वर्ण को संवृत और दो मात्रा के वर्ण को विवृत कहते हैं, अथवा घोष वर्णों को संवृत और अघोषों को विवृत कहते हैं ॥ [८ ॥]

स्वर और श, ष, स, ह, इन वर्णों को विवृत कहते हैं । इन से अधिक विवृत 'ए, ओ' ये दोनों, और इन से भी अधिक विवृत 'ऐ, औ' ये दोनों हैं ॥ [९ ॥]

अ, इ, उ, ऋ, इन वर्णों के अठारह २ भेद होते हैं, अर्थात् ह्रस्व उदात्त । ह्रस्व अनुदात्त । ह्रस्व स्वरित । दीर्घ उदात्त । दीर्घ अनुदात्त । दीर्घ स्वरित । प्लुत उदात्त । प्लुत अनुदात्त । प्लुत स्वरित । सानुनासिक, निरनुनासिक भेद से इन नव के दूने अठारह होते हैं ।

---

१. वर्णोच्चारण शिक्षा में—
"सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥" (१ । ५)
भाष्य में—"सर्वमुखस्थानमवर्णस्य एक इच्छन्ति।"
तथा अभयचन्द्रसूरिप्रणीत शाकटायनीयशब्दानुशासनव्याख्यान प्रक्रियासङ्ग्रह में "स्वः स्थानस्ये-प्ये ॥" (शा० १ । १ । ६) इस सूत्र के व्याख्यानान्तर्गत पाणिनिशिक्षानुकारि यह सूत्र है—
" सर्वमुखस्थानमित्येके ॥" (सञ्ज्ञाप्रकरण)

२. ऋ०—१ । ९ । ६ ॥
अ०—२० । ७१ । १२ ॥

३. वर्णोच्चारणशिक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दयानन्द सरस्वती स्वयं इस यम के लक्षण को न मानते थे । वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में यम के प्रचलित लक्षण की समालोचना इस प्रकार है—"और जैसे पाणिनिकृत शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं, उन की संख्या पूरी करने के लिये कोई एक लोगों ने 'कुं, खुं, गुं, घुं' इन चार को यम मानके तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं । भला यहां विचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम हैं, तो चुं, छुं, जुं, झुं, टुं, ठुं इत्यादि यम क्यों नहीं । और जो कोई कहे कि पलिक्नी, चख्नतुः, अग्निः, घ्नन्ति इत्यादि में 'क्, ख्, ग्, घ्' ये वर्ण यम कहाते और प्रातिशाख्य में भी प्रसिद्ध हैं । परन्तु इस बात को क्या नहीं जानते कि ये वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि ये तो कवर्ग में पढे ही हैं ॥"

४. चौथे श्लोक के पश्चात् सातवें का अनुवाद किया है । संस्कृत अनुवाद में पांचवें और छठे श्लोक सरल होने से छोड़ दिये गये हैं । भाषा में भी प्रथम संस्कृतभाष्य का व्याख्यान करके तत्पश्चात् संस्कृत में अननूदित पांचवें और छठे श्लोकों को स्पष्ट किया है ॥

सो ये अकारादि चार वर्ण दीर्घ, प्लुत अपने सवर्णियों को ग्रहण करते हैं। तथा लृकार दीर्घ नहीं होता। और ए, ऐ, ओ, औ, ये ह्रस्व नहीं होते, इससे इन के बारह २ भेद होते हैं। ये लृकारादि पांच वर्ण अपने सवर्णी प्लुतों का ग्रहण करते हैं। तथा य, व, ल, इन तीन वर्णों के सानुनासिक और निरनुनासिक दो भेद हैं। इन सब वर्णों की परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है। जैसे-'खट्वा+अग्रम्'। यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा के होने से 'खट्वाऽग्रम्' यह सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया है॥

इस सूत्र में आस्य-ग्रहण इसलिये किया है कि क, च, ट, त, प, इन की परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञा न हो, क्योंकि 'तप्तौ' यहां तकार पकार को जो सवर्ण-सञ्ज्ञा हो जाय, तो 'झरो झरि सवर्णे'।[1] इस सूत्र से तकार के परे पकार का लोप हो जाय, [क्योंकि] इन के स्थान भिन्न २ और प्रयत्न एक है। प्रयोजन यह है कि आस्य नाम स्थान में जिन के प्रयत्न तुल्य हों, उन की सवर्ण सञ्ज्ञा हो। प्रयत्न-ग्रहण इसलिये है कि जिन वर्णों का स्थान एक हो और प्रयत्न भिन्न हो, उन की सवर्ण-सञ्ज्ञा न हो। जैसे 'अरुश्च्योतति' यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा हो, तो चकार के परे शकार का लोप पाता है, सो न हुआ॥

ऋकार लृकार की सवर्ण-सञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों का स्थान भिन्न २ है, इससे सवर्ण-सञ्ज्ञा नहीं पाती। प्रयोजन यह है कि 'होतृ+लृकारः' यहां सवर्ण-सञ्ज्ञा के होने से दोनों के स्थान में 'होतॄकारः' सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया॥

सवर्णविषयक शब्दों की सिद्धि में व्याकरण की प्रवृत्ति इस क्रम से है कि प्रथम अकारादि वर्णों का उपदेश, पीछे अन्त्य हलों की इत्-सञ्ज्ञा, इस के पीछे प्रत्याहार-सञ्ज्ञा, उस के पीछे सवर्ण-सञ्ज्ञा। इस के पीछे सवर्ण का ग्रहण होता है॥ ९॥

नाज्झलौ[2] ॥ १० ॥

'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सर्वमनुवर्त्तते। अच् हल् च=अज्झलौ। आस्ये स्थाने तुल्यप्रयत्नावप्यज्झलौ परस्परं सवर्ण-सञ्ज्ञौ न भवतः। दण्डहस्तः। कुमारी शेते। अत्र अकारहकारौ ईकारशकारौ तुल्यस्थानौ यदि सवर्ण-सञ्ज्ञौ स्यातां, तर्हि सवर्णदीर्घत्वं प्राप्नोति। स न भवति॥ १०॥[3]

'तुल्यास्यप्र०' आस्य नाम स्थान में 'अज्झलौ' जिन अच् और हल् के तुल्य प्रयत्न भी हों, वे परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञक 'न' न हों। जैसे—दण्डहस्तः। कुमारी शेते। [यहां] अ, ह और ई, श, इन की परस्पर जो सवर्ण-सञ्ज्ञा हो, तो अ, ह और ई, श, इन के स्थान में सवर्णदीर्घ एकादेश पाता है, सो न हो॥ १०॥

---

१. ८। ४। ६५॥

२. स०—पृ० २२॥

३. कोशे—"भा० ४। व्या०" इति॥

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्[1] ॥ ११ ॥

ईदूदेद्द्विवचनम् । १ । १ । प्रगृह्यम् । १ । १ । ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तत् प्रगृह्य-सञ्ज्ञं भवति । ईच ऊच एच=ईदूदेतः । ईदूदेतोऽन्ते[2] यस्य तद् ईदूदेदन्तम् । ईदूदेदन्तं च तद् द्विवचनं ईदूदेद्द्विवचनम् । उत्तरपदलोपी समासः । इन्द्राग्नी इमौ । इन्द्रवायू इमे सुताः[3] । खट्वे इमे । पचेते इति—इत्यादिषु प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावो भवति ॥

'ईदूदेत्' इति किम् । वृक्षाविमौ । अत्र प्रकृतिभावो मा भूत् । 'द्विवचनम्' इति किम् । कुमारीयम् ॥

> भा०— *कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्*[4] ॥[5] यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । 'प्रगृह्यः प्रकृत्या' इत्युपस्थितमिदं भवति—*ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्* ॥ [इति ॥[5]]

कार्यस्य कर्त्तव्यस्य काले सञ्ज्ञा परिभाषा चोपस्थिता भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे काशिकाकृज्जयादित्यादयो 'मण्यादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥'[6] इति नवीनं वार्त्तिकं पठन्ति । महाभारतादिग्रन्थेषु तदुदाहरणानि ददति[7] । तदेषां भ्रम एव । कथम् । मूलव्याकरणग्रन्थमहाभाष्यपाठाभावात् । प्रयोजनमपि नास्ति । 'म णी वो ष्ट्रस्य'[8] इत्यत्र इव-शब्द एव नास्ति । किन्तु-

---

१. स०—सू० ३६ ॥

चतुरध्यायिकायां (१ । ७३-८१) सविस्तरः प्रगृह्यविचारो दृश्यते । वाजसनेयिनां प्रातिशाख्ये—"एकार-ईकार-ऊकारा द्विवचनान्ताः ॥" (१ । ९३) चान्द्रशब्दानुशासने च—"ईदूदेद्द्विवचनम् ।" (५ । १ । १२५) इति ॥

२. द्रष्टव्या तैत्ति० प्रा० (४ । २)—"अन्तः ॥" इति । अत्र च सोमयार्यकृतव्याख्यानम्—"पदस्यान्तः प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति ॥" इति ॥

३. ऋ०—१ । २ । ४ ॥
या०—७ । ८ ॥
तै०—१ । ४ । ४ । १ ॥
मै०—१ । ३ । ६ ॥
का०—४ । २ ॥

४. पा०—सू० २ ॥
प०—सू० २ ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

६. मिश्र वामनवृत्तौ "मण्यादीनां ।" इति । प्रक्रियार्थ..मुद्रणे "मण्यादीन" इति पाठः । भाषावृत्तौ चापि "मण्यादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इत्येके ॥" इति ॥

७. न हि व्याकरणं दृष्ट्वा महाभारतादिग्रन्थाः प्रवृत्ताः, न च तान् दृष्ट्वा व्याकरणं प्रवृत्तम् । अतो व्याकरणमहाभारतादीनां मिथः प्रामाण्यं नोपपद्यते । अनुन्यासकृता सम्यगुक्तम्—(दुर्घटवृत्तौ ७ । २ । ६३)

> न हि व्यासप्रभृतीनधिकृत्याष्टाध्यायी कृता ।
> ते हि भगवन्तो वाग्विषये स्वतन्त्राः ॥" इति ॥

८. "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।" इति काशिकायां महाभारतोद्धरणमिति दृश्यताम् "इण्डियन एण्टिक्वरि" (Indian Antiquary Vol XIV. P. 327 n. 5) इत्याख्या पत्रिका—भा० १४। पृ० ३२७। टिप्पणं ५॥

पमार्थे वा-शब्दः' ॥ ११ ॥[2]

'ईदूदेद्द्विवचनम्' ई, ऊ, ए ये जिन के अन्त में हों ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, वे 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य सञ्ज्ञक हों । जैसे—इन्द्राग्नी इमौ । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से सन्धि नहीं हुई ॥

इस सूत्र में 'ईदूदेत्' यह पाठ इसलिये है कि 'वृक्षाविमौ' यहां सन्धि का निषेध न हो, 'द्विवचनम्' इसलिये है कि 'कुमारीयम्' यहां सन्धि हो जाय ॥

सञ्ज्ञा और परिभाषा सूत्र कार्य करने के समय उपस्थित होते हैं । जैसे प्रगृह्य सञ्ज्ञा यहां की, तो 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्[3] ॥' [यह] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा का सूत्र यहां उपस्थित हो जायगा ॥

इस सूत्र पर काशिका बनाने वाले जयादित्य आदि पण्डितों ने 'मणीवा० ॥' यह अर्वाचीन वार्त्तिक बनाया है, सो केवल उन का भ्रम है, क्योंकि वार्त्तिकादि का मूल व्याकरणग्रन्थ जो महाभाष्य है, उसी में नहीं । और इस के बनाने का कुछ प्रयोजन भी नहीं, क्योंकि महाभारतादि ग्रन्थों में 'मणीवोष्ट्रस्य०' [इत्यादि प्रयोग] देखके यह प्रयोजन दिया है । सो यहां इव-शब्द ही नहीं, किन्तु उपमार्थवाची वा-शब्द है ॥ ११ ॥

अदसो मात्[4] ॥ १२ ॥

'ईदूदेत् प्रगृह्यम्' इति चानुवर्तते । 'द्विवचनम्' इति निवृत्तम् । अदसः । ६ । १ । मात् । ५ । १ । अदस्-शब्दस्य मकारात् पर ईदूदेतः[5] प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवन्ति । अमी अत्र । अमी आसते । अमू अत्र । अमू आसाते । [अत्र] प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः । एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

'अदसः' इति किम् । शम्यत्र । अत्र प्रकृतिभावो न भवति । 'मात्'

---

१. अत्र कैयटः—"मण्यादीतिकारिकाया अभाष्यदृष्टत्वादप्रमाणमेतत् । 'मणी वोष्ट्रस्य' इति तु प्रयोगो वा-शब्दस्योपमानार्थत्वा । 'रोदसीव' इत्यादिस्तु छान्दसः प्रयोगः ॥"

प्रयोगाश्च भवन्ति—

"जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।" (मेघदूते श्लो॰ ८३)

"हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।" (मृच्छकटिके ५ । ६)

अथापि मालविकाग्निमित्रे (५ । १२), शिशुपालवधे (३ । ६३ ॥ ४ । २९ ॥ ७ । ६४), किरातार्जुनीये (३ । १३), गणरत्नमहोदधौ (२।४) अन्यत्र च वा-शब्द उपमार्थे प्रयुक्तो दृश्यते ॥

२. के॰ री—"व्या॰ ५ [व्याख्यातम्]" इति ॥

३. ६ । १ । १२५ ॥

४. स॰—सू॰ ४० ॥

चतुरध्यायिकायाम्—"अमी बहुवचनम् ॥" (१।७८) वा॰ प्रा॰—"अमी-पदम् ॥" (१।९८) चान्द्रे शब्दलक्षणे—"अमू अमी ॥" (५।१।१२६)

५. वस्तुत ईदन्तममी-शब्दमधिकृत्येदं सूत्रं प्रवृत्तम् । अमू-शब्दस्य प्रगृह्यत्वं पूर्वसूत्रेण सिध्यत्येव । अत एव ऋग्यजुःप्रातिशाख्ययोश्चतुरध्यायिकायां चामी-शब्दो गणितः, नामू-शब्दः । चन्द्रस्तु "ईदूदेद्द्विवचनम् ॥" इति सूत्रं पठित्वा "अमू अमी ॥" (५ । १ । १२६) इति अमू-शब्दं परिगणयन्नत्र मन्दः ॥

इति किम् । अमुकेऽत्र । अत्र प्रकृतिभावो न भवति ॥ १२ ॥[१]

'अदसः' अदस्-शब्द के 'मात्' मकार से परे जो 'ईदूदेत्' ई, ऊ, ए, सो 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—अमी आसते । अमू आसाते । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से सन्धि न हुई । अदस् शब्द में एकार का उदाहरण नहीं है ॥

इस सूत्र में अदस्-शब्द इसलिये है कि 'शम्यत्र' यहां प्रकृतिभाव न हो । 'मात्' इसलिये है कि 'अमुकेऽत्र' यहां प्रकृतिभाव न हुआ ॥ १२ ॥

शे[२] ॥ १३ ॥

सुपामादेशः 'शे' वेदे प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । 'अस्मे इन्द्राबृहस्पती[३]॥' [अत्र] प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति- काशे, कुशे, वंशे इति । 'शेऽर्थवद्ग्रहणात्[४]॥' 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य[५]॥' इति॥[६] १३ ॥

'शे' सुपों के स्थान में वेद में जो शे-आदेश होता है, वह 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । 'अस्मे इन्द्राबृहस्पती[३]॥' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हुआ है । जहां एक प्रकार के कई शब्द होते हैं, वहां अर्थ वाले का ग्रहण होता है, अनर्थक का नहीं ॥ १३ ॥

निपात एकाजनाङ्[७] ॥ १४ ॥

निपातः । १ । १ । एकाच् । १ । १ । अनाङ् । १ । १ । आङ्-वर्जितो य एकाच् निपातः, स प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । एकश्चासौ अच्=एकाच् । कर्मधारयसमासः । अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । चादिषु पाठादकारादिस्वराणां निपात-सञ्ज्ञा । तेषां प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

'निपातः' इति किमर्थम् । चकारात्र । जहारात्र ।

'चकार' इत्यत्र णल्-प्रत्ययस्य योऽस्त्यकारस्तस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सा निपात-ग्रहणान्न भवति ॥

---

१. कोशे—"का० १ व्या०" इति ॥

२. स०—सू० ४१ ॥
ऋ० प्रा०—"अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः ॥" (१ । ६ । २६)
तै० प्रा०—"अस्मे ॥" (४ । ६)
छन्दोविषयत्वान्नेदं सूत्रं चान्द्रशब्दलक्षणे प्रतिपादितम् ॥

३. ऋ०—४ । ४६ । ४ ॥
तै०—१ । ३ । ३१ । १ ॥
मै०—४ । १२ । १ ॥ १७८ । १० ॥
का०—१० । १३ ॥ २१ । ११ ॥

४. वार्त्तिकमिदम् ॥

५. पा०, प०—सू० १४ ॥

६. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

७. स०—सू० ४२ ॥
चा० श०—"अजनाङ् ॥" (५ । १ । १२७)

'एकाच्' इति किमर्थम् । 'प्रेदं ब्रह्म'[1]।

यत्र केवलोऽच् निपातस्तत्रैव स्यात् । प्र-शब्दे तु त्रयो वर्णाः ॥

'अनाङ्' इति किमर्थम् । आ+उदकान्तात् = ओदकान्तात् ।

अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावो न भवति ॥

मा०—इह कस्मान्न भवति—'आ एवं नु मन्यसे', 'आ एवं किल तद्' इति । सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणं, अननुबन्धकश्चात्राऽऽकारः । क पुनरयं सानुबन्धकः, क निरनुबन्धकः ।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।

एतमातं ङितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥[2] *१ ॥*[3]

ईषदर्थे—आ+इदं धनं=एदं धनम् । ईषदित्यर्थः । **क्रियायोगे—आ+इहि=एहि** । **मर्यादायाम्—आ+उदकान्तात्=ओदकान्तात्** । **अभिविधौ—आ+इन्द्रप्रस्थाद् वृष्टिः=एन्द्रप्रस्थाद् वृष्टिः** । इन्द्रप्रस्थमभिव्याप्य वृष्टिर्जातेत्यर्थः । एषु चतुर्ष्वर्थेषु सानुबन्धकस्याऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रकृतिभावाभावः । **वाक्ये—आ एवं नु मन्यसे** । **स्मरणे—आ एवं किल तत्** । अनयोर्द्वयोरर्थयोर्निरनुबन्धकस्याऽऽकारस्य प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥ १४ ॥[4]

'अनाङ्' आङ् को छोड़के 'एकाच्' केवल जो एक ही अच् 'निपातः' निपात है, सो 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । जैसे—अ अपक्राम । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से 'अ, इ, उ' इन वर्णों की सन्धि नहीं हुई । अकारादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से [इन की] निपात-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में निपात-ग्रहण इसलिये है कि 'चकारात्र' यहां केवल एक अच् के होने से घञ्-प्रत्यय के अकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्त थी, सो न हुई । एकाच्-ग्रहण इसलिये है कि जिस निपात में हल् और अच् दोनों हों, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—'प्रेदं ब्रह्म'[1] । यहां प्र-शब्द की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से सन्धि हो गई । प्रयोजन यह है कि जिस निपात में कोई हल् न मिला हो, केवल एक अच् ही हो, उस का [यहां] ग्रहण है । और 'अनाङ्' इसलिये

---

१. महाभाष्ये "प्रेद ब्रह्म प्रेदं धनम् ।" इति ॥

इदमैतरेयब्राह्मणस्य (३ । ११ । ८) शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रस्य (८ । १६ । १ ॥ १६ । १ ॥ २० । १) वा वचः सम्भवति, न ऋग्वेदस्य (८ । ३७ । १) । ऋग्वेदे तु "प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ ।" इति पाठः ॥

२. मुग्धबोधव्याकरणस्य दुर्गादासकृतटीकायां कृतः पाठः—

"मर्यादायामभिविधौ क्रियायोगेषदर्थयोः ।
य आकारः स ङित् प्रोक्तः, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"
(४० सूत्रे)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. कोरो—"आ० ५ व्या०" इति ॥

पड़ा है कि 'आोदकान्तात्' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के न होने से प्रकृतिभाव न हुआ । इस सूत्र में सानुबन्ध अर्थात् ङकारान्त आकार का निषेध है, केवल का नहीं । उस के जानने के लिये यह कारिका है —'ईषदर्थे० ।' ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्यादा और अभिविधि, इन चार अर्थों में जो आकार ङित् होता है । इसी चार प्रकार के आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने का निषेध है । जैसे —'ओष्णम्' यहां ईषदर्थ अर्थात् थोड़े के वाची आकार के होने से उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई । 'एहि' यहां क्रियायोग अर्थात् इहि-क्रिया के साथ संयुक्त है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा का निषेध हुआ । 'आोदकान्तात्' यहां मर्यादा अर्थ में आकार है, इससे प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई । तथा 'एन्द्रप्रस्थं वृष्टिः' यहां अभिविधि अर्थ के वाची आकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के निषेध के होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ । वाक्य और स्मरण अर्थ में आकार निरनुबन्धक अर्थात् ङित् नहीं, इससे इन अर्थों में इस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो जाती है । जैसे—'आ एवं नु मन्यसे' यहां वाक्य, और 'आ एवं किल तत्' यहां स्मरण अर्थ में प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥ १४ ॥

ओत्[1] ॥ १५ ॥

[ओत् । १ । १ ।] ओद्-अन्तो[2] निपातः प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति । 'निपातः' इत्यनुवर्त्तते । तदन्तविधिनाऽत्रान्त-ग्रहणं भवति । आहो इति । उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अत्र प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

भा०—'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः[3] ॥'

तत्र तु—'गौरनुबन्ध्यो[4]ऽजोऽग्नीषोमीयः ।' इति न वाहीकोऽनुबध्यते ॥[5]

तेनेह न भवति[6]—अगौः गौः सम्पद्यत गोऽभवत् ॥ १५ ॥[7]

'ओत्' ओकारान्त जो 'निपातः' निपात है, वह 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो । जैसे—आहो इति । उताहो इति । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया ॥

'गौण० ।' यह परिभाषा इसलिये है [कि] गौण और मुख्य के बीच में मुख्य को ही कार्य हो, गौण को नहीं । इससे 'गोऽभवत्' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हुई ॥ १५ ॥

---

१. स०—सू० ४३ ॥

दृश्यतां वा० प्रा०—"ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः ॥" (१ । ६४)

चा० श०—"ओत् ॥" (५ । १ । १२८)

२. अत्र प्रक्रियाकौमुद्या (पूर्वार्धेऽच्सन्धिप्रकरणे) "हेहयोः प्रगृह्यत्वमिति केचित् ।" इति मतान्तरलेखोदाहरणम् । प्रयोगौ च—"हे अम्ब । हे ईश ।" इति ॥

३. पा०, प०—सू० ११ ॥

४. कोशे—"०नुबध्यो" इति ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

६. दुर्घटवृत्तौ "व्यक्तेरध्यारोपितगोत्वाद् गौणत्वम् ।" इति ॥

७. कोशे—"आ० ५ व्या०" इति ॥

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे[1] ॥ १६ ॥

'ओत्' इत्यनुवर्त्तते । 'निपातः' इति निवृत्तम् । सम्बुद्धौ । ७ । १ । शाकल्यस्य । ६ । १ । इतौ । ७ । १ । अनार्षे । ७ । १ । यः सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः, स शाकल्यस्याचार्यस्य[2] मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति[3], अनार्षे इतिशब्दे परतः । 'सम्बुद्धौ' इति निमित्तार्थे सप्तमी । पूर्णविद्यावतामनूचानानामाप्तानां पुरुषाणां यद् वाक्यं, तदार्षं भवति । अत्र प्रमाणम्—

तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहति, आर्षं तद् भवति ॥[4]

अस्माद् भिन्ने सामान्यविद्वदुक्तमनार्षं, तस्मिन् । वायो इति । वायविति ॥ १६ ॥

पूर्णविद्यावान् आप्त पुरुषों का वाक्य आर्ष, इस से भिन्न अनार्ष कहाता है । 'शाकल्यस्य' शाकल्य ऋषि के मत से 'सम्बुद्धौ' सम्बुद्धिनिमित्त 'ओत्' ओकार की 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, 'अनार्षे इतौ' अनार्ष इति-शब्द परे हो तो । जैसे—वायो इति । वायविति । यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के विकल्प से सन्धि का विकल्प हो गया ॥

सम्बुद्धि-ग्रहण इसलिये है कि 'गवित्याह' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । शाकल्य-ग्रहण इसलिये है कि विकल्प से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो । 'इति' इसलिये है कि 'वायोऽत्र' यहां न हो । 'अनार्षे' इसलिये है कि 'ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्'[5] यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो ॥ १६ ॥

---

१. स०—सू० ४४ ॥

ऋ० प्रा०—"ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः ॥" (१ । १ । ६८) इति, "अकृल्वेतिकरणादौ प्रगृह्याः ॥" (२ । ६ । २०) इति च ॥

वा० प्रा०—"सो वेतौ ॥" (४।१।१२६)

२. अयमृग्वेदस्य पदपाठं कृतवान् । अयं ऐतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । २ । २ ॥ ७ । १), निरुक्ते (६ । २८) अन्यत्र च प्रसिद्धोऽस्ति । अस्य मतत्वेनोद्धाहृता नियमाः प्रायेण शाकलपदपाठे उपलब्धा दृश्यन्ते ॥

शतपथब्राह्मणे (११ । ६ । ३ । ३) बृहदारण्यकोपनिषदि (३ । ६ । १ ॥ ...) च श्रूयते यकोऽपरः शाकल्यो विदग्धः, यं वायुपुराणकारः (६० । ५८ ॥ ...) पदकारं मन्यते । अतः केचित् कथयन्ति शाकल्यो विदग्धः, शाकल्यश्च न भिन्नाविति ॥

तथा च व्याडिकृतसङ्ग्रहादानयं श्लोको भवति—"नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा ।" इति । एष शाकल्यस्थविर ऐतरेय-शाङ्ख्यायनारण्यकयोः (क्रमेण ३ । २ । १ । ६ ॥ ७ । १६ ॥...) ऋक्प्रातिशाख्ये (१ । ६ । ४४ ॥ ...) चापि श्रूयते । एषां सर्वेषां शाकल्याभिधानां कः सम्बन्ध इत्यद्यावधि निश्चेतुं न शक्यते ॥

३. ऋग्-वाजसनेयि-अथर्वसंहितानां पदपाठेषु सम्बुद्धिनिमित्त ओकारः सर्वत्र प्रगृह्यो भवति । तैत्तिरीयसंहितापदपाठे तु क्वचित् क्वचित्, सामवेदपदपाठे च न कश्चिदपि ॥

४. कोऽयं "निरुक्ते अ० १३ । खण्ड १२" इत्युद्धरणस्थलम् ॥ वात्स्यायनभाष्ये (९।१।६७)—"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ।"

५. देखो ऐतरेयब्राह्मण (७।२७)—"यत्त्वं कथं वेत्थ ब्रह्मबन्धविति ।" काठकसंहिता (१० । ६) में "एता गा ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत् ।" और काशिका में "एता गाः ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् ।" इस प्रकार है ॥

उञ ऊँ[1] ॥ १७ ॥

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इत्यनुवर्त्तते । उञः । ६ । १ । ऊँ । अ० । उञः प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उञः स्थाने 'ऊँ' इत्ययमादेशो भवति । सोऽपि प्रगृह्य-सञ्ज्ञो भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनानार्षे इति-शब्दे परतः । उ इति । विति । ऊँ इति । प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः । शाकल्य-ग्रहणं विभाषार्थम् । 'इतौ' इति किम् । उ अस्य = वस्य[2] ॥

> भा०—'उञः ॥' इति योगविभागः कर्त्तव्यः । 'उञः' शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः 'ऊँ ॥' उञः 'ऊँ' इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्य-सञ्ज्ञकश्च । ऊँ इति ॥ किमर्थो योगविभागः । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात् । ऊँ इति । उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन विति ॥[3]

अनेनैतत् सिद्ध्यति, पाणिनीयमिदं सूत्रमेकमेव । कथम् । सत्येकस्मिन् सूत्रे व्याख्यानरीत्या योगविभागः सम्भवति । यदि द्वे एव स्यातां, तर्हि योगविभाग-करणमनर्थकं स्यात् । एतत् सिद्धेऽपि जयादित्यादयः[4] पृथक् पृथक् द्वे सूत्रे व्याचक्षते । यदि महाभाष्यकारकृतं योगविभागं दृष्ट्वा कथयन्ति, तर्हि यत्र यत्र[5] महाभाष्यकारैर्योगविभागः कृतोऽस्ति, तत्र तत्र सर्वत्र पृथक् पृथक् सूत्राणि कर्त्तव्यानि । अतो ज्ञायत एतेषां महान् भ्रमो जातः ॥ १७ ॥

'उञः' उञ्, इस की 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो, 'शाकल्यस्य' शाकल्य आचार्य के मत

---

१. स०—पृ० ४५, ४६ । अस्मात् सूत्रविभागः ज्ञायते, न भगवता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वयमेव ग्रन्थः संशोधित इति ॥

वा० प्रा०—"उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ॥" (४ । ९१)

ऋ० प्रा०—"आमन्त्रित उकार इतावनार्षे प्रकृत्या ॥" (३ । १ । ३)

चतुरध्यायिकायाम्— "उकारस्येतावपृक्तस्य ॥ दीर्घः प्रगृह्यश्च ॥" (१ । ७२, ७३)

चा० श०—"उञ् ॥ ऊँ ॥" (५ । १ । १२०, १२१)

२. इत्यत्रास्मृग्वेदे— "पूत वस्य भाम ।" (२ । ३ । ११)

३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

४. अथभट्टो रामचन्द्रश्चापि द्वे सूत्रे कृतवन्तौ । जयादित्यात् पूर्वं चन्द्रेणैतत् सूत्रं "उञ् ॥ ऊँ ॥" इत्येकाक्षरलाघवार्थं द्विधा विभक्तम् । जयादित्यादिकृते विभागे तु न केवलमक्षरलाघवं न भवति, परं सूत्रपाठविरोधोऽपि जायते ॥

५. यथा "सह सुपा ॥" (२ । १ । ४) इत्यत्र ।

में. 'अनार्षे इतौ' अनार्ष इति-शब्द के परे । तथा 'उञः' उञ् के स्थान में 'ऊँ' दीर्घ अनुनासिक ऊँ आदेश हो । वह भी प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हो, अनार्ष इति-शब्द के परे शाकल्य आचार्य के मत में, अर्थात् विकल्प करके । जैसे—उ इति । ऊँ इति । यहां प्रगृह्य सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया । 'विति' यह दोनों का एकसा ही है । यहां विकल्प के होने से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं हुई । शाकल्य-ग्रहण विकल्पार्थ और इति-शब्द इसलिये है कि 'उ अस्य = वस्य' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा नहीं होती ॥

भाष्यकार ने इस सूत्र के दो विभाग किये हैं, इसलिये कि दो अर्थों से तीन उदाहरण सिद्ध हों । इस भाष्यकार के कथन से यह बात सिद्ध है कि पाणिनि महाराज का बनाया एक ही सूत्र है, क्योंकि जो दो ही होते, तो विभाग करना कैसे बनता । और जो भाष्यकार के विभाग करने से दो सूत्र बनावें, तो भाष्यकार ने जहां २ विभाग किया है, वहां २ सर्वत्र दो २ सूत्र कर लेना चाहिये । इस से सिद्ध हुआ कि एक ही सूत्र है । फिर पण्डित जयादित्य आदि ने दो सूत्र अलग २ करके व्याख्यान किया है, सो केवल इन लोगों की भूल ही है ॥ १७ ॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे[1] ॥ १८ ॥

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इति निवृत्तम् । ईदूतौ । १ । २ च । अ० । सप्तम्यर्थे । ७ । १ । सप्तम्यर्थे वर्त्तमानावीदूतौ प्रगृह्य सञ्ज्ञौ भवतः । ईच ऊच = ईदूतौ । द्वन्द्वः । सप्तम्या अर्थः = सप्तम्यर्थः, तस्मिन् । सोमो गौरी अधि श्रितः[2] । गौर्यामित्यर्थः । मामकी तनू इति[3] । मामक्यां तन्वामित्यर्थः । प्रगृह्य-सञ्ज्ञत्वात् प्रकृतिभावः ॥

'ईदूतौ' इति किम् । आकारस्य मा भूत् ॥

सप्तमी-ग्रहणं किम् । धीती, मती[4], सुष्टुती = धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या इति प्राप्ते [प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति] ॥

---

१. छन्दोविषयमिदं सूत्रम् ॥ अथर्वप्रातिशाख्ये (३ । १ । ६) चतुरध्यायिकायां (१ । ७४) च—"ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे ॥"

अपि च छन्दसि ईदन्तो द्विवचन परेण उकारेण न कश्चित् सन्धीयते । "रोदसीम" (ऋ० ७ । ६० । ३), "वेमस्याम्" (ऋ० २ । ३ । ४) इत्यत्रापि प्रगृह्याभावः ॥

तथा च "पृथिवी, ("पृथिवी उत द्यौः" १ । ६६ । ६) पृथुज्रयी, ("पृथुज्रयी असुर्यो" १ । १६८ । ७) सम्राज्ञी" ("सम्राज्ञी अधि देवृषु" १० । ८५ । ४६) इत्येते प्रथमैकवचना ईदन्ताः शब्दा ऋग्वेदे न सन्धीयन्ते ॥

२. ऋ०—६ । १९ । १ ॥
सा०—२ । ५४८ ॥

३. अत्र न्यासकारः—" 'अध्यस्यां मामकी तनू इति ।' एतद् वेदवाक्य वेदितव्यम् । अत्र 'मामकी, तनू' इति शब्दौ 'सुपां सुलुक्० ॥' (७ । १ । ३९) इति लुप्तसप्तमीकौ । तत्र यदा अर्थाद् व्यवच्छिन्नः स्वरूपे व्यवस्थापनाय इति-शब्दः प्रयुज्यते, तदैते उदाहरणे ॥"

संहितासु ब्राह्मणेषु च गवेषणीयमिदं वचः ॥

४. "धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।" (ऋ० १ । १६४ । ८ ॥ अ० ९ । ९ । ८) "नवस्या मत्या-विष्यन्तं न भोजसे ।" (ऋ० ८ । ५६ । २)

अर्थ-ग्रहणं किमर्थम् । वाप्यामश्वो = वाप्यश्वः । नद्यामातिः = नद्यातिः । अत्र सप्तमी लुप्ता, तस्मान्न भवति । यः 'सुपां सुलुक्०[1] ॥' इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णो भवति, तस्यात्र ग्रहणम् ॥

चकार-ग्रहणं प्रगृह्य-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थम् ॥

> भा०—एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः '*न प्रगृह्य-सञ्ज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति ॥*' इति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । कुमार्य्योरगारं = कुमार्य्यगारम् । वध्वोरगारं = वध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न भवति[2] ॥[3]

'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्[4] ॥' इति प्रगृह्य-सञ्ज्ञा प्राप्ता । सानेन ज्ञापनेन प्रतिषिध्यते ॥ १८ ॥

'सप्तम्यर्थे' सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान 'ईदूतौ' जो ई, ऊ हैं, सो 'च' भी 'प्रगृह्यम्' प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों । जैसे—'सोमो गौरी अधि श्रितः[5] ।' यहां गौरी-शब्द में ईकार सप्तमी के अर्थ में है, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के होने से प्रकृतिभाव हो गया । तथा 'मामकी तनू इति ।' यहां तनू-शब्द का ऊकार सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान है, इससे उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा है ॥

इस सूत्र में ईकार ऊकार का ग्रहण इसलिये है कि सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान जो आकार हो, उस की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । सप्तमी-ग्रहण इसलिये है [कि] 'धीती' यहां तृतीया के अर्थ में वर्त्तमान ईकार की प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । अर्थ-ग्रहण इसलिये है कि जहां सप्तमी का लुक् हो जाय, वहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा न हो । चकार-ग्रहण इसलिये है कि प्रगृह्य-सञ्ज्ञा इस सूत्र में समाप्त हुई ॥

प्रगृह्य-सञ्ज्ञा के सूत्रों में प्रत्ययलक्षण से जो प्रगृह्य-सञ्ज्ञा पाती है, सो अर्थ-ग्रहण के ज्ञापक से नहीं होती । इसी सूत्र से 'न प्रगृह्य० ॥' यह परिभाषा निकलती है ॥

इस सूत्र पर दो कारिका हैं[6] ॥ १८ ॥

दाधा घ्वदाप्[7] ॥ १९ ॥

---

१. ७ । १ । ३९ ॥
२. कोशेऽत्र "इति" इत्यपि ॥
३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
४. १ । १ । ११ ॥
५. ऋ०—१ । १२ । ३ ॥
सा०—२ । ५४८ ॥
६. देखो महाभाष्य—
"ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥
वचनाद् यत्र दीर्घत्वं, तत्रापि सरसी यदि ।
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥"
७. भा०—सू० २४६ ॥

दाधाः । १ । २ । घु । १ । १ । 'सुपां सुलुक्०[1]॥' इति सोर्लुक् । अदाप् । १ । १ । दाश्च धाश्च = दाधाः । द्वन्द्वः । दाधा घु-सञ्ज्ञा भवन्ति, प्रकृतयश्चैषां घु-सञ्ज्ञा भवन्ति । दाप् लवने[2] । दैप् शोधने[3] । एतौ वर्जयित्वा । डुदाञ् [दाने[4]]—प्रणिदीयते । दाण् दाने[5]—प्रणिदाता । दोऽवखण्डने[6]—प्रणिद्यति । देङ् रक्षणे[7]—प्रणिदयते । डुधाञ् [धारणपोषणयोः[8]]—प्रणिधीयते । धेट् [पाने[9]]—प्रणिधयति बालो मातरम् । अत्र सर्वत्र घु सञ्ज्ञत्वान्नेर्नकारस्य णत्वम् ॥

'अदाप्' इति किमर्थम् । दाप् लवने[2]—अवदातं कुशकाशम् । दैप् शोधने[3]—अवदातं मुखम् । अत्र घु-सञ्ज्ञाभावात् 'अच उपसर्गात्तः[10]॥' इति तत्वं न भवति ॥

भा०—*अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते*[11] ॥

लविता । चिकीर्षिता ॥[12]

अत्र तृज्-ग्रहणेनेडागमस्य ग्रहणाद् गुणादीनि कार्याणि भवन्ति । इमामेव परिभाषां केचिद् भट्टोजिदीक्षितादयो[13] महाभाष्यविरुद्धां पठन्ति । 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥' इति । एतत् तेषां भ्रम एवास्ति ॥

दीङः प्रतिषेधः स्था-घ्वोरित्वे[14] ॥

उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य ॥

'स्थाघ्वोरिच्च[15]॥' इतीत्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति '*नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्*[16]॥' इति । यदयं '*उदीचां माङो व्यतीहारे*[17]॥' इति मेङः सानुबन्धकस्याऽऽत्त्वभूतस्य ग्रहणं करोति ॥

---

१. ७ । १ । ३९ ॥
२. धा०—अदा० ५० ॥
३. धा०—भ्वा० ९७१ ॥
४. धा०—जुहो० ६ ॥
५. धा०—भ्वा० ९७७ ॥
६. धा०—दि० ४० ॥
७. धा०—भ्वा० १०२१ ॥
८. धा०—जुहो० १० ॥
९. धा०—भ्वा० ९५१ ॥
१०. ७ । ४ । ४७ ॥
११. पा०—सू० ११ ॥
१२. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
१३. भट्टोजिदीक्षितादिगणे नागेशस्यापि नाम ग्राह्यम् ॥ (दृश्यतां परिभाषेन्दुशेखर एकादशं सूत्रम्)
१४. वार्त्तिकमिदम् ॥
१५. १ । २ । १७ ॥
१६. पा०—सू० ९ ॥
प०—सू० ७ ॥
१७. ३ । ४ । १९ ॥

अनया परिभाषया दाप्-ग्रहणे दैपोऽपि ग्रहणं भवतीति॥ १९॥[1]

'दाधाः' डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ्, धेट्, इन धातुओं की घु-सञ्ज्ञा हो, दाप्, दैप् इन दो धातुओं को छोड़के। जैसे—प्रणिदीयते, प्रणिधीयते इत्यादि उदाहरणों में नकार को णकार, आकार को ईकार इत्यादि कार्य घु सञ्ज्ञा के होने से होते हैं॥

इस सूत्र में अदाप्-ग्रहण इसलिये किया है कि 'अवदातं कुशकाशम्, अवदातं मुखम्' यहां भी जो घु सञ्ज्ञा हो जाती, तो द के स्थान में त हो जाता, सो नहीं हुआ॥

'अर्थवत्० ॥' इस परिभाषा से अर्थवान् शब्द को जो आगम होता है, वह उसी के साथ गिना जाता है। जैसे—लविता। यहां लूञ् के साथ इट् के आगम के ग्रहण होने से गुण आदि कार्य होते हैं॥

इस परिभाषा को भट्टोजिदीक्षितादि लोग महाभाष्य से विरुद्ध पढ़ते हैं, सो इन की भूल है॥

'दीङः प्रति० ॥' इस वार्त्तिक से 'उपादास्त' यहां घु-सञ्ज्ञा के न होने से आकार को इकार पाता था, सो न हुआ॥

'नानुबन्ध० ॥' इस परिभाषा से इस सूत्र में दाप् के निषेध में दैप् का भी निषेध हो जाता है॥ १९॥

आद्यन्तवदेकस्मिन्[2]॥ २०॥

आतिदेशिकीयं परिभाषा। आद्यन्तवत्। अ०। एकस्मिन्। ७।१। आद्यन्तयोरुच्यमानं कार्यमेकस्मिन्नपि भवति। आदिश्चान्तश्च = आद्यन्तौ। आद्यन्ताभ्यां तुल्यं = आद्यन्तवत्। अथ वा षष्ठ्यर्थे वा सप्तम्यर्थे वतिः। आद्यन्तयोरिव = आद्यन्तवत्। औपगवः। प्रत्यय आद्युदात्तो भवति। अण्-प्रत्ययस्याऽकारादिवद्भावादुदात्तो भव[ति]। एधते। 'अचोऽन्त्यादि टि[3]॥' इति टि-सञ्ज्ञा भवति, तत्र केवलस्याप्यकारस्य टि-सञ्ज्ञा यथा स्यात्॥

'एकस्मिन्' इति किम्। सभासन्नयने भवः = साभासन्नयनः। आकारमाश्रित्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति॥

भा०—किमर्थमिदमुच्यते।

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्[4]॥

सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति, परमस्ति, स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति, पूर्वमस्ति, सोऽन्त

१- कोष्ठस्थ—"भा० ५ व्या०" इति॥

२ स०—सू० ५१॥
द्रष्टव्यं तै० प्रा०—"आद्यन्तवच्च॥" (१।५५)

३. १।१।६२॥

४. वार्त्तिकमिदम्॥

इत्युच्यते । सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिद्ध्यन्ति । इष्यन्ते च स्युरिति । तान्यन्तरेण यत्नं न सिद्ध्यन्ति इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥[1]

आद्यन्तविधायकानि कार्याण्येकस्मादन्यस्मिन् भवन्ति । तान्येकस्मिन्नपि स्युरिति सूत्रप्रयोजनम् ॥ २० ॥[2]

यह अतिदेश विधायक परिभाषासूत्र है । अतिदेश उस को कहते हैं कि जो एक के तुल्य दूसरे को कार्य का विधान हो । 'आद्यन्तवत्' आदि और अन्त को जो कार्य विधान हों, वे 'एकस्मिन्' एक में भी हो जाएं । जैसे प्रत्यय को आद्युदात्त विधान किया है, तो 'औपगवः' यहां एक अकार के प्रत्यय को भी आद्युदात्त हो गया । अच् [= अचों] के बेके जो अन्त, और [यह अन्तिम अच् जिस के] आदि [में] है, वह टि-सञ्ज्ञक होता है । सो 'पचते' यहां एक अकार की भी टि-सञ्ज्ञा हो गई । आदि उसे कहते हैं कि जिस के पूर्व कोई न हो, और पर हो । अन्त उसे कहते हैं कि जिस के पर कोई न हो, और पूर्व हो । अर्थात् ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं, इससे आदि अन्त को कहे हुए कार्य एक के बीच में संयुक्त नहीं हो सकते । इस प्रयोजन के लिये यह सूत्र है ॥ २० ॥

तरप्तमपौ घः ॥ २१ ॥

तरप्-तमपौ । १ । २ । घः । १ । १ । तरप् च तमप् च तौ तरप्-तमपौ प्रत्ययौ घ-सञ्ज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । 'घरूपकल्प०[3]॥' इति घ-सञ्ज्ञके प्रत्यये कुमारी-शब्दस्य ह्रस्वत्वम् । भवतितराम् । भवतितमाम् । अत्र घ-सञ्ज्ञकात् प्रत्ययात् 'किमेत्तिङव्ययघाद्०[4]॥' इत्यामु-प्रत्ययः । घ-प्रदेशानि सूत्राणि—'नाद् घस्य[5]॥' इत्यादीनि ॥ २१ ॥[6]

'तरप्-तमपौ' तरप्, तमप् इन दोनों प्रत्ययों की 'घः' घ-सञ्ज्ञा हो । जैसे—'कुमारितरा, कुमारितमा' । यहां कुमारी-शब्द को घ-सञ्ज्ञक प्रत्यय के परे ह्रस्व हो गया ॥ २१ ॥

बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या[7] ॥ २२ ॥

बहु-गण-वतु-डति । १ । १ । सङ्ख्या । १ । १ । बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च, एषां समाहारः = बहु-गण-वतु-डति । बहु-गणौ वतुप्प्रत्ययान्त-डतिप्र-

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
२. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥
३. ६ । ३ । ४३ ॥
४. ५ । ४ । ११ ॥
५. ८ । २ । १७ ॥
६. कोशेऽत्र—"आ० ५ व्या०" इति ॥
७. वा० शा०—"कतिगणौ तद्वत् ॥ वतोः ॥" (४ । १ । २२, २४)

त्ययान्तौ च शब्दाः सङ्ख्या-सञ्ज्ञा भवन्ति । बहुकृत्वः । बहुशः । गणकृत्वः । गणशः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । अत्रैतेषां सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् कृत्वसुच्-शस्-प्रत्ययौ ॥

भा०—*कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः*[1] ॥

यथा लोके । तद्यथा लोके—'गोपालकमानय' 'कटजकमानय' इति यस्यैषा सञ्ज्ञा भवति, स आनीयते, न यो गाः पालयति, यो वा कटे जातः ॥

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्[2] ॥

समासविध्यर्थं तावत्—अध्यर्धशूर्पम् । कन्विध्यर्थम्—अध्यर्धकम् ॥

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः सङ्ख्या-सञ्ज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । समास-कन्-विध्यर्थमेव । अर्धपञ्चमशूर्पम् । अर्धपञ्चमकम् ॥[3]

अध्यर्धशूर्पेण क्रीतमित्यर्थे तद्धितप्रत्ययस्य लुकि सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् तद्धितार्थे समासः । अध्यर्ध-शब्दस्य सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्[4] ॥' इति कन् ॥ अर्धः पञ्चमो येषामिति बहुव्रीहौ कृतेऽर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतमिति सङ्ख्या-सञ्ज्ञत्वात् 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः[5] ॥' इति द्विगु-सञ्ज्ञा । द्विगु-सञ्ज्ञत्वात् तद्धितप्रत्ययस्य लुक् । तदा तद्धितार्थे समासः, कन्-प्रत्ययश्च ॥ २२ ॥[6]

'बहु-गण-वतु-डति' बहु, गण, वतुप्-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों की 'सङ्ख्या' सङ्ख्या-सञ्ज्ञा हो । जैसे—बहुकृत्वः । गणकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । यहां सङ्ख्या-सञ्ज्ञा के होने से कृत्वसुच् प्रत्यय हो गया । 'कृत्रिमा० ॥' इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि एक गोपाल-शब्द दो अर्थों का वाची है, अर्थात् एक तो किसी मनुष्य का गोपाल नाम है, और जो गौओं का पालन करे, उस का भी गोपाल नाम है । तो गोपाल के कहने से उस को समझना चाहिये कि जिस का गोपाल नाम है ॥

'अध्यर्ध० ॥' इस वार्त्तिक से अध्यर्ध-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा इसलिये की है कि जिससे

१ पा०—सू० ८ ॥
अस्मिन् स्थले महाभाष्ये "०कार्यसम्प्रत्ययो भवति ॥" इति पठ्यते । अन्यत्र तु महाभाष्येऽपि भवति-शब्दो नास्ति ॥
२. वार्त्तिकमिदम् ॥
३. अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥
४. ५ । १ । २२ ॥
५. २ । १ । ५२ ॥
६. कोशेऽत्र—"आ० ५ [व्या०]" इति ॥

'अध्यर्धशूर्पम्' यहां समास और 'अध्यर्धकम्' यहां कन्-प्रत्यय हो जाय । तथा 'अर्ध-पूर्व० ॥' इस दूसरे वार्त्तिक से अर्धपञ्चम-शब्द की सङ्ख्या-सञ्ज्ञा करने का भी, समास और कन्-प्रत्यय का होना ये ही दो प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

ष्णान्ता षट्[1] ॥ २३ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्त्तते । ष्णान्ता । १ । १ । षट् । १ । १ । षश्च नश्च ष्णौ । ष्णावन्तौ यस्याः सा । षकारान्ता नकारान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसः 'षड्भ्यो लुक्[2] ॥' इति लुक् । 'शतानि, सहस्राणि' इत्यत्र सन्निपातलक्षणत्वात् षट्-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २३ ॥[3]

इस सूत्र में 'सङ्ख्या' की अनुवृत्ति है । 'ष्णान्ता' षकारान्त नकारान्त जो 'सङ्ख्या' सङ्ख्यावाची शब्द हैं, उन की 'षट्' षट्-सञ्ज्ञा हो । षट् तिष्ठन्ति । पञ्च गच्छन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से षट्-शब्द और पञ्च-शब्द की जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २३ ॥

डति च[4] ॥ २४ ॥

'सङ्ख्या' इत्यनुवर्त्तते । [डति । १ । १ । च । अ० ।] डति-प्रत्ययान्ता सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा भवति । कति पठन्ति । षट्-सञ्ज्ञत्वाज्जसो लुक् ॥ २४ ॥[5]

'च' और 'डति' डति-प्रत्ययान्त जो 'सङ्ख्या' सङ्ख्या है, सो 'षट्' षट्-सञ्ज्ञक हो । कति पठन्ति । यहां षट्-सञ्ज्ञा के होने से जस्-विभक्ति का लुक् हो गया ॥ २४ ॥

क्तक्तवतू निष्ठा ॥ २५ ॥

[क्त-क्तवतू । १ । २ ।] क्तश्च क्तवतुश्च तौ । [निष्ठा । १ । १ ।] क्त-क्तवतू प्रत्ययौ निष्ठा-सञ्ज्ञौ भवतः । कृतः । कृतवान् । निष्ठाविधायकानि सर्वाणि कार्य्याणि क्त-क्तवत्वोर्भवन्ति । ककारो गुणप्रतिषेधार्थः । उकार उगिदर्थः ॥

निष्ठाविधायकानि सूत्राणि—'निष्ठायां सेटि[6] ॥' इत्यादीनि ॥ २५ ॥

['क्त-क्तवतू'] क्त, क्तवतु इन दोनों प्रत्ययों की ['निष्ठा'] निष्ठा-सञ्ज्ञा है । कृतः । कृतवान् । यहां कृ धातु से निष्ठा-प्रत्यय विधान है, सो क्त, क्तवतु होते हैं । क्त-क्तवतु-प्रत्ययों में ककार गुण के प्रतिषेध के लिये, और उकार ङीप्-प्रत्यय होने के लिये है ॥ २५ ॥

---

१. चा०—सू० १२८ ॥
 चा० शा०—"ष्णः सङ्ख्याया लुक् ॥" (२ । १ । २१) अस्मिन् चान्द्रसूत्रे "बहुगणवतुडति सङ्ख्या ॥" (१ । १ । २२) इत्येकं, "षड्भ्यो लुक् ॥" (७ । १ । २२) इत्यपरञ्च पाणिनीयं सूत्रं सन्निहितम् ॥

२. ७ । १ । २२ ॥

३. कोरोडस—"आ० ५ व्या०" इति ।

४. चा० शा०—"कतेः ।" (२ । १ । २२)

५. कोरोडस —"आ० ५ व्या०" इति ।

६. ६ । ४ । ५२ ॥

अथ सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥ २६ ॥

सर्वादीनि । १ । ३ । सर्वनामानि । १ । ३ । सर्वादीनां शब्दानां सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । सर्व-शब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि । तेनैकस्य कस्यचित् सर्वो नाम, तत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति । सर्वाय देहीति । सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्[1]—अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविधानात् ङेः स्थाने स्मै, ङसेः स्थाने स्मात्, ङेः स्थाने स्मिन् ॥

सर्वनामविधायकानि—'सर्वनाम्नः स्मै[3] ॥' इत्यादीनि ॥

भा०—सर्वनाम-सञ्ज्ञायां निपातनाण्णत्वं न भविष्यति । किमेतन्निपातनं नाम । अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते—इदं न भवतीति ॥

महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत । सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि । सञ्ज्ञोपसर्जने [च] विशेषेऽवतिष्ठेते ॥[4]

[१] सर्व । [२] विश्व[2] । [३] उभ । [४] उभय ।

[५] डतर । [६] डतम् । [७] अन्य । [८] अन्यतर । [९] इतर ।

---

१. सर्वादिगणेऽपठिता. केवलादिशब्दा अपि छन्दसि यत्र तत्र सर्वनामानीव रूपाणि लभन्ते । यथा—

केवले । १ । ३ (ऋ० १० । ५१ । ६), समानस्मात् । ५ । १ । (ऋ० ५ । ८७ । ४), मध्यमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० २ । १०८ । ६), अवमस्याम् । ७ । १ । (ऋ० २ । १०८ । ६) इत्यादीनि ॥

२. प्रायेण छन्दसि प्रयुक्तत्वात् तत्रैवेमानि रूपाणि अन्वेष्टव्यानि । यथा—"हरा विश्वस्मै भुवनाय अन्ते ।" (ऋ० ५ । ८३ । ४) "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" (का० ८ । १७) "समञ्जनः सांष विश्वस्मिन् भरे ।" (ऋ० १०।४६।१)

३. ७ । १ । १४ ॥

४. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

५. प्रायशो लोकेऽस्य सर्वनामसञ्ज्ञस्य प्रयोगा न सन्ति । छान्दसाः प्रयोगास्त्व—

विश्वेभिः । ३ । ३ । (ऋ० १ । ३ । ३ ॥ का० २ । १५ ॥...), विश्वाय । ४ । १ । (ऋ० १ । ५० । १ ॥ का० ४ । ६ ॥ ...), विश्वात् । ५ । १ (ऋ० १ । १८९ । ६ ॥ का० ३८ । ५ ॥...) इत्यादयः ॥

[१०] त्वत् । [११] त्व[1]। [१२] नेम[2]। [१३] सम[3]। [१४] सिम[4]॥[१५–२१] 'पूर्व-पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्[5]॥' [२२] 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्[6]॥' [२३] 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः[7] ॥'[8]

[२४] त्यद्[9] । [२५] तद् । [२६] यद् । [२७] एतद् । [२८] इदम् । [२९] अदस् । [३०] एक ।[10]

[३१] द्वि । [३२] युष्मद् । [३३] अस्मद् । [३४] भवतु । [३५] किम् ॥[11] इति सर्वादिः ॥

भा०—अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः । उभस्य सर्वनामत्वेऽक-जर्थः पाठः क्रियते । उभकौ ॥

---

१. अनुदात्तमिदं पदम् । प्रायेण विंशतिवारमिदमृग्वेदे प्रयुक्तम् । लोकेऽस्य प्रयोगो न क्वचिदुपलभ्यते । ऋग्वेदे प्रयुक्तानि रूपाणि—त्वः । १ । १ । त्वे । १ । ७ । त्वं । १ । २ । त्वेन । ३ । १ । त्वस्मै । ४ । १ । त्वा । स्त्री० २ । १ । त्वस्यै । स्त्री० ४ । १ । त्वद् । नपुं० १ । १ ॥

निरुक्ते (१ । ७–८) च—

"त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके । ... निपात इत्येके । तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्ययं तु भवति । 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः ।' इति द्वितीयायाम्, 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे ।' इति चतुर्थ्याम् । ..."

यथा "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।" (ऋ० १० । ७१ । ११) इति निरुक्तोदाहृते मन्त्रे, तथैवान्येष्वपि बहुषु मन्त्रेषु "त्वः...त्वः" इति "एकः...अपरः" इत्यर्थे त्व-शब्दो द्विर्निः सापेक्षत्वेन प्रयुज्यते ॥

मैत्रायणीयसंहितायां (४ । २ । २) प्रयुक्तोऽनुदात्तः त्वदानीं-शब्दोऽपि अस्मादेव ॥

२. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—नेमे । १ । ३ । नेमानाम् । ६ । ३ । नेमस्मिन् । ७ । १ । नेमम् । नपुं २ । १ ॥

३. इदमप्यनुदात्तं पदम् । ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—समे । १ । ३ । समम् । २ । १ । समस्मै । ४ । १ । समस्मात् । ५ । १ । समस्य । ६ । १ । समस्मिन् । ७ । १ ॥

४. ऋग्वेदे प्रयुक्तान्यस्य रूपाणि—सिम । सम्बु० । सिमः । १ । १ । सिमे । १ । ३ । सिमस्मै । नपुं० ४ । १ । सिमस्मात् । ५ । १ ॥

लोके सर्वनाम-सञ्ज्ञयोः सम-सिम-शब्दयोः प्रयोगाः प्रायशो नोपलभ्यन्ते ॥

५. १ । १ । ३३ ॥

६. १ । १ । ३४ ॥

७. १ । १ । ३५ ॥

८. १५–२३ सङ्ख्याका डतरादयः (७ । १ । २५) ॥

९. ऋग्वेदे भूयिष्ठमस्य प्रयोगाः । वाजसनेयितैत्तिरीयसंहितयोर्ब्राह्मणेषु चापि पञ्चषाः प्रयोगाः सन्ति ॥

वाक्यादौ "च, चिद्, नु, सु" इत्येतैः पदैरनुगम्यमान एवैष दृश्यते ॥

१०. २४–३० सङ्ख्याकाः त्यदादयः (१ । २ । ७२ ॥ ...) ॥

११. ३१–३५ सङ्ख्याका द्व्यादयः (५ । ३ । २) ॥

अथ भवतः सर्वनामत्वे कानि प्रयोजनानि । भवतोऽकच्छेषात्वानि प्रयोजनानि । अकच्—भवकान् । शेषः—स च भवांश्च = भवन्तौ । आत्वम्—भवादृशिति ॥[1]

उभ-भवन्-शब्दौ न्यूनप्रयोजनौ । तस्मात् तयोः प्रयोजनानि दर्शितानि । अन्ये तु सर्वादयो बहुप्रयोजनाः, तस्मान्न दर्शिताः । सर्व शब्दपर्यायस्य समशब्दस्य सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्[2] ॥' इति निर्देशात् तुल्यवाचिनः समस्य सर्वनामत्वे निषेधः ॥ २६ ॥[3]

अब सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार है ॥

'**सर्वादीनि**' सर्व-शब्द जिन के आदि में है, उन सर्व-शब्द के सहित सर्वादिगण में पढ़े हुए शब्दों की '**सर्वनामानि**' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । सर्वस्मै । विश्वस्मै । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के होने से ङे-विभक्ति के स्थान में स्मै आदेश हो गया है । सर्वनाम-शब्द में नकार को णकार आदेश पाता था, सो निपातन से नहीं हुआ । निपातन उस को कहते हैं कि जो सामान्य विधान से कोई कार्य पाता है, और विशेष करके उस का निषेध कर देना । जैसे णत्वविधान सामान्य से पाता है, फिर यहां उस के न होने से प्रकट पाणिनिजी महाराज का अभिप्राय मालूम होता है कि यह न हो ॥

सञ्ज्ञा उस को कहते हैं कि जो सब से छोटी हो, क्योंकि उस का करना ही इसलिये है कि बहुतसा काम थोड़े से निकले । फिर इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि जिससे '**अन्वर्था०॥**' अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय । सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अर्थ यह है कि जो सब के नाम हों वे सर्वनाम कहावें । इस में प्रयोजन यह है कि सर्वादि शब्द किसी एक वस्तु के वाचक हों, तो वहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—सर्वाय देहि । यहां किसी एक मनुष्य का नाम 'सर्व' है । इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा का कार्य नहीं हुआ ॥

सर्वादिगण के शब्द संस्कृत में सब लिख दिये हैं । उस गण में उभ-शब्द का प्रयोजन यह है कि 'उभकौ' यहां उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा के होने से अकच्-प्रत्यय हो जाय । और भवत्-शब्द के प्रयोजन ये हैं कि 'भवकान्' यहां भी अकच्-प्रत्यय हो जाय । '**भवन्तौ**' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा से एकशेष हो गया, और '**भवादृक्**' यहां इस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से अन्त्य को आकारादेश हो गया । इन दो शब्दों के प्रयोजन कम थे, इससे दिखा दिये । और शब्दों के प्रयोजन बहुत हैं, इससे नहीं दिखाये । सम-शब्द, जो सर्वादिगण में पढ़ा है, वह जहां सर्व-शब्द का पर्यायवाची हो, वहीं उस की सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । इससे '**यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्**[2]॥' यहां तुल्यवाची सम-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा नहीं हुई ॥ २६ ॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥ २७ ॥

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥ ३. कोरोऽत्र—"आ० ६ [भा०]" इति ॥

२. १ । ३ । १० ॥

'सर्वादीनि सर्वनामानि ॥' इति सर्वमनुवर्त्तते । विभाषा [१ । १ ।] दिक्समासे । ७ । १ । बहुव्रीहौ । ७ । १ । दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि विभाषा भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । 'न बहुव्रीहौ[1] ॥' इति निषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । दिशां समासः = दिक्समासः । अथ वा 'दिक्०[2] ॥' इति सूत्रेण समासः = दिक्समासः, तस्मिन् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञत्वात् 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च[3] ॥' इति ङितः स्याट्-आगमः, सर्वनाम्नो ह्रस्वत्वं च ॥

> भा०—दिग्-ग्रहणं किमर्थम् । 'न बहुव्रीहौ ॥' इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तत्र न ज्ञायते—क्व विभाषा, क्व प्रतिषेध इति । दिग्-ग्रहणे क्रियमाणे ज्ञायते[4]—दिगुपदिष्टे विभाषा, अन्यत्र प्रतिषेधः ॥
>
> अथ समास-ग्रहणं किमर्थम् । समास एव यो बहुव्रीहिः, तत्र यथा स्यात् । बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिः, तत्र मा भूदिति । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि ॥[5]

अत्र 'नित्यवीप्सयोः[6] ॥' इति द्वित्वं, न तु मुख्येन समासः ॥

अथ 'बहुव्रीहौ' इति किमर्थम् । उत्तरार्थम् । 'न बहुव्रीहौ ॥' इत्यत्र

> अवयवभूतस्याऽपि बहुव्रीहेः प्रतिषेधो यथा स्यात् । इह मा भूत्—वस्त्रमन्तरमेषां त इमे वस्त्रान्तराः । वसनमन्तरमेषां त इमे वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च = वस्त्रान्तर-वसनान्तराः ॥

अत्र बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः । तत्र 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः[7] ॥' इति विकल्पेन जसि सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्ता, सा 'न बहुव्रीहौ ॥' इति सूत्रे प्रतिषिध्यते ॥ २७ ॥[8]

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा अर्थात् बहुव्रीहि दिक्समास में 'न बहुव्रीहौ ॥' इस सूत्र से निषेध की प्राप्ति में विकल्प का आरम्भ किया है। 'दिक्समासे' दिशावाची सर्वनाम-सञ्ज्ञक

---

१. १ । १ । २८ ॥

२. २ । २ । २६ ॥

३. ७ । ३ । ११४ ॥

४. पाठान्तरम्—"दिग्-ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति—"

५. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

६. ८ । १ । ४ ॥

७. १ । १ । ३५ ॥

८. कोशेऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इति ॥

शब्दों के 'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके होती है । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प करके होने से ङे-विभक्ति को स्याट् का आगम, और सर्वनाम को ह्रस्व विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में दिक्-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०[1]॥' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में निषेध किया है, सो यह मालूम नहीं होता कि कहां विकल्प और कहां निषेध है, सो दिक्-शब्द के ग्रहण से जाना गया कि दिक्-समास में विकल्प और केवल बहुव्रीहि समास में निषेध है । समास-ग्रहण इसलिये है कि 'दक्षिणदक्षिणस्यै' यहां विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । और बहुव्रीहि-ग्रहण इसलिये है कि 'न बहु०'॥' इस सूत्र में 'वस्त्रान्तर-वसनान्तराः' यहां बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्व समास में भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ २७ ॥

न बहुव्रीहौ ॥ २८ ॥

'समासे' इत्यनुवर्त्तते । सर्वाद्यन्तस्याऽपि तदन्तविधिना सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवतीति मत्वा प्रतिषेध आरभ्यते । [न । अ० । बहुव्रीहौ । ७ । १ ।] बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । प्रियं विश्वं यस्य तस्मै प्रियविश्वाय । प्रियावुभौ यस्य तस्मै प्रियोभाय । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधाद् ङेः स्मै न भवति ॥ २८ ॥

'बहुव्रीहौ' बहुव्रीहि समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो । सर्वादि जिस के अन्त में हों, उस की भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है, ऐसा जानके इस सूत्र का आरम्भ किया है । 'प्रियविश्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से ङे-विभक्ति के स्थान में स्मै आदेश नहीं हुआ ॥ २८ ॥

तृतीयासमासे[2] ॥ २९ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । [तृतीयासमासे । ७ । १ ।] तृतीयया समासः = तृतीयासमासः, तस्मिन् । सर्वाद्यन्ते तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय देहि । संवत्सरपूर्वाय देहि । असत्यां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां स्मै न भवति ॥

'समासे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनः समास-ग्रहणं तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात् । मासेन पूर्वाय । संवत्सरेण पूर्वाय । अत्रापि सर्वनाम-सञ्ज्ञा न भवति ॥ २९ ॥

'तृतीयासमासे' तृतीया समास में 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'न' न हो । 'मासपूर्वाय' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के न होने से ङे के स्थान में स्मै-

---

१. १ । १ । २८ ॥

२. इस्यतां चा० शा०—"तृतीयार्थयोगे ॥" (२ । १ । २२)

आदेश न हुआ । समास की अनुवृत्ति चली आती है, फिर समास-ग्रहण इसलिये है कि तृतीया समास के लिये 'मासेन पूर्वाय' यह जो वाक्य है, वहां भी सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो॥२९॥

द्वन्द्वे च[1] ॥ ३० ॥

[द्वन्द्वे । ७ । १ । च । अ० ।] द्वन्द्वसमासे सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि न भवन्ति । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । अत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् 'आमि सर्वनाम्नः सुट्[2] ॥' इति सुट् न भवति ॥

चकारः सर्वनाम-सञ्ज्ञाया निषेधपूर्त्यर्थः ॥ ३० ॥

'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'च' भी 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा ['न'] न हो । जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के नहीं होने से सुट् का आगम नहीं हुआ । इस सूत्र में चकार इसलिये है कि निषेध पूरा हुआ, आगे नहीं जायगा ॥ ३० ॥

विभाषा जसि[3] ॥ ३१ ॥

[विभाषा । १ । १ । जसि । ७ । १ ।] 'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । द्वन्द्वे समासे जसि विभाषा सर्वादीनि सर्वनाम-सञ्ज्ञानि भवन्ति । अप्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । कतरकतमे । कतरकतमाः । सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् 'जसः शी[4] ॥' इति शी-आदेशो वा भवति ॥

भा०—जसः कार्यं प्रति विभाषा । अकज्भि न भवति, 'द्वन्द्वे च[5] ॥' इति प्रतिषेधात्[6] ॥[7]

कतरकतमकाः । अकच्-प्रतिषेधे कः प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से द्वन्द्व समास में सर्वनाम-सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं । इससे अप्राप्तविभाषा अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की अप्राप्ति में विकल्प का आरम्भ है । 'द्वन्द्वे' द्वन्द्व समास में 'जसि' जस्-विभक्ति के परे 'सर्वादीनि' सर्वादिकों की 'सर्वनामानि' सर्वनाम-सञ्ज्ञा 'विभाषा' विकल्प करके हो । कतरकतमे । कतरकतमाः । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है । जस् को विधान जो कार्य हैं, उन्हीं में यह विकल्प है । इस से 'कतरकतमकाः' यहां अकच्-प्रत्यय नहीं होता । पूर्व सूत्र से सर्वनाम-सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है ॥ ३१ ॥

---

१. चा० श०—"चार्थसमासे ॥" (२।१।१२)
२. ७ । १ । ५२ ॥
३. चा० श०—"शी वा ॥" (२ । १ । १३)
४. ७ । १ । १७ ॥
५. १ । १ । ३० ॥
६. " 'द्वन्द्वे च ॥' इति प्रतिषेधात् ॥" इति पाठो भाष्यकोशेषु न सार्वत्रिकः ॥
७. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्द्धकतिपयनेमाश्च[1] ॥ ३२ ॥

'विभाषा जसि' इत्यनुवर्त्तते । 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम् । एषां द्वन्द्वः । प्रथम, चरम, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्द्ध, कतिपय, नेम—इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । द्वितये, द्वितयाः । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । अत्र सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञाविकल्पात् जसः स्थाने शी विकल्पेन भवति । प्रथमादिष्वप्राप्त-विभाषा । नेम-शब्दः सर्वादिषु पठ्यते । तस्मिन् प्राप्तविभाषा ॥ ३२ ॥

'प्रथम, चरम, तयप्-प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम' इन शब्दों को भी जस्-विभक्ति के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है । प्रथमे । प्रथमाः इत्यादि । इसी प्रकार के उदाहरण सब शब्दों के बनते हैं । यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है । प्रथमादि शब्दों में अप्राप्तविभाषा और नेम-शब्द के सर्वादिकों में पाठ होने से प्राप्तविभाषा है ॥ ३२ ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्[2] ॥३३॥

ईदृशमेव सूत्रं गणे पठितं, तस्मान्नित्यायां सर्वनाम-सञ्ज्ञायां प्राप्तायां जसि विभाषाऽऽरम्भ इति प्राप्तविभाषा । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इत्येतेषां शब्दानां जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । नियमपूर्वक-स्थितिर्व्यवस्था । तस्यां व्यवस्थायां सत्यामसञ्ज्ञायाम् । सञ्ज्ञायां वर्त्तमानाः स्युश्चेत् तदा न । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः ॥

'व्यवस्थायाम्' इति किमर्थम् । दक्षिणा इमे गाथकाः । प्रवीणा इत्यर्थः ॥ 'असञ्ज्ञायाम्' इति किम् । उत्तराः कुरवः ॥

सत्यामेव व्यवस्थायां तेषामियं सञ्ज्ञा ॥ ३३ ॥

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में जस् के परे विकल्प करके सर्वनाम-सञ्ज्ञा होती है । यह सूत्र इसी प्रकार का गणपाठ में भी पढ़ा है, इससे सर्वनाम-सञ्ज्ञा नित्य प्राप्त है । उस में [अर्थात् सर्वनाम-सञ्ज्ञा की नित्य प्राप्ति में] जस् के परे [यहां] विकल्प का आरम्भ है । इससे प्राप्तविभाषा है । पूर्वे । पूर्वाः इत्यादि उदाहरणों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा से जस् के स्थान में शी-भाव विकल्प करके होता है ॥

---

१. ना०—१७३ ॥

चा० शा०—"प्रथमचरमतयाल्पार्धनेमकतिपयाद् ॥" (२ । १ । २४ ॥)

२. ना०—१७४ ॥

व्यवस्था उसे कहते हैं, जो नियम पूर्वक स्थिति हो । सो व्यवस्था-शब्द इस सूत्र में इस-लिये पढ़ा है कि 'दक्षिणा इमे गाथकाः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो । 'असञ्ज्ञा' इसलिये है कि 'उत्तराः कुरवः' यहां सञ्ज्ञा में सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३३ ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्॥ ३४ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । अस्यापि सूत्रस्य गणे पठितत्वात् । स्वम् । १ । १ । अ-ज्ञातिधनाख्यायाम् । ७ । १ । ज्ञातिश्च धनं च = ज्ञातिधने, तयोराख्या = ज्ञाति-धनाख्या, न ज्ञातिधनाख्या = अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् । ज्ञाति-धनपर्यायवाचिनं स्व-शब्दं विहायान्यवाचिनः स्व-शब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-सञ्ज्ञा भवति । स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः । स्वे गावः, स्वाः गावः ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' इति किम् । स्वाः = ज्ञातयः । प्रभूताः स्वा न दीयन्ते [प्रभूताः स्वाः =] प्रभूतानि धनानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

'अज्ञातिधनाख्यायाम्' ज्ञाति और धन के पर्यायवाची स्व-शब्द को छोड़के अन्य-वाची 'स्वम्' स्व-शब्द की 'जसि विभाषा' जस् के परे विकल्प करके 'सर्वनाम' सर्वनाम-सञ्ज्ञा हो । यह सूत्र भी गणपाठ में पढ़ा है, इससे यहां भी प्राप्तविभाषा है । जैसे—'स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा के विकल्प के होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प से होता है ॥

इस सूत्र में अज्ञातिधनाख्या-ग्रहण इसलिये है कि 'स्वाः = ज्ञातयः, स्वाः प्रभूता न दीयन्ते' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो ॥ ३४ ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ ३५ ॥

अन्तरम् । १ । १ । बहिर्योग-उपसंव्यानयोः । ७ । २ । अस्य सूत्रस्य गणे पाठादियमपि प्राप्तविभाषा । अतिसामीप्ये वर्त्तमानमुपसंव्यानम् । किञ्चिद् बाह्ये वर्त्तमानं बहिर्योगः । अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः । नगराद् बहिःस्थाश्चा-ण्डालादिगृहा भवन्तीति । अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः । [अन्तरे, अ-न्तराः =] अतिसामीप्य आच्छादिता इत्यर्थः ॥

'बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इति किम् । अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे वृक्षाः । [अन्तराः =] मध्यस्था इत्यर्थः ॥

भा० — अपुरीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् — अन्तरायां पुरि वसति ॥[2]

---

१. "क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।" (१० । ८५ । ४२) इत्यत्र अन्येषु च ११ मन्त्रेषु ऋग्वेदे स्व-शब्दे स्मिन्-आदेशो न भवति, "स्वसिञ्जासि कायस्य स्वसिञ्जासि ।" (१ । १३२ । २) इत्येकं मन्त्रं विहाय ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

गणसूत्रस्येदं प्रत्युदाहरणम् । तेन पुरिसामान्येन सर्वत्र सर्वनाम-सञ्ज्ञा निषिध्यते ॥

भा०—*वा-प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानम्*[1]॥[2]

द्वितीयायै । द्वितीयाय । तृतीयायै । तृतीयाय । द्वितीयस्यै । द्वितीयस्मै । तृतीयस्यै । तृतीयस्मै । ङित्सु = ङे, ङसि, ङस्, ङि, एतासां विभक्तीनां कार्येषु ॥ ३५ ॥

इति सर्वनाम-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

'बहिर्योग-उपसंव्यानयोः' बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ में वर्त्तमान जो 'अन्तरम्' अन्तर शब्द है, उस की 'जसि विभाषा' जस् के परे सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके हो। यहां भी प्राप्तविभाषा है। उपसंव्यान उस को कहते हैं कि जो अत्यन्त समीप वर्त्तमान हो। और बहिर्योग वह होता है कि जो कुछ बाहर को वर्त्तमान हो। बहिर्योग का उदाहरण यह है—'अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः' अर्थात् चाण्डाल आदि नीच मनुष्यों के घर नगर से बाहर होते हैं। और उपसंव्यान का उदाहरण यह है कि 'अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः' [अर्थात्] अत्यन्त शरीर से लगे हुए कपड़े। यहां दोनों जगह सर्वनाम-सञ्ज्ञा होने से जस् के स्थान में शी-आदेश विकल्प करके होता है ॥

इस सूत्र में बहिर्योग और उपसंव्यान-ग्रहण इसलिये है कि 'अनयोर्ग्रामयोरन्तरा इमे कूपाः' यहां सर्वनाम-सञ्ज्ञा न हो। 'अपुरीति० ॥' इस वार्त्तिक से पुरि अर्थ में अन्तर-शब्द की सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वत्र नहीं होती। 'वा-प्रकरणे० ॥' इस वार्त्तिक से तीय-प्रत्ययान्त अर्थात् द्वितीय-तृतीय-शब्दों की ङित्-विभक्तियों के कार्यों में सर्वनाम-सञ्ज्ञा विकल्प करके होती है ॥ ३५ ॥

यह सर्वनाम-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ ॥

अथाव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम्[3] ॥ ३६ ॥

स्वरादि-निपातम् । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम् । समाहारद्वन्द्वः । स्वरादयः शब्दा वक्ष्यमाणा निपाताश्चाव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

३. अव्ययानां सोदाहरणा अर्था भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृतेऽव्ययार्थे श्रीवर्धमानकृतौ गणरत्नमहोदधौ (प्रथमाध्याये) च द्रष्टव्याः । विद्यार्थिनां सुखावबोधायास्माभिर्वैदिकानां शब्दानामुदाहरणानि टिप्पणेषु दत्तानि । भगवद्दयानन्दकृता अर्था अपि कर्णेकेषु निर्दिष्टाः । परं नैतेन मन्तव्यम्, एतावन्त एवार्थास्तेषां सन्तीति । विभिन्नमतानि च तत्र तत्र भाष्येषु सम्यग् ज्ञातव्यानि ॥

[१] स्वर्[1], [२] अन्तर्, [३] प्रातर्—अन्तोदात्ताः ।

[४] पुनर्—आद्युदात्तः ।

[५] सनुतर्[2] [=सर्वदा[3]], [६] उच्चैस्, [७] नीच्चैस्, [८] शनैस्, [९] ऋधक्[4] [स्वीकारे[5]], [१०] आरात्,[6] [११] ऋते, [१२] युगपत्, [१३] पृथक्—अन्तोदात्ताः[7]।

[१४] ह्यस्, [१५] श्वस्, [१६] दिवा, [१७] रात्रौ, [१८] सायम्, [१९] चिरम्, [२०] मनाक्, [२१] ईषत्,[8] [२२] जोषम्, [२३] तूष्णीम्, [२४] बहिस्, [२५] आविस्, [२६] अवस्[9] [= अधस्तात्], [२७] अधस्, [२८] समया, [२९] निकषा, [३०] स्वयम्, [३१] मृषा, [३२] नक्तम्, [३३] नञ्, [३४] हेतौ,[10] [३५] अद्धा[11] [=साक्षात्], [३६] इद्धा[12] [प्रकाशे], [३७] सामि[13] [अर्द्धजुगुप्सयोः]—अन्तोदात्ताः ।[14]

[३८] सन्, [३९. सनत्[15] = सदा], [४०] सनात्[16] [=सदा], [४१] तिरस्—आद्युदात्ताः ।

[४२] अन्तरा—अन्तोदात्तः ।

---

१. तैत्तिरीयसंहिता-ब्राह्मण-आरण्यकेषु (क्रमेण ५ । ५ । ५ । १ । २ । १ । ५ । १ ॥ १ । १ । १ ॥...) स्वरादिषु च "सुवर्" इति पाठान्तरम् ॥

"एता वै व्याहृतयः (=भूर्भुवःस्वः) सर्वप्रायश्चित्तयः ।" "भूर्भुवस्स्वरिति सा त्रयी विद्या ।" इति च ॥ (जै० उ०—क्रमेण ३ । १७ । ३ ॥ २ । ६ । ७)

२. "आराच्चिद् द्वेषस्सनुतर्युयोतु ।" (का० ८।१६)

३. निघण्टौ (३ । २५) अन्तर्हितनामसु पठितम् ॥

४. "ऋधक् सोम स्वस्तये ।" (ऋ० ६ । ६४ । १०)

५. गण० म०—"ऋधगिति सत्ये ।"

६. अन्यत्र "आरात्" इत्यतः परं "अन्तिकात्" इति ॥

७. श्रीबोटलिङ्कसम्पादिते गणपाठे—"एत आद्युदात्ताः ।" इति । परमृग्वेदे "शनैस्, पृथक्" इत्येतावन्तोदात्तौ, "शनकैस्" (८ । ९१ । २) इति तु अन्तोदात्त एव ॥

८. अन्यत्र "ईषत्" इत्यतः परं "शश्वत्" इति ॥

९. "अवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।" (वा० २९ । १७)

१०. अन्यत्र "हेतौ" इत्यस्मात् परं क्वचित् "हे, है" इत्यपि ॥

११. "को अद्धा वेद ।" (ऋ० १ । ५४ । ५) निघण्टौ सत्यनामसु (३ । १०) पठितम् ॥

१२. "इद्धा तपत्ययं राजा ।" इत्यस्यार्थे उदाहरणम् ॥

१३. "न सामि यज्ञावयेनाग्निष्टोममेवासीत ।" (का० १८ । १)

१४. अत्र काशिकायामन्यच्च—"वत् । वदन्तमव्ययसञ्ज्ञं भवति । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् ॥" अथाप्यस्मात् परमपरत्र "वत" इति ॥

१५. "सनत् कक्षीवाँ अभिपित्वे अहाम् ।" (ऋ० १ । १२६ । ३)

१६. "सनात् सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः ।" (ऋ० १ । ६२ । १०)

[४३] अन्तरेण[1], [४४] ज्योक्[2] [चिरार्थे],[3] [४५] कम्[4], [४६] शम्, [४७] सना[5], [४८] सहसा,[6] [४९] स्वस्ति[7], [५०] स्वधा[8], [५१] अलम्, [५२] वषट्[9], [५३] अन्यत्, [५४] अस्ति, [५५] उपांशु, [५६] क्षमा, [५७] विहायसा, [५८] दोषा, [५९] मुधा,[10] [६०] मिथ्या,[11] [६१] वृथा, [६२] पुरा, [६३] मिथो, [६४] मिथस्,[12] [६५] प्रबाहुकम्[13] [प्राबल्ये],[14] [६६] आर्यहलम्[15], [६७] अभीक्ष्णम्, [६८] साकम्, [६९] सार्धम्,[16] [७०] समम्, [७१] नमस्, [७२] हिरुक्[17] [= पृथक्],[18] [७३] प्रतान्, [७४] प्रशान्,[19] [७५] तथा, [७६] माङ्, [७७] श्रम्, [७८] कामम्, [७९] प्रकामम्, [८०] भूयस्, [८१] परम्, [८२] साक्षात्, [८३] साचि, [८४] सत्यम्, [८५]

---

१. अपरिष्टाल्लिखितेषु शब्देषु कस्मिंश्चिदपि गणपाठे स्वरनिर्देशो न विद्यते ॥

अन्यत्र "अन्तरेण" इत्यस्मात् परं "मक्" इति ॥

२. "ज्योक् च सूर्यं दृशे ।" (ऋ० १ । २३ । २१)

३. अन्यत्र "ज्योक्" इत्यतः परं "योक्, नक्" इति ॥ "अस्य स्वादुस्वसो नक् जिहीते ।" (ऋ० ७ । ७१ । १) नक्तमित्यर्थः ॥

४. दुर्गवृत्तौ निरुक्ते (१ । ६)—"अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कम्, ईम्, इद्, उ इति । 'शिशिरं जीवनाय कम् ।' ..."

५. "सना पुराणमध्येमि ।" (ऋ० १ । ५४ । ९)

६. "सहसा" इत्यतः परं काशिकायां "विना, नाना" इति । क्वचित् "अद्धा" इत्यतोऽप्यधिकम् ॥

७. "स्वस्त्युत्तरमशीय ।" (मै० १ । २ । १)

८. "पितृभ्यः स्वधास्तु ।" (आश्वलायनीयतैत्तिरीयारण्यके १० । ६७ । १) इति सम्प्रदानार्थः ॥

९. "तस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ।" (वा० २१ । ३६)

१०. अन्यत्र "मुधा" इत्यतः परं "दिष्टया" इत्यपि ॥

११. "मिथ्या" इत्यतः परं काशिकायां "क्त्वातोसुन्कसुनः (१ । १ । ३९) कृन्मकारान्तः सन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च (द्रष्टव्या १ । १ । ३८, ४०)" इति ॥

१२. अन्यत्र "मिथस्" इत्यतः परं "प्रायस्, मुहुस्" इति ॥

१३. "प्रबाहुक्" इति पाठान्तरम् ॥ "देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रबाहुग् प्रधान् गृह्णाना आयन् ।" (का० २६ । ९)

१४. अन्यत्र "प्रबाहुकम्" इत्यतःपरं "प्रवाह्रिका" इति ॥

१५. गण० म०—"आर्यहलमिति बलात्कारे । आर्यहलं गृह्णाति । 'आर्येति प्रीतिबन्धने, हलमिति च प्रतिषेधविवादयोः ।' इति शाकटायनः ॥"

१६. अन्यत्र "सार्धम्" इत्यतः परं "सत्रम्" इति ॥

१७. "स ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ॥" (ऋ० १ । १६४ । ३२)

निघण्टौ (३ । २५) अन्तर्हितनामसु पठितम् ॥

१८. अन्यत्र "हिरुक्" इत्यतः परं "तसिलादयस्तद्धिताः एधाच्पर्यन्ताः, शस्तसी, कृत्वसुच्, सुच्, आस्थाली (पाठान्तरं—अच्चाली) च्व्यर्थाश्च, अम, आम्, आम्, प्रताम् ।" इति ॥

१९. अत्र कारिकायां स्वरादिः समाप्तः । अतः परमन्यत्र "आकृतिगणोऽयम् । तेनान्येऽपि । तथाहि, माङ् ..." इति ॥

पारिभाषिक की हस्तलिखित प्रति

पृष्ठ ४२ (जनवाई)

मङ्क्षु[1] [=शीघ्रम्], [८६] संवत्, [८७] अवश्यम्, [८८] सपदि, [८९] प्रादुस्,[2] [९०] अनिशम्, [९१] नित्यम्, [९२] नित्यदा,[3] [९३] अजस्रम्[4], [९४] सन्ततम्, [९५] उषा, [९६] ओम्[5] [= प्रणवः], [९७] भूर्[6], [९८] भुवर्[6], [९९] झटिति, [१००] तरसा, [१०१] सुष्ठु, [१०२] कु, [१०३] अञ्जसा, [१०४] अ, [१०५] मिथु[7], [१०६] विथक्, [१०७] भाजक्, [१०८] अन्वक्, [१०९] चिराय, [११०] चिरम्, [१११] चिररात्राय, [११२] चिरस्य, [११३] चिरेण, [११४] चिरात्, [११५] अस्तम्, [११६] आनुषक्[8] [= अनुकूलतया], [११७] अनुषक्[9], [११८] अनुषट्, [११९] अम्नस्[10], [१२०] अम्नर्[11], [१२१] स्थाने, [१२२] वरम्, [१२३] दुष्ठु, [१२४] बलात्, [१२५] शु[12], [१२६] अर्वाक्, [१२७] शुदि[13], [१२८] वदि[13] [इत्यादि] ॥ एतेषामव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥

निपाताः, 'प्राग्रीश्वरा०[14]॥' [इति] अस्मिन्नधिकारे येषां येषां निपात-सञ्ज्ञोक्ता, ते ते ग्राह्याः ॥

अत्र स्वरादिगणे केनचिद् भाष्यसिद्धान्तमविज्ञाय कृत्-तद्धितानां गणना कृता, सा सूत्रैः सिद्धा । गणेऽस्ति चेत्, सूत्राणि व्यर्थानि स्युः ॥ ३६ ॥

---

१. अन्यत्र "मक्षु" इति । लोके तु क्वचित् "मङ्क्षु" इति दृश्यते । वेदे च न क्वचित् "मक्षु" इति । निघण्टौ (२ । १५) क्षिप्रनामसु पठितः ।

"प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ।" (ऋ० १ । १० । ५), "मङ्क्षूत्पपात परितः पटलैरलीनाम् ।" (शिशुपालवधे ५ । १०) इति वेद-लोकयोरुदाहरणे ॥

२. अन्यत्र "प्रादुस्" इत्यतः परं "आविस्" इति ॥

३. अन्यत्र "नित्यदा" इत्यतः परं "सदा" इति ॥

४. क्वचिद् "अजस्रम्" इति ॥

५. दृश्यतां गोपथब्राह्मणे—"ओङ्कारस्य को धातुरिति । अवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यान्नेदीयः, तस्मादापेरोङ्कारः, सर्वमाप्नोतीत्यर्थः ।" (पू० १ । २६)

६. दृश्यतां "स्वर्" इति ॥

७. "मिथु अवाक्यसिद्धा मिथू कः ।" (ऋ० १ । १६२ । २०)

"न मिथु ब्रूयात्, यन्मिथु ब्रूयात्, मिथुमेव वादयेत् ।" (का० ११ । ५)

८. "आ वा वै अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।" (का० ७ । १२)

९. अथ० भ०—"अनुमानेऽनुषगिति शाकटायनः । 'आनुषक्' इति आकारं षकारं च केचित् ॥"

१०. "यावद् वै कुमारेऽजाते एनस्तावदेतस्मिन्नेनो भवति ।" (का० १६ । २)

यजु० भ०—"अह्न इति शीघ्रसाम्प्रतिकयोः ।"

११. दृश्यतां—"अम्नर्-कर्-अवरित्युभयथा छन्दसि ॥" (८ । २ । ७०)

१२. निघण्टौ (२ । १५) क्षिप्रनामसु पठितम् ॥

१३. "शुक्लदिने, बहुलदिने" इत्येतयोः सङ्केतौ सम्भवतः ॥

१४. १ । ४ । ५६ ॥

'स्वरादिनिपातम्' स्वरादि और निपात इन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो। इन की अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् होता है। स्वरादि-शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये। निपात 'चादयोऽसत्त्वे[1]॥' इत्यादि सूत्रों से विधायक आवेंगे ॥ ३६ ॥

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ ३७ ॥

तद्धितः । १ । १ । च । अ० । असर्वविभक्तिः । १ । १ । नोत्पद्यन्ते सर्वा विभक्तयो यस्मात्, सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धित-प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवतीति। ततः। यतः। यदा। तदा। विना। नाना। अव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम्। एकः। द्वौ। बहवः। अत्रासर्वविभक्तिशब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा न भवन्ति ॥

'असर्वविभक्तिः' इति किम्। औपगवः। औपगवौ। औपगवाः। अत्र मा भूत् ॥

[१] तसिल्[1], [२] त्रल्, [३] ह, [४] अन्, [५] दा, [६] र्हिल्, [७] अधुना, [८] दानीम्, [९] थाल्, [१०] थमु, [११] था, [१२] अस्ताति, [१३] अतसुच्, [१४] आति, [१५] एनप्, [१६] आच्, [१७] आहि, [१८] असि, [१९] धा, [२०] ध्यमुञ्, [२१] धमुञ्, [२२] एधाच्[2], [२३] शस्[3], [२४] तसि[4], [२५] च्वि[5], [२६] साति[6], [२७] त्रा[7], [२८] डाच्[8], [२९] थति[9], [३०] आम्[10], [३१] अम्[11], [३२] कृत्वसुच्[12], [३३] सुच्[13], [३४] धा[14], [३५] ना[15], [३६] नाञ्[15]—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दास्तथा ॥

[१] सद्यः,[16] [२] परुत् [३] परारि, [४] ऐषमः, [५] परेद्यवि, [६] अद्य, [७] पूर्वेद्युः, [८] अन्येद्युः, [९] अन्यतरेद्युः, [१०] इतरेद्युः, [११] अपरेद्युः, [१२] अधरेद्युः, [१३] उभयेद्युः, [१४] उत्तरेद्युः[19], [१५] प्राक्[20], [१६] उपरि, [१७] उपरिष्टात्, [१८] पश्चात्, [१९] पश्च, [२०] पश्चा[21]—

१. १ । ४ । ५७ ॥
२–३. दृश्यन्तां सूत्राणि ५ । ३ । ७–४६ ॥
३. ५ । ४ । ४३ ॥
४. ५ । ४ । ४४ ॥
५. ५ । ४ । ५० ॥
६. ५ । ४ । ५२ ॥
७. ५ । ४ । ५५ ॥
८. ५ । ४ । ५७ ॥
९. ५ । २ । ११५ ॥
१०. ५ । ४ । ११ ॥
११. "अमु च छन्दसि ॥" (५ । ४ । १२) इत्युकारोऽनुबन्धार्थः ॥
१२. ५ । ४ । १७ ॥
१३. ५ । ४ । १८ ॥
१४. ५ । ४ । २० ॥
१५. ५ । २ । २७ ॥
१६–१९. ५ । ३ । २२ ॥
२०–२१. ५ । ३ । ३०–३२ ॥

ऐते सर्वे शब्दास्तद्धितोपदिष्टा अव्यय-सञ्ज्ञका भवन्ति ॥

भा०—किञ्चिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानं, किञ्चित् क्रियाप्रधानम् । उच्चैः, नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्, हिरुक्, पृथगिति क्रियाप्रधानम् । तद्धितश्चापि कश्चिद् विभक्त्यर्थप्रधानः, कश्चित् क्रियाप्रधानः । तत्र, यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानः, विना, नानेति क्रियाप्रधानः ॥

महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते । सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्था सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत—न व्येतीत्यव्ययम् [इति] । क पुनर्न व्येति । स्त्री-पुं-नपुंसकानि सत्त्वगुणाः, एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि च । एतानर्थान् केचिद् वियन्ति, केचिन्न वियन्ति । ये न वियन्ति, तदव्ययम् ।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्[1] ॥ १ ॥[2]

अव्ययं द्विविधं भवति, विभक्त्यर्थः प्रधानं यस्मिन् तत्, क्रियार्थः प्रधानं च यस्मिन् तत् । यत् स्त्री-पुं-नपुंसकेषु, सर्वासु विभक्तिषु, वचनेषु सर्वेषु चैकरसमेव तिष्ठति, तदव्ययम् । इदमव्ययलक्षणं सामान्येन परमा[त्म]न्यपि सङ्घटितमस्ति[3] ॥ ३७ ॥

'असर्वविभक्तिः' सब विभक्ति जिन से उत्पन्न न हों, 'तद्धितः' उन तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों की 'च' भी 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो । 'ततः, यतः, विना, नाना,' इत्यादि शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो जाता है । इस सूत्र के व्याख्यान संस्कृत में तसिल् से लेके नाञ् पर्यन्त प्रत्यय गिने हैं । उन से जो शब्द बनते हैं, तथा सयः-शब्द से लेके परचा-शब्द तक इन तद्धित में उपदेश किये शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा है ॥

अव्यय दो प्रकार के होते हैं । एक विभक्त्यर्थप्रधान अर्थात् 'यदा, तदा' = जब, तब इत्यादि में विभक्तियों का अर्थ मुख्य है । दूसरे क्रियार्थप्रधान अर्थात् 'विना, नाना' इत्यादि में क्रियार्थ मुख्य है ॥

---

१. गो० भा०—पृ० १ । २६ ॥

२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

३. द्रष्टव्यं कठोपनिषदि—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।" (३ । १५) श्वेताश्वतरोपनिषदि—"ईशानो ज्योतिरव्ययः ।" (३ । १२) मुण्डकोपनिषदि—"सुसूक्ष्मं तदव्ययम् ।" (१।१।६) गौडपादकारिकासु—"अनपरः प्रणवोऽव्ययः ।" (१ । २६)

सञ्ज्ञा इसलिये होती है कि बहुतसा काम थोड़े से ही निकले । सो इस सूत्र में बड़ी सञ्ज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि अन्वर्था अर्थात् सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय ॥

'सदृशं० ॥'[1] स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, सात विभक्ति और तीनों वचनों में जो शब्द एकसार बने रहते हैं, अर्थात् कहीं जिन का विपरीतभाव नहीं होता, वे अव्यय कहाते हैं । यह अव्यय का लक्षण सर्वत्र के लिये सामान्य है ॥ ३७ ॥

कृन्मेजन्तः ॥ ३८ ॥

मश्च एच्च = मेचौ । मेचावन्तावस्य सः = मेजन्तः । कृच्चासौ मेजन्तश्च = कृन्मेजन्तः । मकारान्त एजन्तश्च कृदन्तः शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति । भोक्तुम् । उदरपूरं भुङ्क्ते । जीवसे[1] । म्लेच्छितवै[2] । अत्राव्यय-सञ्ज्ञाभयाद् विभक्तेर्लुक् । तुमुन्-णमुल्-कमुलो[3] मान्ताः । [१] से,[4] [२] सेन् , [३] असे , [४] असेन् , [५] क्से, [६] क्सेन् , [७] अध्यै, [८] अध्यैन् , [९] कध्यै, [१०] कध्यैन् , [११] शध्यै, [१२] शध्यैन् , [१३] तवै, [१४] तवेङ् , [१५] तवेन्[5], [१६] केन्[5] —एजन्ताश्च [एते]प्रत्ययाः । एतदन्ताः शब्दास्तथा । [१] प्रयै[6], [२] रोहिष्यै[7], [३] अव्यथिष्यै, [४]दृशे,[8] [५] विख्ये, [६] अवचक्षे[9]—एते कृदन्तोपदिष्टाः शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

भा०—*सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य*[10] ॥ इति ॥ अवश्यमेषा परिभाषा कर्त्तव्या । बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि । शतानि । सहस्राणि । तुमि कृते *'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने पदम्'*? — *'ष्णान्ता षट्'*[11] ॥ इति षट्-सञ्ज्ञा प्राप्नोति । *'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'*[10] ॥' इति न दोषो भवति ॥[12]

---

१. ऋ०—३ । २९ । १० ॥...
  अपि च सूत्रं—३ । ४ । १० ॥

२. महाभाष्ये—(अ० १ । पा० १ । आ० १) "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः ।" इति कस्याश्चिच्छाखाया वचनम् ॥

३. क्रमेण ३ । ३ । १० ॥ ३ । ४ । १२ ॥

४—५. ३ । ४ । ९ ॥

५. ३ । ४ । १४ ॥

६. ऋ०—१० । १०४ । २ ॥...

७. का०—३ । ७ ॥

८. ऋ०—४ । ११ । १ ॥...
  अपि च सूत्र—३ । ४ । ११ ॥

९. ऋ०—४ । ५८ । ५ ।
  अपि च सूत्र—३ । ४ । १५ ॥

१०. पा०—सू० ७४ ॥
  प०—सू० ८५ ॥

११. १ । १ । २३ ॥

१२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥

यं मत्वा यः समर्थो भवति, स तद्विघातस्यानिमित्तं, तद् विहन्तुं न शक्नोति। महाभाष्येऽस्याः परिभाषाया बहूनि[1] प्रयोजनानि सन्ति ॥ ३८ ॥

'मेजन्तः' म और एच्-प्रत्याहार है अन्त में जिन के, ऐसे जो 'कृत्' कृदन्त शब्द हैं, उन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा हो। 'भोक्तुं, वक्रपूरं भुङ्क्ते, जीवसे, म्लेच्छितवै' इत्यादि शब्दों में अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् हो जाता है। इस सूत्र के संस्कृत में तुमुन् से लेके केन् पर्य्यन्त प्रत्ययों से जो शब्द बनते हैं, तथा प्रयै-शब्द से लेके अवचक्षे-पर्यन्त, इस कृदन्त में उपदेश किये हुए शब्दों की अव्यय-सञ्ज्ञा होती है ॥

'सन्निपात० ॥' इस परिभाषा का यह प्रयोजन है कि जिस को मानके जो कोई कार्य करने को समर्थ होता है, वह उस के नाश करने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥ ३९ ॥

क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—एतत्प्रत्ययान्ताः शब्दा अव्यय-सञ्ज्ञा भवन्ति। कृत्वा। भुक्त्वा। पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः[2]। अत्र इण्-धातोस्तोसुन्। पुरा सूर्यस्य विसृपः[3]। 'सृपि-तृदोः कसुन्[4] ॥' इति कसुन्-प्रत्ययः। अव्यय-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लुक् ॥ ३९ ॥

'क्त्वा-तोसुन्-कसुनः' क्त्वा, तोसुन्, कसुन्—इनके प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, उन की 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञा है। जैसे— भुक्त्वा। उदेतोः। विसृपः। यहां अव्यय-सञ्ज्ञा से विभक्ति का लुक् होता है ॥ ३९ ॥

अव्ययीभावश्च[5] ॥ ४० ॥

अव्ययीभावः समासोऽव्यय-सञ्ज्ञो भवति। चकारोऽव्यय-सञ्ज्ञापूर्त्यर्थः ॥

भा०—अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं किम्। लुक्-मुखस्वर-उपचाराः। लुक्—उपाग्नि। प्रत्यग्नि। '*अव्ययात्०*[6] ॥' इति लुक् सिद्धो भवति। मुखस्वरः—उपाग्निमुखः। प्रत्यग्निमुखः। '*नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः*[7] ॥'

---

१. यथा—"इयेष। उवोष। गुरो कृते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ॥' (३।१।३६) इत्याम् प्राप्नोति। 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य।' इति न दोषो भवति।" इत्यादीनि ॥

२. काठकसंहितायाम् (८।६)—"व्युष्टायां पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः, एतस्मिन् वै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः प्राजायन्त। प्रजननमेवैषमाधेयः ॥" इति ॥

३. द्रष्टव्या वाजसनेयि-काठकादिसंहितासु—"पुरा क्रूरस्य विसृपः।" (क्रमेण १।२८ ॥ १।६)

४. ३।४।१७ ॥

५. वा० शा०—"ततः प्राक्कारककात् ॥" (१।१।४०)

६. २।४।८२ ॥

७. ६।२।१६८ ॥

इत्येष प्रतिषेधः सिद्धो भवति । उपचारः—उपपयः-कारः । उपपयःकाम इति । *'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णी-ष्वनव्ययस्य[1] ॥'* इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥[2]

मुख्यत्वेन त्रीण्येव प्रयोजनानि ॥ ४० ॥

[इत्यव्यय-सञ्ज्ञाधिकारः]

'अव्ययीभावः' अव्ययीभाव जो समास है, सो 'च' भी 'अव्ययम्' अव्यय-सञ्ज्ञक हो । जैसे—उपाग्नि । प्रत्यग्नि । यहां अव्ययीभाव समास में अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्ति का लुक् हो गया । इस सूत्र में चकार-ग्रहण अव्यय-सञ्ज्ञा की पूर्ति जनाने के लिये है ॥ ४० ॥

[यह अव्यय-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

[अथ सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

शि सर्वनामस्थानम्[3] ॥ ४१ ॥

जश्शसोरादेशः शिः सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । कुण्डानि तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाश्रयात् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ[4] ॥' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वम् ॥ ४१ ॥

'शि' जस् और शस् विभक्ति के स्थान में शि-आदेश होता है । उस की 'सर्वनामस्थानम्' सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा होती है । कुण्डानि । यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के आश्रय से नान्त की उपधा को दीर्घ-आदेश हो गया है ॥ ४१ ॥

सुडनपुंसकस्य ॥ ४२ ॥

सुट् । [१ । १ ।] अनपुंसकस्य । ६ । १ । नपुंसकाद् भिन्नस्य यः सुट् = पञ्चवचनानि, स सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञो भवति । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । अत्र सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञत्वात् पूर्ववद् दीर्घः ॥

'सुट्' इति किम् । राज्ञः छित्रः । अत्र मा भूत् । 'अनपुंसकस्य' इति किम् । साम । सामनी । अत्र मा भूत् ॥

भा०—नायं प्रसज्यः प्रतिषेधः[5]—नपुंसकस्य नेति । किं

---

१. ८ । ३ । ४६ ॥
२. अ० १ । पा० १ । आ० ६ ॥
३. ना०—सू० ४४ ॥
४. ६ । ४ । ८ ॥
५. पाठान्तरम्—प्रसज्यप्रतिषेधः ॥

तर्हि । पर्य्युदासोऽयम्—यदन्यदनपुंसकादिति । नपुंसके न व्यापारः । यदि केनचित् प्राप्नोति, तेन भविष्यति । पूर्वेण न प्राप्नोति ॥[1]

तथा च शिष्टवाक्यम्—

प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्य्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ १ ॥

यथा—अब्राह्मणमानय । ब्राह्मणादन्यमानयेत्यर्थः । यदि कस्मिंश्चिद् विषये ब्राह्मणस्य कार्यं भवति, तर्हि सोऽप्यानीयते ।

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यः स तु विज्ञेयः[2] क्रियया सह यत्र नञ् ॥ २ ॥

यथा 'न बहुव्रीहौ[3] ॥' इति सर्वादीनां सर्वनाम-सञ्ज्ञा सर्वतो न भवतीति भवतिना सह नञ् । अस्मिन् सूत्रे तु पर्य्युदासः प्रतिषेधः, तेन 'कुण्डानि, वनानि' इत्यत्र प्रतिषेधो न भवति ॥ ४२ ॥

[इति सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञाधिकारः]

'अनपुंसकस्य' स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग शब्दों से परे 'सुट्' सु, औ, जस्, अम्, औट्—इन पांच वचनों की **सर्वनामस्थानम्** सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा हो। जैसे—राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा के होने से राजन्-शब्द के नकार को दीर्घ हो गया ॥

इस सूत्र में सुट्-ग्रहण इसलिये है कि 'राज्ञा छिन्नः' यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा न हो । तथा 'अनपुंसकस्य' इस का ग्रहण इसलिये है कि 'साम, सामनी' यहां सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा से दीर्घ-आदेश न हो ॥

निषेध दो प्रकार का होता है—एक पर्य्युदास, दूसरा प्रसज्य । पर्य्युदास उस को कहते हैं कि जहां मुख्य करके विधान, और गौण करके निषेध किया जाय । जैसे—'अब्राह्मणमानय' अर्थात् ब्राह्मण को छोड़के और मनुष्य को ले आ । इससे ब्राह्मण का सर्वथा निषेध नहीं हुआ । जो कहीं ब्राह्मण का भी काम पड़े, तो ले आ सकते हैं । और प्रसज्य उस को कहते हैं कि जो सर्वथा निषेध ही हो जाय । जैसे—'अनृतं न वक्तव्यम्' अर्थात् झूठ नहीं बोलना । यहां सर्वथा निषेध ही है । इस विषय में किसी प्रकार की विधि नहीं ॥ ४२ ॥

[यह सर्वनामस्थान-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

---

१. कोशेऽत्र—''आ० ६ [व्या०]'' इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां विठ्ठलाचार्योदाहृतः पाठः—प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् (अन्यत्र ''अयं'' इत्यस्य स्थाने ''असौ'' इति) ॥

३. १।२।२८ ॥

[अथ विभाषा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

न वेति विभाषा ॥ ४३ ॥

न । [अ० ।] वा । [अ० ।] इति । [अ० ।] विभाषा । [१।१]
नकारः प्रतिषेधार्थः । वा-शब्दो विकल्पार्थः । अनयोर्योऽर्थस्तस्य विभाषा-सञ्ज्ञा भवति । विभाषा-प्रदेशेषु सूत्रेषु प्रतिषेधविकल्पावुपतिष्ठेते । तेन 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ[1] ॥' इति विधिनिषेधावुभौ भवतः ॥

भा०—*इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः*[2] ॥

इति-करणः क्रियते सोऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति ॥

महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—उभयोः सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत, नेति च वेति च । या[3] तावदप्राप्ते विभाषा, तत्र प्रतिषेध्यं नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या हि प्राप्ते विभाषा, तत्रोभयमुपस्थितं भवति, नेति च वेति च । तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे, वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति ॥

आचार्यः खल्वपि सञ्ज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरेव[4] शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति—बहुलम्,[5] अन्यतरस्याम्,[6] उभयथा,[7] वा,[8] एकेषामिति ॥[9][10]

अस्मिन् शब्दशास्त्रे शब्दानां सञ्ज्ञाः क्रियन्ते । तत्र शब्दानामेव प्रतीतिर्भवति नार्थस्य । अतोऽस्मिन् सूत्रे इति-शब्दः पठ्यते । तेन न-वा-शब्दयोर्योऽर्थस्तस्य विभाषा-सञ्ज्ञा भवति ॥

त्रिधा विभाषा भवन्ति—प्राप्ता, अप्राप्ता, प्राप्ताप्राप्ता च । ता महाभाष्यकारेण बहुधा[11] दर्शिताः । अत्र लेखितुमशक्याः । तत्र अप्राप्तविभाषायां 'वा' इत्युपति-

---

१. २ । १ । २७ ॥
२. वार्त्तिकमिदम् ॥
३. पाठान्तरम्—तत्र या ॥
४. पाठान्तरम्—०मन्यैरपि ॥
५. यथा—"बहुलमाभीक्ष्ण्ये ॥" (३ । २ । ८१)
६. यथा—"चश्चाऽस्यान्यतरस्यां किति ॥" (६ । १ । ३९)
७. यथा—"उभयथर्क्षु ॥" (८ । ३ । ८)
८. यथा—"वा जाते ॥" (६ । २ । १७१)
९. यथा—"यजुष्येकेषाम् ॥" (८ । ३ । १०४)
१०. कोशेऽत्र—"अ० १ [न्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
११. = बहुधा ॥

ध्यते, निषेधस्य प्रयोजनाभावात् । प्राप्तविभाषायां पूर्वं निषेधे प्राप्ते 'वा' इत्यनेन विकल्पो भवति । प्राप्ताप्राप्तविभाषायामुभयमुपतिष्ठते ॥

'आचार्यः०' अनेन सूत्रं प्रत्याख्याति । कथम् । विकल्पसिद्ध्यर्थो विभाषा-सञ्ज्ञा क्रियते । विभाषा-शब्देन विनाऽन्यैरपि बहुलादिभिर्विकल्पसिद्धिर्भवति ॥४३॥

'न वेति' नकार का अर्थ है निषेध, वा का अर्थ है विकल्प । इन दोनों के अर्थ की 'विभाषा' विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषाविषयक सूत्रों में निषेध और विकल्प दोनों ही उपस्थित होते हैं । जैसे—'विभाषा श्वेः[१]॥' इस सूत्र में निषेध और विकल्प से 'शुशाव, शिश्वाय' ये दो उदाहरण बनते हैं । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ की सञ्ज्ञा होने के लिये है, अर्थात् 'न' और 'वा' इन के अर्थ की विभाषा-सञ्ज्ञा है ॥

यही सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि न, वा, इन दोनों की विभाषा-सञ्ज्ञा हो । विभाषा तीन प्रकार के होते हैं—प्राप्त, अप्राप्त और प्राप्ताप्राप्त । प्राप्त-विभाषा उसे कहते हैं कि जो किसी कार्य की प्राप्ति में विभाषा का आरम्भ हो । अप्राप्त विभाषा उसे कहते हैं, जो कार्य किसी से प्राप्त न हो, और विभाषा का आरम्भ किया जाय । तथा प्राप्ताप्राप्त-विभाषा वह कहाता है कि जो किसी से नित्य प्राप्त हो और किसी से निषेध पाता हो, तब विभाषा का आरम्भ हो । ये तीनों प्रकार के विभाषा महाभाष्यकार ने इसी सूत्र की व्याख्या में बहुत प्रकार से दिखाये हैं । सब अष्टाध्यायी में ये तीन प्रकार के ही विभाषा हैं ॥

'आचार्यः० ।' इस पंक्ति से सूत्र का खण्डन जाना जाता है, क्योंकि अष्टाध्यायी में जिस की विभाषा-सञ्ज्ञा है, उस में 'अन्यतरस्याम्' आदि भिन्न शब्दों से भी विभाषा का काम निकलता है ॥ ४३ ॥

[अथ सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा सूत्रम्]

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥ ४४ ॥

इक् । १ । १ । यणः । ६ । १ । सम्प्रसारणम् । १ । १ । सूत्रशाटक-न्यायेनात्र[२] भाविनी सञ्ज्ञा विधीयते । यणः स्थाने भावी य इक्, स सम्प्रसारण-सञ्ज्ञो भवति । इष्टम् । उप्तम् । गृहीतम् । अत्र 'इ, उ, ऋ' इत्येतेषां सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा । तदाश्रयं 'सम्प्रसारणाच्च[३]॥' इति पूर्वसवर्णत्वम् । सङ्ख्यातानुदेशा-दिह न भवति—अदुहितराम् ॥ ४४ ॥

---

१. ६ । १ । ३० ॥

२. महाभाष्ये—"कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इति । स पश्यति, यदि शाटको न वातव्यः, अथ वातव्यो न शाटकः, शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भाविनी खल्वस्य सञ्ज्ञाऽभिप्रेता । सः, मन्ये, वातव्यः, यस्मिन्नुते 'शाटकः' इत्येतद् भवतीति । एवमिहापि स यणः स्थाने भवति, यस्याभिनिर्वृत्तस्य 'सम्प्रसारणम्' इत्येषा सञ्ज्ञा भविष्यति ॥"

३. ६ । १ । १०८ ॥

'यणः' यण् के स्थान में जो 'इक्' इक् होने वाले हैं, उन की 'सम्प्रसारणम्' सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो । इष्टम् । उप्तम् । गृहीतम् । यहां 'इ, उ, ऋ' ये तीनों वर्ण यण् के स्थान में हुए हैं । इन की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा हो । इन के परे जो अकार था, उस को पूर्वसवर्ण हो गया । यथासङ्ख्य यण् के स्थान में होने वाले इक् की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होती है । जैसे—अदुहितराम् । यहां लङ् के स्थान में इट् प्रत्यय हुआ है । इससे हलुत्तर-सम्प्रसारण को कहा दीर्घ यहां नहीं होता । यथासङ्ख्य से य के स्थान में होने वाले इकार की सम्प्रसारण-सञ्ज्ञा होगी ॥ ४४ ॥

अथ परिभाषाः ॥

आद्यन्तौ टकितौ[1] ॥ ४५ ॥

आद्यन्तौ । १ । २ । टकितौ । १ । २ । आदिश्च अन्तश्च तौ [= आद्यन्तौ ।] टश्च कश्च = टकौ । टकावितौ ययोस्तौ आगमौ [= टकितौ ।] टित्-आगमः परस्यादौ, कित्-आगमः पूर्वस्यान्ते भवति । लविता । भीषयते । अत्रार्धधातुकस्य इट्-आगमस्तस्य [लू-धातोः] आदौ, भी-धातोः षुक्-आगमस्तस्यान्ते भवति ॥ ४५ ॥

'टकितौ आद्यन्तौ' टित्-आगम जिस को विधान हो, उस के आदि में, और कित्-आगम जिस को विधान हो, उस के अन्त में होता है । 'लविता' यहां इट्-आगम आर्धधातुक को विधान है, सो उस के आदि में होता है । 'भीषयते' यहां भी धातु को षुक्-आगम विधान है, सो उस के अन्त में होता है ॥ ४५ ॥

मिदचोऽन्त्यात् परः[2] ॥ ४६ ॥

मित् । १ । १ । अचः । ६ । १ । अन्त्यात् । ५ । १ । परः । १ । १ । 'अचः' इति निर्धारणे षष्ठी । जातावेकवचनम् । अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, तस्मात् परो मित्-आगमो भवति । कुण्डानि । वनानि । पयांसि । यशांसि । अत्र नुमागमोऽन्त्यादचः परो भवति ॥

भा०—*अन्त्यात् पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्*[3] ॥

अनुषङ्गलोपार्थं तावत्—मग्नः । मग्नवान् ।

संयोगादिलोपार्थम्—मङ्क्ता, मङ्क्तुम् ॥[4]

---

१. स०—सू० ५२ ॥

२. स०—सू० ५३ ॥

३. वार्त्तिकमिदम् ॥

४. अत्र जिनेन्द्रबुद्धिकृतौ काशिकाविवरणपञ्जिकायाम्—"नकारस्योपधायाः 'अनुषङ्गः' इति पूर्वाचार्यैः सञ्ज्ञा कृता ।" इति ॥

५. कोशेऽत्र—"भा० ७ [भ्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

मस्ज्-धातोः सकारजकारयोर्मध्ये नुम्-आगमो भवति । अन्यथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च[1]॥' इति सकारलोपो न स्यात् । 'मग्नः' इत्यत्रान्त्यादचः परे नुमि कृते सति सकारलोपस्यासिद्धत्वादुपधाऽभावे न-लोपो न प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

'अचः' अचों के बीच में जो 'अन्त्यात्' अन्त्य अच्, उस से 'परः' परे 'मित्' मित् का आगम होता है । कुण्डानि । पयांसि । यहां नुम् का आगम [अन्त्य] अच् से परे होता है । 'अन्त्यात् पूर्वो०।' इस वार्त्तिक से मस्ज् धातु के सकार जकार के बीच में नुम् का आगम होता है । इस के होने से 'मङ्क्ता' यहां संयोग के आदि के सकार का लोप हो जाता है । तथा 'मग्नः' यहां नकार का लोप नुम् के [सकार और जकार के] बीच में होने से हुआ है ॥ ४६ ॥

एच इग्घ्रस्वादेशे[2] ॥ ४७ ॥

एचः । ६ । १ । इक् । १ । १ । ह्रस्वादेशे । ७ । १ । एचो ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इगेव ह्रस्वो भवति, नान्यः । रै—अतिरि । नौ—अतिनु । गो—उपगु । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[3]॥' इति विधीयमानो ह्रस्व एचः स्थाने इग् भवति ॥

'एचः' इति किम् । अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र आकारस्थाने ह्रस्व इग् न भवति । 'ह्रस्वादेशे' इति किम् । दे३वदत्त । अत्र एचः प्लुतो विधीयते, अत इग् न भवति ॥ ४७ ॥

'एचः' एच् के स्थान में 'ह्रस्वादेशे' जहां ह्रस्व करना हो, वहां 'इक्' इक् ह्रस्व होते हैं । [जैसे—] अतिरि । अतिनु । उपगु । यहां 'ह्रस्वो नपुंसके०[3] ॥' इस सूत्र से ऐ, औ, ओ, इन के स्थान में इ, उ, उ, ये ह्रस्व हुए हैं ॥

इस सूत्र में एच् ग्रहण इसलिये है कि 'अतिखट्वः' यहां एच् के स्थान में ह्रस्व नहीं है, इससे इक् नहीं हुआ । ह्रस्वादेश-ग्रहण इसलिये है कि 'दे३वदत्त' यहां एच् के स्थान में ह्रस्व विधान नहीं है, इससे इक् नहीं हुआ ॥ ४७ ॥

षष्ठी स्थानेयोगा[4] ॥ ४८ ॥

षष्ठी । १ । १ । स्थानेयोगा । १ । १ । अनियतसम्बन्धा षष्ठी स्थानेयोगा भवति ।

भा०—किमिदं स्थानेयोगेति । स्थाने योगोऽस्याः, सेयं स्थाने-

१. ८ । २ । २९ ॥
२. स०—सू० ५४ ॥
३. १ । २ । ४७ ॥
४. स०—सू० ५५ ॥
वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—"षष्ठी स्थानेयोगा ॥" (१ । १३६)

योगा । सप्तम्यलोपो निपातनात् । तृतीयाया वा एत्वम् । स्थानेन योगोऽस्याः, सेयं स्थानेयोगेति ॥[1]

एत्वमपि निपातनादेव । योगनियमार्थां परिभाषेयम् । सूत्रेषु या षष्ठी, सा स्थानेयोगैव भवति । स्थान-शब्दः प्रसङ्गवाची । 'ब्रुवो वचिः[2] ॥' इति ब्रूप्रसङ्गे वचिर्भवति । बहवो हि षष्ठ्यर्थाः—समीप-समूह-विकार-अवयवाद्याः, तत्र यावन्तः शब्दे सम्भवन्ति, तेषु सर्वेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते, षष्ठी स्थानेयोगेति ॥४८॥[3]

'षष्ठी' जिस का सम्बन्ध नियत नहीं, ऐसी सूत्रों में जो षष्ठी विभक्ति आती है, उस का 'स्थानेयोगा' स्थान में, वा स्थान के साथ योग हो । 'ब्रुवो वचिः[2] ॥' यहां ब्रू धातु में जो षष्ठी है, उस का स्थान के साथ योग होता है, कि ब्रू के स्थान में वचि-आदेश हो । उस से 'वक्ता' इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥

षष्ठी के बहुत से अर्थ हैं । उन में से जितने शब्दों में सम्भव होते हैं, उन सब की प्राप्ति में इस परिभाषा सूत्र से नियम किया है कि स्थान में ही योग हो ॥ ४८ ॥

स्थानेऽन्तरतमः[4] ॥ ४९ ॥

स्थाने । ७ । १ । अन्तरतमः । १ । १ । स्थाने प्राप्यमाण आदेशोऽन्तरतमः = सदृशतमः भवति । चेता । स्तोता । अत्र स्थानकृतमान्तर्यम् । इकारस्य तालुस्थानस्य एकारः । उकारस्य ओष्ठस्थानस्य ओकारो गुणो भवति ॥

भा०—'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः[5] ॥' इति एकार्थस्यैकार्थः, द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात् ॥

'अकः सवर्णे दीर्घः[6] ॥' इति दण्डाग्रं, क्षुपाग्रं, दधीन्द्रः, मधूष्णः[7] । कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः, तालुस्थानयोस्तालुस्थानः, ओष्ठस्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यात् ॥

अथ 'स्थाने' इत्यनुवर्त्तमाने[8] पुनः स्थान-ग्रहणं किमर्थम् । यत्राऽनेकविधमान्तर्य्यं[9], तत्र स्थानत एवान्तर्य्यं बलीयो यथा स्यात् । किं पुनस्तत् । चेता । स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति,

---

१. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
२. २ । ४ । ५३ ॥
३. कोशेऽत्र पुनः—"आ० ७ [व्या०]" इति ॥
४. स०—सू० ५६ ॥
५. ३ । ४ । १०१ ॥
६. ६ । १ । १०१ ॥
७. पाठान्तरम्—मधूदः ॥
८. पाठान्तरम्—इति वर्त्तमाने ॥
९. पाठान्तरम्—यत्राऽनेकमान्तर्यम् ॥

स्थानेन एकारौकारौ । पुनः स्थानग्रहणादैकारौकारौ भवतः ॥

अथ तम-ग्रहणं किमर्थम् । 'झयो होऽन्यतरस्याम्[१] ॥' इत्यत्र सोष्मणः सोष्माण इति द्वितीयाः प्रसक्ताः, नादवतो नादवन्त इति तृतीयाः प्रसक्ताः । तमर्[२]-ग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च, ते भवन्ति चतुर्थाः । वाग् घसति । त्रिष्टुब् भसति ॥[३]

आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतं, अर्थकृतं, प्रमाणकृतं, गुणकृतं चेति । स्थानकृतम्—'अकः सवर्णे दीर्घः[४] ॥' दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । अत्र द्वयोरकारयोः कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थान आकार एव दीर्घो भवति । एवं तालुस्थानयोरिकारयोस्तालुस्थान ईकारः । इति स्थानकृतमान्तर्यम् ॥

अर्थकृतम्—'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः[५] ॥' अभवम् । भवतम् । भवत—इत्येकवचनद्विवचनबहुवचनस्थानेषु एकद्विबह्वर्थवाचका आदेशा भवन्ति । इत्यर्थकृतमान्तर्यम् ॥

प्रमाणकृतम्—अमुष्मै । अमूभ्याम् । 'अदसोऽसेर्दादु दो मः[६] ॥' अकारस्य ह्रस्वस्य ह्रस्व उकारः, दीर्घस्य आकारस्य दीर्घ ऊकारो भवति । इति प्रमाणकृतमान्तर्यम् ॥

गुणकृतम्—'चजोः कु घिण्ण्यतोः[७] ॥' भागः । रागः । अल्पप्राणस्य जकारस्य अल्पप्राणो गकार आदिश्यते । इति गुणकृतं [आन्तर्यम्] ॥

'स्थाने' इति किमर्थम् । चेता । स्तोता । अकारेऽत्र गुणः प्राप्तः, स स्थानग्रहणान्न भवति । तमप्-ग्रहणं किमर्थम् । वाग् घसति, त्रिष्टुब् भसतीति द्वितीयतृतीयाः प्राप्ताः, तमप्-ग्रहणाच्चतुर्था भवन्ति ॥ ४९ ॥

'स्थाने' स्थान में जो आदेश प्राप्त हैं, वे **अन्तरतमः** स्थानी के तुल्य हों, अर्थात् जैसे स्थानी हों, वैसे ही आदेश भी हों । चेता । **स्तोता** । यहां तालु-स्थान [नीय] इकार के स्थान में तालु स्थान [नीय] एकार गुण होता है, तथा ओष्ठ स्थान [नीय] उकार के स्थान में ओकार गुण होता है ॥

व्याकरणशास्त्र में आन्तर्य अर्थात् पद और वर्णों की तुल्यता चार प्रकार की होती है—स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत । स्थानकृत उसे कहते हैं कि जो तालु आदि स्थान

---

१. ८ । ४ । ६२ ॥
२. पाठान्तरम्—तम-ग्रहणाद् ॥
३. कोशेऽत्र—"आ० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
४. ६ । १ । १०१ ॥
५. ३ । ४ । १०१ ॥
६. ८ । २ । ८० ॥
७. ७ । ३ । ५२ ॥

आदेशी का हो, वही आदेश का भी। जैसे—दण्डाग्रम्। दधीन्द्रः। यहां कण्ठ-स्थान [नीय] दो अकारों के स्थान में कण्ठ-स्थान वाला दीर्घ आकार होता [है], तथा तालु-स्थान [नीय] दो इकारों के स्थान में तालु-स्थान वाला दीर्घ ईकार होता है॥

अर्थकृत उसे कहते हैं कि जो एक पदार्थ के वाची शब्द के स्थान में एक का ही वाची आदेश हो। जैसे—अभवम्। यहां एक वचन के स्थान में एक वचन ही आदेश हुआ है॥

प्रमाणकृत यह होता है कि जो ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व, और दीर्घ के स्थान में दीर्घ-आदेश हो। जैसे—अमुष्मै। अमूभ्याम्। यहां ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार, और दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ ऊकार होता है॥

और गुणकृत आन्तर्य उस को कहते हैं कि जो अल्पप्राण वर्ण के स्थान में अल्पप्राण, और महाप्राण वर्ण के स्थान में महाप्राण आदेश हो। जैसे—रागः। यहां अल्पप्राण जकार के स्थान में अल्पप्राण गुण वाला गकार-आदेश, तथा 'घातः' यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण वाला घकार हो गया॥

इस सूत्र में पीछे के सूत्र से स्थान-शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर स्थान-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि चार प्रकार के आन्तर्य की प्राप्ति में स्थानकृत आन्तर्य सब से बलवान् हो। 'चेता, स्तोता' इन शब्दों में प्रमाणकृत आन्तर्य से अकार गुण पाता है, सो नहीं हुआ, किन्तु स्थानकृत आन्तर्य से एकार ओकार गुण हो जाता है॥

और तम-ग्रहण इसलिये है कि 'वाग्घसति' यहां हकार के स्थान में अकार, गकार पाते हैं, सो न हों, किन्तु घकार हो जाता है॥ ४९॥

उरण् रपरः[1] ॥ ५०॥

उः। ६। १। अण्। १। १। र-परः। १। १। ऋ-वर्णस्य स्थाने अण् प्रसज्यमान एव र-परो भवति। कर्त्ता। किरति। अत्र ऋकारस्थाने 'अर्, इर्' [इति अकार-इकारौ] रेफपरौ भवतः॥

अण्-ग्रहणं किमर्थम्। होतापोतारौ। अत्र ऋकारस्य स्थान आनङ्-आदेशो विधीयते, स रपरो न भवति॥

भा०—स्थान इति वर्त्तते। स्थान-शब्दश्च प्रसङ्गवाची। यद्येवमादेशो विशेषितो भवति। आदेशश्च विशेषितः। कथम्? द्वितीयं स्थान-ग्रहणं [प्रकृतम्][2] अनुवर्त्तते। तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते—उः स्थाने अण् स्थान इति। उः प्रसङ्गेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति॥[3]

१. स०—सू० ५७॥
२. "प्रकृतम्" इति कोशे न दृश्यते॥
३. कोशेऽत्र—"आ० ७ [ग्या०]" इत्युदाहरण-स्थलम्॥

एकं स्थान-ग्रहणं षष्ठीस्थानेयोगः । द्वितीयं स्थानेऽन्तरतमः । इयमप्यनुवर्तते ॥ ५० ॥

'उः' ऋ-वर्ण के स्थान में प्राप्त जो 'अण्' अण् हैं, वे 'र-परः' र-पर अर्थात् उन से परे रेफ हुआ करे, यह इस सूत्र का प्रयोजन है। जैसे—कर्त्ता। यहां कृ धातु को अकार गुण हुआ, और रेफ उस से पर आया॥

इस सूत्र में अण् ग्रहण इसलिये है कि ऋ के स्थान में और कोई आदेश विधान किया हो तो वह रपर न हो। जैसे—होतापोतारौ। यहां ऋकार के स्थान में आनङ् आदेश रपर नहीं हुआ॥ ५०॥

अलोऽन्त्यस्य[1] ॥ ५१ ॥

अलः । ६ । १ । अन्त्यस्य । ६ । १ । स्थाने प्रसक्त्यानुसंहारः क्रियते । स्थाने विधीयमान आदेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने विज्ञेयः । 'त्यदादीनामः[2] ॥' सः । एषः । अकारादेशोऽन्त्यस्य तकारस्य स्थाने भवति ॥ ५१ ॥

स्थान में जो आदेश का विधान किया है, सो जिस को विधान हो, उस के 'अन्त्यस्य' अन्त के 'अलः' वर्ण के स्थान में हो। जैसे—'त्यदादीनामः[2]॥' इस सूत्र में त्यदादि-शब्दों को अकारादेश विधान है, सो अन्त्य तकार के स्थान में हो गया॥ ५१॥

ङिच्च[3] ॥ ५२ ॥

'अनेकाल्शित् सर्वस्य[4] ॥' इत्यस्य पूर्वमपवादः । अनेकालपि ङिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने ज्ञेयः । मातापितरौ । 'आनङृतो द्वन्द्वे[5] ॥' इत्यानङ्-आदेशोऽन्त्यस्य स्थाने भवति ॥

> भा०—तातङन्त्यस्य स्थाने कस्मान्न भवति । एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति, न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति । यदेतं ङितं करोति । इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात्—तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति[6] ॥[7]

तातङि ङित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थम् । अन्त्यादेशार्थं ङित्करणं चेत्, तर्हि एरुप्रकरणे ताति विधीयमाने लोट इकारस्य स्थाने ताति सत्यन्त्यस्य स्थाने भविष्यत्येव । पुनर्ङित्करणं गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थमेव ॥ ५२ ॥

---

१. स०—सू० ५८ ॥
२. ७ । २ । १०२ ॥
३. स०—सू० ५६ ॥
४. १ । १ । ५४ ॥
५. ६ । ३ । २५ ॥
६. द्रष्टव्यम्—७ । १ । ३५ ॥
७. कोष्ठस्थ—"भा० ७ [व्या०]" इत्युद्धरणं स्यात् ॥

इस सूत्र में 'अनेकाल्०[1]' इस सूत्र का प्रथम ही अपवाद किया है। ['अनेकाल्'] अनेकाल् 'भी' भी 'ङित्' ङित्-आदेश हो, तो अन्त्य अल् के स्थान में हो। जैसे—मातापितरौ। यहां आनङ् आदेश अन्त्य अल् के स्थान में हुआ ॥

(प्र०) तातङ् आदेश अन्त्य अल् के स्थान में क्यों नहीं होता। [उ०] तातङ् शब्द में ङित्करण इसलिये है कि ङित् के परे गुण वृद्धि का निषेध हो। और जो अन्त्य [अल्] के स्थान में होने के लिये होता [तो] इस को ङित् नहीं करते क्योंकि 'एरुः[2]' इस सूत्र के प्रकरण में 'तात्' ऐसा करते तो लोट् के इकार के स्थान में होने से अन्त्य को हो जाता। फिर ङित् करण किया है, इससे अन्त्य के स्थान में नहीं होता ॥ ५२ ॥

आदेः परस्य[3] ॥ ५३ ॥

'अलः' इत्यनुवर्त्तते। 'तस्मादित्युत्तरस्य[4]' इत्यस्यापवादः। परस्य कार्यमुच्यमानं तस्यादेरलः स्थाने बोध्यम्। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्[5]' [इति] द्वीपम्, अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम्। अत्र द्वि, अन्तर्, उपसर्ग, एतेभ्यः परस्याप-शब्दस्य ईत्वं विधीयते। तच्चादेरकारस्य भवतीति ॥ ५३ ॥

यह सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य' ॥ इस का अपवाद अर्थात् इस की प्राप्ति में इस का आरम्भ है। 'परस्य' किसी से पर शब्द को जो कार्य कहा हो, वह पर के 'आदेः' आदि के वर्ण को हो। जैसे— द्वीपम्। अन्तरीपम्। यहां द्वि और अन्तर्-शब्द से परे अप शब्द को ईकारादेश कहा है, सो उस के आदि अकार को होता है ॥ ५३ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य[6] ॥ ५४ ॥

'अलोऽन्त्यस्य[7]' इत्यस्यापवादः। [अनेकाल्शित्। १।१।] अनेकाल् च शित्, अनयोः समाहारः। अनेकाल्शिच्च य आदेशः, स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति। अनेकाल्—ब्रुवो वचिः सर्वस्य स्थाने भवति। शित्—'इदम इश्[8]' [इति] इश। इदं-शब्दस्य इशादेशः शित्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छित्सर्वस्येत्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्येषा[9] परिभाषा—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवति'[10] इति ॥

---

१. १ । १ । ५४ ॥
२. ३ । ४ । ८६ ॥
३. स०—सू० ६० ॥
दृश्यतां वाजसनेयिनां प्रातिशाख्ये—"तस्मादित्युत्तरस्यादेः ॥" (१ । १३५)
४. १ । १ । ६६ ॥
५. ६ । ३ । ९७ ॥
६. स०—सू० ६१ ॥
७. १ । १ । ५२ ॥
८. ५ । ३ । ३ ॥
९. पाठान्तरम्—अस्यैषा ॥
१०. दृश्यतां पा०—सू० ५ ॥
प०—सू० ६ ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । तत्राऽसरूपसर्वादेशदाप्प्रतिषेधेषु पृथग् निर्देशोऽनकारान्तत्वादित्युक्तम्, तन्न वक्तव्यं भवति ॥'

अत्राऽनुबन्धकृतं 'अष्टाभ्य औश्[2] ॥' इति शित्त्वादनेकाल्त्वं न भवति । अन्यथा 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इत्येव सिद्धे शिद्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । एव सतीयं परिभाषा निःसृता ॥ ५४ ॥

[इति परिभाषाः]

यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य[3] ॥' इस सूत्र का अपवाद है । 'अनेकाल्' अनेक वर्ण का आदेश और शित्, अर्थात् शकार जिस का इत्-सञ्ज्ञक हुआ हो ये दोनों आदेश [समस्त] वर्ण समुदाय [=शब्द] के स्थान में हों । अनेकाल्—जैसे भू धातु को वचि आदेश होता है । तथा शित्—इश् । यहां इदम्-शब्द को इश्-आदेश हुआ है, सो शित् के होने से सब के स्थान में हो गया ॥

इस सूत्र में शित्-ग्रहण के ज्ञापक से 'नानुबन्धकृतम० ॥' यह परिभाषा निकली है । इस का अर्थ यह है कि जिन शब्दों के अन्त में इत् सञ्ज्ञा के लिये हल् अक्षर पढ़ा जाता है, इससे उस शब्द को अनेक वर्ण वाला नहीं मान सकते, क्योंकि शकार के होने से एक वर्ण का आदेश अनेकाल् हो जाता फिर 'अनेकाल् सर्वस्य ॥' इतना ही सूत्र बनाते । इससे सिद्ध हुआ कि अनुबन्ध के होने से अनेकाल् नहीं होता ॥ ५४ ॥

[यह परिभाषाप्रकरण पूरा हुआ]

[अथातिदेशसूत्राणि]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ[4] ॥ ५५ ॥

स्थानिवत् । [अ० ।] आदेशः । १ । १ । अनल्विधौ । ७ । १ । अनलाश्रयविधिषु स्थान्याश्रयेषु कार्येषु कर्त्तव्येष्वादेशः स्थानिवद् भवति । अतिदेशोऽयम् ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । अन्यः स्थानी, अन्य आदेशः । स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात् कारणात् स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोति । तत्र को दोषः । '*आङो यमहनः*[5] ॥' इति[6] आत्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्यात्, वधेर्न स्यात् । इष्यते च,

१. कोष्ठस्थ—"आ० ७ [स्था०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
२. ७ । १ । २१ ॥
३. १ । १ । ५१ ॥
४. स०—सू० ६२ ॥
५. १ । ३ । २८ ॥
६. महाभाष्ये इति-शब्दो न दृश्यते ॥

वधेरपि स्यात्[1] । तच्चान्तरेण यत्नं न सिद्ध्यतीति तस्मात् स्थानिवदनुदेशः । एवमर्थमिदमुच्यते ॥[2]

सर्वमेतत् स्पष्टम् । स्थानिना तुल्यं = स्थानिवत् ॥

सर्वविभक्त्यन्तः समासोऽत्रविज्ञेयः ।

अलः परस्य विधिः = अल्विधिः । अलो विधिः = अल्विधिः । अलि विधिः = अल्विधिः । अला विधिः = अल्विधिः ।

न अल्विधिः = अनल्विधिः, तस्मिन् । आवधिषीष्ट । अत्र हन्-धातोर्वधादेशस्य स्थानिवद्भावादात्मनेपदं भवति ।

भा०—वत्करणं किमर्थम् । 'स्थान्यादेशोऽनल्विधौ' इतीयत्युच्यमाने सञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र स्थानी आदेशस्य सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः । 'आङो यमहनः[3]॥' आत्मनेपदं भवतीति वधेरेव स्यात्, हन्तेर्न स्यात् । वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । स्थानिकार्यमादेशोऽतिदिश्यते ॥[4]

अथादेश-ग्रहणं किमर्थम् । आदेशमात्रं स्थानिवद् यथा स्यात् ।

तेनैकदेशोऽपि भवति । भवतु । पचतु । अत्र इकारस्य उकार-आदेशः स्थानिवद् भवति । तेन तिङ्-ग्रहणेन ग्रहणं भवतीति ॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम् ।

अलः परस्य विधौ स्थानिवन्न भवति । द्यौः । अत्र वकारस्थान औकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०[5]॥' इति सु-लोपः प्रसज्येत । अलो वर्णसम्बन्धिनि विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति । द्युकामः । अत्र दिव्-शब्दस्य वकारस्थान उकार-आदेशो यदि स्थानिवत् स्यात्, तर्हि वकार-लोपः प्राप्नुयात् । 'अनल्विधौ' इति प्रतिषेधात् स्थानिवद्भावोऽत्र न भवति ॥

भा०—स्थानी हि नाम—भूत्वा यो[6] न भवति । आदेशो हि नाम—योऽभूत्वा भवति । एतच्च नित्येषु शब्देषु नोप-

---

१. पाठान्तरम्—स्यादिति ॥
२. कोशेऽत्र—"भा० ८ [भा०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
३. १ । ३ । २८ ॥
४. अ० १ । पा० १ । भा० ८ ॥
५. ६ । १ । ६८ ॥
६. पाठान्तरम्—यो भूत्वा ॥

पद्यते—यत् सतो नाम विनाशः स्यात्, असतो वा प्रादुर्भाव इति ॥

कार्यविपरिणामाद् वा सिद्धम्[1] ॥

किमिदं 'कार्यविपरिणामाद्' इति। कार्या बुद्धिः, सा विपरिणम्यते। तद्यथा कश्चित् कस्मैचिदुपदिशति—प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह—ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णाः, ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या आम्रांश्चापकृष्यमाणान् न्यग्रोधांश्चाधीयमानान्[2]। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्राः, नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते। एवमिहाप्यस्तिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सः '*अस्तेर्भूः*[3] ॥' इत्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या अस्तिं चापकृष्यमाणं, भवतिं चोपादीयमानम्[4]। नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिः, नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते ॥[5]

आदेशविधायकेषु सूत्रेषु सत्स्वपि शब्दनित्यत्व इदं समाधानम् ॥ ५५ ॥

एक के तुल्य दूसरे को जो कहना है, उस को अतिदेश कहते हैं, सो यह अतिदेशविधायक सूत्र है। (प्र०) इस सूत्र का उपदेश क्यों किया है। (उ०) स्थानी और आदेश के पृथक् २ होने से स्थानी का कार्य आदेश में नहीं पाता है। इस के नहीं पाने से दोष यह आता है कि हन् धातु को आत्मनेपद विधान किया है, तो हन् के स्थान में जो वध्-आदेश होता है, उस को आत्मनेपद नहीं पाता। इष्ट है कि उस को भी हो, कि हन्-स्थानी को जो कार्य होता है, वह वध्-आदेश को भी हो जाय। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

स्थानी के आश्रित कार्यों के करने में 'आदेशः' आदेश 'स्थानिवत्' स्थानी के तुल्य माना जाय, अर्थात् स्थानी को जो कार्य होते हैं, वे आदेश को भी हों। परन्तु 'अनल्विधौ' अल्विधि अर्थात् प्रत्याहार और एक वर्ण के आश्रय जो विधि हों, उन में उक्त स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—आवधिषीष्ट। यहां हन् धातु के स्थान में जो वध्-आदेश हुआ है, [सो] हन् धातु का कार्य आत्मनेपद वध् को भी हो गया। इसी प्रकार प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात आदि के आदेशों का भी उन के ग्रहण से ग्रहण होता है ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥

२. पाठान्तरम्—*चोपधीयमानान् ॥

३. २ । ४ । ५२ ॥

४. पाठान्तरम्—चोपधीयमानम् ॥

५. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥

इस सूत्र में वत्-शब्द इसलिये पढ़ा है कि यह सञ्ज्ञाधिकार है। तो आदेश की स्थानी-सञ्ज्ञा हो जाती, फिर स्थानी का कार्य आदेश को ही हुआ करता, स्थानी को न होता, क्योंकि जिस की सञ्ज्ञा करते हैं, उसी से काम लिया जाता है, और सञ्ज्ञा से कुछ भी काम नहीं निकलता। इसलिये वत्-शब्द का ग्रहण किया है ॥

आदेश-ग्रहण इसलिये है कि आदेशमात्र स्थानिवत् हो जाय, अर्थात् अवयव के स्थान में जो आदेश हो, वह भी स्थानिवत् हो जाय। जैसे—भवतु। यहां इकार के स्थान में उकार हुआ है, वह भी स्थानिवत् हो जाय। और अनल्विधि-ग्रहण इसलिये है कि अल्विधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

अल्विधि-शब्द में कई प्रकार का समास होता है, अर्थात् अल् से परे जो विधि, अल् की जो विधि, अल् में जो विधि, और अल् करके जो विधि करना हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—द्यौः। यहां दिव्-शब्द के वकार को औकार-आदेश होता है। उस वकार से परे विभक्ति का लोप पाता है, सो नहीं हुआ ॥

स्थानी उस को कहते हैं कि प्रथम वर्त्तमान होके फिर न रहे। और आदेश उसे कहते हैं कि जो पहिले न हो, और पीछे प्रकट हो जाय। [प्र०] सो यह बात नित्य शब्दों के मानने में नहीं बन सकती कि जो वर्त्तमान है उस का तो विनाश हो, और जो नहीं है, उस की उत्पत्ति हो। (उ०) इस विषय में समझ का भेद है। इस से शब्द अनित्य नहीं हो सकते, केवल बुद्धि का फेर है। जैसे कोई किसी से कहता है कि ग्राम से पूर्व दिशा में आम के वृक्ष हैं। उस की सर्वत्र पूर्व दिशा में जितने वृक्ष हैं, उन में आम्र-बुद्धि हुई। उस के पीछे कहा कि जो दूध वाले और मोटे २ पत्तों वाले वृक्ष हैं, वह गूलरि के हैं। उस ने वहां आम्र-बुद्धि को छोड़के गूलरि की बुद्धि कर ली। यह मनुष्य अपनी बुद्धि से दोनों प्रकार के वृक्षों को देखता है, अर्थात् जैसा उपदेश सुनता समझता है, वैसे ही बुद्धि जिसकी जाती है। नित्य अपने विषय में आम और नित्य गूलरि के वृक्ष हैं। केवल आम्र से गूलरि-बुद्धि हो जाती है, यह बुद्धि का ही फेर है। इसी प्रकार अस्ति धातु का उपदेश मनुष्यों के लिये सामान्य से किया, तो सर्वत्र अस्ति-बुद्धि हो गई। फिर 'अस्तेर्भूः ॥' इस विशेष सूत्र से उपदेश किया कि आर्द्धधातुक विषय में अस् धातु के प्रसङ्ग में 'भवति' हो जाता है, इससे आर्द्धधातुक विषय में अस्ति-बुद्धि बदल के भवति बुद्धि हो गई। नित्य ही तो अपने विषय में 'अस्ति' और नित्य 'भवति' हैं। केवल मनुष्यों की बुद्धि बदलती रहती है। इससे शब्द अनित्य नहीं है। आदेशविधायक सूत्रों के करने में भी शब्द नित्य ही मानने चाहिये। इसलिये ये पूर्वोक्त सब समाधान हैं ॥ ५५ ॥

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥ ५६ ॥

अचः। ६। १॥ ५। १। परस्मिन्। ७। १। पूर्वविधौ। ७। १।
योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति परनिमित्तकोऽजादेशः स्थानिवद् भवति।
'अचः' इति पञ्चमी षष्ठी वा। 'परस्मिन्' इति निमित्तसप्तमी। 'पूर्वविधौ' इति

१, २। ४। ५२॥ २, सू०—सू० ६३॥

विषयसप्तमी। पूर्वेण सूत्रेणाल्विधौ स्थानिवद्भावः प्रतिषिद्धः, तत्रैवानेन विधीयते॥

पटयति। लघयति। अवधीत्। बहुखट्वकः। 'पटयति, लघयति' इति पटु-लघु-शब्दाभ्यां 'आचष्टे' इत्यस्मिन्नर्थे णिचि कृते, तत्र टि-लोपे कृते 'अत उपधायाः[१]॥' इति वृद्धिः प्राप्नोति। टि-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति। 'अवधीत्' इति अत्र हन्-धातोर्वध-आदेशस्य अकारलोपे कृते 'अतो हलादेर्लघोः[२]॥' इति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति। अ-लोपस्य स्थानिवद्भावान्न भवति। बहुखट्वक इति अत्र बह्व्यः खट्वा यस्येति बहुव्रीहौ कपि कृते 'आपोऽन्यतरस्याम्[३]॥' इति खट्वा-शब्दस्य ह्रस्वे कृते 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्[४]॥' इत्येष स्वरः प्राप्नोति। ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न भवति॥

'अचः' इति किमर्थम्। आगत्य। अभिगत्य। अनुनासिकलोपः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[५]॥' इति[६] तुग् न प्राप्नोति। 'अचः' इति वचनाद् भवति॥

अथ 'परस्मिन्' इति किमर्थम्। आदीध्ये। इकारस्यैकारो न परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद् 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः[७]॥' इति ईकार-लोपः प्राप्नोति। 'परस्मिन्' इति वचनान्न भवति॥

अथ 'पूर्वविधौ' इति किमर्थम्। नैधेयः। आकारलोपः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद् द्व्यज्लक्षणो ढग् न प्राप्नोति। 'पूर्वविधौ' इति वचनाद् भवति॥

अथ विधि-ग्रहणं किमर्थम्। विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात्॥

नियमार्थमेतत् स्यात्। स्वाश्रयमपि कार्यं न भवेत्॥

---

१. ७ । २ । ११६ ॥
२. ७ । २ । ७ ॥
३. ७ । ४ । १५ ॥
४. ६ । २ । १७४ ॥
५. ६ । १ । ७१ ॥
६. पाठान्तरम्—'ह्रस्वस्य० ॥' इति ॥
७. ७ । ४ । ५३ ॥

भा०—'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे'[1] ॥' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य [पर-]यणादेशस्यान्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति । अवश्यं चैषा परिभाषा आश्रयितव्या स्वरार्थम् । 'कर्त्र्यो, हर्त्र्यो' इति 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्[2] ॥' इत्येष स्वरो यथा स्यात् ॥

साचाप्येषा लोकतः सिद्धा । कथम् । प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते । तद्यथा—पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदां, ततः सम्बन्धिनाम् ॥[3]

'असिद्धं बहिरङ्ग०' ॥' इतीयं परिभाषा 'पट्व्या' इत्यत्र घटते । तद्यथा—'पटु+ई+आ' इत्यवस्थायां परत्वादीकारस्य यणादेशः, तस्यानयाऽसिद्धत्वादुकारस्य यणादेशो भवतीति । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

पूर्व सूत्र से जो अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है, उसी विषय में इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान है । जिस अच् के स्थान में आदेश होने वाला हो, उस 'अचः' अच् से 'पूर्वविधौ' पूर्व की विधि करने में 'परस्मिन्' पर को मानके अच् के स्थान में जो 'आदेशः' आदेश है, वह स्थानिवत् हो जाय । उदाहरण—पटयति । यहां पटु शब्द से णिच्-प्रत्यय के परे उस के उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से 'पटयति' [में] पकार [के अकार] को वृद्धि पाती है, सो न हुई ॥

इस सूत्र में अच्-ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है, सो स्थानिवत् न हो । जैसे—आगत्य । यहां मकार का लोप हुआ है । वह जो स्थानिवत् होता, तो तुक् का आगम [जो] तकार के पूर्व होता है, सो नहीं पाता ॥

परस्मिन्-ग्रहण इसलिये है कि जो परनिमित्त अच् को आदेश न हो, वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—आदीध्ये । यहां अन्त के इकार को एकारादेश परनिमित्त नहीं है । उस के स्थानिवत् होने से दीधी के ईकार का लोप पाता है, सो नहीं हुआ ॥

पूर्वविधि-ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे—नैधेयः । यहां निधि-शब्द में आकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से निधि-शब्द से ढक्-प्रत्यय नहीं प्राप्त होता, इसलिये वह स्थानिवत् न हो । और विधि-ग्रहण इसलिये है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय ॥

'असिद्धं बहि० ॥' इस परिभाषा से प्रयोजन यह है कि समीप का कार्य प्रथम होता है, और दूर का पीछे, और जो किसी प्रकार से दूर का कार्य हो भी जाय, तो वह सिद्ध नहीं माना

१. पा०—सू० ४४ ॥ च०—सू० ५० ॥
२. ६ । १ । १७४ ॥
३. कोशेऽत्र—"भा० ८ [क्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

आना। जैसे—पट्व्या। इस उदाहरण में 'पटु+ई+आ' इस अवस्था में परत्व से ईकार को पहिले यणादेश हो गया, फिर उस को असिद्ध मानके पूर्व उकार को भी यणादेश हो गया ॥५६॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥ ५७ ॥

'न' इति पृथगव्ययपदम्। अन्यत् सर्वं सप्तम्या बहुवचनं, द्वन्द्वगर्भस्तत्पुरुषः समासश्च। पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर् - एषां विधिषु कर्त्तव्येषु परनिमित्तकोऽजादेशो न स्थानिवद् भवति। पदान्तविधौ—कौ स्तः। यौ स्तः। कानि सन्ति। यानि सन्ति। अत्र अस्ति-धातोरकारो लुप्यते। तस्य स्थानिवद्भावादावादेशो यणादेशश्च प्राप्नोति, सोऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

द्विर्वचनविधौ—दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र। यणादेशः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावात् 'अनचि च[2] ॥' इति धकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्तं, तद् भवति ॥

वरे प्रत्यये परेऽजादेशो न स्थानिवत्। 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्[3]।' यङन्तात् 'या प्रापणे[4]' इत्यस्माद् धातोर्वरचि प्रत्यये कृते 'अतो लोपः[5] ॥' इत्यलोपे 'लोपो व्योर्वलि[6] ॥' इति य-लोपे च कृते 'आतो लोप इटि च[7] ॥' इत्याकार-लोपः प्राप्नोति, स न भवति, यकारस्य स्थानिवत्प्रतिषेधात् ॥

य-लोपविधावजादेशो न स्थानिवत्। कण्डूतिः। कण्डूयतेः क्तिन्-प्रत्यये कृते, अ-लोपे च कृते 'लोपो व्योर्वलि[6] ॥' इति य-लोपे कर्त्तव्ये अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

स्वरविधौ स्थानिवद्भावो न भवति। चिकीर्षकः। ण्वुलि कृते अतो लोपः परनिमित्तको लित्-प्रत्ययात् पूर्वमुदात्ते कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति ॥

---

१. स०—पृ० १४।

२. ८।४।४७॥

३. महाभाष्ये काल्पनिकमिदमुदाहरणम्॥
काठकसंहितायां च यायावरविषयं वचनम्—"तस्माद् यायावरः क्षेमयत्येव, तस्माद् यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति।" अपि च तत्रैव श्रूयतेऽप्सु भस्मनवापः—"यदाक्रन्दमनेवाभो देवीः प्रतिगृह्णीत भस्मैतदित्यप्सु भस्म प्रवपति।... परा वा एषोऽग्निं वपति, योऽप्सु भस्म प्रवपति।... क्रूरं वा एष पशुमन्वृध्यते, योऽप्सु भस्म प्रवपति।" (१९।१२)
अत्र मैत्रायणीय-तैत्तिरीयसंहितयोरपि ईदृशानि (क्रमशः ३।२।२॥ ५।२।१) वचनान्यनुसन्धेयानि॥

४. धा०—अदा० ४०॥

५. ६।४।४८॥

६. ६।१।६६॥

७. ६।४।६४॥

सवर्णानुस्वारविध्योः स्थानिवद्भावो न भवति । रुन्धः । रुध्-धातोर्लट्प्रथमपुरुषस्य द्विवचने 'श्नसोरल्लोपः[1]॥' इत्यकारलोपे कृते 'नश्चापदान्तस्य झलि[2]॥' इत्यनुस्वारे कर्त्तव्येऽकारलोपो न स्थानिवद् भवति । तथा 'रुन्धः' इत्यत्रैव नकारस्यानुस्वारे कृते 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[3]॥' इति सवर्णविधौ अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

दीर्घविधावजादेशः स्थानिवन्न भवति । प्रतिदीव्ना । प्रतिदीव्ने । प्रतिदिवन्-शब्दात् तृतीयैकवचने चतुर्थ्येकवचने प्रयोगौ । तत्र भ-सञ्ज्ञत्वाद् 'अल्लोपोऽनः[4]॥' इति परनिमित्तेऽकारलोपे कृते 'हलि च[5]॥' इति दीर्घे कर्त्तव्ये अ-लोपः स्थानिवन्न भवति ॥

जश्विधौ स्थानिवद्भावो न भवति । 'सग्धिश्च मे[6]।' अद्-धातोः क्तिनि प्रत्यये कृते 'बहुलं छन्दसि[7]॥' इति घस्लृ-आदेशे कृते 'घसिभसोर्हलि च[8]॥' इत्युपधालोपः । 'झलो झलि[9]॥' इति सकारलोपः । 'झषस्तथोर्धोऽधः[10]॥' इति धत्वम् । उपधालोपस्य स्थानिवद्भावाद् 'झलां जश् झशि[11]॥' इति जश्त्वं न प्राप्तम् । तदनेन स्थानिवत्प्रतिषेधाद् विधीयते । समानाऽग्धिः = सग्धिः । समानस्य सकारादेशः ॥

चर्विधिं प्रति चाजादेशो न स्थानिवद् भवति । जक्षतुः । जक्षुः । अद्-धातोर्लिटि प्रथमपुरुषे द्विवचन-बहुवचनयोः प्रयोगौ । 'गमहनजनखनघसां०[12]॥' इत्युपधालोपे कृते, तत्रोपधालोपस्य स्थानिवद्भावात् 'खरि च[13]॥' इति घकारस्य चर्त्वं न प्राप्नोति । तदनेन स्थानिवद्भावाभावाद् भवति ॥

---

१. ६।४।१११॥
२. ८।३।२४॥
३. ८।४।५८॥
४. ६।४।१३४॥
५. ८।२।७७॥
६. "सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे।" इति दृश्यते—
वा०—१८।९॥
तै०—४।७।४।१॥
मै०—२।११।४॥
का०—१८।९॥
अन्येषु [illegible] इयमृग्वमन्या सन्धि सर्पीतिमन्धा...॥" (मै० ४।११।८॥ का० १६।११) अत्रत्य मन्त्रव्याख्याने निरुक्तकारः "सग्धिम्" इत्येतत् पदं "सहजग्धिम्" इत्येवं व्याख्याति॥ (नि० ६।४२)
७. कोशे "२।४।३६॥" इत्युद्धरणस्थलम्॥
८. ६।४।१००॥
९. ८।२।२६॥
१०. ८।२।४०॥
११. ८।४।५३॥
१२. ६।४।९८॥
१३. ८।४।५५॥

भा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् । यो ह्यन्य आदेशः, स्थानिवदेवासौ भवति । पञ्चारत्न्यः । दशारत्न्यः । किर्योः । गिर्योः । वाय्वोः ।[1]

अत्र स्थानिवत्त्वात् स्वर-दीर्घ-यलोपा न भवन्ति । 'पञ्चारत्न्यः, दशारत्न्यः' इत्यत्र 'इगन्तकालकपाल०[2]॥' इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति । स यणादेशे कृते स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न प्राप्नोति । स्वरविधौ लोपाजादेशः स्थानिवन्न भवतीति स्थानिवद्भावात् प्रकृतिस्वरो भविष्यति । 'किर्योः, गिर्योः' इत्यत्र ओसि यणादेशे कृते 'हलि च[3]॥' इति दीर्घत्वं प्राप्नोति । दीर्घविधौ लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावात् दीर्घत्वं न भविष्यति । 'वाय्वोः' इत्यत्र यणादेशे कृते 'लोपो व्योर्वलि[4]॥' इति यकारलोपः प्राप्नोति । य-लोपविधावपि लोपाजादेशो न स्थानिवदिति स्थानिवद्भावाद् य-लोपो न भवति ॥

भा०—*क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसङ्ख्यानम्*[5] ॥

क्वौ— लवमाचष्टे लवयति । लवयतेरप्रत्ययः लौः । स्थानिवद्भावाद् णेरूण् न प्राप्नोति । क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति भवति ॥

लुकि—पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः = पञ्चपटुः । दशपटुः ॥

उपधात्वे—पारिखीयः ॥

चङ्परनिर्ह्रासे—वादितवन्तं प्रयोजितवान् = अवीवदद् वीणां परिवादकेन ॥

कुत्वे—अर्चयतेरर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ॥

पूर्वत्रासिद्धे च[5] ॥

किं प्रयोजनम् । अल्लोप-णिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ॥

द्विर्वचनादीनि प्रयोजनानि च[6] न पठितव्यानि भवन्ति ।

---

१. अ० १ । पा० १ । आ० ८ ॥
२. ६ । २ । २९ ॥
३. ८ । २ । ७७ ॥
४. ६ । १ । ६६ ॥
५. वार्त्तिकमिदम् ॥
६. पाठान्तरम्—द्विर्वचनादीनि च ॥

पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति। किमविशेषेण। नेत्याह।

वरेयलोपस्वरवर्जम्[1]॥[2]

सवि-धातोः क्विपि परे 'णेरनिटि[3]॥' इति णौ लुप्ते तस्य स्थानिवद्भावात् 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च[4]॥' इत्यूठ् न प्राप्नोति। सोऽनेन वार्त्तिकेन स्थानिवद्भावो निषिध्यते॥

'पञ्चपटुः' इत्यत्र क्रीतार्थे ठक्। तस्य 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः०[5]॥' इति लुक्। अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधत इति यणादेशात् पूर्वमेव 'लुक् तद्धितलुकि[6]॥' इति ङीपो लुक्। तत्र ङीप ईकारस्य स्थानिवद्भावाद् यणादेशः प्राप्तः, स न भवति॥

'पारिखीयः' इत्यत्र परिखा-शब्दात् सामान्येऽर्थेऽणि कृते तत्राकारलोपे च कृते, आकारस्य स्थानिवद्भावात् ख-उपधाभावे छः प्रत्ययो न प्राप्नोति। स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद् भवति॥

'अवीवदत्' इति वादि-धातोर्णिचि लुप्ते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः[7]॥' इति णेः स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति। तदनेन प्रतिषेधेन विधीयते॥

'अर्कः' इत्यत्र अर्चि-धातोर्णिलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् 'चजोः कु घिण्ण्यतोः[8]॥' इति कुत्वं न प्राप्नोति। तदत्र स्थानिवद्भावात् कुत्वं भवति॥

'पूर्वत्रासिद्धे च' इति चकारेण 'उपसङ्ख्यानम्' [इति] अनुवर्त्तते। 'पापकिः' इत्यत्राभ्यासस्य स्थानिवत्त्वात् कुत्वं न प्राप्तं, तद् भवति। 'यायष्टिः' इति यज्-धातोर्जकारस्य षत्वे कर्त्तव्ये अभ्यासो न स्थानिवद् भवति॥ ५७॥

पूर्व सूत्र से जो स्थानिवद्भाव का विधान किया है, उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है। 'पदान्त॰ विधिषु' पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर्, इन 'पूर्वविधौ' विधियों के करने में 'परस्मिन्' पर को निमित्त मानके 'अचः' अच् के स्थान में जो आदेश, आदेश हुआ है, वह 'स्थानिवत्' स्थानिवत् [न] न हो॥

पदान्तविधि—कौ स्तः। कानि सन्ति। यहां अस् धातु के अकार का लोप पर को

---

1. वार्त्तिकमिदम्॥
2. कोष्ठक—"आ॰ ९ [श्या॰]" इत्युदाहरणस्थलम्॥
3. ६।४।५१॥
4. ६।४।१९॥
5. ५।१।२८॥
6. १।२।४९॥
7. ७।४।१॥
8. ७।३।५२॥

मानके हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से पदान्त जो 'कौ' का औकार, उस को आव् और 'नि' के इकार को यण्-आदेश पाता है, सो पदान्तविधि में स्थानिवत् के निषेध होने से नहीं हुआ ॥

द्विर्वचनविधि—दध्यत्र । मध्वत्र । यहां इकार [और उकार] को यण् आदेश पर को मानके हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन नहीं पाता, इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

वरेविधि—अर्थात् वरच्-प्रत्यय के परे जो लोप हुआ हो, वहां स्थानिवत् न हो । यायावरः। यहां अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से आकार का लोप पाता है, सो न हो, इसलिये वरच्-प्रत्यय के परे स्थानिवत् होने का निषेध है ॥

य-लोपविधि—ब्राह्मणकण्डूतिः । यहां अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं पाता, इससे य-लोपविधि में स्थानिवत् न हो ॥

स्वरविधि—चिकीर्षकः । यहां ण्वुल्-प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से लित्-प्रत्यय से पूर्व 'की' में उदात्त स्वर विधान है, सो नहीं हो सकता । इससे स्वरविधि में स्थानिवद्भाव न हो ॥

सवर्णविधि—शिन्धः । यहां श्नम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से अनुस्वार को धकार के परे परसवर्ण अर्थात् नकारादेश नहीं हो सकता, इसलिये सवर्णविधि में स्थानिवत् का निषेध है ॥

अनुस्वार[विधि]—शिंषन्ति । यहां श्नम्-प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं पाता, इसलिये अनुस्वारविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है ॥

दीर्घविधि—प्रतिदीव्ना । प्रतिदीव्ने । यहां प्रतिदिवन्-शब्द से तृतीया और चतुर्थी विभक्ति के एक वचन में प्रतिदिवन्-शब्द के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'दि' के इकार को दीर्घ नहीं पाता, इसलिये दीर्घविधि में स्थानिवत् न हो ॥

जश्विधि—सग्धिः । यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से सकार को धकारादेश नहीं पाता । सो जश्विधि में स्थानिवत् के नहीं होने से हो गया ॥

चर्विधि—जक्षतुः । यहां अद् धातु के अकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से घकार को ककारादेश नहीं पाता, इसलिये चर्विधि में स्थानिवत् होने का निषेध किया है ॥

'प्रतिषेधे०॥' इस वार्त्तिक से स्वर, दीर्घ और य-लोप, इन तीन विधियों में नियम है कि इन तीन विधियों के करने में लोपरूप जो अच् के स्थान में आदेश है, सो स्थानिवत् न हो । अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो जाय । [स्वरविधि में] जैसे—पञ्चारत्न्यः । यहां इकार के स्थान में यण्-आदेश हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से 'इगन्तकाल० ॥' इस सूत्र से पूर्वपदप्रकृति स्वर हो जाता है । दीर्घविधि—किर्य्योः । यहां इकार के स्थान में यण् हो गया है । उस के स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं होता । य-लोपविधि—वाय्वोः । यहां उकार के

स्थान में य् हुआ है। उस के स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं होता ॥ १ ॥

'क्विलुगुपधा०।' यह दूसरा वार्त्तिक सूत्र के विषय से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। 'क्वौ लुप्ते न स्थानिवत्।' क्विप्-प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो, तो वहां स्थानिवद्भाव न हो। लौः। यहां क्विप्-प्रत्यय के परे 'णि' का लोप हुआ है, उस के स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊठ्-आदेश होता है। 'लुकि न स्थानिवत्।' लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो। पञ्चपटुः। यहां तद्धित प्रत्यय के लुक् के होने से ङीप्-प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से पटु के उकार को वकार-आदेश नहीं हुआ। 'उपधात्वे न स्थानिवत्।' उपधा के कार्य के करने में स्थानिवद्भाव न हो। पारिखीयः। यहां परिखा-शब्द से यञ्-प्रत्यय के परे उस के आकार का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से पारिख-शब्द से छ-प्रत्यय होता है। 'चङ्परनिर्ह्रासे।' अवीवदत्। यहां णि के परे णि का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को ह्रस्व हो जाता है। 'कुत्वे न स्थानिवत्।' कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो। अर्कः। यहां अर्च् धातु से 'णि' का लोप हुआ है। उस के स्थानिवत् नहीं होने से चकार को ककार-आदेश होता है ॥ [२॥]

'पूर्वत्रासिद्धे च।' इस तीसरे वार्त्तिक से अष्टाध्यायी के अन्त के तीन पादों के कार्य करने में स्थानिवत् न हो। जैसे—यायष्टिः। यहां अकार का लोप हुआ है, सो यज् धातु के जकार को षकार करने में स्थानिवत् न हो। इत्यादि ॥ [३॥] ५७ ॥

द्विर्वचनेऽचि[1] ॥ ५८ ॥

'न' इति निवृत्तम्। द्विर्वचने। ७। १। अचि। ७। १। द्विर्वचननिमित्तेऽजादौ प्रत्यये द्विर्वचनकर्त्तव्येऽजादेशः स्थानिरूपो भवति[2]। 'द्विर्वचने' इति निमित्तसप्तमी ॥

अतिदेशो द्विविधो भवति—कार्यातिदेशः, रूपातिदेशश्च। तत्र कार्यातिदेशे कार्यसिद्ध्यर्थमादेशं स्थानितुल्यं मत्वाऽऽदेशेनैव कार्याणि क्रियन्ते। तेन स्थान्यादेशोभयाश्रयाणि कार्याण्यादेशे भवन्ति। रूपातिदेशे तु स्थानिनो यद् रूपं, तदेव तत्रागच्छति। तेन स्थान्याश्रयाण्येव कार्याणि भवन्ति, नैवादेशाश्रयाणि। अस्मिन् सूत्रे तु रूपातिदेशोऽस्ति। तद्यथा—पपतुः। पा-धातोरतुसि-प्रत्यये 'आतो लोप इटि च[3]॥' इत्याकार-लोपे कृते 'एकाचो द्वे प्रथमस्य[4]॥' इत्यजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति। आकारस्तत्रागच्छतीति द्विर्वचनं भवति। जग्मतुः। गमि-धातोरतुसि परत्वाद् 'गमहन०[5]॥' इत्युपधालोपे कृतेऽजभावाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति। रूपं स्थानिवद् भवतीति द्विर्वचनं भविष्यति ॥

---

१. स०—सू० ६८ ॥
२. परन्तु सि० कौ०—"द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये।" (स्थानिवत्प्रकरणे)
३. ६। ४। ६४ ॥
४. ६। १। १ ॥
५. ६। ४। ९८ ॥

'द्विर्वचने' इति किम् । गोदः । गो-शब्द उपपदे डुदाञ्-धातोः के प्रत्यये 'आतो लोप इटि च'[1] इत्याकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद् अकः सवर्णे दीर्घत्वं प्राप्नोति । तन्न भवति ॥

'अचि' इति किमर्थम् । जेघ्नीयते । देध्मीयते । अत्र यदीकारः स्थानिवत् स्यात्, तर्हि आकारस्य द्विर्वचनं प्रसज्येत । अज्-ग्रहणान्न भवति ॥

भा०—*अज्-ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य*[2] ॥

यदयमज्-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—रूपं स्थानिवद् भवतीति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । अज्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम् । इह मा भूत्—जेघ्नीयते[3] । देध्मीयते । यदि च रूपं स्थानिवद् भवतीति,[4] ततोऽज्-ग्रहणमर्थवद् भवति । अथ हि कार्यं, नार्थोऽज्-ग्रहणेन, भवत्येवात्र द्विर्वचनम् ॥[5]

यद्यत्र कार्यातिदेशोऽस्ति, तर्हि अज्-ग्रहणं व्यर्थं, रूपातिदेशे तु सार्थम् । कथम् । 'जेघ्नीयते, देध्मीयते' इत्यत्र कार्यातिदेशे किमपि कर्त्तव्यं नास्तीति यदर्थमज्-ग्रहणं स्यात् । रूपातिदेशे त्वाकारस्य द्विर्वचनं स्यात् । एतदर्थमज्-ग्रहणम् ॥

भा०—एवं तर्हि, 'द्विर्वचननिमित्तेऽच्यजादेशः स्थानिवत्' इति वक्ष्यामि । स तर्हि निमित्त-शब्द उपादेयः । न ह्यन्तरेण निमित्त-शब्दं निमित्तार्थो गम्यते । अन्तरेणाऽपि निमित्त-शब्दं निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा—*दधित्रपुसं*[6] *प्रत्यक्षो ज्वरः* । ज्वरनिमित्तमिति गम्यते । *नड्वलोदकं पादरोगः* । पादरोगनिमित्तमिति गम्यते । *आयुर्घृतम्*[7] । आयुषो निमित्तमिति गम्यते ॥

स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

[इत्यतिदेशाधिकारः]

---

१. ६ । ४ । ६४ ॥

२. वार्त्तिकमिदम् ॥

३. पाठान्तरम्—जेघ्रीयते ॥

४. पाठान्तरम्—भवति ॥

५. कोशेऽत्र—"आ० ८ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ।

६. पाठान्तरम्—०त्रपुसम् ॥

७. मैत्रायणीयसंहितायां काम्येष्टिप्रकरणे (२ । ३ । ५)—हिरण्यादधि घृतं निष्पिबन्ति । अमृतं वै हिरण्यम् । आयुर्घृतम् अमृतादेवैतमध्यायुर्निष्पाययन्ति, त्रिवृद् भवति ।"

एवमेव काठकसंहितायां (११।८) इष्टिभिकायां मारुते निर्वाप एकादशः स्वर्गे—"तेजो वै हिरण्यम् । आयुर्घृतम् तेजस एवाध्यायुरवरुन्धे ।"

तथा च तैत्तिरीयसंहितायामायुष्कामेष्टिविधौ (२ । ३ । ११)—

"आयुर्वै घृतम् । अमृतꣳ हिरण्यम् । अमृतादेवायुर्निष्पिबति, शतमानं भवति ।"

'द्विर्वचने' द्विर्वचन का निमित्त 'अचि' अजादि प्रत्यय परे हो, तो द्विर्वचन करने के लिये 'अचः' अच् के स्थान में जो 'आदेशः' आदेश है, सो 'स्थानिवत्' स्थानी का ही रूप हो जाय ॥

इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान किया है । अतिदेश उस को कहते हैं कि आदेश को स्थानी के तुल्य मानना । सो दो प्रकार का होता है—एक कार्यातिदेश, दूसरा रूपातिदेश । कार्यातिदेश उस को कहते हैं कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मानके स्थानी का काम आदेश से ले लेना । और रूपातिदेश उसे कहते हैं कि आदेश के स्थान में स्थानी स्वयं आ जाय । क्योंकि जहां स्थानीतुल्य मानने से काम नहीं चलता, वहां रूपातिदेश माना जाता है । सो इस सूत्र में रूपातिदेश है । जैसे—पपतुः । यहां अतुस्-प्रत्यय के परे [होने से] पा धातु के आकार का लोप हुआ है । उस के स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन होता है ॥

इस सूत्र में द्विर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गोद्ः' यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विर्वचननिमित्त प्रत्यय नहीं, और द्विर्वचन करना भी नहीं । इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता ॥

और अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'देध्मीयते' यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं, इससे स्थानिवत् नहीं होता । इस सूत्र में अच्-ग्रहण से यह भी जाना जाता है कि यहां रूपातिदेश है, क्योंकि अच्-ग्रहण का यही प्रयोजन है कि हल्-आदि प्रत्यय में न हो । सो 'देध्मीयते' इस प्रयोग के लिये अच्-ग्रहण नहीं करना, क्योंकि कार्यातिदेश से तो कुछ काम करना ही नहीं । फिर अच्-ग्रहण व्यर्थ होके ज्ञापक होता है कि यहां रूपातिदेश है । इसलिये अच्-ग्रहण किया है ॥

'अचि' यहां निमित्तार्थ में सप्तमी है । सो निमित्त-शब्द के विना ही उस का अर्थ जाना जाता है । जैसे—आयुर्घृतम् । यहां निमित्त-शब्द के विना उस का अर्थ स्पष्ट मालूम होता है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

[यह अतिदेशाधिकार पूरा हुआ]

[अथ लोप-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अदर्शनं लोपः[1] ॥ ५९ ॥

अस्मिन् सूत्रे मण्डूकप्लुतगत्या 'न वेति विभाषा[2] ॥' इत्यस्मात् सूत्राद् इति-शब्दानुवर्त्तनादर्थस्य सञ्ज्ञा भवति । [अदर्शनम् । १ । १ । लोपः । १ । १ ।] इन्द्रियैर्ग्राह्यं भूत्वाऽग्राह्यम् अदर्शनम् । यन्नास्ति, तस्याऽदर्शन-सञ्ज्ञा न भवति, किन्तु यद् भूत्वा न भवति, तद् अदर्शनम् । विद्यमानस्याऽदर्शनं लोप-सञ्ज्ञं

१. वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि—"वर्णस्यादर्शनं लोपः ॥" (१ । १४१)

२. १ । १ । ४३ ॥

भवति । भगवान् । धनवान् । अत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' ॥[1] इति तकारस्यादर्शनम् ॥ ५९ ॥

'अदर्शनम्' किसी विद्यमान वस्तु का जो अदर्शन है, सो 'लोपः' लोप-सञ्ज्ञक हो । जैसे—धनवान् । इस शब्द के अन्त में तकार का लोप अर्थात् अदर्शन हुआ है ॥

मण्डूकप्लुतगति, अर्थात् मेंडुक जैसे कूद कर दूर जा पड़ते हैं और बीच में जगह छूट जाती है, इस प्रकार सूत्रों में अनुवृत्ति भी होती है, कि एक सूत्र की अनुवृत्ति दूर जाती है, और बीच में सूत्र छूट भी जाते हैं । सो इस सूत्र में 'न वेति विभाषा' ॥[2] इस सूत्र से इति-शब्द की अनुवृत्ति से अर्थ की [लोप-]सञ्ज्ञा होती है । अदर्शन उस को कहते हैं कि जो किसी का वर्तमान होके किसी प्रकार का अभाव हो । उस को अदर्शन नहीं कह सकते कि जो सदा अभाव ही हो ॥ ५९ ॥

[अथ लुक्-श्लु-लुप्-सञ्ज्ञासूत्रम्]

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥ [६० ॥]

प्रत्ययस्य । ६ । १ । लुक्-श्लु-लुपः । १ । ३ । द्वन्द्वसमासः । अत्राप्यर्थस्यैव सञ्ज्ञास्ति । भाविनः प्रत्ययादर्शनस्य 'लुक्, श्लु, लुप्' इति प्रत्येकमेताः सञ्ज्ञा भवन्ति । विशाखः । अत्र जातार्थे तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययस्य टापो लुग् भवति । जुहोति । अत्र 'श्लौ' ॥[3] इति द्विर्वचनम् । पञ्चालाः[4] । अत्र निवासार्थे प्रत्ययस्य लुप् ॥

---

१. ८ । २ । २३ ॥

२. १ । १ । ४४ ॥

३. ६ । १ । १० ॥

४. पञ्चालानामैतिह्यं यत्र क्वचित् संहिताब्राह्मणादौपलभ्यमानमत्र पाठकानां कल्पनार्थमुद्ध्रियते । यथा—"स होवाच श्वनीकमस्य प्रजा भविष्यतीति, ततः पञ्चालास्तेषामभवन् ।" (का० १० । २)

"अथो बभ्रुम ना नेष्यन्ति, ततस्त्वामभिलक्ष्यास्यन्तीति ते मीमांसित्वेतो नो मनं नास्तीति दक्षिणाः प्रत्यञ्चं निन्युः । ततः कुन्तयः पञ्चालानभीत्य जिनन्ति ।" (का० २६ । ९)

"क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते, तदेतद् गाथयाभिगीतम् अश्वं मेध्यमालभत । क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः परिच(पाठान्तरम्—च)क्रया सहस्रशतदक्षिणमिति ।" (श० ब्रा० १३ । ५ । ४ । ७)

"तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, राजेत्येतान् अभिषिक्तानाचक्षते ।" (ऐ० ब्रा० ८ । १४)

अन्यत्रापि कुरुभ्यः पञ्चालैस्साहचर्यं लक्ष्यते । अपि च श्रूयते तेषां प्रवाहणो नाम राजा—"श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय । तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत् पितेत्यनु हि भगव इति ।" (छा० उ० ५ । ३ । १ ॥ अपि च बृ० उ० ६ । २ । १)

अथ प्राच्यपञ्चाला ऋक्प्रातिशाख्ये—"प्राच्यपञ्चालपदवृत्तयस्ताः पञ्चालानामोष्ठ्यपूर्वा भवन्ति ।" (२ । १२ ॥ अपि च २ । ४४)

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययैकदेशादर्शनस्यैताः सञ्ज्ञा मा भूवन् ॥ ६० ॥

इस सूत्र में भी अदर्शन शब्द के अर्थ की ही सञ्ज्ञा की है । होने वाले 'प्रत्ययस्य' प्रत्यय के 'अदर्शनम्' अदर्शन की 'लुक् श्लु लुपः' लुक्, श्लु, लुप्, ये तीन सञ्ज्ञा होती हैं । विशाखः । यहां जात अर्थ में प्रत्यय के अदर्शन होने से प्रत्यय का लुक् अर्थात् अदर्शन हुआ है । जुहोति । यहां श्लु के होने से हु धातु को द्विर्वचन होता है । और 'पञ्चालाः' यहां निवास अर्थ में प्रत्यय का लुप् हुआ है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये [है] कि प्रत्यय के अवयव का जो अदर्शन है, उस की ये तीनों सञ्ज्ञा न हों ॥ ६० ॥

[अथ प्रत्ययलक्षणातिदेशसूत्रम्]

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्[1] ॥ ६१ ॥

प्रत्ययलोपे । ७ । १ । प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । प्रत्ययलोपे सति प्रत्ययनिमित्तं कार्यं भवतीति । अग्निचित्, सोमसुत् । अत्र लोपस्य बलवत्त्वात् क्विपो लोपे सति क्विब्निमित्ते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[2] ॥' इति तुग् यथा स्यात् ॥

प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । कृत्स्नस्य प्रत्ययस्य लोपे[3] प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्, एकदेशलोपे मा भूत् । आघ्नीत ।

अत्र सीयुटः सकारे लुप्ते यदि प्रत्ययलक्षणं स्यात्, तर्हि 'गमहन०[4] ॥' इत्युपधालोपो न स्यात् ॥

द्वितीयं प्रत्यय-ग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्, वर्णलक्षणं मा भूत् । रायः कुलम् = रैकुलम् ।

अत्रैच्-प्रत्याहाराश्रय आय्-आदेशः प्राप्नोति । प्रत्यय-ग्रहणान्न भवति ॥ ६१ ॥

बौद्धकालेषु [illegible] दक्षिणाश्च पञ्चाला भूविश्रुता[illegible] । [illegible] पुरावृत्त (म० भा० १ । १३८) यद् द्रोणेन द्रुपदमभिजित्योत्तरपञ्चालः स्वायत्तीकृतः । यज्ञ-[illegible] अहिच्छत्र[illegible] "आदिमद्र" [illegible] उत्तरपञ्चालानामहिच्छत्रनाम्नी (चीनयात्रिषु "ओ-हि चि-द-लो") राजधानी चीनदेशयात्रिणा [illegible] विक्रमस्य सप्तम [illegible] परमसमृद्धा [illegible] वर्णिता ॥

दक्षिणानामपि पञ्चालानां राजधानी महाभारतादवगम्यते काम्पिल्यमिति ॥

राजशेखरो बालरामायणे (१० । ८६) —"इमेऽन्तर्वेदीभूषणं पञ्चालाः ।"

१. स०—मू० ६६ ॥

२. ६ । १ । ७१ ॥

३. भाष्ये—कृत्स्नप्रत्ययलोपे ॥

४. ६ । ४ । ९८ ॥

'प्रत्ययलोपे' जहां प्रत्यय का लोप हो जाय वहां 'प्रत्ययलक्षणम्' उस को मानके कोई कार्य पाता हो, तो हो जाय । अग्निचित् । यहां लोप के बलवान् होने से प्रथम क्विप्-प्रत्यय का लोप हो जाता है, पीछे उस को मानके तुक्-आगम होता है ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का जहां लोप हो, वहीं प्रत्यय-निमित्त कार्य हो, और जहां प्रत्यय के अवयव का लोप हो, वहां न हो । जैसे—घ्नत प्रीत । यहां प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है । सो जो प्रत्ययलक्षण हो, तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं पाता ॥

दूसरा प्रत्यय ग्रहण इसलिये है कि प्रत्यय के लोप में वर्णाश्रय कार्य पाता हो, सो न हो । रायः कुलम् = रैकुलम् । यहां प्रत्यय के लोप में एच्-प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय्-आदेश पाता है, सो नहीं हुआ ॥ ६१ ॥

[अथ पूर्वसूत्रनिषेधसूत्रम्]

न लुमताऽङ्गस्य[1] ॥ ६२ ॥

न । [अ० ।] लुमता । ३ । १ । अङ्गस्य । ६ । १ । लुप् विधीयते यस्मिन् तेन लुक्-श्लु-लुप्भिर्यत्र प्रत्ययो लुप्यते, तस्मिन् परे यदङ्गं, तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं, तन्न भवति । पूर्वस्मिन् सूत्रे सामान्यतया प्रत्ययलोपे प्रत्यया-दर्शने प्रत्ययलक्षणं विहितं, तस्मिन् सूत्रे विशेषतयाऽपवादत्वेन प्रतिषिध्यते । गर्गाः । अत्र प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिः प्राप्नोति, सा प्रतिषिध्यते । हतः । अत्र प्रत्ययलक्षणेनाऽनुनासिकलोपो न प्राप्नोति ॥

'लुमता' इति किमर्थम् । धार्यते । अत्र णेर्लोपः ॥ ६२ ॥

'लुमता' लुक् श्लु और लुप्, इन शब्दों से जहां प्रत्यय का अदर्शन हो, वहां उस प्रत्यय के परे जो 'अङ्गस्य' अङ्ग-सञ्ज्ञक शब्द हो, उस को 'प्रत्ययलक्षणम्' प्रत्ययलक्षण कार्य 'न' न हो । पूर्व सूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है, उस का इस सूत्र में विशेष विषय में प्रतिषेध किया है । गर्गाः । यहां यञ्-प्रत्यय को मानके वृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता था, सो नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में 'लुमता' का ग्रहण इसलिये है कि 'धार्यते' यहां णिच्-प्रत्यय का लोप हुआ है, इससे प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

[अथ टि-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अचोऽन्त्यादि टि[2] ॥ ६३ ॥

अचः । ५ । १ । अन्त्यादि । १ । १ । [टि । १ । १ ।] 'अचः'

१. स०—पृ० ७० ॥ २. स०—पृ० ४७ ॥

इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अन्त्यश्च आदिश्च, [–तदादिश्च] अनयोः समाहारः । अचं प्रगृह्य यदन्त्यादि, तत् टि-सञ्ज्ञं भवति । अग्निचित् । [अत्र] 'इत्' टि-सञ्ज्ञो भवति । पचेते । [अत्र] 'आम्' टि-सञ्ज्ञो भवति । तस्मात् 'टित आत्मनेपदानां टेरे'[1]॥' इत्येत्त्वं भवति ॥ ६३ ॥

'अचः' अच् से लेके जो 'अन्त्यादि' अन्त्य और [तद्–] आदि समुदाय है, उस की 'टि' टि-सञ्ज्ञा हो । 'अचः' इस शब्द में ल्यप् के लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है । जैसे —पचेते । यहां टि-सञ्ज्ञा के होने से अन्त में एकारादेश हो गया है ॥ ६३ ॥

[अथोपधा-सञ्ज्ञासूत्रम्]

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा[2] ॥ ६४ ॥

अलः । ५ । १ । अन्त्यात् । ५ । १ । पूर्वः । १ । १ । उपधा । १ । १ । धात्वादिवर्णसमुदायेऽन्त्यादलः पूर्वो यो वर्णः, स उपधा-सञ्ज्ञो भवति । पाठकः । अकारस्य उपधा-सञ्ज्ञत्वाद् वृद्धिः । छेदकः । बोधकः । [अत्र] इकार-उकारयोरुपधा-सञ्ज्ञाकरणाल्लघूपधगुणः ॥

अल्-ग्रहणं किमर्थम् । समुदायात् पूर्वस्य वर्णस्योपधा-सञ्ज्ञा मा भूत् । 'शिष्टाम्' इति शकारस्योपधा-सञ्ज्ञत्वादित्त्वं प्राप्नोति, तन्न भवति ॥ ६४ ॥

धातु आदि के वर्णसमुदाय में 'अन्त्यात्' अन्त्य 'अलः' वर्ण से 'पूर्वः' पूर्व जो वर्ण है, उस की 'उपधा' उपधा-सञ्ज्ञा हो । पाठकः । यहां पठ् धातु के अकार की उपधा-सञ्ज्ञा होने से उस को वृद्धि हुई है ॥

इस सूत्र में अल्-ग्रहण इसलिये है कि वर्णसमुदाय से पूर्व वर्ण की उपधा-सञ्ज्ञा न हो । जैसे—शिष्टाम् । यहां जो शकार की उपधा-सञ्ज्ञा हो, तो उस को इकारादेश पाता है, सो न हुआ ॥ ६४ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य[3] ॥ ६५ ॥

तस्मिन् । ७ । १ । इति । [अ० ।] निर्दिष्टे । ७ । १ । पूर्वस्य । ६ । १ । इति-शब्दोऽर्थनिर्देशार्थः । परिभाषेयम् । सप्तम्यर्थनिर्देशात् यत् पूर्वं, तस्य कार्यं भवतीति व्यवहितपूर्वस्य परस्य च न भवतीति नियमः । दध्यत्र । मध्वत्र । 'इको यणचि[4]॥' इति अव्यवहितस्येकारस्य [उकारस्य च] यण्-आदेशो भवति ॥

---

१. ३ । ४ । ७९ ॥
२. स०—सू० ४८ ॥
३. स०—सू० ७१ ॥
३. वा० भा०—"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥" (१ । २३४)
४. ६ । १ । ७७ ॥

भा०—अथ निर्दिष्ट-ग्रहणं किमर्थम् ।

निर्दिष्ट-ग्रहणमानन्तर्यार्थम्[1] ॥

आनन्तर्यमात्रे कार्यं यथा स्यात्—'इको यणचि[2] ॥' दध्यत्र । मध्वत्र । इह मा भूत्—समिधौ, समिधः । दृषदौ, दृषदः ॥[3]

आनन्तर्यार्थम् = अव्यवधानार्थम् । 'समिधौ, समिधः' इति धकारस्य, 'दृषदौ, दृषदः' इति षकारस्य व्यवधाने यण्-आदेशो मा भूदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

'तस्मिन् इति' सप्तमी विभक्ति से 'निर्दिष्टे' निर्देश किया हुआ जो शब्द पड़ा हो, तो उस से जो 'पूर्वस्य' पूर्व शब्द हो, उसी को कार्य हो, पर और व्यवधान को न हो। दध्यत्र । मध्वत्र । यहां इकार उकार के स्थान में यण् हुआ है ॥

यह परिभाषा सूत्र है । इस सूत्र में इति-शब्द अर्थ के लिये पड़ा है । इस सूत्र में निर्दिष्ट-ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यण्-आदेश न हो । जैसे—समिधः । यहां धकार के व्यवधान में यण्-आदेश न हो ॥ ६५ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

तस्मादित्युत्तरस्य[4] ॥ ६६ ॥

निर्दिष्ट-ग्रहणमनुवर्त्तते [तस्मात् । ५ । १ । इति । अ० । उत्तरस्य । ६ । १ ।] अत्रापि इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः । पञ्चम्यर्थनिर्देशाद् यत् परं, तस्यैव कार्यं [illegible]ते । द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । अत्र 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्[5] ॥' इति [illegible], अन्तर्, उपसर्ग' इत्येतेभ्यः परस्य अप-शब्दस्य ईकारादेशो भवति ॥

निर्दिष्ट-ग्रहणं किम् । व्यवधाने मा भूत् । अन्तर्दधाना आपः । अत्र ईकारादेशो न भवति ॥ ६६ ॥

'तस्माद् इति' पञ्चमी विभक्ति से 'निर्दिष्टे' निर्देश किया जो कार्य है, सो व्यवधान-रहित 'उत्तरस्य' पर को हो । पूर्व सूत्र से यहां निर्दिष्ट-शब्द की अनुवृत्ति आती है । इति-शब्द यहां भी अर्थ जनाने के लिये है । द्वीपम् । यहां द्वि-शब्द से पर अप-शब्द को ईकारादेश होता है ॥

इस सूत्र में निर्देश-ग्रहण इसलिये है कि अत्यन्त समीप को हो । अन्तर्दधाना आपः । यहां अप-शब्द को ईकारादेश न हुआ ॥ ६६ ॥

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. ६ । १ । ७७ ॥
३. कोष्ठगत—"भा० १ [आ०]" इत्युक्तरूपस्थलम् ॥
४. स०—सू० ७२ ॥
५. ६ । ३ । ९७ ॥

[अथ सञ्ज्ञासूत्रम्]

स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसञ्ज्ञा[1] ॥ ६७ ॥

स्वम् । १ । १ । रूपम् । १ । १ । शब्दस्य । ६ । १ । अशब्द-सञ्ज्ञा । १ । १ । इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यं, वाच्यार्थस्य ग्रहणं न भवेत् । अशब्द-सञ्ज्ञा – शब्दसञ्ज्ञां विहाय । अर्थात् वृद्धिप्रदेशेषु वृद्धि-शब्देन कार्यं कदापि न निस्सरति, किन्तु आदैच उपतिष्ठन्ते । यथा—'अग्नेर्ढक्[2] ॥' इत्यग्नि-शब्दादुच्यमानस्तत्पर्यायवाचिनो वह्नि-शब्दान्न भवति ॥

भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । *शब्देनार्था गतेरर्थे[3] कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम्[4] ॥*

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय, दध्यशानेति अर्थ आनीयते, अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासम्भवादिह च व्याकरणेऽर्थे कार्यस्यासम्भवः । 'अग्नेर्ढक् ॥' इति न शक्यतेऽङ्गारेभ्यः परो ढक् कर्तुम् । शब्देनार्थगतेरर्थे कार्यस्यासम्भवात् यावन्तस्तद्वाचिनः शब्दाः, तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च—तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः सञ्ज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥[5]

एतदुक्तौ सूत्रारम्भस्य प्रयोजनं विज्ञेयम् । अथ वार्त्तिकानि—

[वा० १] *मित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम्* ॥

मिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तद्विशेषाणां ग्रहणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । वृक्षाद्यर्थम् । '*विभाषा वृक्षमृग०*[6] ॥' इति । प्लक्षन्यग्रोधं, प्लक्षन्यग्रोधाः ॥

(वा० २) *पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्* ॥

पिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, पर्यायवचनस्य च तद्-

---

१. स०—सू० ७३ ॥

२. ४ । २ । ३३ ॥

३. पाठान्तरम्—शब्देनार्थगते० ॥

४. वार्त्तिकमिदम् ॥

५. कोष्ठ—"वा० १ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥

६. २ । ४ । १२ ॥

विशेषाणां च ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति । किं प्रयोजनम् । स्वाद्यर्थम् । 'स्वे पुषः'[1]' स्वपोषं पुष्यति । रैपोषम् । धनपोषम् । गोपोषम् । अश्वपोषम्[2] ॥

(वा० २) *जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम्* ॥

जिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । '*सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा*[3]' इनसभम् । ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति—राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति—पुष्यमित्रसभा[4] ।

---

१. ३ । ४ । ४० ॥ २. पाठान्तरम्—अश्वपोषम् । गोपोषम् ॥

३. २ । ४ । २३ ॥

४. पाठान्तरम्— पुष्यमित्र० । देवनागरलिपौ "ष्य" इति "ष्प" इत्यनेन समानाकृतिर्लिख्यते । अतो भ्रमो भवति कोऽयं शब्द इति । तन्निवारणाय ब्राह्मीलिप्यक्षरं पुष्यमित्रस्य शिलालेखप्रतिलिपिमुदाहरामः । न हि तत्र "ष्य" इति "ष्प" इत्यनेन सन्दिह्यते—

(पं० १)

(पं० २)

[अयोध्यानगरे रानोपाली(= राज्ञः पत्नी)नाम्न्याश्रमे देवालयदेहल्यामुत्कीर्णोऽयं लेखः]

चन्द्रगुप्तसभा ॥

[वा० ४] *झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम्* ॥

झिन्निर्देशः कर्त्तव्यः । ततो वक्तव्यं, तस्य च ग्रहणं भवति, तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । '*पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति*[2]॥' मात्स्यिकः । तद्विशेषाणाम् — शाफरिकः । शाकुलिकः । पर्यायवचनानां न भवति—अजिह्मान् हन्ति । अनिमिषान् हन्तीति । अस्यैकस्य पर्यायवचनस्येष्यते —मीनान् हन्ति = मैनिकः ॥[3]

सिदादयो निर्देशास्तत्कार्यविधायकेषु वृक्षादिशब्देषु कर्त्तव्याः । वृक्षस् । मृगस्

देवनागराक्षरेषु—

(पङ्क्तिः १) कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन . . .

(पङ्क्तिः २) . . . . धर्मराजा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं

अपरं च "पुष्यमित्र" इति न कश्चिच्छोभनमर्थं गमयति । "पुष्यमित्र" इति तु शोभनं नाम—पुष्यो (पुष्णातीति कर्तरि यत् । समृद्धिदं नक्षत्रम्) मित्रमस्येति ॥

अयं सेनापतिः पुष्यमित्रः स्वामिनं मौर्यराजं बृहद्रथं हत्वा शुङ्ग(पाठान्तरम्—शृङ्ग)-वंशं न्यवास्थापयत् । (द्रष्टव्यं मत्स्यपुराणे २७२ । २७ ॥ वायौ ९९ । ३३७ ॥ ब्रह्माण्डे ३ । ७४ । १५० ॥ विष्णौ ४ । २४ । ६ ॥ भागवते च १२ । १ । १६, १७)

हर्षचरिते—"प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।" (षष्ठोच्छ्वासे)

त्रिविष्टपदेशवास्तव्यो बौद्धस्तारानाथश्च—पुष्यमित्रेण च मध्यदेशात् जालन्धरसीमान्तानि सर्वाणि बौद्धमठानि भस्मसात् कृतानि, भिक्षवश्च प्राणैर्विमुक्ता इत्यलमन्यं विज्ञापयति ॥

---

१. अयं चाणक्यसाहाय्येन महापद्मं नन्दराजं (मुद्राराक्षसादिषु सर्वार्थसिद्धिनामानमिति प्रसिद्धिः) हत्वा राज्येऽभिषिक्तः । भागवतटीकायां श्रीधर एनं मुराभिधायां शूद्रायामुत्पन्नं नन्दराजपुत्रं मन्यते । न त्वेवं बौद्धाः । तैरस्य शाक्यवंशसमुद्भवत्वं प्रतिपाद्यते ॥

मत्स्य-वायु-ब्रह्माण्ड-विष्णु-भागवतपुराणेषु, कलियुगराजवृत्तान्ते, मुद्राराक्षसे, ढुण्ढिराजकृततट्टीकायां, कथासरित्सागरे, राजतरङ्गिण्यादिषु, अर्थकथा-महावंश-दीपवंशादिबौद्धग्रन्थेषु, स्थविरावलिचरित्र-नन्दिसूत्र-ऋषिमण्डलप्रकरणवृत्त्यादिजैनग्रन्थेषु च चन्द्रगुप्तोत्पत्तिः, चाणक्येन सहाभिसम्बन्धः, नन्दराजनाशः, मौर्यवंशसंस्थापनं, शासनसमयादिकं च विविधमुपन्यस्तम् । राजव्यवस्थां च कौटल्यः (= कुटलगोत्रोद्भवः, न तु कुटिलमतिकः कौटिल्यः) स्वार्थशास्त्रे विस्तरेण प्रपञ्चितवान् ॥

२. ४ । ४ । ३५ ॥

३. कोशेऽत्र—"भा० ६ [न्या०]" इत्युपलब्धस्थलम् ॥

इत्यादि । तन्निर्देशेनैतद् विज्ञेयम् । स्वरूप-ग्रहणानुक्तानामन्येषां तद्विशेषपर्यायवचनानां ग्रहणं भवति । सूत्रेण सर्वत्र स्वरूपविधिः प्राप्तः, स एतैर्वार्त्तिकैर्निषिध्यते ॥

> भा०—रूप-ग्रहणं किमर्थम् । एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूप-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत् । अर्थः । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । '*अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य*[1]॥' इत्येषा परिभाषा न कर्त्तव्या भवति ॥[2]

स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

व्याकरण में शब्द का जो स्वरूप है, उसी का ग्रहण हो, किन्तु उस के वाच्यार्थ का ग्रहण न हो, शब्दशास्त्र में जो सञ्ज्ञा है, उस को छोड़के । जैसे अग्नि-शब्द को कोई कार्य विधान किया है, वह अग्नि के पर्यायवाची वह्नि-शब्द को न हो ॥

शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है । जैसे कोई किसी से कहे कि पुस्तक लाओ, तो अक्षर लिखे हुए कागज़ से प्रयोजन है, कुछ 'पुस्तक' इस तीन अक्षर के शब्द का लाना और उस से काम लेना नहीं बन सकता । इसी प्रकार व्याकरण में भी शब्दों को कार्य कहे हैं । वहां उन के वाच्य अर्थों की प्रतीति होना तो सम्भव नहीं, फिर उन के वाचक अन्य शब्दों से कार्य प्राप्त होंगे । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥

इस सूत्र के ऊपर चार वार्त्तिक हैं—

[१] 'सित्तद्विशेषा० ॥' इस वार्त्तिक से 'विभाषा वृक्ष०[3]॥' इस सूत्र करके वृक्षादि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण हो, अर्थात् वृक्ष तो सामान्य शब्द है, और आम्र आदि उस के विशेषवाची शब्द हैं । वृक्ष-शब्द से उन शब्दों का भी ग्रहण होता है ॥

[२] 'पित्पर्याय० ॥' इस वार्त्तिक से 'स्वे पुषः[4]॥' इस सूत्र में स्व-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है । जैसे स्व-शब्द के पर्यायवाची धनादि शब्दों का भी ग्रहण हो ॥

[३] 'जित्पर्याय० ॥' इस वार्त्तिक से 'सभा राजा०[5]॥' इस सूत्र में राजन्-शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है, राजन्-शब्द का जो स्वरूप है, उस का भी ग्रहण नहीं होता । अर्थात् इन, ईश्वर इत्यादि शब्दों का तो ग्रहण हो, राजन्-शब्द का नहीं । तथा राजन्-शब्द के विशेषवाची पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त इत्यादिकों का भी ग्रहण न हो ॥

[४] और 'झित्तस्य च तद्विशेषा० ॥' इस वार्त्तिक से 'पक्षिमत्स्य०[6]॥' इस सूत्र में मत्स्य-शब्द से अपने रूप और इस के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण हो । परन्तु मत्स्य-शब्द

---

१. पा०, प०—सू० १४ ॥
२. कोरोऽत्र—"भा० १ [व्या०]" इत्युद्धरण-स्थलम् ॥
३. २ । ४ । १२ ॥
४. ३ । ४ । ४० ॥
५. २ । ४ । २३ ॥
६. ४ । ४ । ३५ ॥

के पर्यायवाचियों का ग्रहण नहीं होता। मत्स्य-शब्द के विशेषवाची शफर और शकुल इत्यादि। तथा अजिह्म, अनिमिष इत्यादि मत्स्य-शब्द के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण नहीं होता। परन्तु 'मीन' इस एक पर्यायवाची शब्द का ग्रहण होता है॥

इन चार वार्त्तिकों से जो सिद्ध किया है, उस बात का इस सूत्र से निषेध पाता था। और इन वार्त्तिकों में सित आदि निर्देश किये हैं, सो वृक्षादि शब्दों में समझना चाहिये॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि शब्द का सम्बन्धी जो अर्थ है, उस का ग्रहण न हो॥ ६७॥

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः[1] ॥ ६८ ॥

'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते। अणुदित्। १। १। सवर्णस्य। ६। १। च। [अ०।] अप्रत्ययः। १। १। अण् च उदित् च, अनयोः समाहारः। अणु-प्रत्याहारोऽत्र परेण णकारेण गृह्यते। उद्-इत् = कु, चु, टु, तु, पु [इति] पञ्चवर्गाः। अणु-प्रत्याहार उदित्‌ च सवर्णस्य ग्राहकौ भवतः, स्वस्य च रूपस्य, अणुदित्प्रत्ययं वर्जयित्वा। 'अस्य च्वौ[2]॥' [इत्यत्र] आकारस्यापि ग्रहणम्। 'इको गुणवृद्धी[3]॥' [इति] ईकार-ऊकार-ॠकाराणां दीर्घाणामपि गुणवृद्धी भवतः। उदित्—'चुटू[4]॥' [इत्यत्र] चवर्गटवर्गौ गृह्येते। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि[5]॥' [इत्यत्र] कवर्गपवर्गौ गृह्येते। ['तोर्लि[6]॥' इत्यत्र तवर्गो गृह्यते॥]

'अप्रत्ययः' इति किमर्थम्। *'सनाशंसभिक्ष उः[7]॥'*

इत्युकारस्य दीर्घस्य ग्रहणं न भवति॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् 'अप्रत्ययः' इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, भवत्येषा परिभाषा—*'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न[8]॥'* इति॥[9]

अस्मिन् सूत्रे प्रत्यय-ग्रहणं यौगिकं, नैव धातुप्रातिपदिकेभ्यो विधीयमानाः। प्रतीयतेऽसौ प्रत्ययः। तेनेयं परिभाषा निस्सरति—'भाव्यमानेन०[8]॥' भा-

---

१. स०—पृ० ७८॥
२. ७।४।३२॥
३. १।१।३॥
४. १।३।७॥
५. ८।४।२॥
६. ८।४।६०॥
७. ३।२।१६८॥
८. पा०, प०—सू० ११॥
९. अ० १। पा० १। आ० ६॥

ध्यतेऽसौ भाव्यमानः = दीर्घः, स ह्रस्वान् प्लुतांश्च वर्णान् न गृह्णीयात् । अर्थात् यादृशा वर्णा अक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः, त एव सवर्णानां ग्राहका भवन्ति, नान्ये । तेनेदमपि सिद्धं भवति—आकारस्य कार्यं विधीयमानं ह्रस्वप्लुतयोर्न भवति । अर्थादक्षरसमाम्नायस्था वर्णाः कारणरूपाः, तेऽन्यान् गृह्णन्ति, दीर्घादयश्च कार्यरूपाः, ते ग्राहका न भवन्ति, ग्राह्या एव भवन्तीति परिभाषाशयः ॥ ६८ ॥

'अणुदित्' अण्-प्रत्याहार और उदित्, ये दोनों अपने 'सवर्णस्य' सवर्णों के ग्रहण करने वाले हों । अर्थात् इन को जो कार्य विधान किया हो, वह इन के सवर्णी 'स्व' और इन सब को हो । [यहां] पूर्व सूत्र से 'स्वं रूपम्' इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है । अण्-प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है, और उदित् करके कु, चु, टु, तु, पु, इन पांच अक्षर [रों का ग्रहण होता है ।] जैसे— 'अस्य च्वौ[1] ॥' यहां अकार को कार्य कहा है, सो आकार को भी होता है । तथा उदित्— 'चुटू[2] ॥' यहां चवर्ग टवर्ग का ग्रहण होता है । 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि[3] ॥' यहां कु पु-शब्दों से कवर्ग पवर्ग का ग्रहण होता है । [तथा 'तोर्लि[4] ॥' यहां तु-शब्द से तवर्ग का ग्रहण होता है ॥]

इस सूत्र में अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'अ, उ' इन प्रत्ययों में दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो ॥

इस सूत्र में प्रत्यय-शब्द यौगिक है, अर्थात् प्रतीत हो, वह प्रत्यय कहाता है । इसी अर्थ से यह परिभाषा निकली है—'भाव्यमानेन० ॥' भाव्यमान उस को कहते हैं, जो सूत्रों से किया हो । जैसे दीर्घ अक्षर सूत्रों से किये जाते हैं, वे सवर्ण के ग्राहक नहीं हों । अक्षरसमाम्नाय में जो वर्ण पढ़े हैं, वे कारणरूप होते हैं । वे ही सवर्ण के ग्राहक अर्थात् अकारादि वर्ण स्वयं सिद्ध हैं । उन एक २ के जितने २ भेद 'तुल्यास्यप्रयत्नं०[5] ॥' इस सूत्र की व्याख्या में लिखे हैं, उन सब के ग्राहक होते हैं । और दीर्घ आदि भेद सूत्रों से सिद्ध होते हैं, इससे कार्यरूप समझे जाते हैं । वे किसी को ग्रहण नहीं कर सकते । [जहां] कहीं दीर्घ वर्ण को कार्य विधान किया है, वह उसी को होगा, प्लुत और ह्रस्व आदि को नहीं । ह्रस्व के विधान में सब का ग्रहण होगा ॥ ६८ ॥

तपरस्तत्कालस्य[6] ॥ ६९ ॥

'अण्' नानुवर्त्तते । 'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते । त-परः । १ । १ । तत्कालस्य । ६ । १ । त-परो वर्णः तत्कालस्य स्वस्य रूपस्य ग्राहको भवति ।

तः परो यस्मात् सोऽयं त-परः ।

तादपि परः त-परः ।

---

१. ७ । ४ । ३२ ॥
२. १ । ३ । ७ ॥
३. ८ । ४ । २ ॥
४. ८ । ४ । ६० ॥
५. १ । १ । ९ ॥
६. स०—सं० ७६ ॥

'अतो भिस ऐस्'[1]।।' 'अतो लोपः'[2]।।' [इति] आकारस्य ग्रहणं न भवति कालाधिक्यात् । 'आत औ णलः'[3]।।' [इति] आकारे तपरकरणमुदात्तानुदात्त-स्वरितानां ग्रहणार्थम् । ह्रस्वेषु वर्णेषु पूर्वेण सूत्रेण सवर्णग्राहकत्वं सामान्येन प्राप्तं, तदनेन सूत्रेण तपरेषु ह्रस्वेषु कालाधिकयोर्दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणं न भवति, परन्तु तत्कालानामुदात्तानुदात्तस्वरितानां सवर्णानां ग्रहणं भवति । दीर्घेषु तपरेषु पूर्वेण सूत्रेण किमपि न प्राप्तम् । अनेन किञ्चिद् विधीयते, किञ्चित् प्रतिषिध्यते । दीर्घे-तपरविधीयमानेषु सूत्रेषूदात्तानुदात्तस्वरितानामपि ग्रहणं भवतीति विधीयते, दीर्घेषु तपरेषु ह्रस्वप्लुतयोर्ग्रहणं कालाधिक्यान्न भवतीति प्रतिषिध्यते ।। ६९ ॥

'तपरः' तकार जिस से परे हो, वा तकार से परे जो वर्ण हो, वह 'तत्कालस्य' जैसा पढ़ा हो, उतने ही काल और अपने रूप का बोधक हो । अर्थात् तपर वर्ण ह्रस्व को कार्य विधान किया, सो दीर्घ और प्लुत को न हो । जैसे—अम् । यहां आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उस के उच्चारण में द्विगुण काल लगता है । तथा सूत्रों में आकार जो तपर पढ़ा है, उस का प्रयोजन यह है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि इन का कालभेद नहीं । ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण-ग्रहण प्राप्त था, सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक काल वाले दीर्घ, प्लुत का निषेध किया है । तथा पूर्व सूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण-ग्रहण प्राप्त नहीं था, सो इस सूत्र से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, जो एक काल वाले सवर्ण हैं, इन का ग्रहण होता है, अधिक न्यून काल वाले वर्णों का नहीं ॥ ६९ ॥

आदिरन्त्येन सहेता[4]॥ ७० ॥

'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्त्तते । आदिः । १ । १ । अन्त्येन । ३ । १ सह । [अ० ।] इता । ३ । १ । आदिरन्त्येन इता = इत्सञ्ज्ञकेन वर्णेन सह, तयोर्मध्य-स्थानां वर्णानां, स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति । तद्यथा—अण् । अक् । अच् इत्यादिप्रत्याहारग्रहणेषु सूत्रेषु णकार-ककार-चकारपर्यन्तानां वर्णानां ग्रहणं भवति ॥

'अन्त्येन' इति किमर्थम् । 'सुट्' इति तृतीयैकवचने 'टा' इत्यनेन ग्रहणं न भवति ॥

भा०—सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिश-ब्दाः—मातरि वर्त्तितव्यम् । पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चो-च्यते 'स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरि' इति । सम्बन्धाच्च

१. ७ । १ । ९ ॥
२. ६ । ४ । ४८ ॥
३. ७ । १ । ३४ ॥
४. स०—सू० २६ ॥

गम्यते—या यस्य माता, यो यस्य पितेति। एवमिहापि 'आदिः, अन्त्यः' इति सम्बन्धिशब्दावेतौ। तत्र सम्बन्धादेतदवगन्तव्यम्—यं प्रति यः 'आदिः', 'अन्त्यः' इति च भवति, तस्य ग्रहणं भवति, स्वस्य च रूपस्येति॥[1]

एतत्कथनेन तन्मध्यानामिति वचनमन्तरैव तत्प्रयोजनं सिध्यति॥ ७०॥

'आदिः' आदि का जो वर्ण है, वह 'अन्त्येन इता' अन्त्य इत् वर्णों के साथ मध्यस्थ वर्णों और अपने रूप का ग्रहण करने वाला हो। उदाहरण[2]—अण्। अक्। अच्। यहाँ 'अकार' [यह] एक आदि वर्ण णकार, ककार और चकार पर्यन्त मध्यस्थ और अपने रूप का ग्रहण करता है॥

इस सूत्र में अन्त्य-ग्रहण इसलिये है कि 'सुट्' यहाँ तृतीया विभक्ति के टकारपर्यन्त प्रत्याहार न समझा जाय॥

इस सूत्र में मध्य-शब्द का ग्रहण इसलिये नहीं किया कि आदि और अन्त्य ये दोनों सम्बन्धिशब्द हैं। जिस का आदि और अन्त होगा, उसी का ग्रहण हो जायेगा॥ ७०॥

येन विधिस्तदन्तस्य[3]॥ ७१॥

परिभाषेयम्। येन। ३। १। विधिः। १। १। तदन्तस्य। ६। १। सोऽन्ते यस्य, तत् तदन्तं, तस्य। येन विशेषणेन विधिः, सोऽन्ते यस्य, तस्य स्वस्य रूपस्य च कार्यं भवति। 'अचो यत्[4]॥' [इति] अजन्ताद् धातोर्यत् भवति। 'एरच्[5]॥' [इति] इवर्णान्ताद् धातोः अच्-प्रत्ययो भवति॥

भा०—*समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः*[6]॥

समासविधौ तावत्—द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते। कष्टश्रितः। नरकश्रितः। कष्टं परमश्रित इत्यत्र मा भूत्। प्रत्ययविधौ—नडस्यापत्यं = नाडायनः। इह न भवति—सूत्रनडस्यापत्यं = सौत्रनाडिः॥

किमविशेषेण। नेत्याह। *उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्*[6]॥ उगिद्-ग्रहणम्—'*उगितश्च*[7]॥' भवती। अतिभवती। वर्ण-ग्रहणम्—'*अत इञ्*[8]॥' दाक्षिः। प्लाक्षिः॥

---

१. कोशेऽत्र—"व्या० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम्॥
२. कोश में "उ०" इस प्रकार से है॥
३. स०—पृ० ८०॥
४. ३।१।९७॥
५. ३।३।५६॥
६. वार्त्तिकमिदम्॥
७. ४।१।६॥
८. ४।१।९५॥

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलोऽकारः प्रातिपदिकं यदर्थो विधिः स्यात् । अस्तीत्याह। अततेर्डः, अः, तस्यापत्यमिः ॥[1]

समासविधौ तदन्तविधिर्न भवति । 'कष्टं श्रितः' इति समासो विधीयते । 'कष्टं परमश्रितः' इति न भवति । प्रत्ययविधौ तदन्तविधिर्न भवति । गर्ग-प्रातिपदिकाद् यञ् भवति । गर्गान्तान्न भवति ।

(प०) *तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते*[2]॥

तद्यथा—अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गा-यमुना-ग्रहणेन गृह्यते । देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ता-ग्रहणेन गृह्यते ॥[1]

अनया परिभाषयाऽकज्वतः प्रातिपदिकान् प्रातिपदिकाश्रयो विधिर्भवति । यथा सर्व-शब्दादकचि कृते 'सर्वके, विश्वके' इति जसः स्थाने शीभावो न प्राप्नोति। अनया परिभाषया भवति ॥

(प०) *यस्मिन् विधिस्तदादावल्-ग्रहणे*[3]॥

किं प्रयोजनम् । '*अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ*'[4]॥ इति इहैव स्यात् । श्रियौ । भ्रुवौ । 'श्रियः, भ्रुवः' इत्यत्र न स्यात् ॥

यस्मिन् परे कार्यं विधीयते, तच्छब्दरूपमादौ यस्य, तस्मिन् कार्यं भवतीति बोध्यम् । यथा अचि कार्यमजादौ भवति । झलि कार्यं झलादौ भवति ॥ ७१ ॥

'येन' जिस विशेषण करके 'विधिः' विधि हो, 'तदन्तस्य' वह जिस के अन्त में हो, उस को कार्य हो। जैसे—'अचो यत् ॥' यत् को कार्य विधान है, सो अजन्त को होता है ॥

'समास० ॥' इस वार्त्तिक से समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि का प्रतिषेध है। परन्तु 'भवती, अतिभवती, ईः' उगिदन्त के साथ समास और सर्व से प्रत्ययविधि में तो तदन्तविधि अवश्य हो जाय ॥

'तदेकदेश० ॥' इस परिभाषा का प्रयोजन यह है कि बहुत के बीच में थोड़ा मिलता है, वह बहुत के ही ग्रहण से ग्रहण किया जाता है। जैसे लोक में गर्भवती स्त्री का गर्भ उसी स्त्री के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है पृथक् नहीं गिना जाता, इसी प्रकार व्याकरण में भी। 'सर्वके' यहां सर्व-शब्द में अकच्-प्रत्यय हुआ है। उस का ग्रहण सर्व शब्द के साथ होता है, पृथक् नहीं ॥

---

१. कोरोऽत्र—"आ० ६ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

२. पा०—सू० ७८ ॥

३. वार्त्तिकमिदम् ॥ भा०, प०—सू० ३३ ॥

४. ६।४।७७॥

तथा 'यस्मिन् विधि० ॥' इस दूसरी परिभाषा से यह प्रयोजन है कि जिस के परे [होने से] विधि हो, वह जिस के आदि में हो, उस के [परे होने से] कार्य समझना चाहिये । जैसे अच् के परे [होने से कार्य] होता है, सो अजादि [के] परे [होने से] समझना चाहिये ॥ ७१ ॥

[अथ वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्[1] ॥ ७२ ॥

वृद्धिः । १ । १ । यस्य । ६ । १ । अचाम् । ६ । ३ । आदिः । १ । १ । तत् । १ । १ । वृद्धम् । १ । १ । यस्य समुदायस्य अचां मध्य आद्यज् वृद्धिः, तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति । शालीयः । मालीयः । शाला-शब्द आदिवृद्धिः । तस्य वृद्ध-सञ्ज्ञाकरणाद् 'वृद्धाच्छः[2] ॥' इति छः प्रत्ययः । [एवमेव 'मालीयः' इत्यत्रापि ॥]

वृद्धि-ग्रहणं किम् । पर्वत-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा न भवति ॥

'यस्य' इति सञ्ज्ञिनो निर्देशः ॥

'अचाम्' इति किमर्थम् । अज्-ग्रहणमन्तरा 'औपगवीयाः, ऐतिकायनीयाः' इहैव स्यात् । ['गार्गीयाः, वात्सीयाः' इतीह न स्यात् ॥]

आदि-ग्रहणं किमर्थम् । सभासन्नयन-शब्दस्य वृद्ध-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥

अथ वार्त्तिकानि ॥

[१] *वा नामधेयस्य*[3] ॥

वृद्ध-सञ्ज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः ॥

[२] *गोत्रोत्तरपदस्य च*[4] ॥

कम्बलचारायणीयाः[5] । ओदनपाणिनीयाः । घृतरौढीयाः ॥

किमविशेषेण । नेत्याह ॥

[३] *जिह्वाकात्य-हरितकात्यवर्जम्*[4] ॥

जैह्वाकाताः । हारितकाताः[6] ॥[7]

---

१. तत्रै०—सू० १४५ ॥

२. ४ । २ । ११४ ॥

३. चा० श०—"नृनाम्नो वा ॥" (३ । २ । २६)

४. चा० श०—"गोत्रान्त्यद्वजिह्वाकात्यहरितकात्यात् ॥" (३ । २ । २७)

५. कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्या इत्यर्थः । कर्पाशिहादप्येवमेव ॥

६. अत्र शब्दकौस्तुभे—"कत-शब्दो गर्गादिः । जिह्वाचपलो हरितवर्णश्च (पदमञ्जर्याम्—"हरितमवस्य") कात्यः, तस्य छात्रा इत्यर्थेऽण् एव भवति ।"

७. कोशेऽत्र—"भा० १ । व्या०," इत्युद्धरणरथलम् ॥

'गोत्रोत्तरपदस्य' इति द्वितीयवार्त्तिके वा-शब्दो नानुवर्त्तते । जिह्वाकात्य-शब्दो गोत्रप्रत्ययान्तः ॥ ७२ ॥

'यस्य' जिस समुदाय के 'अचाम्' अचों में से 'आदिः' आदि अच् 'वृद्धिः' वृद्धि-सञ्ज्ञक हो, 'तत्' उस समुदाय की 'वृद्धम्' वृद्ध-सञ्ज्ञा हो । शाला-माला-शब्दों में अचों में आदि अच् 'आ' वृद्धि है । [अत.] उन की वृद्ध-सञ्ज्ञा होने से तद्धित में छ-प्रत्यय होता है ॥

'वा नाम० ॥' इस वार्त्तिक से सञ्ज्ञाशब्दों की विकल्प से वृद्ध-सञ्ज्ञा होती है ॥

'गोत्रोत्तर० ॥' इस दूसरे वार्त्तिक से गोत्रप्रत्ययान्त उत्तर पद जिन के, उन शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा नित्य हो । परन्तु [तीसरे वार्त्तिक से] जिह्वाकात्य और हरितकात्य इन दो शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥

इस सूत्र में आदि-शब्द इसलिये है [कि] 'सभासन्नयन' इस शब्द की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥ ७२ ॥

त्यदादीनि च[1] ॥ ७३ ॥

[त्यदादीनि । १ । ३ । च । अ० ।] त्यदादीनि प्रातिपदिकानि सर्वाद्यन्तर्गतानि वृद्ध-सञ्ज्ञानि भवन्ति । त्यदीयम्[2] । तदीयम् । त्वदीयम् । मदीयम् । वृद्ध-सञ्ज्ञत्वाच्छः प्रत्ययः ॥ ७३ ॥

'त्यदादीनि' त्यदादि प्रातिपदिक सर्वादिगण में पढ़े हैं, इन की ['च' भी] वृद्ध-सञ्ज्ञा हो । त्यदीयम्, तदीयम् इत्यादि शब्दों में वृद्ध सञ्ज्ञा के होने [से] छ-प्रत्यय हो गया ॥ ७३ ॥

एङ् प्राचां देशे[3] ॥ ७४ ॥

'यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इति मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्त्तते । 'वृद्धिः' इति निवृत्तम् । [एङ् । १ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । देशे । ७ । १ ।] यस्य समुदायस्याचां मध्य आदिरेङ् तद् वृद्ध-सञ्ज्ञं भवति, प्राचीनानां पूर्वदेशनिवासिनामाचार्याणां देशाभिहिते । गोनर्दीयः । गोनर्दः[4] प्राचां देशः, तत्र भवो गोनर्दीयः । एणीपचने भव एणीपचनीयः ॥

---

1. स्वै०—सू० २५० ॥ चा० श०—"त्यदादिभ्यः ॥" (१ । २ । २८)
2. उदाहरणान्यनुसन्धेयानि ॥
3. चा० श०—"एङ् प्राचः प्राग्देशात् ॥" (१ । २ । २५)
4. वराहमिहिरस्तु गोनर्दान् दक्षिणस्यां दिशि गणितवान्— "कङ्कटटङ्कणवनवासिशिबिकफणिकारकोङ्कणाभीराः। आकरवेणावन्तकदशपुरगोनर्दकेरलकाः ॥" (बृहत्संहितायां १४ । १२ ॥ अपि च ६ । ११ ॥ ११ । २२)

'एङ्' इति किम् । आहिच्छत्रः[1] । अत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाऽभावाच्छो न भवति ॥

'प्राचाम्' इति किम् । कोडो नामोदीचां ग्रामः, तत्र वृद्ध-सञ्ज्ञाभावाच्छो न भवति ॥

'देशे' इति किम् । शरावत्यां[2] भवा मत्स्याः = शारावताः ॥

भा०—शैषिकेष्विति वक्तव्यम् । सैपुरिकी, सैपुरिका । स्कौनगरिकी, स्कौनगरिका ॥[3]

सेपुर-स्कोनगरौ वाहीकग्रामौ । ताभ्यां 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' इति ठञ्ञिठौ । 'शैषिकेषु' इति वचनाच्छेषाधिकारे यानि वृद्धकार्याणि, तान्येव स्युः ॥ ७४ ॥

[इति वृद्ध-सञ्ज्ञाधिकारः]

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

'यस्य' जिस समुदाय के 'अचाम्' अचों के 'आदिः' आदि में 'एङ्' एकार, ओकार हों, उस की वृद्ध-सञ्ज्ञा हो, 'प्राचां' पूर्व के रहने वाले आचार्यों के 'देशे' देश वाच्य हों, तो ।

---

१. शिलालेखादिषु "अहिछत्र, आहिछत्र, अहिछत्र, अधिछत्र" इति पाठान्तराणि । अस्ति च अमुमौपकण्ठस्थिते प्रभासग्रामे (प्राकृते—पभोसा) महाराजविक्रमसमकालीनः प्राकृतलिपौ गुहान्तर्लेखः—"अधिछत्राया राज्ञो शोनकायनपुत्रस्य वंगपालस्य पुत्रस्य राज्ञो तेवणीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं [॥]"

२. शराः तृणविशेषाः सन्त्यस्यामिति । (शर+मतुप् । "शरादीनां च ॥" ६ । ३ । १२० ॥ इति दीर्घः)

महाभारते भीष्मपर्वणि—

"चर्मण्वतीं चन्द्रभागां हस्तिसोमां दिशं तथा ।"
शरावतीं पयोष्णीं च वर्णां भीमरथीमपि ॥"

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनद्यादिकथनम्—श्लो० १२७)

पद्ममञ्जर्याम्—"शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी । तस्या दक्षिणपूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः, उत्तरापरस्यामुदग्देशः, तौ शरावती विभजते । तया मर्यादया तयोर्विभागो ज्ञायते ।"

अत्र नागेशः—"ऐशानीतो नैर्ऋत्यां परिवाहिणिगामिनी सा इत्येके ।"

रघुवंशे (१५ । ९७) लवस्यैतन्नाम्नी राजधानी—

"स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥"

३. खोरीश्च—"भा० ४ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

४. अत्र नागेशः—

"वाहीकलक्षणं च—
'पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः ।
वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत् ॥'
इति कर्णपर्वणि । एवं च धर्मबहिर्भूतत्वाद् वाहीकत्वम् । 'शतद्रुर्विपाशा इरावती वितस्ता चन्द्रभागा इति पञ्च नद्यः, सिन्धुः षष्ठः । तन्मध्यदेशो वाहीकः' इति तद्व्याख्यातारः ।"

एणीपचनीयः । गोनर्दीयः । एणीपचन और गोनर्द देश वाची शब्दों की वृद्ध-सञ्ज्ञा होने से छ-प्रत्यय होता है ॥

इस सूत्र में एङ्-ग्रहण इसलिये है कि आकार जिस के आदि हो, उस की वृद्ध-सञ्ज्ञा न हो ॥

प्राचां-ग्रहण इसलिये है कि उत्तर के देश में न हो ॥

देश [-ग्रहण] इसलिये है [कि] 'शारावताः' यहां शरावती नदी का नाम है, इससे वृद्ध-सञ्ज्ञा न हुई ॥

'शैषिके० ॥' इस वार्त्तिक से शेषाधिकार में ही वृद्ध-सञ्ज्ञा हो ॥ ७४ ॥

[यह वृद्ध-सञ्ज्ञा का अधिकार पूरा हुआ]

यह प्रथमाध्याय का प्रथम पाद पूरा हुआ ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[अथातिदेशसूत्राणि]

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्[1] ॥ १ ॥

अतिदेशोऽयम् । गाङ्-कुटादिभ्यः । ५ । ३ । अञ्णित् । १ । १ । ङित् । १ । १ । गाङिति इकः स्थाने य आदेशः, तस्य ग्रहणम् । गाङ् च कुटादयश्च[2], तेभ्यः । ञ्श्च णश्च = ञ्णौ । ञ्णौ इतौ यस्य, स ञ्णित् । न ञ्णित् = अञ्णित् । ङ इत् यस्य, स ङित् । गाङ्-आदेशात् कुटादिभ्यो धातुभ्य परे अञ्णितः प्रत्यया ङिद्वद् भवन्ति । अध्यगीष्ट । अध्यगीष्यत । अत्र गाङ्-आदेशात् परौ सिच्-स्य-प्रत्ययौ ङिद्वद् भवतः, तस्माद् 'घुमास्थागापा०[3] ॥' इति ईकारादेशः । कुटिता । कुटिष्यति । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटिष्यति । पुटितव्यम् । अत्र ङिद्वद्भावाल्लघूपधगुणप्रतिषेधः ॥ १ ॥

यह अतिदेशसूत्र है । अतिदेश का स्वरूप पूर्व लिख दिया है । 'गाङ्-कुटादिभ्यः' इङ् धातु के स्थान में जो गाङ्-आदेश और कुटादि धातुओं से परे 'अञ्णित्' ञित्, णित् से अन्य प्रत्यय, सो 'ङित्' ङित्-प्रत्ययों के तुल्य हों । अर्थात् ङित्-सञ्ज्ञक प्रत्ययों के परे जो कार्य होता है, वह उन के परे भी हो । अध्यगीष्ट । यहां जो इङ् धातु के स्थान में गाङ्-आदेश हुआ है, उस से परे सिच्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से आकार को ईकार हुआ है । कुटिता । कुटिष्यति । यहां कुट् धातु से परे तास् और स्य-प्रत्यय [को] ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १ ॥

विज इट्[4] ॥ २ ॥

'ङिद्' इत्यनुवर्त्तते । विजः । ५ । १ । इट् । १ । १ । 'ओविजी भय-

---

१. भा०—सू० १४५ ॥
चा० श०—"कुटादीनामञ्णिति ॥ गाङ ईरसे च ॥" (६ । २ । १३, २८)

२. तुदादिगणे "कुट कौटिल्ये" (७३) इत्येतदारभ्य "कुङ् (कुङ्) शब्दे" (१०८) इत्येतद् यावद् ३६ धातवः ॥

३. ६ । ४ । ६६ ॥

४. भा०—सू० ४१८ ॥
चा० श०—"विज इटि ॥" (६ । २ । १४)

चलनयोः'।[१] विज्-धातोः पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद् भवति । उद्विजिता । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । ङित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ २ ॥

'विजः' विज् धातु से परे जो 'इट्' इत्यादि प्रत्यय, सो 'ङित्' ङिद्वत् हो । उद्विजिता । यहां ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥ २ ॥

विभाषोर्णोः[२] ॥ ३ ॥

'इट्' इत्यनुवर्त्तते । अप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । ऊर्णोः । ५ । १ । ऊर्णुञ् आच्छादने[३] इत्यस्माद् धातोः पर इडादि-प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद् भवति । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । ङिद्वत्पक्षे गुणाभावाद् 'अचि श्नुधातु०[४]॥' इत्युवङ्-आदेशः । ङिद्वदभावे गुणः ॥

'इट्' इति किम् । ऊर्णवनीयम् । अत्र अनीयरि प्रत्यये गुणप्रतिषेधो मा भूत् ॥३॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । 'ऊर्णोः' ऊर्णुञ् धातु से परे जो 'इट्' इत्यादि प्रत्यय, सो 'ङित्' ङिद्वत् विकल्प करके हो । ऊर्णुविता । ऊर्णविता । यहां एक पक्ष में ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ, और दूसरे पक्ष में ङिद्वत् नहीं होने से गुण हो गया ॥ ३ ॥

सार्वधातुकमपित्[५] ॥ ४ ॥

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद् भवति । कुरुतः । हतः । 'कुरुतः' इति ङित्त्वाद् गुणाभावः । 'हतः' इति ङित्त्वादनुनासिकलोपः ॥

'सार्वधातुकम्' इति किमर्थम् । 'कर्त्ता, हर्त्ता' इत्यपिदार्द्धधातुकं ङिद्वद् मा भूत् ॥

'अपित्' इति किम् । 'करोति' इति ङित्-सञ्ज्ञा मा भूत् ॥ ४ ॥

इति ङिद्वदधिकारः ॥

'अपित्' अपित् जो 'सार्वधातुकम्' सार्वधातुक-सञ्ज्ञक प्रत्यय है, सो 'ङित्' ङिद्वत् हों । कुरुतः । यहां तस्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ । हतः । यहां तस्-प्रत्यय के ङिद्वत् होने से हन् धातु के नकार का लोप हुआ है॥

इस सूत्र में सार्वधातुक-ग्रहण इसलिये है कि 'कर्त्ता, हर्त्ता' यहां ङिद्वद्भाव न हो ॥

अपित्-ग्रहण इसलिये है कि 'करोति' यहां गुण का निषेध न हो ॥ ४ ॥

[यह ङिद्वद् अधिकार पूरा हुआ]

---

१. भा०—तु० ६ ॥

२. भा०—सू० १२७ ॥
चा० श०—"वोर्णोः ॥"
(१ । १ । १५)

३. धा०—अदा० १० ॥

४. ६ । ४ । ७७ ॥

५. भा०—सू० ६० ॥
चा० श०—"तिङ्शित्वपिदाशीर्लिङ ॥
शित्यपिति ॥ तिङि इत्यपिति ॥"
(क्रमेण १ । १ । १८ ॥ ५ । ३ । ३४, ५८)

अथ किदतिदेशाधिकारः ॥

असंयोगाल्लिट् कित्[1] ॥ ५ ॥

'अपित्' इत्यनुवर्त्तते । असंयोगात् । ५ । १ । लिट् । १ । १ । कित् । १ । १ । असंयोगान्ताद् धातोः परो [अपित्] लिट्-प्रत्ययः किद्वद् भवति । बिभिदतुः । बिभिदुः । कित्वात् गुणाभावः ॥

'असंयोगाद्' इति किम् । ममन्थतुः । ममन्थुः । किद्वन्निषेधादनुनासिकलोपो न भवति ॥

'अपित्' [इति] किम् । बिभेद ॥ ५ ॥

'असंयोगाद्' संयोग जिस के अन्त में न हो, उस धातु से परे जो 'अपित्' पित् रहित 'लिट्' लिट्-प्रत्यय, वह 'कित्' कित्वत् हो । बिभिदतुः । यहां कित्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥

असंयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'ममन्थतुः' यहां नकार का लोप न हो, और 'अपित्' इसलिये कि 'बिभेद' यहां गुण का निषेध न हो ॥ ५ ॥

इन्धिभवतिभ्यां च[2] ॥ ६ ॥

इन्धिश्च भवतिश्च, ताभ्यां परोऽपित् लिट् किद्वद् भवति । पुत्र ईधे अथर्वणः[3] । अत्र कित्वादनुनासिकलोपः । बभूव । बभूविथ । पित्त्वात् पूर्वं गुणः प्राप्नोति ॥

> भा०—श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् । श्रेथतुः । श्रेथुः । ग्रेथतुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिषस्वजे । परिषस्वजाते[4] ।

कित्वान्नलोपः ॥ ६ ॥

---

१. भा०—पृ० १२७ ॥
चा० श० "लिङ्गीरत्यपित्सास्ततिङ्कि ॥"
(६ । २ । ८)

२. भा०—पृ० ४४ ॥
चा० श०—"लिटीन्धिश्रन्थ्यग्रन्थाम् ॥ दम्भः ऋसनि च ॥ स्वञ्जः ॥"
(५ । ३ । २५-२७)

३. ऋ०—६ । १६ । १४ ॥
वा०—११ । ३३ ॥
तै०—३ । ५ । ११ । ४ ॥
मै०—२ । ७ । ३ ॥
का०—१६ । ३ ॥
श० ब्रा०—६ । ४ । २ । ३ ॥

४. नेदं वार्त्तिकं तदुदाहरणानि चात्र भाष्य उपलभ्यन्ते । पूर्वटिप्पणोदाहृतचान्द्रसूत्रेभ्यस्तु शक्यते अनुमातुं भाष्ये पुराऽऽसीदयं पाठः, पश्चाद् लुप्त इति । चान्द्रवृत्तावुदाहरणान्यपि—
"श्रेथतुः । श्रेथुः । ग्रेथतुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिषस्वजे ।" (५ । ३ । २५, २६, २७) इति तान्येव ॥

'इन्धि-भवतिभ्याम्' इन्धि धातु और भू धातु से परे जो 'अपित्' अपित् 'लिट्' लिट्-प्रत्यय, सो 'कित्' कित्वत् हो । ईधे । यहां कित्वत् होने से नकार का लोप हुआ है । बभूव । यहां कित्वत् होने से गुण नहीं हुआ ॥

'श्रन्थि-ग्रन्थि० ॥' इस वार्त्तिक में [संख्यात] चार धातुओं से लिट् को कित्वत् होने से नकार का लोप होता है ॥ ६ ॥

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा[1] ॥ ७ ॥

'न क्त्वा सेट्[2] ॥' इति सामान्येन कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते मृडादिभ्यः कित्त्वं विधीयते । मृडादीनां समाहारद्वन्द्वः । मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वा-प्रत्ययः कित्वद् भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । क्लिशित्वा । उदित्वा । उषित्वा । [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥ ७ ॥

'न क्त्वा सेट्[2] ॥' यह सूत्र इसी पाद में आगे आवेगा । उस से सामान्य धातुओं से परे क्त्वा सेट् कित्वत् नहीं होता, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है । 'मृड...वसः' मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस, इन सात धातुओं से परे जो 'क्त्वा' क्त्वा, सो 'कित्' कित्वत् हो । 'मृडित्वा' इत्यादि उदाहरणों में कित्वत् होने से गुण नहीं होता ॥ ७ ॥

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः सँश्च[3] ॥ [८ ॥]

रुदादीनां समाहारद्वन्द्वः । रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ, इत्येतेभ्यः परौ क्त्वा-सन-प्रत्ययौ कित्वद् भवतः । रुदित्वा । रुरुदिषति । विदित्वा । विविदिषति । मुषित्वा । मुमुषिषति । गृहीत्वा । जिघृक्षति । सुप्त्वा । सुषुप्सति । पृष्ट्वा । पिपृच्छिषति । [एतेषां] रुदादीनां कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः । ग्रहादीनां कित्त्वात् सम्प्रसारणम् । 'किरश्च पञ्चभ्यः[4] ॥' इति सनि प्रच्छेरिडागमः ॥

भा०—स्वापि-प्रच्छयोः सनर्थं ग्रहणम् । किदेव हि क्त्वा ।[5]

अनिट्त्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

'रुद...प्रच्छः' रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वप, प्रच्छ, इन धातुओं से परे जो 'सन्' सन् 'स' और 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, सो 'कित्' कित्वत् हों । इससे रुदादि तीन धातुओं में तो कित् होने से गुण का निषेध और ग्रहादि तीन धातुओं में कित् होने से सम्प्रसारण होता है ।

---

१. भा०—सू० १५१६ ॥
चा० श०—"मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस-मुषग्रहां निष्ठा ॥" (६ । २ । १६)
२. १ । २ । १८ ॥
३. भा०—सू० ५०५ ॥
चा० श०—"ग्रहिप्रच्छोः सनि ॥ स्वपः ॥ रुदविदमुषग्रहाम् ॥" (क्रमेण ५ । १ । २२, २३ ॥ ६ । २ । २२)
४. ७ । २ । ७५ ॥
५. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

स्वप् और प्रच्छ्, ये दोनों धातु अनिट् हैं। इससे क्त्वा तो कित् ही है, क्योंकि सेट् क्त्वा के कित् होने का निषेध है। सो इस सूत्र में इन दोनों धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि [प्रच्छ् को तो] सन् में इट् हो जाता है, [तथा] यहां सन् को कित् होने से इन दोनों धातुओं को सम्प्रसारण होता है ॥ ८ ॥

इको झल्[1] ॥ ९ ॥

'सन्' इत्यनुवर्त्तते। 'क्त्वा' इति निवृत्तम्। [इकः। ५। १। झल्। १। १।] इगन्ताद् धातोः परो झलादिः सन् किद्वद् भवति। चिचीषति। तुष्टूषति। पुपूषति। लुलूषति। चिकीर्षति। जिहीर्षति। अत्र सर्वत्र कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

'इकः' इति किम्। पिपासति। जिहासति ॥

'झल्' इति किमर्थम्। शिशयिषते। अत्र इडादौ सनि कित्त्वं न भवति ॥९॥

'इकः' इगन्त धातु से परे जो 'झल्' झलादि 'सन्' सन्, सो 'कित्' किद्वत् हो। चिचीषति इत्यादि उदाहरणों में कित् होने से गुण का निषेध होता है ॥

इक्-ग्रहण इसलिये है कि 'पिपासति' यहां किद्भाव न हो ॥

और झल्-ग्रहण इसलिये है कि 'शिशयिषते' यहां इडादि में न हो ॥ ९ ॥

हलन्ताच्च[2] ॥ १० ॥

'इको झल्' इत्यनुवर्त्तते, 'सन्' च। [हलन्तात्। ५। १। च। अ०।] अन्त-शब्दोऽत्र सामीप्ये वर्त्तते। हल् चासौ अन्तश्च=हलन्तः, तस्मात्। इक्समीपाद् हल्परो झलादिसन् किद्वद् भवति। दुधुक्षति। लिलिक्षति। कित्-करणाद् गुणप्रतिषेधः ॥

'झल्' इति किम्। विवर्त्तिषते ॥

भा०—अयमन्त-शब्दोऽस्त्येवावयववाची। तद्यथा—वस्त्रान्तः, वसनान्त इति वस्त्रावयवो वसनावयव इति गम्यते। अस्ति सामीप्ये वर्त्तते। तद्यथा-उदकान्तं गत इति उदकसमीपं गत इति गम्यते। तद् यः सामीप्ये वर्त्तते, तस्येदं ग्रहणम् ॥ एवमपि दम्भेर्न सिध्यति। एवं तर्हि—दम्भेर्हल् ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्[3] ॥ हल्जातिर्निर्दिश्यते, इक उत्तरा या हल्जातिरिति ॥[4]

---

१. आ०—सू० ५०८ ॥ चा० श०—"इकोऽनिटि ॥" (१। १। ११)

२. आ०—सू० ५०९ ॥ चा० श०—"उपान्तस्य ॥" (१। १। १४)

३. वार्त्तिकमिदम् ॥

४. अ० १। पा० २। आ० १ ॥

सर्वं स्पष्टम् ॥ १० ॥

'च' और 'इकः' इक् के 'हलन्तात्' समीप जो हल्, उस से परे 'झल्' झलादि 'सन्' सन् 'कित्' किद्वत् हो । इस सूत्र में अन्त-शब्द समीप का वाची है । दुधुक्षति । यहां दुह् धातु से सन् को कित्त्व हुआ है, इससे गुण नहीं हुआ ॥

इस सूत्र में झल्-ग्रहण इसलिये है कि 'चिवर्तिषते' यहां गुण का निषेध न हो ॥१०॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु[1] ॥ ११ ॥

'इकः, झल्, हलन्तात्' इत्यनुवर्त्तन्ते । 'सन्' इति निवृत्तम् । लिङ्-सिचौ । १ । २ । आत्मनेपदेषु । ७ । ३ । इक्समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्-सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः । भित्सीष्ट । अभित्त । [अत्र] कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

'इकः' इति किम् । यक्षीष्ट । अत्र सम्प्रसारणं न भवति ॥

'आत्मनेपदेषु' इति किमर्थम् । अस्राक्षीत् । यदि कित्वं स्यात्, तर्हि 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति[2] ॥' इति अम्-आगमो न प्राप्नोति ॥ ११ ॥

'इकः' इक् [के] 'हलन्तात्' समीप हल् से परे जो 'झल्' झलादी 'लिङ्सिचौ' लिङ् और सिच्, सो 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषय में 'कित्' किद्वत् हों । भित्सीष्ट । अभित्त । यहां कित्त्व होने से गुण नहीं हुआ ॥

इक् की अनुवृत्ति इसलिये है कि 'यक्षीष्ट' यहां यज् धातु को सम्प्रसारण न हो ॥

आत्मनेपद-ग्रहण इसलिये [है] कि 'अस्राक्षीत्' यहां जो कित्त्व होता, तो अकित् झल् के परे अम् का आगम नहीं होता ॥ ११ ॥

उश्च[3] ॥ १२ ॥

'झल्, लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इत्येतदनुवर्त्तते । अन्यन्निवृत्तम् । [उः । ५ । १ । च । अ० ।] ऋकारान्ताद् धातोः परावात्मनेपदविषयौ [झलादी] लिङ्सिचौ किद्वद् भवतः । कृषीष्ट । अकृत । हृषीष्ट । अहृत । [अत्र] कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः ॥

'झल्' इति किमर्थम् । वरिषीष्ट । अवरिष्ट । अत्रेडादौ गुणप्रतिषेधो न भवति ॥ १२ ॥

'च' और 'उः' ऋकारान्त धातु से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषयक 'झल्'

---

१. आ०—सू० १६३ ॥
चा० शा०—"लिङ्सिचोरस्तकि ॥" (६ । २ । २५)

२. ६ । १ । ५८ ॥

३. आ०—सू० २४० ॥
चा० शा०—"उः ॥" (६ । २ । २६)

झलादी जो 'लिङ्सिचौ' लिङ् और सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हों । कृषीष्ट । अकृत । यहां किद्वत् होने से गुण का निषेध हो गया ॥

झल् ग्रहण इसलिये है कि 'वरिषीष्ट, अवरिष्ट' यहां इडादि लिङ्, सिच् किद्वत् नहीं हुए ॥ १२ ॥

वा गमः[1] ॥ १३ ॥

'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु', 'झल्' चानुवर्त्तते । [वा । अ० । गमः । ५ । १ ।] गमि-धातोः परावात्मनेपदविषयौ झलादी लिङ्सिचौ विकल्पेन किद्वद् भवतः । सङ्गंसीष्ट । सङ्गसीष्ट । समगँस्त । समगत । अत्र कित्त्वविकल्पादनुनासिकलोप-विकल्पः ॥ १३ ॥

'गमः' गम् धातु से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषयक जो 'झल्' झलादी 'लिङ्-सिचौ' लिङ्, सिच्, सो 'वा' विकल्प करके 'कित्' किद्वत् हों । सङ्गंसीष्ट । सङ्गसीष्ट । समगँस्त । समगत । यहां विकल्प करके कित्व होने से गम् धातु के अनुनासिक का लोप विकल्प करके हुआ है ॥ १३ ॥

हनः सिच्[2] ॥ १४ ॥

सिच्-ग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् । 'झल्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानुवर्त्तते । [हनः । ५ । १ । सिच् । १ । १ ।] हन्-धातोः परो झलादिः सिच् आत्मनेपदेषु किद्वद् भवति । आहत । आहसाताम् । आहसत । अत्र सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥ १४ ॥

'हनः' हन् धातु से परे जो 'झल्' झलादि 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हो आत्मनेपदविषय में । आहत । यहां सिच् को कित्व होने से हन् धातु के नकार का लोप हुआ है ॥ १४ ॥

यमो गन्धने[3] ॥ १५ ॥

यमः । ५ । १ । गन्धने । ७ । १ । 'सिच्', 'आत्मनेपदेषु' इति चानुवर्त्तते । गन्धनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् किद्वद् भवति । उदायत । उदायसाताम् । [अत्र] कित्त्वादनुनासिकलोपः । 'आङो यमहनः[4] ॥' इत्यात्मनेपदम् ॥

'गन्धने' इति किम् । उदायंस्त कूपादुदकम् । उद्धृतमित्यर्थः ॥ १५ ॥

---

१. भा०—सू० ६५६ ॥
चा० शा०—"लिङि ताङे गमः ॥ सिचि ॥" (५ । २ । ४४, ४५)
२. भा०—सू० ६५७ ॥
चा० शा०—"हनः ॥" (५ । २ । ४६)
३. भा०—सू० ६५८ ॥
चा० शा०—"यमः सूचने ॥" (५ । २ । ४७)
४. १ । ३ । २८ ॥

'गन्धने' गन्धन अर्थ में वर्त्तमान् जो 'यमः' यम् धातु, उस से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषय में जो 'झल्' झलादि 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हो। उदायत । यहां कित्व के होने से यम् धातु के मकार का लोप हुआ है॥

इस सूत्र में 'गन्धने' इसलिये ग्रहण किया है कि 'उदायंस्त कूपादुदकम्' कि कूप से जल निकाला, यहां गन्धन अर्थ नहीं, इससे कित्व होके मकार लोप न हुआ ॥ १५ ॥

विभाषोपयमने[1] ॥ १६ ॥

'यमः सिजात्मनेपदेषु' इति वर्त्तते । [विभाषा । उपयमने । ७ । १ ।] उपयमने वर्त्तमानात् यम्-धातोः परः [आत्मनेपदविषयः] सिच् विकल्पेन किद्वद् भवति । उपायत कन्याम् । उपायंस्त कन्याम् । उदवोढेत्यर्थः ॥ १६ ॥

'उपयमने' उपयमन [अर्थात्] विवाह अर्थ में वर्त्तमान जो 'यमः' यम धातु, उस से परे 'आत्मनेपदेषु' आत्मनेपदविषय में जो 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् हो । उपायत उपायंस्त वा कन्याम् । यहां कित्व के विकल्प से यम् धातु के मकार का लोप [विकल्प करके] होता है ॥ १६ ॥

स्थाघ्वोरिच्च[2] ॥ १७ ॥

'सिजात्मनेपदेषु' इति वर्त्तते । [स्था-घ्वोः । ६ । २ । इत् । १ । १ । च । अ० ।] स्था-धातोः घु-सञ्ज्ञकानां च इकारादेशो भवति । एभ्यः परः सिच् किद्वत् च भवति, आत्मनेपद-सञ्ज्ञकेषु प्रत्ययेषु परतः । उपास्थित । अदित । अधित । इकारादेशे कृते सिचः कित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ १७ ॥

'स्था-घ्वोः' स्था धातु और घु-संज्ञक धातुओं से परे जो 'सिच्' सिच्, सो 'कित्' किद्वत् 'च' और 'स्था-घ्वोः' इन को 'इत्' इकारादेश हो । उपास्थित । अदित । अधित । इकारादेश किये पीछे सिच् [के] कित् होने से गुण नहीं हुआ ॥ १७ ॥

न क्त्वा सेट्[3] ॥ १८ ॥

[न । अ० । क्त्वा । १ । १ । सेट् । १ । १ ।] सेट् क्त्वा किन्न भवति । वर्त्तित्वा । वर्धित्वा । कित्त्वप्रतिषेधाद् गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

'सेट्' इति किम् । कृत्वा । हृत्वा । कित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ १८ ॥

'सेट्' सेट् जो 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् 'न' न हो । वर्त्तित्वा । वर्धित्वा । यहां कित् के नहीं होने से गुण हो गया ॥

'सेट्' इसलिये है कि 'कृत्वा' यहां गुण न हो ॥ १८ ॥

---

१. चा० श०—"वाऽऽढे ।" (५ । २ । ४८)   (६ । २ । २७)

२. अ० —सू० २६२ ॥   ३. का०—सू० १५१८ ॥

चा० श०—"निष्ठि श्वास्यामिच ॥"   चा० श० —"सेटि ॥" (५ । १ । ५१)

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः[1] ॥ १९ ॥

'न सेट्' इत्यनुवर्त्तते । [निष्ठा । १ । १ । शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः । ५ । १ ।] शीङादीनां समाहारद्वन्द्वः, तस्मादेकवचनम् । शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इत्येतेभ्यः परः सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञः प्रत्ययः किन्न भवति । शयितः । शयितवान् । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रक्ष्वेदितः । प्रक्ष्वेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् । अत्र औपदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

'सेट्' इति किम् । भिन्नः । भिन्नवान् । [अत्र] गुणो न भवति ॥ १९ ॥

'शीङ्...धृषः' शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इन धातुओं से परे जो 'सेट्' सेट् ['निष्ठा'] निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् 'न' न हो । शयितः । शयितवान् इत्यादि उदाहरणों में उपदेश के कित्व का प्रतिषेध होने से गुण हुआ है ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'भिन्नः' यहां गुण न हो ॥ १९ ॥

मृषस्तितिक्षायाम्[2] ॥ २० ॥

[मृषः । ५ । १ । तितिक्षायाम् । ७ । १ ।] मृष्-धातोः परौ निष्ठा-सञ्ज्ञकौ सेट्प्रत्ययौ किद्वन्न भवतः तितिक्षायां = सहनेऽर्थे । मर्षितः । मर्षितवान् । कित्त्व-प्रतिषेधाद् गुणो भवति ॥

'तितिक्षायाम्' इति किम् । अपमृषितं वाक्यमाह । दूषितं वाक्यमाहेति गम्यते ॥ २० ॥

'तितिक्षायाम्' तितिक्षा अर्थात् सहन अर्थ में वर्तमान जो 'मृषः' मृषि धातु, उस से परे जो 'सेट्' सेट् निष्ठा-सञ्ज्ञक प्रत्यय, वह 'कित्' किद्वत् 'न' न हो । मर्षितः । मर्षितवान् । यहां कित्व के नहीं होने से गुण हुआ है ॥

तितिक्षा-ग्रहण इसलिये है कि 'अपमृषितम्' यहां गुण न हो ॥ २० ॥

उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्[3] ॥ २१ ॥

'न सेट् निष्ठा' इत्यनुवर्त्तते । [उदुपधात् । ५ । १ । भावादिकर्मणोः । ७ । २ । अन्यतरस्याम् । ७ । १ ।] उत् उपधायां यस्य, तस्मात् । भावश्च आदिकर्म च

१. आ०—सू० ११७६ ॥
चा० श०—"तलक्तोरपूङ्शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृ-षः ॥" (६ । २ । १६)

२. आ०—सू० ११८६ ॥
चा० श०—"मृषोऽक्षान्तौ ॥" (६ । २ । १७)

३. आ०—सू० ११८४ ॥
चा० श०—"उदुपान्तस्य शब्दतो भावारम्भयोर्वा ॥ (६ । २ । १८)

तयोः । उदुपधाद्धातोः परो भावादिकर्मणोर्वर्त्तमानः सेट् निष्ठा-प्रत्ययो विकल्पेन किद्वन्न भवति । द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रद्युतितः । प्रद्योतितः । मुदितमनेन । मोदितमनेन । प्रमुदितः । प्रमोदितः । अत्र किस्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

'उदुपधाद्' इति किम् । लिखितमनेन । अत्र किस्त्वविकल्पो न भवति ॥

'भावादिकर्मणोः' इति किम् । रुचितं वस्त्रम् । अत्रापि किस्त्वं न विकल्प्यते ॥

'सेट्' इति किम् । भुक्तम् । अत्र मा भूत् ॥

भा०—इह कस्मान्न भवति । गुधितः । गुधितवान् ।
उदुपधात्त्वपः[1] ॥ शब्विकरणेभ्य इष्यते ॥[2]

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

'उदुपधात्' उकार जिस की उपधा में हो, ऐसे धातु से परे 'भावादिकर्मणोः' भाव और आदिकर्म में जो 'सेट्' सेट् 'निष्ठा' निष्ठा-प्रत्यय, सो 'कित्' किद्वत् 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । द्युतितम् । द्योतितम् । यहां कित्व के विकल्प से गुण विकल्प करके हुआ ॥

उदुपध-ग्रहण इसलिये है कि 'लिखितम्' यहां गुण न हो ॥

भाव और आदिकर्म इसलिये ग्रहण है [कि] 'रुचितं वस्त्रम्' यहां भी गुण का निषेध हो जाय ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'भुक्तम्' यहां गुण का विकल्प न हो ॥

'गुधितः' यहां विकल्प इससे नहीं होता कि इस सूत्र में शब्विकरण अर्थात् भ्वादिगण के उदुपध धातुओं का ग्रहण है ॥ २१ ॥

पूङः क्त्वा च[3] ॥ २२ ॥

'न सेट्' इति वर्त्तते 'निष्ठा' च । 'अन्यतरस्याम्' इति निवृत्तम् । [पूङः । ५ । १ । क्त्वा । १ । १ । च । अ० ।] पूङ्-धातोः परः सेट् निष्ठा, क्त्वा च प्रत्ययः किद्वन्न भवति । पवितः । पवितवान् । पवित्वा । किस्त्वनिषेधाद् गुणभावः ॥

'सेट्' इति किम् । पूतः । पूतवान् । पूत्वा । [अत्र] गुणो न भवति ॥

भा०—विभाषामध्येऽयं योगः क्रियते । विभाषामध्ये च ये विधयस्ते नित्या भवन्ति ॥
किमर्थं तर्हि क्त्वा-ग्रहणम् । क्त्वा-ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥[4]

---

१. वार्त्तिकमिदम् ॥
२. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥
३. भा०—सू० ११७८ ॥ चा० श० —"तनवलोरपूशीस्विदिमिदिक्ष्विदि-धृषः ॥" (५ । २ । २६)
४. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

पूङ्-धातोः क्त्वा[-प्रत्ययस्य] 'न क्त्वा सेट्' ॥[1] इति प्रतिषेधः सिद्ध एव । पुनर्ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ २२ ॥

'पूङः' पूङ् धातु से परे जो 'सेट् निष्ठा' सेट् निष्ठा 'च' और 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, वे 'कित्' किद्वत् 'न' न हों । पवितः । पवितवान् । पवित्वा । यहां कित्त्व के नहीं होने से गुण हो गया ॥

सेट्-ग्रहण इसलिये है कि 'पूतः, पूतवान्, पूत्वा' यहां गुण न हो ॥

'न क्त्वा सेट्'॥' इस सूत्र से क्त्वा के परे निषेध हो ही जाता, फिर क्त्वा-ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है ॥

क्योंकि दो विकल्पों के बीच में जो सूत्र होता है, वह नित्य विधान करने वाला होता है, सो यह सूत्र दो विकल्पों के बीच में पड़ा है, इससे नित्य निषेध करता है ॥ २२ ॥

नोपधात् थफान्ताद् वा[2] ॥ २३ ॥

न-उपधात् । ५ । १ । थ-फान्तात् । ५ । १ । वा । न उपधायां यस्य, तस्मात् । थश्च फश्च = थफौ । थफावन्तौ यस्य, तस्मात् । नोपधात् थफान्ताद्धातोः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन किद्वन्न भवति । मथित्वा । मन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । कित्त्वविकल्पादनुनासिकलोपाविकल्पः ॥

'नोपधात्' इति किम् । रेफित्वा । [अत्र] गुणप्रतिषेधो न भवति ॥

'थफान्तात्' इति किम् । स्रंसित्वा । ध्वंसित्वा । अत्रानुनासिकलोपो न भवति ॥ २३ ॥

'नोपधात्' नकार जिस की उपधा में और 'थफान्तात्' थकार फकार जिस के अन्त में हों, ऐसे धातु से परे जो 'सेट् क्त्वा' सेट् क्त्वा-प्रत्यय, वह 'वा' विकल्प करके 'कित्' किद्वत् 'न' न हो । मथित्वा । मन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । यहां कित्त्व के विकल्प से अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता है ॥

नोपध-ग्रहण इसलिये है कि 'रेफित्वा' यहां गुण का निषेध विकल्प करके न हो ॥

और थफान्त-ग्रहण इसलिये है कि 'स्रंसित्वा, ध्वंसित्वा' यहां अनुस्वार का लोप विकल्प करके न हो ॥ २३ ॥

वञ्चिलुञ्च्यृतश्च[3] ॥ २४ ॥

[वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः । ५ । १ । च । अ० ।] वञ्चि, लुञ्चि, ऋत् इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययः किद्वद् विकल्पेन न भवति । वचित्वा । वञ्चित्वा ।

१. १ । २ । १८ ॥

२. का०—सू० १५२० ॥

चा० शा०—"वञ्चिलुञ्चिथफो वा ॥" (५ । ३ । ५४)

३. का०—सू० १५२१ ॥

चा० शा०—"वञ्चिलुञ्चिथफो वा ॥ ऋततृषमृष-कृशां वा ॥" (५ । ३ । ५४ । ६ । ३ । २०)

लुचित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतित्वा । अर्तित्वा । कित्त्वविकल्पाद् द्वयोस्त्वनुनासिकलोप-विकल्पः, एकत्र गुणविकल्पः ॥ २४ ॥

'च' और 'वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः' वञ्चि, लुञ्चि और ऋत् इन धातुओं से परे जो 'सेट् क्त्वा' सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो 'कित् न' किद्वत विकल्प करके न हो । उस से दो धातुओं में तो अनुनासिक का लोप विकल्प करके होता, और ऋत् धातु में कित्व के विकल्प से गुण विकल्प से होता है ॥ २४ ॥

तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य[1] ॥ २५ ॥

[तृषि-मृषि-कृशेः । ५ । १ । काश्यपस्य । ६ । १ ।] तृषि, मृषि, कृशि, इत्येतेभ्यः परः सेट् क्त्वा-प्रत्ययो विकल्पेन कित्र भवति काश्यपस्याचार्यस्य[2] मतेन । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । मर्षित्वा । कृशित्वा । कर्शित्वा । कित्त्वविकल्पाद् गुणविकल्पः ॥

भा०—काश्यप-ग्रहणं पूजार्थम् । 'वा' इत्येव हि वर्त्तते ॥[3]

स्पष्टार्थम् ॥ २५ ॥

'तृषि-मृषि-कृशेः' तृष्, मृष्, कृश्, इन धातुओं से परे जो 'सेट् क्त्वा' सेट् क्त्वा-प्रत्यय, सो 'वा' विकल्प करके 'कित् न' कित् न हो काश्यप ऋषि के मत से। इससे तृषित्वा, तर्षित्वा इत्यादि उदाहरणों में कित्व के विकल्प से गुण भी विकल्प करके होता है ॥

पीछे के सूत्र से इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति तो आती थी, फिर काश्यप का ग्रहण सत्कार के लिये है ॥ २५ ॥

रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च[4] ॥ २६ ॥

'वा' इति वर्तते । 'सेट्' इति च । उश्च इश्च = वी । वी उपधे यस्य, स व्युपधः ।

---

१. भा०—पृ० १५२२ ॥

चा० श०—"ऋतवञ्चतृषमृषकृशां वा ॥" (१।२।२०)

२. शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये (४ । ५ ॥ ८ । ५०)—

"(मकारनकारयोः) लोपं काश्यपशाकटायनौ ॥"

"निपातः काश्यपः स्मृतः ॥" ("काश्यपेन दृष्टा निपाताः काश्यपगोत्रा काश्यपसगोत्रा वा ।" इति उव्वटभाष्यम्)

वंशब्राह्मणे द्वितीयखण्डे—

"देवतरसः शवसायनात् पितुर्देवतरसः शावसायनः, शवसः पितुरेव शवाः, अग्निभुवः काश्यपादग्निभूः काश्यपः, इन्द्रभुवः काश्यपादिन्द्रभूः काश्यपः, मित्रभुवः काश्यपान्मित्रभूः काश्यपः, विभण्डकात् काश्यपाद् पितुर्विभण्डकः काश्यपः, ऋष्य- (पाठान्तरम्—ऋश्य-) शृङ्गात् काश्यपात् पितुर्ऋष्यशृङ्गः काश्यपः (अधीतवानिति शेषः)"

एवमपि दृश्यतां जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे (४ । ४० । १, २) तैत्तिरीयारण्यके (२ । १८) च ॥

शब्दकल्पद्रुमे—"कणादमुनिरिति त्रिकाण्डशेषः ।"

३. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥

४. भा०—पृ० ५११ ॥

चा० श०—"रलो हलादेरिदुतोः सनि च" ॥ (१ । २ । २१)

[रलः।५।१। व्युपधात्।५।१। हलादेः।५।१। सन्।१।१। च। अ०।]
उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रलन्ताद्धलादेर्धातोः परः सेट् सन् सेट् क्त्वा च विकल्पेन कितौ भवतः। दिद्युतिषते। दिद्योतिषते। द्युतित्वा। द्योतित्वा। अत्र कित्त्व-विकल्पाद् गुणविकल्पः॥

'रलः' इति किम्। देवित्वा। दिदेविषति। अत्र गुणविकल्पो न भवति॥
'व्युपधात्' इति किम्। वर्तित्वा। विवर्तिषते। [अत्र] ऋदुपधस्य न भवति॥
'हलादेः' इति किम्। एषित्वा। एषिषिषति। [अत्र] नित्यगुणः॥
चकारोऽत्र कित्त्वप्रकरणसमाप्त्यर्थः॥ २६॥

[इति कित्त्वाधिकारः]

'व्युपधात्' उ, इ जिस की उपधा हो, 'हलादेः' हल् वर्ण जिस के आदि में हो, 'रलः' रल्-प्रत्याहार जिस के अन्त में हो, ऐसे धातु से परे जो 'सेट सन्' सेट् सन् 'च' और सेट् 'क्त्वा' क्त्वा-प्रत्यय, वह 'कित् वा' कित् विकल्प करके हो। दिद्युतिषते। दिद्योतिषते। द्युतित्वा। द्योतित्वा। यहां कित्त्व के विकल्प से गुण विकल्प करके होता है॥
इस सूत्र में रल् ग्रहण इसलिये है कि 'देवित्वा, दिदेविषते' यहां गुण हो जाय॥
व्युपध-ग्रहण इसलिये है कि 'वर्तित्वा, विवर्तिषते' यहां गुण का विकल्प न हो॥
और हलादि-ग्रहण इसलिये है कि 'एषित्वा' यहां गुण नित्य ही हो जाय॥
चकार इस सूत्र में कित्त्वाधिकार की समाप्ति जनाने के लिये है॥ २६॥

[यह किदतिदेश समाप्त हुआ]

[अथ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञासूत्रम्]

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः[1]॥ २७॥

ऊ-कालः।१।१। अच्।१।१। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः।१।१॥

भा०—प्रत्येकं च काल-शब्दः परिसमाप्यते। उ-कालः, ऊ-कालः, ऊ३-काल इति॥[2]

ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च ते। छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति 'सुपां सुलुक्०[3]'॥

---

१. ऋ० प्रा० (१।१६)—"मात्रा ह्रस्वस्तावदवग्रहान्तरं द्वे दीर्घस्तिस्रः [प्लुत उच्यते स्वरः।" वा० प्रा० (१।५५, ५७, ५८)—"समानस्वरो ह्रस्वः॥ द्विस्तावान् दीर्घः॥ प्लुतस्त्रिः॥" चतुरध्यायिकायाम्—"एकमात्रो ह्रस्वः॥ द्विमात्रो दीर्घः। त्रिमात्रः प्लुतः॥" (१।५६, ६१, ६२) तुलनां च तै० प्रा०—१।३१—३२, ६५, ६६॥
२. अ० १। पा० २। आ० १॥
३. ७।१।३९॥

इति सूत्रेण जसः स्थाने सुः । एकमात्रिको द्विमात्रिकस्त्रिमात्रिकश्चाच्[1] यथाक्रमं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-सञ्ज्ञो भवति । उपगु । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[2] ॥' इति ओकारस्थाने उकारः । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य[3] ॥' [इति] दाधार । एकमात्रिकस्य स्थाने आकारो भवति । 'ओमभ्यादाने[4] ॥' [इति] ओ३म् । त्रिमात्रिको भवति ॥

काल-ग्रहणं परिमाणार्थम् । दीर्घप्लुतयोर्ह्रस्व-सञ्ज्ञा मा भूत् । आलूय । प्रलूय । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्[5] ॥' इति तुग् मा भूत् ॥

> भा०—अच्-ग्रहणं संयोग-अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम्[6] ॥ संयोगनिवृत्त्यर्थं तावत्—प्रतक्ष्य । प्ररक्ष्य । '*ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्*[5] ॥' इति तुग् मा भूत् । अच्समुदायनिवृत्त्यर्थम्—तितउच्छत्रम् । तितउच्छाया । '*दीर्घात्*[7] ॥ *पदान्ताद् वा*[8] ॥' इति विभाषा तुङ् मा भूत् ॥[9] २७ ॥

'ऊ-कालः' एकमात्रिक, द्विमात्रिक, और तीन मात्रा के जो 'अच्' स्वर हैं, उन की क्रम से 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन संज्ञा हों । अर्थात् एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत होता है । उपगु । यहां ओकार को उकार एक मात्रा का अच् ह्रस्व हुआ । दाधार । यहां अकार के स्थान में दो मात्रा का आकार दीर्घ हुआ । और 'ओ३म्' यहां ओकार के स्थान में तीन मात्रा का प्लुत हुआ है ॥

इस सूत्र में काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आलूय, प्रलूय' यहां दीर्घ की ह्रस्व-सञ्ज्ञा होके तुक् न हो ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रतक्ष्य' यहां दो हलों को एकमात्रिक मानके तुक् न हो । तथा 'तितउच्छत्रम्' [यहां] अच्-समुदाय अर्थात् दो ह्रस्व अचों को दीर्घ मानने से विकल्प करके तुक् का आगम पाता है, सो न हो ॥ २७ ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

अचश्च ॥ २८ ॥

स्थानिनियमार्था परिभाषेयम् । 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्त्तते । [अचः । ६ ।

---

१. द्रष्टव्यं शाङ्खायनश्रौतसूत्रे—"चतुर्मात्रा वा-ऽवकी प्लुतिः ॥" (१ । १ । १)

२. १ । २ । ४७ ॥

३. ६ । १ । ७ ॥

४. ८ । २ । ८७ ॥

५. ६ । १ । ७१ ॥

६. वार्त्तिकमिदम् ॥

७.,८. क्रमेण ६ । १ । ७५, ७६ ॥

९. कोष्ठस्थ—"भा० १ [१ । २ । २८ सूत्रे भा०]" इत्युद्धरणस्थानम् ॥

१ । १ । अ० ।] ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुत इति यत्र ब्रूयात्, तत्राच एव स्थाने वेदितव्याः । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[1] ॥' [इति] अतिरि । अतिनु ॥

'अचः' इति किम् । सुवाग् ब्राह्मणकुलम् । अत्र गकारस्य ह्रस्वो न भवति ।
'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः[2] ॥' [इति] चीयते । श्रूयते ॥

'अचः' इति किम् । भिद्यते । छिद्यते । अत्र हलन्तस्य दीर्घो न भवति ।
'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः[3] ॥' देवदत्ता३ ॥

'अचः' इति किम् । अग्निची३त् । तकारस्य न भवति । सञ्ज्ञाया विधाने नियमः । इह मा भूत्—द्यौः । पन्थाः । सः ॥ २८ ॥

स्थानी का नियम करने वाली यह परिभाषा है । 'अच्' और 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जिन सूत्रों में कहे हों, वहां 'अचः' अच् के ही स्थान में हों । 'ह्रस्वो नपुंसके०[1] ॥' [इस सूत्र से] 'अतिरि' यहां [रै-शब्द के] ऐकार को इकार ह्रस्व हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'सुवाग्' यहां गकार को ह्रस्व न हो । 'अकृत्सार्वधातु०[2] ॥' इस सूत्र से 'श्रूयते' यहां उकार को ऊकार दीर्घ हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'भिद्यते' यहां भिद् धातु के दकार को दीर्घ न हो । 'वाक्यस्य टेः०[3] ॥' इस सूत्र से 'देवदत्ता३' यहां प्लुत हुआ है ॥

अच्-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्निची३त्' यहां तकार को प्लुत न हो; परन्तु संज्ञा से जहां विधान किया है, वहीं अच् के स्थान में हो । अर्थात् कहीं अकार विधान किया हो, तो अकार की ह्रस्व-संज्ञा है, इससे अच् के स्थान में न हो, किन्तु ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, इन शब्दों से ही जहां विधान हों, वहीं नियम रहे । जैसे—द्यौः । यहां औकारादेश विधान है, और औकार की दीर्घ-सञ्ज्ञा है, तो अच् के स्थान में न हो ॥ २८ ॥

अथ स्वरसंज्ञाः ॥

उच्चैरुदात्तः[4] ॥ २९ ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते । [उच्चैः । अ० । उदात्तः । १ । १ ।]
समाने स्थान उच्चैः प्रकारेणोच्चार्यमाणोऽच् उदात्त-सञ्ज्ञो भवति । औपगवः । अत्र 'आद्युदात्तश्च[5] ॥' इत्यण् उदात्तः ॥

---

१. १ । २ । ४७ ॥
२. ७ । ४ । २५ ॥
३. ८ । २ । ८२ ॥
४. सौ०— सू० ३ ॥
ऋ० प्रा० (३ । १)—
"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥"
वा० प्रा०—"उच्चैरुदात्तः ॥" (१ । १०८)
तै० प्रा०—"उच्चैरुदात्तः ॥" (१ । ३८)
चतुरध्यायिकायाम् —"समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् ॥" (१ । १४)
५. ३ । १ । ३ ॥

भा०—स्वयं राजन्त इति स्वराः[1], अन्वग् भवति व्यञ्जनम्[2] ॥
आयामः, दारुण्यं, अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य[3] ।
आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता = रूक्षता ।
अणुता खस्य = कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥
समाने प्रक्रम[4] इति वक्तव्यम् । कः पुनः प्रक्रमः । उरः, कण्ठः, शिर इति[5] ॥[6]

उच्चैःकराणि = उदात्तविधायकानि लक्षणानि । प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन् वर्णाः, तत् स्थानं प्रक्रमः । तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागभाक्तोऽच्, स उदात्त-सञ्ज्ञो भवति स्वरितात् पूर्वः ॥ २९ ॥

जिस का 'उच्चैः' ऊंचे गुण से उच्चारण हो, उस 'अच्' स्वर की 'उदात्तः' उदात्त-सञ्ज्ञा हो । औपगव: । यहां अण्-प्रत्यय का अकार उदात्त हुआ है ॥

उदात्त पर [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] कोई चिह्न नहीं होता[7] । प्रायः स्वरित से पूर्व, या दो अनुदात्तों के बीच में, या अनुदात्त से

---

१. द्रष्टव्यं गोपथब्राह्मणे (पू० ५ । १४)— "तद्यत् स्वरति, तस्मात् स्वरः । तत् स्वरस्य स्वरत्वम् ।" [(१४ । ११ । ६)
अथ शतपथब्राह्मणे— "प्राणो वै स्वरः ।"

२. द्रष्टव्यं संहितोपनिषद्ब्राह्मणे— "यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि, एवं सर्वान् [illegible] ।"
द्रष्टव्यं वा० प्रा०— "व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् ॥" (१ । १०७)

३. द्रष्टव्यं तै० प्रा०— "आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥" (२२ । ९)

४. द्रष्टव्यं चतुरध्यायिकायाम्— "समानयमे० ॥" (१ । १४)

५. द्रष्टव्यं तै० प्रा०— "मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति ॥ उरसि मन्द्रम् ॥ कण्ठे मध्यमम् ॥ शिरसि तारम् ॥" (क्रमेण २२ । ११ ॥ २३ । १०–१२)

६. कोष्ठक— "भा० १ [स्था०]" [illegible] ॥

७. काश्मीर से प्राप्त ऋग्वेद के एक कोश में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व रेखा (।) है, जो अक्षर के ऊपर दी गई है । तथा जात्यादि स्वरित के ऊपर दीर्घ ऊकार के चिह्न के सदृश (ॗ) चिह्न दिया गया है । अनुदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं ॥
मैत्रायणी और काठक संहिताओं में उदात्त का चिह्न ऋग्वेद के स्वरितचिह्न के समान है ॥
सामवेद में उदात्त स्वर पर एक का अंक (१) दिया जाता है, किन्तु यदि उदात्त से उत्तर अक्षर स्वरित न हो, तो उस पर दो का अंक (२) देते हैं । जैसे— "य३ज्ञा२नां३ हो१ता३ वि१श्वे२षाम् ।" और यदि निरन्तर दो उदात्त हों, तो दूसरे उदात्त पर कोई चिह्न न लगाकर उत्तर स्वरित पर (२र) ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे— "द्वि३षो१ मर्त्य२र स्य ।" यदि दोनों उदात्तों के पश्चात् स्वरित न हो, तब प्रथम उदात्त पर (२उ) ऐसा चिह्न देते हैं । जैसे— "ए३ष२उ स्य पी३त१ये२ ।"

आगे बिना चिह्न उदात्त होता है। स्वरित से परे एकश्रुति पर भी कोई चिह्न नहीं होता ॥

स्वर उस को कहते हैं कि जो बिना किसी की सहायता से प्रकाशमान हो। और व्यंजन वह होता है कि जो दूसरे की सहायता से अपना काम दे सकने को समर्थ हो। सो उदात्तादि सात [प्रकार के] स्वर होते हैं, वे इसी प्रकरण में आगे लिखेंगे ॥

'आयामः' उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहियें कि शरीर के सब अवयवों को सख़्त कर लेना, अर्थात् ढीले न रहें। 'दारुण्यम्' शब्द के निकलने के समय सख़्त रूखा स्वर निकले, अर्थात् कोमल नहीं। 'अणुता' और कण्ठ को रोक लेना, अर्थात् फैलाना नहीं। ऐसे यत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहलाता है। यही उदात्त का लक्षण है ॥

उदात्त स्वर [प्रायः] स्वरित के पूर्व होता है, क्योंकि 'उदात्तादनु०'[1]॥' इस सूत्र से उदात्त से परे ही स्वरित का विधान है ॥ २९ ॥

नीचैरनुदात्तः[2] ॥ ३० ॥

प्रथमानिर्दिष्टमच्-ग्रहणमनुवर्त्तते। [नीचैः । अ० । अनुदात्तः । १ । १ । १] समाने स्थाने नीचैर्गुणेनोच्चार्यमाणोऽच् अनुदात्त-सञ्ज्ञो भवति। औपगवः। अत्र 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्[3] ॥' इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वाच्छेषस्यानुदात्तत्वम् ॥

भा०—अन्ववसर्गः, मार्दवं, उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य[4]। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता=स्निग्धता। उरुता खस्य=महत्ता कण्ठस्येति नीचैः-कराणि शब्दस्य ॥[5]

नीचैःकराणि=अनुदात्तविधायकानि लक्षणानि सन्ति ॥ ३० ॥

एक स्थान में 'नीचैः' नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया हुआ जो 'अच्' स्वर है, उस

शतपथ ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न ऋग्वेद के अनुदात्त के समान है। कई निरन्तर उदात्तों में प्रायः अन्तिम उदात्त के नीचे ही चिह्न देते हैं। विराम से पूर्व उदात्त के नीचे (...) इस प्रकार से चिह्न देते हैं, यदि विराम के पश्चात् प्रथम अक्षर भी उदात्त अथवा स्वरित हो, तो। उपान्त्य उदात्त अक्षर के नीचे या विराम के आगे उदात्त और स्वरित अथवा कभी २ अनुदात्त अक्षर होने पर भी ऐसा ही चिह्न देते हैं। जैसे—"०त्तु-ह्रो ति। ऋ भ०" "०नी प्रु। म पु०"

माध्यन्दिन शतपथ के समान ही उपलब्ध ताण्डिन् तथा लुप्त कालबविन्, भाल्लविन् और शाट्यायनिन् ब्राह्मणों के स्वर थे॥ (देखो पुष्पसूत्र ८।१८४॥ भाषिकसूत्र ३।११॥ नारदीयाशिक्षा १।१५)

१. ८ । ४ । ६६ ॥

२. सौ०—सू० ४ ॥

वा० प्रा० (१ । १०९), तै० प्रा० (१ । ३९) च समानं सूत्रम् ॥

चतुरध्यायिकायाम्—"[समानयमेऽक्षरं] नीचै-रनुदात्तम् ॥ (१ । १५)

३. ६ । १ । १५८ ॥

४. तुलना तै० प्रा०—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि ॥" (२२।१०) [स्वलम् ॥

५. कोशेऽत्र—'भा० २ [व्या०]' इत्युद्धरण-

को 'अनुदात्त:' अनुदात्त कहते हैं। औपगव: । यहां प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होने से 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'[1] [इस] सूत्र करके शेष अनुदात्त हुए हैं। अनुदात्त का [(–) ऐसा] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] नीचे लगता है[2] ॥

अनुदात्त का उच्चारण ऐसा करना कि 'अन्ववसर्ग:०' शरीर के अवयवों को ढीले कर देना, कोमलता से शब्द का उच्चारण करना, और कण्ठ को फैलाके बोलना चाहिये, अर्थात् कण्ठ को रोकना नहीं। इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं। यही इस का लक्षण है ॥ ३० ॥

समाहारः स्वरितः[3] ॥ ३१ ॥

'अच्' इत्यनुवर्त्तते । समाहारोऽस्मिन्नस्तीति मत्वर्थीयोऽकारः । उदात्तानुदात्तगुणयोः समाहारोऽच् स्वरित-सञ्ज्ञो भवति । क्व । 'तित् स्वरितम्[4] ॥' इति सूत्रेण स्वरितो विधीयते । स्वरितस्त्वनुदात्तात् पर एव भवति । क्वचित्[5] केवलोऽपि भवति ॥

भा०—'त्रैस्वर्येणाधीमहे' त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा । एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः । य इदानीमुभयगुणः, स तृतीयामाख्यां लभते—स्वरित इति ॥[6]

त्रैस्वर्यमिति स्वार्थे ष्यञ् । अन्यत् स्पष्टार्थम् ॥ ३१ ॥

---

१. ६ । १ । १५८ ॥

२. अथर्ववेद के कुछ कोशों में अनुदात्त स्वर के नीचे रेखाओं के स्थान में बिन्दु लगे मिलते हैं, तथा स्वरित स्वर के ऊपर ऊर्ध्व रेखा के स्थान में अक्षर के अन्दर ही बिन्दु लगे हैं ॥
मैत्रायणी और काठक संहिताओं में अनुदात्तस्वर का चिह्न ऋग्वेदीय अनुदात्तचिह्न के समान है ॥
सामवेद में प्रश्लिष्ट, जात्य, अभिनिहित और क्षैप्र स्वरितों से पूर्व अनुदात्त का चिह्न (३क) स्वर के ऊपर लिखा जाता है। जैसे—तं३क २र न्वा । सत्यादन्य चिह्न (३) है ॥

३. नी०—सू० ६ ॥
वा० प्रा०—"उभयवान् स्वरितः ॥" (१।११०)
तै० प्रा०—"समाहारस्स्वरितः ॥" (१ । ४०)
चतुरध्यायिकायाम्—"[समानयमेऽक्षरं] आक्षिप्त) स्वरितम् ॥" (१ । १६)

४. ६ । १ । १८५ ॥

५. क्षैप्र-जात्य-प्रश्लिष्ट-अभिनिहिताः स्वरिता अनुदात्तात् परः शब्दादौ वा भवन्ति । उदाहरणानि यथाक्रमम्—व्यो मा, प्र ष्ट्व ई म र् । स्व र्, क न्या । सू द्गा ता, दि वी'व । ते'ऽनु व न् ॥

६. कोशेऽत्र—"अ० १ [व्या०]" इत्युक्तरस्थलम् ॥

उदात्त और अनुदात्त गुण का जिस में 'समाहारः' मेल हो, वह 'अच्' अच् 'स्वरितः' स्वरित-सञ्ज्ञक हो। 'क्वं' इस शब्द में 'तित्स्वरितम्[1] ॥' इस सूत्र से स्वरित हुआ है। स्वरित का [(॑) ऐसा ऊर्ध्वरेखात्मक] चिह्न [ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में] अक्षर के ऊपर किया जाता है[2]। स्वरित उदात्त से परे होता है, और कहीं केवल भी होता है॥

भा०—हम लोग तीन प्रकार के स्वरों से पढ़ते पढ़ाते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त गुण वाले, कहीं अनुदात्त गुण वाले और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुण वाले स्वरों से नियमानुसार उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रंग अलग २ होते हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रंग उत्पन्न होता है, उस का तीसरा नाम पड़ता है, अर्थात् खाकी या आसमानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक् २ हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उस को स्वरित कहते हैं॥ ३१॥

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्[3] ॥ ३२ ॥

तस्य । ६ । १ । आदितः । [अ०।] उदात्तम् [।१।१।] अर्धह्रस्वम् । १ । १ ।

तस्य स्वरितस्यादावर्धह्रस्वमर्धमात्रमुदात्तं भवति। आदावित्यादितः। 'तसिप्रकरण आद्यादीनामुपसंख्यानम्[4]॥' इति वार्त्तिकेन तसिः प्रत्ययः। ह्रस्वस्यार्द्धमित्यर्धह्रस्वम्।

---

१. ६ । १ । १८५ ॥

२. उदात्त अक्षर से पूर्व ह्रस्व स्वरित का चिह्न (॒) इस प्रकार होता है। जैसे—अप्स्वन्तर्। तथा दीर्घ स्वरित का (॒) इस प्रकार। जैसे—रा यो ३ व निः॥

मैत्रायणी और काठक संहिता में केवल स्वरित अथवा अनुदात्त के पीछे आने वाले स्वरित के नीचे (͜) इस प्रकार का चिह्न दिया जाता है। जैसे—वीर्यम्। किन्तु काठक संहिता में यदि उदात्त अक्षर परे हो, तो स्वरित अक्षर के नीचे काकपदचिह्न (़) दिया जाता है॥

सामवेद में स्वरित का चिह्न (२) अक्षर के ऊपर दिया जाता है। अनुदात्त और दो उदात्तों के पश्चात् आने वाले स्वरित तथा केवल स्वरित का चिह्न (२र) है। जैसे—त्वा॥

शतपथ ब्राह्मण में अनुदात्त के समान स्वरित का भी कोई चिह्न नहीं होता॥

३. वा० प्रा०—"तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्॥" (१ । १२६)

चतुरध्यायिकायाम्—"स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्॥" (१ । १७)

परन्तु इस्यतां ऋ० प्रा० (तृतीयपटले)—

"एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः।

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा॥ १॥

"अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत्।

उदात्तं वोच्यते किञ्चित् स्वरितं वाक्षरं परम्॥ २॥"

तथा च तै० प्रा० (प्रथमाध्याये)—"तस्यादितरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य॥ ४१॥ उदात्तसमः शेषः॥ ४२॥ व्यञ्जनोऽपि॥ ४३॥ अनन्तरो वा नीचैस्तराम्॥ ४४॥ अनुदात्तसमो वा॥ ४५॥ आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः॥ ४६॥ सर्वः प्रचयः (=स्वरितः) इत्येके॥ ४७॥

४. पाठान्तरम्—आद्यादिभ्यः॥

५. महाभाष्ये "प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः॥" (५ । ४ । ४४) इति सूत्रव्याख्याने इदं वार्त्तिकम्॥

'अर्धं नपुंसकम् [1] ॥' इति तत्पुरुषः समासः । कन्ये [2] । **'आमन्त्रितस्य च ॥'** इत्याद्युदात्तम् । 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः [3] ॥' इति स्वरितः । तत्र द्विमात्रस्य दीर्घस्याद्यर्धमात्रमुदात्तं, अन्यत् सार्धमात्रमनुदात्तं भवति ॥

> भा०—किमर्थं पुनरिदमुच्यते । आमिश्रीभूतमिवेदं भवति । तद्यथा—क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियत् क्षीरं कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरं, कस्मिन् वोदकमिति । एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते, कियदुदात्तं कियदनुदात्तं, कस्मिन्नवकाशे उदात्तं, कस्मिन्ननुदात्तमिति । तदाचार्य्यः सुहृद् भूत्वान्वाचष्टे, इयदुदात्तमियदनुदात्तं, अस्मिन्नवकाश उदात्तमस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तमिति ॥
>
> यद्ययमेवं सुहृत् किमन्यान्यप्येवंजातीयकानि नोपदिशति । कानि पुनस्तानि । स्थानकरणनादानुप्रदानानि [4] ॥
>
> व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या । सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलभ्याधिगन्तुमुत्सहते ॥ [5]

छन्दःशास्त्रेषु = शिक्षादिग्रन्थेषु लिखितानि सन्त्येव । पुनरुक्तिं मत्वा नोपदिष्टानि । पठनमप्येषां पूर्वमेव । 'शिक्षाकल्पोऽथ व्याकरणम् [6]' शिक्षाकल्पौ पठित्वा व्याकरणस्य पठनं, तस्मात् ताभ्यामुत्तरा विद्या । यत्तत्र नोक्तं, तदत्रोक्तम् ॥

> भा०—स्वरितस्यार्द्धह्रस्वोदात्तात् आ *'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः [7] ॥'* इत्येतस्मात् सूत्रादिदं सूत्रकाण्डमूर्ध्वं *'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः [3] ॥'* इत्यतः कर्त्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । **'स्वरिताद्'** इति सिद्धिर्यथा स्यात् । *'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् [8] ॥'* इति । *'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि [9] ॥'*

'तस्यादितः० ॥' इत्यारभ्य **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः [7] ॥'** इत्यन्तं सूत्रनवतयमष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादान्ते **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः [3] ॥'** इत्यस्मात् परं

---

1. २।१।२ ॥
2. ६।१।१९८ ॥
3. ८।४।६६ ॥
4. पाठान्तरम्—स्थानकरणानुप्रदानानि ॥
5. कोशेऽत्र—"भा० १ [भ्या०]" इत्युद्धरणस्खलनम् ॥
6. मुण्डकोपनिषदपि (१।१।५)—"शिक्षा कल्पो व्याकरणम् ।" इति स एव क्रमः ॥
7. १।२।४० ॥
8. १।२।३९ ॥
9. ऋ०—१०।७५।५ ॥

विज्ञेयम् । 'पूर्वत्रासिद्धम्[1]॥' इति स्वरितस्यासिद्धत्वाद् अत्र स्थानिस्वरकार्याण्येकश्रुत्यादीनि न प्राप्नुवन्ति । तदर्थोऽयं यत्नः ॥

अत्र काशिकाकृज्जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयो विप्रवदन्ते 'ह्रस्व-ग्रहणमतन्त्रम्[2]'। 'अर्धमित्यप्रयोजनम् । एतत्तेषां भ्रम एवास्ति । कथम् । यदि ह्रस्वग्रहणं निष्प्रयोजनं स्यात्, तर्हि महाभाष्यकार एव शङ्कां कुर्यात् । महाभाष्यकारेण तूक्तं 'मात्रचोऽत्र लोपो द्रष्टव्यः । अर्धह्रस्वमात्रं = अर्धह्रस्वम्[3]।' इति प्रत्युत प्रतिपादनं दृश्यते ॥ ३२ ॥

पूर्व सूत्र में जो स्वरित विधान है, उस के तीन भेद होते हैं—ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित, प्लुतस्वरित । सो 'तस्य' उस स्वरित के 'आदितः' आदि में 'अर्धह्रस्वम्' आधी मात्रा 'उदात्तं' उदात्त और सब अनुदात्त होता है । 'कन्ये' । इस शब्द में ककार में तो उदात्त और 'न्ये' में स्वरित है । वह स्वरित दीर्घ है । उस के आदि में आधी मात्रा उदात्त है, और सब अनुदात्त ॥

'किमर्थं पुन०' इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई चीज़ होती है, उस में नहीं जाना जाता कि कितना क्या है । जैसे दूध और जल मिल जाते हैं, तो यह नहीं मालूम होता कि कितना दूध और कितना जल है, तथा किधर दूध और किधर जल है । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इससे मालूम नहीं होता कि कितना उदात्त और कितना अनुदात्त, तथा किधर उदात्त और किधर अनुदात्त है । इसलिये भिन्न होके पाणिनिजी महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, कि जिससे मालूम हुआ कि इतना उदात्त और इतना अनुदात्त, तथा इधर उदात्त और इधर अनुदात्त है ॥

(प्रश्न) जो आचार्य अर्थात् पाणिनिजी महाराज ऐसे परम विद्वान् थे, तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं ।—(प्र०) वे बातें कौन हैं । (उ०) स्थान, करण, नादानुप्रदान ।—(उत्तर) व्याकरण अष्टाध्यायी जब बनाई गई, उस से पूर्व ही शिक्षा आदि ग्रन्थों में ये स्थान आदि का विस्तार लिख चुके थे । क्योंकि शब्द के उच्चारण में जो साधन हैं, वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें और उन ग्रन्थों में लिख चुके, फिर अष्टाध्यायी में लिखते, तो पुनरुक्त दोष पड़ता । इसलिये जो बातें यहां नहीं लिखीं, उन को वहां प्रसिद्ध किया । तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा अङ्ग है । किन्तु सब से प्रथम मनुष्यों को शिक्षा के ग्रन्थ पढ़ाये जायेंगे, तब स्थानादि की सब बातें जान लेंगे । पीछे व्याकरण पढ़ेंगे । इस प्रकार पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया ॥

'तस्यादितः० ॥' इस सूत्र से लेके 'उदात्तस्वरितपरस्य०[4]॥' इस सूत्र पर्यन्त जो नव सूत्र अष्टमाध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त में 'उदात्तादनु०[5]॥' इस सूत्र से पर समझो

---

१. ८ । २ । १ ॥

२. काशिकासिद्धान्तकौमुद्योरिदं वचनम् । शब्दकौस्तुभे च—"ह्रस्वग्रहणमविवक्षितम् ।" इति ॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

४. १ । २ । ४० ॥

५. ८ । ४ । ६६ ॥

चाहियें, क्योंकि उदात्त से परे स्वरित विधान नहीं किया है। और स्वरित से परे अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर विधान यहां किया है, तो यहां के कार्यों की दृष्टि में अष्टमाध्याय का स्वरित-विधान असिद्ध माना जायगा, फिर स्वरित के कार्य यहां नहीं होंगे। इसलिये यह यत्न है॥

इस सूत्र के व्याख्यान में काशिका के बनाने वाले जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि लोगों ने लिखा है कि इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण निष्प्रयोजन है। सो यह केवल इन की भूल है, क्योंकि जो ह्रस्व-ग्रहण का कुछ प्रयोजन न होता, तो महाभाष्यकार अवश्य प्रसिद्ध करते, किन्तु महाभाष्यकार ने तो इस में एक शब्द का लोप माना है। 'अर्धह्रस्वमात्रम्' इस में से मात्र-शब्द का लोप हो गया है। अथवा ऐसा कोई समझे [कि] महाभाष्यकार ने नहीं जाना इन लोगों ने जान लिया, तो यह बात असम्भव है। इस से इन्हीं लोगों का दोष समझा जाता है॥ ३२॥

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ[1] ॥ ३३ ॥

एकश्रुति। १। १। दूरात्। ५। १। सम्बुद्धौ। ७। १। यत्र वेदपर्य्यायः श्रुति-शब्दस्तत्र करणसाधनः। अत्र तु भावसाधनः—श्रवणं = श्रुतिः। उदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथक् विभक्तानामेका श्रुतिः = श्रवणं यस्य स्वरस्य, स एकश्रुतिः स्वरः। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति मत्वा 'सुपां सुलुक्०[2]॥' इति विभक्तेर्लुक्। 'सम्बुद्धिः' इत्यकृत्रिमस्य ग्रहणं—सम्बोधनं सम्यग् ज्ञापनं सम्बुद्धिः, न तु कृत्रिमस्यैकवचनं सम्बुद्धिरिति। दूरात् सम्बुद्धौ सत्यां सम्यगाह्वानेऽभिगम्यमाने सत्युदात्तानुदात्तस्वरितानां पृथक् पृथगुच्चारणविभागयुक्तानामेकश्रुतिः स्वरो भवति। आगच्छ भो माणवक देवदत्ता३। अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथङ् नोच्चरिता भवन्ति॥

'दूरात्' इति किम्। आगच्छ भो भवदेव। अत्रोदात्तानुदात्तस्वरिताः पृथक् पृथगुच्चार्यन्ते॥

> भा०—त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः। उदात्ततरः। अनुदात्तः। अनुदात्ततरः। स्वरितः। स्वरिते य उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः। एकश्रुतिः सप्तमः॥[3]

'तरनिर्देशः'—सूत्रेषु 'सन्नतरः, उच्चैस्तराम्' इत्यर्थः। तेनैवे सप्त स्वराः सूत्रेभ्य एव निस्सरन्ति। तद्यथा—'उच्चैस्तराम्[4]' इति शब्देनोदात्ततरः, 'सन्न-

---

१. सौ०—पृ० ८॥

द्रष्टव्यं कात्यायनश्रौतसूत्रे—"एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यासामजपन्यूङ्खयाजमानवर्जम्॥" (१। ६४)

२. ७। १। ३९॥

३. कोष्ठस्थ—"भा० १ [भा०]" इत्युक्तरूपस्थलम्॥

४. "उच्चैस्तरां वा वषट्कारः॥" (१ २ ३५)

तरः'' इति शब्देनानुदात्ततरः । 'तस्यादित०[2]॥' इति सूत्रेण स्वरितोदात्तः । चत्वारस्तु स्पष्टतरा एव । एवं सप्त स्वराः सिध्यन्ति ॥

अस्मिन् सूत्रे जयादित्यादिभिरेकश्रुति-शब्दो वाक्यविशेषणत्वेन व्याख्यातः । तद्यथा—'एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति वाक्यमिति[3]।' नैतत् सम्भवति । कथम् । अस्मिन् सूत्रे तु वाक्यविशेषणेन कार्य्यं सेत्स्यति, परन्तूत्तरत्र महान् दोष आयाति । तद्यथा—'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्[4]॥' इति स्वरितादनुदात्तस्य, स्वरितादनुदात्तयोः, स्वरितादनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरो भवति । एकस्य वर्णस्य, द्वयोर्वर्णयोः, बहूनां च वर्णानाम् । न तु स्वरितात् पराणि वाक्यान्येकश्रुतीनि भवितुमर्हन्ति । अतस्तत्कथनमवशमेवास्तीति मन्तव्यम् ॥ ३३ ॥

'दूरात्' दूर से अच्छी प्रकार बल से 'सम्बुद्धौ' बुलाने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों का 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर हो, अर्थात् एक तान श्रवण हो, अर्थात् ये स्वर पृथक् २ सुनने में न आवें । जैसे—आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ । यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन का पृथक् २ उच्चारण नहीं होता ॥

'दूरात्' इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'आगच्छ भो भवदेव' यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का पृथक् २ उच्चारण हो ॥

'त एते०।' इत्यादि महाभाष्यकार के व्याख्यान से सात प्रकार के स्वर सूत्रों से निकलते हैं । [१] उदात्त, [२] अनुदात्त, [३] स्वरित, [४] एकश्रुति, 'उच्चैस्तराम्' इस शब्द से [५] उदात्ततर, 'सन्नतरः' इस शब्द से [६] अनुदात्ततर, 'तस्यादित०[2]॥' इस सूत्र से [७] उदात्तानुदात्त एक स्वर निकलता है । उदात्तानुदात्त [और] स्वरित का [परस्पर] भेद है, कि जिस में यह जाना जाय कि इतना उदात्त इतना अनुदात्त और इधर उदात्त इधर अनुदात्त है, उस को उदात्तानुदात्त कहते हैं । और स्वरित का विषय यह रहा कि उदात्तानुदात्त का मेलमात्र का होना । ये लोक वेद में सर्वत्र सात प्रकार के स्वर होते हैं ॥

इस सूत्र में पंडित जयादित्यादि लोगों ने एकश्रुति-शब्द [को] वाक्य का विशेषण रक्खा है, कि एक प्रकार का जिस में श्रवण हो, ऐसा वाक्य हो । सो ये केवल भूल गये, क्योंकि इस सूत्र में तो वाक्य के विशेषण रखने से काम चल जाता है, परन्तु आगे 'स्वरितात् संहिता०[4] ॥' इस सूत्र में बड़ा भारी दोष आवेगा, क्योंकि वहां एक, दो और बहुत वर्णों को एकश्रुति स्वर होता है । वाक्य का विशेषण होने से कभी नहीं बन सकता । और एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण होने से सर्वत्र कार्य सिद्ध होते हैं । तथा महाभाष्यकार ने भी इसी सूत्र में एकश्रुति-शब्द स्वर का विशेषण रक्खा है । इससे इन लोगों का विवरण उपेक्षणीय है ॥ ३३ ॥

---

१. "उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः॥" (१।२।४०)

२. १ । २ । ३२ ॥

३. काशिकायाम्—"एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति । एकश्रुति वाक्यं भवति ।" एवमेव सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभ-मिताक्षरादिषु ॥

४. १ । २ । ३९ ॥

यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु[1] ॥ ३४ ॥

यज्ञकर्मणि । ७ । १ । अजप-न्यूङ्ख-सामसु । ७ । ३ । यज्ञकर्मणि वेदमन्त्रपाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिः स्वरो भवति, जप-न्यूङ्ख-सामानि वर्जयित्वा । यज्ञश्चासौ कर्म = यज्ञकर्म, तस्मिन् । यज्ञ-शब्दो बहुष्वर्थेषु[2] प्रयुक्तोऽस्ति । अत्र तु वेदमन्त्रैरग्नौ हवनं क्रियाकाण्डं गृह्यते । एतदर्थं यज्ञ-शब्दस्य विशेषणाय कर्म-शब्दस्योपादानम् ।

'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन[3] ॥' १ ॥
'उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते०[4] ॥' [२ ॥]

इत्यादिमन्त्रैर्यज्ञकर्माणि कर्माणि कुर्वन् उदात्तानुदात्तस्वरितविभागमन्तरेण मन्त्राः पठनीयाः । जपश्च यज्ञकर्म, तत्रैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु विभागेनैवोच्चारिता भवन्ति । न्यूङ्खाः = स्तोत्रविशेषाः[5], तत्राप्येकश्रुतिर्न भवति । सामवेदे

---

१. लौ०—सू० ११ ॥
का० भा०—"सामजपन्यूङ्खवर्जम् ॥" (१ । १११)
कात्यायनश्रौतसूत्रे—"एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यान्त्यामजपन्यूङ्खयाजमानवर्जम् ।" (१ । १६४)

२. यथा—"यज्ञो वै मनुः ।" (श० १ । २)
"यज्ञो वै महिमा ।" (श० ११ । २)
"ब्रह्म हि यज्ञः ।" (श० ब्रा० ५ । ३ । २ । ४)
"सैषा त्रयी विद्या यज्ञः ।" (श० ब्रा० १ । १ । ४ । ३)
"अयं वाव यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते ।" (ऐ० ब्रा० ३ । १६ । १) [१२ ॥...]
"यज्ञ एव सविता ।" (गो० ब्रा०—पू० १ ।
"पुरुषो वै यज्ञः ।" (कौ० ब्रा० २० । ७)

३. ऋ०—८ । ४४ । १ ॥
यजु०—३ । १ ॥ १२ । ३० ॥
तै०—४ । २ । ३ । १ ॥
तै०—२ । ७ । १० ॥

का०—७ । १३ ॥

४. य०—१५ । ५४ ॥
का०—१८ । १८ ॥

५. आश्वलायनश्रौतसूत्रे (७ । ११) न्यू ('न्यु' वा) कृत्वा व्याख्यातः—"चतुर्थेऽहनि मरुत्वतीयप्रतिपदि षष्ठ्यायामोकारं न्यूङ्खः ॥ १ ॥ द्वितीयं स्वरं नीचैरुद्गात्रो जितः ॥ २ ॥ तस्य तस्य चोर्ध्वमदावायिना ॥ ३ ॥ उत्तमस्य तु त्रीन् ॥ ४ ॥ पूर्वमक्षरं निहन्यते न्यूङ्ख्यमाने ॥ ५ ॥ तदपि विदर्शनायोदाहरिष्यामः ॥ ६ ॥ आपो३ उ उ उ उ उ ओ ३ उ उ उ उ उ ओ ३ उ उ उ इच स्वस्वपस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते । वयोधो३मायो३ ॥ ७ ॥" (वाचस्पत्याभिधानादुद्धृतम् ।)

कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये (१।१६४) कर्क०—
"न्यूङ्खास्तु पृष्ठ्ये षडहे होतृवेदे प्रसिद्धाः ओकारा द्वादश—'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ३ सुषाव हर्यश्वाद्रिः ॥' इत्यादयः ॥"

तु कार्यैकश्रुतिर्न भवति, किन्तूदात्तानुदात्तस्वरितभेदेनैवोच्चारणं सर्वत्र क्रियते । स्वरत्रयविभागेनैव वेदमन्त्राः सर्वत्र पठ्यन्ते । अतः कारणात् सर्वत्र विभागप्रयोगे प्राप्त एकश्रुतिर्विधीयते ॥ ३४ ॥

'यज्ञकर्मणि' यज्ञकर्म अर्थात् होम करने में जो मंत्र पढ़ते हैं, वहां उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन की 'एकश्रुति' एकश्रुति हो, अर्थात् पृथक् २ अवयव न हों । परन्तु 'अजप-न्यूङ्ख-सामसु' जप करने; न्यूङ्ख—किसी [= विशेष] प्रकार के वेद के ओंकारों का नाम है, वहां, तथा सामवेद, ये तीन जगह एकश्रुति न हो, किन्तु तीनों स्वर पृथक् २ बोले जायें ॥

'समिधाग्निं०' ॥' इत्यादि मन्त्र यज्ञ में स्वरभेद के बिना ही पढ़े जाते हैं । तीनों स्वर के विभाग से वेदमन्त्रों का पाठ होता है । इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक् २ उच्चारण प्राप्त था । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ ३४ ॥

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः[1] ॥ ३५ ॥

'यज्ञकर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । यज्ञकर्मणि वषट्कार[2] उच्चैस्तरां = उदात्ततरो विकल्पेन भवति । पक्ष एकश्रुतिः । 'वषट्कारैः सरस्वती । वषट्कारैः सरस्वती[3] ।' विकल्पेनोदात्ततरः स्वरो भवति ॥

'यज्ञकर्मणि' इति किम् । वषट्कारैः सरस्वती[4] । अत्र मा भूत् ॥ ३५ ॥

'यज्ञकर्मणि' यज्ञकर्म में वषट्कारः' वषट्कार जो शब्द है, वह 'उच्चैस्तराम्' उदात्ततर विकल्प करके हो । पक्ष में एकश्रुति स्वर होता है ॥ ३५ ॥

विभाषा छन्दसि[5] ॥ ३६ ॥

'यज्ञकर्मणि' इति निवृत्तम् । 'वा' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्विभाषा-ग्रहणं 'यज्ञकर्मणि' इति निवृत्त्यर्थम् । वेदमन्त्राणां सामान्येनोच्चारणे कर्त्तव्ये उदात्तानुदात्तस्वरितानां विभाषा एकश्रुतिः स्वरो भवति । पक्षे यथोक्ताः स्वरा भवन्ति । 'अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्निमीळे पुरोहितम्[6] । इषे त्वोर्जे त्वा । इषे त्वोर्जे त्वा[7] । शन्नो देवीरभिष्टये । शन्नो देवीरभिष्टये[8] । ऋग्यजुरथर्वणां त्रयाणां वेदानामिमानि क्रमे-

---

१. देखो पृष्ठ १२४ टिप्पणी ३ ॥

२. सौ०—सू० १२ ॥

३. यथा दित्यस्तु—"वषट्-शब्देनात्र वौषट्-शब्दो लक्ष्यते । 'वौषट्' इत्यस्यैवेदं स्वरविधानम् ॥" एवमेवान्येऽपि ॥

४. वा०—२१ । ५१ ॥ मै०—४ । ११ । २ ॥

५. सौ०—सू० १३ ॥

६. ऋ०—१ । १ । १ ॥ अपि च सामवेद-आरण्यसंहितायां (१ । ४) अन्यासु च तैत्तिरीयकाठकादिसंहितासु ।

७. वा०—१ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

८. अ०—१ । ६ । १ ॥ अन्यत्र च ॥

योदाहरणानि । सामवेदे तु विशेषबाधकप्रतिषेधस्य विद्यमानत्वात् '०अजपन्यूङ्खसामसु' ॥' इत्येकश्रुतिर्न भवति । पूर्वेषूदाहरणेषु येषां वर्णानामुपरि स्वरचिह्नानि न सन्ति, तान्युदाहरणान्येकश्रुतेः, अन्यानि यथोक्तानि । जयादित्येनैतन्नावबुद्धं, सामवेदे प्रतिषेधो बाधकोऽस्तीति । कथम् । तेन चतुर्णां वेदानां विकल्पेन मन्त्रा उदाहृताः । सामवेदे तु नित्यं त्रैस्वर्येणैवोच्चारणं भवतीति ॥ ३६ ॥

'छन्दसि' वेद मन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर 'विभाषा' विकल्प करके रहता है। जहां एकश्रुति स्वर होता है, वहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का भिन्न २ उच्चारण नहीं होता, और एक पक्ष में सब का भिन्न २ उच्चारण होता है। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में सर्वत्र तीनों स्वर भिन्न २ उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि 'यज्ञकर्म०' ॥ इस सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध किया है। परन्तु जयादित्य पंडित ने यह बात नहीं जानी कि सामवेद में एकश्रुति स्वर नहीं होता, क्योंकि उन्होंने इस सूत्र के विकल्प में चारों वेद के उदाहरण दिये हैं ॥ ३६ ॥

न सुब्रह्मण्यायां, स्वरितस्य तूदात्तः[2] ॥ ३७ ॥

'यज्ञकर्मणि०'[1]॥' 'विभाषा छन्दसि'[3]॥' इति सूत्रेण चैकश्रुतौ स्वरे प्राप्तेऽनेन प्रतिषिध्यते । सुब्रह्मण्यायां निगदे[4]=व्याख्यानरूपे पाठे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिः स्वरो न भवति, किन्तु तत्र स्वरितस्योदात्तो भवति । शतपथब्राह्मणे तृतीयकाण्डे तृतीयप्रपाठके प्रथमब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकामारभ्य विंशतिकण्डिकापर्य्यन्तं यो वेदमन्त्रस्य व्याख्यानरूपः पाठोऽस्ति, तस्य सुब्रह्मण्या-सञ्ज्ञाऽस्ति[5] ।

---

१. १ । २ । ३४ ॥

२. सौ०—सू० १४ ॥
का० श्रौ०—१ । १६४ ॥

३. १ । २ । ३६ ॥

४. भट्टोजिदीक्षितादिभिस्तु निगद-शब्दो "परस्य व्याख्यानार्थमुच्चैः पठ्यमानः पादबन्धरहितो यजुर्मन्त्रविशेषः ।" इत्येवमादिकं व्याख्यायते ॥ (द्रष्टव्यास्तावत् शब्दकौस्तुभ-पदमञ्जरी-न्यासादयः)

५. अयं स ब्राह्मणपाठः—"अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात् तान् ब्रूयादित्यहे वः पक्तास्मीति, एवमेवैतद् देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति—सुब्रह्मण्यो३म् सुब्रह्मण्यो३मिति । ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति । त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ १७ ॥ इन्द्रागच्छेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाहेन्द्रागच्छेति, हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति तान्येवास्य चरणानि, तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति ॥ १८ ॥ कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति । शश्वद्धैनदारुणिनाभ्युपेताद् यद् गौतम ब्रुवाणेति स यदि कामयेत ब्रूयादेतद् यदु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यहे सुत्यामिति यावदहे सुत्या भवति ॥ १९ ॥ देवा ब्रह्माण आगच्छतेति । तद् देवांश्च ब्राह्मणांश्चाह, एतैर्ह्युभयैरर्थो भवति यद् देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥ २० ॥"

६. मन्त्रस्यापि सञ्ज्ञा "सुब्रह्मण्या" इत्येव ॥ (द्रष्टव्याम्—ऐ० ब्रा० ६ । ३ । १ ॥ कौ० ब्रा० २७ । ६ ॥ श० ब्रा० ४ । ६ । ६ । १५ ॥ ...)

तत्र सुब्रह्मण्यायां सूत्रैः प्राप्तस्य मूलमन्त्रशब्देषु स्वरितस्य स्थाने उदात्त आदेशो भवति ॥

> भा०—सुब्रह्मण्यायामोकार उदात्तो भवति । 'सुब्रह्मण्योम्'[1]।' आकार आख्याते परादिश्चोदात्तो भवति । 'इन्द्र आगच्छ ।' 'हरिव आगच्छ ।' वाक्यादौ च द्वे द्वे उदात्ते भवतः । 'इन्द्र आगच्छ । हरिव आगच्छ ।'
>
> मघवन्वर्जम्[2]॥ आगच्छ मघवन्[3]। सुत्यापराणामन्त उदात्तो भवति । 'द्व्यहे सुत्याम् । त्र्यहे सुत्याम्[4]।'
>
> 'असौ' इत्यन्त उदात्तो भवति । गार्ग्यो यजते । 'अमुष्य' इत्यन्त उदात्तो भवति । दाक्षेः पिता यजते । स्यान्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति । [अन्त्यश्च ।] गार्ग्यस्य पिता यजते । वा नामधेयस्य स्यान्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता यजते ॥[5]

'सुब्रह्मण्यायाम्' इत्यारभ्य 'त्र्यहे सुत्याम्' इत्यन्तः पाठः सूत्रस्यैव व्याख्यानं नापूर्वम् । अग्रे तु सूत्रेण न सिध्यति, तदपूर्वमेव विधीयते । सुब्रह्मन्-शब्दात् साध्वर्थे यत् । 'तित् स्वरितम्[6]॥' [इति] सुब्रह्मण्य-शब्दः स्वरितान्तः । वर्ज्यमानस्वरेण पूर्वे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । सुब्रह्मण्य-शब्दाद्धापि कृतेऽनुदात्तेन टाप आकारेण सह सुब्रह्मण्य-शब्दस्यैकादेशः सिद्धत्वात् स्वरित एव । एवं सुब्रह्मण्या-शब्दः स्वरितान्तः । तस्मादोमि परे 'ओमाङोश्च[7]॥' इत्युदात्तस्वरितयोः पररूप एकादेशः स्वरितः । एवमोकारः स्वरितः, तस्याऽनेनोदात्त आदिश्यते । सुब्रह्मण्योम् । इन्द्र आगच्छ । इन्द्र-शब्द 'आमन्त्रितस्य च[8]॥' इत्याद्युदात्तः । तस्य द्वितीयो वर्णो वर्ज्यमानस्वरेणानुदात्तः । तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[9]॥' इति स्व-

१. क्वचिद्विशिष्टान्यत्र स्वरचिह्नानि ॥

२. वार्त्तिकमिदम् ॥

३. अत्र नागेशः—"स्वः सुत्यामागच्छ मघवन् इति वाच्यम् ।" (अपि च काशिकाशब्दकौस्तुभादयः)

४. नागेशोऽत्र—"सुत्याशब्दः (परो येभ्यस्तेषां सुत्यापराणाम्) इति सर्वनामककार्याभावात् बहुव्रीहित्वनिश्चयः । स्वः शब्दस्थाने 'द्व्यहे' इत्याहुः ॥"

५. कोशेऽत्र—"भा० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

६. ६ । १ । १८५ ॥

७. ६ । १ । ९५ ॥

८. ६ । १ । १९८ ॥

९. ८ । ४ । ६६ ॥

रितः । तस्य स्वरितस्यानेनोदात्तविधानम् । 'आगच्छ' इत्यत्र 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्'[1] ॥' इति प्रातिशाख्यसूत्रेणाकार उदात्तः । तस्मात् परं 'गच्छ' इति तिङन्तं निहन्यते । तत्र 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'[2] ॥' इति गकारः स्वरितः । तस्य स्वरितस्य गकारस्यानेन सूत्रेणोदात्तो विधीयते । एवं चत्वारो वर्णा उदात्ताः, छकार एकोऽनुदात्तः । एवं 'हरिव आगच्छ' इत्यत्र पूर्वेणैव क्रमेण पूर्वोक्तपदयोर्द्वौ द्वावुदात्तौ वकारछकारावनुदात्तौ च स्तः । आगच्छ मघवन् । अत्र पूर्ववदाकारगकारावुदात्तौ । 'आमन्त्रितस्य च'[3] ॥' इत्याष्टमिकेन मघवन्-शब्दस्य निघातः । 'द्व्यहे सुत्यां, त्र्यहे सुत्याम्' इति द्व्यह-त्र्यह-शब्दौ टजन्तत्वादन्तोदात्तौ । सुत्या-शब्दोऽन्तोदात्तः । 'सञ्ज्ञायां समज०'[4] ॥ इति सूत्रेणोदात्तानुवृत्त्या क्यबुदात्तः । 'सु' इत्यनुदात्तः, तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'[2] ॥' इति स्वरितः । तस्यानेन सूत्रेणोदात्तादेशः । एवमन्ते त्रयो वर्णा उदात्ताः, आद्योऽनुदात्तः ॥

'असौ' इति प्रथमैकवचनस्योपलक्षणम् । गार्ग्यो यजते । यञन्तस्याद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तो विधीयते । 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'[2] ॥' इति यकारस्य स्वरितः, तस्यानेनोदात्तः । 'अमुष्य' इति षष्ठ्येकवचनस्योपलक्षणम् । दाक्षेः पिता यजते । दाक्षि-शब्द इञन्तः । ञित्त्वादाद्युदात्ते प्राप्तेऽन्तोदात्तविधानम् । पितृ-शब्दस्तृजन्तत्वादन्तोदात्तः । तत्राद्यक्षरस्य 'पि' इत्यस्योदात्तात् परस्यानुदात्तस्य स्वरितः, ततोऽनेनोदात्तः । पश्चाद् यकारस्य स्वरितो भूत्वोदात्तः । एवमादावेकोऽनुदात्तः, मध्ये चत्वारो वर्णा उदात्ताः, अन्ते द्वावनुदात्तौ । गार्ग्यस्य पिता यजते । उपोत्तमं [अन्त्यात् पूर्वतनं] तृतीयवर्णादिकमुच्यते । तत्र स्यान्तस्यान्तोदात्तत्वात् पूर्ववद् गत्वा मध्ये षड् उदात्ताः, आद्यन्तयोरेको द्वौ चानुदात्तौ । नामधेये विकल्पेनोपोत्तममुदात्तं भवति । देवदत्तस्य पिता यजते । देवदत्तस्य पिता यजते । एवमिदं सूत्रं बहुविषयकं भवतीति ॥ ३७ ॥

'सुब्रह्मण्यायाम्' यहां [अर्थात् सुब्रह्मण्या निगद में] सूक्त मन्त्र के शब्दों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को जो 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर प्राप्त है, सो 'न' न हो, 'तु' किन्तु 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'उदात्तः' उदात्त आदेश हो जाय । पूर्व सूत्रों से जो एकश्रुति स्वर प्राप्त था, उस का इस सूत्र से निषेध किया है । शतपथ ब्राह्मण में तृतीय कांड तृतीय प्रपाठक

---

१. सूत्रमिदं ऋक्-शुक्लयजुः-तैत्तिरीय-अथर्वप्रातिशाख्येषु चतुरध्यायिकायां वा न क्वचिदुपलभ्यते ॥

२. ८ । ४ । ६६ ॥

३. ८ । १ । १९ ॥

४. ३ । ३ । ९९ ॥

के प्रथम ब्राह्मण में सत्रहवीं कण्डिका से लेके बीस कण्डिका पर्यन्त जो पाठ अर्थात् वेद मन्त्रों के शब्दों का व्याख्यान है, वह सुब्रह्मण्या नाम से लिया है। सुब्रह्मन्-शब्द से तद्धित में यत्-प्रत्यय होता है। वह 'तित् स्वरितम्[1]॥' इस सूत्र से स्वरित हो जाता है। उस स्वरित और टाप्-प्रत्यय के अनुदात्त आकार का एकादेश होके सुब्रह्मण्या-शब्द स्वरितान्त होता है। उस का उदात्त ओकार के साथ एकादेश होके स्वरित ही बना रहता है, फिर इस सूत्र से उस स्वरित को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्र आगच्छ। हरिव आगच्छ' इत्यादि शब्दों में स्वरित के स्थान में उदात्त होता और एकश्रुति का निषेध होता है। गार्ग्यो यजुषे इत्यादि प्रयोगों में [जो] सूत्र से सिद्ध नहीं होती, सो बात इन वार्त्तिकों से विधान की है कि गार्ग्य-शब्द में आद्युदात्त स्वर प्राप्त था, सो इस वार्त्तिक से अन्तोदात्त विधान किया है। इस प्रकार सूत्र का विषय बहुत है, थोड़ा सा लिख दिया॥ ३७॥

देवब्रह्मणोरनुदात्तः[2] ॥ ३८ ॥

देवब्रह्मणोः। ६। २। अनुदात्तः। १। १। 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य' इत्यनुवर्त्तते। ['एकश्रुति' इति च।] पूर्वोक्तायां सुब्रह्मण्यायामुदात्तानुदात्तस्वरितानां देव-ब्रह्मन्-शब्दयोः एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु लक्षणप्राप्तस्य स्वरितस्यानुदात्तादेशो भवति। 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः[3]॥' इति स्वरितस्योदात्ते प्राप्तेऽनुदात्तो विधीयते॥

> भा०—देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेक इच्छन्ति। देवा ब्रह्माणः। देवा ब्रह्माणः॥[4]

अत्र 'एक इच्छन्ति' इति वचनाद्विभाषाऽनुदात्तत्वं विज्ञेयम्। देव-ब्रह्मन्-शब्दावामन्त्रितौ। तेन 'विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्[5]॥' इति विशेषवचन आमन्त्रिते ब्रह्माणः शब्दे परे पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वं विकल्पेन भवति। अविद्यमानपक्षे आष्टमिकस्यामन्त्रितस्याप्रवृत्तिः, तदा द्वयोः पदयोः षाष्ठिकेन 'आमन्त्रितस्य च[6]॥' इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्। शेषाणां 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[7]॥' इति स्वरिते कृते स्वरितस्थानेन सूत्रेणानुदात्तः। विद्यमानत्वपक्षे तु पूर्वस्यामन्त्रितस्य विद्यमानत्वादाष्टमिकेन 'आमन्त्रितस्य च[8]॥' इति सूत्रेणोत्तरपदस्य निघातः, पूर्वपदस्य

१. ६। १। १८५॥
२. सौ०—सू० २०॥
३. १। २। ३७॥
४. केशेऽत्र—"भा० १ [स्वा०]" इत्युद्धरण-स्थलम्॥
५. ८। १। ७४॥
६. ६। १। १९८॥
७. ८। ४। ६६॥
८. ८। १। १९॥

घात्विकेनाद्युदात्तत्वम् । पश्चात् 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[१] ॥' इति स्वरितः । तस्य पूर्वेणोदात्तत्वम् ॥ ३८ ॥

'सुब्रह्मण्यायाम्' सुब्रह्मण्या व्याख्यान के बीच में जो [मूलमन्त्र में] 'देवब्रह्मणोः' देव- और ब्रह्मन्-शब्द हैं, उन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर 'न' न हो, 'तु' किन्तु उन दोनों शब्दों में 'स्वरितस्य' स्वरित के स्थान में 'अनुदात्तः' अनुदात्त हो जाय। पूर्व सूत्र से एकश्रुति स्वर का निषेध होके स्वरित के स्थान में उदात्त पाता था, उस का बाधक यह सूत्र है ॥

महाभाष्य के व्याख्यान से इस सूत्र में विकल्प करके स्वरित को अनुदात्त होता है। सो जिस पक्ष में स्वरित को अनुदात्त होता है, वहां 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा प्रयोग बनता है, और जहां स्वरित को अनुदात्त नहीं होता, वहां पूर्व सूत्र से स्वरित के स्थान में उदात्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्[२] ॥ ३९ ॥

['एकश्रुति' इत्यनुवर्त्तते ।] स्वरितात् । ५ । १ । संहितायाम् । ७ । १ । अनुदात्तानाम् । ६ । ३ ॥

भा०—एकशेषनिर्देशोऽयम् । अनुदात्तस्य चानुदात्तयोश्चानुदात्तानां च = अनुदात्तानामिति ॥[३]

अनेनैतद्विज्ञायते—[संहितापाठे] स्वरितात् परस्य एकस्यानुदात्तस्य, स्वरितात् परयोर्द्वयोरनुदात्तयोः, स्वरितात् परेषां बहूनामनुदात्तानां चैकश्रुतिः स्वरो भवति। क्रमेणोदाहरणानि—'अग्निमीळे पुरोहितम्[४]।' अत्रान्तोदात्तात् अग्नि-शब्दात् परस्याः 'ईळे' इति क्रियाया निघाते कृते 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः[१] ॥' इति ईकारस्य स्वरितः । तस्मादीकारात् स्वरितात् परस्य 'ळे' इत्येकस्यानुदात्तस्यैकश्रुतिः स्वरो विधीयते। 'होतारं रत्नधातमम्[४]।' अत्र होतृ-शब्दस्तृजन्तत्वादाद्युदात्तः । उदात्तादाद्यक्षरात् परस्य द्वितीयस्य पूर्ववत् स्वरितः। तस्मात् स्वरितात् परयोर्द्वयो रेफयोरनेन सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरः । 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति[५]।' इदं-शब्दोऽन्तोदात्तः । तस्मात् परस्य 'तेमयावेकवचनस्य[६] ॥' इति अस्मत्-शब्दस्य मे-आदेशोऽनुदात्तः । तस्योदात्तात् परस्य पूर्ववत् स्वरितः । तस्मात् स्वरितात् परेषां बहूनामामन्त्रितसञ्ज्ञकानां गङ्गे-प्रभृतीनामनेन सूत्रेणैकश्रुतिः स्वरो भवति ॥

---

१. ८ । ४ । ६६ ॥
२. तै० — प्र० २१ ॥ [स्वलम् ॥
३. कैयटस्थ—"भा० १ [व्या०]" इत्युद्धरण-
४. ऋ० — १ । १ । १ ॥
५. ऋ० — १० । ७५ । ५ ॥
६. ८ । १ । २२ ॥

संहिता-ग्रहणं किमर्थम् । इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति[1] । अत्र सूत्रस्यास्य प्रवृत्तिर्न भवति पदानां पृथक्त्वात् ॥ ३९ ॥

'स्वरितात्' स्वरित से परे 'संहितायाम्' संहिता अर्थात् पदों को मिलाके पाठ करने में 'अनुदात्तानाम्' एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ 'एकश्रुति' एकश्रुति स्वर होता है । इस सूत्र में अनुदात्त-शब्द का एकशेष हो गया है । जैसे एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक् २ कार्य होता है । 'अग्निमीळे[2]' यहां स्वरित 'मी' से परे 'ळे' [इस] एक अनुदात्त वर्ण को एकश्रुति स्वर हुआ है । 'होतारं रत्नधातमम्[3]।' यहां स्वरित 'ता' अक्षर से परे जो रेफ अनुदात्त अक्षरों को इस सूत्र से एकश्रुति स्वर हुआ है । 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति[1] ।' यहां 'मे' स्वरित अक्षर है । उस से परे सब अनुदात्त हैं । उन को एकश्रुति स्वर इस सूत्र से हुआ है ॥

संहिता-ग्रहण इसलिये है कि 'इमम् । मे । गङ्गे । यमुने । सरस्वति[1]।' यहां एकश्रुति स्वर न हो ॥ ३९ ॥

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः[4] ॥ ४० ॥

[अनुदात्त-ग्रहणमनुवर्त्तते, 'स्वरितात्' इति च ।] उदात्तस्वरितपरस्य । ६ । १ । सन्नतरः । १ । १ । पूर्वेणैकश्रुतौ सत्यां विशेषविषयेऽनेन बाध्यते । उदात्तश्च स्वरितश्च = उदात्तस्वरितौ । उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात्, तस्यानुदात्तस्य । स्वरितात् परस्य उदात्तस्वरितपरस्यानुदात्तस्य सन्नतरोऽनुदात्ततरादेशो भवति, किन्त्वेकश्रुतिर्न भवतीति । 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः[4] ।' [अत्र] पूर्व-शब्द आद्युदात्तः, तत्र स्वरिताद् वकारात् परस्य भिसोऽनुदात्तस्य ऋषि-शब्द आद्युदात्ते परे एकश्रुतिः स्वरो न भवति । 'वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि[5] ।' अत्र 'द्यौ' इत्युदात्तात् परो यो रेफः स्वरितः, तस्मात् परे त्रयो वर्णा अनुदात्ताः । पृथिवी-शब्दोऽन्तोदात्तः । तस्माद् 'असि' इत्यनुदात्ते शब्दे परे उदात्तस्य स्थाने यण्-आदेशे कृते "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य[6] ॥" इत्युदात्तस्थाने यो यण् तस्मात् परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति । तत्र स्वरितविशिष्टाद् रेफात् परेषामनुदात्तानां पूर्वेण सूत्रेणैकश्रुतौ प्राप्तायां सत्यां 'व्य' इति स्वरिते परतः 'थि' इत्यनुदात्तस्यैकश्रुतिर्न भवति, किन्तु सन्नतर एव जायते ॥४०॥

[इति स्वरसञ्ज्ञाः]

---

१. ऋ०—१० । ७५ । ५ ॥
२. ऋ०—१ । १ । १ ॥
३. शौ०—सू० २२ ॥
४. ऋ०—१ । १ । २ ॥
५. मा०—१ । २ ॥
६. ८ । २ । ४ ॥

'उदात्तस्वरितपरस्य' उदात्त और स्वरित जिस से परे हों, उस ['स्वरितात्' स्वरित से परे] अनुदात्त को एकश्रुति [एकश्रुति स्वर] न हो किन्तु 'सन्नतरः' अत्यन्त अनुदात्त हो जाय । पूर्व सूत्र से सामान्य विषय में एकश्रुति स्वर प्राप्त था, सो इस सूत्र से विशेष विषय में एकश्रुति स्वर का निषेध होता है । पू नँ इन्द्रि पि बिं' यहां पूर्व शब्द आद्युदात्त है । उस में वकार स्वरित है । उस से परे निघ् विभक्ति को उदात्त वकार के परे [होते हुए भी] एकश्रुति स्वर पाना था, सो न हुआ, किन्तु उस को अनुदात्ततर हो गया । तथा 'द्यौरसि पृथिव्यसि' ।' यहां द्यावी-शब्द अन्तोदात्त है, और 'द्यौ' के आगे जो रेफ है, उस स्वरित [रेफ] से परे 'सि पृ थि' इन तीनों को एकश्रुति पाना है, सो 'ध्य' [इस] स्वरित के आगे होने से उस को अनुदात्ततर आदेश हो जाता है ॥ ४० ॥

[यह स्वरसञ्ज्ञाधिकार पूरा हुआ]

[अथ अपृक्तसञ्ज्ञाप्रकरणम्]

अपृक्त एकाल् प्रत्ययः[1] ॥ ४१ ॥

अपृक्तः । १ । १ । एकाल् । १ । १ । प्रत्ययः । १ । १ । एकश्चासावल् वर्णः, स चासौ प्रत्ययः । एकाल्प्रत्ययोऽपृक्त-सञ्ज्ञो भवति । अमथ्नीत् । असेधीत् । अत्र 'अस्तिसिचोऽपृक्ते[3] ॥' इत्यपृक्त-सञ्ज्ञके तिपस्तकारे परत ईट्-आगमो विधीयते ॥

'एकाल्' इति किम् । दर्विः[4] । जागृविः[5] । अत्र विन-प्रत्ययः [क्विन्-प्रत्ययश्च] अनेकाल् ॥

'प्रत्ययः' इति किम् । 'सुराः' इत्यत्र सुरः सकारस्यापृक्त-सञ्ज्ञा मा भूत् । सुरा-शब्दात् क्यचि सुकि सति नाम धातोः क्विप् । आत्मनः सुरामिच्छति [इति] सुरास्यति । सुरास्यतीति सुराः । अतो लोपः । 'यस्य हलः[6] ॥' इति लोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः०[7] ॥' इति सु-लोपो न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यदल्-ग्रहणे [क्रियमाणे] एक-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः, अन्यत्र वर्ण-ग्रहणं जाति-

---

१. वा०—१ । २ ॥ [(१ । १५१)
२. द्रष्टव्यं वा० प्रा०—"एकवर्णः पदमपृक्तम् ॥" द्रष्टव्या दे० प्रा०—"एकवर्णः पदमपृक्तः ॥" (१ । ५४)
३. ७ । ३ । ९६ ॥
४. "दृदृभ्यः विन् ॥" इत्युणादिसूत्रम् । (४।५३)
५. "जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् ॥" इत्युणादिसूत्रम् । (४ । ५४)
६. ६ । ४ । ४९ ॥
७. ६ । १ । ६८ ॥

ग्रहणं भवतीति[1] । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'दम्भेर्हल्-*ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्* ॥' इत्युक्तं तदुपपन्नं भवति ॥[3]

अत्र एक-ग्रहणज्ञापकेनेयं परिभाषा निस्सरति । 'हलन्ताच्च[4] ॥' इति सूत्रेऽयं विषयो लिखितः ॥ ४१ ॥

'एकाल्' एक अल् जो 'प्रत्ययः' प्रत्यय है, वह 'अपृक्तः' अपृक्त-संज्ञक हो। अर्थात् केवल एकवर्ण प्रत्यय की अपृक्त-सञ्ज्ञा होती है। जैसे आसीत्। यहां 'त्' इस वर्ण की अपृक्त-सञ्ज्ञा होने से ईट्-आगम हुआ है ॥

एकाल्-ग्रहण इस लिये है कि 'दर्विः' यहां वि-प्रत्यय अनेकाल् है, उस की अपृक्त-सञ्ज्ञा न हुई ॥

प्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'सुरा' यहां सुट्-आगम के एकाल् सकार का लोप 'हल्ङ्याब्भ्यो०[5] ॥' [इस सूत्र] से न हो। नामधातु में सुरा-शब्द से क्यच् [होके] उस का क्विप् के परे लोप हुआ। अनुबन्धों के अनेकान्त पक्ष में यह दोष है। अनुबन्धों के अनेकान्त होने में यह भी एक ज्ञापक है। ट्-अनुबन्ध को एकान्त मानें, तो सुट् का सकार है ॥

इस सूत्र में अल्-ग्रहण से सिद्ध था, फिर एक-शब्द के ग्रहण से 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति[3] ॥' यह परिभाषा निकली है कि एक वर्ण के ग्रहण में तज्जाति का ग्रहण होता है ॥ ४१ ॥

[अथ कर्मधारय-सञ्ज्ञासूत्रम्]

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥ ४२ ॥

तत्पुरुषः । १ । १ । समानाधिकरणः । १ । १ । कर्मधारयः । १ । १ । तत्पुरुषोऽयं समास-सञ्ज्ञाशब्दः । समानमधिकरणं यस्य, स समानाधिकरणस्तत्पुरुषः कर्मधारय-सञ्ज्ञो भवति । पाचकवृन्दारिका । 'पाचिका चासौ वृन्दारिका' इति समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कृते कर्मधारय-सञ्ज्ञाश्रयणात् 'पुंवत् कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु[5] ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ॥

'तत्पुरुषः' इति किम् । पाचिकाभार्यः—पाचिका भार्या यस्य—इति बहुव्रीहौ पुंवद्भावो न भवति ॥

---

१. परि०—सू० ११२ ॥
२. "हलन्ताच्च ॥" (१ । २ । १०) इति सूत्रव्याख्याने इदं वाच्यम् ॥
३. कोष्ठस्थ—"भा० १ [भा०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥
४. १ । २ । १० ॥
५. ६ । १ । ६८ ॥
६. ६ । ३ । ४२ ॥

'समानाधिकरणः' इति किम् । जीविकाप्राप्तः—प्राप्तो जीविकाम् । 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया[1] ॥' इति सूत्रेण तत्पुरुषः समासः । तत्र पुंवन्न भवति ॥४२॥

'समानाधिकरणः' समानाधिकरण अर्थात् एक पदार्थ जनाने वाले दो शब्दों का जो 'तत्पुरुषः' तत्पुरुष समास है, उस की 'कर्मधारयः' कर्मधारय-सञ्ज्ञा होती है । पाचकवृन्दारिका । यहां कर्मधारय-सञ्ज्ञा के होने से पूर्व पद स्त्रीलिङ्ग पाचिका-शब्द को पुंवद्भाव हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि 'पाचिकाभार्यः' यहां बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव नहीं हुआ ॥

और समानाधिकरण-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'जीविकाप्राप्तः' यहां तत्पुरुष समास में [पूर्वपदप्रकृतिस्वर आदि] कर्मधारय का कार्य नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ उपसर्जन-सञ्ज्ञासूत्रम्]

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[2] ॥ ४३ ॥

प्रथमानिर्दिष्टम् । १ । १ । समासे । ७ । १ । उपसर्जनम् । १ । १ । प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं = प्रथमानिर्दिष्टम् । समासे = समासविधायके सूत्रे । समासविधानेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । 'कष्टश्रितः, नरकश्रितः' [इत्यत्र] 'द्वितीया श्रितातीत०[3] ॥' इति द्वितीयान्तं प्रथमानिर्दिष्टं, तस्योपसर्जन-सञ्ज्ञत्वात् 'उपसर्जनं पूर्वम्[4] ॥' इति पूर्वनिपातः ॥

> भा०—'उपसर्जनम्' इति महतीयं[5] सञ्ज्ञा क्रियते । तत्र महत्याः सञ्ज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनं, अन्वर्था सञ्ज्ञा[6] यथा विज्ञायेत—अप्रधानमुपसर्जनमिति ॥[7] ४३ ॥

'समासे' समास विधान करने वाले सूत्रों में 'प्रथमानिर्दिष्टम्' प्रथमा विभक्ति से पढ़े हुए जो शब्द हैं, उन की 'उपसर्जनम्' उपसर्जन-सञ्ज्ञा होती है । नरकश्रितः । यहां नरक-शब्द की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होने से प्रथम लिखते और उच्चारण करते हैं ॥

'उपसर्जनम्' यह बड़ी सञ्ज्ञा की है । उस का प्रयोजन यह है कि सार्थक सञ्ज्ञा समझी जाय ॥ ४३ ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते[8] ॥ ४४ ॥

'समास उपसर्जनम्' इत्यनुवर्तते । एकविभक्ति । १ । १ । च । [अ० ।]

---

१. २ । ३ । ४ ॥
२. सा०—पृ० ५२ ॥
३. २ । १ । २४ ॥
४. २ । २ । ३० ॥
५. पाठान्तरम्—इति हि महती ॥
६. पाठान्तरम्—अन्वर्थसञ्ज्ञा ॥
७. अ० १ । पा० २ । आ० १ ॥
८. सा०—पृ० ५१ ॥

अपूर्वनिपाते । ७ । १ । एका विभक्तिर्यस्य तत् पदम् । 'अपूर्वनिपाते' इति पर्युदासः प्रतिषेधः । तेन पूर्वेण [सूत्रेण] प्राप्तोपसर्जन-सञ्ज्ञा न प्रतिषिध्यते । समासविधानेषु योगेषु एकविभक्ति यत् पदं, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति, 'अपूर्वनिपाते' पूर्वनिपातं = पूर्वनिपातकार्यं विहाय । द्व्यादिपदानां समासो भवति । तत्र यस्मिन् पद एकैव विभक्तिर्भवति, तदुपसर्जन-सञ्ज्ञं भवति । तत्सम्बन्धिनि सर्वा अपि भवन्तु । तद्यथा—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया[1] । मालामतिक्रान्तः = अतिमालः । खट्वामतिक्रान्तः = अतिखट्वः । मालामतिक्रान्तेन = अतिमालेन । मालामतिक्रान्ताय = अतिमालाय । मालामतिक्रान्तात् = अतिमालात् । मालामतिक्रान्तस्य = अतिमालस्य । मालामतिक्रान्ते = अतिमाले । हे मालामतिक्रान्त = अतिमाल । अत्र नियतद्वितीयाविभक्त्यन्तो माला-शब्दः। सर्वविभक्त्यन्तश्च क्रान्त-शब्दः । तत्र माला-शब्दस्योपसर्जन-सञ्ज्ञाकरणात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[2] ॥' इत्युपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्य माला-शब्दस्य ह्रस्वो भवति ॥

'अपूर्वनिपाते' इति किमर्थम् । माला-शब्दस्य पूर्वनिपातो मा भूत् ॥ ४४ ॥

समास दो आदि [अर्थात् दो वा दो से अधिक] पदों का होता है । 'च' और उस समास के विषय में जिस पद में सात विभक्तियों में से कोई 'एकविभक्ति' एक विभक्ति नियम से हो, उस पद की 'उपसर्जनम्' उपसर्जन-सञ्ज्ञा हो, और उस पद के सम्बन्धी दूसरे पद में सब विभक्ति भी हों, परन्तु जिस नियतविभक्ति पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा है, वह 'अपूर्वनिपाते' पूर्व न हो । जैसे—अतिमालः । यहां माला-शब्द की उपसर्जन सञ्ज्ञा के होने से उस को ह्रस्व हो गया है ॥

इस सूत्र में अपूर्वनिपात-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि माला-शब्द समास करने में पूर्व न हो जाय ॥ ४४ ॥

[अथ प्रातिपदिक-सञ्ज्ञासूत्रं]

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४५ ॥

अर्थवत् । १ । १ । अधातुः । १ । १ । अप्रत्ययः । १ । १ । प्रातिपदिकम् । १ । १ । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् । नित्ययोगे मतुप्-प्रत्ययः । शब्दार्थसम्बन्धा नित्याः । 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासः प्रतिषेधः । अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिक-सञ्ज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा । डित्थः । सार्थ-

[1] २ । २ । २ । ४८ ॥ [2] नो०—सू० ५ ॥

धातुकम् । अर्थं शातुकम् । कुण्डम् । काण्डम् । धनम् । वनम् । अत्र अर्थवतः प्रातिपदिक-सञ्ज्ञत्वात् स्वाद्युत्पत्तिः ॥

'अर्थवत्' इति किमर्थम् । 'धनं, वनम्' इति पृथक् पृथग् वर्णानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सत्यां केवलस्य नकारस्यापि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात् । तत्र 'न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य[1] ॥' इति न-लोपः प्रसज्येत । एतेषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थकाः ॥

'अधातुः' इति किमर्थम् । 'अहन् वृत्रं वृत्रतरम्[2] ।' अत्र 'अहन्' इति धात्वन्तस्य यदि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य[1] ॥' इति न-लोपः प्राप्नोति ॥

'अप्रत्ययः' इति किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । यद्यत्र प्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा स्यात्, तर्हि 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[3] ॥' इति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत ॥ ४५ ॥

'अर्थवत्' अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिकम्' प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है 'अधातुः' धातु और 'अप्रत्ययः' प्रत्ययान्त शब्दों को छोड़के । अर्थवान् शब्द में नित्ययोग अर्थ में मतुप् प्रत्यय होना अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । इससे शब्द अर्थवान् कहाते हैं । 'डित्थ । कपित्थ' इत्यादि अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होने से विभक्तियों का उत्पन्न होना आदि कार्य सिद्ध होते हैं ॥

इस सूत्र में अर्थवत् शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'धनं, वनम्' इन शब्दों में एक एक वर्ण की पृथक् २ जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो नकार का लोप पाता है सो न हो ॥

अधातु ग्रहण इसलिये है कि 'अहन् वृत्रम्' यहां अहन् क्रिया की जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो तो नकार का लोप हो जाय ॥

और अप्रत्यय-ग्रहण इसलिये है कि 'काण्डे, कुड्ये' यहां जो प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो, तो इन शब्दों को ह्रस्व पाता है, सो न हो ॥ ४५ ॥

कृत्तद्धितसमासाश्च[4] ॥ ४६ ॥

कृत्-तद्धित-समासाः । १ । ३ । च । अ० । कृच्च तद्धितश्च समासश्च ते । कृदन्तानां तद्धितप्रत्ययान्तानां समासस्य च प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा भवति । कृत्—कर्त्तव्यम् । हर्त्तव्यम् । कारकः । हारकः । कर्त्ता । हर्त्ता । तद्धितः—

---

१. ८ । २ । ७ ॥
२. ऋ०—१ । ३२ । ५ ॥ मै०—४ । १२ । ३ ॥
३. १ । २ । ४७ ॥
४. वा०—सू० ६ ॥

औपगवः । कापटवः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । गार्ग्यः । वात्स्यः । समास[१]—कष्ट-श्रितः । नरकाश्रितः । शङ्कुलाखण्डः । यूपदारु । वृकभयम् । राजपुरुषः । अ-क्षशौण्डः । अत्र सर्वत्र प्रातिपदिक-सञ्ज्ञाश्रयणात् स्वाद्युत्पत्तिः । पूर्वस्मिन् सूत्रे 'अधातुरप्रत्ययः' इति पर्युदासप्रतिषेधात् कृत्तद्धितानामपि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्तः । तदनेन विधीयते ॥

भा०—समास-ग्रहणं किमर्थम् । अर्थवत्समुदायानां समास-ग्रहणं नियमार्थं भविष्यति[१] ॥[२]

समास एवार्थवतां समुदायानां प्रातिपदिक-सञ्ज्ञो भवति नान्य इति । अने-नैतज्ज्ञातव्यं—अर्थवतां पदानां समुदायस्य = अर्थवतो वाक्यस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा मा भूत् । इदमेव समास-ग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

पूर्व सूत्र में धात्वन्त और प्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा का प्रतिषेध किया है, इसलिये इस सूत्र में कृदन्त और तद्धितान्त का विधान किया है । 'च' और 'कृत्तद्धित-समासाः' कृत्प्रत्ययान्त शब्द, तद्धितप्रत्ययान्त शब्द और समास के शब्द, ये सब 'प्रातिपदि-कम्' प्रातिपदिक-सञ्ज्ञक हों । कर्त्तव्यम् । यहां कृदन्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है । औपगवः । यहां तद्धितान्त की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है और 'राजपुरुष' यहां समास की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा है । इन सब के [प्रातिपदिक] होने से विभक्ति उत्पन्न होती हैं ॥

इस सूत्र में समास-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि अर्थवान् पदों के समुदाय की जो प्राति-पदिक-सञ्ज्ञा हो, तो समास ही की हो, अर्थात् पदों का समुदाय जो अर्थवान् वाक्य हो, उस की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा न हो ॥ ४६ ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य[३] ॥ ४७ ॥

ह्रस्वः । १ । १ । नपुंसके । ७ । १ । प्रातिपदिकस्य । ६ । १ । न-पुंसकलिङ्गे वर्त्तमानस्याजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति । 'अलोऽन्त्यस्य[४] ॥' इति सूत्रेणान्तादेशो विधीयते । 'अचश्च[५] ॥' इति परिभाषयाऽजुपलभ्यते । अ-तिरि कुलम् । उपगु कुलम् । 'अतिरि' इति ऐकारस्य ह्रस्व इकारः । 'उपगु' इति ओकारस्य ह्रस्व उकारो भवति ॥

'नपुंसके' इति किमर्थम् । ग्रामणीः । सेनानीः । अत्र ह्रस्वो न भवति ॥

---

१. भाष्ये तु "इति" इति पाठः ॥

२. कोशेऽत्र—"अ० २ [आ०]" इत्युद्धरणस्थलम् ॥

३. सा०—पृ० ३ ॥

४. १ । १ । ५१ ॥

५. १ । २ । २८ ॥

आ० शा०—"सुपि ह्रस्वः ॥" (२ । १ । ८४)

प्रातिपदिक-ग्रहणं किमर्थम् । काण्डे । कुड्ये । अत्रापि प्रातिपदिकाभावे ह्रस्वत्वं न भवति ॥ ४७ ॥

'नपुंसके' नपुंसकलिंग में वर्त्तमान जो 'अचः' अजन्त 'प्रातिपदिकस्य' प्रातिपदिक, उस को 'ह्रस्वः' ह्रस्व हो। 'अलोऽन्त्यस्य'[1] ॥' इस परिभाषासूत्र से प्रातिपदिक के अन्त को ह्रस्व होता है। उपगु। यहां गो-शब्द के ओकार को उकार ह्रस्व हुआ है॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामणीः' यहां ह्रस्व न हो॥

तथा प्रातिपदिक-ग्रहण इसलिये है कि 'काण्डे' यहां अप्रातिपदिक को ह्रस्व न हो॥४७॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[2] ॥ ४८ ॥

'प्रातिपदिकस्य' इत्यनुवर्त्तते, 'ह्रस्वः' इति च। गोस्त्रियोः। ६। २। उपसर्जनस्य। ६। १। गो-शब्दान्तस्योपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य च ह्रस्वादेशो भवति। चित्रगुः। शबलगुः। निष्कौशाम्बिः[3]। निर्वाराणसिः। चित्रा गावो यस्य, शबला गावो यस्य चेति विग्रहे कृतेऽन्यपदार्थ-विवक्षायां गो-शब्दस्याप्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा। तस्य ह्रस्व उकारो भवति। कौशाम्ब्या निर्गतः,वाराणस्या निर्गतश्चेति विग्रहे 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या[4]।' इति वार्त्तिकेन समासे कृते 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते[5] ॥' इत्युपसर्जन-सञ्ज्ञा। तत ईकारस्य ह्रस्व इकार आदिश्यते॥

१. १। १। ५१॥

२. सा०—पृ० ५२।

भा० शि०—"गोरप्रधानस्यान्त्यस्य ॥ ह्रस्वमी-नाम् ॥" (२। २। ८५, ८६)

३. सम्प्रति सर्वथा ध्वस्ता एषा नगरी "कोसम-ग्राम" इति प्रसिद्धा यमुनायास्तीरे प्रया-गनगर्याः चतुर्विंशतिक्रोशदूरं प्राचीनशिलालेखैः सूचिता तिष्ठति। का... वेरा, ग्रामेण कोसम-ग्रामात् पञ्चक्रोशदूरभवे ... मन्दिरद्वारेऽभिलिखितः सं० १२४५ फाल्गुनो लेख उपलब्धः। तस्मादयं सिद्धेश्वरदेवमन्दिरः श्रीमा-साम्यठक्कुरेण महादेवग्रामे कौशाम्बीदेशे कारित इति ज्ञायते॥

शतपथब्राह्मणे (१२। २। २। १३) श्रूयत एकः कौशाम्बेयः (कौशाम्बीनगरवासस्तस्य इति ह... प्रोक्तं) ॥ (अपि च द्रष्टव्यं गोप-थब्राह्मणे १। २। २४)

पुरा इयं (चीनाख्येषु "कि-औ शंग-मि") कुरुवंशोद्भवस्योदयनस्य राजधानी आसीत्। यथा कुरुक्षेत्रस्वामिनः—

अस्ति वत्सेषु नगरी कौशाम्बी इत्यं भुवः।
सन्निविष्टानुकालिन्दी तस्यामुदयनो नृपः॥
(बृहत्कथाश्लोकसंग्रहे ४। १४)

कथासरित्सागरे (१। १) वार्तिककारो वर-रुचिः कौशाम्ब्यां जात इति प्रतिज्ञातं, परं भाष्य-कारस्त्वाह—"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः।" (अ० १। पा० १। आ० १) "दाक्षिणात्ये हि महा-न्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते।" (अ० १। पा० १। आ० ५)

४. भाष्ये "कुगतिप्रादयः॥" (२। २। १८) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने सौनागव्याकरणसिद्ध-मिदं वार्तिकम्॥

५. १। २। ४४।

अस्मिन् सूत्रे स्त्री-शब्दे स्वरितस्य चिह्नमस्ति । 'स्त्रियाम्'[1]॥' इत्यधिकारे स्त्री-शब्दः स्वरितोऽस्ति । तेन स्त्र्यधिकारे ये प्रत्ययाः, तेषामेव ह्रस्वो भवति । इह न भवति — अतितन्त्रीः। अतिलक्ष्मीः। अतिश्रीः। अत्रौणादिक[2] ई-प्रत्ययः ॥

'उपसर्जनस्य' इति किमर्थम् । राजकुमारी — राज्ञः कुमारी । 'राजकुमारी' इति कुमारी-शब्दस्य प्रधानत्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञैव न भवति ॥

वा०—ईयसो बहुव्रीहौ पुंवद्वचनम् ॥
बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य = बहुश्रेयसी । विद्यमानश्रेयसी ॥[3]

अत्र सूत्रेण प्राप्तं ह्रस्वत्वं वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते । पुंवद्भाव एव [च] भवति ॥ ४८ ॥

'गोस्त्रियोः' गो-शब्दान्त और स्त्रीप्रत्ययान्त जो 'अच.' अजन्त 'उपसर्जनस्य' उपसर्जन-सञ्ज्ञक प्रातिपदिक है[4], उस को 'ह्रस्वः' ह्रस्व आदेश हो । चित्रगुः । यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ की दृष्टि में गो-शब्द के अप्रधान होने से उस की उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व उकार हुआ है । निष्कौशाम्बिः । यहां कौशाम्बी शब्द को नियतविभक्ति होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ईकार को ह्रस्व इकार हुआ है ॥

इस सूत्र में स्त्री शब्द पर स्वरित का चिह्न रक्खा गया है, क्योंकि स्त्र्यधिकार में जो प्रत्यय होते हैं, उन्हीं को ह्रस्व हो । अतिश्रीः । यहां श्री-शब्द उणादि का है, उस को ह्रस्व न हो ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि 'राजकुमारी' यहां कुमारी-शब्द प्रधान है, इससे उपसर्जन-सञ्ज्ञा भी नहीं ॥ ४८ ॥

लुक् तद्धितलुकि[5] ॥ ४९ ॥

स्त्री-शब्दः, 'उपसर्जनस्य' इति चानुवर्तते । लुक् । १ । १ । तद्धितलुकि । ७ । १ । तद्धितस्य लुक् = तद्धितलुक्, तस्मिन् । तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्य लुग् भवति । 'अलोऽन्त्यस्य[6]॥' इत्यन्त्यस्य [लुग्] विशेषन् । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः । अत्र 'इन्द्रवरुण०[7]॥' इत्यादिना ङीष्, इन्द्र-शब्दस्यानुक् [च]। ततः पञ्चेन्द्राणी-शब्दात्

---

१. ४ । १ । ३ ॥

२. द्रष्टव्याम्—"अविनृस्तृतन्त्रिभ्य ई॥ लक्ष्मेर्मुट् च ॥ क्विप् वचिप्रच्छिश्रि० ॥" (क्रमेण ३ । १५८ ॥ ३ । १६० ॥ २ । ५७)

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

४. कोश में इस प्रकार से है—"(गोस्त्रियोः) गोशब्दान्त जो (अचः) अजन्त (उपसर्जनस्य) उपसर्जन प्रातिपदिक और स्त्रीप्रत्ययान्त जो अजन्त उपसर्जनसंज्ञक प्रातिपदिक है ।"

५. चा० श०—'लुक्तद्धितलुक्यगोण्यादीनाम् ।" (२ । २ । ८७)

६. १ । १ । ५१ ॥

७. ४ । १ । ४९ ॥

'साऽस्य देवता'॥[1] इत्यण् । तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये'॥[2] इति लुक् । तत्र लुकि सति ङीपो लुग् अनेन । 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥' इत्यनया परिभाषयाऽऽनुकोऽभावः । विशाखायां जातो माणवकः = विशाखः । अनुराधायां जातः = अनुराधः । अत्र जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि सति स्त्री-प्रत्ययस्य टापो लुक् ॥

तद्धित-ग्रहणं किमर्थम् । इन्द्राण्याः कुलम् = इन्द्राणीकुलम् । अत्र षष्ठ्येकवचनस्य लुक् ॥

'लुकि' इति किम् । गार्ग्गीत्वम् ॥

'उपसर्जनस्य' इति किम् । अवन्ती । कुन्ती । 'अवन्तीनां[3] राज्ञी, कुन्तीनां[4] राज्ञी' इत्यर्थे तद्धितस्य लुक्[5] । तत्रावन्तीनां प्राधान्येनोपसर्जनाभावः, अवन्त्यादिदेशानां राज्यर्थप्रधानत्वात् ॥ ४९ ॥

'तद्धितलुकि' जिस प्रयोग में तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां 'स्त्रियाः' स्त्रीप्रत्ययान्त 'प्रातिपदिकस्य' प्रातिपदिक के प्रत्यय का 'लुक्' लुक् हो जाय । पञ्चेन्द्रः । यहां अण्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से [इस सूत्र से] ङीप्-प्रत्यय का लुक् हो गया ॥

तद्धित-ग्रहण इसलिये है कि 'इन्द्राणीकुलम्' यहां षष्ठी विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ है ॥

लुक्-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्गीत्वम्' यहां किसी का लुक् नहीं हुआ ॥

और उपसर्जन-ग्रहण इसलिये है कि 'अवन्ती' यहां उपसर्जन-सञ्ज्ञा ही नहीं ॥ ४९ ॥

इद् गोण्याः[6] ॥ ५० ॥

'तद्धितलुकि' इत्यनुवर्त्तते । इत् । १ । १ । गोण्याः । ६ । १ । पूर्वेण लुकि प्राप्त इकारादेशो विधीयते । तद्धितलुकि सति गोणी-शब्दस्य इकारादेशो भवति । पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः = पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अत्र क्रीतार्थे 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः०[7] ॥' इति तद्धितस्य लुकि गोण्या इत्त्वम् ॥

---

१. ४ । २ । २४ ॥
२. ४ । १ । ८८ ॥
३. = मालवदेशस्य । अवन्तीनामुज्जयिनी नाम राजधानी आसीत् ॥
४. काठकसंहितायाम्—"ततः कुन्तयः पञ्चालानभीत्य विदन्ति ।" (२६ । ९)
५. एतस्मात्—"स्त्रियामवन्तिकुन्ति० ॥" (४ । १ । १७६) इति सूत्रम् ॥
६. चा० श०—"लुगणादिलुक्यगोण्यादीनाम् ॥" (२ । २ । ८०)
७. ५ । १ । २८ ॥

'गोण्या न ॥' इति सूत्रे कृते लुङ्निषेधे ह्रस्वत्वं भविष्यति, पुनरिद्-ग्रहणस्य एतत् प्रयोजनम् — गोणी-शब्दादन्यत्रापीत्त्वं यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः = पञ्चसूचिः । दशसूचिः ॥ ५० ॥

पूर्व सूत्र से लुक् प्राप्त था, तब इद्-विधान किया है । 'तद्धितलुकि' जहां तद्धितप्रत्यय का लुक् हो, वहां 'गोण्या' गोणी-शब्द को 'इत्' इकारादेश हो जाय । पञ्चगोणिः । यहां क्रीतार्थ में तद्धितप्रत्यय का लुक् हुआ है । फिर गोणी-शब्द को इकारादेश हो गया ॥

(प्र० गोणी-शब्द के स्त्रीप्रत्यय के लुक् का निषेध कर देते और पूर्व [सूत्र] से ह्रस्व[-शब्द] की अनुवृत्ति करके गोणी-शब्द को ह्रस्व हो जाता, फिर इस सूत्र में इकारादेश-ग्रहण किसलिये है । (उ० इद्-ग्रहण इसलिये है कि 'पञ्चसूचिः' इत्यादि अन्य शब्दों को भी इकारादेश हो जाय ॥ ५० ॥

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने[1] ॥ ५१ ॥

तद्धित-ग्रहणमनुवर्त्तते । लुपि । ७ । १ । युक्तवत् । अ० । व्यक्तिवचने । १ । २ । तद्धितप्रत्ययस्य लुपि सति व्यक्तिवचने = लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवत् = पूर्ववत् भवतः, अर्थात् प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वं ये लिङ्गसङ्ख्ये वर्त्तेते, ते पश्चाल्लुप्यपि भवतः । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः = शिरीषाः । कटुबदर्य्या अदूरभवो ग्रामः = कटुबदरी[2] । पञ्चालानां निवासो जनपदः = पञ्चालाः । शिरीष-पञ्चाल-शब्दौ पूर्वं पुंलिङ्गौ बहुवचनौ, पश्चादपि तथैव भवतः । कटुबदरी-शब्दः स्त्रीलिङ्ग एकवचनश्च, लुप्यपि तथैव भवति ॥

'लुपि' इति किमर्थम् । लवणेन संस्कृतः सूपः = लवणः । लवणा यवागूः । लवणं शाकम् । अत्र संस्कृतार्थस्य प्रत्ययस्य लुकि[3] व्यक्तिवचने युक्तवन्न भवतः ॥

'व्यक्तिवचने' इति किमर्थम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः, तस्य वनं = शिरीषवनम् । यद्यत्र वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सामान्येन युक्तवत्त्वं स्यात्, तर्हि प्रत्ययस्य लुपि सत्यपि प्रत्ययार्थे वनस्पतिवाचिनः शिरीष-शब्दस्य सम्प्रत्ययः स्यात् । तत्र 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः[4] ॥' इति णत्वं प्रसज्येत । तन्न भवति ॥ ५१ ॥

---

१. "युक्तः (प्रकृतिभूतः शब्दः), व्यक्तिः, वचनम्" इति पूर्वाचार्यसंज्ञाः ॥

२. अपि च वामनीयलिङ्गानुशासने—"गोदौ नाम ह्रदौ, तयोरदूरभवो ग्रामः=गोदौ ग्रामः । वरणानामदूरभवं नगरं=वरणाः नगरम् । ... " (श्लो० २७)

३. द्रष्टव्यं "लवणाल्लुक् ।" (४ । ४ । २४) इति सूत्रम् ॥

४. ८ । ४ । ६ ॥

'तद्धितलुपि' तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में प्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व जो 'व्यक्तिवचने' लिङ्ग, वचन हों, वे प्रत्यय के लुप् हो जाने में भी 'युक्तवत्' यथावत् रहें । पञ्चाला जनपदः । यहां प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व पञ्चाल-शब्द पुँल्लिङ्ग और बहुवचन था, सो पीछे निवासार्थ प्रत्यय के लुप् होने पर भी बना रहा । इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि अन्यत्र अभिधेय का लिङ्ग, वचन होता है । जैसे—लवणः सूपः । यहां संस्कृत अर्थ में प्रत्यय का लुक् होने से अभिधेय के जो लिङ्ग, वचन हैं, सो पीछे भी होते हैं ॥

इस सूत्र में व्यक्तिवचन-ग्रहण इसलिये है कि प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व जो शब्दार्थ हो, पीछे वही नहीं बना रहे, किन्तु प्रत्यय का जो अर्थ हो, वह प्रसिद्ध हो ॥ ५१ ॥

विशेषणानां चाऽऽजातेः ॥ ५२ ॥

['लुपि' इत्यनुवर्त्तते ।] विशेषणानाम् । ६ । ३ । च । अ० । आजातेः । ५ । १ । तद्धितप्रत्ययस्य लुपि लुबर्थविशेषणानां व्यक्तिवचने युक्तवद् भवतः, आजातेः = जातेः पूर्वम्[1] । यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिर्विवक्ष्यते, तदा न भवति । पञ्चालाः रमणीयाः, बह्वन्नजलाः, सम्पन्नपानीयाः, बहुमाल्यफलाः । पञ्चाल-शब्दस्य विशेष्यस्य लिङ्गवचनानि भवन्ति ॥

'आजातेः' इति किम् । पञ्चाला जनपदो बह्वन्नः, बहुमाल्यफलः, सम्पन्नपानीयः । अत्र जातिविवक्षायां न भवति ॥

वा०—हरीतक्यादिषु व्यक्तिर्भवति युक्तवद्भावेन ॥ १ ॥
हरीतक्याः फलानि = हरीतक्यः[2] फलानि ॥
खलतिकादिषु वचनं भवति युक्तवद्भावेन ॥ २ ॥
खलतिकस्य[3] पर्वतस्यादूरभवानि वनानि = खलतिकं[4] वनानि ॥
मनुष्यलुपि प्रतिषेधः ॥ ३ ॥ चञ्चा[5] अभिरूपः । वध्रिका[6] दर्शनीयः ॥[7]

---

१. महाभाष्ये "विशेषणानां युक्तवद्भावो न वक्तव्यो जातिप्रयोगात् ।" इति । परं जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयस्त्वाहुः—"लुबर्थस्य यानि विशेषणानि तेषामपि व्यक्तिवचने भवतो जातिं वर्जयित्वा ।" (काशिकायां १ । २ । ५२ ॥) एवमेव शब्दकौस्तुभादिषु, तैः च "अजातेः" इति विग्रहः क्रियते ॥

२. दृश्यताम्—"हरीतक्यादिभ्यश्च ॥" (४ । ३ । १६७) इति सूत्रम् ॥

३. गयाग्रामान्ते "बराबर" इति नाम्ना प्रसिद्धः । तस्मिन् प्रियदर्शिराजाशोककालीनाः, तस्य प्रपौत्र-दशरथकालीनाश्च "सातघरा" (=सप्तगृहा), "नागार्जुनी" इति चाख्याता गुहाः, पातालगङ्गा-नामोत्सश्च महान् तीर्थोऽस्ति ॥

४. दृश्यताम्—"अदूरभवश्च ॥ वरणादिभ्यश्च ॥" (४ । २ । ७०, ८२) इति सूत्रे ॥

५. चञ्चा = तृणमयः पुरुषः ॥

६. वध्रिका = हतपुंस्त्वः ॥

७. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

इमानि त्रीणि वार्त्तिकानि सूत्राच्छिष्टप्रयोजनसाधकानि सन्ति । तद्यथा—प्रथमेन वार्त्तिकेन हरीतकी-शब्द एकवचनः स्त्रीलिङ्गश्च । पश्चात् फलार्थे तद्धितलुपि सति बहुवचनं तु भवति, लिङ्गं युक्तवद् = पूर्ववदेव भवति । द्वितीयवार्त्तिकेन लिङ्गमभिधेयवद् भवति, वचनं पूर्ववदेव । तृतीयेन वार्त्तिकेन लिङ्गसङ्ख्ये युक्तवन्न भवतः, किन्त्वभिधेयवद् भवतः । चञ्चा अभिरूपः । चञ्चा इव = चञ्चासदृशो मनुष्यश्चञ्चा । 'लुम्मनुष्ये'[1] ॥' इति प्रत्ययस्य लुप् । तत्र सूत्रेण युक्तवद्भावः प्राप्तः, अनेन निषिध्यते ॥

का०—आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्त्तते ।
उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशाच्च[2] तल्लिङ्गं जहाति[3] ॥[4]

आविष्टं = समन्ताद् व्याप्तं लिङ्गं यया, अर्थात् नियतलिङ्गा जातिर्भवति । कल्पादौ घटादयो जातिशब्दा येन लिङ्गेन शब्दव्यवहारे प्रवर्त्तन्ते, कल्पान्तं तल्लिङ्गं नैव त्यजन्ति । जातिस्तु नित्या, पुनरुत्पत्तिविनाशौ कथं स्याताम् । तत्रैवं विज्ञेयं—[कल्पादौ] व्यवहारे प्रवृत्ता भवन्ति, कल्पान्ते व्यवहाराभावे विनष्टा इव भवन्ति ॥५२॥

'तद्धितलुपि' तद्धितप्रत्यय के लुप् होने में 'विशेषणानाम्' निवासादि प्रत्ययार्थ के विशेषण जो शब्द हों, उन के 'च' भी 'व्यक्तिवचने' लिङ्ग, वचन 'युक्तवत्' पूर्व के तुल्य हों, परन्तु 'आजातेः' जातिवाची कोई विशेष्य वा विशेषण हो, तो उन के लिङ्ग, वचन अभिधेय अर्थात् निवासादि प्रत्ययार्थ के से हों । पञ्चाला रमणीयाः । यहां रमणीय शब्द जो पञ्चाल-शब्द का विशेषण है, उस के लिङ्ग, वचन पञ्चाल-शब्द के तुल्य हो गये ॥

आजाति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'पञ्चाला जनपदो रमणीयः' यहां जातिवाची के होने से पूर्व के तुल्य लिङ्ग, वचन नहीं हुए ॥

इस सूत्र पर तीन वार्त्तिक हैं । वे सूत्र से कुछ विशेष बात के जनाने वाले हैं । प्रथम वार्त्तिक से 'हरीतक्यः फलानि' यहां लिङ्ग तो पूर्ववत् हो गया और वचन नहीं हुआ । दूसरे [वार्त्तिक] से 'खलतिकं वनानि' यहां वचन तो पूर्व के तुल्य हो गया, और लिङ्ग नहीं हुआ । और तीसरे वार्त्तिक से 'चञ्चा अभिरूपः' यहां लिङ्ग, वचन दोनों ही पूर्ववत् नहीं होते । सूत्र से पाते थे । मनुष्यवाची शब्द में वार्त्तिक से निषेध हो गया ॥

'आविष्टलिङ्गा०' इस कारिका से जाति का लक्षण किया है । जाति उस को कहते हैं कि जो आविष्टलिङ्ग अर्थात् नियतलिङ्ग हो । जैसे—घटः । घट-शब्द का लिङ्ग कभी नहीं बदलता । कल्प के आदि में संसार के व्यवहारों में शब्दों की प्रवृत्ति होती [है] और कल्प के अन्त में मनुष्यों के नहीं रहने से निवृत्ति हो जाती है । इसी को उत्पत्ति और विनाश माना

१. ५ । ३ । ९८ ॥
२. पाठान्तरम्—विनाशाच्चलिङ्गम् जहाति ॥
३. कोशेऽत्र "॥ १ ॥" इति ॥
४. म० १ । पा० २ । आ० २ ॥

है। सो कल्प के आदि में जिस लिङ्ग से प्रवृत्त हों, उस लिङ्ग को प्रलयपर्य्यन्त नहीं त्यागें, वे जातिशब्द कहाते हैं ॥ ५२ ॥

तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् ॥ ५३ ॥

तत् । १ । १ । अशिष्यम् । १ । १ । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् । ५ । १ । शासितुं योग्यं = शिष्यम् । न शिष्यं = अशिष्यम् । सञ्ज्ञायाः प्रमाणं = सञ्ज्ञाप्रमाणम्, तस्य भावः, तस्मात् । सञ्ज्ञा-शब्दोऽत्र यौगिकः । सञ्ज्ञानं = सञ्ज्ञा । नैव कृत्रिमस्य वृद्ध्यादेर्ग्रहणम् । तत् = पूर्वोक्तं युक्तवद्भावलक्षणं, अशिष्यं = शासितुमयोग्यं = नैव कर्त्तव्यम् । कुतः । सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्—सञ्ज्ञानां = लोकव्यवहाराणां तत्र प्रमाणत्वात् । यथा 'दाराः'[1], 'आपः'[1], 'सुमनसः' इत्यादिषु शब्देषु लिङ्गवचनानि लोकतो निश्चितान्येव सन्ति, नैवात्र सूत्राणां प्रवृत्तिर्भवति । तथैव पञ्चालादिशब्दा अपि नियतलिङ्गवचनाः सन्तीति ॥ ५३ ॥

'तद् युक्तवत्' पूर्व सूत्रों में जो लिङ्ग, वचन पूर्व के तुल्य कहे हैं, सो वे सूत्र ही 'अशिष्यम्' नहीं करने चाहियें। क्योंकि यहां 'सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्' लिङ्ग, वचन लोक से ही सिद्ध हैं। जैसे—आपः। यह जल का वाची शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन सदैव रहता है। तथा—दाराः। यह स्त्री का वाची शब्द पुँल्लिङ्ग और बहुवचन नित्य बना रहता है। तो क्या लिङ्ग, वचन यहां सूत्रों से सिद्ध होते हैं। वैसे ही पञ्चालादि शब्द भी नियतलिङ्गवचन लोक से ही सिद्ध हैं। फिर सूत्र बनाना व्यर्थ है ॥ ५३ ॥

लुब् योगाप्रख्यानात् ॥ ५४ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते । लुप् । १ । १ । योगाप्रख्यानात् । ५ । १ । लुब्विधायकं 'जनपदे लुप्[2] ॥' इत्यादि सूत्रमशिष्यं = नैव कर्त्तव्यम् । कुतः । योगाप्रख्यानात्—योगेऽवयवार्थे यस्मिन्निवासाद्यर्थे प्रत्यया लुप्यन्ते, तस्याप्रख्यानं, लोके सोऽर्थो नोपलभ्यते । पञ्चालादिशब्दा देशविशेषस्य सञ्ज्ञा एव । निवा-

1. द्रष्टव्यं बृहदारण्यकोपनिषदि—"एवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेत् ।" (६।४।१२) अथापि आपस्तम्बधर्मसूत्रे (२ । १४ । २४) गौतमधर्मशास्त्रे (२२ । २६) च नपुंसकैकवचनम् । भागवतपुराणे (७।१४।२) स्त्रीलिङ्गैकवचनमपि ॥

1. द्रष्टव्यं तन्त्रवार्त्तिके—"न हि ते सुसिद्ध्युपग्रहादिव्यत्ययेन नापि कतिपयाधिकारदृष्टेन 'बहुलं छन्दसि ॥' इत्यनेन सिद्ध्यन्ति । तथा—'मध्यमापस्य तिष्ठति ।' 'नीचीनवारं वरुणः कबन्धम् ।' (ऋ० ५ । ८५ । ३) इति । न हि 'अपां' इत्यस्य नित्यस्त्रीलिङ्गबहुवचनविषयव्यञ्जनान्तप्रातिपदिकपरषष्ठ्याम्नास्यानाद् 'आपस्य' इत्येतद् रूपं लक्षणानुगतं दृश्यते । नापि द्वारशब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र वारशब्दः [निरुक्ते (१० । ४)—"(नीचीनवारं =) नीचीनद्वारं] सम्भवति ॥" (१ । ३ । १८)

2. ४ । २ । ८१ ॥

सार्थस्य लोकेऽप्रख्यानात् = अप्रतीतत्वात् लुबर्थाः प्रत्यया उत्पद्यन्त एव न । पुनर्व्यर्थं सूत्रम् ॥

युक्तवद्भावविधायके द्वे सूत्रे, लुब्विधायकानि च सूत्राण्यन्यैर्ऋषिभिः प्रोक्तानि, तानि पाणिनिना प्रत्याख्यायन्ते ॥ ५४ ॥

'लुप्' लुप्विधायक जो 'जनपदे लुप्'[1] इत्यादि सूत्र हैं, वे 'अशिष्यम्' नहीं करने चाहियें, 'योगाप्रख्यानात्' क्योंकि जिन निवासादि अर्थों में प्रत्यय होते हैं, वे अर्थ पञ्चालादि शब्दों में नहीं हो सकते। पञ्चालादि शब्द तो देशविशेष की सञ्ज्ञा हैं। जब जिन अर्थों में प्रत्यय और लुप् होता है, वे अर्थ संसार में देखने में ही नहीं आते, तब सूत्र किसलिये हों, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं ॥ ५४ ॥

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ॥ ५५ ॥

योगप्रमाणे । ७ । १ । च । [अ० ।] तदभावे । ७ । १ । अदर्शनम् । १ । १ । स्यात् । [विधिलि० । प्र० । १ ।] पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति । यदि योगस्य प्रमाणं—निवासा[द्य]र्थस्य वाचकः पञ्चालादिशब्दः—स्यात्, तर्हि तदभावे = निवासाद्यर्थसम्बन्धाभावे क्षत्रियवाचिनः पञ्चालादिशब्दस्यादर्शनं = अप्रयोगः स्यात् । तस्माल्लुब्विधायकं सूत्रं नैव कर्त्तव्यम् ॥ ५५ ॥

पूर्व सूत्र के प्रयोजन का दृढ़ करने वाला यह भी सूत्र है। 'योगप्रमाणे' जो योग अर्थात् निवासादि अर्थ के वाचक पञ्चालादि शब्द हों, 'च' तो 'तदभावे' उस। आदि अर्थ की लोक में प्रवृत्ति ही नहीं, फिर 'अदर्शनम्' पञ्चालादि शब्दों का अदर्शन अर्थात् प्रयोग ही नहीं 'स्यात्' हो सकता[2]। इससे निवासादि अर्थ में लुप् विधान करने वाले सूत्र 'अशिष्यम्' व्यर्थ ही समझने चाहियें ॥ ५५ ॥

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ॥ ५६ ॥

['अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते ।] प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् । १ । १ । अर्थस्य । ६ । १ । अन्यप्रमाणत्वात् । ५ । १ । प्रधानं च प्रत्ययश्च = प्रधानप्रत्ययौ । अर्थस्य वचनं = अर्थवचनम् । प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं = प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् । अन्यो हि शास्त्रापेक्षया लोकः, तस्य प्रमाणस्य भावः, तस्मात् । अष्टाध्यायीरचनसमये केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत् —— प्रधानोपसर्जने

---

१. ४ । २ । ८१ ॥

२. अर्थात् यदि पञ्चाल उस देश का नाम हो, जिस में पंचाल नाम के क्षत्रिय रहते हैं, तो जब पञ्चाल नाम के क्षत्रिय उस देश में न रहें, तब उस देश का नाम भी पंचाल न रहना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है। विना ही पचाल क्षत्रियों के किसी सम्बन्ध के देश का नाम पञ्चाल है ॥

प्रधानार्थं सह ब्रूतः । प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः । तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे । प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं चाशिष्यं = न कर्त्तव्यं, अर्थस्य = प्रयोजनस्यान्यप्रमाणत्वात् = लोकप्रमाणत्वात् । प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं च लोकत एव सिद्धम् । तद्यथा— राजपुरुषः । अत्र राजन्-शब्द उपसर्जनं, पुरुषः प्रधानम् । तदेतच्छब्दद्वयं प्रधानार्थमेव ब्रूत इत्यन्येषां मतम् । तदेतल्लोकतः सिद्धम् । लोकेऽवैयाकरणा अपि 'राजपुरुषः' इत्युक्ते राज्ञः सम्बन्धिनं कञ्चित् पुरुषविशिष्टमानयन्ति, न राजानं, नापि पुरुषमात्रम् । तथा— औपगवः । अत्र उपगु-शब्दः प्रकृतिः, अण् प्रत्ययः, अपत्यं प्रत्ययार्थः । तत्रान्येषां मतं—प्रकृतिप्रत्ययौ मिलित्वा प्रत्ययार्थमपत्यं ब्रूतः । एतदपि लोकतः सिद्धम् । लोके 'औपगवमानय' इत्युक्त उपगुविशिष्टमपत्यमानयन्ति, नोपगुं, नाप्यपत्यमात्रं, न चोभौ । तदेतत् प्रधान-प्रत्ययार्थवचनं नैव कर्त्तव्यं लोकतः सिद्धत्वात् ॥ ५६ ॥

'प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्' प्रधान और प्रत्ययार्थ विषय में वचन कहना 'अशिष्यम्' अयुक्त है, 'अर्थस्य' उस प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से । अर्थात् जिस समय अष्टाध्यायी रची गई थी, उस समय किन्हीं २ ऋषियों का ऐसा मत था कि समास में प्रायः दो पद होते हैं, वहां एक प्रधान होता और दूसरा उपसर्जन होता है । और बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ तो प्रधान तथा समास के लिये जो दो वा तीन पद होते हैं, वे उपसर्जन कहाते हैं । सो प्रधान और उपसर्जन दोनों मिलके प्रधान अर्थ को कहते हैं । तथा प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलके प्रत्यय के अर्थ को कहते हैं । [सो] इस बात का पाणिनिजी महाराज ने खण्डन किया है कि ये बातें लोक से सिद्ध हैं । जैसे—राजपुरुषः । यह समासान्त पद है । यहां राजन्-शब्द तो उपसर्जन और पुरुष-शब्द प्रधान है । सो लोक में व्याकरण नहीं पढ़े हुए पुरुष से कहा जाय कि 'राजपुरुष' को ले आ, तो वह राजसम्बन्धी किसी नौकर को लावेगा, किन्तु राजा को वा किसी [भी] पुरुष को नहीं लावेगा । तथा—औपगवः । यहां उपगु-शब्द प्रकृति, अण् प्रत्यय और अपत्य प्रत्ययार्थ है । सो उन लोगों का तो मत है कि प्रकृति और प्रत्यय प्रत्ययार्थ अर्थात् अपत्यार्थ को कहते हैं । और पाणिनिजी महाराज खण्डन करते हैं कि यह बात लोक से सिद्ध है । अर्थात् [यदि] कोई [किसी] व्याकरण को नहीं पढ़े हुए से कहे कि 'औपगव' को ले आ, तो उपगु के अपत्य को ही ले आवेगा, न उपगु को, न अपत्यमात्र को, और न दोनों को लावेगा । इस प्रकार लोक से सिद्ध होने से प्रधानार्थ और प्रत्ययार्थ विषय में जो किसी की कल्पना है, सो व्यर्थ समझनी चाहिये ॥ ५६ ॥

कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥ ५७ ॥

'अशिष्यम्' इत्यनुवर्त्तते, 'अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति च । कालोपसर्जने । १ । २ । ध [अ० ।] तुल्यम् । १ । १ । कालश्च उपसर्जनं च = कालोपसर्जने ।

तुल्यञ्च तुल्यं च = तुल्यम् । कालोपसर्जनविशेषणमेतत् । 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्याऽन्यतरस्याम्[1] ॥' इत्येकवद्भावः । कालः परोक्षादिः । तुल्यः = अशिष्यः । उपसर्जन-लक्षणं तुल्यं = अशिष्यम्, अर्थमेव कर्त्तव्यम् । कस्मात् । अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् = प्रयोजनस्य लोकतः सिद्धत्वात् । तद्यथा केचित्तावदाहुः—वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहुः—द्व्यहत्र्यहवृत्तं परोक्षमिति । इत्यादयः कालविषयकाः कैश्चित् परिभाषाः कृताः । ता नैव कर्त्तव्याः । परोक्षादिकालो लोकतः सिद्धः । लोके कश्चिद् वदति—तत् कार्यं परोक्षमभवीति । अर्थात् जानाति ममेन्द्रियगोचरं नास्तीति । तथा उपसर्जनविषये 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति परिभाषां कुर्वन्ति । सा नैव कर्त्तव्या लोकतः सिद्धत्वात् । यत्नमन्तरेणाऽपि लोकेऽवैयाकरणाः पुरुषा 'उपसर्जनम्' इत्युक्तेऽप्रधानं जानन्ति । तदेवल्लोकतः सिद्धत्वात् कालोपसर्जनविषयकं लक्षणमशिष्यम् ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारोऽशिष्यप्रकरणनिवृत्त्यर्थः ॥ ५७ ॥

'च' और 'कालोपसर्जने' काल और उपसर्जन विषयक लक्षण भी 'तुल्यम्' अशिष्य [अर्थात्] न कहने चाहियें 'अर्थस्य' प्रयोजन के 'अन्यप्रमाणत्वात्' लोकसिद्ध होने से ॥

परोक्षादि काल और उपसर्जन के विषय में किन्हीं २ ऋषियों ने लक्षण बांधे हैं । पाणिनिजी महाराज उन का खण्डन करते हैं कि यह बात भी लोक से सिद्ध है । अर्थात् किसी ने कहा कि यह बात मुझ से परोक्ष हुई, अर्थात् मेरे सामने नहीं हुई । और उपसर्जन के कहने से लोक में अप्रधान का बोध होता ही है । फिर इन बातों के लिये लक्षण बनाने का कुछ प्रयोजन नहीं ॥

इस सूत्र में चकार इसलिये पड़ा है कि अशिष्य का प्रकरण पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥ ५८ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । जातावेकवचनमेव भवति भावस्य प्रतिपादनात् । जात्याख्यायाम् । ७ । १ । एकस्मिन् । ७ । १ । बहुवचनम् । १ । १ । अन्यतरस्याम् । अ० । जातेराख्या = जात्याख्या, तस्याम् । 'वचनम्' इति नेदं पारिभाषिकस्य ग्रहणम्—'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने[2] ॥' इति । किं तर्हि । यौगिकस्य—उच्यते यत् तद् वचनम् । बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम् । जात्याख्यायामेकत्वविवक्षिते सत्येकोऽर्थो बहुवद् विकल्पेन विधीयते । सम्पन्नो यवः, सम्पन्ना यवाः ;-सम्पन्नो व्रीहिः, सम्पन्ना व्रीहयः ॥

---

[1] १ । २ । ६९ ॥ [2] १ । ४ । २२ ॥

जाति-ग्रहणं किमर्थम् । देवदत्तः । यज्ञदत्तः । अत्र न भवति ॥

आख्या-ग्रहणं किमर्थम् । वानर इव प्रतिकृतिर्मनुष्यो वानरः[1] । अस्त्यत्र वानरो जातिशब्दः । न तु तेन जातिराख्यायते ॥

वा०— *सङ्ख्याप्रयोगे प्रतिषेधः* ॥ एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति । एको यवः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति[2] ॥

अस्मदो नामयुवप्रत्यययोश्च ॥ नामप्रयोगे — अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं यज्ञदत्तो ब्रवीमि । युवप्रत्ययप्रयोगे — अहं गार्ग्यायणो ब्रवीमि । अहं वात्स्यायनो ब्रवीमि ॥

अपर आह—'अस्मदः सविशेषणस्य प्रयोगे न ।' इत्येव । इदमपि सिद्धं भवति— अहं पटुर्ब्रवीमि । अहं पण्डितो ब्रवीमि ॥[3]

अत्र सर्वत्र जात्यभिधाने विकल्पेन बहुवचनं प्राप्तं, प्रतिषेधादेकवचनमेव भवति । जात्यभिधाने तु सर्वत्रैकवचनमेव भवति । यदा तु द्रव्यं विवक्षितं भवति, तदा बहुवचनं भवति ॥ ५८ ॥

'जात्याख्यायाम्' जातिशब्दों के प्रयोग में 'एकस्मिन्' एकवचन में 'बहुवचनम्' बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । यहां प्राप्तविभाषा है, क्योंकि जाति में सर्वत्र एक ही वचन पाता है । कारण यह है कि जाति-शब्द सामान्य भाव का वाचक है । सम्पन्नो यवः । सम्पन्ना यवाः । यव एक अन्नविशेष जाति है । उस में एकवचन और बहुवचन दोनों ही होते हैं ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तः' यहां बहुवचन न हो ॥

और आख्या-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'वानरः' बन्दर की सी आकृति वाला मनुष्य है । यहां वानर जातिशब्द तो है, परन्तु [वानर] जाति का अर्थ [बोधक] नहीं है ॥

'सङ्ख्याप्रयोगे० ॥' इत्यादि तीन वार्त्तिकों से विशेष [विष]य में बहुवचनविधानविकल्प का निषेध किया है ॥ ५८ ॥

अस्मदो द्वयोश्च ॥ ५९ ॥

अस्मदः । ६ । १ । द्वयोः । ७ । २ । च । [अ०] 'एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते । अस्मत्-शब्दप्रयोगस्यैकवचने द्विवचने च बहुवचनं विकल्पेन भवति । अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः । एक-

१. द्रष्टव्यं—५ । ३ । ९८ ॥

२. केषुचित् कोशेषु—"एको यवः... करोति ।" इति नास्ति ॥

३. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

स्मिन् द्विवचनं नैव भवतीति नियमः । अस्मद्-शब्दविषयकाणि वार्त्तिकानि पूर्व-स्मिन् सूत्र उक्तानि ॥ ५९ ॥

'अस्मदः' अस्मद्-शब्द के प्रयोगों के 'द्वयोः' द्विवचन 'च' और 'एकस्मिन्' एक-वचन में 'बहुवचनम्' बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । जैसे—मैं बोलता हूं और हम बोलते हैं । एक मनुष्य वा दो मनुष्य भी ऐसा कह सकते हैं । परन्तु एकवचन में द्विवचन नहीं हो सकता, यह नियम है ॥

अस्मद्-शब्द के जो वार्त्तिक हैं, वे पूर्व सूत्र में आ गये ॥ ५९ ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥ ६० ॥

'द्वयोः' इत्यनुवर्त्तते । 'एकस्मिन्' इति निवृत्तम् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् । ६ । ३ । च । [अ० ।] नक्षत्रे । ७ । १ । फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च, तासाम् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां द्विवचने विकल्पेन बहुवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः[1]। उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । फल्गुन्यौ कुमार्य्यौ । अत्र 'फल्गुनी' [इति] नक्षत्र-वाचिशब्दात् जातार्थस्य प्रत्ययस्य लुक् । फल्गुनीनक्षत्रे जाता कुमारी = फल्गुनी[2] ॥

अत्र चकारो 'द्वयोः' इत्यनुकर्षणार्थः ॥ ६० ॥

'च' और 'फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्' फल्गुनी और प्रोष्ठपद 'नक्षत्रे' नक्षत्रों के 'द्वयोः' द्विवचन में ['बहुवचनम्'] बहुवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो, अर्थात् द्विवचन और बहुवचन दोनों ही हों ॥

और नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि 'फल्गुन्यौ कुमार्य्यौ' यहां फल्गुनी-शब्द नक्षत्र का वाची नहीं है, किन्तु कुमारी का वाची समझा जाता है ॥ ६० ॥

---

१. तैत्तिरीयसंहितायां (४ । ४ । १० । १, २), "फल्गुनी" इति द्विवचनान्तं, काठकमैत्रायणी-संहितयोश्च (क्रमेण ३९ । १३ ॥ २ । १३ । २०) "फल्गुनीः" इति बहुवचनान्तं पदम् ॥

अपि च तैत्तिरीयब्राह्मणे—"अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रं यत् पूर्वे फल्गुनी । भगस्य वा एतन्न-क्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी ॥" (१ । १ । २ । ४ ॥ १ । ५ । १ । ३ ॥ ३ । १ । १ । ८)

कौषीतकिब्राह्मणे तु—"मुखमुत्तरे फल्गू, पुच्छं पूर्वे ।" इति फल्गु-शब्दोऽपि फल्गुन्यर्थे प्रयुक्तः ॥ (५ । १)

२. नक्षत्रनामविधानं च सुश्रुतसंहितायाम्—"त-तो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्व-स्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र-नाम वा ।" (शारीरस्थाने अ० १० । २४)

मानवगृह्ये—"यदास्य नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयम् ।" (१ । १८ । २)

वाराहगृह्ये—"नक्षत्रदेवतेष्टनामानो वा ।" (३ । २)

जैमिनीयगृह्ये—"अनुनक्षत्रमनुदैवतम् ।" (१ । ६)

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥ ६१ ॥

छन्दसि । ७ । १ । पुनर्वस्वोः । ६ । २ । एकवचनम् । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] द्वयोर्द्विवचने प्राप्त इदमारभ्यते । छन्दसि = वेदविषये पुनर्वस्वोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति नक्षत्रेऽभिधेये । पुनर्वसुर्नक्षत्रं,[1] पुनर्वसू नक्षत्रम्[2] । पक्षे द्विवचनमेव ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । पुनर्वसू माणवकौ ॥

'छन्दसि' इति किमर्थम् । पुनर्वसू इति ॥ ६१ ॥

'छन्दसि' वेदविषय में 'पुनर्वस्वोः' पुनर्वसु नक्षत्र के द्विवचन में 'एकवचनम्' एकवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । एक पक्ष में द्विवचन ही बना रहता [है] ॥

इस सूत्र में नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि अन्य किसी का वाची हो, तो एकवचन न हो ॥

और छन्दसि-ग्रहण इसलिये है कि लोक में न हो ॥ ६१ ॥

विशाखयोश्च ॥ ६२ ॥

'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते । ['नक्षत्रे' इति च । विशाखयोः । ६ । २ । च । अ० ।] वेदविषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्विवचने विकल्पेनैकवचनं भवति । विशाखा नक्षत्रं[3], विशाखे नक्षत्रम्[4] । पक्षे द्विवचनमेव ॥

'नक्षत्रे' इति किमर्थम् । 'विशाखे कन्ये' इत्यत्रैकवचनं न भवति ॥ ६२ ॥

'छन्दसि' वेदविषयक 'विशाखयो' विशाखा नक्षत्र के ['द्वयो'] द्विवचन में 'एकवचनम्' एकवचन 'अन्यतरस्याम्' विकल्प करके हो । पक्ष में द्विवचन ही बना रहे ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है [कि] अन्यवाची में एकवचन न हो ॥ ६२ ॥

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥ ६३ ॥

तिष्य-पुनर्वस्वोः । ६ । २ । नक्षत्रद्वन्द्वे । ७ । १ । बहुवचनस्य । ६ । १ । द्विवचनम् । १ । १ । नित्यम् । १ । १ । नक्षत्राणां द्वन्द्वः = नक्षत्रद्वन्द्वः, तस्मिन् । तिष्यपुनर्वस्वोः शब्दयोर्नक्षत्रद्वन्द्वे कर्त्तव्ये बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यं विधीयते । तिष्यश्च पुनर्वसू च = तिष्यपुनर्वसू । तिष्य[6] एकः, पुनर्वसू द्वौ ।

---

१. मै०—२ । १३ । २० ॥
का०—३६ । १३ ॥
२. तै०—४ । ४ । १० । १ ॥
३. तैत्तिरीयसंहितापदपाठे—४ । ४ । १० । १ ॥
४. का०—३६ । १३ ॥
५. तै०—४ । ४ । १० । २ ॥
मैत्रायणीसंहितायां—"विशाखं नक्षत्रम्" इति नपुंसकैकवचनम् ॥ (२ । १३ । २०)
६. "पुष्यः" इत्यपरं नाम, "सिध्यः" इति च । संहिताब्राह्मणादिषु "तिष्यः" इत्येव सर्वत्र दृश्यते ॥

तत्र बहुवचनं प्राप्तम् । अनेन द्विवचनं विधीयते ॥

'तिष्यपुनर्वस्वोः' इति किमर्थम् । कृत्तिकारोहिण्यः ॥[1]

'नक्षत्र-' इति किम् । तिष्यश्च बालः, पुनर्वसू च बालौ = तिष्यपुनर्वसवो बालाः ॥

'द्वन्द्वे' इति किमर्थम् । यः तिष्यः तौ पुनर्वसू, येषां त इमे तिष्यपुनर्वसव उन्मुग्धाः ॥

'बहुवचनस्य' इति किमर्थम् । उदितं तिष्यपुनर्वसु ॥[1]

अत्रैकवचने द्विवचनं न भवति । अन्यत्र बहुवचने द्विवचनं न भवति ॥

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यद् बहुवचन-ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—*सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्*[2] *भवति*[3] । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'बाभ्रवशालङ्कायनं, बाभ्रवशालङ्कायनाः' इत्येतत् सिद्धं भवति ॥[1]

बहूनामपि द्वन्द्व एकवद् भवति । तत्रैकवद्भावे कृते द्विवचनं न भवेदिति प्रयोजनेयं परिभाषा ॥ ६३ ॥

'तिष्यपुनर्वस्वोः' तिष्य- और पुनर्वसु शब्द के 'नक्षत्रद्वन्द्वे' नक्षत्रद्वन्द्व में 'बहुवचनस्य' बहुवचन के स्थान में 'द्विवचनम्' द्विवचन 'नित्यम्' नित्य ही हो जाय । तिष्य एक नक्षत्र और पुनर्वसु दो [नक्षत्र] हैं । इस प्रकार तीन के होने से बहुवचन प्राप्त था, इसलिये द्विवचन नित्य विधान किया है ॥

इस सूत्र में तिष्यपुनर्वसु-ग्रहण इसलिये है कि अन्य नक्षत्रों के द्वन्द्व में न हो ॥

नक्षत्र-ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः' यहां तिष्य-पुनर्वसु-शब्द बालक के वाची हैं, इससे नहीं हुआ ॥

द्वन्द्व-ग्रहण इसलिये है कि अन्य समास में न हो ॥

और बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'सर्वो द्वन्द्वो०' इस परिभाषा से जहां एकवद्भाव होता है, वहां द्विवचन न हो । और इसी बहुवचन-ग्रहण से यह परिभाषा निकली है ॥ ६३ ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ[4] ॥ ६४ ॥

सरूपाणाम् । ६ । ३ । एकशेषः । १ । १ । एकविभक्तौ । ७ । १ । समानं

"पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे।" (१९ । ७ । २) इत्यस्मिन् मन्त्रे स्वथर्ववेदेऽपि "पुष्यः" इति ॥

१. अ० १ । पा० २ । आ० २ ॥

२. पाठान्तरम्—विभाषयैकवद् ॥

३. पा०, प०—सू० ३४ ॥

४. सा०—पृ० ४६ ॥

रूपमेषां ते सरूपाः। 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप०'[1]॥' इति सूत्रेण समानस्य सकारादेशः। एकस्य शेषः = एकशेषः। एका चासौ विभक्तिः = एकविभक्तिः, तस्याम्। समानरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अर्थादेकः शिष्यते, इतरे निवर्त्तन्ते। वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षौ। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षाः। द्विवचने द्वौ वृक्षौ, तत्रैकः शिष्यत एको निवर्त्तते। बहुवचने यत्र त्रयो वृक्ष-शब्दाः, तत्र द्वौ निवर्त्तेते। यत्र चतुःप्रभृतयः, तत्राऽप्येक एव शिष्यतेऽन्ये निवर्त्तन्ते। अर्थमर्थं प्रति शब्दानामभिनिवेशः प्राप्नोति। अर्थात् यावन्तोऽर्थाः, तावतां शब्दानां प्रयोगाः प्राप्नुवन्ति। एवमर्थोऽयं यत्नः क्रियन्ते॥

रूप-ग्रहणं किमर्थम्। भिन्नेऽर्थेऽपि सरूपाणामेकशेषो यथा स्यात्। अक्षाः। पादाः। इत्यादि बह्वर्थेषु समानरूपेषु शब्देष्वप्येकशेषो यथा स्यात्॥

एक-ग्रहणं किमर्थम्। द्विबह्वोः शेषो मा भूत्। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च। अत्र द्वौ वृक्ष-शब्दौ मा शिष्येताम्॥

शेष-ग्रहणं किमर्थम्। एक आदेशो मा भूत्॥

> 'एकविभक्तौ' इति किमर्थम्। ब्राह्मणाभ्यां च कृतम्। ब्राह्मणाभ्यां च देहि।[2]

अत्रैकस्मिन् तृतीयाया द्विवचनं, द्वितीये चतुर्थ्या द्विवचनम्। तत्र समानरूपत्वादेकशेषो मा भूत्॥

> भा०—प्रातिपदिकानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। माता च जनयित्री, मातारौ च धान्यस्य = मातृमातरः॥
>
> एकार्थानामपि विरूपाणामेकशेषो वक्तव्यः। वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च = वक्रदण्डौ, = कुटिलदण्डौ इति [वा]॥
>
> (प०) *गुणवचनानां हि*[3] *शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति*[4]॥
>
> शुक्लं वस्त्रम्। शुक्ला शाटी। शुक्लः कम्बलः। शुक्लौ कम्बलौ। शुक्लाः कम्बलाः॥[1]

गुणवचनाः शब्दा विशेष्यलिंगा [विशेष्य-]वचनाश्च भवन्ति॥ ६४॥

['सरूपाणाम्'] समान रूप वाले जो शब्द हैं, उन के ['एकशेषः'] एकशेष हो

१. ६। ३। ८५॥
२. पाठान्तरम्—अत्र नास्ति॥
१. अ० १। पा० २। आ० ३॥
४. पा०—सू० १०७॥

अर्थात् एक तो रह जाय [तथा] औरों की निवृत्ति हो जाय, ['एकविभक्तौ' एक विभक्ति के परे होने पर ।] वृक्षौ । यहां दो वृक्ष-शब्दों में से एक रह गया । तथा—वृक्षाः । यहां तीन अथवा बहुत वृक्ष-शब्दों में से एक ही रह जाता है, अन्यों की निवृत्ति हो जाती है । जितने पदार्थ होते हैं, उन एक २ पदार्थ के प्रति एक २ शब्द का प्रयोग पाता है, इसलिये यह सूत्र बनाया कि बहुत से पदार्थों का बोध एक शब्द से हो सके ॥

इस सूत्र में रूप-ग्रहण इसलिये है कि 'पादाः' इत्यादि एक २ शब्द भिन्न २ अर्थों के भी वाची होते हैं और रूप समान होता है, तो वहां भी एकशेष हो जाय ॥

एक-ग्रहण इसलिये है कि द्वि और बहुतों का शेष अर्थात् बाक़ी न रहे, किन्तु एक ही शब्द बाक़ी रह जाय ॥

शेष-ग्रहण इसलिये है कि सब शब्दों के स्थान में एक आदेश न हो जाय ॥

और एकविभक्ति-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'पयः पयो जरयति' यहां एक पयः-शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त और दूसरा द्वितीयान्त है । इन दोनों का एकशेष न हो ॥

'प्राति०' इस वार्त्तिक से 'मातृमातरः' इस प्रयोग में समान रूप वाले शब्दों का भी एकशेष नहीं हुआ । 'एकार्थाना०' इस वार्त्तिक से 'वक्रदण्डौ' इस प्रयोग में एक अर्थ और भिन्न २ रूप वाले [वक्र- और कुटिल-] शब्दों का भी एकशेष हो गया । यह सूत्र से नहीं पाता था ॥

'गुणवचनानां०' इस परिभाषा से गुणवाची शब्दों के लिंग और वचन विशेष्य के तुल्य होते हैं ॥ ६४ ॥

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः[1] ॥ ६५ ॥

वृद्धः । १ । १ । यूना । ३ । १ । तल्लक्षणः । १ । १ । चेत् । [अ० ।] एव । [अ० ।] विशेषः । [१ । १ ।] 'शेषः' इत्यनुवर्त्तते । वृद्ध-शब्देनात्र गोत्रमुच्यते । तयोर्लक्षणो योगः = तल्लक्षणः । वृद्धः = गोत्रप्रत्ययान्तः शब्दः, यूना = युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते, युवा निवर्त्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । समानायामाकृतौ शब्दभेद एव चेत्, तदा । यदा त्वाकृतिभेदः, तदा न भवति । अर्थादेक एव शब्दो वृद्धयुवरूपश्चेत् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । अत्र गार्ग्य-वात्स्यौ शिष्येते, गार्ग्यायण—वात्स्यायनौ निवर्त्तेते ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति किमर्थम् । गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र वृद्धस्य शेषो न भवति ॥ ६५ ॥

['वृद्धः'] वृद्ध अर्थात् गोत्रप्रत्ययान्त जो शब्द है, वह ['यूना'] युवप्रत्ययान्त शब्द के

१. सा०—पृ० ४६ ॥

साथ [‘शेष’] शेष रहे और युवाप्रत्ययान्त शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु [‘तल्लक्षणश्चे-देव विशेषः’] जो गोत्रप्रत्ययान्त और युवाप्रत्ययान्त एक ही शब्द हो, उस में प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति भिन्न २ न हो, तो । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । यहां गार्ग्य वृद्ध है और गार्ग्यायण युवा है, सो गार्ग्य रह गया और गार्ग्यायण की निवृत्ति हो गई ॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि ‘गार्ग्यवात्स्यायनौ’ यहां शब्दाकृति भिन्न २ है, इससे एकशेष नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

स्त्री पुंवच्च[1] ॥ ६६ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते, [‘शेषः’ इति च ।] स्त्री । १ । १ । पुंवत् । [अ० ।] च । [अ० ।] सर्वेषु स्त्री-ग्रहणेषु सूत्रेष्वयं पक्षो ज्यायान् स्त्र्यर्थग्रहणम् । वृद्धा = गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते, युवा निवर्त्तते । सा च स्त्री पुंवत् = पुमर्थे यानि कार्याणि तानि भवन्तीति । तल्लक्षण एव विशेषश्चेदिति पूर्ववत् । गार्गी च गार्ग्यायणश्च = गार्ग्यौ । वात्सी च वात्स्यायनश्च = वात्स्यौ । अत्र गार्गी-वात्सी-शब्दौ शिष्टौ । तत्र पुंवद्वचनात् पुंल्लिङ्गोक्तानि कार्याणि भवन्ति ॥

‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’ इति किमर्थम् । इह मा भूत्—अजा च वर्करश्च = अजावर्करौ । गार्गी च वात्स्यायनश्च = गार्गीवात्स्यायनौ ॥ ६६ ॥

[‘वृद्धा’] गोत्रप्रत्ययान्त जो [‘स्त्री’] स्त्रीलिङ्ग शब्द हो, वह [‘यूना’] युवाप्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो जाय, [‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’] परन्तु प्रत्ययभेद ही हो, शब्द की आकृति में भेद न हो । गार्गीवात्स्यायनौ । यहां शब्द की आकृति भिन्न २ है [‘च’ और उस शेष रहे हुए स्त्रीलिंग शब्द में सब कार्य ‘पुंवत्’ पुंल्लिङ्ग के समान हों] ॥ ६६ ॥

पुमान् स्त्रिया[2] ॥ ६७ ॥

‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’ इत्यनुवर्त्तते, [‘शेषः’ इति च ।] पुमान् । १ । १ । स्त्रिया । ३ । १ । पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते, स्त्री निवर्त्तते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् = लिङ्गभेद एव चेत्, तदा । यदा त्वाकृतिभेदस्तदा मा भूत् । इन्द्रश्च इन्द्राणी च = इन्द्रौ । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ । अत्र इन्द्र-ब्राह्मण-शब्दौ शिष्येते, इन्द्राणी-ब्राह्मणी-शब्दौ निवर्त्तेते ॥

‘तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः’ इति किमर्थम् । कुक्कुटमयूर्यौ । अत्रैकशेषो न भवति शब्दाकृतिभेदात् ॥ ६७ ॥

[‘पुमान्’] पुंल्लिङ्ग जो शब्द हो, वह [‘स्त्रिया’] स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ शेष रहे, स्त्रीलिंग

---

१. सा०—पृ० ४६ ॥ २. सा०—पृ० ५० ॥

शब्द की निवृत्ति हो जाय, परन्तु ['तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः'] इन दोनों शब्दों में लिङ्ग भेद ही हो, आकृति भेद न हो । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ । यहां ब्राह्मण-शब्द शेष रह जाता और ब्राह्मणी-शब्द की निवृत्ति हो जाती है ॥

तल्लक्षण-ग्रहण इसलिये है कि 'कुक्कुटमयूर्यौ' यहां दोनों शब्दों की आकृति भी भिन्न २ है ॥ ६७ ॥

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्[1] ॥ ६८ ॥

'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इति निवृत्तम् । भ्रातृपुत्रौ । १ । २ । स्वसृ-दुहितृभ्याम् । ३ । २ । भ्रातृ-पुत्रौ शब्दौ स्वसृ-दुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह यथाक्रमेण शिष्येते, स्वसृ-दुहितृ-शब्दौ निवर्त्तेते । भ्राता च स्वसा च = भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च = पुत्रौ ॥

'पुमान् स्त्रिया[2] ॥' इत्यत्र 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्त्तनात्र प्राप्तम् । तदर्थोऽयं योग उच्यते । भ्रातृ-पुत्र-शब्दौ भिन्नाकृती स्तः ॥ ६८ ॥

भ्रातृ, पुत्र जो शब्द हैं, वे स्वसृ-दुहितृ-शब्दों के साथ शेष रहें । स्वसृ-दुहितृ-श[ब्द नि]वृत्त हो जायें । भ्रातरौ । पुत्रौ । यहां स्वसृ- और दुहितृ-शब्दों का लोप हो गया है ॥

पूर्व सूत्र में तल्लक्षण की अनुवृत्ति थी, इससे यह बात नहीं सिद्ध होती, क्योंकि इन शब्दों की आकृति भिन्न २ है ॥ ६८ ॥

नपुंसकमनपुंसकेन, एकवच्चाऽस्याऽन्यतरस्याम्[1] ॥ ६९ ॥

नपुंसकम् । १ । १ । अनपुंसकेन । ३ । १ । एकवत् । [अ० ।] च । [अ० ।] अस्य । ६ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] 'एकवत्' इति रूपातिदेशः । नपुंसकगुणविशिष्टः शब्दोऽनपुंसकेन = स्त्रीपुँल्लिङ्गगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुँल्लिङ्गौ निवर्त्तेते । अस्य नपुंसकस्यैकवद् = एकवचनं विकल्पेन भवति ।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते ।

अत्र 'सेव्यमानम्' इति त्रिलिङ्गस्यैकशेषो नपुंसकं च । तत्रास्य नपुंसकस्यैकवद्भावः । 'अन्यतरस्याम्' इति वचनाद् द्वयमेतद् भवति—सेव्यमानं, सेव्यमानानि । तथा—'कालोपसर्जने च तुल्यम्[3] ॥' अत्र तुल्य-शब्द उभाभ्यां सम्बध्यते । तुल्यः कालः, तुल्यमुपसर्जनम् । अत्रापि नपुंसकं शिष्यते, पुमान् निवर्त्तते । एकवद्भावो विकल्पेन भवति—कालोपसर्जने च तुल्यम्, कालोपसर्जने च तुल्ये ॥ ६९ ॥

---

१. सा०—पृ० ५० ॥ ३. १ । २ । ५७ ॥
२. १ । २ । ६७ ॥

['नपुंसकम्'] नपुंसकगुणविशिष्ट जो शब्द है, वह ['अनपुंसकेन'] अनपुंसक अर्थात् स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग गुण वाले शब्दों के साथ शेष रहे, और स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय। ['च'] तथा उस नपुंसक गुण वाले शब्द में ['एकवत्'] एकवचन ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो।

आलस्यो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं विवर्द्धते।

यहां [निद्रा-शब्द] स्त्रीलिङ्ग, [आलस्य-शब्द] पुँल्लिङ्ग और मैथुन-शब्द नपुंसक है। इन सब के साथ सेव्यमान-शब्द का सम्बन्ध है। सो सेव्यमान-शब्द में नपुंसकलिङ्ग ही होता है। उस नपुंसक में एकवचन विकल्प से होता है। पक्ष में बहुवचन अथवा द्विवचन होता है ॥ ६९ ॥

पिता मात्रा॥ ७० ॥

'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते। पिता। १। १। मात्रा। ३। १। पितृ-शब्दस्य मातृ-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते पितृ-शब्दः शिष्यते, मातृ-शब्दो निवर्त्तते विकल्पेन। पक्षे द्वावपि तिष्ठतः। माता च पिता च = पितरौ, = मातापितरौ ॥

'पुमान् स्त्रिया[1]॥' इत्यत्र तल्लक्षणस्यानुवर्त्तनात् तेनैकशेषो न प्राप्तः, तस्मादिदमारभ्यते ॥ ७० ॥

['पिता'] पितृ-शब्द का ['मात्रा'] मातृ-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में पितृ-शब्द तो शेष रहे, और मातृ-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहें। पितरौ। मातापितरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७० ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा॥ ७१ ॥

श्वशुरः। १। १। श्वश्र्वा। ३। १। 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते। श्वशुर-शब्दस्य श्वश्रू-शब्देन सह द्वन्द्वे कृते श्वशुर-शब्दः शिष्यते, श्वश्रू-शब्दो निवर्त्तते विकल्पेन। पक्षे द्वौ स्थीयेते। श्वशुरश्च श्वश्रूश्च = श्वशुरौ, = श्वश्रूश्वशुरौ ॥ ७१ ॥

['श्वशुरः'] श्वशुर-शब्द का ['श्वश्र्वा'] श्वश्रू-शब्द के साथ द्वन्द्व समास करने में श्वशुर-शब्द शेष रहे, और श्वश्रू-शब्द की निवृत्ति हो विकल्प करके। पक्ष में दोनों शब्द बने रहते हैं। श्वशुरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। यहां एकशेष के विकल्प से दो प्रयोग बनते हैं ॥ ७१ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्॥ ७२ ॥

'अन्यतरस्याम्' इति निवृत्तम्। त्यदादीनि। १। ३। सर्वैः। ३। ३। नित्यम्। १। १। त्यदादीनां सर्वाद्यन्तर्गतानां[3] प्रातिपदिकानामन्यैः सर्वैः सह

---

१. सा०—पृ० ३० ॥
२. १। २। ६७ ॥
३. १। १। २६ ॥ इति सूत्रे दृश्यन्तां शब्दाः २६–३० ॥

द्वन्द्वसमासे कृते त्यदादीनि प्रातिपदिकानि [नित्यं] शिष्यन्तेऽन्यानि निवर्त्तन्ते । त्यदादिषु परस्परस्य द्वन्द्वे परस्यैकशेषो भवति । प्रथममध्यमोत्तमपुरुषेषु उत्तमस्यैकशेषो भवति । स च देवदत्तश्च = तौ । यश्च यज्ञदत्तश्च = यौ । स च यश्च अयं च = इमे । अयं च स च यश्च = ये । यश्च अयं च स च = ते । स च त्वं च अहं च = वयम् । अहं च त्वं च स च = वयम् । त्वं चाहं च स च = वयम् ॥

भा०—त्यदादितः शेषे पुन्नपुंसकतो लिङ्गवचनानि भवन्ति । सा च देवदत्तश्च = तौ । सा च कुण्डे च = तानि ॥ अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति[1] वक्तव्यम् । इह मा भूत्—स च कुक्कुटः सा च मयूरी = कुक्कुटमयूर्यौ ते ॥[2]

स्त्रीलिङ्गस्य शेषो न भवतीति यावत् ॥ ७२ ॥

['त्यदादीनि'] सर्वादिगण के अन्तर्गत जो त्यदादि-शब्द हैं, उन का ['सर्वैः'] अन्य शब्दों के साथ द्वन्द्व समास करने में त्यदादि ['नित्यं' नित्य] शेष रहें। और अन्य शब्दों की निवृत्ति हो जाय। स च देवदत्तश्च = तौ। यहां तत्-शब्द शेष रहा और देवदत्त-शब्द की निवृत्ति हो गई॥

त्यदादि-शब्दों में परस्पर द्वन्द्व समास करने में जो पर हो, वह शेष रहे औरों की निवृत्ति हो जाय। स च यश्च = यौ। यहां यत्-शब्द शेष रहा और तत्-शब्द की निवृत्ति हो गई॥

तथा प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुषवाची शब्दों के द्वन्द्व में उत्तमवाची-शब्द शेष रहता, [तथा] औरों की निवृत्ति हो जाती है। अहं च त्वं च स च = वयम्। यहां अस्मत्-शब्द शेष रहा, औरों की निवृत्ति हो गई॥ ७२ ॥

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री[3] ॥ ७३ ॥

'पुमान् स्त्रिया[4]॥' इत्यस्यापवादोऽयं योगः । ग्राम्यपशुसङ्घेषु । ७ । ३ । अतरुणेषु । ७ । ३ । स्त्री । १ । १ । ग्रामे जाताः = ग्राम्याः । ग्राम्याश्च ते पशवः = ग्राम्यपशवः । ग्राम्यपशूनां सङ्घाः = ग्राम्यपशुसङ्घाः समूहाः, तेषु । 'सङ्घोद्घौ गणप्रशंसयोः[5]॥' इति गणार्थे निपातनात् । न विद्यन्ते तरुणाः = बाल्यावस्थास्थाः पशवो येषु सङ्घेषु, तेषु । अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु कृतद्वन्द्वेषु स्त्री शिष्यते, पुमान् निवर्त्तते । गावश्च वृषभाश्च = गाव इमाश्चरन्ति । महिषाश्च महिष्यश्च = महिष्य इमाश्चरन्ति । [अत्र] वृषभ-महिषौ निवर्त्तेते ॥

---

१. कोशे तु—"विशेषणानामिति" इति ॥
२. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥
३. सा०—पृ० ५० ॥
४. १ । २ । ६७ ॥
५. ३ । ३ । ८६ ॥

ग्राम्य-ग्रहणं किमर्थम् । न्यङ्कव इमे । सूकरा इमे । 'पुमान् स्त्रिया'[1] ॥' इति पुमान् शिष्यते, स्त्रियो निवर्त्तन्ते ॥

पशु-ग्रहणं किमर्थम् । इह मा भूत्—ब्राह्मणा इमे । वृषला इमे । अत्रापि पूर्ववत् पुमान् शिष्यते ॥

'सङ्घेषु' इति किमर्थम् । एतौ गावौ चरतः ॥

'अतरुणेषु' इति किमर्थम् । तरुणका[2] इमे । वर्करा इमे । वत्सा इमे । 'पुमान् स्त्रिया'[1] ॥' इति पुमान् शिष्यते ॥

'पुमान् स्त्रिया'[1] ॥' इति सूत्रेण पुंसः शेषे प्राप्तेऽनेन स्त्री शिष्यते ॥

वा॰—अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—अश्वाश्चरन्ति, गर्दभाश्चरन्तीति ॥[3] ७३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

यह सूत्र 'पुमान् स्त्रिया'[1] ॥' इस सूत्र का अपवाद है । क्योंकि इस से पुँल्लिङ्ग शब्द का शेष पाता था, और यहां स्त्रीलिङ्ग का शेष विधान किया है । अतरुण अर्थात् बच्चे न हों, ऐसे जो ग्राम के पशुओं के समूह हैं, उन के प्रयोग में स्त्रीलिङ्ग शब्द शेष रहे और पुँल्लिङ्ग शब्दों की निवृत्ति हो जाय । गावश्च वृषभाश्च = गावः । यहां वृषभ-शब्द की निवृत्ति होती और गौ-शब्द शेष रहता है ॥

ग्राम्य-शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'रुरव इमे' यहां वन के पशु हैं, इससे[4] [पुल्लिंग शब्द शेष रहा और स्त्रीलिंग शब्द की निवृत्ति हो गई ॥

[पशु शब्द का ग्रहण इसलिये है कि अन्य शब्दों के द्वन्द्व में स्त्रीलिंग शब्द शेष न रहे ॥

[इसी प्रकार सङ्घ-शब्द और अतरुण-शब्द को ग्रहण करने से अन्य शब्दों में पुंल्लिंग शब्द ही शेष रहता है । जैसे—एतौ गावौ चरतः । वत्सा इमे ॥

['अनेकशफेषु॰' इस वार्त्तिक से एक शफ वाले अतरुण ग्राम्य पशुओं के संघ वाची द्वन्द्व में पुंल्लिंग शब्द शेष रहता है । जैसे—अश्वाश्चरन्ति । गर्दभाश्चरन्ति ॥ ७३ ॥

यह प्रथमाध्याय का दूसरा पाद समाप्त हुआ ॥]

---

१. १ । २ । ६७ ॥

२. भाष्यकोशेषु—"उरणकाः" "तरणकाः" इत्यपि पाठौ उपलभ्येते ॥

३. अ॰ १ । पा॰ २ । आ॰ ३ ॥

४. कोश में इस स्थल से लेकर दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र तक १२३ पत्रे लुप्त हैं ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः[1] ॥

भूवादयो धातवः ॥ १ ॥
उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ २ ॥
हलन्त्यम् ॥ ३ ॥
न विभक्तौ तुस्माः ॥ ४ ॥
आदिर्ञिटुडवः ॥ ५ ॥
षः प्रत्ययस्य ॥ ६ ॥
चुटू ॥ ७ ॥
लशक्वतद्धिते ॥ ८ ॥
तस्य लोपः ॥ ९ ॥
यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १० ॥
स्वरितेनाधिकारः ॥ ११ ॥
अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ॥ १२ ॥
भावकर्मणोः ॥ १३ ॥
कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ॥ १४ ॥
न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥ १५ ॥
इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च ॥ १६ ॥

---

१. तृतीयचतुर्थपादस्थानां सञ्ज्ञानां व्याख्यानं पुस्तकान्ते प्रथमे परिशिष्टे द्रष्टव्यम् । अत्र भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनस्तु भाष्यपत्राणि लुप्तानि सन्ति ॥

नेर्विशः ॥ १७ ॥

परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥ १८ ॥

विपराभ्यां जेः ॥ १९ ॥

आङो दोऽनास्यविहरणे ॥ २० ॥

क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च ॥ २१ ॥

समवप्रविभ्यः स्थः ॥ २२ ॥

प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥ २३ ॥

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥ २४ ॥

उपान्मन्त्रकरणे ॥ २५ ॥

अकर्मकाच्च ॥ २६ ॥

उद्विभ्यां तपः ॥ २७ ॥

आङो यमहनः ॥ २८ ॥

समो गम्यृच्छिभ्याम्[1] ॥ २९ ॥

निसमुपविभ्यो ह्वः ॥ ३० ॥

स्पर्द्धायामाङः ॥ ३१ ॥

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ॥ ३२ ॥

अधेः प्रसहने ॥ ३३ ॥

वेः शब्दकर्मणः ॥ ३४ ॥

अकर्मकाच्च ॥ ३५ ॥

---

१. काशिकायाम्—"समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः ॥" इति सूत्रम् । चान्द्रशब्दलक्षणानुकृत्या वार्त्तिकाश्रितोऽयं पाठः कृतः । इमे ते वार्त्तिके—"समो गमादिषु विधिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम् ॥ अर्तिश्रुदृशिभ्यश्च ॥" (अ० १ । पा० ३ । आ० २) चान्द्रं च सूत्रम्—"समो गमृच्छिप्रच्छिस्वृश्रुवेत्त्यर्तिदृशः ॥"(१ । ४ । ७९)

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगण-
नव्ययेषु नियः ॥ ३६ ॥
कर्तृस्थे चाऽशरीरे कर्मणि ॥ ३७ ॥
वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥ ३८ ॥
उपपराभ्याम् ॥ ३९ ॥
आङ उद्गमने ॥ ४० ॥
वेः पाद्विहरणे ॥ ४१ ॥
प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥ ४२ ॥
अनुपसर्गाद् वा ॥ ४३ ॥
अपह्नवे ज्ञः ॥ ४४ ॥
अकर्मकाच्च ॥ ४५ ॥
सम्प्रतिभ्यामनाध्याने ॥ ४६ ॥
भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु
वदः ॥ ४७ ॥
व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥ ४८ ॥
अनोरकर्मकात् ॥ ४९ ॥
विभाषा विप्रलापे ॥ ५० ॥
अवाद् ग्रः ॥ ५१ ॥
समः प्रतिज्ञाने ॥ ५२ ॥
उदश्चरः सकर्मकात् ॥ ५३ ॥
समस्तृतीयायुक्तात् ॥ ५४ ॥
दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ ५५ ॥
उपाद्यमः स्वकरणे ॥ ५६ ॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥ ५७ ॥
नानोर्ज्ञः ॥ ५८ ॥
प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ॥ ५९ ॥
शदेः शितः ॥ ६० ॥
म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ॥ ६१ ॥
पूर्ववत् सनः ॥ ६२ ॥
आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ॥ ६३ ॥
प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥ ६४ ॥
समः क्ष्णुवः ॥ ६५ ॥
भुजोऽनवने ॥ ६६ ॥
णेरणौ यत् कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने ॥ ६७ ॥
भीस्म्योर्हेतुभये ॥ ६८ ॥
गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥ ६९ ॥
लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥ ७० ॥
मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे ॥ ७१ ॥
स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥ ७२ ॥
अपाद् वदः ॥ ७३ ॥
णिचश्च ॥ ७४ ॥
समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे ॥ ७५ ॥
अनुपसर्गाज् ज्ञः ॥ ७६ ॥
विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥ ७७ ॥
शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥ ७८ ॥
अनुपराभ्यां कृञः ॥ ७९ ॥

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥ ८० ॥

प्राद् वहः ॥ ८१ ॥

परेर्मृषः ॥ ८२ ॥

व्याङ्परिभ्यो रमः ॥ ८३ ॥

उपाच्च ॥ ८४ ॥

विभाषाऽकर्मकात् ॥ ८५ ॥

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ॥ ८६ ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥ ८७ ॥

अणावकर्मकाच्चित्तवत् कर्तृकात् ॥ ८८ ॥

न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवद-वसः ॥ ८९ ॥

वा क्यषः ॥ ९० ॥

द्युद्भ्यो लुङि ॥ ९१ ॥

वृद्भ्यः स्यसनोः ॥ ९२ ॥

लुटि च क्लृपः ॥ ९३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

आ कडारादेका सञ्ज्ञा ॥ १ ॥

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ २ ॥

यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ ३ ॥

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ॥ ४ ॥

वाऽऽमि ॥ ५ ॥

ङिति ह्रस्वश्च ॥ ६ ॥

शेषो घ्यसखि ॥ ७ ॥

पतिः समास एव ॥ ८ ॥

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥ ९ ॥

ह्रस्वं लघु ॥ १० ॥

संयोगे गुरु ॥ ११ ॥

दीर्घं च ॥ १२ ॥

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥ १३ ॥

सुप्तिङन्तं पदम् ॥ १४ ॥

नः क्ये ॥ १५ ॥

सिति च ॥ १६ ॥

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ १७ ॥

यचि भम् ॥ १८ ॥

तसौ मत्वर्थे ॥ १९ ॥

अयस्मयादीनि छन्दसि ॥ २० ॥

बहुषु बहुवचनम् ॥ २१ ॥

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥ २२ ॥

कारके ॥ २३ ॥

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ २४ ॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥ २५ ॥

पराजेरसोढः ॥ २६ ॥

वारणार्थानामीप्सितः ॥ २७ ॥

अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ २८ ॥

आख्यातोपयोगे ॥ २९ ॥

जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥ ३० ॥

भुवः प्रभवः ॥ ३१ ॥

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥ ३२ ॥

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ ३३ ॥

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ ३४ ॥

धारेरुत्तमर्णः ॥ ३५ ॥

स्पृहेरीप्सितः ॥ ३६ ॥

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥ ३७ ॥

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥ ३८ ॥

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥ ३९ ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ॥ ४० ॥

अनुप्रतिगृणश्च ॥ ४१ ॥

साधकतमं करणम् ॥ ४२ ॥

दिवः कर्म च ॥ ४३ ॥

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥ ४४ ॥

आधारोऽधिकरणम् ॥ ४५ ॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ ४६ ॥

अभिनिविशश्च ॥ ४७ ॥

उपान्वध्याङ्वसः ॥ ४८ ॥

कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥ ४९ ॥

तथा युक्तं चानीप्सितम् ॥ ५० ॥

अकथितं च ॥ ५१ ॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि-
कर्ता स णौ ॥ ५२ ॥

हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥ ५३ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ ५४ ॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ ५५ ॥

प्राग् रीश्वरान्निपाताः ॥ ५६ ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥ ५७ ॥

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे[1] ॥ ५८ ॥

गतिश्च ॥ ५९ ॥

ऊर्यादिच्विडाचश्च ॥ ६० ॥

अनुकरणं चानितिपरम् ॥ ६१ ॥

---

१. वृत्तिकारेण जयादित्येन अन्यैश्च भट्टोजिदीक्षितादिभिः "प्रादयः ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे ॥" इति द्वे सूत्रे कृते । तदिदमयुक्तम् ॥

आदरानादरयोः सदसती ॥ ६२ ॥

भूषणेऽलम् ॥ ६३ ॥

अन्तरपरिग्रहे ॥ ६४ ॥

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ॥ ६५ ॥

पुरोऽव्ययम् ॥ ६६ ॥

अस्तं च ॥ ६७ ॥

अच्छ गत्यर्थवदेषु ॥ ६८ ॥

अदोऽनुपदेशे ॥ ६९ ॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥ ७० ॥

विभाषा कृञि ॥ ७१ ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥ ७२ ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥ ७३ ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥ ७४ ॥

मध्ये पदे निवचने च ॥ ७५ ॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥ ७६ ॥

प्राध्वं बन्धने ॥ ७७ ॥

जीविकोपनिषदावौपम्ये ॥ ७८ ॥

ते प्राग् धातोः ॥ ७९ ॥

छन्दसि परेऽपि[1] ॥ ८० ॥

व्यवहिताश्च ॥ ८१ ॥

कर्मप्रवचनीयाः ॥ ८२ ॥

---

१. अत्र श्रीबोटलिङ्कमहोदयः— "Dieses und das folgende Sûtra sind ursprunglich Vârttika. [छन्दसि परेऽपि, व्यवहितास्च इति वक्तव्यम् ॥ अ० १ । पा० ४ । आ० ४]"

अनुर्लक्षणे ॥ ८३ ॥

तृतीयार्थे ॥ ८४ ॥

हीने ॥ ८५ ॥

उपोऽधिके च ॥ ८६ ॥

अपपरी वर्जने ॥ ८७ ॥

आङ् मर्यादावचने ॥ ८८ ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रति-
पर्यनवः ॥ ८९ ॥

अभिरभागे ॥ ९० ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥ ९१ ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥ ९२ ॥

सुः पूजायाम् ॥ ९३ ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥ ९४ ॥

अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हास-
मुच्चयेषु ॥ ९५ ॥

अधिरीश्वरे ॥ ९६ ॥

विभाषा कृञि ॥ ९७ ॥

लः परस्मैपदम् ॥ ९८ ॥

तङानावात्मनेपदम् ॥ ९९ ॥

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥ १०० ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥ १०१ ॥

सुपः ॥ १०२ ॥

विभक्तिश्च ॥ १०३ ॥

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि म-
ध्यमः ॥ १०४ ॥ [१०५ ॥
प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥

अस्मद्युत्तमः ॥ १०६ ॥

शेषे प्रथमः ॥ १०७ ॥

परः सन्निकर्षः संहिता ॥ १०८ ॥

विरामोऽवसानम् ॥ १०९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

प्रथमाध्यायश्च समाप्तः ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

[अथ परिभाषासूत्रम्]

[समर्थः पदविधिः[1] ॥ १ ॥

समर्थः । १ । १ । पदविधिः । १ । १ ॥

भा०—'विधिः' इति कोऽयं शब्दः । वि-पूर्वाद् धाञः कर्म-साधन इकारः । विधीयते विधिरिति । किं पुनर्विधीयते । समासो विभक्तिविधानं पराङ्गवद्भावश्च[2] ॥

किं पुनरयमधिकारः, आहोस्वित् परिभाषा । कः पुन][3]रधिकार-परिभाषयोर्विशेषः । अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते[4]। परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं[5] शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् । तद्यथा— प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ॥[6]

अयमधिकारपरिभाषयोः सन्देहो निवर्तितः । इदं परिभाषासूत्रमेव न त्वधिकारः ॥

भा०—किं समर्थं नाम । *पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्*[7] ॥ सङ्गतार्थं समर्थं, संसृष्टार्थं समर्थं, सम्प्रेक्षितार्थं समर्थं, सम्बद्धार्थं समर्थम् ॥

येन सह यस्य योगो भवति, तेन सह स समर्थो भवति । यथा— कष्टं श्रितो

---

१. सा०—१० १ ॥
२. इत्यन्तानाम्—क्रमेण २ । १ । ३ ॥ २ । ३ । १ ॥ २ । १ । २ ॥
३. अतः पूर्वं पत्राणि लुप्तानि सन्ति ॥
४. पाठान्तरम्—प्रतिष्ठते ॥
५. पाठान्तरम्—सर्वम् ॥
६. अ० २ । पा० १ । आ० १ ॥
७. वार्त्तिकमिदम् ॥

देवदत्तः। अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रित-शब्देन सह योगोऽस्ति। अत एव 'कष्टश्रितो देवदत्तः' इति समासो भवति। यदा च—भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः शिष्यो गुरुम्। अत्र कष्ट-शब्दस्य श्रितेन सह सम्बन्धो नास्ति, अतः समासोऽपि न भविष्यति। एवं सर्वत्र समर्थस्य कार्यं भवतीति योजनीयम्॥ १॥

यह परिभाषा सूत्र है। समर्थ उस को कहते हैं कि जो पृथक् २ पदार्थ हैं, उन का संयोग = सम्बन्ध होना। पदविधि अर्थात् सुबन्त तिङन्त को जो कुछ विधान किया जाय, तो प्रथम उन का सामर्थ्य कार्य के करने को हो। जिस शब्द के साथ जिस का सम्बन्ध होता है, वह [उस के साथ] समर्थ कहाता है। जैसे—कष्टं श्रितो देवदत्तः। यहां कष्ट- और श्रित-शब्द का देवदत्त-शब्द के साथ संयोग = सम्बन्ध है। इससे समास भी हो जाता है। और 'भुज्यते त्वया कष्टं, श्रितः स गुरुम्' यहां कष्ट-शब्द और श्रित-शब्द का समानाधिकरण नहीं। इसीसे समास भी नहीं होता॥ १॥

[अथातिदेशसूत्रम्]

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे[१] ॥ २ ॥

सुप्। १। १। आमन्त्रिते। ७। १। पराङ्गवत्। अ०। स्वरे। ७। १। सम्बोधने प्रथमाया विभक्त्या आमन्त्रित-सञ्ज्ञाऽग्रे[२] विधास्यते, तस्मिन्। परस्य अङ्गं = अवयवः, तद्वत्। स्वरे = स्वरविधौ कर्त्तव्ये। आमन्त्रिते परे सति सुबन्तं पराङ्गवद् भवति स्वरे = स्वरविधौ कर्त्तव्ये। मद्राणां[३] राजन्। अत्र 'म-

१. सा०—पृ० ३॥

२. २। ३। ४८॥

३. ऐतरेयब्राह्मणे उत्तरमद्राः—"तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।" (८। १४। ३)

बृहदारण्यकोपनिषदि—"अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम। ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम।" (३। ३। १॥ अपि च द्रष्टव्यं ३। ७। १)

महाभारते कर्णपर्वणि—

"तत्र वृद्धः पुरावृत्ताः कथाः कश्चिद् द्विजोत्तमः।
बाहीकदेशान् मद्रांश्च कुत्सयन् वाक्यमब्रवीत्॥ २०२८॥
बहिष्कृता हिमवता गङ्गया च बहिष्कृताः।
सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये॥ २०२९।
शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा॥ २०३३॥
धाना गौड्यासवं पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह।
अपूपमांसमद्यानामाशिनः शीलवर्जिताः॥ २०३४॥
गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवाससः।
नगरागारवप्रेषु बहिर्माल्यानुलेपनाः॥ २०३५॥
मत्तावगीतैर्विविधैः खरोष्ट्रनिनदोपमैः।
अनावृता मैथुने ताः कामचाराश्च सर्वशः॥ २०३६॥"

मद्राणां शाकलनाम्नी (चीनाक्षरेषु—"शे-की-लो") राजधान्यासीदिति सभापर्वणि—

"ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम्॥ ११६६॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली। ११६७॥"

बृहत्संहितायाम् —

"दिशि पश्चिमोत्तरस्यां माण्डव्यतुषारतालहलमद्राः॥" (१४। २२)

ह्राणाम्' इति सुबन्तं, [तस्य] 'राजन्' इत्यामन्त्रिते परतः पराङ्गवद्विधानाद्, 'आमन्त्रितस्य च[1]॥' इति सूत्रेण पदात् परस्यामन्त्रितस्यानुदात्तं प्राप्तं, तन्न भवति। अर्थात् पूर्वं सुबन्तमविद्यमानमेव भवति। [पराङ्गवद्भावाद् 'आमन्त्रितस्य च[2]॥' इति षाष्ठिकेन सुबन्तस्याद्युदात्तत्वं भविष्यति।] एवं 'परशुना वृश्चन्' इत्यादिषु च योजनीयम्॥

सुप्-ग्रहणं किमर्थम्। पीड्ये पीड्यमान। अत्र 'अहं पीड्ये' इति तिङन्तमामन्त्रिते परतः पराङ्गवन्न भवति॥

'आमन्त्रिते' इति किम्। गेहे शूरः। आमन्त्रिताभावान् पराङ्गवन्न भवति॥

वा०—सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसंख्यानम्[3]॥१॥

तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्॥[4]

अत्र 'तीक्ष्णया' इति विशेषणस्यापि पराङ्गवद्भावो भवतीति॥ १॥

परमपि छन्दसि॥ २॥[4]

वेदे परमपि सुबन्तं पूर्वस्याङ्गवद् भवतीति। आ ते॑ पितर्मरुतां सुम्नमे॑तु[5]। इति॑ त्वा दुहितर्दिवः[6]। अत्र 'पितर्' इत्यामन्त्रितमाष्टमिकेनानुदात्तं, तस्मात् परं 'मरुताम्' इत्येतदपि पूर्वस्याङ्गवद्भावेनानुदात्तमेव भवति। एवं 'दुहितर्' इत्यामन्त्रितमनुदात्तं, तस्मात् परं 'दिवः' इत्येतदप्यनुदात्तमेव भवति॥ २॥

अव्ययप्रतिषेधश्च॥ ३॥[4]

आमन्त्रिते परतोऽव्ययं पराङ्गवन्न भवतीत्यर्थः। उच्चैरधीयान। नीचैरधीयान। अत्र पराङ्गवद्भावप्रतिषेधाद् 'अधीयान' इत्यामन्त्रितमनुदात्तं भवति॥ ३॥

अनव्ययीभावस्य॥ ४॥[4]

अव्ययीभावस्य अव्यय-सञ्ज्ञत्वात् पूर्ववार्त्तिकेन प्रतिषेधः प्राप्तः, तस्य प्रतिप्रसवेन विधानं क्रियते। अव्ययीभावस्तु पराङ्गवद् भवत्येव। उपाग्न्यधीयान। प्रत्यग्न्यधीयान। अत्रापि 'उपाग्नि, प्रत्यग्नि' इत्यव्ययं तदधीयान इत्यामन्त्रिते परतः पराङ्गवद्भवति। तेनाष्टमिको[1] निघातो न प्रवृत्तो भवति॥ २॥

---

१. ८। १। १९॥

२. ६। १। १९८॥

३. भाष्ये—"०उपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात् स्वरे ऽकृतकरत्वाच्च॥" इति, "० उपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात्॥" इति वा पाठः॥

४. अ० २। पा० १। आ० २॥

५. ऋ०—२। ३३। १॥

६. ऋ०—४। ८१। ३॥

यह अतिदेश सूत्र है । सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का जो एकवचन है, उस की आगे[1] आमंत्रित-सञ्ज्ञा करेंगे । उस आमंत्रित के परे [होते हुए] सुबन्त जो [उस के पूर्व] है, वह पराङ्गवत् अर्थात् पर के तुल्य हो जाय, स्वरविधि करना हो तो । मद्राणां राजन् । यहां 'मद्राणाम्' यह सुबन्त है, और 'राजन्' आमन्त्रित परे है । सो आमंत्रित के परे [होने पर] सुबन्त को पराङ्गवद्भाव होने से, राजन्-शब्द को [सुबन्त के पराङ्गवद्भाव न होने से जो] अनुदात्त प्राप्त था, सो न हुआ । [किन्तु सुबन्त और आमन्त्रित को एक पद मानके सुबन्त को 'आमन्त्रितस्य च[2] ॥' इस से आद्युदात्त हो गया ॥]

सुप्-ग्रहण इसलिये है कि 'पीड्ये पीड्यमान' यहां 'पीड्ये' यह सुबन्त ही नहीं । इससे पराङ्गवत् नहीं हुआ ॥

और आमन्त्रित-ग्रहण इसलिये है कि 'गेहे शूरः' यहां आमंत्रित पर नहीं, इससे पराङ्गवद्भाव नहीं हुआ ॥

'सुबन्तस्य० ॥' सुबन्त को जो पराङ्गवद्भाव कहा है, वहां सुबन्त का जिस के साथ समानाधिकरण हो, उस को भी पराङ्गवद्भाव हो जाय । तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन् । यहां सूची- और तीक्ष्ण-शब्द का समानाधिकरण है । उस में सूची विशेष्य और तीक्ष्ण विशेषण है । सो इस वार्त्तिक से तीक्ष्ण-शब्द को भी पराङ्गवद्भाव हो गया ॥ १ ॥

'परमपि छन्दसि ॥' वेदों में आमन्त्रित से पर भी सुबन्त हो, उस को पूर्व के अङ्ग के तुल्य हो जाय । आ ते पितर्मरुताम्[3] । यहां 'पितर' आमन्त्रित है । उस से पर 'मरुताम्' जो सुबन्त है, उस को पूर्वाङ्गवद्भाव होने से अनुदात्त स्वर हो गया । यह इस दूसरे वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ २ ॥

'अव्ययप्रतिषेधश्च ॥' अव्यय से पर जो आमन्त्रित हो, तो उस अव्यय को पराङ्गवद्भाव न हो । उच्चैरधीयान । यहां 'उच्चैस्' अव्यय से पर 'अधीयान' आमन्त्रित है । सो अव्यय को पराङ्गवद्भाव के न होने से आमन्त्रित को निघात हो गया । यह बात तीसरे वार्त्तिक से सिद्ध हुई ॥ ३ ॥

'अनव्ययीभावस्य ॥' अव्ययीभाव समास की अव्यय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व वार्त्तिक से पराङ्गवद्भाव का निषेध प्राप्त था । सो इस वार्त्तिक से विधान किया है । अव्ययीभाव समास को पराङ्गवद्भाव हो आमन्त्रित के परे [होने पर।] उपाग्न्यधीयान । यहां 'उपाग्नि' यह अव्ययीभाव है । उस के पराङ्गवत् होने से आमन्त्रित का अनुदात्त स्वर नहीं हुआ । यह इस चौथे वार्त्तिक का प्रयोजन हुआ ॥ ४ ॥ १ ॥

[अथ समास-सञ्ज्ञाधिकारः]

प्राक् कडारात् समासः[4] ॥ ३ ॥

अधिकारोऽयम् । प्राक् । अ० । कडारात् । ५ । १ । समासः । १ । १ ।

---

१. २ । ३ । ४८ ॥
२. ६ । १ । १९८ ॥
३. ऋ०—२ । ३३ । १ ॥
४. शा०—पू० ३ ॥

प्राक्=पूर्वम् । कडारात्— 'कडाराः कर्मधारये[1]॥' इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय-पादसमाप्तिपर्यन्तं समासाधिकारो वेदितव्यः ॥

प्राग्-वचनस्यैतत् प्रयोजनम्—एकसञ्ज्ञाधिकारोऽयं, तत्र समास-सञ्ज्ञाया बाधिका अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञाः स्युः । प्राग्-वचनेन सञ्ज्ञासमावेशो भविष्यति । सामान्येन सर्वस्य समास-सञ्ज्ञा । तस्य अव्ययीभावादयः सञ्ज्ञा अवयवीभूता भविष्यन्ति ॥ ३ ॥

यह अधिकार सूत्र है । इस अध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति पर्यन्त समास सञ्ज्ञा का अधिकार समझना चाहिये ॥

प्राक्-ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यह एक सञ्ज्ञा का अधिकार है, तो अव्ययीभावादि संज्ञा समास-सञ्ज्ञा की बाधक न हों, किन्तु सामान्य करके सब की समास-संज्ञा हो, और अवयवीभूत होके अव्ययीभाव आदि संज्ञा भी रहें ॥ ३ ॥

सह सुपा[2] ॥ ४ ॥

'सुबामन्त्रिते०[3]॥' इत्यस्मात् सूत्रात् सुप्-ग्रहणमनुवर्त्तते । सह । अ० । सुपा । ३ । १ । 'सुपा सह सुप् समस्यते' इत्यधिकारोऽग्रे कडारपर्यन्तं भविष्यतीति ॥

भा०—अधिकारश्च लक्षणं च । यस्य समासस्यान्यलक्षणं[4] नास्ति, इदं तस्य लक्षणं भविष्यति ॥[5]

अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण 'सह' इत्यस्य योगविभागः कृतः, तेनैतत् प्रयोजनं निस्सारितं— द्वावर्थौ यथा स्याताम् । 'समर्थेन सह सुप् समस्यते[6]' इति प्रथमः, 'सुपा च सह सुप् समस्यते[6]' इति द्वितीयः । प्रथमार्थेन लक्षणं भविष्यति, अर्थात् यस्य समासस्य किमपि लक्षणं सूत्रं नास्ति, तत्रानेन समासो भविष्यतीत्यर्थः । द्वितीयार्थेनाधिकारो भविष्यति ॥

एतं महाभाष्यकाराभिप्रायमज्ञात्वा भट्टोजिदीक्षितादिभिः द्वितीयाश्रितादि-सूत्रेषु[7] योगविभागं कृत्वा लक्षणरहितस्य समासस्य सिद्धिः कृता । एतत् तेषां महान् भ्रमोऽस्ति ॥

---

१. २ । २ । ३८ ॥
२. सा०—पृ० २ ॥
 चा० शि०—"सुप्सुपैकार्थम् ॥" (२ । २ । १)
३. २ । १ । २ ॥
४. पाठान्तरम्—अन्यल्लक्षणम् ॥
५. के.रेडश—"भा० २ [भा०] " इत्युद्-रत्नस्थलम् ॥
६. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥
७. २ । १ । २३, २६ ... ॥

वा०—*इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च*[1] ॥

इव-शब्देन सह यस्य शब्दस्य समासो भवति, तत्र विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्वपदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वाससीइव । कन्येइव । इवेन सह समासविधानमनेनैव सूत्रेण, तत्र वार्त्तिकेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च विधीयते ॥ ४ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है । ['सुपा सह'] सुबन्त के साथ ['सुप्'] सुबन्त का समास हो । यह अधिकार समास संज्ञा पर्यन्त चला जायगा ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग से यह प्रयोजन सिद्ध किया है कि इस सूत्र के दो अर्थ करके प्रथम अर्थ से जहां किसी सूत्र से समास सिद्ध न हो, वहां समास समझा जाय, और दूसरे अर्थ से अधिकार समझा जाय ॥

इस महाभाष्यकार के अभिप्राय को नहीं जानके भट्टोजिदीक्षितादि लोगों ने आगे समास के सूत्रों में जो किसी सूत्र से समास नहीं बनता, उस की सिद्धि के लिये योगविभाग किया है । सो केवल उन लोगों की भूल है ॥

'इवेन वि०' इस वार्त्तिक में सूत्र से जो समास इव-शब्द के साथ होता है, सो विभक्ति का लोप न होना, और पूर्व पद को प्रकृतिस्व[र] हो जाना, यह बात वार्त्तिक से सिद्ध होती है । वाससीइव । यहां समास तो हो गया, परन्तु प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का लोप न हुआ [और पूर्वपद में प्रकृतिस्वर बना रहा] ॥ ४ ॥

[अथाव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

अव्ययीभावः[3] ॥ ५ ॥

अयमप्यधिकार एवास्ति । अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, तस्याव्ययीभाव-सञ्ज्ञा भविष्यति । अन्वर्था सञ्ज्ञा चास्मिन्नपि सूत्रेऽस्ति । अनव्ययम् अव्ययं भवतीति अव्ययीभावः[2] । कुतः । महत्याः सञ्ज्ञायाः प्रतिपादनात् ॥ ५ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की अव्ययीभाव-संज्ञा होगी ॥ इस सूत्र में भी बड़ी संज्ञा के होने से अन्वर्थ संज्ञा समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति-शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्य-सम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु[4] ॥ ६ ॥

---

१. कोशेऽत्र—"। १ ॥" इति ॥
२. अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥
३. सा०—पृ० ३ ॥
४. सा०—पृ० ३ ॥ चा० श०—"असङ्ख्यं विभक्तिसमीपाभावख्यातिपश्चाद्यथायुगपत्सम्पत्साकल्यार्थे ॥" (२ । २ । २)

'सुप्', 'सुपा' इति चानुवर्त्तते । अव्ययम् १ । १ । अन्यत् सर्वं सप्तम्या बहुवचनम् । [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] व्यृद्धि [५] अर्थाभाव [६] अत्यय [७] असम्प्रति [८] शब्दप्रादुर्भाव [९] पश्चात् [१०] यथा [११] आनुपूर्व्य [१२] यौगपद्य [१३] सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्तवचन¹—एषु विभक्त्यादिषोडशार्थेषु वर्त्तमानमव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासो ऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति ॥

विभक्त्यर्थे—अष्टाध्याय्यामधि । अध्यष्टाध्यायि शब्दबोधः । अष्टाध्याय्यां शब्दबोधो भवतीत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासात् 'अध्यष्टाध्यायि' इति नपुंसकत्वम् । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य² ॥' इति ह्रस्वत्वम् ॥

समीपार्थे— नद्याः समीपं = उपनदम् । पौर्णमास्याः समीपं = उपपौर्णमासम् । अत्राव्ययीभावसमासविधानात् 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः³ ॥' इति टच् । ततो नपुंसकत्वम् । 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः⁴ ॥' इति पञ्चमीं विहाय सर्वासां विभक्तीनां स्थानेऽम् । पञ्चम्यां तु— उपनदात् । उपपौर्णमासात् ॥

समृद्धौ— ब्राह्मणानां समृद्धिः = सुब्राह्मणम् । सुक्षत्रियम् । अव्ययीभाव-प्रयोजनं विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशः ॥

व्यृद्धिः—विगता ऋद्धिः = व्यृद्धिः । अभक्ष्य व्यृद्धिः, ऋद्धेरभावः = दुर्भक्ष्यम् । दुर्यवम् । पूर्ववत् प्रयोजनम् ॥

अर्थाभावः = वस्त्वभावः । दंशानामभावः = निर्दंशम् । निर्मशकम् ॥

अत्ययः = निवृत्तिः । वर्षाया निवृत्तिः = अतिवर्षम् अत्राव्ययीभावान्नपुंसकत्वं, ततो वर्षा-शब्दस्य ह्रस्वः ॥

सम्प्रति वर्त्तमानं, तत्प्रतिषेधः । धनस्यासम्प्रति, धनमिदानीं न वर्त्तत इति अतिधनम् ॥

शब्दप्रादुर्भावः = शब्दस्य प्रसिद्धिः । इतिपाणिनि । तत्पाणिनि । इतिपतञ्जलि । पाणिनि-पतञ्जलि-शब्दौ लोके प्रसिद्धौ स्त इत्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमा-

---

१. वचन-शब्दो विभक्त्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते ॥
२. १ । २ । ४७ ॥
३. ५ । ४ । ११० ॥
४. २ । ४ । ८३ ॥

साद्व्ययत्वं, ततो विभक्तिलुक् ॥

[पश्चादर्थे—] अनुजलं पर्वतः । जलस्य पश्चात् पर्वतो वर्त्तते ॥

यथार्थे—यथाशक्ति । यथाबलम् ॥

आनुपूर्व्ये = अनुक्रमः । अनुशिष्यं पाठयति गुरुः । शिष्यान् क्रमेण पाठयतीत्यर्थः ॥

यौगपद्यं = एककालत्वम् । सवादं प्रवर्त्तन्ते । एकस्मिन् काले वादं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

सादृश्ये—सख्या सदृशः = ससखि । अत्राव्ययीभावादव्ययत्वं, ततो विभक्तिलुक् ॥

सम्पत्तौ—विद्यायाः सम्पत्तिः = सुविद्यं नगरम् ॥

साकल्यं = सम्पूर्णता । सतृणमन्नं भुनक्ति । तृणसहितं सकलं भुनक्तीत्यर्थः ॥

अन्तवचने—समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम् । महाभाष्यान्तमधीतमित्यर्थः । अत्र सर्वत्र विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

भा०—इह कश्चित् समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुत्तरपदार्थप्रधानः, कश्चिदन्यपदार्थप्रधानः, कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः ॥[1]

मुख्यत्वेन चत्वार एव समासाः । द्विगु-कर्मधारयौ तु तत्पुरुषभेदौ । तत्राप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वमेव । समासे कृते पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो भवति । अर्थात् समा[सा]र्थः पूर्वपदे स्थितो भवतीति । एवं सर्वत्र ॥ ६ ॥

['विभक्ति०'] [१] विभक्ति [२] समीप [३] समृद्धि [४] व्यृद्धि [५] अर्थाभाव [६] अत्यय [७] असम्प्रति [८] शब्दप्रादुर्भाव [९] पश्चात् [१०] यथा [११] आनुपूर्व्य [१२] यौगपद्य [१३] सादृश्य [१४] सम्पत्ति [१५] साकल्य [१६] अन्तवचन—इन सोलह अर्थों में वर्त्तमान जो ['अव्ययम्'] अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो ॥

विभक्त्यर्थ में—अधिवनं सिंहाः सन्ति । वनों में सिंह होते हैं । यहां सप्तमी विभक्ति के अर्थ में अधि अव्यय है । उस का समास होने से विभक्ति के स्थान में अम्-आदेश हो गया ॥

समीप अर्थ में—उपनदं क्षेत्राणि । नदी के समीप खेत हैं । यहां अव्ययीभाव समास के होने से नदी-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय[2] हुआ है ॥

समृद्धि अर्थ में—गोधूमानां समृद्धिः = सुगोधूमम् । गेहुओं की अधिक वृद्धि है । यहां सु अव्यय का गोधूम-शब्द के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है ॥

---

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥ २. ५ । ४ । ११० ॥

व्यृद्धि अर्थात् वृद्धि का न होना। यवानां व्यृद्धिः = दुर्यवम्। यहां दुर् अव्यय का समास यव सुबन्त के साथ हुआ है॥

अर्थाभाव अर्थात् वस्तु का न होना। मशकानामभावः = निर्मशकम्। इस समय मच्छरों का अभाव है। यहां निर् अव्यय का समास मशक सुबन्त के साथ है॥

अत्यय कहते हैं निवृत्ति हो जाने को। वर्षाया अत्ययः = अतिवर्षम्। वर्षा की निवृत्ति हो गयी। यहां अति अव्यय का वर्षा सुबन्त के साथ अव्ययीभाव स[मास] होने से वर्षा-शब्द को ह्रस्व हुआ है॥

असम्प्रति अर्थात् वर्त्तमान काल में जो काम न आवे। धनस्यासम्प्रति = अतिधनम्। इस समय धन नहीं। यहां भी अति अव्यय का समास धन सुबन्त के साथ है॥

शब्दप्रादुर्भाव = शब्द की प्रसिद्धि होना। अष्टाध्यायी शब्दस्य प्रादुर्भावः = इत्यष्टाध्यायि। अष्टाध्यायी-शब्द की इस समय प्रसिद्धि है। यहां इति अव्यय का समास अष्टाध्यायी-शब्द के साथ होने से अष्टाध्यायी शब्द को ह्रस्व हो गया है॥

पश्चात् अर्थ में— अनुभोजनं ग्रामं गच्छति। भोजन के पश्चात् ग्राम को जाता है। यहां अनु अव्यय का समास भोजन सुबन्त के साथ हुआ है॥

यथा अर्थ में— यथाबलं कार्याणि करोति। जैसा बल है, वैसे काम करता है। यहां यथा अव्यय का समास बल सुबन्त के साथ हुआ है॥

आनुपूर्व्य = क्रम से काम करना। अनुग्रन्थं व्याकरणं पठति। क्रम से व्याकरण पढ़ता है। अनु अव्यय का समास ग्रन्थ सुबन्त के साथ हो गया है॥

यौगपद्य = एक काल में कई [का मिलके] काम करना। सवादं प्रवर्त्तन्ते छात्राः। एक समय में सब विद्यार्थी बोलते हैं। यहां सह अव्यय का समास वाद सुबन्त के साथ है॥

सादृश्य = तुल्यता। मित्रेण सदृशः = समित्रम्। यह मनुष्य अपने मित्र के समान है॥

सम्पत्ति अर्थ में—सुविद्यम्। यहां सु अव्यय का समास विद्या सुबन्त के साथ हुआ है॥

साकल्य अर्थ में—सतृणमक्षम्। तृणों के साथ सब खा जाता है॥

अन्तवचन अर्थ में—समहाभाष्यं व्याकरणमधीतम्। महाभाष्य के अन्त पर्यन्त व्याकरण पढ़ा है। ये सोलह अर्थों में सूत्र की व्याख्या पूरी हुई॥

इस समास प्रकरण [में] मुख्य करके चार समास होते हैं—[१] अव्ययीभाव [२] तत्पुरुष [३] बहुव्रीहि [४] द्वन्द्व। समास का जो अर्थ है, वह अव्ययीभाव समास में पूर्व पद में रहता है। उत्तर पद में तत्पुरुष समास में, बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ में, और द्वन्द्व समास में दोनों पद में समास का अर्थ रहता है। द्विगु और कर्मधारय जो हैं, ये तत्पुरुष के भेद हैं॥ ६॥

यथाऽसादृश्ये[1] ॥ ७॥

---

१. सं०—पृ० ४॥ पा० सू०—"यथा न तुल्ये।" (२।२।२)

यथा । अ० । असादृश्ये । ७ । १ । असादृश्ये वर्त्तमानं 'यथा' इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । यथाचौरं बध्नाति । यथापण्डितं सत्करोति । ये ये चौराः सन्ति, तान् तान् बध्नाति । ये ये पण्डिताः सन्ति, तान् तान् सत्करोति । अत्राव्ययीभावकार्यं विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशः[1] ॥

'असादृश्ये' इति किम् । यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः । यद्यत्राव्ययीभावः स्यात्, नपुंसकत्वेन अम्-भावः स्यात् ॥ ७ ॥

['असादृश्ये'] असादृश्य अर्थ में वर्त्तमान जो ['यथा'] यथा अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । यथाचौरं बध्नाति । जो २ चोर हैं, उन को बांधता है । यहां यथा अव्यय का चोर सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है । उस के होने से विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता है ॥ ७ ॥

यावदवधारणे[2] ॥ ८ ॥

यावत् । अ० । अवधारणे । ७ । १ । अवधारणेऽर्थे वर्त्तमानं 'यावत्' इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति । यावत्कार्षापणं क्रीणाति । यावत्पात्रं भोजयति । यावन्ति कार्षापणानि, तावन्ति फलानि क्रीणाति । अत्रापि विभक्तिस्थानेऽम्-आदेशः प्रयोजनम् ॥

अवधारण-ग्रहणं किम् । यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम् ॥ ८ ॥

['अवधारणे'] अवधारण अर्थ में वर्त्तमान जो ['यावत्'] यावत् अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । यावत्कार्षापणं फलानि क्रीणाति । जितने पैसे हैं, उतने फल खरीदता है । यहां यावत् अव्यय का कार्षापण सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है । इस का भी प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥

अवधारण-ग्रहण इसलिये है कि—यावद् दत्तं, तावद् गृहीतम् । जितना दिया, उतना ले लिया । यहां यावत् अव्यय का समास नहीं हुआ ॥ ८ ॥

सुप् प्रतिना मात्रार्थे[3] ॥ ९ ॥

सुप्-ग्रहणम् अव्ययनिवृत्त्यर्थम् । सुप् । १ । १ । प्रतिना । ३ । १ । मात्रा-

---

१. द्रष्टव्यम्—"नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः॥" (२।४।८३)
२. सा०—पृ० ४॥ चा० श०—"यावदियत्ते॥" (२।१।५)
३. सा०—पृ० ४॥ चा० श०—"प्रतिना मात्रार्थे॥" (२।१।६)

र्थे । [७ । १ ।] मात्रा = स्वल्पं, अर्थ-श[ब्देन] वस्तुनः पदार्थस्य ग्रहणम् । मात्रार्थे वर्त्तमानं सुबन्तं समर्थेन प्रतिना सह समस्यते । अव्ययीभावः स समासो भवति । माषप्रति । सूपप्रति । स्वल्पा माषाः, स्वल्पः सूप इत्यर्थः । अत्राव्ययीभाव-सञ्ज्ञाश्रया अव्यय-सञ्ज्ञा । ततो विभक्तिलुक् ॥

मात्रार्थ-ग्रहणं किमर्थम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र समासो न भवति ॥ ९ ॥

सुप् की अनुवृत्ति चली आती है, फिर इस सूत्र में सुप् ग्रहण इसलिये है कि अव्यय की अनुवृत्ति न चले । मात्रार्थ = थोड़ा सा पदार्थ ['सुप्'] सुबन्त जो है, वह ['मात्रार्थे'] मात्रार्थ में वर्त्तमान ['प्रतिना'] प्रति के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । माषप्रति । सूपप्रति । थोड़े से उड़द । थोड़ी सी दाल । यहां माष और सूप सुबन्त का प्रति के साथ अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हो गया ॥

मात्रार्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'मातरं प्रति' यहां समास नहीं हुआ ॥ ९ ॥

अक्षशलाकासङ्ख्याः परिणा[1] ॥ १० ॥

अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः । १ । ३ । परिणा । ३ । १ । अक्षश्च शलाका च सङ्ख्या च, ताः । अक्ष-शब्दः, शलाका-शब्दः, सङ्ख्या एकत्वादिरेव सुबन्तानि परिणा सह समस्यन्ते । स चाव्ययीभावः समासो भवति, 'अनिष्टे द्योत्ये'[2] इति [अर्थे उपरिष्टादुक्तात्] वार्त्तिकात् [आह्रियते] । द्यूतक्रीडायामस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । पञ्चिका नाम कश्चिद् द्यूतविशेषः, तत्र यदा सर्वे एकरूपाः पतन्ति, तदा विजयो भवति । तत्रास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिरेव न भवति । अन्यथा पाते पराजयो भवति । तत्रैवानेन समासो भवति। अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वमिति । अर्थात् पूर्वमहं जितवान्, इदानीं तु पराजय एव जात इति प्रयोक्तव्ये 'अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि' इत्येवं प्रयोगा भवन्ति ॥

अव्ययीभावसमासप्रयोजनं विभक्तिलुक् ॥

वा॰—*अक्षादयस्तृतीयान्ताः परिणा पूर्वोक्तस्य यथा न तदयथाद्योतने*[3] ॥[4] १ ॥

---

१. सा॰—पृ॰ ५ ॥
चा॰ श॰—"सङ्ख्याक्षशलाकाः परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ॥" (२ । २ । ६)

२. "अयथाद्योतने" इति वार्त्तिकवचनम् ॥

३. पाठान्तरम्—"अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य यथा न तत् ॥"

४. अ॰ २ । पा॰ १ । आ॰ १ ॥

अक्षादयः शब्दास्तृतीयान्ताः परिणा सह समस्यन्ते पूर्वोक्तस्य = पूर्ववृत्तस्य तुल्यमिदं नास्तीति अयथा = अनिष्टे द्योतने—इति सूत्रस्यैव व्याख्या ॥ १ ॥

अक्षशलाकयोश्चैकवचनान्तयोः[1] ॥ २ ॥

इह मा भूत्—अक्षाभ्यां वृत्तम् । अक्षैर्वृत्तमिति[2] ॥[3]

अत्र वार्त्तिकनियमात् समासो न भवति ॥ २ ॥

कितवव्यवहारे च ॥ ३ ॥

इह मा भूत्—अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटेन यथा पूर्वमिति ॥

कितवव्यवहारे = मिथ्यानिन्द्ये व्यवहारेऽयं समासो भवति, यद्यन्यस्य वाध्यक्षशब्दो भवति, तदा न । इति तृतीयवार्त्तिकाशयः । महाभाष्याशयेनैवास्यार्थः पूर्वे लिखितः ॥ [३॥] १० ॥

['अक्ष-शलाका-सङ्ख्याः'] अक्ष-शब्द, शलाका-शब्द और संख्या एक, द्वि इत्यादि जो सुबन्त हैं, वे ['परिणा'] परि-शब्द के साथ समास को प्राप्त हों । सो समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो अनिष्ट अर्थ में । जुआ खेलने के विषय में यह सूत्र लगता है । पंचिका नाम है एक जुए का । उस में जब पासे एकतार पड़ते हैं, तब फेंकने वाला जीत जाता है । वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । और जब एक पांसा उलटा पड़ा, एक उलटा पड़ा, तब फेंकने वाले की हार होती है । तब इस सूत्र से समास होता है । अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि । द्विपरि । अर्थात् प्रथम तो मैं जीत गया था, अब मेरा पराजय हो गया ॥

अव्ययीभाव समास का प्रयोजन यह है कि 'अक्षपरि' आदि शब्दों की विभक्ति का लुक् हो जावे ॥

'अक्षादयः०' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां अनिष्ट अर्थ में समझना चाहिये ॥ १ ॥

'अक्षशला०' अक्ष और शलाका इन दोनों शब्दों का एकवचनान्त से समास होता है ॥ २ ॥

'कितवव्यव०' इस तीसरे वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति निन्दित जुआ के व्यवहार में समझनी चाहिये [॥ ३] ॥ १० ॥

विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या[4] ॥ ११ ॥

---

१. पाठान्तरम्—"एकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥"

२. भाष्यकोशेषु "इति" इति न दृश्यते ॥

३. कोशेऽत्र—"वा० २ [व्या०]" इत्युद्धरणचिह्नम् ॥

४. सा०—पृ० ५ ॥ अत्र "विभाषा ॥ अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥" इति द्वे सूत्रे व्याख्याते । अतो ज्ञायते नायं सामासिको नाम ग्रन्थो भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना संशोधित इति ।

चा० श०—"पर्यपाङ्बहिरञ्चः पञ्चम्या वा ॥" (२ । २ । ७)

विभाषा । अ० । अप-परि-बहिर्-अञ्चवः । १ । ३ । पञ्चम्या । २ । १ ॥

भा०—योगविभागः कर्त्तव्यः । 'विभाषा' इत्ययमधिकारः । ततः 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति ॥

अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, स विकल्पेन भविष्यति । यावत् नित्य-ग्रहणं नो आगमिष्यति, ताव[त्] विकल्पेन समासो विज्ञेयः । पक्षे वाक्यं भविष्यति ॥

पूर्वोक्तेन महाभाष्यकृतयोगविभागेनैतद् विज्ञायते—पाणिनिकृतमेकमेवेदं सूत्रम् । इदानीन्तनैस्तु जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादिभिर्द्वे सूत्रे व्याख्याते—'विभाषा' इति पृथक्, 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति पृथक् । इदानीन्तनेषु मुद्रित-[अष्टाध्यायी-] पुस्तकेष्वपि[1] पृथगेव लिखितमस्ति । तदिदं महाभाष्यतो विरुद्धमस्ति । कुतः । यत्रैकं सूत्रं, तत्रैव महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतोऽस्ति । पृथग् योगौ स्यातां चेत्, योगविभागकरणमनर्थकं स्यात् । 'अप, परि, बहिस्, अञ्चु' इत्येते शब्दाः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । पर्वतान् वर्जयित्वा = अपपर्वतं वृष्टो मेघः, अप पर्वतेभ्यो वृष्टो मेघः । परिपर्वतं, परि पर्वतेभ्यः । बहिर्ग्रामं, बहिर्ग्रामात् । प्राग्ग्रामं, प्राग् ग्रामात् । प्रत्यग्ग्रामं, प्रत्यग् ग्रामात् । अत्र यस्मिन् पक्षेऽनेनाव्ययीभावः समासो भवति, तत्र 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः[3]॥' इति विभक्तीनां स्थानेऽम्-आदेशो भवति । यस्मिन् पक्षे समासो न भवति, तत्र 'अपपरी वर्जने[4]॥' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् पञ्चमी । बहिर्योगेऽस्मिन् सूत्रे पञ्चमीविधानात् पञ्चमी[5]। अञ्चुयोगे 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते[6]॥' इति सूत्रेण पक्षे पञ्चमी भवति ॥ ११ ॥

इस सूत्र में 'विभाषा' यह अधिकार है । अर्थात् जब तक नित्य न आवे, तब तक विकल्प करके समास हुआ करेगा । महाभाष्यकार ने इस सूत्र में योगविभाग किया है । अर्थात् 'विभाषा' यह अधिकार के लिये पृथक् किया है । इस से यह जाना जाता है कि पाणिनिजी महाराज का

---

१. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

२. जर्मनीदेशे प्रकाशितायां श्रीबोटलिङ्कमहोदयसम्पादितायामष्टाध्याय्यां श्रीकीलहार्नसम्पादिते महाभाष्ये च "विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥ ११ ॥ १२ ॥" इति लिखितेऽप्येकस्मिन् सूत्रे द्वे सङ्ख्याङ्के दत्ते । तत्र किञ्चिदपि बीजं न पश्यामः ॥

३. २ । ४ । ८३ ॥

४. १ । ४ । ८७ ॥

५. २ । १ । १२ ॥ [?]

६. २ । ३ । २९ ॥

बनाया एक ही सूत्र है । और जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादि नवीन लोगों ने इस सूत्र [के पदों] को अलग २ अर्थात् दो सूत्र करके व्याख्या की है । तथा इस समय के छपे हुए [अष्टाध्यायी के] पुस्तकों में भी दो सूत्र लिखे हैं । सो महाभाष्य से विरुद्ध है । क्योंकि जो दो ही सूत्र होते, तो महाभाष्यकार योगविभाग क्यों करते । ['अप-परि-बहिर्-अञ्चवः'] अप, परि, बहिस्, अञ्चु, ये जो शब्द हैं, सो ['पञ्चम्या'] पंचम्यन्त सुबन्त के साथ समास पावें । वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । अपपर्वतम् । अप पर्वतेभ्यः इत्यादि उदाहरणों में जहां इस सूत्र से समास होता है, वहां विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश होता है । और जिस पक्ष में समास नहीं होता, वहां पंचमी विभक्ति बनी रहती है ॥ ११ ॥

आङ् मर्यादाभिविध्योः[1] ॥ १२ ॥

'पञ्चम्या' इत्यनुवर्त्तते । आङ् । अ० । मर्यादा-अभिविध्योः । ७ । २ । मर्यादायामभिविधौ च वर्त्तमानं 'आङ्' इति शब्दः पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । मर्यादायाम्—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात् । अभिविधौ—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । अव्ययीभावसमासकार्यं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

['मर्यादाभिविध्योः'] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्त्तमान जो ['आङ्'] आङ्-शब्द है, वह पंचम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । सो समास अव्ययीभाव-संज्ञक हो । मर्यादा अर्थ में—आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात् । अभिविधि में—आकुमारम्, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । समास सञ्ज्ञा का प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥ १२ ॥

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये[2] ॥ १३ ॥

लक्षणेन । ३ । १ । अभि-प्रती । १ । २ । आभिमुख्ये । ७ । १ । लक्षणेन = लक्षणवाचिना । आभिमुख्येऽर्थे वर्त्तमानौ अभि-प्रती शब्दौ लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रतिदीपकं पतङ्गाः पतन्ति । अभिसम्मुखं, दीपकसम्मुखं पतन्तीत्यर्थः । अभ्यग्नि । प्रत्यग्नि । अग्निमभि । अग्निं प्रति । अव्ययीभावसमासाश्रयाऽव्यय-सञ्ज्ञा । ततो विभक्तिलुक् ॥

'लक्षणेन' इति किमर्थम् । वाराणसीं प्रति गतः । अत्रानेन समासो न भवति ॥

---

१. सा०—पृ० ५ ॥
चा० श० (२ । ३ । ७)—"पर्यपाङ्बहिरञ्चः पञ्चम्या वा ॥"
२. सा०—पृ० ५ ॥

'आभिमुख्ये' इति किम् । अभिरूपा बालाः । प्रतिकूलाः शिष्याः । अत्रा-भिमुख्याभावादव्ययीभावः समासो न भवति ॥ १३ ॥

['आभिमुख्ये'] आभिमुख्य अर्थात् सम्मुख अर्थ में वर्तमान ['अभि-प्रती'] अभि, प्रति जो शब्द हैं, वे ['लक्षणेन'] लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । अभ्यग्नि, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि । अग्निं प्रति । यहां जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां अव्यय-सञ्ज्ञा के होने से विभक्तियों का लुक् हो जाता है । और जहां समास नहीं होता, वहां विभक्ति बनी रहती है ॥

लक्षणवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं प्रति गतः' यहां समास न हो ॥

और आभिमुख्य-ग्रहण इसलिये है कि 'अभिरूपाः, प्रतिकूलाः' यहां अव्ययीभाव समास न हो ॥ १३ ॥

अनुर्यत्समया[1] ॥ १४ ॥

'लक्षणेन' इत्यनुवर्त्तते । अनुः । १ । १ । यत्समया । अ० । 'समया' इति शब्दः समीपवाच्यव्ययम् । यस्य समया = यत्समया । यस्य समीपवाची अनुः, तेन लक्षणवाचिना सुबन्तेन सह अनुः विकल्पेन समस्यते । स समासो ऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुयमुनं मथुरा वसति । अनुवनं पशवश्चरन्ति । अनुपर्वतं नदी वहति । यमुनाया अनु, समीपमित्यर्थः । अत्राव्ययीभावसमासाद् यमुना-शब्दस्य नपुंसकत्वं, ततो ह्रस्वत्वं च ॥

'यत्समया' इति किम् । ग्राममनु विद्योतते विद्युत् । अव्ययीभावोऽत्र न भवति ॥

समीपार्थे 'अव्ययं विभक्तिसमीप०[2] ॥' इति सिद्धं, पुनर्विभाषार्थम् ॥ १४ ॥

इस सूत्र में समया अव्यय समीपवाची है । जिस का समीप वाची अनु-शब्द हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके अनु समास को प्राप्त हो । सो समास अव्ययीभाव कहावे । अनुपर्वतं नदी वहति । पर्वत के समीप नदी बहती है । यहां पर्वत लक्षणवाची है । उस के साथ अनु का समास हुआ है । उस के होने से सब विभक्तियों के स्थान में अम्-आदेश हो गया ॥

'जिस का समीप'-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्राममनु विद्योतते विद्युत्' यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १४ ॥

---

१. सा०—पृ० ३ ॥
का० शा० (२ । १ । ६)—"अनुः सामी-प्यायामयोः ॥"
२. २ । १ । ६ ॥

यस्य चायामः[1] ॥ १५ ॥

'लक्षणेन' इत्यनुवर्त्तते, 'अनुः' इति च । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] आयामः । १ । १ । आयामः = दीर्घत्वम् । यस्य आयामः = विस्तारवाच्यनु-शब्दोऽस्ति, तेन लक्षणवाचिना सुबन्तेन सहानुर्विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम्[2] । अनुशोणं पाटलिपुत्रम् । यथा गङ्गाया विस्तारः, तथा विस्तारेण तटे हास्तिनपुरमपि वसतीत्यर्थः । समास-प्रयोजनं गङ्गा-शब्दस्य नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् ॥

'आयामः' इति किम् । पर्वतमनु मेघो वर्षति । अत्र समासो न भवति ॥ १५ ॥

आयाम कहते हैं विस्तार को । ['च' और 'यस्य'] जिस का ['आयामः'] विस्तारवाची ['अनुः'] अनु-शब्द हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ अनु विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव कहावे । अनुगङ्गं हास्तिनपुरम् । अर्थात् जैसा गंगा का विस्तार है, वैसा ही विस्तार से किनारे २ हस्तिनापुर बसता है । यहां अव्ययीभाव समास के होने से गंगा-शब्द को नपुंसक होके ह्रस्व हो गया है ॥

आयाम-ग्रहण इसलिये है कि 'पर्वतमनु मेघो वर्षति' पर्वत पर मेघ बर्सता है, यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ ॥ १५ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च[3] ॥ १६ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] प्रभृति-शब्द आदिवाची । तिष्ठद्ग्वादीनि प्रातिपदिकान्यव्ययीभाव-सञ्ज्ञानि निपातितानि द्रष्टव्यानि । तिष्ठ-द्गु । वहद्गु । अव्ययीभावादव्ययत्वम् । ततो विभक्तिलुक् ॥

---

१. सा०—पृ० ६ ॥

चा० श०— "अनुः सामीप्यायामयोः ॥" (२ । २ । ६)

२. महाभारत आदिपर्वणि (३७८७)—

"सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती, य इदं हास्तिन-पुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥"

"गजपुर, गजसाह्वय, गजाह्वय, नागपुर, नागसाह्वय, नागाह्वय, वारणसाह्वय, वारणाह्वय, हस्तिनपुर" इति पर्यायाः । "हास्तिनापुर" इत्य-पि कश्चिद् दृश्यते ॥

एषा कुरूणां राजधानी इन्द्रप्रस्थादुत्तरपूर्वस्यां दिशि गङ्गाया दक्षिणे तीरे सुसमृद्धा स्फीतधनधा-न्या स्थिता गङ्गाप्रवाहेणापहृतेति विष्णुपुराणे—

"अधिसीमकृष्णात् निचक्नुः [भविष्यति ।] यो गङ्गयापहृते हास्तिनपुरे कौशाम्ब्यां निवत्स्य-ति ॥" (चतुर्थांश एकविंशोऽध्यायः)

३. सा०—पृ० ६ ॥

चा० श०—"तिष्ठद्ग्वादीनि ॥" (२ । २ । १०)

चकारोऽत्र निश्चयार्थः । तिष्ठद्गुप्रभृतीन्येव । तेन 'परमं तिष्ठद्गु' [इति] अत्र समासो न भवति ॥

वा०—*तिष्ठद्गु कालविशेषे ॥*[1] *१ ॥*

'तिष्ठद्गु, वहद्गु, आयतीगवम्' इति त्रयः शब्दाः कालविशेषे निपातिता इति विज्ञेयम् । तिष्ठन्ति गावोऽस्मिन् काले [दोहाय], स तिष्ठद्गु कालः[2] । वहद्गु कालः[3] । आयान्ति गावोऽस्मिन् काले, आयतीगवं कालः ॥ १ ॥

खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे ॥[1] *२ ॥*

खले यवाः सन्त्यस्य, स खलेयवं पुरुषः । एवं—लूनयवं, लूयमानयवम् ॥२॥

अथ गणपाठः—[१] तिष्ठद्गु [२] वहद्गु [३] आयतीगवम् [४] खलेयवम्[4] [५] खलेबुसम्[5] [६] लूनयवम् [७] लूयमानयवम् [८] पूतयवम् [९] पूयमानयवम्[6] [१०] संहृतयवम् [११] संह्रियमाणयवम् [१२] संहृतबुसम् [१३] संह्रियमाणबुसम्[7] [१४] समभूमि [१५] समपदाति[8] [१६] सुषमम्[9] [१७] विषमम्[10] [१८] निष्षमम्[11] [१९] दुष्षमम् [२०] अपरसमम्[12] [२१] आयतीसमम्[13] [२२] पुण्य-

---

१. अ० २ । पा० १ । आ० ९ ॥

२. "प्रथमरात्रेरर्धघटी । प्रावृट्काल इत्यन्ये" इति श्रीवर्धमानः ॥ (गण० म० २ । ६१)

३. "वहन्ति गावो यस्मिन् काले, स कालो वहद्गु । शरत्काल इत्यन्ये ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

४. क्वचित् "खलेबुसम् । खलेयवम् ।" इति क्रमभेदः ॥

५. चान्द्रवृत्तावयं शब्दो न पठितः ॥ (१।२।१०) "खले बुसानि यत्र काले, स कालः खलेबुसम् ।" इति श्रीवर्धमानः ॥

६. श्रीवर्धमानः—"पूताः पूयमानाश्च यवा यत्र काले, स पूतयवम् । 'पूनयवम्' इति भोजः । पूयमानयवं कालः । खलं रथाजिरं धान्यावपनस्थानं वा । खलन्ति=सञ्चीयन्ते यवांसि शूरैः धान्यानि वा यत्र, तत् खलम् । खले यवा बुसानि च यस्मिन् काले, स खलेयवं, खलेबुसम् । लूना यवा यस्मिन् काले, स लूनयवम् ।"

७. अतोऽग्रे काशिकायाम्—"एते कालशब्दाः ।"

८. चान्द्रवृत्तौ—"समम्भूमि । समम्पदाति ।" पदमञ्जर्यां श्रीहरदत्तमिश्रः—"अन्ये तु सम्भूमि सम्पदातीति पठन्ति ।" श्रीवर्धमानः—"समत्वं भूमेः समम्भूमि । निपातनाद् मुमागमः । शाकटायनस्तु 'समभूमि' इत्यप्याह । समम्पदाति—निपातनाद् मुमागमः । 'समपदाति' इत्यपि शाकटायनः ।"

९. श्रीवर्धमानः—"शोभनाः समा यत्र, स कालः सुषमम् । शोभनत्वं समस्येति वा ।"

१०. श्रीवर्धमानः—"समाद् विप्रकृष्टो हीनो वा देश इति केचित् ।"

११. क्वचित् "दुष्षमम् । निष्षमम् ।" इति क्रमभेदः ॥ गण० म०—"निर्गतं समं, निर्गतत्वं समस्येति वा ।" एवमेव "दुष्टत्वं समायाः दुष्टा समा वा यत्र ।"

१२. "अपसमम्" इति श्रीबोटलिङ्कमहोदयैर्लिखितो ॥ गण० म०—"अपरसममिति भोजः ।"

१३. अतोऽग्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां, प्रक्रियाकौमु-

समम्[1] [२३] पापसमम्[2] [२४] प्रौढम् [२५] प्राह्णम्[3] [२६] प्ररथम्[4] [२७] प्रमृगम्[5] [२८] प्रदक्षिणम्[6] [२९] अपरदक्षिणम् [३०] सम्प्रति [३१] असम्प्रति[7] [३२] इच्-प्रत्ययः समासान्तः[8] ॥ 'इच् कर्मव्यतिहारे'[9] ॥' 'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च'[10] ॥' इति य इच् प्रत्ययो भवति, तदन्तानि च प्रातिपदिकानि अव्ययीभाव-सञ्ज्ञानि भवन्ति । तेनाव्ययत्वात् विभक्तिलुक् । दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । नखानखि । केशाकेशि , द्विदण्डि । द्विमुसलि । इत्यादीनि ॥ १६ ॥

प्रभृति-शब्द आदि वाची है । ['तिष्ठद्गुप्रभृतीनि'] तिष्ठद्गु आदि जो प्रातिपदिक हैं, वे अव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञक निपातन समझने चाहियें । तिष्ठद्गु । वहद्गु इत्यादि शब्दों की अव्ययीभाव-सञ्ज्ञा होने से अव्यय-सञ्ज्ञा होके विभक्ति का लुक् हो जाता है ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थक है । तिष्ठद्गु आदि निपातों की ही अव्ययीभाव-सञ्ज्ञा हो । परमं तिष्ठद्गु । यहां परम-शब्द का समास नहीं हुआ ॥

'तिष्ठद्गु काल०' तिष्ठद्गु आदि तीन शब्द कालविशेष अर्थ में निपातन समझने चाहियें । जैसे—प्रातःकाल, सायंकाल । [इसी प्रकार तिष्ठद्गुकाल, अर्थात् जिस समय गौएं खड़ी होती हैं, वह काल ॥] १ ॥

'खलेयवादीनि०' खलेयवादि जो प्रातिपदिक हैं, उन प्रथमान्तों का अन्य पदार्थ में

दीटीकायां (अव्ययीभावप्रकरणे) च "पुण्यसमम् । पापसमम् । प्रौढम् ।" इति न सन्ति ॥

श्रीबोथलिङ्कपाठस्तु—"प्रौढम् । पापसमम् । पुण्यसमम् ।"

1. श्रीवर्धमानः—"पुण्यत्वं समत्वाः, पुण्या समेति वा । 'पुण्येन समं' [इति] तृतीयासमासापवाद इति केचित् । पापाः समा यस्मिन् युगे काले वा, पापसमम् ।"

न्यासकारः—"समा-शब्दः संवत्सरवाची । आयती समा = आयतीसमम् । एवं—पापा समा = पापसमम् । पुण्या समा = पुण्यसमम् । अन्ये तु तृतीयासमासं वर्णयन्ति । आयत्या समा = आयतीसमम् । एवमन्यत्रापि ॥"

2. अत्र प्रक्रियाकौमुदीटीकायां न दृश्यते ॥

3. गण० म०—"प्रगतत्वमह्नां, प्रगतमह इति वा ।"

4. श्रीवर्धमान —"प्रगतत्वं रथस्य । प्रगताः प्रभूता वा रथा अस्मिन् देशे ।"

5. गण० म०—"प्रगता मृगा यत्र काले यतो वाऽऽखेटकादेः, तत् प्रमृगम् ।"

6. गण० म०—"प्रकृष्टत्वं दक्षिणाया वा ।"

7. अतोऽग्रे चान्द्रवृत्तौ, काशिकायां प्रक्रियाकौमुदीटीकायां च "पापसमम् । पुण्यसमम् ।" इति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु "पुण्यसमम्" इत्यतोऽग्रे "आयतीसमम् । प्राह्णम्" इत्यपि ॥

श्रीहरदत्तः—"सङ्गतं प्रतिगतस्य = सम्प्रति । विपरीतमसम्प्रति ।"

8. गणरत्नमहोदधौ "अपरेनार्स, प्रान्तं, यकान्तं, समानतीर्थम्, समपक्षं, समानतीरं, अपदक्षिणम्" इत्येते शब्दा अधिका दृश्यन्ते । अपि च—"आकृतिगणोऽयम् । तेन 'यत्प्रभृति तत्प्रभृति' इत्यादीनामपि क्रियाविशेषणवृत्तीनां व्युत्पत्तिरनेनैव द्रष्टव्या ॥"

9. ५ । ४ । १२७ ॥

10. ५ । ४ । १२८ ॥

समास समझना चाहिये । खलेयवं उस को कहते हैं [कि] खरियान में जिस के जौ हों । इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी समझना उचित है ॥

तिष्ठद्गु आदि प्रातिपदिक पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिये हैं ॥ १६ ॥

पारेमध्ये[1] षष्ठ्या वा[2] ॥ १७ ॥

पारे-मध्ये । १ । २ । षष्ठ्या । ३ । १ । वा । अ० । अव्ययीभावसमास-पक्षे पारे-मध्ये-शब्दौ एकारान्तौ निपातितौ । या विभाषाऽनुवर्त्तते, सा 'महा-विभाषा' इति कथ्यते । तया पक्षे वाक्यं भवति । तस्या अनुवृत्तौ सत्यां पुनर् वा-वचनेन षष्ठीसमासोऽपि यथा स्यात् । पार-मध्य-शब्दौ षष्ठ्या = षष्ठ्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । गङ्गायाः पारं = पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । अव्ययीभावसमासाश्रयं नपुंसकत्वम् । ततो ह्रस्वः । महाविभाषया 'गङ्गायाः पारम्' इति वाक्यं भवति । द्वितीयविकल्पेन 'गङ्गापारम्' इति षष्ठीसमासः । एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति ॥ १७ ॥

जिस पक्ष में अव्ययीभाव समास होता है, वहां पारे और मध्ये ये दोनों शब्द एकारान्त निपातन किये हैं । ['पारेमध्ये'] पार और मध्य जो शब्द हैं, वे ['षष्ठ्या'] षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । यहां अव्ययीभाव समास के होने से गंगा-शब्द को ह्रस्व हुआ है ॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिये है कि द्वितीय विकल्प के होने से षष्ठीसमास भी हो जाय । पूर्व विकल्प से अव्ययीभाव समास पक्ष में वाक्य रहता है । गङ्गायाः पारम् । और दूसरे विकल्प से—गङ्गापारम् । यहां षष्ठीसमास भी हो गया । इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन रूप सिद्ध होते हैं ॥ १७ ॥

सङ्ख्या वंश्येन[3] ॥ १८ ॥

सङ्ख्या । १ । १ । वंश्येन । ३ । १ । वंशो[4] भवः = वंश्यः, तेन । दिगादित्वाद्[5] यत् । सङ्ख्यावाची यः सुबन्तः, स वंश्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य कर्त्तारौ— द्विमुनि व्याकरणम् । अव्ययीभावादव्ययत्वम् । ततो विभक्तिलुक् । एवं—एकविंशति भारद्वाजम् । अत्राप्यनेनैव समासः ॥ १८ ॥

---

१. केचित् "पारे मध्ये" इति द्वौ शब्दौ पृथक् पठन्ति ॥

२. सा०—पृ० ६ ॥ चा० श०—"पारेमध्ये षष्ठ्या वा ॥" इति एव पाठः ॥ (२ । २ । ११)

३. सा०—पृ० ७ ॥ चा० श०—"सङ्ख्या वंश्येन ॥" (२ । २ । १२) इति तदेव सूत्रम् ॥

४. वंशो द्विधा । विद्यया जन्मना च ॥

५. "दिगादिभ्यो यत् ॥" (४ । ३ । ५४)

[‘सङ्ख्या’] सङ्ख्यावाची जो सुबन्त है, वह [‘वंश्येन’] वंश्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । द्विमुनि व्याकरणम् । यहां द्विमुनि-शब्द में अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् हुआ है ॥ १८ ॥

नदीभिश्च[1] ॥ १९ ॥

‘सङ्ख्या’ इत्यनुवर्त्तते । नदीभिः । ३ । ३ । च । अ० । सङ्ख्यावाची सुबन्तो नदीवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । सप्तनदम् । द्वियमुनम् । सप्तगोदावरम् । सप्तानां नदीनां समाहारः । ‘द्वयोः यमुनयोः समाहारः, सप्तानां गोदावरीणां समाहारः’ इति पक्षे वाक्यं भवति । ‘सप्तनदम्’ [इति] अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाश्रयः समासान्तः टच्-प्रत्ययः । ततो नपुंसकत्वम् ॥

वा०— नदीभिः सङ्ख्यायाः समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः[2] ॥[3]

सूत्रेण यः समासो विधीयते, समाहारे स भवतीति विशेषः । समाहार-ग्रहणाभावे ‘सर्वमेकनदीतरे’[4] [इति] अस्मिन् प्रयोगे ‘एका चासौ नदी’ इति ‘पूर्वकालैक०[5] ॥’ इति सूत्रेण समानाधिकरणे समासः । तत्र ‘पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते०[6] ॥’ इति परिभाषया एकनदी-शब्दे समानाधिकरणं बाधित्वाऽनेन सूत्रेणाव्ययीभावः प्राप्नोति । यद्यव्ययीभावः स्यात्, तर्हि टच् प्रसज्येत । समाहार-ग्रहणान्न भवतीति वार्त्तिकाशयः ॥ १९ ॥

[‘सङ्ख्या’] संख्यावाची जो सुबन्त है, वह [‘नदीभिः’] नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास अव्ययीभाव-सञ्ज्ञक हो । द्वियमुनम् । यहां अव्ययीभाव समास के होने से यमुना-शब्द नपुंसक होके ह्रस्व हो गया ॥

‘नदीभिः०’ इस वार्त्तिक से यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह समाहार अर्थ में समझना चाहिये । जो समाहार-ग्रहण न करते, तो ‘एकनदी’ इस शब्द में समानाधिकरण समास होता है, और इस सूत्र से अव्ययीभाव पाता है । जो अव्ययीभाव हो, तो ‘एकनदम्’ ऐसा प्रयोग प्राप्त होता है । समाहार के न होने से अव्ययीभाव नहीं हुआ । यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ १९ ॥

---

१. सा०—पृ० ७ ॥
 का० रा०—“नदीभिः ॥” (२।२।१२)

२. कोरोऽत्र—“॥२॥” इति ॥

३. भ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

४. द्रष्टव्यम्—“नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥ अव्ययीभावश्च ॥” (५ । ४ । ११० ॥ २ । ४ । १८) इति सूत्रे ॥

५. २ । १ । ४९ ॥

६. पा०—सू० ५२ ॥
 प०—सू० ५९ ॥

अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्[1] ॥ २० ॥

'नदीभिः' इत्यनुवर्त्तते । अन्यपदार्थे । ७ । १ । च । [अ० ।] सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । अन्यपदार्थे गम्यमाने सञ्ज्ञायामभिधेयायां सत्यां सुबन्तो नदीवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । स समासोऽव्ययीभाव-सञ्ज्ञो भवति । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे=उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । इति देशविशेषस्य सञ्ज्ञा । अव्ययीभाव-सञ्ज्ञाप्रयोजनं पूर्ववत् ॥

'अन्यपदार्थे' इति किम् । कृष्णा चासौ नदी = कृष्णनदी ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किमर्थम् । शिघ्रगङ्गो देशः । अत्राव्ययीभावसञ्ज्ञाप्रयोज्यानि कार्याणि न भवन्ति ॥ २० ॥

[इत्यव्ययीभावसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

['अन्यपदार्थे'] अन्यपदार्थ में ['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञा अर्थ हो तो सुबन्त जो है, वह नदीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास होता है । वह समास अव्ययीभाव कहावे । उन्मत्तगङ्गम् । यह किसी देश की सञ्ज्ञा है—उन्मत्त अर्थात् बहुत चलने वाली गंगा हो जिस देश में । यहां समास सञ्ज्ञा का प्रयोजन पूर्व के तुल्य समझना चाहिये ॥

अन्यपदार्थ-ग्रहण इसलिये है [कि] 'कृष्णनदी' यहां न हो ॥

और सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि 'शिघ्रगङ्गो देशः' यहां संज्ञा के न होने से अव्ययीभाव न हुआ ॥ २० ॥

[यह अव्ययीभाव समास पूरा हुआ]

[अथ तत्पुरुषसमास-सञ्ज्ञाधिकारः]

तत्पुरुषः[2] ॥ २१ ॥

अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे यावद्[3] बहुव्रीहिसमासो नागमिष्यति, तावद् यः समासो भविष्यति, तस्य 'तत्पुरुषः' इति सञ्ज्ञा वेदितव्या ॥ २१ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जब तक बहुव्रीहि समास न आवे, तब तक जो समास हो, वह तत्पुरुष-संज्ञक होगा ॥ २१ ॥

द्विगुश्च[2] ॥ २२ ॥

द्विगुः । १ । १ । च । [अ० ।] द्विगुः समासश्च तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भव-

१. सा०—पृ० ८ ॥

षा० शा०—"अन्यार्थे नाम्नि ॥" (२ । २ । १४)

२. सा०—पृ० ८ ॥

३. "शेषो बहुव्रीहिः ॥" (२ । २ । २३) इति सूत्रपर्यन्तम् ॥

ति । समासान्ताः प्रयोजनम् । सङ्ख्या यस्य पूर्वं, तस्य तत्पुरुषस्यैव द्विगु-सञ्ज्ञा भवति । एकसञ्ज्ञाधिकारत्वाद् द्विगोः पुनस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानम् । पञ्चराजी । दशराजी । अत्र द्विगोस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञाविधानात् टच्-प्रत्ययो भवति । ततो ङीप् । एवं 'पञ्चगवं, दशगवं' इत्यपि ॥ २२ ॥

संख्या जिस के पूर्व हो, उस तत्पुरुष की आगे[1] द्विगु-संज्ञा करेंगे । यहां एक संज्ञा का अधिकार चला आता है, इसलिये फिर द्विगु की तत्पुरुष-सञ्ज्ञा की है । ['द्विगुः'] द्विगु जो समास है, वह ['च'] भी तत्पुरुष-संज्ञक हो । पंचराजी । दशराजी । यहां द्विगु की तत्पुरुष-संज्ञा होने से राजन्-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २२ ॥

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः[2] ॥ २३ ॥

द्वितीया । १ । १ । श्रित-अतीत-पतित-गत-अत्यस्त-प्राप्त-आपन्नैः । ३ । ३ । श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च, तैः । द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [श्रित—] कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः । अतीत—अरण्यमतीतः = अरण्यातीतः । पतित—कूपं पतितः = कूपपतितः । गत—नगरं गतः = नगरगतः । [अत्यस्त—] गङ्गामत्यस्तः = गङ्गात्यस्तः । [प्राप्त—] आनन्दं प्राप्तः = आनन्दप्राप्तः । [आपन्न—] सुखमापन्नः = सुखापन्नः । तत्पुरुष-सञ्ज्ञाया बहूनि प्रयोजनानि सन्ति । सर्वेषु सूत्रेषु तानि नैव लिख्यन्ते । यत्र यत्र तान्यागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि प्रसिद्धानि भविष्यन्ति ॥

वा०—*श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्* ॥

ग्रामं गमी = ग्रामगमी । ग्रामं गामी = ग्रामगामी ॥[3]

अस्यापि समासस्य तत्पुरुष-सञ्ज्ञा विज्ञेया ॥ २३ ॥

['द्वितीया'] द्वितीयान्त जो सुबन्त है, वह ['श्रिता०'] श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न, इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कष्टं श्रितः = कष्टश्रितः इत्यादि उदाहरणों में तत्पुरुष-संज्ञा के प्रयोजन बहुत हैं । वे सब सूत्रों में नहीं लिखे जायंगे । जहां २ के प्रयोजन आवेंगे, वहां २ प्रसिद्ध कर दिये जायंगे । और जो कोई विशेष प्रयोजन होगा, सो समास के सूत्रों में भी दिखला दिये जायंगे ॥

'श्रितादिषु०' इस वार्त्तिक से गमी और गामी आदि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का

---

१. २ । १ । ५१ ॥

२. सं०—सू० १४ ॥

३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

तत्पुरुष समास होता है । उस से 'ग्रामगमी, ग्रामगामी' इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥२३॥

स्वयं क्तेन[1] ॥ २४ ॥

'स्वयं' [इति] एतदव्ययम् । द्वितीया-ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तते । स्वयम् । अ० । क्तेन । ३ । १ । क्तेन = क्त-प्रत्ययान्तेन । 'स्वयं' [इति] एतदव्ययं क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । स्वयं-भुक्तम् । स्वयंधौतं वस्त्रम् । समासप्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यमैकविभक्तित्वं च ॥२४॥

पूर्व सूत्र से द्वितीयान्त की अनुवृत्ति आती है, सो आगे के लिये समझनी चाहिये । यहां तो 'स्वयम्' यह मकारान्त अव्यय है । इस से कुछ प्रयोजन नहीं । ['स्वयं'] स्वयं जो अव्यय है, वह ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । सो समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । स्वयंभुक्तम् । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद [और] एक स्वर [होना] और [अन्यत्र] एक विभक्ति होना [भी] ॥ २४ ॥

खट्वा क्षेपे[2] ॥ २५ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इत्यपि । द्वितीयान्तः खट्वा-शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते, क्षेपेऽर्थे गम्यमाने । स समासस्तत्पुरुषो भवति । खट्वामा-रूढः = खट्वारूढोऽयं मनुष्यः, सर्वतोऽविनीत इत्यर्थः ॥

'क्षेपे' इति किम् । खट्वामारूढः । अत्र समासो न भवति ॥

> भा०—कः क्षेपो नाम । अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन
> खट्वाऽऽरोढव्या । य इदानीमतोऽन्यथा करोति, स उच्यते
> खट्वारूढोऽयं जाल्मः । नातिव्रतवान् [इति] ॥[3]

अध्ययनमसमाप्तिमकृत्वा गुरोराज्ञां त्यक्त्वा च यो गृहस्थाश्रममाविशति, तस्य 'खट्वारूढः' इति नाम । क्षेपस्तस्य निन्दा, स एव समासार्थः ॥ २५ ॥

क्षेप कहते हैं निन्दा को । द्वितीयान्त जो ['खट्वा'] खट्वा-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो ['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में । खट्वामारूढः = खट्वारूढः । [अर्थात्] सब प्रकार से निन्दा करने योग्य ॥

क्षेप-ग्रहण इसलिये है कि 'खट्वामारूढोऽयं मनुष्यः' यहां समास नहीं हुआ । धर्मशास्त्र का यह नियम है कि विद्या को यथावत् पढ़के गुरु की आज्ञा के अनुसार लिखित नियम से स्नान करके गृहस्थाश्रम में जाना चाहिये । जो कोई इस से उलटा अर्थात् विद्या पूरी न हो और गुरु की आज्ञा भी न हो और गृहस्थाश्रम में आता है, उस को खट्वारूढ कहते हैं । इस शब्द से उस की निन्दा समझनी चाहिये ॥ २५ ॥

---

1. सा०—पृ० १४ ॥ 2. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

सामि[1] ॥ २६ ॥

'क्तेन' इत्यनुवर्त्तते । 'सामि' इत्यव्ययम् अर्ध-शब्दस्यार्थे वर्त्तते । 'सामि' इति शब्दः क्तान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । सामिभुक्तम् । सामिपीतम् । अर्धं भुक्तं, अर्धं पीतमित्यर्थः । ऐकपद्यादि समासप्रयोजनम् ॥ २६ ॥

सामि जो अव्यय है, वह अर्ध शब्द के अर्थ में है । ['सामि'] सामि जो शब्द है, [वह] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । सामिभुक्तम् । आधा खाया । यहां समास का प्रयोजन यह है कि एक पद आदि होना ॥ २६ ॥

कालाः[1] ॥ २७ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । द्वितीयान्ताः कालवाचिनः शब्दाः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः ॥

भा०—षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः । ते कदाचिदहर्गच्छन्ति कदाचिद् रात्रिम् ॥[2]

षण्मुहूर्त्तानामहोरात्रस्य चात्यन्तसंयोगो नास्तीति कृत्वा सूत्रारम्भः । षण्मुहूर्त्ता उत्तरायणेऽहर्गच्छन्ति, दक्षिणायने च रात्रिं गच्छन्ति । प्रतिपच्चन्द्रमा मासस्य प्रमाणकर्त्तोऽस्तीत्यत्यन्तसंयोगो नास्ति ॥ २७ ॥

['कालाः'] कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः । ज्योतिषविद्या में छः मुहूर्त्त विचरने वाले हैं । वे, उत्तरायण जब सूर्य होता है, तब दिन में आते हैं । और दक्षिणायन सूर्य में रात्रि में आते हैं । सो छः मुहूर्त्तों और दिन रात्रि का अत्यन्त संयोग नहीं, इससे आगे के सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है ॥ २७ ॥

अत्यन्तसंयोगे च[3] ॥ २८ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते, 'कालाः' इति च । 'क्तेन' इति निवृत्तम् । अत्यन्तसंयोगे । ७ । १ । च । अ० । अत्यन्तसंयोगः = सर्वथा संयोगः । अत्यन्त-

---

१. सा०—पृ० १४ ॥
२. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥ "अत्यन्तसंयोगे च ॥" (२ । १ । २८) इति सूत्रव्याख्याने ॥
३. सा०—पृ० १५ ॥

संयोगेऽर्थे गम्यमाने कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । मुहूर्त्तं सुप्तं = मुहूर्त्तसुप्तम् । मुहूर्त्तस्य सुखस्य स्वप्नस्य चात्यन्तसंयोगोऽस्ति । अर्थात् यावन्मुहूर्त्तं व्यतीतं, तावत् सुखं भुक्तं सुप्तं च ॥ २८ ॥

कालवाची जो द्वितीयान्त सुबन्त हैं, वे ['अत्यन्तसंयोगे'] अत्यन्तसंयोग अर्थ में सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । मुहूर्त्तं सुखं = मुहूर्त्तसुखम् । जब तक एक मुहूर्त्त व्यतीत हुआ, तब तक सुख भोगा । यहां मुहूर्त्त [और] सुख का अत्यन्त संयोग अर्थात् सब प्रकार का संयोग है ॥ २८ ॥

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन[1] ॥ २९ ॥

तृतीया । १ । १ । तत्कृतार्थेन । ३ । १ । गुणवचनेन । ३ । १ । 'अर्थेन' इति महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । 'गुणवचनेन' इत्यस्य विशेष्यस्य 'तत्कृतेन' इति विशेषणम् । तत्कृतेन = तृतीयान्तकृतेन । गुणमुक्तवता = गुणवचनेन । अन्यथा गुणवाचिना शब्देन समास इष्टः स्यात् । तर्हि 'गुणेन' इ[ति] ब्रूयात् । पुनर्वचन-महत्त्वस्यैतत् प्रयोजनं—गुणमुक्तवता द्रव्येण समासो यथा स्यात् । तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन गुणवचनेन अर्थ-शब्देन च सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । खण्डगुणः खण्ड इति गुणमुक्तवता । अर्थेन— धान्येनार्थः = धान्यार्थः । वसनेनार्थः = वसनार्थः ॥

'तत्कृतेन' इति किम् । कर्णेन बधिरः । अत्र कर्णकृतं बधिरत्वं नास्तीति समासो न भवति ॥

['गुणवचनेन' इति किम् ।] गोभिर्धनवान् । अत्र न भवति ॥

> भा०—नायमर्थ-शब्दः[2] । किं तर्हि । योगाङ्गमिदं निर्दिश्यते[3] । सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते । तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन[4] समस्यते । ततोऽर्थेन । अर्थ-शब्देन च तृतीया समस्यते ॥[5]

---

१. सा०—पृ० १५ ॥
२. पाठान्तरे— ०मर्थनिर्देशः ॥ ०मर्थनिर्देशो विज्ञायते ॥
३. पाठान्तरम्—योगाङ्गमिति विज्ञायते ॥
४. पाठान्तरम्—तत्कृतगुण० ॥
५. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

अस्याशयेनैव पूर्वं व्याख्या कृता, स्पष्टं च सर्वम् ॥ २९ ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है। अर्थात् 'अर्थेन' इतना पृथक् किया है, और 'तत्कृतेन' इस को 'गुणवचनेन' का विशेषण ठहराया है। जो द्रव्य गुण को कह चुका हो, उस को गुणवचन कहते हैं। तृतीयान्त से जो किया हो, वह तत्कृत कहावे। ['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'] तत्कृत गुणवचन और अर्थ शब्द के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः। यहां खण्ड-शब्द गुणवचन है। वह शङ्कुला से किया जाता है। इससे खण्ड के साथ शङ्कुला का समास हुआ है। अर्थ-शब्द के साथ 'धान्येनार्थः = धान्यार्थः' यहां समास हुआ है ॥ २९ ॥

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः[1] ॥ ३० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। पूर्वादि सर्वं तृतीयाबहुवचनम्। तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्वादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। [पूर्व—] मासेन पूर्वः = मासपूर्वः। संवत्सरपूर्वः। सदृश— मात्रा सदृशः = मातृसदृशः। पितृसदृशः। सम— भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। ऊनार्थ— कार्षापणेनोनं रौप्यं = कार्षापणोनम्। कार्षापणन्यूनम्। कलह— वाचा क[ल]हः = वाक्कलहः। मनःकलहः। निपुण— विद्यया निपुणः = विद्यानिपुणः। मिश्र— शर्करया मिश्रः = शर्करामिश्रः। तिलैर्मिश्रः = तिलमिश्रः। [श्लक्ष्ण—] आचारेण श्लक्ष्णः = आचारश्लक्ष्णः। तृतीयातत्पुरुषे विशेषप्रयोजनम्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०'[2] इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

वा०—[*पूर्वादिष्ववरस्योपसङ्ख्यानम्* ॥]

(मासेनाऽवरः =) मासावरोऽयम्। संवत्सरावरोऽयम् ॥[3]

स्पष्टं वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३० ॥

['तृतीया'] तृतीयान्त जो सुबन्त है, वह ['पूर्व०'] पूर्व आदि आठ सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। [१] पूर्व—मासेन पूर्वः=मासपूर्वः। यहां तृतीयान्त मास सुबन्त का पूर्व के साथ समास हुआ। [२] सदृश—मात्रा सदृशः= मातृसदृशः। यहां तृतीयान्त मातृ-शब्द का सदृश के साथ। [३] सम—भ्रात्रा समः = भ्रातृसमः। यहां तृतीयान्त भ्रातृ-शब्द का सम के साथ। [४] ऊनार्थ— ऊन-शब्द के अर्थ में जो शब्द हैं, वे भी समझने चाहियें। एकेनोनं=एकोनम्। एकन्यूनम्। यहां तृतीयान्त

१. सा०—पृ० २५ ॥
२. ६ । २ । २ ॥
३. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

एक-शब्द का ऊन- और न्यून-शब्द के साथ। [५] कलह—वाचा कलहः=वाक्कलहः। यहां तृतीयान्त वाक्-शब्द का कलह के साथ। [६] निपुण—विद्यया निपुणः=विद्यानिपुणः। यहां तृतीयान्त विद्या-शब्द का निपुण के साथ। [७] मिश्र—तिलैर्मिश्रः=तिलमिश्रः। यहां तृतीयान्त तिल-शब्द का मिश्र शब्द के साथ। [८] श्लक्ष्ण—आचारेण श्लक्ष्णः=आचारश्लक्ष्णः। और यहां तृतीयान्त आचार-शब्द का श्लक्ष्ण सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास हुआ है॥

इस तृतीयातत्पुरुष समास का विशेष प्रयोजन यह है कि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया॰'[1]॥' इस षष्ठाध्याय के सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होना॥

'पूर्वादि॰' पूर्वादिकों में अवर-शब्द भी समझना, अर्थात् तृतीयान्त-शब्द का समास अवर-शब्द के साथ भी हो। मासेनावरः=मासावरोऽयम्। यहां तृतीयान्त मास-शब्द का समास अवर के साथ हुआ है। यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है॥ ३०॥

कर्तृकरणे कृता बहुलम्[2]॥ ३१॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। कर्तृकरणे। १। २। कृता। ३। १। बहुलम्। १। १। कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणे।[3] महाविभाषाऽनुवर्त्तते, पुनर्बहुलग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—महाविभाषया वाक्यमेव भवति, बहुलेन तु क्वचित् समासोऽपि न भवति। कर्तृवाचि करणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं कृदन्तेन सुबन्तेन सह बहुलेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। अहिना हतः=अहिहतः। वृकहतः। दात्रेण लूनं=दात्रलूनम्। परशुना छिन्नं=परशुच्छिन्नम्॥

'कर्तृकरणे' इति किमर्थम्। पुत्रशोकेन मृतः। अत्र हेतौ तृतीया, अतः समासो न भवति॥

बहुल-ग्रहणं किम्। दात्रेण लूनवान्। परशुना छिन्नवान्। अत्र समास एव न भवति॥ ३१॥

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर बहुल-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि पूर्व के विकल्प से वाक्य रहता है और बहुल-ग्रहण से कहीं २ समास भी नहीं होता। ['कर्तृकरणे'] कर्त्तावाची और करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त हैं, वे ['कृता'] कृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। कर्त्तावाची—अहिना हतः=अहिहतः। यहां कर्त्तावाची तृतीयान्त अहि-शब्द का समास हत के साथ, और 'दात्रेण लूनं=दात्रलूनम्' यहां करणवाची दात्र-शब्द का समास लून के साथ हुआ है॥

---

१. ६। २। २॥

२. सा॰—पृ॰ ९५॥

३. कोशेऽत्र—"१। १। २।" इति॥

बहुल ग्रहण के होने से 'दात्रेण लूनवान्' यहां समास नहीं हुआ ॥

कर्तृकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'विद्यया यशः' यहां हेतु अर्थ में तृतीया है । इससे समास नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

कृत्यैरधिकार्थवचने[1] ॥ ३२ ॥

'कर्तृकरणे' इत्यनुवर्त्तते । कृत्यैः । ३ । ३ । अधिकार्थवचने । ७ । १ । कृत्य-सञ्ज्ञकाः प्रत्ययाः 'कृता' इति वचनेनागतास्तदन्तर्गतत्वात् । पुनः सूत्रमिदं बहुलनिवृत्त्यर्थम् । अर्थस्य = पदार्थस्य, वचनं = कथनं, अर्थवचनम् । अधिकं च तदर्थवचनं = अधिकार्थवचनम् । अर्थात् वस्तुनो ऽधिकतया गुणावगुण-वर्णनम् । तस्मिन्नधिकार्थवचने गम्यमाने तृतीयान्तौ कर्तृकरणवाचिशब्दौ कृत्य-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । काकैः पेया नदी = काकपेया नदी । कुत्सिता[2] इत्यर्थः । अत्र कर्तृवाचिना काक-शब्देन समासः । बाष्पेण छेद्यानि [= बाष्पच्छेद्यानि] तृणानि । अतिमृदूनि तृणानि सन्तीति यावत् । अत्र करणवाचिना बाष्प-शब्देन सह छेद्य-कृत्यान्तस्य समासः ॥

वा०—साधनं कृता[3] समस्यत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते = पादहारकः । गले चोप्यते = गलेचोपकः ॥[4]

'पादाभ्यां ह्रियते' इत्यत्र हरणस्य साधनं पादौ । तस्य साधनस्य हारकेण कृदन्तेन सह समासो भवतीति । सूत्राद् भिन्नप्रयोजनसाधकं वार्त्तिकम् ॥ ३२ ॥

कृत्य-सञ्ज्ञक प्रत्यय कृदन्त के अन्तर्गत होने से पूर्व सूत्र से ही सिद्ध हो जाता, फिर इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि यहां बहुल-ग्रहण नहीं है । पदार्थ के गुणों और अवगुणों का अधिक करके वर्णन करना, इस को अधिकार्थवचन कहते हैं । ['अधिकार्थवचने'] अधिकार्थवचन अर्थ में कर्त्ता और करणवाची जो तृतीयान्त हैं, वे ['कृत्यैः'] कृत्य-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । काकैः पेया = काकपेया नदी । यहां काक तृतीयान्त सुबन्त के साथ पेय कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है । इस नदी का जल कौओं के पीने योग्य है, अर्थात् अत्यन्त बुरा है । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । भाफ से टूटने योग्य तृण हैं, अर्थात् अत्यन्त कोमल हैं । यहां करणवाची तृतीयान्त भाफ-शब्द के साथ छेद्य कृत्यप्रत्ययान्त का समास हुआ है ॥

---

१. सा०—पृ० १६ ॥

२. अथ न्यासकारः—"अत्र सम्पूर्णतोयत्वं द्योतनं तथा स्तुतिः । एवं नाम सम्पूर्णतोया नदी यत् तटस्थैरपि काकैः शक्या पातुम्" ॥

३. पाठान्तरम्—कृता सह ।

४. अ० २ । पा० १ । आ० १ ॥

'साधनं०' साधनवाची [जो] सुबन्त है, वह कृदन्त के साथ समास पावे। प्रयोजन यह है कि पादहारक आदि शब्द सिद्ध हों। जैसे—पादाभ्यां ह्रियते = पादहारकः। यहां साधनवाची पाद हैं। उन के साथ कृदन्त हारक-शब्द का समास हुआ। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। परन्तु तृतीयान्त का नियम नहीं, किसी विभक्ति के साथ समास हो। जैसे 'पादाभ्यां' यहां पंचमी के साथ हुआ। यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

अन्नेन व्यञ्जनम्[1] ॥ ३३ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। अन्नेन। ३। १। व्यञ्जनम्। १। १। तृतीयान्तं व्यञ्जनवाचि सुबन्तमन्नवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। दुग्धदध्यादि व्यञ्जनमुच्यते। दध्नोपसिक्त ओदनः = दध्योदनः। क्षीरौदनः। अत्र व्यञ्जनवाचिदधिक्षीरयोः सुबन्तयोरन्नवाचिन ओदन-शब्दस्य समासः ॥ ३३ ॥

यहां दूध आदि को व्यञ्जन कहते हैं। तृतीयान्त जो ['व्यञ्जनम्'] व्यञ्जनवाची सुबन्त है, वह ['अन्नेन'] अन्नवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। दध्ना उपसिक्त ओदनः = दध्योदनः। यहां व्यञ्जनवाची दधि-शब्द का अन्नवाची ओदन-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३३ ॥

भक्ष्येण मिश्रीकरणम्[2] ॥ ३४ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते। भक्ष्येण। ३। १। मिश्रीकरणम्। १। १। भक्ष्ये वस्तुनि यद् मेलयन्ति, तद् मिश्रीकरणम्। मिश्रीकरणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। गुडेन मिश्रा धानाः = गुडधानाः। अत्र मिश्रीकरणवाचि[गुड-]शब्दस्य धाना-शब्देन समासः। कुतः। गुडमेव तत्र मेलयन्ति ॥ ३४ ॥

भोजन के योग्य पदार्थ में जो मिलाया जाय, वह मिश्रीकरण कहाता है। ['मिश्रीकरणम्'] मिश्रीकरण जो तृतीयान्त सुबन्त है, वह ['भक्ष्येण'] भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। यह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। गुडेन मिश्राः[=गुडमिश्राः] धानाः। यहां मिश्रीकरण गुड-शब्द का धाना-शब्द के साथ समास हुआ है ॥ ३४ ॥

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः[3] ॥ ३५ ॥

'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते। चतुर्थी। १। १। तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः। ३। ३। तस्मै इदं = तदर्थम्। 'तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित'

---

१. सा०—पृ० १६ ॥ २. सा० पृ० १७ ॥

इत्येतैः षट्सुबन्तैः सह चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [तदर्थ—] यूपाय दारु = यूपदारु । कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । अत्र चतुर्थ्यन्तयूप-शब्दस्य कुण्डल-शब्दस्य च दारु-हिरण्याभ्यां समासः ॥

अस्मिन् सूत्रे बलि-रक्षितयोर्ग्रहणेनैतद् विज्ञायते—तदर्थमात्रस्य चतुर्थ्यन्तस्य समासो न भवति । अन्यथा बलि-[रक्षित-]ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

चतुर्थ्यन्ता विकृतिः प्रकृत्या सह समस्यत इति तदर्थप्रयोजनम् । अर्थ—ब्राह्मणेभ्य इति ब्राह्मणार्थं पयः । बलि—इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । हित—बालाय हितं = बालहितम् । सुख—विदुषे सुखं = विद्वत्सुखम् । रक्षित—पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितम् ॥

वा०—*अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च ॥*

महाविभाषाऽनुवर्त्तते । तया वाक्यमपि प्राप्नोति । तदर्थमिदमुच्यते—'अर्थेन नित्यसमासवचनम्' इति । तेन समास एव भवति, वाक्यमपि न भवति । 'सर्वलिङ्गता'—विशेष्यस्य लिङ्गं भवतीति । अर्थ-शब्दो नित्यपुँल्लिङ्गः, तत्र तत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सर्वत्र पुँल्लिङ्गत्वं प्राप्तम् ॥ ३५ ॥

जो ['चतुर्थी'] चतुर्थ्यन्त शब्द का वाची है, उस के लिये जो हो, उस को तदर्थ कहते हैं । चतुर्थ्यन्त जो सुबन्त है, वह तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख [और] रक्षित, इन छः सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे ॥

इस सूत्र में बलि- और रक्षित-शब्द के ग्रहण से यह समझा जाता है कि तदर्थ-शब्द से सामान्य-ग्रहण नहीं, किन्तु विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक का प्रकृतिवाची प्रातिपदिक के साथ समास होता है । तदर्थ—कुण्डलाय हिरण्यं = कुण्डलहिरण्यम् । कुण्डल बनाने के लिये यह सुवर्ण है । यहां विकृतिवाची कुण्डल-शब्द का प्रकृतिवाची हिरण्य के साथ समास हुआ । अर्थ—ब्राह्मणार्थम् । यहां चतुर्थ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का अर्थ के साथ समास हुआ । बलि—इन्द्राय बलिः = इन्द्रबलिः । यहां इन्द्र-शब्द का बलि के साथ । हित—माणवकाय हितं = माणवकहितम् । यहां माणवक-शब्द का समास हित-शब्द के साथ । सुख—धनिने सुखं = धनिसुखम् । यहां धनि-शब्द का समास सुख के साथ हुआ है । और 'पुत्राय रक्षितं = पुत्ररक्षितं' यहां पुत्र-शब्द का समास रक्षित के साथ हुआ है ॥

'अर्थेन०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि इस सूत्र में जो अर्थ-शब्द के साथ समास किया है, पूर्व विकल्प से वाक्य न रहे, किन्तु नित्य समास हो जाय । और अर्थ-शब्द नित्य पुँल्लिङ्ग है । सो तत्पुरुष समास के उत्तरपदप्रधान होने से सर्वत्र पुँल्लिङ्ग प्राप्त होता है, सो

---

१. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ (२ । ३ । ७३) इत्यनेने सूत्रेण चतुर्थी भवति ॥

२. कोऽयम्—"॥ १ ॥" इति ॥

३. अ० २ । पा० १ । आ० १ ॥

न हो। किन्तु जो विशेष्य का लिंग हो, वही विशेषण का भी हो जाय। ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्थः सूपः। ब्राह्मणार्था यवागूः। अर्थ-शब्द के साथ समास होने [से] सब सिद्ध होते हैं ॥ ३५ ॥

पञ्चमी भयेन[1] ॥ ३६ ॥

पञ्चमी । १ । १ । भयेन । ३ । १ । पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । वृकेभ्यो भयं = वृकभयम् । दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम् । चौरभयम् । अत्र पञ्चम्यन्तानां वृक-दस्यु-चौराणां भय-शब्देन सह समासः ॥

वा०—भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम् ॥[2]

भय-शब्देन सह समास उच्यते । 'भीतं, भीः, भीतिः' इति शब्दत्रयेणापि पञ्चम्यन्तस्य समासो यथा स्यात् । स्वरूपविधित्वाद् भय-शब्देन ग्रहणं न प्राप्नोतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ३६ ॥

पंचम्यन्त जो सुबन्त हैं वह भयवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष कहावे। दस्युभ्यो भयं = दस्युभयम्। यहां पंचम्यन्त दस्यु-शब्द का समास भय-शब्द के साथ हुआ है ॥

'भय-भीति०' भय-शब्द के साथ जो पंचम्यन्त का समास कहा है, वहां भीत, भीति, भी इन तीन शब्दों के साथ भी समास हो। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है। क्योंकि व्याकरण में शब्द का जो रूप है, उसी का ग्रहण होता है। इससे इन तीन शब्दों का ग्रहण नहीं होता। वृकाद् भीतः = वृकभीतः। वृकाद् भीतिः = वृकभीतिः। वृकाद् भीः = वृकभीः। यहां पंचम्यन्त वृक-शब्द का समास उक्त तीन शब्दों के साथ हुआ है ॥ ३६ ॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः[1] ॥ ३७ ॥

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । अल्पशः = अल्पं पञ्चम्यन्तं सुबन्तं 'अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त' इत्येतैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । दुःखादपेतः = दुःखापेतः । किञ्चिद् दुःखात् पृथग् भूत इत्यर्थः । धनादपोढः = धनापोढः । दुःखात् मुक्तः = दुःखमुक्तः । जातेः पतितः = जातिपतितः । तडागादपत्रस्तः = तडागापत्रस्तः । अत्र दुःखादीनां पञ्चम्यन्तानां शब्दानामपेतादिभिः समासः ॥

'अल्पशः' इति किम् । वृक्षात् पतितः । अत्र समासो न भवति ॥ ३७ ॥

अल्प अर्थ में वर्त्तमान जो पंचम्यन्त सुबन्त है, वह अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त

१. सा०—पृ० १७ ॥ २. अ० २ । पा० १ । आ० २ ॥

इन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह तत्पुरुष समास कहावे। दुःखाद् अपेतः = दुःखापेतः। यहां दुःख-शब्द का अपेत के साथ। अपोढ—धनादपोढः = धनापोढः। यहां धन-शब्द का समास अपोढ के साथ। मुक्त—दुःखाद् मुक्तः = दुःखमुक्तः। यहां दुःख-शब्द का समास मुक्त के साथ। पतित—जातेः पतितः = जातिपतितः। यहां जाति-शब्द का पतित के साथ। अपत्रस्त—और 'तडागादपत्रस्तः = तडागापत्रस्तः' यहां तडाग पंचम्यन्त सुबन्त के साथ अपत्रस्त-शब्द का समास हुआ है॥

'अल्पशः' इस शब्द का ग्रहण इसलिये है कि 'तुङ्गात् पतितः' यहां समास नहीं हुआ॥ ३७॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन[1] ॥ ३८ ॥

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते। स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि। १। ३। क्तेन। ३। १। स्तोक-अन्तिक-दूरा अर्था येषां, ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः। पञ्चम्यन्ताः स्तोकान्तिकदूरार्थाः कृच्छ्र-शब्दश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते। स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति। स्तोकार्थे—स्तोकान्मुक्तः[2]। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकार्थे—अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। समीपादागतः। दूरार्थे—दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्र—कृच्छ्राल्लब्धः। कृच्छ्रान्मुक्तः। अत्र पञ्चम्यन्तानां स्तोकादीनां क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः॥ ३८॥

['स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि'] स्तोक, अन्तिक और दूर वाची जो शब्द और कृच्छ्र जो शब्द, वे ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो। स्तोकार्थ—स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। यहां थोड़े के वाची स्तोक- और अल्प-शब्द का समास क्त के साथ। अन्तिकार्थ—अन्तिकादागतः। समीपादागतः। सविधादागतः। यहां समीपवाची शब्दों का समास क्त के साथ। दूरार्थ—दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। यहां दूरवाची शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ। और 'कृच्छ्रान्मुक्तः' यहां पंचम्यन्त कृच्छ्र-शब्द का समास मुक्त-शब्द के साथ हुआ है॥३८॥

सप्तमी शौण्डैः[1] ॥ ३९ ॥

'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते। सप्तमी। १। १। शौण्डैः। ३। ३। 'शौण्डैः' इति बहुवचननिर्दे[शात्] 'शौण्डादिभिः' इति विज्ञायते। सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः शब्दैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। अक्षेषु शौण्डः = अक्षशौण्डः। स्त्रीषु धूर्त्तः = स्त्रीधूर्त्तः। अत्र सप्तम्यन्तयोः अक्ष-स्त्री-शब्दयोः शौण्डादिभिः सह समासः॥

१. सा०—पृ० १८॥ इति पञ्चम्या अलुक्॥

२. "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः॥" (६। ३। २)

अथ शौण्डादिगणः— [१] शौण्ड [२] धूर्त [३] कितव [४] व्याड [५] प्रवीण[1] [६] संवीत [७] अन्तर[2] [८] अधिपटु[3] [९] पण्डित [१०] कुशल [११] चपल [१२] निपुण[4] [१३] संव्याड[5] [१४] मन्थ [१५] समीर— इति[6] शौण्डादिगणः ॥ ३९ ॥

इस सूत्र में बहुवचन के पढ़ने से शौण्डादिगण समझा जाता है। ['सप्तमी'] सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['शौण्डैः'] शौण्डादि सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। अक्षेषु शौण्ड = अक्षशौण्डः। स्त्रीधूर्त्तः। यहां अक्ष- और स्त्री-शब्द का समास शौण्डादि के साथ समझना चाहिये॥

शौण्डादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में क्रम पूर्वक शुद्ध करके लिख दिया है, वहां देख लेना ॥ ३९ ॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च[7] ॥ ४० ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते। सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः। ३। ३। च। अ०। सप्तम्यन्तं सुबन्तं सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्चतुर्भिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। [सिद्ध—] ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः। नगरसिद्धः। शुष्क — छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम्। पक्व— स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम्।

---

१. केषुचित् प्रक्रियाकौमुदीकोशेषु नैष शब्द उपलभ्यते ॥

२. काशिकायां "अन्तर" इत्यपि ॥

अतोऽग्रे काशिकायां—"अन्तरशब्दस्त्वनाधिकरणप्रधान एव पठ्यते।"

गण० म०—"ये कालिकेऽन्तरपः विपन्नाः। न चैतत् षष्ठीसमासेन सिद्धमतीति शक्यं प्रतिपत्तुमर्थभेदात्। न हि 'अर्योऽन्तर्, अर्थवस्तान्तर' इति चैकोऽर्थः। किं चाव्ययत्वात् षष्ठीसमासप्रतिषेधः। श्रीभोजस्तु अन्तर-शब्दं पपाठ॥" (२।१०१)

३. प्रक्रियाकौमुदीशब्दकौस्तुभादिषु— "अधि। पटु।" इति द्वौ शब्दौ ॥

४. शब्दकौस्तुभे "निपुण" इत्यतोऽग्रे "शूर" इति ॥

५. केषुचित् काशिकाकोशेषु प्रक्रियाकौमुदी-गणरत्नमहोदधि-शब्दकौस्तुभेषु च "संव्याड। मन्थ। समीर।" इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते ॥

६. गणरत्नमहोदधौ—"अधीन, प्रधान, सम्य, ध्यान, प्रसव (पाठान्तरे—प्रसृत), विदित, सार, गुरु, आयस, सिद्ध, बन्ध, कटक, विरस, शेखर, शुष्क, पक्व" इति १६ शब्दा अधिकाः। एषामुदाहरणानि—"जिनपदाधीनः। अधीन-शब्दोऽस्मादेव गणपाठात् 'तस्याधीनः' इति ज्ञापकाद् वा ख-प्रत्ययान्तो बोद्धव्यः। अथ वा 'अधिगत इनं, अधिगत इनोऽनेन' इति वा = अधीनः। यथा—लोकाधीनः। विबुधप्रधानम्। कार्यसम्यः। कार्यविषयेऽनिपुण इत्यर्थः। कर्मध्यानः। कर्मसु युक्त इत्यर्थः। पृथिवीप्रसवः ('-प्रसृतः' वा)। पृथिवीविदितः। त्वचिसारः। मध्येगुरुः। कायायसः। कायविषय औदरिक इत्यर्थः। काम्पिल्यासिद्धः। चक्रबन्धः। हस्तकटकः। अवसानविरसः। शिरःशेखरः। छायाशुष्कः। कुम्भीपक्वः। आकृतिगणोऽयम् ॥" (२।२०१)

७. सा०—पृ० १८ ॥

बन्ध— यूपे बन्धः = यूपबन्धः । अत्र सप्तम्यन्तानां ग्रामादिशब्दानां सिद्धादिभिः सह समासः ॥

सप्तमीतत्पुरुषस्य विशेषप्रयोजनं 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः'[1]॥' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ ४० ॥

सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, [वह 'सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः'] सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध, इन चार सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। सिद्ध—ग्रामे सिद्धः = ग्रामसिद्धः। यहां सप्तम्यन्त ग्राम-शब्द का समास सिद्ध के साथ। शुष्क—छायायां शुष्कं = छायाशुष्कम्। यहां छाया-शब्द का शुष्क के साथ। पक्व—स्थाल्यां पक्वं = स्थालीपक्वम्। यहां स्थाली-शब्द का पक्व के साथ। बन्ध—यूपे बन्धः = यूपबन्धः। और यहां सप्तम्यन्त यूप-शब्द का समास बन्ध-शब्द के साथ हुआ है। यहां सप्तमीतत्पुरुष समास में पूर्व पद को प्रकृतिस्वर होगा, यह विशेष प्रयोजन है ॥ ४० ॥

ध्वाङ्क्षेण क्षेपे[2] ॥ ४१ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते। ध्वाङ्क्षेण। ३। १। क्षेपे। ७। १। ध्वाक्षि-धातुः घोरवासिते[3]ऽर्थे वर्त्तते। यत्र मनुष्यः कार्यसिद्ध्यर्थे गच्छेत्, पुनस्तत्कार्यसमाप्तिपर्यन्तं निवस्तुं न शक्नुयात्, घोरवासं मत्वा ततो गच्छेत्। एतदर्थवाच्यत्र ध्वाङ्क्षशब्दः। क्षेपे = निन्दायां गम्यमानायां सत्यां सप्तम्यन्तं सुबन्तं ध्वाङ्क्षार्थवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। तीर्थे ध्वाङ्क्षः = तीर्थध्वाङ्क्षः। तीर्थे काकः = तीर्थकाकः ॥

> भा०—'ध्वाङ्क्षेण' इत्यर्थग्रहणम्[4] ॥
>
> इहापि यथा स्यात्—तीर्थकाक इति ॥
>
> 'क्षेपे' इत्युच्यते। क इह क्षेपो नाम। यथा तीर्थकाका[5] न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति, स उच्यते तीर्थकाक इति ॥[6]

यो मनुष्यो विद्यापठनाय गुरुसमीपं गच्छति, पुनस्तत्र घोरवासं मत्वा विद्यामसमाप्य मध्ये ततो धावति, तं पुरुषं तीर्थध्वाङ्क्ष-तीर्थकाक-शब्दाभ्यां निन्दन्ति ॥ ४१ ॥

---

१. ६। २। २॥
२. सा०—पृ० १८॥
३. धा०—भ्वा० ७०३॥ धातुपाठकोशेषु—"घोरवासिते" इति पाठान्तरम्। "वास शब्दे" (चि० ५४) इत्यभिक्रत्याऽयं पाठः। अस्मद्देव "घोरवाशिन् (= शृगालः)" इति शब्दः॥
४. वार्त्तिकमिदम्॥
५. पाठान्तरम्—तीर्थे काकाः॥
६. अ० २। पा० १। आ० २॥

ध्वाक्षि धातु का अर्थ घोरवास अर्थात् कठिन निवास करना है। जैसे कोई मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिये कहीं गया हो और कार्य की समाप्ति पर्यन्त वह मनुष्य वहां नहीं ठहर सका, किन्तु निवास करना अत्यन्त कठिन समझके बीच में वहां से भाग देना, उस [मनुष्य] को ध्वाङ्क्ष कहते हैं। ['क्षेपे'] क्षेप=निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['ध्वाङ्क्षेण'] ध्वाङ्क्षवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो। यह समास तत्पुरुष कहावे। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव=तीर्थध्वाङ्क्षः। तीर्थे काक इव=तीर्थकाकः। तीर्थध्वाङ्क्ष और तीर्थकाक उस को कहते हैं कि जो मनुष्य गुरु के समीप विद्या पढ़ने को जाता है, फिर वहां विद्या की समाप्ति पर्यन्त निवास करना कठिन समझके बीच में वहां से भाग जाता है। उस पुरुष की तीर्थध्वाङ्क्ष- और तीर्थकाक-शब्द से निन्दा की जाती है॥ ४१ ॥

कृत्यैर्ऋणे[१] ॥ ४२ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते। कृत्यैः। ३। ३। ऋणे। ७। १। वृद्ध्या सह पुनर्दास्यामीति मत्वा द्वितीयस्य धनग्रहणम्। यच्च नियमेन कर्त्तव्यं, यस्यात्यागेन दोषभागिनो भवन्ति, तदपि ऋणमेव भवति। ऋणेऽर्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्यैः=कृत्यप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। मासे देयमृणं=मासदेयम्। संवत्सरे देयमृणं=संवत्सरदेयम्॥

'ऋणे' इति किम्। प्रातःकाले पेयौषधिः[२]॥

वा०—कृत्यैर्नियोगे यद्ग्रहणम्॥

इहैव[३] स्यात्—पूर्वाह्णेगेयं साम। प्रातरध्येयोऽनुवाकः। इह मा भूत्—पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा॥[४]

कृत्यसञ्ज्ञकानां प्रत्ययानां यत्-प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्॥ ४२॥

ब्याज के सहित मैं तेरा धन दूंगा ऐसा समझके किसी के धन का जो ग्रहण करना, [और जिस कार्य के न करने से मनुष्य दोष का भागी होता है] वह ऋण कहाता है। ['ऋणे'] ऋण अर्थ के होने से सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह ['कृत्यैः'] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। मासे देयमृणं=मासदेयम्। यहां सप्तम्यन्त मास-शब्द के साथ कृत्यप्रत्ययान्त देय-शब्द का समास हुआ है॥

ऋण-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रातःकाले पेयौषधिः' यहां समास नहीं हुआ॥

'कृत्यैर्नियोगे०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि कृत्य प्रत्ययों में से यहां यत्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ समास समझना चाहिये, क्योंकि 'पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा' यहां समास न हो॥ ४२॥

१. सा०—पृ० २६ ॥ प्रयोगः ॥

२. "दोषं भवन्तीति वा" (अ० ६। पा० २) ३. पाठान्तरम्—इहापि यथा॥

४. भगवद्यास्कमुनेर्निरुक्तिमाश्रित्य औषधार्थे ४, अ० २। पा० १। आ० २॥

सञ्ज्ञायाम्[1] ॥ ४३ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । सञ्ज्ञायां विषये सप्तम्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिकाः । 'सञ्ज्ञायां कन्[2] ॥' इति सूत्रेण तिल-पिशाचाभ्यां कन् प्रत्ययः । 'हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्[3] ॥' इति सप्तम्या अलुक् । सप्तम्यन्तयोः कूप-अरण्य-शब्दयोः तिलक-पिशाचिकाभ्यां समासः ॥ ४३ ॥

['सञ्ज्ञायाम्'] संज्ञा विषय में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह सुबन्त के साथ समास पावे । वह समास तत्पुरुष हो । अरण्येतिलकाः । कूपेपिशाचिका । यहां सञ्ज्ञा में ही तिल- और पिशाच-शब्द से कन् हुआ । तथा कूप- और अरण्य-शब्द पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् भी संज्ञा में ही हुआ है । सप्तम्यन्त कूप- और अरण्य-शब्द का समास पिशाचिका- और तिलक-शब्द के साथ हुआ है ॥ ४३ ॥

क्तेनाहोरात्रावयवाः[1] ॥ ४४ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । क्तेन । ३ । १ । अहोरात्रावयवाः । १ । ३ । अहोरात्रयोरवयवाः = अहोरात्रावयवाः । सप्तम्यन्ता अहरवयववाचिनः शब्दा रात्र्यवयववाचिनश्च क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्णकृतम् । मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रे कृतं = मध्यरात्रकृतम् ॥

अवयव-ग्रहणं किमर्थम् । अहनि कृतम् । रात्रौ सुप्तम् । अत्र समासो न भवति ॥ ४४ ॥

['अहोरात्रावयवाः'] दिन और रात्रि के अवयववाची जो सप्तम्यन्त शब्द हैं, वे ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । पूर्वाह्णे कृतं = पूर्वाह्णकृतम् । मध्याह्नकृतम् । यहां पूर्वाह्ण और मध्याह्न दिन के अवयववाचियों का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ । पूर्वरात्रे कृतं = पूर्वरात्रकृतम् । मध्यरात्रकृतम् । और यहां रात्रि के अवयववाची पूर्वरात्र- और मध्यरात्र-शब्दों का समास क्त-प्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ हुआ है ॥

अवयव-ग्रहण इसलिये है कि 'अहनि कृतं, रात्रौ सुप्तम्' यहां अवयव के न होने से समास नहीं हुआ ॥ ४४ ॥

तत्र[1] ॥ ४५ ॥

---

१. सा०—पृ० ११ ॥
२. ५ । ३ । ८७ ॥
३. ६ । ३ । ६ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । 'तत्र' इति सप्तम्यन्तः शब्दः क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्रश्रुतम् । तत्रभृतम् । तत्रभुक्तम् । [अत्र] सप्तम्यन्तस्य तत्र-शब्दस्य क्त-प्रत्ययान्तेन सह समासः । समासप्रयोजनमैकपद्यादि ॥ ४५ ॥

सप्तम्यन्त जो ['तत्र'] तत्र-शब्द है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-संज्ञक हो । तत्रश्रुतम् । तत्रकृतम् । यहां सप्तम्यन्त तत्र-शब्द का समास क्त-प्रत्ययान्त के साथ हुआ है । समास का प्रयोजन एकपद आदि होना है ॥४५॥

क्षेपे[1] ॥ ४६ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते, 'क्तेन' इति च । क्षेपे = निन्दार्थे गम्यमाने सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । भस्मनिहुतं त एतत् । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् ॥

भा०—'क्षेपे' इत्युच्यते । क इह क्षेपो नाम । यथाऽवतप्ते नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति, स उच्यते—अवतप्तेनकुलस्थितं त एतदिति ॥[2]

कार्यमारभ्य धैर्येण बुद्धिमत्तया न करोति, तस्य निन्दां कुर्वन्ति । 'अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्' इति शब्देन । स्थितमिति भावे प्रत्ययः । नकुलस्येव ते = तव एतत् स्थितं = स्थानमित्यर्थः । एवं भस्मनि हुतं किमपि फलदायकं न भवति, तथैव तव कार्यमपि निष्फलम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्[3] ॥' इति बहुलेन सप्तम्या अलुक् क्वचिद् भवति, क्वचिन्न भवति, कृति = कृदन्तोत्तरपदे परे तत्पुरुषसमासे ॥ ४६ ॥

['क्षेपे'] क्षेप नाम निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त जो सुबन्त है, वह क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् । बहुत से पुरुष कार्यारम्भ करके फिर स्थिर होके उस को नहीं करते हैं । उन के लिये ऐसा शब्द बोला जाता है । जब अधिक घाम तपता है, उस तपन में जैसे न्यूला स्थिर नहीं होते, वैसे ही कार्य का आरम्भ करके जो स्थिर होके नहीं करता, वह मनुष्य भी समझा जाता है । षष्ठाध्याय के सूत्र[3] से तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तर पद के परे [होने पर] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है, सो यहां भी उसी सूत्र से बहुल करके अलुक् होता है ॥ ४६ ॥

पात्रेसमितादयश्च[1] ॥ ४७ ॥

१. सा०—पृ० ६६ ॥
२. म० २ । पा० १ । आ० २ ॥
३. ६ । ३ । १४ ॥

'क्षेपे' इत्यनुवर्त्तते । समुदायत्वेन निपात्यन्ते । क्षेपेऽर्थे गम्यमाने पात्रेसमितादयः शब्दास्तत्पुरुष-सञ्ज्ञा भवन्ति ॥

अथ गणपाठः—[१] पात्रेसमिताः[1] [२] पात्रेबहुलाः[2] [३] उदुम्बर-मशकाः[3] [४] उदरकृमिः[4] [५] कूपकच्छपः [६] कूपचूर्णकः[5] [७] अवटकच्छपः [८] कूपमण्डूकः[6] [९] कुम्भमण्डूकः [१०] उदपानमण्डूकः [११] नगरकाकः[7] [१२] नगरवायसः[7] [१३] मातरिपुरुषः[8] [१४] पिण्डीशूरः[9] [१५] पितरिशूरः[10] [१६] गेहेशूरः [१७] गेहेनर्दी [१८] गेहेक्ष्वेडी [१९] गेहेविजिती [२०] गेहेव्याडः [२१] गेहेमेही[10] [२२] गेहेदाही[11] [२३] गेहेतृप्तः[12] [२४] गेहेधृष्टः [२५] गर्भेतृप्तः[13] [२६]

---

१. काशिकायाम्—पात्रेसम्मिताः ॥

गण० म०—"अपनिलक्षीरा धेनुर्या सा पात्रसङ्गतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सत्येवमुच्यते । तद्वदन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः, स तदुपमानात् तथा वाच्यः । यथा अन्त्या खरकुटी चेम इति । अथ वा—पात्र एव समिताः = मिलिताः, नान्यत्र कार्ये । पात्र-शब्देन साहचर्याद् भोजनं लक्ष्यते ॥" (२ । १०२)

२. गण० म०—"पात्रे कात्स्न्येन सङ्घटनात् क्षीरादिफलविकला पात्रेबहुला । शेषार्थः पूर्ववत् । अथ वा—पात्र एव बहुलाः = प्रचुराः, नान्यत्र ।"

३. पाठान्तरम्—०मशकः । काशिकायां नास्ति ॥

न्यासकारः—"यस्तत्रैवावरुद्धो न क्वचिद् गच्छति, तमेव विशिष्टं मन्यते नास्मात् परमस्तीति, सोऽदृष्टविस्तार उच्यते 'उदुम्बरमशकः' इति ।"

गण० म०—"उदुम्बरे मशक इव । अल्पदृश्वा । अथ वा—उदुम्बरमशकोऽल्पभाग्यः सुकुमारश्च । तादृशो यः, स उदुम्बरमशकः ।" (२ । १०५)

४. पाठान्तरम्—उदुम्बरकृमिः । काशिकायां तु "उदरक्रिमिः" ॥

गण० म०—"उदुम्बरे कृमिरिव तस्माद् रसाद् विशिष्टं रसमन्यं न वेत्ति, स एवमुच्यत इति कश्चिदाह ।" (२ । १०२)

५. श्रीबोटलिङ्कस्तु "कर्णेचुरुचुरा" इत्यतःपरं पठति ॥

६. गण० म०—"कूपे मण्डूक इव । ततोऽन्यत्र जलस्थानं सरः समुद्रं वाऽधिकं न पश्यति । तद्वदन्यः पुरुषो ग्रामे नगरे वा शास्त्रे वा मतिमन्दः ततोऽन्यत्र पश्यति, विशिष्टं स एवमुच्यते ।" (२ । १०२)

७. गण० म०—"नगरे काक इव । नगरे वायस इव । स्वार्थनिष्ठः परवञ्चनानिपुण उच्यते । अथ वा—नगरकाको न क्वचित् तिष्ठति, सर्वमेव नगरं परिक्रमति । तद्वत् तथाभ्रमणं वाऽनवस्थितः पुरुष उच्यते ।" (२ । १०४)

८. गण० म०—"यः सदाचारं भिनत्ति, स एवमुच्यते । यथा मातरि पौरुषमवलम्बमानः ।" (२ । १०५)

९. श्रीबोटलिङ्कपाठः—पिण्डीशूरः ॥

गण० म०—"पिण्डकर्म = खादितव्ये वस्तुनि शूरः । कलहनर्तनादिकं कृत्वा खादितव्यं खादति, अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रमः ॥" (२ । १०१)

१०. काशिकायामत्र नास्ति ॥

११. काशिकायां नास्ति ॥

१२. पाठान्तरम्—गेहेदृप्तः ॥

१३. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां ६, ९, १५, १२, २४, २५ इति सङ्ख्याकाः शब्दा न सन्ति ॥

आखनिकबकः[1] [२७] गोष्ठेशूरः [२८] गोष्ठेविजिती [२९] गोष्ठेक्ष्वेडी[2] [३०] गोष्ठेपटुः [३१] गोष्ठेपण्डितः [३२] गोष्ठेप्रगल्भः [३३] कर्णेटिरिटिरा[3] [३४] कर्णेचुरुचुरा[4] ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारो निश्चयार्थः । पात्रेसमितादय एव निपात्यन्ते । क्व मा भूत् । परमं पात्रेसमिताः । अत्र समासो न भवति । अस्मिन् गणे ये केचित् शब्दाः क्त-प्रत्ययान्ताः, तेषां पाठः पात्रेसमितादिषु गणनाकरणार्थः । तेन पात्रेसमितादीनां युक्तारोह्याद्यन्तर्गतत्वात् पूर्वपदस्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् ॥ ४७ ॥

['पात्रेसमितादय:'] पात्रेसमितादि शब्दों का समुदाय निपातन किया है । पूर्व सूत्र से क्षेप अर्थात् निन्दा की अनुवृत्ति आती है । क्षेप अर्थ में पात्रेसमितादि शब्द तत्पुरुष-संज्ञक हों । पात्रेसमितादि सब शब्द पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिये हैं ॥

चकार-ग्रहण निश्चय के लिये है कि पात्रेसमितादि ही निपात समझे जायें । परमं पात्रेसमिता: । यहां परम शब्द का समास न हुआ ॥

इस गण में बहुतसे शब्द क्त-प्रत्ययान्त पढ़े हैं । यहां पूर्व सूत्र से ही समास सिद्ध हो जाता, फिर उन का पढ़ना इसलिये है कि पात्रेसमितादिगण में गणना हो जाय । उस के होने से यहां पूर्व पद को आद्युदात्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन[5] ॥४८॥

(तत्पुरुषसमासप्रकरणे)

गण० म०—"गर्भे एव तृप्तः स्वमात्राहृतेनाहारेण, यतो निस्पृष्य न कदाचिदुदरपूरं कर्तुं वर्तिनीः । गर्भेतृप्त० = दरिद्रः ।" (२ । १०२)

१. गण० म०—"आखनिकः = जलस्रोतः, खातं, तस्मिन् बक इव । तद्वन्योऽपि य आत्मीये गृहे यत्किञ्चिदस्ति, तद् भक्षयति, नान्यत्र गच्छति, स एवमुच्यते ।" (२ । १०३)

२. अयादित्यविट्ठलाचार्यावतः परम्—गेहेमेही ॥

३. काशिकायाम्—कर्णेटिट्टिभः ॥

गण० म०—"टिरिटिरा चापलेन अनुचितचेष्टा उच्यते ॥" (२ । १०३)

४. काशिकायाम्—कर्णेचुरुचुरा ॥

अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—कूपचूर्णकः ॥

गण० म०—"कर्णेचुरुचुरा चापलेन अनुचितचेष्टा उच्यते । 'टिरिटिरि' इति शब्दानुकरणं, 'चुरुचुरु' इति वाक्यानुकरणम् । तत्करोतीति एवन्तादचप्रत्ययो निपातनसामर्थ्याद् वाऽनो न भवति । शाकटायनस्तु 'कर्णेटिरिटिरिः, कर्णेचुरुचुरुः' इत्याह ॥" (२ । १०४)

प्रक्रियाकौमुदीटीकायाम्—"इत्करणामावादाकृतिगणोऽयम् ।"

गणरत्नमहोदधौ—"गेहेप्रगल्भः, गोष्ठेनर्दी, गेहेपटुः, गेहेपण्डितः, गोष्ठेश्वावः, गर्भेमुग्धा, गर्भेसुहितः, गर्भेतृप्तः, गर्भेभीरुः, मशककृमिः, गेहेनन्दी, गेहेनर्दी, गृहकलहविदुः, गेहेवादी, नगरश्वा, गेहेमेली, गृहसर्पः, गेहेविचिती" इत्यादयः शब्दा अधिका उपलभ्यन्ते ॥

भट्टिकाव्ये "कूपमण्डूकी" इत्यपि ॥ (५ । ८५)

५. ६ । २ । ८२ ॥

६. सा०—पृ० ११ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' ॥[1]' इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्व-निपातो भवति । बहुल-ग्रहणात् क्वचिद् विशेष्यस्यापि पूर्वनिपातः, क्वचित् समासे प्रवृत्तिरेव [न]। अत्र तु सर्वं नियमेन यथा स्यात्। 'सुप् सुपा' इत्यनुवर्त्तते । पूर्वकाल-एक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः । १ । ३ । समानाधिकरणेन । ३ । १ । पूर्वकालश्च एकश्च सर्वश्च जरच्च पुराणं च नवश्च केवलश्च, ते । 'पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल' इत्येते सप्त शब्दाः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं पादपर्यन्तं गमिष्यति । द्वयोः समर्थपदयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः = सामानाधिकरण्यम् । पूर्वकाल— स्नातानुभुक्तः । पूर्वं स्नातं, पश्चाद् भुक्तम् । स्नानस्य भोजनस्य च कर्त्ता एक एवेति सामानाधिकरण्यम् । पूर्वकालवाची स्नात-शब्दोऽपरकालवाचिनाऽनुभुक्तसमानाधिकरणेन समस्यते । एक—एकश्चा-सौ वैद्यः = एकवैद्यः । सर्व—सर्वे च ते मनुष्याः = सर्वमनुष्याः । जरत्—ज-रंश्चासौ हस्ती = जरद्धस्ती । जरदश्वः । पुराण— पुराणश्चासौ गुडः = पुराण-गुडः । पुराणवक्रम् । पुराणान्नम् । नव— नवं चादोऽन्नं = नवान्नम् । नव-श्चासौ गुडः = नवगुडः । केवल— केवलं चादोऽन्नं = केवलान्नम् । केवलवक्रम् ॥

'समानाधिकरणेन' इति किम् । गुणेनैकेन वैद्यः । अत्र समासो न भवति ॥४८॥

समानाधिकरण उस को कहते हैं कि समास के लिये जो दो पद हैं, उन की एक पदार्थ के बीच में प्रवृत्ति होना । ['पूर्वकालैक०'] पूर्वकालवाची शब्द, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल, इन सात शब्दों का ['समानाधिकरणेन'] समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । [पूर्वकाल—] स्नातानुभुक्तः । पूर्वं स्नान किया, पश्चात् भोजन किया । यहां पूर्वकालवाची स्नात-शब्द है, अपरकालवाची अनु-भुक्त है । स्नान और भोजन का करने वाला एक ही है । यही सामानाधिकरण्य है । एक—एक-वैद्यः । यहां एक-शब्द का समास वैद्य समानाधिकरण के साथ । सर्व—सर्वमनुष्याः । यहां सर्व-शब्द का समास मनुष्य समानाधिकरण के साथ । जरत्—जरत्पण्डितः । यहां जरत्-शब्द का समास पण्डित समानाधिकरण के साथ । पुराण—पुराणकम्बलः । यहां पुराण-शब्द का समास कम्बल के साथ । नव—नवान्नम् । यहां नव-शब्द का समास अन्न समाना-धिकरण के साथ । केवल—केवलब्राह्मणाः । और यहां केवल-शब्द का समास ब्राह्मण समा-नाधिकरण सुबन्त के साथ हुआ है ॥

समानाधिकरण-शब्द का अधिकार इस पाद में अन्त तक चला जायगा । समानाधिकरण

१. २ । १ । ५६ ॥

जो तत्पुरुष होता है, उस की कर्मधारय विशेष संज्ञा होती है। सो पूर्व[1] कह चुके हैं ॥ ४८ ॥

दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम्[2] ॥ ४९ ॥

'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्त्तते । दिक्-सङ्ख्ये । १ । २ । सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । सञ्ज्ञायां विषये दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणसुबन्तेन सह समस्येते । तत्पुरुषः [स] समासो भवति । पूर्वस्यां दिशि इषुकामशमी[3] = पूर्वेषुकामशमी[4] । अपरेषुकामशमी । कस्यचित् सञ्ज्ञेयम् । अत्र समानाधिकरणाधिकारे पठितत्वादस्य कर्मधारय-सञ्ज्ञा । ततः 'पुंवत् कर्मधारय०[5] ॥' इति सूत्रेण दिग्वाचिनः पूर्व-शब्दस्य पुंवद्भावः । सङ्ख्या— पञ्चाम्राः । सप्तर्षयः[6] ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किम् । पूर्वा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः । अत्र समासो न भवति ॥४९॥

['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञा विषय में ['दिक्सङ्ख्ये'] दिशावाची और सङ्ख्यावाची जो सुबन्त हैं, वे समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास पावें । वह समास तत्पुरुष सञ्ज्ञक हो । पूर्वेषुकामशमी । यहां दिशावाची पूर्व-शब्द का समास इषुकामशमी के साथ, और 'पञ्चाम्राः' यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास समानाधिकरण आम्र-शब्द के साथ हुआ है । यहां समानाधिकरण अधिकार में इस सूत्र के पढ़ने का प्रयोजन यह है कि कर्मधारय-सञ्ज्ञा हो जाय । कर्मधारय-संज्ञा के प्रयोजन अनेक हैं ॥ ४९ ॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च[1] ॥ ५० ॥

'दिक्-सङ्ख्ये' इत्यनुवर्त्तते । [तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे । ७ । १ । च । अ० ।] तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च, तस्मिन् । तद्धितार्थे = तद्धितोत्पत्तिविषये, उत्तरपदे समाहारे च दिग्वाचि-सङ्ख्यावाचि-सुबन्ते समानाधिकरणेन

---

१. "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥" (१ । २ । ४२)

२. सा०—पृ० २२ ॥

३. अथ वा—पूर्वा चासाविषुकामशमी च ॥

४. न्यासकारः— "पूर्वेषुकामशमीत्यादिर्ग्रामाणां सञ्ज्ञा ।"

दृश्यतां दशकुमारचरिते (उ० । उच्छ्वास ४)— "महाभाग सोऽहमस्मि पूर्वेषुकामचरः पूर्णभद्रो नाम ।" (शिवरामः—इषुकाम इति देशस्य सञ्ज्ञा)

५. ६ । ३ । ४२ ॥

६. "विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् । तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥" (ऋ० १०।८२।२)

अत्र निरुक्तकारः—"सप्तऋषीणानि ज्योतींषि ।" (अ० १० । पा० ३)

शतपथब्राह्मणे—"सप्तऋषीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते । अमी ह्युत्तराहि सप्तऋषय उद्यन्ति ।" (२ । १ । २ । ४)

बृहत्संहितायां (१३ । ५, ६)— "पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात् । तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च ॥ पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्ना अनुक्रमेण पूर्वाद्यात् । तत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रिताऽरुन्धती साध्वी ॥"

सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । तद्धितार्थे—पूर्वस्यां शालायां भवः = पौर्वशालः । औत्तरशालः । पाञ्चनापितिः । पाञ्च-ब्राह्मणिः । 'पौर्वशालः' इति 'दिक्पूर्वपदादसञ्ज्ञायां ञः[1] ॥' इति शेषार्थे ञः प्रत्ययः । पञ्चानां नापितानामपत्यमिति विग्रहे इञ्-प्रत्ययः[2] । उत्तरपदे—पूर्वा शाला प्रिया यस्य = पूर्वशालाप्रियः । पञ्च गावो धनं यस्य = पञ्चगवधनः । अत्र प्रिय-शब्दे धन-शब्दे चोत्तरपदपरे दिक्-सङ्ख्ययोः समानाधिकरणेन सह समासः । पूर्व-शब्दस्य कर्मधारयत्वात् पुंवत् । 'पञ्चगवधनः' इत्यत्र 'गोरतद्धितलुकि[3] ॥' इति टच् । समाहारे—समाहारे दिक्-शब्देन सह समासो न भवति । अष्टानामध्यायानां समाहार इत्यष्टाध्यायी । 'अदन्तो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते ॥' इति वार्त्तिकेन स्त्रीत्वे 'द्विगोः[4] ॥' इति सूत्रेण ङीप् । एवं—पञ्चकुमारि । दशकुमारि । समाहारस्य नपुंसकत्वात् ह्रस्वत्वम् ॥ ५० ॥

['तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे'] तद्धितार्थ में, उत्तरपद के परे [होने पर] और समाहार में दिशावाची [और] सङ्ख्यावाची जो सुबन्त हैं, वे समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष सञ्ज्ञक हो । तद्धितार्थ—पौर्वशालः । यहां तद्धितार्थ में दिग्वाची पूर्व-शब्द का शाला-शब्द के साथ समास होने में ञ-प्रत्यय भी हुआ । पाञ्चनापितिः । यहां सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समास [होने से इञ्-प्रत्यय] हुआ है । उत्तर पद के परे [होने पर]—पूर्वशालाप्रियः । पञ्चगवधनः । यहां प्रिय- और धन-शब्द उत्तरपद परे होने से दिशावाची पूर्व-, सङ्ख्यावाची पञ्च-शब्द का समानाधिकरण शाला- और गो-शब्द के साथ समास हुआ है । समास के होने से पूर्व-शब्द को पुंवत् और [गो] शब्द से टच्-प्रत्यय हुआ है । समाहार में—समाहार में दिग्वाची का समास नहीं होता । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । पञ्चकुमारि । दशकुमारि । यहां समाहार में सङ्ख्यावाची शब्दों का समास पात्र और कुमारी समानाधिकरण के साथ हुआ । पात्र-शब्द में एकवचन और कुमारी-शब्द को ह्रस्व भी हो गया है ॥ ५० ॥

सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः[5] ॥ ५१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायं शेषः । सङ्ख्यापूर्वः । १ । १ । द्विगुः । [१ । १ ।] सङ्ख्या पूर्वं यस्य, सः । पूर्वस्मिन् सूत्रे सङ्ख्यापूर्वो यः समासः, स द्विगु-सञ्ज्ञो भवति । तद्धितार्थे—पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः ।

१. ४ । २ । १०७ ॥
२. "अत इञ् ॥" (४ । १ । ९५)
३. ५ । ४ । ९२ ॥
४. ४ । १ । २१ ॥
५. सा०—पृ० २२ ॥

अत्र पञ्चेन्द्राणी शब्दाद् देवतार्थेऽण्[1] । द्विगुत्वाद् 'द्विगोर्लुगनपत्ये[2] ॥' इत्यणो लुक् । उत्तरपदे—पञ्चनावप्रियः । अत्र द्विगु-सञ्ज्ञाविधानात् 'नावो द्विगोः[3] ॥' इति नौ-शब्दात् टच्-प्रत्ययः । समाहारे—द्विगु-सञ्ज्ञत्वाद् 'अष्टाध्यायी' इत्यत्र ङीप्[4] ॥ ५१ ॥

पूर्व सूत्र का शेष यह सूत्र है । ['सङ्ख्यापूर्वः'] सङ्ख्या जिस के पूर्व हो, ऐसा जो पूर्व सूत्र में समास कहा है, उस की ['द्विगु.'] द्विगु-सञ्ज्ञा हो । तद्धितार्थ में —पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य = पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः । यहां पञ्चेन्द्राणी-शब्द से देवता अर्थ में [प्राप्त] अण्-प्रत्यय का, द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से, लुक् हो गया । उत्तर पद में —पञ्चनावप्रियः । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से नौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है । समाहार में—पञ्चपूली । यहां द्विगु-सञ्ज्ञा के होने से ङीप्-प्रत्यय हुआ है । इत्यादि प्रयोजनों के लिये सङ्ख्या पूर्व समानाधिकरण तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा विधान की है ॥ ५१ ॥

कुत्सितानि कुत्सनैः[5] ॥ ५२ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[6] ॥' इत्यस्यापवादः । तत्र विशेषणस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्र विशेष्यस्य पूर्वनिपातो यथा स्यात् । कुत्सितानि । १ । ३ । कुत्सनैः । ३ । ३ । 'कुत्सितानि' इति कर्मणि क्तः । 'कुत्सनैः' इति करणे ल्युट् । कुत्सयन्ति यैः, तानि कुत्सनानि, तैः । कुत्सितानि = कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । ब्राह्मणश्चासौ लोभी = ब्राह्मणलोभी । ब्राह्मणान्यायी । लोभि-शब्देन अन्यायि-शब्देन च निन्द्योऽस्ति ब्राह्मणः । अत्र विशेष्यस्य ब्राह्मण-शब्द-स्यैव पूर्वनिपातो भवति । अत्र नैव ब्राह्मणत्वं निन्द्यते, किन्तु तस्यैकस्य दुष्ट-मनुष्यस्यावगुणाः कथ्यन्ते ॥ ५२ ॥

'विशेषणं[6]०' इस आगे के सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । वहां तो समास में विशेषण पूर्व होता है, और यहां विशेष्य का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया । ['कुत्सितानि'] कुत्सितवाची जो सुबन्त हैं, वे ['कुत्सनैः'] कुत्सनवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । वैद्यनि-र्विद्यः । विद्याशून्योऽयं वैद्यः, किमपि न जानातीत्यर्थः । यहां विशेष्य वैद्य और निर्विद्य-शब्द विशेषण है । यहां कुछ वैद्यकविद्या की निन्दा नहीं, किन्तु उसी एक मनुष्य की है ॥ ५२ ॥

पापाणके कुत्सितैः[6] ॥ ५३ ॥

---

१. "साऽस्य देवता ॥" (४ । २ । २४)
२. ४ । १ । ८८ ॥
३. ५ । ४ । ९९ ॥
४. "द्विगोः ॥" (४ । १ । २१)
५. सा०—पृ० २३ ॥
६. २ । १ । ५६ ॥

पूर्वसूत्रस्याऽयमपवादः । पाप-अणक-शब्दौ कुत्सनवाचिनौ, तयोः पूर्वसूत्रेण परनिपाते प्राप्ते पूर्वनिपातार्थमिदमारभ्यते । पाप-अणके । १ । २ । कुत्सितैः । ३ । ३ । पाप-शब्दोऽणक-शब्दश्च कुत्सितवाचिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पापश्चासौ शूद्रः = पापशूद्रः । अणकशूद्रः । सर्वथा निन्द्य इत्यर्थः । एवं—पापनापितः, पापकुलालः[1] इत्यादी-न्यपि ॥ ५३ ॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह सूत्र है । क्योंकि पाप-अणक-शब्द कुत्सनवाची हैं, उन का परनिपात प्राप्त था । पूर्वनिपात होने के लिये इस का आरम्भ है । ['पाप अणके'] पाप- और अणक-शब्द जो हैं, वे ['कुत्सितैः'] कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष सञ्ज्ञक हो । पापकुलालः । अणककुलालः । यहां कुम्भार पापी अर्थात् सब प्रकार बुरा है । इत्यादि और भी इसी प्रकार के उदाहरण बनते हैं ॥ ५३ ॥

उपमानानि सामान्यवचनैः[2] ॥ ५४ ॥

अपूर्वोऽयमारम्भः । उपमानानि । १ । ३ । सामान्यवचनैः । ३ । ३ । अनिर्ज्ञा[तज्ञा]नाय तत्समीपमत्यन्तं यन्मिमीते, तदुपमानम् । उपमानोपमेययोरुभयत्र यः समानो धर्मः, तद्वाचकाः शब्दाः सामान्यवचना भवन्ति । उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषश्च समासो भवति । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा । घन इव श्यामः = घनश्यामो देवदत्तः । एवमन्यत्रापि ॥ ५४ ॥

अज्ञात वस्तु जानने के लिये जो अत्यन्त समीप अर्थात् शीघ्र जनाने का हेतु हो, उस को उपमान कहते हैं । उपमान और उपमेय दोनों के बीच में जो समान धर्म होता है, उस का वाची जो शब्द है, उस को सामान्यवचन कहते हैं । ['उपमानानि'] उपमानवाची जो सुबन्त हैं, वे ['सामान्यवचनैः'] सामान्यवचन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । शस्त्रीव श्यामा = शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । कोई छोटा शस्त्र जैसा श्याम हो, ऐसी श्याम यह स्त्री है । यहां शस्त्री उपमानवाची है, और श्याम सामान्य-वचन [है], अर्थात् [श्याम गुण] स्त्री और शस्त्र दोनों में रहता है ॥ ५४ ॥

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे[2] ॥ ५५ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । पूर्वेणोपमानस्य पूर्वनिपातो भवति । अत्रोपमितस्य = उपमेयस्य पूर्वनिपातो भविष्यति । उपमितम् । १ । १ । व्याघ्रादिभिः । ३ । ३ ।

---

१. यथा—पापग्रह, पापपुरुष, पापराक्षसी, पापलोक (अथर्ववेद १२ । ११ । २) । अणक-शब्द के उदाहरण प्रायः देखने में नहीं आते ॥

२. सा०—पृ० २२ ॥

३ । सामान्याप्रयोगे । ७ । १ । उपमितं = उपमेयम् । सामान्यस्य=उपमानोपमेय-गतसाधारणधर्मस्य अप्रयोगः=अनुच्चारणं, तस्मिन् । सामान्याप्रयोगे सति उपमितं= उपमेयवाचि सुबन्तं व्याघ्रादिभिः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पुरुषो ऽयं व्याघ्र इव, पुरुषोऽयं सिंह इव = पुरुषव्याघ्रः, पुरुष-सिंहः । अत्र पुरुष उपमेयं व्याघ्र-सिंहौ चोपमानम् । साधारणधर्मः शूर-त्वं = बलवत्ता, तस्याप्रयोग एव ॥

'सामान्याप्रयोगे' इति किम् । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव बलवान् । पुरुषोऽयं सिंह इव शूरः । अत्र समास एव न भवति ॥

अथ व्याघ्रादिगणः—[१] व्याघ्र [२] सिंह [३] ऋक्ष [४] ऋषभ [५] चन्दन[1] [६] वृक्ष[1] [७] वृक[3] [८] वृष [९] वराह [१०] हस्तिन् [११] तरु[4] [१२] कुञ्जर [१३] रुरु [१४] पृषत्[5] [१५] पुण्डरीक [१६] कितव[6] [१७] पलाश [१८] बलाहक[7] ॥५५॥

पूर्व सूत्र का अपवाद यह भी सूत्र है । पूर्व सूत्र से उपमानवाची शब्दों का पूर्वनिपात होता है । इस से उपमेयवाची शब्दों का पूर्वनिपात होने के लिये यह सूत्र है । ['सामान्या-प्रयोगे'] सामान्य जो उपमान और उपमेय का साधारण धर्म है, उस का प्रयोग न हो, तो ['उपमित'] उपमेयवाची जो सुबन्त है, वह ['व्याघ्रादिभिः'] व्याघ्रादिक सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पुरुषो व्याघ्र इव= पुरुषव्याघ्रः । पुरुष व्याघ्र के तुल्य है । यहां पुरुष तो उपमेय और व्याघ्र उपमान है । पुरुष का व्याघ्र के साथ समास हुआ है । साधारण धर्म बल है । पुरुष व्याघ्र जैसा बलवान् है । उस साधारण धर्म का [समास में] प्रयोग नहीं ॥

---

१. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां चन्दन-वृक्ष शब्दौ न स्तः ॥

२. श्रीबोटलिङ्क एत शब्दं न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

प्रक्रियाकौमुदीटीकायां तु "वृक" इत्यतः पूर्वं "वृषल" इति ॥

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीकयोर्नास्ति ॥

गण० म०—"वैरं तरुरिव समूलत्वात् । वैरतरुः ।" (२ । १०८)

५. काशिकायां "पृषत" इत्यकारान्तः पाठः ॥

६. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्कौ "पलाश । कितव" इति क्रमभेदेन पठतः । काशिकायां तु कितव-पलाश-शब्दावेव न स्तः ॥

७. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति ॥

अतः परं जयादित्य-विट्ठलाचार्यौ—"आकृतिगणश्चायम् । तेनेदमपि भवति (श्रीविट्ठलः—स्यात्)—मुखपद्मम् । मुखकमलम् । करकिसलयम् । पार्थिवचन्द्र इत्येवमादि (श्रीविट्ठलः—इत्यादि) ॥"

गणरत्नमहोदधौ—"कुम्भा, महिष, इन्दु, यज्ञ [अस्योदाहरणं—यागयज्ञो यजमानं हिनस्ति], वृषभ, कलश, चन्द्र, कुम्भ, किसलय, पल्लव, पद्म, श्वा, ऋषि, बिम्ब" इति १४ शब्दा अधिकाः ॥ (२ । १०८)

सामान्याप्रयोग का ग्रहण इसलिये है कि 'पुरुषो व्याघ्र इव बलवान्' यहां समास नहीं हुआ ॥

व्याघ्रादिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ५५ ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[1] ॥ ५६ ॥

विशेषणम् । १ । १ । विशेष्येण । ३ । १ । [बहुलम् । अ० ।] भिन्नकं विशेषणं भवति । मूलोऽर्थो विशेष्यम् । विशेष्यविशेषणे विवक्षया भवतः । कदाचिद् विवक्षा भवति—विशेष्यवाची शब्दो विशेषणवाचित्वमापद्यते, विशेषणवाची विशेष्यवाचित्वं च । विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । रक्ता चासौ लता = रक्तलता । नीलं चाद उत्पलं = नीलोत्पलम् । अष्टाध्यायी च तद् व्याकरणं = अष्टाध्यायीव्याकरणम् । अत्र सर्वत्र विशेषणं पूर्वं भवति, विशेष्यं च परम् ॥

बहुल-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं—क्वचिन्नित्यसमासः, क्वचित् समास एव न भवति ॥ ५६ ॥

विशेषण उस को कहते हैं जिस से किसी की निवृत्ति होके किसी का निश्चय हो । मूल पदार्थ का वाची जो है, उस को विशेष्य कहते हैं । विशेष्य और विशेषण ये विवक्षा से जाने जाते हैं । कहीं विशेषणवाची शब्द विशेष्यवाची भी हो जाता और विशेष्यवाची किसी विवक्षा से विशेषणवाची हो जाता है । ['विशेषणं'] विशेषणवाची जो सुबन्त है, वह ['विशेष्येण'] विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ ['बहुलं'] विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । रक्तलतना । नीलोत्पलम् । शुक्लशाटी । इत्यादि शब्दों में पूर्व जिन का प्रयोग है, वे विशेषणवाची शब्द, और पर प्रयोग वाले विशेष्य हैं ॥

बहुल-ग्रहण का प्रयोजन है कि कहीं नित्य समास हो जाय, अर्थात् वाक्य भी न रहे, और कहीं समास हो भी नहीं ॥ ५६ ॥

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च[3] ॥ ५७ ॥

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्[2] ॥' इत्यस्य व्याख्यानरूपं सूत्रमिदम् । नियमार्थं वा, पूर्वादिषु बहुलेन समासो न भवेत् । 'विशेष्येण' इत्यनुवर्त्तते । पूर्वापर०वीराः । १ । ३ । च । अ० । 'पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर' इत्येते शब्दाः समानाधिकरणेन विशेष्यवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । पूर्व—पूर्व-

---

१. सा०—पृ० २३ ॥
चा० श०—"विशेषणमेकार्थेन ॥" (२।२।१८)

२. सा०—पृ० २३ ॥
३. २ । १ । ५६ ॥

पुरुषः । अपर— अपरश्चासौ पर्वतः = अपरपर्वतः । प्रथम[1]— प्रथमपण्डितः । चरम[2]— चरमवैद्यः । [जघन्य—] जघन्यपुरुषः । [समान—] समानब्राह्मणाः । [मध्य—] मध्यपुत्रः । [मध्यम—] मध्यमपुत्रः । [वीर—] वीरपुरुषः । पूर्वादीनां विशेषणानां पुरुषादिविशेष्यवचनैः सह समासः ॥ ५७ ॥

पूर्व सूत्र का व्याख्यानरूप यह भी सूत्र है । अथवा नियमार्थ समझना चाहिये कि पूर्वादि शब्दों में बहुल न हो । ['पूर्वा०'] पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर, ये जो सब सुबन्त हैं, सो समानाधिकरण विशेष्यवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । इत्यादि उदाहरणों में पूर्वादि विशेषणवाची शब्दों का पुरुष आदि विशेष्यवाची समानाधिकरण शब्दों के साथ समास होता है ॥ २० ॥

श्रेण्यादयः कृतादिभिः[3] ॥ ५८ ॥

'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्त्तते । श्रेण्यादयः । १ । ३ । कृतादिभिः । ३ । ३ । श्रेण्यादयो गणशब्दाः, कृतादयश्च । श्रेण्यादयः शब्दाः कृतादिभिः समानाधिकरणैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति ॥

वा०— श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनम् ॥

अश्रेणयः श्रेणयः कृताः = श्रेणिकृताः ॥[4]

एककृताः । पूगकृताः । सूत्रशिष्टवार्त्तिकमिदम् । न हि किञ्चिदपूर्वविधानम् ॥

भा०—श्रेण्यादयः पठ्यन्ते । कृतादिराकृतिगणः ॥[4]

अनेनैतद् विज्ञायते—कृतादयः शब्दा गणे न पठिताः, आकृतिगणत्वेन विज्ञातव्याः ॥

अथ श्रेण्यादिगणः—[१] श्रेणि[5] [२] एक[6] [३] पूग[7] [४]

---

१. दृश्यतामृग्वेदे (४ । ३६ । ५)—
"ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो
वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः ।"

२. दृश्यन्ताम्—"चरमगिरि (भोजप्रबन्धे श्लो० ३११), चरमवयः (मालतीमाधवे ६ । २) चरमावस्था" इत्यादयः शब्दाः । अथर्ववेदे च चरमाजा-शब्दः (५ । १८ । ११)—
"ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ।"

३. सा०—पृ० २२ ॥

४. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. एकशिल्पजीविनां समूहः श्रेणिरुच्यते ॥

६. क्लीबोऽयलिङ्ः—कक् ॥
गण० म०—"ककः = राशिस्थानम् । 'कि-लिञ्ज' इत्यपरे । [उदाहरण—] ककावकल्पिताः ।" (२ । १०६)

७. शिशुपालवधे—"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।" (३ । ३८)
(मल्लिनाथः—अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि

मुकुन्द[1] [५] कुण्ड[2] [६] राशि[3] [७] निचय[4] [८] विशिख[5] [९] विशेष[6] [१०] निधान[7] [११] विधान[8] [१२] इन्द्र[9] [१३] देव[10] [१४] मुण्ड[11] [१५] भूत [१६] श्रवण [१७] वदान्य[12] [१८] अध्यापक [१९] अभिरूपक[13] [२०] ब्राह्मण [२१] क्षत्रिय[14] [२२] पटु[15] [२३] पण्डित [२४] कुशल [२५] चपल [२६] निपुण [२७] कृपण[16] — इति श्रेण्यादिः ॥

[अथ कृतादिः[17] —] [१] कृत [२] मित[18] [३] मत [४] भूत

कृतानि पूगकृतानि = पुञ्जीकृतानि)

अपि च भट्टिकाव्ये (३ । ४) —

"श्रावयामास पूगकृतम् स्वगोप

प्रदाय भयलाद् मुकुन्दाय ।"

१. काशिकायां नास्ति ॥ [काशिका])"

श्रीबोटलिङ्कः—"मुकुन्द (कुन्द K. [= इति

२. श्रीभट्टोजि-बोटलिङ्कौ कुण्ड-शब्दं न पठतः ॥

३. गण० म० (१ । १०६)—"राशिभूतिरताः" इत्युदाहरणम् ॥

शब्दकौस्तुभेऽतः परं विषय-शब्दोऽपि दृश्यते ॥

४. काशिकायां "विशिख । निचय ।" इति क्रमभेदः ॥

५. श्रीभट्टोजि-बोटलिङ्कौ विशिख-शब्दं न पठतः ॥

६. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

७. शब्दकौस्तुभे—निधन ॥

श्रीबोटलिङ्को निधान-शब्दमपठित्वा—"विधान (निधन; निधान K.)" [दाहरणम् ॥

गण० म० —"निधनकृताः शत्रवः" इत्यु-

८. काशिका-शब्दकौस्तुभयोर्न दृश्यते ॥

अतः परं श्रीबोटलिङ्क.—पर ॥

९. गण० म०—"इन्द्रावधारिताः" इत्युदाहरणम् ॥

१०. गण० म०—" 'वेद' इति रत्नमतिः ।" "देवाख्याताः" इत्युदाहरणम् ॥ [हरणम् ॥

११. गण० म०—"मुण्डसम्भाविताः" इत्युदा-

१२. गण० म०—"वदान्योद्धारिताः, अध्यापकोदिताः" इत्युदाहरणे ॥

१३. काशिकायां नास्ति ॥ [K.)"

१४. अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—"विशिष्ट (विशिख

गण० म०—"ब्राह्मणमताः, क्षत्रियमताः" इत्युदाहरणे ॥

१५. गण० म०—"पटुकृताः, पण्डितख्याताः, कुशलाख्याताः, चपलापाकृताः, निपुणोदाहृताः, कृपणाख्याताः" इत्युदाहरणानि ॥

१६. श०कौ०टीकायां ४, ७, ९, ११, १२, १० इति ६ शब्दा न सन्ति ॥

गणरत्नमहोदधौ "निधन, मन्त्र, विशिप, निर्धन, ऊर्क, श्रमण, कुन्दुम" इति ७ शब्दा अधिकाः । एषामुदाहरणादिकं च—"मन्त्रमिताः । विशिपं = गृहम् । अविशिपं विशिपं कृतं = विशिपकृतम् । भोजस्तु 'विशिष्ट' इत्याह । वामनो 'गण' इत्यपि । निर्धनोपकृताः । ऊर्कः [द्रष्टव्या पृ० २१६ टि० ६] श्रमणविभुनाः । कुं = भूमिं दुनोति [इति] कुन्दुः = उन्दुरः, तं मिनाति = हिनस्ति [इति] कुन्दुमः = मार्जारः । कुन्दुमावकल्पिताः । अपरे तु 'कन्दुम' इति पठन्ति । कन्दुः = पाकस्थानं, तस्मिन् मिनोतीति कन्दुमः । अकन्दुमाः कन्दुमाः कृताः = कन्दुमकृताः शालयः । 'कुङ्कुम' इति रत्नमतिः । आकृतिगणोऽयम् ॥"

१७. शब्दकौस्तुभे कृतादयो न पठिताः ॥

१८. श० कौ० टीकायां—"मत । मित" इति क्रमभेदः ॥

[५] उक्त [६] युक्त[1] [७] समाज्ञात [८] समाम्नात [९] समाख्यात [१०] सम्भावित [११] संसेवित[1] [१२] अवधारित[2] [१३] निराकृत[3] [१४] अवकल्पित [१५] उपकृत [१६] उपाकृत [१७] दृष्ट[4] [१८] कलित [१९] दलित [२०] उदाहृत [२१] विश्रुत [२२] उदित[5]—इति कृतादिः । आकृतिगणोऽयम् ॥ ५८ ॥

श्रेण्यादि और कृतादि दोनों गण हैं। ['श्रेण्यादयः'] श्रेण्यादि जो सुबन्त हैं, वे ['कृतादिभिः'] कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। यह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो ॥

'श्रेण्यादिषु०' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वहां च्व्यर्थ में हो। च्व्यर्थ उस को कहते हैं कि जो पहिले प्रसिद्ध न हो और पीछे हो जाय। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः = श्रेणिकृताः। यहां श्रेणि-शब्द का कृत समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हुआ है ॥

श्रेण्यादिगण सम्पूर्ण एवं संस्कृत में लिख दिया और कृतादि जो शब्द पढ़े हैं, वे लिख दिये। और कृतादि आकृतिगण भी है। आकृतिगण उस को कहते हैं कि जैसे थोड़े कृतादि दिखा दिये, इसी प्रकार के और भी शब्द सत्य ग्रन्थों में मिलें, उन को भी कृतादिकों में समझो ॥ ५८ ॥

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्[6] ॥ ५९ ॥

क्तेन । ३ । १ । नञ्विशिष्टेन । ३ । १ । अनञ् । १ । १ । नञैव विशेषो यस्मिन् । अन्यत् सर्वं द्वितीयपदेन तुल्यम् । अनञ् = नञ् न विद्यते यस्मिन्, तत् । अनञ् क्तान्तं सुबन्तं नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कृतं च तदकृतं च = कृताकृतम्[7] । भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् । धृताधृतम् । सुप्तासुप्तम् । उदितानुदि-

१. काशिकायां न पठितः ॥

२. विट्ठलः—अवधीरित ॥

३. श्रीबोटलिङ्कः—"अवकल्पित । निराकृत" इति क्रमभेदेन पठति ॥ [न पठितः ॥

४. जयादित्य-विट्ठलाभ्यां १७—२२सङ्ख्यकाः शब्दा

५. विट्ठलः ६, ७, ११ इति ३ शब्दान्न पठति । गण० म०—"आश्रित, विकल्पित, आसीन, निरूपित, विहित, आम्नात, अवज्ञात, उदीरित, आख्यात" इत्येते ९ शब्दा अधिकाः ॥ (१।११०)

६. सा०—पृ० २४ ॥

७. न्यासे—"कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात् तदेवाकृतमित्युच्यते । अथ वा यदर्थं कृतं तत्रासामर्थ्यादकृतम् यथा पुत्रकार्यासामर्थ्यात् पुत्रोऽप्यपुत्र इति ।"

महाभारते शान्तिपर्वणि—

"इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥"
(६५४२ ॥ अपि च द्रष्टव्यो श्लो० ६६४६)

सम्[1] । अत्राऽनञ्विशिष्टं क्तान्तमुपसर्जनत्वात् पूर्वं भवति । अत्रोभयत्रैकस्या एव प्रकृत्याः समासः, नञैव भेदः । आगमस्य चागमिनो ग्रहणेन ग्रहणं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति[2] । इष्टानिष्टम् । अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिशितम् ॥

वा०—*कृतापकृतादीनां चोपसङ्ख्यानम्* ॥ [१ ॥]

कृतापकृतम्[3] । भुक्तविभुक्तम् । पीतविपीतम् ॥[4]

कृतापकृतादय आकृतिगणः ॥

वा०—*गतप्रत्यागतादीनां चोपसङ्ख्यानम्* ॥ २ ॥

गतप्रत्यागतम् । पातानुपातम्[5] । पुटापुटिका । क्रयाक्रयिका[6] । फलाफलिका । मानोन्मानिका ॥[4]

अयमप्याकृतिगण एव । अत्र स्वरूपभिन्नत्वात् सूत्रेण समासो न प्राप्तः । तदर्थं वार्त्तिकद्वयम् ॥ ५९ ॥

['अनञ्'] अनञ् अर्थात् जिस में नञ् समास न हो, ऐसा क्त-प्रत्ययान्त जो सुबन्त है, वह ['नञ्विशिष्टेन'] नञ्विशिष्ट अर्थात् नञ् समास वाले ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । जिन २ का समास हो, उन दोनों शब्दों का स्वरूप एक ही हो । केवल इतना भेद हो कि एक में नञ् समास हो और एक शब्द केवल ही हो । कृतं च तदकृतं च=कृताकृतम् । भुक्ताभुक्तम् । यहां कृत-शब्द तो नञ् रहित और अकृत शब्द में नञ् समास है । इन दोनों का समास हुआ, तो कृत-शब्द उपसर्जन के होने से पूर्व रहा । आगमों का आगमी के साथ ग्रहण होता है, अर्थात् आगम अलग नहीं गिने जाते । इससे यहां इट् और इट् इन आगमों के सहित शब्दों का भी समास हो जाता है । अशितानशितम् । यहां अनशित-शब्द में इट् का आगम है । क्लिष्टाक्लिशितम् । यहां भी पर शब्द में इट् का आगम है । [सो] समास हो गया ॥

'कृतापकृता०', 'गतप्रत्यागता०' इन दो वार्त्तिकों का यह प्रयोजन है कि जिन क्त-

---

न्यासे—"भुक्तं साध्वनुष्ठितत्वात्, विभुक्तमशोभनत्वात् । वि-शब्दे ऽशोभनत्वं प्रतिपादयति विरूपवत् । अथ वा भुक्तस्य तदेकदेशस्याऽव्यवहृतत्वाद्, विभुक्तस्य विशेषेणाऽव्यवहृतत्वात् ।"

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (१५ । १८ । १३)—"यदा पुरस्तादरुणा स्याद्, अथ प्रवृञ्ज्यात् । उपव्युषं समयाविषित उदितानुदित उदिते वा ।" (रुद्रद०—"सूर्ये उदितानुदिते = अर्द्धोदिते")

२. इत्यतो वार्त्तिकम्—"तुडिड्भ्यां च ॥"

३. न्यासे—"तदेकदेशस्येष्टस्य करणात् कृतम् । अपकृतस्य तदेकदेशस्यानभिमतस्य करणात् ।"

४. म० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

५. पाठान्तरम्—पातानुपातम् ॥

६. पाठान्तरम्—क्रियाक्रियिका ॥

प्रत्ययान्त शब्दों की आकृति भिन्न २ हो, उन का भी परस्पर समास हो जाय । सूत्र से तो एकस्वरूप वालों का समास होता है, सो कृतापकृतादि और गतप्रत्यागतादि ये दो गण वार्त्तिकों से हैं । इन के कुछ शब्द तो लिखे हैं । कृतापकृतम् । भुक्तविभुक्तम् । गतप्रत्यागतम् । यातानुयातम् इत्यादि । और ये दोनों आकृतिगण भी समझने चाहियें ॥ ५९ ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः[1] ॥ ६० ॥

सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्टाः । १ । ३ । पूज्यमानैः । ३ । ३ । 'सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट' इत्येते पूजासाधनाः शब्दाः पूज्यमानैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । पूजाहेतूनां सदादीनां पूज्यसमानाधिकरणेन समासः ॥ ६० ॥

['सन्महत्०'] सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट—पूजा के हेतु जो ये पांच सुबन्त हैं, वे ['पूज्यमानैः'] पूज्यमान सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । यहां पूजा के हेतु सदादि शब्दों का समास पूज्यमान पुरुष-शब्द के साथ हुआ है ॥ ६० ॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्[1] ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । पूर्वेण पूज्यमानस्य परनिपातो भवति । अनेन तु पूज्यमानस्य पूर्वनिपातो भवति । वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः । ३ । ३ । पूज्यमानम् । १ । १ । पूज्यमानवचनादेव वृन्दारक-नाग-कुञ्जराः पूजाहेतवः । पूज्यमानवाचि सुबन्तं वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अश्ववृन्दारकः । वृषभनागः । गोकुञ्जरः । अश्व-वृषभ-गावः श्रेष्ठा इत्यर्थः । पूज्यमानानामश्व-वृषभ-गवां पूजावाचकैर्वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः सह समासः ॥ ६१ ॥

यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है । पूर्व सूत्र से पूज्यमान का परनिपात होता है । यहां पूज्यमान का पूर्वनिपात होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है । ['पूज्यमानम्'] पूज्यमानवाची जो सुबन्त है, वह पूजा के हेतु ['वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः'] वृन्दारक, नाग और कुञ्जर, इन तीन सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अश्ववृन्दारकः । वृषभनागः । गोकुञ्जरः । यहां पूज्यमान अश्व-, वृषभ- और गो-शब्द का वृन्दारक, नाग और कुञ्जर सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥ ६१ ॥

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने[1] ॥ ६२ ॥

१. सा०—पृ० १४ ॥

कतर-कतमौ । १ । २ । जातिपरिप्रश्ने । ७ । १ । जातेः परि = सर्वतः प्रश्नः = जातिपरिप्रश्नः । जातिपरिप्रश्ने वर्त्तमानौ कतर-कतमौ शब्दौ समानाधिकरण-सुबन्तेन सह समस्येते । तत्पुरुषः स समासो भवति । अनयोः कतरब्राह्मणः । एषां कतमब्राह्मणः । कतरक्षत्रियः । कतमक्षत्रियः । अत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-शब्दौ जातिवाचिनौ, ताभ्यां सह कतर-कतमयोः समासः ॥

'जातिपरिप्रश्ने' इति किम् । अनयोः कतरो देवदत्तः । एषां कतमो देवदत्तः । अत्र [स]मास एव न भवति ॥ ६२ ॥

['जातिपरिप्रश्ने'] जाति के सब प्रकार पूछने अर्थ में वर्त्तमान जो ['कतर-कतमौ'] कतर- और कतम-शब्द, वे समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास पावें । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अनयोः कतरब्राह्मणः । एषां कतमब्राह्मणः । यहां ब्राह्मण-शब्द जातिवाची है । उस के साथ कतर- और कतम-शब्द का समास हुआ है ॥

जातिपरिप्रश्न-ग्रहण इसलिये है कि 'अनयोः कतरो देवदत्तः, एषां कतमो देवदत्तः' यहां जाति का पूछना नहीं, इससे समास नहीं हुआ ॥ ६२ ॥

किं क्षेपे[1] ॥ ६३ ॥

किम् । १ । १ । क्षेपे । ७ । १ । क्षेपे = निन्दार्थे गम्यमाने 'किं' इत्येतच्छब्दः समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यते[2] । तत्पुरुषः स समासो भवति । किंराजा यो न सम्यग् रक्षति । किम्ब्राह्मणः यो न पठति । दुष्टोऽस्तीत्यर्थः । किं-शब्दस्य राजन्-शब्देन ब्राह्मण-शब्देन च सह समासः । समासप्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यमित्यादि ॥

'क्षेपे' इति किम् । को राजा वाराणस्याम् । अत्र समासो न भवति ॥ ६३ ॥

['क्षेपे'] क्षेप अर्थात् निन्दार्थ में वर्त्तमान जो ['किम्'] किं-शब्द है, वह समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । किंराजा यो रक्षां सम्यङ् न करोति । किम्ब्राह्मणो यो विद्यां न पठति । क्या राजा है, जो प्रजा की ठीक २ रक्षा नहीं करता । क्या ब्राह्मण है जो वेदों को नहीं पढ़ता । अर्थात् कुछ भी नहीं । यहां किं-

---

१. सा०—पृ० २४ ॥

२. किरातार्जुनीये (१ । ५)—

"स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम् ।
हित न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ॥"

इत्येतौ च किन्नर-किम्पुरुष शब्दौ । वाजसनेयिसंहितायां यथा (३० । १६)—

"स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातं सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ।" (भगवद्दयानन्दः—"गिरिभ्यः किम्पूरुषं आकुल कुत्सित मनुष्यं पराशुव")

"किम्पुरुषो वै मयुः ।" (शतपथे ७ । ५ । २ । ३२) तथा चैतरेयब्राह्मणे—"अथैनमुत्क्रान्तमेध [पुरुष देवा.] अत्यार्जन्त । स किम्पुरुषोऽभवत् ॥" (२ । ८)

शब्द का राजा- और ब्राह्मण-शब्द के साथ समास हुआ है । समास का प्रयोजन दो पदों का एक पद, दो स्वरों का एक स्वर होना [व्याप्ति है] ॥

शेष-ग्रहण इसलिये है कि 'को राजा वाराणस्याम्' यहां निन्दा अर्थ के न होने से समास भी नहीं होता ॥ ६३ ॥

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैर्जातिः[1] ॥ ६४ ॥

पोटा०धूर्त्तैः । ३ । ३ । जातिः । १ । १ । अत्र जातिर्विशेष्यं, पोटादीनि विशेषणानि । विशेष्यस्य पूर्वनिपातो भवति । विशेषणविशेष्यसमासे च विशेषणं पूर्वं भवति । अतस्तस्यैवापवादः । पोटा = अल्पावस्था, गृष्टिः = एकवारप्रसूता, धेनुः = नवप्रसूता, वशा = वन्ध्या, वेहत्[2] = गर्भपातिनी, बष्कयणी[3] = तरुणवत्सा । अन्यत् स्पष्टम् । जातिवाचि सुबन्तं पोटादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । स समासस्तत्पुरुष-सञ्ज्ञो भवति । हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा । ब्राह्मणी चासौ युवतिः = ब्राह्मणयुवतिः । अग्निस्तोकम् । दुग्धकतिपयम् । गौश्चासौ गृष्टिः = गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । इभबष्कयणी । पोटादिस्त्रीलिङ्गशब्देषु समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् 'पुंवत् कर्मधारय०[4] ॥' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । ब्राह्मणश्चासौ प्रवक्ता = ब्राह्मणप्रवक्ता । ब्राह्मणश्रोत्रियः । ब्राह्मणाध्यापकः । शूद्रश्चासौ धूर्त्तः = शूद्रधूर्त्तः । अत्र हस्त्यादिविशेष्यवाचिजातिशब्दानां पोटादिविशेषणवाचिसमानाधिकरणैः सह समासः ॥

'जातिः' इति किम् । देवदत्तः प्रवक्ता । अत्र न भवति ॥ ६४ ॥

यह सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण०[5] ॥' इस सूत्र का अपवाद है, क्योंकि वहां विशेषणवाची समास में पूर्व होते और इस सूत्र में विशेष्यवाची पूर्व होंगे । पोटा उस को कहते, जिस को उत्पन्न हुए थोड़े दिन हुए हों । गृष्टि—जो एक वार ब्यायी हो । धेनु—जिस को ब्याये थोड़े दिन हुए हों । वशा = वन्ध्या । वेहत्—जिस का गर्भ गिर पड़ता हो । बष्कयणी—जिस के

---

1. सा०—पृ० ३५ ॥
2. वाजसनेयिसंहितायां (२१ । २१)—
   "ककुप्छन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः ।"
   (अपि च पूर्वस्यां १८ । २७ ॥ २४ । १ ॥ २८ । ३३)
3. बष्कयोऽस्या अस्तीति बष्कय("णि")वा/णी । ऋक्संहितायाम्—
   "वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्
   वितत्निरे कवय ओतवा उ ॥"
   (१ । १६४ । ५)
4. ६ । ३ । ४२ ॥
5. २ । १ । ५६ ॥

सन्तान युवावस्था में हों । पूर्व जिन शब्दों के अर्थ दिखाये, वे सब स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं, और षष्ठ जाति में उन की प्रवृत्ति होती है । ['पोटा-युवति०'] पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त—विशेषणवाची इन तेरह समानाधिकरण सुबन्तों के साथ जो ['जातिः' जातिवाची] विशेष्य सुबन्त हैं, वे विकल्प करके समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष सञ्ज्ञक हो । हस्तिनी चासौ पोटा = हस्तिपोटा । यहां हस्तिनी जातिवाची शब्द का समास पोटा के साथ हुआ है । पूर्व जिन पोटा आदि शब्दों के अर्थ दिखाये हैं, उन स्त्रीलिङ्ग शब्दों में समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व शब्द को पुंवद्भाव हो जाता है[1] । इसी प्रकार पोटा आदि तेरह शब्दों के साथ जातिवाची शब्दों का समास होता है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तः प्रवक्ता' यहां समास न हो ॥ ६४ ॥

प्रशंसावचनैश्च[2] ॥ ६५ ॥

'जातिः' इत्यनुवर्त्तते । प्रशंसावचनैः । ३ । ३ । च । अ० । जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनैः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । ब्राह्मणप्रवीणः । ब्राह्मणतेजस्वी । क्षत्रियशूरः । गोसाध्वी । अत्र जातिवाचिनां ब्राह्मण-क्षत्रिय-गो-शब्दानां प्रवीणादिप्रशंसावचनैः सह समासः ॥

जाति-ग्रहणं किम् । कुमारी प्रियदर्शना । अत्र जातिर्नास्तीति समासो ऽपि न भवति ॥ ६५ ॥

जातिवाची जो सुबन्त है, वह ['प्रशंसावचनैः'] प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो । यह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । ब्राह्मणप्रवीणः । क्षत्रियशूरः । गोसाध्वी । यहां जातिवाची ब्राह्मण-, क्षत्रिय- और गो-शब्द का प्रवीण आदि प्रशंसा के हेतु समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'कन्या प्रियंवदा' यहां जाति के न होने से समास भी नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः[1] ॥ ६६ ॥

युवा । १ । १ । खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः । ३ । ३ । अत्र जरती-शब्दः स्त्रीलिङ्गः पठ्यते, अन्ये च पुँल्लिङ्गाः । तस्यैतत् प्रयोजनं—प्रातिपदिक-ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं यथा स्यात् । युव-शब्दः खलत्यादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । युवा खलतिः = युवखलतिः । युवतिः खलती = युवखलती । युवा पलितः = युवपलितः ।

---

१. ६ । ३ । ४२ ॥ २. सा०—पृ० २५ ॥

युवतिः पलिता=युवपलिता । युवा वलिनः=युववलिनः । युवतिः वलिना=युववलिना । युवा चासौ जरन्=युवजरन् । युवतिश्चासौ जरती=युवजरती । अत्र युव-शब्दस्य खलत्यादिभिः समानाधिकरणसुबन्तैः सह समासः । स्त्रीलिङ्ग-पक्षे समानाधिकरणतत्पुरुषस्य कर्मधारयत्वात् पूर्वपदस्य युवति-शब्दस्य 'पुंवत् कर्मधारय०[1] ॥' इति सूत्रेण पुंवद्भावः ॥ ६६ ॥

इस सूत्र में जरती-शब्द स्त्रीलिङ्ग और सब शब्द पुँल्लिङ्ग पढ़े हैं । इस का यह प्रयोजन है कि खलति आदि यह प्रातिपदिक ग्रहण है, सो स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों का ग्रहण समझना चाहिये । ['युवा'] युवा जो सुबन्त है, वह ['खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः'] खलति, पलित, वलिन, जरती, इन चार समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । युवा खलतिः=युवखलतिः । युवतिः खलती=युवखलती । यहां [युवखलतिः] इत्यादि उदाहरणों में युवा- और युवति-शब्द का खलति आदि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास है । स्त्रीलिङ्ग पक्ष में समाना-धिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय-सञ्ज्ञा होने से पूर्व पद का पुंवत् हो जाता है[2] ॥ ६६ ॥

कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥ ६७ ॥

कृत्य-तुल्याख्याः । १ । ३ । अजात्या । ३ । १ । [कृत्याः=] कृत्यप्र-त्ययान्ताः । तुल्याख्याः=तुल्यपर्यायाः । अजात्या=जातिभिन्नशब्देन । कृ-त्य-तुल्याख्याः शब्दा अजातिवाचिना समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन सम-स्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कृत्याः—] अवश्यवाक्यम् । आदेय-विद्या । ग्राह्यविद्या । भोज्यान्नम् । तुल्याख्याः—तुल्यगुणः । सदृशवर्णः[3] । सदृश-श्वेतः । अत्र कृत्य-तुल्याख्यानामजातिसमानाधिकरणेन सह समासः ॥

'अजात्या' इति किम् । तुल्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः । अत्र न भवति समासः ॥ ६७ ॥

['कृत्य-तुल्याख्याः'] कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची जो सुबन्त हैं, वे ['अजात्या'] जातिवाची को छोड़के अन्य समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवश्यवाक्यम् । तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । यहां कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाची शब्दों [का] अजातिवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हुआ है ॥

---

१. ६ । ३ । ४२ ॥
२. सं०—पृ० २५ ।
३. दृश्यतां च मनुस्मृतौ—

"सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति, जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ।"
(९ । १२५)

अजाति-ग्रहण इसलिये है कि 'स्तुत्यो मनुष्यः । सदृशो मनुष्यः' यहां जातिवाची मनुष्य-शब्द के होने से समास नहीं हुआ ॥ ६७ ॥

वर्णो वर्णेन[1] ॥ ६८ ॥

वर्णः । १ । १ । वर्णेन । ३ । १ । वर्णविशेषवाचि सुबन्तं वर्णविशेषवाचिसमानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णशब्दा गुणवाचिनः । गुणश्च द्रव्याश्रितो भवति । तत्र यस्मिन् द्रव्ये कृष्णसारङ्गौ लोहितकल्माषौ च गुणौ भवतः, तन्मत्वाऽत्र सामानाधिकरण्यम् ॥

वा०—*समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानमुत्तरपदलोपश्च* ॥

शाकभोजी पार्थिवः = शाकपार्थिवः । कुतपवासाः सौश्रुतः = कुतपसौश्रुतः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः = यष्टिमौद्गल्यः । अजापण्यस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः[2] ॥[3]

शाकं भोक्तुं शीलमस्य, स शाकभोजी । अत्रोपपदसमासस्योत्तरपदं भोजिशब्दः । शाकभोजी चासौ पार्थिवः = शाकपार्थिवः । समानाधिकरणसमास उपपदसमासोत्तरपदस्य लोपः ॥ ६८ ॥

['वर्णः'] विशेष वर्णवाची जो सुबन्त है, वह ['वर्णेन'] विशेष वर्णवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कृष्णसारङ्गः । लोहितकल्माषः । वर्णविशेषवाची जो शब्द हैं, वे गुणवाची होते हैं । और गुण जो हैं, वे द्रव्याश्रय होते हैं । जिस द्रव्य में कृष्ण और सारङ्ग तथा लोहित और कल्माष गुण हों, उस को मानके यहां समानाधिकरण माना जाता है ॥

'समानाधिकरण०' समानाधिकरण समास के अधिकार में शाकपार्थिवादि शब्दों को भी समझना अर्थात् इस अधिकार में समास के जो २ काम हैं, वे शाकपार्थिवादिकों में भी हों, और पूर्व किसी समास का जो उत्तर [पद] हो, उस का लोप हो । जैसे—शाकभोजी पार्थिवः । यहां शाकभोजी-शब्द का पार्थिव-शब्द के साथ समास हुआ, और शाकभोजी-पद में भोजी-शब्द उत्तर पद है, उस का लोप हो गया । प्रयोजन यह है कि दो शब्दों का पूर्व को समास हुआ हो, फिर उन दोनों [का] अन्य शब्द के साथ जो समानाधिकरण समास हो, तो पूर्व के

---

१. सा०—पृ० २५ ॥

२. "अजापण्यस्तौल्वलिः = अजातौल्वलिः । यष्टिप्रधानो मौद्गल्यः = यष्टिमौद्गल्यः ।" इति क्रमभेदेनापि क्वचित् पठ्यते ॥

३. अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥

दो शब्दों में से उत्तर पद का लोप हो जाय। इस वार्त्तिक से शाकपार्थिवादि आकृतिगण समझा जाता है ॥ ६८ ॥

कुमारः श्रमणादिभिः[1] ॥ ६९ ॥

कुमारः । १ । १ । श्रमणादिभिः । ३ । ३ । अस्मिन् सूत्रे कुमार-शब्दः पुँल्लिङ्गेन निर्दिष्टः । श्रमणादिभिः सह तस्य समासः । श्रमणादिषु च केचिच्छब्दाः स्त्रीलिङ्गा अपि पठ्यन्ते । तत्र कथं सामानाधिकरण्यम् । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति स्त्रीलिङ्गैस्सह कुमार-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य समासो भविष्यति । कुमार-शब्दः श्रमणादिसमानाधिकरणसुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । कुमारी चासौ श्रमणा=कुमारश्रमणा । कुमारी गर्भिणी=कुमारगर्भिणी । कुमारदासी । कुमारश्चासावध्यापकः=कुमाराध्यापकः । कुमारपण्डितः । कुमारकुशलः । अत्र विशेष्यवाचिनः कुमार-शब्दस्य विशेषणवाचिभिः समानाधिकरणैः सह समासः ॥

अथ श्रमणादिगणः—

[१] श्रमणा [२] प्रव्रजिता [३] कुलटा [४] गर्भिणी [५] तापसी [६] दासी [७] बन्धकी [८] अध्यापक [९] अभिरूपक [१०] पण्डित[2] [११] पटु[3] [१२] मृदु [१३] कुशल [१४] चपल [१५] निपुण— इति[4] श्रमणादिः ॥ ६९ ॥

इस सूत्र में कुमार-शब्द पुँल्लिङ्ग पढ़ा है, और श्रमणादिगण के साथ उस का समास किया है। सो श्रमणादिगण में बहुतेरे शब्द स्त्रीलिङ्ग भी पढ़े हैं। फिर स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग शब्द का सामानाधिकरण्य कैसे हो। (उत्तर) प्रातिपदिकों के निर्देश में भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का भी ग्रहण होता है, इससे स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ कुमार-शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो जाता है। ['कुमारः'] कुमार जो सुबन्त है, वह ['श्रमणादिभिः'] श्रमणादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। कुमारी श्रमणा=कुमारश्रमणा। कुमारः कुशलः=कुमारकुशलः । यहां विशेष्यवाची कुमार-शब्द का श्रमणादि समानाधिकरण के साथ समास हुआ है ॥

श्रमणादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया है ॥ ६९ ॥

---

१. सा०— पृ० २६ ॥

२. श्रीमोटलिङ्कः पण्डित-शब्दं मृदु-शब्दात् परं पठति ॥

३. श्रीवर्धमानस्तु— "कुमारपट्वी, कुमारमृदी कुमारनिपुणा ।" (२ । १०६)

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुदीटीका-शब्दकौस्तुभेषु न कश्चिद् भेदो दृश्यते ॥

चतुष्पादो गर्भिण्या[1] ॥ ७० ॥

चतुष्पादः । १ । ३ । गर्भिण्या । ३ । १ । चत्वारः पादा येषां, ते चतुष्पादः = पश्वादयः[2] । चतुष्पादवाचिनः शब्दा गर्भिणी-समानाधिकरणसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । गोगर्भिणी । महिषी-गर्भिणी । अजागर्भिणी । अत्र विशेष्याणां चतुष्पादवाचिनां समासः ॥

वा०—चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत्—
कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी ॥[3]

अत्र समासो न भवति । [अतः पूर्वत्र] जातिरेवोदाहृता ॥ ७० ॥

['चतुष्पादः'] चार पाद वाले पशु आदि के वाची जो सुबन्त हैं, वे ['गर्भिण्या'] गर्भिणी समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष कहावे । महिषीगर्भिणी । शुनीगर्भिणी । यहां जातिवाची महिषी- और शुनी-शब्द का गर्भिणी-शब्द के साथ समास हुआ है ॥

'चतुष्पाज्जाति०' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि चतुष्पाद्वाचियों का जो समास किया है, वे जातिवाची शब्द होने चाहियें । सो पूर्व जातिवाचियों के ही उदाहरण दिये हैं । क्योंकि 'कालाक्षी गर्भिणी' यहां काले नेत्र वाली गौ वा अन्य कोई जीव जातिवाची नहीं, इससे समास नहीं हुआ ॥ ७० ॥

मयूरव्यंसकादयश्च[1] ॥ ७१ ॥

मयूरव्यंसकादयः । १ । ३ । च । अ० । मयूरव्यंसकादयो गणशब्दाः समानाधिकरणतत्पुरुष-सञ्ज्ञकाः कृतसमासा निपात्यन्ते, नित्यसमासश्चैतेषु भवति । समासप्रयोजनान्यैकपद्यादीन्यप्येतेषु भवन्त्येव । अस्मिन् सूत्रे चकारो निश्चयार्थः । मयूरव्यंसकादय एव समस्ता निपात्यन्ते । क्व मा भूत् । परमो मयूर-व्यंसक इति ॥

अथ मयूरव्यंसकादिगणः—

---

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. = गवादयः ॥

दृश्यतां तैत्तिरीयब्राह्मणे—"अपरावो वा एते, यदजाविकमरचाश्वाश्च । एते वै सर्वे पशवः, यद् गव्या इति ॥" (३ । ८ । ३ । २)

शतपथे (२ । ८ । ३ । १४)—"गुहा हि पशवः ।"

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे (१५ । ६ । ८)—"अष्टाशफाः पशवः ।"

३. अ० २ । पा० १ । आ० ६ ॥

[१] मयूरव्यंसकः[1] [२] छात्रव्यंसकः[2] [३] काम्बोजमुण्डः[3] [४] यवनमुण्डः [५] छन्दसि—हस्तेगृह्य[4] [६] पादेगृह्य [७] लाङ्गलेगृह्य [८] पुनर्दाय ॥ एहीडादयोऽन्यपदार्थे[5]—[९] एहीडं[6] वर्तते [१०] एहियवं वर्तते[7] [११] एहिवाणिजा क्रिया[8] [१२] अपेहिवाणिजा[9] [१३] प्रेहिवा-

---

१. शब्दकौस्तुभे—"व्यंसक-शब्दस्य गुणवचनत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते वचनम्। एवं...मुण्डपर्यन्तानाम् ॥"

गण० म०—"विगता अंसा यस्य = व्यंसकः। रमणीयाकारवेशनेपथ्योपेतत्वात् मयूरवत् मयूरः पुमान्। स चासौ व्यंसकश्च बाहुमाध्यस्थ्यापारपुरुषकारविकलः कश्चिदेव प्रतिक्षिप्यते। यद्वा—व्यंसयति = छलयति इति व्यंसकः। स चासौ स च यो लुब्धकानां मयूरो गृहीतशिखोऽन्यान् मयूरांश्छलयति = वञ्चयति, स विप्रलम्भक उच्यते।" (२ । ११५)

२. गण० म०—"छात्रो हि यथा लब्धभिक्षामात्रतृप्तिकृतसन्तोषो निर्व्यापारतया कार्यतो व्यंसकः, तद्वदन्योऽप्येवमुच्यते। छात्ररूपेण वञ्चको वा लोकस्य।" (२ । ११५)

३. काशिकायाम्—काम्बोज० ॥

गण० म०—"काम्बोज इव मुण्डः। शीर्षे मुण्डितत्वम्। काम्बोजा यवनाश्च मुण्डा भवन्ति। एवमिमौ पृथग् मुण्डावित्येकोऽर्थः।" (२ । ११५)

४. भाषायां तु "हस्ते गृहीत्वा" इत्यादि ॥

एषां पाठान्तराणि—हस्तगृह्य, पादगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गूलगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य ॥

यथामुदाहरणानि—

"कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद्
यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य।"

(ऋ० ४ । १८ । १२ ॥ अपि च दृश्यतां १० । २७ । ४)

"पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या-
श्विना त्वा प्र वहतां रथेन।"

(ऋ० १० । ८५ । २६ ॥ अपि च दृश्यतां १० । १०९ । २)

"पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्।" (ऋ० १० । १०९ । ७)

अन्येषु वेदेषु "लाङ्गलेगृह्य, लाङ्गुलेगृह्य, लाङ्गूलगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य" इत्येषां कश्चिदपि शब्दो न दृश्यते ॥

५. "एहीडादयोऽन्यपदार्थे" इत्येतद् गणशब्दत्वेन सङ्ग्रहणमतः ओबोटलिङ्कस्य प्रमाद एव ॥

६. काशिकायाम्—"एहीडं, एहियवं वर्तते।"

गण० म०—"इडा = स्त्री। यथा—महती इडा = महेडा। 'एहि = आगच्छ, इडे = स्त्रि' इति यस्मिन् कर्मणि, तद् एहीडं = विवाहादि कर्म। शास्त्राध्ययनादिको वा ग्रन्थप्रविभागः। अन्यपदार्थत्वेऽपि शब्दशक्तेर्नपुंसकत्वमेव।" (२ । ११८)

७. ओविट्टलः—"एहियवम्।"

८. ओविट्टलः क्रिया-पदं न पठति ॥

गण० म०—"एहि वाणिजेति यस्यां तिथौ क्रियायां वा, सा। केचिद् 'आयान्ति गच्छन्ति वाणिजा यस्याम्' इति विगृह्य निपातनादेहिभावः।" (२ । ११६)

९. कोशे तु—"अपेहिवाणिजा क्रिया। अपेहिवाणिजा।" इति लेखकप्रमादाद् द्विर्लिखितं प्रतिभाति ॥

गण० म०—"अपसर वाणिजा इति यस्यां सा। एवं एहिस्वागता [इत्यादि]" (२।११६)

रिणजा[1] [१४] एहिस्वागता [१५] अपेहिस्वागता[2] [१६] प्रेहिस्वागता[3] [१७] एहिद्वितीया [१८] अपेहिद्वितीया [१९] प्रेहिद्वितीया[4] [२०] एहिकटा [२१] अपेहिकटा[5] [२२] प्रेहिकटा [२३] प्रोहकटा[6] [२४] अपोहकटा [२५] प्रेहिकर्दमा[7] [२६] प्रोहकर्दमा[8] [२७] अपोहकर्दमा[9] [२८] विधमचूडा[10] [२९] उद्धरचूडा [३०] आहरचेला[11] [३१] आहरवसना [३२] आहरसेना[12] [३३] आहरवितना[13] [३४] आहरवनिता[14] [३५] कृन्तविचक्षणा[15] [३६] उद्धरोत्सृजा [३७] उद्धरावसृजा [३८] उद्धमविधमा [३९] उत्पचनिपचा [४०] उत्पचविपचा [४१] उत्पतनिपता [४२] उच्चावचम्[16] [४३] उच्चनीचम्[17] [४४] आचोप-

---

१. गण० म०—"प्रेहि=मित्रस्य वाणिजा इति यस्यां, सा । अन्ये त्वाहुः—प्रेहि=आदरेणागच्छ इत्यर्थः । औलिङ्गयादरार्थनिपातनात् एवाकार इति केचित् ।" (२ । ११५)

२. प्रक्रियाकौमुदीटीकायां नास्ति ॥

३. श्रीबोटलिङ्कोऽमुं शब्दं न पठति ॥

४. काशिकायां १६—१९ इति चत्वारः शब्दा न सन्ति ॥

५. श्रीविट्ठलः—"प्रेहिकटा । अपेहिकटा" इति क्रमभेदेन पठति ॥

६. श्रीबोटलिङ्कस्तु "प्रोहकटा, अपोहकटा" इत्येतौ "प्रेहिकटा, अपेहिकटा" इत्येतयोः पाठान्तरत्वेन मन्यते । रत्नाकरम् ॥ [न पठति ॥

श्रीविट्ठलोऽपि "प्रोहकटा, अपोहकटा" इति

गण० म०—"प्रोह कटमिति यस्यां सा । प्रोहणं वीरणादेः कटादिभावाय विरचना ।" (२ । ११६)

७. काशिकायां नास्ति ॥

श्रीविट्ठलः "प्रेहिकर्दमा" इत्यतः पूर्वं "एहि-कर्दमा" इति, बोटलिङ्कश्च "आहरकटा" इति पठति ॥ [पठति ॥

८. श्रीविट्ठलः २६—२९ इति चतुरः शब्दान्न

गण० म०—"प्रोह = अपनय कर्दममिति यस्यां सा ।" (२ । १२१)

९. श्रीबोटलिङ्को न पठति ॥

१०. काशिकायां नास्ति ॥

११. श्रीविट्ठलः "आहरचेला" इत्यतः पूर्वं "उद्धमचूडा" इति ॥

१२. जयादित्य-विट्ठलौ न पठतः ॥

१३. काशिकायां नास्ति । विट्ठल-वर्धमानौ (२ । ११७) च "०वितता" इति पठतः ॥

१४. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

१५. श्रीविट्ठलः—कृन्धिविचक्षणा ॥

गण० म०—"कृन्ती वेष्टने । कृन्धि विशिष्टं चक्षणमिति यस्यां, सा । शाकटायनस्तु—कृन्धि विचिनोहि इति यस्यां, सा कृन्धिविचिणा । कर्मा-सविषया क्रिया । निपातनान्नि लोपो विकरणस्य ह्रस्वत्व च इत्याह ॥" (२ । ११६)

१६. न्यासकारः—"उच्चावचमिति निपात्यते उदक् चावाक् चेति विगृह्य ।"

गण० म०—"उच्चितं चावचितं च । उच्चावचमित्यन्ये ।" (२ । ११६)

१७. श्रीविट्ठलः "उच्चनीचम्" इत्यतः पूर्वं "आचोपचम्" इति ॥

थम् [४५] आचपराचम्[1] [४६] अचितोपचितम्[2] [४७] अवचितपराचितम् [४८] नखप्रचम्[3] [४९] निरचप्रचम्[4] [५०] आकिञ्चनम्[5] [५१] स्नात्वाकालकः[6] [५२] पीत्वास्थिरकः [५३] भुक्त्वासुहितः[7] [५४] प्रोष्यपापीयान्[8] [५५] उत्पत्यव्याकुला[9] [५६] निपत्यरोहिणी [५७] निषण्णश्यामा [५८] अपेहिप्रघसा[10] [५९] एहिविघसा[11] [६०] इहपञ्चमी[12] [६१] इहद्वितीया ॥ जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तारं चाभिदधाति[13]— [६२] जहिजोडः[14] [६३] उज्जहिजोडः[15] [६४] जहिस्तम्बः[16] [६५] उज्जहिस्तम्बः[17] ॥ आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये—[६६] अश्नीतपिबता[18] [६७] पचतभृज्जता [६८] खादतमोदता [६९] खादताचमता[19] [७०]

---

१. काशिकायां ४४, ४५ इत्युभौ न स्तः ॥

गण० म०—"आचितं च पराचितं च ।" (२ । ११६)

२. बोटलिङ्कः ४६, ४७ इत्येतौ, विट्ठलश्च ४६, ४७, ४८ इति शब्दान् न पठति ॥

३. काशिकायां नास्ति ॥

४. गण० म०—"निश्चितं च प्रचितं च = निरचप्रचम् । निश्चितं च प्रचितं च यस्यां क्रियायां, सा निश्चप्रचा । निष्कुषितं च निस्वचं च = निरचस्वचम् इति केचित् ॥" (२।११६)

५. श्रीबोटलिङ्कः—"आकिञ्चन ।" एवमग्रेऽपि ॥

श्रीविट्ठलः—"अकिञ्चनम्" इत्यतः पश्चात् "सकिञ्चनम्" इति ॥

६. न्यासे—"स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वासुहित इत्येतेषामन्तोदात्तार्थः पाठः ।"

गण० म०—"स्नात्वा कालीभूतः = कृष्णीभूतः । पीत्वा स्थिरीभूतः ।" (२ । ११७)

७. श्रीविट्ठल—"०सुहितकः ।"

८. गण० म०—"प्रोष्य वियुक्तो भूत्वा पापीयान् = विरूपकः ।" (२ । १२०)

९. श्रीविट्ठल-बोटलिङ्कौ—उत्पत्यपाकला ॥

शब्दकौस्तुभे—"उत्पत्य या कला उत्पतनं कृत्वा या पाण्डुर्भवति, सोच्यते हस्तिज्वरः पाकलः ।"

१०. न्यासे "अपेहिप्रघसा" इति, शब्दकौस्तुभे च "अपेहिप्रघसा" इति ॥

११. श्रीजयादित्य-विट्ठलौ न पठतः ॥

१२. गण० म०—"शाकटायनस्तु 'अथपञ्चमी । अथद्वितीया' इत्याह ।" (२ । ११९)

१३. श्रीविट्ठलः—"०माभीक्ष्ण्ये समस्यते, समासेन कर्त्ताभिधीयते चेत् ।"

पुनरपि बोटलिङ्कः एतद् , "आख्यातमा०" इति चानुपदं वक्ष्यमाणं वाक्यं गणपाठशब्दत्वेन सङ्ख्याति ॥

१४. बोटलिङ्कः—०जोडम् ॥

गण० म०—"जहि जोडं देवदत्त [इति] यो वक्ताभीक्ष्ण्यं सातत्येन ब्रवीति, स वक्ता जहिजोडः ।" (२ । १२१)

१५. श्रीबोटलिङ्को नैव शब्द पठति ॥

१६. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

श्रीबोटलिङ्कः—०स्तम्बम् ॥

१७. श्रीबोटलिङ्कः—०स्तम्बम् ॥

१८. न्यासे—"अश्नीत पिबत इत्यसकृद् यत्रोच्यते, तत्र 'अश्नीतपिबता' इति प्रत्युच्यते ।"

१९. विट्ठलः—खादतवमता ॥

आहरनिवपा [७१] आवपनिष्किरा[1] [७२] उत्पचविपचा[2] [७३] भिन्द्धिलवणा [७४] छिन्धिविचक्षणा[3] [७५] कृन्धिविचक्षणा[4] [७६] पचलवणा [७७] पचप्रकुटा[5] ॥ आकृतिगणोऽयम् । अर्थादविहितलक्षणः समानाधिकरणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादित्वात् सिद्धो भवति ॥ ७१ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

['मयूरव्यंसकादयः'] मयूरव्यंसकादि गणशब्द हैं । वे समास किये हुए समानाधिकरणतत्पुरुष-सञ्ज्ञक निपातन किये हैं, और इन में नित्य समास होता है । अर्थात् पूर्व के विकल्प से यहां वाक्य भी नहीं रहा । जैसे—मयूरव्यंसकः । छात्रव्यंसकः । यहां मयूर- और छात्र-शब्द का व्यंसक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

इस सूत्र में चकार-ग्रहण नियम के लिये है कि मयूरव्यंसकादि में ही नित्य समास हो । परमो मयूरव्यंसकः । यहां परम-शब्द का समास नहीं हुआ । मयूरव्यंसकादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है । सो यह आकृतिगण अर्थात् जितने शब्द पढ़े हैं, उन से अलग भी समास किये हुए समानाधिकरण तत्पुरुष विषयक शब्द मयूरव्यंसकादि से सिद्ध समझने चाहियें ॥ ७१ ॥

यह द्वितीयाध्याय का प्रथम पाद समाप्त हुआ ॥

---

१. पाठान्तरम्—आहरनिष्किरा ॥

२. बिठ्ठलः—०निपचा ॥

३. म०कौ०टीकायां ७४, ७५ इति द्वौ शब्दौ न स्तः । बोटलिङ्कोऽपि "छिन्धि०" इत्येत "कृन्धि०" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

४. काशिकायां नास्ति ॥

५. अतः परं श्रीबोटलिङ्कः—"K. ausserdem: मेहिस्वागता, अपोहकर्दमा, आचितोपाचितं, अवचितपराचितं, उज्जहिजोडः, Ist ein आकृतिगण, zu welchem auch अकुतोभयः, कान्दिशीकः, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, उन्मृजावमृजा, द्रव्यान्तरं und अवश्यकार्यं gehören sollen."

गणरत्नमहोदधौ "कम्बलसकः, एहिप्रकसा, अपेहिप्रकसा, निकुच्यकर्णिः, उद्धमचूडा, मुक्त्वासुहितः, अकुतोभयम्, कान्दिशीकः (कां दिशं व्रजामीति), उद्धपनिवपा, आहोपुरुषिका अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, अहम्पूर्विका, अहम्प्रथमिका" इत्यादयः शब्दा अधिकाः ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

[तत्पुरुषसमासाधिकारो वर्त्तते]

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे[1] ॥ १ ॥

समानाधिकरण-ग्रहणं निवृत्तम् । विभाषा-ग्रहणमनुवर्त्तते । पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम् । १ । १ । एकदेशिना । ३ । १ । एकाधिकरणे । ७ । १ । पूर्वं च अपरं च अधरं च उत्तरं च, तानि पूर्वापराधरोत्तरम् । 'विभाषा वृक्षमृग०[2] ॥' इत्येकवद्भावः । 'स नपुंसकम्[3] ॥' इति नपुंसकत्वम् । एकदेशः = अवयवः, सो ऽस्यास्तीति अवयवी, तेनैकदेशिना = अवयविना । एकं च तदधिकरणं = एकाधिकरणं, तस्मिन् । एकाधिकरणेऽभिधेये पूर्व-अपर-अधर-उत्तर शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । नद्याः पूर्वं = पूर्वनदी । वृक्षस्यापरं = अपरवृक्षः । गृहस्याधरं = अधरगृहम् । शरीरस्योत्तरं = उत्तरशरीरम् । उत्तरपर्वतः । अत्रैकदेशवाचिनां पूर्वादीनामेकदेशिवाचिभिर्नद्यादिभिः सह समासः ॥

'एकदेशिना' इति किमर्थम् । पूर्वं शिखरस्य पर्वतस्य । अत्र शिखर-शब्देन सह समासो न भवति ॥

'एकाधिकरणे इति' किम् । पूर्वं विद्यावतां सत्कारः कर्त्तव्यः । अत्र पूर्व-विद्यावत्-शब्दयोरेकाधिकरणं नास्तीति समासोऽपि न भवति ॥ १ ॥

अवयववाची जो ['पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम्'] पूर्व-, अपर-, अधर- और उत्तर-शब्द हैं, वे ['एकाधिकरणे'] एकाधिकरण अर्थ में ['एकदेशिना'] अवयवीवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष कहावे । एकाधिकरण अर्थात् अवयव और अवयवी का अधिकरण एक हो, [तो] । पूर्वं पर्वतस्य = पूर्वपर्वतः । अपरं पर्वतस्य =

---

१. स०—पृ० २६ ॥
२. २ । ४ । १२ ॥
३. २ । ४ । १७ ॥

अपरपर्वतः। अधरपर्वतः। उत्तरपर्वतः। यहां पर्वत के एकदेशवाची पूर्वादि शब्दों का अवयवी पर्वत के साथ समास हुआ है॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वं द्वारस्य गृहस्य' यहां द्वार-शब्द के साथ समास न हो। क्योंकि अवयवी तो गृह है, द्वार भी अवयव है॥

एकाधिकरण ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्वमुत्कृष्टविद्यानां परीक्षा' यहां एकाधिकरण नहीं है। इससे पूर्व-शब्द का समास उत्कृष्टविद्य-शब्द के साथ नहीं हुआ॥ १॥

अर्द्धं नपुंसकम्[1] ॥ २॥

'एकदेशिनैकाधिकरणे' इत्यनुवर्त्तते। अर्द्धम्। १। १। नपुंसकम्। १। १। एकस्य वस्तुनस्तुल्यौ द्वौ विभागौ भवतः। तत्रैकविभागे वर्त्तमानोऽर्द्ध-शब्दः, तस्येह सूत्रे ग्रहणम्। स च नपुंसकलिङ्गो भवति। अन्यस्त्ववयववाची पुँल्लिङ्गः[2]। एकाधिकरणे गम्यमाने नपुंसकलिङ्गोऽर्द्ध-शब्द एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते[3]। तत्पुरुषः स समासो भवति। अर्द्धं पिप्पल्याः = अर्द्धपिप्पली। अर्द्धं राशेः = अर्द्धराशिः। अत्र विभागवाचिनोऽर्द्ध-शब्दस्य समुदायवाचिभ्यां पिप्पली-राशि-शब्दाभ्यां सह समासः॥

'नपुंसकम्' इति किम्। ग्रामार्द्धः। अत्र पुँल्लिङ्गे षष्ठीसमासः॥

'एकदेशिना' इति किम्। अर्द्धं देवदत्तस्य धनस्य। अत्र देवदत्तेन सह समासो न भवति॥

'एकाधिकरणे' इति किम्। अर्द्धं पिप्पलीनाम्। अत्र 'पिप्पलीनां' इति बहुवचनस्यैकाधिकरणं नास्तीति समासोऽपि न भवति[4]॥

एतत् सूत्रद्वयं षष्ठीसमासस्यापवादः। षष्ठीसमासे सत्यवयविनः पूर्वनिपातः स्यात्। अत्र त्ववयविनः परनिपातो भवति॥ २॥

एक वस्तु के दो भाग बराबर हों, उस एक भाग का वाची जो अर्द्ध-शब्द है, वह नपुंसक है। उसी का ग्रहण इस सूत्र में है। अन्यत्र अवयव का वाची पुँल्लिङ्ग है। ['अर्द्धं नपुंसकम्']

---

१. सा०—पृ० २६॥

२. महाभाष्ये—"क पुनरयं नपुंसकलिङ्गः, कः पुँल्लिङ्गः। समप्रविभागे नपुंसकलिङ्गः, अवयववाची पुँल्लिङ्गः।" (अ० २। पा० २। आ० १)

३. इसपतामृग्वेदे (४। ४२। ८) अर्धदेव-शब्दः—
"अस्माकमत्र पितरस्त आसन्
त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या
इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम्॥"
(अपि च ४। ४२। ६)

४. महाभाष्ये—"इह कस्मान्न भवति—अर्धं पिप्पलीनामिति। न वा भवति "अर्धपिप्पल्यः" इति। भवति यदा खण्डसमुदायः। अर्धपिप्पली चार्धपिप्पली चार्धपिप्पली च = अर्धपिप्पल्य इति।"

नपुंसक जो अर्द्ध-शब्द है, वह [एकाधिकरण अर्थ में] एकदेशी सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष कहावे । अर्द्धं राशेः =अर्द्धराशिः । यहां विभागवाची अर्द्ध-शब्द का समास समुदायवाची राशि-शब्द के साथ हुआ है ॥

नपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामार्द्धः' यहां पुंल्लिङ्ग में षष्ठी समास हो जाता है ॥

एकदेशी-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्धं देवदत्तस्य वस्त्रस्य' यहां देवदत्त-शब्द के साथ समास न हुआ ॥

और एकाधिकरण-ग्रहण इसलिये है कि 'अर्द्धं पिप्पलीनां' यहां बहुवचन और एकवचन का एकाधिकरण न होने से समास न हुआ ॥ २ ॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्[1] ॥ ३ ॥

'एकदेशिनैकाधिकरणे' इत्यनुवर्त्तते । द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि । १ । ३ । अन्यतरस्याम् । अ० । षष्ठीसमासस्यापवादोऽयं योगः । षष्ठीसमासे सति द्वितीयादीनां परनिपातो भविष्यति । अत्र तु पूर्वनिपातः । महाविभाषाऽनुवर्त्तते । पुनर्विभाषाग्रहणम् षष्ठीसमासोऽपि भवति । एवं रूपत्रयं सिद्धं भवति । एकाधिकरणे गम्यमाने द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्य-शब्दा एकदेशिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीयभिक्षा । षष्ठीसमासे—भिक्षाद्वितीयम् । तृतीयं भिक्षायाः, तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयं वा । चतुर्थं भिक्षायाः, चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा । तुर्यं भिक्षायाः, तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यं वा । एवं विकल्पद्वयेन रूपत्रयं सिद्धं भवति । अत्र विभागवाचिनां द्वितीयादिशब्दानां समुदायवाचिभिक्षा-शब्देन सह समासः ॥

'एकदेशिना' इति किम् । द्वितीयं भिक्षुकस्य भिक्षायाः ॥

'एकाधिकरणे' इति किम् । द्वितीयं भिक्षाणाम् । अत्र समास एव न भवति ॥

> भा०—द्वितीयादीनां विभाषाप्रकरणे विभाषाग्रहणं क्रियते ज्ञापनार्थम्[2] । किं ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापयत्याचार्यः—अवयवविधौ सामान्यविधिर्न भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । 'भिनत्ति, छिनत्ति' इति श्नमि[3] कृते शप्न भवतीति ॥[4]

अत्रैतत्कथनस्येदं प्रयोजनम्—षष्ठीसमासः=सामान्यविधिः, द्वितीयादीनां समासः=अवयवविधिः । तत्र महाविभाषया द्वितीयादीनां समासे कृते वाक्यमेव

१. सा०—सू० २७ ॥

२. पाठान्तरम्—विभाषावचन ... ज्ञापकार्थम् ॥

३. "रुधादिभ्यः श्नम् ॥" (३ । १ । ७८)

४. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

भवति, षष्ठीसमासो न प्राप्नोति । अतो द्वितीयं विकल्प-ग्रहणं सार्थं भवति । द्वितीयेनैव विकल्पेन षष्ठीसमासो भवति ॥ ३ ॥

यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है। षष्ठी समास में द्वितीयादि शब्दों का परप्रयोग होता और यहां पूर्वप्रयोग होता है। पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है, फिर विकल्प-ग्रहण इसलिये है [कि] षष्ठीसमास भी हो जाय। इस प्रकार दो विकल्पों के होने से तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं। ['द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि'] द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य, ये चार जो शब्द हैं, सो एकाधिकरण अर्थ में एकदेशिवाची सुबन्त के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। द्वितीयं भिक्षायाः, द्वितीयभिक्षा। और षष्ठी समास में 'भिक्षाद्वितीयम्' भिक्षा-शब्द पूर्व होता है। इसी प्रकार तृतीय आदि शब्दों के भी तीन २ रूप बनते हैं। यहां विभागवाची द्वितीय आदि शब्दों का समुदायवाची भिक्षा-शब्द के साथ विकल्प करके समास हुआ है॥

'अनवयवविधौ०' इस परिभाषा का यहां यह प्रयोजन है कि षष्ठी समास तो सामान्यविधि और द्वितीयादिकों का समास अवयवविधि है। यहां पूर्व [अर्थात् महाविभाषा के] विकल्प से द्वितीय आदि का समास करने में वाक्य ही होगा, षष्ठी समास नहीं प्राप्त होता। इससे द्वितीय विकल्प-ग्रहण सार्थक हुआ, कि द्वितीय विकल्प के होने से ही षष्ठी समास होता है॥ ३॥

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया[1] ॥ ४ ॥

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्त्तते। 'एकदेशिनैकाधिकरणे' इति निवृत्तम्। प्राप्त-आपन्ने। १। २। (अः[2]। १। १।)च। [अ० ।] द्वितीयया। ३। १। 'द्वितीया श्रितातीत०[3]॥' इति द्वितीयातत्पुरुषस्यापवादः। द्वितीयासमासे कृते द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपातो भवति। अत्र तु द्वितीयान्तस्य परनिपातः। द्वितीयविकल्पस्यानुवर्त्तनाद् द्वितीयासमासोऽपि भवति। प्राप्त-आपन्न-शब्दौ द्वितीयान्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते। तत्पुरुषः स समासो भवति। प्राप्त-आपन्न शब्दयोरकारादेशश्च भवति। प्राप्तो जीविकां = प्राप्तजीविकः। आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः। द्वितीयासमासे सति—जीविकाप्राप्तः। जीविकापन्नः॥

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति। प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका। आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका। समानाधिकरणतत्पुरुषे तु कर्मधारय-सञ्ज्ञत्वात् पुंवद्भावो भवति। अत्र समानाधिकरणं नास्तीति मत्वा सूत्रे

---

१. सा०—पृ० २७॥ [(२।२।१६) चा० रा०—"प्राप्तापन्नौ द्वितीययाऽत्व च॥"

२. महाभाष्ये—"एवं तर्हि नायमनुकर्षणार्थश्चकारः। किं तर्हि ? अत्वमनेन विधीयते। प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन सह समस्येते, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति। प्राप्ता जीविकां = प्राप्तजीविका। आपन्ना जीविकां = आपन्नजीविका।"

३. २। १। २३॥

इकारस्य प्रश्लेषः कृतः । तेन 'प्राप्ता जीविकां=प्राप्तजीविका' इति पूर्वपदस्थस्या-ऽऽकारस्य ह्रस्वोऽकारो भवति । एतज्जयादित्येन काशिकायां न लिखितम् । न जाने तेन बुद्धं न वा ॥ ४ ॥

यह सूत्र द्वितीया तत्पुरुष का अपवाद है। द्वितीया तत्पुरुष में तो द्वितीयान्त का पर्वनिपात होता और यहाँ द्वितीयान्त परप्रयोग होता है। सो इस सूत्र में दो विकल्पों की अनुवृत्ति होने से द्वितीया तत्पुरुष भी होता है। ['प्राप्त-आपन्ने'] प्राप्त और आपन्न जो शब्द हैं, वे ['द्वि-तीयया'] द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों। वह समास तत्पुरुष कहावे। और प्राप्त-आपन्न-शब्दों को ['अः'] अकारादेश हो जावे। प्राप्तो जीविकां=प्राप्तजी-विकः। आपन्नजीविकः। यहाँ प्राप्त- और आपन्न-शब्द का जीविका-शब्द के साथ समास हुआ है। जीविकाप्राप्तः। जीविकापन्नः। यहाँ द्वितीया तत्पुरुष समास में जीविका-शब्द पूर्व रहता है। प्राप्ता जीविकां=प्राप्तजीविका। आपन्ना जीविकां=आपन्नजीविका। यहाँ पूर्व पद प्राप्ता- और आपन्ना-शब्द को ह्रस्व अकार आदेश हुआ है। समानाधिकरण तत्पुरुष में तो कर्मधारय-सञ्ज्ञा के होने से पूर्व पद को पुंवद्भाव हो जाता है। यहाँ समानाधिकरण की अनुवृत्ति नहीं, इससे पुंवत् नहीं पाता। इसलिये इस सूत्र में अकार का प्रश्लेष किया अर्थात् 'प्राप्तापन्ने' इस के आगे अकार निकाला है ॥ ४ ॥

कालाः परिमाणिना[1] ॥ ५ ॥

षष्ठीसमासस्यैवापवादः। पूर्वनिपातविपर्य्ययार्थः। कालाः । १ । ३ । परि-माणिना । ३ । १ । परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तेन । परिमाणवाचिनः कालशब्दाः परिमाणिवाचिना सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मासो जातस्य = मासजातः । संवत्सरो जातस्य=संवत्सरजातः । अत्र परिमाणवाचिनो मास-शब्दस्य परिमाणिवाचिना जात-शब्देन समासः ॥

वा०—एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम्[2] ॥[3]

एकवचनान्तस्य द्विगु-सञ्ज्ञकस्य च कालवाचिशब्दस्य समासो भवतीति नियमः । मासो जातस्य=मासजातः । इह मा भूत्—मासौ जातस्य । मासा जातस्य । अत्र समासो न भवति । द्विगु-सञ्ज्ञकस्य—द्वौ मासौ जातस्य=द्विमास-जातः । त्रिमासजातः । स्पष्टम् ॥ ५ ॥

यह सूत्र भी षष्ठी समास का अपवाद है। जो षष्ठी समास होता, तो कालवाची शब्दों का परनिपात होता। और अब इस सूत्र से समास होता है, तब कालवाची शब्द पूर्व होते हैं।

---

१. सा०—१०. २७ ॥ २. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
३. कोशेऽत्र "॥ १ ॥" इति ॥

[‘कालाः’] परिमाणवाची जो कालशब्द हैं, वे [‘परिमाणिना’] परिमाणिवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावें। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। मासो जातस्य = मासजातः। यहां मास-शब्द का समास परिमाणिवाची जात-शब्द के साथ हुआ है॥

‘एकवचनद्विगोश्चोपसङ्ख्यानम्॥’ इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास होता है, वह एकवचनान्त मास-शब्द को और द्विगु-संज्ञक मास-शब्द को भी हो। एकवचनान्त का इसलिये है कि ‘मासौ जातस्य’ यहां द्विवचनान्त का समास नहीं हुआ। द्विगु-सञ्ज्ञक — द्विमासजातः। यहां समास हो जाता है॥ ५॥

नञ्[1] ॥ ६ ॥

नञ्। अ०। ‘नञ्’ इत्यव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः। न क्षत्रियः = अक्षत्रियः। अवृषलः। समासपक्षे ‘नलोपो नञः[2]॥’ इति नकारलोपो भवति। अत्र ब्राह्मणादिशब्दैः सह नञः समासः॥ ६॥

[‘नञ्’] नञ् जो अव्यय है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। न ब्राह्मण = अब्राह्मण। यहां नञ् का समास ब्राह्मण-शब्द के साथ हुआ है। सो जिस पक्ष में समास होता है, वहां नञ् के नकार का लोप हो जाता है॥६॥

ईषदकृता[3] ॥ ७ ॥

ईषद्। अ०। अकृता। ३। १। ‘ईषद्’ इत्यव्ययम् अकृता = कृदन्तभिन्नेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। अत्र ‘ईषद्’ इत्यस्य कडार-पिङ्गलाभ्यां सह समासः॥

वा०— ईषद् गुणवचनेन[4] ॥

‘अकृता’ इति उच्यमाने इह च[5] प्रसज्येत — ईषद्गार्ग्यः। इह न स्यात् — ईषत्कडारः॥[6]

‘ईषदकृता’ इत्यस्य स्थाने ‘ईषद् गुणवचनेन’ इति सूत्रं कर्त्तव्यम्। तेन गुणवचनेनैव समासः स्यादिति वार्त्तिकाशयः॥ ७॥

[‘ईषद्’] ईषत् जो अव्यय है, वह ‘अकृता’ अर्थात् कृदन्त भिन्न सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। यहां कडार- और पिङ्गल-शब्द के साथ ईषद् अव्यय का समास हुआ है॥

---

१. सा०—पृ० २७॥ चा० सू०—२।२।२०॥ (तदेव)

२. ६।३।७३॥

३. सा०—पृ० २८॥ चा० सू०—“ईषद् गुणेन॥” (२।२।२१)

४. कोशेऽत्र “॥२॥” इति॥

५. पाठान्तरम्—इह च॥

६. अ० २। पा० २। आ० १॥

'ईषद् गुणवचनेन ॥' 'अकृता' इस के स्थान में 'गुणवचनेन' ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि 'अकृता' के कहने से 'ईषद्गार्ग्यः' यहां भी समास पाता है। अर्थात् ईषद् अव्यय का गुणवचनवाची के साथ ही समास हो। इस नियम से कृदन्त का भी निषेध हो जावेगा। यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ७ ॥

षष्ठी[1] ॥ ८ ॥

षष्ठी । १ । १ । षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति । राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । ब्राह्मणस्य धनं=ब्राह्मणधनम् । ग्रामपतिः । भूपतिः । अत्र राजन्-शब्दस्य पुरुषेण सह समासः । एवमन्येष्वपि ॥

वा०—*कृद्योगा च ॥*[2] *१ ॥*

'कर्तृकर्मणोः कृति[3] ॥' इति सूत्रेण या षष्ठी विधीयते, सा 'कृद्योगा' इत्युच्यते । सा च सुबन्तेन सह समस्यते । इध्मस्य प्रव्रश्चनः=इध्मप्रव्रश्चनः । पलाशस्य शातनः=पलाशशातनः । अस्य वार्त्तिकस्यैतत् प्रयोजनम्—'न निर्धारणे[4] ॥' इत्यत्रोक्तं—"प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् ।" सर्वा च षष्ठी प्रतिपदविधाना शेषलक्षणामर्थात् 'षष्ठी शेषे[5] ॥' इत्यारभ्य पादपर्य्यन्तविहितां षष्ठीं वर्जयित्वा । कृद्योगा च षष्ठी शेषलक्षणा । तत्र प्रतिपदविधानप्रतिषेधं मत्वेदमुक्तम् ॥ १ ॥

वा०—*तत्स्थैश्च गुणैः ॥*[2] *२ ॥*

तत्स्थाः=षष्ठ्यन्तस्था ये गुणशब्दाः, तैः सह षष्ठ्यन्तं समस्यते । चन्दनस्य गन्धः=चन्दनगन्धः । पटहशब्दः । नदीघोषः । 'पूरणगुण०[6] ॥' इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तस्य गुणेन सह समासप्रतिषेधः प्राप्तः । तदर्थमिदं द्वितीयं वार्त्तिकम् ॥[२॥]

वा०—*न तु तद्विशेषणैः ॥*[2] *३ ॥*

तद्विशेषणैः=गुणविशेषणैः सह षष्ठ्यन्तं न समस्यत इति द्वितीयवार्त्तिकस्यैव निषेधः । चन्दनस्य मृदुर्गन्धः । घृतस्य तीव्रो गन्धः । अत्र मृदु-तीव्रविशेषणशब्दाभ्यां समासो न भवति [॥ ३] ॥ ८ ॥

---

१. स०—पृ० २४॥ चा० शा०—२।२।२२॥ (तद्वत्)
२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
३. २ । ३ । ६५ ॥
४. २ । २ । १० ॥
५. २ । ३ । ५० ॥
६. २ । २ । ११ ॥

['षष्ठी'] षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष कहावे। राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां राजन्-शब्द का समास पुरुष-शब्द के साथ हुआ है। इसी प्रकार अन्य असंख्य शब्दों में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है॥

'कृद्योगा च ॥' कृद्योगा [षष्ठी] उस को कहते हैं, जो कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में ['कर्तृकर्मणोः कृति' ॥' इस] सूत्र से षष्ठी विधान है। उस षष्ठी का समास सुबन्त के साथ हो। इध्मप्रव्रश्चनः। यहां कृदन्त के योग में इध्म षष्ठ्यन्त का समास हुआ है। प्रयोजन यह है कि आगे प्रतिपदविधान षष्ठी के समास [का निषेध] कहा है, सो प्रतिपदविधाना षष्ठी से कृद्योगा षष्ठी अलग है। सो प्रतिपदविधाना षष्ठी [के समास के निषेध] से कृद्योगा षष्ठी [के समास] का निषेध न हो जाय॥ १॥

'तत्स्थैश्च गुणैः ॥' षष्ठ्यन्त में रहने वाले जो गुण हैं, उन के साथ षष्ठ्यन्त का समास हो। चन्दनस्य गन्धः=चन्दनगन्धः। यहां गन्ध गुण चन्दन में रहता है, इसलिये चन्दन के साथ समास हो गया। इस द्वितीय वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि आगे [सूत्र ११ में] गुण-वाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त के समास का निषेध किया है, सो यहां न हो जाय॥ २॥

'न तु तद्विशेषणैः ॥' गुण के विशेषणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त का समास न हो। घृतस्य तीव्रो गन्धः। यहां गन्ध के विशेषण तीव्र-शब्द के साथ समास न हुआ। द्वितीय वार्त्तिक का अपवाद यह भी वार्त्तिक है, अर्थात् उस से जो समास प्राप्त है, उस का यह निषेध करता है॥ [३॥] ८॥

याजकादिभिश्च[१] ॥ ९ ॥

'षष्ठी[२] ॥' इति सूत्रेण सिद्ध एव समासः। तस्य 'कर्त्तरि च[३] ॥' इति [प्रति]षेधे प्राप्ते प्रतिप्रस[व]विध्यर्थं सूत्रमिदम्। याजकादिभिः। ३। ३। च। अ०। याजकादिभिर्गणशब्दैः सह षष्ठ्यन्तं विकल्पेन समस्यते। तत्पुरुषः स समासो भवति। ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः। ब्राह्मणपूजकः। अत्र ब्राह्मण-शब्दस्य याजक-पूजक-शब्दाभ्यां सह समासः॥

अथ याजकादिगणः—[१] याजक [२] पूजक [३] परिचारक [४] परिवेशक[४] [५] परिपेचक[५] [६] स्नातक[६] [७] अध्यापक[७] [८] उत्सादक[८] [९] उद्वर्त्तक [१०] होतृ [११] पोतृ[९] [१२] भर्तृ [१३]

१. २। २। १५॥
२. सा०—पृ० २८॥
३. २। २। १६॥
४. २। २। १६॥
५. शब्दकौस्तुभे—परिवेषक॥ श्री जयादित्य-बोटलिङ्कौ परिवेशक-शब्दं न पठतः॥
६. शब्दकौस्तुभे नास्ति॥
७. बोटलिङ्कः—स्नापक॥
८. बोटलिङ्कः—उत्साहक॥
९. बोटलिङ्कः पोतृ-शब्दं न पठति॥

रथगणक [१४] परिगणक[1]—इति[2] याजकादिगणः ॥ ९ ॥

पूर्व सूत्र से षष्ठी समास सिद्ध ही है । फिर आगे [सूत्र १६ से] कर्त्ता में जो षष्ठी है, उस का निषेध किया है । उस कर्त्ता में षष्ठी के निषेध का विधान इस सूत्र से किया है । षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह ['याजकादिभिः'] याजकादि गणशब्दों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । ब्राह्मणस्य याजकः = ब्राह्मणयाजकः । यहां ब्राह्मण शब्द का याजक शब्द के साथ समास हुआ है ॥

याजकादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया है ॥ ९ ॥

न निर्द्धारणे[3] ॥ १० ॥

'षष्ठी[4]॥' इति सूत्रेण समासे प्राप्ते निषेधप्रकरणमारभ्यते । न । अ० । निर्द्धारणे । ७ । १ । जातिगुणक्रियाशब्दसमुदायादेकस्य पृथक्करणं = निर्द्धारणम् । निर्द्धारणे वर्त्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं सुबन्तेन सह न समस्यते । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः । गवां कृष्णा गौः सम्पन्नक्षीरा । पण्डितानां वेदविदुत्तमः । अत्रैकस्य पृथक्करणे समासो न भवति ॥

वा०—प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् ।
इह मा भूत्—सर्पिषो ज्ञानम् । मधुनो ज्ञानम् ॥[5]

'सर्पिषः, मधुनः' इति प्रतिपदविधाना षष्ठी नास्ति शेषलक्षणत्वात् । शेषलक्षणां षष्ठीं विहायान्या च सर्वा प्रतिपदविधाना । सूत्रेण यः प्रतिषेधः क्रियते, तत्र प्रतिपदविधानायाः षष्ठ्याः प्रतिषेधः स्यात् ॥ १० ॥

षष्ठी सूत्र से जो समास विधान है, उस का निषेध प्रकरण यहां से चलता है । बहुतों में से एक को पृथक् करने को निर्द्धारण कहते हैं । ['निर्द्धारणे'] निर्द्धारण अर्थ में वर्त्तमान जो षष्ठी है, वह सुबन्त के साथ समास को ['न'] न प्राप्त हो । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरः । मनुष्यों में क्षत्रिय शूर है । यहां बहुत मनुष्यों में से एक क्षत्रिय को अल[ग] किया । इससे समास भी नहीं हुआ ॥

---

१. जयादित्य-बोटलिङ्कौ—परिगणक ॥
शब्दकौस्तुभे "परि, गणक" इति द्वौ शब्दौ ॥

२. शब्दकौस्तुभेऽत्र "भृत्" इति ॥
अत्र बोटलिङ्क—"K. ausserdem: पोतृ, हर्तृ[र्तृ], वर्तक."
गणरत्नमहोदधौ "कर्तृ, कारक, प्रयोजक, गोप्तृ, तुर्य, चतुर्थ, उन्मादक, द्वितीय, तृतीय, तुरीय" इत्यादयः शब्दा अधिकाः । अपि च—
"क्रियानुगतिमात्रेण लोके स्यातिमुपागताः ।
ये कान्ताः पावकाद्यास्ते द्रष्टव्या याजकादिषु ॥"
(२ । ९९, १००)

३. वा०शा०—"न तन्निर्धार्यपूरणभावतृप्तार्थैः ॥"
(२ । २ । २१)

४. २ । २ । ८ ॥

५. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

'प्रतिपदविधाना च० ॥' इस वार्तिक का यह प्रयोजन है कि सूत्र से जो समास का निषेध किया है, वह प्रतिपदविधाना षष्ठी का समझना चाहिये। और 'सर्पिषो ज्ञानं' यहाँ प्रतिपदविधाना षष्ठी नहीं, क्योंकि शेषलक्षण है ॥ १० ॥

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन[1] ॥ ११ ॥

सर्वे द्वन्द्वो विभाषैकवचनम् । समाहारत्वादेकवचनम् । पूरणप्रत्ययान्तेन, गुणवाचिना, सुहित-शब्दस्यार्थवाचिभिः, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्तैः शब्दैः, अव्ययेन, तव्य-प्रत्ययान्तैः शब्दैः, समानाधिकरणशब्दैश्च सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते । पूरण—पण्डितानां सप्तमः । छात्राणां दशमः । गुण—काकस्य कार्ष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । सुहितार्थाः=तृप्त्यर्थाः—फलानां सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । सत्-सञ्ज्ञकौ शतृ-शानचौ[2], तदन्तैः शब्दैः—ब्राह्मणस्य पचन् । ब्राह्मणस्य पचमानः । अव्यय—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः[3] । पुरा सूर्यस्य विसृपो विरप्शिन्[4] । अत्र 'उदेतोः' इति तोसुन्-प्रत्ययान्तमव्ययं, 'विसृपः' इति कसुन्-प्रत्ययान्तं च[5] । ताभ्यां सह 'सूर्यस्य' इति षष्ठ्याः समासो न भवति । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । समानाधिकरणेन—शम्भकस्य निरुक्तकारस्य । पाणिनेः सूत्रकारस्य । अत्र पण्डितादिशब्दानां पूरणप्रत्ययान्तादिशब्दैः सह षष्ठीसमासो न भवति । समानाधिकरणेन सह यदि समासः स्यात्, तर्हि विशेषणस्य पूर्वनिपात-नियमः स्यात् । तदा 'पाणिनेः सूत्रकारस्य' इति प्रयोगो न स्यात् । इष्यते यथेष्टं प्रयोगेण भवितव्यम् ॥ ११ ॥

['पूरण-गुण-सुहितार्थ-सद्-अव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन'] पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची, सुहित अर्थात् तृप्ति के वाची, सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त, अव्यय-सञ्ज्ञक, तव्य-प्रत्ययान्त, समानाधिकरणवाची, इन शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो । [पूरण—] छात्राणां पञ्चमः । यहां षष्ठ्यन्त छात्र-शब्द का पूरणप्रत्ययान्त पञ्चम-शब्द के साथ समास न हुआ । गुण—काकस्य कार्ष्ण्यम् । यहां षष्ठ्यन्त काक-शब्द का गुणवाची कार्ष्ण्य-शब्द के साथ समास नहीं हुआ । सुहितार्थ—अन्नस्य सुहितः । अन्नस्य तृप्तः । यहां षष्ठ्यन्त अन्न-शब्द का सुहितार्थ के साथ । सत्-सञ्ज्ञक शतृ-शानच्-प्रत्ययान्त—ब्राह्मणस्य पचन् । ब्राह्मणस्य पचमानः । यहां षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का

---

१. द्र० वा०—"न तनिर्धार्यपूरणभावसमृप्तार्थैः ।" २ । २ । १३)

२. द्रष्टव्यम्—"तौ सत् ॥" (३ । २ । १२७)

३. काठकसंहितायामिष्टिमिकायां—८ । ३ ॥

४. काजसनेयि (१।२८) तैत्तिरीय (१ ।१६।१) काठक (१।६) संहितासु—"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् ।"

५. ३ । ४ । १६ ॥

सत्-सञ्ज्ञकप्रत्ययान्त के साथ । अव्यय—पुरा सूर्यस्योदेतोः[1] । पुरा सूर्यस्य विसृपः[2] । यहां षष्ठ्यन्त सूर्य-शब्द का तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । यहां षष्ठ्यन्त ब्राह्मण-शब्द का तव्य-प्रत्ययान्त के साथ । समानाधिकरण—पाणिनेः सूत्रकारस्य । और यहां षष्ठ्यन्त पाणिनि-शब्द का सूत्रकार-शब्द के साथ समास नहीं हुआ । समानाधिकरण के साथ जो समास होता, तो विशेषण पूर्व होना, यह नियम हो जाता । इसलिये निषेध है कि विशेषण वा विशेष्य कोई [भी] पूर्व रहे ॥ ११ ॥

क्तेन च पूजायाम् ॥ १२ ॥

नकारग्रहणमनुवर्त्तते । क्तेन । ३ । १ । च । अ० । पूजायाम् । ७ । १ । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च[3] ॥' इति वर्त्तमाने यः क्तः प्रत्ययो विधीयते, तस्येह ग्रहणम् । पूजा-ग्रहणमुपलक्षणार्थम्[4] । पूजायां वर्त्तमानेन क्त-प्रत्ययान्तसुबन्तेन सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । अत्र षष्ठ्यन्तस्य राजन्-शब्दस्य क्तान्तेन सह समासो न भवति ॥

'पूजायां' इति किम् । मयूरस्य नृत्तं = मयूरनृत्तम् । अत्र 'नपुंसके भावे क्तः[5] ॥' तेन समासो भवति ॥ १२ ॥

'मतिबुद्धि०[3] ॥' इस सूत्र से वर्त्तमान काल में जो क्त-प्रत्यय होता है, उस का इस सूत्र में ग्रहण है । ['पूजायाम्'] पूजा अर्थ में वर्त्तमान ['क्तेन'] क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को न प्राप्त हो । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । यहां षष्ठ्यन्त राजन्-शब्द [का] क्त-प्रत्ययान्त के साथ समास नहीं हुआ ॥

पूजा-ग्रहण इसलिये है कि 'छात्रस्य हसितं = छात्रहसितं' यहां नपुंसकभाव में क्त है । इस के साथ समास हो जाता है ॥ १२ ॥

अधिकरणवाचिना च ॥ १३ ॥

'क्तेन' इत्यनुवर्त्तते । 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः[6] ॥' इत्यधिकरणे क्तो विधीयते । तस्येदं ग्रहणम् । अधिकरणवाचिना । ३ । १ । च । अ० । षष्ठ्यन्तं सुबन्तमधिकरणवाचिना क्त-प्रत्ययान्तेन च न समस्यते । इदमेषां जग्धम् । इदमेषां भुक्तम् । अत्र षष्ठ्यन्तस्य जग्ध-भुक्त-क्तप्रत्ययान्ताभ्यां सह समासो न भवति ॥

---

१. काठकसंहिता—८ । ३ ॥

२. वाजसनेयि (१ । २८), तैत्तिरीय (१ । १ । ६ । १) और काठक (१ । ६) संहिताओं में—"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् ।"

३. ३ । २ । १८८ ॥

४. "पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थम्" इति मतिबुद्ध्योरपि यः क्तो विहितः, तेनापि षष्ठीसमासस्य प्रतिषेधः ॥

५. ३ । ३ । ११४ ॥

६. ३ । ४ । ७६ ॥

चकारग्रहणं 'क्तेन' इत्यनुवर्त्तनार्थम् ॥ १३ ॥

'क्तोऽधिकरणे च०[1] ॥' इस सूत्र से जो अधिकरण में क्त-प्रत्यय होता है, उस का यहां ग्रहण है। ['अधिकरणवाचिना'] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समास को न प्राप्त हो। इदमेषां जग्धम्। यहां 'एषां' इस षष्ठ्यन्त का समास 'जग्धं' [इस] क्त-प्रत्ययान्त के साथ नहीं हुआ ॥

चकार-ग्रहण क्त की अनुवृत्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १३ ॥

कर्मणि च ॥ १४ ॥

'उभयप्राप्तौ कर्मणि[2] ॥' इति सूत्रेण या षष्ठी, तस्या अत्र ग्रहणम्। कर्मणि। ७। १। च। अ०। इति-शब्दार्थेऽत्र चकारः। 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी। कर्मणि या षष्ठी, सा समर्थसुबन्तेन सह न समस्यते। गवां दोहो गोपालेन। मोदकस्य भोजनं बालेन। 'गां दोग्धि, मोदकं भुङ्क्ते' इति कर्मणि षष्ठ्याः समासो न भवति ॥

भा०—इत्यर्थेऽयं चः पठितः। कर्मणि च। 'कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी ॥[3] १४ ॥

इस सूत्र में चकार इति-शब्द के अर्थ में पढ़ा है। 'कर्मणि' ऐसे शब्द से जो षष्ठी अर्थात् 'उभयप्राप्तौ कर्मणि[1] ॥' इस सूत्र से जो षष्ठी विधान है, उस का यहां ग्रहण है। ['कर्मणि'] कर्म में जो षष्ठी है, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को न प्राप्त हो। गवां दोहो गोपालेन। यहां 'गवां' इस षष्ठ्यन्त का समास दोह-शब्द के साथ नहीं हुआ ॥ १४ ॥

तृजकाभ्यां कर्त्तरि ॥ १५ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते। तृच्-अकाभ्याम्। ३। २। कर्त्तरि। ७। १। कर्त्तरि यौ तृच्-अकौ। तेन तृच्-प्रत्ययान्तेन अकान्तेन[4]=ण्वुल्-प्रत्ययान्तेन च सह कर्मणि या षष्ठी, सा न समस्यते। पुरां भेत्ता। अपां स्रष्टा। यवानां लावकः। कूपस्य खनकः। अत्र 'पुरां' इत्यादिषष्ठ्याः समासो न भवति ॥

जयादित्येनास्मिन् सूत्रे 'कर्तृग्रहणं षष्ठीविशेषणम्' इत्युक्तम्। कर्त्तरि या षष्ठी, सा न समस्यत इत्यर्थः कृतः। एतद् महाभाष्यान्महद्विरुद्धमस्ति। कथम्? महाभाष्यकारेणास्य सूत्रस्य 'पुरां भेत्ता, अपां स्रष्टा,[6] यवानां लावकः' इति

---

१. २ । ३ । ७६ ॥
२. २ । ३ । ६६ ॥
३. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
४. "ण्वुल्तृचौ ॥" (३ । १ । १३३)
५. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥ "कर्मणि च ॥" (२ । २ । १४) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने ॥
६. महाभाष्ये "अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता" इति क्रमभेदः ॥

ष्ठीण्युदाहरणानि दत्तानि । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी । जयादित्येन तृजन्तस्योदाहरणमपि नोक्तम् । तत्रोक्तं तेन—'तृच् कर्त्तर्येव विधीयते, तत्प्रयोगे कर्त्तरि षष्ठी नास्ति । तस्मात् तृच्-ग्रहणमुत्तरार्थम् ।' इति सर्वमवद्यमेवोक्तम् ॥ १५ ॥

कर्म में जो षष्ठी है, वह ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में ['तृज्-अकाभ्यां'] तृजन्त और अकान्त सुबन्तों के साथ समास को न प्राप्त हो । पुरां भेत्ता । यवानां लावकः । यहां 'पुरां' और 'यवानां' इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

काशिकावृत्ति के बनाने वाले जयादित्य पण्डित ने इस सूत्र में "कर्तृ-ग्रहण षष्ठी का विशेषण अर्थात् कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह समास न पावे" यह अर्थ किया है । सो यह महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है । महाभाष्यकार ने इस सूत्र के जो उदाहरण दिये हैं, वहां कर्म में षष्ठी है । और ऐसा उलटा अर्थ करने से जयादित्य को तृजन्त का उदाहरण ही न मिला, इसलिये उस ने लिखा कि तृच्-ग्रहण उत्तरार्थ है । अर्थात् इस सूत्र का जयादित्य ने कुछ भी नहीं समझा, फिर अच्छा कहां से लिखते ॥ १५ ॥

कर्त्तरि च ॥ १६ ॥

कस्यचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तत इत्यक-ग्रहणमनुवर्त्तते । तृच् कर्त्तर्येव भवति, तस्मात् कर्त्तरि षष्ठी न भवति । [कर्त्तरि । ७ । १ । च । अ० ।] कर्त्तरि या षष्ठी, साऽकान्तेन सह न समस्यते । तव शायिका । मम जागरिका । अत्र भावे ण्वुल् । 'तव, मम' इति षष्ठ्यन्तस्य समासो न भवति ॥

अत्रापि जयादित्येन विरुद्धमेव व्याख्यानं कृतम् । पूर्वसूत्रस्यार्थोऽत्र कृतः, अस्य योऽर्थः, स पूर्वसूत्रे कृतः ॥ १६ ॥

यहां पूर्व सूत्र से अक की अनुवृत्ति आती है, तृच की नहीं । क्योंकि तृच् कर्त्ता ही में होता है, इससे कर्त्ता में षष्ठी नहीं होती । ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में जो षष्ठी है, वह अकान्त के साथ समास को न प्राप्त हो । तव शायिका । मम जागरिका । यहां भाव में ण्वुल्-प्रत्यय है, तब कर्त्ता से षष्ठी हुई । 'तव, मम' इन षष्ठ्यन्त शब्दों का समास नहीं हुआ ॥

इस सूत्र का भी जयादित्य ने विरुद्ध व्याख्यान किया, अर्थात् पूर्व सूत्र का अर्थ इस सूत्र में और इस सूत्र का अर्थ पूर्व सूत्र में किया है । यह बड़ा भारी उन का दोष समझा जाता है ॥ १६ ॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः[१] ॥ १७ ॥

निषेधो निवृत्तः । अक-ग्रहणमनुवर्त्तते । निषेधे तु समासो भवत्येव न[२] । अतो विभाषानिवृत्त्यर्थमेव नित्य-ग्रहणम् । क्रीडार्थे जीविकार्थे च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं

१. सा०—पृ० २६ ॥

२. महाभाष्ये—"विधिहि विभाषा, नित्यः प्रतिषेधः ।" (अ० २ । पा० २ । आ० १

समर्थसुबन्तेन सह नित्यं समस्यते । तत्पुरुषः स समासो भवति । क्रीडार्थे—पुष्पभञ्जिका[1] । जीविकार्थे—पुस्तकलेखकः । अत्र पुष्प-पुस्तक-षष्ठ्यन्तशब्दयोर्नित्यसमासः ॥ १७ ॥

इस सूत्र में नित्य-ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि निषेध में समास होता ही नहीं । ['क्रीडा-जीविकयोः'] क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठ्यन्त जो सुबन्त है, वह समर्थ सुबन्त के साथ ['नित्यं'] नित्य समास को प्राप्त हो । यह समास तत्पुरुष कहावे । क्रीडा—पुष्पभञ्जिका[1] । यहां क्रीडार्थ में षष्ठ्यन्त पुष्प-शब्द का भञ्जिका सुबन्त के साथ । जीविका—पुस्तकलेखकः । और यहां जीविकार्थ में षष्ठ्यन्त पुस्तक-शब्द का लेखक सुबन्त के साथ नित्य समास हुआ है ॥

अब यहां से आगे नित्य समास चलेगा ॥ १७ ॥

कुगतिप्रादयः[2] ॥ १८ ॥

'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते । कु-शब्दोऽव्यय-सञ्ज्ञकः । गति-सञ्ज्ञकाः = ऊर्यादयः । प्रादयः = उपसर्गाः । [कु गति-प्रादयः । १ । ३ ।] कु-गति-प्रादयः शब्दाः समर्थेन सह नित्यं समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । [कु—] कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कुत्सित इत्यर्थः । गति— ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । अत्र समासकरणात् क्त्वास्थाने ल्यप् । प्रादि— प्रकृतम् । पराजितम् । अपकृतम् । संस्कृतम् । अत्र प्रादीनां नित्यसमासमाश्रित्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरो नित्यं भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥ १ ॥

वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ॥

अत्र प्रतेः प्रादित्वात् समासः प्राप्तः, स न भवति ॥ १ ॥

स्वती पूजायाम्[4] ॥ २ ॥

सुराजा । अतिराजा ॥[3]

पूजनीयो राजेत्यर्थः ॥ २ ॥

दुर्निन्दायाम् ॥[3] ३ ॥

---

१. पुष्पाणां भञ्जनं यत्र क्रीडायाम । "सञ्ज्ञायाम् ॥" (३ । ३ । १०९) इति भावे ण्वुल् । पुष्पाणामिति कर्मणि षष्ठी ॥

एवमेव—सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, पुष्पावचायिका ॥

२. सा०—पृ० २६ ।

चा० श०—"कुप्रादयोऽसुब्विधौ नित्यम् ।" (२ । २ । २४)

३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

४. २—१० वार्त्तिकानि शौनागकृतानि ॥

दुष्कुलम् । दुर्गवः ॥[1]

'दुर्गवः' इति नित्यसमासाद् 'गोरतद्धितलुकि[2]॥' इति समासान्तः टच् प्रत्ययः ॥ ३ ॥

आङीषदर्थे ॥ ४ ॥

आकडारः । आपिङ्गलः ॥[1]

ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गल इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कुः पापार्थे ॥ ५ ॥

कुब्राह्मणः । कुवृषलः ॥[1]

पापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥ ६ ॥

प्रादीनां गतादिष्वर्थेषु प्रथमया विभक्त्या समासो भवति ॥

प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः । प्रान्तेवासी । प्रपितामहः ॥[1] ६ ॥

अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥[1] ७ ॥

अत्यादयः शब्दाः क्रान्तादिष्वर्थेषु द्वितीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अतिक्रान्तः खट्वां = अतिखट्वः । अतिमालः । अत्र 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते[3]॥' इति खट्वा-माला-शब्दयोर्नियतद्वितीयाविभक्तित्वादुपसर्जन-सञ्ज्ञा । तस्माद् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[4]॥' इति ह्रस्वत्वम् ॥ ७ ॥

अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥[1] ८ ॥

क्रुष्टादिष्वर्थेषु वर्त्तमाना अवादयः शब्दास्तृतीयया विभक्त्या नित्यं समस्यन्ते । अवक्रुष्टः कोकिलया = अवकोकिलः [वसन्तः] । अत्रापि पूर्ववदुपसर्जन-सञ्ज्ञा-कार्यम् ॥ ८ ॥

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥[1] ९ ॥

पर्यादयः[5] शब्दा ग्लानादिष्वर्थेषु चतुर्थ्या विभक्त्या सह नित्यं समस्यन्ते ।

परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः ॥[1] ९ ॥

निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥[1] १० ॥

---

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
२. ५ । ४ । ९२ ॥
३. १ । २ । ४४ ॥
४. १ । २ । ४८ ॥
५. न्यासे—"पर्यादिराकृतिगणः ।"

कान्तादिष्वर्थेषु वर्त्तमाना निरादयः शब्दाः पञ्चम्या विभक्त्या सह समस्यन्ते । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः । अत्राप्युपसर्जन-सञ्ज्ञा ह्रस्वत्वं च पूर्ववत् ॥ १० ॥

अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥[1] *११* ॥

प्रवृद्धादिभिः शब्दैः सहाव्ययं नित्यं समस्यते । पुनःप्रवृद्धं बर्हिर्भवति । पुनर्गवः[2] । पुनःसुखम् । अत्र 'पुनर्' इत्यव्ययस्य नित्यसमासः ॥ ११ ॥

इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥[1] *१२* ॥

'इव' इत्यव्ययशब्देन सह सुबन्तस्य नित्यसमासो भवति, नित्यसमासेऽपि विभक्तिर्न लुप्यते, पूर्वपदस्य च प्रकृतिस्वरो भवति । वाससीइव । कन्येइव । अत्र द्विवचनविभक्त्या लोपो न भवति ॥ १२ ॥

अव्ययमव्ययेन[3] ॥[1] *१३* ॥

अव्ययस्याव्ययेनैव नित्यसमासः । प्रप्र यज्ञपतिम्[4] । अत्र 'प्र' इत्यव्ययस्य प्र-शब्देनैव समासः ॥ १३ ॥

उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं[5] समस्यत इति वक्तव्यम् ॥ १४ ॥

अनुव्यचलत् । अनुव्याकरोत्[6] । यत्परियन्ति[7] ॥[1]

'अनुव्यचलत्, अनुव्याकरोत्' इति गतिमता तिङा सह अनु-अव्ययस्य समासः । 'यत्परियन्ति' इत्युदात्तवता तिङा सह परेरव्ययस्य नित्यसमासः ॥ १४ ॥

द्वितीयवार्त्तिकमारभ्य दशमपर्यन्तानि सूत्रेण सामान्यविहितस्य विशेषविधायकानि वार्त्तिकानि सन्ति । अन्यानि तु सूत्रादपूर्वविधायकानि च ॥ १८ ॥

['कु-गति-प्रादयः'] अव्यय-सञ्ज्ञक कु शब्द, गति-सञ्ज्ञक और प्रादि, ये सब समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । कु—

---

१. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥

२. महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—पुनर्यवम् ॥

३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु "अव्ययमव्ययेन ॥" इति वार्त्तिकं तद्व्याख्यानं च नोपलभ्यते ॥

४. ऋ०—७ । २६ । ३ ॥
वा०—५ । ३८, ४१ ॥
श० (काण्वशाखायां)—२ । ६ । ८ ॥
तै०—१ । ३ । ४ । १ ॥
मै०—१ । २ । १३ ॥
का०—३ । १, २ ॥

५. पाठान्तरम्—गतिमता चाव्यय० ॥

६. पाठान्तरे—अनुव्याकरोति, अनुप्राविशत् ॥

७. द्रष्टव्यम्—"निपातैर्यद्यदिहन्त० ॥" (८ । १ । ३०)

कुब्राह्मणः । कुवृषलः । यहां कु-अव्यय का समास ब्राह्मण- और वृषल-शब्द के साथ हुआ । गति—ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । यहां गति-सञ्ज्ञक ऊरी- और उररी-शब्द का समास होने से क्त्वा के स्थान में ल्यप् हुआ । प्रादि—प्रकृतम् । पराजितम् । और यहां प्र और परा उपसर्गों का समास होने से पूर्व पद को नित्य प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥

आगे वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयप्रतिषेधः ॥' सूत्र से जो प्रादिकों का समास कहा है, यहां कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक प्रादिकों का समास न हो । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । यहां प्रति-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

'स्वती पूजायाम् ॥' पूजा अर्थ में वर्त्तमान सु-अति-शब्द सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । सुराजा । अतिराजा । राजा पूज्य है । यहां सु और अति का समास राजा-शब्द के साथ हुआ ॥ २ ॥

'दुर्निन्दायाम् ॥' दुर्-शब्द निन्दा अर्थ में समास को प्राप्त हो । दुष्कुलम् । निन्दित कुल है । यहां दुर्-शब्द का समास कुल के साथ हुआ ॥ ३ ॥

'आङीषदर्थे ॥' ईषत् अर्थात् थोड़े का वाची आङ्-शब्द समास को प्राप्त हो । आकडारः । यहां ईषदर्थ में आङ्-शब्द का समास हुआ ॥ ४ ॥

'कुः पापार्थे ॥' कु-शब्द पाप अर्थ में समास को प्राप्त हो । कुब्राह्मणः । पापी ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥' प्रादि जो शब्द हैं, वे गत आदि अर्थों में प्रथमा विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । प्रगत आचार्यः = प्राचार्यः । यहां गत अर्थ में प्र-शब्द का समास हुआ ॥ ६ ॥

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥' अति आदि जो शब्द हैं, वे क्रान्त आदि अर्थों में द्वितीया विभक्ति के साथ समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष कहावे । अतिखट्वः । यहां खट्वा-शब्द की नियत विभक्ति के होने से उपसर्जन-सञ्ज्ञा हुई । उस के होने से खट्वा-शब्द को ह्रस्व हो गया ॥ ७ ॥

'अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥' अवादि जो शब्द हैं, वे क्रुष्टादि अर्थों में तृतीया विभक्ति के साथ नित्य समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । अवक्रुष्टः कोकिलया = अवकोकिलः । यहां पूर्व के तुल्य उ[पसर्जन-]सञ्ज्ञा होके ह्रस्व हुआ है ॥ ८ ॥

'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥' परि आदि शब्द ग्लान [आदि] अर्थों में चतुर्थी विभक्ति के साथ समास पावें । परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः । यहां अध्ययन-शब्द के साथ परि का समास हुआ है ॥ ९ ॥

'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥' निर् आदि शब्द क्रान्त आदि अर्थों में नित्य समास को प्राप्त हों । निष्कौशाम्बिः । यहां निर्-शब्द का कौशाम्बी-शब्द के साथ समास हुआ, और पूर्व के तुल्य उपसर्जन-सञ्ज्ञा होके ह्रस्व भी हुआ है ॥ १० ॥

'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ॥' प्रवृद्ध आदि शब्दों के साथ अव्यय समास पावे । पुनर्गवः । यहां अव्यय का नित्य समास होने से गौ-शब्द से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है ॥ ११ ॥

'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ॥' इव जो अव्यय है, उस के साथ नित्य समास हो, और विभक्ति का लोप न हो, तथा पूर्व पद को प्रकृतिस्वर हो जावे। वाससीइव। यहां पूर्वोक्त सब कार्य हुए हैं ॥ १२ ॥

'अव्ययमव्ययेन ॥' अव्यय जो है, वह अव्यय के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। 'प्रप्र यज्ञपतिम्[1] ।' यहां प्र अव्यय का प्र के साथ समास हुआ है ॥ १३ ॥

'उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं समस्यत इति वक्तव्यम् ॥' उदात्त वाले और गतियुक्त तिङन्त के साथ अव्यय नित्य समास को प्राप्त हो। यत्परियन्ति। यहां परि-शब्द का उदात्तवान् तिङन्त के साथ। अनुव्यचलत्। और यहां गतियुक्त तिङन्त के साथ अनु अव्यय का समास हुआ है ॥ १४ ॥

द्वितीय वार्त्तिक से लेके दशमपर्यन्त जो वार्त्तिक हैं, वे सूत्र से सामान्य समासविधान के विशेष विधान करने वाले हैं, और अन्य वार्त्तिक सूत्र से पृथक् विधान करने वाले हैं ॥ १८ ॥

उपपदमतिङ्[2] ॥ १९ ॥

'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते। उपपदम् । १ । १ । अतिङ् । १ । १ । अतिङन्तमुपपदं समर्थेन सह नित्यं समस्यते। तत्पुरुषश्च समासो भवति। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। गोदः। कम्बलदः। अत्र कुम्भादिभ्य उपपदस्य नित्यसमासो भवति ॥

'अतिङ्' इति किमर्थम्। कारको व्रजति। हारको व्रजति ॥[3]

अत्र तिङन्तस्य समासो न भवति ॥ १९ ॥

['अतिङ्'] तिङ्भिन्न जो ['उपपदं'] उपपद सुबन्त है, वह समर्थ शब्द के साथ नित्य समास को प्राप्त हो। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। कुम्भकारः। गोदः। कम्बलदः। यहां कुम्भ आदि उपपद शब्दों का नित्य समास हुआ है ॥

अतिङ्-ग्रहण इसलिये है कि 'कारको व्रजति' यहां उपपद तिङन्त समास को न प्राप्त हो ॥ १९ ॥

अमैवाव्ययेन[4] ॥ २० ॥

पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो नियमार्थः। उपपदस्याव्ययेन समासो भवेत् चेत्, तर्हि अमा एव अव्ययेन स्यात् नान्येन। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। अत्र निमूल-समूल-शब्दयोः 'काषं' इत्यमन्तेन[5] सह नित्यसमासः ॥

'अमैव' इति किमर्थम्। कालो गन्तुम्। समयः पठितुम्। अत्र तुमुनन्तौ-[6]

---

१. देखो पृ० २४७ टिप्पण ४ ॥
२. सा०—पृ० ६० ॥
३. अ० २ । पा० २ । आ० १ ॥
४. सा०—पृ० ६१ ॥ [न्तम् ॥
५. "कृन्मेजन्तः ॥" (१ । १ । ३८) इत्यव्य-
६. "कालसमयवेलासु तुमुन् ॥" (३।३।१६७)

व्ययेन सह समासो न भवति । अमैव तुल्येन यत्र केवलस्यामन्ताव्ययस्य विधानं, तत्रैव यथा स्यात् । यत्रामन्तस्यान्यप्रत्ययस्य [च तुल्य]विधानं, तत्र समा[सो] [मा] भूत् । अग्रे भुक्त्वा । अग्रे भोजम् । अत्र क्त्वा-णमुलौ सह विधीयेते[1] ॥२०॥

पूर्व सूत्र से उपपद समास सिद्ध है । फिर इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है । उपपद का अव्यय के साथ जो समास हो, तो ['अमा'] अमन्त ['अव्ययेन एव'] अव्यय के ही साथ हो, अन्य के नहीं । शुष्कपेषं पिनष्टि । चूर्णपेषं पिनष्टि । यहां शुष्क और चूर्ण उपपदों का 'पेषं' इस अमन्त अव्यय के साथ समास है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समय उत्थातुम्' यहां तुमुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ समास नहीं हुआ। जहां केवल अमन्त अव्यय का विधान हो, वहीं समास हो । अग्रे भोजम् । अग्रे भुक्त्वा । यहां एक सूत्र में क्त्वा और णमुल् दो प्रत्ययों का विधान है । इससे 'अग्रे' इस उपपद का 'भोजं' इस अमन्त के साथ समास नहीं हुआ ॥ २० ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्[1] ॥ २१ ॥

'उपपदं' इत्यनुवर्त्तते, 'अमैव' इति च । तृतीयाप्रभृतीनि । १ । ३ । अन्यतरस्याम् । अ० । 'उपदंशस्तृतीयायाम्[2] ॥' इति सूत्रारम्भे यान्युपपदानि, तानि तृतीयाप्रभृतीन्युपपदान्यमन्तेनैवाव्ययेन सह विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं[3] भुङ्क्ते । यष्टिग्राहं, यष्टिं ग्राहं[4] वा युध्यन्ते । अत्र मूलकोपपदस्यामन्तेन सह विकल्पेन समासः ॥

'अमैव' इति किम् । समर्थो भोक्तुम् । अत्र तुमुन्-प्रत्ययान्तेन सह समासो न भवति ॥ २१ ॥

['तृतीयाप्रभृतीनि'] तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे अमन्त ही अव्यय के साथ ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके समास को प्राप्त हों । यह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । यहां मूलक उपपद का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प करके समास हुआ है ॥

'अमैव' ग्रहण इसलिये है कि 'समर्थो भोक्तुं' यहां तुमुन्-प्रत्ययान्त के साथ समर्थ उपपद का विकल्प करके समास नहीं हुआ ॥ २१ ॥

क्त्वा च[1] ॥ २२ ॥

पूर्वसूत्रे 'अमैव' इत्यनुवर्त्तनादन्यत्र समासो न प्राप्तः । तदर्थोऽयमारम्भः । पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वा-प्रत्ययान्तेनाव्ययेन सह

---

१. "विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु ॥" (३ । ४ । २४)
२. सा०—पृ० ११ ॥
३. ३ । ४ । ४७ ॥
४. "द्वितीयायां च ॥" (३ । ४ । ५३)

विकल्पेन समस्यन्ते । तत्पुरुषः स समासो भवति । उच्चैःकृत्य । उच्चैः कृत्वा । समासपक्षे ल्यप् ॥

'तृतीयाप्रभृतीनि' इति किम् । अलं भुक्त्वा । खलुकृत्वा । अत्र समासाभावाल्ल्यबपि न भवति ॥ २२ ॥

इति तत्पुरुषसमासाधिकारः सम्पूर्णः ॥

पूर्व सूत्र में प्रमत्त की अनुवृत्ति आने से अन्यत्र समास नहीं पाता था, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। तृतीया प्रभृति जो उपपद हैं, वे ['क्त्वा'] क्त्वा-प्रत्ययान्त अव्यय के साथ विकल्प करके समास पावें। वह समास तत्पुरुष-सञ्ज्ञक हो। उच्चैःकृत्य। उच्चैः कृत्वा। यहां जिस पक्ष में समास होता है, वहां क्त्वा के स्थान में ल्यप्-आदेश हो जाता है ॥

तृतीयाप्रभृति-ग्रहण इसलिये है कि 'खलुकृत्वा' यहां समास के न होने से ल्यप् न हुआ ॥ २२ ॥

यह तत्पुरुष समास का अधिकार पूरा हुआ ॥

अब आगे बहुव्रीहि समास का अधिकार चलेगा—

[अथ बहुव्रीहिसमासाधिकारः]

शेषो बहुव्रीहिः[1] ॥ २३ ॥

यस्या विभक्तेः समासो नोक्तः, स शेषः[2] । शेषः । १ । १ । बहुव्रीहिः । [१ । १ ।] शेषः समासो बहुव्रीहि-सञ्ज्ञो भवति । अधिकारसूत्रं चेदम् । अतोऽग्रे यः समासो भविष्यति, बहुव्रीहि-सञ्ज्ञा तस्य विज्ञेया ॥ २३ ॥

जिस प्रथमा विभक्ति का समास पूर्व नहीं कहा, वह शेष कहाता है। ['शेषः'] शेष जो समास है, वह ['बहुव्रीहिः'] बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो। यहां से आगे जो समास कहेंगे, उस की बहुव्रीहि-संज्ञा होगी। इससे यह अधिकार सूत्र समझना चाहिये ॥ २३ ॥

अनेकमन्यपदार्थे[3] ॥ २४ ॥

बहुव्रीहि-ग्रहणमनुवर्त्तते । अनेकम् । १ । १ । अन्यपदार्थे । ७ । १ । अन्यपदार्थे वर्त्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो बहुव्रीहि-सञ्ज्ञो भवति । चित्रा गावो यस्य, स चित्रगुः । शबलगुः । उद्धृत ओदनः स्थाल्याः=

---

१. शा०—पृ० ११ ॥

२. महाभाष्ये (अ० २ । पा० २ । आ० १)—"यस्य त्रिकस्यानुक्तः समासः स शेषः । कस्य चानुक्तः । प्रथमायाः ॥"

३. शा०—पृ० ११ ॥ चा० श०—"अनेकमन्यार्थे ।" (२ । २ । ४६)

उद्धृतौदना स्थाली । वीराः पुरुषा यस्मिन्नगरे = वीरपुरुषकं नगरम् । अत्र बहुव्रीहि-सञ्ज्ञत्वात् कप् भवति ॥

अनेक-ग्रहणं किमर्थम् । त्रिप्रभृतीनामपि पदानां बहुव्रीहिर्यथा स्यात् । 'तुल्यास्यप्रयत्नं = तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम्'' इति त्रिपदबहुव्रीहिः सिद्धो भवति ॥

वा०—*बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥ १ ॥*

किं प्रयोजनम् । व्यधिकरणानां मा भूत् । पञ्चभिर्भुक्तमस्य ॥[1]

अत्र विभक्तिभेदात् सामानाधिकरण्यं नास्ति, अतः समासो न भवति ॥१॥

अव्ययानां च ॥ २ ॥

उच्चैर्मुखमस्येति उच्चैर्मुखः[2] । नीचैर्मुखः ॥[1]

'उच्चैः, नीचैः' इत्यव्यययोरधिकरणप्रधानत्वात् सामानाधिकरण्यं नास्ति, तदर्थमिदमुक्तम् ॥ २ ॥

सप्तम्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥[1] ३ ॥

सप्तमीपूर्वस्योपमानपूर्वस्य च यः समासो भवति, तत्रोत्तरपदस्य लोपो विधेयः । सप्तमीपूर्वस्य— कण्ठेस्थः कालोऽस्य = कण्ठेकालः । उपमानपूर्वस्य— उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य = उष्ट्रमुखः । खरमुखः । उत्तरपदलोपार्थमिदम् ॥ ३ ॥

समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥[1] ४ ॥

चकारादुत्तरपदलोपस्यानुवृत्तिः । समुदायावयवसम्बन्धे प्रकृतिविकारसम्बन्धे च या षष्ठी तदन्तात् परं यत् पदं, त[दन्त]स्यान्यशब्देन सह बहुव्रीहिर्भवति । उत्तरपदस्य च लोपः । केशसमाहारश्चूडा अस्य = केशचूडः । अत्र समाहार-उत्तरपदस्य लोपः । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य = सुवर्णालङ्कारः । अत्र विकार-उत्तरपदस्य लोपः ॥ ४ ॥

प्रादिभ्यो धातुजस्य वा ॥[1] ५ ॥

वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपार्थम् । प्राद्युपसर्गेभ्यः परं धातुजं यत् पदं, तस्योत्तरपदस्य विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिर्नित्यं भवति । प्रपतिताः पर्णा अस्य = प्रपतितपर्णः, = प्रपर्णः । प्रपतितपलाशः, प्रपलाशः । उत्तरपदलोपविकल्पेन रूपद्वयं सिद्धं भवति ॥ ५ ॥

---

१. महाभाष्ये—अ० २ । पा० २ । आ० ४ ॥
२. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु "उच्चैर्मुखमस्येति" इति नास्ति ॥
३. अ० १ । पा० २ । आ० ३ ॥

नञोऽस्त्यर्थानां च[1] ॥[2] ६ ॥

चकारेण वा-ग्रहणमुत्तरपदलोपश्चानुवर्त्तते । नञः परेषामस्त्यर्थानामुत्तरपदानां विकल्पेन लोपो भवति । बहुव्रीहिश्च नित्यमेव । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य = अविद्यमानपुत्रः, = अपुत्रः । अवि[द्य]मानभार्यः, अभार्यः । अत्र विद्यमान-उत्तरपदस्य विकल्पेन लोपो भवति ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसङ्ख्यानम्[3] ॥[4] ७ ॥

अस्ति क्षीरमस्याः = अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्ति-शब्दस्य तिङन्तस्याग्रहणम् ॥ [७ ॥] २४ ॥

['अन्यपदार्थे'] अन्य पदार्थ में वर्त्तमान ['अनेकम्'] अनेक जो सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों। वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो। वीराः पुरुषा अस्मिन् ग्रामे = वीरपुरुषको ग्रामः। यहां वीर- और पुरुष-शब्द का परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ है, और अन्य पदार्थ ग्राम है। अर्थात् वीर और पुरुष दोनों शब्द मिलके ग्राम के वाची हो जाते हैं। यहां बहुव्रीहि समास के होने से समासान्त कप्-प्रत्यय हुआ है ॥

अनेक-ग्रहण इसलिये है कि तीन पद आदि का भी बहुव्रीहि समास हो जावे। तुल्य आस्ये प्रयत्न एषां, तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्। यहां तीन पदों का बहुव्रीहि हुआ है ॥

अब वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम् ॥' समानाधिकरण शब्दों का बहुव्रीहि समास होना चाहिये। इससे 'पञ्चभिर्भुक्तमस्य' यहां विभक्तिभेद होने से समास नहीं हुआ ॥ १ ॥

'अव्ययानां च ॥' अव्ययों का अन्य शब्दों के साथ बहुव्रीहि समास हो। उच्चैर्मुखमस्य = उच्चैर्मुखः। यहां उच्चैस् अव्यय के अधिकरणप्रधान होने से सामानाधिकरण्य नहीं, इससे समास नहीं पाता है। इसलिये यह वार्त्तिक कहा ॥ २ ॥

'सप्तम्युपमानपूर्व[पद]स्योत्तरपदलोपश्च ॥' सप्तमी विभक्ति जिस के पूर्व और उपमानवाची शब्द जिस के पूर्व हो, उस पद का समास अन्य पद के साथ हो, और उत्तर पद का लोप हो जावे। कण्ठेस्थः कालोऽस्य = कण्ठेकालः। यहां सप्तमीपूर्वक स्थ उत्तर पद का लोप हुआ। उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य = उष्ट्रमुखः। यहां एक मुख- और इव-शब्द का लोप हुआ है ॥ ३ ॥

'समुदायविकारषष्ठ्याश्च ॥' समुदाय-अवयव के सम्बन्ध में जो षष्ठी और प्रकृति-विकार के सम्बन्ध में जो षष्ठी, उस से परे जो उत्तर पद, उस का लोप और अन्य शब्दों के साथ समास होता है। केशानां समाहारश्चूडा अस्य = केशचूडः। यहां समाहार उत्तर पद

१. पाठान्तरम्—नञोऽस्त्यर्थानाम् ॥
२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
३. पाठान्तरम्—०क्षीरत्युपसङ्ख्यानम् ।
४. महाभाष्य में—अ० १ । पा० १ । आ० ५ ॥

का लोप । सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य=सुवर्णालङ्कारः । और यहां विकार उत्तर पद का लोप हुआ है ॥ ४ ॥

'प्रादिभ्यो धातुजस्य वा ॥' प्रादि उपसर्गों से पर जो धातुज उत्तर पद, उस का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । प्रपतिताः पर्णा अस्य=प्रपतितपर्णः,=प्रपर्णः । यहां उत्तर पद लोप के विकल्प से दो उदाहरण बनते हैं ॥ ५ ॥

'नञोऽस्त्यर्थानां च ॥' नञ् से परे जो अस्त्यर्थ उत्तर पद, उन का विकल्प करके लोप और नित्य [बहुव्रीहि] समास हो । अविद्यमानः पुत्रोऽस्य=अविद्यमानपुत्रः,=अपुत्रः । यहां विद्यमान उत्तर पद का विकल्प करके लोप हुआ है ॥ ६ ॥

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥' इस [सुबन्तों के] समास [के] अधिकार में अस्तिक्षीरा आदि शब्दों का भी समास हो । अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । यहां अस्ति-शब्द क्रियावाची तिङन्त है । इससे समास नहीं पाता था, क्योंकि सुबन्तों का समास सुबन्तों के साथ होता है । इसलिये यह वार्त्तिक है ॥ [७ ॥] २४ ॥

सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये[1] ॥ २५ ॥

सङ्ख्यया । ३ । १ । अव्यय-आसन्न-अदूर-अधिक-सङ्ख्याः । १ । ३ । सङ्ख्येये । ७ । १ ॥

मत्वर्थे पूर्वो योगः । अमत्वर्थोऽयमारम्भः ॥[2]

'अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, सङ्ख्या' इत्येते शब्दाः सङ्ख्येये=गणनीयेऽर्थे वर्त्तमानया सङ्ख्यया सह समस्यन्ते । [बहुव्रीहिः स समासो भवति ।] अव्यय— दशानां समीपः=उपदशाः । आसन्न— आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूर— अदूरदशाः । अधिक— अधिकदशाः । सङ्ख्या— द्वित्राः । त्रिचतुराः । द्विदशाः । अत्राव्ययादीनां सङ्ख्यावाचिभिः सह समासः । बहुव्रीहिसमासात् 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्[3] ॥' इति समासान्तो डच्-प्रत्ययः ॥

'सङ्ख्यया' इति किम् । पञ्च शूराः । अत्र समासो न भवति ॥

'सङ्ख्येये' इति किम् । अधिका विंशतिः ॥ २६ ॥

पूर्व सूत्र से जो समास होता है, वह मत्वर्थ में समझना चाहिये, और यहां मत्वर्थ नहीं, इसलिये पृथक् सूत्र किया है । ['अव्यया०'] अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, संख्या, ये जो शब्द हैं, वे ['सङ्ख्येये'] गणना करने अर्थ में वर्त्तमान जो ['सङ्ख्यया'] सङ्ख्या है, उस के साथ समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । अव्यय—उपदशाः । यहां उप

1. सा०—पृ० ३३ ॥
2. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
3. ५ । ४ । ७३ ॥

अव्यय का समास दश सङ्ख्या के साथ । आसन्न—आसन्नदशाः । यहाँ आसन्न-शब्द का समास । अदूर—अदूरदशाः । यहाँ अदूर-शब्द का समास । अधिक—अधिकदशाः । यहाँ अधिक-शब्द का समास । संख्या—द्विदशाः । और यहाँ संख्यावाची द्वि-शब्द का समास संख्यावाची दश-शब्द के साथ हुआ है । इन सब शब्दों का बहुव्रीहि समास होने से समासान्त डच्-प्रत्यय हुआ है ॥ २५ ॥

दिङ्नामान्यन्तराले[1] ॥ २६ ॥

दिङ्नामानि । १ । ३ । अन्तराले । ७ । १ । दिशां नामानि = दिङ्नामानि । अन्तराले वाच्ये दिङ्नामवाचीनि सुबन्तानि परस्परं समस्यन्ते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्चान्तराला दिग् = उत्तरपूर्वा । पूर्वदक्षिणा । दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा । अत्रान्तरालायाः प्रदिशो वाची समासार्थो भवति ॥

वा०—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः ॥[2]

वृत्तिमात्रे = समासमात्रे पूर्वपदस्य सर्वनाम्नः पुंवद्भाव इत्यर्थः ॥ २६ ॥

['दिङ्नामानि'] दिशाओं के नामवाची जो शब्द, वे ['अन्तराले'] अन्तराल अर्थ में परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । उत्तरपूर्वा दिक् । उत्तर और पूर्व के बीच में जो दिशा है, उस को उत्तरपूर्वा कहते हैं । समासार्थ उपदिशा का वाची होता है ॥

'सर्वनाम्नो०' समासमात्र में सर्वनामवाची पूर्व पद को पुंवद्भाव हो जावे । उत्तरपूर्वा । यहाँ उत्तर-शब्द को पुंवद् हुआ है । यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ २६ ॥

तत्र तेनेदमिति सरूपे[3] ॥ २७ ॥

तत्र । अ० । तेन । ३ । १ । इदम् । १ । १ । इति । अ० । सरूपे । १ । २ । 'तत्र' इति सप्तम्यन्तम् । 'तेन' इति तृतीयान्तम् । इदं-शब्दाद् इतिकरणः प्रयुज्यमानोऽन्यं कर्मव्यतिहारार्थं प्रत्याययति । सरूपे = समानरूपे द्वे पदे । 'तत्र' इति सप्तम्यन्ते सरूपे द्वे पदे 'तेन' इति तृतीयान्ते सरूपे द्वे पदे 'इदं' इति कर्मव्यतिहारेऽर्थे परस्परं समस्येते । बहुव्रीहिः स समासो भवति । हस्तेषु हस्तेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवर्त्तते = हस्ताहस्ति । केशेषु केशेषु = केशाकेशि । दन्तैश्च दन्तैश्च = दन्तादन्ति । मुष्टामुष्टि । नखानखि । दण्डादण्डि इत्यादिशब्देषु बहुव्रीहिसमासकरणाद् 'इच् कर्मव्यतिहारे[4] ॥' इति सूत्रेण समासान्त इच्-प्रत्ययः ।

---

१. सा०—पृ० ३१ ॥
२. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥
३. सा०—पृ० ३२ ॥ चा० श०—"तत्र गृहीत्वा तेन प्रहृत्य युद्धे सरूपम् ॥" (२ । २ । ४७)
४. ५ । ४ । १२७ ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादिजन्तस्याव्यय-सञ्ज्ञा[1]। 'अन्येषामपि दृश्यते[2] ॥' इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥

सरूप-ग्रहणं किमर्थम् । दण्डैर्मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम् । अत्र दण्डमुसलयो रूपभेदान् समासो न भवति ॥ २७ ॥

['तत्र'] तत्र नाम सप्तम्यन्त और ['तेन'] तेन नाम तृतीयान्त ['सरूपे'] तुल्य रूप वाले जो दो २ पद हैं, वे ['इदम्'] इदं अर्थात् कर्मव्यतिहार अर्थ में परस्पर समास को प्राप्त हों। यह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो। केशेषु केशेषु = केशाकेशि। यहां सप्तम्यन्त दो केश-शब्दों का समास। दण्डैश्च दण्डैश्च = दण्डादण्डि। और यहां तृतीयान्त दो दण्ड-शब्दों का परस्पर बहुव्रीहि समास हुआ है। इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास के होने से कर्मव्यतिहार अर्थ में समासान्त इच्-प्रत्यय[3] होता है। और इच्-प्रत्ययान्त जो शब्द हैं, वे तिष्ठद्गुप्रभृतिगण में होने से अव्यय-सञ्ज्ञक हो जाते हैं। तथा 'अन्येषामपि दृश्यते[2] ॥' इस सूत्र से यहां पूर्व पद को दीर्घ होता है ॥

सरूप-ग्रहण इसलिये है कि 'दण्डैश्च मुसलैश्चेदं युद्धं प्रवृत्तम्' दण्ड- और मुसल-शब्द स्वरूपभिन्न होने से समास नहीं हुआ ॥ २७ ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे[4] ॥ २८ ॥

तेन । ३ । १ । सह । अ० । इति । अ० । तुल्ययोगे । ७ । १ । सह = सम्बन्धि-पदस्य 'तेन' इति तृतीयान्तस्य चैकस्यां क्रियायां योगः = तुल्ययोगः, तस्मिन् । [तुल्ययोगे] 'सह' इत्यव्ययपदं 'तेन' इति तृतीयान्तेन पदेन सह समस्यते। बहुव्रीहिः स समासो भवति । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । पुत्रेण सहागतः = सपुत्रः । अत्रागमनक्रियायां द्वयोस्तुल्ययोगः । अत्र 'वोपसर्जनस्य[5] ॥' इति सह-शब्दस्य सकारादेशः । अत्र शिष्य-पुत्र-शब्दाभ्यां सह-शब्दस्य समासः ॥

'तुल्ययोगे' इति किम् । त्रिभिः पुत्रैः सह कार्याणि करोति । त्रिभिर्विद्यमानैः कार्याण्येक एव करोति [इत्यर्थः ।] अत्र क्रियायां तुल्ययोगाभावात् समासो न भवति ॥ २८ ॥

[इति बहुव्रीहिसमासाधिकारः ॥]

तुल्ययोग उस को कहते हैं कि एक क्रिया में योग होना। ['सह'] सह जो अव्यय है, वह ['तेन'] तृतीयान्त सुबन्त के साथ ['तुल्ययोगे' तुल्ययोग अर्थ में] समास को प्राप्त

---

१. २ । १ । ३६ ॥
२. ६ । ३ । १३७ ॥
३. ५ । ४ । १२७ ॥
४. द्रा०—पृ० ३४ ॥

महाभाष्य इदं सूत्रं "दिङ्नामान्यन्तराले ॥" (२।२।२६) "तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥" (२।२।२७) इत्यनयोर्मध्य उपलभ्यते ॥

५. ६ । ३ । ८२ ॥

हो । यह समास बहुव्रीहि-सञ्ज्ञक हो । शिष्येण सहागतः = सशिष्यः । यहां सह-शब्द का शिष्य-शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है । समास होने से सह-शब्द को स-आदेश हो गया ॥

तुल्ययोग-ग्रहण इसलिये है कि 'त्रिभिः पुत्रैः सह प्रवर्त्तते' यहां तुल्ययोग के न होने से पुत्र-शब्द के साथ सह-शब्द का समास नहीं हुआ ॥ २८ ॥

[यह बहुव्रीहि समास का अधिकार पूरा हुआ ॥]

[अथ द्वन्द्व-सञ्ज्ञासूत्रम्]

चार्थे द्वन्द्वः[1] ॥ २९ ॥

'अनेकम्' इत्यनुवर्त्तते । चार्थे । ७ । १ । द्वन्द्वः । १ । १ ॥

भा०—चेन कृतोऽर्थः चार्थ इति । कः पुनश्चेन कृतोऽर्थः । समुच्चयः, अन्वाचयः, इतरेतरयोगः, समाहार इति । समुच्चये[2]—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'न्यग्रोधश्च' इति । तथा 'न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षश्च' इति[3] । अन्वाचये[4]—'प्लक्षश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत्—सापेक्षोऽयं प्रयुज्यते [इति] । इतरेतरयोगे[5]—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते गम्यत एतत् 'प्लक्षोऽपि न्यग्रोधसहायो न्यग्रोधोऽपि प्लक्षसहायः' इति । (समाहारे—'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च' इत्युक्ते)[6] समाहारेऽपि क्रियते 'प्लक्षन्यग्रोधम्' इति । तत्रायमप्यर्थः—द्वन्द्वैकवद्भावो न पठितव्यो भवति । समाहारैकत्वात्[7] [एव] सिद्धम् ॥[8]

चार्थाश्चत्वारः, तत्र समुच्चय-अन्वाचययोरन्यपदस्य[आ][हा]रात् समासो न भवति । चार्थे वर्त्तमानमनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते । स समासो द्वन्द्व-सञ्ज्ञो भवति । इतरेतरयोगे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च = प्लक्षन्यग्रोधौ । परस्परं सहाया-

१. सा०—पृ० ४२ ॥ चा० श०—"चार्थे ।" (२ । २ । ४८) [नास्ति ॥

२. पाठान्तरम्—समुच्चयः ॥

३. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु—"तथा . इति" इति

४. पाठान्तरम्—अन्वाचयः ॥

५. पाठान्तरम्—इतरेतरयोगः ॥

६. कोष्ठान्तर्गतः पाठः केषुचिदपि महाभाष्यकोशेषु नोपलभ्यते ॥

७. पाठान्तरम्—समाहारस्यैक० ।

८. कोशेऽत्र "भा० १ [व्या०]" इत्युद्धरणस्थलम् ।

वित्यर्थः । समाहारे—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च=प्लक्षन्यग्रोधम् । समाहार एकत्वं भवति । 'द्वन्द्वैकवद्भावः' अर्थात् 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति' ॥[1] इति परिभाषा न कर्त्तव्या भवति । समाहारस्य द्वन्द्वसमासादेकत्वं भविष्यत्येव ॥ २९ ॥

चकार के चार अर्थ हैं—[१] समुच्चय, [२] अन्वाचय, [३] इतरेतरयोग और [४] समाहार । इन में से समुच्चय और अन्वाचय अर्थ में सापेक्ष पद के होने से एक पद का समास नहीं होता । ['चार्थे'] चकार के अर्थ में वर्त्तमान जो अनेक सुबन्त हैं, वे परस्पर समास को प्राप्त हों । वह समास ['द्वन्द्वः'] द्वन्द्व-सञ्ज्ञक हो । इतरेतरयोग—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च=प्लक्षन्यग्रोधौ । यहां प्लक्ष- और न्यग्रोध-शब्द का द्वन्द्व समास हुआ है । समा[हा]र—वाक् च त्वक् च स्त्रक् च=वाक्त्वक्स्त्रचम् । यहां द्वन्द्व समास के होने से समासान्त टच्-प्रत्यय हुआ है[2] । और समाहार के होने से एकवचन हो जाता है ॥ २९ ॥

उपसर्जनं पूर्वम्[3] ॥ ३० ॥

उपसर्जनम् । १ । १ । पूर्वम् । १ । १ । 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[4] ॥' इत्युपसर्जन-सञ्ज्ञा कृता । तस्याः समासप्रकरणस्यान्ते प्रयोजनमुच्यते । समासविधायकेषु सूत्रेषु प्रथमानिर्दिष्टं यदुपसर्जनं, तत् पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते[5] । 'द्वितीया' इति प्रथमानिर्दिष्टम् । कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः । कष्ट-शब्दस्य द्वितीयान्तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । तथा 'षष्ठी[6] ॥' इति प्रथमानिर्दिष्टम् । राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । षष्ठ्यन्तस्य राज-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवं सर्वत्र विज्ञेयम् ॥ ३० ॥

समास सूत्रों में प्रथमानिर्दिष्ट पद की उपसर्जन-सञ्ज्ञा पूर्व[4] कर चुके हैं । उस का प्रयोजन यहां समास प्रकरण के अन्त [में] दिखाया जाता है । ['उपसर्जनं'] उपसर्जन-सञ्ज्ञक जो पद है, उस का ['पूर्वं'] पूर्वप्रयोग करना चाहिये । जैसे श्रितादि शब्दों के साथ द्वितीयान्त का समास होता है, तो द्वितीया प्रथमानिर्दिष्ट है । इससे ['कष्टं श्रितः=] कष्टश्रितः' [यहां] द्वितीयान्त कष्ट-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ॥ ३० ॥

राजदन्तादिषु परम्[3] ॥ ३१ ॥

'उपसर्जनम्' इत्यनुवर्त्तते । पूर्वसूत्रेण पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगार्थं सूत्रमिदम् । राजदन्तादिषु । ७ । ३ । परम् । १ । १ । राजदन्तादिगणशब्देषूपसर्जन-

---

१. पा०, प०—सू० ३४ ॥

२. "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ॥" (५ । ४ । १०६)

३. सा०—पृ० ४४ ॥

४. १ । २ । ४३ ॥

५. "द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥" (२ । १ । २३)

६. २ । २ । ८ ॥

सञ्ज्ञं पदं परं प्रयोक्तव्यम् । दन्तानां राजा = राजदन्तः । वनस्याग्रे = अग्रेवणम् । अत्र दन्त-वन-शब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगो भवति ॥

अथ राजदन्तादिगणः—[१] राजदन्तः [२] अग्रेवणम्[1] [३] लिप्तवासितम्[2] [४] नग्नमुषितम्[3] [५] सिक्तसंमृष्टम्[4] [६] मृष्टलुञ्चितम्[5] [७] अवक्लिन्नपक्वम् [८] अर्पितोप्तम्[6] [९] उप्तगाढम्[7] [१०] उलूखलमुसलम्[8] [११] तण्डुलकिण्वम् [१२] दृषदुपलम्[9] [१३] आरग्वायनबन्धकी[10] [१४] चित्ररथबाह्लीकम्[11] [१५] अवन्त्यश्मकम्[12] [१६] शूद्रार्यम् [१७] स्नातकराजानौ[13] [१८] अक्षिभ्रुवम् [१९] दारगवम्[14] [२०] शब्दार्थौ

---

१. गण॰ म॰—"अत एव पाठात् सप्तम्या अलुक् । अव्ययीभावत्वाभावादव्ययीभावस्वात् । 'वनस्याग्रे = अग्रेवणम्' इत्येके । निपातनाण्णत्वम् ।" (२ । ७८)

२. गण॰ म॰—"पूर्वं वासितं = भावितं पश्चाल्लिप्तं = दिग्धं, लिप्तवासितम् । अनयोरेकशेषेण ['पूर्वकालैक॰ ॥' २ । १ । ४८] यथा—यल्लिप्तवासितमिव कुसरोऽञ्जवातैः ॥" (२ । ७८)

३. गण॰ म॰—"पूर्वं मुषितः पश्चान्नग्नः । यथा—चौरास नग्नमुषितेव हतेऽकृपेण ।" (२ । ८२)

४. काशिका-प्रक्रियाकौमुद्यादिषु—सिक्तसम्मृष्टम् ॥

गण॰ म॰—"पूर्वं सम्मृष्टं पश्चात् सिक्तम् । सिक्तसंमृष्टमित्यन्ये ।" (२ । ७९)

५. श्रीवर्धमानस्तु— "पूर्वं लुञ्चितं = अपनीतं पश्चात् मृष्टं = पक्वं, मृष्टलुञ्चितम् ।" (२ । ७८)

६. श्रीवर्धमानस्तु "अर्पितोप्तम्" इति । तद्व्याख्यानं च—"पूर्वमुप्तं = आतानवितानीकृतं पश्चादर्पितम् ।" (२ । ७८)

७. गण॰ म॰—"पूर्वं गाढं = अवलोडितं पश्चादुप्तम् । यथा—व्योमोप्तगाढमिव भानुमरीचिसस्यम् ।" (२ । ७९)

८. अतः पूर्वं काशिकायां—"पूर्वकालस्य परनिपातः ।"

गण॰ म॰—"उल्लूयन्ते इत्युलूः = धान्यानि । भावे [कर्मण्यात्यर्थैः] क्विप् । उलवः खल्यन्ते = सञ्चीयन्ते = प्रक्षिप्यन्ते इति उलूखलम् । तच्च मुसलं च ।" (२ । ८४)

९. गण॰ म॰—"अजाद्यदन्तद्वारेण ['अजाद्यदन्तम् ॥' २ । २ । ३३]" (२ । ८१)

न्यासकारस्तु—"प्रमादात्पाठोऽयं पाठो लक्ष्यते । अल्पाच्तरत्वात् दृषच्छब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः ।"

१०. श्रीविट्ठलाचार्यः—आरट्वायनिबान्धकम् ॥ श्रीवर्धमानस्तु "आरट्वायनिबान्धकि" इति । मतान्तरत्वेन च—"कश्चित् आरट्वायनिबन्धकीत्याह । पाणिनिस्तु आरट्वायनिबन्धकीत्याह ।" (२ । ८१)

११. काशिकायाम्—॰बाह्लीकम् ॥

गण॰ म॰—"चित्ररथबाह्लीकौ राजानौ । अल्पाच्तरत्वेन । पाणिनि-वामनमतेन । शाकटायनस्तु बह्लेऽस्यास्तीति बह्ली । बल्हिकः । सञ्ज्ञाश्रवणयोरित्यनेन के । चित्ररथबाह्लिकम् । भोजस्तु चित्ररथबाह्लिकौ अस्मिन् गणे पपाठ ।" (२ । ८५)

१२. काशिकायाम्—आवन्त्यश्मकम् ॥

गण॰ म॰—"अवन्तिर्नाम राजा जनपदो वा । अश्मका नाम [दक्षिणापथे] जनपदः [अपि च दृश्यतां बृहत्संहितायां १४ । १२]" (२ । ८२)

१३. अतः परं काशिकादिषु—विष्वक्सेनार्जुनौ ॥

१४. = दाराश्च गावश्च ॥

[२१] धर्मार्थौ [२२] कामार्थौ[1] [२३] अर्थशब्दौ[2] [२४] अर्थधर्मौ [२५] अर्थकामौ[3] [२६] वैकारि[म]तम्[4] [२७] गजवाजम्[5] [२८] गोपालधानीपूलासम्[6] [२९] पूलासककुरण्डम्[7] [३०] स्थूलपूलासम्[8] [३१] उशीरबीजम्[9] [३२] जिज्ञास्थि[10] [३३] स्वसिञ्जास्थम्[11] [३४] चित्रास्वाती [३५] भार्यापती[12] [३६] जायापती[13] [३७] जम्पती [३८] दम्पती[14] [३९] पुत्रपती [४०] पुत्रपशू[15] [४१] केशश्मश्रू[16] [४२] श्मश्रुकेशौ[17]

---

१. काशिकायामतः परम्—"अनियमश्चात्रेष्यते।"

२. म०कौ०टीकायां २१–२५ शब्दा न सन्ति ॥

३. काशिकायामतः परम्—"तत्कथं वक्ष्यामि- दम्। 'धर्मादिषूभयम् ॥' इति ॥"

४. गण० म०—"विकारस्यापत्य = वैकारि:। मत च मतश्च। शाकटायनस्तु 'वैकारिमतं = वैकारिमत। गाजयतीति गाजः, वाजयतीति वाजः। गाजस्य वाजः = गाजवाजः। वैकारिमतश्च गाजवाजश्च = वैकारिमतगाजवाजम्।' इत्याह ॥" (२ । ८२)

५. श्रीबोटलिङ्कः—"गोजवाजम् (गाजवाजम्)" विट्ठलाचार्यः—गाजवाजम् ॥

गण० म०—"गाजश्च वाजश्च = गाजवा- जम्। अन्यस्तु—गजानां समूहः = गाजं, वाजि- नां समूहः = वाजम्। गाजं च वाजं चेति गाज- वाजम्। तदन्ययस्तु गणपाठादेव न भवतीत्याह। अनियमपक्षे वाज-शब्दस्यैव परनिपातः।"(२।८२)

६. श्रीविट्ठलः—गोपालिधानपूलासम् ॥

गण० म०—"गौपालिः [=गोपालस्यापत्यं] धीयते यस्मिन्, तद् गौपालिधानम्। ग्रामोऽस्यस्थान वा। पूलानस्यतीति पूलासः। गौपालिधानञ्च पूलासश्च = गौपालिधानपूलासम्।" (२।८२)

७. काशिकायाम्—०ककरण्डम् ॥

श्रीविट्ठलः—पूलासकुरण्टकम् ॥ [पठति ॥ श्रीबोटलिङ्कः "पूलासककरण्डम्" इति पाठान्तरत्वेन श्रीवर्धमानः "पूलासकुरण्डम्" इति पठित्वा मतान्तरमाह—"शाकटायनस्तु 'कुरण्डानां स्थलं = कुरण्डस्थलम्। कुरण्डस्थलञ्च पूलासश्च = कुरण्डस्थलपूलासम्' इत्युवाच।" (२।८३)

८. म०कौ०टीकायां पाठान्तरम्—०मूलासम् ॥

९. गण० म०—"उशीरस्य बीजम्। शाकटाय- नस्तु—उशीरं बीजं यस्मिन्। उशीरबीजो नाम पर्वतः। सिञ्जायां तिष्ठतीति सिञ्जास्थः पर्वतः। उशीरबीजश्च सिञ्जास्थश्च = उशीरबीजसिञ्जा- स्थम्।" (२।८३)

१०. काशिका-म०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥

११. काशिकायाम्—सिञ्जास्थम् ॥ (गण० म०— "सिञ्जनं = सिञ्जा। आस्थानं = आस्था। सिञ्जा चास्था च। अनानियमे प्राप्ते नियमः।" २।८३)

श्रीविट्ठलः—शिञ्जास्थम् ॥

बोटलिङ्कः—सिञ्जाश्वत्थम् ॥ [परं पठ्यते ॥

१२. म०कौ०टीकायामस्य शब्दः "दम्पती" इत्यतः

१३. म०कौ०टीकायां नास्ति ॥

श्रीबोटलिङ्कः ३६–३८ शब्दान् "दम्पती, जम्पती, जायापती" इति क्रमेण पठति ॥

१४. अतः परं काशिकायाम्—"जाया-शब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते।" [भिन्नेरेते।"(६।४) काठकसंहितायां च—"अग्निहोत्रे वै जायम्पती व्य-

१५. काशिकायाम्—०पशु ॥

म०कौ०टीकायां नास्ति ॥

१६. काशिका-म०कौ०टीकादिषु—०श्मश्रु ॥

गण० म०—"केशाश्च श्मश्रु च = केशश्म- श्रु। 'केशश्मश्रू' इति भोजः। स्त्रीलिङ्गपुंल्लिङ्गस्वरेण ['द्वन्द्वे घि ॥' २। २। ३२]" (२।८३)

१७. विट्ठल-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

[४३] शिरोबिजम्[1] [४४] शिरोबीजम्[2] [४५] शिरोजानु[3] [४६] सर्पिर्मधुनी [४७] मधुसर्पिषी [४८] आद्यन्तौ [४९] अन्तादी [५०] गुणवृद्धी [५१] वृद्धिगुणौ[4]—इति[5] राजदन्तादिगणः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र से पूर्वनिपात प्राप्त था इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है । ['राजदन्तादिषु'] राजदन्त आदि गणशब्दों में उपसर्जन-सञ्ज्ञक शब्दों का ['परम्'] परप्रयोग करना चाहिये । दन्तानां राजा=राजदन्तः । यहां दन्त-शब्द का पूर्वप्रयोग प्राप्त था । इस सूत्र से परप्रयोग होता है ॥

राजदन्तादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ३१ ॥

द्वन्द्वे घि[6] ॥ ३२ ॥

'उपसर्जनं पूर्वम्' इति सर्वमनुवर्त्तते । द्वन्द्वे । ७ । १ । घि । [१ । १ ।] 'घि' इति सञ्ज्ञानिर्देशः । ह्रस्वेकारान्तोकारान्तशब्दानां घि-सञ्ज्ञा कृता[7] । द्वन्द्वसमासे घि-सञ्ज्ञस्य पूर्वनिपातो भवति । अग्निवातौ । अग्निमरुतौ । वायुसूर्यौ । पटुवीरौ । अत्र द्वन्द्वसमासे घि-सञ्ज्ञस्यैव पूर्वनिपातः ॥

'द्वन्द्वे' इति किम् । पूर्ववायुः । अत्र षष्ठीतत्पुरुषे घि-सञ्ज्ञकस्य पूर्वनिपातो न भवति ॥ ३२ ॥

ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की पूर्व[7] घि-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में ['घि'] घि-सञ्ज्ञक शब्द का पूर्वप्रयोग होना चाहिये । अग्निवातौ । यहां अग्नि-शब्द की घि-सञ्ज्ञा है । उसी का पूर्वप्रयोग हुआ ॥

द्वन्द्व-ग्रहण इसलिये है कि 'पूर्ववायुः' यहां षष्ठी तत्पुरुष समास में घि-सञ्ज्ञक वायु-शब्द का पूर्वनिपात नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

अजाद्यदन्तम्[8] ॥ ३३ ॥

---

१. काशिकादिषु नोपलभ्यते ॥

२. भिदुलः—०बिजु ॥

वर्धमानश्च—"शिरश्च बिजुश्च = शिरोबिजु । बिजुः=ग्रीवा स्कन्धो वा । असंहितुद्धारेण ।" (२ । ८०)

३. काशिका-प्र०को०टीकयोर्नास्ति ॥

४. अतः परं बोटलिङ्कः—"Bei Doppelformen ist die eine die regelmässige."

५. आकृतिगणोऽयम् ॥

गणरत्नमहोदधौ "परःशताः, नृपरः, कुरुश्रेष्ठः, उत्तमर्णः, अधमर्णः, परःसहस्राः, अज्ञातपसी, अपरोष्ठम्, मेधातपसी, दीक्षातपसी, अर्धेन्द्रौ, इन्द्राग्नी, अर्कचन्द्रौ, चन्द्रार्कौ, ग्रीष्मवसन्तौ, वसन्तग्रीष्मौ, कुशकाशम्, काशकुशम्, तपःश्रुते, श्रुततपसी, शकुन्मूत्रम्, मूत्रशकृत्, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयपाणिनीयाः" इत्यादयः शब्दा अधिकाः ॥

६. सा०—पृ० ४४ ॥

७. १ । ४ । ७ ॥

८. सा०—पृ० ४५ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । अजाद्यदन्तम् । १ । १ । अजादि चादोऽदन्तं = अजाद्यदन्तं पदम् । द्वन्द्वसमासे अजाद्यदन्तं पदं पूर्वं प्रयुक्तं भवति । उष्ट्रश्च वृषश्च = उष्ट्रवृषौ । अश्वसिंहौ । 'द्वन्द्वे घि[1]' इत्यस्य प्राप्तावप्यजाद्यदन्तं भवति विप्रतिषेधेन । इन्द्राग्नी[2] । इन्द्रवायू । अत्रेन्द्र-शब्दोऽजादिरदन्तश्च, तस्यैव पूर्वनिपातो भवति । एवमन्यत्रापि ॥ ३३ ॥

['अजाद्यदन्तम्'] अच् जिस के आदि में [और] अकार जिस का अन्त हो, ऐसा जो पद है, वह द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयुक्त करना चाहिये । अश्वसिंहौ । उष्ट्रव्याघ्रौ । इभवृषौ । यहां अजादि अदन्त अश्व-, उष्ट्र- और इभ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । पूर्व सूत्र की प्राप्ति में भी अजादि अदन्त धर्म वाला पद पूर्व प्रयुक्त होता है, क्योंकि दो कार्यों की प्राप्ति में विप्रतिषेध के होने से पर को कार्य होता है । इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू । यहां अग्नि- और वायु-शब्द की घिसञ्ज्ञा है, और इन्द्र-शब्द अजादि अदन्त है, सो परविप्रतिषेध के होने से इन्द्र-शब्द का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग किया जाता है ॥ ३३ ॥

अल्पाच्तरम् ॥ ३४ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । अल्पश्चासावच् = अल्पाच् । अतिशयेनाल्पाच् = अल्पाच्तरम् । द्वन्द्वसमासेऽल्पाच्तरं पदं पूर्वं प्रयोज्यम् । प्लक्षन्यग्रोधौ । कुशकाशौ । अत्राल्पाच्त्वात् प्लक्ष-शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

तरप्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—कुश-काश-शब्दयोर्द्वौ द्वावचौ, काश-शब्द एकमात्राऽधिकास्ति । तत्रापि मात्रान्यूनस्य कुश-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात् ॥

अथ वार्त्तिकानि—

अनेकस्य प्राप्तावेकस्य नियमोऽनियमः शेषेषु ॥[3][4] १ ॥

अनेकस्य पदस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्य पदस्य नियमो भवति, शेषाणां पदानामनियमः । पटु-मृदु-शुक्लाः । पटु-शुक्ल-मृदवः । अत्र पटु-शब्दस्य पूर्वं प्रयोगः स्यादिति नियमः । अन्येषां मध्ये वा स्याद्, अन्ते वेति नियमाभावः ॥ १ ॥

ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणाम् ॥[4] २ ॥

समानाक्षराणामृतूनां समानाक्षराणां नक्षत्राणां च क्रमेण पूर्वनिपातो भवति । हेमन्तशिशिरौ । शिशिरवसन्तौ । समानाक्षराणामिति किम् । ग्रीष्मवसन्तौ ।

---

१. २ । २ । ३२ ॥

२. वाजसनेयिसंहितायां तु "अग्नीन्द्रौ" इत्यपि—"उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥" (७।३२)

३. पाठान्तरम्—अनेकप्राप्ता० ॥

४. अ० २ । पा० २ । आ० ३ ॥

अल्पाच्तरम् ॥ ३४ ॥

'द्वन्द्वे' इत्यनुवर्त्तते । अल्पश्चासावच्=अल्पाच् । अतिशयेनाल्पाच्=अल्पाच्तरम् । द्वन्द्व-समासेऽल्पाच्तरं पदं पूर्वं प्रयोज्यम् । प्लक्षन्यग्रोधौ । कुशकाशौ । अत्राल्पाच्त्वात् प्लक्ष-शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति ॥

तरप्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—कुश-काश-शब्दयोर्द्वौ द्वावचौ, काश-शब्द एकमात्राऽधिकोऽस्ति । तत्रापि मात्रान्यूनस्य कुश-शब्दस्यैव पूर्वनिपातो यथा स्यात् ॥

अथ वार्त्तिकानि—

अनेकस्य प्राप्तावेकस्य नियमोऽनियमः शेषेषु ॥[1] १ ॥

अनेकस्य पदस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते एकस्य पदस्य नियमो भवति, शेषाणां पदानामनियमः । पटु-मृदु-शुक्लाः । पटु-शुक्ल-मृदव । अत्र पटु-शब्दस्य पूर्वं प्रयोगः स्यादिति नियमः । अन्येषां मध्ये वा स्यादन्ते वेति नियमाभावः ॥ १ ॥

ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणाम् ॥[2] २ ॥

समानाक्षराणामृतूनां समानाक्षराणां नक्षत्राणां च क्रमेण पूर्वनिपातो भवति । हेमन्तशिशिरौ । शिशिरवसन्तौ । समानाक्षराणामिति किम् । ग्रीष्मवसन्तौ । अत्र वसन्त-शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति । नक्षत्राणाम्—चित्रास्वाती । कृत्तिकारोहिण्यः । समानाक्षराणामिति किम् । पुष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसू । अत्र पुनर्वसु शब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति ॥ २ ॥

अभ्यर्हितं च[3] ॥[2] ३ ॥

अभितः=सर्वतः अर्हितं=पूजितं यत् तद् द्वन्द्वसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मातापितरौ । श्वश्रूश्वशुरौ । श्रद्धामेधे । पित्रपेक्षया माताऽधिकतया सेव्याऽस्ति ॥ ३ ॥

लघ्वक्षरम् ॥[2] ४ ॥

दीर्घाक्षरपदानामपेक्षया लघ्वक्षरं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कुशकाशम् । शरचापम् ॥ ४ ॥

अपर आह—सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् । लघ्वक्षरादपीति ॥[2] ५ ॥

दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । तपसः फले दीक्षा-श्रद्धे, तस्माच्छ्रेष्ठे ॥ ५ ॥

वर्णानामानुपूर्व्येण ॥[2] ६ ॥

ब्राह्मणादिवर्णानामनुक्रमेण[4] पूर्वनिपातो भवति । ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः ॥ ६ ॥

भ्रातुश्च ज्यायसः ॥[2] ७ ॥

---

१. पाठान्तरम्—अनेकप्राप्ता० ॥ २. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

३. पाठान्तरम्—अभ्यर्हितम् ॥

४. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥" (ऋ० १० । ९० । १२) इति वर्णानामानुपूर्व्यम् ॥

ज्येष्ठस्य भ्रातुः पूर्वं प्रयोगो भवति । युधिष्ठिरार्जुनौ । रामलक्ष्मणौ । भरतशत्रुघ्नौ । अत्र युधिष्ठिरादिज्येष्ठभ्रातॄणां पूर्वप्रयोगः ॥ ७ ॥

सङ्ख्याया अल्पीयसः ॥[1] ८ ॥

अल्पार्थवाचिकायाः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातो भवति[2] । एकादशद्वादशम् । त्रयोदश-चतुर्दशम् । अत्र न्यूनार्थवाचिन एकादश-शब्दस्य [त्रयोदश-शब्दस्य च] पूर्वनिपातः ॥ ८ ॥

धर्मादिषूभयम् ॥[1] ९ ॥

धर्मादिशब्देषु द्वयोर्यथेच्छं पूर्वनिपातो भवति । धर्मार्थौ । अर्थधर्मौ । कामार्थौ । अर्थकामौ । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । आद्यन्तौ । अन्तादी ॥ ९ ॥ ३४ ॥

['अल्पाच्तरम्'] थोड़े अच् वाला जो पद है, उस का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग करना चाहिये । प्लक्षन्यग्रोधौ । यहां प्लक्ष शब्द में दो स्वर और न्यग्रोध शब्द में तीन स्वर हैं । इस[से] प्लक्ष शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥

यहां से वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'अनेकस्य०' द्वन्द्व समास में अनेक पदों का पूर्वनिपात प्राप्त हो वहां एक पद का तो पूर्व होने का नियम हो जाय और अन्य पदों का नियम नहीं । अन्य पद मध्य वा अन्त में हो, वा अन्त वा मध्य में, कुछ नियम नहीं । [जैसे—पटुमृदुशुक्लाः । यहां पटु-शब्द के पूर्वनिपात का नियम करके मृदु और शुक्ल का अनियम करने से 'पटुशुक्लमृदवः' यह दूसरा प्रयोग बनता है ॥] १ ॥

'ऋतुनक्षत्राणां०' बराबर अक्षर वाले ऋतुवाची और नक्षत्रवाची शब्दों का द्वन्द्व समास में क्रम से पूर्वप्रयोग करना चाहिये । ऋतुवाची—शिशिरवसन्तौ । यहां तीन तीन अक्षर वाले शिशिर-वसन्त-शब्दों में शिशिर शब्द का पूर्वप्रयोग होता है । समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रीष्म-वसन्तौ' यहां वसन्त शब्द का पूर्वप्रयोग न हो । नक्षत्रवाची—कृत्तिकारोहिण्यः । चित्रास्वाती । यहां बराबर अक्षरों वाले नक्षत्रों का क्रम से पूर्वनिपात होता है । समानाक्षर-ग्रहण इसलिये है कि 'पुष्यपुनर्वसू' यहां पुनर्वसु शब्द का पूर्वनिपात न हो ॥ २ ॥

'अभ्यर्हितं च ॥' सब प्रकार जो पूजनीय है, उस पद का द्वन्द्व समास में पूर्वप्रयोग हो । मातापितरौ । पिता की अपेक्षा में माता अत्यन्त सेवा करने योग्य है । इससे उस का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ३ ॥

'लघ्वक्षरम् ॥' दो पदों में से ह्रस्व अक्षर वाला पद पूर्व होना चाहिये । शरचापौ । यहां शर-शब्द ह्रस्व अक्षर वाला है । उसी का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ४ ॥

'सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥' किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत है कि सब सूत्र वार्त्तिकों की अपेक्षा में अभ्यर्हित अर्थात् जो सब से श्रेष्ठ हो, उसी का पूर्वप्रयोग हो । दीक्षातपसी । यहां तपस्-शब्द अल्पाच्तर भी है, परन्तु श्रेष्ठ होने से दीक्षा-शब्द का ही पूर्वप्रयोग होता है ॥ ५ ॥

---

१. अ० २ । पा० २ । आ० २ ॥

२. "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥" (१ । ४ । २२) इति तु लौकी निर्देशः ॥

'वर्णानामानुपूर्व्येण ॥' ब्राह्मण आदि वर्णों का क्रम से पूर्वप्रयोग होना अर्थात् जो जिस से पूर्व हो उस का उस से पूर्वनिपात समझना चाहिये। ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः। ब्राह्मण शब्द का सब से पूर्व प्रयोग, विट्=वैश्य से पूर्व क्षत्रिय और शूद्र से पूर्व विट्-शब्द का प्रयोग क्रम से होता है ॥ ६ ॥

'भ्रातुश्च ज्यायसः ॥' ज्येष्ठ भाई का वाची जो शब्द हो, उस का पूर्वप्रयोग हो। रामलक्ष्मणौ। युधिष्ठिरार्जुनौ। यहां राम और युधिष्ठिर ज्येष्ठ थे। उन्हीं का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ७ ॥

'सङ्ख्याया अल्पीयसः ॥' थोड़े अर्थ की वाची जो सङ्ख्या है, उस का पूर्वप्रयोग हो। एकादशद्वादशम्। यहां थोड़े के वाची एकादश शब्द का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ८ ॥

'धर्मादिषूभयम् ॥' धर्मादि शब्दों में उलट फेर दोनों का पूर्वप्रयोग हो। धर्मार्थौ। अर्थधर्मौ। यहां धर्म और अर्थ दोनों का पूर्वप्रयोग होता है ॥ ९ ॥ ३४ ॥

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ[1] ॥ ३५ ॥

बहुव्रीहिसमासे सर्वयोरुपसर्जन-सञ्ज्ञा, तत्र नियमाभावेऽनेन सूत्रेण नियमः क्रियते। 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम्। 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यनुवर्त्तते। सप्तमी-विशेषणे। १। २। बहुव्रीहौ। ७। १। बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं पदं विशेषणवाचि च यत् पदं, तत् पूर्वं निपतति। कण्ठेकालः। अत्र सप्तम्यन्तस्य कण्ठ-शब्दस्य पूर्वनिपातः। '**घकालतनेषु कालनाम्नः**[2] ॥' इति सप्तम्या अलुक्। विशेषणम्—बहुधनः। विद्याधनः। अत्र बहु-शब्दस्य विद्याशब्दस्य च विशेषणत्वात् पूर्वप्रयोगो भवति ॥

वा०—बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम् ॥ १ ॥

विश्वदेवः।[3] विश्वयशाः। द्विपुत्रः। द्विभार्य्यः[4] ॥[5]

अत्र सर्वनाम्नः सङ्ख्याशब्दस्य च विशेष्यत्वात् पूर्वप्रयोगः सूत्रेण न प्राप्तः, तदर्थं वचनम् ॥ १ ॥

वा प्रियस्य ॥[5] २ ॥

प्रिय-शब्दस्य विशेषणवाचित्वात् सूत्रेण नित्ये पूर्वप्रयोगे प्राप्ते विकल्पः क्रियते। प्रियशब्दस्य विकल्पेन पूर्वनिपातो भवति। प्रियगुडः। गुडप्रियः ॥ २ ॥

सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम् ॥[5] ३ ॥

---

१. सा०—सू० ४२ ॥ २. ६।३।१७ ॥

३. अत्र विश्वस्य विशेष्यत्वम्—विश्वं देवो यस्य इति ॥

४. कैयटस्त्वाह—"द्विपुत्रः [द्विभार्यः] इति दिक्प्रदर्शनमेतत्। अत्र हि विशेषणत्वादेव सिद्धः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातः। तस्माद् 'द्विशुक्लः' इत्याद्युदाहरणम्।"

अथात्र नागेशः—"पुत्र-भार्या-शब्दावपि गुणवचनाविति भाष्याशयः। जन्यपुंस्त्वधर्मभोग्यस्त्रीत्वयोर्गुणत्वादित्यन्ये।"

५. अ० २। पा० २। आ० २ ॥

'सप्तमीविशेषणे०'॥[1] इति सूत्रेण सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते वार्त्तिकारम्भः। गड्वादिभ्यः परेभ्यः सप्तम्यन्तं पदं परं प्रयोक्तव्यम्। गडुकण्ठः। गडुशिराः। अत्र कण्ठ-शिरस्-शब्दयोः परनिपातो भवति॥ [३॥] ३५॥

बहुव्रीहि-समास में सब पदों की उपसर्जन सञ्ज्ञा होने से पूर्वप्रयोग का कुछ नियम नहीं था, इसलिये यह सूत्र पढ़ा है। ['बहुव्रीहौ'] बहुव्रीहि समास में ['सप्तमी-विशेषणे'] सप्तम्यन्त और विशेषणवाची जो पद हैं, उन का पूर्वप्रयोग होना चाहिये। सप्तम्यन्त—कण्ठेकालः। यहां सप्तम्यन्त कण्ठ-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है। और षष्ठाध्याय के सूत्र[2] से कण्ठ शब्द की सप्तमी का अलुक् हो जाता है। विशेषण—बहुधनः। यहां विशेषणवाची बहु-शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ॥

वार्त्तिकों के अर्थ—

'बहुव्रीहौ सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्॥' बहुव्रीहि समास में सर्वनामवाची और सङ्ख्यावाची जो शब्द हैं, उन का पूर्वप्रयोग हो। सर्वनाम—विश्वदेवः। विश्वयशाः। यहां सर्वनामवाची विश्व-शब्द का पूर्वप्रयोग होता है। सङ्ख्या—द्विपुत्रः। द्विभार्यः। यहां सङ्ख्यावाची द्वि-शब्द का पूर्वनिपात हुआ है॥ १॥

'वा प्रियस्य॥' प्रिय-शब्द के विशेषणवाची होने से पूर्व सूत्र से नित्य पूर्वप्रयोग प्राप्त था, इस वार्त्तिक से उस का विकल्प करते हैं। प्रिय-शब्द का पूर्वनिपात विकल्प करके हो। प्रियगुडः। गुडप्रियः। यहां प्रिय-शब्द विकल्प से पूर्व होता है॥ २॥

'सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम्॥' सप्तम्यन्त शब्द का पूर्वनिपात सूत्र से होता है। उस में गडु आदि शब्दों का पूर्वप्रयोग हो। कण्ठे गडुर्=गडुकण्ठः। गडुशिराः। यहां सप्तम्यन्त कण्ठ-और शिरस्-शब्द का परप्रयोग होता है॥ [३॥] ३५॥

निष्ठा[3]॥ ३६॥

'बहुव्रीहौ' इत्यनुवर्त्तते। बहुव्रीहिसमासे निष्ठान्तं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। कृतकटः। भुक्तौदनः। पठितविद्यः। कृतकर्म इत्यादिप्रयोगेषु निष्ठान्तस्य पूर्वं निपातो भवति॥

वा०—*निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्*॥[4] १॥

जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिशब्देभ्यश्च परं निष्ठाप्रत्ययान्तं पदं प्रयोक्तव्यम्। जाति—शार्ङ्गभक्षिणी। पलाण्डुभक्षिणी। काल—मासजाता। संवत्सरजाता। सुखादि—सुखजाता। दुःखजाता। अत्र जात्यादिभ्यः परं निष्ठान्तं प्रयुज्यते॥ १॥

प्रहरणार्थेभ्यश्च॥[4] २॥

चकारग्रहणात् 'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते। प्रहरणवाचिभ्यः परेभ्यः परं निष्ठान्तं सप्तम्यन्तं च पदं प्रयोक्तव्यम्। [निष्ठान्तं—] अस्युद्यतः। मुसलोद्यतः। सप्तम्यन्तं—पाणावसिरस्य=असिपाणिः। दण्डपाणिः। सूत्रेण प्राप्तं सप्तम्यन्तं निष्ठान्तं च पदं पूर्वं, अनेन परं प्रयुज्यते॥ [२॥] ३६॥

१. २।२।३५॥
२. 'घकालतनेषु कालनाम्नः॥' (६।३।१७)
३. वा०—पृ० ४२॥
४. अ० २। पा० २। आ० २॥

बहुव्रीहि समास में [निष्ठा] निष्ठा-प्रत्ययान्त जो पद है, उस का पूर्वप्रयोग करना चाहिये । पठितविद्यः । कृतकर्मः । इत्यादि प्रयोगों में निष्ठान्त का पूर्वनिपात होता है ।।

वार्त्तिकों के अर्थ—

'निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥' निष्ठा प्रत्ययान्त जो पद है, उस का जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से परप्रयोग हो । जाति—पलाण्डुभक्षिती । पलाण्डु कहते हैं प्याज़ को, सो यह जाति है । उस से पर भक्षिती निष्ठान्त का प्रयोग होता है । कालवाची—मासजाता । संवत्सरजाता । यहां मास और संवत्सर कालवाची शब्दों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है । सुखादि—सुखजाता । दुःखजाता । यहां सुखादिकों से पर निष्ठान्त का प्रयोग है ॥ १ ॥

'प्रहरणार्थेभ्यश्च ॥' शस्त्रवाची शब्दों से पर निष्ठान्त और सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग होना चाहिये । अस्युद्यतः । यहां तलवार का वाची असि-शब्द है, उस से पर निष्ठान्त का प्रयोग है । असिपाणिः । और यहां असि-शब्द से पर सप्तम्यन्त का प्रयोग है ॥ ३६ ॥

वाऽऽहिताग्न्यादिषु[1] ॥ ३७ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण निष्ठान्तस्य नित्ये पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते । वा । [अ० ।] आहिताग्न्यादिषु । ७ । ३ । आहिताग्न्यादिगणशब्देषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो विकल्पेन भवति । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । जातपुत्रः । पुत्रजातः । एवं सर्वेषां गणशब्दानां रूपद्वयं भवति ॥

अथाहिताग्न्यादिगणः—[१] आहिताग्निः [२] पुत्रजातः[2] [३] दन्तजातः[3] [४] जातश्मश्रुः [५] तैलपीतः [६] घृतपीतः [७] मद्यपीतः[4] [८] ऊढभार्यः [९] गतार्थः—इत्याहिताग्न्यादिगणः[5] ॥ ३७ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से निष्ठान्त का नित्य पूर्वनिपात प्राप्त था । इस सूत्र से विकल्प किया है । ['आहिताग्न्यादिषु'] आहिताग्न्यादि गणशब्दों में निष्ठा प्रत्ययान्त का पूर्वप्रयोग ['वा'] विकल्प करके हो । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो दो प्रयोग होते हैं ॥

आहिताग्न्यादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है ॥ ३७ ॥

१. अ०—पृ० ४१ ॥
२. पाठान्तरम्—जातपुत्रः ॥
३. पाठान्तरम्—जातदन्तः ॥
४. काशिकायां नास्ति ॥
५. विट्ठलोद्धृते गणपाठे कश्चिद्भेदो न लक्ष्यते ॥ काशिकादिषु—आकृतिगणश्चायम् ॥

गण० म०—"प्रिय-शब्दस्य केवलस्येह ('आहिताग्नि गतार्थ ऊढभार्य पीतघृत-प्रियाः' इत्यत्र) उपदेशादुत्तरपदमनियतम् । तेन प्रियगुडः, गुडप्रियः । प्रियविश्वः, विश्वप्रियः । प्रियद्विः, द्विप्रियः । एतेन त्वाहिताग्न्यादयो गणाधीता एव ग्राह्या नाधिकप्रयोगाः । तत्राहितवसुरित्यादौ यथाप्राप्तं स्यान्न विकल्पः ॥"
(२ । ६०)

कडाराः कर्मधारये ॥ ३८ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तते । कडाराः । १ । ३ । कर्मधारये । ७ । १ । कर्मधारये=समानाधिकरणतत्पुरुषसमासे कडारादयो गणशब्दा विकल्पेन पूर्वं प्रयुक्ता भवन्ति । कडारशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यकडारः । गडुलशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यगडुलः । एवं सर्वत्र । 'कडाराः' इति बहुवचननिर्देशात् 'कडारादयः' इति प्रतीयते ॥

अथ गणः—[१] कडार [२] गडुल [३] खण्ड[1] [४] काण [५] खञ्ज [६] कुण्ठ[2] [७] खञ्जर[3] [८] खलति [९] गौर [१०] वृद्ध[4] [११] भिक्षुक [१२] पिङ्ग[5] [१३] पिङ्गल [१४] जठर[6] [१५] तनु [१६] बधिर [१७] मठर [१८] कुब्ज[7] [१९] बटर[8]—इति कडारादिगणः ॥ ३८ ॥

इत्येकसञ्ज्ञाधिकारः समासाधिकारश्च सम्पूर्णः ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष समास की कर्मधारय-सञ्ज्ञा की है । उस ['कर्मधारये'] कर्मधारय समास में ['कडाराः'] कडारादि जो गणशब्द हैं, उन का विकल्प करके पूर्वप्रयोग हो । कडारशाण्डिल्यः । शाण्डिल्यकडारः । इसी प्रकार गण के सब शब्दों के दो दो प्रयोग बनते हैं ॥

कडारादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है ॥ ३८ ॥

यह एकसञ्ज्ञा का अधिकार और समास का अधिकार पूरा हुआ ॥

तथा द्वितीयाध्याय का द्वितीय पाद भी समाप्त हुआ ॥

---

१. काशिका-प्र० कौ० टीका शब्दकौस्तुभेषु नोपलभ्यते ॥
बोटलिङ्कस्तु ३—५ शब्दान् "लञ्ज, लोड, काण" इत्येवं पठति ॥
२. शब्दकौस्तुभे—कुण्ड ॥
३. बोटलिङ्कः खञ्जर शब्दं खञ्ज शब्दस्य पाठान्तरं मन्यते ॥
प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोः—लोड ॥
४. शब्दकौस्तुभे—वृद्ध ॥
५. काशिका प्र० कौ० टीकयोर्नास्ति ॥
६. काशिकायां १४, १६—१८ इति पञ्चापि शब्दा न सन्ति ॥
भट्टोजि-बोटलिङ्कौ—तनु, जठर ॥ प्र० कौ० टीकायां "जठर" इति नास्ति ॥
७. शब्दकौस्तुभे—कुब्ज ॥ अतः परं विट्ठल-भट्टोजि-बोटलिङ्काः —बर्बर ॥
८. प्र० कौ० टीका-शब्दकौस्तुभयोर्नास्ति ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

अथातो विभक्तिविधानप्रकरणम् ॥

अनभिहिते[1] ॥ १ ॥

अनभिहिते । ७ । १ । अभिधीयते प्रत्ययो यस्मिन्, तत् कर्त्रादिकारकम् । अर्थाद् यस्मिन् कारके प्रत्ययो भवति, तद् अभिहितम् । न अभिहितं=अनभिहितं, तस्मिन् । 'अनभिहिते' इत्यधिकारो वेदितव्यः । अतो यद् विभक्तिविधानं भविष्यति, अनभिहिते कारके तद् बोध्यम् । 'अनुक्ते, अनभिहिते, अनिर्दिष्टे' इति पर्यायशब्दाः ॥ १ ॥

जिस में प्रत्यय विधान किया जाय, वह कारक अभिहित होता है और जिस में प्रत्यय विधान न हो, उस को अनभिहित कहते हैं । 'अनभिहिते' यह इस पाद के अन्त तक अधिकार किया है । यहां से आगे जो विभक्ति विधान करेंगे, वह अनभिहित कारक [में] होगी ॥ १ ॥

कर्मणि द्वितीया[2] ॥ २ ॥

'अनभिहिते' इत्यनुवर्तते । कर्मणि । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म**[3] ॥' इति कर्म-सञ्ज्ञा कृता, तस्या इदानीं फलं दर्शयति । अनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति । द्वितीया-शब्देन विभक्तेरत्र ग्रहणम् । ओदनं पचति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । शरीरं पश्यति । अत्र सर्वत्र कर्मणि कारके द्वितीया विधीयते ॥

'अनभिहिते' इति किम् । ओदनः पच्यते । कटः क्रियते । अत्र कर्मणि प्रत्ययः, स चाभिहितः, तस्माद् द्वितीया न भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

'समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम्' ॥[4] *१ ॥*

'समया, निकषा, हा' इति त्रयाणामव्ययानां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । समया— समया ग्रामम् । [निकषा—] निकषा ग्रामम् । [हा—] हा देवदत्तम् ॥ १ ॥

अपर आह—द्वितीयाभिधाने[6]ऽभितः-परितः-समया-निकषा-अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥ २ ॥

अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । धिग् जाल्मम् ॥[5]

१. कार०—सू० ६ ॥ २. कार०—सू० ७ ॥ ३. १ । ४ । ४६ ॥
४. पा० शा०—"समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणायुक्तात् ॥" (२ । १ । ५०)
५. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥ ६. पाठान्तरम्—०विधाने ॥

समया-निकषा-शब्दयो पूर्वे उदाहरणे ॥ २ ॥

अपर आह—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते[1] ॥ ३[2] ॥

'उभ[3]', सर्व' इत्येताभ्यां तसन्ताभ्यां[4] द्वितीया वक्तव्या । उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । [धिग्योगे—] धिग् जाल्मम् । धिग् वृषलम् । उपर्यादिषु त्रिष्वाम्रेडितान्तेषु द्वितीया वक्तव्या । उपर्युपरि ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । अधोऽधो ग्रामम् । ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—न देवदत्तं प्रतिभाति[5] किञ्चित् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥[6]

'अन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनाद् विनायोगेऽपि क्वचिद् द्वितीया दृश्यते । मृगाणां सारिणं विना । एवमन्यत्रापि यत्र क्वचिदविहिता द्वितीया दृश्येत तत्रानेनैव वचनेन भवतीति बोद्धव्यम् ॥ [३ ॥] ३ ॥

कर्त्ता को जो अत्यन्त इष्ट है । उस की कर्म-सञ्ज्ञा कर चुके हैं[7] । उस सञ्ज्ञा का फल अब दिखाया जाता है । अनभिहित ['कर्मणि'] कर्म कारक में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति होती है । द्वितीया विभक्ति में तीनों वचनों का ग्रहण समझा जाता है । ओदनं पचति । ग्रामं गच्छति इत्यादि सब उदाहरणों में कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

अनभिहित ग्रहण इसलिये है कि 'ओदनः पच्यते' यहां कर्म में प्रत्यय है, इससे अनभिहित कर्म नहीं । इससे द्वितीया विभक्ति नहीं होती ॥

अब वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

'समयानिकषाहायोगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' समया, निकषा और हा इन तीन अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति हो । समया ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । यहां उक्त अव्ययों के योग में ग्राम-और देवदत्त-शब्द में द्वितीया हुई है ॥ १ ॥

'द्वितीयाभिधानेऽभितः-परितः-समया निकषा अध्यधि-धिग्योगेषूपसङ्ख्यानम् ॥' अभितः, परितः, [समया, निकषा,] अध्यधि, धिग् इन शब्दों के योग में भी द्वितीया विभक्ति हो । अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । धिग् जाल्मम् । यहां भी ग्राम-और जाल्म शब्द में द्वितीया हुई है । [समया और निकषा के उदाहरण पहले दे आए हैं] ॥ २ ॥

१. पा० शा० "द्वितीयाऽभ्यादिभिः ॥ सर्वाभिपर्युभयात् तसः ॥" (२ । १ । ५१, ५२)

२. कोशे—१ ॥ ३. पाठान्तरम्—उभय ॥

४. पाठान्तरम्—तसन्ताभ्यां योगे ॥

५. अत्रायं भावः । प्रति-शब्दस्यात्र क्रियाविशेषक उपसर्गो न तु कर्मप्रवचनीय इत्युदाहृतम् ॥

६. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥ ७. १ । ४ । ४६ ॥

'उभसर्वतसोः०' तसि प्रत्ययान्त उभ-और सर्व-शब्द तथा धिग्, आम्रेडितान्त जो उपरि, अधि, अधस् इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति हो। यह अन्य ऋषियों का मत है। उभ-उभयतो ग्रामम्। सर्व—सर्वतो ग्रामम्। धिग्—धिग् जाल्मम्। धिग् वृषलम्। आम्रेडितान्त उपरि—उपर्युपरि ग्रामम्। आम्रेडितान्त अधि—अध्यधि ग्रामम्। आम्रेडितान्त अधस्—अधोऽधो ग्रामम्। यहां ग्राम-,जाल्म और वृषल शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है। इस से अन्यत्र जहां किसी सूत्र वार्त्तिक से द्वितीया विधान नहीं, वहां भी इस कारिका के प्रमाण से द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। जैसे—बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। यहां प्रति के योग में द्वितीया है। इसी प्रकार जहां कहीं द्वितीया विभक्ति देखने में आवे, वहां इसी प्रमाण से समझनी चाहिये ॥ [३ ॥] २ ॥

तृतीया च होश्छन्दसि[1] ॥ ३ ॥

चकारग्रहणाद् द्वितीयाप्यनुवर्त्तते। तृतीया। १। १। च। [अ०।] होः। ६। १। छन्दसि। ७। १। 'हु दानादनयोः। आदाने चेत्यके'[2] इत्यस्य धातोः कर्मणि कारके छन्दसि-वेदविषये तृतीया च द्वितीया च भवति। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति[3]। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। अत्र कर्मवाचिनि यवागू-शब्दे तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥

'छन्दसि' इति किमर्थम्। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। अत्र तृतीया न भवति किन्तु लोके द्वितीयैव यथा स्यात् ॥ ३ ॥

['छन्दसि'] वेदविषय में ['होः'] हु धातु के कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया विभक्ति भी हो। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। यहां कर्मवाची यवागू-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति हुई हैं ॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति' यहां तृतीया विभक्ति न हो ॥ ३ ॥

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते[4] ॥ ४ ॥

'द्वितीया' इत्यनुवर्त्तते। तृतीया निवृत्ता। अन्तराऽन्तरेणयुक्ते। ७। १। अन्तरा-अन्तरेण-शब्दौ निपातौ, तयोर्योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति। अग्निमन्तरा कथं पचेत्। अग्निमन्तरेण कथं पचेत्। अग्निना विनेत्यर्थः। 'अन्तरा, अन्तरेण' इति शब्दौ विनार्थे वर्त्तेते ॥ ४ ॥

---

१. कार०—सू० ११ ॥

२. धा०—जुहो० १ ॥ माधवीयधातुवृत्त्याम्—"हु दानादनयोः। दानादानयोरित्यन्ये। आत्रेयस्तु 'दाने' इति पठित्वा 'आदानेऽप्येके' इति ॥"

क्षीरलिङ्कः—"हु दाने (आदाने, अदने, प्रीणनेऽपि)"

३. काठक इष्टिमिकायामग्निहोत्रब्राह्मणे—६ । ३ ॥

अपि च शाङ्खायन श्रौतसूत्रे—२ । १२ । १५, १६ ॥

४. कार०—सू० १२ ॥

भा० वा०—"समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणयुक्तात् ॥" (२ । १ । ५०)

['अन्तरा अन्तरेणयुक्ते'] बिना अर्थवाची जो अन्तरा और अन्तरेण ये दो अव्यय शब्द हैं, उन के योग में द्वितीया विभक्ति हो । अग्निमन्तरा कथं पचेत् । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् । यहां अन्तरा, अन्तरेण इन दो शब्दों के योग होने से अग्नि-शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है । 'अग्निमन्तरेण' अर्थात् अग्नि के बिना ॥ ४ ॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[1] ॥ ५ ॥

कालाध्वनोः । ७ । २ । अत्यन्तसंयोगे । ७ । १ । अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने कालवाचिनि शब्दे अध्ववाचिनि च द्वितीयाविभक्तिर्भवति । [काले] मासमधीतोऽनुवाकः । संवत्सरमधीतोऽष्टकः । अध्वनि—क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशं रमणीया वनराजी । अत्र मास संवत्सर-कालवाचिशब्दयोः क्रोशे चाध्ववाचिनि द्वितीया विधीयते ॥

'अत्यन्तसंयोगे' इति किम् । क्रोशस्य पर्वतः । अत्र द्वितीया विभक्तिर्न भवति ॥ ५ ॥

['अत्यन्तसंयोगे'] अत्यन्त संयोग अर्थ में ['काल-अध्वनोः'] कालवाची और मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति हो । मासमधीतोऽनुवाकः । क्रोशं कुटिला नदी । यहां कालवाची मास-शब्द और मार्गवाची क्रोश-शब्द में द्वितीया हुई है ॥

अत्यन्तसंयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'दिवसस्य द्विर्भुङ्क्ते' यहां दिवस शब्द में द्वितीया विभक्ति न हो ॥ ५ ॥

अपवर्गे तृतीया[2] ॥ ६ ॥

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[3] ॥' इति सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते । अपवर्गे । ७ । १ । तृतीया । १ । १ । दुःखनिवृत्तिः शुभकर्मफलस्य सुखस्य प्राप्तिः=अपवर्गः । अपवर्गेऽर्थे कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति । मासेनानुवाकोऽधीतः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । पूर्वसूत्र-स्यापवादत्वेन तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

'अपवर्गे' इति किम् । मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः । अत्राध्ययनस्य धारणा-भावे फलाभावः ॥ ६ ॥

शुभ कर्म के फल की जो प्राप्ति वह अपवर्ग कहाता है । ['अपवर्गे'] अपवर्ग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो अत्यन्त संयोग में । मासेनाधीतोऽनुवाकः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । यहां कालवाची मास और मार्गवाची क्रोश शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ॥

अपवर्ग ग्रहण इसलिये है कि 'मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः' यहां अपवर्ग के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं हुई ॥ ६ ॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये[4] ॥ ७ ॥

'कालाध्वनोः' इति वर्त्तते । सप्तमीपञ्चम्यौ । १ । २ । कारकमध्ये । ७ । १ । कारकयो-र्मध्यं=कारकमध्यं, तस्मिन् । कारकमध्ये कालाध्ववाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमीपञ्चम्यौ विभक्ती

---

१. कार०—सू० १३ ॥
२. कार०—सू० १४ ॥
३. २ । ३ । ५ ॥
४. कार०—सू० १५ ॥

अपवर्गे तृतीया[1] ॥ ६ ॥

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे[2] ॥' इति सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते । अपवर्गे । ७ । १ । तृतीया । १ । १ । दुःखनिवृत्तिः शुभकर्मफलस्य सुखस्य प्राप्तिः = अपवर्गः । अपवर्गेऽर्थे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति । मासेनानुवाकोऽधीतः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । पूर्वसूत्रस्यापवादत्वेन तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

'अपवर्गे' इति किम् । मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः । अत्राध्ययनस्य धारणाभावे फलाभावः ॥ ६ ॥

शुभ कर्म के फल की जो प्राप्ति वह अपवर्ग कहाता है । ['अपवर्गे'] अपवर्ग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो अत्यन्त संयोग में । मासेनाधीतोऽनुवाकः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । यहां कालवाची मास- और मार्गवाची क्रोश-शब्द से तृतीया विभक्ति होती है ॥

अपवर्ग-ग्रहण इसलिये है कि 'मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः' यहां अपवर्ग के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं हुई ॥ ६ ॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये[3] ॥ ७ ॥

'कालाध्वनोः' इति वर्त्तते । सप्तमी-पञ्चम्यौ । १ । २ । कारकमध्ये । ७ । १ । कारकयोर्मध्यं = कारकमध्यं, तस्मिन् । कारकमध्ये कालाध्ववाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमी-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता, द्व्यहे भोक्ता । अत्र कालवाचिनो द्व्यह-शब्दात् सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । अत्राध्ववाचिनः क्रोश-शब्दात् सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । अत्र कर्तृकर्मवाचिनोः शब्दयोर्मध्ये क्रोश-शब्दः ॥ ७ ॥

['कारकमध्ये'] दो कारकों के बीच में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से ['सप्तमी-पञ्चम्यौ'] सप्तमी और पंचमी विभक्ति हों । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता, द्व्यहे भोक्ता । यहां कालवाची द्व्यह-शब्द से सप्तमी और पंचमी विभक्ति हुई हैं । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । यहां कर्त्ता कर्मवाची कारकों के बीच में क्रोश-शब्द से सप्तमी, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥ ७ ॥

[अथ कर्मप्रवचनीययोगे विभक्तिनियमप्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया[4] ॥ ८ ॥

१. कार०—सू० १४ ॥
२. २ । ३ । ५ ॥
३. कार०—सू० १५ ॥
४. कार०—सू० १५४ ॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते । ७ । १ । द्वितीया । १ । १ । कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञैः शब्दैर्युक्ते = कर्मप्रवचनीययुक्ते । कर्मप्रवचनीययुक्ते सति द्वितीया विभक्तिर्भवति । अनु-शब्दो लक्षणे कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञो[1] भवति । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । अत्र कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञानु-शब्दस्य योगे संहिता शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ८ ॥

['कर्मप्रवचनीययुक्ते'] कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्दों के योग में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । यहां कर्मप्रवचनीय-संज्ञक अनु-शब्द के योग में संहिता-शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ ८ ॥

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र सप्तमी[2] ॥ ९ ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति वर्त्तते । यस्मात् । ५ । १ । अधिकम् । १ । १ । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] ईश्वरवचनम् । १ । १ । तत्र । [अ० ।] सप्तमी । १ । १ । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं, तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी विभक्तिर्भवति । उपरौप्ये कार्षापणम् । अत्र 'उपोऽधिके च[3]॥' इत्यधिकार्थे उप-शब्दस्य कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा । रौप्यात् कार्षापणमधिकम् । रौप्य-शब्दात् सप्तमी विभक्तिर्भवति । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । अत्र 'अधिरीश्वरे[4]॥' इति कर्म-प्रवचनीय-सञ्ज्ञा । पञ्चालवासिषु ब्रह्मदत्तस्येश्वरवचनं = अधिकसामर्थ्यं, तस्माद् ब्रह्मदत्त-शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति । पूर्वसूत्रेण द्वितीया प्राप्ता, तस्यापवादोऽयं योगः ॥ ९ ॥

पूर्व सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है । ['यस्माद्'] जिस से ['अधिकं'] अधिक हो ['यस्य च'] और जिस का ['ईश्वरवचनं'] ईश्वरवचन अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य हो, ['तत्र'] वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में ['सप्तमी'] सप्तमी विभक्ति हो । उपरौप्ये कार्षापणम् । यहां उप-शब्द की कर्मप्रव-चनीय-संज्ञा है । तथा रुपये से एक कार्षापण अधिक है, इसलिये कर्मप्रवचनीय के योग में रौप्य-शब्द से सप्तमी हो गई । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः । यहां अधि-शब्द की कर्म-प्रवचनीय-संज्ञा है । उस के योग में ईश्वरवचन अर्थात् अधिक सामर्थ्य वाले ब्रह्मदत्त-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ९ ॥

पञ्चम्यपाङ्परिभिः[5] ॥ १० ॥

'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनुवर्त्तते । पञ्चमी । १ । १ । अप-आङ्-परिभिः ।

---

१. १ । ४ । ८३ ॥
२. का० — सू० १५६ ॥
चा० श० — "सप्तम्याधिक्ये ॥ स्वाम्येऽधिना ॥" (२ । १ । ६०, ६१)
३. १ । ४ । ८६ ॥
४. १ । ४ । ९६ ॥
५. का० — सू० १६२ ॥
चा० श० — "पर्यपाभ्यां वर्जने ॥" (२।१।८१)

१ । ३ । कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञकैः अप-आङ्-परि-शब्दैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अप पर्वतात् = पर्वतं वर्जयित्वा । आ पर्वतात् = पर्वतं मर्यादीकृत्य । परि पर्वताद्वृष्टो मेघः, पर्वतं विहायेत्यर्थः । अप-पर्योर्वर्जनार्थयोराङ्-शब्दस्य मर्यादार्थस्य ग्रहणमत्रास्ति । अपादियोगे पर्वत-शब्दात् पञ्चमी ॥ १० ॥

कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञक जो ['अप-आङ्-परिभिः'] अप-, आङ्- और परि-शब्द हैं, उन के योग में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति होती है । अप — अप पर्वतात् । [आङ् —] आ पर्वतात् । [परि —] परि पर्वताद् वृष्टो मेघः । यहां पर्वत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है । अप और परि ये शब्द तो यहां वर्जन अर्थ में, और आङ्-शब्द मर्यादा अर्थ में है ॥ १० ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्[1] ॥ ११ ॥

पञ्चमी-ग्रहणं, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति चानुवर्तते । प्रतिनिधि-प्रतिदाने । १ । २ । च । [अ० ।] यस्मात् । ५ । १ । यस्मात् प्रतिनिधिः, यस्माच्च प्रतिदानं, तत्र [कर्मप्रवचनीययुक्ते] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । तिलेभ्यः प्रति माषानस्मै ददाति । अत्र अध्यापक-शब्दात् तिल-शब्दाच्च पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अध्यापककार्यं शिष्यः करोतीति शिष्यः प्रतिनिधिः । तिलेषु दातव्येषु माषदानं प्रतिदानम् ॥ ११ ॥

इति कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाकार्यं निवृत्तम् ॥

प्रतिनिधि उस को कहते हैं जो मनुष्य किसी के बदले में कार्य के लिये प्रवृत्त हो । प्रतिदान उस को कहते हैं कि जो वस्तु देना चाहिये, उस के बदले में दूसरा दे देना । ['यस्मात्'] जिस से ['प्रतिनिधि-प्रतिदाने'] प्रतिनिधि और प्रतिदान हो, वहां कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो । अध्यापकात् प्रति शिष्यः । यहां अध्यापक से प्रतिनिधि है । उस से पञ्चमी विभक्ति हो गई । तिलेभ्यः प्रति माषान् ददाति । यहां तिलों से प्रतिदान है । उस में कर्मप्रवचनीय के योग से पंचमी विभक्ति हो गई ॥ ११ ॥

[यह कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा का कार्य समाप्त हुआ ॥]

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि[2] ॥ १२ ॥

गत्यर्थकर्मणि । ७ । १ । द्वितीया-चतुर्थ्यौ । १ । २ । चेष्टायाम् । ७ । १ । अनध्वनि । ७ । १ । गत्यर्थानां धातूनां कर्म = गत्यर्थकर्म, तस्मिन् ।

---

१. का० — सू० १६६ ॥ [(२ । १ । ८६) २. का० — सू० १६ ॥

● श० — "प्रतिना प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥"

चेष्टाक्रियाणां गत्यर्थानां धातूनामध्ववर्जिते कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ विभक्ती भवतः । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति । ग्रामं व्रजति, ग्रामाय व्रजति । अत्र ग्राम-कर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

गत्यर्थ-ग्रहणं किम् । कटं करोति । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

'कर्मणि' इति किमर्थम् । अश्वेन गच्छति । अत्र करणे द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

'चेष्टायां' इति किम् । मनसा गृहं गच्छति । अत्र चेष्टा नास्तीति द्वितीया-चतुर्थ्यौ न भवतः ॥

अनध्वनि-ग्रहणं किमर्थम् । अध्वानं गच्छति । अत्र अध्व-शब्दे चतुर्थी न भवति ॥

वा०—*अध्वन्यर्थग्रहणम्* ॥ १ ॥

इह[1] मा भूत्—पन्थानं गच्छति । वीवधं गच्छतीति ॥[2]

अर्थग्रहणादध्वपर्यायग्रहणम् । तेन 'पन्थानं, [वीवधं'] इत्यत्र चतुर्थी न भवति ॥ १ ॥

आस्थितप्रतिषेधश्च ॥[2] २ ॥

'आस्थितप्रतिषेधः' अर्थात् 'अनध्वनि' इति यः प्रतिषेधः, स मुख्यस्याध्वनो विज्ञेयः । तेनेह न भवति । यत्र उत्पथेन पन्थानं गच्छति 'पथे गच्छति' इति प्रतिषेधाभावे चतुर्थी भवत्येवात्र ॥ [२॥] १२ ॥

['चेष्टायाम्'] चेष्टा जिस की क्रिया हो, ऐसे ['गत्यर्थकर्मणि, अनध्वनि'] गत्यर्थक धातुओं के मार्ग रहित कर्म में द्वितीया, चतुर्थी विभक्ति हों । ग्रामं गच्छति । ग्रामाय गच्छति । यहां गत्यर्थक धातुओं के ग्राम कर्म में द्वितीया, चतुर्थी हुई हैं ॥

गत्यर्थक धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि 'कटं करोति' यहां चतुर्थी न हो ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'अश्वेन गच्छति' यहां करण में द्वितीया, चतुर्थी न हों ॥

चेष्टा-ग्रहण इसलिये है कि 'मनसा गृहं गच्छति' यहां चेष्टा नहीं, इससे उक्त [अर्थात् चतुर्थी] विभक्ति नहीं हुई ॥

और 'अनध्वनि' ग्रहण इसलिये [है कि] 'अध्वानं गच्छति' यहां चतुर्थी विभक्ति न हो ॥

'अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥' अध्व-शब्द के पर्यायवाची जो शब्द हैं, उन का भी निषेध में ग्रहण हो जावे ॥[१॥]

१. पाठान्तरम्—इहापि ॥ २. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

'आशिषतप्रतिषेधश्च ॥' मार्गवाची मुख्य-शब्दों का निषेध होना चाहिये, क्योंकि 'उत्पथेन पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति' यहां निषेध न हो ॥ [२॥] १२ ॥

चतुर्थी सम्प्रदाने[1] ॥ १३ ॥

चतुर्थी । १ । १ । सम्प्रदाने । ७ । १ । 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्[2] ॥' इति सम्प्रदान-सञ्ज्ञा कृता, तस्या इह फलमुच्यते । सम्प्रदानकारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति । शिष्याय विद्यां ददाति । ब्राह्मणेभ्यो धनं ददाति । भिक्षवे भिक्षां ददाति । इत्यादिसम्प्रदान-सञ्ज्ञकेषु शब्देषु चतुर्थी भवति ॥

वा०—चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसङ्ख्यानम्[3] ॥ १ ॥

यूपाय दारु । कुण्डलाय हिरण्यमिति ॥[4]

तस्मै = चतुर्थ्यन्तप्रयोजनाय यद् भवति, तद् तदर्थम् । तदर्थस्य भावः = तादर्थ्यम्, तस्मिन् ॥ १ ॥

क्लृपिसम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ २ ॥

मूत्राय कल्पते यवागूः । उच्चाराय[5] यवान्नमिति[6] ॥[4]

यवागूर्मूत्रमुत्पादयितुं समर्थेत्यर्थः । क्लृप-धातोः सम्पद्यमाने = उत्पद्यमाने कारके चतुर्थी भवति ॥ २ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥ ३ ॥

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।
कृष्णा सर्वविनाशाय[7] दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥[8]

मांसौदनाय व्याहरति मृगः ॥[4]

उत्पातेन = कदाचिदाश्चर्यासम्भवदर्शनेन शकुनेन ज्ञाप्यमाने, इदमस्याश्चर्यदर्शनस्य फलं भविष्यतीत्युत्पातो ज्ञापयति । तद्यथा— कपिला विद्युद् दृश्येत चेद् वायुवेगो भविष्यतीति ज्ञापनम् ॥ ३ ॥

हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥ ४ ॥

हितमरोचकिने । हितमामयाविने ॥[4]

---

१. कार०—सू० ५५ ॥
चा० श०—"सम्प्रदाने चतुर्थी ॥" (२।१।७३)
२. १ । ४ । ३२ ॥
३. चा० श०—"तादर्थ्ये ॥" (२।१।७६)
४. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥
५. पाठान्तरम्—उच्चाराय कल्पते ॥
६. काशिकायां तु—उच्चाराय कल्पते यवागूः ॥
७. पाठान्तरम्—पीता भवति सस्याय ॥
काशिकायां तु—पीता वर्षाय विज्ञेया ॥
८. कोष्ठेऽत्र—"॥२॥" इति ॥

हितयोगे सर्वत्रैव चतुर्थी भवति ॥ [४॥] १३ ॥

सम्प्रदान-सञ्ज्ञा पूर्व कर चुके हैं। उस का फल यहां दिखाया जाता है। ['सम्प्रदाने'] सम्प्रदान कारक में ['चतुर्थी'] चतुर्थी विभक्ति हो। शिष्याय विद्यां ददाति। यहां शिष्य-शब्द की सम्प्रदान-संज्ञा होने से शिष्य-शब्द में चतुर्थी हुई है॥

'चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसङ्ख्यानम् ॥' कार्यवाची शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो। यूपाय दारु। यहां यूप-शब्द कार्यवाची है, इससे यूप-शब्द में चतुर्थी हुई है॥ १॥

'क्लृपिसम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥' क्लृपि धातु का उत्पन्न होने वाला जो कारक है, उस में चतुर्थी विभक्ति हो। मूत्राय कल्पते यवागूः। मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू समर्थ है॥ २॥

'उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या ॥' आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने[1] को उत्पात कहते हैं। उत्पात से होने वाली बात जनाने में चतुर्थी विभक्ति हो। वाताय कपिला विद्युत्। कपिला विद्युत् जो चमके तो वायु अधिक चले। यह बात कपिला बिजली से जानी गई। इससे वात-शब्द में चतुर्थी हुई॥ [३॥]

'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या ॥' हित-शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। हितमरोचकिने। यहां अरो[च]की-शब्द में चतुर्थी हुई॥ [४॥] १३॥

क्रियार्थोपपदस्य च कर्म्मणि स्थानिनः[2] ॥ १४ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते। क्रियार्थोपपदस्य। ६। १। च। [अ०।] कर्म्मणि। ७। १। स्थानिनः। ६। १। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य, स क्रियार्थोपपदो धातुः, तस्य। स्थानिनः = अप्रयुज्यमानस्य। स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोः कर्म्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। वृकेभ्यो व्रजति। शशेभ्यो व्रजति। वृकान् शशांश्च हन्तुं व्रजति। अत्र हन-धातोरुपपदं व्रज-धातुः। हन्तिः क्रियार्थोपपदः, स चाप्रयुज्यमानः, तस्य वृक-शशौ कर्म्मणी, तत्र चतुर्थी भवति। 'कर्म्मणि द्वितीया[3] ॥' इति द्वितीया प्राप्ता। [अनेन सूत्रेण] चतुर्थी भवति। अतो द्वितीयापवादोऽयं योगः॥

'कर्म्मणि' इति किम्। वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन। अत्राश्व-शब्दे चतुर्थी न भवति॥

'स्थानिनः' इति किम्। वृकान् हन्तुं व्रजति। अत्रापि न भवति॥ १४॥

---

१. कोश में "असम्भव आश्चर्यरूप [श]कुन देखने में आये उस" इन शब्दों को काटकर पंक्ति के ऊपर "आकाश में विद्युत् के चमकने और गिरने" ये शब्द बनाये गये हैं। हस्तलेख और स्याही आदि में कोई भेद नहीं॥ कारकीय में—"आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को उत्पात कहते हैं।" (सू० ५८)

२. कार०—सू० ६०॥

३. २। ३। २॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद यह सूत्र है।['क्रियार्थोपपदस्य'] क्रिया के लिये क्रिया हो उपपद जिस के, उस ['स्थानिनः'] अप्रयुज्यमान धातु के ['कर्मणि'] अनभिहित कर्म कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। वृकेभ्यो व्रजति= वृकान् हन्तुं व्रजति । यहां मारना जो क्रिया है, उस के लिये 'व्रजति' उपपद है[1]। यह हन धातु अप्रयुज्यमान है । उस के कर्म में चतुर्थी विभक्ति हुई है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन' यहां करण-शब्द में चतुर्थी न हो ॥

और स्थानी-ग्रहण इसलिये है कि 'वृकान् हन्तुं व्रजति' यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी नहीं हुई ॥ १४ ॥

तुमर्थाच्च भाववचनात्[2] ॥ १५ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । तुमर्थात् । ५ । १ । च । [अ० ।] भाववचनात् । ५ । १ । अप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोर्यत् कर्म, तद्वाचिनो भाववचनात् तुमर्थात् प्रातिपदिकाच्च चतुर्थी विभक्तिर्भवति । इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति । पाकाय व्रजति = पाकं कर्तुं व्रजति । अत्राप्रयुज्यमानः क्रियार्थोपपदः कृञ्-धातुः, तस्येष्टिः कर्म, तस्मिन् चतुर्थी ॥

तुमर्थ-ग्रहणं किम् । पाकं करोति ॥ [॥ १५ ॥

'भाववचनात्' इति किमर्थम् । स्तावको गच्छति । अत्रोभयत्र चतुर्थी न भवति

अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु का जो कर्म, उस का वाची ['तुमर्थाद् भाववचनात्'] तुमर्थभाववचन जो प्रातिपदिक, उस से चतुर्थी विभक्ति हो। इष्टये व्रजति = इष्टिं कर्तुं व्रजति । यहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद कृञ् धातु है । इष्टि उस का कर्म है । उस में चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

तुमर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'पाकं करोति' यहां चतुर्थी न हो ॥

और भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि 'स्तावको गच्छति' यहां चतुर्थी न हो ॥ १५ ॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च[3] ॥ १६ ॥

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते । अन्यत् सर्वं निवृत्तम् । नमस्-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलं-वषड्योगात् । ५ । १ । च । [अ० ।] 'नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्' इत्येतैः शब्दैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति । नमो गुरुभ्यः । नमः पितृभ्य[4] ।

---

१. कोश में "०उपपद है" इस के आगे "हन धातु के" इतना अधिक है ॥

२. कार०—सू० ६१ ॥

३. कार०—सू० ६२ ॥ चा० श०—"नमःस्वस्तिस्वाहास्वधावषड्वं-क्तार्थैः ॥" (२ । १ । ७८)

४. अथर्ववेदे (५ । ३० । १२)—"नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।"

स्वस्ति शिष्येभ्यः[1]। अग्नये स्वाहा[2]। सोमाय स्वाहा[3]। स्वधा पितृभ्यः[4]। अलं मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। वषडिन्द्राय[5]। एवं नमःस्वस्त्यादिषट्शब्दानां योगे चतुर्थी भवति ॥

वा०—अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥

इह मा भूत्—अलङ्कुरुते कन्याम्। इहापि यथा स्यात्—प्रभुर्मल्लो मल्लाय। प्रभवति मल्लो मल्लाय ॥[6]

पर्याप्त्यर्थाः समर्थपर्यायाः शब्दाः। मल्लाय मल्लः समर्थः ॥ १६ ॥

['नमःस्वस्ति०'] नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट्, इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। नमो गुरुभ्यः। यहां नमस्-शब्द के योग में गुरु-शब्द से चतुर्थी। स्वस्ति शिष्येभ्यः। यहां स्वस्ति-शब्द के योग में शिष्य-शब्द से चतुर्थी। अग्नये स्वाहा[2]। यहां स्वाहा-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी। स्वधा पितृभ्यः[4]। यहां स्वधा-शब्द के योग में पितृ-शब्द से चतुर्थी। अलं मल्लो मल्लाय। यहां अलं-शब्द के योग में मल्ल-शब्द से चतुर्थी। वषडग्नये। और यहां वषट्-शब्द के योग में अग्नि-शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥' अलं-शब्द से समर्थवाचक शब्दों का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि 'अलंकुरुते कन्याम्' यहां तो चतुर्थी विभक्ति न हो और 'प्रभुर्मल्लो मल्लाय' यहां अलं के पर्यायवाची प्रभु-शब्द से भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे ॥ १६ ॥

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु[7] ॥ १७ ॥

---

१. अथर्ववेदे (१।३१।४)—"स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।"

२. वा०—१०।५ ॥
तै०—१।८।१३।३ ॥
मै०—२।६।११ ॥
का०—१५।७ ॥
श०—१३।४।३ ॥

३. वा०—१०।५ ॥
तै०—७।२।१४ ॥
मै०—२।६।११ ॥
का०—१५।७ ॥
श०—१३।४३।५ ॥

४. वा०—२।७ ॥
तै०—१।१।११।१ ॥
मै०—१।१।११ ॥
का०—१।२ ॥ [आ कृणोमि।"

५. ऋग्वेदे (७।९९।७)—"वषट् ते विष्णवास
दयानन्दभाष्ये—"['नमस्ते रुद्रमन्यवे'] अन्न के लिये 'नमः' अन्न। ['अग्नये स्वाहा'] अग्नि में 'स्वाहा' संस्कृत हवि। ['स्वधा पितृभ्यः'] पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से 'स्वधा' अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा। ['वषडिन्द्राय'] 'इन्द्र' बिजली की विद्या ग्रहण करने के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है।"
(पृ० ९२ टिप्पणी †)

६. अ० २। पा० ३। आ० १ ॥

७. का०—सू० १४ ॥ [(२।१।८०) चा० श०—"मन्याप्ये कुत्सायामनादरे वा ॥"

चतुर्थी-ग्रहणमनुवर्त्तते । मन्यकर्मणि । ७ । १ । अनादरे । ७ । १ । विभाषा । [अ० ।] अप्राणिषु । ७ । ३ । मन्यतेर्दैवादिकस्य धातोः कर्म = मन्यकर्म, तस्मिन् । अनादरे = तिरस्कारे । मन्य-धातोरनभिहितेऽचेतनवाचिकर्मणि चतुर्थी विभक्तिर्विकल्पेन भवत्यनादरे कर्त्तव्ये । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । तृणवन्मन्य इत्यर्थः । अत्राप्राणिवाचिनि तृण-शब्दे द्वितीया-चतुर्थ्यौ भवतः ॥

'मन्य' इति विकरणग्रहणं किम् । त्वां तृणं मन्वे । अत्र चतुर्थी न भवति ॥

'मन्यकर्मणि' इति किम् । त्वां तृणं जानामि ॥

'अनादरे' इति किम् । भ्रातृपुत्रं सुतं मन्ये ॥

'अप्राणिषु' इति किम् । त्वां काकं मन्ये, शुकं मन्ये । अत्र सर्वत्र चतुर्थी न भवति ॥

वा०—अनावादिष्विति वक्तव्यम्[1] ॥ १ ॥

'अप्राणिषु' इत्येतस्य स्थाने 'अनावादिषु' इति न्यासरूपं वार्त्तिकं कर्त्तव्यं, तेन प्राणिष्वपि क्वचिद् यथा स्यात् । न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शुने मन्ये । अत्र प्राणिवाचिन्यपि श्व-शब्दे चतुर्थी भवति । अप्राणिवाचिन्यपि क्वचिन्न भवति । न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्णं न नाव्यम् । न त्वाऽन्नं मन्ये यावद् भुक्तं न श्राद्धम् । अत्राऽप्राणिवाचिनि नौ-शब्देऽन्न-शब्दे च चतुर्थी न भवति ॥ १७ ॥

इस सूत्र में 'मन्य' निर्देश दिवादिगण के धातु का किया है । ['मन्यकर्मणि अप्राणिषु'] मन्य धातु के अप्राणिवाची अनभिहित कर्म में ['विभाषा'] विकल्प करके ['अनादरे'] तिरस्कार अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । यहां मन्य धातु के तृण कर्म में चतुर्थी और पक्ष में द्वितीया विभक्ति हुई है । मैं तुझ को तृण के तुल्य मानता हूं । यह तिरस्कार है ॥

दिवादिविकरण के ग्रहण से 'त्वां तृणं मन्वे' यहां चतुर्थी नहीं होती ॥

मन्यकर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'त्वां तृणं जानामि' यहां ज्ञा धातु के कर्म में चतुर्थी न हो ॥

अनादर-ग्रहण इसलिये है कि 'वाचं मन्ये सरस्वतीम्' यहां चतुर्थी न हो ॥

---

१. चा० शा०—"मन्याप्ये कुत्सायामनादरे वा ॥" (२ । १ । ८०)

महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरम्—"यदेतदप्राणिष्विति एतदनावादिष्विति वक्ष्यामि ॥"

काशिकायां च—"यदेतदप्राणिष्विति तदनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥"

प्रक्रियाकौमुद्यां तु—"अप्राणिष्विति नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम् ॥" (विभक्त्यर्थप्रकरणे)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

और समाधि ग्रहण इसलिये है कि '[त्वां] काकं मन्ये' यहां भी चतुर्थी न हो ॥

'अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥' सूत्र में अप्राणि जो ग्रहण किया है, उस के स्थान में वार्त्तिक रूप 'अनावादिषु' ऐसा न्यास करना चाहिये, क्योंकि कहीं २ प्राणिवाची मन्य धातु के कर्म में भी चतुर्थी होती है। जैसे—न त्वा श्वानं मन्ये। न त्वा शुने मन्ये। यहां कुत्ते के वाची श्व-शब्द से चतुर्थी हो गई। तथा कहीं २ अप्राणिवाची में भी नहीं होती। जैसे—न त्वा नावं मन्ये यावत् तीर्णं न नाव्यम्। यहां नौका के वाची नौ-शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई ॥ १७ ॥

कर्तृकरणयोस्तृतीया[1] ॥ १८ ॥

कर्तृ-करणयोः । ७ । २ । तृतीया । १ । १ । अनभिहितयोः कर्तृ करण-कारकयोस्तृतीया विभक्तिर्भवति । [कर्तरि—] देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तेन भुक्तम् । मयाऽधीतम् । त्वया दत्तम् । करणे—असिना छिनत्ति । दात्रेण लुनाति । अग्निना पचति । कर्तृ-करण-सञ्ज्ञे पूर्वं[2] कृते, तयोरिदं फलं तृतीयाविधानम् ॥

वा०—*तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य[3] उपसङ्ख्यानम् ॥*

प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण याज्ञिकः[4] । प्रायेण वैयाकरणः[5] । माठरोऽस्मि गोत्रेण । गार्ग्योऽस्मि गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । [त्रिद्रोणेन धान्यं क्रीणाति ।] पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । साहस्रेणाश्वान् क्रीणाति[6] ॥[7]

अत्र कर्तृकरणकारकौ न स्तः, अतस्तृतीया न प्राप्ता । अनेन वार्त्तिकेन विधीयते ॥ १८ ॥

---

१. का०—सू० ४० (१ । ३ । ६२, ६३) चा० श०—"कर्तरि तृतीया ॥ करणे ॥"

२. १ । ४ । ५४, ४२ ॥

३. काशिकायाम्—प्रकृत्यादीनाम् ॥ प्रक्रियाकौमुद्यां तु "प्रकृत्यादिभ्यस्तृतीया ॥" इति वार्त्तिकम् ॥

४. पाठान्तरम्— याज्ञिकाः ॥

५. पाठान्तरम्—वैयाकरणाः ॥

६. "प्रकृत्या दर्शनीयः" इत्यादौ क्रियाया अविद्यमानत्वात् कर्तृकरणे न सम्भवतः । तयोः क्रियापेक्षत्वात् । ततश्च सम्बन्धलक्षणा षष्ठी स्यात्—प्रकृतेर्दर्शनीयः । प्रायस्य याज्ञिकः । प्रायस्य वैयाकरणः । ("प्रायेण याज्ञिकाः । प्रायेण वैयाकरणाः" इत्यत्र तु प्राय-शब्दो बह्वर्थवाची । तत्र प्रथमा प्राप्नोति, "गोत्रेण" इत्यत्र प्रथमा षष्ठी वा स्यात् । "समेन धावति" इत्यादौ सत्यामपि क्रियायां न सम-विषम-शब्दौ करणत्वेन विवक्षितौ । किं तर्हि । कर्मत्वेन । ततश्च द्वितीया स्यात् । "द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति" इत्यत्रापि पूर्ववद् द्वितीयाप्राप्तिः । "पञ्चकेन" पञ्चकं सङ्घं कृत्वेति । "पशून्" इत्यनेनैतत् समानाधिकरणमिति द्वितीयैव स्यात् । "साहस्रेण" साहस्रं सङ्घं कृत्वेति । सहस्रं सहस्रं कृत्वेत्यर्थः ॥

७. म० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

अनभिहित ['कर्तृ-करणयोः'] कर्ता, करण कारकों में ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । [कर्ता—] देवदत्तेन कृतम् । यहां कर्तावाची देवदत्त-शब्द से तृतीया हुई । करण— दात्रेण लुनाति । और यहां करणवाची दात्र-शब्द से तृतीया विभक्ति हुई है । पूर्व प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में[1] कर्ता- और करण-सञ्ज्ञा कर चुके हैं । उस का फल यहां दिखलाया है ॥

'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ॥' प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो । प्रकृत्या-भिरूपः । यहां कर्ता, करण कारक के न होने से तृतीया नहीं प्राप्त थी, सो इस वार्तिक से विधान की है । प्रकृति आदि शब्द बहुत हैं । वे संस्कृत में पूर्व लिख दिये हैं ॥ १८ ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥ १९ ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । सहयुक्ते । ७ । १ । अप्रधाने । ७ । १ । सह-शब्देन युक्तेऽप्रधाने कर्तृकारके तृतीया विभक्तिर्भवति । शिष्येण सहागतोऽध्यापकः । पुत्रेण सहागतः पिता । अत्र शिष्यपुत्रावप्रधानौ, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

अनभिहितस्याप्रधानत्वात् पूर्वसूत्रेणैव सिद्धा तृतीया । पुनर्वचनं सह-शब्देन विनाऽपि सहार्थे गम्यमानेऽनेनैव तृतीया विभक्तिर्यथा स्यात्[3] । वत्सेन गौश्चरति । 'वत्सेन सह' इत्यर्थः ॥ १९ ॥

['सहयुक्ते'] सह-शब्द से युक्त ['अप्रधाने'] अप्रधान कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है । पुत्रेण सहागतः पिता । यहां पुत्र अप्रधान है । उस में तृतीया विभक्ति होती है ॥

पूर्व सूत्र से अप्रधान कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती, फिर इस सूत्र के पृथक् पढ़ने से कहीं २ सह-शब्द का योग न हो, वहां भी तृतीया हो जाती है ॥ १९ ॥

येनाङ्गविकारः[4] ॥ २० ॥

'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । येन । ३ । १ । अङ्गविकारः । १ । १ । अङ्गस्य = शरीरस्य विकारः = अङ्गविकारः । 'येन' अङ्गेन इत्याक्षेपः । येनाङ्गेन = अवयवेन [विकृतेन] अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति[5] । अक्ष्णा काणः । पादेन खञ्जः । अत्राक्षि-शब्देन पाद-शब्देन च काणत्वं खञ्जत्वं च लक्ष्यते, तत्रावयवे तृतीया भवति । एवं 'शिरसा खल्वाटः' [इति] अत्रापि ॥ २० ॥

['येन'] जिस [विकृत] अंग = अवयव से ['अङ्गविकारः'] शरीर का विकार प्रसिद्ध

१. सूत्र १४ और ४२ ॥

२. कार०—सू० ४२ ॥

वा० सू०—"सह येन ।" (२ । १ । ६५)

३. "वृद्धो यूना० ॥" (१ । २ । ६५) इति निदर्शनात् ॥

४. कार०—सू० ४३ ॥

५. वार्तिकं चापि भवति—"अङ्गाद् विकृतात् तद्विकारश्चेदङ्गिनो वचनम् ॥" (अ० २ । पा० ३ । आ० २)

हो, उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो। शिरसा खल्वाटः। यहां शिरस्-शब्द से गञ्जापन प्रसिद्ध होता है, इससे शिरस्-शब्द में तृतीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में समझना चाहिये ॥ २० ॥

इत्थम्भूतलक्षणे[1] ॥ २१ ॥

इत्थंभूतलक्षणे। ७। १। लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्। इत्थंभूतस्य लक्षणं = इत्थंभूतलक्षणं, तस्मिन्। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति। अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्। अत्र कमण्डलु-मेखले लक्षणे, तत्र तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

'इत्थंभूत' इति किम्। वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। अत्र वृक्ष-शब्दे तृतीया न भवति ॥ २१ ॥

['इत्थंभूतलक्षणे'] इत्थंभूत अर्थात् 'इस प्रकार का' यह बात जिस से जानी जाय, वहां तृतीया विभक्ति हो। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्। यहां मेखला-शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप जाना जाता है, इसलिये मेखला-शब्द में तृतीया होती है ॥

इत्थंभूत-ग्रहण इसलिये है कि 'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' यहां वृक्ष-शब्द में तृतीया न हो ॥ २१ ॥

सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि[2] ॥ २२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम्। 'कर्मणि द्वितीया[3] ॥' इति द्वितीया प्राप्ता। अप्राप्ता तृतीयाऽनेन विधीयते। पक्षे द्वितीयाऽपि भवति। सञ्ज्ञः। ६। १। अन्यतरस्याम् [अ० ।] कर्मणि। ७। १। सं-पूर्वकस्य ज्ञा-धातोरनभि[हि]ते कर्मणि विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति। मात्रा सञ्जानीते बालः। मातरं सञ्जानीते बालः। अत्र मातृ-शब्दे तृतीया-द्वितीये विभक्ती भवतः ॥ २२ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि अनभि[हि]त कर्म में द्वितीया प्राप्त है और तृतीया किसी से प्राप्त नहीं। ['सञ्ज्ञः'] सं पूर्वक ज्ञा धातु के ['कर्मणि'] अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके हो। पक्ष में द्वितीया हो। मात्रा सञ्जानीते बालः। मातरं सञ्जानीते बालः। यहां मातृ-शब्द में तृतीया और द्वितीया विभक्ति विकल्प से हुई हैं ॥ २२ ॥

हेतौ[4] ॥ २३ ॥

---

१. कार०—सू० ४४ ॥
 चा० शा०—"लक्षणे ॥" (२ । १ । ६६)

२. कार०—सू० ४५ ॥
 चा० शा०—"सञ्ज्ञो व्याप्ये वा ॥" (२।१।६७)

३. २ । ३ । २ ॥

४. कार०—सू० ४६ ॥
 चा० शा०—"हेतौ ॥" (२ । १ । ६८)

हेतौ । ७ । १ । हेतुवाचिशब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति । विद्यया यशः । सत्सङ्गेन शुद्धिः । यशसो हेतुर्विद्या, तस्माद् विद्या-शब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०—*निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥*[1] ॥

निमित्त-कारण-हेतुषु त्रिषु शब्देषु सर्वासां [विभक्तीनां] प्रायेण = बहुलेन दर्शनं भवति ।

किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मात् निमित्ताद् वसति । कस्य निमित्तस्य वसति । कस्मिन् निमित्ते वसति । किं कारणं वसति । केन कारणेन वसति । कस्मै कारणाय वसति । कस्मात् कारणात् वसति । कस्य कारणस्य वसति । कस्मिन् कारणे वसति । को हेतुर्वसति । कं हेतुं वसति । केन हेतुना वसति । कस्मै हेतवे वसति । कस्माद्धेतोर्वसति । कस्य हेतोर्वसति । कस्मिन् हेतौ वसति ॥[2] २३ ॥

['हेतौ'] हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो । विद्यया यशः । यश होने का हेतु विद्या है, इसलिये विद्या-शब्द में तृतीया विभक्ति हो गई ॥

'निमित्त-कारण हेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥' निमित्त, कारण और हेतु इन तीन शब्दों [में] सब विभक्ति बहुत करके होती हैं । जैसे—किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि उदाहरण संस्कृत में सब लिख दिये हैं ॥ २३ ॥

अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी[3] ॥ २४ ॥

'हेतौ' इत्यनुवर्त्तते । अकर्त्तरि । ७ । १ । ऋणे । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । कर्तृरहिते हेतौ पञ्चमी विभक्तिर्भवति ऋणे वाच्ये सति । शताद् बद्धः । सहस्राद् बद्धः । शतं सहस्रं वा ऋणमस्योपरि वर्त्तते, तस्माद् हेतोरुत्तमर्णेनाऽयं बद्ध इत्यर्थः । अत एव शत-सहस्र-शब्दयोः पञ्चमी भवति ॥

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वृत्तिकारैस्त्विदं वार्त्तिकं "सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥" (२ । ३ । २७) इति सूत्रे पठितम् ॥

अत्र कैयटः—"निमित्तेति असर्वनाम्नोऽपि विधानार्थमत्र सूत्र इदं पठितं, न तु [वृत्तिकारवत्] 'सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥' (२ । ३ । २७) इत्यत्र । तत्र प्राय-ग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा-द्वितीये न भवतः, अन्यास्तु यथादर्शनं भवन्ति । पर्यायोपादानं केचित् पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमिच्छन्ति । अन्ये तूपलक्षणार्थमिच्छन्तः प्रयोजनादि-प्रयोगेष्वेतद्विभक्तिविधानं मन्यन्ते ॥"

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. कार०—सू० ४८ ॥

चा० श०—"ऋणे पञ्चमी ॥" (२।१।६१)

अकर्त्तरि-ग्रहणं किमर्थम् । शतेन बन्धितः[1] । अत्र प्रयोजककर्त्तृत्वेन शत-शब्दो विवक्षितः, तस्मात् पञ्चमी [न] भवति ॥ २४ ॥

[‘अकर्त्तरि’] कर्त्ताभिन्न हेतुवाची शब्दों में [‘पञ्चमी’] पञ्चमी विभक्ति हो [‘ऋणे’] ऋण अर्थ में । शताद् बद्धः । सौ रुपये जिस पर आते थे, [उस को] उस ऋण के होने से ऋण वाले ने बांधा । इसलिये शत-शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है ॥

‘अकर्त्तरि’ ग्रहण इसलिये है कि ‘शतेन बन्धितः[2]’ यहां शत-शब्द में प्रयोजक कर्त्ता की विवक्षा होने से पंचमी विभक्ति न हुई ॥ २४ ॥

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्[3] ॥ २५ ॥

‘हेतौ’ इत्यनुवर्त्तते । विभाषा । [अ० ।] गुणे । ७ । १ । अस्त्रियाम् । ७ । १ । अप्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण[4] हेतुवाचिनि नित्यं तृतीया प्राप्ता, पञ्चमी विकल्प्यते । अस्त्रियां = स्त्रीलिङ्गं विहाय पुन्नपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो यो गुणशब्दः, तस्मिन् विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति । मौढ्याद् बद्धः । मौढ्येन बद्धः । पाण्डित्यात् पाण्डित्येन वा पूजितः । अत्र मौढ्यं पाण्डित्यं च गुणः, तत्र पञ्चमी-तृतीये भवतः ॥

‘अस्त्रियाम्’ इति किम् । प्रज्ञया पूजितः । बुद्ध्या पूजितः । अत्र स्त्रीलिङ्गत्वात् पञ्चमी विभक्तिर्न भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि हेतु अर्थ में तृतीया प्राप्त है [और] यहां पंचमी का विकल्प किया है । [‘अस्त्रियां’] स्त्रीलिंग को छोड़के पुंलिङ्ग वा नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान जो [‘गुणे’] गुणवाची शब्द, उस में [‘विभाषा’] विकल्प करके पंचमी विभक्ति हो । मौढ्यात् मौढ्येन वा बद्धः । यहां मौढ्य अर्थात् मूढपन यह गुणवाची शब्द है । उस में पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती हैं ॥

‘अस्त्रियां’ ग्रहण इसलिये है कि ‘प्रज्ञया पूजितः’ यहां पंचमी विभक्ति न हो ॥ २५ ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे[5] ॥ २६ ॥

तृतीया-पञ्चम्यौ निवृत्ते । षष्ठी । १ । १ । हेतुप्रयोगे । ७ । १ । हेतोः प्रयोगः = हेतुप्रयोगः, तस्मिन् । हेतु-शब्दस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । विद्याया हेतोर्वाराणस्यां वसति । अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति । अत्र सविशेषणे हेतु-शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ २६ ॥

---

१. बन्धेर्ण्यन्तस्य निष्ठायामेतद् रूपम् ॥

२. अर्थात् सौ रुपये के ऋण ने बन्धवा दिया ॥

३. का० — सू० ४६ ॥ चा० श० — “गुणे वा ॥” (२ । १ । ७०)

४. २ । ३ । २३ ॥

५. का० — सू० ५० ॥ चा० श० — “षष्ठी हेतुना ॥” (२ । १ । ७१)

['हेतुप्रयोगे'] हेतु-शब्द के प्रयोग में ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो । अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति । यहां विशेषण सहित हेतु-शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ २६ ॥

सर्वनाम्नस्तृतीया च[1] ॥ २७ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । सर्वनाम्नः । ६ । १ । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।] सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः । केन हेतुना वसति, कस्य हेतोर्वसति । अनेन हेतुना, अस्य हेतोर्वा वसति । तेन हेतुना, तस्य हेतोर्वा वसति । अत्र सर्वनामविशेषणस्य हेतु-शब्दस्य प्रयोगे तृतीया-षष्ठ्यौ विभक्ती भवतः ॥ २७ ॥

['सर्वनाम्नः'] सर्वनामवाची शब्द विशेषण सहित हेतु-शब्द के प्रयोग में ['तृतीया च'] तृतीया [और] षष्ठी विभक्ति हो । केन हेतुना, कस्य हेतोर्वा वसति । यहां सर्वनामवाची किं-शब्द विशेषणसहित [हेतु-]शब्द के प्रयोग में तृतीया, षष्ठी विभक्ति हुई है ॥२७॥

अपादाने पञ्चमी[2] ॥ २८ ॥

'ध्रुवमपायेऽपादानम्[3] ॥' इत्यपादान-सञ्ज्ञा कृता । तस्या इह फलमुच्यते । अपादाने । ७ । १ । पञ्चमी । १ । १ । अपादानकारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति । ग्रामादागच्छति । वृक्षात् पर्णानि पतन्ति । वृकेभ्यो बिभेति । अध्ययनात् पराजयत इत्युदाहरणेषु ग्रामाद्यपादानशब्देषु पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥

वा०—*पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम्* ॥[4] १ ॥

ल्यबन्तस्य यत् कर्म, तत्र [ल्यब्लोपे] पञ्चमी विभक्तिर्भवति । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । अत्र 'आरुह्य' इति ल्यबन्तं, तस्य प्रासादः कर्म, तत्र पञ्चमी ॥ १ ॥

अधिकरणे च ॥[4] २ ॥

ल्यबन्तस्य यदधिकरणं, तत्रापि [ल्यब्लोपे] पञ्चमी भवति । आसन उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । अत्र 'उपविश्य' इति ल्यबन्तस्यासनमधिकरणं, तस्मिन् पञ्चमी ॥ २ ॥

प्रश्नाख्यानयोश्च ॥[4] ३ ॥

---

१. कार०—सू० ५१ ॥
चा० श० (२ । १ । ७२)—"सर्वाः सर्वादिभ्यो हेत्वर्थे. ॥ (हेत्वर्थैः शब्दैर्योगे सर्वादिभ्यः सर्वा विभक्तयो भवन्ति)"

२. कार०—सू० ७७ ॥
चा० श०—"अवधेः पञ्चमी ॥" (२ । १ । ८१)

३. १ । ४ । २४ ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० ९ ॥

प्रश्नवाचिशब्दे आख्यानवाचिशब्दे च पञ्चमी भवति । कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्[1] । अत्र 'कुतः' इति प्रश्नवाचिशब्दे पञ्चमी, 'पाटलिपुत्रात्' इत्याख्यानवाचिशब्दे च ॥ ३ ॥

यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥[2] *४* ॥

यस्मादध्वनिर्माणं कालनिर्माणं च भवति, तद्वाचिशब्दादपि पञ्चमी वक्तव्या । गवीधुमतः[3] साङ्काश्यं[4] चत्वारि योजनानि । गवीधुमतो नगरात् साङ्काश्यं नगरं चत्वारि योजनानि इति मार्गनिर्माणं=[मार्ग-]इयत्तादर्शनम् । कालनिर्माणम्—कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे । कार्त्तिक्याः पौर्णमास्या आग्रहायणी मास इति कालनिर्माणम् । गवीधुमत्-शब्दादध्वनिर्माणं, तत्र पञ्चमी । कार्त्तिकी-शब्दात् कालनिर्माणं, तत्र च ॥ ४ ॥

तद्युक्तात् काले सप्तमी ॥[2] *५* ॥

---

१. कोशे तु—"पाटलिपुत्रादागतोऽस्मि।" इति। काशिकावृत्तावप्येष एव पाठः ॥ (पृ० ८०)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. नैतं नगरं कुत्रचिदप्युपवर्णितम् । दिष्ट्या संयुक्तप्रान्त इटावानगरात् त्रिषु योजनेषु पूर्वोत्तरदिशे कुदारकोटग्रामे श्रीहरिदत्तसुतस्य श्रीहरिवर्मणः शिलालेखः सम्प्राप्तः । (द्रष्टव्या "एपिग्राफिया इण्डिका" प्रथमो भागः पृ० १८०, Epigr. Ind. Vol. I. p. 180). एतस्मादवगम्यतेऽनुमातुं—पुरा "गवीधुमान्" इति सम्प्रथितं "रम्यं सन्ततवेदविद्याव्याख्यानघोषबधिरीकृतदिङ्मुखं" नगरं सम्प्रति नष्टविभवं "कुदारकोट" इति नामान्तरं बिभर्त्ति इति ॥

अथ शिलालेखः—

(पं० १) आसीच्छ्रीहरिदत्ताख्यः

(पं० २) ख्यातो हरिरिवापरः ।

श्रीहर्षे समुत्कर्षं नीतोऽपि विकृतो न यः ॥ [२॥]

(पं० १०) रम्ये गवीधुमति सन्ततवेदविद्या-व्याख्यान-

(पं० ११) घोषब[धि]रीकृतदिङ्मुखेऽस्मिन् ।

उच्चैरचीकरदुदग्रशिखरं चारुचित्रं

त्रैविद्यमन्दिरमुदारमिव स साधुः ॥ [१४॥]

४. रामायणे "साङ्काश्या" इति ॥ (महाराष्ट्रशास्त्रीये बालकाण्डे सप्ततितमे सर्गे श्लो० १, ३)

इदं नगरमिक्षुमत्याः ("कालीनदी" इत्यपरनाम्न्याः) वामतीरे फतहगढनगरात् पश्चिमदक्षिणे-कादशक्रोशेषु, कान्यकुब्जनगराच्चोत्तरपश्चिमस्यां द्वाविंशतिक्रोशेषु 'संकिसा' इति नाम्ना सम्प्रति लोके प्रसिद्धम् । कुदारकोटग्रामादष्टादशक्रोशाभ्यन्तरे स्थितोऽयं सङ्किसाग्रामः । पुरात्र बौद्धानां महान् तीर्थं आसीत् । धर्मराजप्रियदर्शिनाऽशोकेन कारितः स्तूपस्तत्राद्यापि तिष्ठति ॥

रामायणे चोक्तम्—

"ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥१॥
भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥२॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।
साङ्काश्यां पुण्यसङ्काशां विमानमिव पुष्पकम् ॥३॥"

(महाराष्ट्रशास्त्रीये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः)

अथापि द्रष्टव्यं विनयपिटके सुत्तविभङ्गे प्रथमपाराजिके (१ । ४) वेरञ्जभाणवारम् ॥

तद्युक्तात् = पञ्चमीयुक्तात् कालवाचिशब्दे सप्तमी भवति, सा च मास-शब्दे पूर्ववार्त्तिके दर्शिता ॥ ५ ॥

अध्वनः प्रथमा च ॥[२] ६ ॥

'सप्तमी' इत्यनुवर्त्तते । अध्ववाचिनि शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु । अत्र योजन-शब्दे प्रथमा-सप्तम्यौ भवतः ॥ [६॥] २८ ॥

पूर्व[१] अपादान-सञ्ज्ञा कर चुके हैं। उस का फल यहां दिखलाते हैं। ['अपादाने'] अपादान कारक में ['पञ्चमी'] पंचमी विभक्ति हो। ग्रामादागच्छति इत्यादि उदाहरणों में ग्राम आदि अपादान-सञ्ज्ञक शब्दों से पंचमी विभक्ति होती है ॥

अब आगे वार्त्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

'पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥' ल्यबन्त क्रिया का लोप हो और उस का जो कर्म है, उस में पञ्चमी विभक्ति हो। प्रासादमारुह्य प्रेक्षते = प्रासादात् प्रेक्षते । यहां ल्यबन्त क्रिया आरुह्य है। उस का लोप हो गया है, इससे उस के प्रासाद कर्म में पंचमी विभक्ति हुई है ॥ १ ॥

'अधिकरणे च ॥' ल्यबन्त क्रिया का जो अधिकरण है, उस में पञ्चमी विभक्ति हो और ल्यबन्त क्रिया का लोप हो जावे। आसने उपविश्य प्रेक्षते = आसनात् प्रेक्षते । यहां उपविश्य ल्यबन्त क्रिया है। उस के आसन अधिकरण शब्द में पंचमी हुई और उपविश्य ल्यबन्त का लोप हो गया ॥ २ ॥

'प्रश्नाख्यानयोश्च ॥' प्रश्न और आख्यानवाची शब्द में पंचमी विभक्ति हो। कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात्[३]। यहां कुतः-शब्द में प्रश्नवाची के होने से और पाटलिपुत्र-शब्द में आख्यान के होने से पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ३ ॥

'यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥' जहां से मार्ग और काल का प्रमाण किया जाय, वहां पंचमी विभक्ति हो। गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमान् किसी नगर का नाम है, उस से सांकाश्य नगर चार योजन दूर है। यहां गवीधुमान् से मार्ग का प्रमाण होता है। इससे उस में पंचमी विभक्ति हो गई। और योजन-शब्द में प्रथमा और सप्तमी दो विभक्ति हों—योजनानि, योजनेषु । कालनिर्माण—कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे । यहां कार्त्तिकी-शब्द से काल का प्रमाण है। उस में पंचमी और मास-शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ [४—६॥] २८ ॥

अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते[४] ॥ २९ ॥

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

२. १ । ४ । २४ ॥

३. काश में—"पाटलिपुत्राद्वसति ॥" कारकीय में (सू० ८०) भी इसी प्रकार से है ॥

४. कार०—सू० ८४ ॥ न्या० शा०—"काले द्वितीया च ॥" (२।१।८४)

'पञ्चमी' इत्यनुवर्त्तते । [अन्या० । ७ । १ ।] 'अन्य, आरात् , इतर, ऋते, दिक्छब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् , आहि' इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । अन्य'— अन्योऽयं वृक्षः पूर्वदृष्टात् । अन्यमिदं कुलं पूर्वदृष्टात् । आरात्— क्षत्रियादारात् । इतर— इतरो देवदत्तात् । ऋते— ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । दिग्वाचिनः शब्दाः = दिक्छब्दाः— पूर्वो ग्रामात् कूपः । उत्तरो ग्रामात् कूपः । अञ्चुः क्विबन्तो धातुरुत्तरपदं यस्य, सोऽञ्चूत्तरपदः— प्राग् ग्रामान्नदी । प्रत्यग् ग्रामान्नदी । आच्— दक्षिणा ग्रामात् । अत्र 'दक्षिणादाच्[२] ॥' इत्याच्-प्रत्ययान्तस्याव्ययशब्दस्य ग्रहणम् । आहि— दक्षिणाहि ग्रामात् । अत्राप्याहि-प्रत्ययान्तस्याव्ययस्यैव ग्रहणम् । अन्य-शब्दादियोगे शब्दान्तरेभ्यः परा पञ्चमी भवति ॥

'दिक्छब्द' इत्येव सिद्धेऽञ्चूत्तरपद-ग्रहणं किमर्थम् । 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन[३] ॥' इत्यतसर्थप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विहिता, तद्बाधनार्थमञ्चूत्तरपद-ग्रहणम् । अञ्चूत्तरपदस्यातसर्थत्वात् । अतसर्थेष्वञ्चूत्तरपदमप्यव्ययं वर्त्तते ॥ २९ ॥

['अन्यारा०'] अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्-प्रत्ययान्त अव्यय शब्द, आहि-प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति हो। अन्य— अन्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः । यहां अन्य-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से पंचमी विभक्ति हुई । आरात्— आराच्छूद्राद् रजकः । यहां आरात् के योग में शूद्र-शब्द से । इतर— स्वस्मादितरं न गृह्णीयात् । यहां इतर-शब्द के योग में स्व-शब्द से पंचमी । ऋते— ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । यहां ऋते-शब्द के योग में ज्ञान-शब्द से पंचमी । दिग्वाची शब्द— पूर्वो ग्रामात् कूपः । यहां दिग्वाची पूर्व-शब्द के योग में ग्राम शब्द से पंचमी । अञ्चूत्तरपद— प्राग् ग्रामात् । यहां अञ्चूत्तरपद प्राक्-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से पंचमी । आच्-प्रत्ययान्त— दक्षिणा कूपाद् वृक्षः । यहां आच्-प्रत्ययान्त दक्षिणा-शब्द के योग में कूप-शब्द से पंचमी । आहि-प्रत्ययान्त— दक्षिणाहि नगराद् वृक्षः । और यहां आहि-प्रत्ययान्त दक्षिणाहि-शब्द के योग में नगर-शब्द से पंचमी विभक्ति होती है ॥

'दिक्छब्द' के ग्रहण से अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते, फिर अञ्चूत्तरपद-ग्रहण इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, उस को बाध कर पंचमी विभक्ति ही हो ॥ २९ ॥

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन[४] ॥ ३० ॥

षष्ठी । १ । १ । अतसर्थप्रत्ययेन । ३ । १ । अतसुच्-प्रत्ययस्य येऽर्थाः,

---

१. जयादित्यः— "अन्य इत्यर्थग्रहणम् ॥"　　३. २ । ३ । ३० ॥

२. ५ । ३ । ३६ ॥　　४. काश०— पृ० ८३ ॥

यत्र विहिताः प्रत्यया अतसर्थाः । अतसर्थाश्च ते प्रत्ययाः = अतसर्थप्रत्ययाः । अतसर्थप्रत्ययान्तेन युक्ते सति षष्ठी विभक्तिर्भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टाद् ग्रामस्य । पश्चाद् ग्रामस्य इत्याद्युदाहरणेष्व-तसर्थप्रत्ययान्ताव्यययोगे ग्राम-शब्दात् षष्ठी भवति ॥ ३० ॥

['अतसर्थप्रत्ययेन'] अतसुच्-प्रत्ययान्त के अर्थों में वर्त्तमान जो अव्यय-शब्द हैं, उन के योग में अन्य शब्द से ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो। दक्षिणतो ग्रामस्य। उपरि ग्रामस्य। इत्यादि उदाहरणों में अतसर्थप्रत्ययान्त अव्ययों के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ ३० ॥

एनपा द्वितीया[1] ॥ ३१ ॥

पूर्वसूत्रेण षष्ठी प्राप्ता । तस्यायमपवादः । एनप्-प्रत्ययस्यातसर्थत्वात् । 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः[2]॥' इति सूत्रमागमिष्यति, तस्येदं ग्रहणम् । एनपा । ३ । १ । द्वितीया । १ । १ । एनप्-प्रत्ययस्य योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति । दक्षिणेन ग्रामम् । उत्तरेण ग्रामम् । अत्रैनप्-प्रत्ययस्य योगे ग्राम-शब्दाद् द्वितीया ॥ ३१ ॥

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप्-प्रत्यय के होने से पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है। ['एनपा'] एनप्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो। दक्षिणेन ग्रामम्। यहां दक्षिणेन एनप्-प्रत्ययान्त के योग में ग्राम-शब्द से द्वितीया हुई है ॥ ३१ ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्[3] ॥ ३२ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । अप्राप्ता तृतीया विकल्प्यते । [पृथग्-विना-नानाभिः । ३ । ३ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । अ० ।] 'पृथक्, विना, नाना' इति त्रयाणामव्ययानां योगे विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति । पक्षे पञ्चमी भवति । पृथग्ग्रामेण पृथग्ग्रामात् । विना घृतेन, विना घृतात् । नाना घृतेन, नाना घृतात् । अत्र पृथगादियोगे ग्रामादिशब्देषु तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

अत्र जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादयो येन केन प्रकारेण[4] विनायोगे द्वितीयां

1. कार०—सू० ८६ ॥
चा० श०—"एनपा ॥" (२ । १ । ५२)
2. ५ । ३ । ३५ ॥
3. कार०—सू० ८७ ॥
चा० श०—"विना तृतीया च ॥ पृथग्नानाभ्याम् ॥" (२ । १ । ८५, ८६)
4. काशिकायाम्—"पृथग्विनानानाभिरिति योगविभागो द्वितीयार्थः ।"
सिद्धान्तकौमुद्याम्—"पञ्चमीद्वितीयेऽनुवर्त्तेते ।" (कारकप्रकरणे)
प्रक्रियाकौमुद्याम्—"पक्षे पञ्चमीद्वितीये ।" (विभक्त्यर्थप्रकरणे)

चिद्भति । तदिदं तेषां भ्रम एवास्ति । कुतः । यदि विनायोगे द्वितीयाऽनेन स्यात्, तर्हि महाभाष्यकारेण पञ्चम्या व्याख्यानं कृतं, द्वितीयायाः कथं न कुर्यात् । अन्यच्च 'कर्मणि द्वितीया'॥[1] इति सूत्रस्य व्याख्याने 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनादविहिता द्वितीया कस्यचिच्छब्दस्य योगे सत्प्रयोगेषु दृष्टा चेत्, सिद्धा मन्तव्या । अतो जयादित्यादीनां कथनमयुक्ततरमेवास्ति ॥ ३२ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि तृतीया विभक्ति किसी से प्राप्त नहीं । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['पृथग् विना-नानाभिः'] पृथक्, विना, नाना इन तीन अव्यय शब्दों के योग में ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया विभक्ति हो । पक्ष में पंचमी हो । पृथक् स्थानेन, पृथक् स्थानात् । यहां पृथक्-शब्द के योग में स्थान-शब्द से । विना—विना घृतेन, विना घृतात् । यहां विना-शब्द के योग में घृत-शब्द से । नाना—नाना पदार्थेन, नाना पदार्थात् । और यहां नाना-शब्द के योग में पदार्थ-शब्द से तृतीया और पंचमी विभक्ति होती है ॥

इस सूत्र में जयादित्य और भट्टोजिदीक्षित आदि पण्डितों ने जिस किसी प्रकार से 'विना-शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति होती है' ऐसा लिखा है, सो ठीक नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पंचमी की अनुवृत्ति की है । जो द्वितीया आती, तो उस को भी लिखते । और अनभिहित कर्म में जहां द्वितीया विभक्ति होती है, वहां एक कारिका लिख चुके हैं[2]। उस का यही प्रयोजन है कि जिन शब्दों के योग में किसी सूत्र से द्वितीया विधान नहीं और सत्य ग्रन्थों में आवे, उस को इसी कारिका से समझना चाहिये । इसलिये उक्त लोगों का व्याख्यान किसी प्रकार ठीक नहीं ॥ ३२ ॥

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य[2] ॥ ३३ ॥

चकारेण 'तृतीया' इत्यनुवर्त्तते । पञ्चमी स्वाभाविकाऽनुवर्त्तत एव । करणे । ७ । १ । च । [अ० ।] स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य । ६ । १ । असत्त्ववचनस्य । ६ । १ । असत्त्ववचनस्य = अद्रव्यवाचिनां स्तोकादीनां करणे तृतीया-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः । यत्र स्तोकादिभिः सह विशेष्यो नोच्यते, तत्र स्तोकादयोऽसत्त्ववचना भवन्ति । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः, अल्पान्मुक्तः । कृच्छ्रेण बद्धः, कृच्छ्राद्बद्धः । कतिपयेन मुक्तः, कतिपयान्मुक्तः । अत्र करणवाचिभ्यः स्तोकादिभ्यस्तृतीया-पञ्चम्यौ भवतः ॥

'असत्त्ववचनस्य' इति किम् । स्तोकेन जलेन तृप्तः । अल्पेन मद्येन मत्तः ॥

---

१. २ । ३ । २ ॥
२. द्र०—पृ० ८८ ॥

चा० सू०—“स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वात् करणे ॥” (२ । १ । ८०)

करण-ग्रहणं किम् । अल्पं त्यजति । स्तोकं मुञ्चति । अत्रोभयत्र करणा-भावात् तृतीया विभक्तिर्न भवति ॥ ३३ ॥

['असत्त्ववचनस्य'] अद्रव्यवाची ['स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य'] स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इन शब्दों से ['करणे'] करण कारक में तृतीया और पंचमी विभक्ति हों । स्तोकेन मुक्तः, स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन अल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः । यहां स्तोक आदि शब्दों से तृतीया, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

अद्रव्यवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पेन जलेन तृप्तः' यहां पंचमी विभक्ति नहीं हो ॥

करण-ग्रहण इसलिये है कि 'अल्पं त्यजति' यहां तृतीया [और] पंचमी विभक्ति न हों ॥ ३३ ॥

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्[1] ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थैः । ३ । ३ । षष्ठी । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] दूरार्थानामन्तिकार्थानां = समीपार्थानां शब्दानां योगे षष्ठी विभक्तिर्विकल्पेन भवति । पक्षे पञ्चमी । दूरं ग्रामस्य, दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य, विप्रकृष्टं ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य, अन्तिकं ग्रामात् । समीपं ग्रामस्य, समीपं ग्रामात् ॥

[अन्यतरस्यां-ग्रहणे प्रकृते पुनर्] अन्यतरस्यां-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—पञ्चमी यथा स्यात् । अन्यथा समीपस्यानुवर्त्तनात् तृतीया मा भूत् ॥ ३४ ॥

['दूरान्तिकार्थैः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, और पक्ष में पंचमी हो । दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामस्य । दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामात् । यहां दूरवाची दूर- और विप्रकृष्ट-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी, पञ्चमी विभक्ति । अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य ग्रामाद् वा । यहां समीपवाची अन्तिक- और समीप-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से षष्ठी, पंचमी विभक्ति हुई हैं ॥

विकल्प-ग्रहण पक्ष में पंचमी होने के लिये समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च[2] ॥ ३५ ॥

'षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तते । षष्ठ्या विकल्पात् पक्षे पञ्चमी भवति । एवं विभक्तित्रयं सिद्धं भवति । दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया भवति, विकल्पेन षष्ठी भवति । पक्षे पञ्चमी च[3] । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्र-

---

१. कार०—सू० ८६ ॥

२. कार०—सू० ६० ॥

३. जयादित्यस्तु—"पञ्चम्यनुवर्त्तते । दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया विभक्तिर्भवति । चकारात् पञ्चमी तृतीयापि समुच्चीयते ।" शब्दकौस्तुभे—"चकारात् पञ्चमीतृतीये ।"

कृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । सनीडं, सनीडस्य, सनीडाद् वा ग्रामस्य । पूर्वसूत्रेण दूरान्तिकार्थैर्योगेऽन्यशब्देभ्यो विभक्तिविधानम् । अत्र तु दूरान्तिकार्थेभ्य एव विभक्तयो भवन्ति ॥ ३५ ॥

['दूरान्तिकार्थेभ्यः'] दूरवाची और समीपवाची शब्दों से ['द्वितीया'] द्वितीया हो । विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में पञ्चमी विभक्ति हो । दूरं, दूरस्य, दूराद् वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं, विप्रकृष्टस्य, विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य । यहां दूरवाची शब्दों से द्वितीया, षष्ठी और पञ्चमी । तथा 'अन्तिकं, अन्तिकस्य, अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । समीपं, समीपस्य, समीपाद् वा ग्रामस्य' यहां समीपवाची शब्दों से उक्त तीनों विभक्ति होती हैं । पूर्व सूत्र से तो दूरवाची और समीपवाचियों के योग में विभक्ति होती हैं और यहां इन्हीं से होती हैं ॥ ३५ ॥

सप्तम्यधिकरणे च[1] ॥ ३६ ॥

'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इत्यनुवर्त्तते । सप्तमी । १ । १ । अधिकरणे । ७ । १ । च । [अ० ।] अधिकरण-सञ्ज्ञा पूर्वं कृता[2], तस्या इह फलं दर्श्यते ॥

भा०—अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकं[3] भवति[4]—व्यापकं, औपश्लेषिकं, वैषयिकमिति ॥[5]

इदं वचनं महाभाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे 'संहितायाम्[6] ॥' इति सूत्रस्योपरि वर्त्तते । अस्मिन् त्रिप्रकारकेऽधिकरणकारके सप्तमी विभक्तिर्भवति, दूरान्तिकार्थेभ्यश्च[7] । व्यापके—तिलेषु तैलम् । दध्नि घृतम् । तैलं तिलेषु व्याप्तं, दध्नि घृतं च व्याप्तं भवति । अतोऽत्र व्यापकेऽधिकरणे सप्तमी । औपश्लेषिके—कटे शेते । खट्वायां शेते । ग्रामे वसति । अत्र कट-खट्वा-ग्रामा[णां] सर्वावयवेषु व्याप्तो न भवत्यत उपश्लेषः । वैषयिके—अशिति = अशिद्विषये । आर्धधातुके = आर्धधातुकविषये । खे शकुनयः । खे विषय इति गम्यते ॥

वार्त्तिकानि—

सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥[8] १ ॥

क्त-प्रत्ययान्ताद् इन्-प्रत्ययविषये यत् कर्म, तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति । अधी-

---

१. कार०—सू० १३१ ॥
चा० श०—"सप्तम्याधारे ॥" (२ । १ । ८८)
२. "आधारोऽधिकरणम् ॥" (१ । ४ । ४५)
३. कोशे—त्रिःप्रकारकम् ॥
४. महाभाष्यकोशेषु न दृश्यते ॥
५. अ० ६ । पा० १ । आ० १ ॥
६. ६ । १ । ७२ ॥
७. एतेषामुदाहरणानि—दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । सनीडे ग्रामस्य ॥
८. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

वधीती व्याकरणे । परिगणिती याज्ञिक्ये[1]। अत्र 'असावधीती' इत्यस्य व्याकरणं कर्म,तत्र सप्तमी । अमुना मनुष्येण व्याकरणमधीतम् ॥ १ ॥

साध्वसाधुप्रयोगे च ॥[2] *२ ॥*

साधु-शब्दस्य असाधु-शब्दस्य च योगेऽन्यशब्दात् सप्तमी भवति । साधुर्देवदत्तो मातरि[3]। असाधुर्मातुले कृष्णः । अत्र साधु-असाधु-शब्दप्रयोगे मातृ-मातुल-शब्दाभ्यां सप्तमी ॥ २ ॥

कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥[2] *३ ॥*

कारकार्हेषु = कारकयोग्येषु स्वकार्यत्वमापन्ने सति सप्तमी विभक्तिर्भवति[4] । ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते । ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते । अत्र ऋद्धा ब्राह्मणाश्च कारका[र्हाः], ते स्वकार्यत्वमापन्नाः, तेष्वेव सप्तमी भवति ॥ ३ ॥

अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥ ४ ॥

मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति ॥[2]

अत्राकारकार्हा मूर्खा वृषलाश्च स्वकार्यत्वमापन्नाः, तत्र सप्तमी ॥ ४ ॥

तद्विपर्यासे च ॥[2] *५ ॥*

अकारकार्हाः कारकार्हाणां योग्यतामापन्नाः कारकार्हाश्चाकारकार्हाणां, तदा पूर्वप्रयुक्तेषु सप्तमी भवति । ऋ[द्धे]ष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति ॥ ५ ॥

निमित्तात् कर्मसंयोगे[5] *॥*[2] *६ ॥*

निमित्तवाचिशब्दात् सप्तमी विभक्तिर्भवति कर्मसंयोगे सति ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको[6] हतः ॥[2] १ ॥

अत्र निमित्तवाचिषु चर्मादिशब्देषु सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ [६ ॥] ३६ ॥

---

१. कोशे—"याज्ञिके ।" इति । कारकार्थेऽप्येष एव पाठः ॥ (सू० १३४)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. न्यासे—"अत्राप्यधिकरण एव सप्तमी । तथा ह्यत्र मातृस्थासु क्रियासु मातृ-शब्दो वर्तते ।... तासां च क्रियाणां साध्वसाधुतां प्रति विषयभावो ऽस्तीति वैषयिकाधिकरण एव सप्तमी ।"

४. न्यासे—"भावप्रधानोऽत्र कारकशब्दः । क्रियां प्रति येषां कारकत्व साधनत्वं न्याय्यं, ते कारकार्हाः, तेषां कारकार्हत्वे सप्तमी वक्तव्या ।" [(२।१।८६)

५. चा० श०—"निमित्ताद् व्याप्येन ॥"

६. हरदत्तः—"पुष्कलकः = शङ्कुः । स सीम्नि = सीमाज्ञानार्थं हतः [=निहनः] = निखात इत्यर्थः ।"
शब्दकौस्तुभे —"दुर्गवाक्यप्रबोधे तु कुलचन्द्र-

अधिकरण तीन प्रकार का होता है—[१] व्यापक [२] औपश्लेषिक [३] वैषयिक । व्यापक उस को कहते हैं कि जो एक वस्तु में दूसरी मिली हुई हो । औपश्लेषिक वह होता है कि जिस में स्थिति हो । और वैषयिक [जो] उस के विषय में हो । इस तीन प्रकार के अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हो । और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी हो[1] । व्यापक — तिलेषु तैलम् । तिलों के बीच तेल व्यापक है, इससे तिल-शब्द में सप्तमी । औपश्लेषिक—कटे शेते । चटाई पर सोता है । यहां कट-शब्द में सप्तमी । और वैषयिक—खेशकुनयः । आकाश के विषय [में] पक्षी उड़ते हैं । यहां ख-शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है ॥

अब वार्त्तिकों के अर्थ किये जाते हैं—

'सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् ॥' क्त-प्रत्ययान्त से जहां इन्-प्रत्यय हो, वहां [उस के] कर्म में सप्तमी विभक्ति हो । अधीती व्याकरणे । यहां अधीती-शब्द में क्त-प्रत्ययान्त से इन्-प्रत्यय हुआ है, और व्याकरण-शब्द कर्म है । उस में सप्तमी हो गई ॥ १ ॥

'साध्वसाधुप्रयोगे च ॥' साधु- और असाधु-शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति हो । साधुर्देवदत्तो मातरि । यहां साधु-शब्द के योग में मातृ-शब्द से । असाधुर्मातुले कृष्णः । और यहां असाधु-शब्द के योग में मातुल-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ २ ॥

'कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥' कारक जो हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो उन से सप्तमी हो । ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते । यहां ऋद्ध-शब्द कारक है । उस के यथावत् कृत्य को प्राप्त होने से उस में सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ३ ॥

'अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥' जो कारक योग्य नहीं हैं, वे अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों, तो भी सप्तमी विभक्ति हो । मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । यहां मूर्ख-शब्द में अकारक के होने से सप्तमी हुई है ॥ ४ ॥

'तद्विपर्यासे च ॥' और इन के कर्म के बदलने में अर्थात् मूर्खों को शिष्टों के [और शिष्टों को मूर्खों के] कर्म प्राप्त होने में [पूर्व प्रयुक्त से] सप्तमी हो जावे । ऋद्धेष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । यहां विपरीत भाव होने से ऋद्ध-शब्द में सप्तमी हुई ॥ ५ ॥

['निमित्तात् कर्मसंयोगे ॥'] निमित्तवाची शब्द से कर्म के संयोग में सप्तमी हो । चर्मणि द्वीपिनं हन्ति । यहां 'द्वीपिनं' इस कर्म के संयोग में निमित्तवाची चर्म-शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ ६ ॥ ३६ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम्[2] ॥ ३७ ॥

स्वाप—सीमा = अण्डकोशः, पुष्कलकः = गन्धमृगः ।"

कारकीये (सू० १३६)—"(सीम्नि पुष्कलको०) कस्तूरी की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है ।"

१. इन के उदाहरणों के लिये देखो पृष्ठ २६४ टिप्पण ७ ॥

२. कार०—सू० १४० ॥
चा० श० (१ । १ । ६०)—"पत्क्रिया क्रियाचिह्नम् ॥"

सप्तमी-ग्रहणमनुवर्त्तते । यस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] भावेन । ३ । १ । भावलक्षणम् । [१ । १ ।] भावस्य लक्षणं = भावलक्षणम् । यस्य भावेन = यस्य क्रियया भावलक्षणं = क्रियाया लक्षणं भवति, तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति । अग्निषु हूयमानेषु गतः । हुतेष्वागतः । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र 'दुह्यमानासु, दुग्धासु' इति च सप्तमी भवति ॥

'भावेन' इति किम् । यो जटिलः स भुङ्क्ते । अत्र सप्तमी न भवति ॥ ३७ ॥

['यस्य भावेन'] जिस की क्रिया से ['भावलक्षणम्'] दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय, उस में सप्तमी विभक्ति हो । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । यहां गमनागमन क्रिया का लक्षण दोहन क्रिया से किया जाता है । इस में सप्तमी हो गई ॥

'भावेन' ग्रहण इसलिये है कि 'यो जटिलः स भुङ्क्ते' यहां सप्तमी न हो ॥ ३७ ॥

षष्ठी चानादरे[1] ॥ ३८ ॥

षष्ठी । १ । १ । च । [अ० ।] अनादरे । ७ । १ । चकारात् सप्तम्य-नुवर्त्तते । अनादरेऽर्थे गम्यमाने [यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः] षष्ठी भवति, चकारात् सप्तमी च । आहूयमानस्य देवदत्तस्य आहूयमाने वा चौरो गतः । रुदतः रुदति वा बालो गतः । आहूयमानं रुदन्तं चानादृत्य गत इत्यर्थः । अत्राहूयमान-शब्दे रुदत्-शब्दे च षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥ ३८ ॥

['अनादरे'] अनादर अर्थ में [जिस की क्रिया से दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय, वहां 'षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो, ['च'] और चकार से सप्तमी हो । आहूयमानस्य आहूयमाने वा गतः । यहां आहूयमान शब्द में षष्ठी और सप्तमी हुई है । आहूयमान अर्थात् बुलाए जाते हुए का निरस्कार करके गया ॥ ३८ ॥

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च[2] ॥ ३९ ॥

स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः । ३ । ३ । च । [अ० ।] षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्त्तेते । 'स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत' इत्येतैः शब्दैर्योगे षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । गवां स्वामी, गोषु स्वामी । पृथिव्या ईश्वरः, पृथिव्यामीश्वरः । ग्रामस्याधिपतिः, ग्रामेऽधिपतिः । क्षेत्रस्य दायादः, क्षेत्रे दायादः । दत्तस्य साक्षी, दत्ते साक्षी । धनस्य प्रतिभूः, धने प्रतिभूः । गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः । अस्मिन् सूत्रे स्व-स्वामि-

१. कार०—सू० १४१ ॥ २. कार०—सू० १४२ ॥

भा० रा०—"षष्ठी चानादरे ॥" (२।१।६१)

सम्बन्धत्वात् [शेषलक्षणा] षष्ठ्येव प्राप्ता । सप्तम्यपि स्यादिति प्रयोजनार्थं सूत्रमिदम् । स्वाम्यादियोगे गवादिशब्देषु षष्ठी-सप्तम्यौ ॥ ३९ ॥

[‘स्वामि-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः’] स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी दो विभक्ति हों। [स्वामिन्—] गवां स्वामी । गोषु स्वामी । यहां स्वामि-शब्द के योग में गो-शब्द में । ईश्वर—पृथिव्या ईश्वरः । पृथिव्यामीश्वरः । यहां ईश्वर-शब्द के योग में पृथिवी-शब्द से । अधिपति—ग्रामस्याधिपतिः । ग्रामेऽधिपतिः । यहां अधिपति-शब्द के योग में ग्राम-शब्द से । दायाद—क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायादः । यहां दायाद-शब्द के योग में क्षेत्र-शब्द से । साक्षिन्—देवदत्तस्य साक्षी । देवदत्ते साक्षी । यहां साक्षि-शब्द के योग में देवदत्त-शब्द से । प्रतिभू—धनस्य प्रतिभूः । धने प्रतिभूः । यहां प्रतिभू-शब्द के योग में धन-शब्द से । प्रसूत—गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । और यहां प्रसूत-शब्द के योग में गो-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है । इस सूत्र के न होने से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति होती । ‘सप्तमी भी हो’ इसलिये है कि सप्तमी भी हो जावे ॥ ३९ ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्[1] ॥ ४० ॥

षष्ठी-सप्तम्यावनुवर्त्तेते । आयुक्त-कुशलाभ्याम् । ३ । २ । च । [अ० ।] आसेवायाम् । ७ । १ । आ=समन्तात् युक्तः=आयुक्तः । आयुक्त-कुशल-शब्दाभ्यां योगे आसेवायां सत्यां षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । आयुक्तः पठनस्य, आयुक्तः पठने । कुशलो लेखनस्य, कुशलो लेखने । अत्र पठन-लेखन-शब्दाभ्यां षष्ठी-सप्तम्यौ भवतः ॥

‘आसेवायाम्’ इति किम् । आयुक्तो वृषभः शकटे । अत्र ईषद्युक्तत्वाद् आसेवा नास्ति । तत्राधिकरणे सप्तमी भवति । अधि[करणे] सप्तम्यां प्राप्तायां षष्ठ्यर्थं सूत्रमिदम् ॥ ४० ॥

[‘आसेवायाम्’] आसेवा अर्थ में [‘आयुक्त कुशलाभ्यां’] आयुक्त- और कुशल-शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । आयुक्तः पठनस्य । आयुक्तः पठने । यहां आयुक्त-शब्द के योग में पठन-शब्द से । कुशलो लेखनस्य । कुशलो लेखने । और कुशल-शब्द के योग में लेखन-शब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥

आसेवा-ग्रहण इसलिये है कि ‘आयुक्तो वृषभः शकटे’ यहां आसेवा के न होने से षष्ठी विभक्ति न हुई । अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी, षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है ॥ ४० ॥

यतश्च निर्द्धारणम्[2] ॥ ४१ ॥

१. कार०—सू० १४३ ॥

२. कार०—सू० १४४ ॥ चा० श०—“यतो निर्धारणम् ॥” (२।१।६१)

यतः । [अ० ।] च । [अ० ।] निर्द्धारणम् । १ । १ । षष्ठी-सप्तम्या-धनुवर्त्तेते । यतः = यस्मात् समुदायवाचिजाति-गुण-क्रिया-शब्दात् निर्द्धारणम् = एकस्य पृथक्करणं भवति, तस्मात् षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । ब्राह्मणानां वेदविच्छ्रेष्ठतमः, ब्राह्मणेषु वेदविच्छ्रेष्ठतमः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः, मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः । अत्र जातिवाचिब्राह्मण-शब्दात् मनुष्य-शब्दाच्च निर्द्धारणं, तत्र षष्ठी-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ ४१ ॥

समुदायवाची जाति आदि शब्द से एक जो अलग करना है, उस को निर्द्धारण कहते हैं। ['यतः'] जिस से ['निर्द्धारणं'] निर्द्धारण किया जाय, अर्थात् एक को अलग किया जाय, वहां षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों। ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा वेदविच्छ्रेष्ठतमः । यहां जातिवाची ब्राह्मण-शब्द से निर्द्धारण है, उस में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥४१॥

पञ्चमी विभक्ते[1] ॥ ४२ ॥

षष्ठी-सप्तम्यौ निवृत्ते । पञ्चमी । १ । १ । विभक्ते । ७ । १ । यस्मिन् निर्द्धारणे विभागो भवति, तत्र पञ्चमी विभक्तिर्भवति । पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः । अत्र पाटलिपुत्रनिवासिभ्यः सांकाश्यनिवासिनां विभागो भवति, तस्मात् पाटलिपुत्रे पञ्चमी । निर्द्धारणं तु वस्तुत एकत्वमेव भवति, कथनमात्रं पृथक्त्वम् । अत्र तु वस्तुत एव विभागः[2] । पूर्वसूत्रेण षष्ठी-सप्तम्यौ प्राप्ते, तयोरपवादः ॥ ४२ ॥

पूर्व सूत्र से निर्द्धारण अर्थ में षष्ठी, सप्तमी विभक्ति प्राप्त हैं। उस का अपवाद यह सूत्र है। जिस से निर्द्धारण में ['विभक्ते'] विभाग किया जाय, उस में ['पञ्चमी'] पञ्चमी विभक्ति हो। पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः । यहां पाटलिपुत्र से सांकाश्य का विभाग होता है, इसलिये पाटलिपुत्र में पञ्चमी हो गई। पूर्व सूत्र से जो निर्द्धारण होता है, वह तो समुदाय से एक का पृथक् समझना ही है। और यहां तो प्रथम ही से विभाग है ॥ ४२ ॥

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः[3] ॥ ४३ ॥

साधु-निपुणाभ्याम् । ३ । २ । अर्चायाम् । ७ । १ । सप्तमी । १ । १ । अप्रतेः । ६ । १ । अर्चायां = पूजायां = सत्कारे । साधु-निपुण-शब्दाभ्यां योगे सप्तमी विभक्तिर्भवति, अर्चायां सत्कारे सति, अप्रतेः = प्रतियोगं विहाय ।

---

१. काश०—सू० २४५ ॥

२. न्यासकार—"यत्र राशीकृतस्य पृथक्करणं, स पूर्वस्य योगस्य विषयः । यत्र तु पृथग्भूतस्यैव गुणान्तरविभजनं सोऽस्य । तत्र ह्वयोरप्यवस्थयो- विभाग एवेति कृत्वा ।"

३. काश०—सू० २४६ ॥

मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः । मातापित्रोः प्रीत्या सेवकः [इत्यर्थः ।] सेवनमेव तयोरर्चा । तत्र मातृ-शब्दे पितृ-शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥

'अर्चायाम्' इति किम् । राज्ञो भृत्यः साधुः । अत्र सेवा नास्तीति सप्तमी न भवति ॥

'अप्रतेः' इति किम् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । अत्र प्रति-योगे सप्तमी न भवति ॥

वा०—अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति[1] । मातरं परि । मातरमनु ॥[2]

अत्र प्रत्यादीनां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया भवति ॥ ४३ ॥

['अर्चायाम्'] पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्तमान जो ['साधु-निपुणाभ्यां'] साधु- और निपुण-शब्द, इन के योग में ['सप्तमी'] सप्तमी विभक्ति हो, ['अप्रतेः'] प्रति के योग में न हो । मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः । यह पुत्र माता पिता की प्रीति पूर्वक सेवा करता है । यही पूजा कहाती है । इससे मातृ-पितृ-शब्द में सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

अर्चा ग्रहण इसलिये है कि 'साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः' यहां पूजा के न होने से सप्तमी नहीं हुई ॥

'अप्रतेः' इस का ग्रहण इसलिये है कि 'साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति' यहां प्रति के योग में सप्तमी न हो ॥

'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥' इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि सूत्र से जो प्रति के योग में निषेध किया है, सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझना चाहिये । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु । यहां सर्वत्र सप्तमी न हो ॥ ४३ ॥

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च[3] ॥ ४४ ॥

सप्तम्यनुवर्त्तते । प्रसित-उत्सुकाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । च । [अ० ।] 'प्रसित, उत्सुक' इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति । चात् सप्तमी च । प्रसितः = प्रतिबद्धः[4] । उत्सुकः = उत्कण्ठितः । विद्यया प्रसितः ।

---

१. केषुचिन्महाभाष्यकोशेषु प्रति-शब्दो नोपलभ्यते ।

२. अ० २ । पा० ३ । आ० २ ॥

३. कार०—सू० १४८ ॥

४. महाभाष्ये—" 'प्रसितः' इत्युच्यते । कः प्रसितो नाम । यस्तत्र नित्यं प्रतिबद्धः । कुत एतत् । सिनोतिरयं बध्नात्यर्थे वर्त्तते । बद्ध इवासौ तत्र भवति ॥" (अ० २ । पा० ३ । आ० २)

विद्यायां प्रसितः । पठनेनोत्सुकः, पठन उत्सुकः । विद्यायां पठने च नित्यं लिप्त एवास्ति । अतो विद्या-शब्दे पठन-शब्दे च तृतीया-सप्तम्यौ । अधिकरणे सप्तमीति सप्तमी प्राप्ता । तस्या अपवादत्वेन तृतीया विधीयते ॥ ४४ ॥

अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है । उस का अपवाद यह सूत्र है । ['प्रसित-उत्सुकाभ्यां'] प्रसित और उत्सुक इन शब्दों के योग में ['तृतीया च'] तृतीया और सप्तमी विभक्ति हो । विद्यया विद्यायां वा प्रसितः । यहां प्रसित-शब्द के योग में विद्या शब्द से तृतीया, सप्तमी । गानेन गाने वोत्सुकः । और यहां उत्सुक-शब्द के योग में गान-शब्द से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई है ॥ ४४ ॥

नक्षत्रे च लुपि ॥ ४५ ॥

तृतीया-सप्तम्यावनुवर्त्तेते । नक्षत्रे । ७ । १ । च । [अ० ।] लुपि । ७ । १ । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः[1] ॥' इति नक्षत्रवाचिशब्दादण्-प्रत्ययः । 'लुबविशेषे[2] ॥' इत्यणो लुप् । तस्येदं ग्रहणम् । लुबन्तात् नक्षत्रशब्दात् तृतीया-सप्तम्यौ भवतः । पुष्येण युक्तः कालः = पुष्यः । पुष्येण कार्यमारभेत, पुष्ये कार्यमारभेत । अत्रापि सप्तमी प्राप्ता, अपवादत्वेन तृतीया विधीयते । पुष्य-शब्दोऽत्र कालवाची, तस्मिन् तृतीया-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ ४५ ॥

नक्षत्रवाची शब्द से काल अर्थ में जहां प्रत्यय का लुप् हो जाता है, उस नक्षत्र का इस सूत्र में ग्रहण है । ['लुपि'] लुबन्त ['नक्षत्रे'] नक्षत्र से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हो । पुष्य नक्षत्र से युक्त जो काल, वह पुष्य कहावे । पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत । पुष्य-शब्द यहां कालवाची है । उस से तृतीया, सप्तमी विभक्ति हुई हैं । यहां भी नक्षत्रवाची शब्द से अधिकरण में सप्तमी प्राप्त थी । उस का अपवाद यह सूत्र है ॥ ४५ ॥

यह सप्तमी [विभक्ति] का अधिकार पूरा हुआ ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[4] ॥ ४६ ॥

प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे । ७ । १ । प्रथमा । १ । १ । प्रातिपदिकार्थः = प्रातिपदिकस्य सत्ता । लिङ्गं = स्त्री-पुं-नपुंसकानि । परिमाणं = तोलनम् । वचनं = एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि । मात्र-शब्दः सर्वैः सह सम्बध्यते । प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति ।

---

१. का० — सू० १४१ ॥
२. ४ । २ । ३ ॥
३. ४ । २ । ४ ॥
४. का० — सू० ४ ॥
चा० श० — "अर्थमात्रे प्रथमा ॥" (२।१।६३)

प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । अत्र प्रथमया पदत्वं यथा स्यात् । लिङ्ग-मात्रे— कुमारी । वृक्षः । कुण्डम् । परि[माण]मात्रे—द्रोणः । खारी । आढकम् । वचनमात्रे—एकः । द्वौ । बहवः ॥

मात्र-ग्रहणं किमर्थम् । एतत्परिगणनमात्रे प्रथमा यथा स्यात्, अन्यत्र [कर्मादिविशिष्टे] मा भूत् । ओदनं पचति । कटं करोति । अत्र प्रथमा विभक्तिर्मा भूत् ॥ ४६ ॥

['प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे'] प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र में, परिमाणमात्र में और वचनमात्र में ['प्रथमा'] प्रथमा विभक्ति हो । प्रातिपदिकार्थमात्र में—उच्चैः । नीचैः । यहां प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति है । लिङ्गमात्र में—कुमारी । वृक्षः । कुण्डम् । यहां कुमारी स्त्रीलिङ्ग, वृक्ष पुंल्लिङ्ग और कुण्ड नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा । परिमाण अर्थात् तोलमात्र में— द्रोणः । खारी । आढकम् । यहां परिमाणवाची शब्दों में प्रथमा । वचन [अर्थात्] एक, दो, बहुत— एकः । द्वौ । बहवः । यहां वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है ॥

मात्र-ग्रहण इसलिये है कि इतने स्थानों ही में प्रथमा विभक्ति हो । 'कटं करोति' यहां न हो ॥ ४६ ॥

सम्बोधने च[1] ॥ ४७ ॥

प्रथमाऽनुवर्त्तते । [सम्बोधने । ७ । १ । च । अ० ।] सम्बोधनं = सम्यक् ज्ञापनम् [= अभिमुखीकरणम् ।] सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति । हे देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । सम्बोधने प्रातिपदिकार्थादधिकार्थत्वात्[2] प्रथमा विभक्तिर्न प्राप्ता । तदर्थं सूत्रमिदमारभ्यते ॥ ४७ ॥

सब प्रकार चेताने को सम्बोधन कहते [हैं ।] वहां प्रातिपदिकार्थ से अधिक होने से प्रथमा विभक्ति नहीं प्राप्त होती, इसलिये यह सूत्र है । ['सम्बोधने'] सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो । हे देवदत्त । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । यहां देवदत्त-शब्द में प्रथमा विभक्ति के तीनों वचन क्रम से होते हैं ॥ ४७ ॥

साऽऽमन्त्रितम्[3] ॥ ४८ ॥

[सा । १ । १ । आमन्त्रितम् । १ । १ ।] 'सा' इति प्रथमा निर्दिश्यते ।

---

१. ना०—सू० १७ ॥
व्या० शा०—"सम्बोधने ॥" (२ । १ । ६४)

२. न्यासे—"अभिमुखीकरणस्य क्रियापरत्वात् प्रातिपदिकार्थे तस्यान्तर्भावो नास्ति । तस्मात्तदाधिक्यत्वात् ।"

३. ना०—सू० १८ ॥

सम्बोधने या प्रथमा, तदन्तं प्रातिपदिकम् आमन्त्रितं-सञ्ज्ञं भवति । अग्ने[1] । 'आमन्त्रितस्य च[2] ॥' इति षाष्ठिकेनाद्युदात्तं सिद्धं भवति ॥ ४८ ॥

सम्बोधन में जो ['सा'] प्रथमान्त प्रातिपदिक है, वह ['आमन्त्रितम्'] आमन्त्रित-सञ्ज्ञक हो । अग्ने । यहां आमन्त्रित-सञ्ज्ञा के होने से अग्नि-शब्द में आद्युदात्त स्वर हुआ है ॥ ४८ ॥

एकवचनं सम्बुद्धिः[3] ॥ ४९ ॥

एकवचनम् । १ । १ । सम्बुद्धिः । १ । १ । तस्या आमन्त्रितप्रथमाविभक्तेरेकवचनं सम्बुद्धि-सञ्ज्ञं भवति । अग्ने । वायो[4] । देवदत्त[5] । अत्रैकवचनस्य सम्बुद्धि-सञ्ज्ञत्वाद् विभक्तेर्लोपः ॥ ४९ ॥

आमन्त्रित-सञ्ज्ञक प्रथमा विभक्ति का ['एकवचनं'] एक वचन जो है, उस की ['सम्बुद्धिः'] सम्बुद्धि-सञ्ज्ञा हो । अग्ने । वायो । देवदत्त । यहां सम्बुद्धि-सञ्ज्ञा के होने से सु-विभक्ति का लोप हो जाता है ॥ ४९ ॥

षष्ठी शेषे[6] ॥ ५० ॥

षष्ठी । १ । १ । शेषे । ७ । १ । कर्मादीनामविवक्षा शेषः । कर्मादीनि कारकाणि यत्र न विवक्ष्यन्ते, स शेषः । शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति । राज्ञः पुरुषः । कार्पासस्य वस्त्रम् । वृक्षस्य शाखा । मृत्तिकाया घट इत्यादिशेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ ५० ॥

कर्म आदि कारक संज्ञा की जहां विवक्षा न हो, वह शेष कहाता है । ['शेषे'] शेष अर्थ में ['षष्ठी'] षष्ठी विभक्ति हो । राज्ञः पुरुषः । वृक्षस्य शाखा इत्यादि शेष में षष्ठी होती है ॥ ५० ॥

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे[7] ॥ ५१ ॥

ज्ञः । ६ । १ । अविदर्थस्य । ६ । १ । करणे । ७ । १ । अविदर्थस्य = अज्ञानार्थस्य ज्ञा-धातोः करणकारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अग्निः] सर्पिषो जानीते[8] ।

---

१. न्यासे—" 'आमन्त्रितम्' इति महत्याः सञ्ज्ञायाः करणं वैचित्र्यार्थम् ॥"

२. ६ । १ । १९८ ॥

३. ना०—सू० ३६ ॥

४. ७ । ३ । १०८ ॥

५. ६ । १ । ६९ ॥

६. कार०—सू० ६८ ॥

चा० श०—"षष्ठी सम्बन्धे ॥" (२ । १ । ६५)

७. कार०—सू० ६६ ॥

८. अत्रादित्यस्तु—"सर्पिषो जानीते । मधुनो जानीते । सर्पिषा करणेन प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रवृत्तिवचनो जानातिरविदर्थः । अथ वा मिथ्याज्ञानवचनः । सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वा । चित्तभ्रान्त्या तदात्मना सर्वमेव ग्राह्यं प्रतिपद्यते । मिथ्याज्ञानमज्ञानमेव ।"

मधुनो जानीते । सर्पिषा = घृतेनाग्निः प्रसिद्धो भवति । अग्नेर्जडत्वाज्ज्ञानं नास्ति ॥

'अविदर्थस्य' इति किमर्थम् । स्वरेण वत्सं जानाति गौः । अत्र गोर्ज्ञानवत्त्वात् 'स्वरेण' इति करणे षष्ठी न भवति ॥ ५१ ॥

['अविदर्थस्य'] अविदर्थ = अज्ञानार्थ जो ['ज्ञः'] ज्ञा धातु, उस के ['करणे'] करण कारक में षष्ठी विभक्ति हो जाय । सर्पिषो जानीते । यहां ज्ञा धातु के सर्पिः करण में षष्ठी हुई है ॥

अविदर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'स्वरेण वत्सं जानाति गौः' यहां ज्ञानार्थ के होने से करणवाची स्वर-शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५१ ॥

अधीगर्थदयेशां कर्मणि[1] ॥ ५२ ॥

'शेषे' इत्यनुवर्त्तते । 'इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे[2] ।' अधिपूर्वकस्येग्-धातोरर्थे वर्त्तमाना अधीगर्थाः = स्मरणार्थाः । ते च दयश्च ईट् च, तेषाम् । अधीगर्थदयेशाम् । ६ । ३ । कर्मणि । ७ । १ । अधीगर्थदयेशां धातूनां शेषे कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । [अधीगर्थ—] मातुरध्येति । मातुः स्मरति । दय—अन्नस्य दयते । [ईश—] अन्नस्येष्टे । दय-धातुर्दानार्थोऽत्र गृह्यते । अन्नं ददातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

['अधीगर्थ-दय-ईशां'] स्मरण अर्थ वाले, दय और ईश् इन धातुओं के शेष ['कर्मणि'] कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । मातुरध्येति । मातुः स्मरति । यहां स्मरणार्थक धातुओं के कर्म में । अन्नस्य दयते । यहां दय धातु के कर्म में । और 'अन्नस्येष्टे' यहां ईश् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'मातृगुणैः स्मरति' यहां करणवाची गुण-शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५२ ॥

कृञः प्रतियत्ने[3] ॥ ५३ ॥

कृञः । ६ । १ । प्रतियत्ने । ७ । १ । 'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । प्रतियत्ने वर्त्तमानस्य कृञ्-धातोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । एधोदकस्योपस्कुरुते । अत्र प्रतियत्नेऽर्थे कृञ्-धातोः सुट्-आगमोऽपि भवति[4] । कर्मवाचिन्येधोदक-शब्दे षष्ठी च ॥

प्रतियत्न-ग्रहणं किमर्थम् । कटं करोति । अत्र कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

---

१. कार०—सू० १०० ॥

२. धा०—भ्वा० ३८ ॥

३. कार०—सू० १०१ ॥

४. "उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥" (६ । १ । १३९)

'कर्मणि' इति किम् । एधोदकस्योपस्कुरुते प्रज्ञया । अत्र प्रज्ञा-शब्दे षष्ठी न भवेत् ॥ ५३ ॥

['प्रतियत्ने'] प्रतियत्न अर्थ में वर्त्तमान जो ['कृञः'] कृञ् धातु, उस के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । एधोदकस्योपस्कुरुते । यहां प्रतियत्न अर्थ में कृञ् धातु के ककार के पूर्व सुट् का आगम हुआ और कर्मकारी एधोदक-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ ५३ ॥

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः[1] ॥ ५४ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । रुजार्थानाम् । ६ । ३ । भाववचनानाम् । ६ । ३ । अज्वरेः । ५ । १ । भाववचनानां = कर्तृस्थभावकानां रुजार्थानां धातूनां [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति, अज्वरेः = ज्वरिं वर्जयित्वा । चौरस्य रुजति रोगः । चौरस्यामयति रोगः । रोगभोगो भावः = धात्वर्थः । स कर्तरि स्थितः ॥

'रुजार्थानाम्' इति किम् । ग्रामं गच्छति ॥

'भाववचनानाम्' इति किम् । नदी कूलानि रुजति[2] । अत्र कर्मस्थभावकस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

'अज्वरेः' इति किम् । बालं ज्वरयति ज्वरः । अत्र ज्वर-धातोः कर्मणि षष्ठी न स्यात् ॥

वा०—अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥ १ ॥

इहापि यथा स्यात्—चोरं[3] सन्तापयति । वृषलं सन्तापयति ॥[4]

ज्वरेः प्रतिषेधे सं-पूर्वकस्य तापि-धातोरपि कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधो यथा स्यादिति वार्त्तिकाशयः ॥ ५४ ॥

['भाववचनानां'] जिन धातुओं का अर्थ कर्त्ता में स्थित रहता है, ऐसे जो ['रुजार्थानां'] रुजार्थक धातु हैं, उन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो, ['अज्वरेः'] ज्वर धातु को छोड़के । चौरस्य रुजति । चौरस्यामयति । यहां रोग का भोगना जो धात्वर्थ है, वह कर्त्ता में रहता है । इससे उस चोर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

रुजार्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं गच्छति' यहां षष्ठी न हो ॥

---

१. कार०—सू० १०२ ॥

२. न्यासे—"रुजा-शब्दो हि रुदिशब्दत्वाद् व्याधिमेवाचष्टे । न चात्र व्याधिवचनः । किं तर्हि । भङ्गवचनो रुजिः । एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता [भाष्यकृता ।] इदं त्वत्र प्रत्युदाहरणम्—श्लेष्मा पुरुषं रुजति । व्याधिना आद्यतीत्यर्थः ।"

कैयटः—"'रुजार्थानाम्' इति धातुमात्रनिर्देशाश्रयमिदं प्रत्युदाहरणम् ।"

३. पाठान्तरम्—चौरम् ॥

४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

भाववचन-ग्रहण इसलिये है कि 'नदी कूलानि रुजति' यहां [रुज धातु] कर्तृस्थभावक है । इससे [उस के] कर्मवाची कूल-शब्द से षष्ठी न हुई ॥

और 'अज्वरेः' ग्रहण इसलिये है कि 'चौरं ज्वरयति ज्वरः' यहां ज्वर धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

'अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥' ज्वर धातु के कर्म में जो षष्ठी का प्रतिषेध किया है, वहां सं-पूर्वक तापि धातु का भी समझना चाहिये । चोरं सन्तापयति । यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ५४ ॥

आशिषि नाथः[1] ॥ ५५ ॥

कर्मणि-ग्रहणमनुवर्त्तते । आशिषि वर्त्तमानस्य नाथ्-धातोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । सर्पिषो नाथते । मधुनो नाथते । आशीः = इच्छा । सर्पिरिच्छति, मध्विच्छतीत्यर्थः ॥

आशिषि-ग्रहणं किमर्थम् । अन्नं नाथते । याचत इत्यर्थः । अत्र याच्ञार्थस्य नाथ्-धातोः कर्मणि षष्ठी न भवति[2] ॥ ५५ ॥

['आशिषि'] आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान जो ['नाथः'] नाथ् धातु, उस के शेष कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो । सर्पिषो नाथते । मधुनो नाथते । यहां आशीः-शब्द से इच्छा ली जाती है । इससे कर्मवाची सर्पिः-शब्द में षष्ठी विभक्ति हो ॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि 'अन्नं नाथते' यहां मांगने अर्थ में नाथ् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५५ ॥

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्[3] ॥ ५६ ॥

जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषाम् । ६ । ३ । हिंसायाम् । ७ । १ । 'जसु [जसी] ताडने'[4] चुरादौ पठ्यते । तस्येदं ग्रहणम् । 'निप्रहण' इति नि-पूर्वकस्य प्र-पूर्वकस्य च पृथक्, नि-प्र-पूर्वस्य सङ्घात-ग्रहणं च भवति । हिंसार्थानां जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषां धातूनां शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । [जासि —] चौरस्योज्जासयति । निप्रहण—दुष्टस्य निप्रहन्ति । वृषलस्य निहन्ति । चौरस्य प्रहन्ति । [नाट—] चौरस्योन्नाटयति । [क्राथ—] चौरस्य क्राथयति । [पिष्—] चौरस्य पिनष्टि । अत्र 'चौरं निहन्ति' इति सर्वत्रार्थः ॥

---

१. कार०—सू० १०४ ॥

२. अपि च नाथृयोगे सप्तमी—"ब्राह्मणो वै त्वा-यमभिचरति तस्मिन्नाथस्वेति तमुपाशिशिषत् ।" "अथेन्द्रोऽधृतःशिथिल इवामन्यत सोऽग्नावनाधत सोऽग्नौ चैव सोमे चानाथत ।" (काठकसंहितायां १० । ६, २)

३. कार०—सू० १०५ ॥

४. धा०—चुरा० १७८ ॥ "जसु हिंसायाम्" इति च ॥ (चुरा० १३०)

'जास्यादीनाम्' इति किमर्थम् । चौरं हिनस्ति । अत्र 'चौरं' इति कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

'हिंसायाम्' इति किम् । चूर्णं पिनष्टि । अत्रापि षष्ठी न भवति ॥ ५६ ॥

जासि धातु चुरादि का ग्रहण है । नि प्र उपसर्ग इकट्ठे और दोनों पृथक् [पृथक् हन धातु से] पूर्व हों तो भी । ['जासि०पिषां हिंसायाम्'] जासि, निप्रहण, नाट, क्राथ, पिष्— हिंसार्थक इन धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । चौरस्योज्जासयति । यहां जासि धातु के चौर कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है । निप्रहण—चौरस्य निप्रहन्ति । चौरस्य निहन्ति । चौरस्य प्रहन्ति । यहां नि-प्र-पूर्वक हन धातु के कर्म में । [नाट—] चौरस्योन्नाटयति । यहां नाट धातु के कर्म में । [क्राथ—] चौरस्य क्राथयति । यहां क्राथ धातु के कर्म में । [पिष्—] वृषलस्य पिनष्टि । और यहां पिष् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

जासि आदि धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि 'चौरं हिनस्ति' यहां कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो ॥

और हिंसा-ग्रहण इसलिये है कि 'चूर्णं पिनष्टि' यहां हिंसा के न होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ ५६ ॥

व्यवहृपणोः समर्थयोः[1] ॥ ५७ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । व्यवहृ-पणोः । ६ । २ । समर्थयोः । [६ । २ ।] समर्थयोः = समानार्थयोः । वि-अव-पूर्वको हृञ्-धातुः, पण्-धातुश्च । अनयोः समानार्थयोः [शेषे] कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति[2] । व्यवहारे समानार्थौ धातू । तत्र कर्मणि षष्ठी भवति ॥

'समर्थयोः' इति किम् । विद्वांसं पणायति[3] । स्तौतीत्यर्थः । अत्र स्तुत्यर्थस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥ ५७ ॥

['समर्थयोः'] समानार्थक ['व्यवहृ-पणोः'] वि-अव-पूर्वक हृ धातु और पण् धातु, इन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति । यहां व्यवहार अर्थ में दोनों धातु हैं । इससे कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

समर्थ-ग्रहण इसलिये है कि 'विद्वांसं पणायति' यहां पण् धातु [का] अर्थ स्तुति है । इससे कर्म में षष्ठी नहीं होती ॥ ५७ ॥

दिवस्तदर्थस्य[4] ॥ ५८ ॥

---

१. कार०—सू० १०६ ॥

२. जयादित्यः—"शतस्य पणते । सहस्रस्य पणते । आय-प्रत्ययः [३ । १ । २८] कस्मान्न भवति । स्तुत्यर्थस्य पणेरायप्रत्यय इष्यते ।"

३. निघण्टौ (३ । १४) "पणायति, पणते" इति द्वावपि समानार्थावर्चतिकर्माणौ ॥

४. कार०—सू० १०७ ॥

दिवः । ६ । १ । तदर्थस्य । ६ । १ । तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः शेषकर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य दीव्यति । सहस्रस्य दीव्यति । व्यवहरतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

['तदर्थस्य'] व्यवहारार्थक ['दिवः'] दिवु धातु के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य दीव्यति । यहां व्यवहार अर्थ में दिवु धातु के शत कर्म में षष्ठी विभक्ति हो ॥ ५८ ॥

विभाषोपसर्गे[1] ॥ ५९ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प आरभ्यते । पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः सोपसर्गे सति शेषकर्मणि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । शतस्य प्रतिदीव्यति । शतं प्रतिदीव्यति । अत्र षष्ठ्या विकल्पे पक्षे 'कर्मणि द्वितीया[2] ॥' इति द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ ५९ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से षष्ठी नित्य प्राप्त है । उस का विकल्प इस सूत्र से किया है । ['उपसर्गे'] उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में ['विभाषा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य प्र[ति]दीव्यति । शतं प्र[ति]दीव्यति । यहां षष्ठी के विकल्प होने के पक्ष में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ ५९ ॥

द्वितीया ब्राह्मणे[3] ॥ ६० ॥

'दिवस्तदर्थस्य' इत्यनुवर्त्तते । द्वितीया । १ । १ । ब्राह्मणे । ७ । १ । ब्राह्मणग्रन्थेषु[4] तदर्थस्य = व्यवहारार्थस्य दिवु-धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति[5] । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । अत्र 'गां' इति कर्म, तत्र 'दिवस्तदर्थस्य[6] ॥' इत्यनुपसर्गस्य दिवु-धातोः कर्मणि नित्यं षष्ठी प्राप्ता । सोपसर्गे तु सामान्येन पूर्वसूत्रे विकल्पः कृत एवास्ति । अतोऽनुपसर्गस्य दिवः कर्मणि ब्राह्मणे द्वि[ती]यार्थं वचनमिदम् ॥ ६० ॥

['ब्राह्मणे'] ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ जो दिवु धातु, उस के कर्म कारक में ['द्वितीया'] द्वितीया विभक्ति हो । गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । यहां गां-शब्द कर्म-कारकी है । अनुपसर्ग दिवु धातु के कर्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । इसलिये अनुपसर्ग

---

१. कार०—सू० १०८ ॥

२. २ । ३ । २ ॥

३. कार०—सू० १०९ ॥

४. न्यासकारः—"ब्राह्मण-शब्दः शतपथस्याख्या ।"

५. महाभाष्ये—"किमुदाहरणम् । गां अस्य । गां प्रदीव्यन्ति । गां समासद्भ्य उपहरन्ति । नैतदस्ति । पूर्वेणाप्येतत् सिद्धम् । इदं तर्हि—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ।" (अ० २ । पा० ३ । आ० ३)

६. २ । ३ । ५८ ॥

विशु धातु के कर्म में भी ब्राह्मण ग्रन्थ के विषय में द्वितीया हो, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ ६० ॥

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने[1] ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्त्तते । प्रेष्य-ब्रुवोः । ६ । २ । हविषः । ६ । १ । देवतासम्प्रदाने । ७ । १ । प्र-पूर्वस्य इष-धातोर्दैवादिकस्य ग्रहणम्[3] । देवताभ्यः सम्प्रदानं = देवतासम्प्रदानं, तस्मिन् । देवतासम्प्रदाने सति ब्राह्मणविषये प्रेष्य-ब्रुवोर्धात्वोर्हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी विभक्तिर्भवति । इन्द्राग्निभ्यां[4] छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां[4] छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि । अत्र हविः कर्म, तस्यान्यानि षष्ठ्यन्तानि विशेषणानि । 'छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य' इति प्राप्तम् । तत्र षष्ठीविधानार्थं वचनम् ॥

'प्रेष्य-ब्रुवोः' इति किम् । अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि ॥

'हविषः' इति किम् । अग्नये समिधं प्रेष्य ॥

'देवतासम्प्रदाने' इति किम् । माणवकाय पुरोडाशं प्रेष्य । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

वा०—हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम्[5] ॥[6]

प्रस्थित-विशेषणरहितस्य हविषः कर्मणः स्थाने षष्ठी भवति । तेनेह न भवति—इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य । अत्रापि कर्मणि षष्ठी न भवति ॥ ६१ ॥

['प्रेष्य-ब्रुवोः'] प्र-पूर्वक दिवादिगण वाला इष धातु और ब्रू धातु इन के ['हविषः'] हविः कर्म में ब्राह्मण विषय में षष्ठी विभक्ति हो, वह कर्म ['देवतासम्प्रदाने'] देवताओं के लिये दिया जाता हो, तो । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि* । यहां हविः कर्म है, अन्य षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं । 'छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य' ऐसा प्राप्त था । सो इस सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति हो गई ॥

---

१. काश०—सू० ११० ॥

२. न्यासकारः—"भाषायामप्ययं योगः । उत्तरसूत्रे छन्दोग्रहणात् ।"

३. जयादित्यः—"'प्रेष्य' इति इष्यतेर्दैवादिकस्य लोण्मध्यमपुरुषस्यैकवचनम् । तत्साहचर्याद् ब्रुविरपि तद्विषय एव गृह्यते ।"

४. काशिकादिषु "अग्नये" इति ॥

५. जयादित्यस्तु—"०प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥"

६. कोशे "॥ १ ॥" इति । अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

*. कारकीय में इस उदाहरण का व्याख्यान इस प्रकार किया है—"अजा के अर्थ खाने पीने की वस्तु के योग में बिजुली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर ।" (टिप्पण *)

प्र-पूर्वक इष और ब्रू धातु का ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहु-धि' यहां हु धातु के कर्म में षष्ठी न हो ॥

हविः-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये समिधं प्रेष्य' यहां समिध कर्म में षष्ठी न हो ॥

और देवतासम्प्रदान-ग्रहण इसलिये है कि 'वत्साद पुरोडाशं प्रेष्य' यहां वाचक देवता नहीं । इससे षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥

'हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम् ॥' प्रस्थित विशेषण रहित हविः कर्म में षष्ठी हो, किन्तु 'इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य' यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी नहीं हुई ॥ ६१ ॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि[1] ॥ ६२ ॥

छन्दः-शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति । ब्राह्मण-शब्देनैतरेयादिव्याख्यानानाम्[2] । अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्तमाने पुनश्छन्दः-ग्रहणं कृतम् । छन्दसि = वेदविषये चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति । दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्[3] । ते वनस्पतिभ्य इति ॥

वा०—षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥[4]

या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते[5] । अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते[6] ॥[7]

अत्र वार्त्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भवति । बहुल-ग्रहणात् क्वचिन्नापि भवति ॥ ६२ ॥

---

१. काश०—सू० ११२ ॥

२. सायणोऽपि—"तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति ।"

(काण्वसंहिताभाष्ये पृ० ८)

"ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ व्याख्याताः" । (आनन्दाश्रमग्रन्थावलि-प्रकाशिते तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये पृ० ७)

३. मा०—२४ । ३५ ॥

तै०—५ । ५ । १५ । १ ॥

मै०—३ । १४ । १६ ॥

४. कोशे "।।१।।" इति ॥

५. अत्र नागेशः—"रजस्वलाप्रस्तावे तैत्तिरीयश्रुतौ 'न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्...' इत्युपक्रम्य 'यां मलवद्वाससम्' इत्यादि ।"

महाभाष्ये—"या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते । अत्र 'तस्याः' इति प्राप्ते । यस्ततोऽभिजायते सोऽभिशस्तः । यामरण्ये तस्यै स्तेनः, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यपगल्भः, या स्नाति तस्या अप्सु मारुकः, याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याङ्क्ते तस्यै काणः, या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणत्ति तस्यै क्लीबः, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुकः, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते । अहल्यायै जार ॥ मनाय्यै तन्तुः ॥" (द्रष्टव्या तैत्तिरीयसंहितायां द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः)

६. महाभाष्यकोशेषु पाठान्तरे—

"खर्वो जायते यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति ।"

"०खर्वस्तिस्रो रात्रीः । 'तस्याः' इति प्राप्ते ।"

७. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

ब्राह्मण-शब्द से ऐतरेय आदि व्याख्यानों का ग्रहण होता है, और छन्दस्-शब्द से मन्त्र-भाग मूल वेदों का ग्रहण है। इसलिये इस सूत्र में छन्द-ग्रहण किया है। ['छन्दसि'] वेद विषय में ['चतुर्थ्यर्थे'] चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति हो ['बहुलं'] बहुल करके। दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्[1]। यहां 'वनस्पतिभ्यः' ऐसा प्राप्त था, सो षष्ठी विभक्ति हो गई॥

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या॥' षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हो। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते। यहां तस्यै-शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है॥

इस सूत्र में बहुल-ग्रहण करने से कहीं २ [चतुर्थी के स्थान में] षष्ठी और [षष्ठी के स्थान में] चतुर्थी विभक्ति नहीं भी होती॥ ६२॥

यजेश्च करणे[2] ॥ ६३ ॥

'बहुलं छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते। यजेः। ६। १। च। [अ० ।] करणे। ७। १। यज-धातोः करणकारके के विषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति। घृतेन यजते, घृतस्य यजते[3]। सोमस्य यजते, सोमेन यजते। अत्र करणकारके तृतीया प्राप्ता, तस्या अपवादः॥ ६३॥

वेदविषय में ['यजेः'] यज धातु के ['करणे'] करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो। घृतस्य घृतेन वा यजते। यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी। उस का अपवाद होने से घृत-शब्द में तृतीया, षष्ठी दोनों ही होती हैं॥ ६३॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे[4] ॥ ६४ ॥

'बहुलं छन्दसि' इति निवृत्तम्। [कृत्वोऽर्थप्रयोगे। ७। १। काले। ७। १। अधिकरणे। ७। १।] कृत्वसुच्-प्रत्ययस्यार्थे वर्त्तमाना ये प्रत्ययास्तदन्तशब्दप्रयोगे सति कालवाचिन्यधिकरणशब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति। दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते बालः। दिवसे पञ्चवारं भुङ्क्त इत्यर्थः। दिवसस्य द्विरधीते। दिवसे द्विवारमधीत इत्यर्थः। अत्राधिकरणदिवस-शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहणं किम्? अहनि शेते। अत्र षष्ठी न भवति॥

काल-ग्रहणं किमर्थम्। आयसपात्रे द्विर्भुङ्क्ते। अत्रायसपात्रेऽधिकरणशब्दे षष्ठी न भवति॥ ६४॥

---

१. देखो पृष्ठ ३१० टि० ३॥

२. का० — सू० ११४॥

३. कौषीतकि-शतपथब्राह्मणयोः (क्रमेण १६। ५॥ ४। ४। २। ४) शाङ्ख्यायन-कात्यायन-आपस्तम्ब-मानवश्रौतसूत्रेषु (क्रमेण ८। ४। १, ३॥ १०। ६। १०॥ १३। १३। ११॥ २। ५। २। २, ४) च — "घृतस्य यज।"

४. का० — सू० ११५॥

['कृत्वोऽर्थप्रयोगे'] कृत्वसुच्-प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में ['काले'] कालवाची जो ['अधिकरणे'] अधिकरण शब्द, उस में षष्ठी विभक्ति हो। अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उस का अपवाद यह सूत्र है। दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। एक दिन में यह बालक पांच बार खाता है। यहां अधिकरणवाची दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। दिवसस्य द्विरधीते। इसी प्रकार 'दिन भर में दो बार पढ़ता है' यहां दिवस-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोग-ग्रहण इसलिये है कि 'अहनि शेते' यहां षष्ठी न हो ॥

और काल-ग्रहण इसलिये है कि 'आयसपात्रे [द्विः] भुङ्क्ते' यहां अधिकरणवाची आयसपात्र-शब्द में षष्ठी न हो ॥ ६४ ॥

कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥ ६५ ॥

कर्तृ-कर्मणोः । ७ । २ । कृति । ७ । १ । कृत्सम्बन्धे कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति । कर्त्तरि—तव शायिका । मम जागरिका । देवदत्तस्य व्रज्या । देवदत्तस्येज्या । कर्मणि—पुरां भेत्ता[2] । अपां स्रष्टा । अत्र त्वद्-मद्-देवदत्त-शब्देषु कर्त्तरि षष्ठी, पुर्-अप्-शब्दयोः कर्मणि च ॥

'कर्तृ-कर्मणोः' इति किम् । दात्रेण लविता । अत्र करणकारके षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥

'कृति' इति किम् । तद्धितप्रयोगे मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी ओदनम् । अत्र कट-शब्दे ओदन-शब्दे च षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥ ६५ ॥

['कृति'] कृदन्तसम्बन्धी ['कर्तृ-कर्मणोः'] कर्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो। देवदत्तस्य व्रज्या। देवदत्तस्येज्या। यहां कर्तावाची देवदत्त-शब्द में षष्ठी। पुरां भेत्ता[2]। और यहां कर्मवाची पुर्-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

कर्तृकर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'दात्रेण लूना' यहां करण कारक में षष्ठी न हो ॥

और कृत्-ग्रहण इसलिये है कि 'कृतपूर्वी कटं' यहां तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो ॥६५॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि[3] ॥ ६६ ॥

'कृति' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ । ७ । १ । कर्मणि । ७ । १ । उभयोः= कर्तृ-कर्मणोः प्राप्तिर्यस्मिन्, तस्मिन् कृद्योगे कर्मणि षष्ठी भवति, कर्त्तरि नेति

---

१. कार०—सं० ११६ ॥

२. शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्रे—८ । १७ । १ ॥
ऋग्वेदे (८ । १७ । १४)—
"इन्द्रो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ।"
ऐतरेयब्राह्मणे (८ । १२ । ५) च "पुरां भेत्ताजनि" इति ॥

३. कार०—सं० ११७ ॥

नियमः । गवां दोहो गोपालेन । ओदनस्य पाको देवदत्तेन । कर्मणि षष्ठ्या विधाने कर्तुरनभिहितत्वात् तृतीया विभक्तिर्भवति ॥

वा०—*अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम्*[1] ॥[2] १ ॥

अकप्रयोगे = ण्वुल्प्रयोगे, अकारप्रयोगे = 'अ प्रत्ययात्[3] ॥' इत्यप्रयोगे च कर्तरि षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति, किन्तु कर्तृकर्मणोरुभयत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति । भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य । अत्र 'देवदत्तस्य, विष्णुमित्रस्य' चेति कर्तरि, 'काष्ठानां, कटस्य' च [इति] कर्मणि षष्ठ्यौ ॥ १ ॥

शेषे विभाषा[4] ॥[2] २ ॥

अकाकारप्रयोगादन्यः शेषः, तत्र विकल्पेन कर्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवति । शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः, शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः । शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः, शोभना खलु दाक्षायणेन सङ्ग्रहस्य कृतिः । अत्र कर्तृवाचिनि पाणिनि-शब्दे दाक्षायण-शब्दे च विकल्पेन षष्ठी, पक्षेऽनभिहितकर्तरि तृतीया भवति ॥ [२ ॥] ६६ ॥

पूर्व सूत्र से कृत् के योग में कर्त्ता, कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है । उस का नियम करने के लिये यह सूत्र है । जिस कृदन्त के योग में ['उभयप्राप्तौ'] कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो वहां ['कर्मणि'] कर्म में षष्ठी हो और कर्त्ता में [तृतीया हो ।] ओदनस्य पाको देवदत्तेन । यहां ओदन कर्म है, उस में षष्ठी हो गई । और देवदत्त कर्त्ता है, उस में अनभिहित के होने से तृतीया हो गई ॥

'अकाकारयोः प्रयोगे प्रतिषेधो नेति वक्तव्यम् ॥' ण्वुल्-प्रत्ययान्त और अ-प्रत्ययान्त कृदन्त के योग में कर्त्ता में [भी] षष्ठी विभक्ति हो जावे । भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य । यहां देवदत्त- और विष्णुमित्र-शब्द में कर्त्ता में, और काष्ठ- तथा कट-शब्द में कर्म में षष्ठी है ॥ [१॥]

'शेषे विभाषा ॥' पूर्व वार्त्तिक से शेष कृदन्त के योग में विकल्प करके कर्त्ता में षष्ठी

---

१. जयादित्यस्तु —"अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम् ॥"

भाषावृत्तौ च—"अकाकारयोस्तु स्त्रियां नियमप्रतिषेधः ॥"

मिताक्षरा-प्रक्रियाकौमुद्योः—"स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोः प्रयोगे नेति वाच्यम् ।" (प्र०कौ० विभक्त्यर्थप्रकरणे)

कारकीये—"अकाकारयोः स्त्रीप्रत्ययोः प्रयोगे प्रतिषेधो न ॥" (सू० १२८)

२. अ० २ । पा० ३ । आ० १ ॥

३. ३ । ३ । १०२ । [विभक्त्यर्थप्रकरणे]

४. प्रक्रियाकौमुद्याम्—"शेषे स्त्रीप्रत्यये वा ॥"

भाष्येऽकाकारयोः "भेदिका, चिकीर्षा, कृति" इति स्त्रीप्रत्यय एवोदाहरणाद् अकाकारयोः निर्दिष्टः स्त्रीप्रत्यय एव तात्पर्यमिति केचिदाहुः । अपरे तु प्रत्ययमात्रेऽकाकारयोरिति विकल्पमिच्छन्ति ॥

विभक्ति हो । और कर्म में तो नित्य विधान ही है । शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः । शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः । यहां कर्त्तावाची पाणिनि-शब्द में विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है ॥ [२॥] ६६ ॥

क्तस्य च वर्त्तमाने[1] ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्ययस्य निष्ठा-सञ्ज्ञत्वात् 'न लोकाव्यय०[2] ॥' इति प्रतिषेधः प्राप्तः । पुनः षष्ठी विधीयते । क्तस्य । ६ । १ । च । [अ० ।] वर्त्तमाने । ७ । १ । वर्त्तमानकाले विहितस्य क्त-प्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । राज्ञामर्चितः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च[3] ॥' इति वर्त्तमाने क्तो विधीयते । तस्येदं ग्रहणम् ॥

'क्तस्य' इति किम् । भारं वहमानः ॥

'वर्त्तमाने' इति किम् । ग्रामं गतः । अत्र भूतस्य कर्मणि षष्ठी न भवति ॥

वा०—क्तस्य च वर्त्तमाने[4] नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम् ॥

छात्रस्य हसितम् । नटस्य भुक्तम् । मयूरस्य नृत्तम् । कोकिलस्य व्याहृतम् ॥[5]

'नपुंसके भावे क्तः[6] ॥' इति सूत्रेण यः क्तो विधीयते, तदन्तस्य कर्त्तरि षष्ठी विभक्तिर्भवतीति वार्त्तिकप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥

क्त-प्रत्यय की निष्ठा-सञ्ज्ञा होने से आगे के[2] सूत्र से षष्ठी का निषेध प्राप्त है, इसलिये यह सूत्र है । ['वर्त्तमाने'] वर्त्तमान काल में जो ['क्तस्य'] क्त-प्रत्ययान्त है, उस के सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हो । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः । यहां राज-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है ॥

'क्तस्य' ग्रहण इसलिये है कि 'गुरुं भजमानः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

और वर्त्तमान-ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामं गतः' यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो ॥

'क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम् ॥' नपुंसक भाव में जो क्त-प्रत्ययान्त है, उस के कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो । छात्रस्य हसितम् । यहां छात्र-शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है । यह वार्त्तिक का प्रयोजन है ॥ ६७ ॥

अधिकरणवाचिनश्च[7] ॥ ६८ ॥

---

१. कार०—सू० ११० ॥
२. २ । ३ । ६६ ॥
३. ३ । २ । १८८ ॥
४. काशिकायां "क्तस्य च वर्त्तमाने" इति नास्ति ॥
५. म० १ । पा० ३ । आ० ३ ॥
६. ३ । ३ । ११४ ॥
७. कार०—सू० ११२ ॥

'क्तस्य' इत्यनुवर्त्तते । अधिकरणवाचिनः । ६ । १ । च । [अ० ।] 'क्तोऽधिकरणे च०'॥' इत्यधिकरणे यः क्तो विधीयते, तस्येदं ग्रहणम् । अधिकरणवाचिनः क्त-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विभक्तिर्भवति । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां यातम् । 'एषां' इति सर्वत्र कर्त्तरि षष्ठी। 'आसितं, शयितं, भुक्तं' इति स्थानविशेषणम् । 'यातं' इति मार्गविशेषणं च । 'आस्तेऽस्मिन्' इति निर्वचनम् ॥ ६८ ॥

['अधिकरणवाचिनः'] अधिकरणवाची क्त-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति हो। इदमेषामासितम् । इदमेषां यातम् । यहां 'एषां' यह कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है। जिस में स्थित हों, उस स्थान का वाची आसित-शब्द है। इसलिये स्थान ही अधिकरण है ॥ ६८ ॥

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्[1] ॥ ६९ ॥

'कर्तृकर्मणोः कृति[2] ॥ उभयप्राप्तौ कर्मणि[3] ॥' इति सूत्रद्वयेन प्राप्तायाः षष्ठ्याः प्रतिषेधः क्रियते । न । अ० । ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम् । ६ । ३ । 'ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्' [इति] एषां योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति । ल-ग्रहणेन लकारस्थाने य आदेशास्तदन्तानां कर्मणि षष्ठी न भवति । तत्र शतृ-शानचौ, कानच्-क्वसू, कि-किनौ च गृह्यन्ते । शतृ-शानचौ— ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । कानच्— सूर्यं ददृशानः[5] । क्वसुः— प्रयोगं सेदिवान् । कि-किनौ— पपिः सोमं ददिर्गाः[6] । उ— विद्यां पिपठिषुः । गृहं जिगमिषुः । उक— प्रघातुका गर्भम् । अनृतं प्रतिपादुकः । अव्यय— ग्रामं गत्वा । वचनमुक्त्वा । निष्ठा— कटं कृतवान् । देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ— ईषत्करः कुम्भस्त्वया । ईषत्पानः सोमस्त्वया । [तृन्—] तृन्-प्रत्याहारग्रहणं भवति । 'लटः शतृशानचाव०[7] ॥' इत्यारभ्य आ तृनो[8] नकारात् । तेन 'शानम्,

---

१. २ । ४ । ७६ ॥
२. कार०— पृ० १२३ ॥
३. २ । ३ । ६५ ॥
४. २ । ३ । ६६ ॥
५. ऋग्वेदे (४ । ७ । १०)—
"सद्यो जातस्य ददृशानमोजो
यदस्य वातो अनुवाति शोचिः ।"
६. "अग्नेवान्ति सवना हरिभ्यां
वज्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः ।
कर्त्ता वीरं नर्यं सर्ववीरं [२३ । ४)
श्रोता हवं गृणतः स्तोमवाहाः ॥" (ऋ० ६ ।
अपि च (ऋ० ८ । ४६ । १५)—
"दधी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु
ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् ।"
७. ३ । २ । १२४ ॥
८. "तृन् ॥" (३ । २ । १३५)

चानश्, शतृ, तृन्' इति चतुर्णां प्रत्ययानां ग्रहणं भवति । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—पतङ्गान् निघ्नानः । शतृ—धारयन् विशाम् । तृन्—कर्त्ता कटान् । लविता यवान् । अत्र सर्वत्र कर्मणि षष्ठी प्राप्ता, सा प्रतिषिध्यते ॥

वा०—*उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥*[1] १ ॥

भाषायां=वेदादितरग्रन्थेषु [उक-प्रत्ययान्तस्य कमिधातोर्योगे] षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति । दास्याः कामुकः । वृषल्याः कामुकः । अत्र दासी[-शब्दे] वृषली-शब्दे च षष्ठ्याः प्रतिषेधे द्वितीया प्राप्ता । पुनः प्रतिषेधात् षष्ठ्येव भवति ॥ १ ॥

अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः ॥[1] [२ ॥]

तोसुन्-कसुन्-प्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः[2] । पुरा वत्सानामपाकर्तोः[3] । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्[4] । अत्र सूर्य-[वत्स-]क्रूर-शब्दानामनेन वार्त्तिकेन षष्ठी ॥ २ ॥

द्विषः शतुर्वावचनम् ॥[1] ३ ॥

चौरं द्विषन् । चौरस्य द्विषन् । अत्र 'तृन्' इति प्रत्याहारग्रहणेन नित्यं प्रतिषेधः प्राप्तः । अनेन वार्त्तिकेन विकल्प्यते ॥ [३ ॥] ६९ ॥

कृदन्त के योग में कर्त्ता, कर्म में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है । उस का निषेध करने वाला यह सूत्र है । ['ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा खलर्थ-तृणाम्'] ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्, इन के योग में षष्ठी विभक्ति ['न'] न हो । ल करके लकार के स्थान में जो आदेश होते हैं, उन के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो । शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन्, ये सब लकार के स्थान में आदेश होते हैं । ओदनं पचन् । ओदनं पचमानः । इत्यादि उदाहरणों में ओदन [भात] शब्द[ों]में षष्ठी नहीं हुई । उ—उ-प्रत्ययान्त के योग में कर्म में षष्ठी न हो । कटं चिकीर्षुः । यहां कट शब्द में । उक—उकञ्-प्रत्ययान्त के कर्म में षष्ठी न हो । अनृतं प्रतिपादुकः । यहां अनृत-शब्द में षष्ठी न हुई । अव्यय—कृदन्त अव्यय के कर्म में षष्ठी न हो । ग्रामं गत्वा । ओदनं भुक्त्वा । यहां ग्राम- और ओदन-शब्द में षष्ठी

---

१. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

२. का०—८ । ३ ॥

३. काण्वीये शतपथब्राह्मणे तु तोसुन्-प्रत्ययस्य योगे पञ्चमी विभक्तिरपि दृश्यते । यथा—"आ नितम्यो (माध्यन्दिनीये—"निम्रुचः") दोग्धोः ।" (२ । ६ । ३ । ८) "पुरा मस्तम्यो निष्क्रमितोः ।" (४ । १ । २ । २) "आस्तमेतोरादित्यात् ।" (४ । १ । २ । २)

४. वा०—१ । २८ ॥ तै०—१ । १ । ९ । ३ ॥ मै०—१ । १ । १० ॥ का०—१ । ६ ॥

नहीं हुई । निष्ठा—क्त- और क्तवतु-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो । देवदत्तेन कृतम् । कटं कृतवान् । यहां देवदत्त- और कट-शब्द में षष्ठी प्राप्त है । खलर्थ—ईषत्करः कटस्त्वया । ईषत्पानः सोमस्त्वया । यहां कट- और सोम-शब्द में षष्ठी प्राप्त है । तृन्—यह प्रत्याहार लिया जाता है । शतृ-प्रत्यय के तृ से लेके तृन्-प्रत्यय के नकार पर्यन्त । इस में शानन्, चानश्, शतृ, तृन्, इतने प्रत्ययों का ग्रहण होता है । शानन् आदि प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो । सोमं पवमानः । पतङ्गान् निघ्नानः । धियां धारयन् । सविता पचान् । यहां सोम आदि शब्दों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, सो नहीं हो ॥

'उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥' उक-प्रत्ययान्त के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां कमि धातु से उक-प्रत्ययान्त के योग में लौकिक प्रयोगों में निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे । दास्याः कामुकः । यहां दासी-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ १ ॥

'अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः ॥' इस सूत्र में अव्यय के योग में जो षष्ठी का निषेध किया है, वहां तोसुन्- और कसुन्-प्रत्ययान्त अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे । पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्[1] । यहां सूर्य- और क्रूर-शब्द में षष्ठी का निषेध प्राप्त था, सो न हुआ ॥ २ ॥

'द्विषः शतुर्वावचनम् ॥' द्विष् धातु से शतृ-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । यहां चौर-शब्द में षष्ठी के विकल्प में पक्ष में कर्म की द्वितीया हो जाती है । तृन् प्रत्याहार में शतृ-प्रत्यय के होने से षष्ठी का निषेध प्राप्त है । इसलिये यह तीसरा वार्त्तिक है ॥ [३ ॥]

निषेध की अनुवृत्ति यहां से आगे भी जायगी ॥ ६९ ॥

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः[1] ॥ ७० ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते । अक-इनोः । ६ । २ । भविष्यद् आधमर्ण्ययोः । ७ । २ । भविष्यति काल आधमर्ण्येऽर्थे चाकान्तस्य कर्मणि इन्-प्रत्ययान्तस्य च कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्न भवति । अकेनौ द्वौ, भविष्यदाधमर्ण्यौ च द्वावर्थौ, तत्र यथासङ्ख्यं प्राप्नोति ॥

भा०—अकस्य भविष्यति[3] ॥[4] [१ ॥]

अकान्तस्य कर्मणि भविष्यत्काले षष्ठी न भवति । यवान् लावको व्रजति । ओदनं भोजको व्रजति ॥

इन आधमर्ण्ये च[3] ॥[4] [२ ॥]

---

१. देखो पृष्ठ ३१६ टिप्पण २ और ४ ॥
२. कार०—सू० १२७ ॥
३. वार्त्तिकमिदम् ॥
४. अ० २ । पा० ३ । आ० ३ ॥

चकाराद् भविष्यत्काले । इन्-प्रत्ययान्तस्य कर्मणि भविष्यदाधमर्ण्ययोर्द्वयो-रप्यर्थयोः षष्ठी न भवति । आधमर्ण्ये—शतं दायी । सहस्रं दायी । भवि-ष्यति—ग्रामं गमी । ग्रामं गामी । अत्रापि 'कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥' इति षष्ठी प्राप्ता, साऽनेन प्रतिषिध्यते ॥

'भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति किम् । यवानां लावकः । जगतः प्रकाशकः । अत्र षष्ठ्याः प्रतिषेधो न भवति ॥ ७० ॥

['अक-इनोः'] अक-प्रत्ययान्त और इन्-प्रत्ययान्त शब्दों के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो ['भविष्यद् आधमर्ण्ययोः'] भविष्यत्काल और आधमर्ण्य अर्थ में। दो अर्थ और दो प्रत्ययों के होने से यथासंख्य प्राप्त होता है, इसलिये 'अकस्य० ॥' महाभाष्य में व्याख्यान है कि अकान्त के योग में भविष्यत्काल और इन्-प्रत्ययान्त के योग में दोनों अर्थों में षष्ठी न हो। यवान् लावको व्रजति । यहां अकान्त के योग में भविष्यत्काल में षष्ठी नहीं हुई। और 'ग्रामं गमी' यहां इनन्त के योग में भविष्यत्काल में, तथा 'शतं दायी' यहां आधमर्ण्य अर्थ में षष्ठी विभक्ति का निषेध हुआ है ॥

भविष्यत्- और आधमर्ण्य-ग्रहण इसलिये है कि 'यवानां लावकः' यहां षष्ठी का निषेध न हो ॥ ७० ॥

कृत्यानां कर्त्तरि वा[2] ॥ ७१ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति[1] ॥' इति नित्यं षष्ठी प्राप्ता, कर्त्तरि विकल्प्यते । कृत्यानाम् । ६ । ३ । कर्त्तरि । ७ । १ । वा । [अ० ।] कृत्यानां= कृत्यप्रत्ययान्तानां कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । देवदत्तस्य कर्त्तव्यम् । देवदत्तेन कर्त्तव्यम् । अत्र कर्त्तुरनभिहितत्वात् षष्ठ्या विकल्पपक्षे कर्त्तरि तृतीया भवति ॥

'कर्त्तरि' इति किम् । वक्तव्यः श्लोकः । अत्र श्लोक-शब्दे षष्ठी-तृतीये न भवतः ॥

अस्य सूत्रस्य महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः । तत्राऽयमर्थः—'कृत्यानां' इति पृथग्योगः । 'उभयप्राप्तौ' इत्यनुवर्त्तते । उभयप्राप्तौ[3] कृत्यप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति । ग्राममाकष्टव्या शाखा देवदत्तेन । अत्र कर्तृकर्मणो-

1. २ । ३ । ६५ ॥
2. का० — सू० १९९ ॥
3. महाभाष्ये—"उभयप्राप्तिर्नाम सा भवति, यत्रोभयस्य युगपत् प्रसङ्गः । यत्र च यदा कर्मणि, न तदा कर्त्तरि, यदा कर्त्तरि न तदा कर्मणीति ।"

कमयत्र प्राप्ता षष्ठी प्रतिषिध्यते । ततः 'कर्त्तरि वा ।' कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी भवति । तत्रैव पूर्वमुदाहृतम् ॥ ७१ ॥

['कृत्यानां'] कृत्य-प्रत्ययान्त के ['कर्त्तरि'] कर्त्ता में ['वा'] विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो । देवदत्तस्य देवदत्तेन वा कर्त्तव्यम् । यहां देवदत्त-शब्द में षष्ठी विकल्प करके होती है । षष्ठी के निषेध पक्ष में अनभिहित कर्त्ता के होने से तृतीया होती है ॥

'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि 'वक्तव्यः श्लोकः' यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है । इस से दो अर्थ होते हैं—[१] उभयप्राप्त कृत्य-प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो । ग्राममाक्रष्टव्या शाखा देवदत्तेन । यहां कर्त्ता, कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त है, सो नहीं न हुई । [२] और कृत्य-प्रत्यय के योग में कर्त्ता में षष्ठी विकल्प करके हो । इस का उदाहरण पूर्व इसी सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥ ७१ ॥

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्[1] ॥ ७२ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर् अन्यतरस्यां-ग्रहणं 'कर्त्तरि' इतिनिवृत्त्यर्थम् । अप्राप्तविभाषेयम् । शेषत्वात् षष्ठी प्राप्ता, तृतीयाऽनेन विकल्प्यते । अत एव पक्षे षष्ठी भवति । तुल्यार्थैः । ३ । ३ । अतुला-उपमाभ्याम् । ३ । २ । तृतीया । १ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] तुल्यार्थैः शब्दैर्योगे तृतीया विभक्तिर्विकल्पेन भवति तुला-उपमा-शब्दौ वर्जयित्वा । तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य । सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य ॥

'अतुलोपमाभ्यां' इति किम् । तुला परमेश्वरस्य, उपमा परमेश्वरस्य च नास्ति । अत्र परमेश्वर-शब्दे तृतीया न भवति । शेषत्वात् षष्ठ्येव भवति ॥ ७२ ॥

विकल्प की अनुवृत्ति चली आती थी, फिर विकल्पग्रहण इसलिये है कि कर्त्ता की अनुवृत्ति न आवे । इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है । शेष के होने से षष्ठी प्राप्त थी, तृतीया किसी से प्राप्त नहीं, उस का विकल्प किया है । ['तुल्यार्थैः'] तुल्य के पर्यायवाची शब्दों के योग में ['अन्यतरस्यां'] विकल्प करके ['तृतीया'] तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो, ['अतुला-उपमाभ्यां'] तुला- और उपमा-शब्द को छोड़के । तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा । यहां तुल्यार्थ शब्दों के योग में देवदत्त-शब्द से तृतीया और षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

तुला- और उपमा-शब्द का निषेध इसलिये है कि 'तुलोपमा वा परमेश्वरस्य नास्ति' यहां परमेश्वर-शब्द में शेष के होने से षष्ठी हो गई ॥ ७२ ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः[2] ॥ ७३ ॥

---

१. कार०—सू० १२० ॥ [(२ । २ । ६६) २. कार०—सू० १२१ ॥
चा० श०—"तुल्यार्थैस्तृतीया वा" ॥ चा० श०—"हितसुखाभ्यां चतुर्थी च ॥ आशि-

अन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्त्तते । चतुर्थी । १ । १ । च । [अ० ।] आशिषि । ७ । १ । आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख अर्थ-हितैः । ३ । ३ । आशिषि = आशीर्वचनेऽर्थे सति 'आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित' इत्येतैः शब्दैर्योगे विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति । पक्षे शेषत्वात् षष्ठी । आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा भूयात्[1] । मद्र—मद्रं बालाय बालस्य वा । भद्र—भद्रं पुत्राय पुत्रस्य वा । कुशल—कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [सुख—] सुखं पण्डिताय पण्डितस्य वा । [अर्थ—] अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । [हित—] हितं माणवकाय माणवकस्य वा । अत्र सर्वत्राशिष्यर्थे चतुर्थी-षष्ठ्यौ भवतः ॥

'आशिषि' इति किम् । आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम् । अत्र चतुर्थी न भवति ॥७३॥

इति विश्वजनीनायां पाणिनीयसूत्रवृत्तौ

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः पूर्त्तिमगमत् ॥

['आशिषि'] आशीर्वचन अर्थ में ['आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हितैः'] आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित, इन शब्दों के योग में विकल्प करके ['चतुर्थी'] चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो । आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा इत्यादि उदाहरणों में आयुष्य आदि शब्दों के योग में शिष्य आदि शब्दों से चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति होती है ॥

आशीर्वचन-ग्रहण इसलिये है कि 'आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम्' यहां चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, किन्तु शेष में षष्ठी होती है ॥ ७३ ॥

यह द्वितीयाध्याय का तृतीय [पा]द समाप्त हुआ ॥

ष्यायुष्यमद्रार्थकुशलार्थैश्च ॥"(२।१।६७,६८)
१. अत्र काशिकायां "अत्रायुष्यादीनां पर्यायग्रहणं
कर्त्तव्यम् ॥" इति वार्त्तिकम् । महाभाष्ये त्वेतद्
न दृश्यते ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

[अथैकवद्भावप्रकरणम्]

द्विगुरेकवचनम् ॥ १ ॥

द्विगुः । १ । १ । एकवचनम् । १ । १ । उच्यते तद्वचनम् । एकस्य वचनं = एकवचनम् । द्विगुः समास एकवचनं = एकवद् भवतीति । सङ्ख्यापूर्वस्य तत्पुरुषस्य द्विगु-सञ्ज्ञास्ति । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्ति-र्भवति, अतो बहुषु बहुवचनं प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तच्च नपुंसकं भवति ॥ १ ॥

संख्या जिस के पूर्व हो, ऐसे तत्पुरुष समास की द्विगु-संज्ञा है । ['द्विगुः'] द्विगु समास ['एकवचनम्'] एकवचन हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां प्रति द्रव्य के वचन के उत्पन्न होने से बहुत में बहुवचन प्राप्त था, इसलिये एकवचन का आरम्भ किया है ॥

यहां से आगे एकवचन का अधिकार चलेगा और एकवचन को नपुंसकभाव हुआ करेगा ॥ १ ॥

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्[1] ॥ २ ॥

'एकवचनम्' इत्यनुवर्त्तते । द्वन्द्वः । [१ । १ ।] च । [अ० ।] प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । ६ । ३ । प्राणिश्च तूर्य्यश्च सेना च, तासामङ्गानि = प्राणि-तूर्य्यसेनाङ्गानि, तेषाम् । अङ्ग-शब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । प्राण्यङ्गानां तूर्य्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति[2] । प्राण्यङ्गानाम्—पाणी च पादौ च = पाणिपा-दम् । कण्ठश्च पृष्ठं च ग्रीवा च जंघौ च = कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् । तूर्य्याङ्गानां = वाद-नाङ्गानाम्—वंशी च वीणा च = वंशीवीणम् । मृदङ्गश्च शङ्खश्च पणवश्च = मृद-ङ्गशङ्खपणवम् । सेनाङ्गानाम्—हस्तिनश्च अश्वाश्च उष्ट्राश्च = हस्त्यश्वोष्ट्रम् ।

---

१. सा०—पृ० ४५ ॥
चा० श०—"प्राणितूर्याङ्गानाम् ॥ सेनाङ्गानां बहुत्वे ॥" (२ । २ । ५८, ५९)

२. अत्र महाभाष्ये—"प्राण्यङ्गानां प्राण्यङ्गैरिति वक्तव्यम् । तूर्याङ्गानां तूर्याङ्गैः । सेनाङ्गानां सेनाङ्गैरिति ।"

रथशाकटम् । अत्र द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनं द्विवचनं च प्राप्तं, एकवचनं विधीयते । तत्र वक्ष्यमाणसूत्रेण[1] नपुंसकमेव भवति ॥ २ ॥

अंग-शब्द अवयववाची यहां लिया है । ['प्राणि-तूर्य्य-सेनाङ्गानाम्'] मनुष्य आदि प्राणियों, तूर्य्य=बजाने [के] बाजे और सेना के अवयववाचियों का जो ['द्वन्द्वः'] द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो । प्राण्यङ्ग—पाणिपादम् । यहां पाणि=हाथ और पादों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया । तूर्य्याङ्ग—वंशीवीणम् । यहां वंशी- और वीणा-शब्द के द्वन्द्व समास में द्विवचन प्राप्त था । सेनाङ्ग—हस्त्यश्वोष्ट्रम् । और यहां हस्ति, अश्व, उष्ट्र, इन तीनों के द्वन्द्व समास में बहुवचन प्राप्त है । इस सूत्र से एकवचन होता है । द्वन्द्व समास उभयपदार्थप्रधान है, इससे द्विवचन और बहुवचन प्राप्त हैं । इसलिये यह सूत्र है ॥ २ ॥

अनुवादे चरणानाम्[2] ॥ ३ ॥

'द्वन्द्वः' इत्यनुवर्त्तते । अनुवादे । ७ । १ । चरणानाम् । ६ । ३ । चरण-शब्दः प्राचीनपुरुषविशेषाणां सञ्ज्ञा[3] । उक्तस्य पुनः कथनमनुवादः[4] । अनुवादे गम्यमाने सति चरणवाचिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्[5] । कठाश्च कालापाश्च, कठाश्च कौथुमाश्चेति विग्रहः ॥

अनुवाद एवैकवचनं भवति । यदा प्रथमत एव वादस्तदा—उदगुः कठ-कालापाः । अनुवादस्यैतत् प्रत्युदाहरणम् ॥

वा०—स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम् ॥[6]

---

१. २ । ४ । १७ ॥

२. सा०—पृ० ४५ ॥
चा० श०—"अनुवादे चरणानां स्थेणोर्लुङि ॥" (२ । २ । ५०)

३. जयादित्यः—"चरण-शब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्त्तते ।"
मालतीमाधवटीकायां जगद्धरः—"चरण-शब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसङ्घवाची ।"

४. जयादित्यः—"प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्तनमात्रमनुवादः ।"

५. =कठ-कालापशाखाध्यायिनः, कठ-कौथुमशाखा-[ध्यायिनः ॥]
तथा च चरणव्यूहपरिशिष्टे—"यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति । तत्र चरका नाम द्वादश भेदा भवन्ति—चरका आह्वरकाः कठाः प्राच्यकठाः कपिष्ठलकठाश्चारायणीया वारायणीया वार्तान्तवीया श्वेताश्वतरा औपमन्यवः पाताण्डनीया मैत्रायणीयाश्चेति ।" (द्वितीयकण्डिकायाम्)
"सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति । एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः । शेषान् व्याख्यामः । तत्र राणायनीयानां सप्त भेदा भवन्ति—राणायनीयाः शाट्यमुग्राः कापोला: [कालापाः] महाकालोपा लाङ्गलायनाः शार्दूलाः कौथुमाश्चेति ।" (तृतीयकण्डिकायाम्)

६. महाभाष्ये "स्थेणोरिति वक्तव्यम् ॥" इति पृथग् व्याख्यातम् ॥

७. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

अद्यतन्यां = लुङ्लकारे स्था-धातोरिण्-धातोश्च प्रयोगेऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवतीति वार्त्तिकाशयः । तथैव पूर्वमुदाहृतम् ॥

'स्थेणोः' इति किम् । अनन्दिषुः कठकालापाः ॥

'अद्यतन्याम्' इति किम् । तिष्ठन्तु कठकालापाः । अत्रोभयत्रैकवचनं न भवति ॥ ३ ॥

चरण-शब्द प्राचीन ऋषियों के किसी कुल विशेष की संज्ञा में आता है । कही हुई बात को फिर कहना, इस को अनुवाद कहते हैं । ['अनुवादे'] अनुवाद अर्थ में ['चरणानाम्'] चरणवाचियों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन को प्राप्त हो । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । यहां अनुवाद अर्थ में एकवचन हुआ है ॥

अनुवाद-ग्रहण इसलिये है कि 'उदगुः कठकालापाः' यहां एकवचन न हो ॥

'स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम् ॥' लुङ् लकार में स्था और इण् धातु के प्रयोग में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो, यह इस वार्त्तिक का प्रयोजन है । इसी के अनुकूल सूत्र के उदाहरण दे चुके हैं ॥

स्था और इण् का ग्रहण इसलिये है कि 'अनन्दिषुः कठकालापाः' यहां एकवचन न हो ॥

और अद्यतन-ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्ठन्तु कठकालापाः' यहां भी एकवचन न हो ॥ ३ ॥

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्[1] ॥ ४ ॥

अध्वर्यौ = [यजुः]वेदे विहितः क्रतुः = अध्वर्युक्रतुः । अनपुंसकलिङ्गानामध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकवद् भवति । सोमयागराजसूयम् । अर्काश्वमेधम्[2] ॥

'अनपुंसकम्' इति किम् । राजसूयवाजपेये[3] । अत्रैकवद्भावो न भवति ॥ ४ ॥

['अनपुंसकम्'] नपुंसकलिङ्ग को छोड़के जो ['अध्वर्युक्रतुः' यजुः]वेदविहित यज्ञवाची शब्द हैं, उन का द्वन्द्व समास एकवचन हो । अर्काश्वमेधम् । यहां अर्क और अश्वमेध-शब्द का द्वन्द्व एकवचन हुआ है ॥

अनपुंसक-ग्रहण इसलिये है कि 'राजसूयवाजपेये' यहां एकवद्भाव न हो ॥ ४ ॥

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्[4] ॥ ५ ॥

---

१. सा०—पृ० ४६ ॥
चा० श०—"अध्वर्युक्रतूनामनपुंसकानाम् ॥" (२ । २ । ५३)

२. अथर्ववेदे (११ । ९ । ७) तु—
"राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥"

३. न्यासे—"एतौ राजसूय-वाजपेय-शब्दौ पुंलिङ्गावपि स्तः । तत्र यदा नपुंसकलिङ्गौ प्रयुज्येते, तदैवं प्रत्युदाहरणम् ।"

४. सा०—पृ० ४६ ॥
चा० श०—"सन्निकृष्टपाठानाम् ॥" (२ । २ । ५३)

अध्ययनतः । [अ० ।] अविप्रकृष्टाख्यानाम् । ६ । ३ । अध्ययनतः—अध्ययनेनेति तृतीयार्थे तसिः । विप्रकृष्टाः = दूरीभूताः । न विप्रकृष्टाः = अविप्रकृष्टाः । समीपवर्त्तिन इत्यर्थः । अध्ययन[नि]मित्तेन सह समीपाख्यानां द्वन्द्व एकवद् भवति । उदाहरणप्रत्युदाहरणम् । अर्थोदाहरणम् । अष्टाध्यायीमहाभाष्यम् । व्याकरणनिरुक्तम् । ऋग्वेदयजुर्वेदम् । उदाहरणपठनपश्चात् प्रत्युदाहरणान्यध्येयानीति पठनक्रमे समीपवर्त्तिनो द्वन्द्व एकवद् भवति । व्याकरणमधीत्य निरुक्तमध्येयमिति ॥

'अध्ययनतः' इति किम् । पितापुत्रौ । अत्र समीपवाचिनोर्द्वन्द्व एकवन्न भवति ॥ ५ ॥

['अध्ययनतः'] अध्ययन का निमित्तवाची जो प्रातिपदिक है, उस के ['अविप्रकृष्टाख्यानाम्'] समीपवर्त्तियों का जो द्वन्द्व है, वह एकवचन हो। व्याकरणनिरुक्तम् । व्याकरण के पीछे निरुक्त पढ़ना चाहिये । यहां व्याकरण पढ़ने के समीप निरुक्त का पढ़ना है। इससे इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया ॥

'अध्ययनतः' ग्रहण इसलिये है कि 'पितापुत्रौ' यहां समीपवर्त्तियों का द्वन्द्व एकवत् प्राप्त है, सो न हो ॥ ५ ॥

जातिरप्राणिनाम्[1] ॥ ६ ॥

जातिः । १ । १ । अप्राणिनाम् । ६ । ३ । अप्राणिवाचिनां जातिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति । खट्वापीठम् । घटपटम् ॥

'जातिः' इति किम् । नन्दकपाञ्चजन्यौ ॥

'अप्राणिनाम्' इति किम् । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः । अत्रोभयत्रैकवद्भावो न भवति ॥ ६ ॥

['अप्राणिनाम्'] प्राणिरहित ['जातिः'] जातिवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो। खट्वापीठम् । यहां दो शब्दों का द्विवचन प्राप्त था, सो एकवचन हो गया ॥

जाति-ग्रहण इसलिये है कि 'नन्दकपाञ्चजन्यौ' यहां एकवत् न हो ॥

और अप्राणि-ग्रहण इसलिये है कि 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' यहां भी एकवद्भाव न हो ॥ ६ ॥

विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः[2] ॥ ७ ॥

विशिष्टलिङ्गः । १ । १ । नदी । १ । १ । देशः । १ । १ । अग्रामाः ।

---

१. सा०—सू० ४६ ॥ चा० सू०—"अप्राणिजातीनाम् ॥" (२ । ३ । ५३)

२. सा०—सू० ४६ ॥ चा० सू०—"नदीदेशनगराणां भिन्नलिङ्गा-[नाम् ॥"](२ । २ । ५४)

१ । १ । विशिष्टलिङ्गानां=भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां देशावयववाचिनां शब्दानां च द्वन्द्व एकवद् भवति, अग्रामाः=ग्रामविशेषवाचिशब्दान् वर्जयित्वा । भिद्यं च इरावती च=भिद्येरावति । उद्ध्येरावति । गङ्गा च शोणं च=गङ्गाशोणम् । देशवाचिनाम्—पञ्चालजाङ्गलम्[1] । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् ॥

'विशिष्टलिङ्गः' इति किम् । गङ्गायमुने ॥

'नदी, देशः' इति किम् । मातापितरौ ॥

'अग्रामाः' इति किम् । शाकलं च शालूकिनी च=शाकलशालूकिन्यौ[2] । सर्वत्रात्रैकवद्भावो न भवति ॥ वार्त्तिकानि—

ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥ १ ॥

इह मा भूत्—मथुरा च पाटलिपुत्रं च=मथुरापाटलिपुत्रम्[3] ॥[4]

सूत्रेऽस्मिन् देश-शब्देन देशावयवग्रहणा[द्] ग्रामनगराणां द्वन्द्वस्यैकवद्भावः प्राप्तः । तत्र 'अग्रामाः' इति प्रतिषेधे नगरस्यापि प्रतिषेधः प्राप्तः । तस्य प्रतिषेधो वार्त्तिकेन क्रियते । ततः प्रतिप्रसवेन नगराणामेकवद्भावो भवत्येव । कुतः । 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' इत्यादि ग्रामे यत् कार्यं प्रतिषिध्यते, नगरेऽपि तत् क्रियते । अतो ज्ञायते ग्राम-शब्देन नगरस्यापि ग्रहणं भवति ॥ १ ॥

उभयतश्च[5] ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः[6] ॥ [२ ॥]

शौर्यं च केतवता च=शौर्यकेतवते[7] । जाम्बवं च शालूकिनी च=जाम्बवशालूकिन्यौ ॥[8]

---

१. महाभारतेऽन्यत्र पुराणेषु बृहत्संहितादिषु च "कुरुजाङ्गलम्" इति ॥
"तस्य नाम्नाऽभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ।
कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥"
[तस्य—कुरोः] (आदिपर्वणि श्लो० ३७३९)
सम्प्रत्यपि बीकानेरराज्याधिपतिः "जंगलधरपतशाह" इत्युपाधि बिभर्ति ॥

२. महाभारते तीर्थयात्रापर्वणि (वनपर्वणि श्लो० ५०८३, ५०८४)—
"ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।"
"शाकल" इति च सम्प्रति "सियालकोट" इति नाम्ना प्रसिद्धम् ॥

३. पाठान्तरम्—"इह मा भूत्—मथुरापाटलिपुत्रमिति ॥"

४. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

५. नागेशः—"यो ग्रामाणां प्रतिषेधः, उभयतः ग्रामस्यावयवकस्य ग्रामान्यतरावयवकस्य वेत्यर्थः ।"

६. चान्द्रवृत्तौ—"इह कथम्—शौर्यं च नगरं केतवता च ग्रामः, शौर्यकेतवतम् । नगराश्रयो हि विधिरस्ति, ग्रामाश्रयः प्रतिषेधो नास्ति ।"

७. काशिकायाम्—"सौर्यं च नगरं, केतवतं च ग्रामः, सौर्यकेतवते ।"

८. पाठान्तरम्—शाङ्क० ॥

अत्र शौर्य-जाम्बवे नगरे, केतवता-शाल्किन्यौ ग्रामौ । ग्रामनगरयोरुभयोरपि द्वन्द्व एकवन्न भवतीति वार्तिकप्रयोजनम् ॥ [२ ॥] ७ ॥

['विशिष्टलिङ्गः'] भिन्न २ लिंग वाले ['नदी'] नदीवाची शब्द और ['देशः'] देशों के अवयववाची शब्द, इन का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो, ['अग्रामाः'] ग्रामवाची शब्दों को छोड़के। भिद्यैरावति । गङ्गाशोणम् । यहां नदीवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन हुआ है। देश के अवयव—कुरुजाङ्गलम् । पञ्चालकुरुक्षेत्रम् । और यहां देशवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवचन हुआ है॥

'ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधः ॥' ग्राम में जिस कार्य का निषेध है, वह कार्य नगर में भी नहीं किया जाता। इसीसे ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण होता है। इसलिये यह वार्तिक है कि सूत्र में ग्राम का जो निषेध किया है, वहां नगर का निषेध न हो। मथुरापाटलिपुत्रम् । यहां नगरवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवद्भाव हो गया॥ १ ॥

'उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' ग्राम और नगरवाची शब्द का परस्पर जो द्वन्द्व समास हो, वहां एकवद्भाव का निषेध हो जावे। शौर्यं च केतवता च=शौर्यकेतवते। यहां शौर्य किसी नगर का नाम और केतवता किसी ग्राम का नाम है। सो नगर की विधि होने से यहां भी एकवद्भाव प्राप्त है, सो इस वार्तिक से नहीं हुआ॥ [२ ॥] ७ ॥

क्षुद्रजन्तवः[1] ॥ ८ ॥

सूक्ष्मात् सूक्ष्मान् जीवानारभ्य नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः। क्षुद्राश्च ते जन्तवः=क्षुद्रजन्तवः। क्षुद्रजन्तूनां द्वन्द्व एकवद् भवति। यूकाश्च लिक्षाश्च = यूकालिक्षम्। कीटाश्च पिपीलिकाश्च = कीटपिपीलिकम्। दंशाश्च मशकाश्च = दंशमशकम्। अत्र सर्वत्र 'बहुषु बहुवचनम्[2] ॥' इति बहुवचनं प्राप्तम्। एकवचनं विधीयते॥

भा०—'क्षुद्रजन्तवः' इत्युच्यते। के[3] क्षुद्रजन्तवः। क्षोत्तव्या जन्तवः=क्षुद्रजन्तवः[4]। यद्येवं 'यूकालिक्षं, कीटपिपीलिकं, दंशमशकम्' इति[5] न सिध्यति। एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः। अथ वा येषां स्वं शोणितं नास्ति, ते क्षुद्रजन्तवः। अथ वा येषामा सहस्रादञ्जलिर्न पूर्यते, ते क्षुद्रजन्तवः। अथ वा येषां गोचर्ममात्रं राशिं हत्वा न पतति[6], ते क्षुद्रजन्तवः। अथ वा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः ॥[7]

१. सा०—पृ० ४७ ॥
चा० श०—"क्षुद्रजन्तूनाम् ॥" (२।१।६०)
२. १।४।२१ ॥
३. पाठान्तरम्—के पुनः ॥
४. पाठान्तरम्—क्षोत्तव्या जन्तवः ॥
५. पाठान्तरम्—०कीटपिपीलिकम्' इति ॥
६. पाठान्तरम्—न पतितो भवति ॥ [इति ॥'
७. कोशेऽत्र—"[अ० २।पा० ४।] आ० १[व्या०]"

'क्षुदिर् सम्पेषणे'।[1] क्षोतव्याः[2] = सम्पेष्टव्याः = हिंसका जीवा हिंसनीयाः क्षुद्रजन्तव इति प्रथमं लक्षणम् । तत्र दोषापत्तौ सत्यामन्यानि लक्षणान्युक्तानि, तानि स्पष्टान्येव सन्ति ॥ ८ ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों से लेके नकुल पर्यन्त क्षुद्र जन्तु कहाते हैं। ['क्षुद्रजन्तवः'] क्षुद्र जन्तुओं का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवत् हो । यूकालिक्षम् । दंशमशकम् । यहां बहुतों में बहुवचन प्राप्त है, इसलिये [इस सूत्र से] एकवचन किया है ॥

'क्षुद्रजन्तवः'—हिंसक जीव मारने योग्य होते हैं। उन को क्षुद्र जन्तु समझने में यह दोष है कि 'कीटपतङ्गम्' यहां एकवत् नहीं पावे । इसलिये जिन के शरीर में हड्डी न हो, वे क्षुद्र जन्तु समझने चाहियें । अथ वा जिन के अपना रुधिर नहीं, मनुष्यादि का रुधिर पी कर जीते हैं, वे क्षुद्र जन्तु । अथ वा जिन हजार पर्यन्त जीवों से भी एक अञ्जलि न भरे, वे क्षुद्र जन्तु । अथ वा एक पशु के चर्म भर जिन के मारने से भी पतित न हो, वे क्षुद्र जन्तु। अथ वा नकुल पर्यन्त जीवों को क्षुद्र जन्तु कहते हैं। इतने लक्षण क्षुद्र जन्तुओं के महाभाष्यकार ने लिखे हैं। [इन में से अन्तिम लक्षण ही व्यापी होने से मन्तव्य है ॥] ८ ॥

येषां च विरोधः शाश्वतिकः[3] ॥ ९ ॥

येषाम् । ६ । ३ । च । [अ० ।] विरोधः । १ । १ । शाश्वतिकः । १ । १ । येषां जीवानां शाश्वतिकः = सनातनो विरोधः, तेषां द्वन्द्व एकवद् भवति । अहिश्च नकुलश्च = अहिनकुलम् । मार्जारश्च मूषकश्च = मार्जारमूषकम् ॥

'शाश्वतिकः' इति किम् । कुरुपाण्डवा युयुधिरे । अत्रैकवन्न भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकार एवकारार्थः । शाश्वतिकविरोधे सति भवत्येवैकवद्भावः । तेन 'अश्वमहिषं, काकोलूकम्' [इति] अत्र वक्ष्यमाणसूत्रेण[4] विभाषैकवद्भावः प्राप्तः । चकारस्यैवकारार्थत्वान्नित्यमेव भवति ॥ ९ ॥

['येषां'] जिन जीवों का ['विरोधः शाश्वतिकः'] सनातन विरोध है, उन का द्वन्द्व समास एकवत् हो । अहिनकुलम् । यहां अहि- और नकुल-शब्द का एकवद्भाव हुआ है ॥

शाश्वतिक-ग्रहण इसलिये है कि 'कुरुपाण्डवा युयुधिरे' यहां एकवत् न हो ॥

इस सूत्र में चकार निश्चयार्थ है। जहां सनातन विरोध हो, वहां एकवद्भाव हो ही जावे। अश्वमहिषम् । यहां आगे के[4] सूत्र से पशुवाची शब्दों के द्वन्द्व में विकल्प करके एकवत् प्राप्त है, सो चकार के होने से नित्य होता है ॥ ९ ॥

---

१. धा०—रुधा० ३ ॥

"स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपि०शुभि-भ्यो रक् ॥" (उणा० २ । १३) इति रक् ॥

२. कैयटस्त्वाह—" 'क्षोतव्याः' इत्यर्हार्थे कृत्यः । ये क्षुद्यमाना अपि न म्रियन्ते जलौकःप्रभृतयः । ये तु म्रियन्ते ते पापनिमित्तत्वादक्षोतव्याः ॥"

३. शा०—पृ० ४० ॥

चा० सू०—"नित्यवैरिणाम् ॥" (२ । २ । ५५)

४. "विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्त्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ॥" (२ । ४ । १२)

शूद्राणामनिरवसितानाम्[1] ॥ १० ॥

शूद्राणाम् । ६ । ३ । अनिरवसितानाम्[2] । ६ । ३ ।

भा०—यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति, तेऽनिरवसिताः ।
यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, ते निरवसिताः ॥[3]

यैः शूद्रैः = आर्यसेवकैर्भुक्ते सति पात्रशुद्धिः संस्कारेण[4] भवति तेऽनिरवसिताः । अनिरवसितानां शूद्रवाचिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति । तक्षायस्कारम् । रजकतन्तुवायम् । रजककुलालम् । अत्र सर्वत्र द्विवचनं प्राप्तम्, एकवचनमेव भवति ॥

'अनिरवसितानाम्' इति किम् । चण्डालमृतपाः । चण्डालाश्च मृतपाश्चेति विग्रहः । अत्र चण्डालादिभुक्तं पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, अतस्ते निरवसिताः [=बहिष्कृताः[6] ।] तेषां द्वन्द्वोऽप्येकवन्न भवति ॥ १० ॥

जिन शूद्रों का भोजन किया हुआ पात्र संस्कार करने से [अर्थात् मांजने से] शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित शूद्र कहाते हैं । और जिन का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध न हो, वे निरवसित कहाते हैं । ['अनिरवसितानाम्'] अनिरवसित ['शूद्राणाम्'] शूद्रवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवचन हो । रजकतन्तुवायम् । रजक कहते हैं धोबी को, और तन्तुवाय कोरी [= जुलाहा] कहाता है । इन का द्वन्द्व एकवत् हो गया ॥

अनिरवसित-ग्रहण इसलिये है कि 'अन्त्यजाश्चण्डालाः' अन्त्यज और चण्डाल का पात्र संस्कार से [अर्थात् मांजने से] भी शुद्ध नहीं हो सकता । इससे यहां एकवत् नहीं हुआ ॥ १० ॥

---

१. सा०—पृ० ४७ ॥
भा० वृ०—"कारूणाम् ॥" (२ । ४ । ५९)

२. अत्र महाभाष्ये—
" 'अनिरवसितानाम्' इत्युच्यते । कुतोऽनिरवसितानाम् । आर्यावर्तादनिरवसितानाम् । कः पुनरार्यावर्तः । प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् । यद्येवं किष्किन्धगन्धिकं शकयवनं शौर्यक्रौञ्चमिति न सिध्यति ॥

"एवं तर्ह्यार्यनिवासादनिरवसितानाम् । कः पुनरार्यनिवासः । ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति । एवमपि य एते महान्तः संस्त्यायास्तेष्वभ्यन्तराश्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति । तत्र चण्डालमृतपा इति न सिध्यति ॥

"एवं तर्हि याज्ञात् कर्मणोऽनिरवसितानाम् । एवमपि 'तक्षायस्कारं, रजकतन्तुवायम्' इति न सिध्यति ॥

"एवं तर्हि पात्रादनिरवसितानाम् । यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति० ॥"

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. द्रष्टव्या अमरव्याख्यानन्दकृतोणादिवृत्तौ—२।१६॥

५. "भस्मना शुध्यते कांस्यम्" इत्यादि स्मृतिविहितेन संस्कारेण ॥ (द्रष्टव्या मनुस्मृतौ पञ्चमाध्याये श्लोकाः ११०—११७, याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्याये द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् च) [त्यक्ताः ।"]

६. अत्र न्यासकारः—"न लभन्ते यत्र भोक्तुमि-

गवाश्वप्रभृतीनि च[1] ॥ ११ ॥

गवाश्वप्रभृतीनि । १ । ३ । च । [अ० ।] एकवचनाधिकारे कृतैकवद्भावसाधूनि गवाश्वप्रभृतीनि प्रातिपदिकानि सिद्धानि भवन्ति । गवाश्वम् । गवाविकम् । अत्र गो-शब्दस्य अश्व-शब्देन अवि-शब्देन च सह समासः । पृषोदरादित्वादन्यत्कार्यम् ॥

भा०—गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तं द्रष्टव्यम् ॥[2]

अस्यैतत् प्रयोजनम्—गणपाठे यथा पाणिनिनोच्चारितं, तथैव द्रष्टव्यम् । यदि विग्रहेण सिद्धिः कर्त्तव्या, तदा वक्ष्यमाणसूत्रेण[3] 'गोऽश्वं, गोऽश्वाः' इति द्वौ प्रयोगौ भविष्यतः, किन्तु निपातनकार्यं गणपठितेष्वेव भवति ॥

अथ गणपाठः—[१] गवाश्वम् [२] गवाविकम् [३] गवैडकम् [४] अजाविकम् [५] अजैडकम्[4] [६] कुब्जवामनम् [७] कुरुकिरातम्[5] [८] कुब्जकैरातकम्[6] [९] पुत्रपौत्रम्[7] [१०] स्त्रीकुमारम् [११] दासीमाणवकम् [१२] शाटीपिच्छकम्[8] [१३] शाटीपट्टिकम्[9] [१४] उष्ट्रखरम् [१५] उष्ट्रशशम् [१६] मूत्रशकृत् [१७] मूत्रपुरीषम् [१८] यकृन्मेदः[10] [१९] मांसशोणितम् [२०] दर्भशरम्[11] [२१] दर्भपूतीकम्[12] [२२] अर्जुनशिरीषम्[13] [२३] अर्जुन-

---

१. सा०—पृ० ४७ ॥
चा० श०—"गवाश्वादीनाम् ।" (२ । २ । ५७)

२. अ० १ । पा० ४ । आ० ३ ॥

३. २ । ४ । १२ ॥

४. "गवाश्वम्" इत्येवमादीनाम् अजैडकपर्यन्तानां पशुद्वन्द्वविभाषाया अप्राप्तौ वचनम् । केचित् "उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्" इति ।

५. चान्द्रवृत्ति-काशिका-शब्दकौस्तुभेषु नैष शब्द उपलभ्यते ॥

६. पाठान्तरम्—०कैरातम् ॥
रामचन्द्र-बोटलिङ्कौ नैनं पठतः । बोटलिङ्कस्तु "कुब्जकैरातम्" इत्येतत् "कुब्जकिरातम्" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥ [सर्वत्र "खञ्जवडालम्" इति ॥

७. अतः परं चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र०कौ०टीकादिषु [उपलभ्यते ॥

८. चान्द्रवृत्तौ—शाटीपुच्छकम् ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—शाटीप्रच्छिकम् ॥
बोटलिङ्कः "शाटीपटीर, शाटीप्रच्छदम्" इति द्वौ शब्दौ पठति, गणान्ते च "K. ausserdem शाटीपिच्छकम्" इति ॥
शब्दकौस्तुभे "उष्ट्रखरं, शाटीप्रच्छदम्" इति ॥
न्यासे—"'शाटीपिच्छकमिति' 'जातिरप्राणिनाम् ॥' [२ । ४ । ६] इति नित्येऽद्वन्द्वप्रकल्पनार्थं पाठः ।"
एवमेव मूत्रशकृदादयो मांसशोणितपर्यन्ताः ॥

९. चान्द्रवृत्ति-काशिका-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभेषु नोपलभ्यते ॥

१०. चान्द्रवृत्तौ—यकृन्मेदम् ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—शकृन्मेदम् ॥

११. शब्दकौस्तुभे नास्ति ॥
न्यासे—"दर्भशरप्रभृतीनां तृणोलपपर्यन्तानां तृणद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम् ।"

१२. चान्द्रवृत्तौ—दर्भपूतिकम् ॥

१३. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभेषु नो-

पुरुषम्[१] [२४] तृणोलपम्[२] [२५] दासीदासम् [२६] कुटीकुटम्[३] [२७] भागवतीभागवतम्[४] ॥ इति गवाश्वप्रभृतिगणः ॥ ११ ॥

इस एकवचन के अधिकार में एकवद्भाव किये हुए ['गवाश्वप्रभृतीनि'] गवाश्वप्रभृति प्रातिपदिक निपातन सिद्ध समझने चाहियें । गवाश्वम् । यहां गो-शब्द का अश्व-शब्द के साथ समास होके एकवद्भाव और आकारादेश निपातन से हुआ है । इस गवाश्वप्रभृतिगण में जिस प्रकार के शब्द पाणिनिजी महाराज ने पढ़े हैं, वैसे ही समझने चाहियें । अर्थात् जो समास का विग्रह करके सिद्धि करना हो, तो आगे के सूत्र से 'गोऽश्वं, गोऽश्वाः' ये दो प्रयोग बनेंगे, किन्तु गव का सा प्रयोग नहीं बनेगा ॥

गवाश्वप्रभृतिगण पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिया है ॥ ११ ॥

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्य-श्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्[५] ॥ १२ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । [अ० ।] वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तराणाम् । ६ । ३ । 'वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर' इत्येतेषां द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति । अस्मिन् सूत्रे वृक्षादिजातिशब्देषु तद्विशेषवाचिनां शब्दानां ग्रहणं भवति । तदुक्तं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे 'स्वं रूपम्[६] ॥' इति सूत्रे । वृक्ष-शब्दे प्राप्तविभाषा । 'जातिरप्राणिनाम्[७] ॥' इति नित्ये एकवद्भावे प्राप्ते विकल्प आरभ्यते । प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च = प्लक्षन्यग्रोधम्, = प्लक्षन्यग्रोधाः । मृग-शब्देऽप्राप्तविभाषा । रुरवश्च पृषताश्च = रुरुपृषतं, = रुरुपृषताः । तृण-शब्दे प्राप्तविभाषा । 'जातिरप्राणिनाम् ॥' इति नित्ये प्राप्ते विकल्पारम्भः । कुशकाशं, कुशकाशाः । शरशीर्यं, शरशीर्याः । धान्य-शब्दे पूर्ववत् प्राप्तविभाषा । व्रीहियवं, व्रीहियवाः । माषतिलं, माषतिलाः । व्यञ्जन-शब्देऽपि पूर्ववत् प्राप्तविभाषा । दधितक्रं, दधितक्रे । दधिघृतं, दधिघृते । पश्वादिषु सर्वेष्वप्राप्तविभाषा । गोमहिषं, गोमहिषाः । अजाविकं, अजाविकाः । शकुनि— हंसचक्रवाकं, हंसचक्रवाकाः ।

---

१. काशिकायां नास्ति ॥

२. कौटलिङ्ग:—"तृणोलपम् (तृणोपलम्) ॥"

३. शब्दकौस्तुभेऽतःपरं पुनरपि—मांसशोणितम् ॥

४. चान्द्रवृत्तौ—भगवतीभागवतम् ॥

५. सं०—पृ० ४८ ॥ चा० श०—"वा वृक्षतृणधान्यमृगशकुनिविशेषाणाम् ॥ व्यञ्जनानाम् ॥ अश्ववडवौ ॥" (२ । २ । ६२–६४)

६. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिकं १)

७. २ । ४ । ६ ॥

[अश्ववडव—] अश्ववडवं, अश्ववडवौ । [पूर्वापर—] पूर्वापरं, पूर्वापरे । [अधरोत्तर—]अधरोत्तरं, अधरोत्तरे । अत्र व्यञ्जन-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तर-शब्दान् विहायान्यत्र बहुवचनं प्राप्तं, तत्र विभाषैकवचनं विधीयते । व्यञ्जनादिषु द्विवचनं प्राप्तं, तत्र पक्षे द्विवचनमेव भवति ॥

वा०—*बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनि[1]क्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम्[2] ॥ १ ॥*

फलादिवाचिनां शब्दानां बहुवचनानां द्वन्द्वसमासे कृत एकवद्भावो भवति । पक्षे च बहुवचनमेव तिष्ठति । फल—बदरामलकं, बदरामलकानि । सेना-शब्देन सेनाङ्गानां द्वन्द्वः—हस्त्यश्वं, हस्त्यश्वाः । वनस्पति-शब्देन वृक्षाणां ग्रहणं, तत्रोदाहृतम् । मृग-शकुनि-शब्दयोः सूत्र उदाहृतम् । क्षुद्रजन्तुषु प्राप्तविभाषा । यूकालिक्षं, यूकालिक्षाः । धान्य-तृणयोः सूत्र उदाहृतम् ॥

वार्त्तिके बहुप्रकृति-ग्रहणं किमर्थम् । बदरामलके तिष्ठतः । अत्रैकवन्न स्यात् ॥ १२ ॥

इस सूत्र में प्राप्त, अप्राप्त उभय विभाषा है । सो आगे अलग २ दिखाया जायगा । वृक्ष आदि जातिवाची शब्दों में उन के विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । यह बात प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में[3] भी लिख दी है । ['वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर-अधरोत्तराणां'] वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यंजन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर, इन सब का जो द्वन्द्व समास है, वह विकल्प करके एकवद्भाव को प्राप्त हो जावे । वृक्ष-शब्द में प्राप्तविभाषा है, क्योंकि अप्राणि जातिवाची के होने से एकवद्भाव पूर्व सूत्र[4] से नित्य प्राप्त है । वृक्ष—प्लक्षन्यग्रोधम् । प्लक्षन्यग्रोधाः । यहां वृक्षवाची प्लक्ष- और न्यग्रोध-शब्द का । मृग-शब्द में अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी सूत्र से एकवद्भाव नहीं पाता । मृग—रुरुपृषतम् । रुरुपृषताः । यहां मृगवाची रुरु- और पृषत्-शब्द का । तृण-, धान्य- और व्यञ्जन-शब्द में अप्राणि जातिवाची के होने से एकवद्भाव नित्य पाता है । तृण—कुशकाशम् । कुशकाशाः । यहां तृणवाची कुश- और काश-शब्द का । धान्य—व्रीहियवम् । व्रीहियवाः । यहां धान्यवाची व्रीहि- और यव-शब्द का । व्यञ्जन—दधिघृतम् । दधिघृते । यहां व्यञ्जनवाची दधि- और घृत-शब्द का । पशु आदि सब शब्दों में अप्राप्तविभाषा है अर्थात् एकवद्भाव किसी सूत्र से प्राप्त नहीं, तब विकल्प का आरम्भ किया है । पशु—गोमहिषम् । गोमहिषाः । यहां पशुवाची गो- और महिष-शब्द का । शकुनि—हंसचक्रवाकम् । हंसचक्र-

१. पाठान्तरम्—०शकुन्त ॥
२. वा० स०—"फलानाम् ॥" (२ । २ । ६१)
३. अ० १ । पा० ४ । सू० १ ॥
४. १ । २ । ६७ ॥ (वार्त्तिक १)
५. २ । ४ । ६ ॥

चक्रवाकाः । यहां पक्षीवाची हंस- और चक्रवाक-शब्द का । अश्ववडव—अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । यहां अश्व- और वडव-शब्द का । पूर्वापर—पूर्वापरम् । पूर्वापरे । यहां पूर्व- और अपर-शब्द का । तथा अधरोत्तर—अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । यहां अधर- और उत्तर-शब्द का द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त हुआ है ॥

'बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम् ॥' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि फलवाची, सेना के अवयव, वनस्पति [अर्थात्] वृक्षवाची, मृग, शकुनि क्षुद्रजन्तु, धान्य और तृणवाची शब्दों के बहुवचन से द्वन्द्व समास होके विकल्प करके एकवद्भाव हो । और पक्ष में बहुवचन ही बना रहे । फल और सेना में प्राप्तविभाषा है । फल—बदरामलकम् । बदरामलकानि । यहां फलवाची बदर- और आमलक-शब्द का । सेना—हस्त्यश्वम् । हस्त्यश्वाः । यहां सेना के अवयववाची हस्ती- और अश्व-शब्द का । वनस्पति, मृग, शकुनि, धान्य और तृण इन शब्दों के उदाहरण वार्त्तिक के अनुकूल सूत्र में आ गये । क्षुद्र जन्तुओं में प्राप्तविभाषा है । यूकालिक्षम् । यूकालिक्षाः । और यहां यूका-लिक्षा-शब्द का एकवद्भाव हुआ है ॥

इस वार्त्तिक में बहुप्रकृति-ग्रहण इसलिये है कि 'बदरामलके तिष्ठतः' यहां एकवत् न हो ॥ ११ ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि[1] ॥ १२ ॥

विभाषा-ग्रहणमनुवर्त्तते । विप्रतिषिद्धम् । १ । १ । [च । अ० ।] अ[न]-धिकरणवाचि । १ । १ । विप्रतिषिद्धं = परस्परविरुद्धम् । मूर्त्तस्य पदार्थस्याधिकरणं भवत्येव[2] । [अनधिकरणवाचि] अमूर्त्तवाचीत्यर्थः । अद्रव्यवाचिनां परस्परविरुद्धानां शब्दानां द्वन्द्वो विकल्पेनैकवद् भवति । शीतं चोष्णं च = [शीतोष्णं,=] शीतोष्णे । सुखदुःखं, सुखदुःखे । जीवितमरणं, जीवितमरणे । अत्रैकस्याभावेऽपरस्य प्रवृत्तिर्भवति । इदमेवानयोर्विप्रतिषेधः ॥

'विप्रतिषिद्धं' इति किम् । कामक्रोधौ ॥

'अनधिकरणवाचि' इति किम् । शीतोष्णे उदके । अत्रोभयत्रैकवद्भावो न भवति ॥ १२ ॥

परस्पर जो विरुद्ध हों, उन को विप्रतिषिद्ध कहते हैं । मूर्त्तिमान् पदार्थों का अधिकरण होता है और जिन पदार्थों की आकृति न हो, वे अनधिकरणवाची होते हैं । ['अनधिकरण-वाचि'] अनधिकरणवाची ['विप्रतिषिद्धं'] परस्पर विरुद्ध जो शब्द हैं, उन का द्वन्द्व

१. सा०—पृ० ४८ ॥ (२।१५)
चा० श०—"विरोधिनामद्रव्याणाम् ॥" (२।

२. न्यासकारः—"अधिकरण शब्दोऽत्र द्रव्ये वर्त्तते आधारे । न हि विप्रतिषिद्धवाचिनां शब्दानामाधारे वृत्तिरस्ति । विभक्त्यर्थत्वादाधारस्य कोः ।"

समास विकल्प करके एकवद्भाव को प्राप्त हो । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । यहां शीत और उष्ण का परस्पर विरोध है, क्योंकि जब शीत होता है तब उष्ण नहीं, और उष्ण समय में शीत नहीं । और इन का अधिकरण भी कोई नहीं ॥

विप्रतिषिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि 'कामक्रोधौ' यहां एकवत् न हो ॥

और अनधिकरणवाची का ग्रहण इसलिये है कि 'शीतोष्णे अस्ते' यहां भी जल के वाची होने से एकवद्भाव नहीं हुआ ॥ १३ ॥

न दधिपयआदीनि[1] ॥ १४ ॥

दधिपयआदित्रयाणां शब्दानां व्यञ्जनवाचित्वात् पूर्वसूत्रेण विभाषै[क]-वद्भावः प्राप्तोऽनेन प्रतिषिध्यते । एवमन्येष्वपि गणशब्देषु येन केनचित् प्राप्तं प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] दधिपयआदीनि । १ । ३ । दधिपयआदीनि समुदायपठितानि प्रातिपदिकानि नैकवत् भवन्ति । एकवद्भावनिषिद्धान्येव गणे पठ्यन्ते ॥

तद्यथा—[१] दधिपयसी [२] सर्पिर्मधुनी [३] मधुसर्पिषी [४] ब्रह्मप्रजापती[2] [५] शिववैश्रवणौ [६] स्कन्दविशाखौ [७] परिव्राट्कौशिकौ[3] [८] प्रवर्ग्योपसदौ[4] [९] शुक्लकृष्णौ[5] [१०] इध्माबर्हिषी[6] [११] दीक्षातपसी [१२] श्रद्धातपसी[7] [१३] मेधातपसी[8] [१४] अध्ययनतपसी[9] [१५] उलूखलमुसले[9] [१६] आद्यवसाने[10] [१७] श्रद्धामेधे [१८] ऋक्सामे[11] [१९] वाङ्मनसे ॥ इति[12] दधिपयआदिगणः ॥ १४ ॥

---

१. सा०—पृ० ४८ ॥
 का०शा०—"न दधिपयआदीनाम् ॥"(२।२।१६)

२. न्यासकारः—" 'ब्रह्मप्रजापती' इत्यादीनां च-न्धानां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः ।"

३. गणरत्ने चान्द्रवृत्तौ च—परिव्राट्कौशिकौ ॥
 प्र०कौ०टीकायाम्—परिव्राजककौशिकौ ॥

४. चान्द्रवृत्तौ "प्रवर्ग्योपनिषदौ । वाज्यानुवाक्ये" इति द्वौ शब्दौ ॥

५. चान्द्रवृत्ति-शब्दकौस्तुभयोः—शुक्लकृष्णे ॥
 प्र०कौ०टीकायाम्— "शुक्लकृष्णौ । प्रवर्ग्योपसदौ । याज्यानुवाक्ये ।" इति क्रमपाठभेदः ॥
 न्यासे— " 'शुक्लकृष्णौ' इति 'विप्रतिषिद्धम्०॥' [२ । ४ । १३] इत्यादिना ।"

६. न्यासे—" 'इध्माबर्हिषी' इत्यादीनां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः ।"

७. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥

८. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥

९. चान्द्रवृत्तौ—उदूखलमुसले ॥

१०. काशिकायाम्—आद्यावसाने ॥

११. यजुर्वेदे—"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः । शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥" (४ । ९)

१२. प्र०कौ०टीकायाम्—"अन्येऽपि प्रयोगवशाद् ज्ञेयाः ।"

गणरत्नमहोदधौ (२ । १२४, १२६–१२८)

दधिपयआदि तीन शब्दों में व्यंजनवाची के होने से पूर्व सूत्र से विकल्प करके एकवद्भाव प्राप्त है। इसी प्रकार अन्य गण शब्दों में भी किन्हीं २ सूत्रों से एकवद्भाव प्राप्त हैं। सो इस सूत्र से निषेध किया है। ['दधिपयआदीनि'] दधिपयआदि जो प्रातिपदिक हैं, उन में एकवद्भाव ['न'] न हो। दधिपयसी। यहां एकवत् नहीं हुआ॥

दधिपयआदि शब्द एकवद्भाव के निषेध किये हुए गण में पढ़े हैं, वे पूर्व संस्कृत में क्रम से लिख दिये हैं॥ १४॥

अधिकरणैतावत्त्वे च[1] ॥ १५ ॥

'न' इत्यनुवर्त्तते। अधिकरणैतावत्त्वे। ७। १। च। [अ०।] अधिकरणे आधेयस्य एतावत्त्वं (= इयत्ता = तोलनं = परिमाणं) = अधिकरणैतावत्त्वं[2], तस्मिन्। अधिकरणैतावत्त्वे यो द्वन्द्वः, स एकवन्न भवति। हस्तौ च पादौ च चत्वारो हस्तपादाः। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि। अत्र प्राण्यङ्गत्वान्नित्यं प्राप्तं प्रतिषिध्यते॥ १५॥

['अधिकरणैतावत्त्वे'] अधिकरण में जहां आधेय का परिमाण करना हो, वहां जो द्वन्द्व समास है वह एकवद्भाव को न प्राप्त हो। चत्वारो हस्तपादाः। हस्त, पाद आदि के अवयव होने से एकवद्भाव प्राप्त होता था, उस का निषेध किया है॥ १५॥

विभाषा समीपे[1] ॥ १६ ॥

'अधिकरणैतावत्त्वे' इत्यनुवर्त्तते। विभाषा। [अ०।] समीपे। ७। १। अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपेऽर्थे यो द्वन्द्वः, स विकल्पेनैकवद् भवति। उपदशं दन्तोष्ठम्, उपदशा दन्तोष्ठाः[3]। [उपदशं] जानुजङ्घं, [उपदशाः] जानुजङ्घाः। अत्र पूर्वसूत्रेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्प्यते। अत एवाप्राप्तविभाषेयम्॥ १६॥

[इत्येकवद्भावप्रकरणम्]

"रामलक्ष्मणौ" इत्यादयः शब्दा अधिका दृश्यन्ते। तद्यथा—

"सूर्याचन्द्रमसौ सोमरुद्रौ नारदपर्वतौ।
शुक्लकृष्णौ पितापुत्रौ हयौ भीमार्जुनौ तथा॥
मित्रावरुणौ मातापितरावथ कम्बलाश्वतरौ।
नरनारायणशिवविश्रवणाः
अग्नीषोमविष्णुनारदीयादीनुकाल्याद्याः॥

आद्य-शब्दः प्रकारे। तेन येषां लोके इतरेतरयोग एव द्वन्द्वो दृश्यते, तेषामिह ग्रहणं भवति। यथा चन्द्रार्काविति॥"

१. सा०—पृ० ४८॥

२. अन्ये तु "अधिकरणं द्रव्यं, तस्य एतावत्त्वम्" इत्याहुः॥

काशिकायाम्—"अधिकरणं वर्त्तिपदार्थः, स हि समासस्यार्थस्याधारः, तस्यैतावत्त्वे = परिमाणे"

३. महाभाष्ये—"एष तर्ह्यव्ययस्य सङ्ख्ययाव्ययीभावोऽप्यारभ्यते, बहुव्रीहिरपि। तद्यदा तावदेकवचनं तदाव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यत एकार्थस्यैकार्थ इति। यदा बहुवचनं, तदा बहुव्रीहिरनुप्रयुज्यते बह्वर्थस्य बह्वर्थ इति॥"

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि पूर्व सूत्र से नित्य निषेध प्राप्त है। अधिकरण के एतावत्त्व के ['समीपे'] समीप अर्थ में ['विभाषा'] विकल्प करके एकवत् हो। उपदर्शं दन्तोष्ठम्। उपदशा दन्तोष्ठाः। यहां दन्त- और ओष्ठ-शब्द का विकल्प करके एकवद्भाव होता है ॥ १६ ॥

[यह एकवद्भाव का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथ लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

स नपुंसकम्[1] ॥ १७ ॥

'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[2] ॥' इति सूत्रेण परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यायमपवादो योगः। सः। १।१। नपुंसकम्।[१।१] अस्मिन्नेकवचनप्रकरणे यस्य द्विगोर्द्वन्द्वस्य चैकवद्भावो विहितः, स नपुंसकलिंगो भवति। पञ्चपात्रम्। पाणिपादम् इत्याद्युदाहरणेषु यथाऽनेन विधीयते तथैवोदाहृतम् ॥ १७ ॥

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द का लिंग प्राप्त होता है। उस का अपवाद यह सूत्र है। इस प्रकरण में जिस द्विगु और द्वन्द्व समास को एकवत् कहा है, ['सः'] वह ['नपुंसकं'] नपुंसकलिंग हो। पञ्चपात्रम्। पाणिपादम् इत्यादि उदाहरणों में नपुंसकलिङ्ग के उदाहरण दे चुके हैं ॥ १७ ॥

अव्ययीभावश्च[3] ॥ १८ ॥

'नपुंसकम्' इत्यनुवर्त्तते। अव्ययीभावः समासो नपुंसकलिंगो भवति। उपकुम्भम्। उपगु। अतिरि। अधिकुमारि। 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः[4]' इत्युक्तम्। तत्र पूर्वपदार्थप्रधानस्य लिङ्गत्वं न निश्चितं भवति,[5] अत इदमुच्यते। उपग्वादिशब्देषु नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम्[6] ॥ १८ ॥

['अव्ययीभावः'] अव्ययीभाव समास जो है, वह नपुंसकलिङ्ग हो। उपगु। अधिकुमारि इत्यादि शब्दों में नपुंसकलिङ्ग के होने से ह्रस्व होता है[6]। अव्ययीभाव समास पूर्वपदार्थप्रधान होता है, इससे अव्ययीभाव में कोई लिंग नहीं प्राप्त है। इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है ॥ १८ ॥

तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः ॥ १९ ॥

---

१. सा०—सू० ४६ ॥
 चा० श०—"समाहारे नपुंसकम् ॥"
 (२ । २ । ४६)

२. २ । ४ । २६ ॥

३. चा० श०—"तन्नपुंसकम् ॥" (२।२।१५)

४. महाभाष्ये—अ० २ । पा० १ । आ० ३ ॥
 "अव्ययं विभक्ति० ॥" (२ १।६) इति सूत्रे ॥

५. " उपकुम्भम्, उपगु, अतिरि, अधिकुमारि "
 इत्यादौ पूर्वपदस्यालिङ्गत्वात् ॥

६. "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥" (१।२।४७)

'नपुंसकम्' इत्यनुवर्त्तते । तत्पुरुषः । १ । १ । अनञ्कर्मधारयः[1] । १ । १ । नञ्समासं कर्मधारयसमासं च विहायान्यस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । अतोऽग्रेऽस्य सूत्रस्याधिकारो गमिष्यति । असुराणां सेना = असुरसेनम् । अत्रानञ्कर्मधारयस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकत्वं भवति ॥

'अनञ्' इति किम् । असेना ॥

'अकर्मधारयः' इति किम् । परमसेना । अत्रोभयत्रै[कै]वचननपुंसके न भवतः ॥ १९ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे ['तत्पुरुषः'] तत्पुरुष समास को एकवचन और नपुंसकलिङ्ग कहेंगे ['अनञ्कर्मधारयः'] नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के । असुरसेनम् । यहां एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ है ॥

'अनञ्' ग्रहण इसलिये है कि 'असेना' यहां नपुंसक न हो ॥

और कर्मधारय का निषेध इसलिये है कि 'परमसेना' यहां भी नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ १९ ॥

सञ्ज्ञायां कन्थोशीनरेषु[2] ॥ २० ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । सञ्ज्ञायाम् । ७ । १ । कन्था । १ । १ । उशीनरेषु । ७ । ३ । सञ्ज्ञायां विषयेऽनञ्कर्मधारयः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, उशीनरेषु = उशीनरदेशप्रयोगे सति । सौशमिकन्थम् । चिह्वणकन्थम्[3] । अत्र परवल्लिङ्गत्वात् कन्थालिङ्गं प्राप्तं, नपुंसकं विधीयते । उशीनरदेशे 'सौशमिकन्थं, चिह्वणकन्थम्' इति कयोश्चिन् सञ्ज्ञे स्तः[4] ॥

'सञ्ज्ञायाम्' इति किम् । वीरणकन्था ॥

---

१. न्यासे—"अथ 'अनञ्कर्मधारयः' इति कोऽयं निर्देशः । यदि तत्र नञ्कर्मधारययोर्द्वन्द्वस्तदा समाहारे वा स्यादितरेतरयोगे वा । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे नपुंसकत्वं प्रसज्येत । इतरत्र तु द्विवचनम् । निर्देशस्य सौत्रत्वादुभयथाप्यदोषः । तथा हि 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इति । छन्दसि च लिङ्गवचनव्यत्ययं तृतीयेऽध्याये वक्ष्यति ॥"

२. चा० श०—"नाम्नि षष्ठ्याः कन्थोशीनरेषु ॥" (२ । २ । ६७)

३. ऐतरेयब्राह्मणे—"तस्मादस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । राजेत्येनानभिषिक्तानाचक्षते ।" (८ । १४)

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि—"अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस । सोऽवसदुशीनरेषु सवसन् मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति ।" (४ । १)

४. उशीनराख्यां ग्रामयोः सञ्ज्ञे ॥

शब्दकौस्तुभे तु—"कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः सञ्ज्ञा । सुशमस्यापत्यानि सौशमयः, तेषां कन्था = सौशमिकन्थम् ॥"

'उशीनरेषु' इति किम् । दाक्षिकन्था[1] । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २० ॥

['उशीनरेषु'] उशीनर देश में ['सञ्ज्ञायाम्'] सञ्ज्ञावाची जो नञ् और कर्मधारय को छोड़के ['कन्था'] कन्थान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो । सौशमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । यहां तत्पुरुष समास में परवत् लिङ्ग होने से कन्था-शब्द का स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, इसलिये नपुंसक विधान किया है ॥

सञ्ज्ञा-ग्रहण इसलिये है कि 'वीरणकन्था' यहां न हो ॥

और उशीनर-ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिकन्था' यहां भी नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ ॥२०॥

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्[2] ॥ २१ ॥

उपज्ञा-उपक्रमम् । १ । १ । तदाद्याचिख्यासायाम् । ७ । १ । उपज्ञायतेऽसौ उपज्ञा । उपक्रम्यतेऽसौ उपक्रमः । उपज्ञा चोपक्रमश्च = उपज्ञोपक्रमम् । समा[हा]रत्वादेकवचनम् । आख्यातुमिच्छा = आचिख्यासा । तयोः=उपज्ञोपक्रमयोरादिः= तदादिः । तदादेराचिख्यासा = तदाद्याचिख्यासा, तस्यामनञ्कर्मधारय उपज्ञान्त उपक्रमान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । उपज्ञेयोपक्रम्ययोर्य आदिकर्त्तारस्तेषां मानेच्छा भवति । पाणिनेरुपज्ञा = पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् । अस्मिन् कल्पे पाणिनिरेव व्याकरणस्यादिकर्त्ता, व्याकरणमहाभाष्यकर्त्ता च पतञ्जलिः ॥

'उपज्ञोपक्रमम्' इति किम् । व्यासश्लोकाः । व्यासात् पूर्वमपि श्लोकरचना आसीत्[3] ॥

'तदाद्याचिख्यासायाम्' इति किम् । देवदत्तस्योपक्रमः पाकः । अत्रोभयत्र नपुंसकं न भवति ॥ २१ ॥

अनञ्कर्मधारय जो ['उपज्ञोपक्रमं'] उपज्ञान्त और उपक्रमान्त तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग हो, ['तदाद्याचिख्यासायाम्'] उपज्ञेय और उपक्रम्य के करने वाले हैं, वे आदि=प्रथम कर्त्ता हों, तो । पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् । पतञ्जल्युपक्रमं महाभाष्यम् ।

---

१. न्यासे—"भक्तीय ग्रामस्य सञ्ज्ञा । न तूशीनरेषु । किं तर्हि । दर्वोऽन्यत्रेति ।" [(२।२।६८)]

२. शा० रा०—"उपज्ञोपक्रमं तदादित्वे ॥"

३. तथैतरेय-शतपथ-गोपथादिब्राह्मणेषु (ऐ० ब्रा० ८ । २१ ॥ श० ब्रा० १३ । ५ । ४ । २ ॥ गो० ब्रा० पू० २ । ५)—

"तदप्येते श्लोका अभिगीताः—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् ।
मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्धानि सप्त च ॥...

[मृगान् = गजान् । मष्णारनामके देशे]

"तदेष श्लोको भवति—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

"तदपि श्लोकाः—

अरत्निश्च विनाशाय राष्ट्रो जनपदस्य च ।
संवत्सरविरिष्टं तद् यत्र यज्ञो विरिष्यते ॥..."

यहां इस कल्प में व्याकरण के आदि कर्त्ता पाणिनि हैं । इससे उपज्ञान्त को नपुंसकलिङ्ग होता है ॥

उपज्ञा- और उपक्रम-ग्रहण इसलिये है कि 'व्यासश्लोकाः' व्यास से पूर्व भी श्लोक रचे गये ॥

तदाद्याचिख्यासा-ग्रहण इसलिये है [कि] 'देवदत्तोपक्रमः पाकः' यहां दोनों जगह नपुंसक न हो ॥ २१ ॥

छाया बाहुल्ये[1] ॥ २२ ॥

छाया । १ । १ । बाहुल्ये । ७ । १ । छायान्तस्य तत्पुरुषस्याग्रे[2] विभाषा नपुंसकत्वं वक्ष्यते, तदर्थमिदमारभ्यते । अनञ्कर्मधारयश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति [बाहुल्ये गम्यमाने ।] मुञ्जच्छायम् । इक्षुच्छायम्[3] । अत्रापि परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकत्वं विधीयते ॥

'बाहुल्ये' इति किम् । कुड्यच्छाया । अत्र नपुंसकं न भवति ॥ २२ ॥

छायान्त तत्पुरुष को आगे[2] सूत्र में विकल्प कहा है, नित्य नपुंसक होने के लिये यह सूत्र है । नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['छाया'] छायान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिंग हो ['बाहुल्ये'] बाहुल्य अर्थ में । इक्षुच्छायम् । यहां परवल्लिङ्ग प्राप्त है, सो नपुंसक विधान किया है ॥

बाहुल्य अर्थ इसलिये है कि 'कुड्यच्छाया' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २२ ॥

सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा[4] ॥ २३ ॥

सभा । १ । १ । राजाऽमनुष्यपूर्वा । १ । १ । अनञ्कर्मधारयो राजपूर्वोऽमनुष्यपूर्वः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । राज-शब्दः पर्यायवचनानामिष्यते । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजपूर्वस्य तत्पुरुषस्यापि नपुंसकं न भवति । राजसभा । राज-शब्दस्य विशेषवाचिनामपि नपुंसकं न भवति । पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा । एतत् सर्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे 'स्वं रूपं०[5] ॥' इति सूत्रे प्रतिपादितम् । अमनुष्यपूर्वा[6]—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । दैत्यसभम् ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' इति किमर्थम् । धर्मसभा । विद्यासभा । आर्यसभा । अत्र सर्वत्र नपुंसकत्वं प्राप्तं, तन्न भवति ॥ २३ ॥

---

१. चा० शा०—"बाहुल्ये ॥" (२ । २ । ७४)

२. २ । ४ । २५ ॥

३. मुञ्जानां ना बहुत्वमिति । न हि तेन विना छाया सम्भवति ॥

४. चा० शा०—"ईश्वरार्थाद्राज्ञः सभा ॥ अमनुष्यात् ॥" (२ । २ । ६९, ७०)

५. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिक १)

६. जयादित्यः—"अमनुष्य-शब्दो रूढिरूपेण रक्षःपिशाचादिष्वेव वर्त्तते ।"

नञ् और कर्मधारय समास को छोड़के ['राजाऽमनुष्यपूर्वा'] राज और अमनुष्य पूर्व ['सभा'] सभान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिंग हो । इनसभम् । ईश्वरसभम् । राजन्-शब्द के पर्यायवाची शब्दों से नपुंसकलिङ्ग होता है और 'राजसभा' यहां मुख्य राजन्-शब्द पूर्व से नहीं हुआ । तथा 'पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा' यहां राजविशेषवाची किन्हीं राजाओं के नाम पूर्व से भी नपुंसक नहीं हुआ । इस का हेतुवार्त्तिक प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में[1] लिख चुके हैं । अमनुष्यपूर्व—राक्षससभम् । पिशाचसभम् । यहां अमनुष्यपूर्व सभान्त को नपुंसक हुआ है ॥

'राजाऽमनुष्यपूर्वा' ग्रहण इसलिये है कि 'धर्मसभा । [आर्यसभा]' यहां नपुंसकलिङ्ग न हो ॥ २३ ॥

अशाला च[2] ॥ २४ ॥

'सभा' इत्यनुवर्त्तते । अशाला । १ । १ । च । [अ० ।] अशाला च या सभा, तदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति । स्त्रीसभम् । दासीसभम् । वृषलीसभम् । पशुसभम् । शकुनिसभम् । यवसभम् । गोधूमसभम् । वृक्षसभम् । समुदायवाच्यत्र सभा-शब्दोऽस्ति । एवं च कृत्वा शालार्थस्य सभा-शब्दस्य निषेधः सिद्धो भवति । सभा-शब्दस्य समुदायवाचित्वादेव स्थावरपूर्वस्य सभान्तस्यापि नपुंसकं भवति ॥ २४ ॥

['अशाला'] शाला अर्थ से भिन्न अर्थ वाला जो सभा-शब्द, तदन्त अनञ् कर्मधारय तत्पुरुष नपुंसकलिंग हो । दासीसभम् । पशुसभम् । वृक्षसभम् । यहां समुदायवाची सभा-शब्द का ग्रहण है, इससे जड़ पदार्थ पूर्वक सभान्त को भी नपुंसकलिङ्ग हो जाता है । क्योंकि जो समुदायवाची का ग्रहण न होता, शालार्थ सभा-शब्द का प्रतिषेध नहीं बन सकता ॥

'अशाला' ग्रहण इसलिये है कि 'अनाथसभा' यहां नपुंसक न हो ॥ २४ ॥

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्[3] ॥ २५ ॥

विभाषा । [अ० ।] सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम् । ६ । ३ । अप्राप्त-विभाषेयम् । सेनादीनां नपुंसकं केनापि न प्राप्तं, विकल्प उच्यते । 'सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा' इत्येतदन्तोऽनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो [विभाषा] नपुंसकलिङ्गो भवति । असुरसेनम् । दैत्यसेनम् । असुरसेना । दैत्यसेना । गुडसुरं, गुडसुरा । यवसुरं, यवसुरा । आम्रच्छायं, आम्रच्छाया । गोशालं, गोशाला ।

---

१. १ । १ । ६७ ॥ (वार्त्तिक ३)
२. चा० श०—"अशाला ॥" (२ । २ । ७१)
३. चा० श०—"सेनासुराशालानिशा । वा ॥ छाया ॥" (२ । २ । ७२, ७३)

खरशालं, खरशाला । श्वनिशं, श्वनिशा[1] । अत्र सर्वत्र परवल्लिङ्गता प्राप्ता, नपुंसकं विकल्पेन भवति ॥ २५ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है, क्योंकि सेनादि शब्दों को नपुंसकलिङ्ग किसी सूत्र से प्राप्त नहीं और नपुंसकलिंग का विकल्प करते हैं । ['सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम्'] सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा, ये शब्द जिस के अन्त में हों, ऐसा जो नञ् और कर्मधारय को छोड़के तत्पुरुष समास, वह नपुंसकलिङ्ग हो ['विभाषा' विकल्प करके ।] दैत्यसेनम् । दैत्यसेना । यहां दैत्य-शब्द का सेना-शब्द के साथ तत्पुरुष । यवसुरम् । यवसुरा । यहां सुरा-शब्द के साथ यव का । आम्रच्छायम् । आम्रच्छाया । यहां छाया-शब्द के साथ आम्र-शब्द का । गोशालम् । गोशाला । यहां शाला-शब्द के साथ गो-शब्द का । और 'श्वनिशम् । श्वनिशा' यहां निशा-शब्द के साथ श्व-शब्द का तत्पुरुष नपुंसक विकल्प करके होता है ॥ २५ ॥

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[2] ॥ २६ ॥

परवत्-लिङ्गं = परवल्लिङ्गम् । १ । १ । द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः । ७ । २ । द्वन्द्व-समासे[3] तत्पुरुषसमासे च परस्य यल्लिङ्गं तद् भवति । द्वन्द्वसमासस्योभयपदार्थ-प्रधानत्वात् कदाचित् पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, कदाचित् परस्य च यल्लिङ्गं, तत् समास-स्यापि स्यात्[4] । तत्पुरुषे तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात् सिद्धमेव परवल्लिङ्गम् । [पूर्वपदार्थ-प्रधाने] तत्पुरुष एकदेशिसमासार्थं परवल्लिङ्गारम्भः । द्वन्द्वे—गुणश्च वृद्धिश्च = गुणवृद्धी । वृद्धिशब्दस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति । वृद्धिगुणौ । गुण-शब्दस्य पुंस्त्वं, तदेव समासस्यापि यथा स्यात् । तत्पुरुषे—पिप्पल्या अर्द्धं = अर्द्ध-पिप्पली । अर्द्धकोशातकी । अत्रापि परस्य स्त्रीत्वं, तदेव समासस्यापि भवति, अर्द्ध-शब्दस्य लिङ्गं न भवति ॥

वा०—द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥[6] १ ॥

---

१. न्यासे—"यस्यां [कस्याञ्चित्] निशायां श्वानो मत्ता विहरन्ति [स्वरन्तीति पाठान्तरम् । सप्तम्यर्थः ।]"

हरदत्तस्तु—"यस्यां निशायां श्वान उपवसन्ति, सा श्वनिशमित्युच्यते । सा पुनः कृष्णचतुर्दशी । तस्यां हि श्वान उपवसन्तीति प्रसिद्धिः ।"

शबरभाष्ये च " शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः" इति ॥

२. सा०—पृ० ५२ ॥

३. इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येद ग्रहणम् ॥

४. न्यासकारः—"इहायं द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानः । स यदा भिन्नलिङ्गावयवो भवति, तदा पूर्वोत्तरयोः पदयोर्भिन्नलिङ्गयोरनुग्राहकमेकं लिङ्गं नास्ति, येन समुदायो व्यपदिश्यते । उभाभ्यां च युगपदसम्भवादशक्यो व्यपदेशः कर्तुम् । अतः पर्यायः स्यादिति द्वन्द्वे नियमार्थं वचनम् ॥" [भाषा० ।]"

५. महाभाष्ये—"परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति चेत्

६. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः । प्राप्तो जीविकां = प्राप्तजीविकः । आपन्नो जीविकां = आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै = अलंजीविकः । गतिसमासे—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः । एषु शब्देषु सूत्रेण परवल्लिङ्गता प्राप्ताऽनेन वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते ॥ २६ ॥

['द्वन्द्व तत्पुरुषयोः'] द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में ['परवल्लिङ्गं'] पर शब्द का जो लिंग हो, वह समास का भी हो । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ । यहां द्वन्द्व समास में जब वृद्धि-शब्द का पर प्रयोग होता है, तब वृद्धि-शब्द के स्त्रीलिंग होने से स्त्रीलिंग और गुण-शब्द जब पर होता है, तब उस के पुंल्लिंग होने से पुंल्लिंग हो जाता है । अर्द्धपिप्पली । यहां तत्पुरुष समास में पर प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग पिप्पली-शब्द का लिङ्ग समास का भी हो गया । द्वन्द्व समास के उभय[पदार्थ]प्रधान होने से कभी पूर्व का और कभी पर का लिङ्ग प्राप्त है, इसलिये परवल्लिंग कहा । और तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होने से परवल्लिङ्ग हो ही जाता, फिर तत्पुरुष का ग्रहण इसलिये है कि एकदेशी जो षष्ठी तत्पुरुष समास का अपवाद समास है, वहां भी परवल्लिंग हो जावे ॥

'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' द्विगु समास, प्राप्तपूर्व, आपन्नपूर्व, अलंपूर्व और गति समास में परवल्लिङ्ग न हो । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः । यहां द्विगु समास में कपाल-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । प्राप्तपूर्व—प्राप्तजीविकः । यहां जीविका-शब्द का । आपन्नजीविकः । यहां भी जीविका-शब्द का । अलंजीविकः । यहां अलंपूर्व जीविका-शब्द का । और गतिसमास—निष्कौशाम्बिः । यहां कौशाम्बी-शब्द का लिङ्ग नहीं हुआ । सूत्र से यहां सर्वत्र परवल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का इस वार्त्तिक से निषेध किया है ॥ २६ ॥

पूर्ववदश्ववडवौ[1] ॥ २७ ॥

पूर्ववत् । [अ० ।] अश्ववडवौ । १ । २ । 'विभाषा वृक्षमृग०[2] ॥' इति सूत्रेऽश्व-वडव-शब्दयोरेकवचनं विकल्पेनोक्तम् । तत्रासत्येकवद्भावेऽस्य प्रवृत्तिः । पूर्वसूत्रेण द्वन्द्वसमासे परवल्लिङ्गं प्राप्तं, तस्यायमपवादः । अश्व-वडव-शब्दयोः पूर्ववल्लिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ । परवल्लिङ्गेन स्त्रीत्वं प्राप्तं, पुंस्त्वमेव भवति । द्विवचनस्यात्र नियमो नास्ति । अश्वाश्च वडवाश्च = अश्ववडवाः । अश्ववडवान् । अश्ववडवैरित्याद्यपि सिद्धं भवति ॥ २७ ॥

'विभाषा वृक्ष०[2] ॥' इस सूत्र से अश्ववडव-शब्द को एकवत् विकल्प करके कह चुके हैं । सो जिस पक्ष में एकवत् नहीं होता, वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । पूर्व सूत्र से परवल्लिङ्ग प्राप्त था । उस का यह सूत्र अपवाद है । ['अश्ववडवौ'] अश्व- और वडवा-शब्द

1. चा० श०—"अश्ववडवौ ॥" (२।२।६४) 2. २ । ४ । १२ ॥

के द्वन्द्व समास में ['पूर्ववद्'] पूर्व पद का जो लिङ्ग है, वह समास का भी हो। अश्वश्च वडवा च = अश्ववडवौ। यहां अश्व-शब्द का लिङ्ग होता है। इस सूत्र में द्विवचन का कुछ नियम नहीं, किन्तु 'अश्ववडवान्। अश्ववडवैः' इत्यादि बहुवचन में भी पूर्व पद का ही लिङ्ग होता है ॥ २७ ॥

हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि ॥ २८ ॥

'पूर्ववद्' इत्यनुवर्त्तते। परवल्लिङ्गस्यैवापवादः। हेमन्तशिशिरौ। १। २। अहोरात्रे। १। २। च। [अ०।] छन्दसि। ७। १। हेमन्त-शिशिर-शब्दयोरहोरात्र-शब्दयोश्च द्वन्द्वे पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं, तत् समासस्यापि भवति छन्दसि = वेदविषये। हेमन्तश्च शिशिरं च = हेमन्तशिशिरौ[1]। अहश्च रात्रिश्च = अहोरात्रे[2]। अहानि च रात्रयश्च = अहोरात्राणि[3]। हेमन्त-शब्दः पुंल्लिङ्गः, तत्र समासस्यापि पुंस्त्वमेव। अह-शब्दो नपुंसकलिङ्गः, तदेव समासस्य लिङ्गं भवति ॥

'छन्दसि' इति किम्। हेमन्तशिशिरे सुखदे। अहोरात्रौ दुःखदौ। अत्र लौकिकप्रयोगे परवल्लिङ्गमेव भवति ॥ २८ ॥

['हेमन्तशिशिरौ'] हेमन्त-शिशिर-शब्द ['अहोरात्रे च'] और अहन्-तथा रात्र-शब्द इन दो २ के द्वन्द्व समास में ['छन्दसि'] वेदविषय में पूर्ववत् लिङ्ग हो। हेमन्तशिशिरौ[1]। अहोरात्रे[2]। अहोरात्राणि[3]। यहां हेमन्त शब्द पुंल्लिङ्ग और अहन्-शब्द नपुंसक है, वही [समास का भी] लिङ्ग होता है। यहां भी परवल्लिङ्ग प्राप्त था। उसी का अपवाद यह सूत्र है ॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि 'हेमन्तशिशिरे। अहोरात्रौ' यहां लौकि[क] प्रयोगों में पूर्ववत् नहीं हुआ ॥ २८ ॥

---

१. यजुर्वेदे (१० । १४)—"हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणम्।"

२. यजुर्वेदे—"व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥" (१८ । २३)

अथर्ववेदे च (१० । ७ । ६)—

"क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे
अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥"

३. ऋग्वेदे (१० । १९० । २)—

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥"

यजुरथर्ववेदयोस्तु "अहोरात्राः" इत्यपि द्विरुपलभ्यते—

"उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां० ॥" (वा० २७ । ४५)

"यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः
संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापु-
स्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥"

(अ० ४ । ३५ । ४)

रात्राह्नाहाः पुंसि[1] ॥ २९ ॥

रात्राह्नाहाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । रात्राह्नाहानां समासान्तानां ग्रहणम् । परवल्लिङ्गत्वं प्राप्तं, तस्यापवादोऽयं योगः । 'रात्र, अह्न, अह' इत्येतेषां पुंस्त्वं भवति । द्विरात्रः । त्रिरात्रः । पूर्वाह्णः । अपराह्णः । मध्याह्नः । द्व्यहः । त्र्यहः । रात्रि-शब्दे परवल्लिङ्गतया स्त्रीत्वं प्राप्तमन्यत्र नपुंसकत्वं च, पुंस्त्वं विधीयते ॥

वा०—अनुवाकादयः पुंसि ॥[2]

अनुवाकादयः शब्दाः पुँल्लिङ्गा भवन्तीत्यर्थः । अनुवाकः । शंयुवाक[3] इत्यादि[4] ॥ २९ ॥

यह सूत्र भी परवल्लिङ्ग का अपवाद है । ['रात्र-अह्न-अहाः'] रात्र, अह्न, अह, समासान्त इन शब्दों को ['पुंसि'] पुँल्लिङ्ग हो । द्विरात्रः । पूर्वाह्णः । द्व्यहः । यहां रात्र-शब्द को स्त्रीलिङ्ग [तथा] और शब्दों को नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था, सो पुँल्लिङ्ग किया है ॥

'अनुवाकादयः पुंसि ॥' इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि 'अनुवाकः । शंयुवाकः' अनुवाक आदि शब्द भी पुँल्लिङ्ग में समझने चाहियें । वे कहीं लिखे नहीं, किन्तु आकृतिगण जानना ॥ २९ ॥

अपथं नपुंसकम्[5] ॥ ३० ॥

'तत्पुरुषः' इत्यनुवर्त्तते । अपथम् । १ । १ । नपुंसकम् । १ । १ । अपथ-शब्दः कृतनञ्समासो नपुंसकलिङ्गो भवति । अपथमिदम् । अपथानि गाहते मूढः । अपथ-शब्दस्तत्पुरुषसमास एव नपुंकलिङ्गो भवति । न विद्यते पन्था यस्मिन् देशे [सो] ऽपथो देशः । अपथा पुरी । अत्र नपुंसकं न भवति ॥

अथ वार्त्तिकानि—

पुण्यसुदिनाभ्यामह्नो नपुंसकत्वं वक्तव्यम्[6] ॥[7] १ ॥

'रात्राह्नाहाः पुंसि[8] ॥' इति पुंस्त्वमुक्तं, तस्यायमपवादः । पुण्याहम् । सुदिनाहम् ॥ १ ॥

---

१. चा० श०—"रात्र्याह्नवाकाः पुंसि ॥ अहोऽसुदिनपुण्यात् ॥" (२ । २ । ८१, ८२)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. ब्राह्मणश्रौतसूत्रेषु "शंयोर्वाक-" इत्यपि । ("तच्छंयोरा वृणीमहे" इत्यादिः)

४. इत्यादिना "सूक्तवाकः" इति ॥ ऋग्वेदे (१० । ८८ । ७)—
"तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥"

५. चा० श०—"पथोऽसङ्ख्यात् ।" (२.२।७५)

६. जयादित्यः—"०अह्नः क्लीबतेष्यते ।" (२।४ २८)

७. २ । ४ । २९ ॥

पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम्[1] ॥[2] २ ॥

सङ्ख्यादेरव्ययादेश्च पथि-शब्दस्य नपुंसकत्वं भवति । द्विपथम् । त्रिपथम् । अव्ययादेः—उत्पथम् । विपथम् ॥ २ ॥

द्विगुश्च ॥[2] ३ ॥

'द्विगुरेकवचनम्[3] ॥' इति सूत्रेणैकवचनं प्रतिपादितम् । 'स नपुंसकम्[4] ॥' इत्यत्र सः-शब्देन द्वन्द्व एव परामृश्यतेऽतो द्विगोर्नपुंसकत्वमुक्तम् । पञ्चगवम् । दशगवम् ॥ ३ ॥

अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम्[5] ॥[2] ४ ॥

पञ्चपूली । दशपूली । अत्र 'स्त्रियाम्' इति वचनात् ङीब् भवति ॥ ४ ॥

वाऽऽबन्तः[6] ॥[2] ५ ॥

आबन्तो द्विगुर्विकल्पेन स्त्रीलिङ्गो भवति । पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम् ॥ ५ ॥

अनो नलोपश्च[7] ॥[2] ६ ॥

अन्नन्तस्य द्विगोर्नित्यं नकारलोपो विकल्पेन स्त्रीत्वं च भवति । पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम् ॥ ६ ॥

पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः[8] ॥[2] ७ ॥

'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' इति नित्यं स्त्रीत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यते । पञ्चपात्रम् । द्विपात्रम् । अत्र ङीब् न भवति ॥ [७ ॥] ३० ॥

['अपथं'] तत्पुरुष नञ् समास किया हुआ पथिन्-शब्द ['नपुंसकम्'] नपुंसकलिङ्ग में समझना चाहिये । अपथम् । अपथानि । यहां तत्पुरुष में नपुंसक हुआ है ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि 'अपथो देशः । अपथा नगरी' यहां बहुव्रीहि समास में नपुंसकलिङ्ग न हो ॥

अब आगे वार्त्तिकों का अर्थ किया जाता है—

---

१. जयादित्यः—"०सङ्ख्याव्ययादेः क्लीबतेष्यते ॥ क्रियाविशेषणानां च क्लीबतेष्यते ॥" (२।४।१८)
चा० श०—"सङ्ख्यादिः समाहारे ॥" (२ । २ । ७६)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० ६ ॥

३. २ । ४ । १ ॥

४. २ । ४ । १७ ॥

५. चा० श०—"अः स्त्री ॥" (२ । २ । ७७)

६. जयादित्यः—"वाऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः ॥" (२ । ४ । १७)
चा० श०—"वाप् ॥" (२ । २ । ७८)

७. जयादित्यः—"०नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम् ॥" (२ । ४ । १७)
चा० श०—"अनो लोपः ॥" (२।२।७६)

८. चा० श०—"न पात्रादयः ॥" (२।२।८०)

'पुण्यसुदिनाभ्यामह्नो नपुंसकत्वं वक्तव्यम् ॥' पुण्य- और सुदिन-शब्द से पर जो अहन्-शब्द, उस को नपुंसक हो । पुण्याहम् । सुदिनाहम् । यहां 'रात्राह्ना०[1]॥' इस सूत्र से पुँल्लिङ्ग प्राप्त है, उस का अपवाद नपुंसक विधान किया है ॥ १ ॥

'पथः सङ्ख्याव्ययादेरिति वक्तव्यम् ॥' सङ्ख्या और अव्यय शब्द [पूर्व पथिन्-शब्द] को नपुंसकलिङ्ग हो । द्विपथम् । त्रिपथम् । यहां सङ्ख्यापूर्व । उत्पथम् । और यहां अव्ययपूर्वक पथिन् को नपुंसक हुआ है ॥ २ ॥

'द्विगुश्च ॥' द्विगु जो समास है, वह नपुंसक हो । इस पाद के आदि में[2] द्विगु समास को एकवचन कहा है । उस को नपुंसक नहीं प्राप्त है । इसलिये द्विगु समास को नपुंसकलिङ्ग कहा है । पञ्चगवम् । दशगवम् । यहां द्विगु को नपुंसक हुआ है ॥ ३ ॥

'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वक्तव्यम् ॥' अकारान्तोत्तरपद जो द्विगु समास है, उस को स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चपूली । दशपूली । यहां पूर्व वार्त्तिक से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था । उस का अपवाद स्त्रीलिंग हो गया ॥ ४ ॥

'वाऽऽबन्तः ॥' टाप् आदि प्रत्ययान्त का जो द्विगु है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग में समझना । पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । यहां जिस पक्ष में स्त्रीलिङ्ग नहीं होता, वहां पूर्व वार्त्तिक से नपुंसक होता है ॥ ५ ॥

'अनो नलोपश्च ॥' अन्नन्त जो द्विगु समास है, वह विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग और अन्नन्त शब्द के नकार का लोप नित्य हो जाता है । पञ्चतक्षी । पञ्चतक्षम् । यहां भी पक्ष में नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ ६ ॥

'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥' पात्रादि शब्दों को स्त्रीलिङ्ग न हो । पञ्चपात्रम् । दशपात्रम् । यहां अकारान्त द्विगु को स्त्रीलिंग प्राप्त था, उस का निषेध होने से नपुंसकलिंग होता है ॥ ७ ॥ ३० ॥

अर्द्धर्चाः पुंसि च[3] ॥ ३१ ॥

'नपुंसकम्' इति वर्त्तते । अर्द्धर्चाः । १ । ३ । पुंसि । ७ । १ । च । [अ० ।] 'अर्द्धर्चाः' इति बहुवचननिर्देशाद् 'अर्द्धर्चादयः' इति विज्ञायते । अर्द्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भवन्ति[4] । अर्द्धर्चः, अर्द्धर्चम् । गोमयः, गोमयम् । इत्यादिगणपठिता अर्द्धर्चादिशब्दा यथेष्टं लिङ्गद्वया भवन्ति ॥

अथार्द्धर्चादिगणः—[१] अर्द्धर्च[5] [२] गोमय [३] कषाय [४] कार्षा-

---

१. २ । ४ । २६ ॥

२. २ । ४ । १ ॥

३. चा० श०—"नपुंसके चार्धर्चादयः ॥" (२ । २ । ८३)

४. जयादित्यः—"शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिङ्गता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते ।"

५. "अर्धर्चादौ स्वक् च ।" अस्मिन् गणेऽनिर्दिष्टोऽकारान्ताः शब्दाः अस्मदुक्ताभिप्रायेण दर्शिता गणरत्नमहोदधेरस्य (२ । ६३–७७) अनुसारेण मन्तव्याः ॥

पण [५] कुतप[1] [६] कुशाप[2] [७] कपाट [८] शङ्ख[3] [९] चक्र [१०] गूथ[4] [११] यूथ [१२] ध्वज [१३] कबन्ध [१४] पद्म [१५] गृह[5] [१६] सरक[6] [१७] कंस[7] [१८] दिवस [१९] यूष[8] [२०] अन्धकार [२१] दण्ड [२२] दण्डक[9] [२३] कमण्डलु [२४] मण्ड [२५] भूत [२६] द्वीप [२७] द्यूत[10] [२८] धर्म[11] [२९] कर्मन्[12] [३०] मोदक [३१] शतमान[13] [३२] यान [३३] नख [३४] नखर[14] [३५] चरण[15] [३६] पुच्छ [३७] दाडिम [३८] हिम [३९] रजत[16] [४०] सक्तु [४१] पिधान [४२] सार[17] [४३] पात्र [४४] घृत [४५] सैन्धव[18] [४६] औषध [४७] आढक [४८] चषक [४९] द्रोण [५०] खलीन[19] [५१] पात्रीव[20] [५२] षष्टिक[21] [५३] वार[22] [५४] वाण[22] [५५] प्रोथ[23] [५६] कपित्थ [५७] शुष्क [५८] शाल [५९] शील [६०] शुल्व[24] [६१] शीधु[25] [६२] कवच [६३] रेणु [६४] ऋण [६५] कपट [६६]

---

१. "कु तपति सर्वोऽस्मेति कुतपः = मध्याह्नकालः । बहु/ छागरोममयो वस्त्रविशेषः ।"

२. चोटलिङ्गः—कुशाप ॥ [एव ।"

३. "शङ्खं = कम्बुः । निधिललाटास्थिनखवाचकस्तु पुंलिङ्ग

४. = विष्ठा ॥ [कश्चित् ।"

५. "गृहो वासः । गृहाः पुंसि च भूम्न्येवेति

६. = मद्यम् ॥ [तु पुंलिङ्गः ।"

७. "कंसं परिमाणभेदः । लोहभेदो वा । नृपाणां

८. = मुद्गनिर्यासः ॥

९. छन्दोविशेषः, वरवणविशेषो वा ॥

१०. अतः परं जयादित्य-चोटलिङ्गौ—चक्र ॥

११. पाठान्तरम्—धर्मम् ॥

"धर्मोऽदृष्टार्थवाची । ['चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥' इति मीमांसादर्शने] तत्साधनवाची तु नपुंसकलिङ्गः । 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' [ऋ० १ । १६४ । ४३] ॥"

१२. शब्दकौस्तुभे—"अयं कर्मः । कार्यमित्यर्थः । 'कर्म व्याप्ये क्रियायाञ्च पुन्नपुंसकयोर्मतम्' इति रुद्रः ॥"

१३. "शतं मानान्यस्य । शतमानो भूमानवि-शेषः । तद्धा शतमानं रूप्यपलम् ।"

१४. = नखः ॥

१५. पशो बेरशाखाप्यादिभक्ष ॥

१६. "रजतः = रूप्यं श्वेतं च ।"

१७. "सारं न्यायादनपेतम् । उत्कर्षवाचकस्तु त्रिलि-ङ्गः । यत्तु जयादित्येनोक्तम्—'उत्कर्षे सार-शब्दः पुंलिङ्ग एव' इति, तन्न समीचीनम् ।

" 'सरजा सुनवती सारा वर्पिकाननगामिनः ।'

"तथा 'मते परिख्याः पुरनेव सारम्' इत्यादि-बहुविरलक्ष्यविरोधात् ॥"

१८. "सैन्धवो लवणोत्तमम् । यौगिकस्तु त्रिलिंगः ।"

१९. "खलीनं = कविकम् । 'खालन' इति शाकटायनः ।"

२०. "पात्रीवं = यज्ञोपकरणम् ।" [व्रीहिभेदः ।"

२१. जयादित्य-चोटलिङ्गौ—षष्टिक ॥ "षष्टिकं =

२२. चोटलिङ्गः—वारवाण ॥ "वारवाण=कञ्चुकः ।"

२३. = अश्वादीनां नासा ॥

२४. चोटलिङ्गः—"शुल्क (शुल्ब und शुक्ल K.)"

भगवद्दयानन्द उणादिवृत्तौ (४ । ९५)—

"शोचतीति शुल्वम् । ताम्रं वा ।"

२५. जयादित्य-चोटलिङ्गौ—सीधु ॥

भगवद्दयानन्दः (उणा० ४ । ३८)—"शेते येन तत् शीधु । मद्यं वा ।"

सौकर[1] [६७] मुसल [६८] सुवर्ण[2] [६९] वर्ण[3] [७०] पूर्व [७१] चमस [७२] क्षीर [७३] कर्ष[4] [७४] आकाश [७५] अष्टापद[5] [७६] मङ्गल [७७] निधन [७८] निर्यास [७९] जृम्भ [८०] वृत्त [८१] पुस्त[6] [८२] बुस्त[7] [८३] क्ष्वेडित [८४] शृङ्ग [८५] शृङ्खल[8] [८६] मधु [८७] मूल [८८] मूलक [८९] शराव[9] [९०] नाल[10] [९१] वप्र[11] [९२] विमान [९३] मुख [९४] प्रग्रीव[12] [९५] शूल [९६] वज्र[13] [९७] कटक [९८] कण्टक [९९] कर्पट[14] [१००] शिखर [१०१] कल्क[15] [१०२] वल्क [१०३] नाट[16] [१०४] मस्तक [१०५] वलय [१०६] कुसुम [१०७] तृण [१०८] पङ्क [१०९] कुण्डल [११०] किरीट [१११] अर्बुद[17] [११२] अङ्कुश [११३] तिमिर [११४] आश्रम [११५] भूषण [११६] इल्कस[18] [११७] मुकुल [११८] वसन्त [११९] तडाग [१२०] पिटक [१२१] विटङ्क[19] [१२२] विडङ्ग[20] [१२३] पिण्याक[21]

---

१. बोटलिङ्कः—शीकर ॥ [शाकटायनः ।"

२. "दुर्गस्तु स्वान्तरालेन इत्याह । 'सवर्ण' इति

३. काशिकायाम् —"धूप । चमस । वर्ण ।"
भगवद्दत्तानन्द (उणा० ३ । २७)—"वीति निश्चयतीति धूनः ... ।"
"वर्ण = पत्रकम् । शुक्लादिर्हि रूपविशेषे ... तु पुँल्लिङ्गः ।"

४. "कर्षः = पलचतुर्थभागः ।"

५. "अष्टापदं = शारीफलम् । अष्टापदः = सुवर्णम् ।"

६. = पुस्तकम् ॥
शब्दकल्पद्रुमे—"लेप्यादि शिल्पकर्म । मृत्तिका-काष्ठपुत्तलिकादि निर्माणादि कर्म गृह्यते । इति सुभूत्यादयः ॥
" 'मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥'
इत्यमरटीकायां भरतः ॥"

७. "बुस्तं = मांसशष्कुली ॥" [शब्दौ पठति ॥

८. बोटलिङ्कः—"निगड । साल ।" इति द्वौ

९. बोटलिङ्कः "शराव" इत्यतः पूर्व—"स्थूल" इत्यपि ॥

१०. जयादित्यः—शाल ॥

११. भगवद्दत्तानन्दः (उणा० २ । २०)—
"वपति बीजं छिनत्ति वा, स वप्रः । पिता, केदारः, प्राकारः, रोधो वा ।"

१२. "प्रग्रीव = वातायन, वातायननिमित्तधारणं च ।"

१३. भगवद्दत्तानन्दः (उणा० २ । २८)—
"व्रजति प्र प्रेति प्राप्यते वा, स वज्रः । हीरकं, शस्त्रं वा ।"

१४. भगवद्दत्तानन्दः (उणा० ४ । ८१)—
"कर्पतीति कर्पटः । छिन्न पुराणं वस्त्रं वा ।"
"कर्वटः । 'ग्रामद्विशेषितं खेटं कर्वटं शैलवेष्टितम् ।' दुर्गस्तु कर्पटम् अल्पीपथनस्थानमित्याह ।"

१५. = औषधानां निर्यासः, दम्भः, किल्बिषं वा ॥

१६. " 'नान्द' इति शाकटायनः ।"

१७. बोटलिङ्कः "अर्बुद" इत्यतः पूर्व—"कुमुद" इत्यपि ॥
शब्दकौस्तुभे—"पर्वते तु पुंल्लिङ्गः ।"

१८. बोटलिङ्कः—"इष्वास (इल्कस and इक्कस क.)" शब्दकौस्तुभे—"इक्कसमिरिचक्वसं सो.धूमादिचूर्णम् । अमरस्तु चिक्कसमर्धच्च दौ पपाठ ।"

१९. = कपोतपाली ॥

२०. = औषधविशेषः ॥

२१. भगवद्दत्तानन्दः (उणा० ४ । १५)—"व पिनष्टि...स पिण्याकः । तिलकल्को वा ।"

[१२४] माष [१२५] कोश [१२६] फलक [१२७] दिन [१२८] दैवत [१२९] पिनाक[1] [१३०] समर [१३१] स्थाणु[2] [१३२] अनीक [१३३] उपवास [१३४] शाक [१३५] कर्पास [१३६] विशाल [१३७] चषाल[3] [१३८] खण्ड [१३९] दर [१४०] बल [१४१] मक[4] [१४२] विटप [१४३] रण[5] [१४४] मल [१४५] मृणाल [१४६] हस्त [१४७] आर्द्र[6] [१४८] सूत्र [१४९] सूत्र [१५०] ताण्डव [१५१] गाण्डीव[7] [१५२] मण्डप [१५३] पटह [१५४] सौध [१५५] योध [१५६] पार्श्व [१५७] शरीर [१५८] देह [१५९] फल [१६०] छल [१६१] पुर [१६२] राष्ट्र [१६३] विश्व [१६४] अम्बर[8] [१६५] बिम्ब [१६६] कुट्टिम [१६७] कुक्कुट [१६८] मण्डल [१६९] कुडप[9] [१७०] ककुद [१७१] खण्डल[10] [१७२] तोमर [१७३] तोरण [१७४] मञ्चक [१७५] पञ्चक[11] [१७६] पुङ्ख [१७७] मध्य[12] [१७८] बाल [१७९] छाल[13] [१८०] वल्मीक[14] [१८१] वर्ष [१८२] वस्त्र [१८३] वसु[15] [१८४] उद्यान[16] [१८५] उद्योग [१८६] स्नेह [१८७] स्तेन [१८८] स्तन [१८९] स्वर [१९०] सङ्गम [१९१] निष्क [१९२] क्षेम [१९३] शूक[17]

१. भगवद्दयानन्दः (उणा० ४। १५)—"पाति रक्षयतीति पिनाकः। त्रिशूलं धनुर्वा।"

२. = कीलकः ॥

३. काठकसंहिताकोशेषु (२६। ४) "चषाल" इत्यपि ॥
= दारुमयं यूपकटकं (उणा० ४। १०७), न तु यथा गणरत्ने उपपादितं "मद्यपात्रम्" इति ॥
मै० (१। ६। ३)—"यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्।" वराहस्य मुखमित्यर्थः ॥

४. वैश्येन मालुक्यामुत्पादितः पुत्रः ॥

५. जयादित्य-कोटलिङ्गौ—"दर। विटप। रण। मल। मक (काशिकायाम्—मल)।"

६. कोटलिङ्गः "आर्द्र" इत्यतः परं— "हल" इत्यपि ॥ आर्द्रः = शृङ्गवेरम् ॥ [मध्योऽपि ॥

७. गणरत्ने (२। ७५) "गाण्डिव" इति ह्रस्व-

८. कोटलिङ्गः—बिम्ब। अम्बर ॥

९. पाठान्तरम्—कुडव ॥
शब्दकल्पद्रुमे—"परिमाणविशेषः। स तु प्रस्थचतुर्थांशः इति लीलावती। वैद्यकमते विप्रसृतपरिमाणम्।
"'प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्धशरावकः। अष्टमानं च स ज्ञेयः॥' इति शार्ङ्गधरस्य पूर्वखण्डे १ अ०।"

१०. कोशे—खण्डल ॥ "खण्डलं = खण्डम् ॥"

११ = विस्तारः ॥

१२. = उदरम् ॥

१३. कोशे—छाल ॥

१४. पाठान्तरम्—वाल्मीक ॥

१५. भगवद्दयानन्द. (उणा० १। १०)—"वस्त आच्छादयति दुःखं येन, तद्वसु। धनं वा। वसन्ति प्राणिनो येषु, ते वसवोऽग्न्यादयोऽष्टौ।"

१६. जयादित्य-कोटलिङ्गौ "उद्यान" इत्यतः पूर्वं— "देह" इति ॥ [कोऽपि।"

१७. "शूकं धान्यादेः सूची। वृश्चिकादेः कण्ट-

[१९४] सत्र [१९५] छत्र [१९६] पवित्र [१९७] यौवन [१९८] कलह [१९९] पालक[1] [२००] पानक [२०१] मूषिक[2] [२०२] वल्कल [२०३] कुञ्ज [२०४] विहार [२०५] लोहित [२०६] विषाण [२०७] भवन [२०८] अरण्य [२०९] पुलिन[3] [२१०] दृढ [२११] आसन [२१२] ऐरावत [२१३] शूर्प [२१४] तीर्थ[4] [२१५] लोमश [२१६] तमाल [२१७] लोह[5] [२१८] शपथ [२१९] प्रतिसर[6] [२२०] दारु [२२१] धनुस् [२२२] मान [२२३] वर्चस्क[7] [२२४] कूर्च[7] [२२५] तङ्क [२२६] वितङ्क[8] [२२७] मव[9] [२२८] सहस्र [२२९] ओदन [२३०] प्रवाल [२३१] शकट [२३२] अपराह्ण [२३३] नीड [२३४] शकल[10] [२३५] कुणप[11] [२३६] मुण्ड [२३७] पूत [२३८] मर्द[12] [२३९] लोमन [२४०] लिङ्ग [२४१] सीर [२४२] सत[13] [२४३] कडार[14] [२४४] पूर्ण [२४५] पणव[15] [२४६] पुस्तक[16] [२४७] पल्लव [२४८] निगड [२४९] खल [२५०] स्थूल [२५१] शार[17] [२५२] प्रवर[18] [२५३] पुराण[19]

१. पाठान्तरम्—मालक ॥ "मालकः = ग्रामान्तराटवी ।"

२. बोटलिङ्को "मूषिक" इत्यतः परं—"मवकल" इत्यपि ॥

३. = सैकतम् ॥

४. भगवद्दयानन्दः (उणा० २ । ७)—"तरन्ति येन यत्र वा तत् तीर्थम् । गुर्वर्थः पुरुषार्थो मन्त्रो जलाशयो वा ।"

५. कोशेऽतः परं पुनरपि "दण्डक । दण्डक ।" इति द्विर्लिखितम् । अथादित्य-बोटलिङ्को दण्डक-शब्दमेकमेव पठतो न पूर्वत्र ॥

६. प्रतिसरः = माल्यं, कङ्कणं, मण्डशुद्धिः । प्रतिसरं = मण्डलम् ॥

७. "वर्चस्कं = शकृत् । कूर्चः—दीर्घश्मश्रु ॥"

८. बोटलिंकः "तंक, वितंक" इत्येतयोः स्थाने—"तण्डक" इति ॥

९. बोटलिंकः—मठ ॥ मवः = बन्धनम् ॥

१०. केषुचित् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः ॥ बोटलिंकोऽतः परं—"तण्डुल । K. ausserdem तंक, वितंक, विश्व, भग ..."

अस्माकं कोशेऽपि कुणपप्रभृतयः तत्रकान्ताः शब्दाः पृष्ठप्रान्ते लिखिताः । कश्चिदपरं गणपाठकोशं दृष्ट्वा पश्चाल्लिखिता इति प्रतीयते ॥

११. = शवः, दुर्गन्धो वा ॥

१२. काशिकायां कोशे चातः परं "कंस" इति । अस्माभिस्तु पुनरुक्तिः स्यादिति नात्र लिखितः ॥

१३. काशिकायामतः परं—यव ॥

१४. " —वर्ण ॥

१५. काशिकायां कोशे चातः परं—विशाल ॥

१६. काशिकायामतः पूर्वं—पुस्त ॥

वात्स्यायनसूत्रे (१ । ४)—"नागदन्तावसक्ता वीणा । चित्रफलकम् । वर्तिकासमुद्गकः । यः कश्चित् पुस्तकः ।"

१७. = वायुः, कर्बुरवर्णः । कुशो स्त्री इति केचित् ॥ काशिकायामतः परं—नाल ॥

१८. " —कटक । कण्टक । कूल । कुमुद ॥

१९. कोशेऽतः पूर्वं—जाल ॥

[२५४] जाल [२५५] स्कन्ध [२५६] ललाट [२५७] कुङ्कुम [२५८] कुशल[1] [२५९] हल[2] [२६०] तण्डक[3] [२६१] तण्डुक ॥[4] इत्यर्द्धर्चादिः ॥ ३१ ॥

[इति लिङ्गानुशासनप्रकरणम्]

अर्द्धर्चादि शब्द में बहुवचन निर्देश करने से अर्द्धर्चादिगण समझा जाता है। ['अर्द्धर्चाः'] अर्द्धर्चादि शब्द ['पुंसि'] पुंलिङ्ग और ['च'] चकार से नपुंसकलिङ्ग हों। अर्द्धर्चः। अर्द्धर्चम्। गोमयः। गोमयम् इत्या[दि] गण में पढ़े हुए शब्दों में यथोक्त दोनों लिङ्ग होते हैं॥

अर्द्धर्चादिगण बहुत है, वह सब क्रम से पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है॥ ३१॥

[यह लिङ्गानुशासन का प्रकरण समाप्त हुआ]

[अथान्वादेशप्रकरणम्]

इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ[5] ॥ ३२ ॥

इदमः। ६। १। अन्वादेशे। ७। १। अश्। १। १। अनुदात्तः। १। १। तृतीयादौ। ७। १। आदिश्यते = उच्यतेऽसावादेशः। अनु = पश्चात् आदेशोऽन्वादेशः, तस्मिन्[6]। 'अश्' इति शित्करणं सर्वादेशार्थम्। इदं-शब्दस्यान्तोदात्तत्वात् सर्वादेशोऽनुदात्तो न प्राप्तस्तदर्थमनुदात्तवचनम्। अन्वादेशे वर्त्तमानस्येदं-शब्दस्य

---

१. काशिकायामतः परं—"बिकह। पिप्पाक। मार्ह॥"

२. काशिकायामतः परम्—"करक। यौष। बिन्न। कुक्कुट। कुडप। खण्डल। पञ्चक। मधु। कूपम। स्तन। सैन्य। बल्वज। कलह। पालक। हल। कर्मक। कूर्च।" एतेषु हलादयो द्विरुक्ताः॥

३. कोशेऽतः पूर्वं—खण्डल। पालक॥

"तण्डकं = छन्दोगयोगयोर्भागशो ग्रन्थविशेषः। परिष्कारो दण्डको वा।"

४. काशिकायां ६, ७०, १०२, १४१, १४६ इत्येते शब्दा नोपलभ्यन्ते। २२, ५८, ६४, ८२, ९०, ९७, ९८, १२२, १२३, १२६, १४०, १४७, १५८, १६५, १६७, १६६, १७१, १७५, १७६, १८३, १८७, १८८, २१४, २१८, २२२, २२३, २२४ इत्येते च शब्दाः स्थानभ्रष्टाः सन्तो यथास्थानं टिप्पणेषु निर्दिष्टाः॥

कोऽलिङ्गाबे च गणपाठे १०२, १४४, १४६, १६२, १६५, २०० इत्येते शब्दा न सन्ति। स्थानभ्रष्टाश्च शब्दाः ६, २२, १५८, १६८ इत्येते॥

५. ना०—सू० १८० ॥

चा० शा०—"एतस्य चान्वादेशे द्वितीयायां चैनः॥" (५। ४। ७६)

६. महाभाष्ये—"अन्वादेशे समानाधिकरणग्रहणं कर्त्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। इह मा भूत्—देवदत्तं भोजयेमं च यज्ञदत्तं भोजयाति। अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रं द्रष्टव्यम्। यद् द्वेष्य विजानीयादिदमा कथितामिदमैव यदानुकथ्यते इति। तदाचार्यः सुहृद्भूत्वान्वाचष्टे—अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रं द्रष्टव्यमिति॥"

तृतीयादौ विभक्तौ परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथो अस्मै शाटकमपि देहि । इदं-शब्दस्य टा-विभक्तावोसि चैन-आदेशो[1] विधीयते । तृतीयादिषु हलादिविभक्तिषु इद्रूपस्य लोपत्वादिष्टसिद्धिर्भविष्यति । शिष्टास्वजादिषु तृतीयादिष्वन्-आदेशो[3] विधीयते । एवं सर्वत्रेष्टसिद्धिर्भविष्यति । पुनरश्-आदेशस्यैतत् प्रयोजनं—साकच्कस्येदं-शब्दस्येद्रूपलोपः प्रतिषिध्यते, तत्र साकच्कस्याश्-आदेशो यथा स्यात् । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अत्र 'इमकाभ्यां' इति प्राप्ते 'आभ्यां' इत्येव भवति । 'अस्मै' इत्यादिषु त्वन्-आदेशेनैव सिद्धं भविष्यति ॥ ३२ ॥

अन्वादेश उस को कहते हैं कि कहे हुए वाक्य के पीछे उस से कुछ विशेष कहा जावे । तृतीयादि हलादि विभक्तियों के पर [अर्थात् परे होते हुए[4]] इदं शब्द के इद्-भाग का लोप कहा है[2] । और अजादि तृतीयादि विभक्तियों में एन[1]- और अन्-आदेश[3] होते हैं । उस से इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । फिर इस सूत्र में अश्-आदेश इसलिये किया है कि अकच्-प्रत्ययान्त इदं-शब्द को अन्-आदेश का निषेध है, सो अकच्-प्रत्ययान्त को भी अश्-आदेश हो जावे । ['अन्वादेशे'] अन्वादेश में वर्तमान जो ['इदमः'] इदं-शब्द, उस को ['अशनुदात्तः'] अनुदात्त अश्-आदेश हो ['तृतीयादौ'] तृतीयादि विभक्ति परे हो, तो । इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । यहां दूसरे प्रयोग में अकच् सहित इदं-शब्द को अश्-आदेश हुआ है । इदं शब्द अन्तोदात्त है । उस को अनुदात्त आदेश नहीं प्राप्त है, इसलिये अनुदात्त किया है ॥ ३२ ॥

एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ ॥ ३३ ॥

'अन्वादेशेऽशनुदात्तः' इत्यनुवर्तते । एतदः । ६ । १ । त्र-तसोः । ७ । २ । त्र-तसौ । १ । २ । च । [अ० ।] अनुदात्तौ । १ । २ । अन्वादेशे वर्त्तमानस्यैतद्-शब्दस्य त्र-तसोः प्रत्ययोः परतोऽनुदात्तोऽश्-आदेशो भवति । त्र-तसौ प्रत्ययौ चानुदात्तौ भवतः । एतस्यां वाटिकायां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे । एतस्मादध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व । उत्तरप्रयोगयोरेतद्-शब्दस्याऽश्-आदेशो भवति । द्वयोरनुदात्तत्वात् सर्वं पदमनुदात्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वादेश में वर्तमान ['एतदः'] एतद्-शब्द को ['त्र-तसोः'] त्रल्- और तसिल्-

१. २ । ४ । ३४ ॥
२. ७ । २ । ११३ ॥
३. ७ । २ । ११२ ॥
४. अगले और पिछले सूत्रों की भाषा में भी पर-शब्द का यही अर्थ समझना ॥

प्रत्यय के परे अनुदात्त अश् आदेश हो, ['च'] और ['त्र-तसौ'] अश्, तसिल् भी ['अनुदात्तौ'] अनुदात्त ही हों। एतस्यां नगर्यां सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे। यहां अत्र-शब्द में एतद्-शब्द को अश्। एतस्मादध्यापकाच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व। और यहां अतः-शब्द में एतद्-शब्द को अश्-आदेश हुआ है। 'अत्र, अतः' ये दोनों पद सब अनुदात्त होते हैं॥ ३३॥

द्वितीयाटौस्स्वेनः[1] ॥ ३४ ॥

'इदमः, एतदः' इति द्वयमप्यनुवर्त्तते। 'अन्वादेशेऽनुदात्तः' इति च। द्वितीया-टा-ओस्सु। ७। ३। एनः। १। १। अन्वादेशे वर्त्तमानयोरिदम्-एतद्-शब्दयोः 'द्वितीया, टा, ओस्' इत्येतासु विभक्तिषु परतोऽनुदात्त एन-आदेशो भवति। [इदमः—] इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। अनेन शिष्येण सुष्ठ्वधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। अनयोश्छात्रयोः शोभना प्रकृतिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। एतदः—एतं छात्रमत्रानय, अथो एनं भोजय। एतेन छात्रेण सुष्ठूच्चारितं, अथो एनेन स्वरतोऽधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोरशोभनं शीलम्। अत्र सर्वत्रोत्तरप्रयोगेष्वेन-आदेशो भवति॥

वा०— *एनदिति नपुंसकैकवचने ॥*[2]

द्वितीयाविभक्तौ नपुंसक एकवचने 'एनद्' इत्यादेशो भवति। इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्तयैनत्। अत्रान्वादेश इदं-शब्दस्यैनद्-आदेशः॥ ३४॥

अन्वादेश में वर्त्तमान जो इदं- और एतद्-शब्द, इन को ['द्वितीया-टा-ओस्सु'] द्विती-या, टा, ओस्, इन विभक्तियों के परे ['एनः'] अनुदात्त एन-आदेश हो जावे। इमं शिष्यं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं न्यायमप्यध्यापय। यहां इदं-शब्द को द्वितीया विभक्ति में एन। अनेन शिष्येण सुष्ठ्वधीतं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां इदं-शब्द को टा-विभक्ति में एन। अनयोश्छात्रयोः शोभना वृत्तिः, अथो एनयोर्मृदुर्वाणी। और यहां इदं-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे एन-आदेश हुआ है। एतद्—एतं छात्रमानय, अथो एनं पृच्छ। यहां एतद्-शब्द को द्वितीया विभक्ति में। एतेन छात्रेण सुष्ठूच्चारितं, अथो एनेन कण्ठस्थं कृतम्। यहां एतद्-शब्द को टा-विभक्ति के परे एन। एतयोश्छात्रयोः शोभनमुच्चारणं, अथो एनयोः शोभनं शीलम्। और यहां एतद्-शब्द को ओस्-विभक्ति के परे अन्वादेश में एन-आदेश हुआ है॥

---

१. ना०—सू० १८०॥
चा० श०—"एतस्य चान्वादेशे द्वितीयायां चैनः॥" (५।४।७६)

२. कोष्ठक—"॥ १॥"
अ० २। पा० ४। आ० १॥

'एनदिति नपुंसकैकवचने ॥' द्वितीया विभक्ति के एकवचन और नपुंसकलिंग में एनत्-आदेश हो । इदं कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्, परिवर्त्तयैनत् । यहां इस वार्त्तिक से एनत्-आदेश किया है, क्योंकि सूत्र से तकारान्त आदेश नहीं प्राप्त था ॥ ३४ ॥

[अथार्द्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

आर्द्धधातुके[1] ॥ ३५ ॥

आर्द्धधातुके । ७ । १ । अधिकारसूत्रमिदम् । अतोऽग्रे 'ण्यक्षत्रियार्ष०[2] ॥' इत्यतः सूत्रात् पूर्वं यत् किञ्चित् कार्यं भविष्यति, आर्द्धधातुके तद्वेदितव्यम् । 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी विज्ञेया । आर्द्धधातुकविषयमात्रे [अर्थेऽत्र] सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ ३५ ॥

यह अधिकार सूत्र है । 'ण्यक्षत्रियार्ष०[2] ॥' इस सूत्र से पूर्व २ जो कुछ कार्य विधान करें, वह ['आर्द्धधातुके'] आर्द्धधातुक में हो । आर्द्धधातुक-शब्द में विषय सप्तमी अर्थात् आर्द्धधातुक पर न [भी] हो और उस का विषय हो, तो भी वे कार्य हो जावें ॥ ३५ ॥

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति[3] ॥ ३६ ॥

'आर्द्धधातुके' इत्यनुवर्त्तते । अदः । ६ । १ । जग्धिः । १ । १ । ल्यप्ति । ७ । १ । किति । ७ । १ । अद्-धातोर्ल्यपि तकारादौ किदार्द्धधातुकप्रत्यये च परतो जग्धिरादेशो भवति । ल्यपि—प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । ति किति—जग्धः । जग्धवान् । अन्न-शब्दस्यौणादिकत्वाज्जग्धिर्न भवति । क्त्वा-प्रत्ययस्य स्थाने ल्यप्-आदेशो भवति । क्त्वा च तादिरेव । क्त्वास्थाने ल्यप्-आदेशो प्राप्ते, क्त्वायां परतो जग्धि-आदेशो प्राप्ते, परत्वाल्ल्यप् स्यादन्तरङ्गत्वाज्जग्धिः । पुनर्ल्यब्-ग्रहणं किमर्थम् ।

भा०—एवं तर्हि सिद्धे सति यल्ल्यब्ग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधत इति[5] ॥[6]

एवं ल्यब्-ग्रहणस्य व्यर्थत्वे सतीयं परिभाषा निस्सृता । क्वाचित् चरितार्थत्वमन्यत्र [च] फलमिति परिभाषायाः प्रयोजनम् । अग्रे कारिकाभ्यां फलं दर्शयति—

---

१. भा०—सू० ३०७ ॥ [(५ । ४ । ७८) चा० शा०—"लिडाशीर्लिङ्क्तिङ्शिति ॥"]

२. २ । ४ । ५८ ॥

३. भा०—सू० १११६ ॥ [(२ । ४ । ८५, ८६) भा० शा०—"ति किल्यदो जग्धः ॥ल्यपि ॥"]

४. "जग्धिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

५. सभा०—२ । १० ॥

६. पा०—सू० ४८ ॥ प०—सू० ५४ ॥

७. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

का०—जग्धिविधिर्ल्यपि यत्तदकस्मात्
सिद्धमदस्ति कितीति विधानात् ।
हिप्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो
ल्यब्भरतीति कृतं तदु विद्धि ॥ १ ॥
जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात् ति कितीति ल्यबुच्यते ।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ २ ॥[1]

ल्यपि परतो जग्धिविधिः = जग्धेर्यद् विधानं, तद् 'अदस्ति किति' इति विधानादन्तरङ्गत्वात् सिद्धं, पुनर्ल्यब्-ग्रहणमकस्मात् कृतं। तस्यैतत् प्रयोजनं — हिप्रभृतीन् क्त्वाश्रयान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् हरति = बाधत इति । 'तत्' पूर्वोक्तपरिभाषाकृतं फलं 'उ' इति निश्चयेन हे वैयाकरण त्वं विद्धि । अर्थात् क्त्वाश्रयं कार्यं 'प्रधाय । प्रस्थाय' [इति] अत्र हित्वमित्त्वं[3] च प्राप्तं, बहिरङ्गत्वाल्ल्यपि कृते तन्न भवति ॥ १ ॥

जग्ध्यादेशेऽन्तरङ्गत्वात् ति किति परतः सिद्धे ल्यबुच्यत आचार्येण, स ज्ञापयति—अन्तरङ्गान् विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधत इति ॥ [२ ॥]

'ति किति' इति किम् । अद्यते । अत्तव्यम् । अत्र जग्धिर्न भवति ॥३६॥

['ल्यप्ति किति'] ल्यप् और तकारादि कित् आर्द्धधातुक प्रत्यय के परे ['अदः'] अद् धातु को ['जग्धिः'] जग्धि-आदेश हो । प्रजग्ध्य । विजग्ध्य । यहां ल्यप् के पर [होने से] और 'जग्धः । जग्धवान्' यहां क्त-क्तवतु-प्रत्यय के पर [होने से] जग्धि-आदेश हुआ है । अन्न-शब्द उणादि[4] से सिद्ध होता है । वहां बहुल करके कार्य होते हैं, इससे जग्धि-आदेश नहीं हुआ ॥

'ति किति' ग्रहण इसलिये है कि 'अद्यते, अत्तव्यम्' यहां जग्धि-आदेश न हो ॥

क्त्वा-प्रत्यय के स्थान में ल्यप्-आदेश होता है । सो क्त्वा के स्थान में ल्यप् और तादि कित् क्त्वा के पर अद् धातु को जग्धि-आदेश, इन दोनों की एक साथ प्राप्ति में अन्तरङ्ग होने से जग्धि-आदेश हो जाता । फिर ल्यप्-ग्रहण किसलिये है । इस सूत्र में ल्यप्-ग्रहण के व्यर्थ होने से 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते ॥' यह परिभाषा निकली है । ज्ञापक से जो परिभाषा निकलती है, वह व्यर्थ को सार्थ और अन्यत्र फल देती है । अन्तरङ्ग विधियों का बाधक होके ल्यप्-आदेश हो जाता है । परिभाषा का फल 'जग्धि० ॥'[1] इस कारिका से दिखाया है । तादि कित् के पर जग्धि-आदेश सिद्ध ही है, फिर अकस्मात् आचार्य ने ल्यप्-ग्रहण किया है । इस से 'प्रधाय । प्रस्थाय' इत्यादि उदाहरणों [में] अन्तरङ्ग क्त्वा के पर हि- और इत्-आदेश[3] अन्तरङ्ग को बाधके बहिरङ्ग ल्यप् हो जाता है ॥ १ ॥

---

१. अत्र कैयटः—"अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त इत्याह—जग्धिविधिरिति ।"

२. अ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥

३. "दधातेर्हिः ॥ द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥" (७ । ४ । ४२ ॥ ७ । ४ । ४०)

४. उणा०—३ । १० ॥

'जग्धौ० ॥' इस दूसरी कारिका का भी वही प्रयोजन है जो परिभाषा से निकलता है ॥ २ ॥ ३६ ॥

लुङ्सनोर्घसॢ[1] ॥ ३७ ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । लुङ्-सनोः । ७ । २ । घसॢ । १ । १ । लुङि सनि च परतोऽद्-धातोर्घसॢ-आदेशो भवति । लृ-करणमङ्-प्रत्ययार्थम् । 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु[2] ॥' इति च्लेः स्थानेऽङ्-आदेशो यथा स्यात् । लुङि —अघसत् । अघसताम् । अघसन् । सनि—जिघत्सति । जिघत्सतः । जिघत्सन्ति ॥

वा०—*घस्लृभावेऽच्युपसङ्ख्यानम् ॥[3] १ ॥*

लुङ्-सनोरद्-धातोर्घस्लृ-आदेशः सूत्रेण यदुच्यते, तत्राचि प्रत्ययेऽपि स्यात् । प्रात्तीति प्रघसः । कर्त्तर्य्यच्-प्रत्ययः ॥ ३७ ॥

['लुङ्-सनोः'] लुङ् लकार में और सन्-प्रत्यय के परे अद् धातु को ['घस्लृ'] घस्लृ-आदेश हो । लृ-प्रत्यय इसलिये है कि लुङ् लकार में च्लि- प्रत्यय के स्थान में अङ्-आदेश हो जावे । लुङ् —अघसत् । यहां लुङ् के परे [होने से] और 'जिघत्सति' यहां सन् प्रत्यय के परे [होने से] घस्लृ-आदेश हो जाता है । लृ की सर्वत्र इत्-संज्ञा होके लोप हो जाता है ॥

'घस्लृभावेऽच्युपसङ्ख्यानम् ॥' अच्-प्रत्यय के परे [रहते हुए] भी अद् धातु को घस्लृ-आदेश हो जावे । प्रात्तीति प्रघसः । यहां कर्त्ता में अच्-प्रत्यय के परे [होने से][4] घस्लृ-आदेश होता है ॥ ३७ ॥

घञपोश्च[5] ॥ ३८ ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । 'घस्लृ' इति च । घञ्-अपोः । ७ । २ । च । [अ० ।] घञि प्रत्यये अप्-प्रत्यये चाद्-धातोर्घस्लृ-आदेशो भवति । घञि— घासः । अपि—प्रघसः । विघसः । 'उपसर्गेऽदः[6] ॥' इति सूत्रेणाप्-प्रत्ययः । योग-विभागकरणमुत्तरार्थम्[7] । अन्यथा 'लुङ्-सन्-घञ्-अप्सु' इति ब्रूयात्[8] ॥ ३८ ॥

['घञ्-अपोः'] घञ्- और अप्-प्रत्यय के परे अद् धातु को घस्लृ-आदेश हो । घासः ।

---

१. मा०—सू० १०२ ॥
चा० श०—"लुङ्सनज्वलप्सु घस्लृ ॥" (५ । ४ । ८७)
२. ३ । १ । ५५ ॥
३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥
४. ३ । १ । १३४ ॥
५. मा०—सू० ११६५ ॥
चा० श०—"लुङ्सनज्वलप्सु घस्लृ ॥" (५ । ४ । ८७)
६. ३ । ३ । ५९ ॥
७. जिनेन्द्रबुद्धिस्तु—"योगविभागो वैचित्र्यार्थः ।"
८. "पूर्वसूत्रे" इति शेषः ॥

यहां घञ् के पर [होने से] और 'प्रघसः' यहां अप्-प्रत्यय के पर [होने से] अद धातु को घस्लृ-आदेश हुआ है । 'उपसर्गेऽदः'॥[1] इस सूत्र से यहां अप्-प्रत्यय होता है ॥

यह सूत्र पृथक् इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में इसी का कार्य हो, नहीं तो पूर्व सूत्र में मिला देते ॥ ३८ ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ३९ ॥

'घञपोः' इत्यनुवर्त्तते । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु घञपोः परयोरद-धातोर्घस्लृ-आदेशो बहुलं भवति । अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[2] । अत्र घास-शब्दो घञ्-प्रत्ययान्तः । आदः[3] । अपि—प्रघसः । प्रादः । बहुल-ग्रहणादन्यत्रापि भवति । घस्तां नूनम्[4] । सग्धिश्च मे[5] । 'सग्धिः' इति घस्-धातोः क्तिन्-प्रत्ययान्तः प्रयोगः ॥ ३९ ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में घञ्- और अप्-प्रत्यय के पर अद धातु को ['बहुलम्'] बहुल करके घस्लृ-आदेश हो । अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[2] । यहां घञन्त घास-शब्द में घस्लृ-आदेश है । आदः[3] । यहां नहीं हुआ । प्रघसः । प्रादः । यहां अप्-प्रत्यय के पर दो प्रयोग हुए । और सूत्र [में] बहुल-ग्रहण से अन्यत्र भी घस्लृ हो जाता है । सग्धिश्च मे[5] । यहां क्तिन्-प्रत्यय के पर अद धातु को घस्लृ-आदेश होता है और [कहीं] नहीं भी होता । यह बहुल का अर्थ ही है ॥ ३९ ॥

लिट्यन्यतरस्याम् ॥ ४० ॥

'अदो घस्लृ' इत्यनुवर्त्तते । लिटि । ७ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ०] लिटि लकारे परतोऽद्-धातोर्घस्लृ-आदेशो विकल्पेन भवति । जघास । जक्षतुः । जक्षुः । आद । आदतुः । आदुः ॥ ४० ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर अद धातु को घस्लृ-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । जघास । यहां घस्लृ-आदेश हुआ । और 'आद' यहां अद धातु को घस्लृ-आदेश न हुआ ॥ ४० ॥

---

१. ३ । ३ । ५९ ॥

२. य०—११ । ७५ । ६ ॥

३. "अस्मा मदो दिव आदो हरी इह द्युम्नासाहमभि योधान उत्सम् ।" (ऋ० १।१२१।८)

अत्र भगवद्दयानन्दः—" 'आदः' भक्षा । अत्र 'कृतो बहुलम्' इति कर्त्तरि घञ् । 'बहुलं छन्दसि ॥' [२ । ४ । ३९] इति घस्लादेशो न ॥"

अपि च वा०—१२ । १०५ ॥

४. वा०—२१ । ४३ ॥

जिनेन्द्रबुद्धिः—"घस्तामिति लङ् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥' [६ । ४ । ७५] इत्यडागमाभावः । अथ वा लुङ्युदाहरणमेतत् । 'मन्त्रे घसह्वर० ॥' [२ । ४ । ८०] इत्यादिना च्लेर्लुक् ।"

५. वा०—१८ । ९ ॥

तै०—४ । ७ । ४ । १ ॥

मै०—२ । ११ । ४ ॥ "सग्धितिः" इत्यपि ॥

का०—१८ । ९ ॥

६. आ०—सू० २६६ ॥

मा० वृ०—"वेञो लिटि वक्ष्य ।" (२ । ४ । ८८)

वेञो वयिः[1] ॥ ४१ ॥

'लिट्यन्यतरस्याम्' इति सर्वमनुवर्त्तते । वेञः । ६ । १ । वयिः । १ । १ । वेञ्-धातोर्लिटि लकारे विकल्पेन वयिरादेशो भवति । वेञ्-धातोर्लिटि षड् रूपाणि भवन्ति । वय्यादेशे कृते चत्वारि, पक्षे च द्वे । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । ऊये । ऊयाते । ऊयिरे । 'ग्रहिज्यावयि०[3]॥' इति सम्प्रसारणम् । परत्वाद् यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते 'लिटि वयो यः[4]॥' इति प्रतिषिध्यते । तत्र यकारस्य सम्प्रसारणे प्रतिषिद्धे 'वश्चास्यान्यतरस्यां किति[5]॥' इति यकारस्य वकारादेशो भवति । तत्र 'उवाय । ऊवतुः । ऊवुः । ऊवे । ऊवाते । ऊविरे' इति रूपाणि भवन्ति । यत्र वय्यादेशो न भवति, तत्र 'ववौ । ववतुः । ववुः । ववे । ववाते । वविरे' इति रूपद्वयम् । एवं षड् रूपाणि सिध्यन्ति ॥ ४१ ॥

पूर्व सूत्र सब की अनुवृत्ति आती है । लिट् लकार में ['वेञः'] वेञ् धातु को विकल्प करके ['वयिः'] वयि-आदेश हो जावे । जिस पक्ष में वयि-आदेश होता है, वहां वेञ् धातु के चार प्रयोग और जहां नहीं होता, वहां दो, इस प्रकार लिट् लकार में वेञ् धातु के छः प्रयोग बनते हैं । ऊयतुः । ऊयाते । यहां वयि आदेश के वकार को सम्प्रसारण हो गया है । परत्व से यकार को पाता था, उस के निषेध होने से यकार को वकार विकल्प करके हो जाता है । ऊवतुः । ऊवे । यहां वयि-आदेश के यकार को वकार हो गया है । और जिस पक्ष में वयि-आदेश नहीं होता, वहां 'ववौ । ववे' ये दो प्रयोग होते हैं । इस प्रकार छः होते हैं ॥ ४१ ॥

हनो वध लिङि[6] ॥ ४२ ॥

'आर्द्धधातुके' इति वर्त्तते । हनः । ६ । १ । वध । १ । १ । लिङि । ७ । १ । वध-शब्दे 'सुपां सुलुक्०[7]॥' इति सोर्लुक् । हन्-धातोरार्द्धधातुके लिङि वध-आदेशो भवति । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अत्र 'वध' इत्यदन्त आदेशो भवति[8] । तस्य 'अतो लोपः[9]॥' इति लोपश्च ॥ ४२ ॥

वध-शब्द में 'सुपां सुलुक्०[7]॥' इस सूत्र से विभक्ति का लोप हो गया है । ['हनः']

---

१. भा०—पृ० २८५ ॥
चा० सू०—"वेञो लिटि वय्या ॥" (५।४।८८)
२. "वयिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥
३. ६ । १ । १६ ॥
४. ६ । १ । ३८ ॥
५. ६ । १ । ३९ ॥
६. भा०—पृ० २०८ ॥
चा० श०—"हनो वध लिङि ॥" (५।४।८६)
७. ७ । १ । ३९ ॥
८. जिनेन्द्रबुद्धिः—"कुत एतत् । शैलीयमाचार्यस्य यदेष प्रकरणे व्यञ्जनान्त आदेशस्तत्रोच्चारणार्थमिकारं करोति । यथा वयिरित्यादौ । तस्मादिकारान्ताकरणादकारान्तोऽयमादेश इति विज्ञायते ।"
९. ६ । ४ । ४८ ॥

हन धातु को आर्द्धधातुक ['लिङि'] लिङ् लकार के परे ['वध'] वध-आदेश हो । वध्यात् । यहां वध-आदेश अकारान्त हुआ है । उस [के अकार] का आर्द्धधातुक में लोप हो जाता है ॥ ४२ ॥

लुङि च[1] ॥ ४३ ॥

योगविभाग उत्तरार्थः । 'हनो वध' इत्यनुवर्त्तते । लुङि । ७ । १ । च । [अ० ।] हन्-धातोः 'वध' इत्ययमादेशो भवति लुङि लकारे परतः । न्यवधीद्दरीश्च । अवधीत् । अवधिष्टाम् । अवधिषुः । अत्रापि 'अतो लोपः[2] ॥' इत्यकारस्य लोपो भवति ॥ ४३ ॥

इस सूत्र के अलग करने का प्रयोजन यह है कि आगे के सूत्र में इसी की अनुवृत्ति जावे, अन्यथा पूर्व सूत्र में मिला देते । हन धातु को ['लुङि'] लुङ् लकार के परे वध-आदेश हो जावे । अवधीत् । यहां भी अकारान्त वध के अकार का लोप हो गया ॥ ४३ ॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्[3] ॥ ४४ ॥

'लुङि' इत्यनुवर्त्तते । आत्मनेपदेषु । ७ । ३ । अन्यतरस्याम् । [अ० ।] लुङ्-लकारे आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतो हन्-धातोर्वध-आदेशो विकल्पेन भवति । आवधिष्ट । आवधिषाताम् । आवधिषत । अत्र 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ[4] ॥' इति स्थानिवद्भावात् 'आङो यमहनः[5] ॥' इत्यात्मनेपदं भवति । [वध-आदेशः] न च भवति—आहत । आहसाताम् । आहसत । अत्र 'हनः सिच्[6] ॥' इति सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः ॥ ४४ ॥

लुङ् लकार में ['आत्मनेपदेषु'] आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों के परे हन धातु को वध-आदेश ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके हो । आवधिष्ट । यहां वध-आदेश होने के पीछे उस को स्थानिवत् मानके आत्मनेपद होता है । आहत । यहां वध-आदेश नहीं हुआ । यहां हन धातु से सिच् के कित् होने से हन धातु के नकार का लोप हो जाता है ॥ ४४ ॥

इणो गा लुङि[7] ॥ ४५ ॥

इणः । ६ । १ । गा । १ । १ । लुङि । ७ । १ । इण्-धातोर्लुङ्लकारे

---

१. आ०—सू० १०६ ॥
चा० श०—"लुङि ॥" (५ । ४ । ६०)
२. ६ । ४ । ४८ ॥
३. आ०—सू० ६५५ ॥
चा० श०—"लङि वा ॥" (५ । ४ । ६१)
४. १ । १ । ५६ ॥
५. १ । ३ । २८ ॥
६. १ । २ । १४ ॥
७. आ०—सू० ३४२ ॥
चा० श०—"एतेर्गाः ॥ (५ । ४ । ६२)

'गा' इत्यादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अत्र 'लुङ्' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्लुङ्-ग्रहणं 'अन्यतरस्यां' इति निवृत्त्यर्थम्[1] ॥

वा०—इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥

इहापि यथा स्यात्—अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः ॥[2]

'इक् [नित्यमधिपूर्वः] स्मरणे[3]' इत्यस्य धातोरिणवत् कार्यं भवति । अर्थादिक्-धातोरपि लुङि 'गा' इत्यादेशो भवति । तच्चार्द्धधातुका[धिका]रे विधीयते । अदादिगणे 'इक् स्मरणे' -धातोर्व्याख्याने भट्टोजिदीक्षितेन 'इक् स्मरणे—अध्येति । अधीतः । इण्वदिकः— अधियन्ति । केचित्तु "सस्मीतयो राघवयोरधीयन्" इत्यार्द्धधातुक इच्छन्ति[4] ।' इत्येतत् सर्वं कौमुद्यां प्रतिपादितम् । तदसत् । कुतः । आर्द्धधातुकाधिकारे 'इणो गा लुङि ॥' [इति सूत्रे] 'इण्वदिक इति वक्तव्यम्' इत्यस्य महाभाष्ये प्रतिपादितत्वात् । भट्टोजिदीक्षितेन तु 'अधियन्ति' इतीक्-धातोः प्रयोगे सार्वधातुके 'इणो यण्[5] ॥' इतीण्-धातोः कार्ये कृतं महाभाष्यादतिविरुद्धम् । न जाने महाभाष्यं तेन दृष्टं न वा ॥ ४५ ॥

['इणः'] इण् धातु को ['लुङि'] लुङ् लकार में ['गा'] गा-आदेश हो । अगात् । अगाताम् । अगुः । लुङ् लकार में इण् धातु का प्रयोग नहीं होता ॥

लुङ् की अनुवृत्ति पूर्व से आ जाती, फिर लुङ्-ग्रहण इसलिये है कि पूर्व सूत्र से विकल्प नहीं आवे ॥

'इण्वदिक इति वक्तव्यम् ॥' 'इक् स्मरणे[3]' इस धातु को भी इण्वत् अर्थात् लुङ् लकार में इण् धातु को गा-आदेश होता है, सो इक् धातु को भी हो । अध्यगात् । यहां इस वार्त्तिक से इक् धातु को गा-आदेश होता है । इस वार्त्तिक को भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में अदादिगण के 'इक् स्मरणे[3]' धातु के व्याख्यान में लिखके इक् धातु का 'अधियन्ति' यह प्रयोग सिद्ध किया है । इण् धातु को जो यण्-आदेश होता है[5], वह इक् धातु को सार्वधातुक में कर दिया । देखो कैसी छोकरेपन की भट्टोजिदीक्षित

---

१. "परस्मैपदेषु यथा स्यात्, नित्यं चात्मनेपदेषु" इत्येतदर्थं च पुनर्लुङ्-ग्रहणम् ॥

२. अ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥

३. धा०—अदा० ३८ ॥

४. मुद्रितायां सिद्धान्तकौमुद्यान्तु—"इक् स्मरणे । अयमप्यधिपूर्वः । 'अधीगर्थदयेशाम् ॥'[२।३।५२] इति लिङ्गात् । अन्यथा हि 'इगर्थ०' इत्येव ब्रूयात् । इण्वदिक इति वक्तव्यम् । अधियन्ति । अध्यगात् । केचित्तु आर्धधातुकाधिकारोक्तस्येवातिदेशमाहुः । तन्मते यण् न । तथा च भट्टिः—'सस्मीतयो राघवयोरधीयन्' इति ॥'

अत्र च बालमनोरमा—" 'इण्वदिक इति । वक्तव्यमिति शेषः । इणो यत् कार्यं 'इणो यण् ॥' [६ । ४ । ८१] इत्यादि, तदिको भवतीत्यर्थः । 'अध्येति, अधीतः' इति सिद्धवत्कृत्याह अधियन्तीति । अन्तादेशे इयङपवादः 'इणो यण् ॥' [६ । ४ । ८१] इति यण् इति भावः । ..."

५. ६ । ४ । ८१ ॥

की बुद्धि है कि महाभाष्य को भी नहीं देखा। महाभाष्यकार ने आर्द्धधातुकाधिकार में इस वार्त्तिक को पढ़ा है। सो ये सार्वधातुक में भी लगाते हैं। ऐसे २ लो[ग] नवीन व्याकरण के पुस्तक बनावें, क्या कहना है ॥ ४५ ॥

णौ गमिरबोधने[1] ॥ ४६ ॥

'इणः' इत्यनुवर्त्तते। णौ। ७। १। गमिः। १। १। अबोधने। ७। १। अबोधना[र्थस्य = अ]ज्ञानार्थस्येण्-धातोर्णौ परतो गमिरादेशो भवति। गमयति। गमयतः। गमयन्ति॥

'णौ' इति किम्। यन्ति। इतः॥

'अबोधने' इति किम्। प्रत्याययति। अत्रोभयत्र गमिरादेशो [न] भवति॥

'इण्वदिकः' इत्यनुवर्त्तते। तेन 'अधिगमयति। अधिगमयतः। अधिगमयन्ति' [इति] अत्रापि गमिरादेशः सिद्धो भवति॥ ४६ ॥

['अबोधने'] अज्ञानार्थ इण् धातु को ['णौ'] णिच् के पर ['गमिः'] गमि-आदेश हो। गमयति। यहां गमि-आदेश होने से इण् धातु का प्रयोग नहीं होता॥

'णौ' ग्रहण इसलिये है कि 'यन्ति' यहां न हो॥

और अबोधन-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रत्याययति' यहां भी इण् धातु को गमि-आदेश न हो॥

'इक् धातु को इण्वत् कार्य हो' इस वार्त्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है। उस से 'अधिगमयति' यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होता है॥ ४६ ॥

सनि च[2] ॥ ४७ ॥

'गमिरबोधने' इत्यनुवर्त्तते। योगविभाग उत्तरार्थः। 'इङश्च[3]॥' इति सूत्रे 'सनि' इत्येतस्यैवानुवृत्तिः [यथा] स्यात्। अबोधनार्थस्येण्-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति। जिगमिषति। जिगमिषतः। जिगमिषन्ति॥

'अबोधने' इति किम्। शब्दान् प्रतीषिषति। अत्र गमिरादेशो न स्यात्॥

'इण्वदिकः' इत्यत्राप्यनुवर्त्तते। तेन 'अधिजिगमिषति' [इति] अत्रापि सिद्धं भवति॥ ४७ ॥

यह सूत्र अलग इसलिये किया है कि आगे के सूत्र में सन् की ही अनुवृत्ति जावे। अज्ञानार्थ इण् धातु को ['सनि'] सन् के पर गमि-आदेश हो। जिगमिषति। यहां गमि-आदेश हुआ है॥

---

१. भा०—सू० ५०१॥ चा० श०—"णौ गमबोधे॥" (५। ४। ६३)

२. भा०—सू० ५११॥ चा० श०—"सनि॥" (५। ४। ६४)

३. २। ४। ४८॥

प्रयोजन ग्रहण इसलिये है कि 'शब्दान् प्रतीपिपयति' यहां सन् के पर गमि-आदेश न हो ॥

'इण्वदिकः ॥' इस वार्त्तिक की अनुवृत्ति यहां भी आती है। उस से 'अधिजिगमिषति' यहां इक् धातु को भी गमि-आदेश होके यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

इङश्च[1] ॥ ४८ ॥

'सनि' इत्यनुवर्त्तते । इङः । ६ । १ । च । [अ० ।] इङ्-धातोः सनि परतो गमिरादेशो भवति । अधिजिगांसते । अधिजिगांसेते । अधिजिगांसन्ते । अत्र 'अज्झनगमां सनि[2] ॥' इति दीर्घः ॥ ४८ ॥

['इङः'] इङ् धातु को सन् के पर गमि-आदेश हो । अधिजिगांसते । यहां सन् के पर गम धातु को षष्ठाध्याय के सूत्र[2] [से] दीर्घ होता है ॥ ४८ ॥

गाङ् लिटि[3] ॥ ४९ ॥

'इङः' इत्यनुवर्त्तते । गाङ् । १ । १ । लिटि । ७ । १ । लिट्लकारे परत इङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो भवति । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । गाङ्-आदेशेऽनुबन्धकरणं विशेषणार्थम् । 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इति निरनुबन्धक-ग्रहण इणादेशस्यापि ग्रहणं स्यात् ॥ ४९ ॥

['लिटि'] लिट् लकार के पर इङ् धातु को ['गाङ्'] गाङ्-आदेश हो । अधिजगे । यहां लिट् के कित् होने से गाङ्-आदेश के आकार का लोप हुआ है[5] ॥

गाङ्-आदेश में ङकार अनुबन्ध इसलिये है कि 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इस सूत्र में इण् धातु को जो गा-आदेश होता है[6], उस का ग्रहण न हो ॥ ४९ ॥

विभाषा लुङ्लृङोः[7] ॥ ५० ॥

'इङो गाङ्' इत्यनुवर्त्तते । विभाषा [अ० ।] लुङ्-लृङोः । ७ । २ । लुङ्-लृङोः परयोरिङ्-धातोर्गाङ्-आदेशो विकल्पेन भवति । यत्र गाङ्-आदेशो भवति, तत्र 'गाङ्कुटादिभ्यः०[4] ॥' इति ङित्त्वादीत्वं[8] भवति । लुङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । अत्र गाङ्-आदेशस्य 'घुमास्थागा०[8] ॥' इतीत्वं

१. भा०—सू० ५११ ॥
चा० श०—"इङः ॥" (५ । ४ । ६५)
२. ६ । ४ । १६ ॥
३. भा०—सू० ३४३ ॥
चा० श०—"गाङ् लिटि ॥" (५ । ४ । ६६)
४. १ । २ । १ ॥
५. "आतो लोप इटि च ॥" (६ । ४ । ६४)
६. २ । ४ । ४५ ॥
७. भा०—सू० ३४४ ॥
चा० श०—"वा लुङ्लृङोः ॥" (५।४।६७)
८. ६ । ४ । ६६ ॥

भवति । निषेधपक्षे—अध्यैष्ट । अध्यैषाताम् । अध्यैषत । लृङि—अध्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । अत्रापि पूर्ववदीत्वम् । निषेधपक्षे—अध्यैष्यत । इत्यादि ॥ ५० ॥

['लुङ्-लृङोः'] लुङ् और लृङ् लकार के पर इङ् धातु को ['विभाषा'] विकल्प करके गाङ्-आदेश हो । जिस पक्ष में गाङ्-आदेश होता है, वहां ङित् होने से गाङ् के आकार को ईकार हो जाता है[1] । लुङ्—अध्यगीष्ट । यहां गाङ् के आकार को ईकार हो गया । अध्यैष्ट । विकल्प होने से यहां गाङ् नहीं हुआ । लृङि—अध्यगीष्यत । यहां भी पूर्व के तुल्य ईकारादेश हुआ है । अध्यैष्यत । और यहां गाङ्-आदेश पक्ष में नहीं हुआ ॥ ५० ॥

णौ च संश्चङोः[2] ॥ ५१ ॥

'इङो गाङ् विभाषा' इत्यनुवर्त्तते । णौ । ७ । १ । च । [अ० ।] संश्चङोः । ७ । २ । सन् च चङ् च, तयोः । संश्चङोः परयोर्यो णिच्, तस्मिन् परत इङ्-धातोर्विकल्पेन गाङ्-आदेशो भवति । अधिजिगापयिषति । अत्रेङ्-धातोर्णिच्, तदन्तात् सन्, तत्रेङो गाङ्-आदेशः । यस्मिन् पक्षे गाङ् न भवति —अध्यापिपयिषति । चङ्परे णौ—अध्यजीगपत् । अत्रेङ्-धातोर्णिच्, तदन्ताच्च्लेः स्थाने चङ्[3] । तत्र गाङ्-आदेशे कृतेऽभ्यासस्य सन्वद्भावादीनि कार्याणि । यत्र गाङ् न भवति, 'अध्यापिपत्' इत्येवं प्रयोगः सिद्धो भवति ॥ ५१ ॥

['संश्चङोः'] सन् और चङ् हैं पर जिस से ऐसा ['णौ'] णि परे हो, तो इङ् धातु को विकल्प करके गाङ्-आदेश हो । सन्पर णि—अधिजिगापयिषति । यहां इङ् धातु से णिच् और णिजन्त से सन् परे गाङ्-आदेश होके यह प्रयोग बनता है । विकल्प के होने से 'अध्यापिपयिषति' यहां गाङ्-आदेश नहीं हुआ । चङ्पर णि—अध्यजीगपत् । यहां णिजन्त इङ् धातु से चङ् के पर गाङ्-आदेश हुआ है । और 'अध्यापिपत्' यहां णिजन्त से चङ् के पर गाङ् नहीं हुआ ॥ ५१ ॥

अस्तेर्भूः[4] ॥ ५२ ॥

'आर्द्धधातुके' इत्यनुवर्त्तते । अस्तेः । ६ । १ । भूः । १ । १ । आर्द्धधातुकविषयेऽस-धातोः 'भू' इत्यादेशो भवति । बभूव । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । 'एधामास' अत्र भूरादेशः कस्मान्न भवति । 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि[5] ॥' इति सूत्रे प्रत्याहारग्रहणेनास्तेरपि ग्रहणात् ॥ ५२ ॥

---

१. ६ । ४ । ६६ ॥
२. आ०—सू० ४६५ ॥
चा० शा०—"णौ संश्चङोः ॥" (५।४।६८)
३. ३ । १ । ४८ ॥
४. आ०—सू० ३५३ ॥
५. ३ । १ । ४० ॥

आर्द्धधातुक विषय में ['अस्तेः'] अस् धातु को ['भूः'] भू आदेश हो । बभूव । भविता इत्यादि प्रयोगों में अस् का भू होता है । अर्थात् अस् का प्रयोग नहीं होता । एधामास। यहां भू-आदेश इसलिये नहीं होता कि कृञ्-प्रत्याहार के अनुप्रयोग में अस का भी अनुप्रयोग होता है ॥ ५२ ॥

ब्रुवो वचिः[1] ॥ ५३ ॥

ब्रुवः । ६ । १ । वचिः । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये ब्रू-धातोर्वचिरादेशो भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । उवाच । ऊचे । स्थानिवद्भावेनात्रात्मनेपदं भवति ॥ ५३ ॥

आर्द्धधातुकविषय में ['ब्रुवः'] ब्रू धातु को ['वचिः'] वचि-आदेश हो । वक्ता । वक्तुम् इत्यादि आर्द्धधातुक में ब्रू का प्रयोग नहीं होता । ऊचे । यहां ब्रू का स्थानिवत् होके आत्मनेपद होता है ॥ ५३ ॥

चक्षिङः ख्याञ्[2] ॥ ५४ ॥

चक्षिङः । ६ । १ । ख्याञ् । १ । १ । आर्द्धधातुकविषये चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-आदेशो भवति । आख्याता । आख्यातुम् । आख्यातव्यम् । अत्रार्द्धधातुके चक्षिङ्-धातोः प्रयोगो न भवति । अयं चक्षिङ्-धातोरादेशः क्शादिः ख्यादिश्च भवति ॥

वा०—असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा[3] ॥[4] १ ॥

असिद्धप्रकरणे क्शाञ्-आदेशः कर्त्तव्यः । तत्रैव शकारस्य विकल्पेन यकारः कर्त्तव्यः । यकारपक्षे ख्याञ्-आदेशो भविष्यति । शकारपक्षे ककारस्य चर्त्त्वेन[6] क्शाञ्-आदेशो भविष्यति । ख्याता । क्शाता । 'असिद्धे' इति 'अख्यास्त । अख्यासीत्' अत्र 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्[7] ॥' इत्यसिद्धत्वादङ् न भवति ॥ १ ॥

वर्जने प्रतिषेधः ॥[5] २ ॥

अवसंचक्ष्याः । परिसंचक्ष्याः । वर्जनीया इत्यर्थः ॥ २ ॥

असनयोश्च ॥[5] ३ ॥

---

१. आ०—सू० ३३४ ॥

२. "वचिः" इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥

३. आ०—सू० ३३२ ॥

४. महाभाष्ये "अथ वा ख्शादिर्भविष्यति । केनेदानीं क्शादिर्भविष्यति । चर्त्त्वेन [८।४।५५] । अथ ख्यादिः कथम् ।" इत्युक्त्वाऽस्य "असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा" इत्युक्तम् ॥ क्शादित्वः "क्शादिरप्ययमादेश इष्यते ॥" इति नवीनं वार्त्तिकं पठति ॥

५. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

६. ८ । ४ । ५५ ॥

७. ३ । १ । ५२ ॥

असुन्-प्रत्ययेऽन-प्रत्यये च परतश्चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञ्-आदेशौ न भवतः । नृचक्षा[1] रक्षः । विचक्षणः पण्डितः ॥ ३ ॥

बहुलं तणि[2] ॥ ४ ॥

किमिदं तणीति । सञ्ज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम् ॥[3]

सञ्ज्ञायां छन्दसि = वेदे च 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति[4] ॥' इत्यारभ्य सर्वस्यार्द्धधातुकप्रकरणस्य कार्याणि बहुलं भवन्ति । तद्यथा—अन्नम् । अत्र क्त-प्रत्ययेऽद-धातोर्जग्धिरादेशो न भवति । वधकम् । अत्र ण्वुल्-प्रत्ययेऽप्राप्तो हन-धातोर्वध-आदेशो भवति । गात्रं पश्य । 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्[5] ॥' इत्यौणादिके ष्ट्रनि प्रत्यय इणु-धातोः 'गा' इत्यादेशो भवति[6] । विचक्षणः । अत्र चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञौ न भवतः । अजिरे तिष्ठति । अत्र 'अजेर्व्यघञपोः[7] ॥' इत्यज-धातोर्वी न भवति ॥ [४ ॥] ५४ ॥

आर्द्धधातुकविषय में ['चक्षिङः'] चक्षिङ् धातु को ['ख्याञ्'] ख्याञ्-आदेश हो । आख्याता इत्यादि आर्द्धधातुक प्रयोगों में चक्षिङ् धातु का प्रयोग नहीं होता, किन्तु आदेश का ही होता है । यह चक्षिङ् धातु के स्थान में जो आदेश होता है, वह ख्यादि और क्शादि दो प्रकार का होता है । इस के लिये आगे वार्त्तिक लिखते हैं—

'असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ॥' असिद्ध अर्थात् अष्टमाध्याय के अन्त के तीन पाद में चक्षिङ् धातु को क्शाञ्-आदेश करके शकार को विकल्प करके यकार आदेश करना चाहिये । सो जिस पक्ष में शकार को यकार होगा, वहां ख्याञ्-आदेश का 'ख्याता' ऐसा प्रयोग बनेगा । और जिस पक्ष में शकार रहेगा, वहां ककार को खकार होके 'क्शाता' इस प्रकार का प्रयोग बनेगा । इस वार्त्तिक में असिद्ध-ग्रहण इसलिये है कि 'अख्यासीत् । अख्यास्त' यहां च्लि के स्थान में तृतीयाध्याय के सूत्र से अङ्-आदेश पाता है, सो न हो ॥ १ ॥

---

१. छान्दसोऽयं प्रयोगः । भाष्ये तु रक्षोविशेषणत्वेन नपुंसकत्वेन दीर्घानुपपत्तेः 'नृचक्षो रक्षः' इति ॥ अथर्ववेदे (८ । ३ । १०)—
"नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।"

२. जयादित्यस्तु "बहुलं सञ्ज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम् ।" इति पठति ॥

३. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

४. २ । ४ । ३६ ॥

५. उणा०— ४ । १५६ ॥

६. "गमेरा च ॥" (उणा० ४ । १६६)

७. २ । ४ । ५६ ॥ अयमौणादिकः किरच्-प्रत्ययान्तो निपातितः ॥ (उणा० १ । ५२) अजिरं = अङ्गनम् ॥

'वर्जने प्रतिषेधः ॥' वर्जन अर्थ में वर्त्तमान जो चक्षिङ् धातु, उस को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश न हों । अवसञ्चक्ष्या: । 'वर्जन करने चाहियें' यहां ख्याञ् क्शाञ् नहीं हुए ॥ २ ॥

'असनयोश्च ॥' असुन् और अन प्रत्यय के पर चक्षिङ् धातु को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश न हों । नृचक्षा रक्षः । यहां असुन् के पर, और 'विचक्षणः' यहां अन-प्रत्यय के पर उक्त आदेश नहीं हुए ॥ ३ ॥

'बहुलं तणि ॥' संज्ञा और छन्द अर्थात् वैदिक प्रयोगों में इस आर्द्धधातुक प्रकरण के सब कार्य बहुल करके हों । अर्थात् सब प्रकरण के लिये यह वार्त्तिक है । आसम् । यहां तादि कित् के पर अद् धातु को जग्धि-आदेश नहीं हुआ । वधकम् । यहां ण्वुल्-प्रत्यय के पर हन धातु को वध नहीं पाता था, सो हो गया । गात्रं पश्य । यहां उणादि त्रन्-प्रत्यय के पर इण् धातु को गा-आदेश नहीं पाता था, सो हो गया । विचक्षण । यहां चक्षिङ् धातु को ख्याञ्, क्शाञ् नहीं हुए । और 'अजिरे तिष्ठति' यहां अज धातु को वी-आदेश पाता था, सो नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

वा लिटि[1] ॥ ५५ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते । वा । [अ० ।] लिटि । ७ । १ । 'चक्षिङः ख्याञ्' इति सर्वमनुवर्त्तते । चक्षिङ्-धातोः ख्याञ्-क्शाञावुक्तरीत्या विकल्पेन भवतः । तेन लिट्लकारे पञ्च रूपाणि भवन्ति । ख्याञ्—चख्यौ । चख्यतुः । चख्ये । चख्याते । क्शाञ्—चक्शौ । चक्शतुः । चक्शे । चक्शाते । इति ख्याञ्-क्शाञ् आदेशे चत्वारि रूपाणि । यस्मिन् पक्षे न भवतः—चचक्षे । चचक्षाते । एवं विकल्पकरणात् पञ्च प्रयोगा भवन्ति ॥ ५५ ॥

इस सूत्र में प्राप्तविभाषा है । पूर्व सूत्र से ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश नित्य प्राप्त हैं । उन का विकल्प किया है । उस से लिट् लकार में चक्षिङ् धातु के पांच प्रयोग बनते हैं । ['लिटि'] लिट् लकार के पर चक्षिङ् धातु को ख्याञ्-क्शाञ्-आदेश ['वा'] विकल्प करके हों । ख्याञ्—चख्यौ । चख्ये । यहां उभयपद के होने से ख्याञ्-आदेश के दो प्रयोग । चक्शौ । चक्शे । यहां क्शाञ्-आदेश के दो प्रयोग होते हैं । और जिस पक्ष में ख्याञ् क्शाञ् नहीं होते, वहां 'चचक्षे' एक प्रयोग होता है । इस प्रकार इस धातु के लिट् लकार में पांच प्रयोग होते हैं ॥ ५५ ॥

अजेर्व्यघञपोः[2] ॥ ५६ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तते । अजेः । ६ । १ । वी । १ । १ । अघञपोः । ७ । २ । 'अज गतिक्षेपणयोः'[3] इत्यस्यार्द्धधातुकसामान्ये विकल्पेन 'वी' इत्ययमादेशो भवति, घञपोः परयोर्न । प्राजिता । प्रवेता । प्राजितुम् । प्रवेतुम् । प्राजितव्यम् ।

---

१. अ०—सू० ३१३ ॥ २. अ०—स्वा० २४८ ॥
३. अ०—सू० १४५ ॥

प्रवेतव्यम् । अस्मिन् सूत्रे महाभाष्यकारेण सूतवैयाकरणयोः संवादेन[1] 'प्राजिता, प्रवेता' इति रूपद्वयेन वलादावार्द्धधातुके विकल्पः प्रतिपादितः, तेनैतत् साधितं—विकल्पमनुवर्त्तते । इति वलादावार्धधातुके विकल्पो दर्शितः । तेनेह न भवति—प्रवायकः । प्रवयणम् ॥

वा०—घञपोः प्रतिषेधे क्यप उपसङ्ख्यानम् ॥[2]

क्यप्-प्रत्ययेऽप्यज-धातोः 'वी' इत्यादेशो न भवति । समजनं समज्या ॥

अत्र जयादित्यादिभिर्विकल्पानुवृत्तिर्नैव बुद्धा, किन्तु विकल्पार्थं 'वलादावार्द्धधातुके विकल्प इष्यते' इति स्वकीयकल्पना कृता, सा प्रणाप्याऽस्ति ॥ ५६ ॥

['अजेः'] अज धातु को आर्द्धधातुक विषय में ['वी] वी-आदेश विकल्प करके हो [किन्तु 'अघञपोः' घञ्- और अप्- प्रत्यय के पर होते हुए न हो ।] प्राजिता । प्रवेता । यहां विकल्प के होने से दो प्रयोग होते हैं । इस सूत्र में महाभाष्यकार ने सूत और वैयाकरण के संवाद में वलादि आर्द्धधातुक के दो प्रयोग दिखाए हैं । उस से यह सिद्ध किया है कि इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति अवश्य आती है । वलादि आर्द्धधातुक के उदाहरण देने से 'प्रवायकः' यहां अजादि में विकल्प नहीं हुआ । जयादित्य पंडित ने यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं जानके वलादि आर्द्धधातुक में विकल्प के लिये नवीन वार्त्तिक की कल्पना की है । यह महाभाष्य से विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

वा यौ[3] ॥ ५७ ॥

वा । १ । १ । यौ । ७ । १ । 'अजेः' इत्यनुवर्त्तते । यौ = औणादिके युचि प्रत्यये परतोऽज-धातोः 'वा' इत्यादेशो भवति । वायुः । अत्र बाहुलकात् 'युवोरनाकौ[4] ॥' इत्यनादेशाभावे 'वायुः' इति रूपं सिद्ध्यति । इदमेव व्याख्यानमस्य सूत्रस्य महाभाष्येऽस्ति[5] । जयादित्येनास्य सूत्रस्यायमर्थः कृतः[6]—यौ ल्युटि

---

१. अथ सूतवैयाकरणयोः संवादः—"एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति ॥
"सूत आह—अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति ॥
"वैयाकरण आह—अपशब्द इति ॥
"सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानांप्रियः, न त्विष्टिज्ञ इष्यत एतद् रूपमिति ॥
"वैयाकरण आह—अहो नु खल्वनेन दुरुतेन [बाध्यामह इति ॥
"सूत आह—न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः । यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या, दुःसूतेनेति वक्तव्यम् ॥"

२. अ० २ । पा० ४ । आ० ३ ॥

३. भा०—सू० १४७३ ॥

४. ७ । १ । १ ॥

५. महाभाष्ये—"न तर्हीदानीमिदं वक्तव्यम् 'वा यौ' इति । वक्तव्यं च । किं प्रयोजनम् । नेयं विभाषा । किं तर्हि । आदेशो विधीयते । 'वा' इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः । वायुरिति ॥"

६. जयादित्यः—"पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते । यु इति ल्युटो ग्रहणम् । यौ परभूते अजेर्वा 'वी' इत्ययमादेशो भवति । प्रवयणो दण्डः । प्राजनो दण्डः ।"

प्रत्ययेऽज-धातोर्विकल्पेन 'वी' इत्यादेशो भवति । तत्र रूपद्वयं साधितम् । तदिदं पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धं, पुनर्महाभाष्यविरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम् ॥ ५७ ॥

[इत्यार्द्धधातुकाधिकारप्रकरणम्]

['यौ'] औणादिक युच्-प्रत्यय के पर अज धातु को ['वा'] वा-आदेश हो । वायुः । यहां उणादि में बहुल करके कार्यों के होने से यु के स्थान में अन-आदेश नहीं होता । इस सूत्र का ऐसा ही अर्थ महाभाष्य में किया है । और जयादित्य पंडित ने ऐसा अर्थ किया है कि ल्युट्-प्रत्यय के पर अज धातु को वी-आदेश विकल्प करके हो । सो पूर्व सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति से दो प्रयोग बन जावेंगे । और महाभाष्य से अत्यन्त विरुद्ध है, इससे उन का व्याख्यान ठीक नहीं ॥ ५७ ॥

[यह आर्द्धधातुक का अधिकार समाप्त हुआ]

[अथ लुक्प्रकरणम्]

ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः[1] ॥ ५८ ॥

अत आरभ्य पादपर्यन्तं लुक्प्रकरणमारभ्यते । ण्यक्षत्रियार्षञितः । ५ । १ । यूनि । ७ । १ । लुक् । १ । १ । अण्-इञोः । ६ । २ । ण्यश्च क्षत्रियश्च आर्षश्च ञिच्च । एषां समाहारः, तत्रैकवचनम् । ण्य-प्रत्ययान्तात्, क्षत्रियवाचिगोत्रप्रत्ययान्तात्, गोत्रप्रत्ययान्तादृषिवाचिनः, ञ् इत् यस्य तदन्ताद् गोत्रप्रत्ययान्ताच्च प्रातिपदिकाद् युवापत्ये विहितयोरणिञोः प्रत्यययोर्लुग् भवति । ण्य—'कुर्वादिभ्यो ण्यः[2] ॥' कुरोरपत्यं कौरव्यः पिता । तस्माद् युवापत्य इञ् । तस्य लुक् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः । क्षत्रिय—नकुलस्य गोत्रापत्येऽण्, तदन्ताद् युवापत्ये इञ् । तस्य लुक् । नाकुलः पिता, नाकुलः पुत्रः । आर्ष—वसिष्ठस्य गोत्रापत्येऽण् । ततो युवापत्य इञ् । तस्य लुक् । वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः । ञित्—'तिकादिभ्यः फिञ्[3] ॥' तिकस्यापत्यं तैकायनिः । ततो युवापत्येऽण् । तस्य लुक् । तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः ॥

'ण्यादिभ्यः' इति किम् । शिवस्यापत्यं शैवः । तस्य युवापत्यं शैविः । अत्रेञ्-प्रत्ययस्य लुक् न भवति ॥

१. का० सू०—"ञिदार्षादणिञोः ॥" (२ । ४ । १२२)
२. ४ । १ । १५१ ॥
३. ४ । १ । १५४ ॥

'यूनि' इति किम् । वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । कुर्वादित्वाण्ण्यः । वामरथ्यस्य छात्रा वामरथा इति शैषिकोऽण् । तस्य लुङ् न स्यात् ॥

'अणिञोः' इति किम् । दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः । अत्र युवापत्यफको लुङ् न भवेत् ॥

वा०—अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम्[1] ॥[2]

क्षत्रियादिगोत्रमात्राद् युवापत्ये यः प्रत्ययः, तस्य लुग् भवति । बौधिः पिता, बौधिः पुत्रः । औदुम्बरिः पिता, औदुम्बरिः पुत्रः । जाबालिः पिता, जाबालिः पुत्रः । जाबालो नाम वेश्यापुत्रोऽभून्[3] । स चाब्राह्मणः, तस्मादिञ् । तदन्तात् फको लुक् । भाण्डिजङ्घिः पिता, भाण्डिजङ्घिः पुत्रः । कार्णखरकिः पिता, कार्णखरकिः पुत्रः[4] । अत्र सर्वत्रेञन्ताद् युवापत्ये विहितस्य फको लुग् भवति ॥ ५८ ॥

यहां से लेके इस पाद भर में लुक् का प्रकरण चलता है । ['यञ्-क्षत्रिय-आर्ष-ञितः'] यञ्-प्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची, ऋषिवाची, ञ् जिस का इत्-सञ्ज्ञक होके लोप हो जाता है इस प्रकार [के] प्रत्यय जिन के अन्त में होवें, गोत्रवाची इन प्रातिपदिकों से पर ['यूनि'] युवा अर्थ में जो ['अण्-इञोः'] अण्- और इञ्-प्रत्यय, उन का ['लुक्'] लुक् हो । यञ्—कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः । यहां कुरु-शब्द से गोत्र में यञ् और यञान्त से युवा में इञ्-प्रत्यय का लुक् । क्षत्रिय—नाकुलः पिता पुत्रो वा । यहां नकुल-शब्द से गोत्र में अण् और अण्-प्रत्ययान्त से युवा में इञ् का लुक् । आर्ष—वासिष्ठः पिता पुत्रो वा । यहां ऋषिवाची वसिष्ठ-शब्द से गोत्र में अण् और युवा में इञ् का लुक् । ञित्—तैकायनिः पिता पुत्रो वा । और यहां तिक-शब्द से गोत्र में फिञ् [तथा] फिञन्त से युवा में अण्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

यञ आदि का ग्रहण इसलिये है कि 'शैब्यः पिता । शैब्यिः पुत्रः' यहां युवप्रत्यय का लुक् न हो ॥

'यूनि' ग्रहण इसलिये है कि 'वामरथ्यस्य छात्रा वामरथाः' यहां शैषिक अण् का लुक् न हो ॥

और अण्-इञ्-ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः' यहां युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

'अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम् ॥' ब्राह्मण को छोड़के अन्य मनु-

१. चा० सू०—"अब्राह्मणात् ॥" (२।४।१२०)

२. अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥

३. छान्दोग्योपनिषदि (४ । ४ । १, २)—"सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे—ब्रह्मचर्यं भवति ! विवत्स्यामि । किङ्गोत्रो न्वहमस्मीति ॥ सा हैनमुवाच—...बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि ।..."

४. अत्र कैयटः—"भाण्डिजङ्घिकार्णखरकी वैश्यौ ।"

न्य मात्र गोत्रवाचियों से पर युवापत्य में विहित प्रत्यय का लुक् हो । आवालिः पिता पुत्रो वा । आवाल वेरवा का पुत्र था । वह राजर्षि अर्थात् क्षत्रिय ऋषियों में था, किन्तु ब्राह्मण नहीं । उस से गोत्र में इञ्-प्रत्यय और इञन्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥५८॥

पैलादिभ्यश्च[1] ॥ ५९ ॥

'यूनि लुग्' इत्यनुवर्त्तते । पैलादिभ्यः । ५ । ३ । च । [अ० ।] गोत्रवाचिभ्यः पैलादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि = युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः । 'पीलाया वा[2] ॥' इति सूत्रेण गोत्रेऽण् । तदन्ताद् 'अणो द्व्यचः[3] ॥' इति युवापत्ये फिञ्, तस्य लुक् । पैलः पिता पुत्रो वा । अन्ये पैलादयः केचिदिञन्ताः केचित् फिञन्ताश्च । तत्रेञन्तेभ्यः फको लुक्, फिञन्तेभ्यश्चाणः ॥

अथ पैलादिगणः—[१] पैल [२] शालङ्कि [३] सात्यकि [४] सात्यकामि[4] [५] राहवि [६] रावणि[5] [७] दैवि[6] [८] औदञ्चि[7] [९] औदव्रजि[8] [१०] औदमेघि [११] औदमज्जि [१२] औदभृज्जि[9] [१३] औदशुद्धि[10] [१४] दैवस्थानि[11] [१५] पैङ्गलौदायनि[12] [१६] पैङ्गलायनि[13] [१७] राणायनि[14] [१८] राहक्षति[15]

---

१. पा० शा०—"पैलादिभ्यः ॥" (२ । ४ । १२१)

२. ४ । १ । ११८ ।

३. ४ । १ । १५६ ॥

४. चन्द्र-बोटलिङ्कौ—सात्यकामि ॥
गणरत्ने (१ । १६६)—"सत्ये कामोऽस्य = सत्यकामः । अत एव निपातनान्मुक् । सत्यमिति निपातो वा शब्दपर्यायः ।"

५. चन्द्र-जयादित्यौ ५, ६ शब्दौ न पठतः ॥

६. चन्द्र-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

७. काशिकायां नास्ति ॥
न्यासे—"औदञ्चि-शब्दो बाह्वादित्वादिञन्तः । ... उदञ्चतीति 'ऋत्विग्० ॥' [३ । २ । ५९] इत्यादिना सूत्रेण क्विन् । उदचोऽपत्यम् = औदञ्चिः ।"

८. चन्द्र-जयादित्यौ औदमज्जि-शब्दं "औदव्रजि" इत्यतः पूर्वं पठतः ॥

९. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥
गणरत्ने (१ । १६६)—"उदके भृज्जतीति = उदभृज्जः । तस्यापत्यम् ॥" [पठति ॥

१०. चन्द्रोऽत्र—औदशुद्धि ॥ बोटलिङ्कस्त्वेतं न

११. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—औदस्थानि ॥

१२. चान्द्रवृत्तौ—पैङ्गलोदायनि ॥
काशिकायां नास्ति ॥
गणरत्ने (१ । २६६)—"पिङ्गलोदायनस्यापत्यं = पैङ्गलोदायनिः । शाकटायनस्तु 'पैङ्गलोदयनिः' इत्याह ।"

१३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥ [मन्यते ॥
बोटलिङ्कस्त्वेतं "पैङ्गलोदायनि" इत्यस्य पाठान्तरं

१४. चन्द्रः—राधि ॥
बोटलिंकपाठे नास्ति ॥

१५. चान्द्रवृत्तौ पाठान्तरम्—हारचती ॥
काशिकायां नास्ति ॥ [चति K.)"
बोटलिङ्कः—"राहचति (रोहचिति and राह-
गणरत्ने—"रहेण चितो हिंसितः = रहचितः । तस्यापत्यम् ।" (१ । २६६)

[१९] रौहक्षिति[1] [२०] भौलिङ्गि[2] [२१] राणि[3] [२२] औदनि[4] [२३] औद्वाह्मानि [२४] औज्जिहानि[5] [२५] औदशुद्धि[6] [२६] रागवति [२७] सौमनि [२८] ऊहमानि [२९] तद्राजाच्चाणः[7] ॥ इति पैलादिगणः । तद्राजात् = तद्राज-सञ्ज्ञकादणन्तादपि यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् ॥ ५९ ॥

गोत्रवाची गण में पढ़े हुए जो ['पैलादिभ्यः'] पैलादि शब्द हैं, उन से युवा अर्थ में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् हो। पैलः पिता पुत्रो वा । यहां गोत्र में पीला-शब्द से अण् और अणन्त इ-पञ् प्रातिपदिक से युवा में फिञ्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है। पैलादिगण में जो शब्द इञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में फक्-प्रत्यय का और जो फिञ्-प्रत्ययान्त हैं, उन से युवा में अण्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है ॥

पैलादिगण पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया है। 'तद्राजाच्चाणः ॥' यह गण सूत्र है। इस का यह प्रयोजन है कि तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्ययान्त से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो। मागधो राजा तत्पुत्रो वा। यहां मगध-शब्द से तद्राज-सञ्ज्ञक अण् और अणन्त से इञ् का लुक् होता है ॥ ५९ ॥

इञः प्राचाम्[8] ॥ ६० ॥

इञः । ६ । १ । प्राचाम् । ६ । ३ । प्राचां = पूर्वदेशनिवासिनां मते ये गोत्रवाचिन इञन्ताः शब्दाः, तेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति । पन्नागारस्य गोत्रापत्यं पान्नागारिः । पान्नागारेर्युवापत्यम् । पान्नागारिः पिता पुत्रो वा । युवापत्ये फक्, तस्य लुक् ॥

'प्राचाम्' इति किम् । दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अत्र फको लुक् न भवति ॥ ६० ॥

['प्राचाम्'] पूर्व देश वासियों के मत में गोत्रवाची जो ['इञः'] इञ्-प्रत्ययान्त

---

१. चन्द्र-बोटलिङ्कौ न पठतः ॥

२. न्यासे—"भौलिङ्गि-शब्दः शाल्वावयव इञन्तः।"

३. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥

४. चन्द्र-जयादित्यौ न पठतः ॥
वर्धमान-बोटलिङ्कौ—औदन्यि ॥

५. चन्द्र.—औज्जिहायनि ॥
गणरत्ने (३।१००)—"कश्चित् 'औज्जिहानिः' इति मन्यते।"

६. बोटलिङ्कः—"औदशुद्धि (औदशुद्धि K.)" गणरत्ने—"उदकशुद्धस्यापत्यं = औदकशुद्धिः । औदशुद्धिरिति भोजः।" (३ । १७०)
चन्द्र-जयादित्यौ २५-२८ इत्येतान् शब्दान्न पठतः ॥
बोटलिङ्कस्तु २६-२८ इत्येतान् शब्दानपठित्वा मन्यते—" K. ausserdem: देवि (!), सौमनि, जैहमानि (sic), शाखायनि. Ist ein Akṛtigaṇa."

७. चन्द्रः—"जनपदनाम्नः क्षत्रियादणः।"

८. चा० श०—"प्राच्यादिभ्योऽतौल्वलिभ्यः ॥" (२ । ४ । १२२)

प्रातिपदिक हैं, उन से युवा में विहित प्रत्यय का लुक् हो जावे। पन्नागारिः पिता पुत्रो वा। यहां पन्नागार शब्द से गोत्र में इञ् और इञ्-प्रत्ययान्त से युवा में फक्-प्रत्यय का लुक् होता है॥

'प्राच्यों' ग्रहण इसलिये है कि 'दाक्षिः पिता। दाक्षायणः पुत्रः' यहां युवा में फक् का लुक् न हो॥ ६०॥

न तौल्वलिभ्यः[1] ॥ ६१ ॥

पूर्वसूत्रेण प्राप्तो लुक् प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] तौल्वलिभ्यः । ५ । ३ । बहुवचननिर्देशात् तौल्वल्यादिभ्य इति विज्ञायते । तौल्वल्यादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् न भवति । तौल्वलिः पिता । तौल्वलायनः पुत्रः । सर्वे तौल्वल्यादय इञन्ताः, तेभ्यः फको लुक् प्राप्तः, स न भवति ॥

अथ तौल्वल्यादिगणः—[१] तौल्वलि[2] [२] धारणि [३] पारणि[3] [४] रावणि [५] दैलीपि[4] [६] दैवलि [७] दैवति[5] [८] दैवमति[6] [९] वार्कलि [१०] नैवाकि [११] दैवमिति [१२] दैवयज्ञि [१३] चाफट्टकि[7] [१४] बैल्वकि[8] [१५] बैङ्कि[9] [१६] आनुहारति [१७] पौष्करसादि [१८] प्रावाहणि[10] [१९] मान्धातकि [२०] श्वाफल्कि[11] [२१] आनुमति [२२] आनुरोहति [२३] आनुति [२४]

---

१. चा० सू०—"प्राच्यादिभ्योऽतौल्वलिभ्यः ॥" (२ । ४ । १२३)

२. तुल उपमाने । औणादिको वलच् । तुल्वलो नामर्षिः ॥

गणरत्ने—"तैल्वलिरित्यन्यः ॥" (३ । १७१)

चान्द्रवृत्तौ "तौल्वलि, धारणि, रावणि, रातधनि, दैवरति, दैवनि, दैवमति, दैवयज्ञि, प्रादोहनि, आनुराहति, आसुरि, आहिंसि, आमिबन्धकि, चैङ्कि, पौषि, पौष्करसादि, वैरकि, वैहरि, वैलकि, कारेणुपालि" इत्येते २० शब्दा इति क्रमश्च ॥

३. जयादित्यः—"रावणि । पारणि ।"

४. गणरत्ने—"दिलीपस्यापत्यं दालीपिः । अपरे 'दलीप' इति प्रकृत्यन्तरमाहुः । चन्द्रादयस्तु 'दैलीपिः' इत्याहुः ।" (३ । १७२)

शब्दकौस्तुभे—दैवलिपि ॥

५. जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितौ न पठतः ॥

बोटलिङ्कस्य—"दैवति (दैवलि K.), वार्कलि, नैवकि (नैवति), दैवमति (दैवमिति)"

गणरत्ने—"दैवोलिरिति शाकटायनः ।"(३।१७१)

६. शब्दकौस्तुभे ४, ९, ८–१०, ११–३० इत्येते शब्दा न सन्ति, काशिकायां च ६–११, १३–१७, २१–३० इत्येते ॥

७. शब्दकौस्तुभे "चापट्टिक" इति, अतः पूर्वं च—प्रावेहति ॥

गणरत्ने—"चफट्टक-शब्दोऽनुकरणम् । तदुच्चारणात् पुरुषोऽपि चफट्टकः ।" (३ । १७१)

८. भट्टोजिः १४–१६ इत्येतेषां शब्दानां स्थाने "आनराहति" इत्येकं शब्दं पठति ॥

९. बोटलिङ्क—"वैङ्कि (वैकि, बैकि K.), आनुसहति (आनुहारति K.)"

१०. बोटलिङ्कः १८–२१ शब्दान् न पठति ॥

११. काशिकायामतः पूर्वं—आनुहारति ॥

प्रादोहनि [२५] नैमिश्रि[1] [२६] प्राडाहति[1] [२७] शान्धकि [२८] वैशीति [२९] आशि[2] [३०] नाशि[2] [३१] आहिंसि [३२] आसुरि [३३] आयुधि[3] [३४] नैमिषि[4] [३५] आसिबन्धकि[5] [३६] पौष्कि[6] [३७] कारेणुपालि [३८] वैकर्णि[7] [३९] वैरकि [४०] वैलकि [४१] वैहति[8] [४२] कामलि[10] [४३] रान्धकि [४४] आसुराहति [४५] प्राणाहति [४६] पौष्कि [४७] कान्दकि [४८] दौषगति[11] [४९] आन्तराहवि ॥ इति तौल्वल्यादिगणः ॥ ६१ ॥

पूर्व सूत्र से जो लुक् प्राप्त है, उस का निषेध करने वाला यह सूत्र है। ['तौल्वलि भ्यः'] तौल्वलि आदि गणशब्दों से परे युवापत्य में जो प्रत्यय, उस का लुक् ['न'] न हो। तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। यहां युवापत्य में फक्-प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ॥

तौल्वलि आदि सब शब्द पूर्व लिख दिये। वे सब इञ्-प्रत्ययान्त हैं। उन से फक्-प्रत्यय का लुक् पाता है। उस का निषेध है ॥ ६१ ॥

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्[12] ॥ ६२ ॥

तद्राजस्य। ६। १। बहुषु। ७। ३। तेन। ३। १। एव। [अ०।] अस्त्रियाम्। ७। १। तेनैव कृते = तद्राज-सञ्ज्ञकेन प्रत्ययेनैव कृते बहुवचने तद्राज-सञ्ज्ञकप्रत्ययस्य स्त्रीलिङ्गं विहाय लुग् भवति। अङ्गानां राजानः =

---

१. गणरत्ने—"निश्चयेन मिश्रः = निमिश्रः। तस्यापत्यम्। पुरुषत्वाद्धन्ति च प्राडाहतः। तस्यापत्यम्। 'प्राटाहतिः' इत्यपि वामनः॥" (१।१७१)

२. बोटलिङ्कोऽत्र "आसिनासि" इत्येकं शब्दं पठति॥ गणरत्ने—"असिरिव नासाऽस्येति = असिनासः। तस्यापत्यम्।" (१ । १७२)

३. बोटलिङ्कीये गणपाठे नास्ति ॥ [(१ । १७१)

४. गणरत्ने—" 'नैमिशिः' इति शाकटायनः॥"

५. गणरत्ने (१ । १७२)—"असिना युक्तो बन्धः = असिबन्धः। आसिबन्ध एव असिबन्धकः। तस्यापत्यम्।"

अतः परं जयादित्यः—"वैकि। पौष्करसादि। वैरकि। वैलकि। वैहति। वैकर्णि। कारेणुपालि। कामलि।"

अतः पर शब्दकौस्तुभे—"वैकि। पौष्कि। पौष्करसादि। आनुहरति। पौष्कि। वैरकि वैहति। वैकर्णि। कामलि। कारेणुपाली" इति। गणश्च समाप्तः॥

६. बोटलिङ्कः—"पौष्कि (पौष्कि K.)"

७. गणरत्ने—"विभूषितौ कर्णौ यस्य, विकर्णः। तस्यापत्यम्।" (१ । १७१)

८. गणरत्ने—" 'वैद्यकिः' इति शाकटायनः।" (१ । १७१) बोटलिङ्कपाठे नास्ति॥

९. अतः पर बोटलिङ्कः—"K. aussordem: प्रावाहणि ..."

१०. केषुचित् काशिकाकोशेष्वत्र गणः समाप्तः॥

११. काशिकायाम्—दौषवागति॥

१२. चा० श०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम्॥" (२ । ४ । २०७)

अङ्गाः। वङ्गानां राजानः=वङ्गाः। मगधाः। कलिङ्गाः। अत्र 'द्व्यञ्मगध-कलिङ्गसूरमसादण्॥' इति तत्कृतबहुवचने तद्राज-सञ्ज्ञकस्याणो लुक्॥

'तद्राजस्य' इति किम्। औपगवाः। कापटवाः॥

'बहुषु' इति किम्। आङ्गः। वाङ्गः। मागधः॥

'तेनैव' इति किम्। प्रियो वाङ्गो येषां, त इमे प्रियवाङ्गाः। अत्र बहुव्रीह्या-वन्यपदार्थकृतं बहुवचनम्॥

'अस्त्रियाम्' इति किम्। आङ्ग्यः स्त्रियः। मागध्यः स्त्रियः। अत्र लुक् न भवेत्॥ ६२॥

['तेनैव'] तद्राज-सञ्ज्ञक से किये हुए ['बहुषु'] बहुवचन में वर्त्तमान ['तद्राजस्य'] तद्राज-सञ्ज्ञक जो प्रत्यय, उस का लुक् हो, ['अस्त्रियाम्'] स्त्रीलिङ्ग को छोड़के। अङ्गानां राजानः=अङ्गाः। वङ्गाः। मगधाः। यहां तद्राज-सञ्ज्ञक अण्-प्रत्यय होता है। उस का बहुवचन में लुक् हो गया॥

तद्राज-ग्रहण इसलिये है कि 'औपगवाः' यहां लुक् न हो॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गः। वाङ्गः' यहां एकवचन में [लुक्] न हो॥

'तेनैव' ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियवाङ्गाः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ का बहुवचन है, इससे लुक् न हुआ॥

और 'अस्त्रियां' ग्रहण इसलिये है कि 'मागध्यः स्त्रियः' यहां बहुवचन में तद्राज प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ॥ ६२॥

यस्कादिभ्यो गोत्रे[1]॥ ६३॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति सर्वमनुवर्त्तते। यस्कादिभ्यः। ५। ३। गोत्रे। ७। १। गणपठितेभ्यो यस्कादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः परो गोत्रे वर्त्तमानो यः प्रत्ययः, तस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति स्त्रीलिङ्गं विहाय। यस्काः। दुह्याः। अत्र शिवादित्वादण्। तस्य बहुवचने लुक्॥

'बहुषु' इति किम्। यास्कः॥

'तेनैव' इति किम्। प्रिययास्काः॥

'अस्त्रियाम्' इति किम्। यास्क्यः स्त्रियः। अत्राण्-प्रत्ययस्य लुक् न भवेत्॥

अथ यस्कादिगणः—[१] यस्क[3] [२] शिव[4] [३] लभ्य[4] [४] दुह्य[5] [५]

---

१. ४।१।१७०॥

२. चा० श०—"यस्कादिभ्यः॥"(२।४।११०)

३. गणरत्ने (१।२५)—"यस्कति=निगृह्णाति यामिति॥"

४. अन्यत्र कचिन्न लभ्यते॥

५. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीका-शब्दकौस्तुभादिषु —[लभ्य। दुह्य॥

[३०] विषपुट[1] [३१] उपरिमेखल[2] [३२] क्रोष्टुमान[3] [३३] क्रोष्टुपाद [३४] क्रोष्टुमाय[4] [३५] शीर्षमाय[5] [३६] खरप[6] [३७] पदक [३८] वर्षुक[7] [३९] वर्मक[8] [४०] भ[ल]न्दन[9] [४१] भडिल[10] [४२] भण्डिल[11] [४३] भडित [४४] भण्डित ॥[12] इति यस्कादिगणः ॥ ६३ ॥

['यस्कादिभ्यः'] गण में पढ़े हुए यस्कादि शब्दों से पर ['गोत्रे'] गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृत बहुवचन में लोप हो जावे, स्त्रीलिङ्ग को छोड़के। यस्काः। लभ्याः। यहां यस्क- और लभ्य-शब्द के शिवादिगण में होने से अण्-प्रत्यय हुआ। उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'यास्कः' यहां न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रिययास्काः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थ से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'यास्क्यः स्त्रियः' यहां भी बहुवचन में प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यस्कादिगण पूर्व सत्कृत में सब क्रम से लिख दिया है ॥ ६३ ॥

यञञोश्च[13] ॥ ६४ ॥

१. प्र०कौ०टीकायाम्—विषपुट ॥
शब्दकौस्तुभे—विषपुट ॥
गणरत्ने—"विषं पुटौ [पुटयोः=] ओष्ठयोर्यस्य, स विषपुटः=दुर्भाषी।" (१।२५) [(१।२५)

२. गणरत्ने—"उपरि=ग्रीवायां मेखला यस्य।"

३. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥
गणरत्ने—"क्रोष्टमात्रमिव मानं यस्य स क्रोष्टमान इति केचित्।" (१ । २७)

४. चान्द्रवृत्ति-काशिकयोर्नास्ति ॥
प्र०कौ०टीकायां "क्रोष्टुमान" इत्यतः पूर्वम् ॥

५. गणरत्ने—"शीर्षं मिनाति शीर्षमायः।" (१।२५)
२२—३५ शब्देभ्य इञ् ॥

६. चान्द्रवृत्तौ "मित्रयु" इत्येतदुत्तरं पठ्यते ॥
प्र०कौ०टीकायाम्—खलयन ॥
शब्दकौस्तुभे—खरपाद ॥
नडादित्वात् फक् ॥
गणरत्ने—"खरान् पातीति।" (१ । २५)

७. चान्द्रवृत्तौ—वर्षक ॥
काशिकायां नास्ति ॥ ["कमक" इति ॥
शब्दकौस्तुभे "वर्षुक, वर्मक" इत्येतयोः स्थाने

८. चान्द्रवृत्ति-प्र०कौ०टीकयोर्नास्ति ॥
बोटलिङ्कस्त्वेतं "वर्षुक" इत्येतस्य पाठान्तरं मन्यते ॥
वर्धमानः—वर्मक ॥ (१ । २१)
१७—३६ शब्देभ्य इञ् ॥

९. चान्द्रवृत्तौ नास्ति ॥
गणरत्ने—" 'कलन्दन' इति भोजः।" (१।२५)
शिवादित्वादण् ॥

१०. प्र०कौ०टीकायां नास्ति ॥ [भण्डिक ॥"

११. प्र०कौ० टीकायाम्—"भण्डिल। भण्डित।
शब्दकौस्तुभे—"भडिक। भडित। भण्डित ॥"
४१—४४ शब्देभ्योऽश्वादित्वात् फञ् ॥

१२. गणरत्ने "वशिष्ठ, कुत्स, अत्रि, अङ्गिरस्, भृगु, वशीक, मिन्वक, पटाक, गोतम, कुश, कषक, खगल" इत्यादिशब्दा अधिकाः ॥ (१।२५—२७)

१३. चा० सू०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम् ॥"
(२ । ४ । १०७)

['यस्कादिभ्यः'] गण में पढ़े हुए यस्कादि शब्दों से पर ['गोत्रे'] गोत्र में जो प्रत्यय, उस का तत्कृत बहुवचन में लोप हो जावे, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के। यस्काः। लभ्याः। यहां यस्क- और लभ्य-शब्द के शिवादिगण में होने से अण्-प्रत्यय हुआ। उस का बहुवचन में लुक् हो गया॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'यास्कः' यहां न हो॥

तत्कृत ग्रहण इसलिये है कि 'प्रिययास्काः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ से बहुवचन में लुक् न हो॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'यास्क्यः स्त्रियः' यहां भी बहुवचन में प्रत्यय का लुक् न हो॥

यस्कादिगण पूर्व संस्कृत में सब क्रम से लिख दिया है॥ ६३॥

यञञोश्च[1] ॥ ६४ ॥

'बहुषु तेनैवास्त्रियां, गोत्रे' इति चानुवर्त्तते। यञ्-अञोः।६।२। च।[अ०।] यञ्-प्रत्ययस्य अञ्-प्रत्ययस्य च गोत्रे विहितस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति स्त्रीलिङ्गं त्यक्त्वा। 'गर्गादिभ्यो यञ्'[2]॥ गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गार्ग्यौ। बहुवचने—गर्गाः। 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्'[3]॥ बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः। बैदौ। बहुवचने—बिदाः। अत्र बहुवचने प्रत्ययार्थस्तु भवति प्रत्ययस्यैव लुक्॥

'बहुषु' इति किम्। गार्ग्यः। बैदः॥

'तेनैव' इति किम्। प्रियगार्ग्याः॥

'अस्त्रियाम्' इति किम्। गार्ग्यः स्त्रियः। बैद्यः स्त्रियः। अत्र लुक् न भवेत्॥

वा०—*यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसंख्यानम्*॥[4] १॥

एकवचनेन द्विवचनेन च षष्ठीतत्पुरुषसमासे विकल्पेन यञादीनां लुग् भवतीति वार्त्तिकार्थः॥

गार्ग्यस्य कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा। गार्ग्ययोः कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा। बैदस्य कुलं=बैदकुलं बिदकुलं वा। बैदयोः कुलं=बैदकुलं बिदकुलं वा॥

'यञादीनाम्' इति किमर्थम्। आङ्गस्य कुलं=आङ्गकुलम्। आङ्गयोः कुलं=आङ्गकुलम्[5]॥

'एकद्वयोः' इति किमर्थम्। गर्गाणां कुलं=गर्गकुलम्॥

'तत्पुरुषे' इति किमर्थम्। गार्ग्यस्य समीपं=उपगार्ग्यम्[6]॥

१. व्या० शा०—"यञञोर्बहुष्वस्त्रियाम्॥" (२।४।१०७)
२. ४।१।१०५॥
३. ४।१।१०४॥
४. अ० २। पा० ४। आ० २॥
५. २।४।६२॥
६. २।१।६॥

अत्राव्ययीभावसमासे लुङ् न भवति ॥

'षष्ठ्याः' इति किमर्थम् । शोभनगार्ग्यः ॥[1]

अत्र कर्मधारयसमासेऽपि यञ्प्रत्ययस्य लुङ् न भवेत् ॥ १ ॥ ६४ ॥

गोत्र में विहित ['यञ्-अञोः'] यञ् और अञ् प्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में लुक् हो स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के । गर्गाः । यहां बहुवचन में यञ् प्रत्यय का लुक् हुआ । और 'विदाः' यहां अञ् प्रत्यय का लुक् हुआ है । परन्तु प्रत्यय का अर्थ जो अपत्य है, वह तो बना ही रहता है ॥

बहुवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यः । वैदः' यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियगार्ग्याः' यहां बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ कृत बहुवचन में न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'गार्ग्यः स्त्रियः' यहां भी लुक् न हो ॥

'यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम् ॥' एकवचन द्विवचन के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होने में गोत्र में विहित यञ् आदि प्रत्ययों का विकल्प करके लुक् हो । गार्ग्यस्य कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा । यहां एकवचनान्त गार्ग्य शब्द का कुल शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होके यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् । वैदस्य कुलं=वैदकुलं विदकुलं वा । और यहां एकवचनान्त वैद-शब्द का उक्त प्रकार समास होके अञ् प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है । तथा 'गार्ग्ययोः कुलं=गार्ग्यकुलं गर्गकुलं वा' यहां द्विवचनान्त गार्ग्य-शब्द का कुल के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास में यञ्-प्रत्यय का विकल्प करके लुक् हुआ है ॥

इस वार्त्तिक में यञादि ग्रहण इसलिये है कि 'आङ्गस्य कुलं=आङ्गकुलम्' यहां तद्राज-सञ्ज्ञक का षष्ठी तत्पुरुष समास में लुक् न हो ॥

एकवचन द्विवचन-ग्रहण इसलिये है कि 'गर्गाणां कुलं=गर्गकुलम्' यहां विकल्प करके लुक् न हो ॥

तत्पुरुष-ग्रहण इसलिये है कि 'गार्ग्यस्य समीपं=उपगार्ग्यम्' यहां अव्ययीभाव समास में न हो ॥

और षष्ठी ग्रहण इसलिये है कि 'शोभनगार्ग्यः' यहां समानाधिकरण तत्पुरुष में भी यञ्-प्रत्यय का लुक् न हो ॥

यह वार्त्तिक अपूर्व अर्थात् सूत्र से जो कार्य नहीं पाता था, उस का विधान करने वाला है ॥ ६४ ॥

अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च ॥[2] ६५ ॥

'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति 'गोत्र' इति चानुवर्त्तते । अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः । ५ । ३ । च । [अ० ।] 'अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्' इत्येतेभ्यः

१. अ० २ । पा० ४ । आ० २ ॥

२. चा० श०—"अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठाङ्गिरोगोतमात् ॥" (२ । ४ । १११)

शब्देभ्यो गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा । अत्रि-शब्दाद् 'इतश्चानिञः[1] ॥' इति सूत्रेण गोत्रे ढक् । भृग्वादिभ्य ऋषिवाचित्वाद् 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च[2] ॥' इति सूत्रेणाण् । अत्रेरपत्यम्=आत्रेयः । आत्रेयौ । बहुवचने—अत्रयः । भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः । कौत्सः, कौत्सौ, कुत्साः । वासिष्ठः, वासिष्ठौ, वसिष्ठाः । गौतमः, गौतमौ, गोतमाः । आङ्गिरसः, आङ्गिरसौ, अङ्गिरसः । अत्रि-शब्दाद् गोत्रे विहितस्य बहुवचने ढको लुक् । इतरेभ्यश्चाणः ॥

'बहुषु' इति किम् । आत्रेयः । भार्गवः ॥

'तेनैव' इति किम् । प्रियभार्गवाः ॥

'अस्त्रियाम्' इति किम् । भार्गव्यः स्त्रियः । अत्र सर्वत्र लुङ् न भवति ॥ ६५ ॥

['अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः'] अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्, इन शब्दों से पर गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में लुक् हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के । अत्रयः । अत्रि-शब्द से गोत्र [में] ढक्-प्रत्यय होता है । उस का यहां बहुवचन में लुक् हो गया । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः । यहां भृगु आदि शब्दों से ऋषिवाची के होने से अण्-प्रत्यय हुआ । उस का बहुवचन में लुक् हो गया ॥

बहुवचन ग्रहण इसलिये है कि 'आत्रेयः । भार्गवः' यहां एकवचन में न हो ॥

तत्कृत ग्रहण इसलिये है कि 'प्रियभार्गवाः' यहां बहुव्रीहि समास से बहुवचन में लुक् न हो ॥

और स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये है कि 'भार्गव्यः स्त्रियः' यहां बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग के होने से अण्-प्रत्यय का लुक् नहीं होता है ॥ ६५ ॥

बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु[3] ॥ ६६ ॥

'गोत्रे' इत्यनुवर्त्तते । बह्वचः । ५ । १ । इञः । ६ । १ । प्राच्यभरतेषु । ७ । ३ । प्राच्याश्च भरताश्चेति समुच्चयद्वन्द्वः । बह्वचः प्रातिपदिकाद् गोत्रे विहितस्य इञ्-प्रत्ययस्य प्राच्य-भरतेषु तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं वर्जयित्वा । प्राचि भवाः=प्राच्याः—पन्नागारस्यापत्यं=पान्नागारिः । पान्नागारी । बहुषु—पन्नागाराः । [पन्नागाराः] प्राच्याः । भरताः=भरतकुले जाताः=युधिष्ठिरस्यापत्यं=यौधिष्ठिरिः । यौधिष्ठिरी । बहुवचने—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । युधिष्ठिरार्जुन-शब्दौ बाह्वादिषु पठ्येते । तत इञ् । तस्य लुक् । पन्नागार-शब्दादन्तत्वादिञ्[4], तस्य लुक् ॥

'बह्वचः' इति किम् । पौष्पयः । अत्र बहुवचने लुङ् न भवति ॥

'प्राच्यभरतेषु' इति किम् । औपबाहवयः ॥

---

१. ४ । १ । १२२ ॥ २. ४ । १ । ११४ ॥

३. का० शा०—"बह्वचः प्राच्यादिभ्यः ॥" (२ । ४ । ११३)

४. ४ । १ । ९५ ॥

भरताः प्राच्येष्वेव भवन्ति, पुनर्भरत-ग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र प्राग्-ग्रहणे भरत-ग्रहणं न भवतीति ज्ञापयत्याचार्यः । तेन 'इञः प्राचाम्' ॥[1] इति लुगुक्तः, तत्र औद्दालकिः कश्चिद् भरतगोत्रः, तस्मात् 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' इति यूनि विहितस्य फको लुङ् न भवति ॥ ६६ ॥

['बह्वचः'] बह्वच् प्रातिपदिक से पर गोत्र अर्थ में विहित जो ['इञः'] इञ्-प्रत्यय उस का, ['प्राच्यभरतेषु'] प्राच्य और भरत वाच्य हों, तो तत्कृत बहुवचन में लुक् हो, लौकिक को छोड़ के । प्राच्य—पन्नागाराः प्राच्याः । यहां पन्नागार-शब्द बह्वच् है । उस से इञ् प्रत्यय का लुक् । भरत—युधिष्ठिराः । अर्जुनाः । यहां युधिष्ठिर और अर्जुन-शब्द से इञ् प्रत्यय का लुक् होता है ॥

बह्वच्-ग्रहण इसलिये है कि 'पौष्पयः' यहां लुक् न हो ॥

प्राच्य-भरत-ग्रहण इसलिये है कि 'औपयाहव्ययः' यहां भी बहुवचन में लुक् न हो ॥

भरत जो हैं, वे प्राच्यों में गये जाते हैं, फिर भरत-ग्रहण ज्ञापक के लिये है । उस से यह जाना जाता है कि अन्यत्र प्राग्-ग्रहण में भरत का ग्रहण नहीं होता । जैसे औद्दालकि-शब्द प्राच्यभरत है, उस से 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यहां युवा में विहित फक् प्रत्यय का लुक् 'इञः प्राचाम्' ॥' इस सूत्र से पाता था, सो न हुआ ॥ ६६ ॥

न गोपवनादिभ्यः[2] ॥ ६७ ॥

न । [अ० ।] गोपवनादिभ्यः । ५ । ३ । बिद-गणान्तर्गणो हरित-शब्दात् पूर्वं गोपवनादिः, तत्र गोपवनादीनाम् अञ्-प्रत्ययान्तत्वाद् 'यञञोश्च'[3] ।' इति गोत्रे लुक् प्राप्तः । तस्यायं प्रतिषेधः । गोपवनादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुङ् न भवति । गोपवनस्यापत्यं= गोपवनाः । शैग्रवाः ॥

अथ गोपवनादिः—[१] गोपवन [२] शिग्रु[4] [३] बिन्दु [४] भाजन [५] अश्व[5] [६] अवतान[5] [७] श्यामाक[6] [८] श्यामक[7] [९] श्यवनाक[8] [१०] श्यावर्ण [११] श्यापर्ण[9] ॥ इति[10] गोपवनादिगणः ॥ ६७ ॥

---

१. २ । ४ । ६० ॥

२. चा० सू०—"न गोपवनादिभ्योऽद्भ्यः ॥" (२ । ४ । ११६)

३. २ । ४ । ६४ ॥

४. गणरत्ने—"शिग्रुरिव शिग्रुः निस्सारः कश्चित् । वामनमते शिग्रुः प्रत्याहारः ।" (१ । ३५)

५. वर्धमान-बोटलिङ्कौ—अश्वावतान ॥ गणरत्ने (१ । ३५)—"अश्वानवतनोति ।"

६. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामा लताः कायति=श्यामाकः ।"

७. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामं करोतीति श्यामकः । श्यावक इत्यन्ये ।"
काशिकायां ८, ९, ११ शब्दा न सन्ति ॥

८. बोटलिङ्कः ९, १० शब्दौ न पठति ॥

९. गणरत्ने (१ । ३५)—"श्यामानि पर्णानि अस्य । अत एव निपातनात् म लोपः ।"

१०. गणरत्ने (१ । ३५) सम्पक शब्दोऽपि दृश्यते ॥ अपि च दृश्यन्तां बिदादयः ॥
(४ । १ । १०४)

['तिकादिभ्यः'] तिककितवादि शब्दों से पर गोत्र में विधान जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन के ['द्वन्द्वे'] द्वन्द्व समास में लुक् हो। तिककितवाः। यहां गोत्र में विहित फिञ् प्रत्यय का लुक् हुआ है। इसी प्रकार जिस तिककितवादि शब्द से जो प्रत्यय गोत्र में होता है, उस का बहुवचन के द्वन्द्व समास में लुक् हो जाता है। सो एवं सब लिख दिया है ॥ ६८ ॥

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे[1] ॥ ६९ ॥

उपकादिभ्य ।५।३। अन्यतरस्याम् । [अ० ।] अद्वन्द्वे ।७।१। 'अद्वन्द्वे' इति द्वन्द्वाधिकारार्थम्, न तु द्वन्द्वसमासे निषेध । गणपठितेभ्य उपकादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने विकल्पेन लुग् भवति द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च। तत्र द्वन्द्वाश्रयः शब्दाः तिककितवादिषु पठिताः, तेभ्यो द्वन्द्वसमासे भवत्येव लुक्। अद्वन्द्वे विकल्पः। यद्यनेन द्वन्द्वे निषेधः स्यात्, तर्हि पूर्वेणापि द्वन्द्वसमासे उपकादिभ्यो लुक् न स्यात्। उपकाः, औपकायनाः। लमकाः, लामकायनाः। उपक-लमक-शब्दाभ्यां विकल्पेन फको लुक्। एवमन्येषु यस्माद् यः प्रत्ययो भवति, तस्य विकल्पेनैव लुक् ॥

अथोपकादिगणः—[१] उपक [२] लमक [३] भ्रष्टक [४] कपिष्ठल[3] [५] कृष्णाजिन [६] कृष्णसुन्दर[4] [७] चूडारक[5] [८] आडारक[6] [९] गण्डारक[7] [१०] लगुक [११] उदङ्क[8] [१२] सुधायुक [१३] अबन्धक[9] [१४] पिङ्गलक[10] [१५] पिष्ट[11] [१६] सुपर्यक[12] [१७] सुपिष्ट [१८] मयूरकर्ण [१९] खारीजङ्घ[13] [२०]

---

१. चा० शा०—"उपकादिभ्यो वा ॥" (२ । ४ । ११४)

२. उपकलमकाः। भ्रष्टककपिष्ठलाः। कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ॥

३. गणरत्ने (१ । ३०)—"कपेः स्थलमिव स्थलमस्य।" केचित् 'कपिष्ठलाः। कापिष्ठलायनाः' मध्यादिफकान्तमुदाहरन्ति।"

४. चान्द्रवृत्तौ कृष्णाजिन कृष्णसुन्दर-शब्दौ "दामकण्ठ" इत्यत उत्तरं पठितौ ॥

५. चान्द्रवृत्तौ ७—९ शब्दानां स्थाने "वडारक" इति ॥

काशिकायां चूडारक शब्दः कृष्णपिङ्गल-शब्दादुत्तरं पठ्यते ॥

गणरत्ने (१ । ३९)—" 'वडारक' इति भोजः 'भडारक' इति वामनः ॥"

६. बोटलिङ्कः—आडारक ॥ काशिकायां तु "गण्डारक। आडारक" इति क्रमः ॥

७. बोटलिङ्को नैव पठति ॥

८. चान्द्रवृत्तौ ११—१४, १६, २०, २३, २७, ३०, ३६, इत्येते शब्दा न सन्ति ॥

काशिकायां ११—१३ शब्दाः चूडारक शब्दादुत्तरं पठिताः ॥

९. जयादित्य बोटलिङ्कौ—अबन्धक ॥

१०. काशिकायां १४, १५ शब्दौ न स्तः ॥

गणरत्ने (१ । ३९)—" 'पिङ्गलक' इति शाकटायनः ॥"

११. चान्द्रवृत्तौ "सुपिष्ट। पिष्ट" इति क्रमः ॥

१२. बोटलिङ्कस्त्वेतं "सुधायुक" इत्यस्य पाठान्तरं मन्यते ॥

१३. बोटलिङ्कः—"खरीजङ्घ (खारि० K.)" गणरत्ने (१ । ३८)—"खरी जङ्घा यस्य।"

इस सूत्र में अद्वन्द्व-ग्रहण द्वन्द्वाधिकार की निवृत्ति के लिये है किन्तु द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध नहीं । गण में पढ़े हुए ['उपकादिभ्यः'] उपकादि शब्दों से पर गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का तत्कृतबहुवचन में ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके लुक् हो जावे, ['अद्वन्द्वे' द्वन्द्व और अद्वन्द्व समास में ।] उपकादि द्वन्द्व समास किये हुए तीन शब्द तिककितवादिगण में पढ़े हैं । उन से द्वन्द्व समास में लुक् होता है । जो इस सूत्र से द्वन्द्व समास में लुक् का निषेध हो, तो पूर्व से उपकादिकों के द्वन्द्व समास में भी लुक् न हो । अद्वन्द्व समास में इस सूत्र से विकल्प करके लुक् होता है । उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । यहां गोत्र में फक् प्रत्यय का विकल्प करके लुक् होता है । इसी प्रकार उपकादिकों में जिस शब्द से जो प्रत्यय विधान है, उस से गोत्र में [विकल्प से] उस का लुक् हो जाता है ॥

उपकादि शब्द पूर्व संस्कृत में लिख दिये हैं ॥ ६९ ॥

आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्[1] ॥ ७० ॥

आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः । ६ । २ । अगस्ति-कुण्डिनच् । १ । १ । अगस्त्य-शब्दस्य ऋषिवाचित्वादण्[2] । कुण्डिनी-शब्दस्य गर्गादित्वाद् यञ्-प्रत्ययः[3] । आगस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दयोः गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुक्, प्रकृतिरूपयोरगस्त्य कुण्डिनी-शब्दयोश्च 'अगस्ति, कुण्डिनच्' इत्येतावादेशौ भवतः । अगस्त्यस्यापत्यानि आगस्त्यः, आगस्त्यौ, अगस्तयः । कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ, कुण्डिनाः । बहुवचनाभावादागस्त्य-कौण्डिन्य-शब्दाभ्यां प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये परतो गोत्रप्रत्ययस्य 'गोत्रेऽलुगचि' इति लुक् प्रतिषिध्यते । तत्र प्रकृत्यादेशे कृते प्रत्ययं मत्वा पुनर्वृद्धिः, ततो वृद्धत्वाच्छैषिकश्छः प्रत्ययः सिद्धो भवति — आगस्तीयाश्छात्राः इति ॥

अस्मिन् सूत्रे चकारो ञिनित्स्वरार्थः ॥ ७० ॥

अगस्त्य-शब्द के ऋषिवाची होने से अण् और कुण्डिनी शब्द के गर्गादिकों में होने से यञ्-प्रत्यय होता है । ['आगस्त्य कौण्डिन्ययोः'] आगस्त्य कौण्डिन्य-शब्दों के बीच गोत्र में विहित जो प्रत्यय, उस का लुक् और अगस्त्य कुण्डिनी शब्द को ['अगस्ति-कुण्डिनच्'] अगस्ति-और कुण्डिन-आदेश हों । अगस्तयः । यहां बहुवचन में अण् प्रत्यय का लुक् और अगस्ति-आदेश । तथा 'कुण्डिनाः' यहां कुण्डिन-आदेश और यञ्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । बहुवचनाभाव में आगस्त्य-और कौण्डिन्य शब्द से प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय के परे लुक् का निषेध है । वहां प्रकृति को आदेश होने से गोत्रप्रत्यय के परे वृद्धि होके शैषिक छ-प्रत्ययान्त 'आगस्तीयाः' यह प्रयोग सिद्ध होता है ॥

इस सूत्र में कुण्डिनच्-शब्द में चकार चिदन्तोदात्त स्वर होने के लिये है ॥ ७० ॥

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः[4] ॥ ७१ ॥

सुपः । ६ । १ । धातु-प्रातिपदिकयोः । ६ । २ । धातोः प्रातिपदिकस्य चान्तर्गतस्य सुपः=विभक्तेर्लुग् भवति । धातौ—आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । अत्र पुत्र+अम्+क्यच् इत्यस्य

---

१. व्या० शा०—'कुण्डिनाः ॥' (२ । ४ । १०८)

२. ४ । १ । ८६ ॥ ३. ४ । २ । ११४ ॥

४. व्या० शा०—'ऐकार्थ्ये ॥' (२ । १ । ३६)

समुदायस्य 'सनाद्यन्ता धातवः'[1] ॥' इति धातु-सञ्ज्ञा, तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुक्। प्रातिपदिके—कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः। अत्र 'कष्ट+अम्+श्रित' इत्यस्य समासार्थसमुदायस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[2] ॥' इति प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, तदन्तर्गतस्याम्-विभक्तेरनेन लुग् भवति ॥

'धातुप्रातिपदिकयोः' इति किम्। वृक्षः। प्लक्षः। अत्र लुग् न भवेत् ॥ ७१ ॥

['धातुप्रातिपदिकयोः'] धातु और प्रातिपदिक के अन्तर्गत ['सुपः'] जो विभक्ति है, उस का लुक् हो। धातु—पुत्रीयति। यहां 'पुत्र+अम्+क्यच्' इसने समुदाय की धातु-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत अम्-विभक्ति को लुक्। प्रातिपदिक— कष्टश्रितः। और यहां 'कष्ट+अम्+श्रित' इसने समुदाय की प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होने से उस के अन्तर्गत अम्-विभक्ति का इस सूत्र से लुक् हुआ है ॥

धातु प्रातिपदिक ग्रहण इसलिये है कि 'वृक्षः। प्लक्षः' यहां विभक्ति का लुक् न हो। ७१ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः शपः[3] ॥ ७२ ॥

अदिप्रभृतिभ्यः। ५।३। शपः। ६।१। अदिप्रभृतिभ्यः=अदादिभ्यः परस्य शप्-प्रत्ययस्य लुग् भवति। अत्ति। हन्ति। चष्टे। द्वेष्टि। दोग्धि। इत्यादिषु विकरणलुक् ॥ ७२ ॥

['अदिप्रभृतिभ्यः'] अदादि धातुओं से परे जो ['शपः'] शप्-प्रत्यय, उस का लुक् हो। अत्ति। हन्ति। द्वेष्टि। दोग्धि इत्यादि धातुओं में शप्-विकरण का लुक् होता है ॥ ७२ ॥

बहुलं छन्दसि[4] ॥ ७३ ॥

'अदिप्रभृतिभ्यः' इति नोऽनुवर्तते। बहुलम्। १।१। छन्दसि। ७।१। छन्दसि=वैदिकप्रयोगविषये शप्-प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति। वृत्रं हनति[5]। अहन् वृत्रम्[6]। आशयदिन्द्रशत्रुः[7]। 'शपः श्यनादयः आदेशा भवन्ति' इति वचनात् शपो लुकि तत्स्थानभाविनामादेशानामप्यभावः। तेन श्यनादीनामपि लुगुदाहरणानि सिध्यन्ति ॥ ७३ ॥

['छन्दसि'] वैदिक प्रयोगों में शप्-प्रत्यय का ['बहुलं'] बहुल करके लुक् हो। वृत्रं हनति[5]। यहां लुक् नहीं हुआ। और 'अहन् वृत्र[6]' यहां लुक् हो गया। श्यन् आदि जो विकरण हैं, वे शप् के स्थान में आदेश होते हैं, इसलिये शप् के लुक् होने से उस के स्थान में होने वाले श्यन् आदि विकरण भी नहीं होते। इससे सब विकरणों का लुक् सिद्ध होता है ॥ ७३ ॥

---

१. ३।१।३२ ॥

२. १।२।४६ ॥

३. अ०—सू० २६७ ॥
का० शा०—"अदादिभ्यो लुक् ॥" (३।१।८२)

४. अ०—सू० २६८ ॥

५. ऋ०—८।८९।३ ॥

६. ऋ०—१।३२।५ ॥

७. ऋ०—१।३२।१० ॥

यङोऽचि च[1] ॥ ७४ ॥

चकारेण बहुलमनुवर्त्तते, न तु छन्दसि [इति]। यङः । ६ । १ । अचि । ७ । १ । च । [अ० ।] अच्प्रत्यये परतो बहुलं यङो लुग् भवति । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृशः । मरीमृजः । सनीस्रंसः । दनीध्वंसः । बहुलग्रहणादन्यत्रापि—चर्करीतम् । चर्करीति । चरीकरीति । चरिकरीतीत्यादि ॥ ७४ ॥

['अचि'] अच्-प्रत्यय के पर ['यङः'] यङ् का लुक् बहुल करके हो । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृशः । यहां अच् प्रत्यय के पर यङ् का लुक् हुआ है । बहुल-ग्रहण से 'चर्करीतम्' इत्यादि स्थलों में भी यङ् का लुक् हो जाता है ॥ ७४ ॥

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः[2] ॥ ७५ ॥

मण्डूकप्लुतन्यायेन लुगनुवर्त्तते न यङ् । जुहोत्यादिभ्यः । ५ । ३ । श्लुः । १ । १ । 'हु दानादनयोः[3]' इत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने श्लुर्भवति । जुहोति । बिभर्त्ति । बिभेति ॥

लुकि प्रकृते पुनः श्लु-ग्रहणमेतत् प्रयोजनं द्विर्वचनं यथा स्यात् ॥ ७५ ॥

['जुहोत्यादिभ्यः'] जुहोत्यादि धातुओं से पर जो शप् उस के स्थान में ['श्लुः'] श्लु-आदेश हो । जुहोति । बिभर्त्ति । यहां श्लु के होने से द्विर्वचन होता है । लुक् और श्लु ये अदर्शन की संज्ञा हैं, सो लुक् की अनुवृत्ति चली आती थी फिर श्लु-ग्रहण इसलिये है कि लुक् होने से द्विर्वचन नहीं प्राप्त था ॥ ७५ ॥

बहुलं छन्दसि[4] ॥ ७६ ॥

बहुलं । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ । छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु जुहोत्यादिभ्यः परस्य शपः स्थाने बहुलं श्लुर्भवति, उक्तेभ्यश्च न भवति, अनुक्तेभ्यश्च भवति । दाति प्रियाणि[5] । अत्र डुदाञ् धातोः श्लुर्न भवति । पूर्णां विवष्टि[6] । अत्र 'वश कान्तौ[7]' इत्यस्माद् भवति बहुल-ग्रहणादेव ॥ ७६ ॥

['छन्दसि' वैदिक प्रयोगों में] जुहोत्यादिकों से पर शप्-प्रत्यय के स्थान में श्लु ['बहुलं'] बहुल करके हो । अर्थात् जिन से विधान है, उन से नहीं भी होता और जिन से विधान नहीं उन से भी हो जाता है । दाति प्रियाणि[5] । यहां डुदाञ् धातु से श्लु नहीं हुआ । और 'पूर्णां विवष्टि[6]' यहां वश धातु से विधान नहीं था, फिर भी शप् के स्थान में श्लु हो गया ॥ ७६ ॥

---

१. अ० सू० ५५२ ॥ चा० श०—"यङो बहुलम् ॥" (१ । १ । ८६)

२. चा० श०—"हुनां द्वे च ॥" (१ । १ । ८४)

३. धा०—जुहो० १ ॥ ४. अ०—सू० १७५ ॥

५. ऋ०—४ । ८ । ३ ॥ का०—१२ । १५ ॥

६. ऋ०—७ । १६ । ११ ॥ सा०—१ । ५५ ॥ मै०—२ । १३ । ८ ॥

७. धा०—अदा० ७० ॥

['छन्दसि' वैदिक प्रयोगों में] जुहोत्यादिकों से पर शप्-प्रत्यय के स्थान में श्लु ['बहुलं'] बहुल करके हो । अर्थात् जिन से विधान है, उन से नहीं भी होता और जिन से विधान नहीं, उन से भी हो जाता है । दाति प्रियाणि[1] । यहां डुदाञ् धातु से श्लु नहीं हुआ । और 'पूर्णां विवष्टि'[1] यहां वश धातु से विधान नहीं था, फिर भी शप् के स्थान में श्लु हो गया ॥ ७६ ॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु[2] ॥ ७७ ॥

श्लुर्निवृत्तः । लुगनुवर्त्तते । गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः । ५ । ३ । सिचः । ६ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ । 'गाति' इति लुग्विकरणनिर्देशः । लुक्लकारे च सिच्परो भवति । तत्रेणः स्थाने यो गा-आदेशः, तस्येह ग्रहणम् । 'गाति, स्था, घु, पा, भू' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपद-सञ्ज्ञक-प्रत्ययेषु परेषु लुग् भवति । अगात् । अस्थात् । घु—अदात् । अधात् । अपात् । अभूत् । अत्र सिचो लुकि 'न लुमताऽङ्गस्य[3] ॥' इति प्रत्ययलक्षणाभावादीडपि न भवति ॥

वा॰—*गापोर्ग्रहण इण्पिबत्योर्ग्रहणम्* ॥[4] १ ॥

गाति-ग्रहणे 'इण् गतौ[5]' इत्यस्य ग्रहणं, पा-शब्देन 'पा पाने[6]' इत्यस्य च । तेनेह न भवति—अगासीन्नटः । अत्र 'गै शब्दे[7]' इत्यस्मात् सिचो लुक् न भवति । 'अपासीद्धनम्' इत्यत्र 'पा रक्षणे[8]' इत्यस्मादपि सिचो लुक् न भवति ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम् । अगास्त ग्रामम् । अत्र 'गाङ् गतौ[9]' इत्यस्मान्न स्यात् ॥ ७७ ॥

['गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः'] गाति, स्था, घु, पा, भू, इन धातुओं से पर जो ['सिचः'] सिच्-प्रत्यय, उस का लुक् हो ['परस्मैपदेषु'] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो । गाति—अगात् । यहां इण् धातु को गा-आदेश हुआ है । स्था—अस्थात् । यहां स्था धातु से सिच् का लुक । घु—अदात् । अधात् । यहां घु-सञ्ज्ञक दा और धा धातु से । अपात् । यहां 'पा रक्षणे[8]' धातु से । और 'अभूत्' यहां भू धातु से पर सिच्-प्रत्यय का लुक् हुआ है । उस के होने से ईट् का आगम भी नहीं हुआ ॥

---

१. देखो पृ॰ ३८५ टि॰ ६, ७ ॥
२. अष्टा॰—सू॰ ८१ ॥ [(१।१।६१) न्या॰ रा॰—"दाधागातिस्थाभूभ्योऽस्तात् लुक् ॥"]
३. १ । १ । ६२ ॥
४. अ॰ २ । पा॰ ४ । आ॰ २ ॥
५. धा॰—अदा॰ ३६ ॥
६. धा॰—भ्वा॰ ६०२ ॥
७. धा॰—भ्वा॰ ६६५ ॥
८. धा॰—अदा॰ ४७ ॥
९. धा॰—भ्वा॰ ६६८ ॥

'गापोर्ग्रहण इण्पिबत्योर्ग्रहणम् ॥' गा शब्द से इण् और पा-शब्द से 'पा पाने'[1] धातु का ग्रहण होता है। प्रयोजन यह है कि 'अगासीत्। अपासीत्' यहां गै धातु और 'पा रक्षणे'[1] इन धातुओं से पर सिच्-प्रत्यय का लुक् प्राप्त है, सो न हो ॥ ७७ ॥

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः[2] ॥ ७८ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। धेट्-धातोर्घु-सञ्ज्ञत्वात् पूर्वेण नित्ये लुकि प्राप्ते विभाषा। अन्येभ्योऽप्राप्तविभाषा। विभाषा। [अ० ।] घ्रा-धेट्-शा-छा-सः। ५। १। घ्रादीनां समाहारद्वन्द्वः। 'घ्रा, धेट्, शा, छा, सा' इत्येतेभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य परस्मैपदेषु विकल्पेन लुग् भवति। अघ्रात्, अघ्रासीत्। अधात्, अधासीत्। अशात्, अशासीत्। अच्छात्, अच्छासीत्। असात्, असासीत्। शा-शब्देन 'शो तनूकरणे[3]' इत्यस्य, छा[-शब्देन] 'छो छेदने[4]' इत्यस्य, सा [-शब्देन] च 'षोऽन्तकर्मणि[5]' इत्यस्य ग्रहणं भवति॥

'परस्मैपदेषु' इति किम्। अघ्रासातां पुष्पौ बालेन। अत्र कर्मण्यात्मनेपदे सिचो लुक् न भवति ॥ ७८ ॥

इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। धेट् धातु में पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त है, अन्य धातुओं में किसी से प्राप्त नहीं। उस का विकल्प हुआ है। ['घ्रा-धेट्-शा-छा-सः'] घ्रा, धेट्, शा, छा, सा, इन धातुओं से पर जो सिच्, उस का लुक् हो ['विभाषा' विकल्प करके] परस्मैपद-सञ्ज्ञक प्रत्यय पर हों, तो। अघ्रात्। अघ्रासीत्। यहां घ्रा धातु से। अधात्। अधासीत्। यहां धेट् धातु से। अशात्। अशासीत्। यहां 'शो तनूकरणे[3]' इस धातु से। अच्छात्। अच्छासीत्। यहां 'छो छेदने[4]' इस धातु से। और 'असात्। असासीत्' यहां 'षोऽन्तकर्मणि[5]' इस धातु से पर सिच् का लुक् हुआ है॥

परस्मैपद-ग्रहण इसलिये है कि 'अघ्रासातां पुष्पौ बालेन' यहां कर्म में आत्मनेपद होने से सिच् का लुक् नहीं हुआ ॥ ७८ ॥

तनादिभ्यस्तथासोः[6] ॥ ७९ ॥

'विभाषा' इत्यनुवर्त्तते। तनादिभ्यः। ५। ३। त-थासोः। ७। २। तश्च थाश्च, तयोः। तनादिभ्योऽप्यप्राप्तविभाषैव। तनादिधातुभ्यः परस्य सिच्-प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति त-प्रत्यये थासि च। अतत, अतनिष्ट। अतथाः,

१. देखो पृ० ६८६ टि० ६, ७ ॥
२. धा०—सू० २४६ ॥
 धा० रा०—"घ्राधेशाच्छासो वा ॥" (१।१।६१)
३. धा०—दिवा० २७ ॥
४. धा०—दिवा० २८ ॥
५. धा०—दिवा० २६ ॥
६. धा०—सू० ४४० ॥
 धा० रा०—"तनादिभ्यस्तथासोः ॥" (१।१।६४)

अतनिष्ठाः । अमत, अमंस्त । अमथाः, अमंस्थाः । अत्र सिज्लुक्पक्षेऽपित्सार्वधातुकस्य ङित्त्वात् 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्०[1]॥' इत्यनुनासिकलोपः । अन्यत्र सिचं मत्वा न भवति ॥

अत्र थासः साहचर्यादात्मनेपदस्यैव त-शब्दस्य ग्रहणम् । तेन 'अतनिष्ट यूयम्' अत्र परस्मैपदसञ्ज्ञकत-शब्दे मध्यमपुरुषस्य बहुवचने सिज्लुक् न भवति ॥७९॥

इस सूत्र में भी अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी से नित्य प्राप्त नहीं। ['तनादिभ्यः'] तनादि धातुओं से पर जो सिच्, उस का विकल्प करके लुक् हो ['त-थासोः'] त- और थास्-प्रत्यय के पर । अतत । यहां तनु धातु से त-प्रत्यय के पर सिच् का लुक् । अतनिष्ट । यहां विकल्प के होने से लुक् नहीं हुआ । तथा 'अतथाः' यहां थास् के पर सिच् का लुक् हुआ । और 'अतनिष्ठाः' यहां विकल्प के होने से नहीं हुआ । यहां जिस पक्ष में सिच् का लुक् हो जाता है, वहां अपित् सार्वधातुक के ङित् होने से धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है । और जहां नहीं होता, वहां सिच् के व्यवधान से अनुनासिक का लोप नहीं होता ॥

थास् केवल आत्मनेपद में ही होता और त-शब्द आत्मनेपद [तथा] परस्मै[पद में] भी । सो थास् के साहचर्य से त-शब्द का भी आत्मनेपद का ही ग्रहण होता है ॥ ७९ ॥

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः[2] ॥ ८० ॥

मन्त्रे । ७ । १ । घस-ह्वर-णश-वृ-दह-आत्-वृच्-कृ-गमि-जनिभ्यः । ५ । ३ । लेः । ६ । १ । मन्त्रे = वेदविषये 'घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृच्, कृ, गमि, जनि' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य लेः = च्लि-प्रत्ययस्य लुग् बोध्यः । घस—अक्षन्नमीमदन्त[3] । अत्र घस-धातोर्लुङि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेर्लुक् । 'गमहन०[4]॥' इत्युपधालोपः । 'खरि च[5]॥' इति घकारस्य ककारः । 'शासिवसिघसीनां च[6]॥' इति षत्वम् । तेन 'अक्षन्' इति रूपं जायते । ह्वर—मा ह्वाः[7] । अत्र ह्वृ-धातोर्लुङि प्रथमैकवचने च्लेः लुक् । तिपि गुणः, ततो 'हल्ङ्याब्भ्यः०[8]॥' इति तिप्तकारलोपः । णश — प्रणङ् मर्त्यस्य[9] । अत्र प्रथमैकवचने 'नशेर्वा[10]॥'

---

१. ६ । ४ । ३७ ॥
२. भा०—सू० ४४४ ॥
३. ऋ०—१ । ८२ । २ ॥
शा०—१ । ५२ ॥
सा०—१ । ४१५ ॥
अ०—१८ । ४ । ६१ ॥
४. ६ । ४ । ९८ ॥
५. ८ । ४ । ५५ ॥
६. ८ । ३ । ६० ॥
७. वाजसनेयिसंहितायां (१ । ९, ६) अन्यत्र च (तै० १ । १ । ३ । १ ॥ मै० १ । १ । ५ ॥ का० १ । ३ ॥...)—"मा ह्वाः ।"
८. ६ । १ । ६८ ॥
९. ऋ०—१ । १८ । ३ ॥
१०. ८ । २ । ६३ ॥

इति कुत्वम् । अन्यत् कार्यं पूर्ववत् । वृ—सुरुचो वेन आवः[1] । अत्र 'आवः' इति वृ-धातोः प्रयोगवत् । दह—मा धक्[2] । अत्र 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः[3] ॥' इति दकारस्य धकारः । 'आद्' इत्याकारान्तस्य ग्रहणम्—आप्रा द्यावापृथिवी[4] । अत्र प्रा-धातोर्लुङि मध्यमपुरुषस्यैकवचने च्लेर्लुक् । वृज्—परा वर्क्[5] । अत्रापि पूर्ववत् प्रथमैकवचने प्रयोगः । कृ—अक्रन् कर्म[6] । अत्र प्रथमपुरुषस्य बहुवचने च्लेर्लुक् । गमि—अग्मन्[7] । जनि—अज्ञत[8] । अत्रोभयत्र 'गमहन०[9] ॥' इत्युपधालोपः ॥ ८० ॥

['मन्त्रे'] वैदिक विषय में ['घस-ह्वर-णश-वृ-दह-आत्-वृज-कृ-गमि-जनिभ्यः'] घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृज्, कृ, गमि, जनि, इन धातुओं से परे जो ['लेः'] च्लि-प्रत्यय, उस का लुक् हो जावे । घस—अक्षन्नमीमदन्त[10] । यहां घस धातु से लुङ् लकार में प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का लुक्, घस की उपधा का लोप, घकार को ककार और सकार [को] षकार आदेश होने से 'अक्षन्' यह प्रयोग बनता है । ह्वर—मा ह्वः[1] । यहां ह्वृ धातु से च्लि का लुक् और ह्वृ धातु को गुण होके तिप् के तकार का लोप हुआ है । णश्—प्रणक् मर्त्यस्य[2] । यहां णश् धातु से च्लि का लुक् होके 'प्रणक्' प्रयोग बनता है । वृ—सुरुचो वेन आवः[1] । यहां वृ धातु के तुल्य 'आवः' प्रयोग सिद्ध होता है । दह—मा धक्[2] । यहां दह धातु के दकार को धकार हुआ है । आत् = आकारान्त धातु—आप्राः[4] । यहां 'प्रा पूरणे[11]' इस धातु से च्लि का लुक् हुआ है । वृज्—परा वर्क्[5] । यहां भी प्रथम पुरुष के एकवचन में च्लि का लुक् । कृ—अक्रन् कर्म[6] । यहां प्रथम पुरुष के बहुवचन में च्लि का लुक् । गमि—अग्मन् । जनि—अज्ञत[8] । यहां दोनों में उपधा का लोप हुआ है ॥ ८० ॥

आमः[12] ॥ ८१ ॥

'लेः' इत्यनुवर्त्तते । आमः । ५ । १ । आमः परस्य लेर्लुग् भवति । एधाञ्चक्रे । ईहाञ्चकार । अत्र लिटि परत आम्-प्रत्ययो भवति, आमन्ताच्च लेर्लुक् ॥ ८१ ॥

१. य०—१३ । ३ ॥
ऋ०—४ । १ । १ ॥
६ । ६ । १ ॥...
२. ऋ०—६ । ६१ । १४ ॥
३. ८ । २ । ३७ ॥
४. ऋ०—१ । ११५ । १ ॥
य०—७ । ४२ ॥
अ०—१३ । २ । ३५ ॥...
५. ऋ०—८ । ७५ । १२ ॥
६. य०—२ । ४० ॥
मै०—१ । ८ । ३ । २ ॥
मै०—१ । १० । २ ॥
का०—१ । ४ ॥
७. ऋ०—१ । १२१ । ७ ॥...
८. ऐ० ब्रा०—७ । १४ । ३ ॥
जयादित्यः—"अज्ञत वा अस्य दन्ताः ।" ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम् । मन्त्र-ग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम् ॥"
९. ६ । ४ । ९८ ॥
१०. देखो पृ० ३८८ टि० ६, ७, ८ ॥
११. धा०—अदा० ५२ ॥
१२. शा०—सू० १०२ ॥

['आमः'] आम्-प्रत्यय से पर जो लिट्, उस का लुक् हो । एधाञ्चक्रे । इन्दाञ्चकार । यहां लिट् के पर जो आम्-प्रत्यय होता है, उस से पर लिट् का लुक् हो गया ॥ ८१ ॥

अव्ययादाप्सुपः[1] ॥ ८२ ॥

अव्ययात् । ५ । १ । आप्-सुपः । ६ । १ । आप् च सुप् च, अनयोः समाहारः, तस्याप्सुपः । आप्-शब्देन टाबादिस्त्रीप्रत्ययानां ग्रहणम् । अव्ययात् परेषां टाबादिस्त्रीप्रत्ययानां सुपां च लुग् भवति । तत्र शालायाम् । तत्र नगर्याम् । अत्रापो लुक् । सुपः—श्लोच्छितवे । भोक्तुम् । भुक्त्वा । कृत्वा । अत्र सुपां लुक् । एवं स्वरादिसर्वाव्ययेषु ॥ ८२ ॥

['अव्ययात्'] अव्यय से पर जो ['आप्-सुपः'] आप् और सुप्, उन का लुक् हो । आप्-शब्द से टाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है । तत्र शालायाम् । यहां आप् का लुक् । श्लोच्छितवे । भुक्त्वा । और यहां सुपों का लुक् हुआ है । इसी प्रकार सब स्वरादि अव्ययों में होता है ॥ ८२ ॥

नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः[2] ॥ ८३ ॥

अव्ययीभावसमासस्याप्यव्यय-सञ्ज्ञा कृता, तस्मात् पूर्वसूत्रेण लुक् प्राप्तः, अनेन प्रतिषिध्यते । न । [अ० ।] अव्ययीभावात् । ५ । १ । अतः । ५ । १ । अम् । १ । १ । तु । [अ० ।] अपञ्चम्याः । ५ । १ । अतः = अदन्तात् अव्ययीभावात् परस्य सुपो लुक् न भवति, किन्त्वपञ्चम्याः = पञ्चमीं विहायादन्ताव्ययीभावात् परस्या विभक्तेर् 'अम्' इत्यादेशो भवति । कुम्भस्य समीपं = उपकुम्भम् । इदं तु सर्वासां स्थाने । पञ्चम्यां तु— उपकुम्भात् । एवं नद्याः समीपं = उपनदम् । उपनदात् । अपादाने या पञ्चमी, तस्या अत्र ग्रहणम् । या च कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी—'आपाटलिपुत्रम्, आ पाटलिपुत्रात्' अत्र यस्मिन् पक्षे समासस्तत्रानेनाम्भावः, यदा वाक्यं, तदा कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञाश्रया पञ्चमी ॥

'अतः' इति किम् । उपगु ॥

'अपञ्चम्याः' इति किम् । उपकुम्भादागतः । अत्रोभयत्राम् न भवेत् ॥ ८३ ॥

अव्ययीभाव समास की भी अव्यय-सञ्ज्ञा कर चुके हैं, इसलिये पूर्व सूत्र से विभक्ति का लुक् प्राप्त था । उस का निषेध इस सूत्र से किया है । ['अतः'] अकारान्त ['अव्ययी-

---

१. चा० श०—"सुपोऽसङ्ख्याल्लुक् ॥" (२।१।६८) २. चा० श०—"नातोऽमपञ्चम्याः ॥" (२।१।७१)

भावात्'] अव्ययीभाव से पर जो विभक्ति, उस का लुक् ['न'] न हो, ['तु'] किन्तु ['अपञ्चम्याः'] पञ्चमी विभक्ति को छोड़के सब के स्थान में ['अम्'] अम्-आदेश हो जावे। उपकुम्भम्। सब विभक्तियों में यह प्रयोग ऐसा ही रहता है। पञ्चमी में—उपकुम्भात्। यहां लुक् और अम् दोनों नहीं होते। परन्तु इस सूत्र में अपादान कारक में जो पञ्चमी होती है, उस का ग्रहण है। और जो 'आपाटलिपुत्रम्। आ पाटलिपुत्रात्' यहां कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी है, उस का जिस पक्ष में समास होता है, वहां पंचमी के स्थान में अम् हो जाता है॥

अकारान्त-ग्रहण इसलिये है कि 'अधिनु' यहां अम् न हो॥

और 'अपञ्चम्याः' ग्रहण इसलिये है कि 'उपकुम्भात्' यहां पंचमी विभक्ति में भी अम् न हो॥ ८३॥

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्[1] ॥ ८४ ॥

बहुल-शब्दो विकल्पपर्यायः। प्राप्तविभाषा चेयम्। पूर्वेण नित्येऽम्भावे प्राप्ते विकल्पः क्रियते। तृतीया-सप्तम्योः। ६। २। बहुलम्। १। १। अकारान्ताऽव्ययीभावात् परयोस्तृतीयासप्तम्योर्विभक्त्योः स्थाने बहुलं = विकल्पेनाम्भावो भवति। उपकुम्भेन, उपकुम्भम्। उपकुम्भे, उपकुम्भम्। एवं—उपनदेन, उपनदम्। उपनदे, उपनदमित्यादिषु॥

वा॰—*सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससङ्ख्यावयवेभ्यो नित्यम्॥*[2]॥

ऋद्ध्यर्थविहितान्नदीसमासान् सङ्ख्यावयवसमासाच्च परस्याः सप्तम्या विभक्तेः स्थाने नित्यमम्भावो भवति। सूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यमुच्यते। ऋद्धि—सुमद्रम्। सुमगधम्। अत्र 'अव्ययं विभक्ति॰[3]॥' इति समृद्ध्यर्थे समासः। नदीसमास—उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। अत्र 'अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्[4]॥' इत्यव्ययीभावः। [सङ्ख्यावयव—]। एकविंशतिभारद्वाजम्। त्रिपञ्चाशद्गौतमम्। अत्र 'सङ्ख्या वंश्येन[5]॥' इत्यव्ययीभावः समासो भवति॥ ८४॥

इस सूत्र में बहुल-शब्द विकल्पवाची है। पूर्व सूत्र से नित्य अम्-आदेश पाता था, उस का विकल्प होने से प्राप्तविभाषा है। अकारान्त अव्ययीभाव से पर जो ['तृतीया-सप्तम्योः'] तृतीया और सप्तमी विभक्ति, उन के स्थान में ['बहुलम्'] विकल्प करके अम्-आदेश हो। उपकुम्भेन। यहां तृतीया के स्थान में अम् नहीं हुआ। उपकुम्भम्। यहां हो गया। और 'उपकुम्भे' यहां सप्तमी के स्थान में नहीं हुआ। उपकुम्भम्। और यहां अम्भाव हो गया॥

---

१. चा॰श॰—"तृतीयासप्तम्योर्वा॥" (२।१।४२)
२. अ॰ २। पा॰ ४। आ॰ २॥
३. २।१।६॥
४. २।१।२०॥
५. २।१।१८॥

'सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससङ्ख्यावयवेभ्यो नित्यम् ॥' ऋद्धि अर्थ में जो अव्ययीभाव, नदीवाची का जो अव्ययीभाव और संख्या का अवयववाची जो अव्ययीभाव समास, उस से पर जो सप्तमी, उस के स्थान में नित्य अम्-आदेश हो जावे। ऋद्ध्यर्थ—सुमद्रम्। सुमगधम्। यहां 'अव्ययं विभक्ति०' ॥' इस सूत्र से समृद्धि अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ। नदीसमास—उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। यहां सञ्ज्ञावाची अन्य पदार्थ में अव्ययीभाव। और संख्यावयव—एकविंशतिभारद्वाजम्। यहां संख्यावाची का वंश्य अर्थात् वंश के अवयव के साथ समास हुआ है। सूत्र से विकल्प करके अम्भाव प्राप्त था, उस का वार्त्तिक से नित्य विधान किया है ॥ ८४ ॥

लुटः प्रथमस्य डारौरसः ॥ ८५ ॥

लुटः । ६ । १ । प्रथमस्य । ६ । १ । डा-रौ-रसः । १ । ३ । प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम् । डारौरसश्च डारौरसश्च ते । लुट्लकारस्य प्रथमपुरुषस्य स्थाने 'डा, रौ, रस्' इति त्रय आदेशा यथासङ्ख्येन भवन्ति, परस्मैपद आत्मनेपदे च । कर्त्ता । कर्त्तारौ । कर्त्तारः । आत्मनेपदे—अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः ॥

'प्रथमस्य' इति किम् । त्वं श्वः कर्त्तासि । श्वोऽध्येतासे । अत्र मध्यमे न स्यात् ॥ ८५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादोऽध्यायश्चाऽयं समाप्तः ॥

['लुटः'] लुट् लकार के ['प्रथमस्य'] प्रथम पुरुष के स्थान में ['डा-रौ-रसः'] डा, रौ, रस्, ये तीन आदेश यथाक्रम से हों। कर्त्ता। यहां डा। कर्त्तारौ। यहां रौ। कर्त्तारः। और यहां रस्-आदेश होता है। सो परस्मैपद, [आत्मनेपद] दोनों के स्थान में ये आदेश होते हैं ॥

प्रथम-ग्रहण इसलिये है कि 'त्वं श्वः कर्त्तासि, कर्त्तासे वा' यहां मध्यम पुरुष में उक्त आदेश न हों ॥ ८५ ॥

यह द्वितीयाध्याय का चौथा पाद और यह अध्याय भी समाप्त हुआ ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां
शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
प्रणीतेऽष्टाध्यायीभाष्ये प्रथमो भागः]

---

१. २ । १ । ६ ॥
२. भा०—पृ० ५० ॥

चा० श०—"लुट आतामां डारौरसः ॥ नकाम् ॥" (१ । ४ । १८, १९)

॥ ओ३म् ॥

अष्टाध्यायी-भाष्यम्

द्वितीयो भागः

(तृतीयोऽध्यायः)

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
प्रणीतम्

श्रीमत्या परोपकारिणी-सभया प्रकाशितम्

द्वितीयोभागः

(तृतीयोऽध्यायः)

अजमेरनगरे
वैदिक यन्त्रालये मुद्रितः

दयानन्दजन्माब्दः १५३
विक्रमीय संवत् २०३४
ई० सन् १९७७

द्वितीयं संस्करणम्
१०००

मूल्य
रु० १००)

॥ ओ३म् ॥

अष्टाध्यायी-भाष्यम्

द्वितीयोभागः

(तृतीयोऽध्यायः)

❀ ओ३म् ❀

❀ अथ तृतीयेऽध्याये प्रथमः पादः ❀

[अथ प्रत्यय-सञ्ज्ञाधिकारः]

प्रत्ययः ॥ १ ॥

प्रत्ययः । १ । १ । प्रत्याययति प्रत्याय्यते वाऽसौ प्रत्यय इति कर्तृसाधनः कर्मसाधनश्च प्रत्यय-शब्दः । अन्येष्वर्थेषु ये प्रत्यया विधीयन्ते, तत्र कर्तृसाधनेन प्रयोजनं, समर्थं प्रत्याययन्तीति । स्वार्थे ये विधीयन्ते, तत्र कर्मसाधनेन प्रयोजनं, स्वयमेव प्रतीता भवन्तीत्यर्थः । अधिकारोऽयमापञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः । इत ऊर्ध्वं प्रधानतया यो वक्ष्यते, तस्याधिकारेणैव प्रत्यय-सञ्ज्ञा भविष्यति । वक्ष्यति —'**तव्यत्तव्यानीयरः**[1] ॥' कर्तव्यम् । करणीयम् ॥ अग्निचित् । सोमसुत् । अत्र क्विपः प्रत्यय-सञ्ज्ञा, तस्य लोपे कृते **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्**[2] ॥' इति प्रत्ययलक्षणेन तुग्-आगमो । निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वात् । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्च प्रकृत्युपपदोपाधीनां प्रत्यय-सञ्ज्ञा न भविष्यति । प्रत्ययो निमित्ती, प्रकृत्युपपदोपाधयो निमित्तानि । तत्र प्रकृत्युपपदोपाधीनां निमित्तानां प्रत्ययकार्यार्थं प्रयोगः । प्रकृति—गुप्तिज्किद्भ्यः । एभ्यः सन्विधिः प्रधानं, तस्यैव प्रत्यय-सञ्ज्ञा न प्रकृतेः । उपपद—'**स्तम्बकर्णयो रमिजपोः**[3] ॥' अत्राप्यच्-प्रत्ययविधिः प्रधानं, तस्यैव प्रत्यय-सञ्ज्ञा न चोपपदस्य । उपाधिः=अभिधेयोऽर्थः—'**हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ**[4] ॥' अत्रोपाधिः पशु-शब्दः, तस्मिन्नभिधेये प्रत्ययविधानम् । तत्र 'इन्' इत्यस्यैव प्रत्यय-सञ्ज्ञा न पशोः । आदेशागमाः षष्ठीनिर्दिष्टा भवन्ति, प्रत्ययाश्च परे । अतो विकारागमानामपि प्रत्यय-सञ्ज्ञा न भवति । अस्याध्यायस्यादौ चत्वारो योगा अधिक्रियन्ते ॥ १ ॥

प्रत्यय-शब्द दो प्रकार का होता है—एक तो जो दूसरे अर्थों का निश्चय करावे और एक जो दूसरे विशेष अर्थ को प्रतीत न करावे, किन्तु अपने आप ही प्रतीत हो। इस अध्याय के आदि

---

१. ३ । १ । ९६ ॥
२. १ । १ । ६१ ॥
३. ३ । २ । १३ ॥
४. ३ । २ । २५ ॥

में चार सूत्रों का अधिकार पञ्चमाध्याय पर्यन्त किया है। ['प्रत्ययः'] यहां से आगे प्राधान्य करके जिस का विधान होगा, उस की प्रत्यय-सञ्ज्ञा होगी ॥ अग्निचित् । यहां क्विप् की प्रत्यय-सञ्ज्ञा हुई है। उस के लोप हो जाने से प्रत्ययलक्षण मानके तुक् का आगम होता है ॥

प्रकृति उसे कहते हैं जिससे प्रत्यय-विधान किया जाय। उपपद उसे कहते हैं कि जो सप्तम्यन्तपद हो। और उपाधि वह होता है कि जिस किसी विशेष अर्थ में प्रत्यय-विधान हो इन तीनों की प्रत्यय-संज्ञा इसलिये नहीं होती कि निमित्ती जो प्रत्यय है, उस के कार्य के लिये ये निमित्त हैं। और प्रधान करके प्रत्यय का उपदेश है, इससे भी उन की प्रत्यय-सञ्ज्ञा नहीं होती ॥ १ ॥

परश्च ॥ २ ॥

परः । १ । १ । च । [अ० ।] अधिकारोऽयमप्यापञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः । अधिकारेण यस्य प्रत्यय-संज्ञा क्रियते, स धातोः प्रातिपदिकाद्वा पर एव भवति । कर्त्तव्यम् । अत्र तव्य-प्रत्ययस्य परप्रयोगो भवति । **'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'** ॥[1] **'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः'** ॥[2] इति प्रकृतेः पूर्वं मध्ये च प्रत्ययविधानादन्ये प्रत्ययाः पर एव स्युः । पुनः पर-वचनस्यैतत् प्रयोजनम्—प्रत्ययस्य प्रकृतेश्च केवलायाः प्रयोगो न भवेत्, किन्तु प्रकृतेः परः प्रत्ययः प्रत्ययात् पूर्वा च प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति नियमः ॥ २ ॥

इस सूत्र का भी पंचमाध्याय पर्यन्त अधिकार है। अधिकार से जिसकी प्रत्यय-संज्ञा होगी, उस का [परः,] प्रकृति से पर प्रयोग होना चाहिये। कर्त्तव्यम् । यहां कृ धातु से पर तव्य-प्रत्यय का प्रयोग होता है। पंचमाध्याय में बहुच्-प्रत्यय प्रकृति से पूर्व और अकच्-प्रत्यय प्रकृति के मध्य में विधान किया है, इससे अन्य प्रत्यय प्रकृति से पर ही होते। फिर यह सूत्र इसलिये है कि प्रकृति और प्रत्यय केवल इन का पृथक् प्रयोग न हो, किन्तु प्रकृति से पर प्रत्यय और प्रत्यय से पूर्व ही प्रकृति का प्रयोग हो ॥ २ ॥

आद्युदात्तश्च[3] ॥ ३ ॥

आद्युदात्तः । १ । १ । च । [अ० ।] अयमप्यधिकार आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः । प्रत्ययस्वरस्यानियतस्य नियमः क्रियते । पञ्चमाध्यायपर्यन्तं सामान्येन सर्वे प्रत्यया आद्युदात्ता भवन्ति । कर्त्तव्यम् । भवति । इत्यादि । यश्चैकवर्णः प्रत्ययस्तत्राद्यन्तवद्भावेनोदात्तः ॥ ३ ॥

---

१. ५ । ३ । ६८ ॥
२. ५ । ३ । ७१ ॥
३. सौ०—सू० २३ ॥

इस सूत्र का भी पंचम अध्याय पर्यन्त अधिकार है। यहां से सब प्रत्ययों का सामान्य करके आद्युदात्त स्वर होगा। कर्त्तव्यम् । ग्राही । यहां तव्य-और णिनि-प्रत्यय को आद्युदात्त हुआ है। जो एक अक्षर का प्रत्यय है, उस को आद्यन्तवत् मानके उदात्त होता है ॥ ३ ॥

अनुदात्तौ सुप्पितौ ॥ ४ ॥

पूर्वसूत्रेणाद्युदात्तत्वे प्राप्तेऽनुदात्तो विधीयते। अनुदात्तौ । १ । २ । सुप्पितौ । १ । २ । अयमप्यधिकारः पञ्चमाध्यायपर्यन्तम् । सुप्पितौ प्रत्ययावनुदात्तौ भवतः । सुप्—सोमसुतौ । सोमसुतः । पित्—भवति । पचति । सुप्यौजसावनुदात्तौ, पिति शप्- तिपौ[1] च ॥ ४ ॥

पूर्वसूत्र से सामान्य करके आद्युदात्त पाता है। उस का अपवाद अनुदात्त विधान किया है। ['सुप्-पितौ'] सुप् और पित् जो प्रत्यय हैं, वे ['अनुदात्तौ'] अनुदात्त होंगे पंचमाध्याय पर्यन्त। यह भी अधिकार है। सोमसुतौ । सोमसुतः । यहां सुप् में औ-जस-इन प्रत्ययों को अनुदात्त हुआ है। और 'भवति । पचति' यहां पित् में शप्-और तिप्-प्रत्यय को अनुदात्त स्वर हुआ है ॥ ४ ॥

गुप्तिज्किद्भ्यः सन्[3] ॥ ५ ॥

गुप्-तिज्-किद्भ्यः । ५ । ३ । सन् । १ । १ । 'गुप गोपने[4], तिज निशाने[5], कित निवासे रोगापनयने च[6]' एतेभ्यः परः स्वार्थे सन् भवति। तस्य च प्रत्ययसञ्ज्ञा। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। अनेकार्था अपि धातवो भवन्तीति निन्दार्थाद् गुपः, सहनार्थात् तिजः, भिषगर्थाच्च किद्धातोः सन् भवति ॥

प०—अवयवे कृतं लिङ्ग[7] समुदायस्य विशेषकं भवति, यं समुदायं यो[8]ऽवयवो न व्यभिचरति[9] ॥

अस्याः परिभाषाया एतत् प्रयोजनं—गुपादिभ्यः सन्नन्तेभ्य आत्मनेपदं परस्मैपदं च पूर्वलिङ्गानुसारेणैव यथा स्यात् । 'गुप्, तिज्, मान्, बध, दान् शान्'

१. सौ०—सू० २४ ॥
२. केचित् निपोऽनुदात्तत्वं तास्यनुदात्तेत्यादिना (६ । १ । १८६) एव सिद्धमिति ॥
३. चा० श० —"तिजः क्षान्तौ सन् ॥ कितः संशयचिकित्सयोः ॥ गुपो निन्दायाम् ॥" (१ । १ । १७—१९)
४. धा०—भ्वा० १०१९ ॥
५. धा०—भ्वा० १०२० ॥
६. धा०—भ्वा० १०४२ ॥
७. पारिभाषिकेऽत्र उत्तरम्—तस्य ॥
८. पारिभाषिके—सो ॥
९. पा०—सू० १११ ॥

इत्येतेऽनुदात्तलिङ्गा धातव, किच्चैक उदात्तेत्। तत्र गुपादयोऽवयवास्तेष्वात्मनेपदस्य लिङ्गं कृत, तत् सन्नन्तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति। सन्नन्तादात्मनेपदमेव भवति। किति च परस्मैपदस्य लिङ्गं कृत, तस्मात् परस्मैपदमेव भवति। गुपादयोऽवयवा सन्नन्तं समुदाय न व्यभिचरन्ति। 'जुगुप्सयति' इत्यत्र णिजन्त व्यभिचरतीत्यत आत्मनेपदं न भवति ॥ ५ ॥

['गुप्-तिज्-किद्भ्य:'] गुप्, तिज्, कित्, इन धातुओं से पर ['सन्'] सन् हो। उस की प्रत्ययाधिकार से प्रत्यय-सञ्ज्ञा हो। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। यहां निन्दार्थ गुप्, सहनार्थ तिज् और वैद्यार्थ मे वर्त्तमान जो कित्, इन से सन्-प्रत्यय होता है। क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं ॥

'अवयवे कृत लिङ्ग० ॥' अवयव मे किया हुआ चिह्न उस समुदाय के कार्य करता है कि जिस को वह अवयव कभी न त्यागता हो। यहां इस परिभाषा का यह प्रयोजन है कि गुपादि जो अवयव हैं उन में अनुदात्तेत् आत्मनेपद का चिह्न किया है। सो [इन] सन्नन्तों से आत्मनेपद और कित् धातु मे परस्मैपद का। [सो] उस सन्नन्त से परस्मैपद हो। गुपादि धातुओं से नित्य सन् होता है। और 'जुगुप्सयति' यहां तो णिजन्त समुदाय को गुप् छोड देता है, इससे यहां आत्मनेपद नहीं हुआ ॥ ५ ॥

मानबधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य[1] ॥ ६ ॥

सन्-ग्रहणमनुवर्त्तते। मान्-बध-दान्-शान्भ्य.। ५। ३। दीर्घ.। १। १। च। [अ०।] अभ्यासस्य। ६। १। '**मान पूजायाम्[2], बध बन्धने[3], दान खण्डने[4], शान तेजने[5]**' इत्येतेभ्यो धातुभ्य. सन् प्रत्ययो भवति। मानादीनामभ्यासस्य च दीर्घो भवति। मीमांसते। बीभत्सते। दीदासते। शीशांसते। '**सन्यतः[6]** ॥' इत्यभ्यासस्येत्वं, तस्येकारस्यानेन दीर्घ:। '**अवयवे कृतं लिङ्ग०** ॥' इति परिभाषाऽत्रापि प्रवर्त्तते ॥६॥

['मान्-बध-दान्-शान्भ्य:'] मान, बध, दान, शान, इन धातुओं से सन्-प्रत्यय हो, ['च'] और मानादि धातुओं के ['अभ्यासस्य'] अभ्यास को ['दीर्घ:'] दीर्घ हो। मीमांसते। यहां मान से सन्। बीभत्सते। यहां बध से। दीदासते। यहां दान से। और 'शीशांसते' यहां शान धातु से सन्-प्रत्यय। और इन के अभ्यास इकार को दीर्घ हुआ है ॥

---

१. धा०—सू० २६९ ॥
चा० श०—"बध एरो च ॥
शान्दान्मान।" (१। १। २०, २१)
२. धा०—भ्वा० १०२१ ॥
३. धा०—भ्वा० १०२२ ॥
४. धा०—भ्वा० १०४३ ॥
५. धा०—भ्वा० १०४४ ॥
६. ७। ४। ७९ ॥

'अवयवे कृत ॥' इस उक्त परिभाषा से यहां भी आत्मनेपद होता है, क्योंकि मानादि धातु भी गुपादिकों में गिने जाते हैं ॥ ६ ॥

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ॥ ७ ॥

सन्-ग्रहणमनुवर्त्तते । धातो: । ५ । १ । कर्मण. । ५ । १ । समानकर्त्तृकात् । ५ । १ । इच्छायाम् । ७ । १ । वा । [अ० ।] इष-धातुना समान. कर्ता यस्य स । इच्छाकर्मण इच्छासमानकर्त्तृकाद् धातोर्विकल्पेन सन् प्रत्ययो भवति । कर्त्तुमिच्छति, चिकीर्षति । द्रष्टुमिच्छति, दिदृक्षति । अत्र कृ-दृशाविच्छाया. कर्मणी । इच्छतिना च समानकर्त्तृत्वम् ॥

'धातो.' इति किम् । प्रकर्त्तुमैच्छत्, प्राचिकीर्षत् । अत्र सोपसर्गादुत्पत्तिर्मा भूत् । यद्यत्र सोपसर्गात् सन् स्यात्, तर्हि सर्वस्य धातु-सञ्ज्ञत्वादुपसर्गात् पूर्वमड्-आगम: स्यात् ॥

'कर्मण.' इति किम् । 'आसनेनेच्छति । शयनेनेच्छति' इत्यत्र सनुत्पत्तिर्न स्यात् ॥

'समानकर्त्तृकाद्' इति किम् । देवदत्तस्य भोजनमिच्छति ॥

'इच्छायाम्' इति किम् । पठितुं जानाति । अत्र सन् नोत्पद्यते ॥

वा-ग्रहणाद् वाक्यमपि भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे धातु-ग्रहणस्यैतदपि प्रयोजनं—धातोरुत्पद्यमानानामेव सार्वधातुकार्धधातुकसंज्ञे भवत. । अतः सन आर्द्धधातुकत्वात् 'पिपठिषति' इत्यादिष्विड्-आगमो भवति ॥

वा०—तुमुन्नन्ताद्वा तस्य च लुग्वचनम्[१] ॥ १ ॥

तुमुन्-प्रत्ययान्ताद्धातोः सन्, तस्य तुमुनो लुक् । कर्त्तुमिच्छति, चिकीर्षति ॥१॥

लिङुत्तमाद्वा[२] ॥ २ ॥

लिङ्लकारस्योत्तमैकवचनात् सन्, तस्यैकवचनस्य लुक् । कुर्यामि [ती] च्छति, चिकीर्षति ॥ २ ॥

---

१ आ० सू० ५०४ ॥ "तुमो लुक् चेच्छायाम् ॥ व्याप्यात् काम्यच् ॥" धा० वृ० (१ । १ । २२, २३)— २. अ० ३ । पा० १ । आ० १ ॥

आशङ्कायामुपसङ्ख्यानम्[1] ॥[2] [१ ॥]

अश्मा लुलुठिषते । कूलं पिपतिषति । श्वा मुमूर्षति । अस्य तृतीयवार्त्तिकस्यैतत् प्रयोजनं—अचेतनावत्सु पदार्थेष्विच्छा नास्तीत्यतोऽनिच्छायां सन् यथा स्यात् ॥ [३ ॥]

का०—शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥[2] १ ॥

'शैषिकान्'=शैषिकप्रत्ययान्तात् 'सरूपः'=समानरूपः प्रत्ययो नेष्टः । यथा शालायां भवः=शालीयः । तत्र भव इति पुनश्छो न भवति । मतुबर्थीयात् सरूपो मतुबर्थिकः प्रत्ययो न भवति । शस्त्रमस्यास्तीति शस्त्रिकः । 'अत इनिठनौ'[3] ॥ इति ठन् । शस्त्रिकाः सन्त्यस्यां नगर्याम्—शस्त्रिकवती नगरी । असरूपस्तु भवत्येव । किन्तु ठन्नन्ताट् ठन् न भवति । सन्नन्तादिच्छार्थात् सनः पुनः सन्न भवति । सरूपः समान इच्छार्थे विहितात् । पूर्वस्मात् स्वार्थविहितात्तु भवत्येवेच्छायां सन् । कर्त्तुमिच्छति, चिकीर्षति । चिकीर्षितुमिच्छतीति सन्न भवति । जुगुप्सितुमिच्छति, जुगुप्सिषते । अत्र स्वार्थात् सन इच्छायां पुनः सन् भवत्येव ॥ १ ॥ ७ ॥

['कर्मणः, इच्छायाम्'] इच्छा का जो कर्म हो, तथा ['समानकर्त्तृकात्'] इच्छा का और जिस का एक कर्त्ता हो, उस ['धातोः'] धातु से पर ['वा'] विकल्प करके सन्-प्रत्यय हो ॥ कर्त्तुमिच्छति । यहां इष धातु का कर्म 'कर्त्तुम्' है, और दोनों का कर्त्ता एक ही है । इससे 'चिकीर्षति' यहां कृ धातु से सन् हो गया ॥

इस सूत्र में धातु-ग्रहण इसलिये है कि 'प्रकर्त्तुमैच्छत्=प्राचिकीर्षत्' यहां प्र उपसर्ग के सहित कृ धातु से सन् न हो, क्योंकि जो प्र-पूर्वक कृ धातु से सन् हो तो प्र के सहित सन्नन्त की धातु-सञ्ज्ञा होने से 'प्राचिकीर्षत्' यहां प्र के पूर्व अट् का आगम हो जावे ॥

कर्म-ग्रहण इसलिये है कि 'गमनेनेच्छति' यहां करणवाची गमनेन से सन् न हो ॥

समानकर्त्तृक-ग्रहण इसलिये है कि 'देवदत्तस्य भोजनमिच्छति' यहां सन् न हो ॥

और इच्छा-ग्रहण इसलिये है कि 'पठितुं जानाति' यहां भी सन्-प्रत्यय न हो ॥

---

१ महाभाष्ये तु "आशङ्कायामचेतनेषूपसंख्यानम् ॥" इति वार्त्तिकमुपन्यस्य "अचेतनग्रहणेन नार्थः । आशंकायामित्येव । इदमपि सिद्धं भवति—श्वा मुमूर्षति ।" इत्येवं प्रतिपादितम् ॥

२. अ० ३ । पा० १ । आ० १ ॥

३ ५ । २ । ११५ ॥

'तुमुन्नन्ता० ॥' तुमुन् प्रत्ययान्त धातु से विकल्प करके सन्-प्रत्यय हो और तुमुन्-प्रत्यय का लोप हो जावे। इसी वार्त्तिक के अनुसार सूत्र का उदाहरण दे चुके हैं ॥ [१ ॥]

'लिङ् समाद्वा ॥' लिङ् लकार के उत्तम पुरुष के एकवचनान्त धातु से विकल्प करके सन् हो और उत्तम [पुरुष] के एकवचन का लुक् हो जावे। कुर्यामितीच्छति, चिकीर्षति। यहां कृ धातु से सन् हुआ है ॥ २ ॥

आशङ्कायां० ॥' आशंका अर्थ में सामान्य धातु से सन्-प्रत्यय हो। अश्मा लुलुठिषते। इस वार्त्तिक का यह प्रयोजन है कि जड़ पदार्थों में इच्छा नहीं होती, इसलिये जिस धातु का कर्त्ता जड़ पदार्थ हो, वहां भी सन्-प्रत्यय हो जावे ॥ ३ ॥

शैषिकान्म० ॥' शैषिक प्रत्ययान्त से प्रथम हुआ प्रत्यय न हो। शालीयः, तत्र भवः। यहां छ-प्रत्ययान्त से शैषिक छ-प्रत्यय फिर भी प्राप्त है, वह नहीं हुआ। 'मतुब०' मतुबर्थ प्रत्ययान्त से प्रथम हुआ प्रत्यय न हो। शक्तिका. सन्त्यस्यां नगर्यां=शक्तिकवती। यहां ठन्-प्रत्ययान्त शक्तिक-शब्द से फिर ठन् नहीं हुआ, किन्तु असरूप मतुप् हो गया। 'सन्नन्ता०' इच्छार्थक जो सन् है उस से इच्छा अर्थ में फिर सन् न हो, किन्तु स्वार्थ सन् से तो इच्छार्थक सन् हो जावे। चिकीर्षितुमिच्छति। यहां इच्छार्थक सन् से फिर सन् नहीं हुआ। और 'जुगुप्सिषते' यहां स्वार्थ सन् से इच्छार्थक सन् हो जाता है। यह इस एक कारिका का अर्थ हुआ ॥ ७ ॥

सुप आत्मनः क्यच्[1] ॥ ८ ॥

'कर्मण इच्छायां वा' इत्यनुवर्त्तते। सुपः। ५। १। आत्मनः। ६। १। क्यच्। १। १। आत्मनः=स्वस्येच्छायां सुबन्तात् कर्मणो विकल्पेन क्यच् प्रत्ययो भवति। आत्मनः पुत्रमिच्छति, पुत्रीयति। अत्र '**क्यचि च**[2] ॥' इति पुत्र-शब्दस्येत्वम् ॥

'सुपः' इति किमर्थम्। महान्तं पुत्रमिच्छतीति वाक्यात् क्यजुत्पत्तिर्मा भूत् ॥

'आत्मनः' इति किम्। राज्ञः पुत्रमिच्छतीति परेच्छायां क्यज् मा भूत् ॥

क्यचि ककारः किमर्थः। **नः क्ये**[3] ॥' इति सामान्येन ग्रहणं यथा स्यात्। चकारश्चित्स्वरार्थः ॥

वा०—*क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधः* ॥[4] १ ॥

मकारान्तादव्यय-सञ्ज्ञकाच्च सुबन्तकर्मण आत्मेच्छायां क्यज् न भवति। इदमिच्छति। किमिच्छति। उच्चैरिच्छति। नीचैरिच्छति ॥ १ ॥

---

१. अ० -सू० ५६० ॥
वा० सू०—"ससङ्ख्यादम क्यज्वा ॥" (१। १। २४)
२. ७। ४। ३३ ॥
३. १। ४। १५ ॥
४. अ० ३। पा० १। आ० २ ॥

छन्दसि परेच्छायाम् ॥[1] २ ॥

छन्दसि – वेदे परेच्छायामपि क्यच् भवति । मा त्वा वृका अघायवो विदन्[2] । अत्र अघायु-शब्दे परेच्छायां क्यच् ॥ २ ॥

गोसमानाक्षरनान्तादित्येके वक्तव्यमित्याहुः[3] ॥[4] ३ ॥

येषां केषाञ्चिदाचार्याणां मतमिदम् । गो-शब्दात्, समानाक्षरेभ्य = 'अ इ, उ ऋ, लृ' इत्येतदन्तात्, नकारान्ताच्च क्यच् प्रत्ययो भवति । तेषां मते अपरिगणनात् क्यचि मान्ताव्ययेति वार्त्तिकं न पठितव्यं भवति । गो—गव्यति । समानाक्षर—घटीयति, दधीयति । मधूयति । कर्त्तृयति । नान्त—राजीयति । तक्षीयति । एतेभ्य एव क्यज् यथा स्यात् ॥ ८ ॥

[आत्मनः] अपने की इच्छा में ['सुपः'] सुबन्त कर्म से विकल्प करके ['क्यच्'] क्यच्-प्रत्यय हो । आत्मनः पुत्रमिच्छति, पुत्रीयति । यहां पुत्र-शब्द से क्यच् हुआ और क्यच् के पर पुत्र-शब्द को ईकारादेश हुआ है ॥

सुप्-ग्रहण इसलिये है कि 'महान्तं पुत्रमिच्छति' यहां वाक्य से क्यच् न हो ॥

आत्म-ग्रहण इसलिये है कि 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' यहां दूसरे के लिये इच्छा करना है, इससे क्यच् न हुआ ॥

क्यच्-प्रत्यय में चकार अन्तोदात्त स्वर के लिये है ॥

'क्यचि० ॥' मकारान्त शब्द और अव्यय-संज्ञक शब्दों से क्यच् प्रत्यय न हो । इदमिच्छति । यहां मकारान्त से । उच्चैरिच्छति । और यहां अव्यय संज्ञक उच्चैस्-शब्द से क्यच् नहीं हुआ ॥ १ ॥

'छन्दसि० ॥' वैदिक प्रयोगों में दूसरे के लिये इच्छा में भी क्यच् होता है । 'मा त्वा वृका अघायवो विदन्[4] ।' यहां अघायु-शब्द में दूसरे की इच्छा में क्यच् हुआ है ॥ २ ॥

'गोसमानाक्षर० ॥' जिन किन्हीं ऋषियों का ऐसा मत है कि गो-शब्द, समानाक्षर [अर्थात्] अ, इ, उ, ऋ, [लृ], ये अक्षर जिन के अन्त में हों, वे शब्द और नकारान्त शब्दों से ही क्यच्-प्रत्यय हो, के उन मत में मान्त और अव्यय से जो निषेध किया है वह वार्त्तिक नहीं करना पड़ता । गव्यति यहां गो-शब्द से । घटीयति । दधीयति । मधूयति । कर्त्तृयति । यहां समानाक्षरान्त से । और 'राजीयति' यहां नकारान्त से क्यच्-प्रत्यय हुआ है ॥ ८ ॥

काम्यच्च[5] ॥ ९ ॥

१. अस्मिन् सूत्रे महाभाष्य इदं वार्त्तिकं न दृश्यते ॥
२. यजु० ४ । ३४ ॥
३. पाठान्तरम्—गो० दित्येके ॥
४. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
५. शा०—सू० ५७९ ॥
चा० श०—"व्याप्यात् काम्यच् ॥"
(१ । १ । २३)

कर्मण इच्छायां वा' इति 'सुप आत्मनः' इति चानुवर्त्तते। काम्यच्। १। १। च। अ०।] सुबन्तात् कर्मण आत्मेच्छायां विकल्पेन काम्यच्-प्रत्ययो भवति। आत्मनः पुत्रमिच्छति, पुत्रकाम्यति। पृथग्योगकरणमुत्तरसूत्रे क्यचोऽनुवृत्त्यर्थम्। काम्यचः ककारस्येत्-सञ्ज्ञा न भवति। इत्कार्यप्रयोजनाभावात्। चकारश्चान्तोदात्तस्वरार्थ एव ॥ ६ ॥

सुबन्त कर्म से आत्मा की इच्छा में विकल्प करके ['काम्यच्'] काम्यच्-प्रत्यय हो। आत्मनः पुत्रमिच्छति, पुत्रकाम्यति। यहां पुत्र-शब्द से काम्यच्-प्रत्यय हुआ है॥

इस सूत्र के पृथक् करने का यह प्रयोजन है कि आगे के सूत्र में इस [अर्थात् काम्यच्] की अनुवृत्ति न जावे, किन्तु क्यच् की अनुवृत्ति आवे॥

काम्यच्-प्रत्यय के ककार की इत्-सञ्ज्ञा इसलिये नहीं होती कि फिर मानके कुछ कार्य कर्त्तव्य नहीं॥

और चकार अन्तोदात्त स्वर के लिये काम्यच्-प्रत्यय के अन्त में पढ़ा है॥ ९॥

उपमानादाचारे[1] ॥ १० ॥

क्यजनुवर्त्तते। 'कर्मणो वा' इत्यनुवर्त्तते, 'सुपः' इति च। अन्यत् सर्वं निवृत्तम्। उपमानात्। ५। १। आचारे। ७। १। उपमानवाचिकर्मणः सुबन्तादाचारार्थे विकल्पेन क्यच्-प्रत्ययो भवति। पुत्रमिवाचरति पाठकः, पुत्रीयति छात्रम्। गर्दभमिवाचरति, गर्दभीयत्यश्वम्॥

'आचारे' इति किम्। गर्दभमिव चालयत्यश्वम्। अत्र क्यज् न भवति॥

वा०—अधिकरणाच्च।[2] १ ॥

'कर्मण' इत्यनुवर्त्तनादन्यस्मान्न प्राप्तं, तदर्थमिदमुच्यते। अधिकरणोपमानवाचिनः सुबन्तादपि क्यच्-प्रत्ययो यथा स्यात्। कुटीमिवाचरतीति कुटीयति प्रासादे। प्रासादीयति कुट्याम्[3] ॥ १० ॥

['उपमानाद्'] उपमानवाचि सुबन्त कर्म से ['आचारे'] आचार अर्थ में विकल्प करके क्यच्-प्रत्यय हो। पुत्रमिवाचरत्यध्यापकः, पुत्रीयति शिष्यम्। यहां आचार अर्थ में पुत्र-शब्द से क्यच् हुआ है॥

आचार-ग्रहण इसलिये है कि 'गर्दभमिव चालयत्यश्वम्' यहां क्यच् न हो॥

'अधिकरणाच्च'॥ अधिकरण उपमानवाचि सुबन्त से क्यच्-प्रत्यय हो। कुटीयति

१. भा०—सू० ५८०॥ का० स०—"उपमानादाचारे॥" (१। १। २५)
२. भा० द्र०—"आधारात्॥" (१। १। २६) अ० ३। पा० १। आ० २॥
३. काशिकायां "कुट्यां" इति प्रमादपाठः॥

प्रासादे । यहां अधिकरणवाची कुटी-शब्द से क्यच् हुआ। सूत्र में कर्म की अनुवृत्ति आती थी, इससे [अधिकरण से] क्यच् नहीं प्राप्त था। इसलिये यह वार्त्तिक रचा गया ॥ १० ॥

कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च[1] ॥ ११ ॥

पूर्वं सूत्र सर्वमनुवर्त्तते । कर्त्तुः । ५ । १ । क्यङ् । १ । १ । स-लोप. । १ । १ । च । [अ० ।] उपमानवाचिन. सुबन्तात् कर्त्तुराचारेऽभिधेये विकल्पेन क्यङ् प्रत्ययो भवति । सकारान्तो य शब्द., तस्य सकारस्य च लोपो भवति । श्येन इवाचरति काक., श्येनायते । पण्डित इवाचरति मूर्ख:, पण्डितायते । पय इवाचरति, पयायते, पयस्यते । अत्र 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः[2] ॥' इति दीर्घत्वम् ॥

अथ वार्त्तिकानि—

सलोपो वा ॥[3] १ ॥

अनुवर्त्तितविकल्पेन पक्षे वाक्यं भवति । अत. स-लोपे वैकल्प्यं न प्राप्तम् । पयायते । पयस्यते । यत्र सकारो न लुप्यते, तत्राजन्तत्वाभावाद् दीर्घत्वं न भवति ॥१॥

ओजोऽप्सरसोर्नित्यम्[4] ॥[3] २ ॥

'ओजस्, अप्सरस्' इत्येतयोः शब्दयोः सकारस्य नित्य लोपो भवति । ओजायमानं यो अहिं जघान[5] । अप्सरायते ॥ २ ॥

अपर आह—सलोपोऽप्सरस[3] एव ॥ ३ ॥

केषाञ्चिन्मतं— अप्सरस्-शब्दस्य सकारस्यैव नित्यं लोपो भवति न त्वोजसः । 'ओजस्यते' इत्येव भवितव्यम् । कथं 'ओजायमानं यो अहिं जघान[5] ।' छान्दसत्वात् सिद्धम् । छन्दसि दृष्टानुविधिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

आचारेऽवगल्भ[6]क्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा[7] ॥[3] ४ ॥

अवगल्भादिभ्यो विकल्पेन क्विप् । पक्षे क्यङ् । अवगल्भते, अवगल्भायते ।

१ आ०—सू० ५८२ ॥ चा० श०—"क्यङ् ॥" (१ । १ । २९)
२ ७ । ४ । २५ ॥
३. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
४. काशिकायाम्— 'ओजसोऽप्सरसो नित्य पयसस्तु विभाषया ॥
५. ऋ०—२ । १२ । ११ ॥ अ०—२० । ३४ । ११ ॥
६ महाभाष्ये पाठान्तरम् —आचारे गल्भ० ॥
७ चा० श०—"गल्भक्लीबहोडेभ्यो क्विप् ॥" (१ । १ । २८)

विक्लीवते, विक्लीवायते । विहोडते, विहोडायते । अवगल्भादयो धातव एव । तेषां स्वाभाविकं धातुत्वं, तस्माद् 'अवगल्भते । विक्लीवते । विहोडते' इत्यादिरूपाणि सिद्धानि भविष्यन्त्येव । पुनः क्विब्विधानस्यैतत् प्रयोजनं—क्विबन्तस्य प्रत्ययान्तत्वात् 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि[1] ॥' इत्याम्-प्रत्ययो यथा स्यात् । अवगल्भाञ्चक्रे । विक्लीवाञ्चक्रे । विहोडाञ्चक्रे ॥ ४ ॥

सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वा वक्तव्यः ॥[2] ५ ॥

अश्व इवाचरति, अश्वति, अश्वायते । गर्दभति, गर्दभायते । अत्र क्विप्पक्षे 'अतो गुणे[3] ॥' इति पररूपत्वम् ॥ ५ ॥ ११ ॥

उपमानवाची सुबन्त ['कर्त्तुः'] कर्त्ता से आचार अर्थ में विकल्प करके ['क्यङ्'] क्यङ्-प्रत्यय हो । और जो सकारान्त शब्द हो, उस के ['स-लोपः'] सकार का लोप भी हो । श्येन इवाचरति काकः, श्येनायते । यहां श्येन उपमान, काक उपमेय, इव उपमावाचक, आचार साधारण धर्म है, इसलिये उपमानवाची श्येन-शब्द से क्यङ्-प्रत्यय हुआ और क्यङ् के पर [होने हुए] श्येन आदि अजन्त शब्दों को दीर्घ भी होता है ॥

अब वार्त्तिकों के अर्थ लिखते हैं—

'सलोपो वा ॥' जिस विकल्प की अनुवृत्ति आती है, उसमें पक्ष में वाक्य रहता है, इसलिये यह वार्त्तिक कहा कि जिस किसी सकारान्त शब्द से क्यङ्-प्रत्यय हो, वहां उस सकार का लोप भी विकल्प करके हो । पयायते । पयस्यते । यहां सकारान्त पयस्-शब्द के सकार का लोप जिस पक्ष में नहीं होता, वहां अजन्त के न होने से दीर्घ भी नहीं होता ॥ १ ॥

ओजोऽप्सरसोर्नित्यम् ॥ ओजस् और अप्सरस्-शब्द के सकार का नित्य लोप हो जावे । पूर्व वार्त्तिक से विकल्प पाता था । ओजायमान यो अहिं जघान । यहां 'ओजायमानं' इस प्रयोग में ओजस् के सकार का और 'अप्सरायते' यहां अप्सरस् के सकार का लोप हुआ है ॥ २ ॥

'सलोपोऽप्सरस एव ॥' किन्हीं किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत है कि एक अप्सरस् के सकार का ही नित्य लोप होना चाहिये । 'ओजायमानं' में जो नित्य लोप है, वह वैदिक प्रयोग है । वेद में सब विधियों का विकल्प होता ही है । लोक में तो 'ओजस्यते' यहां सकार का लोप नहीं हुआ ॥ ३ ॥

'आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा ॥' [आचार अर्थ में] अव-पूर्वक गल्भ, क्लीब, होड, इन तीन धातुओं से क्विप्-प्रत्यय विकल्प करके और पक्ष में क्यङ् हो । अवगल्भते । यहां क्विप् । अवगल्भायते । यहां क्यङ् । विक्लीवते । विक्लीवायते । विहोडते । विहोडायते । गल्भादि धातुओं से क्विबन्त के जो रूप बनते हैं, वैसे तो स्वाभाविक धातु-सञ्ज्ञा

१ ३ । १ । ३५ ॥
२ चा० श० –"कर्तुर्विप् ॥" (१ । १ । २७) अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
३ ६ । १ । ९७ ॥

से बन जाते, फिर क्विप् विधान करने का यह प्रयोजन है कि क्विप् के होने से प्रत्ययान्त धातु बनके लिट् लकार में आम्-प्रत्यय हो जावे ॥ ४ ॥

'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विप्० ॥' बहुत ऋषियों का ऐसा मत है कि प्रातिपदिकमात्र से क्विप्-प्रत्यय विकल्प करके हो। अश्वति। यहां क्विप्-प्रत्ययान्त अश्व-शब्द की धातुसञ्ज्ञा होने से धातु के सब कार्य होते हैं। और पक्ष में 'अश्वायते' यहां क्यङ्-प्रत्यय होता है ॥ [५ ॥] ११ ॥

भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः[1] ॥ १२ ॥

क्यङनुवर्त्तते। भृशादिभ्यः। ५। ३। भुवि। ७। १। अच्वेः। ५। १। लोपः। १। १। च। [अ० ।] हलः। ६। १। भुवि=भू-धातुः सत्तार्थः, तस्मिन्। अच्व्यन्तेभ्यो गणपठितेभ्यो भृशादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भुवि क्यङ् प्रत्ययो भवति। यश्च हलन्तः शब्दः, तस्य हलो लोपो भवति। अभृशो भृशो भवति=भृशायते। शीघ्रायते। मन्दायते। 'सुमनायते' [इति] अत्र सकारलोपः। 'बृहायते' [इति] अत्र त-लोपः ॥

वा०—भृशादिष्वभूततद्भावग्रहणम् ॥[2] १ ॥

पूर्वं यत् प्रसिद्धं नास्ति पश्चाद् भवेत्, तदभूततद्भावः। इह मा भूत्—क दिवा भृशा भवन्ति। अत्र क्यङ् न स्यात् ॥ १ ॥

सङ्ग्रामयतेः सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या ॥ २ ॥

असङ्ग्रामयत शूर इत्येवमर्थम्। तन्नियमार्थं भविष्यति। सङ्ग्रामयतेरेव सोपसर्गान्नान्यस्मात् सोपसर्गादिति ॥[2]

सोपसर्गादुत्पत्तेरेतत् प्रयोजनं—सोपसर्गस्य क्यङन्तसमुदायस्याङ्ग-सञ्ज्ञत्वादुपसर्गात् पूर्वमडागमो यथा स्यात्। अन्ये ये सोपसर्गाः शब्दा भृशादिषु पठिताः, तेभ्यः सोपसर्गेभ्य उत्पत्तिर्न भवति। स्वमनायत। तेनात्रोपसर्गात् परमडागमो भवति।

अथ भृशादिगणः— १ भृश, २ शीघ्र, ३ चपल, ४ मन्द[3], ५ पण्डित[4], ६ सुमनस्, ७ दुर्मनस, ८ अभिमनस्, ९ उन्मनस्[5], १० सङ्ग्राम[6], ११ रहस्, १२

---

१ भा०—सू० ५९० ॥ चा० श०—"च्व्यर्थे भृशादिभ्यः स्तलोपश्च ॥" (१ । १ । ३०)

२ अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

३ चन्द्रो गणान्ते मन्द-शब्दं पठति ॥ काशिकायां "मन्द । चपल" इति क्रमभेदः ।

४. चान्द्रवृत्त्यादिष्वत उत्तरं—उत्सुक ॥

५ चन्द्र —"उन्मनस् । अभिमनस् । दुर्मनस् । सुमनस् ।"
जयादित्य —"उन्मनस् । अभिमनस् । सुमनस् । दुर्मनस् ।"

६ अन्यत्र न दृश्यते ॥
चान्द्रवृत्तावत उत्तरं—"रेहत् । वेहत् । संश्चत् । तृपत् । शुचिवर्चस् । अण्डर । ओजस् । नील । मद्र । फेन । हरित । मन्द ।" इति गणः ॥

रेहस्[1], १३ रोहत् १४ रेहत्[2], १५ संश्चत्[3], १६ तृपत्[4], १७ शश्वत्, १८ भ्रमत्, १९ बृहत्[5], २० वेहत्[6], २१ नृषत्[5], २२ सुचिस्[7], २३ शुचि[8], शुधि[5], २५ अधर[5], २६ वर्चस्[8], २७ अण्डर[9], २८ ओजस, २९ सुरजस्, ३० अरजस्, ३१ विमनस्,[10] ३२ रभत्, ३३ हन, ॥ इति[11] भृशादिगणः ॥ १२ ॥

['अच्वेः'] अच्व्यन्त ['भृशादिभ्यः'] गण में पढ़े हुए जो भृशादि प्रातिपदिक हैं उन से ['भुवि'] भू धातु के अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो। ['च' और हलन्त शब्दों के 'हलः' हल् का 'लोपः' लोप हो।] अभृशो भृशो भवति=भृशायते। शीघ्रायते। चपलायते। यहां भृश आदि शब्दों से क्यङ् हुआ है॥

'भृशादिष्वभूततद्भावग्रहणम् ॥' भृशादिकों में अभूततद्भाव अर्थात् प्रथम न हो और फिर हो जावे—इस अर्थ में क्यङ् हो। इस वार्तिक के अनुकूल ही [पूर्व] उदाहरण दिये हैं। प्रयोजन यह है कि 'क दिवा भृशा भवन्ति' यहां अभूततद्भाव के न होने से क्यङ् न हुआ॥ [१ ॥]

'सङ्ग्रामयते सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या ॥' उपसर्ग सहित सङ्ग्राम-शब्द से क्यङ् प्रत्यय हो। असङ्ग्रामयत शूर। यहां सोपसर्ग से उत्पत्ति होने से उपसर्ग के पूर्व अट् का आगम होता है। जो भृशादिकों में अन्य शब्द सोपसर्ग पढ़े हैं, उन से उपसर्ग सहितों से क्यङ् नहीं होता। इससे 'स्वभनायत' यहां उपसर्ग से पर अट् का आगम होता है॥

---

१ बोटलिङ्कस्त्वेत रेहत्-शब्दस्य पाठान्तर मन्यते॥
अत उत्तर काशिकायाम्—'शश्वत्। बृहत्। वेहत्। नृषत्। शुधि। अधर। ओजस्। वर्चस्। विमनस्। रभस्। हन। रोहत्। सुचिस्। अरजस्'' केषुचित् काशिकाकोशेषु "वर्चस्" इत्यत्र गणः समापितः॥

२ गणरत्ने (८। ४४०)—' रेहत्=नैष्ठ्र्यधर्मवृत्तिभिक्षाभिलाषधर्मवृत्तिर्वा। रहसि वर्तत इत्यन्ये॥''

३. गणरत्ने (८। ४४१)—''सश्चायते=मातन्येन भवति। सश्चदिति शाकटायनः॥''

४ गणरत्ने (८। ४४०) – 'तृपत्=चन्द्रः समुद्रश्च॥''

५ बोटलिङ्कीये पाठे गणान्ते—K a isserdem, बृहत् नृषत्, (sic), शुधि अधर

६. गणरत्ने (८। ४४०)—''=गर्भघातिनी।''

७ बोटलिङ्क—शुचिस्॥

८ २३ २६ इत्येतयो स्थाने बोटलिङ्क शुचिवर्चस्॥

९ गणरत्ने (८। ४४०)—''आण्डर=मूर्खो मुष्करो वा। 'अण्डर' इत्यन्ये।'
अत उत्तरे बोटलिङ्क—वर्चस्॥

१० बोटलिङ्कीये पाठे ३१ -३३ शब्दा न सन्ति॥

११ गणरत्ने (८। ४४०)—''रेफत् सदोष इत्यर्थः। रेफायते।'' इत्यधिकम्॥

भृशादिगण पूर्व संस्कृत में लिख दिया ॥ १२ ॥

लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्[1] ॥ १३ ॥

'भुव्यच्वे'[2] इत्यनुवर्त्तते । लोहितादि-डाज्भ्यः । ५ । ३ । क्यङ् । १ । १ । अच्व्यन्तेभ्यो लोहितादिभ्यो डाजन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो भू-धातोरर्थे क्यष्-प्रत्ययो भवति । अलोहितो लोहितो भवति=लोहितायति,=लोहितायते । अपटपटा पटपटा भवति=पटपटायति,=पटपटायते । अच्वेरित्यनुवर्त्तनादभूततद्भाव एव क्यष् भवति 'वा क्यषः[3] ॥' इत्युभयपदम् ॥

क्यषि ककारोऽनुबन्धः 'क्याच्छन्दसि' ॥' इति सामान्यग्रहणार्थः । षकारो 'वा क्यषः[3] ॥' इति विशेषणार्थः ॥

अथ लोहितादिगणः[4]—१ लोहित, २ नील[5], ३ हरित, ४ पीत,[6] ५ चारत[7], ६ फेन, ७ मद्र, ८ दास, ६ मन्द ॥ इति[8] लोहितादिगणः ॥

वा०—लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनम् ॥[9] १ ॥

लोहितायति, लोहितायते । पटपटायति, पटपटायते । दमदमायति, दमदमायते । मटमटायति, मटमटायते ॥

भृशादिष्वितराणि पठितव्यानि[1] ॥ २ ॥

अस्यैतत् प्रयोजनं—लोहित-शब्दाद् डाजन्तेभ्यश्चोभयपदमेव स्यात् । अन्येभ्यो लोहितादिभ्यो भृशादिपाठेन क्यङ् विधेयः तस्य ङित्वादात्मनेपदं च ॥ १३ ॥

अच्व्यन्त ['लोहितादि-डाज्भ्यः'] लोहितादि और डाच्-प्रत्ययान्त जो प्रातिपदिक, उन से भू धातु के अर्थ में ['क्यष्'] क्यष्-प्रत्यय हो । अच्व्यन्त की अनुवृत्ति होने से अभूततद्भाव में क्यष् होता है । अलोहितो लोहितो भवति=लोहितायति=लोहितायते । यहां लोहित से

१ मा० –मू० ५९१ ॥ चा० म० "डाज्लोहितादिभ्यः क्यष् ॥" (१ । १ । ३१)

२ १ । ३ । ९० ॥

३ ३ । २ । १७० ॥

४ चन्द्रः—"आकृतिगणश्चायम् ।" इत्येव, न च गणशब्दान् पठति ॥

५ २-७ शब्दानां स्थाने बोटलिङ्कः —"चरित । नील । फेन । मद्र । हरित ।"

६ बोटलिङ्को गणान्ते—"K. ausserdem: पीत"

७ ५-८ शब्दानां स्थाने जयादित्यः—"मद्र फेन ।"

८ आकृतिगणोऽयमिति सर्वसम्मतम् ।

९ अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

पटपटायति । पटपटायते । यहां डाजन्त से क्यष् हुआ है । क्यष्-प्रत्ययान्त से आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों होते हैं ॥

क्यष्-प्रत्यय में ककार इसलिये है कि 'क्याच्छन्दसि'[1] । इस सूत्र में सामान्यग्रहण से उ-प्रत्यय हो जावे । और षकार उभयपद के लिये ॥

'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनम् ॥' लोहितादि शब्दों से जो क्यष्-प्रत्यय कहा है, वह केवल लोहित से हो । अन्य जो लोहितादि रहे, उन के भृशादिकों में समझने से क्यङ् होता है । प्रयोजन यह है कि लोहित-शब्द से उभयपद और अन्य लोहितादिकों से आत्मनेपद ही हो ॥

लोहितादिगण पूर्व लिख दिया है ॥ १३ ॥

कष्टाय क्रमणे[2] ॥ १४ ॥

क्यङनुवर्त्तते । क्यष् निवृत्तः । कष्टाय । ४ । १ । क्रमणे । ७ । १ । 'कष्टाय' इति तादर्थ्ये चतुर्थी । क्रमणे=अनार्जवे । चतुर्थ्यन्तादनार्जवे वर्तमानात् कष्ट-शब्दात् क्यङ्-प्रत्ययो भवति । कष्टाय [कर्मणे] क्रामति=कष्टायते । क्यङनुवृत्त्याऽऽत्मनेपदमेव भवति ॥

अत्यल्पमिदमुच्यते कष्टायेति ।

सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः[3] कण्वचिकीर्षायाम् ॥[4] १ ॥

कण्वचिकीर्षायाम्=पापचिकीर्षायाम् । सत्रायते । कक्षायते । कष्टायते । कृच्छ्रायते । गहनायते ॥

सत्रादिभ्य इति किम् । कुटिलायानुवाकाय क्रामति ।

चतुर्थ्यन्तेभ्य इति किम् । अजः कष्टं क्रामति ॥[4]

अत्रोभयत्र क्यङ्-प्रत्ययो न स्यात् ॥ १४ ॥

['क्रमणे'] क्रमण अर्थात् कठिन अर्थ में वर्त्तमान जो ['कष्टाय'] चतुर्थ्यन्त कष्ट-शब्द, उस से क्यङ्-प्रत्यय हो । कष्टाय क्रामति=कष्टायते । यहां क्यङ् की अनुवृत्ति होने से केवल आत्मनेपद ही होता है ॥

'सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम् ॥' सत्र, कक्ष, कष्ट कृच्छ्र, गहन, चतुर्थ्यन्त इन सब शब्दों से क्यङ्-प्रत्यय हो पाप करने की इच्छा में । सत्रायते । यहां सत्र-शब्द से । कक्षायते । कष्टायते । कृच्छ्रायते । गहनायते । यथाक्रम उक्त शब्दों से यहां क्यङ् होता है । सत्रादि ग्रहण इसलिये है कि 'कुटिलायानुवाकाय क्रामति ।' यहां क्यङ् न हो । और चतुर्थ्यन्तों से इसलिये कहा है कि 'अजः कष्टं क्रामति' यहां भी कष्ट-शब्द से क्यङ्-प्रत्यय नहीं हुआ ॥ १४ ॥

---

१. ३ । २ । १७० ॥

२. आ०—सू० ५९४ ॥ चा० शं० —"कष्टकक्षसत्रगहनाय पापे क्रमणे ॥" (१ । १ । ३२)

३. पाठान्तरम् —सत्रकक्षकष्टगहनेभ्यः ॥

४. द्रष्टव्यं अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः[1] ॥ १५ ॥

क्यङनुवर्तते । कर्मणः । ५ । १ । रोमन्थ-तपोभ्याम् । ५ । २ । वर्त्तिचरोः । ६ । २ । **उद्गीर्णस्य वाऽवगीर्णस्य वा मन्थः=रोमन्थः** । उद्गीर्णशब्दस्याऽवगीर्णशब्दस्य वा पृषोदरादित्वाद् रोभावः । 'वर्त्ति' इति णिजन्तनिर्देशः ॥ वर्त्ति-धातो रोमन्थात् कर्मणः, चर-धातोश्च तपसः कर्मणः क्यङ्-प्रत्ययो भवति । रोमन्थं वर्त्तयति=रोमन्थायते महिषः । तपश्चरति=तपस्यति ।

वा०—हनुचलन इति वक्तव्यम् ॥[2] १ ॥

हनुचलनेऽर्थे रोमन्थ-शब्दात् क्यङ् भवति । तेन 'कीटो रोमन्थं वर्तयति' अत्र हनुचलनाभावात् क्यङ् न भवति ॥

तपसः परस्मैपदं च ॥[2] २ ॥

ङित्वादात्मनेपदं प्राप्तं प्रतिषिध्यते । तपस्यति ॥ १५ ॥

रोमन्थ उस को कहते—चबरे हुए आनन्द में स्थिर होके पशु जो मुख चलाते हैं । [वर्त्तिचरो, रोमन्थ-तपोभ्याम्, कर्मणः'] णिजन्त वृत धातु का जो रोमन्थ कर्म और चर धातु का जो तपस् कर्म, इन से क्यङ्-प्रत्यय हो । रोमन्थं वर्त्तयति=रोमन्थायते वृषभः । यहां रोमन्थ-शब्द से । तपश्चरति=तपस्यति । और कर्मवाची तपस्-शब्द से क्यङ् प्रत्यय हुआ है ॥

'हनुचलन इति वक्तव्यम् ॥' रोमन्थ-शब्द से थूथर के चलाने में क्यङ्-प्रत्यय हो । प्रयोजन यह है कि 'कीटो रोमन्थं वर्त्तयति' कीड़ों के थूथर नहीं होती, इससे यहां क्यङ् नहीं हुआ ॥

'तपसः परस्मैपदं च ॥' क्यङ्-प्रत्ययान्त तपस्-शब्द से परस्मैपद हो, क्योंकि क्यङ् के ङित् होने से नित्य आत्मनेपद प्राप्त है, उस का निषेध इस दूसरे वार्त्तिक से हो जावे ॥ १५ ॥

बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने[3] ॥ १६ ॥

'कर्मणः' इत्यनुवर्त्तते, क्यङ् च । बाष्पोष्मभ्याम् । ५ । २ । उद्वमने । ७ । १ । उद्वमनम्=उद्गीर्णम् । कर्मवाचिभ्यां बाष्पोष्म-शब्दाभ्यामुद्वमनेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति । बाष्पमुद्वमति=बाष्पायते कूपः । ऊष्मायते मनुष्यः ॥

उद्वमनमिति किम् । बाष्पं चरति नदी । अत्र क्यङ् मा भूत् ॥

१ आ०—सू० ५९६ ॥ चा० श०—"रोमन्थं वर्त्तयति हनुचाले ॥" (१ । १ । ३३)
२. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
३ आ०—सू० ५९९ ॥ चा० श०—"बाष्पोष्मफेनमुद्वमति ॥" (१ । १ । ३४)

वा०—फेनाच्च ॥[1]

फेन-शब्दाच्चोद्गमने क्यङ् स्यात् । फेनमुद्वमति = फेनायते ॥ १६ ॥

उद्वमन = ऊपर को निकलना । ['बाष्प-ऊष्मभ्याम्'] बाष्प और ऊष्मवाची शब्दों से ['उद्वमने'] उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो । बाष्पमुद्वमति = बाष्पायते कूपः । ऊष्मायते । यहां बाष्प और ऊष्म-शब्द से क्यङ् होने से आत्मनेपद होता है ॥

उद्वमन-ग्रहण इसलिये है कि "बाष्प धरति नदी' यहां क्यङ् न हो

'फेनाच्च ॥' फेन-शब्द से भी उद्वमन अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो । फेनायते । यहां इस वार्त्तिक से क्यङ् हुआ ॥ १६ ॥

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे[2] ॥ १७ ॥

क्यङनुवर्त्तते, 'कर्मणि' इति च । शब्द-वैर-कलह-अभ्र-कण्व-मेघेभ्यः । ५ । ३ । करणे । ७ । १ । 'शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ' इत्येतेभ्यः कर्मशब्देभ्यः करणे = करोत्यर्थे क्यङ्-प्रत्ययो भवति । शब्दं करोति = शब्दायते । वैरं करोति = वैरायते । कलहायते । अभ्रायते । कण्वायते । मेघायते । सर्वत्र प्रत्ययार्थः करणम् ॥

'करणे' इति किम् । वैरं त्यजति ॥

'शब्दादिभ्यः' इति किम् । हासं करोति । अत्रोभयत्र क्यङ् न स्यात् ॥

वा०—अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाप्लुष्टाग्रहणम्[3] ॥[1] [१ ॥]

अटादिभ्योऽपि करोत्यर्थे क्यङ् भवति । अटां करोति = अटायते । अट्टायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते । सोटायते । प्रुष्टायते । प्लुष्टायते ॥ १ ॥

सुदिनदुर्दिनाभ्यां च[4] ॥[1] [२ ॥]

सुदिनं करोति = सुदिनायते । दुर्दिनायते ॥ २ ॥

नीहाराच्च ॥[1] ३ ॥

नीहार-शब्दाच्च करोत्यर्थे क्यङ् । नीहारं करोति = नीहारायते ॥ ३ ॥ १७ ॥

१. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
२ द्रा०—सू० ६०१ ॥ चा० शि०—'शब्दादीन् करोति ॥' (१।१।३६)
३ काशिकाकोशे तु—"०सोटाकष्टाग्रहणं" इति "अट्टाटाशीका०सोटाकृष्टाश्रुष्टापृष्टाग्रहणं' इति वा पाठः ॥
४ जयादित्यः—'सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम् ॥' इति महाभाष्यस्थयोर्द्वयोर्वार्त्तिकयोः स्थाने एकं वार्त्तिकं पठति ॥

[शब्द-वैर-कलह-अभ्र-कण्व-मेघेभ्यः'] शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ कर्मवाची इन शब्दों से ['करणे'] कृ धातु के अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो। शब्दं करोति = शब्दायते। वैरायते। कलहायते। अभ्रायते। कण्वायते। मेघायते। यहां क्यङ्-प्रत्यय का अर्थ करना है। क्यङ् के ङित् होने से सर्वत्र आत्मनेपद होता है ॥

शब्दादि का ग्रहण इसलिये है कि 'हासं करोति' यहां न हो ॥

और करण-ग्रहण इसलिये है कि 'वैरं त्यजति' यहां भी क्यङ्-प्रत्यय न हो ॥

अटाट्टा० ॥' अटा, अट्टा, शीका, कोटा, पोटा, सोटा, प्रुष्टा, प्लुष्टा, इन शब्दों से कृ धातु के अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो अटां करोति = अटायते। अट्टायते। शीकायते। कोटायते। पोटायते। सोटायते। प्रुष्टायते। प्लुष्टायते। यहां सूत्र से क्यङ् नहीं पाता था इसलिये वार्त्तिक से विधान किया ॥ १ ॥

'सुदिनदुर्दिनाभ्यां च ॥' 'नीहाराच्च ॥' सुदिन, दुर्दिन, नीहार, इन शब्दों से भी कृ धातु के अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो। सुदिनं करोति = सुदिनायते। दुर्दिनायते। नीहारायते। यहां भी अपूर्व विधान किया है [२ ॥ ३ ॥] ॥ १७ ॥

सुखादिभ्यः कर्तृ वेदनायाम्[1] ॥ १८ ॥

कर्मग्रहणमनुवर्त्तते, क्यङ् च। सुखादिभ्यः। ५। ३। कर्तृ। ६। १। वेदनायाम्। ७। १। कर्तृ-शब्दे 'सुपां सुलुक्०[2] ॥' इति षष्ठ्या एकवचनस्य लुक्। तेन 'कर्तुः सम्बन्धीनि सुखादीनि' इति विशेष्यते[3]। कर्तुः सम्बन्धिभ्यः सुखादिकर्मभ्यो वेदनायां सत्यां क्यङ् प्रत्ययो भवति। सुखं वेदयते = सुखायते। दुःखं वेदयते = दुःखायते। स्वकीयं सुखं दुःखं वा वेदयते। यदि कर्तृ-शब्दस्य वेदनया सह समासः स्यात्, तर्हि कर्तृ-ग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवन्त्येव सुखादीनि स्वकीयानि परकीयानि च। तत्र वेदनया सह समासे परकीयसुखस्य वेदनायामपि क्यङ् प्राप्नुयात्। सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य। अत्र देवदत्तस्य सुखेन सह सम्बन्धः, प्रसाधकश्च वेदनायाः कर्त्ता। अत्र क्यङ् मा भूदिति कर्तृ-ग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥

'वेदनायाम्' इति किम्। सुखं साधयति। अत्र क्यङ् मा भूत् ॥

अथ सुखादिगणः—[१] सुख [२] दुःख [३] तृप्र[4] [४] गहन[5]

१ अ० — पू० ६०५ ॥ चा० सू०—"सुखादीनि वेदयते ॥" (१।१।३५)

२ ७। १। ३९ ॥

३ महाभाष्ये—"न कर्तृग्रहणेन वेदनाभिसम्बध्यते। किं तर्हि। सुखादीन्यभिसम्बध्यन्ते। कर्तृयानि सुखादीनि।"

४ चन्द्र-वर्धमानौ —तृप्र ॥ केषुचित् काशिकाकोशेषु—तीव्र ॥ गणरत्ने—"तृप्रं = दुःखम्।" (८। ४४४)

५. चन्द्रो न पठति, बोटलिङ्कस्त्वाह ॥

[५] कृच्छ्र[1] [६] अस्र [७] आस्र[2] [८] अलीक [९] प्रतीप[3] [१०] करुण [११] कृपण [१२] सोढ ॥ इति सुखादिगणः ॥ १८ ॥

['कर्तृ'] कर्त्ता के सम्बन्धी जो ['सुखादिभ्यः'] सुखादि कर्मवाची शब्द, उनसे ['वेदनायाम्'] वेदना अर्थात् जानने अर्थ में क्यङ्-प्रत्यय हो। सुखं वेदयते=सुखायते। अपने सुख को जानता है। इस अर्थ में यहां सुख-शब्द से क्यङ् हुआ। इस सूत्र में कर्तृ-शब्द से षष्ठी के एक वचन का लुक् हो गया है अर्थात् वेदना शब्द के साथ समास नहीं। जो वेदना-शब्द के साथ समास हो तो [चाहे] जनाने वाला अपने सुख को जनावे वा दूसरे के सुख को, दोनों के जनाने में क्यङ् प्राप्त हो। और फिर कर्तृ-ग्रहण का भी कुछ प्रयोजन न रहे। इसलिये कर्तृ-शब्द का सुख के साथ सम्बन्ध किया है कि [जहां] जनाने वाला अपने सुख को जनावे, वहीं क्यङ् हो॥

वेदना-ग्रहण इसलिये है कि 'सुखं साधयति' यहां क्यङ्-प्रत्यय न हो॥

सुखादि शब्द पूर्व संस्कृत में यथाक्रम सब लिख दिये हैं॥ १८॥

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥[4] १९ ॥

['करणे' इत्यनुवर्त्तते।] नमोवरिवश्चित्रङः। ५। १। क्यच्। १। १। क्यङनुवृत्तौ सत्यां क्यच् परस्मैपदार्थम्॥

वा०—नमसः पूजायाम्। वरिवसः परिचर्यायाम्। चित्रङ आश्चर्ये॥[5]

पूजा=सत्कारः। परिचर्या=सेवनम्। पूजायां वर्त्तमानान्नमस्-शब्दात्, परिचर्यायां वर्त्तमानाद् वरिवस्-शब्दाद्, आश्चर्यार्थाच्चित्र-शब्दाच्च क्यच्-प्रत्ययो भवति। नमस्यति देवान्। **'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'**[6] इति चतुर्थी प्राप्तिश्च द्वितीया विभक्तिर्भवति। वरिवस्यति पितरं मातरं वा। सेवां करोति [इत्यर्थः।] **चित्रीयते**। चित्र-शब्दे ङित्करणं क्यजन्तादात्मनेपदार्थम्। **'अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति[7]'** इति क्यजन्तादात्मनेपदं भवति॥ १९॥

---

१. अत उत्तरं बोटलिङ्कः—"आश्र (आस्र K)"

२. चन्द्र-जयादित्य-बोटलिङ्का नैतं शब्दं पठन्ति॥
गणरत्ने—"अस्रमवास्रम्।" (८। ४४४)

३. चन्द्र प्रतीप-शब्दं सोढ-शब्दादुत्तरं गणान्ते पठति॥
बोटलिङ्क. ८-१२ शब्दानां स्थाने—"करुण (करुणा K), सोढ, प्रतीत (प्रमीप ' K.), शील, हल, मारला सेपे, कृपण, प्रणय (प्रणाय्य), दल, कक्ष" इति॥

४ आ०—सू० ६०६॥ चा० श०—"नमस्तपोवरिवसः क्यच्॥ चित्रङ आश्चर्ये॥" (१। १। ३७, ३८)

५. अ० ३। पा० १। आ० २॥

६ पा०—सू० ८२॥ प०—सू० ९४॥

७ द्रष्टव्या पा० सू० १११॥

क्यङ् की अनुवृत्ति चली आती, फिर क्यच्-ग्रहण परस्मैपद के लिये है। नमस् आदि शब्दों के अर्थनिर्देश महाभाष्य में किये हैं। ['नमोवरिवश्चित्रङः'] पूजा अर्थ में नमस्-शब्द से, परिचर्या अर्थात् सेवा में वरिवस्-शब्द से और आश्चर्य अर्थ में चित्र-शब्द से ['क्यच्'] क्यच्-प्रत्यय हो। नमस्यति देवान्। यहां देव-शब्द से उपपद विभक्ति चतुर्थी को बाधके कारक विभक्ति द्वितीया हो जाती है। वरिवस्यति गुरून्। गुरु की सेवा करता है। चित्रीयते। आश्चर्य करता है। यहां चित्र-शब्द के ङित् पढ़ने से क्यजन्त से आत्मनेपद होता है क्योंकि अवयव में ङित् का चिह्न किया है, वह क्यजन्त समुदाय को आत्मनेपद करता है॥ १९॥

पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्[1] ॥ २० ॥

पुच्छ-भाण्ड-चीवरात्। ५। १। णिङ्। १। १। पुच्छादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥

वा०—पुच्छादुदसने पर्यसने च। भाण्डात् समाचयने। चीवरादर्जने परिधाने च[2]॥[3]

पुच्छ-शब्दादुदसनपर्यसनयोः, भाण्डात् समाचयने, चीवरादर्जनपरिधानयोश्च णिङ्-प्रत्ययो भवति। पुच्छमुदस्यति पर्यस्यति वा=उत्पुच्छयते,=परिपुच्छयते। भाण्डानि समाचिनोति=सम्भाण्डयते। चीवरमर्जति परिदधाति वा=चीवरयते॥

अत्र णिङो ङित्वात् सर्वत्रात्मनेपदं भवति। णकारोऽनुबन्धो णि-ग्रहणेन ग्रहणार्थः॥ २०॥

['पुच्छ-भाण्ड-चीवरात्'] पुच्छ-शब्द से उदसन और पर्यसन अर्थ में, भाण्ड-शब्द से समाचयन में और चीवर-शब्द से अर्जन तथा परिधान अर्थ में ['णिङ्'] णिङ्-प्रत्यय हो। उत्पुच्छयते। सम्भाण्डयते। चीवरयते। यहां णिङ् के ङित् होने से सब प्रयोगों में आत्मनेपद होता है। णकार अनुबन्ध इसलिये किया है कि जहां सामान्य णि का ग्रहण है वहां इस णिङ् का भी ग्रहण हो जावे॥ २०॥

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच्[4] ॥ २१ ॥

'सत्यापपाश०[5]॥' इति सूत्रात् करण-ग्रहणमनुवर्त्तते। मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यः। ५। ३। णिच्। १। १। मुण्डादिभ्यः करोत्यर्थे

---

१. भा०—सू० ६७० ॥

२. पाठान्तरे क्रमभेदश्च—"भाण्डात् समाचयने। चीवरादर्जने परिधाने वा। पुच्छादुदसने पर्यसने चेति।"

३. अ० ३। पा० १। आ० २॥ पूर्वसूत्रस्य व्याख्याने॥

४. भा०—सू० ६०८॥

५. ३। १। २५॥

णिच् प्रत्ययो भवति । मुण्डं करोति=मुण्डयति माणवकम् । मिश्रयति गुडम् । श्लक्ष्णयति । लवणयति । व्रतयति । वस्त्रयति । हलिं करोति=हलयति । कलिं करोति=कलयति । कृतयति । तुस्तयति । मुण्डादयः सर्वे शब्दा अदन्ताः । हलकलाविकारान्तौ ।

वा०—हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् ॥[1]

इकारस्य निपातनेनाकारः । तस्यातो लोपे सत्यग्लोपिनौ भवतः । तेन लुङ्लकारे 'सन्वल्लघुनि०[2]॥' इति सन्वद्भावः प्राप्नोति । स मा भूत् । अजहलत् । अचकलत् । अत्र सन्वदभ्यासस्येत्वं न स्यात् ॥ २१

पूर्व से करण की अनुवृत्ति चली आती है । ['मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यः'] मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तुस्त, इन शब्दों से कृ धातु के अर्थ में ['णिच्'] णिच्-प्रत्यय हो । 'मुण्डं करोति=मुण्डयति माणवकम्' इत्यादि उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं । वैसे ही यहां भी जानना । मुण्ड आदि सब शब्द अकारान्त हैं, परन्तु हलि और कलि इन इकारान्त शब्दों को अकारान्त निपातन करके पढ़ा है । प्रयोजन यह है कि लुङ् लकार में 'अजहलत् । अचकलत्' यहां इकार के होने से सन्वद्भाव पाता है सो उस का निषेध होने के लिये अकारान्त निपातन किये हैं ॥ २१ ॥

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्[3] ॥ २२ ॥

'धातोः कर्मणः०[4]॥' इति सूत्रात् सर्वस्मिन् प्रकरणे वा-ग्रहणमनुवर्त्तते । धातोः । ५ । १ । एकाचः । ५ । १ । हलादेः । ५ । १ । क्रियासमभिहारे । ७ । १ । यङ् । १ । १ । **समभिहरणं=समभिहारः** । सम्-अभि-पूर्वात् हृ-धातोर्भावे घञ् । क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः, तस्मिन् । एकाचो हलादेर्धातोः क्रियासमभिहारे =क्रियायाः पौनःपुन्ये [भृशार्थे वा] गम्यमाने विकल्पेन यङ् प्रत्ययो भवति । पक्षे एकाज्झलादिधातुभ्योऽपि क्रियासमभिहारे लोड् यथा स्यात् । पुनः पुनः पचति=पापच्यते । पापठ्यते । यायज्यते । पक्षे लोट् । 'पच पच' इत्येवायं पचति । 'पठ पठ' इत्येवायं पठति । 'यज यज' इत्येवायं यजति ॥

'धातोः' इति किम् । सोपसर्गाद् यङ् मा भूत् । प्राटति भृशम् । अत्र प्र-पूर्वकोऽट् हलादिरेकाच्च, तत्र यङ् प्राप्नोति ॥

---

१ अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

२. ७ । ४ । ९३ ॥

३ आ०—सू० ५२६ । चा० श०—"एकाचो हलादेः क्रियार्थाद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् ॥ (१ । १ । ४०)

४ ३ । १ । ७ ॥

'एकाचः' इति किम् । जागर्त्ति भृशम् । अत्र यङ् मा भूत् ।।

'हलादेः' इति किम् । पुनः पुनरीक्षते । अत्रापि यङ् न स्यात् ।।

वा०—सूचिसूत्रिमूत्र्यटत्यर्त्यशूर्णोतीनांग्रहणं यङ्विधाने[1] ॥ १ ॥

सूच्यादयस्त्रयो धातवोऽनेकाच , अन्ये चाजादयः । तेभ्यः सूत्रेणाप्राप्तो यङ् विधीयते । सोसूच्यते । सोसूत्र्यते । मोमूत्र्यते । अटाट्यते । अरार्यते । अशाश्यते । प्रोर्णोनूयते । वार्तिकपठितेभ्योऽपि सूच्यादिभ्यो विकल्पेनैव यङ् भवति । पक्षे स्यादेव लोट् ।।

का०—वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।
आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात् ॥[2] १ ॥

'**ऊर्णुञ् आच्छादने**'[3] इत्यस्य धातोर्णुवद्भावः स्यात् । णु-धातोर्यानि कार्याणि तान्यस्यापि यथा स्युः । णुरेकाच् हलादिश्च । अयमपि णुवद्भावेनैकाच् हलादिश्च, तस्माद् यङ् प्रसिध्येत् । न वार्त्तिकेऽस्य ग्रहणं स्यादित्यर्थः । णुवद्भावेन हलादिः, तेनेजादित्वाभावाद् '**इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः**'[4] ॥' इत्याम्-प्रत्ययस्य प्रतिषेधः स्यात् । तत्र वार्तिकेनाम्-प्रत्ययस्य प्रतिषेधः कृतः, तद्वार्त्तिकं न पठितव्यम् । णुरेकाजनुदात्तश्च । अयमपि णुवद्भावेनैकाजनुदात्तश्च । तेनेडुपग्रहः '**एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्**'[5] ॥' इतीट्प्रतिषेधो यथा स्यात् ।। २२ ।।

पूर्व से विकल्प की अनुवृत्ति चली आती है । ['धातोरेकाचो हलादेः'] एकाच् हलादि धातुओं से ['क्रियासमभिहारे'] क्रिया के समभिहार अर्थात् बार बार करने [और भृशार्थ] में विकल्प करके ['यङ्'] यङ्-प्रत्यय हो । पक्ष में एकाच् हलादि धातुओं से भी क्रिया के समभिहार में लोट् लकार हो जावे[6] । पुनः पुनः पचति=पापच्यते । पापठ्यते । अत्यन्त पकाना, शीघ्र पकाना, सम्पूर्ण साधनों से पकाना इत्यादि अर्थों में यहां यङ्-प्रत्यय होता है । पक्ष में 'पच पच इत्येवायं पचति' यहां क्रियासमभिहार में लोट् लकार होता है ॥

धातु-ग्रहण इसलिये है कि 'प्राटति भृशम्' यहां सोपसर्ग से यङ् न हो ।।

एकाच् ग्रहण इसलिये है कि 'जागर्त्ति भृशम्' यहां बह्वच् जागृ धातु से यङ् न हो ।

और हलादि-ग्रहण इसलिये है कि 'पुनः पुनरीक्षते' यहां भी यङ्-प्रत्यय न हो ।।

'सूचिसूत्रि० ।।' सूचि, सूत्रि, मूत्रि, अटि, अर्त्ति, अशू, ऊर्णोति, इन धातुओं से भी क्रियासमभिहार में यङ्-प्रत्यय हो । 'सोसूच्यते' इत्यादि उदाहरण संस्कृत में लिख दिये हैं ।

१. पाठान्तरम् —"अशूर्णोतीनां ग्रहणं कर्तव्यम् ।" वा० ग्र० —"सूचिसूत्रिमूत्र्यटत्यर्त्यशूर्णुभ्यः ।" (१ । १ । ४१)

२. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

३. धा०—अदा० ३० ॥

४. ३ । १ । ३६ ॥

५. ७ । २ । १० ॥

६. ३ । ४ । २ ॥

यहां सूचि आदि तीन धातु अनेकाच् तथा अन्य धातु अजादि हैं। इस कारण सूत्र से यङ् नहीं प्राप्त था। इसलिये यह वार्त्तिक पढ़ा है॥

'वाच्यः०॥' 'ऊर्णुञ् आच्छादने[1]' इस धातु को णु धातु के तुल्य कार्य हो ऐसा कहना चाहिये। णु धातु एकाच् हलादि है। उस के तुल्य ऊर्णुञ् को भी एकाच् हलादि मानने से यङ्-प्रत्यय हो जाय। अर्थात् वार्त्तिक में इस का पाठ नहीं करना चाहिये। तथा णु धातु हलादि है। उस से लिट् के पर [होते हुए] आम्-प्रत्यय नहीं होता। ऊर्णुञ् को भी हलादि मानने से आम्-प्रत्यय न हो। अर्थात् प्रत्यय के निषेध के लिये जो वार्त्तिक पढ़ा है, उस का भी कुछ प्रयोजन नहीं। और णु धातु उपदेश में एकाच् अनुदात्त है, इस को भी एकाच् अनुदात्त मानके इट् का प्रतिषेध हो जावे। इत्यादि प्रयोजनों के लिये ऊर्णुञ् धातु को णुवद्भाव इस कारिका से किया। २२॥

नित्यं कौटिल्ये गतौ[2] ॥ २३ ॥

विकल्प-ग्रहणं निवृत्तम्। नित्यम्। १। १। कौटिल्ये। ७। १। गतौ ७। १। कौटिल्ये=कुटिलतायां सत्यां गत्यर्थधातुभ्यो नित्यं यङ्-प्रत्ययो भवति। कुटिलं व्रजति= वाव्रज्यते। कुटिलं क्रामति=चङ्क्रम्यते। दन्द्रम्यते॥

'कौटिल्ये' इति किम्। भृशं क्रामति। अत्र क्रियासमभिहारे यङ् न भवति॥

'गतौ' इति किम्। कौटिल्येन पचति। अत्रापि न स्यात्॥ २३॥

नित्य के होने से विकल्प की निवृत्ति हुई। ['कौटिल्ये'] कुटिलता अर्थ में ['गतौ'] गत्यर्थक धातुओं से ['नित्यम्'] नित्य यङ्-प्रत्यय हो। कुटिलं व्रजति=वाव्रज्यते। यहां व्रज धातु से यङ्-प्रत्यय हुआ है॥

कौटिल्य-ग्रहण इसलिये है कि 'भृशं क्रामति' यहां क्रियासमभिहार में यङ् न हो॥

और गति-ग्रहण इसलिये है कि 'कुटिलं करोति' यहां भी कौटिल्य अर्थ में यङ् न हो॥ २३॥

लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम्[3] ॥ २४ ॥

नित्य-ग्रहणमनुवर्त्तते। लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यः। ५। ३। भावगर्हायाम्। ७। १। भावस्य=धात्वर्थस्य गर्हा=भावगर्हा, तस्याम्। लुप, सद, चर, जप, जभ, दह, दश, गृ' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो भावगर्हायां सत्यां यङ् प्रत्ययो

१. धा०—अदा० ३०॥
२. भ्वा०—सू० ५३२॥ वा० भ०—"गत्यर्थात् कौटिल्य एव॥" (१। १। ४२)
३. भ्वा०—सू० ''॥ वा० भ०—(। १। १। ४३) "लुपसदचरगृजपजभदहदशो गर्ह्यति॥"

भवति । गर्हितं लुम्पति=लोलुप्यते । गर्हितं सीदति=सासद्यते । चञ्चूर्यते । जञ्जप्यते । दन्दह्यते । दन्दश्यते । जेगिल्यते ॥

नित्य ग्रहणाल्लुपादिभ्यो भावगर्हायामेव यङ् भवति, किन्तु 'भृशं लुम्पति' अत्र क्रियासमभिहारे न भवति ॥

'भावगर्हायाम्' इति किम् । साधु जपति । अत्रापि यङ् मा भूत् ॥ २४ ॥

['लुप-सद-चर-जप-जभ-दह-दश-गृभ्यः'] लुप, सद, चर, जप, जभ, दह, दश, गृ इन धातुओं से ['भावगर्हायाम्'] भावगर्हा [अर्थात्] धातु के अर्थ की निन्दा में नित्य यङ्-प्रत्यय हो । 'गर्हितं लुम्पति=लोलुप्यते' इत्यादि उदाहरणों में यङ्-प्रत्यय होता है ।

नित्य-ग्रहण होने से लुप आदि धातुओं से भावगर्हा में ही यङ् होता है, किन्तु 'भृशं लुम्पति' यहां क्रियासमभिहार में न हो ॥

भावगर्हा-ग्रहण इसलिये है कि 'साधु जपति' यहां भी यङ्-प्रत्यय न हो ॥ २४ ॥

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्[1] ॥२५॥

[सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यः । ५ । ३ । णिच् । १ । १ ।] 'सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चुरादि' [इति] एतेभ्यो णिच् प्रत्ययो भवति । 'सत्याप' इति सत्य शब्दादापुङ् निर्दिश्यते । करणसामान्ये सत्यादिभ्यो णिज् भवति । **सत्यं करोति=सत्यापयति ।** पाशयति । रूपयति । वीणयति । तूलयति । श्लोकयति । सेनयति । लोमयति । त्वचयति । वर्मयति । वर्णयति । चूर्णयति । चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे णिज् भवति । चोरयति । चिन्तयति । मन्त्रयति । स्वाभाविकोऽत्र प्रत्ययार्थः । तत्र यस्मात् सत्यादेर्योऽर्थः सम्भवति तस्मात्तस्मिन् णिजुत्पद्यते[2] । यथा—रूपं पश्यति=रूपयति । वीणां वादयति [=वीणयति] । इत्यादि करोतेः सामान्यधातुत्वाद् भवन्ति ॥

१ आ०—सू० ४५६ ॥ चा० श० —"चुरादिभ्यो णिच् ॥" (१ । १ । ४५)

२ अत्र जयादित्यः—"पाशाद् विमोचने । विपाशयति । वीणयोपगायति, उपवीणयति । तूलेनानुकुष्णाति, अनुतूलयति । श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनयाऽभियाति, अभिषेणयति । लोमान्यनुमार्ष्टि, अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति, त्वचयति । अकारान्तस्त्वच-शब्दः । वर्मणा सन्नह्यति संवर्मयति । वर्णं गृह्णाति, वर्णयति । चूर्णैरवध्वंसयति, अवचूर्णयति ।

वा—णिविधावर्थवेदसत्यानामापुक् च ॥[1]

सत्य-शब्दादापुङ् निर्दिष्टस्तत्र ['अर्थ, वेद' इति] द्वाभ्यामपि निर्देष्टव्यम् । अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति । इति विशेषविधानार्थम् ॥ २५ ॥

['सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्य'] सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण, चुरादि, इन शब्दों से सामान्य कृ धातु के अर्थ में ['णिच्'] णिच् प्रत्यय हो । सत्य-शब्द से आपुक् का आगम निर्देश किया है । सत्य करोति=सत्यापयति । यहां प्रत्ययार्थ शब्दों के अनुकूल होता है । इसलिये सामान्य अर्थ में होने से जिस शब्द से जिस अर्थ में सम्भव हो, उस से उस अर्थ में होता है जैसे—रूपं पश्यति [=रूपयति] । यहां 'रूप' का देखना सम्भव है, इसलिये रूप-शब्द से देखने में णिच्-प्रत्यय हुआ । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना ॥

'णिविधावर्थ० ॥' सत्य शब्द से आपुक् निर्देश किया है, वहां अर्थ और वेद-शब्द से भी हो । अर्थं करोति=अर्थापयति । वेदमुपदिशति=वेदापयति । इस विशेष विधान करने के लिये दो शब्दों से आपुक् विधान किया है ॥ २५ ॥

हेतुमति च ॥ २६ ॥

हेतुमति । ७ । १ । च । [अ० ।] हेतुः प्रयोजककर्त्ताऽस्य तत् प्रयोजकत्वं हेतुमत्, तस्मिन् । हेतुमत्यभिधेये धातोर्णिच् प्रत्ययो भवति । कटं कारयति । ओदनं पाचयति । विद्यां पाठयति । ग्रामं गमयति । अत्र प्रेरकत्वं प्रत्ययार्थः ॥

अथ वार्त्तिकानि—

तत्करोतीत्युपसंख्यानम्[2] ॥ [१ ॥]

सूत्रयत्याद्यर्थम् । सूत्रं करोति=सूत्रयति । मूत्रयति[3] ॥

इह 'व्याकरणस्य सूत्रं करोति=व्याकरणं सूत्रयति' इति वाक्ये षष्ठ्युत्पन्ने[4] प्रत्यये द्वितीया । केनैतदेवं भवति । योऽसौ सूत्रव्याकरणयोरभिसम्बन्धः स उत्पन्ने प्रत्यये निवर्त्तते । अस्ति च करोतेर्व्याकरणेन सामर्थ्यमिति कृत्वा द्वितीया भविष्यति ॥१॥

आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे [इति] कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम् ॥[5] २ ॥

---

१. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥
२. महाभाष्येऽत्र परं "सूत्रयत्याद्यर्थम्" इत्यपि ॥
३. महाभाष्यकोशेषु न दृश्यते ॥
४. क्वचित् "च" इत्यधिकम् ॥
५. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

लोपागमवर्णविकारत्वेनाख्यायते=व्याख्यायत इत्याख्यानं यौगिकम्[1]। आख्यानाद् यौगिकात् कृदन्तात् तदाचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिच् प्रत्ययो भवति। णिच्युत्पन्ने कृत्प्रत्ययस्य लुक्। यादृश्याः प्रकृतेः कृत्प्रत्ययः कृतस्तादृशी प्रकृतिर्लुकि कृते भवेत्। प्रकृत्यनुकूलानि च कारकाणि भवेयु.। कंसस्य वधः=कंसवध। कंसवधमाचष्टे=कंसं घातयति। अत्र वध इति हनो वधादेशेनाख्यान कृदन्तं, तत्र '**हनश्च वधः**[2]।।' इत्यप्-प्रत्ययः। तद्योगे कंस-शब्दात् कर्मणि षष्ठी। एवं सति कंसवध-शब्दात् णिचि कृतेऽप्-प्रत्ययस्य लुक्। लुकि सति वधादेशो हनुप्रकृतित्वमापद्यते। कारकं—कृद्योगे षष्ठी पुन' प्रकृत्यनुकूला द्वितीया भवति। कंसं घातयति। राज्ञ आगमन=राजागमनम्। राजागमनमाचष्टे=राजानमागमयति। तव शायिकामाचष्टे=त्वां शाययति। त्वां जागरयति। एवमसङ्ख्याताः प्रयोगा सिध्यन्ति ।। २ ।।

आख्यानाच्च प्रतिषेधः ।।[3] ३ ।।

आख्यान-शब्दात् णिजेव न भवति। आख्यानमाचष्ट इति वाक्यमेव ।। ३ ।।

दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ ।।[3] ४ ।

आचष्ट इति दर्शनार्थाभिधायिनि सति कृदन्तात् णिच्, [कृल्लुक्,] प्रकृतिः स्वरूपमापद्यते, प्रकृतिवच्च कारकं भवति। मृगरमणमाचष्टे=मृगान् रमयति। मृगाणां रमणं=मृगरमणम्। मृगरमणमाचष्टे=पश्यति=मृगान् रमयति। अत्र दर्शनं प्रत्ययार्थः।

'दृश्यर्थायाम्' इति किमर्थम्। यदा हि ग्रामे मृगरमणमाचष्टे, 'मृगरमणमाचष्टे' इत्येव तदा भवितव्यम्[4] ।।[3]

ग्रामे मृगरमणमाचष्टे=कथयतीति दर्शनार्थाभावात् णिज् न भवति ।। ४ ।।

आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम् ।[3] ५ ।।

---

१ एवमेव चात्र जिनेन्द्रबुद्धि—"आख्यायत इत्याख्यानम्। यत् किञ्चिदाख्यायते तत् सर्वं राजागमनादिकमपीहाख्यानमभिप्रेतम्। न तु संज्ञाभूतमेव कंसवधादिकम्। तस्य यो वाचकः शब्द सोऽप्यभिधानेऽभिधेयोपचारादाख्यानमित्युच्यते ।।'

२. ३। ३। ७६ ।।

३. अ० ३। पा० १। आ० २ ।।

४ महाभाष्ये तु "तदा भवतीति"।

अत्यन्तश्चासौ संयोगः=अत्यन्तसंयोगः । कालेनात्यन्तसंयोगः=कालात्यन्त-संयोगः[1] । मर्य्यादा=परिमाणम्=इयत्ता । कालात्यन्तसंयोगे मर्यादाया कृदन्तात् णिच् प्रत्ययो भवति तदाचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे । कृत्प्रत्ययस्य लुक् । प्रकृतिः स्वरूपमापद्यते । प्रकृतिवच्च कारकं भवति । आङ्-शब्दस्य लोपश्च । आरात्रिविवासमाचष्टे=रात्रि विवासयति । यावद् रात्रिरतिक्रान्ता तावत् कथा कृतेति रात्र्या कालेन सह कथनस्यात्यन्तसंयोगः[2] । रात्रि-शब्दात् पूर्वं य आकारस्तस्य लोपः । विवास-शब्दो घञन्तस्तस्य घञो लुक् । अन्यानि कार्याणि पूर्ववत् ॥ ५ ॥

चित्रीकरणे प्रापि ॥[3] ६ ॥

चित्रीकरणे=आश्चर्यकरणे गम्यमाने प्रापि=तत्प्राप्नोतीत्यर्थे कृदन्तात् णिज् भवति । तस्य कृत्प्रत्ययस्य लुक् । प्रकृतिः स्वरूपमापद्यते । प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति । **उज्जयिन्याः** प्रस्थितो **माहिष्मत्यां**[4] सूर्योद्गमनं सम्भावयते=सूर्यमुद्गमयति । अत्रोज्जयिनी काचिन्नगरी तस्याः प्रस्थानं माहिष्मत्यां सूर्योदयस्य प्रापणमित्यधिकग-मनमाश्चर्यंकरणम् । सम्भावयते=सम्प्राप्नोति । '**भू प्राप्तावात्मनेपदी**'[5] इत्यस्मात् प्राप्त्यर्थे णिज्, आत्मनेपदं च । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ६ ॥

नक्षत्रयोगे ज्ञि ॥[3] ७ ॥

नक्षत्रयोगे गम्यमाने तज्जानातीत्यस्मिन्नर्थे कृदन्तात् णिज् वक्तव्यः । तस्य कृत्प्रत्ययस्य लुक् । प्रकृतिः स्वरूपमापद्यते । प्रकृतिवच्च कारकं भवति । पुष्ययोगं जानाति=पुष्येण योजयति । मघाभिर्योजयति । अत्र नक्षत्रेण सह चन्द्रमसो योगः । पुष्येण सह चन्द्रमसो योगस्तं जानातीत्यर्थः ॥ [७ ॥] २६ ॥

['हेतुमति'] हेतुमान् अर्थात् प्रेरणा करने अर्थ में धातुमात्र से णिच् प्रत्यय हो । कटं कारयति । विद्यां पाठयति । यहां 'प्रेरणा करना' यह णिच्-प्रत्यय का अर्थ है ॥

---

१ अत्र जिनेन्द्रबुद्धिः—"कृत्स्नस्य कालस्य व्याप्तिः कालात्यन्तसंयोगः ।"

२ जिनेन्द्रबुद्धिः—"रात्रेर्विवास इति षष्ठीसमासः । पश्चाद् 'आङ् मर्यादा० ॥' [२ । १ । १३] इत्यव्ययीभावसमासः । रात्रिशब्दश्चेह रात्रिसहचरितासु क्रियासु वर्त्तते । वसिरपि विपूर्वोऽतिक्रमे । तेनायमर्थो भवति । अस्तमयनात् प्रभृति या प्रवृत्ता क्रियास्ता यावदतिक्रान्ता रात्रिः साकल्येन कथयतीति ।"

३. अ० ३ । पा० १ । आ० २ ॥

४ पुरा हैहयानां राजधानी माहिष्मतीति विख्याताऽधुना मानधातेति क्षुद्रो ग्रामः । अयं नर्मदानद्या दक्षिणतीरे उज्जयिन्याश्चत्वारिंशत्क्रोशाध्वना विच्छिन्नः ॥

५. धा०—चुरा० ३०० ॥

इस सूत्र पर वार्त्तिक बहुत हैं। उन का अर्थ किया जाता है—

'तत्करो० ॥' कृ-धातु का कर्मवाची जो शब्द है उससे कृ-धातु के अर्थ में णिच्-प्रत्यय हो। सूत्र करोति=सूत्रयति। यहां करोति' इस अर्थ में सूत्र-शब्द से णिच्-प्रत्यय हुआ है। 'व्याकरणस्य सूत्रं करोति' यहां व्याकरण-शब्द का सूत्र के साथ सम्बन्ध होने से षष्ठी विभक्ति वाक्य में रहती है और जब णिच्-प्रत्यय आता है तब कृ-धातु का अर्थ णिच् में होने से द्वितीया विभक्ति 'व्याकरणं सूत्रयति' यहां व्याकरण में होती है ॥ १ ॥

आख्यानात्कृत० ॥' आख्यान अर्थात् यौगिक जो कृदन्त चक्षिङ्-धातु का कर्म शब्द उस से णिच्-प्रत्यय हो और कृत्-संज्ञक प्रत्यय का लुक्। 'आचष्टे' अर्थात् कथन करने अर्थ में। और जिस धातु [से] कृत्-संज्ञक प्रत्यय हुआ हो वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाय तथा उस धातु का कारक उस के अनुकूल हो जावे। कंसवधमाचष्टे=कंसं घातयति। यहां कंसवध-शब्द कृदन्त है, उससे आख्यान अर्थ में णिच् आया। तब वध-शब्द में हन्-धातु से कृत्-संज्ञक अप्-प्रत्यय हुआ था। उस के योग में कंस-शब्द से षष्ठी विभक्ति आई। सो णिच् के आने से कृत्-संज्ञक अप्-प्रत्यय का लुक्। हन्-धातु को अप्-प्रत्यय के पर [होने से] वध-आदेश हुआ था सो हन् फिर हो गया और उस के योग में कंस शब्द से षष्ठी थी सो द्वितीया हो गई। इस प्रकार कंसवध-शब्द से णिच् करके 'कंसं घातयति' यह प्रयोग सिद्ध हुआ ॥ २ ॥

'आख्याना० ॥' आख्यान-शब्द भी कृदन्त है, उस से उक्त प्रकार णिच् न हो। आख्यानमाचष्टे। यहां पूर्व वार्त्तिक से णिच् पाता था, उस का निषेध इस वार्त्तिक से होने से वाक्य बना रहा ॥ ३ ॥

'दृश्यर्थायां० ॥' दर्शन अर्थ में आङ्-पूर्वक जो चक्षिङ्-धातु उस का कर्म जो कृदन्त-शब्द उससे दर्शन अर्थ में णि[च्]-प्रत्यय, कृत्-संज्ञक प्रत्यय का लुक्, जिस धातु से कृत्-संज्ञक प्रत्यय किया वह अपने स्वरूप को प्राप्त और उस के अनुकूल कारक भी हो। 'मृगरमणमाचष्टे' यहां मृग कारक और रमण कृदन्त शब्द है, उस से दर्शन अर्थ में णिच्-प्रत्यय होने से रमण में जो रम-धातु से कृत्-संज्ञक ल्युट्-प्रत्यय था उस का लुक् और रम-धातु के अनुकूल मृग-शब्द में द्वितीया विभक्ति होके 'मृगान् रमयति' यह प्रयोग बनता है। दर्शनार्थ चक्षिङ् धातु का ग्रहण इसलिये है कि 'ग्रामे मृगरमणमाचष्टे' यहां णिच्-प्रत्यय न हो, किन्तु वाक्य ही बना रहे ॥ ४ ॥

'आङ्लोपश्च० ॥' क्रिया के साथ मर्यादापूर्वक काल का अत्यन्त संयोग हो तो आङ्-पूर्वक कृदन्त शब्द से कथन करने में णिच्-प्रत्यय, आङ्-उपसर्ग का लोप, कृत्-संज्ञक प्रत्यय का लुक्, प्रकृति=धातु अपने स्वरूप को प्राप्त और धातु के अनुकूल कारक भी हो। आरात्रिविवासमाचष्टे। यहां रात्रि जो नियत काल है उस के साथ कथन क्रिया का अत्यन्त संयोग है। विवास-शब्द कृदन्त है, उस से णिच्-प्रत्यय हुआ। रात्रि-शब्द के पूर्व जो आकार है उस का लोप, कृत्-संज्ञक घञ्-प्रत्यय का लुक्, वि-पूर्व वस-धातु से घञ् हुआ था वह अपने स्वरूप को प्राप्त और उस के अनुकूल होने से 'रात्रिं विवासयति' यह प्रयोग बनता है ॥ ५ ॥

'चित्रीकरणे० ॥'[1] आश्चर्य दिखाने मे प्राप्ति होने अर्थ में प्राप्ति का कर्म जो कृदन्त-शब्द उस मे णिच्, कृत्-संज्ञक प्रत्यय का लुक्, धातु अपने स्वरूप को प्राप्त और धातु के अनुकूल कारक भी हो। उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयते । उज्जयिनी नगरी से सायकाल प्रस्थान करके माहिष्मती नगरी में जाके सूर्योदय को प्राप्त होना—यह आश्चर्य दिखाना है। यहां उद्गमन कृदन्त शब्द से सं-पूर्वक भू-धातु के प्राप्त्यर्थ में णिच्, उत्-पूर्वक गम-धातु से कृत्-संज्ञक ल्युट्-प्रत्यय था उस का लुक् और धातु के अनुसार कारक होने से 'सूर्यमुद्गमयति' यह प्रयोग सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

'नक्षत्रयोगे० ॥'[1] नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग हो तो कृदन्त शब्द से जानने अर्थ में णिच् कृत्-संज्ञक प्रत्यय का लुक्, धातु अपने स्वरूप को प्राप्त और धातु के तुल्य कारक भी हो। पुष्ययोगं जानाति । यहां कृदन्त योग-शब्द से णिच्, योग-शब्द में युज-धातु से कृत्-संज्ञक जो घञ् था उस का लुक् और युज के अनुकूल करण कारक होने से 'पुष्येण योजयति' यह प्रयोग बनता है ॥ [७ ॥] २६ ॥

कण्ड्वादिभ्यो यक् ॥ २७ ॥

'धातोरेकाचो०' ॥'[1] इति सूत्राद् धातु-ग्रहणमनुवर्त्तते । कण्ड्वादिभ्यः । ५ । ३ । यक् । १ । १ । कण्ड्वादयो द्विविधाः—धातवः प्रातिपदिकानि च । तत्र धातोरनुवर्त्तनाद् धातु-संज्ञापक्षे कण्ड्वादिभ्यो यक् प्रत्ययो भवति, प्रातिपदिकसञ्ज्ञापक्षे 'यक्' न भवति । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डू-शब्दः स्वाभाविको दीर्घान्तः । मन्तूयति । वल्गूयति । अत्र 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'[2] ॥' इति दीर्घत्वम् ॥

का०—धातुप्रकरणाद् धातुः कस्य चासञ्जनादपि ।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥[3] १ ॥

धातोरनुवर्त्तनात् ज्ञायते कण्ड्वादयो धातव एव । कस्य=ककारस्यासञ्जनाद् यक्-प्रत्यये ककारानुबन्धकरणाच्च ज्ञायते कण्ड्वादयो धातव इति । यदि कण्ड्वादीनां धातु-संज्ञा भूत्वा यक् स्यात्तदा धातोर्विहितस्य यक आर्द्धधातुक-संज्ञा । आर्द्धधातुके सति ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः स्यात् । यदि च कण्ड्वादिप्रातिपदिकेभ्यो यगुत्पत्तिः स्यात्तर्हि धातोर्विहितस्यैव शेषप्रत्ययस्यार्द्धधातुक-संज्ञाकरणाद् यक आर्द्धधातुक-संज्ञा न भविष्यति । पुनः ककारो व्यर्थः स्यात् । इमं कण्डू-शब्द[4] दीर्घं चाह तेन ज्ञायते कण्ड्वादीनि प्रातिपदिकानि । यदि धातव एव पुर्नानित्य यक् स्यात् । यकि दीर्घत्वं

---

१. ३ । १ । २२ ॥
२. ७ । ४ । २५ ॥
३. अ० ३ । पा० १ । भा० ३ ॥
४. एवमेव 'हृणीङ्, महीङ्' इत्यत्रापि दीर्घत्वं दृश्यते ॥

भवत्येव । यथा—मन्तूयति । एवमिमानि प्रातिपदिकान्यपि दृश्यन्ते धातवोऽपि ॥

अथ कण्ड्वादिगणः [१] कण्डूञ् गात्रविघर्षणे [२] मन्तु अपराधे[1] [३] वल्गु पूजामाधुर्ययोः [४] असु उपतापे । असू, असूञ्[2] इत्येके [५, ६] लेट्, लोट्[3] धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने च [७] लेला दीप्तौ [८, ९, १०] इरस्, इरज्, इरञ् ईर्ष्यायाम् [११] दुवस् परिचर्यायाम् [१२] उषस् प्रभातभावे [१३] वेद धौर्त्ये स्वप्ने च [१४] मेधा आशुग्रहणे [१५] कुषुभ क्षेपे[4] [१६, १७, १८, १९] नमस्, मनस्, सनस्[5], मगध परिवेष्टने । नीचदास्य इत्यन्ये [२०, २१] तन्तस्, पम्पस् दुःखे [२२, २३] सुख, दुःख तत्क्रियायाम् [२४, २५, २६, २७] भिक्ष, चरम, अवर[6], सपर पूजायाम् [२८] अरर[7] आराकर्मणि [२९] भिषज् चिकित्सायाम्[8] [३०] भिष्णज् उपसेवायाम् [३१, ३२, ३३] अपर, आर[9], इषुध शरधारणे [३४, ३५] चरण, वरण गतौ [३६] चुरण चौर्ये [३७] तुरण तुरायाम्[10] [३८] भुरण धारणपोषणयोः[11] [३९] गद्गद[12] वाक्स्खलने [४०, ४१, ४२, ४३] एला, केला, खेला, रेख विलासे । इला इत्यन्ये [४४] लेखी स्खलने च । अदन्तोऽयमित्येके [४५] लिट् अल्पकुत्सनयोः [४६] लाट् जीवने [४७] हृणीङ् रोषणे लज्जायां

---

१. गणरत्ने (८ । ४३७)—"मन्तु रोषे वैमनस्ये च । मन्तूञ्-मन्तूयति, मन्तूयत इति चन्द्र. ।"

२. गणरत्ने (८ । ४३७) 'असूङ्' इत्यपि ॥

३. गणरत्ने (८ । ४३७, ४३८) 'भूमौ परिवर्त्तते' इत्ययमप्यर्थः प्रतिपादितः ॥

४. गणरत्ने (८ । ४३९)—"कुषुभ्यति स्वदेहाश्रयां परकर्तृकां निरोधक्रियामनुभवतीत्यर्थ इत्यन्ये ॥"

५. 'नमस्, मनस्, सनस्' इत्येतेऽपि मगधशब्दस्य पर्याया, प्रसिद्धार्था वेति चिन्तनीयम् । एते गणरत्नेऽपठिताः ॥

६. 'भिक्ष, चरम, अवर' इत्येतेऽपि सपर-शब्दस्य पर्यायाः प्रसिद्धार्था वा भवेयुः । गणरत्नेऽपठिता एते ॥

७ गणरत्ने (८ । ४३८)—"अररेति नाम । आरापर्यायवाचि । अररो यज्ञाङ्गं रणश्चेत्यन्यः ॥"

८. गणरत्ने (८ । ४३७) कुत्सायामित्यपि ॥

९. 'अपर, आर' इतीषुधपर्यायौ प्रसिद्धार्थौ वा भवेताम् ॥

१०. गणरत्ने (८ । ४३७) 'त्वरायाम्, इति ॥

११. गणरत्ने (८ । ४३७) "प्रहरणधारणयोः" इति ॥

१२. गणरत्ने (८ । ४३७)—"अन्ये तु गद्गदङिति पठन्ति ॥"

च [४८] महीङ् पूजायाम् [४९] लेखा श्लाघासादनयो[१] [५०] दुवस् परिताप[परि] चरणयोः [५१] तिरस् अन्तर्द्धौ [५२] अगद नीरोगत्वे [५३] उरस् बलवर्थे [५४] तरण गतौ [५५] पयस् प्रसृतौ[२] [५६] सम्भूयस् प्रभूतप्रादुर्भावे [५७, ५८] अम्बर, सम्बर सम्भरणे ॥ आकृतिगणोऽयम् । इति कण्ड्वादिगणः समाप्तिमगात्[३] ॥ २७ ॥

कण्ड्वादि शब्दों की धातु और प्रातिपदिक दोनों संज्ञा होती है। जिस पक्ष में धातु-संज्ञा है वहां [कण्ड्वादिभ्य] कण्ड्वादिकों से [यक्] यक्-प्रत्यय हो और प्रातिपदिक पक्ष में नहीं। कण्डूयति। कण्डूयते। यहां कण्डू-शब्द स्वाभाविक दीर्घ, उस में ककार अनुबन्ध के होने से यक् प्रत्ययान्त से उभय पद होते हैं। तथा 'वल्गूयति। मन्तूयति' यहां वल्गु और मन्तु-शब्द को यक्-प्रत्यय में ककार के होने से दीर्घ हो जाता है। और ककार अनुबन्ध का यह भी प्रयोजन है कि कण्डू आदि को गुण वृद्धि भी न हों॥

'धातुप्रकरणाद्० ॥' धातु की अनुवृत्ति पूर्व से चली आती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि कण्ड्वादि भी धातु हैं, क्योंकि यहां धातु के प्रकरण में प्रातिपदिकों से प्रत्यय नहीं होते। तथा यक्-प्रत्यय में ककार अनुबन्ध के होने से भी मालूम होता है कि कण्ड्वादि धातु हैं, क्योंकि जो प्रातिपदिक होते तो प्रातिपदिकों से पर यक् की आर्द्धधातुक संज्ञा भी न होती। फिर गुण वृद्धि की प्राप्ति और निषेध भी न होता। और धातु से विहित प्रत्यय की आर्द्धधातुक-संज्ञा होती है। यहां गुणवृद्धि-प्राप्ति है, उस के निषेध होने के लिये ककार अनुबन्ध किया है। और कण्डू-शब्द आचार्य ने दीर्घ पढ़ा है। इस से यह सिद्ध होता है कि कण्ड्वादि प्रातिपदिक हैं, क्योंकि जो केवल धातु ही होते तो धातुओं से नित्य यक्-प्रत्यय होता और यक्-प्रत्यय के परे वल्गु, मन्तु के तुल्य दीर्घ हो ही जाता। फिर दीर्घ पढ़ने का यह प्रयोजन है कि प्रातिपदिक पक्ष में यक् न होगा वहां भी दीर्घ बना रहे। इस प्रकार इस कारिका से कण्ड्वादिकों की दो संज्ञा सिद्ध होती हैं॥

कण्ड्वादि पूर्व अर्थ सहित सब संस्कृत में लिख दिया है॥ २७॥

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ॥ २८ ॥

गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य । ५ । ३ । आय. । १ । १ । गुपू रक्षणे[४] । धूप सन्तापे[५] । विच्छ गतौ[६] । पण व्यवहारे स्तुतौ च[७] । पन च[८] । एव गणपठितेभ्यो

१. वर्द्धमानश्च-लेखायति = श्लाघामासादयतीति ॥
२. वर्द्धमानमतेन (८ । ४३८) प्रसृतौ ॥
३. गणान्ते वर्द्धमान (८ । ४३९) "पाणिनिशकटाङ्गजदिवकवामनमतेन स्वार्थे कण्ड्वादिभ्यः प्रत्ययः । चन्द्रादीनां मतेन करोत्यर्थे ॥"
४. धा०—भ्वा० ४२२ ॥
५. धा०—भ्वा० ४२३ ॥
६. धा०—तुदा० १२९ ॥
७. धा०—भ्वा० ४६६ ॥
८. धा०—भ्वा० ४६७ ॥

गुपादिधातुभ्य आय-प्रत्ययो भवति । गोपायति । यस्माद् गुप-धातोः स्वार्थे सन् विहितः सोऽन्यः । अयमूकारान्तो गणे पठितः । तस्माद् गुपस्तु नित्य सन् भवति । अस्मादाय-प्रत्ययान्तादिच्छायां भवति न केवलात् । धूपायति । विच्छायति । पणायति । पनायति । अत्र 'पणी, पनी' द्वौ धातू उपदेश आत्मनेपदिनौ, ताभ्यामायान्ताभ्यामात्मनेपद नभवति । अवयवे कृत लिङ्ग कस्य समुदायस्य विशेषक भवति योऽवयवो य समुदाय न जहाति । अत्र तु गुपादय आर्द्धधातुक आयान्तं समुदाय जहति । आर्द्धधातुके यत्र पक्ष आय-प्रत्ययो न भवति तत्रात्मनेपदानुबन्धश्चरितार्थः—'पेणे । पेने' इति ॥ २८ ॥

['गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य'] गुपू, धूप, विच्छि, पणि, पनि इन धातुओं से स्वार्थ में ['आय'] आय-प्रत्यय हो। गोपायति । यहां ऊकारान्त जो गुप-धातु है उस से आय-प्रत्यय होता है और जिस से सन् विधान कर चुके हैं, वह दूसरा गुप है । उस से नित्य सन् ही होता है । इस से तो आय प्रत्यान्त से इच्छार्थ में सन् होगा । धूपायति । यहां सन्ताप अर्थ में जो धूप उस से आय-प्रत्यय हुआ । विच्छायति । यहां गत्यर्थक विच्छ से । पनायति । पणायति । यहां पण, पन दोनों धातु एकार्थ[1] हैं और उपदेश में दोनों आत्मनेपदी हैं । इन आय-प्रत्ययान्तो से आत्मनेपद इसलिये नहीं होता कि अवयव में जो चिह्न है वह उस समुदाय का साथी होता है कि जो अवयव जिस समुदाय को कभी न छोड़े । गुपादि जो अवयव हैं, वे तो आर्द्धधातुक में आय-प्रत्ययान्त समुदाय से अलग भी हो जाते हैं । आर्द्धधातुक में जहां आय-प्रत्यय नहीं होता वहां आत्मनेपद होने को चरितार्थ है—पेणे । पेने । यहां लिट् लकार में आत्मनेपद ही होता है ॥ २८ ॥

ऋतेरीयङ् ॥ २९ ॥

ऋते. । ५ । १ । ईयङ् । १ । १ । ऋतिः सौत्रोधातुः [घृणार्थः], न तु क्वापि गणे पठितः । ऋत-धातोरीयङ् प्रत्ययो भवति । ऋतीयते । ऋतीयेते । ऋतीयन्ते । ऋतीयाञ्चक्रे । ऋतीयितासे । ऋतीयिष्यते । ऋतीयते । ऋतीयाते । ऋतीयतै । ऋतीयातै । ऋतीयताम् । आर्त्तीयत । ऋतीयेत । ऋतीयिषीष्ट । आर्त्तीयिष्यत । ईयङ्-प्रत्यये ङकार आत्मनेपदार्थ । 'ऋतेरङ्' इति कृते प्रत्ययादेरङ्कारस्येय-आदेशः स्यादेव, पुनरीयङिति गुरु पठितं, तेन ज्ञायते धातोर्विहितानां फ-ढ-ख-छ-घामायन्नादयो न भवन्तीति ॥ २९ ॥

ऋत-धातु सौत्र है अर्थात् धातु समुदाय में कहीं इस का पाठ नहीं । ['ऋतेः'] ऋत-धातु से ['ईयङ्'] ईयङ्-प्रत्यय हो । 'ऋतीयते' इत्यादि प्रयोगों में ईयङ्-प्रत्यय में

---

1. अर्थात् स्तुत्यर्थ ॥

इकार के होने से आत्मनेपद होता है। इस सूत्र में ऋत-धातु से ङ-प्रत्यय कर देते, प्रत्यय के आदि ङकार को ईय-आदेश हो ही जाता। फिर अधिक पढ़ने से यह सिद्ध हुआ कि धातु से विहित प्रत्ययों के आदि फकारादिकों को आयन् आदि आदेश नहीं होते ॥ २९ ॥

कमेर्णिङ् ॥ ३० ॥

कमेः । ५ । १ । णिङ् । १ । १ । 'कमु कान्तौ'[1] अस्मात् गणपठितात् स्वार्थे णिङ् प्रत्ययो भवति । कामयते । कामयेते । कामयन्ते । इत्यादि । कमिरप्यात्मनेपदी, तस्मात् कृतावयवलिङ्गादात्मनेपदं न प्राप्नुयात् इतो ङकारोऽनुबन्धः कृतः । णकारो वृद्ध्यर्थः ॥ ३० ॥

['कमेः'] कमु धातु कान्ति अर्थ में है, उस से स्वार्थ में [णिङ्] णिङ्-प्रत्यय हो। कामयते । कामयेते । कामयन्ते । इत्यादि प्रयोग इकार अनुबन्ध के होने से आत्मनेपद होते हैं। कमु-धातु भी आत्मनेपदी ही है, उस से णि-प्रत्यय करने में आत्मनेपद नहीं पाता था, इसलिये ङकार, और क को वृद्धि होने के लिये [प्रत्यय में] णकार अनुबन्ध किया है ॥ ३० ॥

आयादय आर्द्धधातुके वा ॥ ३१ ॥

आयादयः । १ । ३ । आर्द्धधातुके । ७ । १ । वा । [अ० ।] 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी । आर्द्धधातुकविषये आयादयः प्रत्ययाः गुपादिप्रकृतिभ्यो विकल्पेनोत्पद्यन्ते । गोपायाञ्चकार, जुगोप । गोपायिता, गोप्ता । धूपायाञ्चकार, दुधूप । विच्छायाञ्चकार, विविच्छ । पणायाञ्चकार, पेणे । पनायाञ्चकार, पेने । ऋतीयाञ्चक्रे, आनर्त । ऋतीयिता, अर्तिता । कामयाञ्चक्रे, चकमे । यत्रायादीनामभावस्तत्र गणरूपाणि ॥ ३१ ॥

[आर्द्धधातुके] आर्द्धधातुक-शब्द में [illegible] आर्द्धधातुक विषय में ['आयादयः'] आयादि प्रत्यय गुपू आदि धातुओं से ['वा'] विकल्प करके हों। पक्ष में गण के प्रयोग बनें गोपायिता, गोप्ता । ऋतीयिता, अर्तिता । कामयिता, कमिता इत्यादि प्रयोगों में आय्, ईयङ्, णिङ् इन तीन प्रत्ययों का विकल्प होता है ॥ ३१ ॥

सनाद्यन्ता धातवः ॥ ३२ ॥

सनाद्यन्ताः । १ । ३ । धातवः । १ । ३ । संज्ञाविधायकं सूत्रमिदम् । सन् आदिर्येषां ते सनादयः । सनादयः प्रत्यया अन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः समुदायाः । सनाद्यन्ताः समुदायाः धातु-संज्ञा भवन्ति । जुगुप्सते । चिकीर्षति । पुत्रीयति पुत्रायिता ।

---

१. धा०—भ्वा० ४७० ॥

पुत्रीयितुम् । पुत्रीयितव्यम् । इत्याद्युदाहरणेषु धातुसंज्ञात्वाद् यथायथ तव्यदादयो भवन्ति ॥

सनादय इत्युक्ते तदन्तविधिना ऽन्त-ग्रहण कस्मान्न भवति । **'सुप्तिङन्तं पदम्**[1] ॥' इत्यत्रान्त-ग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम् । **'अन्यत्र सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति**[2] ॥' इति परिभाषयाऽत्र तदन्तविधिर्न प्राप्त । अतः कारणादस्मिन् सूत्रेऽन्त-ग्रहण कृतम् ॥ ३२ ॥

संज्ञाविधायक यह सूत्र है । ['सनाद्यन्ता'] सनादिप्रत्ययान्त जो समुदाय हैं, उन की ['धातवः'] धातु-संज्ञा हो । सनादि प्रत्ययों के विधान में 'जुगुप्सते' इत्यादि धातु-संज्ञा के ही उदाहरण देते आये हैं ॥

इस सूत्र में तदन्तविधि होने से सनादि की संज्ञा हो जाती, फिर अन्त-ग्रहण इसलिये है कि प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में 'सुप्तिङन्त पदम्[2] ॥' इस सूत्र में अन्त-ग्रहण का प्रयोजन कह चुके हैं कि अन्यत्र प्रत्यय की संज्ञा में तदन्तविधि नहीं होती । इसलिये यहां भी सनादि प्रत्ययों की संज्ञा में तदन्तविधि नहीं हो सकती थी । इसलिये अन्त-ग्रहण है ॥ ३२ ॥

स्यतासी लृलुटोः ॥ ३३ ॥

स्य-तासी । १ । २ । लृ-लुटो । ७ । २ । **'कर्तरि शप्**[3] ॥' इत्यस्यापवादः । **लृ-लुटोः परयोर्धातुमात्रात्** स्य-तासी प्रत्ययौ भवत. । **'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकानां ग्रहणं भवति** ॥' इति लृ-ग्रहणेन लृट्-लृङोर्ग्रहणम् । भविष्यति । अभविष्यत् । श्वो भविता । श्वः कर्ता । तासि-प्रत्यये इकार सकाररक्षणार्थः । 'भवितास्थः' इत्यादिषु दर्शनं यथा स्यात् । अत्र **जयादित्येनोक्तम्—'इदित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थम् । मन्ता । मङ्क्ता'** । इति । तदेतत् चिन्त्यमेव, क्ङित्यनुनासिकलोपो विधीयते । तास्-प्रत्यये क्वास्ति क्ङित्त्वं यदनुनासिकलोपः स्यात् । अतस्तत्कथनमवद्यतरम्[4] ॥ ३३ ॥

कर्ता में सार्वधातुक के परे जो शप् विकरण होता है उस का अपवाद यह सूत्र है । ['लृ-लुटोः'] लृ और लुट् लकार के परे धातुमात्र से यथाक्रम ['स्य-तासी'] स्य और तासि-प्रत्यय हों । अर्थात् लृ के परे स्य और लुट् के परे तासि हो । निरनुबन्धक के ग्रहण में सानुबन्धक का ग्रहण किया जाता है । यहां लृ निरनुबन्धक है, उस से लृट् और लृङ् दोनों का ग्रहण होता है । लृ—भविष्यति । अभविष्यत् । यहां लृट् और लृङ् के परे भू-धातु

---

१. द्रष्टव्य १ । १ । ७१ ॥

२. १ । ४ । १४ ॥

३. ३ । १ । ६८ ॥

४. विस्तरस्तु जिनेन्द्रबुद्धिकृतौ द्रष्टव्य । तत्र हि जयादित्यस्य वामनस्य च भिन्नमतत्वं प्रतिपादितम् ॥

से स्य-प्रत्यय और 'श्वो भविता' यहां लुट् के पर भू-धातु से तास्-प्रत्यय होता है। तास्-प्रत्यय में इकार की इत्-संज्ञा इसलिये है कि सकार बच जावे अर्थात् सकार की इत्-संज्ञा न हो। यहां जयादित्य पण्डित ने लिखा है कि इकार की इत्-संज्ञा इसलिये है कि 'मन्ता' इत्यादि उदाहरणों में अनुनासिक का लोप न हो। सो विचारना चाहिये कि कित् ङित् के परे अनुनासिक का लोप होता है, [सो] तास्-प्रत्यय में कित् ङित् कहा है जो अनुनासिक का लोप पावे। इससे उन का कथन केवल मिथ्या है ॥ ३३ ॥

सिब् बहुलं लेटि ॥ ३४ ॥

सिप् । १ । १ । बहुलम् । १ । १ । लेटि । ७ । १ । अप्राप्तविभाषेयम् । अप्राप्तः सिब् विकल्प्यते । **'कर्तरि शप्'** ।[1] इत्यस्यैवापवादः । लेटि लकारे परतो धातुमात्राद् बहुल=विकल्पेन सिप् प्रत्ययो भवति । **जीवाति शरदः शतम्**[2] । अत्र सिप्न भवति । **स देवाँ एह वक्षति**[3] । 'वक्षति' इति वह्-धातोर्लेटि सिब्-विकरणस्य रूपम् ।।

वा०—सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः ॥

सविता धर्मं साविषत् । प्र ण आयूंषि तारिषत्[4] ॥[5]

अत्र 'साविषत्' इति **'षू प्रेरणे'**[6] इत्यस्य प्रयोगो णित्वाद् वृद्धिः ।

अणितं णितं शास्ति तेन णिद्वदिति विज्ञायते ।

णिद्वदपि बहुलमेव भवति । तेन 'सविषत् तरिषत्' इत्यादयोऽपि प्रयोगा भवन्त्येव । 'तारिषत्' इति तॄ-धातोर्लेटि सिप् ॥ ३४ ॥

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा अर्थात् किसी सूत्र से सिप् प्राप्त नहीं, उस का विकल्प किया है। यह सूत्र कर्ता में जो शप् होता है, उसी का अपवाद भी है। ['लेटि'] लेट् लकार में धातुमात्र से ['बहुल'] विकल्प करके ['सिप्'] सिप्-प्रत्यय हो। वक्षति। इत्यादि प्रयोगों में सिप् विकल्प करके होता है ॥

'सिब्बहुल० ॥' वैदिक प्रयोगों मे सिप्-प्रत्यय णिद्वत् बहुल करके हो। तारिषत्। तरिषत्। यहां जिस पक्ष में इस वार्तिक से सिप्-प्रत्यय णित् होता है वहां वृद्धि होती है, दूसरे पक्ष में नहीं ॥ ३४ ॥

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ॥ ३५ ॥

कास्प्रत्ययात् । ५ । १ । आम् । १ । १ । अमन्त्रे । ७ । १ । लिटि । ७ । १ ।

---

१. ३ । १ । ६८ ॥
२. ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥ अन्यत्रापि च ॥
३. ऋ०—१ । १ । २ ॥ अन्यत्र च ॥
४. ऋ०—१ । २५ । १२ ॥
५. अ० ३ । पा० १ । आ० ३ ॥
६. धा०—तुदा० ११५ ॥

अमन्त्रे = लौकिकप्रयोगविषये कास्-धातोः प्रत्ययान्ताच्च धातोराम्-प्रत्ययो भवति लिटि लकारे परतः । '**कासृ शब्दकुत्सायाम्**'[1]—कासाञ्चक्रे । प्रत्ययान्तात्—लोलूयाञ्चक्रे । पोपूयाञ्चक्रे । अत्र यङन्ताभ्यां लोलूय-पोपूय-धातुभ्यामाम् । आमन्ताच्च कृञोऽनुप्रयोग आम्-प्रत्ययवदात्मनेपदं च ॥

'अमन्त्रे' इति किम् । **कृष्णो नोनाव**[2] । अत्र नोनूय-यङन्तादेव आम्-प्रत्ययो न स्यात् ॥

वा०—कास्यनेकाच इति वक्तव्यम् ॥[3] १ ॥

'प्रत्ययात्' इत्यस्य स्थाने 'अनेकाच.' इति कर्त्तव्यम् । तेन चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । चुलुम्पाद्यप्रत्ययान्तेभ्याम्-प्रत्ययो यथा स्यात् । इति सूत्रस्य न्यासकारीदं वार्त्तिकम् ॥ ३५ ॥

['अमन्त्रे'] अमन्त्र अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में ['कास्प्रत्ययात्'] कास् धातु और प्रत्ययान्त धातुओं से लिट् लकार के परे आम्-प्रत्यय हो । कास् - कासाञ्चक्रे । यहां कास् धातु से आम् हो के आम् से कृञ् का अनुप्रयोग हुआ है । प्रत्ययान्त—लोलूयाञ्चक्रे । यहां यङन्त लोलूय धातु से आम् और आमन्त से कृञ् का अनुप्रयोग तथा आम्-प्रत्ययान्त के अनुकूल आत्मनेपद भी हुआ है ॥

'कास्यनेकाच० ॥' सूत्र में 'प्रत्ययात्' जो कहा है उस के स्थान में 'अनेकाचः' ऐसा कहना चाहिये—कि कास् और अनेकाच् धातुओं से आम्-प्रत्यय हो जिससे 'चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार' [इन प्रयोगों में जो] चुलुम्पादि अप्रत्ययान्त नहीं हैं, उन से भी आम् प्रत्यय हो जावे ॥

अमन्त्र ग्रहण इसलिये है कि 'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्[4]' यहां नोनूय यङन्त धातु से आम्-प्रत्यय प्राप्त है, सो न हो ॥ ३५ ॥

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ॥ ३६ ॥

'आममन्त्रे लिटि' इत्यनुवर्त्तते । इजादेः । ५ । १ । च । [अ० ।] गुरुमतः । ५ । १ । अनृच्छः । ५ । १ । इच्-प्रत्याहार आदिर्यस्य सः । गुरुर्वर्णो विद्यतेऽस्मिन् स गुरुमान् तस्मात् । गुरुमत इजादेर्धातोरमन्त्रे लिटि परत आम्-प्रत्ययो भवति, अनृच्छः = ऋच्छ धातुं वर्जयित्वा । इन्दाञ्चकार । ईहाञ्चक्रे । अत्र '**इदि परमैश्वर्ये**'[5] । ईह चेष्टायाम्[6] इत्येताभ्यामाम्-प्रत्ययः ॥

१. धा०—भ्वा ६५४ ॥
२. ऋ०—१ । ७९ । २ ॥
३. अ० ३ । पा० १ । आ० ३ ॥
४. ऋ०—१ । ७९ । २ ॥
५. धा०—भ्वा० ६४ ॥
६. धा०—भ्वा० ६६३ ॥

'इजादेः' इति किम् । ममन्थ ॥

'गुरुमतः' इति किम् । इयजाहम् ॥

'अनृच्छः' इति किम् । आनर्च्छ ॥

'अमन्त्रे' इति किम् । **ईधे** । अत्र सर्वत्र आम् न भवति । 'ईधे' इति वैदिकः प्रयोगः । लोके तु 'इन्धाञ्चकार' इति भवत्येवाम् । **'इन्धिभवतिभ्यां च'** ॥[1] इति लिटः कित्त्वाद् 'ईधे' इत्यनुनासिकलोपः सिद्धो भवति ॥

इयेष । उवोष । अत्र गुणे कृते गुरुमत्त्वादाम् प्राप्नोति । **'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** ॥' इति परिभाषयाऽऽम् न भवति, य मत्वा गुणः कृतस्तस्मिन् परत आम् स्यादिति सन्निपातः । ऊर्णुञ् धातोराम् न भवतीति वार्त्तिकमत्र न पठितम् । 'प्रोर्णुनाव' इत्याम्प्रतिषेधो **'वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावः०'**[2] इत्युक्तया कारिकया सिद्ध एवास्ति ॥ ३६ ॥

गुरु अर्थात् दीर्घ [अथवा संयुक्तव्यञ्जन, अनुस्वार अथवा विसर्ग से पूर्ववर्ती ह्रस्व] वर्ण जिस में विद्यमान हो उस को गुरुमान् कहते हैं । ['इजादेः'] इजादि जो ['गुरुमतः'] गुरुमान् धातु उस से लौकिक प्रयोग विषय में लिट् के परे आम्-प्रत्यय हो ['अनृच्छः'] ऋच्छ धातु को छोड़ के । इन्धाञ्चकार । ईहाञ्चक्रे । यहां इन्ध और ईह धातु से आम्-प्रत्यय होता है ॥

इजादि-ग्रहण इसलिये है कि 'ममन्थ' यहां न हो ।

गुरुमान्-ग्रहण इसलिये है कि 'इयज । उवप' यहां न हो ॥

अनृच्छ-ग्रहण इसलिये है कि 'आनर्च्छ' यहां न हो ॥

और अमन्त्र-ग्रहण इसलिये है कि 'ईधे' यहां इन्ध धातु से आम्-प्रत्यय न हो । 'ईधे' यह वैदिक प्रयोग है । यहां लिट् के कित् होने से अनुनासिक का लोप हो गया है । लोक में तो 'इन्धाञ्चकार' यहां आम्-प्रत्यय हो ही जाता है । 'इयेष । उवोष' यहां इष, उष धातु को गुण होने के पीछे गुरुमान् होने से आम्-प्रत्यय प्राप्त है । उस का 'सन्निपात० ॥' इस परिभाषा से निवारण होता है । जिस को मान के गुण हुआ उसी के परे आम् प्राप्त है । यहां सन्निपात है सो लिट् के परे आम् न हुआ । ऊर्णुञ् धातु से जो आम्-प्रत्यय प्राप्त है उस के निषेध के लिये 'वाच्य ऊर्णो० ॥' यह कारिका [३ । १ । २२ में] लिख चुके हैं ॥ ३६ ॥

दयायासश्च ॥ ३७ ॥

'आममन्त्रे लिटि' इत्यनुवर्त्तते । दयायासः । ५ । १ । दय, अय, आस—एतेषां समाहारद्वन्द्वः । **'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु**[3], अय गतौ[4], आस उपवेशने[5]'—इत्येवं

---

१. १ । २ । ६ ॥

२. "धातोरेकाचो०" (३ । १ । २२) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्याने ॥

३. धा०—भ्वा० ३१० ॥

४. धा० —भ्वा० ३०३ । ९३५ ॥

५. धा०—अदा० ११ ॥

गणपठितेभ्यः दयादिधातुभ्योऽमन्त्रे लिटि परत आम्-प्रत्ययो भवति । दयाञ्चक्रे । निलयाञ्चक्रे । अत्र 'उपसर्गस्यायतौ'[1] इति निर्-उपसर्गस्य रेफस्य लत्वम् । आसाञ्चक्रे । अमन्त्र इति किम्-देये । आये । आसे । अत्राम् प्रत्ययो न स्यात् ।। ३७ ।।

['दयायास'] दय, अय, आस इन धातुओं से लौकिक प्रयोगों में लिट् के परे आम्-प्रत्यय हो । दयाञ्चक्रे । दय धातु दानादि अर्थों में है, उस से यहां आम् । निलयाञ्चक्रे । यहां गत्यर्थक अय धातु से आम् और अय् धातु के परे निर् उपसर्ग के रेफ को लकार होता है । आसाञ्चक्रे । और यहां उपवेशन अर्थ में आस धातु से आम्-प्रत्यय हुआ है । 'अमन्त्रे' ग्रहण इसलिये है कि 'देये' यहां वेद में 'आम्' न हो ।। ३७ ।।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।। ३८ ।।

अप्राप्तविभाषेयम् । उषादिभ्योऽप्राप्त आम् विकल्प्यते । आममन्त्रे लिटि इत्यनुवर्त्तते । उष-विद-जागृभ्यः । ५ । ३ । अन्यतरस्याम् । 'उष दाहे'[2] । विद ज्ञाने'[3] । जागृ निद्राक्षये'[4] इत्येवं गणपठितेभ्य उषविदजागृभ्योऽमन्त्रे लिटि परतो विकल्पेनाऽऽम्-प्रत्ययो भवति । ओषाञ्चकार, उवोष । विदाञ्चकार, विवेद । जागराञ्चकार, जजागार । उष-जागरोरुभयत्र गुणो भवति ।।

वा—विदेराम् कित्[5] ।।

विद-धातोः पर आम्-प्रत्ययः किद्वदिति वार्त्तिकेनाम्-प्रत्ययसन्नियोगे विदधातोर्गुणो न भवति ।। ३८ ।।

इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा अर्थात् उषादि धातुओं से आम् प्रत्यय प्राप्त नहीं, उस का विकल्प किया है । लौकिक प्रयोग विषय में ['उष-विद-जागृभ्यः'] उष, विद, जागृ इन धातुओं से लिट् लकार के परे ['अन्यतरस्याम्'] विकल्प करके आम्-प्रत्यय हो । ओषाञ्चक्रे । उवोष । यहां [उष] धातु से । विदाञ्चकार । विवेद । यहां विद से । और 'जागराञ्चकार । जजागार' यहां जागृ धातु से आम्-प्रत्यय विकल्प करके होने से दो-दो प्रयोग बनते हैं । उष और जागृ धातु को दोनों प्रयोगों में गुण हो जाता है ।।

'विदेराम् कित् ।।' विद धातु से पर आम्-प्रत्यय कित् हो । इस वार्त्तिक से आम्-प्रत्यय के कित् होने से एक पक्ष में आम्-प्रत्यय के परे विद धातु को गुण नहीं होता ।। ३८ ।

भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ।। ३९ ।।

पूर्वसूत्रादन्यतरस्यां-ग्रहणमनुवर्त्तते । अत्राप्यप्राप्तविभाषैव । भी-ह्री-भृ-हुवाम् ।

---

१. ८ । २ । १९ ।।
२. धा०—भ्वा० ७२७ ।।
३. धा०—अदा० ५५ ।।
४. धा०—अदा० ६३ ।।
५. अ० ३ । पा० १ । आ० ३ ।।

६ । ३ श्लुवत् । च । ‘ञिभी भये । ह्री लज्जायाम् । डुभृञ् धारणपोषणयोः[3] । हु दानादनयोः[4]’ इत्येवं गणपठितेभ्यो भी-ह्री-भृ-हु-धातुभ्योऽमन्त्रे लिटि परतो विकल्पेनाम्-प्रत्ययो भवति । भ्यादिभ्यो य आम्, स च श्लुवत्, अर्थात् श्लौ परतो यानि कार्याणि भवन्ति तान्यामि परतोऽपि स्युः । बिभयाञ्चकार, बिभाय । जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय । बिभराञ्चकार, बभार । जुहवाञ्चकार, जुहाव । अत्राम्पक्षे आमः श्लुवत्त्वाद् भ्यादिधातूनां द्वित्वमभ्यासस्य चेत्त्वं भवति ॥ ३९ ॥

इस सूत्र में भी अप्राप्तविभाषा है । लौकिक प्रयोग विषय में [‘भी-ह्री-भृ-हुवां’] भी, ह्री, भृ, हु इन धातुओं से लिट् लकार के परे विकल्प करके आम्-प्रत्यय हो और आम् को [‘श्लुवत्’] श्लुवत् कार्य अर्थात् श्लु के परे जो कार्य होते हैं वे आम् के परे भी हों । बिभयाञ्चकार । बिभाय । यहां भी धातु से, जिह्रयाञ्चकार । जिह्राय । यहां ह्री धातु से, बिभराञ्चकार । बभार । यहां भृ धातु से, और ‘जुहवाञ्चकार । जुहाव’ यहां हु धातु से आम्-प्रत्यय हो के सब के दो दो प्रयोग बनते हैं । जिस पक्ष में आम्-प्रत्यय होता है वहां आम्-प्रत्यय के श्लुवत् होने से भी आदि धातुओं को द्विवचन और इन के अभ्यास को इकार आदेश होता है ॥ ३९ ॥

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ॥ ४० ॥

कृञ् । १ । १ । च । अनुप्रयुज्यते । लिटि । ७ । १ । अनु पश्चादर्थे । पश्चात् प्रयुज्यते = अनुप्रयुज्यते । ‘लिटि’ इति वर्तमाने पुनर्लिट्-ग्रहणस्येदं प्रयोजनम्—आमः परस्य लेर्लुग् विधीयते तस्य पुनः प्रादुर्भावः स्यात् । ‘कृञ्’ इति प्रत्याहारग्रहणेन कृ-भू-अस्तीनां ग्रहणं भवति । आमन्तात् पश्चात् ‘कृञ्’ प्रत्याहारस्थाः प्रयोक्तव्याः लिट्परकाः भवन्ति । पाठयाञ्चकार । पाठयाम्बभूव । पाठयामास । अत्रार्द्धधातुकेऽस्तेर्भू-आदेशः प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यान्न भवति ॥

भा०—‘कृञ्’ इति नेदं धातुग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् । क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः । ‘कृभ्वस्तियोगे’ इत्यतः प्रभृत्या कृञो ञकारात् ॥[5]

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थपादे ‘कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः[6] ॥’ इति

---

१. धा०—जुहो० २ ॥
२. धा०—जुहो० ३ ॥
३. धा०—जुहो० ५ ॥
४. धा०—जुहो० १ ॥
५. अ० ३ । पा० १ । आ० ३ ॥
६. ५ । ४ । ५० ॥

सूत्रादारभ्य 'कृञो द्वितीय०[1]' इति सूत्रे कृञो ञकारपर्यन्तं प्रत्याहारः । तेनामन्त-समुदायात् त्रयाणामनुप्रयोगो भवति ॥ ४० ॥

इस सूत्र में अनु-शब्द पश्चात् अर्थ में है और लिट् की अनुवृत्ति पूर्व से चली आती फिर लिट्-ग्रहण इसलिये है कि आम्- प्रत्यय से परे लिट् का लुक् हो जाता है। उसका अनुप्रयोग के करने में फिर रूपातिदेश हो जावे। आमन्त समुदाय से पर ['कृञ्'] कृञ्-प्रत्याहार का ['अनुप्रयुज्यते'] प्रयोग हो ['लिटि'] लिट् के परे। अध्यापयाञ्चकार। अध्यापयाम्बभूव। अध्यापयामास। यहां आर्द्धधातुक लिट् में कृञ्-प्रत्याहार के ग्रहण होने से अस धातु को भू आदेश नहीं होता ॥

'कृञिति' पञ्चमाध्याय के चतुर्थ पाद में कृ से लेके दूसरे कृञ् के ञकार पर्यन्त प्रत्याहार होने से कृ, भू, अस इन तीन धातुओं का यहां अनुप्रयोग होता है ॥ ४० ॥

विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ॥ ४१ ॥

विदांकुर्वन्तु । इति । अन्यतरस्याम् । 'अन्यतरस्याम्' इत्यप्राप्तविभाषा । 'विदांकुर्वन्तु' इति सिद्धं रूपं विकल्पेन निपात्यते, पक्षे विदन्तु । अत्र 'विद ज्ञाने[2]' इत्यस्माद् धातोर्लोटि प्रथमस्य बहुवचने आम्-प्रत्ययः । आमन्ताच्च लोटि परतः कृञोऽनुप्रयोगः । इति शब्दः प्रकारार्थः । 'विदांकुर्वन्तु' इत्येवंप्रकारकं रूपं निपात्यते । अत्र जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादिभिरुक्तम्––इति-शब्दः प्रदर्शनार्थस्तेन सर्वाणि लोट्-रूपाण्याम्-प्रत्ययान्तादेव विकल्पेनानुप्रयुज्यन्ते—विदांकरोतु, विदांकुरुतात्, विदांकुरुताम् इत्यादीनि । तदेतद्विचारणीयं वक्ष्यमाणसूत्रतः—'अभ्युत्सादयां०[3] ॥' अत्र 'अकः' इति लुङि प्रथमैकवचनप्रयोगः । 'अकः' इति चतुर्भ्यः पश्चात् प्रयुज्यते । 'अक्रन्' इति लुङि प्रथमबहुवचन-प्रयोगः । स च 'विदाम्' इत्येकस्मात् परः प्रयुज्यते । सवर्णामन्ते चेतिकरणः कृतः । तत्र यदीति-शब्दात् सर्वाणि लुङ्रूपाणि भवेयुश्चेद् 'अक्रन्' इत्यस्य पाठोऽनर्थकः स्यात् । कथम् । अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयांविदामकः [पावयां] क्रियादिति छन्दसि' एवं सूत्रकरणेन लाघवम् । अथ वा 'अभ्युत्सादयादिभिरक्रन्' इति कुर्यात् तेन 'विदामकः, विदामक्रताम्, विदामक्रन्' इति सर्वाणि रूपाणि सेत्स्यन्त्येव । पुनराचार्यस्य गौरवकरणेन ज्ञायते यादृशः प्रयोग उपदिष्टस्तादृश एव भविष्यति नान्ये ।

---

१. ५ । ४ । ५८ ॥
२. धा०—अदा० ५५ ॥
३. ३ । १ । ४२ ॥

अतो जयादित्य-भट्टोजिदीक्षितादीनां कल्पना तुच्छबुद्धिकृतास्तीति विज्ञायते ॥ ४१ ॥

* यहां अप्राप्त विभाषा है ॥ लोट् लकार, प्रथमपुरुष, बहुवचन में 'विदाङ्कुर्वन्तु' विकल्प से निपातन किया है, पक्ष में 'विदन्तु' भी होता है ॥

यहां विद ज्ञाने' से लोट् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में आम् प्रत्यय और आमन्त से लोट् परे रहते कृञ् का अनुप्रयोग [तथा 'उ' विकरण इत्यादि] यह सब निपातन से होते हैं। यहां इति[1] शब्द प्रकारवाची है, अर्थात् 'विदाङ्कुर्वन्तु' इस प्रकार का रूप निपातन से होता है ॥

यहां पर 'जयादित्य भट्टोजिदीक्षित' आदि कहते हैं कि 'इति' शब्द इस बात के दर्शाने के लिये है कि विद धातु से लोट् लकार के विदाङ्करोतु। विदाङ्कुरुतात्। विदाङ्कुरुताम्। अब के सब रूप आम् प्रत्ययान्त कृञ् के अनुप्रयोग सहित विकल्प करके होते हैं। अब यहां पर विचारना चाहिये कि 'अभ्युत्सादयां०' इत्यादि अगले सूत्र में 'अक' यह लुङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन का प्रयोग है जो 'अभ्युत्सादयादि' चार आमन्तों के पीछे प्रयुक्त हुआ है। तथा लुङ् लकार के प्रथमपुरुष के बहुवचन में जो 'अक्रन्' प्रयोग सिद्ध होता है, उसे 'विदाम्' इस एक पद से परे अनुप्रयुक्त किया गया है। इति शब्द सब के अन्त में है, अब यदि इति शब्द से लुङ् लकार के सब रूप बने तो 'अक्रन्' इस पद का अनुप्रयोग करना व्यर्थ सिद्ध होता है क्योंकि 'अभ्युत्सादयां प्रजनयां चिकयां रमयां विदामकः पावयां क्रियादिति छन्दसि' ऐसा सूत्र बना देने से काम चल ही जाता, अथवा 'अभ्युत्सादयादिभिरक्रन्' अन्त में पढ़ देते तो भी काम चल ही जाता इससे

* विशेष सूचना—मूल हस्त लेख (कोष) में भावार्थ 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' अ० ३। १। ४० सूत्र तक ही विद्यमान है, आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्त तक नहीं है अतः भाषा जानने वालों के लाभार्थ हमने ग्रन्थकार के अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर मूलभष्यानुसार भावार्थ की पूर्ति कर दी है अन्यथा यह ग्रन्थ अपूर्ण रह जाता ॥

पाठकों को यह भी विदित रहे कि यह का अभाव हम यहां से आगे दिया गया है ॥

सम्पादक

१. इस सूत्र में जो इति शब्द पढ़ा है उससे शब्द के स्वरूप का बोध होता है और इति शब्द का यही प्रयोजन सर्वत्र आता है। काशिकाकार आदि और भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है कि इति शब्द पढ़ने से पुरुष और वचन की विवक्षा नहीं कि लोट् के प्रथम पुरुष बहुवचन का ही प्रयोग निपातन होवे किन्तु लोट् के सब प्रयोगों में निपातन किया है। 'विदाङ्करोतु' आदि भी होते हैं, सो यह व्याख्यान माननीय नहीं है, क्योंकि मूल और महाभाष्य से विरुद्ध है। इससे अगले—'अभ्युत्सादयां०' सूत्र में ऐसे ही आमन्त निपातन किये हैं वहां भी इति शब्द पढ़ा है उसका व्याख्यान इन लोगों ने भी स्वरूप बोधक ही रक्खा है इससे इनका व्याख्यान पूर्वापर विरुद्ध भी है।

[आख्यातिक में पृ० २५० पर यह टिप्पण है] ॥

'विदामक' । विदामक्रताम् । विदामक्रन्' इत्यादि सब रूप सिद्ध हो ही जाते फिर आचार्य के लाघव को छोड़ कर गौरव करने अर्थात् अधिक पाठ करने से यह सिद्ध होता है कि जैसा प्रयोग सूत्र में कहा उतना ही प्रयोग बनेगा अन्य प्रयोग नहीं, अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जयादित्य भट्टोजिदीक्षित आदि की यह कल्पना तुच्छबुद्धिकृत ही है ॥ ४१ ॥

अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयां रमयामकः पावयांक्रियाद् विदामक्रन्निति छन्दसि[1] ॥ ४२ ॥

पूर्वस्मात् 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते । अभ्युत्सादयां-प्रजनयां-चिकयां-रमयामकः, पावयांक्रियात्, विदामक्रन् इति छन्दसि । ७ । १ । 'अकः' इति चतुर्भिः सहानुप्रयुज्यते ॥ छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु 'अभ्युत्सादयाम्' इत्यादि समुदाया विकल्पेन निपात्यन्ते । अभ्युत्-पूर्वस्य ण्यन्तस्य षदॢ-धातोः, प्र-पूर्वस्य ण्यन्तस्य जन-धातोः, 'चिकयाम्' इति चिञ्-धातोरामि द्विर्वचनमभ्यासात् परस्य चकारस्य कुत्वं च, 'रमयाम्' इति रम-धातोराम्-प्रत्ययः—एतेभ्यश्चतुर्भ्य आमन्तसमुदायेभ्यः 'अकः' इति लुङ्लकारस्य प्रथमैकवचने कृञ् प्रयुज्यते लुङ् च परो भवति । अभ्युत्सादयामकः[2], पक्षे—अभ्युदसीषदत् । प्रजनयामकः[2], पक्षे—प्राजीजनत् । चिकयामकः[2], पक्षे—अचीचयत् । रमयामकः[2], पक्षे—अरीरमत् । 'पावयांक्रियात्[2]' इति ण्यन्तात् पूञ्-धातोराम्-प्रत्ययस्तदन्तात् 'क्रियात्' इति लिङि प्रथमैकवचने लिङि परतः कृञ्-धातोरनुप्रयोगः । पक्षे—पाव्यात् । 'विदामक्रन्[3]' इति विदधातोराम्, तदन्ताल्लुङि प्रथमस्य बहुवचने कृञोऽनुप्रयोगः । [पक्षे—अवेदिषुः ॥]

'छन्दसि' इति किम् । 'अभ्युदसीषदत्' इति प्रयोगो लोके नित्यं यथा स्यात् ॥

इति-करणः पूर्ववत् प्रकारवाची । एवंप्रकारकाणि रूपाणि निपात्यन्ते [इति] ॥ ४२ ॥

यहां पूर्वसूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ 'अकः' पद का चार आमन्तों के साथ अनुप्रयोग है ।

---

१. आ० सू० ४४५ ॥
२. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥
३. तै० ब्रा० १ । ३ । १० । ३ ॥

[छन्दसि] वैदिक प्रयोगों में [अभ्युत्सादयाम्०] इत्यादि विकल्प से निपातन हैं। 'अभि-उत्' पूर्वक ण्यन्त षद्लृ धातु से, 'प्र' पूर्वक ण्यन्त जन धातु से, 'चिकयाम्' में—चिञ् धातु से आम् परे द्विर्वचन अभ्यास से परे चकार को कुत्व, 'रमयाम्' में—रमु ण्यन्त धातु से आम् प्रत्यय निपातन हैं, तथा इन चारों आमन्तों से 'अक' इस लुङ् लकार प्रथमपुरुष के एकवचन में लुङ् परे कृञ् का अनुप्रयोग होता है॥

अभ्युत्सादयामकः, पक्ष में—अभ्युदसीषदत्। प्रजनयामकः, पक्ष में—प्राजीजनत्। चिकयामकः, पक्ष में—अचीचयत्। रमयामकः, पक्ष में—अरीरमत्। पावयांक्रियात्—इसमें ण्यन्त पूञ् धातु से आम् प्रत्यय, तथा उससे आगे क्रियात् का अनुप्रयोग होता है, जो लिङ् लकार प्रथमपुरुष एक वचन का रूप है। पक्ष में-पाव्यात्। 'विदामक्रन्' इसमें—आम् प्रत्ययान्त विद् धातु से लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में लुङ् परे कृञ् का अनुप्रयोग और सिच् का लुक् निपातन है। पक्ष में—अवेदिषु ऐसा प्रयोग होता है॥

'छन्दसि' पद का ग्रहण इसलिये है कि—'अभ्युदसीषदत्' इत्यादि प्रयोग लोक में नित्य ही हों। इस सूत्र में भी 'इति' शब्द पूर्वसूत्र के समान प्रकारवाची है, इससे सूत्र का अर्थ यह हुआ कि—'अभ्युत्सादयामकः' इस प्रकार के रूप निपातन से होते हैं॥ ४२॥

च्लि लुङि[1] ॥ ४३ ॥

च्लि। १। १। लुङि। ७। १। 'च्लि' इति लुप्तविभक्तिको निर्देशः॥ लुङि लकारे परतो धातुमात्राच्च्लिः प्रत्ययो भवति। च्लिः प्रत्ययः क्वापि न श्रूयते, किन्त्वस्य स्थाने नित्यं सिजादय एव भवन्ति। यदि क्वापि प्रयोगेष्वस्य श्रवणं न भवति पुनः किमर्थमुपदिश्यते—

भा०—च्लिरुत्सर्गः क्रियते सामान्यग्रहणार्थः। क्व सामान्यग्रहणार्थेनार्थः। 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो ले[2]' इति। तत्रावरतस्त्रयाणां[3] ग्रहणं कर्त्तव्यं स्यात्। चङङोः सिच इति॥

इकार उच्चारणार्थः। चकारोऽन्तोदात्तस्वरार्थः। अस्योदाहरणानि वक्ष्यमाणसूत्रे दास्यामः॥ ४३॥

---

१. भा० सू० ८७॥

२. अ० २। ४। ८०॥

३. कथमवरतस्त्रयाणां ग्रहणमिति तु भाष्य एव द्रष्टव्यं, विस्तराभिया न लिख्यते॥

इस सूत्र में 'च्लि' यह बिना विभक्ति का प्रयोग है ॥

[लुङि] लुङ् लकार परे होने पर धातुमात्र से [च्लि] च्लि प्रत्यय हो ॥

च्लि प्रत्यय का श्रवण कहीं भी नहीं होता, किन्तु इसके स्थान में सिजादि आदेश नित्य ही हो जाते हैं । (प्र०)—जब च्लि प्रत्यय का प्रयोगों में श्रवण ही नहीं होता, तो फिर इसका उपदेश ही क्यों किया ?

(उ०)— च्लि उत्सर्ग है, इसका निर्देश इसलिये किया है कि–'मन्त्रे घसह्वर०······ ले.' इस सूत्र में 'लि' के ग्रहण से च्लि के आदेशों का भी सामान्य से ग्रहण हो जाय अन्यथा 'मन्त्रे घस्०' इत्यादि सूत्र में 'चङ्' 'अङ्' 'सिच्' इन तीनों का ग्रहण अवश्य ही करना पड़ता, अतः लाघवार्थ च्लि उत्सर्ग किया जाता है ॥

च्लि में इकार उच्चारण के लिये है, चकार अन्तोदात्त स्वर के अभिप्राय से है । इस सूत्र के उदाहरण अगले सूत्र में देखें ॥ ४३ ॥

च्लेः सिच्[1] ॥ ४४ ॥

'लुङि' इत्यनुवर्त्तते । च्लेः । ६ । १ । सिच् । १ । १ ॥ च्लेः स्थाने सिज्-आदेशो भवति । अकार्षीत् । अहार्षीत् ॥ अत्र 'सिचि वृद्धिः०[2] ॥' इति वृद्धिः सिद्धा भवति । स्थानिवद्भावेनान्तोदात्तत्वं स्यादेव पुनश्चकारोऽनुबन्धो विशेषणार्थः । 'सिचि वृद्धिः०[3]' अत्र 'सौ वृद्धिः' इत्युच्यमाने 'भवन्' अत्र शत्रन्ते परस्मैपदे सौ विभक्तौ वृद्धिर्मा भून् । इकार उच्चारणार्थः ॥

---

१. भा० सू० ८८ ॥

२. अ० ७ । २ । १ ॥

३ (क) अत्र भाष्यम्—किमर्थश्चकारः ? विशेषणार्थः । क्व विशेषणार्थेनार्थः । सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' अ० ७ । २ । १ ॥ इति । सौ वृद्धिरितीयत्युच्यमाने—अग्निर्वायुरित्यत्रापि प्रसज्येत । नैतदस्ति प्रयोजनम् । परस्मैपदेष्वित्युच्यते । न चात्र परस्मैपदं पश्यामः । स्वरार्थस्त० ·············॥ अर्थवत्तु चित्करणसामर्थ्याद्धीट उदात्तत्वम् ●' नैष दोषः । अर्थवत्तु सिचश्चित्करणम् । कोऽर्थः । सिचश्चित्करणसामर्थ्याद्धि इट उदात्तत्वं भविष्यति । नाप्राप्ते प्रत्ययस्वरे आगमानुदात्तत्वमारभ्यते, तद्यथैव प्रत्ययस्वरं बाधते एवं स्थानिवद्भावादपि या प्राप्तिस्तामपि बाधेत । 'तस्माच्चित्करणम् ● । तस्माच्चकारः कर्त्तव्यः ॥

(ख) अर्थवत्तु सिचश्चित्करणमित्यादि का सारांश–आगम के अनुदात्त होने से तथा सतिशिष्ट स्वर के बलवान् होने से सब स्वरों को बाध कर आगमानुदात्त ही हो जाता है । यह स्थानिवत् की प्राप्ति को भी बाध लेता है । इसी प्रकार 'आदिः सिचोऽन्य-

वा०—स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः[1] सिज्वा[2] ॥ १ ॥

स्पृशादिभ्यः शलन्तत्वान्नित्यं क्स प्राप्तः । स्पृशादिभ्यो विकल्पेन सिज्भवति, पक्षे क्सश्च । तथा तृप-दृप-धातुभ्यां पुषादित्वान्नित्यमङ् प्राप्तः, सिज् विकल्पेन, पक्षेऽङेव भवति । सिच्पक्षे विकल्पेनामागमशासनाल्लुङि स्पृशादीना त्रीणि त्रीणि रूपाणि भवन्ति । तृप-दृप-धातुभ्या रधादित्वादिडपि विकल्प्यते तेन चत्वारि रूपाणि भवन्ति । स्पृश—अस्पृक्षत्, अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत् । मृश—अमृक्षत्, अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत् । कृष्—अकृक्षत्, अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत् । तृप—अतृपत्, अतर्पीत्, अत्राप्सीत्, अतार्प्सीत् । दृप—अदृपत्, अदर्पीत्, अद्राप्सीत् अदार्प्सीत् ॥ ४४ ॥

यहां 'लुङि' इस पद का अनुवर्त्तन है ।

[च्लेः] च्लि के स्थान में [सिच्] सिच् आदेश होता है लुङ् परे रहते ॥

जैसे...अकार्षीत् । अहार्षीत् यहां 'सिचिवृद्धि०' इस सूत्र से वृद्धि हो जाती है ॥

सिच् को स्थानिवद्भाव से अन्तोदात्त हो ही जाता, पुनः सिच् में चकार का अनुबन्ध विशेषण के लिये है जैसे—'सिचि वृद्धि प०' इसमें यदि 'सौ वृद्धिः' ऐसा कहते तो 'भवन्' इस शत्रन्त उदाहरण में परस्मैपद में सु विभक्ति परे रहते वृद्धि हो जाती, सो न हो ॥ 'सिच्' में 'इकार' उच्चारण के लिये है ॥

१—वा०—'स्पृशमृश०...' 'स्पृश' आदि धातुओं के शलन्त होने से नित्य क्स प्राप्त था, अतः वार्त्तिक से विकल्प करके विधान किया है, पक्ष में क्स प्रत्यय भी होता है । तथा 'तृप्' 'दृप्' धातुओं के पुषादि होने से नित्य 'अङ्' प्राप्त था, इस वार्त्तिक से सिच् विकल्प करके होता है पक्ष में 'अङ्' भी होता है । सिच् पक्ष में 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (अ० ६ । १ । ५९) इस सूत्र से विकल्प करके लुङ् में 'अम्' आगम होने से स्पृशादियों के तीन तीन रूप बनते हैं । तृप-दृप् धातुओं के रधादि में होने से 'रधादिभ्यश्च' (अ० ७ । २ । ४५) से इट् का विकल्प होता है अतः इनके चार चार रूप बनते हैं ॥ जैसे—स्पृश्—अस्पृक्षत्, अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत् । मृश्—अमृक्षत्, अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत् । कृष्—अकृक्षत्, अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत् । तृप्—अतृपत्, अतर्पीत्, अत्राप्सीत्, अतार्प्सीत् । दृप्—अदृपत्, अदर्पीत्, अद्राप्सीत्, अदार्प्सीत् ॥ ४४ ॥

तरस्याम्' (अ० ६ । १ । १८७) का भी बाधक हो जाता, अतः आमन्त्रितानुदात्तत्व को बाधने के लिये सिच् करना ही चाहिये, यतः 'मा हि लाविष्टाम्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जावें ॥

१ महाभाष्ये तु-'स्पृश० दृपां च्लेः' इत्यस्य स्थाने 'स्पृश दृप' इति पाठः ॥

२. (क) अ० वा० २८० ॥

(ख) भाष्ये-अ० ३ । पा० १ । आ० ४ ॥

शल इगुपधादनिटः क्सः[1] ॥ ४५ ॥

'च्लेः' इत्यनुवर्त्तते । च्लेः स्थाने सिच् प्राप्तस्तस्यायमपवादः । शलः । ५ । १ । इगुपधात् । ५ । १ । अनिटः । ५ । १ । क्सः । १ । १ ॥ इक् उपधायां यस्य स इगुपधः, तस्मात् । न विद्यत इट् यस्मात् [सोऽनिट्], तस्मात् । **'शषसर् हल्'** इति शल्-प्रत्याहारः, तदन्तात् ॥

अनिट इगुपधाच्छलन्ताद्धातोः परस्य च्लेः स्थाने क्स आदेशो भवति । **'दुह प्रपूरणे'**[2]—अधुक्षत् । अलिक्षत् । अधिक्षत् । अत्र क्सस्य कित्त्वाद् गुणाभावः । हकारस्य ढत्व, **'षढोः कः सि'**[3] इति कत्वम् । **'आदेश-प्रत्यययोः'**[4] इति षत्वम् । **'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः'**[5] इति दुह्-दिहोर्दकारस्य धत्व च । तेनेमानि रूपाणि सिध्यन्ति ॥

'शलः' इति किम् । अरौत्सीत् ॥

'इगुपधात्' इति किम् । अधाक्षीत् ॥

'अनिटः' इति किम् । अकोषीत् । अमोषीत् । अत्र सर्वत्र च्लेः स्थाने क्सो न भवति किन्तु सिजेव ॥ ४५ ॥

'च्लेः' इस पद का अनुवर्त्तन है । च्लि के स्थान में सिच् प्राप्त था उसका यह अपवाद है । इक् उपधा में हो जिसके वह=इगुपध, इट् नहीं होता जिससे वह अनिट्, 'शषसर् हल्' इससे शल् प्रत्याहार बनता है सो शल् है अन्त में जिसके सो शलन्त कहाता है ॥ अनिट जो इगुपध शलन्त धातु उससे परे च्लि के स्थान में क्स आदेश होता है लुङ् लकार परे हो तो ॥

जैसे—'दुह प्रपूरणे'—अधुक्षत् । अलिक्षत् । अधिक्षत् । यहां 'क्स' के कित् होने से गुण नहीं होता, [हो ढ. । अ० ८ । २ । ३१] हकार को ढकार होकर 'षढोः क सि' से ढकार को ककार हुआ 'आदेशप्रत्यययो' से मूर्द्धन्यादेश होकर तथा 'एकाचो बशो भष्०' से दुह दिह, धातुओं के दकार का धकार होकर के रूप सिद्ध होते हैं ॥

'शलः' ग्रहण इसलिये है कि—अरौत्सीत् । 'इगुपधात्' ग्रहण इसलिये है कि—अधाक्षीत् । 'अनिट' ग्रहण इसलिये किया कि—अकोषीत्, अमोषीत् । इन सब प्रत्युदाहरणों में च्लि के स्थान में क्स नहीं होता किन्तु सिच् ही होता है ॥ ४५ ॥

---

१. धा० सू० २०७ ।
२. अ०-मदा०-४ ।
३. अ० ८ । २ । ४१ ॥
४. अ० ८ । ३ । ५९ ॥
५. अ० ८ । २ । ३७ ॥

श्लिष आलिङ्गने[1] ॥ ४६ ॥

[श्लिषः । ५ । १ । आलिङ्गने । ७ । १ ।] श्लिष-धातोः सामान्यार्थे पुषादिपाठादङ् प्राप्तः । [2]नियमार्थमिदमुच्यते—आलिङ्गने क्स एव स्यात् । आलिङ्गने वर्तमानात् श्लिष-धातोः परस्य च्लेः स्थाने क्सो भवति । आश्लिक्षद् भार्यां देवदत्तः ॥ ४६ ॥

श्लिष धातु के पुषादि में होने से अङ् प्राप्त था, अतः नियमार्थ यह सूत्र है कि आलिङ्गन अर्थ में क्स ही हो ॥

[श्लिषः] श्लिष् धातु से परे च्लि के स्थान में क्स आदेश होता है । [आलिङ्गने] आलिङ्गन अर्थ में ही लुङ् लकार परे हो तो ॥

जैसे—आश्लिक्षत् भार्यां देवदत्तः ।

'आलिङ्गने' ग्रहण इसलिये है कि—समाश्लिषत् ब्राह्मणकुलम् । यहां पुषादि होने से अङ् ही होता है ॥ ४६ ॥

न दृशः[3] ॥ ४७ ॥

पूर्वसूत्रेण क्सः प्राप्तः प्रतिषिध्यते । न । दृशः । ५ । १ । दृश-धातोः परस्य च्लेः स्थाने क्स आदेशो न भवति । क्से प्रतिषिद्धे- अदर्शत् । अद्राक्षीत् । 'इरितो वा'[4] इति विकल्पेनाङ् पक्षे सिच् । अङ्पक्षे 'ऋदृशोऽङि गुणः'[5] इति गुण । सिच्पक्षे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति'[6] इति नित्यमम्-आगमो भवति ॥ ४७ ॥

यहां पूर्व सूत्र से क्स प्राप्त था उसका प्रतिषेध करते हैं ॥

[दृशः] दृश् धातु से परे च्लि के स्थान में क्स आदेश [न] न हो ॥

जैसे—अदर्शत् । अद्राक्षीत् । यहां 'इरितो वा' से विकल्प करके अङ् होता है, पक्ष में सिच् भी होता है । 'अङ्' पक्ष में—'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण होता है तथा सिच् में 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' से नित्य 'अम्' आगम होता है ॥ ४७ ॥

---

१. धा० सू० ४०६ ।
२. योगविभागाद्ध्राप्ये नियमोऽयं सिद्धः ॥
३. धा० सू० २७९ ॥
४. अ० ३ । १ । ५७ ॥
५. अ० ७ । ४ । १६ ॥
६. अ० ६ । १ । ५८ ॥

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्[1] ॥ ४८ ॥

अयमपि सिजपवादः । णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः । ५ । ३ । कर्त्तरि । ७ । १ । चङ् । १ । १ । **श्रिञ् सेवायाम्**[2] । **द्रु गतौ**[3] । **स्रु प्रस्रवणे**[4] । ण्यन्तेभ्यः श्रि-द्रु-स्रुभ्यश्च धातुभ्यः कर्तृवाचिनि लुङि परतश्च्लेश्चङ्-आदेशो भवति । णि — अचीकरत् । अपीपचत् । अपीपठत् । श्रि अशिश्रियत् । [द्रु —] अदुद्रुवत् । [स्रु —] असुस्रुवत् । अत्र '**चङि**[5]' इति द्विर्वचनम् ॥

'कर्त्तरि' इति किम् । अपाठि विद्या देवदत्तेन । अत्र कर्मणि चङ् मा भूत् ॥

वा० — *णि-श्रि-द्रु-स्रुषु कमेरुपसंख्यानम्*[6] ॥ १ ॥

'**कमेर्णिङ्**[7]' इति सूत्रेणार्द्धधातुकविषये विकल्पेन णिङ् भवति । यदा णिङ् तदा णि-ग्रहणादेव चङ् भविष्यति । यदा तु णिङ् न भवति तदा च्लेः स्थाने सिच् प्राप्तः । स न स्यात्, चङेव स्यादिति वार्त्तिकप्रयोजनम् । णिङ्-पक्षे 'अचीकमत' अन्यथा 'अचकमत' इति रूपद्वयं भवति ॥

का० — *नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः ।*
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ॥[8] १ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारेण[9] द्वावर्थौ भवतः । अकमिष्ट-भाषिणः पुरुषाः सुयुक्तैर्वडवारथैः सुखं स्वर्गं न यान्ति । कुतः । 'अकमिष्ट' इत्यशुद्धप्रयोगस्योच्चारणात् । तथा — अचकमत-भाषिणः पुरुषाः सुयुक्तैर्वडवारथैरिष्टसुखं नाकं स्वर्गं यान्ति प्राप्नुवन्ति । कुतः । वार्त्तिकसिद्धस्य 'अचकमत' इति प्रयोगस्योच्चारणात् । 'अथ' इत्यनन्तरं ये जना अचीकमत-भाषिणस्ते 'पत्काषिणः' पद्भ्यामिष्टसुखं स्वर्गं यान्ति प्राप्नुवन्ति । अत्र सूत्रवार्त्तिकानुसारेण यथार्थप्रयोगज्ञस्य वैयाकरणस्य प्रशंसा, अज्ञस्य च निन्दा भवतीति प्रयोजनाय कारिकोक्ता ॥ ४८ ॥

---

१. भा० सू० १७६ ॥
२. धा० — भ्वा० — ८८४ ॥
३. धा० — भ्वा० — ९२९ ॥
४. धा० — भ्वा० — ९२५ । वर्त्तमानधातुपाठेषु 'स्रु गतौ' इत्येव पाठः ॥
५. अ० ६ । १ । ११ ॥
६. (क) अ० ३ । पा० १ । आ० ४ ॥
(ख) भा० वा० १८४ ॥
७. अ० ३ । १ । ४ ॥
८. अ० ३ । पा० १ । आ० ४ ॥
९. तल्लक्षणन्तु —
अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः ॥
द्र० ऋग्वे० भूमिकायामलङ्कारविषये ॥

यह भी सिच् का अपवाद है। ण्यन्त, श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से परे च्लि के स्थान में चङ् आदेश हो, कर्तृवाची लुङ् परे हो तो ॥

जैसे णि-अचीकरत्। अपीपचत्। अपीपठत् ॥ श्रि अशिश्रियत्। द्रु-अदुद्रुवत् ॥ स्रु—असुस्रुवत् ॥ यहां 'चङि' सूत्र से द्विर्वचन होता है ॥ 'कर्त्तरि' ग्रहण इस लिये है कि—अपाठि विद्या देवदत्तेन, यहां कर्म में चङ् न हो ॥

१-वा०—'णि श्रि-द्रु-स्रुषु कमे०' 'कमेर्णिङ्' इस सूत्र से आर्द्धधातुक विषय में णिङ् विकल्प से होता है। णिङ् पक्ष में णि ग्रहण से 'चङ्' हो जाता है, जब 'णिङ्' नहीं होता तब च्लि के स्थान में सिच् प्राप्त था, सो न हो परन्तु 'चङ्' ही हो इसलिये यह वार्त्तिक है ॥ णिङ् पक्ष में—अचीकमत, दूसरे पक्ष में -अचकमत य दो रूप बनते हैं ॥

का०—नाकमिष्टसुखं यान्ति० ...... ॥ १ ॥

यहां श्लेषालङ्कार से कारिका के दो अर्थ होते हैं। यथा—'अकमिष्ट' पद का प्रयोग करने वाले पुरुष 'अकमिष्ट' इस अशुद्ध प्रयोग का उच्चारण करने के कारण अच्छे सुन्दर घोड़ों से युक्त रथों द्वारा स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त नहीं होते हैं। तथा—'अचकमत' पद का प्रयोग करने वाले पुरुष अच्छे अच्छे घोड़ों से युक्त रथों द्वारा स्वर्ग अर्थात् इष्ट सुख को पाते हैं, क्योंकि वे वार्त्तिक से शुद्ध इस 'अचकमत' प्रयोग का उच्चारण करते हैं। 'अथ' यहां अनन्तरवाची है, जो पुरुष 'अचीकमत' प्रयोग करते हैं वे 'पत्काषिणः' पैर घिसाते हुए इष्ट सुख अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ॥ जो वैयाकरण सूत्र तथा वार्त्तिक से सिद्ध प्रयोगों का यथायोग्य प्रयोग करता है उसकी प्रशंसा तथा अज्ञानी की निन्दा होती है, इत्यादि प्रयोजन के लिये [अर्थवाद रूप से] यह कारिका है ॥ ४८ ॥

विभाषा धेट्श्व्योः ॥ ४९ ॥

'कर्त्तरि चङ्' इत्यनुवर्त्तते। अप्राप्तश्चङ् विकल्प्यतेऽतोऽप्राप्तविभाषेयम्। विभाषा। १। १। धेट्-श्व्योः। ६। २। 'धेट् पाने'[2], टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'[3] इत्येव पठिताभ्यां धेट्-श्वि-धातुभ्यां परस्य च्लेः स्थाने कर्त्तरि लुङि परतो विकल्पेन चङ्-आदेशो भवति। पक्षे सिजेव। श्वि-धातोः सिच्, पक्षे विकल्पेनाङ् विधीयते। धेट्-धातोर्विकल्पेन सिज्लुग् विधीयते। एवं द्वयोस्त्रीणि त्रीणि रूपाणि भवन्ति। अदधत्, अधात्, अधासीत्। अशिश्वियत्, अश्वत्, अश्वयीत्। अत्र चङ्पक्षे 'चङि'[4] इति द्विर्वचनम् ॥

१. भा० २४८ ॥
२. धा०—भ्वा०—८८९ ॥
३. धा०—भ्वा०—९९५ ॥
४. अ० ६। १। ११ ॥

'कर्तरि' इति किम् ? अधायि माता वालेन । अश्वायि ग्रामो देवदत्तेन । अत्र चङ् मा भूत् ॥ ४६ ॥

'कर्तरि' तथा 'चङ्' का अनुवर्त्तन है ॥ यह सूत्र अप्राप्त विभाषा है क्योंकि यहाँ अप्राप्त चङ् का विकल्प है ॥

[धेट्श्व्योः] धेट् श्वि धातु से परे च्लि के स्थान में [विभाषा] विकल्प करके चङ् होता है कर्तृवाची लुङ् परे हो तो, पक्ष में 'सिच्' भी होता है ॥

'श्वि' धातु से सिच्, पक्ष में विकल्प [जृस्तम्भु०''' श्विभ्यश्च, अ० ३ । १ । ५८] से अङ् होता है, और धेट् धातु से सिच् लुक् [विभाषा घ्राधेट्० अ० २ । ४ । ७८] विकल्प से होता है इस प्रकार दोनों के तीन तीन रूप बनते हैं—

जैसे—अदधत्, अधात्, अधासीत् ॥ अशिश्वियत्, अश्वत्, अश्वयीत् । चङ् पक्ष में 'चङि' से द्विर्वचन होता है ॥

'कर्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—अधायि माता बालेन । अश्वायि ग्रामो देवदत्तेन । यहां चङ् न हो ॥ ४९ ॥

गुपेश्छन्दसि ॥ ५० ॥

'विभाषा' इत्यनुवर्तते । गुपेः । ५ । १ । छन्दसि । ७ । १ । 'गुपू रक्षणे'[1] इत्यस्माद् धातोर्लुङि विकल्पेनाय-प्रत्ययो भवति । तत्रायाभावे चङ् विकल्प्यते ॥ छन्दसि = वेदविषये गुप्-धातोः परस्य च्लेः स्थाने कर्तरि लुङि परतो विकल्पेन चङ्-आदेशो भवति । अजूगुपत् । पक्षे सिजेव—अगोपीत्, अगोप्सीत्, अगोपायीत् । अत्र 'आय, चङ्, इट्' इति विकल्पत्रयेण वेदविषये गुपधातोर्लुङि चत्वारः प्रयोगाः । लोके तु चङ् न भवतीति त्रीण्येव रूपाणि ॥ ५० ॥

यहां 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है ॥ 'गुपू रक्षणे' धातु से लुङ् में विकल्प से आय प्रत्यय होता है जब आय नहीं होता तब विकल्प से चङ् होता है ॥

[छन्दसि] वेद विषय में [गुपेः] गुप धातु से परे च्लि के स्थान में विकल्प से चङ् आदेश होता है कर्तृवाची लुङ् लकार परे हो तो ॥

जैसे अजूगुपत् । सिच् पक्ष में अगोपीत्, अगोप्सीत्, अगोपायीत् ॥ वेद विषय में लुङ् लकार परे गुप् धातु के चार रूप होते हैं, क्योंकि 'आय-चङ्-इट्' ये तीनों विकल्प से होते हैं परन्तु लोक में चङ् न होने से तीन ही रूप बनते हैं ॥ ५० ॥

१. धा०—भ्वा०—३९५ ॥

नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः[1] ॥ ५१ ॥

ऊनयतीनां ण्यन्तत्वात् पूर्वेण चङ् प्राप्तो निषिध्यते । 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते । न । ऊनयति-ध्वनयति-एलयति-अर्दयतिभ्य. । ५ । ३ ॥ **ऊन परिहाणे**[2] । **ध्वन शब्दे**[3] । **इल प्रेरणे**[4] । **अर्द गतौ**[5] । छन्दसि =वेदविषय ऊनादिण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने कर्त्तरि लुङि परतश्चङ्-आदेशो न भवति । ऊनादयः सर्वे चुरादिस्थाः । ऊनयीः[6] । ध्वनयीत्[7] । ऐलयीः[8] । अर्दयीत्[9], इति वेदे । लोके तु भवत्येव चङ्— औननत्[9] । अदिध्वनत् । ऐलिलत् । आर्दिदत् । अत्राभ्यासस्य सन्वत् कार्यमिकारादेशः ॥ ५१ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ ऊनयति आदि धातुओं के ण्यन्त होने से पूर्वसूत्र से चङ् प्राप्त था, सो निषेध करते हैं ॥

छन्दसि =वेद विषय में [ऊनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः] ऊनयति आदि ण्यन्त धातुओं से परे च्लि के स्थान में चङ् आदेश [न] नहीं होता कर्तृवाची लुङ् परे हो तो ॥

ऊनयति आदि सब चुरादि गण के हैं । जैसे—काममूनयीः । मा त्वामग्निर्ध्वनयीत् । काममैलयीः । मैनमर्दयीत् । लोक में चङ् होने से—औननत् । अदिध्वनत् । ऐलिलत् । आर्दिदत् । यहां उदाहरणों में सन्वद्भाव से अभ्यास को 'इकार' आदेश होता है ॥ ५१ ॥

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्[10] ॥ ५२ ॥

चङ् निवर्त्तते । सिजपवादोऽङ् विधीयते । **असु क्षेपणे**[11] । **वच परिभाषणे**[12] । ब्रू आदेशश्च । **ख्या प्रकथने**[13] । ख्याति-ग्रहणेन चक्षिङ्-आदेशस्य ग्रहणं न भवति ।

---

१. धा० सू० ४६४ ॥

२ धा०—चुरा०—३३९ ॥

३. धा० —चुरा० —३४० ॥

४. धा०—चुरा०—११९ ॥

५. धा०—चुरा०—२८० ॥

६. ऋ०—१ । ५३ । ३० ॥

७. ऋ०—१ । १६२ । १५ ॥

८. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥

९. यत्तत्र काशिकाकारादय 'औनिनत्' इति रूप-माहुः, तदयुक्तम् । अल्लोपित्वात् सन्वद्भावाभावात् । अद्विर्वचनेऽपि णौ स्थानिवद् भवतीति 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति ज्ञापकाद् अकारलोपस्य स्थानिवत्त्वाद्द्वितीयैकाचो द्विर्वचनम् ॥

१०. धा० सू० ३१६ ॥

११. धा०—दिवा०—१०१ ॥

१२. धा० —अदा० —५३ ॥

१३ धा०—अदा०—५० ॥

'असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा'[1] ॥' इति वार्त्तिकेन ख्याञादेशस्यासिद्धत्वात् ।

अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यः । ५ । ३ । अङ् । १ । १ । अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यो धातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने कर्त्तरि लुङि अङ्-आदेशो भवति । असु-धातोः पुषादिपाठादङ् सिद्धः, पुनरात्मनेपदार्थं आरम्भः । [पुषादिपाठात् परस्मैपदेष्वङ् भविष्यति ।] निरास्थत । निरास्थेताम् । निरास्थन्त । अत्रोपसर्गाद् विकल्पेन वार्त्तिककृतमात्मनेपदम् । 'अस्यतेस्थुक्'[2] इत्यङि परतस्थुग्-आगमः । वक्ति—अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । [ख्याति -] अख्यत् । अख्यताम् । अख्यन् । 'वच उम्'[3] इत्यङि परतो वच-धातोरुम्-आगमः ॥

'कर्त्तरि' इति किम् । निरासि बाणः शूरेण । अत्र कर्मण्यङ् मा भूत् ॥ ५२ ॥

यहां 'अङ्' की अनुवृत्ति नहीं आती । 'अङ्' सिच् का अपवाद है । ख्याति-ग्रहण से चक्षिङ् के आदेश 'ख्याञ्' का ग्रहण नहीं होता क्योंकि—'असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा' इस वार्तिक से जो 'क्शाञ्' को यकार का विधान किया है वह त्रिपादि होने से सपाद सप्ताध्यायी अर्थात् सवा सात अध्याय के कार्यों में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अ० ८ । २ । १) से असिद्ध हो जाता है, अतः उसका 'ख्या' ऐसा रूप ही नहीं रहता इसलिये उसका यहां ग्रहण नहीं होता ॥

[अस्यति वक्ति ख्यातिभ्यः] असु वच और ख्या धातुओं से परे च्लि के स्थान में [अङ्] अङ् आदेश होता है कर्तृवाची लुङ् परे हो तो ।

'असु' धातु के पुषादि में होने से 'अङ्' सिद्ध ही था पुनः अङ् का विधान आत्मनेपद के लिये है क्योंकि पुषादियों से 'अङ्' परस्मैपद में होता है । जैसे—निरास्थत, निरास्थेताम् । निरास्थन्त। यहां [उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम् । अ० १ । ३ । २९] इस वार्तिक द्वारा सोपसर्ग अस्यति से विकल्प करके आत्मनेपद होता है । 'अस्यतेस्थुक्' सूत्र से अङ् परे 'थुक्' का आगम होता है । वक्ति —अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । वच धातु को 'वच उम्' से अङ् परे 'उम्' का आगम होता है ॥ ख्याति—अख्यत्, अख्यताम्, अख्यन् ॥

'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—निरासि बाणः शूरेण । यहां कर्म में अङ् नहीं होता ॥ ५२ ॥

---

१ (क) भाष्ये—अ० २ । पा० ४ । आ० १ ॥ २. अ० ७ । ४ । १७ ॥
(ख) का० वा०—१५ ॥ ३. अ० ७ । ४ । २० ॥

लिपिसिचिह्वश्च[1] ॥ ५३ ॥

अङ्[1] इत्यनुवर्त्तते । योगविभाग उत्तरार्थः । उत्तरसूत्रेऽस्यैवानुवृत्तिः स्यात् ॥ लिपि सिचि-ह्वः । ५ । १ । [च ।] लिप्यादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ 'लिप उपदेहे', षिच क्षरणे[2], ह्वेञ् स्पर्धायाम्'[3] इत्येव पठितेभ्यो लिप्यादि-धातुभ्यः परस्य च्लेः स्थानेऽङ्-आदेशो भवति कर्त्तरि लुङि परतः । अलिपत् । असिचत् । अह्वत् ॥

कर्त्तरि' इति किम् । अलेपि देहली कन्यया । अत्राङ् मा भूत् ॥ ५३ ॥

यहां 'अङ्' पद का अनुवर्त्तन है । योगविभाग उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है ॥ यहाँ समाहार द्वन्द्व समास है ॥

[लिपिसिचिह्वः] लिप्, सिच्, ह्वेञ्, इन धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है कर्तृवाची लुङ् लकार परे हो तो ॥

जैसे—अलिपत् । असिचत् । अह्वत् ॥

कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि— अलेपि देहली कन्यया । यहां कर्म में अङ् न हो ॥५३ ॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्[4] ॥ ५४ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते । लिप्यादयोऽनुवर्त्तन्ते । आत्मनेपदेषु । ७ । ३ । अन्यतरस्याम् ॥ कर्तृवाचिषु लुङ्यात्मनेपदसञ्ज्ञकेषु प्रत्ययेषु परतो लिप्यादिधातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने विकल्पेनाङ्-आदेशो भवति । अलिपत, अलिप्त । असिचत, असिक्त । अह्वत, अह्वास्त । लिप्यादय उभयपदिनस्तेषां विकल्पेन द्वौ द्वौ प्रयोगौ भवतः ॥ ५४ ॥

यह प्राप्तविभाषा है क्योंकि पूर्व सूत्र से अङ् की नित्य प्राप्ति में विकल्प किया है । 'लिपिसिचिह्वः' की अनुवृत्ति आ रही है । लिप्-सिच्-ह्वेञ्, धातुओं से परे च्लि के स्थान में [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अङ् आदेश होता है [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद में कर्तृवाची लुङ् लकार के प्रत्यय परे हों तो ॥

जैसे—अलिपत, अलिप्त । असिचत, असिक्त । अह्वत, अह्वास्त ॥ लिप आदि धातु उभयपदी हैं अतः दो दो रूप बनते हैं ॥ ५४ ॥

---

१. अ० सू० २९२ ॥
२. धा०—दिवा०—१४९ ॥
३. धा०—तुदा०—१२० ॥
४. धा०—भ्वा०—९९३ ॥
५. अ० सू० २९३ ॥

पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु[1] ॥ ५५ ॥

च्लेरपवाद एव । पुषादि-द्युतादि-ॡदितः । ५ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ । पुषादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ पुषादिभ्यो द्युतादिभ्य ॡदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने लुङि कर्त्तृवाचिपरस्मैपदसञ्ज्ञकेषु प्रत्ययेषु परतोऽङ्-आदेशो भवति । पुषादि—अपुषत् । अशुषत् । अतुषत् । अदुषत् ॥ द्युतादि—अद्युतत् । अश्वितत् । ॡदितः—अगमत् । असदत् ॥ पुषादयो दिवादिस्थाः गृह्यन्ते न तु भ्वादिस्थाः । यदि भ्वादिस्थानां ग्रहणं स्यात्तर्हि पुषादेः पश्चाद् द्युतादयः सन्ति, पुषादिग्रहणेन द्युतादीनामपि ग्रहणं स्यात्, पुनराचार्येण द्युतादिग्रहणं कृतं तेन ज्ञायते दिवादिस्थानामेव पुषादीनां ग्रहणम् ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम् । अद्योतिष्ट । अश्वेतिष्ट । अत्राङ् मा भूत् ॥ ५५ ॥

यह सूत्र च्लि का अपवाद है । यहां समाहार द्वन्द्व समास है ॥

[पुषादिद्युताद्यॢदितः] पुषादि और द्युतादि तथा ॡदित् धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है लुङ् लकार के कर्त्तृवाची [परस्मैपदेषु] परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय परे हों तो ॥

जैसे—पुषादि से—अपुषत् । अशुषत् । अतुषत् । अदुषत् । द्युतादि से—अद्युतत् । अश्वितत् ॥ ॡदितों से—अगमत् । असदत् ॥ यहां पुषादि कहने से दिवादि—अन्तर्गत जो पुषादि हैं उनका ही ग्रहण है, भ्वादि गण वालों का नहीं, क्योंकि यदि भ्वादि गण वाले पुषादि का ग्रहण होता तो पुषादि के अनन्तर द्युतादि धातुपाठ में पढ़े ही हैं उनका ग्रहण हो ही जाता, फिर जो आचार्य ने सूत्र में पुषादि के अनन्तर द्युतादि पढ़ा है उससे ज्ञात होता है कि दिवादिस्थ पुषादि का ही ग्रहण है ॥

'परस्मैपदेषु' ग्रहण इसलिये है कि अद्योतिष्ट । अश्वेतिष्ट । यहां आत्मनेपद में अङ् न हो ॥ ५५ ॥

सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च[2] ॥ ५६ ॥

'परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्त्तते । सर्त्ति-शास्ति-अर्त्तिभ्यः । ५ । ३ । [च ।] 'सृ गतौ'[3] शासु अनुशिष्टौ[4], ऋ गतौ'[5] इत्येवपठितेभ्यो धातुभ्यः परस्य च्लेः

१. अ० सू० २१७ ॥
२. अ० सू० २४६ ॥
३. धा०—भ्वा०—९२० ॥
४. धा०—अदा०—६५ ॥
५. धा०—भ्वा०—९२१ ॥

स्थानेऽङ्-आदेशो भवति लुङि परस्मैपदप्रत्ययेषु परतः। असरत्। अशिषत्। आरत्। अत्राङि परतोऽर्त्ति-सर्त्योर्गुणः शास इत्वं च ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम्। मा समृत। मा समृषाताम् ॥

अत्र **जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादिभिर्ऋ**-धातोः परस्य च्लेः स्थानेऽङ्-आदेश आत्मनेपदेष्वपि कृतस्तस्य खण्डनं प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे **'समो गम्यृच्छि॰'**[1] इत्यत्र लिखितम् ॥ ५६ ॥

यहां 'परस्मैपदेषु' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ [सर्तिशास्त्यर्तिभ्यः] सृ-शासु-ऋ, इन धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है लुङ् लकार के कर्तृवाची परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो ॥

जैसे—असरत्। अशिषत्। आरत्। यहां अङ् परे रहते 'ऋ' तथा 'सृ' धातु को गुण, और 'शासु' धातु को 'इत्व' हो जाता है ॥

'परस्मैपदेषु' ग्रहण इसलिये है कि—मा समृत, मा समृषाताम्। यहां जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादि ने 'ऋ' धातु से परे च्लि के स्थान में 'अङ्' आदेश आत्मनेपद में भी माना है उसका खण्डन प्रथमाध्याय तृतीयपाद के ['समोगम्यृच्छि॰' अ॰ १। ३। २९] सूत्र में कर दिया है ॥ ५६ ॥

इरितो वा[2] ॥ ५७ ॥

'परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्त्तते। इरितः। ५। १। वा। इर् इत्सञ्ज्ञो यस्य, तस्मात्। इरिद्धातोः परस्य च्लेः स्थाने लुङि परस्मैपदेषु परतो विकल्पेनाङ्-आदेशो भवति। रुधिर्—अरुधत्। अरौत्सीत् ॥ छिदिर्—अच्छिदत्। अच्छैत्सीत् ॥ भिदिर्—अभिदत्। अभैत्सीत् ॥

'परस्मैपदेषु' इति किम्। अरुद्ध। अच्छित्त। अभित्त। अत्राङ् मा भूत् ॥ ५७ ॥

यहां 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति आ रही है ॥ 'इर्' है इत्सञ्ज्ञक जिनका वे 'इरित्' कहाते हैं ॥

[इरितः] इरित् धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् आदेश [वा] विकल्प से होता है लुङ् लकार के कर्तृवाची परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो ॥

---

१. अ॰ १। ३। २९ ॥ २. भा॰ सू॰ १३८ ॥

जैसे रुधिर्—अरुधत्, अरौत्सीत्। छिदिर्—अच्छिदत्, अच्छैत्सीत्। भिदिर्—अभिदत्, अभैत्सीत्॥

'परस्मैपदेषु' का ग्रहण इसलिये है कि—अरुद्ध। अच्छित्त। अभित्त। यहां अङ् नहीं होता॥ ५७॥

जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च[1] ॥ ५८ ॥

'परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्तते। 'वा' इति च। जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यः। ५। ३। च॥ 'जॄष् वयोहानौ'[2], 'स्तम्भु' सौत्रो धातुः, 'म्रुचु-म्लुचु गत्यर्थौ'[3], 'ग्रुचु-ग्लुचु स्तेयकरणे'[4], 'ग्लुञ्चु गत्यर्थः'[5], 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'[6] एव पठितेभ्यो जॄआदिधातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने विकल्पेन लुङि परस्मैपदेषु परतोऽङ्-आदेशो भवति। जॄ—अजरत्। अजारीत्॥ [स्तम्भु—] अस्तभत्। अस्तम्भीत्॥ [म्रुचु—] अम्रुचत्। अम्रोचीत्॥ [म्लुचु—] अम्लुचत्। अम्लोचीत्॥ [ग्रुचु—] अग्रुचत्। अग्रोचीत्॥ [ग्लुचु—] अग्लुचत्। अग्लोचीत् [ग्लुञ्चु—] अग्लुचत्[7]। अग्लुञ्चीत्॥ [टुओश्वि—अश्वत्। अश्वयीत्। अशिश्वियत्।] जॄ-धातोरङ्पक्षे 'ऋदृशोऽङि गुणः'[8] इति गुणः। स्तम्भि-ग्लुञ्च्योरनुनासिकलोपः। म्रुचादीनां च गुणाभावः। अङ्विकल्पत्वात् पक्षे सिजुत्सर्गः।

'परस्मैपदेषु' इति किम्। अम्रोचि पन्थाः स्वयमेव। अत्र कर्मकर्त्तर्यङ् मा भूत् ॥ ५८॥

यहां 'परस्मैपदेषु' पद तथा 'वा' पद का अनुवर्त्तन है॥

[जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च] जॄ, स्तम्भु आदि धातुओं से परे च्लि के स्थान में विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है लुङ् लकार के कर्त्तृवाची परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो॥

---

1. अ० सू० १५४॥
2. धा० दिवा०—२२॥
3. धा०—भ्वा०—१९७॥
4. धा०—भ्वा०—१९८॥
5. धा०—भ्वा०—२०२॥
6. धा०—भ्वा०—९९५॥
7. यत्तूभयोरुपादानसामर्थ्याद् ग्लुञ्चेरङि 'न लोपो न भवति न्यग्लुञ्चदिति, कैश्चिदभ्युपायि तद्भाष्यविरोधादनादरणीयम्॥
8. अ० ७। ४। १६॥

जैसे—जृ—अजरत् । अजारीत् ॥ स्तम्भु—अस्तभत्, अस्तम्भीत् ॥ ग्रुचु—अग्रु-चत् । अग्रोचीत् ॥ म्लुचु—अम्लुचत् । अम्लोचीत् ॥ ग्लुचु—अग्लुचत् । अग्लोचीत् ॥ ग्लुञ्चु—अग्लुचत् । अग्लुञ्चीत् ॥ टुओश्वि—अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत् ॥ जृ—धातु को अङ् पर 'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण होता है स्तम्भु तथा ग्लुञ्चु के अनुनासिक का लोप ['अनिदितां हल०' अ० ६ । ४ । २४ ।] सूत्र से होता है । ग्रुचु आदि धातुओं में अङ् परे गुण नहीं होता, अङ् के विकल्प होने से पक्ष में सिच् भी होता है ॥

यहां परस्मैपदेषु ग्रहण इसलिये है कि—अग्रोचि पन्थाः स्वयमेव । यहां कर्मकर्त्ता में 'अङ्' नहीं होता ॥ ५८ ॥

कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि ॥ ५९ ॥

अत्र 'परस्मैपदेषु' इति निवर्त्तते । 'डुकृञ् करणे', मृङ् प्राणत्यागे[1], दृङ् आदरे[2], रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च[3,4] इत्येव कृतपाठेभ्यः कृञादिधातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने छन्दसि=वेदविषयेऽङ्-आदेशो भवति । अकरत्[5] । अकरत[6] । अमरत[6] । अदरत[6] । आरुहत्[7] । अत्र ऋादीनामङि गुणो रुहेर्गुणाभावश्च ॥

'छन्दसि' इति किम् । अकार्षीत् । [अमृत । अदृत । अरुक्षत्] इत्यादिष्वङ् मा भूत् ॥ ५९ ॥

यहां परस्मैपद की निवृत्ति हुई ॥ [कृमृदृरुहिभ्यः] कृ, मृ, दृ, रुहि धातुओं से परे च्लि के स्थान में [छन्दसि] वेदविषय में 'अङ्' आदेश होता है कर्तृवाची लुङ् लकार परे हो तो ॥

जैसे—कृ—अकरत्, अकरत । मृ—अमरत । दृ—अदरत । रुह—आरुहत् । यहां अङ् परे 'कृ' आदि धातुओं से गुण, तथा 'रुह' धातु से गुण का अभाव होता है ॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि—अकार्षीत् । अमृत । अदृत । अरुक्षत्—इत्यादि में अङ् नहीं होता ॥

चिण् ते पदः[8] ॥ ६० ॥

[चिण् । १ । १ । ते । ७ । १ । पदः । ५ । १ ।] त-शब्दः-परस्मैपदेष्वात्मनेपदेषु च वर्त्तते । श्रोपदेशे पद-धातोरात्मनेपदित्वादात्मनेपदस्य प्रथमैकवचन-त-शब्दस्यात्र

१. धा०—तना०—१० ॥ २. धा०—तुदा०—११९ ॥
३. धा०—भ्वा०—१२७ ॥
४. सत्यार्थे कृमृदृ० इत्यादि सूत्रं पठित्वा, अत एव ''अदारीत्'' इति प्रत्युदाहरन्ति ॥ कृ-मृ-दृ-रुहिभ्य इति पाठ एव सम्यक् ॥ सूत्रे 'दृ' पठनात् 'अदारीत्' इति प्रत्युदाहरणं त्वयुक्तमेव ॥
४. ऋ० … १३ ॥ ५. 'सपत्नमकरत्' । अथर्व० १ । २९ । २ ॥
६. … मृग्यमिदम् ॥
७. … मूलमिदम्—परन्तु 'नाकमारुहम्' (ऋ० १० । ६६ । ६) इति मिपि प्रयोगो दृश्यते ॥
८. धा० … ॥

ग्रहणम् ।। पद[1]-धातोः परस्य च्लेः स्थाने त-शब्दे परतश्चिणादेशो[2] भवति । समपादि[3] धनं देवदत्तः । प्रापादि विद्यां ब्राह्मणः ।।

'ते' इति किम् । समपत्साताम् । अत्र चिण् मा भूत् ।। ६० ।।

त—शब्द परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में है, उपदेश [अर्थात् धातुपाठ] में पद धातु के आत्मनेपदी होने से यहां 'त' शब्द से आत्मनेपद प्रथम पुरुष प्रथमैकवचन का ग्रहण है ।।

[पदः] पद धातु से परे च्लि के स्थान में [चिण्] चिणादेश हो [ते] 'त' शब्द परे हो तो ।।

जैसे—समपादि धनं देवदत्तः । प्रापादि विद्यां ब्राह्मणः ।।

'ते' ग्रहण इसलिये है कि—समपत्साताम् यहां 'आताम्' के परे चिण् नहीं होता ।।६०।।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्[4] ।। ६१ ।।

'चिण् ते' इत्यनुवर्त्तते । 'कर्त्तरि' इति च । दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः । ५ । ३ । अन्यतरस्याम् ।। **'दीपी दीप्तौ, जनी प्रादुर्भावे, बुध[5] अवगमने, पूरी आप्यायने, तायृ सन्तानपालनयोः, ओप्यायी वृद्धौ'** एवमुपदिष्टेभ्यो दीपादिधातुभ्यः परस्य च्लेः स्थाने कर्तृवाचि-त-शब्दे परतो विकल्पेन चिण्-आदेशो भवति ।। अदीपि, अदीपिष्ट । अजनि, अजनिष्ट । अबोधि, अबुद्ध । अपूरि, अपूरिष्ट । अतायि, अतायिष्ट । अप्यायि, अप्यायिष्ट ।।

दीपादिषु 'कर्त्तरि' इत्यनुवर्त्तनादप्राप्तविभाषा विज्ञायते । दीपादीनामकर्मकत्वात्[6] कर्तृस्थभावकत्वाच्च[7] कर्ता कर्मवन्न भवति । तेन यक्चिणावपि न भवतः । एवमप्राप्ते चिण्[8] विधीयते ।। ६१ ।।

१. 'पद गतौ' दैवादिक आत्मनेभाष ।।

२ विभाषा मध्ये च ये विधयस्ते नित्या भवन्ति' (अ० १ । २ । ४२ भा० ।। अ० ५ । २ । ९७ भा०) । इति न्यायेन नित्योऽयं विधिः ।।

३ गत्यर्थानां ज्ञान गमन प्राप्तिश्च । प्राप्त्यर्थस्यात्र [illegible] सकर्मक इति ज्ञेयम् ।।
(क) 'कर्त्तरि' इत्यनुवर्त्तनात् [illegible] विधिः [illegible] ।।

४ आ० सू० १९४ ।।

५ दीपादीनामात्मनेपदिना साहचर्यात् जन जनने बुध अवगमने इत्यनयोः परस्मैपदिनोर्न ग्रहणम् । 'बुधिर्' बोधने, इत्यस्य तु निरनुबन्धकस्य [illegible] ।।

६ यत्तत्र भट्टोजिदीक्षितादयः [illegible] दीपादीनामकर्मकाणां साहचर्यात् "अकर्मकाश्च दीपादयः" (अ० १ । ३ । ६३ भा०) [illegible] । यस्य कस्य शब्दप्रयोगस्तु न शब्दानां साधुत्वे प्रमाणम् ।।

७ यत्तु 'अचः कर्तृयकि' (अ० ६ । १ । १९५) इति सूत्रभाष्ये 'जायते स्वयमेव' इत्युदाहृतं, तदन्तर्भावितण्यर्थवृत्तिमाश्रित्य [illegible] विशेषः ।।

८ विषयोऽयं 'नवेति विभाषा' इति सूत्रभाष्ये प्राप्ताप्राप्तविभाषाविवेचनप्रसङ्गे सूत्रस्य व्याख्याने निरूपितः । तद्यथा—

चिण्—ते और कर्त्तरि इनकी अनुवृत्ति आ रही है ॥

[दीप...प्यायिभ्य] दीपादि धातुओं से परे च्लि के स्थान में कर्तृवाची "त" शब्द परे हो तो [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके चिणादेश हो ॥

जैसे—अदीपि, अदीपिष्ट । अजनि, अजनिष्ट । अबोधि, अबुद्ध । अपूरि, अपूरिष्ट । अतायि, अतायिष्ट । अप्यायि, अप्यायिष्ट ॥

दीपादि धातुओं से 'कर्त्तरि' इस पद की अनुवृत्ति होने से यहां अप्राप्त विभाषा है क्योंकि दीपादि धातुओं के अकर्मक तथा कर्तृस्थभावक होने से कर्त्ता को कर्मवद्भाव प्राप्त ही नहीं होता इसी से यक् और चिण् भी प्राप्त नहीं होते इस प्रकार यहां अप्राप्त चिण् का विधान है ॥ ६१ ॥

अचः कर्मकर्त्तरि ॥ ६२ ॥

'कर्त्तरि' इति निवृत्तम् । 'चिण् ते' इत्यनुवर्त्तते । 'अन्यतरस्याम्' इति च । अचः । ५ । १ । कर्मकर्त्तरि । ७ । १ ॥ अजन्ताद् धातोः परस्य च्लेः स्थाने कर्मकर्त्तरि त-शब्दे परतो विकल्पेन चिण्-आदेशो भवति ॥ अकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव । अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ट केदारः स्वयमेव ॥

'अचः' इति किम् । अपाठि विद्या स्वयमेव ॥

'कर्मकर्त्तरि' इति किम् । अकारि कटो देवदत्तेन । अत्र कर्मणि नित्यं चिण् भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे प्राप्तविभाषा[1] । **'चिण् भावकर्मणोः'**[2] इति नित्यप्राप्तश्चिण् विभाष्यते[3] ॥ ६२ ॥

'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति समाप्त हुई । चिण् 'त' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति आ रही है, अन्यतरस्याम् की भी ।

[कर्मकर्त्तरि] कर्मकर्त्ता में त शब्द परे हो तो [अचः] अजन्त धातु से परे च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प करके हो ॥

जैसे—अकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव ॥ अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ट केदारः स्वयमेव ॥

"...... अप्राप्ते । कर्त्तरीति हि वर्त्तते ॥ नास्ति सन्देह । अकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति, अकर्मकाश्च दीपादयः ॥ अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ॥ कर्मापदिष्टा विधयः कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां वा भवन्ति कर्तृस्थभावकाश्च दीपादयः" ॥

१. आ० सू० ७३२ ॥

२ **'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः'** (अ० ३ । १ । ८७) इत्यनेन कर्मकर्त्तरि कर्मवद्भावप्राप्तौ **'चिण् भावकर्मणोः'** (अ० ३ । १ । ६६) इति चिण प्राप्तिरिति भाव ॥

३ कृषीवलः केदारं लुनीते, लुनतस्तस्य केदारः स्वयमेव लूयते [अलावि केदारः स्वयमेव] अलविष्ट केदारः स्वयमेव ॥ इत्याख्यातिकसूत्रे (७३२)ऽधिकम् ॥

[illegible] ग्रहण इसलिये है कि अपाठि विद्या स्वयमेव । यहां पठ धातु के हलन्त होने से नित्य चिण् हुआ ॥

'कर्मकर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि अपाठि विद्या स्वयमेव । यहां कर्म मे नित्य चिण् होता है ॥

इस सूत्र मे प्राप्तविभाषा है "चिण् भावकर्मणोः" इस सूत्र से नित्य प्राप्त चिण् विकल्प से होता है ॥ ६२ ॥

दुहश्च[1] ॥ ६३ ॥

'अन्यतरस्याम्' इति 'कर्मकर्त्तरि' इति चानुवर्त्तते । दुहः । ५ । १ । च ॥ '**दुह प्रपूरणे**'[2] इत्यस्मात् '**न दुहस्नुनमां यक्चिणौ**'[3] इति प्रतिषिद्धश्चिण् विकल्पेन विधीयते । दुह्-धातोः परस्य च्लेः स्थाने कर्मकर्त्तरि त शब्दे परतो विकल्पेन चिण्-आदेशो भवति ॥ अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध [अधुक्षत वा] गौः स्वयमेव ॥

'कर्मकर्त्तरि' इति किम् । अदोहि गौर्गोपालेन अत्र कर्मणि [विकल्पो] मा भूत् ॥ ६३ ॥

'अन्यतरस्याम्' और "कर्म कर्त्तरि" का अनुवर्त्तन है ।

'**दुह प्रपूरणे**' इस धातु से "**न दुहस्नुनमां यक्चिणौ**" सूत्र द्वारा निषेध किया हुआ चिण् यहां विकल्प से विधान किया गया है ॥

[दुहः] 'दुह' धातु से परे च्लि के स्थान मे कर्मकर्तृवाची त शब्द परे हो तो विकल्प करके चिणादेश होता है ॥

जैसे—अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध [अधुक्षत वा] गौः स्वयमेव ॥

कर्मकर्त्तरि—ग्रहण इसलिये है कि—अदोहि गौर्गोपालेन, यहां कर्म में चिण् विकल्प से न हो ॥ ६३ ॥

न रुधः[4] ॥ ६४ ॥

'**चिण् भावकर्मणोः**'[5] इति चिण् प्राप्तः[6] प्रतिषिध्यते । 'कर्मकर्त्तरि' इत्यनुवर्त्तते ॥ न [अ०] । रुधः । ५ । १ ॥ रुध-धातोः परस्य च्लेः स्थाने कर्मकर्त्तरि त-शब्दे परतश्चिण्-आदेशो न भवति । अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव ॥

'कर्मकर्त्तरि' इति किम् । अन्ववारोधि गौर्गोपालेन । अत्र प्रतिषेधो न प्रवर्त्तते । '**चिण् भावकर्मणोः**'[5] इति चिण् भवत्येव ॥ ६४ ॥

चिण् भावकर्मणोः इस सूत्र से प्राप्त चिण् का प्रतिषेध करता है ॥

कर्मकर्त्तरि की अनुवृत्ति आ रही है ॥

---

१ आ० सू० ७३६ ॥
२ धा०—[illegible] ॥
३ अ० ३ । १ । ८९ ॥
४ आ० सू० [illegible] ॥
५ अ० ३ । १ । ६६ ॥
६ कर्मवद्भाव [illegible] ॥

[रुधः] रुध धातु से परे च्लि के स्थान में कर्मकर्तृवाची त शब्द परे रहते चिण् आदेश नहीं होता ॥

जैसे—अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव ॥

कर्मकर्तरि—ग्रहण इसलिये है कि—अन्ववारोधि गौर्गोपालेन, इस में प्रतिषेध नहीं हुआ परन्तु "चिण् भावकर्मणोः" इस सूत्र से चिण् होता ही है ॥ ६४ ॥

तपोऽनुतापे च[1] ॥ ६५ ॥

'कर्मकर्तरि' इत्यनुवर्त्तते, निषेधश्च ॥ तपः । ५ । १ । अनुतापे । ७ । १ । च [अ०] । अनुताप = पश्चात्तापः, तस्मिन् । अनुतापेऽर्थे कर्तृस्थभावकोऽकर्मकस्तस्य कर्त्ता कर्मवन्न भवति ॥ तस्य ग्रहणं भावकर्मणोश्चिण प्रतिषेधार्थम् । कर्मकर्त्तरि वर्तमाना-दनुतापे च त[प]-धातोः परस्य च्लेः स्थाने चिण्-आदेशो न भवति त-शब्दे परतः । अतप्त तपः स्वयमेव । अन्वतप्त दुष्टेन कर्मणा । उभयत्र चिण् न स्यात् ॥ ६५ ॥

यहां भी 'कर्मकर्त्तरि' और "न" का अनुवर्त्तन है ॥

अनुताप पश्चात्ताप को कहते हैं—अनुताप अर्थ में कर्तृस्थभावक अकर्मक का कर्त्ता कर्मवत नहीं होता । अनुताप पद का ग्रहण "भावकर्मणोः" से प्राप्त चिण् के निषेध करने के लिये है ॥

[च] कर्मकर्त्ता में तथा [अनुतापे] अनुताप में वर्तमान जो [तपः] तप धातु उससे परे च्लि के स्थान में चिणादेश नहीं होता त शब्द परे हो तो ॥

जैसे—अतप्त तपः स्वयमेव । अन्वतप्त दुष्टेन कर्मणा । यहां दोनों स्थानों में चिण् न हुआ ॥ ६५ ॥

चिण् भावकर्मणोः[2] ॥ ६६ ॥

'चिण्' इति वर्त्तमाने पुनश्चिण् ग्रहणं नियमार्थम्, चिण्विषये यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूत् ॥ 'च्लेस्ते' इत्यनुवर्त्ततेऽन्यत् सर्वं निवृत्तम् ॥

चिण् । १ । १ । भाव-कर्मणोः । ७ । २ । भावकर्मणोर्वर्त्तमानाद् धातोः परस्य च्लेः स्थाने त-शब्दे परतश्चिण्-आदेशो भवति ॥ भावे—अशायि भवता । अस्वापि भवता । कर्मणि—अकारि कटो भवता । अलावि केदारो भवता । अपाठि विद्या शिष्येण । अनायि शाखा ब्राह्मणेन । कर्मणि[3] विषयः कर्मकर्त्तर्यपि भवन्ति । अभेदि काष्ठं स्वयमेव । अभोज्योदनः स्वयमेव ॥

'चिण्' इति किम् । उपाश्लिषि कन्या देवदत्तेन । अत्र 'श्लिष आलिङ्गने'[3] इति विशेषबाधकः क्सो न भवति ॥ ६६ ॥

चिण् का अनुवर्त्तन होते हुए पुनः चिण् का ग्रहण नियम के लिये है, चिण् के विषय में और भी जो कुछ प्राप्त होता है वह न हो अर्थात् केवल चिण् ही हो ॥

यहां 'च्लेः' 'ते' इनका अनुवर्त्तन है और सब की निवृत्ति हो जाती है ॥

१. भा० सू० ७२३ ॥ २. भा० सू० ७२१ ॥

३. अ० ३ । १ । ४६ ॥

[भावकर्मणोः] भाव तथा कर्म में वर्तमान जो धातु उससे परे च्लि के स्थान में [चिण्] चिण् आदेश हो त शब्द परे हो तो ॥

भावे—अशायि भवता । अस्वापि भवता ॥ कर्मणि—अपाठि विद्या शिष्येण । अवादि शास्त्रं ब्राह्मणेन ॥

कर्म में विहित विधियां कर्मकर्ता में भी होती हैं, जैसे—अभेदि काष्ठं स्वयमेव । अभोज्योदनः स्वयमेव ॥

चिण् ग्रहण इसलिये है कि—उपाश्लिषि कन्या देवदत्तेन । यहां 'श्लिष आलिङ्गने' इस सूत्र से विशेष बाधक "क्स" पाता था वह नहीं हुआ ॥ ६६ ॥

सार्वधातुके यक्[1] ॥ ६७ ॥

'भावकर्मणोः' इत्यनुवर्तते ॥ सार्वधातुके । ७ । १ । यक् १ । १ । उत्सर्गसूत्रमिदम् ॥ भावकर्मणोर्विहितेषु सार्वधातुकसञ्ज्ञकप्रत्ययेषु परेषु धातोर्यक् प्रत्ययो भवति । भावे—आस्यते भवता । शय्यते भवता ॥ कर्मणि—गम्यते ग्रामो देवदत्तेन । पच्यत ओदनः ॥ कर्मकर्तर्यपि कर्मातिदिष्टो यक् भवति लूयते केदारः स्वयमेव । क्रियते कटः स्वयमेव ॥

अत्र कर्मकर्तरि कर्मातिदिष्टाश्च विषयो भवन्ति । तत्र परत्वात् कर्मकर्तरि शप् प्राप्नोति । सा शप्प्राप्तिर्ज्ञापकान्निवार्यते । 'न दुहस्नु०'[2] इति सूत्रेण कर्मकर्तरि यक्-चिणोः प्रतिषेधं शास्ति, तेन ज्ञायते कर्मकर्तरि यक्-चिणौ भवत इति । यदि परत्वाच्छप् स्यात् तर्हि यक्-चिणोः प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ॥

> भा०—इह पश्यामः कर्मणि द्विवचनबहुवचनान्युदाहियन्ते–पच्येते ओदनौ, पच्यन्त ओदना इति । भावे पुनरेकवचनमेव आस्यते भवता, आस्यते भवद्भ्याम्, आस्यते भवद्भिरिति । केनैतदेवं भवति । कर्मानेकं, तस्यानेकत्वाद् द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति । भावः पुनरेक एव । कथं तर्हीह द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति पाकौ, पाका इति । आश्रयभेदात् । यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति भावस्तस्य भेदाद् द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति ।

'इह' इति व्याकरणशास्त्रनिर्देशः । व्याकरणशास्त्रे किमपि लक्षणं न दृश्यते यद्भाव एकवचनं स्यात् कर्मणि च सर्वाणि । तत् स्पष्टीकृतम् । पक्ववस्तुवाची पाकशब्दः, तस्मात् सर्वाणि वचनानि । भावाश्रिते त्वेकवचनमेव ॥

१. भा० सू० ७१९ ॥ २. अ० ३ । १ । ८९ ॥

भा०—इदं विचार्यते—भावकर्मकर्त्तारः सार्वधातुकार्था वा स्युर्विकरणार्था वेति ॥

यदा भावकर्मणोर्लस्तदा कर्त्तरि विकरणाः, यदा कर्त्तरि लस्तदा भावकर्मणोर्विकरणाः । इदमस्य यद्येव स्वाभाविकमथापि वाचनिकं प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत इति । न चास्ति सम्भवो यदेकस्याः प्रकृतेर्द्वयोर्नानार्थयोर्युगपदनुग्रहार्थीभावः स्यात् । एवं च कृत्वैकपक्षीभूतमेवेदं भवति—सार्वधातुकार्था एवेति[1] ॥

'सार्वधातुके यक्' इति सूत्रे यदि भावकर्मणी सार्वधातुकार्थौ तदाऽयमर्थः—भावकर्मणोर्विहिते सार्वधातुके परतो यग् भवति । यदि विकरणार्थौ तर्ह्ययमर्थः—सार्वधातुके परतो भावकर्मणोर्यग् भवति ॥

एवमग्रे पूर्वं च सर्वस्मिन् विकरणप्रकरणे विचार्यते । 'स्वाभाविकाः' येषु प्रकृतिप्रत्ययभेदः सूत्रैर्नोच्यतेऽर्थाद् रूढयः ये च प्रकृतिप्रत्ययभेदेन सूत्रैः सिध्यन्ति ते 'वाचनिकाः' शब्दाः । उभयत्र प्रकृतिप्रत्ययौ मिलित्वा प्रत्ययार्थमेव ब्रूतः । अत्र सर्वस्मिन् विकरणप्रकरणे विकरणसार्वधातुकौ प्रकृतिश्चेत्येतत् त्रयं मिलित्वैकं तिङन्तं पदं भवति । तत्रैकस्मिन् पदे सार्वधातुकं विकरणश्च भिन्नार्थौ स्वस्वप्रधानार्थौ स्यातामिति नास्ति सम्भवः । प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत इत्युच्यते । अत्र भिन्नार्थौ द्वौ प्रत्ययौ प्रकृतिश्चैका कस्यार्थं ब्रूयादित्यसम्भवत्वादप्रयोगः स्यात् । अर्थादेकस्मिन् पदे युगपदेक एव प्रधानार्थो भवति । अतो यदुक्तं—यदा भावकर्मणोर्लस्तदा कर्तरि विकरणाः यदा कर्तरि लस्तदा भावकर्मणोर्विकरणाः, तत् पक्षद्वयं खण्डितं भवति । भावकर्मकर्त्तारः सार्वधातुकार्था एवेति पक्षः सिद्धो भवति ॥ ६७ ॥

पूर्व सूत्र से 'भावकर्मणोः' का अनुवर्तन है ॥ यह उत्सर्ग सूत्र है ।

भाव और कर्म में विहित [सार्वधातुके] सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो धातुमात्र से [यक्] यक् प्रत्यय हो ॥

भाव में—आस्यते भवता । शय्यते भवता ॥ कर्म में—गम्यते ग्रामो देवदत्तेन । पच्यन्त ओदना देवदत्तेन ॥

कर्म में विहित यक् प्रत्यय कर्मकर्ता में भी होता है । जैसे—लूयते केदारः स्वयमेव । क्रियते कटः स्वयमेव । कर्मकर्ता में—कर्म तथा कर्ता दोनों में विहित विधि प्राप्त होता है ॥ कर्मकर्ता में परस्मै से शप् प्राप्त होता है । उसकी प्राप्ति आपक से निवृत्त होती है । ज्ञापक इस प्रकार है "न दुहस्नुनमां यक्चिणौ" इस सूत्र से कर्मकर्ता में यक् और चिण् का प्रतिषेध होता है, यदि परत्व से यक् को बाध करके शप् होता, तो इस सूत्र में यक् और चिण् का प्रतिषेध अनर्थक हो जाता, अतः इस प्रतिषेध से यह जाना जाता है कि कर्मकर्ता में यक् चिण् होते हैं ॥

---

१ अन्यान्यपि वार्तिकभूमिकायामस्य सूत्रस्य विषये उक्तानि तदपूर्णम्, अत्राष्टाध्यायीभाष्ये विस्पष्टमेव सिद्धान्तोऽनस्याप्तत्वात् ॥

कर्तरि विहितेषु सार्वधातुकप्रत्ययेषु परतो धातोः शप् प्रत्ययो भवति । भवति । पठति । पचति ।। धातुमात्रात् कर्तरि सार्वधातुके शप्, तस्य स्थाने श्यनादय आदेशा वक्ष्यन्ते । शकारः सार्वधातुकार्थः । पकारोऽनुदात्तस्वरार्थः ।। ६८ ।।

यहां सार्वधातुक की अनुवृत्ति है ।

[कर्त्तरि] कर्त्ता में विहित सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो धातु से [शप्] शप् प्रत्यय होता है । जैसे—भवति । पठति । पचति ।।

धातुमात्र से कर्तृवाची सार्वधातुक परे शप् प्रत्यय कहा है और आगे इस शप् के स्थान में श्यन् आदि आदेश कहेंगे ।।

शकार अनुबन्ध सार्वधातुक संज्ञा के लिये है । और पकार अनुबन्ध अनुदात्त स्वर के लिये है ।। ६८ ।।

दिवादिभ्यः श्यन्[1] ।। ६९ ।।

'कर्तरि सार्वधातुके' इति सर्वत्रानुवर्तते । कर्तरि सार्वधातुके परतो दिवादिभ्य परस्य शपः स्थाने श्यन् भवति । दीव्यति । सीव्यति । नृत्यति ।। नकारः स्वरार्थः, शकारः सार्वधातुकार्थः ।। ६९ ।।

'कर्त्तरि' 'सार्वधातुके' इनकी अनुवृत्ति आगे आ रही है ।।

कर्त्ता में विहित सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो [दिवादिभ्यः] दिवादियों से शप् के स्थान में [श्यन्] श्यन् होता है ।।

जैसे—दीव्यति । सीव्यति । नृत्यति ।।

श्यन् प्रत्यय में नकार अनुबन्ध स्वर के लिये है । और शकार अनुबन्ध सार्वधातुकसंज्ञा करने के लिये है ।। ६९ ।।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः[2] ।। ७० ।।

उभयत्रविभाषेयम् । ये धातवोऽत्र दिवादिस्थास्तेभ्यो नित्ये प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते श्यन् विकल्प्यते ।। वा [अ०] । भ्राश० लुप्त० ५ । १ । भ्राशादीनां समाहारद्वन्द्वः ।। 'टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ । भ्रमु चलने । भ्रमु अनवस्थाने । क्रमु पादविक्षेपे । क्लमु ग्लानौ । त्रसी उद्वेगे । त्रुट छेदने । लष कान्तौ' इत्येव गणोपदिष्टेभ्यो भ्राशादिधातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके परतो विकल्पेन श्यन् भवति । पक्षे शबेव भवति ।। भ्राश्यते, भ्राशते । भ्लाश्यते, भ्लाशते । [भ्रम्यति, भ्रमति] भ्राम्यति । अत्र 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि[3]' इति दीर्घः । भ्रमति । क्राम्यति, क्रामति । क्लाम्यति,

1. आ० सू० ३९६ ।। 2. आ० सू० १८८ ।।
3. अ० ७ । ३ । ७४ ।।

क्लामति । अत्राभ्यस्य [इ]ति दीर्घः[1] । त्रस्यति, त्रसति । त्रुटयति, त्रुटति । त्रुट-धातोस्तुदादिपाठात् पक्षे श-विकरणो भवति । लष्यति, लषति ॥ ७० ॥

यह उभयत्रविभाषा है। जो धातु दिवादिगण में पठित हैं उनसे श्यन् को नित्य प्राप्ति से तथा अन्य धातुओं में अप्राप्ति में श्यन् का विकल्प किया है ॥ भ्राशादियों में समाहार द्वन्द्व समास है

[भ्राश......लषः] भ्राशादि धातुओं से परे कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो शप् के स्थान में [वा] विकल्प करके श्यन् होता है, पक्ष में शप् भी होता है ॥

जैसे—भ्राश्यते–भ्राशते । भ्लाश्यते–भ्लाशते । भ्रम्यति–भ्रमति । भ्राम्यति यहां "शमामष्टानां दीर्घः श्यनि" इस सूत्र से दीर्घ होता है । भ्रमति । क्राम्यति–क्रामति । क्लाम्यति–क्लामति । यहां दोनों में शित् परे रहते दीर्घ होता है । त्रस्यति–त्रसति । त्रुटयति–त्रुटति । त्रुट धातु के तुदादि में पठित होने से पक्ष में श-विकरण होता है । लष्यति–लषति ॥ ७० ॥

यसोऽनुपसर्गात्[2] ॥ ७१ ॥

'वा' इत्यनुवर्तते । यसः । ५ । १ । अनुपसर्गात् । ५ । १ ॥ यसु प्रयत्ने दि[वादि]स्थः । तस्मान्नित्यं श्यन् प्राप्तस्तस्य विकल्पात् प्राप्तविभाषाऽत्र । उपसर्ग-रहिताद् यसु-धातोः परस्य शपः स्थाने विकल्पेन श्यन् भवति कर्तरि सार्वधातुके परतः ॥ यस्यति, यसति । अत्र श्यनः शबादेशत्वात् पक्षे शबेव भवति ॥ ७१ ॥

यहां 'वा' का अनुवर्तन है ॥ यसु प्रयत्ने दिवादिगण का है इस हेतु से नित्य श्यन् प्राप्त था उसका विकल्प होने से यहां प्राप्तविभाषा है ॥

[अनुपसर्गात्] उपसर्ग रहित [यसः] यस धातु से परे शप् के स्थान में विकल्प से श्यन् होता है कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो । जैसे—यसति–यस्यति ॥

यहां शप के स्थान में श्यन् आदेश होने से पक्ष में शप् भी होता है ॥ ७१ ॥

संयसश्च[3] ॥ ७२ ॥

'अनुपसर्गाद्' इति प्रतिषेधे प्राप्ते सोपसर्गार्थ आरभ्यते । विकल्पोऽनुवर्तते । अत्रापि प्राप्तविभाषा पूर्ववत् ॥ सं-पूर्वाद् यस-धातोः परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके परतो विकल्पेन श्यन् भवति । पक्षे शबेव । संयस्यति, संयसति ॥ ७२ ॥

सोपसर्ग से श्यन् का प्रतिषेध किया है अतः उपसर्ग सहित से श्यन् का विधान करते हैं ॥ यहां विकल्प की अनुवृत्ति आती है । यहां भी पूर्ववत् प्राप्तविभाषा है ॥

[संयसः] सं पूर्वक यसु धातु से परे शप के स्थान में कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो विकल्प करके श्यन् होता है [च] पक्ष में शप भी होता है ॥

जैसे—संयस्यति–संयसति ॥ ७२ ॥

१. अ० ७ । ३ । ७५, ७६ से ॥ २. आ० सू० ४१३ ॥
३. आ० सू० ४१४ ॥

स्वादिभ्यः श्नुः[1] ॥ ७३ ॥

विकल्पग्रहणं निवृत्तम् । स्वादिभ्यः । ५ । ३ श्नुः । १ । १ ॥ 'षुञ् अभिषवे' इत्यादिपठितेभ्यो धातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्त्तरि सार्वधातुके श्नुरादेशो भवति । सुनोति । सिनोति । चिनोति । अत्र श्नोर्ङित्त्वाद् धातोर्गुणाभावः ॥ ७३ ॥

विकल्प ग्रहण निवृत्त हुआ । [स्वादिभ्यः] षुञ् अभिषवे इत्यादि गणपठित धातुओं से परे शप् के स्थान में [श्नुः] श्नुः आदेश होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो ॥

जैसे—सुनोति-सिनोति-चिनोति ॥

यहां श्नु प्रत्यय के "सार्वधातुकमपित्" सूत्र से ङित् होने के कारण धातु को गुण नहीं होता ॥ ७३ ॥

श्रुवः शृ च[2] ॥ ७४ ॥

'श्नुः' इत्यनुवर्तते । श्रुवः । ५ । १ । शृ । १ । १ । लुप्तविभक्तिको निर्देशः । च [अ०] ॥ 'श्रु श्रवणे' इत्यस्मात् परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके श्नु-विकरणो भवति, श्रु-धातोश्च 'शृ' इत्ययमादेशः । शृणोति । शृणुतः । शृण्वन्ति ॥ ७४ ॥

श्नु का अनुवर्तन है ॥ इस सूत्र में "शृ" यह लुप्तविभक्तिक निर्देश है ॥

[श्रुवः] श्रु श्रवणे इस धातु से परे शप् के स्थान में कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो श्नु-विकरण होता है, और साथ ही श्रु धातु के स्थान में [शृ च] शृ आदेश भी हो जाता है ॥

जैसे—शृणोति-शृणुतः-शृण्वन्ति ॥ ७४ ॥

अक्षोऽन्यतरस्याम्[3] ॥ ७५ ॥

अक्षू भ्वादिस्तस्मादप्राप्तः श्नुर्विधीयत इत्यप्राप्तविभाषा । अक्षः । ५ । १ । अन्यतरस्याम् [अ०] ॥ 'अक्षू व्याप्तौ' इत्यस्माद् धातोः परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके परतो विकल्पेन श्नु-विकरणो भवति, पक्षे शबेव । अक्ष्णोति । अक्ष्णुतः । अक्ष्णुवन्ति ॥ अत्र संयोगपूर्वत्वादुवङ्[4]-आदेशः । अक्षति । [अक्षतः । अक्षन्ति] ॥७५॥

अक्षू भ्वादिगण का धातु है । अतः इससे अप्राप्त श्नु का विधान करने से यह अप्राप्त विभाषा है ॥

[अक्षः] अक्षू व्याप्तौ इस धातु से परे शप् के स्थान में कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके श्नु विकरण होता है, पक्ष में शप् होता है ॥

---

१. आ० सू० ४१६ ॥ २. आ० सू० २६० ॥

३. आ० सू० २०९ ॥

४ हुश्नुवोः सार्वधातुके (अ० ६ । ४ । ८७) इत्यत्राऽसंयोगपूर्वस्येत्यनुवर्तनात् यणभावे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (अ० ६ । ४ । ७७) इति सूत्रेण उवङ् इति भावः ।

जैसे अक्ष्णोति । अक्ष्णुतः । अक्ष्णुवन्ति ॥ "हुश्नुवोः सार्वधातुके" इस सूत्र से असंयोगपूर्व श्नु को यण् आदेश कहा है यहां संयोगपूर्वक होने से "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" से उवङ् आदेश होता है। पक्ष में शप्—अक्षति ॥ ७५ ॥

तनूकरणे तक्षः[1] ॥ ७६ ॥

'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते। अत्रापि तक्षू-धातोर्भ्वादिस्थत्वादप्राप्तविभाषैव । तनूकरणे । ७ । १ । तक्षः । ५ । १ ॥ तनूकरणं सूक्ष्मीकरणं, तत्र वर्त्तमानात्तक्षू-धातोः परस्य शपः स्थाने विकल्पेन श्नु-विकरणः, पक्षे शब् भवति कर्त्तरि सार्वधातुके परतः । तक्ष्णोति तक्षति वा काष्ठम् ॥ **अनेकार्था[2] अपि धातवो भवन्तीति** मत्वा विशेषार्थ उपदिष्टः ॥

'तनूकरणे' इति किम् । **वाग्भिः धियं सन्तक्षति** ॥ ७६ ॥

अन्यतरस्याम् का अनुवर्त्तन है ॥ इस सूत्र में तक्षू धातु के भ्वादि पठित होने से अप्राप्त श्नु का विधायक होने से यह भी अप्राप्त विभाषा है । तनूकरण सूक्ष्म करने को कहते हैं ॥

[तनूकरणे] तनूकरण अर्थ में वर्त्तमान [तक्षः] तक्षू धातु से परे शप् के स्थान में विकल्प करके श्नु विकरण होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो, पक्ष में शप् होता है ॥

जैसे—तक्ष्णोति काष्ठम् । तक्षति काष्ठम् ॥

धातु के अनेक अर्थ होते हैं इससे यहां तक्षू धातु का विशेष अर्थ कहा है ॥

तनूकरण-ग्रहण इसलिये है कि—वाग्भिः धियं संतक्षति—यहां बुद्धि में तीक्ष्णता रूप तनूकरण असम्भव है अतः नित्य शप् ही हुआ ॥ ७६ ॥

तुदादिभ्यः शः[3] ॥ ७७ ॥

श्नुर्निवृत्तो विकल्पश्च । तुदादिभ्यः । ५ । ३ । शः । १ । १ ॥ **'तुद व्यथने'** इत्यादिधातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्त्तरि सार्वधातुके परतः श-विकरणो भवति । तुदति । नुदति ॥ अत्रापित्सार्वधातुकस्य ङित्त्वाद् गुणो न भवति ॥ ७७ ॥

यहां श्नु और विकल्प का निवर्त्तन है ॥

[तुदादिभ्यः] तुद व्यथने इत्यादि धातुओं से परे शप् के स्थान में [शः] श विकरण होता है कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो ॥

जैसे—तुदति—नुदति ॥ यहां श विकरण 'अपित् सार्वधातुक' है अतः उसके ङिद्वत् होने से गुण नहीं होता ॥ ७७ ॥

१ भा० सू० २११ ॥

२ द्रष्टव्य भाष्य—अ० १ । ३ । १ ॥ ३ । १ । १३१ ॥ ६ । १ । १२ ॥ ८ । २ । ४८ ॥

३ भा० सू० ४९६ ॥

रुधादिभ्यः श्नम्[1] ॥ ७८ ॥

रुधादिभ्यः ५ । ३ । श्नम् । १ । १ । श्नमि मित्करणं **'मिदचोऽन्त्यात् परः'**[2] इति धातोर्मध्ये श्नम् यथा स्यात् । **'रुधिर् आवरणे'** इत्यादिधातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्त्तरि सार्वधातुके श्नम् विकरणो भवति । रुणद्धि । भिनत्ति । छिनत्ति ॥ शकारोऽनुबन्धः **'श्नान्नलोपः'**[3] इति विशेषणार्थः ॥ ७८ ॥

श्नम् मे मित् करने का प्रयोजन यह है कि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इस सूत्र से धातु के मध्य मे श्नम् हो ।

[रुधादिभ्यः] इत्यादि धातुओं से परे शप् के स्थान मे कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो [श्नम्] श्नम् विकरण होता है ॥

जैसे—रुणद्धि । भिनत्ति । छिनत्ति ॥

श्नम् मे शकार का अनुबन्ध 'श्नान्न लोपः' इस सूत्र में 'श्नम्' का ग्रहण करने के लिये है ॥ ७८ ॥

तनादिकृञ्भ्य उः[4] ॥ ७९ ॥

तनादि-कृञ्भ्य । ५ । ३ । उः । १ । १ ॥ तनादिभ्यः कृञ्-धातोश्च परस्य शपः स्थाने कर्त्तरि सार्वधातुके परतः उ-विकरणो भवति । तनोति । तनुते । सनोति । सनुते । करोति । कुरुते ॥

कृञ्-धातोस्तनादिपाठाद्-उ-विकरणः सिद्धः, पुनः पृथङ् निर्देशस्यैतत् प्रयोजनम्—अन्यत् सामान्यतनादिकार्यं कृञ्-धातोर्मा भूत् । अकृत । अकृथाः । अत्र **'तनादिभ्यस्तथासोः'**[5] इति विकल्पेन सिज्लुङ् मा भूत्, किन्तु नित्यमेव स्यात् ॥

का०—तनादित्वात् कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति ।
चिण्वद्भावे न दोषः स्यात् सोऽपि प्रोक्तो विभाषया ॥ १ ॥

अनया कारिकया महाभाष्यकारेण किमपि प्रयोजनं न निस्सार्यते किन्तु कृञ्-ग्रहणं व्यर्थमस्तीति साधितम् ॥ ७९ ॥

[तनादिकृञ्भ्यः] तनादि धातुओं से और कृञ् धातु से परे शप् के स्थान में [उः] उ-विकरण होता है कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो ॥

जैसे—तनोति-तनुते । सनोति-सनुते । करोति-कुरुते ॥

---

१. आ० सू० ४३५ ॥
२. अ० १ । १ । ४७ ॥
३. अ० ६ । ४ । २३ ॥
४. आ० सू० ४३९ ॥
५. अ० २ । ४ । ७९ ॥

कृञ् धातु के तनादि गण में पठित होने से उ-विकरण सिद्ध ही था फिर पृथक् निर्देश करने का यह प्रयोजन है कि तनादि का सामान्यकार्य कृञ् धातु से न हो। जैसे अकृत अकृथाः। यहां "तनादिभ्यस्तथासोः" इस सूत्र से सिच् का लुक् विकल्प से न हो किन्तु नित्य ही हो जावे॥

का० तनादित्वात् कृञः सिद्धम्०...... इत्यादि कारिका से महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने कृञ् ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं बतलाया परन्तु कृञ् ग्रहण व्यर्थ है यह ही दर्शाया है॥

[व्यर्थ होकर गणकार्य की अनित्यता का ज्ञापक हो सकता है, पर अन्य कई सूत्रों से यह ज्ञापक सिद्ध होने के कारण भाष्यकार ने नहीं दिया यह भी कह सकते हैं]॥ ७९॥

धिन्विकृण्व्योर च[1] ॥ ८०॥

'उ' इत्यनुवर्तते। धिन्वि-कृण्व्योः। ६। २। अ। १। १। च [अ०] अप्राप्तविधानमेतत्। धिवि प्रीणनार्थः। कृवि हिंसाकरणयोश्च। धिवि-कृवी भ्वादिस्थौ, तयोर्नुमनुषक्तयोर्ग्रहणं क्रियते। धिवि-कृवि-धातुभ्यां परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके परत उ-विकरणो भवति, धिवि-कृण्व्योश्चाकारादेशः॥

'अलोऽन्त्यस्य'[2] इति वकारस्य स्थानेऽत्वं भवति। तस्य च उ-प्रत्ययस्यार्द्धधातुकत्वाद् 'अतो लोपः'[3] इति लोपः धिनोति। कृणोति। अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न भवति॥ ८०॥

यहां "उ" का अनुवर्तन है॥ यह सूत्र अप्राप्त 'उ' का विधायक है॥ नुम् आगम युक्त भ्वादि गण में पठित धिवि-कृवि का यहां ग्रहण है॥

[धिन्विकृण्व्योः] धिवि-कृवि धातु से परे शप् के स्थान में उ विकरण हो कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो [च] साथ ही धिवि तथा कृवि धातुओं को [अः] अकारादेश हो॥

"अलोऽन्त्यस्य" इस नियम से वकार के स्थान में 'अ' होता है, और उस अकार का 'उ' प्रत्यय के आर्द्धधातुक होने से "अतो लोपः" इस सूत्र से लोप हो जाता है॥

जैसे—धिनोति-कृणोति। यहां अकार लोप के स्थानिवत् होने से गुण नहीं होता। ८०।

क्र्यादिभ्यः श्ना[4] ॥ ८१॥

क्र्यादिभ्यः ५। ३। श्ना। १। १॥ 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' इत्यादिधातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके श्ना-विकरणो भवति। क्रीणाति। क्रीणीते। प्रीणाति। प्रीणीते। अत्रात्मनेपदे ङित्वाद् श्ना-विकरणस्येत्वम्[5]॥ ८१॥

१. आ० सू० १९९॥　　२. अ० १। १। ५२॥
३ अ० ६। ४। ४८॥　　४ आ० सू० ४४६॥
५ अ० ६। ४। ११३ से॥

[क्र्यादिभ्यः] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये इत्यादि धातुओं से परे शप् के स्थान में [श्ना] श्ना-विकरण होता है कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो ॥

जैसे—क्रीणाति-क्रीणीते । प्रीणाति-प्रीणीते । इन उदाहरणों में आत्मनेपद के ङित् होने से "ई हल्यघोः¹" इस सूत्र से श्ना विकरण के आकार को 'ईत्व' होता है ॥ ८१ ॥

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च² ॥ ८२ ॥

'श्ना' इत्यनुवर्त्तते । स्तम्भु० स्कुञ्भ्यः । ५ । ३ । श्नुः । १ । १ । च । स्तम्भादयश्चत्वारः सौत्रा धातवः । स्कुञ् आप्रवणे । स्कुञ् क्र्यादिषु पठ्यते, तस्य पुनर्ग्रहणं श्नुविधानार्थम् । स्तम्भादिधातुभ्यः परस्य शपः स्थाने कर्तरि सार्वधातुके परतः श्ना-विकरणः श्नुश्चेति विकरणद्वयं भवति ॥

स्तभ्नाति, स्तभ्नोति । स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति । स्कभ्नाति, स्कभ्नोति । स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति । स्कुनाति स्कुनोति ॥ श्नः श्नाश्च ङित्वात् स्तम्भादीनामनुनासिकलोपः³ । स्तम्भादिषु सर्वेषु सौत्रधातुषूकाराद्यनुबन्धकरणेन ज्ञायते सर्वाणि सामान्यधातुकार्याणि सौत्रधातूनामपि भवन्ति ॥ ८२ ॥

श्ना का अनुवर्त्तन है ॥ स्तम्भादि चार सौत्र धातु हैं, स्कुञ् आप्रवणे का क्र्यादि में पाठ है फिर इस सूत्र में श्नु विधानार्थ स्कुञ् ग्रहण किया है ॥

[स्तम्भुस्तुम्भु० भ्यः] स्तम्भादि धातुओं से परे शप् के स्थान में श्ना और [श्नुश्च] श्नु ये दो विकरण होते हैं कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो ॥

जैसे—स्तभ्नाति-स्तभ्नोति । स्तुभ्नाति-स्तुभ्नोति । स्कभ्नाति-स्कभ्नोति । स्कुभ्नाति-स्कुभ्नोति । स्कुनाति-स्कुनोति ॥

श्ना और श्नु के ङित् होने से स्तम्भादि धातुओं के अनुनासिक का लोप "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इस सूत्र से होता है ॥

स्तम्भादि सब सौत्र धातुओं में उकारादि अनुबन्ध करने से यह जाना जाता है कि गणोपदिष्ट धातुओं के सब कार्य सौत्रधातुओं में भी होते हैं ॥ ८२ ॥

हलः श्नः शानज्झौ⁴ ॥ ८३ ॥

हलः । ५ । १ । श्नः । ६ । १ । शानच् । १ । १ । हौ । ७ । १ । हल =हलन्ताद्धातोः परो यः श्ना-विकरणस्तस्य स्थाने हौ=लोण्मध्यमैकवचने परतः शानच्-आदेशो भवति ॥ मुषाण रत्नानि । पुषाण ॥

'हलः' इति किम् । क्रीणीहि ।

'हौ' इति किम् । गृह्णाति । अत्रोभयत्र शानज् मा भूत् ।

१. अ० ६ । ४ । ११३ ॥ २. आ० सू० ४४७ ॥
३. अ० ६ । ४ । २४ से ॥ ४. आ० सू० ४४८ ॥

शानचि शित्करणेन ज्ञायते सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा स्थानिवन्न भवन्तीति । तेन पूर्वविकरणेषु शबादेशपक्षे शित्करणानि सार्थानि भवन्ति ॥ ८३ ॥

[हल:] हलन्त धातुओं से परे जो [श्नः] श्ना विकरण उसके स्थान में [शानच्] शानच् आदेश होता है [हौ] लोट् लकार के मध्यम पुरुष का एक वचन "हि" परे हो तो ॥

जैसे—मुषाण रत्नानि । पुषाण ॥

हल' -ग्रहण इसलिये है कि—क्रीणीहि । यहां अजन्त होने से शानच् न हुआ ॥

'हौ''—ग्रहण इसलिये है कि—पुष्णाति -यहां शानच् न हो ॥

शानच् में शित् करने से यह जाना जाता है कि सार्वधातुक प्रत्यय के आदेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते, इसलिये पूर्व विकरणों में शबादेश पक्ष में शित्करण सार्थक होता है ॥ ८३ ॥

छन्दसि शायजपि[1] ॥ ८४ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्तते । छन्दसि । ७ । १ । शायच् । १ । १ । अपि ॥ छन्दसि— वेदविषये हलन्ताद् धातोः परस्य श्ना-विकरणस्य स्थाने शानच् शायजप्यादेशो भवति हौ परतः । गृभाय जिह्वया मधु[2] । स्तभाय । स्कभाय । स्तभान पृथिवीमुत द्याम्[3] । बधान देव सवितः[4] ॥ शानचि शायचि च चकारः स्वरार्थः ।

वा०—शायच् छन्दसि सर्वत्र ॥

क्व सर्वत्र । हौ चाहौ च । किं प्रयोजनम्—महीमस्कभायत्[5] । यो अस्कभायत्[6] । उद्गृभायत्[7] । उन्मथायत[7] इत्येवमर्थम् ॥

'सर्वत्र' सामान्यसार्वधातुके परतः शायच्-आदेशो भवति । 'अस्कभायद्' इति लङि तिपि परतः शायच्-आदेशः ॥ ८४ ॥

यहां पूर्वसूत्र सब आ रहा है ।

[छन्दसि] छन्दसि अर्थात् वेदविषय में हलन्त धातुओं से परे श्ना विकरण के स्थान में [शायच्] शायच् [अपि] और शानच् दोनों आदेश होते हैं लोट् लकार का मध्यमपुरुष का एकवचन "हि" परे हो तो ॥

जैसे गृभाय जिह्वया मधु । स्तभाय । स्कभाय । स्तभान पृथिवीमुत द्याम् । बधान देव सवितः ॥

---

१. अ० सू० ४४९ ॥ २. ऋ० ८ । १७ । ५ ॥
३. अथ० ६ । ५ । १५ ॥ ४. य० १ । २५ । २६ ॥
५. अथ० ४ । १ । ४ ॥
६. ऋ० १ । १५४ । १ ॥ अथ० ७ । २६ । १ ॥ य० ५ । १८ ॥
७. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥

वा०—**शायच् छन्दसि सर्वत्र**—छन्द में सब जगह शायच् आदेश होता है। सब जगह कहां? "हि" परे तथा "हि" से भिन्न प्रत्यय परे होने पर भी। इसका प्रयोजन—**मही अस्कभायत्**। यो अस्कभायत्। उद्गृभायत। उन्मथायत। इत्यादि॥

यहां सब जगह सामान्य सार्वधातुक परे रहने पर 'शायच्' आदेश होता है। अस्कभायत् यहां लङ् लकार में तिप् परे रहने पर 'शायच्' आदेश हुआ है॥ ८४॥

व्यत्ययो बहुलम् ॥ ८५ ॥

'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते। व्यत्ययः। १।१। बहुलम्। १।१। **'स्यतासी लृलुटोः'**[1] इत्यारभ्य विकरणप्रकरणमिदम्। तत्र यथायथं विकरणा विहितास्तेषां स्यादिविकरणानां व्यत्यय उच्यते। व्यतिगति = व्यत्ययः। विपरीतभावो वा। यस्य प्राप्तिः स न स्यादन्य एव स्याद् अथ वा कोऽपि न स्यात्॥

स्यादिविकरणानां बहुलं = बहुप्रकारेण व्यत्ययो भवति। **आण्डा शुष्णस्य भेदति**[2]। भिनत्तीति प्राप्ते॥ **स च न मरति**[3]। म्रियत इति प्राप्ते॥ भिद-धातोः श्नम् विकरणः प्राप्तः स न भवति। मृङ्-धातोः श-विकरणः प्राप्त आत्मनेपदं च, तत्र भवति, उभयत्र शप्, मरतीति परस्मैपदं च॥

का०—*सुप्तिङुपग्रह[4]लिङ्गनराणां कालहल[5]च्स्वर[6]कर्तृ[7]यङां[8] च।*
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥ १॥

---

१. अ० ३।१।३३॥   २. ऋ० ८।४०।११॥

३. यद्यप्यनुपलब्धमूलमिदं तथापि वेदे परस्मैपदप्रयोगो दृश्यते यथा—

"सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे०। तथा च—**ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वयं मरामारे०॥"** ऋ० १।१९१।१०-१२॥

४. उपग्रहशब्देनात्मनेपदपरस्मैपदयोरत्र ग्रहणम्॥

५. अथवा व्यत्ययः—"उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणयः" (अनुपलब्धमूलमिदम्) पत्न्यो गर्भिण्य इति प्राप्ते॥

६. स्वर-व्यत्ययः—**'परादिश्छन्दसि बहुलम्'** (अ० ६।२।१९९) इत्यादयुक्तो वेदितव्यः॥

७. कर्तृपदेन कारकमात्रं गृह्यते यथा—'आमादयद्भिरुभयावेदाः' आमादयद्भ्य इति प्राप्ते अत्र सम्प्रदानस्य व्यत्ययेन करणत्वम्॥

८. यङिति नेदं प्रत्ययग्रहणम्। किं तर्हि? प्रत्याहार ग्रहणम्। **सार्वधातुके यक्** (अ० ३।१।६७) इति यकारमारभ्य **'लिङ्याशिष्यङ्'** (अ० ३।१।८६) इति ङकारान्तं तेन सर्वेषां विकरणानां व्यत्ययः सिद्धो भवति यथा—आण्डा शुष्णस्य भेदति, भिनत्तीति प्राप्ते॥

वचि—मन्त्रं वोचेमाग्नये[1]। **विदि**—विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्[2]॥
शकिरुह्योश्च[3]॥ व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्[4]। अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये[5]॥

इमानि सूत्रस्यैवोदाहरणानि सन्ति। सर्वाणि लिङुत्तमस्यैकवचनान्तानि। 'वोचेम, रुहेम' इति द्वौ प्रयोगौ लिङुत्तमस्य बहुवचनान्तौ। 'उपस्थेयम्, उपगेयम्' इत्युभयत्राङि परत आकारलोपः। 'वोचेम' इत्यत्र '**वच उम्**'[6] इत्यङि परत उम्। सर्वेषु प्रयोगेषु '**छन्दस्युभयथा**'[7] इति सार्वधातुकत्वाद् '**अतो येयः**'[8] इतीय्-आदेशः। सलोपश्च॥

वा०—दृशेरग् वक्तव्यः॥

पितरं च दृशेयं मातरं च दृशेयम्[9]। 'दृशेयम्' इत्यत्र यद्यङ् स्यात्तर्हि '**ऋदृशोऽङि गुणः**'[10] इत्यङि परतो गुणः प्रसज्येत। किल्करणेन '**क्ङिति च**'[11] इति गुणस्य प्रतिषेधः॥

'उपस्थेयाम'[12] इति कश्चिद् वैदिकप्रयोगः। उप-स्था-अङ्-यामुट्-मस्। एवं स्थितौ सत्यां **वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति** स्थ आकारस्य लोपाभावः। पश्चादेकादेशे कृते परस्यैकादेशः स्था-धातोरन्तवद् भवति। अस्य स्था-ग्रहणेन ग्रहणाल्लिङ आर्द्धधातुकत्वाच्च '**एर्लिङि**'[13] इति स्था-धातोरेत्वम्। सार्वधातुकत्वाद् यामुटः सलोपः। एवम् 'उपस्थेयाम'[14] इति सिध्यति॥ ८६॥

[इति विकरण प्रकरणम्]

---

१. यजु० ३।११॥ २. अथ० १९।४।२॥
३. महाभाष्ये—शकिरुह्योश्चेति वक्तव्यम्॥
४. महाभाष्ये तु—शकेम त्वा समिधं साधया धियः (ऋ० १।९४।३)॥
५. ऋ० १०।६३।१०॥ ६. अ० ७।४।२०॥
७. अ० ३।४।११७॥ ८. अ० ७।२।८०॥
९. तुलना—ऋ० १।२४।१-२॥ १०. अ० ७।४।१६॥
११. अ० १।१।५॥
१२. 'उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता' (ऋ० ६।४७।८; मै० ब्रा० २।५।१३।४)॥
१३. अ० ६।४।६७॥
१४. इह "उपस्थेयाम्" इत्यत्राऽपि वक्तव्यः। न ह्यत्रैव सिध्यति। न वक्तव्यः। सार्वधातुकत्वाल्लिङः सलोपः आर्द्धधातुकत्वादेत्वम्, तत्रोभयलिङ्गत्वात्सिद्धम्॥ अ० ३।१।८६ भाष्ये॥

[अथ कर्मवद्भावप्रकरणम्]

कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः[1] ॥ ८७ ॥

कर्मवत् [अ०] । कर्मणा ३ । १ । तुल्यक्रियः १ । १ । कर्मणीवेति कर्मवत् । **'तत्र तस्येव'**[1] इति सप्तमीसमर्थाद् वतिः ॥ कर्मणा तुल्या क्रिया यस्य अर्थात् कर्मस्था[3] क्रिया यस्य स तुल्यक्रियः कर्ता ॥ कर्मणा तुल्यक्रियः[4] कर्ता कर्मवद्[5] भवति । यदा कर्तुरविवक्षा भवति, स्वतन्त्रं[6] च कर्म, तदा कर्म कर्तृत्वमापद्यते । अर्थात् कर्म स्वयं कर्ता भवति । तदा तेनैव तुल्यक्रियः स एव कर्तृत्वमापन्नः कर्ता कर्मवद् भवति, कर्मोपदिष्टानि[7] कार्याणि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ भिद्यते[8] काष्ठं स्वयमेव । लूयते केदारः स्वयमेव ॥ अत्र कर्मवद्भावेन यगात्मनेपदं च भवति । अभेदि काष्ठं स्वयमेव । अत्र कर्मवद्भावेन चिण् भवति । कारिष्यते कटः स्वयमेव । अत्र कर्मवद्भावेन कर्मोपदिष्टं चिण्वत्कार्यं वृद्धिर्भवति ॥

यावन्तो धातवः सन्ति ते सर्वे चतुर्विधाः—कर्मस्थभावकाः, कर्मस्थक्रियाः, कर्तृस्थभावकाः, कर्तृस्थक्रियाः । इमे भेदा अस्मादेव सूत्रान्निस्सरन्ति ॥ अस्मिन् सूत्रे कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्ता कर्मवद् भवति । कर्मस्थभावकानाम्—आसयति देवदत्तम्, शाययति देवदत्तम् । अत्र देवदत्त-कर्मणि शयनं स्थितम् । आस्यते शय्यते वा देवदत्तः स्वयमेव ॥ **कर्मस्थक्रियाणाम्**—भिनत्ति काष्ठम्, भिद्यते काष्ठं स्वयमेव । अत्र भेदनक्रिया काष्ठस्था । एवम्भूता ये धातवस्तेषामेव कर्ता कर्मवद् भवति ॥

---

१. आ० सू० ७३० ॥ २. अ० ५ । १ । ११६ ॥

३ यस्मिन् कर्मणि कर्तृभूतेऽपि तद्वत् क्रिया लक्ष्यते यथा कर्मणि स कर्मणा तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद्भवति ॥

४. **कर्तरि शप्** (अ० ३ । १ । ६८) इत्यत 'कर्तरि' इत्यनुवर्तते स एवात्र प्रथमया विपरिणम्यते ॥

५ कार्यातिदेशोऽयमित्याख्यातिके ॥ ६ अविवक्षितकर्तृत्वादिति भावः ॥

७ यगात्मनेपदचिण्वद्भावाः प्रयोजनमित्याख्यातिके सू० ७३८ ॥

८ देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति भिन्दतो देवदत्तस्य काष्ठं स्वयमेव भिद्यते । देवदत्त ओदनं पचति पचतो देवदत्तस्यौदनः स्वयमेव पच्यते । इत्याख्यातिके ॥

९ इदमत्रावधेयम्— **"भिद्यते कुसूलः"** इत्यादौ कर्मवद्भावे प्राप्ते स **'तत्र लान्तस्य कर्मवदनुदेशः'** इति वार्त्तिकेन **'लिङ्याशिष्यङ्'** (अ० ३ । १ । ८६) इति ङित्कारको निर्देश इति भाष्यवचनेन वा प्रतिषिध्यते ॥

कर्तृस्थभावकानाम्—चिन्तयति । मन्यते । कर्तृस्थक्रियाणाम्—गच्छति । हसति । धावति । एषां कर्ता कर्मवन्न[1] भवति ॥

वत्करणं किमर्थम् । स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । भिद्यते कुसूलेन । अत्र कर्त्राश्रया[2] तृतीया भवति ॥

'कर्मणा' इति किमर्थम् । करणाधिकरणाभ्यां तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवन्मा भूत् । साध्वसिश्छिनत्ति । अत्रासेः करणस्य स्वातन्त्र्ये कर्तृत्वे, तस्य **कर्मवत्त्वं** न भवति । साधु स्थाली[3] पचति । अत्राधिकरणेन तुल्यक्रियस्य कर्तुः कर्मवद्भावो न स्यात्[4] ॥

अथ वार्त्तिकानि—

दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः[5] ॥ १ ॥

दुग्धे गौः पयः स्वयमेव । तस्मादुदुम्बरः सन्तोहितं फलं पच्यते । यत् स्वतन्त्रं कर्म कर्तृत्वमापन्नं, अर्थात् कर्त्रैव भवति कर्मणा सम्बन्धोऽपि न तस्यैव कर्मवद्भा[वो] भवति ॥ अत्र पयःफले कर्मणी वर्त्तेते तस्मादप्राप्तं क[र्म]वत्त्वं विधीयते ॥ १ ॥

सृजियुज्योः श्यंस्तु[6] ॥ २ ॥

सृजियुज्योः सकर्मकयोः कर्मणा सह वर्तमानयोर्धात्वोः कर्ता [बहुलं] कर्मवद् भवति, [श्यंस्तु भवति] ।

सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्त्तरि कर्मवद्भावो वाच्यः चिणात्मनेपदार्थः ।[7]

सृज-धातोः श्रद्धामापन्नो यः कर्ता स कर्मवद् भवति । सृज्यते मालाम् । असर्जि मालाम् । अत्र कर्मवत्त्वादात्मनेपदम्, च्लेः स्थाने चिण् भवति । 'श्यंस्तु' इति वचनाच्छ्यन् भवति यक् न भवति ॥

---

१. अत्र च भाष्ये—"न च **कर्तृस्थभावकानां कर्तृस्थक्रियाणां वा कर्मणि क्रियाप्रवृत्तिरस्ति** ॥"

२. अत्र भाष्यम्—**वत्करणं किमर्थम् । स्वाश्रयमपि यथा स्यात् "भिद्यते कुसूलेनेति । अकर्मकाणां भावे लो यथा स्यात्"** अत्र तस्मिंल्लो भवति आदेशेन कर्तुरनभिधानात् तृतीया भवतीत्यर्थः ।

३. कादाचित्कस्वातन्त्र्यविवक्षाश्रया च कर्तृसंज्ञा भवति । यथा हि—कारके (अ० १ । ४ । २३) इति सूत्रभाष्ये '...... "**स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये स्यातां तयोः पर्यायेण वचनं वचनाश्रया च संज्ञा" तद्यथा—बलाहकाद् विद्योतते । बलाहके विद्योतते । बलाहको विद्योतत** इति ।

४. 'तुल्यक्रियः' इति किमर्थम्—पचत्योदनं देवदत्तः, राध्यत्योदनः स्वयमेव ॥ **अत्र कर्मवद्भावो मा भूत्** ॥

५. आ० वा० ७२६ ॥ ६. आ० वा० ७२७ ॥

७. आ० वा० ७२८ । अ० ३ । १ । ८७ भाष्ये ॥

युजेस्तु न्याय्ये कर्मकर्तरि यकोऽभावाय । युज्यते ब्रह्मचारी योगम्[1] ॥

अत्रापि पूर्ववत् प्रयोजनम् । ब्रह्मचारिणं योगो युनक्ति । एवं प्राप्ते प्रयुज्यते ॥२॥

करणेन तुल्यक्रियः कर्ता बहुलम् ॥ ३ ॥

'कर्मणा' इति ग्रहणात् सूत्रेण न प्राप्तं कर्मवत्त्वं विधीयते । करणेन तुल्यक्रियः कर्ता बहुलं कर्मवद् भवति । परिवारयन्ति कण्टकैर्वृक्षम् । परिवारयन्ते कण्टका वृक्षम् ॥ पशुखादनभयाल्लघुवृक्षं कण्टकैः परिवारयन्ति=आच्छादयन्ति । अत्र यस्मिन् पक्षे कर्मवद्भावस्तत्र कण्टक-शब्दे तृतीया न भवति । आत्मनेपदं भवत्येव । यक् च न भवति । अस्मिन् वार्तिके बहुलग्रहणात् 'साध्वसिश्छिनत्ति' इत्यत्र कर्मवद्भावो न दृश्यते ॥ ३ ॥

भूषाकर्म-किरादि-सनां चान्यत्रात्मनेपदात् प्रतिषेधो[2] वक्तव्यः ॥ ४ ॥

सूत्रेण सामान्यप्राप्तः कर्मवद्भावो विशेषत्वेन प्रतिषिध्यते । भूषाकर्मणां किरादीनां सन्नन्तानां च धातूनां कर्मणा तुल्यक्रियः कर्ता [आत्मनेपदादन्यत्र] कर्मवन्न भवति । अर्थादात्मनेपदार्थं कर्मणोऽप्यात्मनेपदं यथा स्यादिति प्रयोजनाय कर्मवद्भावो भवति । अन्यानि यक् चिणादिकार्याणि मा भूवन्निति प्रतिषिध्यते ॥

भूषाकर्मणाम्—भूषयते कन्या स्वयमेव[3], अबुभूषत कन्या स्वयमेव । मण्डयते कन्या स्वयमेव, अममण्डत कन्या स्वयमेव । अलङ्कुरुते कन्या स्वयमेव, अलमकृत

---

१. आ० वा० ७३८ । अ० ३ । १ । ८७ भाष्ये ॥

२. आ० वा० ७३९ ॥

३. अत्र महाभाष्यकारेण—'भूषयते कन्या स्वयमेव' इत्याद्युदाहृत्य भूषार्थकानां स्वार्थणिजन्तानामपि कर्मवद्भावस्य प्रतिषेध उच्यते । कुतः । 'णिश्रन्थिग्रन्थि०' इति वार्तिकेन तु हेतुमण्ण्यन्तस्यैव प्रतिषेध उक्तो भवति । यत्तु भारद्वाजीयानां णिमात्रे प्रतिषेध उच्यते तदपि नेष्टमेव मतम् अतो भूषाकर्मकिरादिसनामित्यादिवार्तिके ण्यन्ताण्यन्तानामुभयेषामपि भूषाकर्मकाणां सर्वसम्मत्या ग्रहणं क्रियते । अन्यथा—'भूषयते स्वयमेव' इत्यादिभाष्योदाहरणमसङ्गतं स्यात् । (अष्टाध्यायीवार्तिके सू० ७३०) ॥

किञ्च—

यदा तु भारद्वाजीयानां मतमाश्रीयते तदापि चिण्वद्भावप्रतिषेधार्थं ण्यन्तानां प्रतिषेधः कर्त्तव्य एव भवति, अन्यथा 'भूषयिष्यते' इत्यत्र चिण्वद्भाव इडागमे चिण्वदिटि णिलोपो लुक् च स्यात् । अतो ण्यन्तार्थमण्यन्तार्थञ्च भूषाकर्मग्रहणम् । यत्तु 'अण्यन्तार्थं भूषा—ग्रहणमिति' कैयट आह तच्चिन्त्यम् ।

इस प्रकरण में यह बात और ध्यान देने योग्य है कि कर्म—करण—अधिकरण आदि कारकों की विवक्षा (यथेष्ट अर्थात् इच्छानुसार कह सकना) वक्ता के अधीन बात को महामुनि पतञ्जलि ने "**कारके**" सूत्र के भाष्य में निम्न प्रकार दिखाया है—

कन्या स्वयमेव ।। किरादीनाम् -अवकिरते हस्ती स्वयमेव, अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव। गिरते ग्रासः स्वयमेव, अगीर्ष्ट ग्रासः स्वयमेव ।। सनाम्—चिकीर्षते कटः स्वयमेव, अचिकीर्षिष्ट कटः स्वयमेव। अत्र सर्वत्र यक्चिणौ न भवत इति ।। ८७ ।।

कर्मवत् यहां सप्तमीसमर्थ कर्म शब्द से "तत्र तस्येव" सूत्र से 'वति' होता है ।।

जिस कर्म के कर्त्ता हो जाने पर भी क्रिया वैसी की वैसी जानी जावे जैसी कि कर्मावस्था में थी उस [कर्मणा] कर्म के साथ [तुल्यक्रियः] तुल्य क्रिया वाले कर्त्ता को [कर्मवत्] कर्मवद्भाव होता है ।।

यहां "कर्त्तरि शप्" से कर्त्तरि पद का अनुवर्त्तन होने के कारण 'तुल्यक्रिय' शब्द कर्त्ता का विशेषण है ।।

"वचनाश्रया च संज्ञा" (अ० १।४।२३। भाष्य) इस वचन से जब कर्त्ता की अविवक्षा हो, और सौकर्यातिशय (अपने आप प्रवृत्त होने) से कर्म के स्वातन्त्र्य की विवक्षा हो तब वह कर्म कर्त्तृभाव को प्राप्त होता है। उसको कर्मवद्भाव के अतिदेश से कर्म में विहित जो यक्, आत्मनेपद, चिण्, चिण्वद्भाव हैं वे उपर्युक्त कर्त्ता में भी हो जाते हैं ।।

जैसे—देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति, भिन्दतो देवदत्तस्य काष्ठं स्वयमेव भिद्यते। देवदत्तः केदारं लुनाति, लुनतो देवदत्तस्य केदारः स्वयमेव लूयते ।। यहां कर्मवद्भाव से यक् और आत्मनेपद होता है। अभेदि काष्ठं स्वयमेव। अलावि केदारः स्वयमेव। यहां कर्मवद्भाव से चिण् होता है। कारिष्यते कटः स्वयमेव। यहां कर्मवद्भाव से कर्म में विहित चिण्वत् कार्य 'वृद्धि' हुई ।।

धातु चार प्रकार के होते हैं और यह चार प्रकार का भेद भी इसी सूत्र से जाना जाता है। वे चार भेद इस प्रकार हैं—कर्मस्थभावकाः। कर्मस्थक्रियाः। कर्त्तृस्थभावकाः। कर्त्तृस्थक्रियाः ।।

इस सूत्र से कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रिय धातुओं का ही कर्त्ता कर्मवत् होता है। कर्त्तृस्थभावक तथा कर्त्तृस्थक्रिय धातुओं का नहीं, क्योंकि इन के कर्म में क्रिया की इस प्रकार की प्रवृत्ति ही नहीं होती ।।

स्वतन्त्रपरतन्त्रत्वामयो पर्यायेण वचनं, वचनाश्रया च संज्ञा" तद्यथा—बलाहकाद्विद्योतते। बलाहके विद्योतते। बलाहको विद्योतते। यहां बलाहक (बादल) से बिजली चमक रही है, या बादल में बिजली चमक रही है, अथवा बादल चमक रहा है। वक्ता इन तीनों वाक्यों को अपनी इच्छानुसार बोल सकता है अर्थ तीनों का एक ही है पर तीनों में "बादल से" "बादल में" 'बादल' यह तीनों कारक भिन्न भिन्न हैं। इसी नियम से इस प्रकृत सूत्र में भी कर्मकारक को कर्त्तृकारक की विवक्षा हो जाती है, यद्यपि "स्थाली पचति" आदि में स्थाली = बटलोई अधिकरण-कारक ही है क्योंकि उसी में डालकर पकाया जाता है पर वक्ता उसे कर्त्ता ही कहना चाहता है—'बटलोई पका रही है' सो कह सकता है यह यहां के इस प्रकरण का अभिप्राय है ।।

(सम्पादक)

जैसे—कर्मस्थभावकानाम्—आसयति देवदत्तम् । शाययति देवदत्तम्, यहां देवदत्त कर्म है उस में शयन स्थित है, अत आस्यते शय्यते वा देवदत्त. स्वयमेव—यहां देवदत्त कर्म की कर्तृविवक्षा होने पर भी भाव वैसा का वैसा लक्षित हो रहा है अत यहां कर्मवद्भाव हो जाता है ॥

कर्मस्थक्रियाणाम्—भिनत्ति काष्ठं, भिद्यते काष्ठं स्वयमेव । यहां भेदन क्रिया काष्ठ में स्थित है, अत ऐसे धातुओं में कर्मवद्भाव होता है ॥

कर्तृस्थभावकानाम्—चिन्तयति मन्त्रयते ॥

कर्तृस्थक्रियाणाम्—गच्छति । हसति । धावति ॥ इन धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् नहीं होता ॥

"वत्करण" इसलिये है कि—भिद्यते कुसूलेन—यहां स्वाश्रय-कार्य भाव में लकार हो जाता है, यदि कर्त्ता कर्म ही हो जावे तो अकर्मक न होने से भाव में लकार हो ही कैसे । उस लकार के द्वारा कर्त्ता के अनभिहित होने से यहां तृतीया विभक्ति हो जाती है ॥

कर्मणा ग्रहण इसलिये है कि—करण और अधिकरण के साथ तुल्य क्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता ।

जैसे—साध्वसिश्छिनत्ति यहां असि करण की कर्तृत्व विवक्षा है अत यहां कर्मवद्भाव नहीं होता ॥

साधु स्थाली पचति—यहां भी अधिकरण के साथ तुल्यक्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता ॥

"तुल्यक्रियः" ग्रहण इसलिये है कि—पचत्योदनं देवदत्त, राध्यत्योदनः स्वयमेव । यहां पचनक्रिया तथा राधनक्रिया के भिन्न भिन्न होने से कर्मवद्भाव नहीं होता

इस सूत्र पर निम्नवार्त्तिक हैं—

१—"दुहिपच्योर्ब०"—सकर्मक दुह और पच धातुओं का कर्त्ता बहुल करके कर्मवत् हो । जैसे दुग्धे गौः पयः स्वयमेव । तस्मादुदुम्बरः सलोहितं फलं पच्यते । जहां कर्म स्वतन्त्रता की विवक्षा से कर्तृभाव को प्राप्त हो जाता है वहां ही कर्मवद्भाव होता है । अर्थात् जहां कर्त्ता ही हो कर्म का गन्धमात्र भी न हो वहीं कर्मवद्भाव होता है परन्तु यहां "पयः" और "फलम्" यह दोनों कर्म विद्यमान हैं अत. सूत्र से अप्राप्त कर्मवद्भाव का वार्त्तिक ने विधान किया । यहां 'दुहि' धातु के द्विकर्मक होने से कर्मस्थभावक होने पर भी सकर्मक होने के कारण "सकर्मकाणां प्रतिषेधो०" भाष्य के इस वचन से इसमें कर्मवद्भाव प्राप्त नहीं था सो विधान करते हैं । "पच" भी इस विषय में द्विकर्मक है अकथित कर्म की कर्त्ता विवक्षा होने पर कर्मवत् होता है जो उक्त विषय में ही होगा "ओदनं पचति" आदि में नहीं होगा ॥

२—वा०—"सृजियुज्योः०" सकर्मक सृज और युज, धातुओं का कर्त्ता बहुल करके कर्मवत् हो और श्यन् भी हो, यहां 'श्यन्' यक् का अपवाद है ॥

भृजे श्रद्धो० श्रद्धायुक्त कर्त्ता में भृज धातु को चिण् और आत्मनेपद होने के लिये कर्मवद्भाव हो। जैसे—भृज्यते मालाम्। अभर्जि मालाम्। यहां कर्मवद्भाव से आत्मनेपद, चिण् के स्थान में चिण् तथा "श्यन्तु" इस वचन से यक् को बाध कर श्यन् होता है।

युज धातु के न्याय्य कर्मकर्त्ता में श्यन् होता है। जैसे—"ब्रह्मचारिणं योगो युनक्ति" इसके कर्मकर्त्ता में "युज्यते ब्रह्मचारी योगम्" ऐसा प्रयोग होता है।

३—वा०—"करणेन तुल्यक्रिय०"—इस सूत्र में कर्मणा ग्रहण से कर्मवद्भाव नहीं प्राप्त था अब इस वार्त्तिक से करण के साथ तुल्यक्रिया वाले कर्त्ता को भी बहुल करके कर्मवद्भाव का विधान किया। जैसे "परिवारयन्ति कण्टकैर्वृक्षम्–परिवारयन्ते कण्टका वृक्षम्"। पशु न आ न जावें इस भय से छोटे वृक्ष को कांटों से ढापता है। यहां कर्मवद्भाव पक्ष में कण्टक शब्द में तृतीया नहीं होती। यक् भी नहीं होता, आत्मनेपद हो जाता है। इस वार्त्तिक में बहुल ग्रहण करने से "साध्वसिश्छिनत्ति" यहां कर्मवद्भाव न हुआ॥ ४॥

४—वा०—"भूषाकर्म०" सूत्र से कर्मवद्भाव सामान्य प्राप्त था सो विशेष अवस्था में कर्मवद्भाव का प्रतिषेध वार्त्तिक से किया है।

भूषण अर्थ वाले, किरादि तथा सन्नन्त धातुओं के कर्म के साथ तुल्यक्रिय कर्त्ता को आत्मनेपद को छोड़कर कर्मवद्भाव का प्रतिषेध होता है। अर्थात् इनको यक् चिण् और चिण्वद्भाव न हो केवल आत्मनेपद ही हो॥

भूषाकर्मकारणाम्—भूषयते कन्या स्वयमेव। माता कन्यां भूषयति, कन्यां भूषयिष्यति माता: कन्या स्वयमेव भूषयते। अबुभूषत कन्या स्वयमेव। मण्डयते कन्या स्वयमेव। अममण्डत कन्या स्वयमेव। अलङ्कुरुते कन्या स्वयमेव। अलमकृत कन्या स्वयमेव॥

किरादीनाम्—अवकिरते हस्ती स्वयमेव। अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव। गिरते ग्रास: स्वयमेव। अगीर्ष्ट ग्रास: स्वयमेव॥

सन्—चिकीर्षते कटः स्वयमेव। अचिकीर्षिष्ट कटः स्वयमेव। यहां इच्छा कर्त्तृस्थ भी है तथापि करोति क्रिया की अपेक्षा से कर्मस्थ क्रिया जाननी चाहिये क्योंकि यहां 'करोति' प्रधान है, इच्छा तो करोति के आधीन है स्वतन्त्र नहीं॥ ८७॥

तपस्तपःकर्मकस्यैव[१]॥ ८८॥

'कर्मवद्' इत्यनुवर्तते। तपः। ६। १। तपःकर्मकस्य। ६। १। एव। [अ०]। 'सत्यं तपो दमस्तपः[२]' इत्यादीनि तपसो लक्षणानि तैत्तिरीयशाखायां सन्ति। तपः=सत्याचरणादिकर्म यस्य स तपःकर्मकस्तस्य। तपः[३]कर्मकस्यैव तप[४]- धातोः कर्त्ता कर्मवद् भवति नान्यकर्मकस्य। द्वितीयोऽपि नियमोऽस्मादु सूत्रान्निस्सरति, यदि सकर्मस्य

१. भा० सू० ७३१॥ २. तै० आ० प्र० १०। अ० ८॥
३. सकर्मकेष्विति भाव॥ ४. तप सन्तापे [भ्वा० प० अ०]॥

कर्त्ता कर्मवत् भवेत्तर्हि तप एव ।। तप्यते तपः स्वर्गाय ब्रह्मचारी[1] । अत्र कर्मवद्भावेन यग् यथा स्यात् । अतप्त तपः स्वर्गाय । अत्र कर्मकर्त्तरि चिण् प्रतिषिध्यते[2] ।

'तपःकर्मकस्यैव' इति किम् । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः ।। ८८ ।।

यहां "कर्मवत्" का अनुवर्तन है । "सत्यं तपो दमस्तपः" इत्यादि तपके लक्षण तैत्तिरीय शाखा में किये हैं

[तपः कर्मकस्य] तप अर्थात् सत्याचरणादि कर्म हैं जिसके, ऐसा जो तप कर्म वाला [तप] तप धातु उसका ही कर्त्ता कर्मवत् हो अन्य कर्म वाले का नहीं, अर्थात् सकर्मको में तप कर्म वाले ही तप का कर्त्ता कर्मवत् हो ।।

यह सूत्र नियमार्थ है कि सकर्मक धातुओं को कर्मवद्भाव हो तो तप ही को हो, सो भी तप कर्म वाले ही तप धातु को हो अन्य कर्म वाले को न हो ।।

जैसे—वेद व्रतादीनि तपांसि तापसं तपन्ति, स तापसस्स्वर्गस्थिभूतः स्वर्गाय तपस्तप्यते । तप्यते तपः स्वर्गाय ब्रह्मचारी ।।

वेदव्रतादि तप तापस अर्थात् तप करने वाले को कष्ट देते हैं वह तापस कृश होता हुआ भी भावी सुख की इच्छा से तप तपता है ।

पिछले सूत्र से कर्मवद्भाव प्राप्त नहीं था इस से विधान किया । अतप्त तपः स्वर्गाय । अन्वतप्त तपस्तापसः । यहां "तपोऽनुतापे च" सूत्र से चिण् का निषेध होकर सिच् हो जाता है ।।

तप. कर्मकस्यैव—ग्रहण इसलिये है कि—उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । यहां तप कर्म के न होने से कर्मवद्भाव नहीं हुआ ।।

न दुहस्नुनमां यक्चिणौ[3] ।। ८९ ।।

'कर्मवद्[4]' इत्यनुवर्तते । न [अ०] । दुह-स्नु-नमाम् । ६ । ३ । यक्-चिणौ । १ । २ । [पूर्वेण] दुहादीनां कर्त्ता कर्मवद् भवति, परन्तु कर्मातिदिष्टौ यक्चिणौ दुहादिभ्यो न भवत इति । दुह—दुग्धे गौः पयः स्वयमेव । अत्र कर्मवत्त्वादात्मनेपदं भवति, यग् न भवति । अदोहि गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव । अत्र 'दुहश्च[5]' इति कर्मकर्त्तरि विकल्पेन चिण् भवति । तस्मादनेन सूत्रेण दुह-धातोर्यगेव प्रतिषिध्यते । स्नु—प्रस्नुते शोणितं स्वयमेव, प्रास्नोष्ट शोणितं स्वयमेव । नम्—नमते दण्डः स्वयमेव, अनस्त दण्डः स्वयमेव । अत्राप्यत्र कर्मवद्भावादात्मनेपदमेव भवति । यक्चिणौ निवार्येते ।

१. वेदव्रतादीनि तपांसि तापसं तपन्ति, स तापसस्स्वर्गस्थिभूतः स्वर्गाय तपस्तप्यते, इत्यधिकमाख्यातिके ।।

२. तपोऽनुतापे च (अ० ३ । १ । ६५) इति सूत्रेणेति भावः ।।

३. भा० सू० ७३५ ।।

४. कर्मवद्भाव इत्यर्थः ।।

५. अ० ३ । १ । ६३ ।।

वा० —यक्चिणोः प्रतिषेधे णि-श्रि-ग्रन्थि-ग्रन्थि-ब्रूञ्आत्मनेपदाकर्मकाणा-मुपसङ्ख्यानम् ॥

ण्यन्तानां श्रि-श्रन्थि-ग्रन्थि ब्रूञ्आत्मनेपदविधौ येऽकर्मकास्तेषां च कर्ता कर्मवद् भवति । कर्मापदिष्टौ यक्चिणौ न भवत इति । णि—कारयते कट: स्वयमेव, अचीकरत कट: स्वयमेव । उत्पुच्छयते गौ: स्वयमेव, उदपुपुच्छत गौ: स्वयमेव । श्रि—उच्छ्रयते दण्ड: स्वयमेव, उदशिश्रियत दण्ड: स्वयमेव । श्रन्थि—श्रथ्नीते ग्रन्थ: स्वयमेव, अश्रन्थिष्ट ग्रन्थ: स्वयमेव । ग्रन्थि—ग्रथ्नीते श्लोक: स्वयमेव, अग्रन्थिष्ट श्लोक: स्वयमेव । ब्रूञ्—ब्रूते कथा स्वयमेव, अवोचत कथा स्वयमेव । आत्मनेपदाकर्मकाणाम् —आहते माणवक: स्वयमेव[1] आवधिष्ट माणवक: स्वयमेव । 'आङो यमहनः'[2] इत्यात्मनेपदविधानम-कर्मकाद्धन: । अत्र यक्चिणौ वार्त्तिकेन निषिध्येते । आत्मनेपदं च विधीयत एव । तत्र कर्मवद्भावस्यैकमपरं प्रयोजनम्—आघानिष्यते माणवक: स्वयमेव । विकारिष्यते[3] सैन्धव: स्वयमेव । अत्र कर्मवद्भावेन चिण्वत् कार्यमपि यथा स्यात् ॥ ८९ ॥

[दुहस्नुनमाम्] दुह स्नु और नम इन धातुओं के कर्मवद्भाव में [यक्चिणौ] यक् और चिण् [न] न हों ।

दुह—दुग्धे गौ: पय: स्वयमेव । यहां कर्मवत् होने से आत्मनेपद होता है परन्तु यक् नहीं होता । अदोहि गौ: स्वयमेव । अदुग्ध गौ: स्वयमेव । यहां 'दुहश्च'[4] इससे विकल्प करके चिण् होता है सो इस सूत्र ने दुह धातु से यक् का निषेध किया ॥ स्नु—प्रस्नुते शोणितं स्वयमेव । प्रास्नोष्ट शोणितं स्वयमेव । नम—नमते दण्ड: स्वयमेव । अनंस्त दण्ड: स्वयमेव ॥ यहां स्नु और नम में कर्मवत् होने से आत्मनेपद होता है, परन्तु यक् चिण् का निषेध इस सूत्र से हो जाता है ॥

१. अत्र भाष्ये त्वेवं पठ्यते—

यक्चिणो: प्रतिषेधे णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम् ॥ १ ॥ भारद्वाजीया: पठन्ति—यक्चिणो: प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम् ॥ २ ॥

तथैव वाक्यानिके वा० ७४० । ७४१ ॥

२. इदमत्रावधेयम् — सकर्मकस्यापि हन्तेर्यदा कर्मणोऽविवक्षायामकर्मकत्वं भवति, तदा आङो यमहन: [अ० १ । ३ । २८] इत्यात्मनेपदं विधीयते । यदा तु कर्मण: स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं तदा कर्मवद्भावे सत्यात्मनेपदादय: प्राप्नुवन्ति । तत्र यक्चिणौ वार्त्तिकेन प्रतिषिध्येते । आत्मनेपदं चिण्वद्भावश्च भवत्येव ॥

विकुर्वते सैन्धवा इत्यत्र तु विपूर्वस्य करोतेरकर्मकत्वाद्यदान्तर्भावितण्यर्थे सकर्मकत्वं भवति तदा तस्य सौकर्यातिशयविवक्षायां कर्तृत्वे कर्मवद्भाव: प्राप्नोति । यथा विकुर्वते सैन्धवा वल्गन्ति इत्यर्थ: । तान् यदाऽन्यो वल्गयति तदा तेषां कर्मत्वम्, पुन: सौकर्यत्वविवक्षायां कर्तृत्वे विकुर्वते सैन्धवा: स्वयमेव इत्यादि भवति ॥

३. अ० १ । ३ । २८ ॥ ४. अ० १ । ३ । ३५ ॥

१—वा०—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रिग्रन्थि० ॥

यक् और चिण के प्रतिषेध प्रकरण में णि-अन्तों से श्रि—श्रन्थि ग्रन्थि ब्रूञ् तथा आत्मनेपद में जो अकर्मक हैं उनका कर्त्ता कर्मवत् होता है, पर उनमें यक् चिण नहीं होते।

जैसे—णि—कारयते कटः स्वयमेव। अचीकरत कटः स्वयमेव॥
उत्पुच्छयते गौः स्वयमेव। उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव॥
श्रि—उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव। उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव॥
श्रन्थि—श्रथ्नीते ग्रन्थः स्वयमेव। अश्रन्थिष्ट ग्रन्थः स्वयमेव।
ग्रन्थि—ग्रथ्नीते श्लोकः स्वयमेव। अग्रन्थिष्ट श्लोकः स्वयमेव॥

ग्रन्थ और श्रन्थ के "आधृषाद्वा" होने से णिच् के अभाव पक्ष के लिये चुरादिकों का भी ग्रहण है। ग्रन्थयते ग्रन्थमाचार्यः। श्रन्थयते मेखलां देवदत्तः। ग्रन्थयते ग्रन्थः स्वयमेव। श्रन्थयते मेखला स्वयमेव। अश्रन्थिष्ट। अग्रन्थिष्ट।

ब्रूञ्—ब्रूते कथा स्वयमेव। अवोचत कथा स्वयमेव॥

आत्मनेपदविधान में अकर्मक—आहते माणवकः स्वयमेव। आवधिष्ट माणवकः स्वयमेव, आघानिष्यते माणवकः स्वयमेव। जब 'हन' धातु के कर्म की अविवक्षा होती है तब "आङो यमहनः" इस सूत्र से आहते माणवकः में आत्मनेपद होता है अर्थात् अकर्मक हन धातु से आत्मनेपद होता है, जब हन्ति का कर्म स्वातन्त्र्य की विवक्षा से कर्त्ता बन जाता है तब उसको कर्मवद्भाव होने से आत्मनेपद, यक्, चिण्, और चिण्वद्भाव ये कार्य्य प्राप्त होते हैं उनमें से यक् और चिण् का इस वार्त्तिक से प्रतिषेध हो जाता है अर्थात् उक्त उदाहरणों में आत्मनेपद और चिण्वद्भाव ये दो ही कार्य्य होते हैं।

विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव। व्यकारिषत सैन्धवाः स्वयमेव। व्यकारिष्यत सैन्धवाः स्वयमेव। वि पूर्वक करोति धातु जब अकर्मक होता है तब 'अकर्मकाच्च' सूत्र से आत्मनेपद होता है किन्तु जब उसमें अन्तर्भावित अर्थ की कल्पना की जाती है तब वही वि-पूर्वक करोति धातु सकर्मक बन जाता है जब सौकर्य्यातिशय की विवक्षा में कर्म कर्त्ता बन जाता है तब उसको कर्मवद्भाव के अतिदेश में आत्मनेपदादि प्राप्त होते हैं। उनमें से यक् और चिण का इस वार्त्तिक से प्रतिषेध हो जाता है॥

कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च[1] ॥ ९० ॥

अत्र 'सार्वधातुके यक्[2]' इति सूत्रात् सार्वधातुक-ग्रहणमनुवर्त्तते। [कुषि-रजोः। ६।२। प्राचाम्। ६।३। श्यन्। १।१। परस्मैपदम्। १।१। च अ०।] कुषि-रजाद्धात्वोः कर्त्ता कर्मवद् भवति। एताभ्यां श्यन् प्रत्ययः परस्मैपदं च भवति प्राचामाचार्याणां मतेन। कर्मवद्भावेन यक् प्राप्तस्तस्यापवादः श्यन्। आत्मनेपदस्यापवादः परस्मैपदम्॥

१. आ० सू० ७४२॥ २. अ० ३।१।६७॥

कुष्यति पादः स्वयमेव । रज्यति वस्त्रं स्वयमेव । अत्र 'प्राचाम्' इति ग्रहणं विकल्पार्थम् । तेन कुष्यते पादः स्वयमेव । रज्यते वस्त्रं स्वयमेव ॥

अत्र 'सार्वधातुके' इत्यनुवर्तनात् स्यादीन् विकरणान् श्यन् विकरणो न बाधते । तत्रात्मनेपदमेव भवति । लकारावस्थायां विहितत्वात् स्यादयोऽन्तरङ्गाः । लकारादेशानां सार्वधातुक-सञ्ज्ञा, तदा श्यन्-परस्मैपदयोः प्राप्तिः, अतः श्यन्-परस्मैपदे बहिरङ्गे 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति स्यादय एव भवन्ति । चुकुषे पादः स्वयमेव । ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव । कोषिष्यते पादः स्वयमेव । रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव । कोषिषीष्ट पादः स्वयमेव । रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव । अकोषि पादः स्वयमेव । अरञ्जि वस्त्रं स्वयमेव । अत्र सर्वत्र स्यादयो विकरणा आत्मनेपदं च भवति, किन्त्वस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्न भवतीति ॥ ६० ॥

॥ इति कर्मवद्भावप्रकरणम् ॥

इस सूत्र में 'सार्वधातुके यक्'[1] सूत्र से सार्वधातुक का अनुवर्त्तन है ।

[प्राचाम्] प्राग्देशीय आचार्यों के मत में [कुषिरजोः] कुष और रञ्ज धातु को कर्मवद्भाव में [श्यन् परस्मैपदञ्च] श्यन् और परस्मैपद हो, यक् और आत्मनेपद नहीं होते ॥

जैसे—कुष्यति, कुष्यते वा पादः स्वयमेव । रज्यति, रज्यते वा वस्त्रं स्वयमेव । यहां 'प्राचाम्' ग्रहण विकल्प के लिये है और वह व्यवस्था से माना जाता है इससे लिङ् लिट् और स्यादि विषय में यह सूत्र नहीं प्रवृत्त होता । चुकुषे पादः स्वयमेव । ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव । कोषिषीष्ट पादः स्वयमेव । रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव । कोषिष्यते पादः स्वयमेव । रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव । अकोषि पादः स्वयमेव । अरञ्जि-वस्त्रं स्वयमेव ॥

[यह कर्मवद्भाव का प्रकरण समाप्त हुआ ॥]

---

१. पा० ४३ ॥ अ० ८ । ३ । १४ ॥

धातोः[1] ॥ ९१ ॥

धातोः । ५ । १ ॥ अधिकारसूत्रमिदम् ॥

तृतीयाध्यायपर्यन्तं यत्कार्यं विधीयते धातोरेव तद्वेदितव्यम् ॥ तव्यदादयः प्रत्यया धातोः पर एव स्युः ॥ कर्त्तव्यम् । करणीयम् ॥

यह अधिकार सूत्र है ॥

तीसरे अध्याय के अन्त तक जो कार्य कहेंगे वे धातु से ही होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥

'तव्यत्' आदि प्रत्यय धातु से परे होते हैं ॥

जैसे—कर्त्तव्यम् । करणीयम् ॥ ९१ ॥

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ॥ ९२ ॥

तत्र [अ०] उपपदम् । १ । १ । सप्तमीस्थम् । १ । १ ॥ उपपदमित्यन्वर्था संज्ञेयम् ॥ उप=समीपोच्चारितं पदमुपपदम् ॥ सप्तम्यां विभक्तौ तिष्ठतीति सप्तमीस्थम् ॥

तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे सप्तमीस्थं सप्तमीनिर्दिष्टं पदमुपपदसंज्ञं भवति ॥

'कर्मण्यण्'[2] कुम्भकारो-नगरकारः । अत्र कुम्भनगरशब्दयोरुपपदसंज्ञा, ततः **'उपपदमतिङ्'**[3] इति समासः ॥

'तत्र' इति किम्—तद्धित उपपदसंज्ञा मा भूत् ॥ अन्वर्थसंज्ञा किमर्था—'आहर कुम्भं करोति कटम्' अत्रोपपदसंज्ञा मा भूत् ॥ 'स्थ' ग्रहणं किमर्थम्—अक्रियमाणे स्थग्रहणे यत्र सूत्रेषु प्रयोगेष्वपि सप्तमी श्रूयते तत्रैवोपपदसंज्ञा स्यात्—स्तम्बेरमः, कर्णेजपः । इह न स्यात्—कुम्भकारो नगरकार इति, अत्र प्रयोगेषु सप्तमी न श्रूयते, स्थ-ग्रहणेन सूत्रेषु निर्दिष्टं सप्तम्यन्तमुपपदसंज्ञं भवति ॥ ९२ ॥

'उपपद' यह अन्वर्थसंज्ञा है । उप=समीप में उच्चारित जो पद वह 'उपपद' कहाता है । सप्तमी विभक्ति में स्थित जो पद वह सप्तमीस्थ कहाता है ॥

[तत्र] इस धातु के अधिकार में [सप्तमीस्थम्] सप्तमी निर्दिष्ट पद [उपपदम्] उपपद संज्ञक होता है ॥

जैसे—**'कर्मण्यण्'** इस सूत्र में कर्मपद सप्तम्यन्त होने से **कुम्भकारः** और **नगरकारः** इत्यादि उदाहरणों में कुम्भ और नगर पदों की इस सूत्र से उपपद संज्ञा होकर **'उपपदमतिङ्'** सूत्र से समास हो जाता है ॥

'तत्र' ग्रहण इसलिये है कि—तद्धित अधिकार में उपपद संज्ञा न हो ॥

अन्वर्थसंज्ञा का यह प्रयोजन है कि—**'आहर कुम्भं करोति कटम्'** यहां कुम्भ-पद की उपपदसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि 'कुम्भ' पूर्व के साथ सम्बद्ध है, और 'करोति' आगे के साथ, अतः दोनों परस्पर असमर्थ हैं, इसलिये यहां समास भी नहीं होता ॥

---

१. अ० सू० २ ॥ २. अ० ३ । २ । १ ॥
३. अ० २ । २ । १९ ॥

'सप्तमीस्थम्' इस पद में 'स्थ' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि जहां सप्तमी का श्रवण हो या न हो वहा पर भी उपपद सञ्ज्ञा हो जाय। यदि 'स्थ' ग्रहण न करते तो जहां जहां सूत्र मे और प्रयोगों में सप्तमी, तथा 'सप्तम्यन्त' का श्रवण होता, वही वहीं उपपद सञ्ज्ञा होकर 'स्तम्बेरम कर्णेजप' इत्यादि मे ही उपपद संज्ञा होती, परन्तु 'कुम्भकार' और 'नगरकार' इत्यादि में उपपदसंज्ञा नहीं होती क्योंकि इन प्रयोगो में सप्तमी विभक्ति का श्रवण नहीं होता, स्थग्रहण से सूत्रों मे जो सप्तमीनिर्दिष्ट है उनकी ही उपपद सञ्ज्ञा होती है ॥ ९२ ॥

कृदतिङ्[1] ॥ ९३ ॥

कृत् । १ । १ । अतिङ् । १ । १ ॥ धातोर्विहितास्तिङ्भिन्नाः प्रत्ययाः कृत्सञ्ज्ञा भवन्ति ॥ कर्त्ता । कारकः । कर्त्तव्यम् । अत्र कृत्सञ्ज्ञाश्रया **'कृत्तद्धितसमासाश्च'**[2] इति प्रातिपदिकसंज्ञा, ततः स्वाद्युत्पत्तिः ॥

'अतिङ्' इति किम्—पचति । पठति । अत्र कृत्प्रातिपदिकसञ्ज्ञाभ्यां स्वाद्युत्पत्ति र्मा भूत् ॥ ९३ ॥

धातु से विहित [अतिङ्] तिङ् भिन्न प्रत्यय [कृत्] कृत्सञ्ज्ञक होते हैं।

जैसे—कर्त्ता । कारकः । कर्त्तव्यम् । यहां तृच्-ण्वुल्-तव्यत् प्रत्ययों की 'कृत्' सञ्ज्ञा होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र से कृदन्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हुई, और प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होने से स्वादि की उत्पत्ति हुई ॥

'अतिङ्' ग्रहण इसलिये है कि—पचति । पठति । यहां तिङन्त पदों की कृत् संज्ञा होने से स्वादि की उत्पत्ति न हो ॥ ९३ ॥

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्[3] ॥ ९४ ॥

वा [अ०] असरूपः । १ । १ । अस्त्रियाम् । ७ । १ ॥ समानं रूपमस्य स सरूपो न सरूपोऽसरूपः, भिन्नरूपो विरुद्धरूपो वा ॥

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपः प्रत्ययो विकल्पेन भवति स्त्र्यधिकारं विहाय ॥ सर्वत्राप्यपवादेनोत्सर्गा बाध्यन्ते तत्रासरूपोऽपवादो विकल्पेन बाधकः स्यादिति प्रयोजनाय सूत्रमिदमारभ्यते, पक्ष उत्सर्गस्य प्रवृत्तिः । यथा—**'ण्वुल् तृचौ'**[4] उत्सर्गौ **'इगुपधज्ञा-प्रीकिरः कः'**[5] इति तयोरपवादः । तत्र विक्षिप इति कः । पक्षे तावपि भवतः विक्षेपकः, विक्षेप्ता ॥

---

१. आ० सू० ३ ॥ २. अ० १ । २ । ४६ ॥
३. आ० सू० ९११ ॥ ४. अ० ३ । १ । १३३ ॥
५. अ० ३ । १ । १३५ ॥

'असरूप' इति किम्—उत्पत्तौ ये प्रत्यया विरूपाः प्रयोगे च सरूपा अर्थात् सानुबन्धका विरूपा, निरनुबन्धकाश्च सरूपास्तत्रोत्सर्गापवादौ विकल्पेन मा भूताम्; यथा—'कर्मण्यण्'[1] इत्युत्सर्गः। 'आतोऽनुपसर्गे कः'[2] इति तस्यापवादः स नित्य बाधको भवति। गोदः। कम्बलदः। अत्रोत्सर्गकृतोऽण् न भवति॥

'अस्त्रियाम्' इति किमर्थम्—'स्त्रियां क्तिन्'[3] इत्युत्सर्गः। 'अ प्रत्ययात्'[4] इति तस्यापवादः स नित्यं बाधको भवति। जुगुप्सा। तितिक्षा। मीमांसा। अत्रोत्सर्गकृतः क्तिश्च भवतीति॥ ६४॥

जिन का रूप परस्पर समान हो वह सरूप कहाते हैं, सरूप से विपरीत अर्थात् भिन्न रूप वाले 'असरूप' कहाते हैं॥

इस धात्वधिकार में [अस्त्रियाम्] स्त्री अधिकार के प्रत्ययों को छोड़कर [असरूपः] असमानरूप प्रत्यय [वा] विकल्प कर के होते हैं॥ सब जगह अपवाद उत्सर्ग को बाध लेते हैं, इस अधिकार में असमान रूप वाले प्रत्यय अपवाद होने पर उत्सर्ग का विकल्प से बाधन करें इस प्रयोजन के लिये यह सूत्र है। दूसरे पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति होती है॥

जैसे—'ण्वुल् तृचौ' यह उत्सर्ग सूत्र, और 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' यह इस का अपवाद है, अतः विक्षिपः—यहां 'क' प्रत्यय हुआ, पक्ष में विक्षेप्ता, विक्षेपकः यहां तृच् और ण्वुल् भी हो जाते हैं॥

'असरूप' ग्रहण इसलिये है कि—जो प्रत्यय उत्पत्ति अवस्था में अनुबन्धों की भिन्नता से विरूप हैं, तथा प्रयोग में निरनुबन्ध होने से सरूप हैं, वह प्रत्यय विकल्प करके न हों।

जैसे—'कर्मण्यण्' इस सूत्र से विहित अण् प्रत्यय उत्सर्ग है और 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से विहित 'क' प्रत्यय अण् का अपवाद है, अतः 'क' प्रत्यय 'अण्' का अपवाद नित्य ही होता है॥

जैसे—गोदः। कम्बलदः। यहां उत्सर्ग अण् नहीं होता॥

'अस्त्रियाम्' ग्रहण इसलिये है कि—'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र से विहित क्तिन् प्रत्यय उत्सर्ग है सो उसका 'अ प्रत्ययात्' सूत्र से विहित 'अ' प्रत्यय नित्य बाधक होता है॥

जैसे—जुगुप्सा। तितिक्षा। मीमांसा। यहां उत्सर्ग क्तिन् प्रत्यय नहीं होता॥ ९४॥

कृत्याः[5] ॥ ९५॥

कृत्याः। १। ३॥ अधिकारसूत्रमिदम्॥
इतोऽग्रे ये प्रत्यया विधास्यन्ते कृत्यसंज्ञा तेषां विज्ञेया॥

---

१. अ० ३। २। १॥　२. अ० ३। २। ३॥
३. अ० ३। ३। ९४॥　४. अ० ३। ३। १०२॥
५. भा० सू० ९१२॥

क्व पर्यन्तं कृत्यसंज्ञेति ? । उच्यते । **'अर्हे कृत्यतृचश्च'**[1] इत्यस्मिन् सूत्रे तृज्ग्रहणेन ज्ञायते 'ण्वुल् तृचौ' इति सूत्रात्पूर्वमियं संज्ञा भवति । यदि तृचोऽपि कृत्यसंज्ञा स्यात् तृज्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।। गन्तव्यो ग्रामो देवदत्तस्य देवदत्तेन वा । अत्र कृत्यसंज्ञया **'कृत्यानां कर्त्तरि वा'**[2] इति विकल्पेन कर्त्तरि षष्ठी ।। ९५ ।।

यह अधिकार सूत्र है ।।

यहां से आगे जिन प्रत्ययों को कहेंगे उन की [**कृत्याः**] कृत्य संज्ञा जाननी चाहिये ।।

कृत्य संज्ञा कहां तक है यह बात 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस सूत्र में कृत्य के साथ तृच् प्रत्यय के ग्रहण करने से जानी जाती है कि "ण्वुल् तृचौ' सूत्र से पूर्व पूर्व कृत्य संज्ञा होती है, यदि तृच् की भी कृत्यसंज्ञा होती तो तृच् का पृथक् ग्रहण अनर्थक होता है, अतः अनर्थक होकर यह जताता है कि 'ण्वुल् तृचौ' से पूर्व कृत्य संज्ञा होती है ।।

जैसे—**गन्तव्यो ग्रामो देवदत्तस्य देवदत्तेन वा** । यहां कृत्य संज्ञा के होने से 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इस सूत्र से विकल्प करके कर्त्ता में षष्ठी होती है, पक्ष में तृतीया भी होती है ।। ९५ ।।

तव्यत्तव्यानीयरः[3] ।। ९६ ।।

प्रत्यय इति धातोरिति चानुवर्त्तते ।। तव्यत्तव्यानीयरः । १ । ३ ।।

धातोः परे तव्यत्-तव्य--अनीयर्-इत्येते प्रत्यया भवन्ति ।। तकारोऽनुबन्धः स्वरितार्थः । अनीयरि रेफानुबन्धः स्वरार्थः[4] । भवितव्यम् । भवितव्यम् । अत्र स्वरे भेदः । भवनीयम् ।।

१—वा०—केलिमर उपसंख्यानम्[5] ।।

तव्यदादिषु धातोः केलिमर्[6] प्रत्ययो भवति । अत्रापि रेफानुबन्धः स्वरार्थः । पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः । ककारानुबन्धेन भिदेलिमा इत्यत्र गुणो न भवति ।। १ ।।

२—वा०—वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च[7] ।।

---

१. अ० ३ । ३ । १६९ ।।　　　　२. अ० २ । ३ । ७१ ।।

३. भा० सू० ९१५ ।।

४. 'उपोत्तमं रिति' (अ० ६ । १ । २१७) स्वरार्थः ।।

५. भा० वा० ११६ ।। (क) अ० ३ । १ । ९६ ।।

६. यदत्र जयादित्येन 'कर्मकर्त्तरि चायमिष्यते' इत्युक्तं तद्भाष्यविरुद्धम्, भाष्ये कर्मण्युदाहृतत्वात्, यथाहि—'पचेलिमा माषा , पक्तव्या इत्यर्थः.' इत्यादि ।।

७. भा० वा० ९१७ ।। अ० ३ । १ । ९६ भा० ।।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः'[1] इति भावकर्मणोः कृत्या विधीयन्ते । अतः 'कर्त्तरि' इत्युच्यते । 'वस' धातोः कर्त्तरि तव्यत् प्रत्ययो भवति णिद्वच्च । वसतीति वास्तव्यः । णित्वादत्र वृद्धिः ॥ ९६ ॥

यहां 'प्रत्यय' तथा 'धातु' का अनुवर्त्तन है ॥

धातु से [तव्यत्तव्यानीयरः] तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय हों ॥ तकार का अनुबन्ध स्वरित के लिये है और अनीयर् में रेफ का अनुबन्ध स्वर के लिये है । जैसे—भवितव्यम् । भवितव्यम् । यहां स्वर में भेद हो जाता है । भवनीयम् ॥

१—वा०—'केलिमर उप०' धातु से कर्म में केलिमर् प्रत्यय हो । यहां भी रेफानुबन्ध स्वर के लिये है ॥ जैसे पचेलिमा माषा' पक्तव्या इत्यर्थः', भिदेलिमा सरला., भेत्तव्या इत्यर्थः' । ककार के अनुबन्ध करने से भिदेलिमा इसमें 'पुगन्तलघूपधस्य च' (अ० ७ । ३ । ८६) इस सूत्र से गुण प्राप्त था वह न हुआ ॥

२—वा०—"वसेस्तव्यत् कर्त्तरि०" वस धातु से कर्त्ता में तव्यत् प्रत्यय और वह णिद्वत् भी हो यह कहना चाहिये ॥ 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इस नियम से कृत्यप्रत्ययों का विधान भाव और कर्म में होता है अतः कर्त्ता में विधान किया ॥

जैसे—वसतीति वास्तव्यः । यहां णिद्वत् होने से अत उपधायाः (अ० ७ । २ । ११६) सूत्र से वृद्धि हुई ॥ ९६ ॥

अचो यत्[2] ॥ ९७ ॥

अचः । ५ । १ । यत् । १ । १ ॥ अजन्ताद्धातोर्यत् प्रत्ययो भवति ॥

देयम् । धेयम् । गेयम् । अध्येयम् ॥

'अचः' इति किम्—अजन्तभूतपूर्वादपि यद् यथा स्यात् । दित्स्यम् । धित्स्यम् । अत्र दित्सधित्सधात्वोरार्द्धधातुकविषये[3]ऽकारलोपे कृते हलन्तत्वाण्ण्यन्मा भूत् ॥

१—वा०—तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम्[4] ॥

तक्यादिभ्योऽपि यत् प्रत्ययो भवति । हलन्तत्वान्न प्राप्तः । तक्यम् । शस्यम् । चत्यम् । यत्यम् । जन्यम् ॥ १ ॥

२—वा०—हनो वा वध च[5] ॥

हन् धातोर्विकल्पेन यत् प्रत्ययस्तत्सन्नियोगेन वधादेशश्च भवति पक्षे हलन्तत्वाण्ण्यदेव । वध्यम् । घात्यम् ॥ ९७ ॥

---

१. अ० ३ । ४ । ७० ॥ २. मा० सू० ११९ ॥

३. आर्द्धधातुके [अ० ६ । ४ । ४६] इति विषयसप्तमीमाश्रित्य समाधानमिदम् ।

४. (क) मा० वा० १२१ ॥ (ख) अ० ३ । १ । ९७ भा० ॥

५. (क) अ० ३ । १ । ९७ भा० ॥ (ख) मा० वा० १२२ ॥

[अचः] अजन्त धातु से [यत्] यत् प्रत्यय हो ॥

जैसे—देयम् । चेयम् । गेयम् । अध्येयम् ॥

'अच' ग्रहण इसलिये है कि—जो धातु प्रथम तो अजन्त हों पुनः हलन्त हो जावें उन से भी यत् प्रत्यय हो जावे । जैसे—दित्स्यम् । धित्स्यम् यहां 'दित्स-धित्स' धातु आर्द्धधातुक विषय में अकार लोप करने के अनन्तर हलन्त हो जाते हैं, उनसे भी ण्यत् को बाध कर यत् ही हो ।

१—वा०—"तकिशसिचति०" तकि आदि धातुओं से यत् प्रत्यय हो, हलन्त होने से ण्यत् प्राप्त था वह न हुआ ॥

जैसे—तक्यम् । शस्यम् । चत्यम् । यत्यम् । जन्यम् ॥ १ ॥

यहां जन धातु से यत् प्रत्यय का विधान केवल स्वर के लिये है क्योंकि ण्यत् पक्ष में भी 'जनिवध्योश्च' (अ० ७ । ३ । ३५) इस सूत्र से वृद्धि का प्रतिषेध होने पर 'जन्यम्' रूप सिद्ध हो ही जाता है ॥

२—वा०—'हनो वा वध च' हन धातु से यत् प्रत्यय और हन को 'वध' आदेश विकल्प से होता है ॥

जैसे—वध्यम् । पक्ष में ण्यत्—घात्यम् ॥ ९७ ॥

पोरदुपधात्[१] ॥ ९८ ॥

'यत्' इत्यनुवर्त्तते । हलन्तत्वाण्ण्यतोऽपवादः । पोः । ५ । १ । अदुपधात् । ५ । १ ॥ अत्=अकार उपधायां यस्य तस्मात् । अदुपधात् पवर्गान्ताद् धातोर्यत् प्रत्ययो भवति ॥ शप[२] आक्रोशे—शप्यम् । जप्यम् । रभ्यम् । लभ्यम् । जम्यम् ॥

'पोः' इति किम्—पाठ्यम् ॥ 'अदुपधात्' इति किम्—गोप्यम् । धूप्यम् । अत्र यन्न भवेत् ॥ ९८ ॥

यहां 'यत्' का अनुवर्तन है ॥ हलन्त होने से ण्यत् का अपवाद है ॥

[अदुपधात्] अकार जिस की उपधा में हो ऐसे [पोः] पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय हो ॥

जैसे—शप आक्रोशे—शप्यम् । जप्यम् । रभ्यम् । लभ्यम् । जम्यम् ॥

'पो' ग्रहण इसलिये है कि—पाठ्यम् । यहां यत् प्रत्यय नहीं होता ॥ 'अदुपधात्' ग्रहण इसलिये है कि—गोप्यम् । धूप्यम् । यहां यत् न हो ॥ ९८ ॥

शकिसहोश्च[३] ॥ ९९ ॥

अयमपि ण्यत एवापवादः ॥ शकिसहोः । ६ । २ । च [अ०] । प्रातिपदिकनिर्देशो[४]ऽयं तत्र यया कयाचिद्विभक्त्या निर्देशः कृतः । **शक्लृ[५] शक्तौ । षह[६] मर्षणे** इत्येताभ्यां यत् प्रत्ययो भवति ॥ शक्यम् । सह्यम् ॥ ९९ ॥

---

१. आ० सू० ९२३ ॥ २. धा०—भ्वा०—९८५ ॥
३. आ० सू० ९२४ ॥ ४. द्र० स्थानिवत् (१ । १ । ५६) सूत्रभाष्ये ।
५. धा०—स्वा०—१५ ॥ ६. धा०—भ्वा०—८४२ ॥

यह भी ण्यत् का अपवाद है। प्रत्ययविधि में पञ्चमीविभक्ति के द्वारा ही निर्देश होता है परन्तु यहां षष्ठीविभक्ति इस कारण है कि प्रातिपदिकनिर्देश में विभक्ति अविवक्षित होती है ॥

[शकिसहोः] शक्लृ और षह धातु से यत् प्रत्यय हो ॥

जैसे—शक्यम् । सह्यम् ॥

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ॥ १०० ॥

'यत्' इत्यनुवर्त्तते । अत्रापि गदादिभ्यो हलन्तत्वाण्ण्यत् प्राप्तस्तस्यापवादः । 'यम्' -धातोश्च 'पोरदुपधा'[1]दिति सामान्येन प्राप्तो यद् विशेषत्वेन विधीयते ॥ गदमदचरयमः । ५ । १ । च [अ०] अनुपसर्गे । ७ । १ ॥ गदादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ **गद**[3] **व्यक्तायां वाचि । मदी**[4] **हर्षे । चर**[5] **गतिभक्षणयोः । यम**[6] **उपरमे ।** उपसर्गरहितेभ्यो गदादिभ्यः परो यत् प्रत्ययो भवति ॥ गद्यम् । मद्यम् । चर्य्यम् । यम्यम् ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्—प्रगाद्यम् । प्रमाद्यम् । प्रचार्य्यम् । नियाम्यम् । अत्र ण्यदेव यथा स्यात् ॥

१—वा०—उपसर्गे चरेराङि चागुरौ[7] ॥

आङुपसर्गपूर्वाच्चरधातोर्यत् प्रत्ययो भवति अगुरौ=गुरोश्चिरेऽर्थे वाच्ये । आचर्यो देशः ॥

'अगुरौ' इति किम्—आचार्य्यं उपनयमान[8] अत्रापि ण्यदेव भवति ॥ १०० ॥

'यत्' का अनुवर्त्तन है। गदादि धातुओं के हलन्त होने के कारण 'ण्यत्' प्राप्त था उसका यह अपवाद है। यम धातु का ग्रहण केवल अनुपसर्ग के लिये है; क्योंकि यम धातु से यत् प्रत्यय तो 'पोरदुपधात्' सूत्र से सिद्ध ही था ॥ गदादियों में समाहार द्वन्द्व समास है ॥

[अनुपसर्गे] उपसर्ग पूर्व न हो तो [गदमदचरयमः] गद मद चर और यम धातु से यत् प्रत्यय हो ॥

जैसे—गद्यम् । मद्यम् । चर्य्यम् । यम्यम् ॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रगाद्यम् । प्रमाद्यम् । प्रचार्य्यम् । नियाम्यम् । यहां सोपसर्गों से ण्यत् ही हो ॥

---

१. अा० सू० ९२५ ॥ २. अ० ३ । १ । ९८ ॥
३. धा०—भ्वा०—५३ ॥ ४. धा०—दिवा०—१०० ॥
५. धा०—भ्वा०—५५० ॥ ६. धा०—भ्वा०—९६९ ॥
७. आ० वा० ९२६ ॥ (अ) भा०—३ । १ । १०० ॥
८. मनु० ११ । ५ । ३ ॥

१—वा०—"उपसर्गाच्चरेराङि०"—सूत्र में अनुपसर्ग चर धातु से यत् किया है, परन्तु आङ् पूर्वक चर धातु से भी यत् प्रत्यय का विधान करना चाहिये यदि गुरु अभिधेय न हो तो ॥

जैसे—आचरितुं योग्य आचर्यो देशः ॥

अगुरौ ग्रहण इसलिये है कि 'आचार्य उपनयमानः' यहां ण्यत् ही हो ॥ १०० ॥

अवद्यपण्यवर्य्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ॥ १०१ ॥

ण्यत एवापवादः । अवद्यपण्यवर्य्याः । १ । ३ । गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु । ७ । ३ ॥ गर्ह्य=निन्द्यम्, पणितव्य=क्रयणीयम्, अनिरोधोऽप्रतिबन्धः, एतेषु त्रिष्वर्थेषु यथाक्रममवद्यपण्यवर्य्या इति यत् प्रत्ययान्तास्त्रयः शब्दा निपात्यन्ते ॥ अवद्यं वाक्यम् । पण्यः कम्बलः । पण्या शाटी । वर्य्या ब्राह्मणी, स्वतन्त्रा इत्यर्थः ॥

गर्ह्यादिष्विति किम्—अनुद्यम् । अत्र 'वदः सुपि [क्यप्चे]' ति क्यप् । पाण्यो ब्राह्मणः, स्तुत्य इत्यर्थः । अत्र हलन्तत्वाण्ण्यदेव भवति । वार्य्या ऋत्विजः, वरणीया इत्यर्थः, अत्रापि ऋकारान्तत्वाण्ण्यदेव ॥ १०१ ॥

यह सूत्र भी ण्यत् का अपवाद है ॥

[गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु] गर्ह्य=निन्दा के योग्य, पणितव्य=व्यवहार के योग्य, अनिरोध=न रोकना, इन अर्थों में क्रम से [अवद्यपण्यवर्य्या] अवद्य-पण्य-वर्य्या ये यत् प्रत्ययान्त निपातन है ॥

जैसे—अवद्यं वाक्यम् । अवद्यं पापम् । पण्यः कम्बलः । पण्या शाटी । पण्य वस्त्रम् । वर्य्या ब्राह्मणी अर्थात् स्वतन्त्र है ॥

'गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' ग्रहण इसलिये है कि—अनुद्यं मनोदुःखम् । यहां 'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र से क्यप् प्रत्यय हो कर 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है ॥ पाण्यो ब्राह्मणः अर्थात् स्तुति करने योग्य है । यहां हलन्त होने से ण्यत् ही होता है ॥ वार्य्या ऋत्विजः अर्थात् ऋत्विक् वरण करने के योग्य हैं, यहां ऋकारान्त होने से ण्यत् ही होता है ॥ १०१ ॥

वह्यं करणम् ॥ १०२ ॥

भावकर्मणोः कृत्या विधीयन्ते, करणार्थं सूत्रमिदम् ॥ वह्यम् । १ । १ । करणम् । १ । १ ॥ वह्यमिति वहधातोः करणे यत् प्रत्ययो निपात्यते ॥ वहत्यनेन वह्यं शाकटम् । वह्यं शिवः ॥

१. अ० सू० ९२७ ॥ २. अ० ३ । १ । १०६ ॥
३. अ० सू० ९२८ ॥

करणम्' इति किम्—वाह्यो भारः । अत्र ण्यदेव भवति ॥ १०२ ॥

कृत्य प्रत्ययों का विधान भाव और कर्म में होता है अत यह सूत्र करणकारक में यत् का विधायक है ॥

[वह्यम्] वह धातु से [करणम्] करणकारक में यत् प्रत्यय का निपातन है ।

जैसे—वहत्यनेन वह्यं शकटम् । वह्यं शिरः ॥

'करणम्' ग्रहण इसलिये है कि अन्य कारक में वाह्यो भारः' ण्यत् प्रत्यय ही हो ॥ १०२ ॥

अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः[1] ॥ १०३ ॥

अयमपि विशेषार्थे ण्यतोऽपवादः । अर्यः । १ । १ ॥ स्वामिवैश्ययोः । ७ । २ ॥ **स्वामी**=अधिष्ठाता, **वैश्यो** वर्णः । स्वामिवैश्ययोरभिधेययोः सतोः 'ऋ[2] गतौ' इत्यस्माद्धातोर्यत् प्रत्ययान्तोऽर्य्य-शब्दो निपात्यते ॥ अर्य्यः स्वामी । अर्यो वैश्यः ॥

'स्वामिवैश्ययोः' इति किम्—आर्य्यो वैयाकरणः । श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ अत्र ण्यदेव भवति ॥

१—वा०—स्वामिन्यन्तोदात्तत्वञ्च[3] ॥

स्वामिवाचिन्यर्यशब्देऽन्तोदात्तस्वरो भवति 'यतोऽनावः[4]' इत्याद्युदात्तं प्राप्तं तदनेन वार्त्तिकेन निवार्य्यते ॥ १०३ ॥

यह भी विशेष अर्थ में ण्यत् का ही अपवाद सूत्र है ॥

[स्वामिवैश्ययोः] स्वामी और वैश्य अभिधेय हों तो [अर्य्यः] 'ऋ गतौ' इस धातु से यत् प्रत्यय का निपातन है ॥

जैसे—अर्य्यः स्वामी । अर्यो वैश्यः ॥

'स्वामिवैश्ययोः' ग्रहण इसलिये है कि—आर्यो वैयाकरणः । यहां आर्य्य शब्द श्रेष्ठ का वाचक है, अतः यहां ण्यत् ही होता है ॥

१—वा०—"स्वामिन्यन्तोदा०" स्वामी अभिधेय हो तो 'अर्य्य' शब्द को अन्तोदात्तत्व भी होता है क्योंकि 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त प्राप्त था अतः वार्त्तिक ने अन्तोदात्त निपातन किया ॥ १०३ ॥

१. आ० सू० ९२९ ॥ २ धा०—जुहो०—१६ ॥
३. आख्या० ९२९ सूत्रे वचनमिदम् ॥ (ख) म० ३ । १ । १०३ भाष्ये ॥
४. अ० ६ । १ । २१३ ॥

उपसर्य्या काल्या प्रजने ॥ १०४ ॥

अयमपि ण्यत एवापवादः ॥ उपसर्य्या । १ । १ ॥ काल्या १ । १ । प्रजने । ७ । १ ॥ कालः प्राप्तोऽस्याः सा काल्या । प्रजन इति भावे घञ् । 'प्र' शब्दोऽत्राऽऽदिकर्मणि । आद्य जननं प्रजनस्तस्मिन् । प्रजनेऽर्थे उपसर्य्येति 'सृगतौ'[1] इत्यस्य धातोर्यत् प्रत्ययान्तः स्त्रीलिङ्गः शब्दो निपात्यते काल्या चेत् सा भवति ॥ उपसर्य्या गौः । उपसर्य्या महिषी । उपसर्य्या वृषली ॥

'काल्या प्रजने' इति किम्—उपसार्य्या शरदि [मधुरा] । अत्र—ऋकारान्तत्वाण्ण्यदेव भवति ॥ १०४ ॥

यह भी ण्यत् का अपवाद है ॥

[प्रजने] प्रजनन = प्रथम गर्भ ग्रहण में जो [काल्या] काल्या = समय को प्राप्त हुई, वह अभिधेय हो तो [उपसर्य्या] 'उपसर्य्या' यह 'उप' पूर्वक 'सृ गतौ' धातु से यत् प्रत्ययान्त तथा स्त्रीलिङ्ग में निपातन है ॥

जैसे—उपसर्य्या गौः । उपसर्य्या महिषी । उपसर्य्या वृषली ॥

'काल्या' 'प्रजने' ग्रहण इसलिये है कि—उपसार्य्या शरदि मधुरा, [उपसार्य्या वसन्ते वाटिका ।] यहां ण्यत् ही होता है ॥ १०४ ॥

अजर्यं सङ्गतम् ॥ १०५ ॥

अजर्यम् । १ । १ । सङ्गतम् । १ । १ ॥ सङ्गतमिति 'गत्यर्थाकर्मक॰'[2] इत्यादिसूत्रेण कर्त्तरि क्तः । सङ्गतमित्यस्य कर्त्तृवाचित्वादजर्यमपि कर्त्तर्येव निपात्यते ॥

नञ् पूर्वात् 'जॄष्[3] वयोहानौ' इत्यस्माद्धातोः कर्त्तरि सङ्गतविशेष्ये यत् प्रत्ययो निपात्यते ॥ न जीर्यतीत्यजर्यमार्यसङ्गतम् ॥

'सङ्गतम्' इति किम्—अजरः कम्बलः । अत्र यन्मा भूत् ॥ १०५ ॥

[सङ्गतम्] सङ्गत विशेष्य हो तो [अजर्यम्] नञ् पूर्वक जृष् धातु से कर्त्ता में यत् प्रत्यय का निपातन है ॥

'सङ्गतम्'—इस में 'गत्यर्थाकर्मक॰' इत्यादि सूत्र से कर्त्ता में 'क्त' है, अतः 'सङ्गत' शब्द के कर्त्तावाची होने से 'अजर्यम्' का निपातन भी कर्त्ता में ही है ॥

१. भा॰ सू॰ ९३० ॥ २. धा॰—भ्वा॰—९२० ॥
३. भा॰ सू॰ ९३१ ॥ ४. अ॰ ३ । ४ । ७२ ॥
५. धा॰—दिवा॰—२२ ॥

जैसे—न जीर्यति=अजर्य्यम् । अजर्य्यमार्य्यसङ्गतम् ॥

'सङ्गतम्' ग्रहण इसलिये है कि—अजरः कम्बलः । यहां यत् नहीं होता ॥ १०५ ॥

वदः सुपि क्यप् च[1] ॥ १०६ ॥

गदमदेति सूत्रादनुपसर्गग्रहणमनुवर्त्तते, यदिति च । हलन्ताण्ण्यत्प्राप्तस्तस्यायमपवादः ॥ वदः । ५ । १ । सुपि । ७ । १ । क्यप् । १ । १ । च [अ०] ॥ उपसर्गरहिते सुप्युपपदे वदधातोः क्यप् चकाराद्यच्च प्रत्ययो भवति ॥ ब्रह्मोद्यम् । ब्रह्मवद्यम् । शास्त्रोद्यम् । शास्त्रवद्यम् । अत्र क्यप् पक्षे कित्वात् 'वचिस्वपियजादीनां [किति[3]] इति संप्रसारणम् ।

'सुपि' इति किम्—वाद्यम् ॥ 'अनुपसर्गे' इति किम्—प्रवाद्यम् । अत्र ण्यदेव भवति ॥ १०७ ॥

'गदमद०' इत्यादि सूत्र से 'अनुपसर्ग' पद का अनुवर्त्तन है, यत् का भी । हलन्त होने से ण्यत् प्राप्त था उसका अपवाद है ॥

अनुपसर्ग [सुपि] सुबन्त उपपद हो तो [वदः] वद धातु से [क्यप्] क्यप् [च] और यत् प्रत्यय हो ॥

जैसे—ब्रह्मोद्यम् । ब्रह्मवद्यम् । शास्त्रोद्यम् । शास्त्रवद्यम् । [सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् ।] यहां क्यप् पक्ष में 'वचिस्वपियजादीनां किति' से सम्प्रसारण होता है ॥

'सुपि' ग्रहण इसलिये है कि—वाद्यम् ॥

'अनुपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—प्रवाद्यम् । यहां भी ण्यत् हो ॥ १०६ ॥

भुवो भावे च[4] ॥ १०७ ॥

अनुपसर्गे सुपीत्यनुवर्त्तते, 'यत्' निवृत्तः ॥ भुवः । ५ । १ । भावे । ७ । १ ॥ उपसर्गरहिते सुप्युपपदे भूधातोर्भावे क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ ब्रह्मभूयं प्राप्तः । ब्राह्मणत्वं प्राप्त इत्यर्थः । पाण्डितभूयं प्राप्तः । पाण्डित्यं प्राप्त इत्यर्थः ॥ भावकर्मणोः कृत्या विधीयन्ते तत्राकर्मकाद् भूधातोर्भाव एव क्यप् स्यात् पुनर्भावग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

'सुपि' इति किम्—भव्यम् । 'अनुपसर्ग' इति किम्—प्रभव्यम् । अत्राऽजन्तत्वाद्यदेव भवति ॥ १०७ ॥

यहां 'अनुपसर्ग' और 'सुपि' पदों का अनुवर्त्तन है, यत् निवृत्त हुआ ।

---

१ आ० सू० ९३२ ॥

२. सत्सूद्विष० (अ० ३ । २ । ६१) इत्यादि सूत्रे 'उपसर्गेऽपीति' वचनेन ज्ञाप्यते अन्यत्र सुब्ग्रहण उपसर्गग्रहणं न भवति' इति, तेन 'वदः सुप्यनुपसर्गग्रहणं चोदितं तन्न वक्तव्यं भवति' (अ० ३ । २ । ६१ । भाष्ये) ॥

३. अ० ६ । १ । १५ ॥ ४ आ० सू० ९३३ ॥

अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो [भुवः] 'भू' धातु से [भावे] भाव में क्यप् प्रत्यय हो ॥

जैसे— ब्रह्मभूयं प्राप्तः । देवभूयं गतः । पण्डितभूयं प्राप्तः । अर्थात् ब्राह्मण व देवत्व तथा पण्डितत्व को प्राप्त हुआ ॥

'भावे' ग्रहण अगले सूत्रों के लिये है क्योंकि सत्तार्थक 'भू' धातु के अकर्मक होने से भाव में क्यप् हो ही जाता ॥

'सुपि' ग्रहण इसलिये है कि—भव्यम् ॥ 'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रभव्यम् । यहां दोनों में अजन्त होने से यत् हुआ ॥ १०७ ॥

हनस्त च[1] ॥ १०८ ॥

'अनुपसर्गे-सुपि' इत्यनुवर्त्तते, भाव इति च ॥ हनः । ५ । १ । त । १ । १ । च । अ० ॥ अनुपसर्गे सुप्युपपदे भावेऽर्थे वर्त्तमानाद् हन् धातोः परः क्यप् प्रत्ययो भवति, नकारस्य च तकारः ॥ श्वहत्या वर्त्तते । दस्युहत्या ॥ हन्-धातोः सकर्मकत्वात् कर्मणि क्यप् प्राप्तो भावे विधीयते ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्—प्रघातो वर्त्तते ॥ 'सुपि' इति किम्—घातः ॥ 'भावे' इति किम्—घात्यश्चोरः ॥

१—वा०—*हनस्तश्चित् स्त्रियां छन्दसि*[2] ॥

हन्-धातोर्यः क्यप् प्रत्ययो विधीयते स वेदविषये चित् स्त्रियाम् ॥ तां भ्रूणहत्यां[3] निरवानुचरत्यम् । अस्यै त्वा भ्रूणहत्यायै[4] चतुर्थं प्रतिगृह्यते ॥

'स्त्रियाम्' इति किम्—आघ्नते दस्युहत्याय । अत्र नपुंसकलिङ्गे चित्त्वेनान्तोदात्तत्वं न भवति । अत्र लिङ्गव्यत्ययेन नपुंसकत्वम् । लोके तु नित्य स्त्रीत्वमेव भवति ॥ 'छन्दसि' इति किम्—श्वहत्या, दस्युहत्या वर्त्तते । अत्र चित्स्वरो न भवति ॥ १०८ ॥

'अनुपसर्गे' 'सुपि' और 'भावे' का अनुवर्त्तन है ।

उपसर्गरहित सुबन्त उपपद हो तो [हनः] हन् धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय और 'हन्' को [त च] तकार अन्तादेश हो ॥

जैसे—श्वहत्या । दस्युहत्या । [ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या, गोहत्या ।] हन् धातु के सकर्मक होने से कर्म में क्यप् प्राप्त था सो भाव में विधान किया ॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रघातो वर्त्तते ॥ 'सुपि' ग्रहण इसलिये है कि—घातः ॥ 'भावे' ग्रहण इसलिये है कि—घात्यो वृषलः । घात्यश्चोरः यहां ण्यत् हो ॥

१. आ० सू० ९३४ ॥

२. आ० वा० ९३५ ॥ (म) अ० ३ । १ । १८ भाष्ये ॥

३. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ परन्तु 'भ्रूणहत्याम्' शब्दस्तु तै० ३ । ८ । २० । १ ॥ ९ । १५ । २ ॥ तै० आ० १० । ४९ । १ ॥

४. भ्रूणहत्यायै तै०—३ । ९ । १५ । २ ॥

१—वा०—हनस्तश्चिन्० हन् धातु से जो क्यप् प्रत्यय ['हनस्त च' इससे] विहित है सो वह वेदविषय में चित् हो और स्त्रीलिङ्ग वाची हो ॥

जैसे—तां भ्रूणहत्यां निगृह्यानुचरणम् । अस्यै त्वा भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगृह्यते ॥

'स्त्रियाम्' ग्रहण इसलिये है कि—याघ्नते दस्युहत्याय । यहां नपुंसलिङ्ग में अन्तोदात्त नहीं होना यहां लिङ्गव्यत्यय से नपुंसकत्व होता है, लोक में तो नित्य स्त्रीलिङ्ग ही होता है ॥ 'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि—श्वहत्या । दस्युहत्या वर्त्तते । यहां चित्स्वर नहीं होता ॥१०८॥

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्[1] ॥ १०६ ॥

'अनुपसर्गे-सुपि-भाव' इति सर्वं निवृत्तम् । एति० जुष. । ५ । १ । क्यप् । १ । १ ॥ एत्यादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ एति-स्तु-शासु-वृ द-जुष् । इण्[2] गतौ, ष्टुञ्[3] स्तुतौ, शासु[4] अनुशिष्टौ, वृञ्[5] वरणे, दृङ्[6] आदरे, जुषी[7] प्रीतिसेवनयोः । इत्येवं गणोपदिष्टेभ्य एत्यादिभ्यः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ इत्यः । स्तुत्यः । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः । अत्र चत्वारोऽजन्तास्तेषां क्यपि तुग्भवति । 'शासु' धातोरित्वं, जुषेर्गुणाभाव एव ॥

अजन्तेभ्यो यत् प्राप्तो हलन्ताभ्यां शासिजुषिभ्यां च ण्यत्, तयोरपवादः ॥

क्यबित्यनुवर्तमाने पुनः क्यब्ग्रहणं विशेषण्यद्बाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः अत्र 'ओरावश्यके'[8] इति विशेषबाधको ण्यन्मा भूत् ॥

१—वा०—क्यब्विधौ वृञ् ग्रहणम्[9] ॥

निरनुबन्धक-ग्रहणे सामान्यसानुबन्धकस्य ग्रहणं भवतीति वृङोऽपि क्यप् प्राप्तः स मा भूत् ॥

२—वा०—अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायाम्[10] ॥

---

१. अ० सू० ९३६ ॥　　२. धा०—अदा०—३६ ॥
३. धा०—अदा०—३४ ॥　　४. धा०—अदा०—६५ ॥
५. धा०—स्वादि० ८ ॥　　६. धा०—तुदा०—१२७ ॥
७. धा०—तुदा०—८ ॥　　८. अ० ३ । १ । १२५ ॥

९. निरनुबन्धकस्य 'वृ' धातोरभावात् सामान्येन द्वयोरपि वृङ्वृञोर्ग्रहणे प्राप्ते वार्तिकेन नियमः क्रियते ॥

यत्त्वस्मिन् सूत्रे काशिकाकारेण 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं पठ्यते तद्भाष्यानारूढत्वादुपेक्षितव्यं, 'शंसु' धातो. क्यब्विकल्पस्तु—'प्रशस्यस्य श्रः' (अ० ५ । ३ । ६०) 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (अ० ६ । १ । २१४) सूत्राभ्यां सिध्यत्येव, अन्ययोर्मूलं मृग्यम् ॥

१०. अ० ३ । १ । १०९ भा० ॥ (क) अ० वा० ९३७ ॥

अञ्जूधातोः संज्ञायां क्यप् प्रत्ययो भवति । आज्यं घृतम् । अत्राङ् पूर्वादञ्जू-धातोः क्यप्यनुनासिकलोपः ॥ १०९ ॥

अनुपसर्गे 'सुपि' तथा 'भावे' इन पदों का निवर्त्तन हुआ ॥ सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है ॥

[एतिस्तुशास्वृदृजुषः] इण्-स्तु-शासु-वृ-दृ-जुष् धातुओं से [क्यप्] क्यप् प्रत्यय हो ॥

जैसे—इत्य. । स्तुत्य । शिष्य । वृत्य । आदृत्य । जुष्य ॥ यहां चार [इण्-स्तु-वृ-दृ] धातु अजन्त हैं इन को क्यप् परे तुक् हो जाता है तथा 'शासु' को इत्व और 'जुष' को गुण का अभाव क्यप् परे रहते होता है । अजन्तों से यत् प्राप्त था और शासि तथा जुष् इन हलन्तों से ण्यत्, सो यह इन दोनों का अपवाद है ॥

'क्यप्' इतना पद अनुवर्त्तमान ही था पुन क्यप् के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—अवश्यस्तुत्यः । यहां विशेष अर्थात् आवश्यक अर्थ में वक्ष्यमाण ण्यत् को बाध कर क्यप् ही हो ॥

१—वा०—"क्यब्विधौ वृञ्०" निरनुबन्धक ग्रहण में सामान्य अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो जाने से 'वृङ्' को भी क्यप् प्राप्त था वह न हो इसलिये यह वार्त्तिक है । जैसे—वार्य्या ऋत्विजः । यहां वृङ् धातु से ण्यत् ही होता है ॥

२—वा०—"अञ्जेश्चो०" संज्ञा गम्यमान हो तो 'अञ्जू' धातु से क्यप् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये ॥ अनक्त्यनेनेति आज्यं घृतम् । [यहां करण में क्यप् है ।] यह क्यप् आङ्पूर्वक से ही होता है, क्योंकि महाभाष्य में "आङ्पूर्वस्य प्रयोगो भविष्यति" (अ० ३ । १ । १०९) ऐसा वचन है । यहां आङ्पूर्वक अञ्जू धातु के अनुनासिक का लोप क्यप् को मान कर हो जाता है ॥ १०९ ॥

ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः[1] ॥ ११० ॥

ऋदुपधानां हलन्तत्वाण्ण्यत्प्राप्तः सोऽनेन बाध्यते ॥ ऋदुपधात् । ५ । १ । च [अ०] । अक्लृपिचृतेः । ५ । १ ॥ ऋकार उपधायां यस्य स ऋदुपधस्तस्मात् । ऋदुपधधातोः क्यप् प्रत्ययो भवति क्लृपिचृती धातू वर्जयित्वा ॥ वृत्यम् । वृध्यम् । छृद्यम् । तृद्यम् ॥

'अक्लृपिचृतेः' इति किम्—कल्प्यम् । चर्त्यम् । अत्र ण्यदेव भवति ॥

ऋदिति तपरकरणं[2] किमर्थम्—'कॄत[3] संशब्दने' कीर्त्यम् । अस्माद्दीर्घोपधाण्ण्य-देव भवति ॥ ११० ॥

---

१. धा० सू० ९३८ ॥

२. 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इत्यत्र तपरकरणं दीर्घोपधस्य 'कॄत संशब्दने' इत्यस्य व्यावृत्त्यर्थम्, स च चुरादित्वाण्णिचि सति ऋकारोपध एव न भवति, क्रियते चात्र तपरकरणं तेन णिचोऽनित्यत्वं ज्ञाप्यते, तस्मात् 'कीर्त्तति' इत्यादि च सिध्यति ॥

३. धा०—चुरा०—११२ ॥

ऋकार-उपध धातुओं के हलन्त होने से ण्यत् प्राप्त था सो इस सूत्र से प्रतिषेध करते हैं ॥ [अक्ल्पिचृतेः] क्ल्पि और चृति धातुओं को छोड़ कर [ऋदुपधात्] ऋकारोपध धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता ॥

जैसे—वृत्यम् । वृध्यम् । छृद्यम् । तृद्यम् ॥

'अक्ल्पिचृतेः' ग्रहण इसलिये है कि—कल्प्यम् । चर्त्यम् । कीर्त्यम् । यहां ण्यत् ही होता है ॥ 'ऋकार' तपर इसलिये है कि—कीर्त्यम् । इस में 'कृत संशब्दने' के दीर्घ ऋकार-उपध होने से ण्यत् ही होता है ॥ ११० ॥

ई च खनः[1] ॥ १११ ॥

ण्यतोऽपवादः । ई । १ । १ । च [अ०] । खनः [६ । १ ।] ॥ खन धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति नकारस्य च 'ई' इत्ययमादेशः ॥ खेयम् ॥

आद्गुण[2] इति गुणे कृते खेयमिति सेत्स्यति पुनर्दीर्घ 'ई' कारस्यैतत् प्रयोजनं ह्रस्वे कृते **'षत्वतुकोरसिद्धः'**[3] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात् तुक् प्राप्नोति, क्यपि परतस्तुक् मा भूदिति[4] ॥ १११ ॥

यह भी ण्यत् का अपवाद है ॥ [खनः] खन् धातु से क्यप् प्रत्यय हो और नकार के स्थान में [ई च] 'ई' आदेश हो ॥

जैसे—खेयम् ॥

---

१. आ० सू० ११९ ॥ २. अ० ६ । १ । ८७ ॥

३. अ० ६ । १ । ८६ ॥

४. यदा तु पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धो भवति तदाऽसिद्धत्वाभावे तुगभावः सिद्ध एव, अस्मिन् पक्षे ह्रस्वपाठेऽपि खेयमिति सिध्यत्येव ॥

अत्र भाष्यम् **"नैतदस्ति - पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धो न चैव पदान्तपदाद्योरेकादेशस्तस्मात् 'इ च खनः' इत्येव वक्तव्यम् ॥"**

'ये विभाषा' (अ० ६ । ४ । ४३) इति परसप्तम्यामीत्वस्य बहिरङ्गत्वात् क्यप् सन्नियोगेन ईत्वस्यान्तरङ्गत्वादेव तद्बाधः, इति दीर्घोच्चारणम् । परञ्च—एकपक्षीभूतमिदं भाष्यकारस्य वचनं, कुतः ? **'चड: कर्त्तर्यकि'** (अ० ६ । १ । १९५) इति सूत्रभाष्ये उपदेशवचने जनादीनां स्वरो न सिध्यति —जायते स्वयमेव, जायते स्वयमेव, इत्याद्युक्तं, तत्र वार्त्तिकविधानं **'ये विभाषा'** (अ० ६ । ४ । ४३) इत्यत्र विषयसप्तम्यामाश्रीयमाणायां सम्भवति न तु परसप्तम्याम्, अन्यथा परसप्तम्यां 'जायते स्वयमेव' इत्यादावजन्तानां यकि स्वरप्राप्तिरेव नास्ति, कुतः वार्त्तिकविधानम् ?, विषयसप्तम्यन्त्वात्वस्यान्तरङ्गत्वात् तद्बाधनार्थं दीर्घोच्चारणं कल्प्येत ॥

यद्वा—व्यवस्थितविभाषाया आश्रीयमाणत्वात्, विधानसामर्थ्याद्वा, ह्रस्वविधानमपि सर्वेष्टसाधकम् ॥

सेयम्—यहां 'आद्गुणः' इससे पूर्वापर के स्थान में गुण एकादेश करने पर 'सेयम्' ऐसा रूप सिद्ध हो जाता, पुनः सूत्र में दीर्घ ईकार का यह प्रयोजन है कि यदि ह्रस्व 'इ' ऐसा पढ़ते तो 'षत्वतुकोरसिद्धः' इससे एकादेश के असिद्ध हो जाने से क्यप् पर तुक् प्राप्त था, वह तुक् न होवे इस लिये दीर्घोच्चारण किया है ॥ १११ ॥

भृञोऽसंज्ञायाम्[1] ॥ ११२ ॥

ऋकारान्तत्वाण्ण्यतोऽपवादः । भृञः । ५ । १ । असंज्ञायाम् । ७ । १ ॥ असंज्ञायां विषये भृञ् धातोः परः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ भृत्याः प्रेष्याः । ह्रस्वस्य पिति क्यपि तुगागमः ॥

'असंज्ञायाम्' इति किम्—भार्य्या नाम क्षत्रियाः । अत्र केषाञ्चित् क्षत्रियाणां भार्य्यसंज्ञा तत्र ण्यदेव भवति ।

का०—संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्य्या प्रसिद्ध्यति ।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्य्या प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥
अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति तत्स्मृतम् ।
यथा यत्यं यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा[2] ॥ २ ॥

संज्ञायां क्यपः प्रतिषिद्धत्वाण्ण्यद्भवति तत्र क्षत्रियवाची भार्य्यशब्दः पुंल्लिङ्गो दृश्यते, अतस्तेनैव भार्य्या शब्दो न सिध्यति । वैयाकरणौ परस्परं वदतः—'**स्त्रियां क्तिन्**[3]' इति प्रकरणे '**संज्ञायां समज०**[4]' इति सूत्रे भावग्रहणमनुवर्त्तते, कर्मसाधनश्चा[यं] भार्य्या शब्दः अतः स्त्रीप्रकरणेऽपि भार्य्या शब्दो न सिध्यति ॥ १ ॥

भाववाची तु भृत्याशब्दः स्त्रीप्रकरणे सिध्यत्येव । अथवा '**कृत्यल्युटो बहुलम्**[5]' इति सूत्रेण बहुलं कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया भवन्ति । तेनाऽत्र भार्य्या शब्दे स्त्रीलिङ्गेऽपि ण्यद्भविष्यति । यथा 'यत्यम्' 'जन्यम्' इत्यत्राजन्ताद्विधीयमानो यद् बहुलग्रहणाद् भवति, तथा भावाधिकारे '**षिद्भिदादिभ्योऽङ्**[6]' इति अङ्-विषये भित्ति-शब्दे बहुलग्रहणात् क्तिन् दृश्यते, एवं क्यप्प्रसङ्गे भार्य्याशब्देऽपि बहुलवचनादेव ण्यद् भविष्यति ॥ २ ॥

१—वा०—समश्च बहुलमुपसंख्यानम्[7] ॥

'सम्' पूर्वाद् 'भृञ्' धातोर्बहुलं क्यप्ण्यतौ भवतः । सम्भृत्या एव संभाराः । सभार्या एव सभाराः ॥ ११२ ॥

---

१. अष्टा० सू० ९४० ॥ २. म० ३ । १ । ११२ भा० ॥
३. अ० ३ । ३ । ९४ ॥ ४. अ० ३ । ३ । ९९ ॥
५. अ० ३ । ३ । ११३ ॥ ६. अ० ३ । ३ । १०४ ॥
७. म० ३ । १ । ११२ भा० ॥

ऋकारान्त होने से ण्यत् का अपवाद है।

[असंज्ञायाम्] असंज्ञा विषय में [भृञः] भृञ् धातु से क्यप् प्रत्यय हो॥

जैसे—भृत्याः प्रेष्याः। भृत्याः कर्मकराः॥ यहां 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (अ० ६। १। ७१) इस सूत्र से क्यप् परे रहने पर तुक् आगम हो जाता है॥

'असंज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि भार्य्या नाम क्षत्रियाः॥ यहां 'भार्य्य' किन्हीं क्षत्रियों का नाम है इसलिये यहां ण्यत् ही होता है॥

का०—संज्ञायां पुंसि०·················॥ १॥
अथवा बहुलं कृत्याः२···········॥ २॥

संज्ञा विषय में क्यप् के प्रतिषेध होने से 'भार्य्या नाम क्षत्रियाः' यहां पर क्षत्रियवाची भार्य्य शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग में देखा जाता है, इसलिये स्त्रीलिङ्ग में 'संज्ञायां समज०' इस सूत्र से क्यप् प्रत्यय हो जाने पर संज्ञावाची भार्य्या शब्द सिद्ध नहीं होता ?। इसका उत्तर यह है कि—'संज्ञायां समज०' इस सूत्र में भाव का अनुवर्त्तन होने से क्यप् प्रत्यय भाव में ही होगा और भार्य्या शब्द में कर्म में प्रत्यय है, इसलिये 'ऋहलोर्ण्यत्' इससे ण्यत् हो जायगा। अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र में बहुल ग्रहण से, जैसे 'जन्यम्' 'यत्यम्' यहां पर अजन्त धातु से विहित यत् प्रत्यय हलन्तों से और "भित्ति" शब्द में 'भिद' धातु से 'अङ्' न होकर क्तिन् ही होता है, वैसे ही 'संज्ञायां समज०' इसमें भावाधिकार न होने पर भी क्यप् न होकर ण्यत् ही होता है॥११२॥

मृजेर्विभाषा[1] ॥ ११३ ॥

प्राप्तविभाषेयम्॥ 'ऋदुपधाच्च०'[2] इति ण्यतोऽपवादः क्यप् नित्यं प्राप्तोऽनेन विभाष्यते॥ मृजेः। ५। १। विभाषा [अ०]॥ 'मृजूष् शुद्धौ'[3] इत्यस्माद् धातोः विकल्पेन क्यप् प्रत्ययो भवति पक्षे ण्यदेव॥ परिमृज्यः। परिमार्ग्यः। अत्र ण्यति[4] वृद्धिकुत्वे भवतः॥ ११३॥

यह सूत्र प्राप्तविभाषा है। 'ऋदुपधाच्चा०' इत्यादि सूत्र से ण्यत् का अपवाद क्यप् नित्य प्राप्त था उसका यहां विकल्प कहा॥

[मृजेः] मृजूष् धातु से [विभाषा] विकल्प करके क्यप् प्रत्यय हो पक्ष में ण्यत् भी हो॥

जैसे—परिमृज्यः। परिमार्ग्यः॥ ण्यत् पक्ष में 'मृजेर्वृद्धिः' (अ० ७। २। ११४) इस सूत्र से वृद्धि तथा 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (अ० ७। ३। ५२) से कुत्व होता है॥ ११३॥

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः[4] ॥ ११४ ॥

राजसूयसूर्य० व्यथ्याः। १। ३॥ क्यप्‌ण्यतोरपवादः॥

१. आ० सू० ९४२॥ २. अ० ३। १। ११०॥
३. धा०—अदा०—५६॥ ४. आ० सू० ९४४॥

राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्य-अव्यथ्य इत्येते शब्दाः क्यप् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । राजसूयेति राज-शब्दपूर्वात् [षुञ् अभिषवे[1]] इत्यस्माद् धातोः क्यप्, राजा सोतव्यो राजसूयो नाम यज्ञः ।। सूर्येति द्वाभ्यां धातुभ्यां कर्त्तरि क्यप् निपात्यते । 'सृ गतौ'[2] इत्यस्माद् धातोः क्यपि परत उत्वम् । अथवा 'षू प्रेरणे'[3] इत्यस्मात् क्यपि रुडागमः । सरति निरन्तरं लोकैः सह गच्छति स सूर्यः, अथवा कर्माणि सुवति प्रेरयतीति स सूर्यः ।। मृषोद्येति मृषोपपदाद् वदधातोः क्यप् 'वदः सुपि०'[4] इति यत्क्यपोः प्राप्तयोः मृषोपपदात् क्यबेव स्यादिति निपातनम्-मृषोद्यं वाक्यम् ।। रुच्येति ण्यतोऽपवादो रुच-धातोः कर्त्तरि क्यप् । रोचतेऽसौ रुच्यः ।। कुप्यमिति गुपधातोः संज्ञायां क्यप् । गकारस्य च कादेशो निपात्यते, कुप्यं संज्ञा चेत् । अन्यत्र गोप्यम् ।। कृष्टपच्या इति कृष्टोपपदात् पच-धातोः कर्मकर्त्तरि क्यप् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव । **कृष्टपच्याश्च मे**[5] ।। अव्यथ्येति नञ् पूर्वात् व्यथधातोः कर्त्तरि क्यप्, न व्यथत इत्यव्यथ्यः ।।

भा०—वा०—सूर्यरुच्याव्यथ्याः कर्त्तरि[6] ।। एते त्रयः शब्दा अत्र कर्त्तरि निपात्यन्ते ।।

२—वा—कुप्य संज्ञायाम्[6] ।। गोप्यमन्यत् ।।

३—वा०—कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वञ्च कर्मकर्त्तरि[6] ।।

कृष्टपच्य-शब्दस्य क्यबन्तत्वादन्तोदात्तत्वमप्राप्तं विधीयते । **यो हि कृष्टे पक्तव्यः स कृष्टपाक्यो भवति ।** अत्र कर्मकर्त्तुरभावाण्ण्यदेव भवति । अन्यत् सर्वं व्याख्यानं महाभाष्यानुसारेणैव पूर्वं कृतम् ।। ११४ ।।

यह ण्यत् और यत् का अपवाद है ।।

[राजसूयसूर्य० अव्यथ्याः] राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्य-अव्यथ्य ये क्यप् प्रत्ययान्त निपातन हैं ।।

जैसे राजा सोतव्यो राजसूयो नाम यज्ञः । यहां राज शब्दपूर्वक 'षुञ्' धातु से क्यप् प्रत्यय का निपातन है ।। सरति निरन्तरं लोकैः सह गच्छति स सूर्यः, अथवा कर्माणि सुवति प्रेरयति स सूर्यः । यहां दो धातुओं से कर्त्ता में क्यप् निपातन है । 'सृ गतौ' वा 'षू प्रेरणे' धातु से क्यप् प्रत्यय और सृ को 'उकार' अन्त आदेश होता है अथवा 'र' को रुट् का आगम निपातन है ।। मृषा उद्यत इति मृषोद्यम् । यहां 'मृषा' उपपद 'वद' धातु से 'वद सुपि क्यप् च' से यत् और क्यप् की प्राप्ति में क्यप् का निपातन है अर्थात् 'मृषा' उपपद होने पर 'वद' धातु से क्यप् ही हो जैसे — मृषोद्यं वाक्यम् ।। रोचतेऽसौ रुच्यः । यहां 'रुच' धातु से ण्यत् का अपवाद कर्त्ता में क्यप्

१. धा०—स्वा०—१ ।। २. धा० भ्वा०—९२० ।।
३. धा०—तुदा०—१२८ ।। ४. अ० ३ । १ । १०६ ।।
५. यजु० १८ । १४ ।। ६. अ० ३ । १ । ११४ भा० ।।

निपातन है ॥ कुप्यम् । यहां संज्ञा में 'गुप' धातु से क्यप् तथा ककार का निपातन है ॥ अन्यत्र 'गोप्यम्' होगा ॥ कृष्टे स्वयमेव पच्यन्त इति कृष्टपच्याः । यहां कृष्ट उपपद होने पर कर्मकर्त्ता में 'पच्' से क्यप् का निपातन है ॥

जैसे —कृष्टपच्याश्च मे ॥ कर्मकर्त्ता से भिन्न—यो हि कृष्टे पक्तव्यः 'कृष्टपाक्य' ऐसा बनेगा ॥ न व्यथत इति अव्यथ्यः । यहां नञ् पूर्वक व्यथ' से कर्त्ता में क्यप् निपातन है ॥ "सूर्य-रुच्याव्यथ्याः कर्त्तरि । कुप्य संज्ञायाम् । कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वञ्च कर्मकर्त्तरि ॥" भाष्य के उपर्युक्त वचन तथा वार्त्तिकों से सूर्य-रुच्य-अव्यथ्य इन शब्दों का कर्त्ता में निपातन होता है, 'कुप्यम्' संज्ञा में होता है, अन्यत्र 'गोप्यम्' होता है । 'कृष्टपच्य' में अन्तोदात्तत्व और कर्मकर्त्ता अर्थ भी निपातन से होता है । कृष्टपच्य शब्द के क्यबन्त होने से अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति नहीं थी सो अन्तोदात्त विधान किया । कर्म में —'कृष्टपाक्यः' ऐसा बनता है यहां कर्मकर्त्ता के न होने से ण्यत् ही होता है । शेष सब व्याख्यान महाभाष्य के अनुसार कर ही चुके हैं ॥ ११४ ॥

भिद्योद्ध्यौ नदे[1] ॥ ११५ ॥

भिद्योद्ध्यौ । १ । २ । नदे । ७ । १ ॥ नद-शब्दो नदीपर्य्यायः पुल्लिङ्गः ॥ भिद्योद्ध्यौ शब्दौ नदे वाच्ये क्यप् प्रत्ययान्तौ कर्त्तरि निपात्येते ॥ भिद्य इति भिद्[2] धातोः कर्त्तरि क्यप् । कूलानि भिनत्तीति भिद्यः । उद्ध्य इति 'उन्दी क्लेदने'[3] इत्यस्मात् कर्त्तरि क्यप् । निपातनाद् दकारस्य धत्वमनुनासिकलोपश्च । उनत्ति क्लिन्दति तटानि स उद्ध्यो नदः । अथवा 'उज्झ उत्सर्गे'[4] इत्यस्मात् क्यपि झकारस्य धत्वम् । उज्झति उत्सृजति जलानीत्युद्ध्यो नदः ॥

'नदे' इति किम्—भेत्ता । उन्दिता । अत्र कर्त्तरि तृजेव भवति ॥ ११५ ॥

नद शब्द नदी का पर्य्यायवाची पुल्लिङ्ग है ॥ [नदे] नद अभिधेय हो तो [भिद्योद्ध्यौ] भिद्य-उद्ध्य ये क्यप् प्रत्ययान्त कर्त्ता में निपातन हैं ॥

जैसे—भिनत्ति कूलमिति भिद्यः । भिद् धातु से कर्त्ता में क्यप् है । उनत्ति क्लिन्दति तटानि स उद्ध्यो नदः । यहां 'उन्दी क्लेदने' से कर्त्ता में क्यप् तथा दकार को धकार और अनुनासिक का लोप निपातन से है । अथवा 'उज्झ उत्सर्गे' से भी कर्त्ता में क्यप् झकार को धकार निपातन से होकर 'उद्ध्यः' ऐसा बनता है । उज्झति उत्सृजति जलानि इति उद्ध्यो नदः ॥

'नदे' ग्रहण इसलिये है कि—भेत्ता-उन्दिता । यहां कर्त्ता में तृच् ही होता है ॥ ११५ ॥

पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे[5] ॥ ११६ ॥

पुष्यसिद्ध्यौ । १ । २ । नक्षत्रे । ७ । १ ॥ नक्षत्रस्य कालेन सह युक्तत्वादधि-करणमत्र लभ्यते ॥ नक्षत्रे वाच्ये पुष्यसिद्ध्यशब्दौ क्यबन्तावधिकरणे निपात्येते ॥

1. अ० सू० ९४५ ॥ 2. धा०—रुधा०—२० ॥
3. धा०—तुदा०—२८ ॥ 4. अ० सू० ९४६ ॥

पुष्यन्त्यस्मिन् कार्य्याणि स पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन् कार्य्याणि स सिद्ध्यः, नक्षत्रम् ॥ 'नक्षत्रे' इति किम् पोषणम् । सेधनम् । अत्र '**करणाधिकरणयो [श्च**[1]]' इत्यधिकरणे ल्युडेव भवति ॥ ११६ ॥

नक्षत्रे] नक्षत्र अभिधेय हो तो [**पुष्यसिद्ध्यौ**] पुष्य, सिद्ध्य ये अधिकरण में निपातन हैं। नक्षत्र का काल के साथ सम्बन्ध होने से यहां अधिकरण में निपातन है ऐसा समझना चाहिये ॥

जैसे पुष्यन्त्यस्मिन् कार्य्याणीति स पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन् कार्य्याणीति स सिद्ध्यः । नक्षत्रम् ॥

'नक्षत्रे' ग्रहण इसलिये है कि—पोषणम् । सेधनम् । यहां 'करणाधिकरणयोश्च' से अधिकरण में ल्युट् ही होता है ॥ ११६ ॥

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु[2] ॥ ११७ ॥

विपूयविनीयजित्या । १ । ३ । मुञ्जकल्कहलिषु । ७ । ३ ॥ यतोऽपवादः । विपूय इति विपूर्वात् '**पूञ् पवने**[3]' इत्यस्माद्धातोः क्यप्, विपूर्वान्नयतेः क्यप्, '**जि जये**[4]' इत्यस्माच्च क्यप् ॥ विपूयविनीयजित्या इति क्यप् प्रत्ययान्ता मुञ्जकल्कहलिषु यथासङ्ख्यं निपात्यन्ते ॥ विपूयो मुञ्जः । विपव्यमन्यत् । विनीयः कल्कः । विनेयमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ॥ यत्र मुञ्जादयोऽर्था न सन्ति तत्राजन्तत्वाद् यदेव भवति ॥ ११७ ॥

यह यत् का अपवाद है ॥

[**मुञ्जकल्कहलिषु**] मुञ्ज-कल्क-हलि इन अर्थों में [**विपूयविनीयजित्याः**] विपूय, विनीय, जित्य ये शब्द यथासंख्य निपातन हैं ॥

विपूर्वक 'पूञ्', विपूर्वक 'णीञ्' तथा 'जि जये' से क्यप् प्रत्यय निपातन है। जैसे—विपूयः-मुञ्जः । रज्वादि कर्म के लिये शोधने योग्य है। अन्यत्र विपव्यम् ॥ विनेतु योग्यो विनीयः-कल्कः । अन्यत्र 'विनेयम्' ॥ जित्यः—हलिः ॥ अन्यत्र जेयम् ॥ ११७ ॥

प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः[5] ॥ ११८ ॥

हलन्तत्वाण्ण्यतोऽपवादः ॥ 'क्यप्' इत्यनुवर्त्तते ॥ प्रत्यपिभ्याम् । ५ । २ । ग्रहेः । ५ । १ ॥

१—वा०—प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि[6] ॥

प्रति-अपि —इत्युपसर्गद्वयपूर्वाद् ग्रहधातोश्छन्दसि-वेदविषये क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ अनृतस्य न प्रतिगृह्यम्[7] । अनृतं हि मत्तो वदति तस्मान्नापिगृह्यम्[8] ॥ अत्र प्रतिगृह्यमपिगृह्यमिति वैदिकौ प्रयोगौ ॥

---

१. अ० ३ । ३ । ११७ ॥ २ आ० सू०—९४७ ॥
३. धा०—क्र्या०—१० ॥ ४. धा०—भ्वा०—५५२ ॥
५. आ० सू० ९४८ ॥ ६. अ० ३ । १ । ११८ वा० ॥
७. तै० ब्रा० १ । ३ । २ । ७ ॥ ८. का० सं० १४ । ५ ॥

'छन्दसि' इति किम्—प्रतिग्राह्यमपिग्राह्यम् । अत्र ण्यदेव ॥ ११८ ॥

हलन्त होने से ण्यत् का अपवाद है ॥ क्यप् की अनुवृत्ति आ रही है ॥

[प्रत्यपिभ्या] प्रति और अपि से परे [ग्रहेः] 'ग्रह' धातु से क्यप् प्रत्यय हो [छन्दसि] वेदविषय में ॥

जैसे मत्तस्य न प्रतिगृह्यम् । अनृतं हि मत्तो वदति तस्मान्नापिगृह्यम् ॥ यहां 'प्रतिगृह्य' और 'अपिगृह्य' यह दोनों वैदिक प्रयोग हैं ॥

१-वा०-"प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि" इस वार्त्तिक से छन्द में निपातन हैं ॥ 'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि—भाषा में प्रतिग्राह्यम् । अपिग्राह्यम् । यहां ण्यत् हो जाता है ॥ ११८ ॥

पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च[1] ॥ ११९ ॥

ण्यत एवापवादः ॥ पदा० पक्ष्येषु । ७ । ३ ॥ च [अ०] ॥ पदम्, सुबन्तम् । स्वैरी स्वतन्त्रस्तत्प्रतिषेधः परतन्त्रः । बाह्या बहिर्भूताः । पक्षे भवः पक्ष्यस्तस्मिन् दिगादि[2]त्वाद्यत् ॥ पदादिषु चतुर्षु वाच्यार्थेषु ग्रहधातोः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ प्रगृह्यं पदम् । यस्य पदस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ अस्वैरीति वाच्यार्थस्य कर्त्तृत्वात् कर्त्तर्येव क्यप् । प्रतिगृह्योऽयं ब्राह्मणः । परतन्त्रो याचनप्रतिग्रहेण जीवति ॥ ग्रामगृह्या सेना । ग्रामाद्बहिर्भूतेत्यर्थः ॥ युधिष्ठिरगृह्या राजानः । तत्पक्षाश्रिता इत्यर्थः । क्यपः कित्वात् सर्वत्र संप्रसारणम् ॥ ११९ ॥

यह सूत्र भी ण्यत् का ही अपवाद है ॥ पद से यहां सुबन्त का ग्रहण है 'अस्वैरि' शब्द परतन्त्र का वाचक है । 'बाह्या' शब्द का अर्थ बहिर्भूत है । पक्ष में होने वाला 'पक्ष्य' कहाता है । इसमें 'दिगादिभ्यो यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय होता है ॥

[पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु] पदादि चार वाच्यार्थ अभिधेय हों तो [च] भी ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रगृह्य पदम् । जिस पद की कि प्रगृह्य संज्ञा की है । 'अस्वैरि' इस वाच्यार्थ के कर्त्ता में होने के कारण यहां क्यप् भी कर्त्ता में ही है । 'प्रतिगृह्योऽयं ब्राह्मणः' परतन्त्र है, क्योंकि भिक्षावृत्ति तथा दान से जीता है ॥ 'ग्रामगृह्या सेना' अर्थात् सेना ग्राम से बाहर है ॥ 'युधिष्ठिरगृह्या राजानः' अर्थात् युधिष्ठिर के पक्ष वाले हैं ॥ यहां क्यप् के कित् होने से सर्वत्र [ग्रहिज्या० ६ । १ । १६] इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है ॥ ११९ ॥

विभाषा कृवृषोः[3] ॥ १२० ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् ॥ कृधातोर्ऋकारान्तत्वात् 'ण्यत्' प्राप्तस्तत्राप्राप्तविभाषा । वृषधातोर्ऋदुपधत्वात् क्यप् नित्यं प्राप्तस्तत्र [प्राप्त] विभाषा ॥ विभाषा [अ०]

१ आ० सू० ९४९ ॥ २ अ० ४ । ३ । ५४ ॥

३. आ० सू० ९५० ॥

कृवृषोः । ६ । २ ।। कृवृषधातुभ्यां विकल्पेन क्यप् प्रत्ययो भवति पक्षे ण्यदेव ।। कृत्यम् । कार्य्यम् । वृष्यम् । वर्ष्यम् ।। ण्यत् पक्षे वृद्धिगुणौ, क्यपि तुगागमो गुणाभावश्च ।।१२०।।

यह 'प्राप्ताप्राप्तविभाषा' है । क्योंकि 'कृ' धातु के ऋकारान्त होने से ण्यत् प्राप्त था, वहां अप्राप्त क्यप् को विकल्प से कहा, तथा 'वृष' धातु के ऋकार उपधा में होने से क्यप् नित्य प्राप्त था वहां प्राप्त को विकल्प से कहा ।।

[कृवृषोः] कृ तथा वृष धातु से [विभाषा] विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है, पक्ष में ण्यत् होता है ।।

जैसे—कृत्यम् । कार्य्यम् । वृष्यम् । वर्ष्यम् । ण्यत् पक्ष में वृद्धि तथा गुण होते हैं । क्यप् परे 'तुक्' का आगम तथा गुण का अभाव होता है ।। १२० ।।

युग्यं च पत्रे[1] ।। १२१ ।।

हलन्ताण्ण्यत् प्राप्तः स बाध्यते । युग्यम् । १ । १ । च [अ०] पत्रे । ७ । १ ।। पतति गच्छत्यनेन तत्पत्रं वाहनम् ।। पत्रे वाच्ये युग्यमिति युजधातोः क्यप्, जकारस्य च कुत्वं निपात्यते ।। योक्तुमर्हो युग्यो हस्ती । युग्यो बलीवर्दः । युग्योऽश्वः ।। तद्धितेऽप्ये[2]-तत् सिध्यति—युगं वहतीति युग्यः ।। 'पत्रे' इति किम्—योग्यं पठनम् । अत्र ण्यदेव भवति ।। १२१ ।।

हलन्त होने से ण्यत् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ।। 'पत्रम्' शब्द का अर्थ वाहन है ।।

[पत्रे] पत्र=वाहन अभिधेय हो तो [युग्यम्] युज धातु से क्यप् और जकार को कुत्व का निपातन होता है ।।

जैसे—योक्तुमर्हो युग्यो हस्ती । युग्यो बलीवर्दः । युग्योऽश्वः । तद्धित में भी 'युग्यम्' सिद्ध होता है ।। जैसे—युगं वहतीति युग्यः ।।

'पत्रे' ग्रहण इसलिये है कि—योग्यं पठनम् । यहां ण्यत् ही होता है ।। १२१ ।।

अमावस्यदन्यतरस्याम्[3] ।। १२२ ।।

अमावस्यत् । १ । १ । अन्यतरस्याम् [अ०] । अप्राप्तविभाषेयम् । ण्यति परतो नित्यं वृद्धिः प्राप्ता विकल्प्यते ।। अमापूर्वात् कालेऽधिकरणे वर्त्तमानाद् 'वस' धातोर्ण्यति परतो विभाषा वृद्ध्यभावो भवति ।। अमावसत्यन्तर्धत्ते चन्द्रोऽस्मिन् काले—अमावस्या । अमावास्या ।।

का०—अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।
तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिध्यति[4] ।। १ ।।

---

१. भा० सू० ९५१ ।।

२. 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (अ० ४ । ४ । ७६) इति यत्, युगं वहतीति युग्यः ।।

३. भा० सू० ९५२ ।।   ४. अ० ३ । १ । १२२ भा० ।।

ण्यतोऽपि प्रत्ययान्तयोरमावसोर्हं ण्यत्प्रत्यययोरमावस्याऽमावास्याशब्दयोरनेन सूत्रेण वृद्ध्यभावाऽभावौ निपातयामि । तथैवकरणेन तयोः शब्दयोरेकस्य कार्य-मुच्यमानं द्वयोरपि भविष्यति । अर्थात् '**अमावास्याया वा**'[1] इति तद्धितप्रत्ययविधानेऽ-मावास्याग्रहणेनामावस्याशब्दादपि तद्धितोत्पत्तिः स्यात् । यद्यमावस्या शब्दो यदन्तः स्यात्तर्हि प्रत्ययान्तरेण शब्दान्तरत्वात् '**एकदेशविकृतमनन्यवद्[भवति[2]]**' इति परिभाषायाः प्रवृत्तिरेव न स्यात्, यदि चामावस्या शब्दो यत् स्यात् तर्हि [उत्तरपद-प्रकृतिस्वरत्वे '**यतोऽनावः**'[3] इत्याद्युदात्तत्वं स्यात्, इष्यते च द्वयोः शब्दयोरन्त-स्वरितत्वं । ण्यति कृते '**तित्स्वरितम्**'[4] इत्युभयत्र स्वरितत्वं सिध्यति ॥ १२२ ॥

यह 'अप्राप्त विभाषा' है ॥ ण्यत् परे नित्य वृद्धि प्राप्त थी उसका विकल्प किया है ॥

'अमा' पूर्वक 'वस' अधिकरण में वर्तमान 'वस' धातु से ण्यत् परे रहते विकल्प से वृद्धि का अभाव निपातन है ॥

जैसे—अमावसतश्चन्द्रार्कावस्मिन् काले—**अमावस्या** ।, **अमावास्या** ॥

का०—**अमावसोरहं ण्यतो॰ ... ... मे प्रसिद्ध्यति** ॥ १ ॥

ण्यत् प्रत्ययान्त अमावस्या, अमावास्या, शब्दों में इस सूत्र से मैं वृद्धि का अभाव विकल्प करके निपातन करता हूं । ऐसा करने से इन दोनों में किसी एक को भी कहा हुआ काम दोनों को ही हो जायगा । जैसे— 'अमावास्याया वा' यहां तद्धित 'वुन्' प्रत्यय के विधान में अमावास्या ग्रहण से अमावस्या शब्द से भी तद्धित की उत्पत्ति हो जाती है । यदि अमावस्या शब्द यत् प्रत्ययान्त ही हो तो प्रत्ययान्तर होने के कारण शब्दान्तर होने से यहां 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती तथा यह भी कारण है कि—यदि अमावस्या शब्द यत् प्रत्ययान्त ही हो तो उत्तरपदप्रकृतिस्वर में 'यतोऽनावः' से उत्तरपदाद्युदात्तस्वर ही होगा, परन्तु इन दोनों प्रयोगों में अन्त स्वरित ही इष्ट है सो ण्यत् करने पर ही 'तित्स्वरितम्' सूत्र से दोनों स्थान में स्वरितत्व हो जाता है ॥ १२२ ॥

छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्य-खन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ता-व्योपचाय्यपृडानि[5] ॥ १२३ ॥

छन्दसि । ७ । १ । निष्टर्क्य॰ पृडानि । १ । ३ ॥ छन्दसि वेदविषये निष्टर्क्यादयः शब्दा निपात्यन्ते ॥

१. अ० ४ । ३ । ३० ॥　　　　२. अ० ४ । १ । ८३ भा० ॥ पा० ३७ ॥
३. अ० ६ । १ । २१३ ॥　　　　४. अ० ६ । १ । १८५ ॥
५. आ० सू० ९५३ ॥

अथ द्वाभ्यां कारिकाभ्यां निष्टर्क्यादिशब्देषु निपातनानि प्रदर्श्यन्ते महाभाष्य-कारेण—

निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात् ।
ण्यदायादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ ॥ १ ॥

ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः ।
ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः[1] ॥ २ ॥

निष्टर्क्यशब्दे निस्पूर्वात् '**कृती छेदने**'[2] इत्यस्माद्धातोर्ण्यत् । आद्यन्तविपर्ययस्त-कारस्थाने ककारः, ककारस्थाने तकारश्च, निस उपसर्गस्य सकारस्य निपातनान्मूर्द्धन्य आदेशः, एवं निष्टर्क्यसिद्धिः । **ण्यदेकस्मादिति** निष्टर्क्यशब्देऽस्ति[3] । अत्र कृती धातोर्हलन्तत्वाण्ण्यत् प्राप्त एवान्यानि कार्य्याणि निपातनाद् भवन्ति ॥ **चतुर्भ्यः क्यप्**—देवपूर्वो ह्वेञ्-प्रपूर्वक-उत्पूर्वकश्च णीञ्, उत्पूर्वकः शासुः इत्येतेभ्यश्चतुर्भ्यः क्यप् प्रत्ययो निपात्यते । देवहूय[4]—अत्र कित्वात् सम्प्रसारणम्[5] । प्रणीय[6] । उन्नीयः[7] । उच्छिष्य[8] ॥ **चतुर्भ्यश्च यतो विधिः—'मृङ्[9] प्राणत्यागे' 'स्तृञ्[10] आच्छादने' 'ध्वृ[11] हूर्च्छने' 'खनु[12] अवदारणे'** इति चतुर्भ्यो यत् प्रत्ययो निपात्यते । मर्य्यः[13] । स्तर्य्या[14] । ध्वर्य्यः । खन्य । इति चत्वारो यदन्ताः । **ण्यदेकस्मात्**—एकस्मात् खनधातोर्ण्यदपि भवति । खान्यः, इत्येको ण्यदन्तः ॥ **य-शब्दश्च**—एकस्मात् पुनर्यत् । देवोपपदाद्

१. अ० ३ । १ । १२३ भा० मा० ६ ॥ २. धा०—तुदा०—१४१ ॥
३ ऐत० ब्रा० ५ । १ । ३ ॥
४. श०—२ । १ । ३ ॥ का० श०—१ । १ । ३ । १ ॥
५. अ० ६ । १ । १५ ॥
६ श० ३ । १ । ३ । १ ॥ का० श० ४ । १ । १ । १४ । तै० ३ । ४ । ८ । १ । २ ११ । ९ । ९ ॥ तै० १ । २२ । ९ । २६ ॥ १ । २ । १८ । १ ॥ गो० १ । ३ । १४ ॥
७ श०—४ । ३ । ५ । १९ ॥ १२ । ४ । २ । ८ ॥
८. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ ९. धा०—तुदा०—११९ ॥
१०. धा० क्र्या०—१२ ॥ ११. धा० भ्वा०—९५४ ॥
१२ धा०—भ्वा०—८६७ ॥ १३. तै० २ । ८ । ७ । १ ॥
१४ स्तर्या इत्यस्य यत्प्रत्ययान्तस्य स्त्रीलिङ्गे निपातनमतन्त्रम् । तथा हि **स्तर्य्यां भूत्वा स्तर्य्यान्निपत्नात्** (श० २ । २ । २ । १० ।) इत्यत्र पुंल्लिङ्गे यत्प्रत्ययान्तस्य प्रयोगो दृश्यते ।

यजधातोर्यन्निपात्यते । देवयज्या[1], इति स्त्रीलिङ्गे यदन्त एक. ।। **द्वौ क्यपौ**—प्रच्छ[2] ज्ञीप्सायाम्, षिवु[3] तन्तुसन्ताने, आङ्पूर्वात् प्रच्छेः, प्रतिपूर्वाच्च सीव्यतेः क्यप् प्रत्ययो निपात्यते । आपृच्छ्यः[4] । प्रतिषीव्यः● । इति द्वौ क्यबन्तौ ।। **ण्यद्विधिश्चतुः**— ब्रह्मपूर्वाद् वदधातोर्ण्यत् । ब्रह्मवाद्यः[5] । भूस्तुभ्यां ण्यत् । भाव्य ● । स्ताव्यः ।। उपपूर्वाच्चिञ् धातोर्ण्यद् वृद्धौ कृतायामायादेशश्च निपातनात् । उपचाय्यपृड[6] हिरण्यम् ।।

१—वा०—हिरण्य इति च वक्तव्यम्[7] ।

उपचेयपृडमित्येवान्यत्र । यदा हिरण्यवाची उपचाय्यपृडशब्दस्तदा निपातनमन्यथा यदेव भवति ।। १३३ ।।

[छन्दसि] वेद विषय में [निष्टर्क्यदेव० पृडानि] निष्टर्क्यादि शब्द निपातन किये हैं ।।

इन में किस में क्या क्या निपातन है सो यह कारिकाओं से महाभाष्यकार स्पष्ट दर्शाते हैं—

का०—निष्टर्क्ये व्यत्य० ... . निपातितौ ।। १ ।।
ण्यदेकस्मात्० .. . ...ण्यद्विधिश्चतुः ।। २ ।।

[निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः] निष्टर्क्य शब्द में 'निस्' पूर्वक कृती छेदने' इस धातु से ण्यत् तथा आद्यन्त का विपर्यय अर्थात् तकार के स्थान में ककार और ककार के स्थान में तकार 'निस्' उपसर्ग के सकार को मूर्द्धन्य आदेश निपातन होकर 'निष्टर्क्य' रूप सिद्ध होता है । कारिका में 'ण्यदेकस्मात्' इतने वचन से निष्टर्क्य का ग्रहण किया है । यहां 'कृती' धातु के ऋदन्त होने से ण्यत् प्राप्त ही था निपातन अन्य कार्यों के लिये है ।।

चार में क्यप् होता है—[स्पर्द्धन्ते वा उ देवहूये] यहां देवपूर्वक 'ह्वेञ्' तथा ['हु' से], 'प्र' पूर्वक-'उन्' पूर्वक णीञ् तथा 'उत्' पूर्वक शासु इन चारों से क्यप् प्रत्यय का निपातन है । 'देवहूय' इस में क्यप के कित् होने से सम्प्रसारण होता है ।।

१. ऐ०—२ । २० ।। शां० —१० । ६ ।। १२ । १ ।। श० —१ । ८ । १ । ३१, ९ । १ । १३ ।। ३ । १ । १ । ३ ।। ८ । ६ । ३ । १६ ।। ९ । ५ । १ । ६१ ।।

२. धा० —तुदा० —१२९ ।।   ३. धा० —दिवा० —२ ।।

४. ऋ० ९ । १०७ । ५ ।।   ● अनुपलब्धमूलमिदम् ।।

५. जै० उ० ३ । ? । ३ । ? ।। यद्यपि सूत्रमिदं 'वदः सुपि क्यप् च' (अ० ३ । १ । १०६) इति ब्राह्मणोपपदत्वाण्णिवाऽसो भवितव्यं तथापि 'ब्रह्मोद्यमाह्वयामहे' (श० ११ । ६ । २ । ५ ।) इत्यादिषु क्यपि प्रयोग उपलभ्यते । न च वासरूपविधिना भविष्यतीति वाच्यम्, 'नानुबन्धकृतमसारूप्यमिति परिभाषाया विद्यमानत्वात्, ब्रह्मोद्य नाम निर्गुणस्य ब्रह्मणो निरूपणम् । तदुक्तम् —'ब्रह्मोद्यं वदन्ति प्रजापतेरगुणाख्यानम्' (का० श्रौ० सू० १० । ८ । १९ । ०० ।

६. 'उपचाय्यपृडं हिरण्य दक्षिणा' ।। का० सं० ११ । १ ।।

७. म०—३ । १ । १२३ भा० ।।

प्रणीयः उन्नीयः । उच्छिष्यः ॥

चार शब्दों में यत् प्रत्यय है —मृङ्-स्तृञ्-ध्वृ-खन् इन चार धातुओं से यत् प्रत्यय निपातन है । जैसे -मर्य्यः । स्तर्य्या । ध्वर्यः । खन्यः । ये चार यत्-प्रत्ययान्त हैं ॥

एक 'खन्' धातु से ण्यत् भी होता है । जैसे —खान्यः । यह एक ण्यदन्त है ॥ 'यशब्दश्च'—अर्थात् एक शब्द यत् प्रत्ययान्त है 'देव' उपपद 'यज' धातु से यत् निपातन है । देवयज्या यह एक यत् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में है ॥

'द्वौ क्यपौ'—अर्थात् दो क्यप् प्रत्ययान्त हैं । आङ्पूर्वक 'प्रच्छ' धातु से तथा प्रतिपूर्वक 'सिवु' धातु से क्यप् प्रत्यय निपातन है । जैसे—आपृच्छ्यः । प्रतिषीव्यः । यह दो क्यप् प्रत्ययान्त हैं ॥

'ण्यद्विधिश्चतुः'—अर्थात् चार शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त हैं—ब्रह्मपूर्वक 'वद' धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है । ब्रह्मवाद्यः । 'भू' तथा 'स्तु' धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है । भाव्यः । स्ताव्यः । 'उप' पूर्वक 'चिञ्' धातु से ण्यत् प्रत्यय होने पर 'आय्' आदेश निपातन से होता है । उपचाय्यपृडं हिरण्यम् ॥

१—वा०—"हिरण्य इति वक्त०" इस वार्त्तिक का अभिप्राय यह है कि—'उपचाय्य-पृडम्' यह जब हिरण्यवाची होगा तब ही 'ण्यत् और 'आय्' आदेश निपातन से होता है । अन्यथा यत् प्रयत्य होने से 'उपचेयपृडम्' ऐसा ही होता है ॥ १२३ ॥

ऋहलोर्ण्यत् ॥[१] १२४ ॥

ऋहलो. । ६ । २ । ण्यत् । १ । १ ॥ ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च[२] धातोर्ण्यत् प्रत्ययो भवति । स्मार्य्यम् । धार्य्यम् । विदार्य्यम् ॥ हलन्त—पाठ्यम् । पाक्यम् । सेव्यम् । चेत्यम् ॥

१—वा०—[पाणौ] सृजेर्ण्यद्विधि[३] ॥ पाणिसर्ग्या रज्जुः ॥

२—वा०—समवपूर्वाच्च[४] ॥

समवपूर्वाच्च 'सृज' धातोर्ण्यत् स्यात् । समवसर्ग्या रज्जुः । अत्र सृज-धातोर्ऋदुपधत्वात् क्यप् प्राप्तः सोऽनेन बाध्यते ॥ २ ॥

३—वा०—दभेश्च[५] ॥

---

१ आ० सू० ९५४ ॥

२ ऋकारान्तेभ्यो ण्यद्विधि, नन्वर्न । कुत ? हन साहचर्यात् ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः (अ० ६ । १ । २१४) इति सूत्रे 'वृ' ग्रहणात्, विप्रतिषेधे परं कार्यम् (अ० १ । ४ । २) इति सूत्रे कार्यशब्दस्य ण्यत्प्रत्ययान्तस्य प्रयोगाच्च ॥

३ (क) अ० ३ । १ । १२४ भा० ॥ (ख) आ० वा०—९५५ ॥

४ (क) अ० ३ । १ । १२४ भा० ॥ (ख) आ० वा०—९५६ ॥

५ (क) अ० ३ । १ । १२४ भा० ॥ (ख) आ० वा०—९५७ ॥

'दभ' धातोरपि ण्यद् भवति । अपदाभ्यम् ।। अत्र "पोरदुपधात्"[1] इति यत् प्राप्तः स बाध्यते ।। अत्र तृतीयवार्त्तिके लपधातोरपि ग्रहणं तत्तु वक्ष्यमाणसूत्रेणैव सिध्यति । पुनर्लेखमुद्रणदोषेण पुस्तकेषु लिखितमिति विज्ञायते ।। १२४ ।।

[ऋहलोः] ऋवर्णान्त और हलन्त धातुओं से [ण्यत्] ण्यत् प्रत्यय होता है ।।

जैसे—स्मार्य्यम् । धार्य्यम् । विदार्य्यम् ।। हल—पाठ्यम् । पाक्यम् । सेध्यम् । चेत्यम् ।।

१—वा०—पाणौ सृजेर्ण्य०" पाणि शब्द उपपद हो तो सृज धातु से ण्यत् प्रत्यय का विधान करना चाहिये ।

जैसे—पाणिसर्ग्या रज्जुः ।।

२—वा०—"समवपूर्वाच्च"—'सम्' 'अव्' पूर्वक भी सृज धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है ।।

जैसे—समवसर्ग्या रज्जुः ।। यहां सृज धातु के ऋकार उपधा में होने से क्यप् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ।।

३—वा०—"दभेश्च"—दभ धातु से भी ण्यत् होता है ।।

जैसे—अपदाभ्यम् ।। 'दभ' में 'पोरदुपधात्०' से यत् प्राप्त था सो वार्त्तिक ने बाध कर ण्यत् किया । इस तीसरी वार्त्तिक में लप धातु का भी ग्रहण है । परन्तु लप से ण्यत् तो 'आसुयुवपिरपिलपि०' सूत्र से ही सिद्ध है, पुन इस वार्त्तिक में 'लप' का पाठ पुस्तकों में लेखन और मुद्रण के दोष से चला आता है ।। १२४ ।।

ओरावश्यके[2] ।। १२५ ।।

उवर्णान्तानामजन्तत्वाद् यत् प्राप्तस्तस्यायमपवादः ।। ओः । ५ । १ । आवश्यके । ७ । १ ।। अवश्यभाव आवश्यकम् । आवश्यके द्योत्ये सत्युवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत् प्रत्ययो भवति ।। अवश्यलाव्यम् । अवश्यपाव्यम् । लाव्यम् । पाव्यम् । अवश्यलाव्यमित्यादिषु "मयूरव्यंसका"[3] दित्वात् समासः ।।

['आवश्यके' इति किम्—लव्यम् । पव्यम् । अत्र यदेव भवति] ।। १२५ ।।

उवर्णान्तों के अजन्त होने से यत् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ।।

[आवश्यके] आवश्यक अर्थ अभिधेय होने पर [ओः] उवर्णान्त धातु से ण्यत् प्रत्यय हो ।।

जैसे—अवश्यलाव्यम् । अवश्यपाव्यम् । लाव्यम् । पाव्यम् ।। अवश्यलाव्यम्, इस प्रकार के उदाहरणों में मयूरव्यंसकादयश्च' से समास होता है ।।

'आवश्यके' ग्रहण इसलिये है कि लव्यम् । पव्यम् । यहां यत् ही होता है ।। १२५ ।।

१. अ० ३ । १ । ९८ ।। २. भा० सू० ९६५ ।।
३. अ० २ । १ । ७२ ।।

आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च[1] ॥ १२६ ॥

सुयुभ्यामजन्तत्वादन्येभ्यः पोरदुपधा[2]दिति यत् प्राप्तस्तस्यायमपवादः ॥ आसुयु० चमः । ५ । १ । च [अ०] ॥ आङ्पूर्वात् सुनोते:-यु-वपि-रपि-लपि-त्रपि-चम इत्येतेभ्यो धातुभ्यो ण्यत् प्रत्ययो भवति ॥ आसाव्यम् । याव्यम् । वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । त्राप्यम् । आचाम्यम् । आङ्पूर्वादेव चमधातोर्वृद्धिर्भवति । चम्यमित्येवान्यत्र ॥ १२६ ॥

सु-यु धातुओं के अजन्त होने से तथा अन्य धातुओं से 'पोरदुपधात्०' सूत्र से यत् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

[आसुयु० चमः] आङ्पूर्वक षुञ्-यु-वप्-रप्-लप् त्रप् और चम् धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—आसाव्यम् । याव्यम् । वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । त्राप्यम् । आचाम्यम् ॥ आङ्पूर्वक चम् धातु से ण्यत् परे वृद्धि होती है । आङ् उपसर्ग के बिना 'चम्यम्' होता है ॥ १२६ ॥

आनाय्योऽनित्ये[3] ॥ १२७ ॥

आनाय्यः । १ । १ । अनित्ये । ७ । १ ॥ अत्र यत्प्राप्तौ बाधकत्वेन ण्यत् निपात्यते ॥ अनित्येऽनित्यस्थिनौ सत्यामानाय्य इत्याङ् पूर्वान्नयतेर्ण्यन्निपात्यते ॥

१—वा०—दक्षिणाग्नाविति वक्तव्यम्[4] ॥

दक्षिणाग्निवाच्यानाय्यशब्दो निपात्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

का०—आनाय्योऽनित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत् ।
एकयोनौ तु तं विद्याद् 'आनेयो' ह्यन्यथा भवेत्[5] ॥ १ ॥

अनित्यपदार्थवाच्यानाय्यशब्दो निपात्यते तत्र दक्षिणाग्नेर्ग्रहणं स्यात् ॥ एका चासौ योनिः कारणमेकयोनिस्तस्यामेकयोनौ दक्षिणाग्निं विद्यात्, अर्थादाहवनीयादिक्रमेण सेवितो दक्षिणाग्निः स्यात् । यदा "वैश्यकुलाद्वा[6]" इत्याद्यवस्थायां दक्षिणाग्निः सेव्यते तत्र आनेय इति यदेव भविष्यति ॥ १२७ ॥

यहां यत् की प्राप्ति में ण्यत् अपवाद रूप से निपातन है ॥

[अनित्ये] अनित्य अर्थ अभिधेय हो तो [आनाय्यः] आङ्पूर्वक 'णीञ्' धातु से ण्यत् निपातन है ॥

१—वा०—"दक्षिणाग्ना०" —'आनाय्य' यह दक्षिणाग्निवाची निपातन है ॥

का०—आनाय्योऽनित्य० ''' ''' '''आनेयो ह्यन्यथा भवेत् ॥ १ ॥

---

१. आ० सू० ९६६ ॥ २. अ० ३ । १ । ९८ ॥
३. आ० सू० ९६७ ॥ ४. अ० ३ । १ । १२७ भा० ॥
५. अ० ३ । १ । १२७ भा० ॥ ६. द०—पार० गृ० १ । २ । ३ ॥

अनित्यपदार्थवाची आनाय्य शब्द का निपातन दक्षिणाग्नि में किया है एक योनि अर्थात् कारण है जिस का उस दक्षिणाग्नि में 'आनाय्य' होता है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् आहवनीयादिक्रम से सेवित दक्षिणाग्नि होती है। जब 'वैश्यकुलाद्वा' इस प्रकार की व्यवस्था में दक्षिणाग्नि सेवन की जावे तो उसमें 'आनेय' ऐसा यत् प्रत्ययान्त ही होता है ॥ १२७ ॥

प्रणाय्योऽसम्मतौ[1] ॥ १२८ ॥

प्रणाय्यः । १ । १ । असम्मतौ । ७ । १ ॥ अत्रापि यत्प्राप्तौ ण्यन्निपात्यते ॥

सम्मननं सम्मानो वा सम्मतिः सत्कारः, सा न विद्यते यस्मिन्, तस्मिन् असम्मतावभिधेये सति प्रपूर्वाण्णीञ्-धातोर्ण्यदायादेशो निपात्येते ॥ प्रणाय्यो दुष्टः । प्रणाय्यो मूर्खः । [प्रणाय्यो[2]ऽन्तेवासी, भोगविषयेऽनादरबुद्धिरित्यर्थः] ॥

'असम्मतौ' इति किम्—प्रणेयः । अन्यत्र यदेव भवति ॥ १२८ ॥

इस सूत्र में भी यत् की प्राप्ति में ण्यत् निपातन है ॥ सम्मति [प्रीति का विषय और भोग में आदर बुद्धि] जिसमें न हो वह 'असम्मति' कहाता है ॥

[असम्मतौ] असम्मति अभिधेय हो तो [प्रणाय्यः] प्रणाय्य यहां प्रपूर्वक णीञ् धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा 'आय्' आदेश निपातन से होता है ॥

जैसे—प्रणाय्यो दुष्टः । प्रणाय्यो मूर्खः ।

'असम्मतौ' ग्रहण इसलिये है कि—प्रणेयः । यहां यत् ही होता है ॥ १२८ ॥

पाय्यसांनाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु[3] ॥ १२९ ॥

पाय्य० धाय्याः । १ । ३ । मान० धेनीषु । ७ । ३ ॥ पाय्यादयश्चत्वारः शब्दा मानादिषु चतुर्ष्वर्थेषु यथासंख्यं निपात्यन्ते ।

१—वा०—पाय्यनिकाय्ययोरादिपत्वकत्वनिपातनम्[4] ॥

'माङ् माने'[5] इत्यस्माद्धातोर्ण्यत्, निपातनान्मकारस्य पकारादेश इति पाय्ये निपातनम् । पाय्यं मानम् । मेयमित्यन्यत्र । सांनाय्य इति सम्पूर्वान्नयतेर्ण्यत्, ण्यत्यायादेशौ

---

१. भा० सू० ९६८ ॥

२. सम्मतिरभिलाषोऽप्युच्यते, तेनाऽसम्मतावनभिलाषेऽपि प्रणाय्यशब्दप्रयोगो दृश्यते—ज्येष्ठाय पुत्राय ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्यायान्तेवासिने नान्यस्मै कस्मैचनेति (छान्दो० प्र० ३ । खं० ११ । प्रवाक ५-६) निष्कामतयाऽसम्मतिरन्तेवासी भवति । तस्मै निष्कामाय मोक्षार्थं यतमानायान्तेवासिने प्रणाय्याय ब्रह्मप्रब्रूयादिति युज्यते ॥

३. भा० सू० ९६९ ॥ ४. वा०—अ० ३ । १ । १२९ भा० ॥

५. धा०—दिवा०—३४ ॥

देशः उपसर्गस्य च दीर्घं च निपात्यते । सान्नाय्यं[1] हविः । सन्नेयमित्यन्यत्र ॥ निकाय्य इति निपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यत् तस्मिन्नायादेशश्चकारस्य च कुत्वं निपात्यते निकाय्यो निवासः । निचेयमित्यन्यत्र ॥ धाय्येति डुधाञ्-धातोर्ण्यत् प्रत्ययो निपात्यते । धाय्या[2] सामिधेनी । धेयमित्यन्यत्र । सर्वत्राजन्तत्वाद् यत् प्राप्तः स बाध्यते ॥ १२९ ॥

अजन्त होने से यत् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

[पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्याः] पाय्यादि चार शब्द [मानहविर्निवाससामिधेनीषु] मानादि चार अर्थों में यथासंख्य निपातन हैं ॥

१ वा०—'पाय्यनिकाय्ययो रा०' 'माङ् माने' इस धातु से ण्यत् निपातन से मकार को पकार आदेश 'पाय्य' शब्द में निपातन है । जैसे—पाय्यं मानम् । अन्यत्र—'मेयम्' ऐसा होता है ॥ 'सान्नाय्य' इसमें 'सम्' पूर्वक 'णीञ्' धातु से ण्यत्, परे रहते 'आय्' आदेश उपसर्ग को दीर्घ निपातन से होता है । जैसे—सान्नाय्यं हविः ॥ अन्यत्र—'सन्नेयम्' ऐसा प्रयोग होता है ॥ 'निकाय्य' इसमें निपूर्वक 'चिञ्' धातु से ण्यत्, ण्यत् परे 'आय्' आदेश, चकार को कुत्व निपातन से होता है ॥ जैसे—निकाय्यो निवासः ॥ अन्यत्र—'निचेयम्' ऐसा प्रयोग होता है ॥ 'धाय्या' इसमें डुधाञ् धातु से ण्यत् प्रत्यय का निपातन है ॥ जैसे—धाय्या सामिधेनी । अन्यत्र—'धेयम्' ऐसा प्रयोग होता है ॥ १२९ ॥

१. निपातनादयं शब्द. **'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्'** (तै० सं० का० २ । प्र० ५ । अ० ४ ।) **'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायामि'**ति वचनाभ्यां विहिते हविर्विशेष एव सन्तिष्ठते, न तु हविर्मात्रे । यत्तु माघेन—**'हुतमप्यनलीवे साधुसान्नाय्यमग्निः'** (मा० का० ११-४१) इति हवि सामान्ये सान्नाय्य-शब्द प्रयुक्तस्तत्तस्याज्ञानमूलमेव, यद्वा लक्षणया कथंचिदुन्नेय. ॥

सान्नाय्यपदनिर्वचनम्—**'यत् समनयन् तत्सान्नाय्यस्य सान्नाय्यत्वम्'** (तै० सं० २ । ५ । ३) ॥

२ **'प्रवो वाजा अभिद्यवः'** इत्येवमादिका प्रकृतिषु पठ्यमाना एकादशर्चोऽग्नेः समिन्धनकार्ये विनियुक्तत्वात् सामिधेन्य इत्युच्यन्ते, तथापि न सर्वाः सामिधेन्यो धाय्या उच्यन्ते, किन्तु **'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य'** (तै० सं० का० २ । प्र० ५ । अ० १०) इत्यादिवचनात् यदा काम्ये नैमित्तिके वा यज्ञे पञ्चदशभ्योऽधिकाः सामिधेन्योऽपेक्ष्यन्ते तदा तत्संख्यापूरणाय **समिध्यमानवतीं समिद्धवतीम्** (ऋ० १ । ८ । १ । ३८) चान्तरेण या ऋचः प्रक्षिप्यन्ते ता एव सामिधेन्यो धाय्या उच्यन्ते, **इयं वै समिध्यमानवती असौ समिद्धवती । यदन्तरा तद्धाय्या** इति वचनात् ॥

जैमिनिरप्याह —**'समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युः'** (मी० अ० ५ । पा० ३ । सू० ४) इत्यादिना ॥

क्वचित् **'धाय्याः शंसति……। अग्निर्नेता……'** इति । **त्वं सोम क्रतुभिरि**ति (ऐत० ब्रा० १२ । ७ ॥) **यद्वा धनेति धाय्या** (ऐत० ब्रा० ५ । २ । २ ।) इत्येवमादिष्वसामिधेन्यामपि धाय्याशब्दव्यवहारो दृश्यते । वस्तुतस्तु ब्राह्मणे धाय्यापदविशेषिता ऋच एव धाय्या उच्यन्ते । तस्मात् सूत्रे सामिधेनीग्रहणं प्रयोगविषयप्रदर्शनार्थमेव नत्ववधारणार्थमेतच्च सर्वं निपातनाल्लभ्यते ॥

क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ[1] ॥ १३० ॥

क्रतौ ।७।१। कुण्डपाय्यसंचाय्यौ १।२॥ क्रतौ यज्ञेऽभिधेये सति कुण्डपाय्यसंचाय्यशब्दौ निपात्येते ॥ कुण्डोपपदात् 'पा पाने'[2] इत्यस्माद्धातोरधिकरणे यत्प्रत्ययः, निपातनाद् युगागमः। ण्यति कृते [उत्तरपदप्रकृतिस्वरे] 'यतोऽनावः'[3] इत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति, तस्माद् यद्विधीयते। कुण्डेन[4] पीयतेऽस्मिन्कुण्डपाय्यः क्रतुः[5]। कुण्डपेयमित्यन्यत्र ॥ सञ्चाय्य इति सम्पूर्वाच्चिनोतेर्ण्यदायादेशौ निपातनात्। सञ्चीयते तस्मिन्नग्निरिति सञ्चाय्यः क्रतुः। सञ्चेयमित्यन्यत्र ॥

१—वा०—कुण्डपाय्ये यद्विधि[6]॥ स्वरार्थ इत्यर्थः ॥ १३० ॥

[क्रतौ] क्रतु अभिधेय हो तो [कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ] कुण्डपाय्य और सञ्चाय्य निपातन हैं ॥

कुण्डोपपद 'पा पाने' धातु से अधिकरण में यत् और निपातन से युक्। यहां उत्तरपदप्रकृतिस्वर में 'यतोऽनाव' स्वर की प्राप्ति के लिये ण्यत् को बाध कर यत् का विधान किया॥ जैसे—कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्निति—कुण्डपाय्यः क्रतुः॥ अन्यत्र—'कुण्डपेयम्' होता है॥ सम्' पूर्वक 'चिञ्' धातु से ण्यत्, आय् आदेश निपातन है। सञ्चीयते तस्मिन्नग्निरिति सञ्चाय्यः क्रतुः। अन्यत्र—'सञ्चेयम्' ऐसा होगा ॥ १३० ॥

अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः[7] ॥ १३१ ॥

अग्नौ ।७।१॥ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः। १।३॥ अग्नौ[8] वाच्ये सति परिचाय्यादयस्त्रयः शब्दा ण्यदन्ता निपात्यन्ते। परिपूर्वादुपपूर्वाच्च चिनोतेर्ण्यदायादेशश्च। परिचाय्यो[9]ऽग्निः। उपचाय्यो[10]ऽग्निः॥ परिचेयम्-उपचेयमित्यन्यत्र ॥ संपूर्वाद्

१. धा० सू० ९७० ॥ २. धा०—भ्वा० ९११ ॥
३. अ० ६।१।२११॥
४ 'यत्रासवर्कंभ्रमसैर्भक्षयन्ति तदेवो कुण्डमिति श्रुतिः' इति बालमनोरमा ॥
५. क्रतुशब्दः सोमयागेषु रूढ इति प्रसिद्धिः ॥
६. अ० ३।१।१३० भा० ॥ ७. धा० सू० ९७१ ॥
८ अग्निशब्दोऽत्र अग्न्याधारभूत इष्टकारचितस्थण्डिलविशेषे वर्त्तते। यदिष्टकाभिरग्निं चिनोति (तै० स० का० ५।प्र० ६) इति वचनात् ॥
९. 'परिचाय्यं चिन्वीत सजातकामः' (का० सं० २१। ४)। "परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामः" (तै० सं० ५।४।११)॥
१० 'उपचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामः'। (मै० सं० ३। ४।७)॥ यत्तु मुद्रितपुस्तक उपचाय्यमिति पाठ स प्रकरणानुरोधेनाशुद्ध प्रतिभाति, उपचाय्य इत्येव तत्र भवितव्यम् ॥

वहधातोर्ण्यत् संप्रसारणं दीर्घत्वञ्च निपातनात् । समूह्योऽग्निः । सवाह्यमित्यन्यत्र ॥ १३१ ॥

[अग्नौ] अग्नि अभिधेय हो तो [परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः] परिचाय्य उपचाय्य और समूह्य ये निपातन हों ॥

परि' तथा 'उप' पूर्वक 'चिञ्' धातु से ण्यत् तथा 'आय्' आदेश का निपातन है ॥

जैसे—परिचाय्योऽग्निः । उपचाय्योऽग्निः ॥ अन्यत्र—परिचेयम् । उपचेयम् ॥ सम्' पूर्वक 'वह' से ण्यत् तथा संप्रसारण और दीर्घ का निपातन है। जैसे समूह्योऽग्निः ॥ अन्यत्र—सवाह्यम् ॥ १३१ ॥

चित्याग्निचित्ये च[2] ॥ १३२ ॥

'अग्नौ' इत्यनुवर्त्तते । चित्याग्निचित्ये । १ । २ । च [अ०] ॥ चित्यशब्दोऽग्निचित्याशब्दश्चाग्नौ वाच्ये निपात्येते ॥ चिञ्-धातोर्ण्यति वृद्ध्यभावस्तुगागमश्च निपात्यते । चीयतेऽसौ चित्यो[3]ऽग्निः । चेयमित्यन्यत्र ॥ अग्निपूर्वाच्चिनोतेर्भावे यः प्रत्ययो गुणाभावस्तुगागमो च निपातनात्, तस्मिन् सत्यन्तोदात्त एव भवति । अग्निचयनमेवाग्निचित्या । अग्निचयनमित्यन्यत्र ॥

भा०—अग्निचित्येति भावेऽन्तोदात्तो भवति । अग्निचयनमेवाग्निचित्या ॥ एतदेव पूर्वं व्याख्यातम् ॥ १३२ ॥

[इति कृत्यसंज्ञाधिकारः]

यहां 'अग्नौ' पद का अनुवर्तन है ॥

अग्नि अभिधेय हो तो [चित्याग्निचित्ये] 'चित्य' और 'अग्निचित्या' इन शब्दों का निपातन है ॥

जैसे—चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । यहां 'चिञ्' धातु से ण्यत् वृद्धि का अभाव और तुक् का आगम निपातन है ॥ अन्यत्र 'चेयम्' ऐसा होता है ॥ अग्निचयनमेवाऽग्निचित्या । यहां अग्निपूर्वक 'चिञ्' धातु से भाव में य प्रत्यय, गुण का अभाव और तुक् का आगम निपातन है ॥ अन्यत्र 'अग्निचयनम्' ऐसा होता है ॥

'अग्निचित्येत्यन्तोदात्तत्वं भावे' अग्निचित्या में य प्रत्यय भाव में हुआ था भाष्य के इस वचन से अन्तोदात्त भी होता है ॥ १३२ ॥

[कृत्यप्रत्ययों का अधिकार समाप्त हुआ ॥]

---

१ 'समूह्यं चिन्वीत पशुकामः' (तै० सं० ५ । ४ । ११ ।) (मै० सं० ३ । ४ । ७ ॥ (का० सं० २१ । ४) ॥

२. भा० सू० ९७२ ॥ ३. 'अग्नौ चित्ये क्रियन्ते' (का० सं० २१ । ८) ॥

ण्वुल्तृचौ[1] ॥ १३३ ॥

उत्सर्गसूत्रमिदमस्यान्येऽपवादा वक्ष्यन्ते । 'धातोः' इत्यनुवर्त्तते ॥ ण्वुल्तृचौ । १ । २ ॥ धातुमात्राण्ण्वुल्तृचौ[2] प्रत्ययौ भवतः ॥ कारकः । हारकः । कर्त्ता । हर्त्ता ॥

ण्वुलि णित्करणं वृद्ध्यर्थम् । लित्करणञ्च स्वरार्थम् । तृचि चित्करणं निरनुबन्धकग्रहणे सामान्यग्रहणार्थम् । 'तुश्छन्दसि[3]' । 'तुरिष्ठेमेयःसु[4]' अत्र तृन्-तृचोरुभयोर्ग्रहणं यथा स्यात् ॥ १३३ ॥

यहां 'धातोः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ यह उत्सर्ग सूत्र है आगे इसके अपवाद कहेंगे ।

धातुमात्र से [ण्वुल्तृचौ] ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—कारकः । हारकः । कर्त्ता । हर्त्ता ॥

ण्वुल् में णित्करण वृद्धि के लिये है और लकार का अनुबन्ध [लिति ६ । १ । १९३] स्वर के लिये है । तृच् में चित्करण निरनुबन्धक के ग्रहण में सामान्यग्रहण के लिये है । जैसे—'तुश्छन्दसि' (अ० ५ । ३ । ५९), 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (अ० ६ । ४ । १५४) इत्यादि में तृन्, तृच् दोनों का ग्रहण हो जावे ॥ १३३ ॥

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः[5] ॥ १३४ ॥

नन्दिग्रहिपचादिभ्यः । ५ । ३ । ल्युणिन्यचः । १ । ३ ॥ आदिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, नन्द्यादि-ग्रहादि-पचादिभ्यः ॥ नन्द्यादिगणत्रयेभ्यो ल्युणिन्यच इति त्रयः प्रत्यया यथासङ्ख्यं भवन्ति । अर्थान्नन्द्यादिभ्यो ल्युः, ग्रह्यादिभ्यो णिनिः, पचादिभ्योऽच् ॥ नन्दनः । वाशनः । मदनः ॥ ग्रहि—ग्राही । उत्साही । उद्भासी ॥ पच—पचः । वपः । वदः ॥ णिनि प्रत्यये णित्वाद्वृद्धिः । अचि चित्करणं 'चङोऽचि च[6]' इति इति विशेषणार्थम् ॥

१—वा—अजपि सर्वधातुभ्यः[7] ॥

धातुपाठादत्र प्रत्ययो विधीयते । इहापि यथा स्यात् । भवः । गमः । तेन पचादिभ्योऽपि स्यादेव पुनर्गणे पठनस्यैतत् प्रयोजनम् —नदट् । चोरट् । इत्यादिषु केषुचिच्छब्देषु टित्करणं क्रियते ङीप् प्रत्ययो यथा स्यात् । गणपठनमन्तरेण नदी चोरीत्यत्र ङीप्-न भविष्यति । द्वितीयं प्रयोजनम् —'कर्मण्यण्' इति सूत्रमस्य बाधकम् । तत्र कर्मण्युपपदे पचादिभ्योऽजेव स्यात् । श्वानं पचनाति श्वपचः ॥

१ धा० सू० ९७४ ॥

२ ण्वुल्प्रत्ययस्त्रिकालविषयो दृष्टः । पाठको भवति । पाठको भविष्यति । पाठकोऽभूत् ।

३ अ० ५ । ३ । ५९ ॥

४. अ० ६ । ४ । १५४ ॥

५. धा० सू० ९७५ ॥

६. अ० २ । ४ । ७४ ॥

७. अ० ३ । १ । १३४ भा० ॥

अथ नन्द्यादिगणः—नन्दिवासिमदिदूषि[1]साधिवर्द्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम् ॥ नन्दनः [१] वासनः[2] [२] मदनः [३] दूषणः[3] [४] साधनः [५] वर्द्धनः [६] शोभनः [७] रोचनः [८] सहितपदमेः संज्ञायाम् ॥ सहनः [९] तपनः [१०] दमनः [११] जल्पनः [१२] रमणः[4] [१३] संक्रन्दनः [१४] संकर्षणः [१५] संहर्षणः[5] [१६] जनार्दनः [१७] पवनः[6] [१८] यवनः[7] [१९] मधुसूदनः [२०] विभीषणः [२१] लवणः[8] [२२] चित्तविनाशनः[9] [२३] कुलदमनः [२४] शत्रुदमनः[10] [२५] इति नन्द्यादिगणः ॥

अथ ग्रह्यादिः— ग्राही [१] उत्साही [२] उद्वासी [३] उदासी [४] उद्भासी [५] स्थायी [६] मन्त्री [७] सम्मर्दी [८] रक्षश्रुवसवपशां नौ ॥ निपूर्वेभ्यो रक्षादिभ्यो णिनिः । निरक्षी [९] निश्रावी [१०] निवासी [११] निवापी [१२] निशायी [१३] याचिव्याहृसंव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम् ॥ अयाची [१४] अव्याहारी [१५] असंव्याहारी[11] [१६] अव्राजी [१७] अवादी [१८] अवासी [१९] अचामचित्तकर्त्तृकाणाम् ॥ प्रतिषिद्धानामित्यनुवर्तते । अचित्तकर्त्तृकेभ्यः प्रतिषिद्धेभ्योऽजन्तेभ्यो धातुभ्यो णिनिः । अकारी [२०] अहारी [२१] अविनायी [२२] अविशायी [२३] अविशयी [२४] विषयी[12] देशे ॥

---

१. 'वाशिमदिभूषि' इति पाठान्तरम् ॥ २. 'वाशनः' इति शब्दकौस्तुभे ॥

३. 'भूषणः' इति क्वाचित्कः पाठः ॥

४. इतोऽग्रे 'दर्पणः' इत्यधिकं काशिकाशब्दकौस्तुभगणरत्नावलीषु ॥

५. क्वचिन्नोपलभ्यते ॥ ६. 'पवनः' नास्ति शब्दकौस्तुभे ॥

७. 'जवनः' इति गणरत्नमहोदधौ ॥

८. इतोऽग्रे 'निपातनाण्णत्वम्' इत्यधिकं काशिकागणरत्नमहोदध्योः ॥

९. 'चित्तनाशनः' इति गणरत्नमहोदधौ ॥

१०. नर्दनः, विरोचनः, विकर्त्तनः, तर्दनः, दहनः । असंज्ञायामपि—'रिपुदमनः, पुरादंमः, रोगनाशनः, अरिसूदनः,' इत्यधिकं गणरत्नमहोदधौ ॥ असंज्ञायामपि—'रिपुदमनः, रोगनाशनः, शत्रुसूदनः' इत्यधिकं गणरत्नावल्याम् ॥

११. 'असव्यवहारी, असंव्याहारी, सकटाङ्गवज्रामनाविति गणरत्नमहोदधौ ॥

१२. "शीङ् स्वप्ने 'विशयी' वृद्ध्यभावो निपातनात् । षिञ् बन्धने 'विषयी' वृद्ध्यभावः प्राग्वत् । इह षत्वमपि निपातनात्" शब्दकौस्तुभे । 'विशयी, विषयी वा देशः' इति गणरत्नमहोदधौ ॥

विषयी देशः [२५] अभिभावी भूते ।। अभिभावी [२६] अपराधी[1] [२७] उपरोधी[2] [२८] परिभावी [२९] परिभवी[3] [३०] इति ग्रह्यादिगणः ।।

अथ पचादिः—पच [१] वच[4] [२] वप [३] वद [४] चल [५] पत[5] [६] तप [७] नदट् [८] भषट् [९] वस [१०] गरट् [११] प्लवट् [१२] चरट्[6] [१३] तरट् [१४] चोरट् [१५] गाहट्[7] [१६] सूदट् [१७] देवट् [१८] मोरट्[8] [१९] जर [२०] मर [२१] क्षर[9] [२२] क्षम[9] [२३] सेव[10] [२४] मेष[11] [२५] कोष[12] [२६] क्रोध [२७] मेघानर्त्त[13] [२८] प्रण[14] [२९] दर्श [३०] सर्प[15] [३१] दर्प[15] [३२] दश[16] [३३] दम्भ[17] [३४] जारभर[17] [३५] श्वपच[18] [३६] ।। आकृतिगणोऽयं पचादिः ।। इति पचादिराकृतिगणः समाप्तः ।। १३४ ।।

यहां आदि शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है ।।

[नन्दिग्रहिपचादिभ्यो] नन्द्यादिक, ग्रह्यादिक और पचादिक धातुओं से यथाक्रम [ल्युणिन्यचः] ल्यु, णिनि तथा अच् प्रत्यय हों ।। जैसे—[नन्दयतीति] नन्दनः । वासनः । मदनः । [जनानर्दयतीति जनार्दनः] ग्राही । उत्साही । उद्वासी । स्थायी ।। पचतीति पचः । वपः । वदः । [भवतीति भवः] ।।

१—वा०—"अजपि सर्वधातुभ्यः"—इस वार्त्तिक से धातुमात्र से अच् प्रत्यय होता है ।।

जैसे—भवः । सवः । वदः इत्यादि ।।

---

१ इतोऽग्रे 'अवरोधी' इत्यधिकं शब्दकौस्तुभे गणरत्नमहोदधौ ।।

२. 'उपराधी' इति गणरत्नावल्यामधिकम् ।।

३. इह पाक्षिको वृद्ध्यभाव' इति शब्दकौस्तुभे । 'विभर्व-विभावी' इति भोजमतेन इति गणरत्नमहोदधौ ।।

४. नास्ति काशिकायाम् ।।

५ 'तप-पत' इति काशिकायाम् । तप' नास्ति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

६. नास्ति काशिकायाम् ।।

७ 'ग्राहट्' इति काशिकागणरत्नावलीगणरत्नमहोदधिषु ।।

८. नास्ति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

९ जर-मर-क्षर-क्षम एतेषां सूदट् शब्दात् पूर्वं पाठ काशिकायाम् ।।

१० सव इति क्वचित् ।। ११ मेप ' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

१२ 'कोष' इति नास्ति काशिकायाम्, कोप इति पाठान्तरं प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

१३ 'मेघ' 'नर्त' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।। १४ 'प्राण' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

१५. 'सर्प-दर्प' न स्तः काशिकाप्रक्रियाकौमुद्योः ।।

१६ 'दङ्ग' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।। १७ 'दम्भ जारभर' न स्त प्रक्रियाकौमुद्याम् ।।

१८. सूरट्-मद-रज-क्षय-क्षप-दोषट् एतेऽत्र गणेऽधिका गणरत्नावल्याम् । वश-रण-चर-गोप-मघ-देह-प्ररोह-चेल-दर-स्कन्द-शेव-दर्भ-वह एते गणरत्नमहोदधावधिका ।।

यह अच् प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट है, इससे पचादिगण का कथन शब्दों के साथ अनुबन्ध लगाने और बाधकों को बाधने के लिये है। जैसे नदट्-चोरट्-देवट् इत्यादि टित् माने हैं. नदः। चोरः। देवः। स्त्रीलिङ्ग में—नदी। चोरी। देवी। यहां इगुपधत्व मानकर दिवु धातु से क प्रत्यय प्राप्त था उसको बाध कर अच् प्रत्यय हुआ॥ जारभरा, श्वपचा इनमें ['कर्मण्यण्'] से अण् प्राप्त था॥ १३४॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः[1] ॥ १३५ ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः। ५। १। कः। १। १॥

इक्-उपधायां यस्य तस्मात्, ज्ञा अवबोधने[2], प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च[3] कॄ विक्षेपे[4], इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कः प्रत्ययो भवति॥ इगुपध—क्षिपः। बुधः। जानातीति ज्ञः। आकारस्य लोपः। प्रीणातीति प्रियः। किरतीति किरः॥ देवादयः शब्दा इगुपधलक्षणा ये पचादिषु पठ्यन्ते तेभ्योऽजेव भवति॥ १३५॥

[इगुपधज्ञाप्रीकिरः] इक् जिसके उपधा में हो और ज्ञा, प्री तथा कॄ धातुओं से [कः] क प्रत्यय हो॥

जैसे—इगुपधों से—क्षिपः। बुधः। जानीतीति ज्ञः। यहां आकार का लोप हो जाता है। प्रीणातीति प्रियः। किरतीति किरः॥ इगुपध जो 'देव' आदि शब्द पचादि में पढ़े हैं, उनसे अच् ही होता है॥ १३५॥

आतश्चोपसर्गे[5] ॥ १३६ ॥

णस्यापवादः। आतः। ५। १। च [अ०] उपसर्गे। ७। १॥ उपसर्गे उपपदे सति आकारान्ताद् धातोः कः प्रत्ययो भवति॥

प्रदातीति प्रदः। प्रलातीति प्रलः॥ १३६॥

यह 'ण' प्रत्यय का अपवाद है॥

[उपसर्गे] उपसर्ग पूर्व हो तो [आतः] आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो॥

जैसे—प्रदातीति प्रदः। प्रलातीति प्रलः। [प्रस्थः। प्रज्ञः। सुग्लः। सुम्लः]॥१३६॥

पाघ्राध्माधेट्दृशः शः[6] ॥ १३७ ॥

पाघ्रा० दृशः। ५। १। शः। १। १॥ पादीनां समाहारद्वन्द्वः॥ दृशधातोरिगुपधात्वात् कः प्राप्तोऽन्येभ्य आकारान्तत्वात् सोऽनेन बाध्यते॥ पादिभ्यः सोपसर्गनिरुपसर्गेभ्यो धातुभ्यः सर्वत्र शः प्रत्ययो भवति॥

---

१. अ० सू० ९७६॥
२. धा०—क्र्या०—३६॥
३. धा०—क्र्या०—२॥
४. धा०—तुदा०—१२५॥
५. अ० सू० ९७७॥
६. अ० सू० ९७८॥

[पा–] पिबतीति पिब: । प्रपिबतीति प्रपिब: [घ्रा–] जिघ्रतीति जिघ्र: । विजिघ्र: । ध्मा—धमतीति धम: । उद्धम: । विधम: । धेट्—धयतीति धय: । प्रधय: । दृश—पश्यतीति पश्य:[1] उत्पश्य: । विपश्य: ।। अत्र श-प्रत्ययस्य शित्वात् पादिप्रकृतीनां पिबाद्यादेशा भवन्त्येव ।।

१—वा०—जिघ्रः संज्ञायां प्रतिषेधः[2] ॥

सोपसर्गाद् 'घ्रा' धातोः संज्ञायां विषये शः प्रत्ययो न स्यात् ।।

व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः, किन्तु कः प्रत्ययो भवति । तत्र कित्त्वादाकारलोपे सिद्धिः ।। १३७ ।।

यहाँ समाहारद्वन्द्व समास है ।। दृश् धातु के इगुपध होने से तथा अन्य धातुओं के आकारान्त होने से क प्राप्त था सो उसका यह अपवाद है ।।

[पाघ्राध्माधेट्दृशः] पादि सोपसर्ग तथा निरुपसर्ग धातुओं से सर्वत्र [शः] श प्रत्यय होता है ।। जैसे—पा—पिबतीति पिब: । प्रपिबतीति प्रपिब: । घ्रा—जिघ्रतीति जिघ्र: । विजिघ्र: । ध्मा—धमतीति धम: । उद्धम: । विधम: । धेट्—धयतीति धय: । प्रधय: । दृश्—पश्यतीति पश्य: । उत्पश्य: । विपश्य: । यहाँ श प्रत्यय के शित् होने के कारण पादि धातुओं को पिबादि आदेश हो जाते हैं ।।

१—वा०—"जिघ्रः संज्ञायां प्र०"—सोपसर्ग घ्रा धातु से संज्ञाविषय में श प्रत्यय न हो ।। जैसे—व्याजिघ्रतीति व्याघ्र: । किन्तु यहां क प्रत्यय होता है ।। 'क' प्रत्यय के कित् होने से 'घ्रा' के आकार का लोप होता है ।। १३७ ।।

अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च[3] ।। १३८ ।।

अनुपसर्गात् । ५ । १ । लिम्पविन्द० साहिभ्य: । ५ । ३ ।। [च । प्र०] उपसर्गरहितेभ्यो लिम्पादिधातुभ्य: शः प्रत्ययो भवति ।। लिम्पतीति लिम्प: । विन्दतीति विन्द: । लिम्पिविन्दिभ्यामिगुपधत्वात् कः प्राप्तः । लिपिविदोः शप्रत्यये परतो मुचादित्वान्नुमागमः[4] । धार्य्यादयो ण्यन्ता धातवः सन्ति । धारय: । पारय: । वेदय: । उदेजय: । चेतय: । सातय: । साहय: ।।

---

१ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् (माण्डू० ३ । १ । ३ ।।) इत्यादि वचनप्रामाण्यात् ज्ञायते-ऽनुपसर्गेऽप्यत्र शप्रत्यय उत्पद्यत इति । तथा च न पश्यो मृत्युं पश्यति, सर्वं ह पश्यः पश्यति (छान्दो० ७ । २६ । २) ।। पाणिनिरपि—पश्यार्थैश्चानालोचने (अ० ८ । १ । २५) इति निपातनाद्भावे श-प्रत्यय इत्याह ।।

२. (क) अ०—३ । १ । १३७ भा० ।। (ख) भा० वा० ९७९ ।।

३ भा० सू० ९८० ।। ४. अ० ७ । १ । ५९ ।।

'अनुपसर्गात्' इति किम्—प्रलिपः । प्रविदः । अत्रेगुपधलक्षणः कः ॥

१—वा०—अनुपसर्गान्नौ लिम्पेः[1] ॥

'नि' उपसर्गे उपपदे 'लिम्प' धातोः श प्रत्ययः स्यादेव । निलिम्पा नाम देवाः ॥ १ ॥

१—वा०—गवादिषु विन्देः संज्ञायामुपसङ्ख्यानम्[2] ॥

गवादिशब्देषूपपदेषु 'विन्द' धातोः [संज्ञायां] शः प्रत्ययो भवति ॥

गोविन्दः । अरविन्दः ॥ २ ॥

धार्य्यादिषु प्रत्ययस्य सार्वधातुकत्वाण्णेर्लोपो न भवति ॥ १३८ ॥

[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित [लिम्पविन्द० साहिभ्यः] लिम्प-विन्द-धारि-पारि-वेदि- उदेजि-चेति-साति-साहि इन धातुओं से 'श' प्रत्यय हो ॥

जैसे—लिम्पतीति लिम्पः । विन्दतीति विन्दः । लिपि तथा विदि से इगुपध 'क' प्राप्त था, उसका अपवाद 'श' कहा, लिपि, विदि के मुचादि में होने से 'श' परे 'नुम्' का आगम 'शे मुचादीनाम्' (अ० ७ । १ । ५९) से हो जाता है ॥ 'धारि' आदि ण्यन्तों का ग्रहण है । धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः । चेतयः । सातयः । साहयः ॥

'अनुपसर्गात्' ग्रहण इसलिये है कि—प्रलिपः । प्रविदः । यहां इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय ही हो ॥

१—वा०—"अनुपसर्गान्नौ लिम्पेः"—अनुपसर्गात् इस विषय में निपूर्वक 'लिम्प' धातु से 'श' प्रत्यय हो ही जाता है ऐसा समझना चाहिये ॥

जैसे—निलिम्पा नाम देवाः ॥

२—वा०—"गवादिषु विन्देः०"—गवादि उपपद हों तो 'विदॢ' धातु से "श" प्रत्यय संज्ञा में कहना चाहिये ॥

जैसे—गोविन्दः । अरविन्दः ॥

श-प्रत्यय के सार्वधातुक होने से धार्य्यादि ण्यन्तों के 'णि' का लोप नहीं होता ॥ १३८ ॥

ददातिदधात्योर्विभाषा[3] ॥ १३९ ॥

'अनुपसर्गात्' इत्यनुवर्त्तते । अप्राप्त विभाषेयम् । वक्ष्यमाणसूत्रादादन्तत्वाण्णः प्राप्तस्तस्यायमपवादः शः प्रत्ययो विकल्पेन भवति । डुदाञ्, डुधाञ् इत्येताभ्यां शः प्रत्ययो विकल्पेन भवति, पक्षे णश्च ॥ ददः । दधः । दायः । धायः । अत्र शपक्षे शप्रत्य-

१ (क) अ०—३ । १ । १३८ भा० ॥ (ख) आ० वा० सं० ९८१ ॥

२. (क) अ०—३ । १ । १३८ भा० ॥ (ख) आ० वा० ९८२ ॥

३. आ० सू० ९८३ ॥

यस्य सार्वधातुकत्वात् 'श्लौ'[1] द्विर्वचनम् । 'श्नाभ्यस्तयोरातः'[2] इत्याकारलोपः । णपक्षे णित्वाद् 'युक्' आगमश्च ॥

'अनुपसर्गात्' इति किम्—प्रदः । प्रधः । अत्र 'आतश्चोपसर्गे'[3] इति कः प्रत्यय एव भवति ॥ १३९ ॥

यहां 'अनुपसर्गात्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ 'श्याद्व्यधा०' इस से 'ण' प्राप्त था उसका अपवाद यह 'श' प्रत्यय विकल्प से होता है ॥

उपसर्गरहित [ददातिदधात्योः] डुदाञ्, डुधाञ् धातुओं से 'श' प्रत्यय [विभाषा] विकल्प से होता है, पक्ष में ण भी होता है ॥ जैसे—ददः । दधः । दायः । धायः ॥ श प्रत्यय के सार्वधातुक होने से "श्लौ" इस सूत्र से द्विर्वचन हो जाता है और 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इस सूत्र से आकार का लोप होता है और ण पक्ष में वृद्धि और युक् का आगम होता है ॥

'अनुपसर्गात्' ग्रहण इसलिये है कि—प्रदः । प्रधः । यहां 'आतश्चोपसर्गे' (अ० ३ । १ । १३६) से क प्रत्यय होता है ॥ १३९ ॥

ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः[4] ॥ १४० ॥

'अनुपसर्गात्—विभाषा' चानुवर्त्तते । ज्वलितिकसन्तेभ्यः । ५ । ३ । णः । १ । १ ॥ धातुपाठस्थार्थ[5] निर्देशः । ज्वल इति 'ज्वल[6] दीप्तौ' इत्यारभ्य 'कस[7] गतौ' इत्यन्तेभ्योऽनुपसर्गेभ्यो धातुभ्यो विकल्पेन ण' प्रत्ययो भवति, पक्षे सामान्यविहितोऽच् ॥ ज्वलतीति ज्वालः । चालः । ज्वलः । चलः ॥

'अनुपसर्गात्' इति किम्—प्रज्वलः । प्रचलः अत्र नित्यमजेव भवति ॥

१—वा०—तनोतेरुपसङ्ख्यानम्[8] ॥

अवतनोतीत्यवतानः । अत्र । सोपसर्गादपि नित्य ण एव भवति ॥ १४० ॥

'अनुपसर्गात्' तथा 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है । [यहां इति शब्द आदि ग्रहण के लिये है] ॥

[ज्वलितिकसन्तेभ्यः] 'ज्वल दीप्तौ' से लेकर 'कस गतौ' तक अनुपसर्ग धातुओं से विकल्प करके ण प्रत्यय हो, पक्ष में सामान्यविहित अच् भी होता है ॥

जैसे—ज्वलतीति ज्वालः । चालः । ज्वलः । चलः ॥

१. अ० ६ । १ । १० ॥ २. अ० ६ । ४ । ११२ ॥
३. अ० ३ । १ । १३६ ॥ ४. धा० सू० ९८४ ॥
५. धातुपाठे कसधात्वनन्तरं समाप्त्यर्थो वृच्छब्दः पठ्यते तदेतत् सूत्रे कसन्तग्रहणाद्वनार्षपाठो वृच्छब्दस्येति ज्ञाप्यतेऽन्यथा सूत्रकारो ज्वलादिभ्य इत्येव ब्रूयात् ॥
६. धा०—भ्वा०—७९३ ॥ ७. धा०—भ्वा०—८५० ॥
८ (क) अ० ३ । १ । १४० वा० ॥ (ख) धा० वा० ९८५ ॥

अनुपसर्गात् ग्रहण इसलिये है कि—प्रज्वल. । प्रचल: । यहां नित्य अच् ही होता है ॥

१ —वा० —"तनोतेरु०"—तनु धातु से 'ण' प्रत्यय कहना चाहिये । जैसे—अवतनोतीत्यवतान: । यहां सोपसर्ग से भी नित्य 'ण' ही होता है ॥ १४० ॥

श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीण्वसावहृलिहश्लिषश्वसश्च ॥ १४१ ॥

अनुपसर्गादिति, विभाषेति च निवृत्तम् । श्या० श्वस. । ५ । १ । च [अ०] । श्यादीनां समाहारद्वन्द्व. ।। श्यैङ्-आकारान्त-व्यध-आस्रु-संस्रु-अतीण-अवसा-अवहृ-लिह-श्लिष-श्वस-इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ॥

आकारान्तत्वाच्छ्यैङ् धातोरपि स्यादेव पुन: पृथग्ग्रहणं सोपसर्गात् 'क' बाधनार्थम् । अर्थात् सोपसर्गान्निरुपसर्गात् सर्वथा ण एव स्यात् । श्याय: । अवश्याय: । प्रतिश्याय: । [दाय: । धाय:] ग्राय: । पाय: । लाय: । आकारान्तेभ्य. सोपसर्गेभ्य: क एव भविष्यति । प्रग्र: । प्रप: । प्रल. ।। व्याध: । आस्राव: । [संस्राव.] अत्याय: । अवसाय. । अत्राप्याकारान्तत्वादेव स्यात् पुनर्नियमार्थं ग्रहणमवपूर्वादेव ण: स्यात् । अवहार: । लेह: । श्लेष: । श्वास: । श्यादिषु णिदाश्रयौ युग्वृद्धी भवत इति ॥ १४१ ॥

यहां 'अनुपसर्गात्' तथा 'विभाषा' पद की निवृत्ति है ॥ सूत्र मे समाहारद्वन्द्व समास है ॥ [श्याद्व्यधा० श्वस:] श्यैङ् आकारान्त-व्यध-आस्रु-संस्रु-अतीण्-अवसा-अवहृ-लिह श्लिष-श्वस इन धातुओं से ण प्रत्यय हो ॥

आकारान्त होने से श्यैङ् धातु से भी हो ही जाता पुन पृथक् ग्रहण सोपसर्ग के बाधन के लिये है अर्थात् सोपसर्ग तथा निरुपसर्ग दोनों से 'ण' ही हो ॥

जैसे——श्याय: । अवश्याय: । प्रतिश्याय: । दाय: । धाय: । ग्राय. । लाय: । सोपसर्ग आकारान्त धातुओं से क ही होगा । प्रग्र: । प्रप: । प्रल: । प्रद: । प्रध: । व्याध: । आस्राव । संस्राव: । अत्याय: । अवसाय: । इन उदाहरणों में आकारान्त होने से ही हो जाता पुन ग्रहण करना नियम के लिये है कि 'अव' उपसर्ग पूर्व मे ही ण हो ॥ अवहार: । लेह: । श्लेष. । श्वास: ॥ श्यादि मे णित् को मानकर युक् का आगम तथा वृद्धि होते हैं ॥ १४१ ॥

दुन्योरनुपसर्गे ॥ १४२ ॥

दुन्यो. । ६ । २ । अनुपसर्गे । ७ । १ ॥ 'दु गतौ'[१] 'टुदु उपतापे'[२] 'णीञ् प्रापणे'[३] इत्येताभ्यामुपसर्गरहिताभ्यां धातुभ्यां ण प्रत्ययो भवति ॥

दवति दुनोति वा दाव: । नयतीति नाय: ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्— प्रदव: । प्रणय:, अत्राजेव भवति ॥ १४२ ॥

१. धा० सू० ९८६ ॥ २. धा० सू० ९८७ ॥
३ धा० भ्वा०—९२९ ॥ ४. धा०—स्वा०—१० ॥
५ धा० भ्वा०—८८८ ॥

[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [दुन्योः] 'दु' तथा 'णी' धातु से ण प्रत्यय हो ॥

जैसे—दवति दुनोतीति वा दावः । नयतीति नायः ॥

'अनुपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—प्रदवः, प्रणय । यहां 'अच्' ही होता है ॥ १४२ ॥

विभाषा ग्रहः[1] ॥ १४३ ॥

[विभाषा । अ० । ग्रहः । ५ । १ ॥] अप्राप्तविभाषेयम् । अच् प्राप्ते णो विकल्प्यते ॥ ग्रहधातोर्विकल्पेन णः प्रत्ययो भवति ॥ ग्रहः ग्राहः[2] । णपक्षेऽत्र वृद्धिः ॥ १४३ ॥

यहां 'अप्राप्त विभाषा' है । अच् को प्राप्ति में ण का विकल्प से विधान है ॥

[ग्रहः] ग्रह धातु से [विभाषा] विकल्प करके 'ण' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ग्रहः । ग्राहः ॥ ण पक्ष में वृद्धि होती है ॥ १४३ ॥

गेहे कः[3] ॥ १४४ ॥

गेहे । ७ । १ । कः । १ । १ ॥ अचोऽपवादः ॥ ग्रहधातोर्गेहे वेश्माभिधेये सति कः प्रत्ययो भवति ॥ गृह्णातीति गृहं वेश्म । तात्स्थ्योपाधिना गृहस्था दारादयोऽपि गृहा उच्यन्ते ॥ १४४ ॥

यह सूत्र 'अच्' का अपवाद है ॥

[गेहे] गेह (घर) अभिधेय हो तो ग्रह धातु से [कः] क प्रत्यय होता है ॥

जैसे—गृह्णातीति गृहं वेश्म [गृह्णन्ति पदार्थानिति गृहाणि वेश्मानि ।] तात्स्थ्योपाधि से स्त्रीजनों को भी गृह कहते हैं । गृहा दाराः ॥ १४४ ॥

शिल्पिनि ष्वुन्[4] ॥ १४५ ॥

शिल्पिनि । ७ । १ । ष्वुन् । १ । १ ॥ शिल्पिनि कारुण्यभिधेये सति धातोः ष्वुन् प्रत्ययो भवति ॥

१—वा०—नृतिखनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम्[5] ॥

---

१. आ० सू० ९८८ ॥

२ (क) देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्विधिः ।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥ (भाष्य—अ० ३ । ३ । १८६ ॥ ७ । ४ । ४१ ॥) इति भाष्यवचनाद् व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन ज्योतिषि 'ग्रहः' एव, जलचरे 'ग्राहः' एव प्रयुज्यते ॥

(ख) अत्र सूत्रे १४३ आख्यातिकटिप्पणमप्यवलोक्यम् ॥

३. आ० सू० ९८९ ॥ ४. आ० सू० ९९० ॥

५. महाभाष्ये तु········ ········रञ्जिभ्य इति पाठः ॥

सामान्यधातुभ्यः प्राप्त 'ष्वुन्' नियम्यते । नर्त्तकः । खनकः । रजकः । नर्त्तकी । खनकी । रजकी ॥

रजकशब्दे वार्त्तिकेनानुनासिकलोपः । ष्वुनि षित्करणं ङीषर्थम् । नित्करणञ्च स्वरार्थम् ॥

'शिल्पिनि' इति किम्—नृतः । खनः । रञ्जः ॥ 'नृत्यादिभ्यः' इति किम्—वायकः । अत्र ण्वुलेव भवति सरूपत्वान्नित्यम् ॥ १४५ ॥

[शिल्पिनि] शिल्पी कर्त्ता हो तो धातु से [ष्वुन्] प्रत्यय हो ॥

१—वा०—"नृतिखनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम्" इस वार्त्तिकवचन से सामान्य धातुओं से ष्वुन् का नियम कर दिया कि इन धातुओं से ही हो ॥ जैसे—नर्त्तकः । खनकः । रजकः । नर्त्तकी । खनकी । रजकी ॥ रजक शब्द में अनुनासिक का लोप रजकरजनरजस्सूपसंख्यानम् (अ० ६ । ४ । २४ भा०) इस वार्त्तिक से होता है ॥ 'ष्वुन्' में षित् करण ङीष् प्रत्यय के लिये है । तथा नित् करण स्वर के लिये है ॥

'शिल्पिनि' ग्रहण इसलिये है कि—नृतः । खनः । रञ्जः ॥ 'नृत्यादि' का ग्रहण वार्त्तिक में इसलिये है कि—वायकः । यहाँ सरूप होने से नित्य ण्वुल् ही होता है ॥ १४५ ॥

गस्थकन्[1] ॥ १४६ ॥

'शिल्पिनि' इत्यनुवर्त्तते । 'श्याद्व्यधे'त्याकारान्तत्वाण्णः प्राप्तस्तस्यायमपवादः ।

गः । ५ । १ । थकन् । १ । १ ॥ गा धातोस्थकन् प्रत्ययो भवति शिल्पिन्यभिधेये । गायतीति गाथकः । गाथिका ॥ १४६ ॥

'शिल्पिनि' पद का अनुवर्त्तन है । आकारान्त होने से 'श्याद्व्यधा०' से 'ण' प्राप्त था इस का यह अपवाद है ॥

शिल्पी कर्त्ता हो तो [गः] 'गै' धातु से [थकन्] थकन् प्रत्यय होता है ॥ जैसे—गायतीति गाथकः । स्त्रीलिङ्ग में—गाथिका ॥ १४६ ॥

ण्युट् च[2] ॥ १४७ ॥

'गः' इत्यनुवर्त्तते शिल्पिनि च [ण्युट् । १ । १ । च । अ०] ॥ शिल्पिन्यभिधेये सति गाधातोर्ण्युट् प्रत्ययश्च भवति ॥ गायनः । गायनी । टित्करणान्ङीप् । णित्वाद्युक् । पृथग्योग उत्तरार्थः ॥ १४७ ॥

'गः' तथा 'शिल्पिनि' पद का अनुवर्त्तन है ॥

शिल्पी कर्त्ता में 'गै' धातु से [ण्युट्] ण्युट् प्रत्यय भी हो ॥

---

१ अ० सू० ९९१ ॥ २ अ० सू० ९९२ ॥

जैसे—गायतीति गायनः। स्त्रीलिङ्ग में गायनी। 'टित्' होने से ङीप्, णित् होने से युक् हो जाता है। पृथक् ग्रहण उत्तरार्थ है॥ १४७॥

हश्च व्रीहिकालयोः[1] ॥ १४८॥

'ण्युट्' इत्यनुवर्त्तते। हः। ५।१। च [अ०] व्रीहिकालयोः। ७।२। ह इति सामान्यग्रहणात् 'ओहाङ्[2] गतौ' 'ओहाक्[3] त्यागे' इति द्वयोरेव ग्रहणम्॥

व्रीहिकालयोरभिधेययोर्हाधातोर्ण्युट् प्रत्ययो भवति॥ हायना व्रीहयः। हायनः संवत्सरः। णित्वादत्र युक्॥ १४८॥

'ण्युट्' पद का अनुवर्त्तन है। 'हः' पद से सामान्य करके 'ओहाक् त्यागे' तथा 'ओहाङ् गतौ' दोनों का ही ग्रहण है॥

[व्रीहिकालयोः] व्रीहि और काल अभिधेय हों तो [हः] ओहाक् और ओहाङ् धातु से 'ण्युट्' प्रत्यय हो॥

जैसे—[जहाति जलं जिहीते प्राप्नोति वा] हायनः व्रीहिः। [जहाति भावान् जिहीते प्राप्नोति वा] हायनः संवत्सरः॥ णित् होने से यहां 'युक्' हो जाता है॥ १४८॥

प्रुसृल्वः समभिहारे वुन्[4] ॥ १४९॥

प्रुसृल्वः ५।१। समभिहारे। ७।१। वुन्। १।१॥ सम्यग्विचारेण क्रियाकरणं समभिहारः॥ प्रु-सृ-लू इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वुन् प्रत्ययो भवति समभिहारे गम्यमाने। प्रवतीति प्रवकः। सरतीति सरकः। लुनातीति लवकः॥

भा—१—वा०—प्रुसृल्वः साधुकारिणि वुन् विधानम्[5]॥

सकृदपि यः सुष्ठु करोति तत्र यथा स्यात्। बहुशोऽपि यो दुष्ठु करोति तत्र मा भूत्॥ १४९॥

अच्छी प्रकार विचारपूर्वक क्रिया करना यहां समभिहार कहाता है॥

प्रु-सृ-लू इन धातुओं से वुन् प्रत्यय हो समभिहार अर्थात् अच्छे प्रकार क्रिया करनेवाला कर्त्ता अभिधेय हो तो॥

जैसे—प्रवतीति प्रवकः। सरतीति सरकः। लुनातीति लवकः॥

१—वा० —"प्रुसृल्वः साधुकारिणि वुन्०"—इस वार्त्तिक से अच्छा करने में एक वार करने पर भी वुन् होता है, अच्छा न करने में अनेक वार में भी वुन् नहीं होता॥ १४९॥

१. आ० सू० ९९३॥ २. धा०—जुहो०—७॥
३. धा०—जुहो०—८॥ ४. आ० सू० ९९४॥
५. अ० ३।१।१४९ भा०॥

आशिषि च[1] ॥ १५० ॥

'वुन्' इत्यनुवर्त्तते । आशिषि । ७ । १ । च [अ०] ॥ आशिषि गम्यमानायां धातुमात्राद् वुन् प्रत्ययो भवति ॥ जीवकः शरदः शतम् । पठको निर्विघ्नः । शतं वर्षाणि जीवतु, निर्विघ्नः पठत्वित्यर्थः ॥ १५० ॥

॥ इति तृतीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

यहां 'वुन्' पद का अनुवर्त्तन है ।

[**आशिषि**] आशीर्वाद अर्थ गम्यमान हो तो धातुमात्र से वुन् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जीवकः शरदः शतम् । पठको निर्विघ्नः । सौ वर्ष तक जीवे और निर्विघ्न पढ़े यह आशीर्वाद है ॥ १५० ॥

[तीसरे अध्याय का प्रथमपाद समाप्त हुआ]

---

१. आ० सू० ९९५ ॥

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

कर्मण्यण्[1] ॥ १ ॥

[कर्मणि । ७ । १ । अण् । १ । १ ।] ॥ अत्र त्रिविधं कर्म गृह्यते—निर्वर्त्यमानं, विक्रियमाणं, प्राप्यञ्च, तत्र त्रिविधे कर्मण्युपपदे धातुमात्राद् 'अण्' प्रत्ययो भवति ॥

निर्वर्त्यमाने—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । नगरकारः ॥ विक्रियमाणे—विकृत-भाविनि-केदारं लुनातीति केदारलावः । शरलावः । काण्डलावः ॥ प्राप्ये—वेदानधीते वेदाध्यायः । शाखाध्यायः ॥

उपपदाधिकारेऽण् विधीयते स उत्सर्गः ॥ 'ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति' इत्यादिष्वनभिधानादण् न भवति ॥

वा०—शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च[2] ॥ १ ॥

मांसशीलः । मांसशीला । मांसकामः । मांसकामा । मांसभक्षः । मांसभक्षा । आचरि—कल्याणाचारः । कल्याणाचारा ॥ १ ॥

वा०—ईक्षिक्षमिभ्याञ्च[3] ॥ २ ॥

ईक्षिक्षमिभ्यामपि णः प्रत्ययः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च भवति ॥ सुखप्रतीक्षः । सुखप्रतीक्षा । कल्याणक्षमः । कल्याणक्षमा ॥ २ ॥

अण्-बाधनार्थं 'ण' विधानम् । यद्यण् स्यात्तर्हि नित्यं ङीप् स्यात्, तत्र टाप् यथा स्यात् । 'गतिकारकोपपदात् कृत्'[4] इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्तं, पूर्वपदप्रकृतिस्वरो यथा स्यात् ॥

वा०—अन्नादायेति च कृतो व्यत्ययश्छन्दसि[5] ॥ ३ ॥

अन्नादायान्नपतये[6] । य आहुतिमन्नादा[6] हुत्वा[7] ॥ अन्नमत्तीति विग्रहेणा[द] 'अण्' प्राप्तस्तस्य प्रसङ्गेऽच् प्रत्ययो भवति व्यत्ययेन । स्वरसिद्ध्यर्थं व्यत्ययः ॥ १ ॥

---

१ आ० सू० ९९६ ॥

२. अ० ३ । २ । १ भा० ॥ (ख) आ० वा० ९९८ ॥

३. अ० ३ । २ । १ भा० ॥ (ख) आ० वा० ९९९ ॥

४. अ० ६ । २ । १३९ ॥

५. अ० ३ । २ । १ भा० ॥ (ख) आ० वा० ९९७ ॥

६ अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ ७. 'कृत्वा' इति तु भाष्ये सार्वत्रिक पाठः ॥

इस सूत्र में निर्वर्त्यमान, विक्रियमाण तथा प्राप्य इन तीन प्रकार के कर्म्मों[1] का ग्रहण है ॥

[कर्मणि] त्रिविध कर्म उपपद हो तो धातुमात्र से [अण्] अण् प्रत्यय होता है ॥ जैसे—निर्वर्त्यकर्म मे—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । नगरकारः ॥ विक्रियमाण म—केदार लुनातीति केदारलावः । शरलावः । काण्डलावः ॥ प्राप्य म—वेदानधीत इति वेदाध्यायः । शाखाध्यायः ॥

उपपद के अधिकार म विहित यह अण् उत्सर्ग है ॥ ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । इत्यादि प्रयोगों में अनभिधान से अण् नहीं होता ॥

वा०—शीलकामि०—माँसशीलः । माँसशीला । माँसकामः । माँसकामा । माँसभक्षः । माँसभक्षा । कल्याणाचारः । कल्याणाचारा ॥ १ ॥

वा०—ईक्षिक्षमिभ्यां च—ईक्ष तथा क्षम इन से 'ण' प्रत्यय होता है तथा पूर्वपद प्रकृतिस्वर भी ॥ जैसे—सुखप्रतीक्षः । सुखप्रतीक्षा । कल्याणक्षमः । कल्याणक्षमा ॥ २ ॥

इन वार्त्तिकों से 'ण' विधान 'अण्' बाधन के लिये किया है, क्योंकि यदि 'अण्' होता तो नित्य ङीप् होता, परन्तु अब टाप् होता है ॥

१. कर्म के इन तीन भेदों का लक्षण भर्तृहरि ने (वाक्यपदीय—कां० ३ । का० ४५, ४७-४८) निम्न कारिकाओं द्वारा किया है—

निर्वर्त्यलक्षणम्—

सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी । यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥ १ ॥

विकार्य्यल०—

प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादि-भस्मवत् । किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादि विकारवत् ॥२॥

प्राप्यल०—

क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानाद् वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ॥ ३ ॥

इसका भावार्थ आख्यातिक की टिप्पणी में निम्न प्रकार है—

जिसका उपादान कारण विद्यमान न हो वह निर्वर्त्य कहाता है, जैसे—संयोगं करोति । अथवा जिसका विद्यमान भी उपादान कारण विवक्षित न हो वह भी निर्वर्त्य कहाता है । जैसे—घट करोति ॥ जब उपादान कारण ही परिणामी माना जाय तो निर्वर्त्य कर्म भी विकारी हो जाता है, जैसे—मृद घट करोति । और जब भेदविवक्षा है तब वही निर्वर्त्य कर्म रहता है, जैसे—मृदा घट करोति । विकार्य्य कर्म दो प्रकार का है अर्थात् एक तो प्रकृति के विनाश से जो कुछ विकार उत्पन्न हो, जैसे—काष्ठादि भस्म और दूसरा गुणान्तर से जो उत्पन्न हो, जैसे—सुवर्णादि विकार कुण्डलादि ॥ जिसमें प्रत्यक्ष वा अनुमान से क्रियाकृत विशेष न पाया जाय अर्थात् प्रथम से न हो वह प्राप्य कर्म कहाता है ॥

'गतिकारकोपपदात् कृत्' इस सूत्र से उत्तरपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, इस वार्त्तिक से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥

वा० —अन्नादायेति० —वेद विषय में 'अन्नादाय' इत्यादि प्रयोगों के लिये कृत्संज्ञक प्रत्ययों का व्यत्यय देखा जाता है ॥ जैसे —अन्नादायान्नपतये । य आहुतिमन्नादा हुत्वा इत्यादि में 'अन्नमत्तीति' इस विग्रह में कर्मोपपद 'अद' धातु से 'अण्' की प्राप्ति में 'अच्' प्रत्यय विकल्प से होता है । यहां व्यत्यय स्वर की सिद्धि के लिये है ॥ १ ॥

ह्वावामश्च[1] ॥ २ ॥

ह्वेञ्, वेञ्, माङ् इत्येतेषामाशिद्विषये कृतात्वानां[2] निरनुबन्धकानां ग्रहणं क्रियते ॥ ह्वावामः । ५ । १ । च [अ०] । ह्वादीनां समाहारद्वन्द्वः । ह्वादिभ्यो वक्ष्यमाणसूत्रेण कर्मण्युपपदे 'कः' प्राप्तस्तस्यायमपवादः ॥

ह्वादिभ्यः कर्मण्युपपदेऽण् प्रत्ययो भवति ॥

पुत्रं ह्वयति पुत्रह्वायः । तन्तुवायः । धान्यं मिमीत इति धान्यमायः ॥

यहां ह्वेञ्, वेञ् तथा माङ् इन अशिद् विषय में 'आत्व' हुए हुए निरनुबन्धों का ग्रहण है ॥ यहां समाहारद्वन्द्व समास है । ह्वादि से अगले "आतोऽनुपसर्गे कः" सूत्र से कर्म उपपद होने पर 'क' प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

कर्म उपपद हो तो [ह्वावामः] ह्वेञ्, वेञ्, माङ् इन से 'अण्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पुत्रं ह्वयति पुत्रह्वायः । तन्तुवायः । धान्यं मिमीत इति धान्यमायः ॥ २ ॥

आतोऽनुपसर्गे कः[3] ॥ ३ ॥

[आतः । ५ । १ । अनुपसर्गे । ७ । १ । कः । १ । १ ।]

अणोऽपवादः ॥ कर्मण्युपपदे उपसर्गरहितेभ्य आकारान्तधातुभ्यः 'कः' प्रत्ययो भवति ॥

गां ददातीति गोदः । कम्बलदः ॥

अनुपसर्गे' इति किम् —गोसंदायः । कम्बलसंदायः । अत्राणेव यथा स्यात् ॥ ३ ॥

---

१. भा० सू० १००० ॥

२. ह्वेञ सानुबन्धकस्य साहचर्य्यात् 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इत्येव गृह्यते 'वा गतिगन्धनयोः' इति तु न गृह्यते, अकर्मकत्वाच्च ॥

'मा' इत्यनेन गामादाग्रहणेष्वविशेषः (अ० १ । १ । २० भा०) इत्यनया परिभाषया सर्वेषां ग्रहणं प्राप्तम् । परन्त्विह ('मेङ् प्रणिदाने' भ्वा० 'माङ् माने' जु०) इत्युभयोर्ग्रहणं भवति ('मा माने' अदा०) इत्यस्य तु न भवत्यकर्मकत्वात् ॥

३. भा० सू०—१००१ ॥

यह अण् का अपवाद है ॥ [अनुपसर्गे] उपसर्गरहित कर्म उपपद हो तो [आतः] आकारान्त धातुओं से [कः] 'क' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—गोदः । कम्बलदः ॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि गोसंदायः । कम्बलसंदायः । यहां 'अण' ही होता है ॥ ३ ॥

सुपि स्थः[1] ॥ ४ ॥

सुपि । ७ । १ । स्थः । ५ । १ ॥ सुपि सामान्यकारक उपपदे सति 'स्था' धातोः कः प्रत्ययो भवति ॥

गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः । समस्थः । विषमस्थः ॥

भा०—योगविभागः करिष्यते । आतोऽनुपसर्गे कः । ततः 'सुपि' । सुपि चातः को भवति । कच्छेन पिबतीति कच्छपः । कटाहेन पिबतीति कटाहपः । द्वाभ्यां पिबति द्विपः । ततः 'स्थः' । स्थश्च सुपि को भवति । किमर्थमिदं ? भावे यथा स्यात् । आखूत्थो वर्त्तते । शलभोत्थः ॥

'सुपि' इति योगविभागात् सुप्युपपदे कर्त्तरि प्रत्ययस्तेन 'गृहस्थ' इत्यपि सेत्स्यति । आखूनामुत्थानमिति विग्रहेण भावे 'कः' प्रत्ययो भवति[2] ॥ ४ ॥

[सुपि] सामान्यकारक उपपद हो तो [स्थः] 'स्था' धातु से 'क' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः । समस्थः । विषमस्थः ॥

'सुपि' इस योग-विभाग से सुबन्त उपपद होने पर कर्त्ता में आकारान्त धातुओं से 'क' प्रत्यय हो जायगा, उसी से 'गृहस्थ' यह उदाहरण भी सिद्ध हो जायगा । 'स्थः' इससे आखूत्थः इस उदाहरण में आखूनामुत्थानम् इस विग्रह से भाव में 'क' प्रत्यय हो जाता है ॥ ४ ॥

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः[3] ॥ ५ ॥

तुन्दशोकयोः । ७ । २ । परिमृजापनुदोः । ६ । २ ॥ अणोऽपवादः ॥

तुन्द-शोकयोः कर्मोपपदयोः परिपूर्वात् 'मृज' धातोरपपूर्वाच्च 'नुद' 'क' प्रत्ययो भवति ॥

तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमृजः । शोकमपनुदतीति शोकापनुदः ॥

'तुन्दशोकयोः' इति किम्—मुखं परिमार्ष्टि मुखपरिमार्जः[4] । अत्रान्यकर्मण्युपपदेऽणेव भवति ॥

---

१ आ० सू०—१००२ ॥ २ आ० सूत्रे १००२ ॥ टिप्पणमध्यवलोकनीयम् ॥

३ आ० सू०—१००३ ॥

४ 'तुन्दपरिमार्ज' इति प्रत्युदाहरता भाष्यकारेण **'मजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते'** इत्येतस्यानित्यत्वं ज्ञापितं भवति ॥

व्यवस्थितविभाषयाऽत्र वृद्धिर्नेति वदन्तस्त्वेतद्भाष्यवचनप्रामाण्यादुपेक्षणीयाः ॥

वा०—आलस्यसुखाहरणयो[1] ॥ १ ॥

अनयोरभिधेययोः सतोः 'क' प्रत्ययो भवति ॥ तुन्दपरिमृजोऽलसः । शोकापनुदः पुत्रो जातः । यो हि तुन्द परिमार्ष्टि तुन्द[परि]मार्जः स भवति । यश्च शोकमपनुदति शोकापनोदः स भवति । यत्रोक्तार्थौ न [स्त]स्तत्र तुन्दशोकयोरुपपदयोरपि सतोः 'अण्' एव प्रत्ययो भवति ॥ १ ॥

वा०—क—प्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्[2] ॥ २ ॥

मूलविभुजो रथः । नखमुचानि धनूंषि । काकगुहास्तिलाः । सरसिरुहं कुमुदम् । मूलविभुजाद्याकृतिगणः[3] ॥ २ ॥ ५ ॥

यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है [तुन्दशोकयोः] 'तुन्द' और 'शोक' कर्म उपपद हों तो [परिमृजापनुदोः] परिपूर्वक 'मृज' तथा अपपूर्वक 'नुद' धातु से 'क' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—तुन्द परिमार्ष्टि तुन्दपरिमृजः । शोकमपनुदतीति शोकापनुदः ॥

'तुन्दशोकयो' ग्रहण इसलिये है कि—मुखं परिमार्ष्टि मुखपरिमार्जः यहां अन्य कर्म उपपद होने पर 'अण्' ही होता है ॥

वा०—आलस्यसुखा०—आलस्य और सुख अभिधेय हो तो 'क' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—तुन्दपरिमृजोऽलसः । शोकापनुदः पुत्रो जातः । अन्यत्र—तुन्दपरिमार्जः । शोकापनोदः ऐसा ही होता है । जहां आलस्य तथा सुखाहरण अर्थ नहीं होते वहां तुन्द और शोक उपपद होने पर भी 'अण्' ही होता है ॥

वा० क-प्रकरणे मूल०—'क' प्रत्यय के प्रकरण में मूलविभुजादिकों से 'क' प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये ॥ जैसे—मूलविभुजो रथः । नखमुचानि धनूंषि । काकगुहास्तिलाः । सरसिरुहं कुमुदम् ॥ मूलविभुजादि आकृतिगण है ॥ ५ ॥

प्रे दाज्ञः[4] ॥ ६ ॥

सोपसर्गात् कः प्रतिषिध्यते तदर्थोऽयमारम्भः । प्रे । ७ । १ । दाज्ञः । ५ । १ ॥

कर्मण्युपपदे प्रोपसृष्टाभ्यां ददाति[5]-जानातिभ्यां धातुभ्यां 'क' प्रत्ययो भवति । विद्याप्रदः । शास्त्रप्रज्ञः ॥

'प्रे' इति किम् गोविदायः । अत्राणेव भवति ॥ ६ ॥

---

१ अ० ३ । २ । ५ भा० ॥

२. अ० ३ । २ । ५ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१००४ ॥

३ आकृतिगणत्वात् मही ध्रति-महीध्रः = पर्वतः । कुध्रः पर्वतः । शिरोध्रः । शिरोरुहः—इत्यादयः सिध्यन्ति ॥

४. आ० सू० १००५ ॥

५ 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' (अ० १ । १ । २० भाष्ये) इति वचनात् सर्वेऽपि दा-रूपा धातवो गृह्यन्ते ।

उपसर्गसहित से 'क' प्रत्यय प्रतिषिद्ध है उस का पुनः विधान करने के लिये यह सूत्र है ॥

कर्म उपपद हो तो [प्रे] प्र-पूर्वक [दाज्ञः] 'दा' तथा 'ज्ञा' धातु से 'क' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विद्याप्रदः । शास्त्रप्रज्ञः ॥

'प्रे' ग्रहण इसलिये है कि—गोविदायः । यहां 'अण्' ही होता है ॥ ६ ॥

समि ख्यः[1] ॥ ७ ॥

अत्रापि सोपसर्गार्थ आरम्भः । समि । ७ । १ । ख्यः । ५ । १ ॥

सम्पूर्वात् 'ख्या'[2] धातोः कर्मण्युपपदे 'क' प्रत्ययो भवति ॥

गोसंख्यः । अविसंख्यः ॥

'समि' इति किम्—गोप्रख्यायः । अत्रानुपसर्गात् के प्रतिषिद्धेऽणेव भवति । अत एवाणोऽपवादः ॥ ७ ॥

यह भी सोपसर्ग के लिये है ॥ [समि] सम्-पूर्वक [ख्यः] 'ख्या' धातु से कर्म उपपद होने पर क प्रत्यय होता है ॥

जैसे—गोसंख्यः । अविसंख्यः ॥

समि ग्रहण इसलिये है कि—गोप्रख्यायः । यहां (आतोऽनुपसर्गे कः) से 'क' प्रत्यय के प्रतिषेध होने से 'अण्' ही हो जाता है अतः यह सूत्र भी अण् का ही अपवाद है ॥ ७ ॥

गापोष्टक्[3] ॥ ८ ॥

उपसर्गरहितादाकारान्तात् कः प्राप्तस्तस्यायमपवादः । गापोः । ६ । २ । टक् । १ । १ ॥

कर्मण्युपपदे गापाभ्यां[4] धातुभ्यां 'टक्' प्रत्ययो भवति ॥

आत्मानं गायतीति-आत्मगः । ब्रह्मगः । वेदगः । सामगः । आत्मगी । ब्रह्मगी । [वेदगी] । सामगी । सुरापः । सुरापी । अत्र टित्करणान्ङीप् कित्त्वादाकारलोपश्च ॥

---

१. आ० सू०—१००६ ॥

२ सूत्रे 'ख्य' पदेन 'चक्षिङः ख्याञ्' (अ० २ । ४ । ५४) इत्यादिष्टस्य ख्याञ एव ग्रहणम् । सं-पूर्वस्य 'ख्या प्रकथने' (अदा०) इत्यस्य तु न भवति प्रयोगाभावात् ॥

३. आ० सू० १००७ ॥

४. लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम् (अ० ७ । २ । ८४ भाष्ये) इति परिभाषाबलेन पाग्रहणेन पिबतेरेव ग्रहणम् । तथा च—गामादाग्रहणेष्वविशेषः (अ० १ । १ । २० भाष्ये) इति परिभाषया—अविशेषेण सर्वेषां गा-धातूनां ग्रहणे प्राप्ते, परन्तु अलुग्विकरणस्य पिबतिना साहचर्यात् अनभिधानाच्च 'गै शब्दे' (भ्वा०) इत्यस्यैव ग्रहणं नान्येषाम् ॥

वा०—सुराशीध्वोः पिबतेः[1] ॥ १ ॥

सुराशीध्वोः कर्मोपपदयोः पा-ग्रहणे पानार्थाद्धातोः 'टक्' प्रत्ययो भवति। सुरापः। सुरापी। शीधुपः। शीधुपी॥

'सुराशीध्वोः' इति किम्—क्षीरपा ब्राह्मणी॥ 'पिबते' इति किम्—या हि सुरां पाति सुरापा सा भवति, अत्रोभयत्र 'क' प्रत्ययः॥

वा०—बहुलं तरिण[2] ॥ २ ॥

संज्ञायां छन्दसि च पिबतेर्बहुलं 'टक्' प्रत्ययोऽर्थात् पक्षे 'क'-प्रत्ययः। या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति[3]। या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति। अत्र-सुरापी, सुरापेति टक् पक्षे 'ङीप्' अन्यत्र 'टाप्'॥ ८॥

उपसर्गरहित आकारान्तों से 'क' प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥

कर्म उपपद हो तो [गापोः] 'गा' और 'पा' धातु से [टक्] टक् प्रत्यय होता है॥ जैसे—आत्मानं गायतीति आत्मगः। ब्रह्मगः। वेदगः। सामगः। आत्मगी। ब्रह्मगी। वेदगी। सामगी। यहां प्रत्यय के टित् होने से ङीप् और कित् होने से आकार का लोप हो जाता है॥

वा०—सुराशीध्वोः०—सुरा तथा शीधु यह कर्म उपपद हों तो पानार्थ वाले 'पा' धातु से टक् प्रत्यय होता है॥ जैसे—सुरापः। सुरापी। शीधुपः। शीधुपी॥ 'सुराशीध्वोः' ग्रहण इसलिये है कि—क्षीरपा ब्राह्मणी॥ 'पिबते' ग्रहण इसलिये है कि—या हि सुरां पाति सा सुरापा यहां दोनों में 'क' प्रत्यय होता है॥ १॥

वा०—बहुलं तरिण—संज्ञा और छन्द में 'पिबति' धातु से बहुल करके 'टक्' प्रत्यय होता है पक्ष में 'क' प्रत्यय होता है। जैसे—या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति। या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति॥ यहां टक् पक्ष में ङीप् तथा 'क' पक्ष में 'टाप्' होता है॥ ८॥

हरतेरनुद्यमनेऽच्[4] ॥ ९ ॥

अणोऽपवादः। हरतेः। ५। १। अनुद्यमने। ७। १। अच्। १। १॥ उद्यमनं=पुरुषार्थेन कार्यसंपादनम्। न उद्यमनमनुद्यमनं तस्मिन्—अनुद्यमने वर्त्तमानाद् 'हृञ्' धातोः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति॥

भागं हरतीति भागहरः। अंशहरः॥

'अनुद्यमने' इति किम्—भारं हरतीति भारहारः। अत्राणेव भवति॥

१. अ० ३। २। ८ भा०॥

२. अ० ३। २। ८ भा०॥ (ख) किमिदं तरणीति? संज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम्। अ० ३। २। ८ भा०॥

३. अनुपलब्धमूलमिदम्॥ ४. आ० सू०—१००९॥

वा० अच् प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्[1] ॥ १ ॥

शक्त्यादिषु कर्मोपपदेषु 'ग्रह' धातोः 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥ शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुश गृह्णातीत्यङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः ॥ १ ॥

वा०—सूत्रे च धार्य्यर्थे[2] ॥ २ ॥

सूत्रे कर्मण्युपपदे धार्य्यर्थे वर्त्तमानाद् 'ग्रह' धातोः 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥ सूत्र गृह्णाति धारयतीति सूत्रग्रहः ॥

'धार्य्यर्थे' इति किम् यो हि सूत्रं गृह्णाति सूत्रग्राहः स भवति । अत्रौत्सर्गिकोऽणेव भवति ॥ ६ ॥

यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है । पुरुषार्थ से कार्य सम्पादन करने को उद्यमन कहते हैं इससे विपरीत अनुद्यमन कहाता है ॥

[अनुद्यमने] अनुद्यमन अर्थ में वर्तमान [हरते:] 'हृञ्' धातु से कर्म उपपद हो तो अच् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—भाग हरतीति भागहरः । अंशहरः ॥

'अनुद्यमन' ग्रहण इसलिये है कि—भार हरतीति भारहारः । यहां 'अण्' ही होता है ॥

वा०—अच् प्रकरणे शक्ति०—शक्त्यादि कर्म उपपद हों तो 'ग्रह' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है जैसे—शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुश गृह्णातीति- अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः ॥ १ ॥

वा०—सूत्रे च धार्य्यर्थे—सूत्रकर्म उपपद हो तो धारणार्थक 'ग्रह' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है जैसे सूत्र गृह्णाति धारयतीति सूत्रग्रहः ॥ 'धार्य्यर्थे' ग्रहण इसलिये है कि यो हि सूत्र गृह्णाति स सूत्रग्राहः । यहां उत्सर्ग (कर्मण्यण्) 'अण्' ही होता है ॥ ९ ॥

वयसि च[3] ॥ १० ॥

उद्यमनार्थ आरम्भः । 'हरतेः-अच्' इत्यनुवर्त्तते । वयसि । ७ । १ । च [अ०] ॥

वयस्यायुषि गम्यमाने कर्मण्युपपदे 'हृञ्' धातोः 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥ कवच हरतीति कवचहरः । शस्त्रहरः कुमारः । कवच शस्त्राणि [च] धारयितुमस्यावस्था वर्त्तत इत्यर्थः ॥ १० ॥

१ अ० ३ । २ । ९ भा० ॥ (ख) भा० वा० १०१० ॥ (ग) वार्त्तिकेऽस्मिन् 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' (अ० ४ । १ । १ भाष्ये) इति परिभाषाबलेन घटग्रहः नैव घटी इत्यस्यापि ग्रहणं स्यादेव, पुनर्घटीग्रहणमस्याः परिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनार्थम् । तेन मद्रराज्ञी' इत्यत्र 'टच्' न भवति ॥

२ अ० ३ । २ । ९ भा० ॥ (ख) भा० वा०—१०११ ॥

३ भा० सू०—१०१२ ॥

यहां 'हरते' तथा 'अच्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ यह सूत्र उद्यमन अर्थ में 'अच्' करने के लिये है ॥

[वयसि] आयु गम्यमान हो तो कर्म उपपद होने पर 'हृञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है। जैसे—कवचं हरतीति कवचहरः । शस्त्रहरः कुमारः ॥ अर्थात् इसकी कवच और शस्त्र धारण करने की अवस्था है ॥ १० ॥

आङि ताच्छील्ये[1] ॥ ११ ॥

'हरते -अच्' इत्यनुवर्त्तते । आङि । ७ । १ । ताच्छील्ये । ७ । १ ॥ तच्छीलस्य भावस्ताच्छील्यं तस्मिन् ताच्छील्ये प्रत्ययार्थे सति कर्मण्युपपदे आङ्पूर्वाद् हरते: 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥

फलान्याहरतीति फलाहरः । पुष्पाहरः । दुग्धाहरः । फलाहरणस्वभाव इत्यर्थः ।

'ताच्छील्ये' इति किम्—शकटमाहरतीति शकटाहारो वृषभः । अत्राणेव भवति ॥ ११ ॥

यहां 'हरते' तथा 'अच्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [ताच्छील्ये] ताच्छील्य = (तत्स्व-भावता) अर्थ गम्यमान हो तो [आङि] आङ्पूर्वक 'हृञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—फलान्याहरतीति फलाहरः । पुष्पाहरः । दुग्धाहरः । फलाहरणस्वभाव वाला ॥

'ताच्छील्ये' ग्रहण इसलिये है कि—शकटमाहरतीति शकटाहारो वृषभः । यहां 'अण्' ही होता है ॥ ११ ॥

अर्हः[2] ॥ १२ ॥

'अच्' इत्यनुवर्त्तते । अर्हः । ५ । १ ॥

'अर्ह पूजायाम्'[3] अस्माद् धातोः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति ॥

अण् प्राप्तस्तस्य बाधनार्थं वचनम् । प्राधान्यमर्हतीति प्राधान्यार्हः । गन्धार्हः । आदरार्हः । अत्र यद्यण् स्यात्तर्हि नित्यं स्त्रीलिङ्गे ङीप् स्यात् । टाबर्थ आरम्भः, आदरार्हा ॥ १२ ॥

यहां 'अच्' पद की अनुवृत्ति है । अण् प्राप्त था उसको बाधने के लिये यह सूत्र है ॥

कर्म उपपद हो तो [अर्हः] 'अर्ह' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—प्राधान्यमर्हतीति प्राधान्यार्हः । गन्धार्हः । आदरार्हः ॥ यदि 'अण्' प्रत्यय हो जाता तो स्त्रीलिङ्ग में नित्य ङीप् होता परन्तु 'टाप्' हो जावे इसलिये सूत्र का आरम्भ है । जिससे कि स्त्रीलिङ्ग में 'आदरार्हा' ऐसा रूप बन जाता है ॥ १२ ॥

१. म० सू०—१०१३ ॥ २. म० सू० १०१४ ॥
३. धा०—भ्वा०—७४८ ॥

स्तम्बकर्णयो रमिजपोः[1] ॥ १३ ॥

अत्र 'सुपिस्थः[2]' इति सूत्रात् 'सुपि' इत्यनुवर्त्तते । स्तम्बकर्णौ कर्मणी न स्तः । स्तम्बकर्णयोः । ७ । २ । रमिजपोः । ६ । २ ॥

वा०—हस्तिसूचकयोः[3] ॥ १ ॥

हस्तिसूचकयोरभिधेयप्रत्ययार्थयोः स्तम्बकर्णयोः सुबन्तोपपदयोर्यथासख्यं रमिजपिधातुभ्यां 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥

स्तम्बे रमत इति स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णे जपतीति कर्णेजपः सूचकः । अत्र 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्[4]' इति सप्तम्यलुक् ॥

'हस्तिसूचकयोः' इति किमर्थम् —स्तम्बेरन्ता । कर्णेजपिता । अत्र हस्तिसूचकाभिधेयो न स्त इत्यण् न भवति, तृजेव ॥ १३ ॥

यहां 'सुपि स्थः' इस सूत्र से 'सुपि' इस पद की अनुवृत्ति है । 'स्तम्ब तथा कर्ण' ये कर्म नहीं हैं ॥

वा० - हस्तिसूचकयोः—हस्ति, सूचक अभिधेय हो तथा [स्तम्बकर्णयो] स्तम्ब और कर्ण सुबन्त उपपद हों तो यथासख्य [रमिजपोः] रम तथा जप धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्तम्बे रमत इति स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णे जपतीति कर्णेजपः सूचक ॥ यहां सप्तमी का अलुक् 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' इस सूत्र से हो जाता है ॥

'हस्तिसूचकयोः' ग्रहण इसलिये है कि—स्तम्बेरन्ता । कर्णेजपिता । यहां हस्ती और सूचक अर्थ न होने से 'अण्' नहीं होता परन्तु 'तृच्' प्रत्यय ही होता है ॥ १३ ॥

शमि धातोः संज्ञायाम्[1] ॥ १४ ॥

'अच्' अनुवर्त्तते । शमि । ७ । १ । धातोः । ५ । १ । संज्ञायाम् । ७ । १ ॥

शमित्यव्यय उपपदे धातुमात्रात् संज्ञायां गम्यमानायां 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥

शम्भवः । शंवदः । शंकरः । इमानि कस्यचिन्नामानि सन्ति ॥

'संज्ञायाम्' इति किम्—शंकारः ॥

'धातोः[5]' इत्यधिकारादेव सिद्धे पुनर्धातुग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—हेत्वाद्यर्थेषु 'कृञ्' धातोः 'ट' प्रत्ययो विधीयते, तत्र शम्युपपदे संज्ञायां हेत्वादिषु गम्यमानेष्वपि 'कृञ्' धातोः 'अच्' एव यथा स्यात् 'शंकरा' नाम परिव्राजिका=सन्न्यस्ता स्त्री । शंकरा नाम

१. आ० सू०—१०१५ ॥ २. अ० ३ । २ । ४ ॥
३. अ०—३ । २ । १३ भा० ॥ ४. अ० ६ । ३ । ९ ॥
५. आ० सू०—१०१६ ॥ ६. अ० ३ । १ । ९१ ॥

शकुनिका । अत्र स्त्रीलिङ्गे विशेषः, यद्यत्र टः स्यात्तर्हि स्त्रियां ङीपा भवितव्यं, टाप् यथा स्यादि[ति] धातुग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥ १४ ॥

यहां अच् पद का अनुवर्त्तन है ॥ [शमि] शम् यह अव्यय उपपद हो तो [धातो] धातुमात्र से 'अच्' प्रत्यय होता है [संज्ञायाम्] संज्ञा अभिधेय होने पर ॥

जैसे—शङ्करः । शंवदः । शम्भवः । ये किन्हीं के नाम हैं ॥

'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—शङ्करः ॥

'धातोः' इस अधिकार से ही सिद्ध हो जाना, पुनः सूत्र में धातुग्रहण का यह प्रयोजन है कि—हेत्वादि अर्थों में 'कृञ्' धातु से 'ट' प्रत्यय कहा है परन्तु 'शम्' उपपद होने पर संज्ञा में हेत्वादि अर्थ गम्यमान होने पर भी 'कृञ्' धातु से 'अच्' ही हो। शङ्करा नाम परिव्राजिका। यह किसी संन्यस्ता स्त्री का नाम है। शङ्करा नाम शकुनिका। यहां स्त्रीलिङ्ग में यह विशेष है कि—यदि 'ट' होवे तो स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' होगा, 'टाप्' हो जाय इसलिये धातु ग्रहण है ॥ १४ ॥

अधिकरणे शेतेः[1] ॥ १५ ॥

'अच्' अनुवर्त्तते । अधिकरणे । ७ । १ । शेतेः । ५ । १ ॥

अधिकरणसुबन्त उपपदे 'शीङ्' धातोः 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥

'अधिकरणे' इति किम्—खट्वामधिशेत इति खट्वाधिशायः[2] । अत्राणेव भवति ॥

वा० [*अधिकरणे शेते*] *पार्श्वादिषूपसंख्यानम्*[3] ॥ १ ॥

अनधिकरणार्थं आरम्भः । पार्श्वादिषूपपदेषु शेतेः 'अच्' । पार्श्वाभ्यां शेत इति पार्श्वशयः । पृष्ठेन शेत इति पृष्ठशयः । उदरशयः । आकृतिगणोऽयम् ॥ १ ॥

वा०—*दिग्धसहपूर्वाच्च*[4] ॥ २ ॥

दिग्धसहपूर्वाच्च 'शीङ्' धातोरच् । दिग्धेन सह शेते दिग्धसहशयः ॥ २ ॥

वा०—*उत्तानादिषु कर्तृषु*[5] ॥ ३ ॥

उत्तानादिषु कर्त्तृवाचिषु शब्दोपपदेषु 'शीङ्' धातोः 'अच्' भवति । उत्तानः ऊर्ध्वमुखः शेत उत्तानशयः । अवमूर्द्धशयः । अयमप्याकृतिगणः ॥ ३ ॥

वा०—*गिरौ डश्छन्दसि*[6] ॥ ४ ॥

१. आ० सू०—१०१७ ॥
२. म० ३ । २ । १५ भा० ॥ (ख) आ० वा० १०१८ ॥
३. म० ३ । २ । १५ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०१९ ॥
४. म० ३ । २ । १५ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०२० ॥
५. म० ३ । २ । १५ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०२१ ॥
(ग) शिवे॑न॒ वच॑सा त्वा॒ गिरि॑शा॒च्छा॑वदामसि ॥ यजु०—१६ । ४ ।
यो गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते तत्सम्बुद्धौ—गिरिश । स्वा० द० यजुर्वेदभाष्य ॥

गिरिशब्द उपपदे वेदविषये 'शीङ्' धातो 'ड.' प्रत्ययः। गिरौ शेते गिरिशः ॥ डित्करणं टिलोपार्थम् ॥ १५ ॥

यहां 'अच्' पद का अनुवर्त्तन है॥ [अधिकरणे] अधिकरण सुबन्त उपपद हो तो [शेतः] 'शीङ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है॥ जैसे— खट्वायां शेते खट्वाशयः। कटशयः। खशयः॥

अधिकरण ग्रहण इसलिये है कि—खट्वामधिशेते इति खट्वाधिशायः यहां 'अण्' ही होता है॥

वा०—पार्श्वादि०—यह वार्त्तिक अनधिकरण के लिये है। पार्श्वादि उपपद हो तो 'शीङ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय हो॥ जैसे—पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशयः। पृष्ठेन शेत इति पृष्ठशयः। उदरशयः। पार्श्वादि आकृतिगण है॥ १॥

वा०—दिग्धस०—दिग्धसह-पूर्वक 'शीङ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है॥ जैसे—दिग्धेन सह शेते दिग्धसहशयः॥ २॥

वा०—उत्तानादि०—कर्तृवाची उत्तानादि शब्द उपपद हो तो 'शीङ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय हो॥ जैसे—उत्तान ऊर्ध्वमुखः शेते उत्तानशयः। अवमूर्द्धशयः। यह भी आकृतिगण है॥ ३॥

वा०—गिरौ डश्छन्दसि—गिरि शब्द उपपद हो तो वेदविषय में 'शीङ्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है॥ जैसे—गिरौ शेते गिरिशः॥ डित्करण टिलोप के लिए है॥ ४॥ १५॥

चरेष्टः[1] ॥ १६ ॥

'अधिकरणे[2]' इत्यनुवर्त्तते। 'अच्' निवृत्तः। चरेः। ५। १। टः [१। १।] अधिकरणसुबन्त उपपदे 'चर' धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति॥

व्योम्नि चरतीति व्योमचरः। खचरः॥ 'अच्' इत्यनुवर्त्तमाने ट-प्रत्ययान्तरं ङीबर्थं टित्वात् 'ङीप्' यथा स्यात्। खचरी शकुनिका॥ १६॥

यहां 'अधिकरण' पद का अनुवर्त्तन है, 'अच्' निवृत्त हुआ॥ अधिकरण सुबन्त उपपद हो तो [चरेः] 'चर' धातु से [टः] 'ट' प्रत्यय होता है॥

जैसे—व्योम्नि चरतीति व्योमचरः। खचरः॥

'अच्' प्रत्यय के अनुवर्त्तन में 'ट' इस प्रत्ययान्तर के विधान करने का प्रयोजन ङीप् प्रत्यय के लिये है। यत टित् होने से ङीप् हो जावे। जैसे—खचरी शकुनिका॥ १६॥

---

१. आ० सू० १०२२॥

२. अत्र भाष्यम्—'इह कस्मान्न भवति? कुरूंश्चरति। पाञ्चालांश्चरतीति। अधिकरण इति वर्त्तते। ननु कर्मणीत्यपि?। यदयं भिक्षासेनादायेषु च। (अ० ३। २। १७) इति चरेर्भिक्षाग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न भवति कर्मणीति'॥

(ख) आख्यातिकटिप्पणमप्यत्र द्रष्टव्यम्॥

भिक्षासेनादायेषु च[1] ॥ १७ ॥

अनधिकरणार्थोऽयमारम्भः । 'चरेः-टः' इत्यनुवर्त्तते । भिक्षासेनादायेषु । ७ । ३ । च [अ०] ॥

भिक्षा-सेना-आदाय इत्येतेषूपपदेषु 'चर' धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ भिक्षां चरति भिक्षाचरः । सेनया चरतीति सेनाचरः । आदाय चरतीत्यादायचरः[2] ॥ १७ ॥

यह सूत्र अनधिकरण के लिये है । 'चरे' तथा 'ट' पद का अनुवर्त्तन है ।

[भिक्षासेनादायेषु] भिक्षा, सेना, आदाय ये उपपद हों तो 'चर' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥

जैसे - भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः । सेनया चरतीति सेनाचरः । आदाय चरतीति आदायचरः ॥ १७ ॥

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः[3] ॥ १८ ॥

'ट' इत्यनुवर्त्तते । पुरोऽग्रतोऽग्रेषु । ७ । ३ । सर्त्तेः । ५ । १ ॥

पुरस्-अग्रतस्-अग्रे इत्येतेष्वव्ययोपपदेषु सृ-धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ पुरः-सरतीति पुरस्सरः । अग्रतस्सरः । अग्रेसरः[4] ॥

'पुर आदिषु' इति किम्—ग्रामं सरतीति ग्रामसारः ॥ १८ ॥

यहां 'ट' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [पुरोऽग्रतोऽग्रेषु] पुरस्, अग्रतस्, अग्रे ये उपपद हों तो [सर्त्तेः] 'सृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पुरः सरतीति पुरस्सरः । अग्रतस्सरः । अग्रेसरः ॥

'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु' ग्रहण इसलिये है कि—ग्रामं सरतीति ग्रामसारः । यहां अण् ही होता है ॥ १८ ॥

पूर्वे कर्त्तरि[5] ॥ १९ ॥

'सर्त्तेः' इति वर्त्तते । पूर्वे । ७ । १ । कर्त्तरि । ७ । १ ॥

कर्त्तृवाचिनि पूर्वशब्द उपपदे 'सृ' धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वः प्रथमः सरतीति पूर्वसरः ॥

---

१. आ० सू० १०२३ ॥

२. आदायेति ल्यबन्तम् । अत्राऽऽदानस्यकर्मणोऽविवक्षितत्वात् पूर्वकालमात्रविवक्षिते प्रत्ययः, आदानं कृत्वा चरतीत्यर्थः ॥

३. आ० सू० १०२४ ॥

४. 'अग्रेसर' इत्यत्र निपातनाद् 'एत्वम्' ॥ (ख) 'अग्रसर' इति बाहुलकात् ॥

५. आ० सू० १०२५ ॥

'कर्त्तरि' इति किम्—पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः । अत्र कर्मण्युपपदेऽणेव भवति ॥ १९ ॥

यहां 'सर्त्तेः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [कर्त्तरि] कर्त्तृवाची [पूर्वे] पूर्व शब्द उपपद हो तो 'सृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पूर्व = प्रथम सरतीति पूर्वसरः ॥

'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः यहां कर्म उपपद होने से 'अण्' ही होता है ॥ १९ ॥

कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु[1] ॥ २० ॥

कृञः । ५ । १ । हेतु० म्येषु । ७ । ३ ॥ हेतुः कारणम् । ताच्छील्यं तत्स्वभावता । आनुलोम्यमनुकूलता ॥

हेत्वादिषु गम्यमानेषु 'कृञ्'[2] धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ रोमकरो शोकः । रोगकरं कुपथ्यम् । शोकः कुपथ्यं च कारणं रोगस्य । ताच्छील्ये—श्राद्धकरः । पिण्डकरः । आनुलोम्ये—वचनकरः पुत्रः । आज्ञाकरः शिष्यः । अनुकूलं वर्त्तमान इत्यर्थः ॥

'हेत्वादिषु' इति किम्—कुम्भकारः ॥ २० ॥

हेतुः = कारणम् ताच्छील्यम् = तत्स्वभावता । आनुलोम्यम् = अनुकूलता ॥

[हेतु० म्येषु] हेत्वादि गम्यमान हो तो [कृञः] 'कृञ्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—रोगकरो शोकः । रोगकरं कुपथ्यम् । शोक तथा कुपथ्य रोग की उत्पत्ति में कारण हैं ॥ ताच्छील्ये—श्राद्धकरः । पिण्डकरः ॥ आनुलोम्ये—वचनकरः पुत्रः । आज्ञाकरः शिष्यः । अर्थात् अनुकूल आचरण करता है ॥

'हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' ग्रहण इसलिये है कि—कुम्भकारः । यहां 'अण्' ही होता है ॥ २० ॥

दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु[3] ॥ २१ ॥

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते 'सुपि' इति च, तत्र कर्मणोऽन्यकारके सुपीति सम्बन्धः ॥

१ आ० सू० १०२६ ॥

२ अत्र सूत्रे कृञ्ग्रहणेन डुघनुबन्धकस्य 'डुकृञ्' ग्रहणं भवति । न तु 'कृञ् हिंसायाम्' इत्यस्य ॥

प्रयोगसामर्थ्यमेवात्र हेतुः । तेन—'सानुबन्धकग्रहणे नातनुबन्धकस्य ग्रहणमिति परिभाषा न प्रवर्त्तते' ॥

३. आ० सू०—१०२७ ॥

दिवा० रुष्णु । ७ । ३ ॥ अहेत्वाद्यर्थोऽयमारम्भः ॥ दिवादिषूपपदे[षु] 'कृञ्' धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥

दिवाकरः । विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भाः करोतीति भास्करः । कस्का[1]दित्वाद् विसर्जनीयस्य सत्वम्[2] ॥ कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । आदिकरः । बहुकरः[3] । नान्दीकरः । किङ्करः । लिपिकरः । लिबिकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्त्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः ॥ संख्या—एककरः । द्विकरः । त्रिकरः । चतुष्करः ॥ जङ्घाकरः । बाहुकरः । अहस्करः[4] । यत्करः । तत्करः । धनुष्करः[5] । अरुष्करः[5] ॥

वा०—किं यत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्[6] ॥ १ ॥

कियत्तद्बहुषूपपदेषु 'कृञ्' धातोः 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥ किंकरा । यत्करा । तत्करा । बहुकरा । ट-प्रत्यये सति स्त्रीलिङ्गे ङीप् प्रत्ययः, स्यात् [अतः] टाबर्थमिदम् ॥ २१ ॥

यहां 'कर्मणि' तथा 'सुपि' पद का अनुवर्त्तन है। यहां कर्मभिन्न कारक में सुपि का सम्बन्ध होता है। यह सूत्र हेत्वादि से अतिरिक्त अर्थों के लिये है ॥

[दिवा० रुष्णु] दिवादि उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दिवाकरः । विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भाः करोतीति भास्करः । 'कस्कादिषु च' इससे विसर्जनीय को सत्व हो जाता है ॥ कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । आदिकरः । बहुकरः । नान्दीकरः । किंकरः । लिपिकरः । लिबिकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्त्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या—एककरः । द्विकरः । त्रिकरः । चतुष्करः ॥ जङ्घाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । यत्करः । तत्करः । धनुष्करः । अरुष्करः ॥

वा०—कियत्तद्ब०—किं, यत्, तत्, बहु ये उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—किंकरा । यत्करा । तत्करा । बहुकरा ॥ 'ट' प्रत्यय होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो जाता, 'अच्' प्रत्यय इसलिये कहा है कि स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' हो ॥ २१ ॥

---

१. अ०—८ । ३ । ४८ ॥

२. यद्वा—अत्र सूत्रे 'भास्करान्त' इति निपातनादेव विसर्जनीयजिह्वामूलीयौ न भवतः ॥

३. वैपुल्यवचनोऽत्र 'बहु' शब्दः, संख्यायाः पृथङ् निर्देशात् ॥

४. अ० ८ । ३ । ४१ । इति सत्वम् ॥ ५. अ०—८ । ३ । ४५ । इति षत्वम् ॥

६. अ०—३ । २ । २१ भा० ॥ (ख) 'अथवाऽजादिषु पाठः करिष्यते' इति जयादित्येनोच्यते तत्तु भाष्ये न दृश्यते ॥

कर्मणि भृतौ[1] ॥ २२ ॥

'ट' एवानुवर्त्तते 'कृञ्' इति च । कर्मणि । ७ । १ । भृतौ । ७ । १ ॥ कर्मणीति शब्दस्य स्वरूपं[2] गृह्यते न तु कारकम् ॥

कर्मणिशब्द उपपदे भृतावभिधेये 'कृञ्' धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ भृतिः= प्रेष्यं कर्म । कर्म करोतीति कर्मकरः भृत्यः ॥

'भृतौ' इति किम्—कर्मकारः । अणेव भवति ॥ २२ ॥

यहां 'ट' तथा 'कृञ्' पद का अनुवर्त्तन है । इस सूत्र में 'कर्मणि' शब्द से 'कर्म' इस पद का स्वरूप ग्रहण है कर्मकारक का नहीं ॥

[कर्मणि] कर्म शब्द उपपद हो तो [भृतौ] भृति अभिप्रेय में 'कृञ्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ॥ भृति से यहां नौकरी अभिप्रेत है ॥ जैसे—कर्म करोतीति कर्मकरो भृत्यः ॥

'भृतौ' ग्रहण इसलिये है कि—कर्मकारः । यहां अण् ही होता है ॥ २२ ॥

न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु[3] ॥ २३ ॥

हेत्वादिषु टः प्राप्तोऽनेन प्रतिषिध्यते । न [अ०] । शब्द० पदेषु । ७ । ३ ॥

शब्दादिषूपपदेषु 'कृञ्' धातोः 'ट' प्रत्ययो न भवति किन्त्वौत्सर्गिकोऽणेव ।

शब्दं करोतीति शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः[4] । पदकारः[5] ॥ २३ ॥

---

१. मा० सू० १०२८ ॥

२. कर्मग्रहणसामर्थ्यादिह पारिभाषिकस्य कर्मणो ग्रहणं न भवति । अन्यथा कर्माधिकारादेव सिद्धे, कर्मग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥ ३. मा० सू० १०२९ ॥

४. करोतिधातुर्नावश्यमभूतप्रादुर्भाव एव वर्त्तते, 'गन्धना०' (अ० १ । ३ । ३२) आदिष्वात्मनेपदं विदधता सूत्रकारेणान्येषामप्यर्थानामङ्गीकरणात्, भाष्यकारेण च 'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' इत्युपक्रम्य निक्षेपणनिर्मलीकरणयोस्सद्भावप्रदर्शनाच्च । तेन मन्त्रकारो मन्त्रकृदित्यत्र च करोति धातुर्नाभूतप्रादुर्भावार्थे द्रष्टव्य । धातूनां बह्वर्थत्वाद्दर्शनार्थोऽत्र करोति । तथा चाह भट्टभास्कर —'मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्' (तै० आ० ४ । ११) ॥ सायणोऽपि—'मन्त्रकृत्, करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः' (ऐत० ब्रा० ६ । १) इत्याह ॥ 'मन्त्रकृतो मन्त्रदृश इत्युच्यन्ते न हि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्वप्रसङ्गात् तेन दर्शनार्थः कृञित्यध्यवसीयते' इति कर्कोऽप्याह (का० श्रौ० ३ । २ । ९) ॥

अध्ययनार्थेऽपि करोतिर्वर्त्तते । तथा च भाष्यम् —'प्रत्यक्षकारी ग्रहणं कर्त्तव्यम्' (अ० ४ । ३ । १०४ भा०) प्रत्यक्षाध्यायी च तदर्थः । तेन मन्त्रकारपदस्य मन्त्राध्यापकार्थेऽपि वृत्तिर्द्रष्टव्या । अत एव च तत्र तत्र श्रौतादिग्रन्थेषु "मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते" (सत्या० श्रौ० २ । १ । १३) ॥ "दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः" (मा० गृ० १ । ८ । २) इत्यादिषूपलभ्यमाने पदे सामञ्जस्यं लभते । अन्यथा हि सूत्रकालादतिप्रत्नो मन्त्रकाल इति स्वीकुर्वतां मते सूत्रकाले मन्त्रकाराणामभावात् तद्घटितवाक्यानामसङ्गतिरेव स्यादिति दिक् ।

विस्तरस्तु 'आर्यसिद्धान्तविमर्शे' 'क्या ऋषि मन्त्र-रचयिता थे' इति प्राकृतभाषालेखे द्रष्टव्यः ॥

५. पदं करोतीति पदकारः, विग्रहीतेत्यर्थः ॥

हृत्वादि अर्थों में 'ट' प्राप्त था उसका यह निषेध करता है ॥

[शब्द० पदेषु] शब्दादि उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से 'ट' प्रत्यय [न] नहीं होता किन्तु उत्सर्ग 'अण्' ही होता है ॥

जैसे—शब्दं करोतीति शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ॥ २३ ॥

स्तम्बशकृतोरिन्[1] ॥ २४ ॥

'कृञः' इत्यनुवर्त्तते, 'ट' निवृत्तः । स्तम्बशकृतोः । ७ । २ । इन् । १ । १ ॥

वा०—व्रीहिवत्सयोः[2] ॥ १ ॥

स्तम्बशकृतोरुपपदयोः कृधातोर्व्रीहिवत्सयोरभिधेययोर्यथासंख्यं 'इन्' प्रत्ययो भवति ॥

स्तम्बकरिर्व्रीहिः । शकृत्करिर्वत्सः ॥

'व्रीहिवत्सयोः' इति किम्—स्तम्बकारः । शकृत्कारः ॥ २४ ॥

यहां 'कृञ्' पद का अनुवर्त्तन है, 'ट' की निवृत्ति हुई ॥

वा०—व्रीहिवत्स०—[स्तम्बशकृतोः] स्तम्ब तथा शकृत् उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से यथासंख्य व्रीहि तथा वत्स अभिधेय होने पर [इन्] 'इन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्तम्बकरिर्व्रीहिः । शकृत्करिर्वत्सः ॥

'व्रीहिवत्सयोः' ग्रहण इसलिये है कि—स्तम्बकारः । शकृत्कारः । यहां अण् ही होता है ॥ २४ ॥

हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ[3] ॥ २५ ॥

'इन्' इत्यनुवर्त्तते । हरतेः । ५ । १ । दृतिनाथयोः । ७ । २ । पशौ । ७ । १ ॥ दृतिनाथयोः कर्मोपपदयोः 'हृञ्' धातोः पशावभिधेये 'इन्' प्रत्ययो भवति ॥ दृतिं हरतीति दृतिहरिः पशुः[4] । नाथहरिर्महिषः[5] ॥

'पशौ' इति किम्—दृतिहारो यवनः । [नाथहारः] ॥ २५ ॥

यहां 'इन्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [दृतिनाथयोः] दृति तथा नाथ ये कर्म उपपद हों तो [हरतेः] 'हृञ्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है [पशौ] पशु अभिधेय होने पर ॥

जैसे—दृतिं हरतीति दृतिहरिः पशुः । नाथहरिर्महिषः ॥

१. श्रा० सू०—१०३० ॥
२. म० ३ । २ । २४ भा० ॥
३. श्रा० सू०—१०३१ ॥
४. दृति = 'मशक' इति भाषायाम् ॥
५. नाथ इति नासारज्जु, 'नत्थ, नाथ' वा भाषायाम् ॥

'पशौ' ग्रहण इसलिये है कि—हृतिहारो यवनः । [नाथहारः] यहां 'अण्' ही होता ॥ २५ ॥

फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च[1] ॥ २६ ॥

फलेग्रहिः । १ । १ । आत्मम्भरिः । १ । १ । च [अ०] ॥ फलेग्रहिः, आत्मम्भरिः—इत्येतौ शब्दौ 'इन्' प्रत्ययान्तौ निपात्येते ॥ फलशब्दस्योपपदस्य एकारान्तत्वं ग्रहधातोरिन् प्रत्ययश्च निपात्यते ॥ फलानि गृह्णातीति फलेग्रहि[2] ॥ आत्मशब्दस्य मुमागमो 'डुभृञ्' धातोः 'इन्' प्रत्ययश्च निपात्यते । आत्मानं बिभर्तीत्यात्मम्भरिः ॥

वा०—भृञः कुक्ष्यात्मनोर्मुम् च[3] ॥ १ ॥

कुक्ष्यात्मनोरुपपदयोर्मुम्, भृञ् धातोश्च 'इन्' प्रत्ययः । कुक्षिम्भरिः । आत्मम्भरिश्चरति यूथमसेवमानः । वार्तिकेन कुक्षिम्भरिरिति विशेषः[4] ॥ २६ ॥

[फलेग्रहिरात्मम्भरिः] फलेग्रहि और आत्मम्भरि ये दोनों शब्द 'इन्' प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥ जैसे—फलानि गृह्णातीति फलेग्रहिः । यहां उपपद फलशब्द को एकारान्तत्व तथा ग्रह-धातु से 'इन्' निपातन है । आत्मानं बिभर्तीत्यात्मम्भरिः । यहां आत्मन् शब्द को 'मुम्' का आगम 'डुभृञ्' धातु से 'इन्' निपातन है ॥

वा०—भृञः कुक्ष्या०—कुक्षि तथा आत्मन् इन उपपद शब्दों को 'मुम्' आगम और 'भृञ्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—कुक्षिम्भरिः । आत्मम्भरिश्चरति यूथमसेवमानः इस वार्तिक से 'कुक्षिम्भरिः' यह सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्[5] ॥ २७ ॥

छन्दसि । ७ । १ । वनसनरक्षिमथाम् । ६ । ३ ॥ छन्दसि—वेदविषये कर्मण्युपपदे वन[6], सन[6], रक्षि, मथ इत्येतेभ्यो धातुभ्य 'इन्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. भा० सू०—१०३२ ॥

२ छन्दसि बहुलवचनात् फलग्रहि शब्दोऽपि दृश्यते । यथा—या वनस्पतीनां फलग्रहिः । तथा च—पृथिव्यौ वरसो मह्ये मुञ्चुरात्मा फलग्रहिः (ऐ० ब्रा० ७ । १५) ॥

३. अ० ३ । २ । २६ । भा० ॥

४. चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तेन 'उदरम्भरि' इत्यपि सिध्यति । 'तथा च चान्द्रम्—आत्मोदरकुक्षिभ्य' इति दुर्घटवृत्ति (पृ० ६०) । चान्द्रसूत्रे तु 'फलेग्रहिरात्मम्भरि कुक्षिम्भरि' [१ । २ । १०] इत्येव पाठ उपलभ्यते ॥

५. भा० सू०—१०३३ ॥

६ यद्यपि 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' । इति नियमात् सहचरितयो- 'वन षण, सम्भक्तौ' इत्यनयोर्ग्रहणं प्राप्नोति तथापि 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' (अ०—१ । ४ । ९ भा०) इति नियमात् सामान्येन ग्रहणम् ॥

ब्रह्मवनि त्वा[1]। गोसनिम्[2]। पथिरक्षि[3]। हविर्मथि[4]॥ अत्र यथादृष्टानि कर्माणि प्रयोक्तव्यानि॥ २७॥

[छन्दसि] वेदविषय में कर्म उपपद हो तो [वनसनरक्षिमथाम्] वन, सन, रक्षि, मथ इन धातुओं से 'इन्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—ब्रह्मवनि त्वा। गोसनिम्। पथिरक्षिः। हविर्मथिः। यहां यथादृष्ट कर्मों का प्रयोग करना चाहिये अर्थात् वेद में जिन कर्मवाची उपपदों का प्रयोग दृष्टिगोचर हो उन्हीं उपपदों का उदाहरण समझना चाहिये॥ २७॥

एजेः खश्[5] ॥ २८॥

'इन्' प्रत्ययो निवृत्तः। एजेः। ५। १। खश्। १। १। 'एजृ कम्पने'[6] इत्यस्माण्ण्यन्ताद् धातोः कर्मण्युपपदे 'खश्' प्रत्ययो भवति॥ वृक्षानेजयतीति वृक्षमेजयः। जनानेजयतीति जनमेजयः॥ खित्करणात् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'[7] इति मुमागमः। शित्करणं सार्वधातुकार्थम्। तेन णेर्लोपो न भवति॥

वा०—खश् प्रकरणे वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजधेट्तुदजहातिभ्यः[8]॥ १॥

वातादिषु चतुर्षूपपदेष्वजादिभ्यश्चतुर्भ्यो यथासंख्यं 'खश्' प्रत्ययो भवति॥ वातमजतीति वातमजा मृगाः। शुनीं धयतीति शुनिन्धयः, अत्र खिति ह्रस्वत्वम्, 'मुम्' आगमश्च। तिलन्तुदः। शर्द्धं जहतीति शर्द्धंजहा माषाः। अनेन वार्त्तिकेनाप्राप्तः 'खश्' विधीयते॥ २८॥

यहां 'इन्' प्रत्यय का निवर्त्तन है॥ [एजेः] एजृ कम्पने इस ण्यन्त धातु से कर्म उपपद हो तो [खश्] 'खश्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—वृक्षानेजयतीति वृक्षमेजयः। जनानेजयतीति जनमेजयः॥ यहां प्रत्यय के खित् होने से 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र से 'मुम्' आगम होता है। शित् सार्वधातुक संज्ञा के लिये है। इस से 'णि' का लोप नहीं होता॥

वा०—खश् प्रकरणे०—खश् प्रत्यय के प्रकरण में वात, शुनी, तिल, शर्द्ध ये यथाक्रम उपपद हों तो अज, धेट्, तुद और जहाति से 'खश्' प्रत्यय कहना चाहिये॥ जैसे—वातमजा

१. यजु० १। १७॥

२. अथ० ५। २०। १०॥ ऋ० ६। ५६। १०॥ गोसनि—यजु० ८। १२॥

३. चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ऋ० १०। १४। ११॥ ये पथां पथिरक्षयः। यजु० १६। ६०॥ यो पथिरक्षी श्वानौ। अथ० ८। १। ९॥

४. हविर्मथीनामभ्याविवासताम्। ऋ० ७। १०४। २०॥

५. आ० सू० १०३४॥ ६. धा०—भ्वा०—२३५॥

७. अ० ६। ३। ६७॥

८. (क) अ०—३। २। २८ भा०॥ (ख) आ० वा०—१०३६॥

मृगाः । शुनीन्धयतीति शुनिन्धयः । यहां 'ह्रस्व' तथा 'मुम्' का आगम होता है। तिलन्तुदः । शर्द्धं जहतीति शर्द्धंजहा माषाः । इस वार्तिक ने अप्राप्त खश् प्रत्यय का विधान किया है ॥२८॥

नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः[1] ॥ २९ ॥

'खश्' इत्यनुवर्त्तते । नासिकास्तनयोः । ७ । २ । ध्माधेटोः । ६ । २ । नासिकास्तनयोः कर्मोपपदयोर्ध्मा-धेट्धातुभ्यां 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ यथासंख्यमत्र[2] न विवक्ष्यते । नासिकोपपदाभ्यां द्वाभ्यां खश्, स्तनोपपदाद् धेट एव । नासिकन्धमः । नासिकन्धयः । स्तनन्धयः । ध्माधातोः सार्वधातुकाश्रयो 'धम' आदेशः ॥

वा०—नासिकानाडीमुष्टिघटीखरीष्विति वक्तव्यम्[3] ॥ १ ॥

नासिकायामुदाहृतम् । नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः । घटिन्धमः । घटिन्धयः । खरिन्धमः । खरिन्धयः ॥ वक्ष्यमाण सूत्रस्यात्रोदाहरणानि संख्यातानुदेशनिवारणाय दत्तानि ॥ २९ ॥

यहां 'खश्' का अनुवर्त्तन है ॥ [नासिकास्तनयोः] नासिका तथा स्तन ये कर्म उपपद हों तो [ध्माधेटोः] ध्मा तथा धेट् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥ यहां यथासंख्य विवक्षित नहीं है अतः नासिका उपपद होने पर ध्मा तथा धेट् दोनों से खश् होता है, परन्तु स्तन उपपद होने पर धेट् से ही खश् होता है ॥

जैसे—नासिकन्धमः । नासिकन्धयः । स्तनन्धयः ॥ खश् प्रत्यय को सार्वधातुक मान कर ध्मा धातु को 'धम' आदेश हो जाता है ॥

वा०—नासिकानाडी० नासिका आदि उपपद हो तो ध्मा तथा धेट् धातु से खश् प्रत्यय कहना चाहिये ॥ जैसे—नासिका के उदाहरण दे चुके है । नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः । घटिन्धमः । घटिन्धयः । खरिन्धमः । खरिन्धयः । यहां अगले सूत्र के उदाहरण भी संख्यातानुदेश के निवारणार्थ हैं ॥ २९ ॥

नाडीमुष्ट्योश्च[4] ॥ ३० ॥

अत्रापि यथासंख्यातानुदेशो[5] नेष्यते । 'ध्मा-धेटोः-खश्' इत्यनुवर्त्तते । नाडीमुष्ट्योः । ७ । २ । [च । अ०] ॥ नाडीमुष्ट्योः कर्मोपपदयोर्ध्मा-धेट्-धातुभ्यां 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः ॥ ३० ॥

१ आ० सू० १०३८ ॥

२ अल्पाच्तरस्य पूर्वनिपातव्यभिचारात् यथासंख्यमत्र न विवक्ष्यत इति लभ्यते ॥

३. (क) अ०—३ । २ । २८ वा० ॥ (ख) आ० वा०—१०४० ॥

४. आ० सू० १०३९ ॥

५ अत्रापि घ्यन्तस्यापूर्वनिपातलक्षणव्यभिचारचिह्नेन यथासंख्य न भवतीति लभ्यते । भाष्यवार्त्तिकप्रामाण्याच्च ॥

इस सूत्र में भी यथासंख्य इष्ट नहीं है। 'ध्मा-धेटो.' तथा 'खश्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[नाडीमुष्ट्योः] नाडी तथा मुष्टि कर्म उपपद हों तो [च] ध्मा तथा धेट् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः ॥ ३० ॥

उदि कूले रुजिवहोः[1] ॥ ३१ ॥

'खश्' इत्यनुवर्त्तते, नान्यत् । उदि । ७ । १ । कूले । ७ । १ । रुजिवहोः । ६ । २ ॥ उत्पूर्वाभ्यां[2] रुजि-वहिधातुभ्यां कूले कर्मण्युपपदे 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ कूलमुद्रुजति [इति कूलमुद्रुजो रथः] । कूलमुद्वहः ॥

'उदि' इति किम्—कूलवाहः ॥ 'कूले' इति किम्—भारोद्वाहः ॥ ३१ ॥

[उदि] उत्-पूर्वक [रुजिवहोः] रुज तथा वह धातु से [कूले] कूल कर्म उपपद हो तो 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कूलमुद्रुजतीति कूलमुद्रुजो रथः । कूलमुद्वहः ॥

'उदि' ग्रहण इसलिये है कि—कूलवाहः ॥ 'कूले' ग्रहण इसलिये है कि—भारोद्वाहः । यहां 'अण्' होता है ॥ ३१ ॥

वहाभ्रे लिहः[3] ॥ ३२ ॥

वहाभ्रे । ७ । १ । लिहः । ५ । १ ॥ वह-अभ्र इत्येतयोरुपपदयो 'लिह्' धातोः 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ वहमुदकं लेढीति वहंलिहो वृषभः । अभ्रंलिहो वायुः ॥

'वहाभ्रे' इति किम्—दुग्धलेहो[4] बालः ॥

[वहाभ्रे] वह, अभ्र उपपद हो तो [लिहः] 'लिह्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—वहमुदकं लेढीति वहंलिहो वृषभः । अभ्रंलिहो वायुः ॥

'वहाभ्रे' ग्रहण इसलिये है कि—दुग्धलेहो बालः ॥ ३२ ॥

---

१. धा० सू०—१०४१ ॥

२. "उदि कूले रुजिवहोः द्वौ, तत्र संख्यातानुदेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । नोदिरुपपदं, किं तर्हि ? विशेषणम् - रुजिवहोरुत्पूर्वाभ्यां रुजिवहिभ्यां कूले उपपद इति" (अ० १ । ३ । १० भा०) । तथा च—'ते प्राग्धातोः (अ० १ । ४ । ८०) इत्यत्र सूत्रभाष्ये नैष उदिरुपपदम् ॥' अ० १ । ४ । ८० । भा० ॥

अपरञ्च—एषा ह्याचार्य्यस्य शैली दृश्यते यत्र प्रत्ययकमुपपदमिच्छति तत्र समुदायात् सप्तमीमुच्चारयति । यथा नाडीमुष्ट्योश्च (अ० ३ । २ । ३०) ॥ ३. धा० सू०—१०४२ ॥

४. अन्यत्राण् प्रत्ययः, अवपूर्वात्तु 'श्याद्व्यधा०' (अ० ३ । १ । १४१) इत्यादिना ण एव ॥

परिमाणे पचः[1] ॥ ३३ ॥

परिमाणे । ७ । १ । पचः । ५ । १ ॥ परिमाणवाचिनि कर्मण्युपपदे पच-धातोः खश्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रस्थं पचतीति प्रस्थंपचा स्थाली । आढकंपचः । द्रोणंपचः ॥

'परिमाणे' इति किम्—ओदनपाचः[2] ॥ ३३ ॥

[परिमाणे] परिमाणवाची कर्म उपपद हो तो [पचः] 'पच' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रस्थं पचतीति प्रस्थंपचा स्थाली । आढकंपचः । द्रोणंपचः ॥

'परिमाणे' ग्रहण इसलिये है कि—ओदनपाचः यहां 'अण्' हो जाता है ॥ ३३ ॥

मितनखे च[3] ॥ ३४ ॥

'पचः' इत्यनुवर्त्तते । अपरिमाणार्थोऽयमारम्भः । मितनखे । ७ । १ । च [अ०] ॥ मित, नख इत्येतयोः कर्मोपपदयोः [पचेः 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥] मितं पचतीति मितंपचा[4] ब्राह्मणी । नखानि पचतीति नखंपचा यवागूः ॥ ३४ ॥

यहां 'पच' पद की अनुवृत्ति है ॥ अपरिमाण के लिये यह सूत्र है ॥

[मितनखे] मित तथा नख ये कर्म उपपद हों तो 'पच' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मितं पचतीति मितंपचा ब्राह्मणी । नखानि पचतीति नखंपचा यवागूः ॥ ३४ ॥

विध्वरुषोस्तुदः[5] ॥ ३५ ॥

विध्वरुषोः । ७ । २ । तुदः । ५ । १ ॥ विधु, अरुस् इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोस्तुदधातोः 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ॥ ३५ ॥

[विध्वरुषोः] विधु तथा अरुस् ये कर्म उपपद हों तो [तुदः] 'तुद' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ॥ ३५ ॥

---

१. भा० सू० १०४३ ॥

२. न्यङ्क्वादीनामाकृतिगणत्वाद् 'ओदनपाक' इत्यपि सम्भवति ॥

३. भा० सू० १०४४ ॥

४. मितंपचः = कृपणः ॥

५. भा० सू०—१०४५ ॥

असूर्यललाटयोर्दृशितपोः[1] ॥ ३६ ॥

असूर्य्यललाटयोः । ७ । २ । दृशितपोः । ६ । २ ॥ असूर्य्य, ललाट इति कर्मद्वयोपपदाभ्यां दृशितपिधातुभ्यां 'खश्' प्रत्ययो भवति ॥ असूर्य्यंपश्या[2] राजदाराः । एवंभूतानि गृहाणि सन्ति येषु सूर्य्यस्य दर्शनमेव न भवति । ललाटन्तपः सूर्य्यः । अत्र खशः सार्वधातुकत्वात् दृशेः 'पश्य'[3] आदेशः ॥ ३६ ॥

[असूर्य्यललाटयोः] असूर्य्य तथा ललाट ये कर्म उपपद हों तो [दृशितपोः] दृश और तप धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है ॥

असूर्य्यंपश्या राजदाराः । अर्थात् गृह ऐसे बने हैं कि जिनमें रहने वाली रानियों को सूर्य ही नहीं दीखता । ललाटन्तप. सूर्य्य. । यहां 'खश्' प्रत्यय के सार्वधातुक होने से 'दृश्' को 'पश्य' आदेश हो जाता है ॥ ३६ ॥

उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च[4] ॥ ३७ ॥

उग्रम्पश्ये० माः । १ । ३ । च [अ०] ॥

उग्रम्पश्य, इरम्मद, पाणिन्धम इत्येते 'खश्' प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ उग्रं पश्यतीति उग्रम्पश्यः । इरया माद्यतीति इरम्मदः । पाणौ धमतीति पाणिन्धमः ॥३७॥

[उग्रंपश्येरम्मदपाणिन्धमाः] उग्रम्पश्य, इरम्मद, पाणिन्धम ये शब्द खश्-प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥

जैसे—उग्रं पश्यतीति उग्रम्पश्यः । इरया माद्यतीति इरम्मदः । पाणौ धमतीति पाणिन्धमः ॥ ३७ ॥

प्रियवशे वदः खच्[5] ॥ ३८ ॥

प्रियवशे । ७ । १ । वदः । ५ । १ । खच् । १ । १ ॥ प्रिय, वश इत्येतत्कर्मद्वयोपपदाद् वद[6] धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रियं वदतीति प्रियंवदः । वशंवदः ॥ खचि खकारो मुमर्थः । चकारः 'खचि ह्रस्वः'[7] [इति] विशेषणार्थ. ॥

---

१. आ० सू० १०४६ ॥

२. असूर्य्यंपश्या-इत्यसमर्थसमासोऽयं दृशिना नञ सम्बन्धात्, सूर्यं न पश्यतीत्यसूर्यंपश्या । यथा च भाष्यम्—अवश्यं कस्यचिदसमासस्याऽसमर्थस्य गमकस्य साधुत्वं वक्तव्यम् ॥ असूर्यंपश्यानि मुखानि । अपुनर्गेयाः श्लोकाः । अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति । अ०—१ । १ । ४३ ॥ २ । १ । १ ॥ ३ । २ । ८० इति भाष्ये ॥

३. अ० ७ । ३ । ७८ ॥ ४. आ० सू०—१०४७ ॥

५. आ० सू०—१०४८ ॥

६. 'वद व्यक्तायां वाचि' इत्यस्यैव ग्रहणं, 'वद स्थैर्य्ये' इत्यस्य तु न ॥

७. अ०—६ । ४ । ९४ ॥

वा०—खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम्[1] ॥ १ ॥

मितंगमो हस्ती । मितङ्गमा हस्तिनी ॥ १ ॥

वा०—विहायसो विह च[2] ॥ २ ॥

विहायस्युपपदे 'गम' धातोः 'खच्', विहायस्-शब्दस्य 'विह्' इत्ययमादेशः । विहङ्गमः ॥ २ ॥

वा०—खच्च डिद्वा[3] ॥ ३ ॥

विहायसो विहादेशे 'गम' धातोः परः 'खच्' विकल्पेन डिद्भवति ॥ विहङ्गः । डित्वाद् 'गमेः' टिलोपः ॥ ३ ॥

वा०—डे च[4] ॥ ४ ॥

विहायस्युपपदे 'गम' धातो 'डः' प्रत्ययस्तस्मिन्नपि 'विह्' इत्यादेशः । विहगः । 'मुम्' आगमप्रतिषेधार्थं डविधानम् ॥ ४ ॥ ३८ ॥

[प्रियवशे] प्रिय तथा वश ये दो कर्म उपपद हों तो [वदः] 'वद' धातु से [खच्] 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रियं वदतीति प्रियंवदः । वशंवदः ॥ खच् प्रत्यय में खकार 'मुम्' आगम के लिये है और चकार 'खचि ह्रस्वः' इस में विशेषण के लिये है ॥

वा०—खच्प्रकरणे०—खच् प्रकरण में सुबन्त उपपद होने पर 'गम' धातु से 'खच् होता है ऐसा कहना चाहिये ॥ जैसे—मितङ्गमो हस्ती । मितङ्गमा हस्तिनी ॥ १ ॥

वा०—विहायसो०—विहायस् शब्द उपपद हो तो 'गम' धातु से 'खच्' प्रत्यय तथा विहायस् को 'विह' आदेश भी होता है ॥

जैसे—[विहायसाऽऽकाशमार्गेण गच्छति] विहङ्गमः पक्षी ॥ २ ॥

वा०—खच्च डिद्वा—'विहायस्' को 'विह' आदेश और 'गम' धातु से विहित 'खच्' प्रत्यय विकल्प करके डिद्वत् होता है ॥ जैसे—विहङ्गः । यहां प्रत्यय के डिद्वत् होने से 'गम' धातु की 'टि' का लोप हो जाता है ॥ ३ ॥

वा०—डे च—विहायस् शब्द उपपद हो तो 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय तथा 'विह' आदेश भी होता है ॥ जैसे—विहगः । ड-प्रत्यय 'मुम्' आगम के प्रतिषेध के लिये है ॥ ३८ ॥

१. अ०—३ । २ । ३८ भा० ॥ आ० वा०—१०४९ ॥
२. अ०—३ । २ । ३८ भा० ॥ आ० वा०—१०५० ॥
३. अ०—३ । २ । ३८ भा० ॥ आ० वा०—१०५१ ॥
४. अ०—३ । २ । ३८ भा० ॥ आ० वा०—१०५२ ॥

द्विषत्परयोस्तापेः[1] ॥ ३९ ॥

'खच्' इत्यनुवर्त्तते । द्विषत्परयोः । ७ । २ । तापेः । ५ । १ ॥ द्विषत्परयोरुपपदयोर्ण्यन्तात्[2] 'तप' धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ द्विषन्तं तापयति द्विषन्तपः । परन्तपः । अत्र तकारान्तस्य द्विषच्छब्दस्य ग्रहणम् । तेन स्त्रीलिङ्गे 'खच्' न भवति । द्विषतीतापः ॥ ३९ ॥

यहां 'खच्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [द्विषत्परयोः] द्विषत् तथा पर उपपद हों तो [तापेः] ण्यन्त 'तप' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—द्विषन्तं तापयतीति द्विषन्तपः । परन्तपः ॥ यहां तकारान्त द्विषत् शब्द का ग्रहण है इस कारण से स्त्रीलिङ्ग में 'खच्' प्रत्यय नहीं होता, अत द्विषतीतापः ऐसा ही प्रयोग होता है ॥ ३९ ॥

वाचि यमो व्रते[3] ॥ ४० ॥

वाचि । ७ । १ । यमः । ५ । १ । व्रते । ७ । १ ॥ वाक्कर्मण्युपपदे व्रते शास्त्रकृतनियमाभिधेये सति 'यम' धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ वाचं यच्छति वाचंयम आस्ते । अत्र **वाचंयमपुरन्दरौ च**[4] [इति] निपातनात् मुम् ॥

'व्रते' इति किम्—वाग्यामः[5] । अत्रोत्सर्गत्वाद् 'अण्' एव भवति ॥ ४० ॥

[वाचि] वाक् यह कर्म उपपद हो तो [व्रते] शास्त्रविहित नियम अभिधेय होने पर [यमः] 'यम' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—वाचं यच्छतीति वाचंयम आस्ते । यहां 'वाचंयमपुरंदरौ च' इस निपातन सामर्थ्य से 'मुम्' आगम होता है ॥

'व्रते' ग्रहण इसलिये है कि—वाग्यामः । यहां उत्सर्ग 'अण्' ही होता है ॥ ४० ॥

पूः सर्वयोर्दारिसहोः[6] ॥ ४१ ॥

पूः सर्वयोः । ७ । २ । दारिसहोः । ६ । २ ॥ पुर्, सर्व इत्येतत्कर्मद्वयोपपदाभ्यां दारि-सहधातुभ्यां[7] 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ पुरं दारयतीति पुरन्दरः[8] । अत्रापि

---

१. आ० सू०—१०५३ ॥

२. 'तप दाहे' (चु० २७०) 'तप सन्तापे' (भ्वा० ९७०) द्वयोरपि ग्रहणम् ॥

३. आ० सू०—१०५५ ॥ ४. अ०—६ । ३ । ६९ ॥

५ असौ भवति योऽप्यमर्थं सत्र ब्रवीति ॥ ६. आ० सू०—१०५७ ॥

७ 'दारि' इत्यनेन ण्यन्तस्य **'दृ विदारणे'** इत्यस्य ग्रहणं भवति, **'दृ भये'** भ्वा०—**'दृङ् आदरे'** क्र्या० इत्यनयोस्तु न भवत्यनभिधानात् ॥

सर्वोपपदात् सह-धातोरनाऽसंज्ञायां खच् भवति, कुत ? **संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः'** (अ० ३ । २ । ४६) इति सज्ञायां खचो वक्ष्यमाणत्वात् ॥

८. कथं भगन्दरः—

निपातनादेव[1] 'मुम्' आगमः । सर्वंसहा पृथिवी ॥

'पूः सर्वयोः' इति किम्—दुःखसाहः ॥ ४१ ॥

[पूः सर्वयोः] पुर्, सर्व, ये दो कर्म उपपद हों तो [दारिसहोः] 'दारि' तथा 'सह' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

पुरं दारयतीति पुरन्दरः । यहां भी 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इस निपातन से 'मुम्' आगम होता है । सर्वंसहा पृथिवी ॥

'पूः सर्वयोः' ग्रहण इसलिये है कि—दुःखसाहः ॥ ४१ ॥

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः[2] ॥ ४२ ॥

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु । ७ । ३ । कषः । ५ । १ ॥ सर्व, कूल, अभ्र, करीष इत्येतेषूपपदेषु 'कष' धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ सर्वं कषति हिनस्ति सर्वंकषो दुष्टः । कूलंकषा नदी । अभ्रंकषः सूर्यः । करीषंकषा [वात्या] ॥ ४२ ॥

[सर्व० षेषु] सर्व, कूल, अभ्र, करीष ये कर्म उपपद हों तो [कषः] 'कष' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—सर्वं कषति हिनस्ति सर्वंकषो दुष्टः । कूलंकषा नदी । अभ्रंकषः सूर्य्यः ।

करीषंकषा [वात्या] ॥ ४२ ॥

मेघर्त्तिभयेषु कृञः[3] ॥ ४३ ॥

मेघर्त्तिभयेषु । ७ । ३ । कृञः । ५ । १ ॥ मेघ, ऋति, भय इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु 'कृञ्' धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ मेघंकरो वायुः । ऋतिंकरः । भयङ्करः[4] ॥

एतेषु [मेघर्त्तिभयेषु] इति किम्—शब्दकारः ॥ ४३ ॥

[मेघ० षु] मेघ, ऋति, भय ये कर्म उपपद हों तो [कृञः] 'कृञ्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मेघङ्करो वायुः । ऋतिङ्करः । भयङ्करः ॥

'मेघर्त्तिभयेषु' ग्रहण इसलिये है कि—शब्दकारः ॥ ४३ ॥

भगन्दरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः । एतद्धि स्यन्दनं तैलं मुक्तं दद्याद्भगन्दरे ।

ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्ककुसुमनिभम् ॥ (सुश्रुत चि० स्थाने अ० ८)

इत्यादिषु भगन्दरशब्दप्रयोगोऽपि दृश्यते । स च 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अ० ३ । ३ । ११३) इति वचनाद्भग उपपदेऽपि दारेः खचि द्रष्टव्यः ॥

यत्तु काशिकायाम्—'भगे च दारेः' इति वार्त्तिकमुपलभ्यते तद्भाष्यऽदृष्टत्वादुपेक्षणीयम् ॥

१. अ०—६ । ३ । ६९ ॥ २. मा० सू०—१०५८ ॥

३. मा० सू०—१०२९ ॥

४. अस्यत्र भयशब्देन तदन्तविधिस्तेन—'अभयङ्कर' इत्यपि सिध्यति । तथा च भाष्यम्—उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं, प्रयोजनम् । भयङ्करः । अभयङ्करः । आढ्यंकरणम् । स्वाढ्यंकरणम् ॥ (अ०—१ । १ । ७२ ॥ भा०) (ख) छन्दसि बहुलवचनात् 'शिवङ्कर.' इत्यपि भवति ॥

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च[1] ॥ ४४ ॥

'कृञ' इत्यनुवर्त्तते, खच्च । क्षेमप्रियमद्रे । ७ । १ । अण् । १ । १ । च [अ०] ॥ क्षेमादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥

क्षेम, प्रिय, मद्र इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु 'कृञ्' धातोः 'अण्' प्रत्ययो भवति च[कारा]त् खच्च ॥ क्षेमकारः[2] । क्षेमंकरः । प्रियकारः । प्रियंकरः । मद्रकारः । मद्रंकरः ॥

'क्षेमप्रियमद्रे वा' इति सूत्रकरणेन खचो विकल्पत्वात् पक्षे स्यादेव 'अण्' प्रत्ययः, पुनरण्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम् । 'कृञ्' धातोर्हेत्वाद्यर्थेषु टो विधीयते, स मा भूत् । हेत्वादिष्वपि क्षेमाद्युपपदात् कृञोऽणेव स्यात् ॥ ४४ ॥

यहां 'कृञ्' तथा 'खच्' पद का अनुवर्त्तन है । क्षेमादि में समाहारद्वन्द्व समास है ॥

[क्षेमप्रियमद्रे] क्षेम, प्रिय, मद्र ये कर्म उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से [अण्] 'अण्' और 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—क्षेमकारः । क्षेमंकरः । प्रियकारः । प्रियंकरः । मद्रकारः । मद्रंकरः ।

'क्षेमप्रियमद्रे वा' ऐसा सूत्र करने पर 'खच्' प्रत्यय के विकल्प से पक्ष में 'अण्' प्रत्यय हो ही जाता, पुनः अण् ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'कृञ्' धातु से हेत्वादि अर्थों में 'ट' कहा है वह न हो किन्तु हेत्वादि अर्थों में भी क्षेमादि उपपद होने पर 'कृञ्' धातु से 'अण्' ही हो ॥४४॥

आशिते भुवः करणभावयोः[3] ॥ ४५ ॥

'खच्' अनुवर्त्तते, 'अण्' निवृत्तः ॥ आशिते । ७ । १ । भुवः । ५ । १ । करणभावयोः । ७ । २ ॥ भूधातोरकर्मकत्वात् कर्मात्र नास्ति ॥ आशिते सुबन्त उपपदे 'भू' धातोः करणे भावे 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥

आशितस्तृप्तो भवत्यनेन आशितंभव[4] ओदनः । आशितस्य भवनमाशितम्भवं वर्त्तते ॥ ४५ ॥

यहां 'खच्' पद की अनुवृत्ति है और 'अण्' का निवर्तन है ॥ भू-धातु के अकर्मक होने से यहां कर्म का सम्बन्ध नहीं होता ॥

[आशिते] 'आशित' सुबन्त उपपद हो तो [भुवः] 'भू' धातु से [करणभावयोः] करण तथा भाव में 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

---

१. आ० सू०—१०६० ॥

२. 'अल्पारम्भः क्षेमकरः' इत्यादौ तु कर्मणः शेषत्वविवक्षायां कृञः पचाद्यचि सिध्यति ॥

३. आ० सू०—१०६१ ॥

४. आशितम्भवमन्नादिस्तृप्तिः स्यादाशितम्भवः ॥ वै० कोषे—शेषकाण्डे नानालिङ्गाध्याये श्लो० २५ ॥

जैसे —आशितो भवत्यनेन आशितम्भव ओदनः । आशितस्य भवनमाशितम्भवं वर्त्तते ॥४५॥

संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः[1] ॥ ४६ ॥

संज्ञायाम् । ७ । १ । भृ० दमः । ५ । १ । समाहारद्वन्द्वः ॥ संज्ञायां गम्यमानायां भृञादिधातुभ्यः 'खच्' प्रत्ययो भवति कर्मण्युपपदे ॥ विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरः । रथन्तरं साम । स्वयंवरा कन्या । धनञ्जयः । कषरा । शत्रुसहः । शत्रुन्तपः । अरिन्दमः[2] ॥

'संज्ञायाम्' इति किमर्थम्—कुटुम्बं बिभर्त्तीति कुटुम्बभारः । अत्राणेव भवति ॥ ४६ ॥

सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है ॥ [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो तो [भृ० दमः] भृञादि धातुओं से कर्म उपपद होने पर 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरः । रथन्तरं साम । स्वयंवरा कन्या । धनञ्जयः । कन्धरा । शत्रुसहः । शत्रुन्तपः । अरिन्दमः ॥

'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—कुटुम्बं बिभर्त्तीति कुटुम्बभारः ॥ यहां 'अण्' ही होता है ॥ ४६ ॥

गमश्च[3] ॥ ४७ ॥

संज्ञायामिति वर्त्तते । गमः । ५ । १ । च [अ०] ॥ संज्ञायां सत्यां 'गम' धातोः 'खच्' प्रत्ययो भवति ॥ सुतङ्गमः । कस्यचित् संज्ञेयम् ॥

पृथक्करणमुत्तरार्थम् ॥ ४७ ॥

यहां 'संज्ञायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ संज्ञा गम्यमान हो तो [गमः] 'गम' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—सुतङ्गमः । यह किसी का नाम है । पृथक् सूत्र उत्तरार्थ है ॥ ४७ ॥

अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः[4] ॥ ४८ ॥

'गमः' इत्यनुवर्त्तते, संज्ञायामिति निवृत्तम् । [अन्ता० न्तेषु । ७ । ३ । डः । १ । १ ।] ॥

अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व, अनन्त इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु 'गम' धातो 'ड' प्रत्ययो भवति ॥ अन्तगः । अत्यन्तगः । अध्वानं गच्छतीति अध्वगः । दूरगः । पारगः । सर्वगः । अनन्तगः । डित्करणं टिलोपार्थम् ॥

१. आ० सू०—१०६२ ॥

२. अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् सकर्मकोऽयं भविष्यति, अरिं दमयतीत्यरिन्दमः ॥

३. आ० सू०—१०६३ ॥ ४. आ० सू०—१०६४ ॥

वा०—डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम्[1] ॥ १ ॥

सर्वत्र, पन्नेरयुपपदद्वयाद् 'गम' धातो 'डः' प्रत्ययो भवति। सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः। पन्नगः ॥ १ ॥

वा०—उरसो लोपश्च[2] ॥ २ ॥

'उरस्' शब्दोपपदाद् गमधातो 'डः' प्रत्ययः, उरसः सकारस्य लोपः। उरसा गच्छतीति उरगः ॥ २ ॥

वा०—सुदुरोरधिकरणे[3] ॥ ३ ॥

सु-दुरोरुपपदयो 'गम' धातो 'डः' प्रत्ययः। सुष्ठु गच्छन्ति यस्मिन् सुगः। दुःखेन गच्छन्त्यस्मिन् दुर्गः ॥ ३ ॥

वा०—निरो देशे[4] ॥ ४ ॥

निरुपपदाद् देशेऽधिकरणे वाच्ये 'गम' धातो 'डः' प्रत्ययो भवति ॥ निर्गो देशः। निरन्तरं गच्छन्ति यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ४ ॥

वा०—अपर आह—डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते[5] ॥ ५ ॥

अन्येष्वप्युपपदेषु 'गम' धातो 'डः' प्रत्ययो दृश्यत इति केषाञ्चिदाचार्य्याणां मतम्। स्त्र्यगारगः। ग्रामगः। गुरुतल्पगः ॥ ४८ ॥

यहां 'गमः' पद की अनुवृत्ति है और 'संज्ञायाम्' यह निवृत्त हो जाता है ॥

[अन्ता० न्तेषु] अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व, अनन्त ये कर्म उपपद हों तो 'गम' धातु से [डः] 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अन्तगः। अत्यन्तगः। अध्वानं गच्छतीति अध्वगः। दूरगः। पारगः। सर्वगः। अनन्तगः। डित्करण टिलोप के लिये है ॥

वा०—डप्रकरणे०—सर्वत्र तथा पन्न ये दो उपपद हों तो 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः। पन्नगः ॥ १ ॥

वा०—उरसो लोप०—उरस शब्द उपपद हो तो 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय तथा उरस् के सकार का लोप होता है ॥ जैसे—उरसा गच्छतीति उरगः ॥ २ ॥

वा०—सुदुरोरधिकरणे—सु तथा दुर् उपपद हों तो 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—सुष्ठु गच्छन्ति यस्मिन् सुगः। दुःखेन गच्छन्त्यस्मिन् दुर्गः ॥ ३ ॥

१. अ०—३।२।४८ भा० ॥ आ० वा०—१०६५ ॥
२. अ०—३।२।४८ भा० ॥ आ० वा०—१०६६ ॥
३. अ०—३।२।४८ भा० ॥ आ० वा०—१०६७ ॥
४. अ०—३।२।४८ भा० ॥ आ० वा०—१०६८ ॥
५. अ०—३।२।४८ भा० ॥ आ० वा०—१०६९ ॥

वा०—निसो देशे—देश अधिकरण वाच्य हो तो निर् उपपद 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥ जैसे निरन्तरं गच्छन्त्यस्मिन्निति निर्गो देशः ॥ ४ ॥

वा०—अपर आह—डप्रकरणे०—अन्य उपपद होने पर भी किन्हीं आचार्यों के मत में 'ड' प्रत्यय देखा जाता है ॥ जैसे—स्त्र्यगारगः । ग्रामगः । गुरुतल्पगः ॥ ४८ ॥

आशिषि हनः[1] ॥ ४९ ॥

'ड' इत्यनुवर्त्तते । आशिषि । ७ । १ । हन । ५ । १ ॥ आशीर्वचने गम्यमाने 'हन' धातोः कर्मण्युपपदे 'डः' प्रत्ययो भवति ॥

शत्रून् हन्तीति शत्रुहस्ते पुत्रो भूयात् । दु सहस्त्वं भव ॥

'आशिषि' इति किम्—शत्रुघातः । अत्रोत्सर्गत्वादण् ॥

वा०—दारावाहनोऽणन्त्यस्य च टः संज्ञायाम्[2] ॥ १ ॥

दारुशब्दोपपदादाङ्पूर्वाद् 'हन' धातो 'अण्' प्रत्ययो हन-धातोरन्त्यस्य नकारस्य 'ट' इत्यादेशः संज्ञायां विषये ॥ दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्[3] ॥ १ ॥

वा०—चारौ वा[4] ॥ २ ॥

चारुशब्दोपपदाद् आङ्पूर्वाद् 'हन्' धातोः 'अण्' प्रत्ययोऽन्त्यस्य च विकल्पेन टकारादेशः संज्ञायामेव ॥ चार्वाघाटः । चार्वाघातः ॥ २ ॥

वा०—कर्मणि समि च[5] ॥ ३ ॥

कर्मण्युपपदे संपूर्वाद् हन्तेः 'अण्' प्रत्ययोऽन्त्यस्य च विकल्पेन टकारादेशः ॥ वर्णसंघाटः । वर्णसंघातः । अपूर्वमेवेदं विधानं सूत्रात् ॥ ४९ ॥

यहां 'ड' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [आशिषि] आशीः कहने में [हनः] 'हन' धातु से कर्म उपपद होने पर 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—शत्रून् हन्तीति शत्रुहस्ते पुत्रो भूयात् । दु सहस्त्वं भव ॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि—शत्रुघातः । यहां उत्सर्ग 'अण्' ही होता है ॥

वा०—दारावाहनो०—संज्ञाविषय में दारु शब्द उपपद हो तो आङ्-पूर्वक 'हन' धातु से 'अण्' प्रत्यय तथा 'हन्' के अन्त्य नकार को 'टकार' आदेश होता है जैसे—दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् ॥ १ ॥

---

१. आ० सू०—१०७० ॥

२. अ०—३ । २ । ४९ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०७१ ॥

३. यजु० २४ । ३५ ॥

४. अ०—३ । २ । ४९ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०७२ ॥

५. अ०—३ । २ । ४९ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०७३ ॥

वा०—चारौ वा—संज्ञा विषय में चारु शब्द उपपद होने पर आङ्-पूर्वक 'हन्' धातु से 'अण्' प्रत्यय तथा अन्त्य को विकल्प से 'टकार' आदेश होता है ॥ जैसे चार्वाघाटः। चार्वाघातः ॥ २ ॥

वा०—कर्मणि समि च—कर्म उपपद हो तो सपूर्वक 'हन्' धातु से अण्' प्रत्यय तथा अन्त्य को विकल्प से टकार आदेश होता है ॥ जैसे—वर्णसंघाटः। वर्णसंघातः। यह वार्त्तिक सूत्र से विशेष विधान करता है ॥ ४९ ॥

अपे क्लेशतमसोः[1] ॥ ५० ॥

अनाशीर्वादार्थोयऽमारम्भः 'डः' इत्यनुवर्त्तते, 'हनः' इति च ॥ अपे। ७। १। क्लेशतमसोः। ७। २। क्लेशतमसोः कर्मोपपदयोरपपूर्वाद् 'हन्' धातो 'र्डः' प्रत्ययो भवति ॥ क्लेशमपहन्तीति क्लेशापहः पुत्रः। तमोऽपहः[2] सूर्य्यः ॥ ५० ॥

यह सूत्र आशीर्वाद से भिन्न विषय के लिये है। यहां 'ड' तथा 'हन्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[क्लेशतमसोः] क्लेश, तम ये कर्म उपपद हों तो [अपे] अपपूर्वक 'हन' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—क्लेशमपहन्तीति क्लेशापहः पुत्रः। तमोऽपहः सूर्य्यः ॥ ५० ॥

कुमारशीर्षयोर्णिनिः[3] ॥ ५१ ॥

'हनः' इत्यनुवर्त्तते, 'डः' इति निवृत्तम् ॥ कुमारशीर्षयोः। ७। २। णिनिः। [१। १।] ॥ कुमारशीर्षयोः कर्मणोरुपपदयो 'र्हन' धातो 'र्णिनि' प्रत्ययो भवति ॥ कुमारं हन्तीति कुमारघाती। शीर्षघाती[4]। अन्त्य इकारो नकाररक्षणार्थः ॥ ५१ ॥

यहां 'हन्' पद का अनुवर्त्तन है और 'ड' का निवर्त्तन है ॥

[कुमारशीर्षयोः] कुमार तथा शीर्ष ये दो कर्म उपपद हों तो 'हन' धातु से [णिनिः] 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कुमारं हन्तीति कुमारघाती। शीर्षघाती। अन्त में इकार नकार की रक्षा के लिये किया है ॥ ५१ ॥

१. आ० सू०—१०७४ ॥

२. भयापहः—कफापहः—इत्यादयस्तु 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अ० ३। २। १०१) इति डप्रत्यये सिध्यन्ति ॥

३. आ० सू०—१०७५ ॥

४. 'सुप्यजातौ णिनि०' (अ० ३। २। ७८) इति णिनिना सिद्धेऽपि पुनर्वचनं ताच्छील्यआवश्यक-अधमर्णाद्यर्थविनाऽपि णिनिर्यथा स्यात्। शीर्षघातीत्यत्र शिरसः शीर्षभावनिपातनाच्च, अन्यथा 'शीर्षंश्छन्दसि' (अ० ६। १। ६०) इति वचनात् 'शीर्षघाती' छन्दस्येव स्यात्—इष्टं भाषायामपि ॥

लक्षणे जायापत्योष्टक्[1] ॥ ५२ ॥

'हनः' इत्यनुवर्त्तते । लक्षणे । ७ । १ । जायापत्योः । ७ । २ । टक् । १ । १ ॥ लक्षणं चिह्नमस्यास्तीति लक्षणस्तस्मिन्[2] ॥ जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोः 'हन' धातोर्लक्षणवति कर्त्तरि वाच्ये 'टक' प्रत्ययो भवति । जायाघ्नो ब्राह्मणः । पतिघ्नी वृषली । हननहेतुचिह्नवान् ब्राह्मणः चिह्नवती च वृषली । टकः कित्त्वादुपधालोपः[3] ॥ ५२ ॥

यहां 'हन' पद का अनुवर्त्तन है ॥ लक्षणे लक्षण अर्थात् चिह्न है जिसमें वह लक्षण कहाता है ॥

[लक्षणे] लक्षणवान् कर्त्ता अभिधेय हो तो [जायापत्योः] जाया तथा पति ये कर्म उपपद हों तो 'हन्' धातु से [टक्] 'टक्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जायाघ्नो ब्राह्मणः । पतिघ्नी वृषली अर्थात् हनन चिह्न वाला ब्राह्मण तथा वृषली है । 'टक्' प्रत्यय में कित् उपधा लोप के लिये है ॥ ५२ ॥

अमनुष्यकर्तृके च[4] ॥ ५३ ॥

'टक्' इत्यनुवर्त्तते । अमनुष्यकर्तृके । ७ । १ । च [अ०] ॥

मनुष्यभिन्ने कर्त्तर्यभिधेये कर्मण्युपपदे 'हन्' धातोः 'टक्' प्रत्ययो भवति ॥

जायाघ्नस्तिलकालकः । पतिघ्नी पाणिरेखा । श्लेष्मघ्नी बीजमती[5] । पित्तघ्नं घृतम् । शत्रुघ्नी शकुनी[6] ॥

'अमनुष्य [कर्तृके]' इति किम्—नकुलघातो वृषलः ॥ इह कस्मान्न 'टक्' भवति, नगरघातो हस्ती, अत्र **'कृत्यल्युटो बहुलम्'**[7] इति बहुलग्रहणात् कृद्व्यत्ययेन 'अण्' प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

यहां 'टक्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [अमनुष्यकर्तृके] मनुष्यभिन्न कर्त्ता अभिधेय हो तो कर्म उपपद होने पर 'हन्' धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जायाघ्नस्तिलकालकः । पतिघ्नी पाणिरेखा । श्लेष्मघ्नी बीजमती । पित्तघ्नं घृतम् । शत्रुघ्नी शकुनी ॥

'अमनुष्यकर्तृक' ग्रहण इसलिये है कि—नकुलघातो वृषलः ॥

(प्र०) नगरघातो हस्ती इस उदाहरण में 'टक्' क्यों नहीं होता ?

---

१. भा० सू०—१०७६ ॥

२. अर्शआदि (अ० ५ । २ । १२७) त्वान्मत्वर्थेऽच् ॥

३. अ०—६ । ४ । ९८ ॥ ४. भा० सू०—१०७७ ॥

५. यवादेराकृतिगणत्वाद् वत्वं न ॥

६. शत्रुघ्न कृतघ्न, बलघ्न इत्यादयस्तु मूलविभुजादिषु द्रष्टव्या, बाहुलकाद्वा टक् ॥

७. अ० –३ । ३ । ११३ ॥

(उ०) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र में बहुल ग्रहण होने के कारण कृत्-प्रत्ययों के व्यत्यय होने से यहां 'अण्' हो गया है ॥ ५३ ॥

शक्तौ हस्तिकपाटयोः[1] ॥ ५४ ॥

हन, टक् इत्यनुवर्त्तते । शक्तौ । ७ । १ । हस्तिकपाटयोः । ७ । २ । शक्तिशब्दे मत्वर्थो गम्यते ॥ हस्तिकपाटयोः कर्मणोरुपपदयोः शक्तिमति कर्त्तरि वाच्ये 'हन्' धातोः टक् प्रत्ययो भवति ॥ हस्तिघ्नो राजपुत्रः । हस्तिनं हन्तुं समर्थ इत्यर्थः । कपाटघ्नश्चोरः । कपाटौ हन्तुं समर्थः ॥

'शक्तौ' इति किम्—विषेण शत्रुं हन्ति—शत्रुघातः ॥ ५४ ॥

यहां 'हन' तथा 'टक्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ शक्तौ शब्द में मत्वर्थ अर्थात् शक्तिवाला ऐसा समझना चाहिये ॥

[हस्तिकपाटयोः] हस्तिन् और कपाट ये दो कर्म उपपद होने पर [शक्तौ] शक्तिवाला कर्त्ता कहना हो तो 'हन' धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—हस्तिघ्नो राजपुत्रः । अर्थात् हाथी को मारने में समर्थ है ॥ कपाटघ्नश्चोरः । अर्थात् कपाट तोड़ने की शक्तिवाला है ॥

'शक्तौ' ग्रहण इसलिये है कि—विषेण शत्रुं हन्ति शत्रुघातः, यहां अण् ही होता है ॥५४॥

पाणिघताडघौ शिल्पिनि[2] ॥ ५५ ॥

पाणिघताडघौ । १ । २ । शिल्पिनि । ७ । १ ॥ पाणिघताडघौ शब्दौ शिल्पिनि कर्त्तरि वाच्ये टक्-प्रत्ययान्तौ निपात्येते ॥ पाणि, ताड इति शब्दद्वयोपपदाद् 'हन्' धातोः 'टक्' प्रत्यये टिलोपो घकारादेशश्च निपात्यते ॥ पाणिघः शिल्पी । ताडघः शिल्पी ॥

'शिल्पिनि' इति किम्—पाणिघातः । ताडघातः ॥

वा०—राजघ उपसंख्यानम्[3] ॥ १ ॥

राजानं हन्तीति राजघः । अत्रापि पूर्ववन्निपात्यते ॥ ५५ ॥

[पाणिघ ताडघौ] पाणिघ और ताडघ ये दोनों शब्द [शिल्पिनि] शिल्पी कर्त्ता अभिधेय हो तो 'टक्' प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥

पाणि, ताड इन दो शब्दों के उपपद होने पर 'हन्' धातु से 'टक्' प्रत्यय परे रहते टिलोप तथा घकार आदेश निपातन से होते हैं ॥

जैसे—पाणिघः शिल्पी । ताडघः शिल्पी ॥

---

१ आ० सू०—१०७८ ॥ (ख) मनुष्यकर्तृकार्य प्रारम्भ ॥

२ आ० सू०—१०७९ ॥

३. आ०—३ । २ । ५५ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१०८० ॥

'शिल्पिनि' ग्रहण इसलिये है कि—पाणिघातः । ताडघातः । यहां 'अण्' हो जाता है ।।

वा०—राजघ उपसंख्यानम्—'राजघ' शब्द का भी निपातन होता है ऐसा कहना चाहिये । जैसे—राजानं हन्तीति राजघः । यहां पर निपातन पूर्ववत् है ।। ५५ ।।

आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्[1] ।। ५६ ।।

आढ्य० प्रियेषु । ७ । ३ । च्व्यर्थेषु । ७ । ३ । अच्वौ । ७ । १ । कृञः ५ । १ । करणे । ७ । १ । ख्युन् । १ । १ ।। आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय इत्येतेषु च्व्यर्थे वर्त्तमानेषु अच्व्यन्तेषूपपदेषु करणकारके 'कृञ्' धातोः 'ख्युन्' प्रत्ययो भवति ।। अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनेन—आढ्यंकरणम्[2] । सुभगंकरणम् । स्थूलंकरणम् । पलितंकरणम् । नग्नंकरणम् । अन्धंकरणम् । प्रियंकरणम् ।।

'च्व्यर्थेषु' इति किम्—तैलेनाढ्यं करोति शरीरम् ।। 'अच्वौ[3]' इति किम्—आढ्यी करोत्यनेन । 'करणे' इति किम्—विद्याढ्यकारः । पूर्वयोः प्रत्युदाहरणयोर्वाक्यमेव भवति । कर्त्तरि च 'अण्' प्रत्ययः ।। ५६ ।।

[आढ्य० प्रियेषु] आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय ये [च्व्यर्थेषु] च्व्यर्थ में वर्तमान [अच्वौ] अच्व्यन्त उपपद हों तो [करणे] करणकारक में [कृञः] 'कृञ्' धातु से [ख्युन्] 'ख्युन्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनेन आढ्यंकरणम् । सुभगंकरणम् । स्थूलंकरणम् । पलितंकरणम् । नग्नंकरणम् । अन्धंकरणम् । प्रियंकरणम् ।।

'च्व्यर्थेषु' ग्रहण इसलिये है कि—तैलेनाढ्यं करोति शरीरम् ।।

'अच्वौ' ग्रहण इसलिये है कि—आढ्यी करोत्यनेन ।।

'करणे' ग्रहण इसलिये है कि—विद्याढ्यकारः । प्रथम दो प्रत्युदाहरणों में वाक्य ही होता है, अन्तिम प्रत्युदाहरण में कर्त्ता में 'अण्' होता है ।। ५६ ।।

कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ[4] ।। ५७ ।।

'आढ्याद्यच्वौ' इति पर्य्यन्तं सूत्रमनुवर्त्तते ।। कर्त्तरि । ७ । १ । भुवः । ५ । १ । खिष्णुच्खुकञौ । १ । २ ।। अच्व्यन्तेषु च्व्यर्थे वर्त्तमानेष्वा[ढ्या]द्युपपदेषु सत्सु कर्त्तरि

1. आ० सू०—१०८१ ।।

2. उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं प्रयोजनं—भयङ्करः । अभयङ्करः । आढ्यंकरणम् । स्वाढ्यंकरणम् (भा०—१ । १ । ७२) ।।

3. यत्त्वत्र जयादित्येनोक्तम्—'तेन ल्युटोऽप्ययमर्थतः प्रतिषेध' इत्यादि तद्भाष्यास्वारस्यादुत्तरार्थमेव च्विप्रतिषेध इति कुत्वोपेक्षणीयम् ।।

4. आ० सू०—१०८२ ।।

कारके 'भू' धातोः खिष्णुच्-खुकञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यंभविष्णुः । आढ्यंभावुकः । सुभगंभविष्णुः । सुभगंभावुकः । स्थूलंभविष्णुः । स्थूलंभावुकः । पलितंभविष्णुः । पलितंभावुकः । नग्नंभविष्णुः । नग्नंभावुकः । अन्धंभविष्णुः । अन्धंभावुकः । प्रियंभविष्णुः । प्रियंभावुकः ॥ खित्करणात् सर्वत्र 'मुम्' आगमः । ञित्करणाच्च वृद्धिः ॥

कारिका—

इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात्कृतं भुवः[1] ।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः ॥ १ ॥

खिष्णुच्प्रत्यये खकारविशिष्ट इकारः किमर्थं प्रतिपाद्यत इति विचार्य्यते । इष्णुच्-प्रत्ययस्येकारादित्वं किमर्थम् ? । **भुवो** भू धातोरुदात्तत्वात् सेट्त्वाद् भविष्णुरिति रूपं सिद्धम् । ष्णुच्-प्रत्यये वलादित्वाद् 'इट्' भविष्यति । पुनरिष्णुच्प्रत्ययस्येकारादित्वं **'कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च'[2]** इति नञ उत्तरस्येष्णुच्प्रत्ययान्तस्यान्तोदात्तत्वं यथा स्यात् ॥ ५७ ॥

यहां 'आढ्य० च्वौ' तक पूर्वसूत्र का अनुवर्त्तन है ॥ च्व्यर्थ में वर्त्तमान सुबन्त आढ्यादि उपपद हों तो [कर्त्तरि] कर्त्ता कारक में [भुवः] 'भू' धातु से [खिष्णुच्-खुकञौ] 'खिष्णुच्' और 'खुकञ्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यंभविष्णुः । आढ्यंभावुकः । सुभगंभविष्णुः । सुभगंभावुकः । स्थूलंभविष्णुः । स्थूलंभावुकः । पलितंभविष्णुः । पलितंभावुकः । नग्नंभविष्णुः । नग्नंभावुकः । अन्धंभविष्णुः । अन्धंभावुकः । प्रियंभविष्णुः । प्रियंभावुकः ॥ यहां प्रत्यय के खित् होने से सर्वत्र 'मुम्' का आगम तथा ञित् होने से वृद्धि होती है ॥

का०—इष्णुच इकारादित्वम्०—'खिष्णुच्' प्रत्यय में खकार से युक्त इकार क्यों कहा गया है इस विषय में विचारते हैं—

'इष्णुच्' प्रत्यय को इकारादि क्यों पढ़ा ? जब कि भू-धातु के उदात्त अर्थात् सेट् होने से भविष्णु रूप सिद्ध है, कैसे ? 'ष्णुच्' प्रत्यय के वलादि होने से 'इट्' हो ही जायगा । पुनः इष्णुच् प्रत्यय को इकारादि इसलिये पढ़ा है कि—'कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च' इस सूत्र से नञ् से परे इष्णुच् प्रत्ययान्त को अन्तोदात्त हो जावे ॥ ५७ ॥

स्पृशोऽनुदके क्विन्[3] ॥ ५८ ॥

स्पृशः । ५ । १ । अनुदके । ७ । १ । क्विन् । १ । १ ॥ अनुदके=उदकभिन्ने कर्मण्युपपदे 'स्पृश' धातोः 'क्विन्' प्रत्ययो भवति ॥ घृतं स्पृशती[ति]घृतस्पृक् । तैलस्पृक् । जलस्पृक् ॥

---

१. अ०—३ । २ । ५७ भा० ॥ २. अ०—६ । २ । १६० ॥
३. भा० सू०—१०८३ ॥

'अनुदके' इति किम्—उदकस्पर्शः । नकारोऽनुबन्धः 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः'[1] इति विशेषणार्थः ॥ ५८ ॥

[अनुदके] उदकभिन्न कर्म उपपद हो तो [स्पृशः] 'स्पृश' धातु से [क्विन्] 'क्विन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक् । तैलस्पृक् । जलस्पृक् ॥

'अनुदके' ग्रहण इसलिये है कि—उदकस्पर्शः यहां 'अण्' हो जाता है ॥

नकार का अनुबन्ध 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इस सूत्र में विशेषण के लिये है ॥ ५८ ॥

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च[2] ॥ ५९ ॥

'क्विन्' इत्यनुवर्त्तते । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् । १ । १ । अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् । ६ । ३ च [अ०] । ऋत्विगादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ ऋत्विगादय उष्णिक्पर्य्यन्ताः शब्दाः 'क्विन्' प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । अञ्चु, युजि, क्रुञ्च इत्येतेभ्यो धातुभ्यः 'क्विन्' प्रत्ययो भवति ॥ अधिकरणे ऋतुशब्द उपपदे 'यज' धातोः 'क्विन्' निपात्यते । ऋतौ यजतीति ऋत्विक् । भा०—धृषेर्द्विर्वचनमन्तोदात्तत्वञ्च निपात्यते[3] ॥ धृष्णोतीति दधृक् । स्रक् 'सृज' धातोः कर्मणि 'क्विन्' 'अम्' आगमश्च निपात्यते, सृजन्ति या सा स्रक् । 'दिश अतिसर्जने'[4] इत्यस्मादपि कर्मणि क्विन्निपात्यते, दिशन्ति यां सा दिक् । उत्पूर्वात् 'ष्णिह' धातोः 'क्विन्', उपसर्गस्यान्त्यलोपः षत्वञ्च निपात्यते उष्णिक् । अञ्च्वादिभ्यः 'क्विन्' विधीयते प्राञ्चतीति प्राङ् प्राञ्चौ, प्राञ्चः । प्रत्यङ् । उदङ् । 'युज' धातोः केवलादेव 'क्विन्' । कुतः ? वक्ष्यमाणसूत्रे सोपपदात् क्विपो विहितत्वात् । युनक्तीति युङ् युञ्जौ, युञ्जः । ज । 'युजेरसमासे'[5] इति 'नुम्' आगमः । क्रुञ्चतीति क्रुङ् क्रुञ्चौ क्रुञ्चः । अत्र निपातनसाहचर्यादनुनासिकलोपो[6] न भवति ॥ ५९ ॥

यहां 'क्विन्' इस पद का अनुवर्त्तन है । ऋत्विगादि में समाहारद्वन्द्व समास है ॥

[ऋत्वि० उष्णिक्] ऋत्विगादि उष्णिक् पर्य्यन्त शब्द 'क्विन्' प्रत्ययान्त निपातन हैं, तथा [अञ्चु-युजि-क्रुञ्चाम्] अञ्चु, युजि, क्रुञ्च इन धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ऋत्विक् अधिकरणवाची ऋतु शब्द उपपद हो तो 'यज' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होता है ॥ ऋतौ यजतीति ऋत्विक् ॥ भा०—धृषेर्द्विर्वचन—'धृष' को 'क्विन्' प्रत्यय परे

१ अ०—८ । २ । ६२ ॥ २ भा० सू०—१०५४ ॥

३ अ०—३ । २ । ५९ भा० ॥ ४. धा०—तुदा०—३ ॥

५ अ०—७ । १ । ७१ ॥

६ [illegible] व्याख्यानमिदम् । जकारोपधपक्षे तु अनुनासिकलोपस्य प्राप्तिरेव नास्ति, यत्तु 'चोः कुः' ([illegible] । ३०) इति कुत्वं प्राप्नोति तत् 'सञ्झलि' (भा० ८ । २ । २२) इति वचनात् 'युजिक्रुञ्चां च' इति निपातनाद्वा न भवति ॥

द्विर्वचन तथा अन्तोदात्तत्व निपातन है। धृष्णोतीति दधक् ॥ स्रक्—'सृज' धातु से कर्मकारक में 'क्विन्' प्रत्यय और 'अम्' का आगम निपातन है सृजन्ति या सा स्रक् ॥ 'दिश अतिसर्जने' इससे भी कर्म में 'क्विन्' निपातन है। जैसे—दिशन्ति यां सा दिक् ॥ उत् पूर्वक 'स्निह्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय तथा उपसर्ग के अन्त्य का लोप और षत्व निपातन है ॥ जैसे उष्णिक् ॥ अञ्चु आदि धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय होता है। जैसे प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः। प्रत्यङ् उदङ्। यहां युज 'युज' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होता है, क्योंकि अगले 'सत्सूद्विष०' इस सूत्र मे सोपपद से 'क्विप्' कहा है जैसे—युनक्तीति युङ्, युञ्जौ, युञ्जः। यहां 'युजेरसमासे' इससे 'नुम्' का आगम हो जाता है ॥ कुञ्चतीति कुङ्, कुञ्चौ, कुञ्चः। यहां 'कुञ्चाम्' इस निपातन के साहचर्य्य से ही अनुनासिक लोप नहीं होता ॥ ५९ ॥

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च[1] ॥ ६० ॥

'क्विन्' अप्यनुवर्त्तते। त्यदादिषु। ७। ३। [दृशः। ५। १]। अनालोचने। ७। १। कञ्। १। १। च [अ०]॥ आलोचनं दर्शनं तत्प्रतिषेधस्तस्मिन् ॥

त्यदादिशब्देषूपपदेषु सत्स्वनालोचने वर्त्तमानाद् 'दृश' धातोः 'कञ्' प्रत्ययो भवति चकारात् क्विन्न्च ॥ त्यादृक्। [त्यादृशः। तादृक्] तादृशः। यादृक्। यादृशः। अत्र 'आ सर्वनाम्नः'[2] इति पूर्वपदस्याकारादेशः। कञ्प्रत्यये ञकारोऽनुबन्धः 'कञ्क्वरपः'[3] इति ङीब्विधानार्थः। त्यादृशी। तादृशी। यादृशी ॥

'अनालोचने' इति किम्—तं पश्यतीति तद्दर्शः। अत्रोत्सर्गत्वादण् ॥

वा०—दृशेः समानान्ययोश्चोपसङ्ख्यानम्[4] ॥ १ ॥

समान, अन्य इत्येतयोरुपपदयो 'दृश' धातोः क्विन्-कञौ भवतोऽनालोचन एव ॥ सदृक्। सदृशः। अन्यादृक्। अन्यादृशः ॥ समानशब्दस्य सकारादेशः[5]। अन्यशब्दस्याकारश्च। समानान्यौ त्यदादिषु न स्त इत्यप्राप्तौ विधीयेते ॥ ६० ॥

यहां 'क्विन्' पद का अनुवर्त्तन है। आलोचन=देखने को कहते हैं। उस के विपरीत अनालोचन अर्थात् जब देखने का विषय न हो ॥

[त्यदादिषु] त्यदादि शब्द उपपद हो तो [अनालोचने] अनालोचन अर्थ में वर्त्तमान [दृशः] दृश' धातु से 'कञ्' प्रत्यय होता है [च] और 'क्विन्' भी होता है ॥

जैसे—त्यादृक्। त्यादृशः। तादृक्। तादृशः। यादृक्। यादृशः। यहां 'आ सर्वनाम्नः' इससे पूर्वपद को आकार आदेश होता है। 'कञ्' प्रत्यय में ञकार का अनुबन्ध 'कञ्क्वरपः' इससे 'ङीप्' विधान करने के लिये है। जैसे—त्यादृशी। तादृशी। यादृशी ॥

१. धा० सू०—१०८५ ॥ २. अ०—६। ३। ९१ ॥
३. अ०—४। १। १५ ॥
४. अ०—३। २। ६० भा० ॥ (ख) धा० वा०—१०८६ ॥
५. अ०—६। ३। ८८ ॥

'अनालोचने' ग्रहण इसलिये है कि—तं पश्यतीति तद्दर्शः। यहां उत्सर्ग 'अण्' हो जाता है ॥

वा०—दृशे: समानान्ययो०—समान, अन्य ये उपपद हों तो अनालोचन अर्थ में वर्तमान 'दृश' धातु से 'क्विन्' और 'कञ्' प्रत्यय होते हैं ॥ जैसे—सदृक्। सदृशः। अन्यादृक्। अन्यादृश.। समान शब्द को सकार आदेश होता है। और अन्य शब्द को आकार आदेश हो जाता है। समान-अन्य शब्द त्यदादि में नहीं है इस कारण वार्त्तिक ने अप्राप्त विधान किया ॥ ६० ॥

सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदछिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि-क्विप्[1] ॥ ६१ ॥

सत्सू० राजाम्। ६। ३। उपसर्गे। ७। १। अपि [अ०]। क्विप्। १। १॥

सद्, सू, द्विष, द्रुह, दुह, युज, विद, भिद, छिद, जि, नी, राज् इत्येतेभ्यः सोपसर्गेभ्यो निरुपसर्गेभ्यश्च धातुभ्यः सुप्युपपदे 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

वा०—सदादिषु सुब्ग्रहणम्[2] ॥ १ ॥

अस्यैतत्प्रयोजनम्—अत्र 'सुप्' ग्रहणमुपसर्गेऽपीति च क्रियते। तेनैतज्ज्ञाप्यते **'अन्यत्र सुप्ग्रहण उपसर्गग्रहणं न भवति'[3]**। **'वदः सुपि क्यप् च'[4]** इत्यनुपसर्गस्यानुवृत्तिर्न कर्त्तव्या भवति ॥

होता वेदिषत्, वेद्यां सीदतीति। अतिथिर्दुरोणसत्। प्रसत्। निषत् ॥ वत्सं सूतेऽसौ वत्ससूर्गौः। पुत्रसूर्ब्राह्मणी। प्रसूः। उपसू: ॥ मधु द्वेष्टीति मधुद्विट्। कैटभद्विट्। प्रद्विट् ॥ द्रुह—सुरान् द्रुह्यतीति सुरध्रुक्। प्रध्रुक् ॥ दुह—गां दोग्धीति गोधुक्, गोदुहौ, गोदुहः। उपधुक् ॥ युज—अश्वं युनक्तीति अश्वयुक्। अश्वयुजौ। अश्वयुजः ॥ विद—वेदान् वेत्तीति वेदवित्। धर्मवित्। संवित् ॥ भिद—काष्ठं भिनत्तीति काष्ठभित्। प्रभित् ॥ छिद—वृक्षं छिनत्तीति वृक्षच्छित्। विच्छित् ॥ जि—इन्द्रियाणि जयतीति इन्द्रियजित्। क्रोधजित्। पराजित् ॥ नी—अग्रं नयतीति अग्रणीः। सेनानीः। प्रणीः। उन्नी. ॥ राज्—विश्वं राजयतीति विश्वराट्। राजृधातोरकर्मकत्वाण्णयर्थोऽत्र गम्यते। विराट्। सम्राट्। अत्र **'मो राजि समः क्वौ'[5]** इति मकारस्य मकारादेशः ॥ ६१ ॥

[सत्सू० राजाम्] सद्, सू, द्विष, द्रुह, दुह, युज, विद, भिद, छिद, जि, नी, राज् इन धातुओं से [उपसर्गेऽपि] उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो [क्विप्] 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

वा०—सदादिषु०—इसका यह प्रयोजन है कि-इस सूत्र में सुप्-ग्रहण तथा 'उपसर्गेऽपि' यह भी पढ़ा है, उससे यह जाना जाता है कि—'अन्य सूत्रों में सुप् के ग्रहण से उपसर्ग का ग्रहण

---

१. आ० सू०—१०८७ ॥ २. अ०—३। २। ६१। भा० ॥
३. अ०—३। २। ६१ भा० ॥ ४. अ०—३। १। १०६ ॥
५. अ०—८। ३। २५ ॥

नहीं होता' अतः 'वदः सुपि क्यप् च' इस सूत्र में 'अनुपसर्गस्य' इस पद की अनुवृत्ति नहीं करनी पड़ती ॥

जैसे—होता वेदिषत् वेद्यां सीदतीति। अतिथिर्दुरोणसत्। प्रसत्। निषत्॥ सू—वत्सं सूतेऽसौ वत्ससूर्गौः। पुत्रसूर्ब्राह्मणी। प्रसूः। उपसूः॥ द्विष—मधु द्वेष्टीति मधुद्विट्। कंटभद्विट्। प्रद्विट्॥ द्रुह सुरान् द्रुह्यतीति सुरध्रुक्। प्रध्रुक्॥ दुह—गां दोग्धीति गोधुक्, गोदुहौ, गोदुहः। उपधुक्॥ युज—अश्वं युनक्तीति अश्वयुक्, अश्वयुजौ, अश्वयुजः॥ विद—वेदान् वेत्तीति वेदवित्। धर्मवित्। संवित्। भिद—काष्ठं भिनत्तीति काष्ठभित्। अपभित्॥ छिद—वृक्षं छिनत्तीति वृक्षच्छित्। विच्छित्॥ जि—इन्द्रियाणि जयतीति इन्द्रियजित्। क्रोधजित्। पराजित्॥ नी—अग्रं नयतीति अग्रणीः। सेनानीः। प्रणीः। उन्नीः। राजृ—विश्वं राजयतीति विश्वराट्। 'राजृ' धातु के अकर्मक होने से यहां ण्यर्थ समझना चाहिये॥ विराट्। सम्राट्। यहां 'मो राजि समः क्वौ' इस सूत्र से मकार को मकार[1] आदेश होता है॥ ६१॥

भजो ण्विः[1] ॥ ६२ ॥

उपसर्ग-सुपोरित्यनुवर्त्तते॥ [भजः। ५। १। ण्विः। १। १] सोपसर्गानिरुपसर्गाद् 'भज' धातोः सुबन्त उपपदे 'ण्विः' प्रत्ययो भवति॥

दायं भजते दायभाक्। अंशभाक्। प्रभाक्। विभाक्॥ ६२॥

यहां 'उपसर्ग' तथा 'सुपि' पद का अनुवर्त्तन है॥ उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो [भजः] 'भज' धातु से [ण्विः] 'ण्वि' प्रत्यय होता है॥

जैसे—दायं भजते दायभाक्। अंशभाक्। प्रभाक्। विभाक्॥ ६२॥

छन्दसि सहः[2] ॥ ६३ ॥

'ण्विः' इत्यनुवर्त्तते। छन्दसि। ७। १। सहः। ५। १॥

सुबन्त उपपदे वेदविषये 'सह' धातोः 'ण्विः' प्रत्ययो भवति॥

तुराषाट्[3]। अत्र 'सहेः साडः सः'[4] इति मूर्द्धन्यादेशः। 'अन्येषामपि दृश्यते'[5] इति तुराशब्दे दीर्घत्वम्। इतोऽग्रे 'जनसन०'[6] इति पर्यन्तं 'छन्दसि' ग्रहणमनुवर्त्तिष्यते ॥ ६३ ॥

यहां 'ण्वि' पद का अनुवर्त्तन है॥ [छन्दसि] वेदविषय में सुबन्त उपपद हो तो [सहः] 'सह' धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है॥ जैसे—तुराषाट् यहां 'सहेः साडः सः' इस सूत्र से मूर्द्धन्य आदेश हो जाता है और तुरा-शब्द में दीर्घत्व 'अन्येषामपि दृश्यते' इससे हो जाता है॥ यहां से आगे 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन 'जनसनखन०' इस सूत्र तक है॥ ६३॥

१. अ० सू०—१०८८॥　　२. अ० सू०—१०८९॥
३. ऋ०—३। ४८। ४॥　　४. अ०—८। ३। ५६॥
५. अ०—६। ३। १३७॥　　६. अ०—३। २। ६७॥

वहश्च[1] ॥ ६४ ॥

'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते 'ण्वि' इति च । वहः । ५ । १ । च [अ०] ॥

सुप्युपपदे 'वह' धातोश्छन्दसि 'ण्वि:' प्रत्ययो भवति ॥

हव्यवाहमुपब्रुवे[2] । अत्र हव्यवाडिति ण्व्यन्तस्तस्य द्वितीयैकवचनं प्रयुज्यते । एवं प्रष्ठवाट्[3], दित्यवाडित्यादि[4] ॥ ६४ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है 'ण्वि' पद का भी ॥ वेदविषय में सुबन्त उपपद होने पर [वहः] 'वह' धातु से 'ण्वि:' प्रत्यय होता है ॥

जैसे —हव्यवाहमुपब्रुवे । यहां 'हव्यवाट्' यह ण्विप्रत्ययान्त के द्वितीयैकवचन का प्रयोग है इसी प्रकार प्रष्ठवाट् । दित्यवाट् । इत्यादि में भी समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्[5] ॥ ६५ ॥

'वहः' इत्यनुवर्त्तते । कव्यपुरीषपुरीष्येषु । ७ । ३ । ञ्युट् । १ । १ ॥

कव्य, पुरीष, पुरीष्य इत्येतेषु सुबन्तेषूपपदेषु 'वह' धातो 'ञ्युट्' प्रत्ययो भवति छन्दसि = वेदविषये ॥

कव्यवाहनः[6] । पुरीषवाहनः[7] । पुरीष्यवाहनः[8] ॥ ६५ ॥

यहां 'वह' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ वेदविषय में [कव्य० ष्येषु] कव्य, पुरीष, पुरीष्य ये सुबन्त उपपद हो तो 'वह' धातु से [ञ्युट्] 'ञ्युट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कव्यवाहनः । पुरीषवाहनः । पुरीष्यवाहनः ॥ ६५ ॥

हव्येऽनन्तः पादम्[9] ॥ ६६ ॥

'वहः' इति 'ञ्युट्' इति चानुवर्त्तते । हव्ये । ७ । १ । अनन्तःपादम् । १ । १ ॥ अन्तर्मध्ये पादस्येत्यन्तःपादं, न अन्तःपादमनन्तःपादम् ॥

हव्यसुबन्त उपपदेऽनन्तःपादं वर्त्तमानाद् 'वह' धातो 'ञ्युट्' प्रत्ययो भवति [छन्दसि = वेदविषये] ॥

दूतश्च हव्यवाहनः[10] ॥

'अनन्तःपादम्' इति किम् हव्यवाहमुपब्रुवे[11] । अत्र वह-धातुरन्तःपादं तस्मात् 'वहश्च'[12] इति ण्विः ॥ ६६ ॥

---

१ अा० सू०—१०९० ॥ | २. यजु०—२२ । १७ ॥
३. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ | ४. यजु०—१४ । १० ॥
५. अा० सू०—१०९१ ॥ | ६. यजु०—१९ । ६५ ॥
७. यजु०—११ । ४४ ॥ | ८. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥
९. अा० सू०—१०९२ ॥ | १०. ऋ०—६ । १६ । २३ ॥
११. यजु०—२२ । १७ ॥ | १२. अ०—३ । २ । ६४ ॥

यहां 'वह' तथा 'ञ्युट्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ पाद के अन्तर् अर्थात् मध्य में होने वाला 'अन्तःपादम्', इससे विपरीत 'अनन्तःपादम्' कहाता है ॥

छन्दसि वेदविषय में [हव्ये] हव्य सुबन्त उपपद हो तो [अनन्तःपादम्] जो पाद के मध्य में वर्तमान न हो उस 'वह' धातु से 'ञ्युट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दूतश्च हव्यवाहनः ।

'अनन्तःपादम्' ग्रहण इसलिये है कि—हव्यवाहमुपब्रुवे । यहां 'वह' धातु पाद के मध्य में है अतः 'वहश्च' से 'ण्वि' प्रत्यय होता है ॥ ६६ ॥

जनसनखनक्रमगमो विट्[१] ॥ ६७ ॥

जन० गमः । ५ । १ ॥ विट् । १ । १ ॥ जनादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥

जनादिभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे छन्दसि=वेदविषये 'विट्' प्रत्ययो भवति ॥

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश[२], प्रथमं सृष्ट्यादौ जायते प्रादुर्भवतीति प्रथमजास्तम् ॥ गोषा इन्द्रो नृषा असि[३], गा इन्द्रियाणि सनोति ददातीति गोषाः । नॄन् सनोतीति नृषाः । अत्र 'सनोतेरनः'[४] इति मूर्द्धन्यादेशः । कूपं खनतीति कूपखाः[५] । क्लेशखाः । दधि क्रामतीति दधिक्राः[६] । अग्रे गच्छतीति अग्रेगाः[७] । अत्र सर्वेषामनुनासिकान्तानां 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्'[८] इत्यनुनासिकस्याकारादेशः ॥६७॥

सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है ॥ [जन० गमः] जन, सन, खन, क्रम, गम इन धातुओं से सुबन्त उपपद हो तो वेदविषय में [विट्] 'विट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश । प्रथम अर्थात् सृष्ट्यादि में जो उत्पन्न अर्थात् प्रकट होता है वह 'प्रथमजाः' कहाता है उसका यह 'प्रथमजाम्' द्वितीया का एक वचन है ॥ 'गोषा इन्द्रो नृषा असि' गोषा उसका नाम है जो इन्द्रियों को शुभकर्म में प्रवृत्त करे ॥ जो मनुष्यों को दान दे उसे 'नृषाः' कहते हैं ॥ यहां 'सनोतेरनः' इससे 'मूर्द्धन्य' आदेश होता है ॥ कूपं खनतीति कूपखाः । क्लेशखाः । दधि क्रामतीति दधिक्राः । अग्रे गच्छतीति अग्रेगाः । यहां सब अनुनासिकान्तों को 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इससे अनुनासिक को 'आकार' आदेश हो जाता है ॥ ६७ ॥

अदोऽनन्ने[९] ॥ ६८ ॥

छन्दसीति निवृत्तम् । अदः । ५ । १ । अनन्ने । ७ । १ ॥

---

१. आ० सू०—१०९३ ॥ २. यजु०—३२ । ११ ॥
३. सा०—उ० ४ । ३ । ९ ॥ ४. अ०—८ । ३ । १०८ ॥
५. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ ६. ऋ० ४ । ३८ । ९ ॥
७. यजु०—२७ । ३१ ॥ ८. अ०—६ । ४ । ४१ ॥
९. आ० सू०—१०९४ ॥

अन्न-शब्दं विहायान्यसुबन्त उपपदे 'अद्' धातो 'विट्' प्रत्ययो भवति ॥ आमम्-मत्तीति आमात्[1] । सस्यमत्तीति सस्यान्मृग ॥ ६८ ॥

यहां 'छन्दसी' पद का निवर्त्तन है ॥ [अनन्ने] अन्न शब्द को छोड़ कर अन्य सुबन्त उपपद हो तो [अदः] 'अद' धातु से 'विट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे —आममत्तीति आमात् । सस्यमत्तीति सस्यान्मृगः ॥ ६८ ॥

क्रव्ये च[2] ॥ ६९ ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । क्रव्ये । ७ । १ । च [अ०] ॥

क्रव्य-शब्द उपपदे 'अद' धातो 'विट्' प्रत्ययो भवति ॥ क्रव्यमत्तीति क्रव्यात्[3] ॥

'अदोऽनन्ने' इत्येव सिद्धे पुनर्वचनं वाऽसरूपविधिनिवृत्त्यर्थम् । क्रव्योपपदाद् 'अद' धातोरण् मा भूत् । कथं तर्हि 'क्रव्यादान् शकुनीन् सर्वान्' इति । अत्राण् नास्ति । कस्तर्हि । अदन्तीत्यदाः क्रव्यस्यादाः क्रव्यादास्तान् । 'अजपि सर्वधातुभ्यः'[4] इत्यच् । उत्सर्गापवादे च वासरूपविधिर्भवति ॥ ६९ ॥

यहां 'अदः' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥

[क्रव्ये] क्रव्य शब्द उपपद हो तो 'अद' धातु से 'विट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—क्रव्यमत्तीति क्रव्यात् ॥

'अदोऽनन्ने' इस सूत्र से ही 'क्रव्यात्' यह सिद्ध हो जाता पुनः 'क्रव्ये च' ऐसा वचन करना वाऽसरूपविधि के हटाने के लिये है । क्रव्य उपपद 'अद' धातु से 'अण्' न हो ।

(प्र०)—क्रव्यादान् शकुनीन्सर्वान्' यह कैसे सिद्ध होगा ?

(उ०)—यहां अण् नहीं है । तो क्या है ? 'अदन्तीत्यदाः क्रव्यस्यादाः क्रव्यादास्तान्' 'अजपि सर्वधातुभ्यः' इस वार्त्तिक से 'अच्' प्रत्यय हो जाता है । क्योंकि—वाऽसरूपविधि उत्सर्ग तथा अपवाद में हुआ करती है ॥ ६९ ॥

दुहः कब्घश्च[5] ॥ ७० ॥

दुहः । ५ । १ । कप् । १ । १ । घः । १ । १ । च [अ०] ॥

सुबन्त उपपदे 'दुह' धातोः 'कप्' प्रत्ययो भवति हकारस्य च घकारादेशः ॥

कामदुघा । सुदुघा ॥ ७० ॥

---

१. अयं वा (अग्नि)ऽऽमाद् येनेमं मनुष्याः पक्त्वाऽश्नन्ति (श० १ । २ । १ । ४ ॥)

२. अ० सू०—१०९५ ॥

३. येन (अग्निना) पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद् ॥ (श० १ । २१ । ४ ॥)

४. अ०—३ । १ । १३४ भा० ॥ ५. अ० सू०—१०९६ ॥

सुबन्त उपपद हो तो [दुहः] 'दुह' धातु से [कप्] 'कप्' प्रत्यय और हकार को [घश्च] 'घकार' अन्तादेश हो जाता है ॥

जैसे—कामदुघा । सुदुघा ॥ ७० ॥

मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्[1] ॥ ७१ ॥

मन्त्रे । ७ । १ । श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशः । ५ । १ । ण्विन् । १ । १ ॥

उपपदैः सह धातुसमुदाया निपात्यन्ते । पुरस्—पूर्वाद् 'दाश' धातोर्डकारादेशो निपात्यते मन्त्रे=वैदिकप्रयोगे ॥ श्वेतपूर्वक-वह, उक्थपूर्वक-शस्, पुरस्-पूर्वक-दाश इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'ण्विन्' प्रत्ययो भवति ॥

वा०—श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति [च] वक्तव्यम्[2] ॥ १ ॥

अजादिष्वसर्वनामस्थानविभक्तिषु पूर्वस्य भसंज्ञा भवति तत्र पदत्वमेव नास्ति, अन्यासु विभक्तिषु परतो 'डस्' प्रत्ययो भवति ॥

श्वेतवा इन्द्रः । श्वेतवाहौ । श्वेतवाहः । श्वेतवाहम् । श्वेतवाहौ । श्वेतौहः । श्वेतौहा । श्वेतवोभ्याम् । श्वेतवोभिः । श्वेतौहे । [श्वेतवोभ्याम् । श्वेतवोभ्यः] श्वेतौहः । [श्वेतवोभ्याम् । श्वेतवोभ्यः । श्वेतौहः ।] श्वेतौहोः । श्वेतौहाम् । श्वेतौहि । श्वेतौहोः । श्वेतवस्सु ॥

उक्थशाः[3] । उक्थशासौ । उक्थशोभ्याम् ॥ पुरोडाः[4] । पुरोडाशौ । पुरोडोभ्याम् । अनयोरपि पूर्ववद् रूपाणि । 'वाह ऊठ्'[5] इति सूत्रेण 'ऊठ्' ॥

'मन्त्रे' इति किम् —श्वेतवाहः ॥ 'पदस्य' इति किम्—श्वेतवाहौ । अत्र [यथा-संख्यं] ण्विन्-डसौ न भवतः ॥ ७१ ॥

'श्वेतवह' इत्यादि में उपपदसहित धातुसमुदाय का निपातन है । और पुरस्-पूर्वक 'दाश' धातु को 'डकार' आदेश निपातन है ॥

[मन्त्रे] वैदिकप्रयोग में [श्वेत० डाशः] श्वेतपूर्वक 'वह' उक्थपूर्वक 'शस्' पुरस्-पूर्वक 'दाश' इन धातुओं से 'ण्विन्' प्रत्यय होता है ॥

वा० श्वेतवहादीनाम्०—अजादि असर्वनामस्थान विभक्तियों में पूर्व की भसंज्ञा होने कारण उनमें पदत्व नहीं होता, अतः अन्य विभक्तियों के परे रहते 'डस्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—श्वेतवा इन्द्रः । श्वेतवाहौ । श्वेतवाहः ॥ सारे शब्दरूप संस्कृत में दे दिये हैं ॥ उक्थशाः । उक्थशासौ । उक्थशोभ्याम् इत्यादि । पुरोडाः । पुरोडाशौ । पुरोडोभ्याम्

---

१. भा० सू०—१०९७ ॥ २. अ०—३ । २ । ७१ भा० ॥

३. शुचीर्दधन्दीधितमुक्थशासः (ऋ० ४ । २ । १६) ॥

४ पुरोडा । पुरोडाशम् (ऋ० ३ । २८ । २, ३, ४, ६) ॥

५. अ०—६ । ४ । १३२ ॥

इत्यादि । इन दोनों के रूप भी पूर्ववत् जानने चाहियें ॥ श्वेतौह. इत्यादि में 'वाह् ऊठ्' से 'ऊठ्' हो जाता है ॥

'मन्त्रे' ग्रहण इसलिये है कि –श्वेतवाहः ॥ 'पदस्य' ग्रहण इसलिये है –श्वेतवाहौ ॥ यहां प्रत्युदाहरणों में 'ण्विन्' और 'डस्' नहीं होते ॥ ७१ ॥

अवे यजः[1] ॥ ७२ ॥

अत्रापि 'डस्, पदस्य' इत्यनुवर्त्तते । अवे । ७ । १ । यजः । ५ । १ ॥ मन्त्र विषयेऽवोपपदाद् 'यज' धातो 'ण्विन्' प्रत्ययो भवति, पदान्ते च ण्विनः स्थाने डस् ॥

वरुणस्यावया असि[2] । अवयाः । अवयोभ्याम् । अत्र डस् ।

'पदस्य' इति किम्—अवयाजौ ॥ योगविभाग उत्तरार्थः ॥ ७२ ॥

यहां पर भी 'डस्' तथा 'पदस्य' पद का अनुवर्त्तन है ॥

मन्त्रविषय में [अवे] अव उपपद [यजः] 'यज' धातु से 'ण्विन्' प्रत्यय होता है। पदान्त में 'ण्विन्' के स्थान में 'डस्' हो जाता है ॥

जैसे—वरुणस्यावया असि । अवयाः । अवयोभ्याम्—इस में 'डस्' हो जाता है ॥

'पदस्य' ग्रहण इसलिये है कि—**अवयाजौ** यहां 'डस्' नहीं होता ॥ योगविभाग उत्तर-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है ॥ ७२ ॥

विजुपे छन्दसि[3] ॥ ७३ ॥

अत्र 'डस्, पदस्य' इति नानुवर्त्तते ॥ मन्त्र इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दोग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—मन्त्रशब्देन मूलसंहितानां ग्रहणं भवति, तत्र शाखान्तराणामपि ग्रहणं यथा स्यात् ॥

विच् । १ । १ । उपे । ७ । १ । छन्दसि । ७ । १ ॥

उपोपपदाद् 'यज' धातोश्छन्दसि विषये 'विच्' प्रत्ययो भवति ॥

उपयट्, उपयड् । उपयजौ । उपयजः[4] ॥ ७३ ॥

यहां 'डस्, पदस्य' इन पदों की निवृत्ति है । 'मन्त्रे' इस पद का अनुवर्त्तन होने पर पुन 'छन्द' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि –मन्त्र शब्द से केवल मूलसंहिताओं का ग्रहण होता है, परन्तु शाखान्तर का भी ग्रहण हो जाय इस लिये 'छन्दसि' ग्रहण है ॥

१. आ० सू०—१०९८ ॥

२. अनुपलब्धमूलमिदम् । परन्तु—**अस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन् 'अवयाः'** (ऋ० १ । १७३ । १२ ॥ यजु० ३ । ४६ ॥) **या तेषां 'अवया' दुरिष्टिः** (अथ० —२ । ३५ । १ ॥)

३. आ० सू०—१०९९ ॥

४. उपयड्भ्य । श० —३ । ८ । ३ । १८ ॥ ४ । ४ ॥ ११ । ८ । २ । १ ॥

[उपे] उप-उपपद 'यज' धातु से [छन्दसि] वैदिकप्रयोग विषय में [विच्] 'विच्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—उपयट् । उपयम् । उपयजौ । उपयजः ॥ ७३ ॥

आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च[1] ॥ ७४ ॥

'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते विच्च । आतः । ५ । १ । मनिन्क्वनिब्वनिपः । १ । १ । च [अ०] ॥

आकारान्ताद् धातोर्मनिन्-क्वनिप्-वनिपो विच्चेत्येते प्रत्यया भवन्ति छन्दसि विषये ॥

सुदामा[2] । सुधामा । क्वनिप्—सुधीवा । सुपीवा । वनिप्—अन्नदावा । दुग्धपावा । विच्—घृतपाः । दण्डदाः ॥ ७४ ॥

यहां 'छन्दसि' तथा 'विच्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [आतः] 'आकारान्त' धातुओं से [मनिन्क्वनिब्वनिपश्च] मनिन्, क्वनिप्, वनिप् तथा विच् ये प्रत्यय छन्दविषय में होते हैं ॥

जैसे सुदामा । सुधामा । क्वनिप्—सुधीवा । सुपीवा । वनिप्—अन्नदावा । दुग्धपावा । विच्—घृतपाः । दण्डदाः ॥ ७४ ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते[3] ॥ ७५ ॥

'छन्दसि' इति नानुवर्त्तते । अन्येभ्यः । ५ । ३ । अपि [अ०] । दृश्यन्ते । [क्रियापदम्] ॥

मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच् इति चत्वारः प्रत्यया अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो दृश्यन्ते ॥

सुशर्म्मा—अत्र 'शॄ' धातो 'र्मनिन्' । क्वनिप्—प्रातरित्वा । अत्र प्रातरुपपदाद् 'इण्' धातोः 'क्वनिप्' ॥ वनिप्— विजावा । प्रजावा । अत्र 'जन' धातो-'र्वनिप्' 'विड्वनोरि'[4] त्यनुनासिकस्यात् ॥ रेडसि । अत्र 'रिष' धातो 'र्विच्' ॥

दृश्यन्त इति क्रियया ज्ञायते प्राचीनेषु शिष्ट-ऋषि-मुनि-कृतग्रन्थेषु ये शब्दा उक्तप्रत्ययान्ता दृश्यन्ते तेषु साधुत्वज्ञापनाय वचनम् ॥ ७५ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का निवर्त्तन है ॥ मनिन्, क्वनिप्, वनिप् तथा विच् ये चार प्रत्यय [अन्येभ्योऽपि] आकारान्तों से अन्य धातुओं से भी [दृश्यन्ते] देखे जाते हैं ॥

जैसे— सुशर्म्मा यहां 'शॄ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय हो जाता है ॥ क्वनिप्—प्रातरित्वा । यहां प्रातर् उपपद होने पर 'इण्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है ॥ वनिप्—विजावा । प्रजावा । यहां 'जन' धातु से 'वनिप्' प्रत्यय होता है तथा 'वनिप्' परे रहने 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से 'आत्व' हो जाता है ॥ रेडसि यहा 'रिष' धातु से 'विच्' प्रत्यय होता है ॥

---

१. आ० सू०—११०० ॥ २. ऋ०—६ । २० । ७ ॥
३. आ० सू०—११०१ ॥ ४. अ०—६ । ४ । ४१ ॥

'दृश्यन्ते' इस क्रियापद से यह जाना जाता है कि प्राचीन शिष्ट-ऋषि-मुनिकृत ग्रन्थों में यदि उक्त प्रत्ययान्त शब्द दीखें तो उन्हें साधु अर्थात् शुद्ध जानना ॥ ७५ ॥

क्विप् च[1] ॥ ७६ ॥

'सुपि' इत्यनुवर्त्तते, उपसर्गेऽपीति च ॥ क्विप् । १ । १ । च [अ०] ॥

सोपसर्गे निरुपसर्गे च सुप्युपपदे धातुमात्रात् 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

उखास्रत् । पर्णध्वत् । अत्र स्रंस-ध्वंसधातोरनुनासिकलोपो[2] भवति सकारस्य दकारश्च[3] ॥ ७६ ॥

यहां 'सुपि' तथा 'उपसर्गेऽपि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ उपसर्ग वा निरुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो धातुमात्र से [क्विप्] 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उखास्रत् । पर्णध्वत् । यहां स्रंसु, ध्वंसु धातु से अनुनासिक का लोप और सकार को दकार आदेश होता है ॥ ७६ ॥

स्थः क च[4] ॥ ७७ ॥

'क्विप्' अनुवर्त्तते ॥ स्थः । ५ । १ । क । १ । १ । च [अ०] । 'क' इति लुप्तविभक्तिको निर्देशः ॥

'स्था' धातोः सोपसर्गे निरुपसर्गे च सुप्युपपदे क-क्विपौ प्रत्ययौ भवतः ॥

सुखस्थः । सुखस्थाः । क-पक्ष आकारलोपः ॥

'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'[5] इति क्विपि सिद्धे **'सुपि स्थः'**[6] इति के सिद्धे पुनर्वचनं **'शमि धातोः संज्ञायाम्'**[7] इति 'अच्' बाधनार्थम् । शमि धातोः संज्ञायामित्यत्र धातुग्रहणं यथा कृञो हेत्वादिषु टं बाधते एवं क-क्विपावपि बाधेत, पुनरारम्भात् 'क-क्विपौ' एव भवतः । शंस्थः । शंस्थाः ॥ ७७ ॥

यहां 'क्विप्' पद का अनुवर्त्तन है । 'क' इस पद में विभक्ति का लोप है ॥ उपसर्ग वा निरुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो [स्थः] 'स्था' धातु से [कः] 'क' तथा [च] 'क्विप्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—सुखस्थः । सुखस्थाः । 'क' पक्ष में आकार का लोप हो जाता है ॥

१. आ० सू०—११०३ ॥
२. अ०—६ । ४ । २४ ॥
३. अ०—८ । २ । ७२ ॥
४. आ० सू०—११०८ ॥
५. अ०—३ । २ । १७८ ॥
६. अ०—३ । २ । ४ ॥
७. अ०—३ । २ । १४ ॥

'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इससे 'क्विप्' प्रत्यय तथा 'सुपि स्थः' से 'क' प्रत्यय सिद्ध हो ही जाता, पुनः 'स्थः क च' यह वचन 'शमि धातोः संज्ञायाम्' इससे प्राप्त 'अच्' प्रत्यय को बाधने के लिए है। शमि धातोः संज्ञायाम् इस से किया हुआ धातुग्रहण जिस प्रकार हेत्वादि अर्थों में 'कृञ्' धातु से उत्पन्न 'ट' को बाध लेता है, उसी प्रकार—शंस्थ। शंस्था। यहां पर 'क' और 'क्विप्' को भी बाध लेगा, परन्तु अब सूत्रारम्भ सामर्थ्य से 'क' और 'क्विप्' ही होते हैं ॥ ७७ ॥

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये[1] ॥ ७८ ॥

सुपि । ७ । १ । अजातौ । ७ । १ । णिनि । १ । १ । ताच्छील्ये । ७ । १ ॥

अजातिवाचिनि सुबन्त उपपदे ताच्छील्ये गम्यमाने धातुमात्राण्णिनिः प्रत्ययो भवति ॥

उष्णं भोक्तुं शीलमस्य उष्णभोजी । शीतभोजी । प्रियवादी । धर्मोपदेशी ॥

[भाष्यम्—सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणं किमर्थम् ? अनुपसर्ग इत्येवं तदभूत्, इदं सुम्मात्रे यथा स्यात् । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः[2] ।] ॥

'अजातौ' इति किम्—आम्राणि चूषितुं शीलमस्य ॥

'ताच्छील्ये' इति किम्—उष्णं भुङ्क्ते कदाचित् । अत्रोभयत्र णिनिर्मा भूत् ॥

वा०—णिन्विधौ साध्वकारिण्युपसंख्यानम्[3] ॥ १ ॥

साधु करोतीति साधुकारी । साधुदायी । अताच्छील्यार्थ आरम्भः ॥

वा०—ब्रह्मणि वदः[4] ॥ २ ॥

ब्रह्मशब्दोपपदाद् 'वद' धातोः 'णिनिः' प्रत्ययो भवति ॥ ब्रह्म वदतीति ब्रह्मवादी । इदमप्यताच्छील्यार्थमेव ॥ ७८ ॥

[अजातौ] अजातिवाची [सुपि] सुबन्त उपपद हो और [ताच्छील्ये] ताच्छील्य अर्थ गम्यमान हो तो धातुमात्र से [णिनिः] 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उष्णं भोक्तुं शीलमस्य उष्णभोजी । शीतभोजी । प्रियवादी । धर्मोपदेशी ॥

'सुपि' पद के अनुवर्त्तमान होने पर पुनः सुप् ग्रहण इसलिये है कि—यह सुप्-मात्र में हो। जैसे—उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । यहां सोपसर्ग से भी 'णिनि' प्रत्यय हो जाता है ॥

'अजातौ' ग्रहण इसलिये है कि—आम्राणि चूषितुं शीलमस्य ॥ ताच्छील्ये' ग्रहण इसलिये है कि—उष्णं भुङ्क्ते कदाचित् । यहां दोनों उदाहरणों में 'णिनि' नहीं होता ॥

---

१. आ० सू०—११०९ ॥

२. यत्त्वत्र काशिकाकृदाह—'सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणमुपसर्गनिवृत्त्यर्थम्' तद्भाष्यविरोधादुदाहरणविरोधाच्चाप्रमाणम् । भाष्यन्त्वत्र मूल उदाहृतम् ॥

३. अ०—३ । २ । ७८ भा० ॥ (ख) आ० वा०—१११० ॥

४. अ०—३ । २ । ७८ भा० ॥ (ख) —आ०—वा०—११११ ॥

वा०—णिन्विधौ०—'णिन्' प्रत्यय के विधान में साधुकारी अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये ॥ जैसे साधु करोतीति **साधुकारी** । **साधुदायी** । यह वार्त्तिक अताच्छील्यार्थ है ॥

वा०—ब्रह्मणि वदः ब्रह्म शब्द उपपद हो तो 'वद' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥ जैसे ब्रह्म वदतीति **ब्रह्मवादी** । यह भी अताच्छील्यार्थ ही है ॥ ७८ ॥

कर्त्तर्युपमाने[1] ॥ ७९ ॥

कर्त्तरि । ७ । १ । उपमाने । ७ । १ ॥

उपमानवाचिनि कर्त्तर्युपपद उपमेयप्रत्ययार्थे धातुमात्राण्णिनिः प्रत्ययो भवति ॥

उष्ट्र इव यातीति उष्ट्रयायी । काक इव वदतीति काकवादी ॥

'कर्त्तरि' इति किम् —तिलानिव खादति माषान् ॥ 'उपमाने' इति किम्—उष्ट्रो याति । अत्रोभयत्र 'णिनि' र्माभूत् ॥ जात्यर्थोऽताच्छील्यार्थो वाऽरम्भः ॥ ७९ ॥

[उपमाने] उपमानवाची [कर्त्तरि] कर्त्ता उपपद हो तो उपमेय अर्थ गम्यमान होने पर धातुमात्र से 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उष्ट्र इव यातीति **उष्ट्रयायी** । काक इव वदतीति **काकवादी** ।

'कर्त्तरि' ग्रहण इस लिये है कि—**तिलानिव खादति माषान्** । 'उपमाने' ग्रहण इसलिये है कि—**उष्ट्रो याति** । यहां दोनों में 'णिनि' नहीं होता ॥ यह सूत्र जाति तथा अताच्छील्य के लिये है ॥ ७९ ॥

व्रते[2] ॥ ८० ॥

सुपि' इत्यनुवर्त्तते । व्रते । ७ । १ ॥ व्रत-शब्देन शास्त्रकृतो नियम उच्यते ॥

व्रते गम्यमाने सुबन्त उपपदे धातोः 'णिनिः' प्रत्ययो भवति ॥

स्थण्डिलशायी । अश्राद्धभोजी[3] । कामचारगृहीतोऽयं नियमः ॥

'व्रते' इति किम्—स्थण्डिले शेते देवदत्तः ॥ ८० ॥

यहां 'सुपि' पद का अनुवर्त्तन है । व्रत शब्द से शास्त्रकृत नियम समझना चाहिये ॥

[व्रते] व्रत गम्यमान हो तो सुबन्त उपपद होने पर धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—**स्थण्डिलशायी** । **अश्राद्धभोजी** । नियम से स्थण्डिल पर ही सोता है ॥

व्रते ग्रहण इसलिये है कि—**स्थण्डिले शेते देवदत्तः** ॥ यहां 'णिनि' नहीं होता ॥८०॥

---

१ आ० सू०—१११२ ॥ २. आ० सू०—१११३ ॥

३ अत्र भाष्यम् एवं तर्हि नञ एवायं **सुप्प्रतिषेधवाचिनः श्राद्ध-शब्देनासमर्थसमासः**, न **भोजी श्राद्धस्येति** ……… भा० ३ । २ । ८० ॥

बहुलमाभीक्ष्ण्ये[1] ॥ ८१ ॥

बहुलम् । १ । १ । आभीक्ष्ण्ये । ७ । १ ॥ आभीक्ष्ण्यमासेवनम् ॥

आभीक्ष्ण्ये गम्यमाने सुबन्त उपपदे धातो[र्बहुल] 'णिनिः' प्रत्ययो भवति ॥

क्षीरं पिबत्यासेवते क्षीरपायी ब्राह्मणः । क्षीरपो ब्राह्मणः । पथ्यां हरीतकीमश्नात्यासेवते पथ्याशी, पथ्याशः ॥ क्षीरप इति पक्ष 'आतोऽनुपसर्गे कः'[1] इति 'क' प्रत्ययः । पथ्याश इत्यण् च ॥ ८१ ॥

आभीक्ष्ण्य=पुनः पुनः करने को कहते हैं ॥ [आभीक्ष्ण्ये] आभीक्ष्ण्य अर्थ गम्यमान हो तो सुबन्त उपपद होने पर धातु से [बहुलम्] बहुल करके 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—क्षीरं पिबत्यासेवते क्षीरपायी ब्राह्मणः । क्षीरपो ब्राह्मणः । पथ्यां हरीतकीमश्नात्यासेवते पथ्याशी । पथ्याशः ॥ क्षीरप इस पक्ष में 'आतोऽनुपसर्गे कः' इससे 'क' प्रत्यय होता है और पथ्याश इस में 'अण्' हो जाता है ॥ ८१ ॥

मनः[2] ॥ ८२ ॥

'सुपि' इत्यनुवर्त्तते ॥ मनः । ५ । १ । उत्तरसूत्रे 'खश्' प्रत्यये सार्वधातुकानुबन्धः क्रियते तेन ज्ञायते 'मन' इति मन्यतेरेव ग्रहणं न तनोत्यादिस्थस्य ॥

[सुबन्त उपपदे मन्यते 'णिनिः' प्रत्ययो भवति]

दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयमानी । सुरूपं मन्यत इति सुरूपमानी ॥ ८२ ॥

यहां 'सुपि' इस पद का अनुवर्त्तन है । अगले सूत्र में 'खश्' प्रत्यय में सार्वधातुक संज्ञा के लिये शकार अनुबन्ध किया है उससे यह जाना जाता है कि—'मन' इस पद से दिवादिस्थ मन्यति का ग्रहण है तनोत्यादिस्थ का नहीं ॥

सुबन्त उपपद हो तो [मनः] 'मन्यति' से 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयमानी । सुरूपं मन्यत इति सुरूपमानी ॥ ८२ ॥

आत्ममाने खश् च[3] ॥ ८३ ॥

'मनः' इत्यनुवर्त्तते णिनिश्च[5] । आत्ममाने । ७ । १ । खश् । १ । १ । च [अ०] ॥

आत्मनः स्वस्य मानं मननमात्ममानं तस्मिन् । आत्ममाने सति सुबन्तोपपदात् 'मन' धातोः 'खश्' णिनिश्च प्रत्ययो भवति ॥

१. आ० सू०—१११४ ॥ २. अ०—३ । २ । ३ ॥
३. आ० सू०—१११५ ॥ ४. आ० सू०—१११६ ॥
५. न चात्र णिनिश्चकारेण समुच्चेतव्यो, यथा हि 'चानुकृष्टं नोत्तरत्र' इति परिभाषया णिनेरुत्तरत्रानुवृत्तिर्न स्यात् ॥

आत्मानं पण्डितं मन्यते इति पण्डितमन्यः। पण्डितमानी। शोभनमन्यः। शोभनमानी ॥

'आत्ममाने' इति किम् – शोभनमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः। अत्र 'खश्' मा भूत् ॥ ८३ ॥

यहां 'मन' तथा 'णिनि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [आत्ममाने] आत्ममान 'अपने आप को मानना' अर्थ गम्यमान हो तो सुबन्त उपपद होने पर 'मन' धातु से [खश्] 'खश' [च] और 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—आत्मानं पण्डितं मन्यते इति पण्डितमन्यः। पण्डितमानी। शोभनंमन्यः। शोभनमानी ॥

'आत्ममाने' ग्रहण इसलिये है कि—शोभनमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्त ॥ यहां 'खश्' नहीं होता ॥ ८३ ॥

भूते[1] ॥ ८४ ॥

भूते। ७। १ ॥ यत्र कालनियमो नास्ति तत्र सामान्येन त्रिषु कालेषु प्रत्यया भवन्ति। अत इदानीं कालाधिकारः क्रियते ॥

'वर्त्तमाने लट्[2]' इत्यतः पूर्वं पूर्वं ये प्रत्यया विधीयन्ते ते धात्वर्थे भूते वेदितव्याः ॥

पापं कृतवानिति पापकृत्। अत्र सामान्यकाले 'क्विप्' प्राप्तो भूते विधीयते ॥

'भूते' इति किम् —पापं करोति। अत्र 'क्विप्' न भवति, वाक्यमेव ॥ ८४ ॥

जहां काल का नियम नहीं है वहां सामान्य करके तीनों कालों में प्रत्यय होते हैं। इस कारण यहां काल का अधिकार करते हैं ॥

'वर्त्तमाने लट्' इस से पूर्व पूर्व जो जो प्रत्यय कहेंगे वे धात्वर्थ भूत में होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥

जैसे —पापं कृतवानिति पापकृत्। यहां सामान्य काल में 'क्विप्' प्राप्त था सो भूतकाल में विधान किया है ॥

'भूते' ग्रहण इसलिये है कि—पापं करोति। यहां 'क्विप्' नहीं होता, वाक्य ही रहता है ॥ ८४ ॥

करणे यजः[3] ॥ ८५ ॥

'णिनिः' इत्यनुवर्त्तते। करणे। ७। १। यजः। ५। १ ॥

करणकारकोपपदाद् 'यज' धातो 'णिनि' प्रत्ययो भवति धात्वर्थे भूते सति ॥

१. आ० सू०—१११८ ॥ २. अ०—३। २। १२३ ॥
३. आ० सू०—१११९ ॥

अग्निष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । राजसूयेनायाक्षीत् राजसूययाजी । अश्वमेधयाजी ॥

'करणे' इति किम्—पूर्णमास्यामयष्ट ॥ 'भूते' इति किम् अग्निष्टोमेन यजते । अत्रोभयत्र 'णिनि' न भवति ॥ ८५ ॥

यहां 'णिनि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [करणे] करणकारक उपपद होने पर [यज] 'यज' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है धात्वर्थ भूत हो तो ॥

जैसे—अग्निष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । राजसूयेनायाक्षीत् राजसूययाजी । अश्वमेधयाजी ॥

'करण' ग्रहण इसलिये है कि पूर्णमास्यामयष्ट ॥ 'भूते' ग्रहण इसलिये है कि—अग्निष्टोमेन यजते । यहां दोनों में 'णिनि' प्रत्यय नहीं होता है ॥ ८५ ॥

कर्मणि हनः[1] ॥ ८६ ॥

'णिनिः' इत्यनुवर्त्तते । कर्मणि । ७ । १ । हनः । ५ । १ ॥

कर्मणि कारक उपपदे 'हन' धातोर्भूतेऽर्थे 'णिनि' प्रत्ययो भवति ॥

पितरं हतवान् पितृघाती । पितृव्यघाती । पुत्रघाती ॥ ८६ ॥

यहां 'णिनि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [कर्मणि] कर्मकारक उपपद हो तो [हनः] 'हन' धातु से भूत अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पितरं हतवान् पितृघाती । पितृव्यघाती । पुत्रघाती ॥ ८६ ॥

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्[2] ॥ ८७ ॥

'हनः' इत्यनुवर्त्तते 'णिनिः' निवृत्तः । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु । ७ । ३ । क्विप् । १ । १ ॥

नियमार्थं सूत्रमिदम् । द्विविधो[3]ऽत्र नियमः । 'हन' धातोर्यदि भूते 'क्विप्' स्यात्तर्हि ब्रह्मादिष्वेवोपपदेषु । ब्रह्मादिषूपपदेषु यदि कस्माच्चित् 'क्विप्' स्यात्तर्हि हन्तेरेव ॥

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु कर्मसूपपदेषु 'हन' धातोर्भूते 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा ॥

---

१. आ० सू०—११२० ॥ २ आ० सू०—११२१ ॥

३ यत्तु काशिकाकृता चतुर्विधोऽत्र नियम इति भण्यते, तद्भाष्यविरुद्धत्वादुपेक्षणीयम् । तथा च भाष्यम्—"......उभयतो नियमोऽयम् । ब्रह्मादिष्वेव हन्तेर्भूते क्विब्भवति क्विबेव हन्तेर्भूते ब्रह्मादिष्विति" (अ० ३ । २ । ८७ भा०) ॥ तथा च कामहा, मधुहा हिमहत्यादिषु 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अ० ३ । ३ । ११३) इति बहुलग्रहणादुपपदान्तरादप्राप्तोऽपि हन्ते क्विब्भवति ।

"बहुलं छन्दसि" (अ० ३ । २ । ८८) इत्यतो बहुलग्रहणानुवृत्तेर्नियमव्यभिचारादिति रक्षितः ॥

नियमः किमर्थः—व्याघ्रं हतवान् । ब्रह्माधीतवान् । अत्र क्वापि 'क्विप्' न भवति ॥ ८७ ॥

यहां 'हन' इस पद का अनुवर्त्तन है तथा 'णिनि' पद का निवर्त्तन हुआ। यह सूत्र नियम करने के लिये है, वह नियम यहां दो प्रकार का है—'हन्' धातु से यदि भूतकाल में क्विप्' हो तो ब्रह्मादि उपपद होने पर ही हो, ब्रह्मादि उपपद होने पर यदि किसी धातु से 'क्विप्' हो तो 'हन्' से ही हो ॥

[ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु] ब्रह्म, भ्रूण, वृत्र ये कर्म उपपद हों तो 'हन' धातु से भूत में [क्विप्] 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे——ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा ॥

नियम इसलिये है कि—व्याघ्रं हतवान् । ब्रह्माधीतवान् । यहां दोनों में क्विप् नहीं होता ॥ ८७ ॥

बहुलं छन्दसि[1] ॥ ८८ ॥

पूर्वसूत्रे यन्नियम्यते तस्य विघातार्थ आरम्भः । बहुलम् । १ । १ । छन्दसि । ७ । १ ॥

[छन्दसि=वेदविषये] सामान्ये कर्मण्युपपदे 'हन' धातोर्भूतेऽर्थे [बहुलं] 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

मातृहा[2] । पितृहा[3] । भ्रातृहा[4] । न च भवति—अमित्रघातः । बहुलग्रहणादमित्रघात इति 'क्विप्' एव न भवति ॥ ८८ ॥

पूर्वसूत्र में जो नियम किया है उसके विघात के लिये यह सूत्र है ॥

[छन्दसि] वैदिकप्रयोग विषय में सामान्य कर्म उपपद हो तो 'हन' धातु से [बहुलम्] बहुल करके भूत अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मातृहा । पितृहा । भ्रातृहा । न च भवति—अमित्रघातः । बहुल ग्रहण से 'अमित्रघात.' यहां क्विप् ही नहीं होता ॥ ८८ ॥

सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः[5] ॥ ८९ ॥

'क्विप्' अनुवर्त्तते । सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु । ७ । ३ । कृञः । ५ । १ ॥

स्वादिपूपपदेषु 'कृञ्' धातोर्भूतेऽर्थे 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१ आ० सू०—११२२ ॥

२ मातृहा वै त्वमसि ॥ न मातृहाऽसीति ॥ छान्दो०—७ । १५ । २ ३ ॥

३ पितृहा वै त्वमसि ॥ नैव ब्रूयुः पितृहासीति ॥ छान्दो० ७ । १५ । २ ३ ॥

४ भ्रातृहा वै त्वमसि ॥ न भ्रातृहासीति ॥ छान्दो० —७ । १५ । २ ३ ॥

५ आ० सू०—११२३ ॥

सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यमकार्षीत् पुण्यकृत् ।।

इदमपि सूत्रं नियमार्थम्—स्वादिषूपपदेषु यदि 'क्विप्' स्यात्तर्हि भूत एव । भूते यदि स्वादिषूपपदेषु प्रत्ययः स्यात्तर्हि क्विबेव[1] ।। ८९ ।।

यहां 'क्विप्' पद का अनुवर्त्तन है ।। [सुकर्म० पु] सुकर्म, पाप, मन्त्र, पुण्य ये उपपद हो तो [कृञः] 'कृञ्' धातु से भूत अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे– सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यमकार्षीत् पुण्यकृत् ।।

यह सूत्र भी नियम के लिये है—सु-आदि उपपद होने पर यदि 'क्विप्' हो तो भूत में ही हो, भूत में यदि स्वादि उपपद होने पर प्रत्यय हो तो 'क्विप्' ही हो ।। ८९ ।।

सोमे सुञः[2] ।। ९० ।।

इदमपि नियमार्थमेव[3] । 'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते ।। सोमे । ७ । १ । सुञः । ५ । १ ।।

सोमे कर्मण्युपपदे 'सुञ्' धातोर्भूते 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ।।

सोममसोष्ट सोमसुत् । सोमसुतौ ।। ९० ।।

यह सूत्र भी नियमार्थ ही है ।। 'कर्मणि' इस पद का अनुवर्त्तन है ।

[सोमे] सोम कर्म उपपद हो तो [सुञः] 'सुञ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे सोममसोष्ट सोमसुत् । सोमसुतौ । सोमसुतः ।। ९० ।।

अग्नौ चेः[4] ।। ९१ ।।

अग्नौ । ७ । १ । चेः । ५ । १ ।। अग्नौ[5] कर्मण्युपपदे 'चिञ्' धातोर्भूते 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ।।

अग्निमचैषीदिति-अग्निचित् । अग्निचितौ । अग्निचितः । इदमपि नियमार्थमेव[6] ।। ९१ ।।

[अग्नौ] अग्नि कर्म उपपद हो तो [चेः] 'चिञ्' धातु से भूत अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—अग्निमचैषीदित्यग्निचित् । अग्निचितौ । अग्निचितः । यह सूत्र भी नियमार्थ ही है ।। ९१ ।।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम्[7] ।। ९२ ।।

'चे' इति 'कर्मणि' इति चानुवर्त्तते । कर्मणि । ७ । १ ।

१ 'त्रिविधोऽत्र नियम' इति काशिका ।। २. आ० सू०—११२४ ।।
३. 'चतुर्विधोऽत्र नियमः' इति काशिका ।। ४. आ० सू० -११२५ ।।
५ अग्नि-शब्दोऽत्र इष्टिकारचितस्थण्डिलविशेषे वर्त्तते ।।
६. 'अत्रापि चतुर्विधो नियम' इति काशिका ।। ७. आ० सू०—११२६ ।।

अन्याख्यायाम् । ७ । १ ।। कर्मण्युपपदे 'चिञ्' धातोर्भूते कर्मणि कारके 'क्विप्' प्रत्ययो भवत्यग्न्याख्यायाम् ।।

'कर्त्तरि कृत्'[1] इति कर्त्तरि प्राप्ते कर्मणि विधीयते, श्येन इव चितोऽग्निः श्येनचित् । श्येनचिदिति रूढिसंज्ञाज्ञापनायाग्न्याख्याग्रहणं क्रियते । श्येनचिदित्यग्ने रूढिसंज्ञा ।। ९२ ।।

यहां 'चे' तथा 'कर्मणि' इन पदों का अनुवर्त्तन है ।। कर्म उपपद होने पर भूत अर्थ गम्यमान हो तो 'चिञ्' धातु से [कर्मणि] कर्मकारक में [अग्न्याख्यायाम्] अग्नि अभिधेय होने पर 'क्विप्' प्रत्यय होता है ।।

'कर्त्तरि कृत्' इससे 'क्विप्' कर्त्ता में प्राप्त था, सो कर्म में कहा ।

जैसे—श्येन इव चितोऽग्निः श्येनचित् । श्येनचित् यह अग्नि की रूढ़ि संज्ञा है, इस बात को दर्शाने के लिए सूत्र में अग्न्याख्या ग्रहण किया है ।। ९२ ।।

कर्मणीनि विक्रियः[2] ।। ९३ ।।

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तमाने पुनः कर्मग्रहणमग्न्याख्यकर्मनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि । ७ । १ । इनि । १ । १ । विक्रियः । ५ । १ ।। इनीति लुप्तविभक्तिको निर्देशः ।।

कर्मण्युपपदे वि-पूर्वात् 'क्रीञ्' धातोर्भूते 'इनिः' प्रत्ययो भवति ।।

सुराविक्रयी । मद्यविक्रयी ।।

वा०—कर्मणि कुत्सिते[3] ।। १ ।।

कुत्सिते निन्दिते कर्मण्युपपदे 'इनि' प्रत्ययो भवतीति शेषः । इह मा भूत्—धान्यविक्रायः । अत्रानेन 'इनिः' प्रत्ययो न भवति किन्तूत्सर्गत्वाद् 'अण्' एव ।। ९३ ।

यहां 'कर्म' पद के अनुवर्त्तमान होने पर पुनः कर्म ग्रहण अग्न्याख्य कर्म की निवृत्ति के लिये किया है ।। 'इनि' यहां विभक्ति का लोप है ।।

[कर्मणि] कर्म उपपद हो तो [विक्रियः] वि-पूर्वक 'क्रीञ्' धातु से भूतकाल में [इनि] 'इनि' प्रत्यय होता है ।। जैसे—सुराविक्रयी । मद्यविक्रयी ।।

वा०—कर्मणि कुत्सिते कुत्सित अर्थात् निन्दित कर्म उपपद हो तो 'इनि' प्रत्यय होता है, यह सूत्रार्थ का शेष है इसलिये—धान्यविक्रायः यहां 'इनि' प्रत्यय नहीं होता किन्तु उत्सर्ग 'अण्' ही होता है ।। ९३ ।।

दृशेः क्वनिप्[4] ।। ९४ ।।

'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते । दृशेः । ५ । १ । क्वनिप् १ । १ ।।

१. अ०—३ । ४ । ६७ ।। २. आ० सू०—११२७ ।।
३. अ०—३ । २ । ९३ भा० ।। ४. आ० सू०—११२८ ।।

कर्मण्युपपदे 'दृश' धातोः 'क्वनिप्' प्रत्ययो भवति ॥

वाराणसीं दृष्टवान् वाराणसीदृश्वा । पाटलीपुत्रदृश्वा ॥ नियमार्थं वचनम्—'दृश' धातोर्भूत एव 'क्वनिप्' स्यान्नान्यत्र ॥ ६४ ॥

यहां 'कर्मणि' इस पद का अनुवर्त्तन है कर्म उपपद हो तो [दृशेः] 'दृश' धातु से [क्वनिप्] 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—वाराणसीं दृष्टवान् वाराणसीदृश्वा । पाटलिपुत्रदृश्वा ॥

यह सूत्र भी नियमार्थ है—'दृश्'—धातु से भूत में ही क्वनिप्' हो अन्यत्र नहीं ॥ ९४ ॥

राजनि युधिकृञः[1] ॥ ६५ ॥

[राजनि । ७ । १ । युधिकृञः । ५ । १ ॥] राजन् शब्दे कर्मण्युपपदे 'युध-कृञ्' धातुभ्यां भूते 'क्वनिप्' प्रत्ययो भवति ॥

युध-धातुरकर्मकस्तत्रान्तर्भावितण्यर्थत्वात्सकर्मक एव, राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ॥

'राजनि' इति किम् —शब्दं कृतवान् शब्दकारः ॥ ६५ ॥

[राजनि] राजन् शब्द कर्म उपपद हो तो [युधिकृञः] 'युध' तथा 'कृञ्' धातु से भूत अर्थ में 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है ॥

'युध' धातु अकर्मक है परन्तु अन्तर्भावितणयर्थ होने से सकर्मक हो जाता है ॥ जैसे—राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ॥

'राजनि' ग्रहण इसलिये है कि—शब्दं कृतवान् शब्दकारः ॥ ९५ ॥

सहे च[2] ॥ ६६ ॥

[सहे । ७ । १ । च अ०] सहशब्दस्याव्ययत्वात् कर्मत्वं नास्तीति पृथगारम्भः ॥

सहशब्द उपपदे युधि-कृञ् धातुभ्यां 'क्वनिप्' प्रत्ययो भवति ॥

सहयुध्वा । सहकृत्वा ॥ ६६ ॥

सह शब्द के अव्यय होने से कर्मता नहीं है अतः पृथक् सूत्र किया ॥

[सहे] सह शब्द उपपद हो तो [च] 'युधि' तथा 'कृञ्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—सहयुध्वा । सहकृत्वा ॥ ९६ ॥

सप्तम्यां जनेर्डः[3] ॥ ६७ ॥

सप्तम्याम् । ७ । १ । जनेः । ५ । १ । डः । १ । १ ॥

१ आ० सू०—११२९ ॥ २. आ० सू०—११३० ॥
३ आ० सू०—११३१ ॥

सप्तम्यन्त उपपदे 'जन' धातो 'र्डः' प्रत्ययो भवति ॥

कटे जातः कटजः । उर[स]रजः । मन्दुरजः ॥ ६७ ॥

[सप्तम्यां] सप्तम्यन्त उपपद हो तो [जनेः] 'जन' धातु से [डः] 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे —कटे जातः कटजः । उपसरजः । मन्दुरजः ॥ ९७ ॥

पञ्चम्यामजातौ[1] ॥ ९८ ॥

'जनेः', डः' इत्यनुवर्त्तते । पञ्चम्याम् । ७ । १ । अजातौ । ७ । १ ॥

अजातिवाचिनि [पञ्चम्यन्ते] सुबन्त उपपदे 'जन' धातो 'र्डः' प्रत्ययो भवति ॥

शोकजो रोगः । गोमयाज्जायते गोमयजो वृश्चिकः । संस्कारजः । दुःखजः ॥

'अजातौ' इति किम् हस्तिनो जातः ॥ ९८ ॥

यहां 'जने' तथा 'ड' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [अजातौ] अजातिवाची [पञ्चम्याम्] पञ्चम्यन्त सुबन्त उपपद हो तो 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—शोकजो रोगः । गोमयाज्जायते गोमयजो वृश्चिकः । संस्कारजः । दुःखजः ॥

'अजातौ' ग्रहण इसलिये है कि —हस्तिनो जातः ॥ ९८ ॥

उपसर्गे च संज्ञायाम्[2] ॥ ९९ ॥

उपसर्गे । ७ । १ । च [अ०] संज्ञायाम् । ७ । १ ॥

उपसर्ग उपपदे संज्ञायां गम्यमानायां 'जन' धातो 'र्डः' प्रत्ययो भवति ॥

वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम । प्रजाता इति प्रजाः ॥ ९९ ॥

[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद हो तो [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान होने पर 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम । प्रजाता इति प्रजाः ॥ ९९ ॥

अनौ कर्मणि[3] ॥ १०० ॥

अनौ । ७ । १ । कर्मणि । ७ । १ ॥

कर्मण्युपपदेऽनूपसर्गात् 'जन' धातो 'र्ड' प्रत्ययो भवति ॥

युधिष्ठिरमनुजातो युधिष्ठिरानुजः । रामानुजो भरतः ॥ १०० ॥

[कर्मणि] कर्म उपपद हो तो [अनौ] अनु-पूर्वक 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—युधिष्ठिरमनुजातो युधिष्ठिरानुजः । रामानुजो भरतः ॥ १०० ॥

---

१. आ० सू०—११३२ ॥ २ आ० सू०—११३३ ॥

३ आ० सू०—११३४ ॥

अन्येष्वपि दृश्यते[1] ॥ १०१ ॥

अन्येषु । ७ । ३ । अपि [अ०] । दृश्यते [क्रियापदम्] ॥

उक्तेभ्योऽन्येष्वप्युपपदेषु 'जन' धातो 'ड:' प्रत्ययो दृश्यते ॥

सप्तम्यामित्युक्तमसप्तम्यामपि दृश्यते । न जायत इत्यजः ॥ अजाताविन्युक्त जातिवाचिन्युपपदेऽपि दृश्यते । ब्राह्मणजः ॥ क्षत्रियजः ॥ कर्मणीत्युक्तं केवलानूपपदादपि दृश्यते । अनु पश्चाज्जातोऽनुजः ॥

वा०—अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्[2] ॥ १ ॥

इहापि यथा स्यात् । आखा । उखा । परिखा ॥ अन्येषूपपदेष्वपि 'जन' धातो 'ड.' प्रत्ययो दृश्यत इत्युक्तं तत्रान्याभ्यः प्रकृतिभ्योऽपि 'ड.' प्रत्ययो दृश्यत इति वार्त्तिकारम्भः । आङ्-पूर्वात् 'खन' धातो 'ड.' । आखा ॥ १०१ ॥

[अन्येष्वपि] उक्त उपपदों से अन्य उपपद होने पर भी 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय [दृश्यते] देखा जाता है ॥

सप्तम्यन्त उपपद 'जन' से 'ड' कहा है परन्तु सप्तमी भिन्न उपपद होने पर भी 'जन से 'ड' प्रत्यय देखा जाता है । जैसे— न जायत इत्यज. ॥ 'अजातौ' कहा है परन्तु जातिवाची उपपद होने पर भी देखा जाता है । जैसे—ब्राह्मणजः । क्षत्रियज. ॥ कर्म उपपद होने पर अनुपूर्वक जन से 'ड' कहा है परन्तु केवल अनु उपपद से भी देखा जाता है जैसे—अनु पश्चाज्जातोऽनुज. ॥

वा०—अन्येभ्योऽपिदृ०—अन्य उपपद होने पर भी 'जन' धातु से 'ड प्रत्यय देखा जाता है ऐसा कहा है, परन्तु अन्य प्रकृतियों से भी 'ड' प्रत्यय देखा जाता है, ऐसा कहना चाहिये इस प्रयोजन के लिए यह वार्त्तिक है ॥ जैसे—आङ्पूर्वक 'खन' धातु से 'ड होकर आखा । उखा । परिखा इत्यादि भी सिद्ध हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

निष्ठा[4] ॥ १०२ ॥

'क्तक्तवतू निष्ठा'[5] इति निष्ठा संज्ञा कृता तस्यात्र विधानं क्रियते ॥

तौ क्त-क्तवतू निष्ठासंज्ञकौ प्रत्ययौ भूतकाले भवतः ॥

भिन्नः । भिन्नवान् । भुक्तः । भुक्तवान् ॥

निष्ठासंज्ञायामितरेतराश्रयदोष आपद्यते, सतोश्च क्तक्तवत्वोर्निष्ठासंज्ञा भवति । संज्ञया च क्तक्तवतू विधीयेते । अत इतरेतराश्रयदोषनिवारणाय भाविनी संज्ञाऽत्र विज्ञातव्या, ययो 'निष्ठा' इत्येषा संज्ञा भविष्यति तौ भूते भवत इति ॥

१. आ० सू०—११३५ ॥ २. अ०—३ । २ । १०१ भा० ॥

३ 'अपि-शब्द. सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः' इति काशिकाकृदादयस्तदसत् । अन्येष्वपीति सप्तमी-निर्देशात्—उपपदान्तर एव प्राप्नोति, न तु धात्वन्तरेभ्य , अत एवाह वार्त्तिककारः -अन्येभ्योऽपि० (अ० ३ । २ । १०१ भा०) इति ॥

४. आ० सू०—११३७ ॥ ५. अ०—१ । १ । २६ ॥

वा०—आदिकर्मणि निष्ठा[1] ॥ १ ॥

वर्त्तमानेप्यादिकर्मणि क्तः प्रयुज्यत इति सूत्रेण न प्राप्नोति । प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः । प्रकरोति कटं देवदत्तः ॥ १०२ ॥

'क्तक्तवतू निष्ठा' इस सूत्र से निष्ठा संज्ञा की है उसका यहां विधान है ॥

[निष्ठा] निष्ठासंज्ञक 'क्तक्तवतु' प्रत्यय भूतकाल में होते हैं ॥

जैसे—भिन्नः । भिन्नवान् । भुक्तः । भुक्तवान् ॥

निष्ठासंज्ञा में इतरेतराश्रय दोष उत्पन्न होता है, क्त-क्तवतु हों तो निष्ठा संज्ञा हो और संज्ञा हो तब क्त-क्तवतु का विधान हो सके। इस प्रकार यहां इतरेतराश्रय दोष आता है उसके निवारणार्थ भावी संज्ञा समझनी चाहिये, अर्थात् जिनकी निष्ठा यह संज्ञा होगी वह भूतकाल में होते हैं ॥

वा०—आदिकर्मणि निष्ठा—वर्त्तमानकाल में भी आदिकर्म में 'क्त' का प्रयोग होता है सो सूत्र से प्राप्त नहीं है, एतदर्थ यह वार्त्तिक है जैसे—प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः ॥ १०२ ॥

सुयजोर्ङ्वनिप्[2] ॥ १०३ ॥

सुयजोः । ६ । २ । ङ्वनिप् । १ । १ ॥ सु[3]-यज' इत्येताभ्यां धातुभ्यां भूते 'ङ्वनिप्' प्रत्ययो भवति ।

सुतवानिति सुत्वा । इष्टवानिति यज्वा ॥ पित्करणं तुगर्थम् ॥ १०३ ॥

[सुयजोः] 'सु-यज' इन धातुओं से भूतकाल में [ङ्वनिप्] 'ङ्वनिप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—सुतवानिति सुत्वा । इष्टवानिति यज्वा । पित्करण 'तुक्' आगम के लिये है ॥ १०३ ॥

जीर्यतेरतृन्[4] ॥ १०४ ॥

जीर्यतेः । ५ । १ । अतृन् । १ । १ ॥ जॄष् वयोहानौ[5] इत्यस्माद्धातोर्भूते 'अतृन्' प्रत्ययो भवति ॥

जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । वाऽसरूपविधिनात्रनिष्ठाऽपि भवति । जीर्णः ॥१०४॥

[जीर्यतेः] 'जॄष्-वयोहानौ' इस धातु से भूतकाल में [अतृन्] 'अतृन्' प्रत्यय होता है ॥

१. अ०—३ । २ । १०२ भा० ॥ (ख) धा० वा०—११८१ ॥

२. धा० सू०—१२२५ ॥

३. इह तु 'सृ गतौ' 'षु प्रसवैश्वर्य्ययोः' इत्यनयोरेव निरनुबन्धकयोर्ग्रहणं प्राप्तम्, तदनभिधानात्, उभयपदिना साहचर्य्याद्वा न भवति, 'सुनोते' रेवेह ग्रहणम् ॥

४. धा० सू०—१२२६ ॥ ५. धा०—दिवा० २२ ॥

जैसे — जरन् । जरन्तौ । जरन्तः ॥ यहां वासरूपविधि होने से निष्ठा भी हो जाता है । जैसे - जीर्णः ॥ १०४ ॥

छन्दसि लिट्[1] ॥ १०५ ॥

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[2] इति सामान्यकाले लिङ् विधीयते तत्र 'धातुसम्बन्धे' इत्यनुवर्त्तते । अत्र धातुसम्बन्धेऽधातुसम्बन्धे च सामान्यविधानार्थं वचनम् ॥ छन्दसि । ७ । १ । लिट् । १ । १ ॥

छन्दसि वेदविषये धातुमात्राद् भूतेऽर्थे 'लिट्' प्रत्ययो भवति ॥

[अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ।] अहं द्यावापृथिवी आततान[3] । अत्र तनुविस्तार[4] इत्यस्माल्लिट् ॥ १०५ ॥

'छन्दसि लुङ् लङ् लिट' इस सूत्र से 'लिट' प्रत्यय का विधान सामान्यकाल में है वहां 'धातुसम्बन्धे' इस पद का अनुवर्तन है । परन्तु यहां धातुसम्बन्ध हो अथवा न हो सामान्य विधान करने के लिये यह सूत्र है ॥

[छन्दसि] वेदविषय में धातुमात्र से भूत में [लिट्] 'लिट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे —अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । अहं द्यावापृथिवी आततान । यहां 'तनुविस्तारे' इस धातु से 'लिट्' प्रत्यय हुआ ॥ १०५ ॥

लिटः कानज्वा[5] ॥ १०६ ॥

लिटः । ६ । १ । कानच् । १ । १ । वा [अ०] ॥ छन्दसि विहितस्य लिटः स्थाने कानजादेशो विकल्पेन भवति ॥

प्रजापतिः प्रजया संरराणः[6] । अत्र रराण इति 'रा' धातोर्लिटः स्थाने 'कानच्' । न च भवति अहं सूर्यमुभयतो ददर्श[7] ॥ १०६ ॥

छन्द में विहित [लिटः] लिट् के स्थान में [कानच्] कानच् आदेश [वा] विकल्प से होता है ॥

जैसे प्रजापतिः प्रजया संरराणः । यहां 'रराण' इस उदाहरण में 'रा' धातु से 'लिट्' के स्थान में कानच् है । अहं सूर्यमुभयतो ददर्श । यहां 'कानच्' नहीं हुआ । १०६ ॥

---

१ अ० सू०—१२२७ ॥ २. अ० —३ । ४ । ६ ॥

३ अनुपलब्धमूलमिदम् ॥परन्तु —यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान (ऋ० १० । ८ । ३) यः सूर्यो रश्मिभिराततान (ऋ० ७ । ४२ । ४) ॥ ननु द्यावापृथिवी आततान (तै० ब्रा०— १ । २ । १ २३ ।) इत्यादयस्तु दृश्यन्त एव ॥

४ धा० तना०—१ ॥ ५. अ०—सू०—१२२८ ॥

६. यजु०—३२ । ५ ॥ ७. यजु० —८ । ९ ॥

क्वसुश्च[1] ॥ १०७ ॥

'छन्दसि-लिटः' इति 'वा' इति चाऽनुवर्त्तते । क्वसुः । १ । १ । च [अ०] ॥

छन्दसि[2] विहितस्य लिटः स्थाने विकल्पेन क्वसुरादेशो भवति ॥

जग्मिवान् । जघ्निवान् । अत्र गमो. कित्वादुपधालोपः । पेचिवान् । पेठिवान् । न च भवति अहं द्यावापृथिवी आततान । विकल्पत्वाद् [पक्षे] आततान इति तिङां श्रवणं भवति ॥ १०७ ॥

यहां 'छन्दसि लिट तथा 'वा' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

छन्द में विहित लिट् के स्थान में विकल्प करके [क्वसुश्च] 'क्वसु' आदेश होता है ।

जैसे—जग्मिवान् । जघ्निवान् । यहां 'क्वसु' के कित् होने से उपधा लोप हुआ है । पेचिवान् पेठिवान् । क्वसु' नहीं भी होता —अहं द्यावापृथिवी आततान । विकल्प होने से पक्ष में 'आततान' इस में लिङ् का श्रवण होता है ॥ १०७ ॥

भाषायां सदवसश्रुवः[3] ॥ १०८ ॥

'छन्दसि' ग्रहणं निवृत्तम् । भाषायाम् । ७ । १ । सदवसश्रुवः । ५ । १ ॥

भाषायां लौकिकशब्दविषये सद, वस, श्रु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य विकल्पेन 'लिट्' प्रत्ययो भवति, तस्य च लिटः स्थाने नित्यं क्वसुरादेशो भवति, पक्षे सामान्यभूते 'लुङ्' भवति, विशेषभूते परोक्षानद्यतने लिङ्-लङौ भवतः ॥

उपसेदिवान् । सामान्यभूते—उपासदत् । अनद्यतनभूते 'लङ्'—उपासीदत् । परोक्षभूते 'लिट्'—उपससाद ॥ वस— ऊषिवान् । अवात्सीत् । अवसत् । उवास ॥ श्रु—शुश्रुवान् अश्रौषीत् । अशृणोत् । शुश्राव । अत्र लिट स्थाने लिट्-प्रसङ्गे भूतविषये नित्यं 'क्वसु' भवति । यदि पूर्वं लिट् विधीयेत नहि पक्षे लिडेव स्यात् । भूतविषये लिटो विकल्पत्वात् पक्षे यथाप्राप्त प्रत्यया भवन्ति, तेन सदादिभ्य उक्ताः प्रयोगाः सिध्यन्ति ॥ १०८ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का निवर्त्तन है ॥ [भाषायाम्] लौकिक शब्द विषय में [सदवसश्रुवः] सद, वस श्रु इन धातुओं से परे विकल्प से 'लिट्' प्रत्यय होता है और उस लिट के स्थान में नित्य 'क्वसु' आदेश होता है । पक्ष में सामान्यभूत काल का लुङ्, विशेषभूतपरोक्षानद्यतन-काल के 'लिट्' और 'लङ्' हो जाते हैं ॥

जैसे—उपसेदिवान् । सामान्यभूत में —उपासदत् । अनद्यतनभूत में लङ्—उपासीदत् । परोक्षभूतकाल में लिट उपससाद ॥ वस—ऊषिवान् । अवात्सीत् । अवसत् । उवास ।

१. आ० सू०—१२२९ ॥

२. कश्चित्तु बहुल (भाषायामपि) प्रयुङ्क्ते 'त तस्थिवांस नगरोपकण्ठे श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' इति दीपिकाकृत् ॥

३. आ० सू०—१२३० ॥

श्रु—शुश्रुवान् । अश्रौषीत् । अशृणोत् । शुश्राव । यहां लिट् के स्थान में लिट्-विषयक भूतकाल में नित्य 'क्वसु' आदेश होता है । यदि पहिले लिट् किया जाय तो पक्ष में लिट् ही होता । अब भूतविषय में लिट्' का विकल्प होने से पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं, अतः सदादि धातुओं से उक्त प्रयोग भी सिद्ध हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च[1] ॥ १०९ ॥

उपेयिवाननाश्वाननूचानः । १ । १ । च [अ०] ॥ उपेयिवान्[2], अनाश्वान् अनूचान इति त्रयः शब्दाः क्वसु-कानच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥

इण् गतौ[3]—इत्यस्मात् 'क्वसु' प्रत्यये परतो द्विर्वचनमभ्यासदीर्घत्वमनभ्यासस्य व्यञ्जन एव यणादेशो निपातनात्तत एकाच्त्वाद् 'इट्' आगमः । नञ्-पूर्वाद् **अश भोजने**[4] इत्यस्माद्धातोः क्वसुप्रत्यये कृते द्विर्वचन एकादेशे चैकाच्त्वादिट् प्राप्नोति तदभावो निपात्यते । नाशीदित्यनाश्वान् ।

का०—अनूचानः कर्त्तरि[5] ॥ १ ॥

अनूचानशब्दः कर्त्तरि निपात्यते । अनूपपदाद् 'वच' धातोः 'कानच्' द्विर्वचनं संप्रसारणं च निपात्यते । अनूक्तवानित्यनूचानः । अनूक्तमित्येवान्यत्र ।

का०—अपर आह—

> **नोपेयिवान्निपात्यो द्विर्वचनादिड् भविष्यति परत्वात् ।**
> **अन्येषामेकाचां द्विर्वचनं नित्यमित्याहुः ॥ १ ॥**
>
> **अस्य पुनरिट् च नित्यो द्विर्वचनं च न विहन्यते ह्यस्य ।**
> **द्विर्वचने चैकाच्त्वात्तस्मादिड् बाधते द्वित्वम्**[6] ॥ २ ॥

आर्य्याच्छन्दसी इमे । केषाञ्चिदाचार्य्याणां मतमिदम् 'उपेयिवान्' इति निपातनं नैव कर्त्तव्यम् । अयमिण् धातुरुपदेश एकाच् द्विर्वचनादेकादेशे कृतेऽप्येकाजेव । पुनः सर्वथा नित्यत्वात् परत्वाद् 'इट्' भविष्यति । अन्येषामुपदेशैकाचां नित्यत्वात् पूर्वं द्विर्वचनं पश्चादनेकाच्त्वादिड् न भविष्यति । यन्निपातनकरणस्यैतत्प्रयोजनं किञ्चिद-प्राप्तं कार्य्यं यथा स्यात् । उपेयिवानित्यत्र किमप्यप्राप्तं कार्य्यं नास्तीति ॥ १०९ ॥

उपेयिवान्, अनाश्वान्, अनूचान ये तीन शब्द क्वसु-कानच् प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥

१. आ० सू०—१२३२ ॥

२ **परेयिवांसं प्रवतो महीरनु** (ऋ० १० । १४ । १) एतद्दा एनं देवा ईयिवांसमम् (श०—६ । १ । १३) इत्यादिष्वन्योपसर्गपूर्वान्निरुपसर्गपूर्वाच्च दर्शनादत्रोपसर्गस्तन्त्रम् ॥

३. धा०—अदा०—३६ ॥ ४. धा० क्र्या०—५१ ॥

५. अ०—३ । २ । १०९ भा० ॥ ६. अ०—३ । २ । १०९ ॥

उपेयिवान् इसमें 'इण् गतौ' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय के परे रहते द्विर्वचन अभ्यास को दीर्घत्व अभ्यास से उत्तर को व्यञ्जन परे रहने पर यणादेश का निपातन है। पुनः एकाच्त्व मान करके इट् का आगम होता है॥ अनाश्वान् इसमें नञ् पूर्वक 'अश भोजने' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय द्विर्वचन एकादेश करने पर एकाच्त्व होने से 'इट्' प्राप्त होता है उसका अभाव निपातन है। नाशीदित्यनाश्वान्॥

१—वा० अनूचानः कर्त्तरि—अनूचान शब्द का कर्त्ता में निपातन है। अनु उपपद 'वच' धातु से 'कानच्' द्विर्वचन तथा सम्प्रसारण निपातन है। अनूक्तवानित्यनूचानः। अन्यत्र 'अनुक्तम्' ऐसा ही प्रयोग होगा॥

का—नोपेयिवान्निपात्यो.............॥ १॥
अस्य पुनरिट् च नित्यो..........॥ २॥

ये दोनों कारिकायें आर्य्या छन्द में हैं॥ किन्हीं आचार्यों का यह मत है कि—'उपेयिवान्' इसका निपातन नहीं करना चाहिये क्योंकि यह 'इण्' धातु उपदेश में एकाच् है, द्विर्वचन के अनन्तर एकादेश करने पर भी एकाच् ही हो जाती है। अतः नित्य तथा परत्व होने से 'इट्' हो ही जावेगा॥ अन्य निपातनों में—उपदेश में एकाच् धातुओं को नित्य होने से पहिले द्विर्वचन होगा पुनः उनके अनेकाच् होने से 'इट्' नहीं होगा। अर्थात् निपातन करने का यह प्रयोजन होता है कि जो सूत्र से सिद्ध नहीं होता वह निपातन से हो जावे, परन्तु 'उपेयिवान्' में कुछ भी अप्राप्य कार्य्य नहीं है॥ १०९॥

लुङ्[1] ॥ ११० ॥

लुङ्। १। १॥ भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोः 'लुङ्' प्रत्ययो भवति॥

आसीत्। अचैषीत्। ऐधिष्ट॥

१—वा०—वसेर्लुङ् रात्रिशेषे जागरणसन्ततौ[2]॥

रात्रिशेषे रात्रेश्चतुर्थे यामे प्रहरत्रयस्य वृत्तान्ते वर्ण्यमानेऽनद्यतनत्वाल्लङ् प्राप्तस्तदर्थोऽयमारम्भः। न्याय्ये प्रत्युत्थानसमये रात्रेश्चतुर्थे यामे प्रत्युपस्थितं कश्चित् कश्चित् पृच्छति। क्व भवानुषित इति। स आह अमुत्रावात्समिति। अमुत्रावसमिति 'लङ्' प्राप्तः। यदि सर्वां रात्रिं जागर्त्ति तदैव लुङा भवितव्यम्। यद्वा मुहूर्त्तमात्रमपि सुप्त्वा प्रबुध्य च प्रयोगं कुर्य्यात् तदा तु लङ् एव भवितव्यम्। अमुत्रावसमिति। रात्रेश्चतुर्थो यामो वर्त्तमानदिने गण्यते, तेन चतुर्थयामसहितस्य वर्त्तमानदिवसस्याद्यतनसंज्ञा पश्चाद् व्यतीतस्य रात्रेः प्रहरत्रयस्य चानद्यतनसंज्ञा॥ ११०॥

भूत अर्थ में वर्त्तमान धातु से [लुङ्] 'लुङ्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—आसीत्। अचैषीत्। ऐधिष्ट॥

---

१. आ० सू०—८६॥ २. अ०—३। २। ११०॥

वा०—वसेर्लुङ् रात्रिशेषे०—रात्रिशेष अर्थात् रात्रि के चौथे पहर में तीन प्रहर का वृत्तान्त कहने में अनद्यतन होने से 'लङ्' प्राप्त था अत यह 'लुङ्' विधानार्थ वार्त्तिक है ॥ रात्रि के चतुर्थ प्रहर में आये हुए को कोई पूछता है, आप कहां रहे ? वह बोला—'अमुत्रावात्सम् । अमुत्रावसम्' ऐसा 'लङ्' प्राप्त था, यदि सारी रात जागता रहा हो तब तो 'लुङ्' हो ही जायेगा, परन्तु यदि मुहूर्त्तमात्र भी सोकर जाग पड़ता है, पुन यदि वह कहता है तब 'लङ्' ही होगा अमुत्रावसमिति ॥

रात्रि का चतुर्थ प्रहर वर्त्तमान दिन मे गिना जाता है, अतः चतुर्थयाम सहित वर्त्तमान दिन की अद्यतन संज्ञा है, पीछे के रात्रि के बीते हुए तीन प्रहर की अनद्यतन संज्ञा है ॥ ११० ॥

अनद्यतने लङ्[1] ॥ १११ ॥

अनद्यतनसंज्ञा पूर्वं दर्शिता । अनद्यतने । ७ । १ । लङ् । १ । १ । न विद्यते-ऽद्यतनोऽस्मिन् सोऽनद्यतनस्तस्मिन् । नत्वत्र तत्पुरुषसमासः ॥

अनद्यतनभूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातो 'लङ्' प्रत्ययो भवति ॥

अभवत् । अकरोत् ॥

बहुव्रीहिनिर्देशः किमर्थः—अद्य च ह्यश्च गते दिवसेऽभुक्ष्महि । अत्राद्यतनान-द्यतनयोर्मिश्रीभावे 'लङ्' मा भूत् । लुङेव यथा स्यात् ॥

वा०—परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये[2] ॥ १ ॥

लोके विज्ञातः प्रसिद्धो लोकविज्ञातः । प्रयोक्ता यदा परोक्षभूतस्य प्रयोग कुर्या-त्तदा, प्रयुक्तं पदार्थं द्रष्टुमिच्छेत् पश्येत् । ईदृशे परोक्षभूतकाले 'लङ्' प्रत्ययो भवति । 'परोक्षे लिट्'[3] इति लिट् प्राप्तस्तस्यायमपवादः । अरुणद् यवनः साकेतम्[4] । अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्[5] । अरुणदिति रुधधातोर्लङ् । साकेतशब्दोऽत्र कस्यचिन्नगरस्य वाचकः, तच्च प्रयोक्तुर्दर्शनविषय एव, प्रयोक्ता द्रष्टुमिच्छेत् पश्येत् ॥ 'परोक्षे' इति किमर्थम्—उदगादादित्यः । उदित इत्यर्थः ॥ 'लोकविज्ञाते' इति किमर्थम्—चकार कटं देवदत्तः । तुच्छकार्य्यत्वादप्रसिद्धम् । 'प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इति किमर्थम् जघान कंसं किल वासुदेवः । यदि प्रयोक्ता कंस द्रष्टुमिच्छेत्तर्हि तदभावे क पश्येत् ॥ १११ ॥

अद्यतन संज्ञा पूर्वसूत्र मे दर्शा चुके हैं ॥ न "विद्यतेऽद्यतनोऽस्मिन् सोऽनद्यतनस्तस्मिन्" अनद्यतन इस पद मे तत्पुरुषसमास नहीं है किन्तु बहुव्रीहि है । [अनद्यतने] अनद्यतन भूत अर्थ मे वर्त्तमान धातु से [लङ्] 'लङ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे —अभवत् । अकरोत् ॥

बहुव्रीहिनिर्देश का यह प्रयोजन है कि— जहा आज और गत कल दिन मे खाया, ऐसे प्रयोग में 'अभुक्ष्महि' यहां 'लुङ्' ही होगा, क्योंकि अद्यतन और अनद्यतन के मिले होने से 'लङ्' नहीं होता ॥

१. अ० सू०—७४ ॥ २. अ० ३ । २ । १११ भा० ॥

३. अ० ३ । २ । ११५ ॥ ४. अयोध्या इति प्रसिद्धम् ॥

५. चित्तौडगढत. कोशत्रयानन्तर नगरीनाम्ना प्रसिद्ध स्थानम् ॥

भा० -परोक्षे च लोक०—प्रयोक्ता जब लोक में प्रसिद्ध पदार्थ का परोक्षभूत का प्रयोग करे और यदि वह चाहे तो उस प्रयुक्त पदार्थ को देख भी सके, ऐसे परोक्षभूत काल में धातु से 'लङ्' प्रत्यय होता है ॥

'परोक्षे लिट्' से लिट् प्राप्त था उसका यह अपवाद है। जैसे—अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् ॥ 'अरुणत्' इसमें 'रुध' धातु से 'लङ्' है। साकेत शब्द किसी नगर का वाची है। वह प्रयोक्ता का दर्शनविषय है अर्थात् प्रयोक्ता चाहे तो देख सकता है ॥ 'परोक्षे' ग्रहण इसलिये है कि—उदगादादित्यः। अर्थात् उदित हुआ ॥

'लोकविज्ञाते' इसलिये है कि—चकार कटं देवदत्तः। कार्य्य के तुच्छ होने से अप्रसिद्ध है ॥ 'प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इसलिये है कि——जघान कंसं किल वासुदेवः ॥ यदि प्रयोक्ता कंस को देखना चाहे तो देख नहीं सकता, अतः उपर्युक्त उदाहरणों में लङ् नहीं होता ॥ १११ ॥

अभिज्ञावचने लृट्[1] ॥ ११२ ॥

लङोऽपवादः। अभिज्ञावचने। ७। १। लृट्। १। १। अभिज्ञायाः स्मृतेर्वचन-मभिज्ञावचनम् ॥

अभिज्ञावचन उपपदे सति भूतानद्यतने 'लृट्' प्रत्ययो भवति ॥

अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। स्मरसि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। अत्राभिजानासि स्मरसीत्यभिज्ञावचन उपपदे ॥

'अभिज्ञावचने' इति किम्—पञ्चालेष्ववसम् ॥ वचनग्रहणं किमर्थम्—अभिजानासीत्यभिज्ञायामेव 'लृट्' स्यात् ॥ ११२ ॥

यह सूत्र 'लङ्' का अपवाद है [अभिज्ञावचने] अभिज्ञावचन अर्थात् स्मृति को कहने वाला उपपद हो तो भूतानद्यतन अर्थ में धातु से [लृट्] 'लृट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। स्मरसि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। यहां अभिजानासि, स्मरसि ये दोनों अभिज्ञावचन उपपद हैं ॥

'अभिज्ञावचने' ग्रहण इसलिये है कि—पञ्चालेष्ववसम् ॥ 'वचन' ग्रहण इसलिये है कि—स्मृतिवचनमात्र उपपद होने पर लृट् हो जावे। अन्यथा केवल 'अभिजानासि' इसी उपपद के योग में लृट् होता ॥ ११२ ॥

न यदि[2] ॥ ११३ ॥

पूर्वसूत्रेण प्राप्तो विधिः प्रतिषिध्यते। न [अ०] यदि। ७। १ ॥

यच्छब्दस्य प्रयोगेऽभिज्ञावचन उपपदे भूतानद्यतने वर्तमानाद् धातो 'लृट्' प्रत्ययो न भवति ॥

अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेष्ववसाम। स्मरसि देवदत्त यत्कश्मीरेष्वगच्छाम ॥ ११३ ॥

१. भा० सू०—७४३ ॥ २. भा० सू०—७४४ ॥

पूर्वसूत्र से प्राप्त विधि का यह प्रतिषेध सूत्र है ॥ [यदि] यत् शब्द के प्रयोग में अभिज्ञावचन उपपद हो तो भूतानद्यतन अर्थ में वर्तमान धातु से 'लृट्' प्रत्यय [न] नहीं होता ॥

जैसे—अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेष्ववसाम । स्मरसि देवदत्त यत्कश्मीरेष्वगच्छाम ॥ ११३ ॥

विभाषा साकाङ्क्षे[1] ॥ ११४ ॥

प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । अभिज्ञावचन इति नित्ये प्राप्ते, यद्योगेऽप्राप्ते । अभिज्ञावचने' इत्यनुवर्त्तते, 'यदि' इति नानुवर्त्तते । विभाषा [अ०] । साकाङ्क्षे । ७ । १ ॥ आकाङ्क्षया सह वर्त्तमानं साकाङ्क्षम् । अभिज्ञावचन उपपदे यद्योगेच साकाङ्क्षे भूतानद्यतनेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्विकल्पेन 'लृट्' प्रत्ययो भवति पक्षे लङेव ॥

भा०—विभाषा साकाङ्क्षे सर्वत्र । क्व सर्वत्र । यदि च, अयदि च । यदि तावत्—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरान् गमिष्यामः । यत्कश्मीरानगच्छाम । यत्त्रौदनं भोक्ष्यामहे । यत्त्रौदनमभुञ्ज्महि । अयदि—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः । कश्मीरानगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । तत्रौदनमभुञ्ज्महि ॥

इदं सर्वं सूत्रस्यैव व्याख्यानं महाभाष्यकारेण दर्शितम् ॥ ११४ ॥

यह प्राप्ताऽप्राप्तविभाषा है । अभिज्ञावचन में नित्य प्राप्त था, तथा 'यत्' के योग में अप्राप्त था ॥ यहां 'अभिज्ञावचने' इस पद का अनुवर्तन है 'यदि' पद का नहीं ॥ साकाङ्क्षम्=आकाङ्क्षा के सहित ॥

अभिज्ञावचन उपपद हो तो यत् का योग हो चाहे न हो तो भी [साकाङ्क्षे] साकाङ्क्षता गम्यमान होने पर भूतानद्यतन अर्थ में वर्तमान धातु से [विभाषा] विकल्प करके 'लृट्' प्रत्यय होता है, पक्ष में 'लङ्' ही होता है ॥

भा०—विभाषा साकाङ्क्षे सब जगह करना चाहिये । सब जगह कहां ? यत् के योग में तथा बिना भी यत् योग के । जैसे—यत् के योग में—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरान् गमिष्यामः । यत् कश्मीरानगच्छाम । यत्त्रौदनं भोक्ष्यामहे । यत्त्रौदनमभुञ्ज्महि ॥ यत् योग के बिना—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः । कश्मीरानगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । तत्रौदनमभुञ्ज्महि ॥

यह सारा सूत्र का ही व्याख्यान महाभाष्यकार ने दर्शाया है ॥ ११४ ॥

परोक्षे लिट्[2] ॥ ११५ ॥

भूतानद्यतन इत्यनुवर्त्तते । परोक्षे । ७ । १ । लिट् । १ । १ ॥ अनद्यतने लङ्-इत्यस्यापवादः ॥

---

१. आ० सू०—७४१ ॥ २. आ० सू०—२९ अत्र सुव्याख्यातः ॥

भूतानद्यतनपरोक्षेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातो 'लिट्' प्रत्ययो भवति ॥

चकार कटं देवदत्तः । जहार सीतां रावणः ॥

'परोक्षे' इति किम्—उदगात्सूर्यः । अवर्षीन्मेघः । अत्र सामान्यभूते लुङेव भवति ॥

भा०—परोक्ष इत्युच्यते किं परोक्षं नाम ?

का०—*परोभाव परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।*
उत्वं वादेः परादक्ष्ण सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्[1] ॥ १ ॥

अक्षि-शब्द इन्द्रियवाची, अक्ष्ण इन्द्रियेभ्यः परं पृथग्भूत परोक्षम् । समासान्तो-ऽत्राच् प्रत्ययः, अक्षशब्दे परतः परशब्दस्य 'परो' इत्यादेशस्तेन परोक्ष इति शब्दः । अथवाऽक्षशब्दस्यादेरकारस्य 'उत्वं' तेन परोक्ष इति सिध्यति । अथवाऽस्मिन् सूत्रे परोक्षशब्दो निपातनात् सिध्यति ॥ **भा०—कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहुः—द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं परोक्षमिति ॥** सर्वं स्पष्टमेव ।

वा०—*सुप्तमत्तयोरुत्तमः*[2] ॥ १ ॥

स्वप्नावस्थायाः क्रियायाः प्रत्यक्षाभिमानं भवति । तस्मादप्राप्तो 'लिड्' विधीयते । सुप्तमत्त इति शब्दद्वयोपपदाद् भूतानद्यतने वर्त्तमानाद् धातोर्लिट उत्तमपुरुषो भवति । सुप्तोऽहं किल विललाप । मत्तोऽहं किल विललाप ।

वा०—*परोक्षे लिडत्यन्तापह्नवे च*[3] ॥ २ ॥

अत्यन्तापह्नवे केवलमिथ्याभाषणे धातोर्लिट उत्तमपुरुषो भवति ।

नो अहं[4] खण्डिकान् जगाम । नो अहं[4] कलिङ्गान्[5] जगाम ॥ ११५ ॥

यहां 'भूते, अनद्यतने' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ यह सूत्र 'अनद्यतने लङ्' का अपवाद है ॥

भूतानद्यतन [परोक्षे] परोक्ष अर्थ में वर्त्तमान धातु से [लिट्] 'लिट्' प्रत्यय होता है जैसे चकार कट देवदत्त । जहार सीतां रावण ॥

'परोक्षे' ग्रहण इसलिये है कि—उदगात्सूर्य्य । अवर्षीन्मेघ । यहां सामान्यभूत होने के कारण 'लुङ्' ही होता है ॥

भा०—परोक्ष क्या वस्तु है ?

---

१ अ०—३ । २ । ११५ ॥ २. अ०—३ । २ । ११५ ॥

३. भा०—३ । २ । ११५ भा० ॥ (ख) भा० वा०—७४६ ॥

४. भाष्ये त्वेव पाठ —नो खण्डिकान् जगाम । नो कलिङ्गान् जगाम ॥

५. 'उड़ीसा' इति ख्यातः ॥

का०—परोभाव परस्याक्षि०—अक्षिशब्द इन्द्रियवाची है जो इन्द्रियों से परे अर्थात् पृथग्भूत है वह परोक्ष है। यहां समासान्त 'अच्' प्रत्यय है। अक्ष-शब्द के परे रहते 'पर' शब्द को 'परो' यह आदेश होकर परोक्ष शब्द सिद्ध हो जाता है॥ अथवा अक्ष-शब्द के आदि अकार को 'उकार' आदेश होकर परोक्ष सिद्ध हो जाता है॥ अथवा सूत्र में निपातन से परोक्षशब्द सिद्ध हो जाता है॥

भा०—(प्रश्न)—परोक्ष का स्वरूप क्या है?

(उत्तर)—कोई कोई कहते हैं कि—सौ वर्ष बीत जाने पर परोक्ष होता है। किसी का मत है कि सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर परोक्ष कहाता है। कोई कहते हैं भित्ति तथा कट (चटाई) के व्यवधान होने पर भी परोक्ष होता है॥ कोई कोई कहते हैं कि—दो दिन या तीन दिन का बीता हुआ भी परोक्ष कहाता है॥

वा०—सुप्तमत्तयोरु०—अपने आप से हुई क्रिया में प्रत्यक्षाभिमान होता है। इस कारण से अप्राप्त 'लिट्' का विधान है॥ सुप्त, मत्त यह दो शब्द उपपद हों तो भूतानद्यतन काल में वर्त्तमान धातु से लिट् तथा उत्तम पुरुष होता है। जैसे—सुप्तोऽहं किल विललाप। मत्तोऽहं किल विललाप॥ सोते हुए मैं विलाप करता रहा। मत्त हुआ हुआ विलाप करता रहा॥

वा०—परोक्षे लिडत्यन्ता०—अत्यन्तापह्नव अर्थात् केवल मिथ्याभाषण अर्थ में धातु से लिट् का उत्तम पुरुष होता है॥

जैसे—नो अहं कलिङ्गान् जगाम। नो अहं कलिङ्गान् जगाम॥ ११५॥

हशश्वतोर्लङ् च[1]॥ ११६॥

पूर्वेण 'लिट्' प्राप्तस्तस्यायमपवादः। चकारग्रहणाल्लिडप्यनुवर्त्तते। हशश्वतोः। ७।२। लङ्।१।१। च [अ०]॥

'ह-शश्वत्' इत्युपपदद्वयाद् भूतानद्यतनपरोक्षे वर्त्तमानाद् धातो 'लङ्' प्रत्ययो भवति चकाराल्लिट् च॥

इति हाकरोत्। इति ह चकार। शश्वदकरोत्। शश्वच्चकार। अत्र लकारार्थे परं भवति विप्रतिषेधेन॥ ११६॥

पूर्व सूत्र से लिट् प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥ चकार ग्रहण से 'लिट्' का अनुवर्त्तन है॥

[हशश्वतोः] ह तथा शश्वत् ये उपपद हों तो भूतानद्यतन परोक्ष में वर्त्तमान धातु से [लङ्] 'लङ्' प्रत्यय होता है, चकार से 'लिट्' भी॥ जैसे—इति हाऽकरोत्। इति ह चकार। शश्वदकरोत्। शश्वच्चकार। यहां लकारार्थ में विप्रतिषेध से पर कार्य्य हो जाता है॥ ११६॥

१. आ० सू०—७४७॥

प्रश्ने चासन्नकाले[1] ॥ ११७ ॥

अत्रापि चकारेण 'लङ्-लिटौ' अनुवर्त्तेते । अत्रानद्यतन इति नानुवर्त्तते । आसन्नो[2] वर्त्तमानसामीप्यकालस्तत्रानद्यतनस्याऽसंभवात् । प्रश्ने । ७ । १ । च । [अ०] । आसन्नकाले । ७ । १ ॥

प्रश्ने गम्यमाने परोक्ष आसन्नभूतकाले वर्त्तमानाद् धातोर्लङ्-लिटौ प्रत्ययौ भवतः ॥

देवदत्तोऽगच्छत् किम् ? देवदत्तो जगाम किम् ?

'प्रश्ने' इति किम्—जघान कंसं किल वासुदेवः । आसन्नकालस्यापीदमेव प्रत्युदाहरणम् ॥ ११७ ॥

यहां भी चकार से 'लङ्-लिट्' पदों का अनुवर्त्तन है । यहां 'अनद्यतन' पद का अनुवर्त्तन नहीं, क्योंकि यहां वर्त्तमानकाल के समीप काल का नाम आसन्नकाल है उसमें अनद्यतनकाल की सम्भावना ही नहीं ॥

[प्रश्ने] प्रश्न गम्यमान हो तो परोक्ष [आसन्नकाले] आसन्नभूतकाल में वर्त्तमान धातु से 'लङ्-लिट्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—देवदत्तोऽगच्छत् किम् ? देवदत्तो जगाम किम् ?

'प्रश्ने' ग्रहण इसलिये है कि—जघान कंसं किल वासुदेवः ॥ 'आसन्नकाले' इसका भी यही प्रत्युदाहरण है ॥ ११७ ॥

लट् स्मे[3] ॥ ११८ ॥

भूतानद्यतनपरोक्ष इत्यनुवर्त्तते ॥ अनद्यतनपरोक्षभूतकाले वर्त्तमानात् स्मशब्दोपपदाद् धातोः 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

धर्मेण स्म कुरवो युध्यन्ते । युधिष्ठिरो यजते स्म । युयुधिरे, इयाजेति लिट् प्राप्तस्तस्यायमपवादः । हशश्वल्लक्षणात् स्म लक्षणो भवति परविप्रतिषेधेन । पुरा-लक्षणाच्च पूर्वविप्रतिषेधेन । न ह स्म वै पुरा शश्वदग्निरपरशुवृक्णं दहति । अत्र हशश्वदुपपदत्वाल्लङ्-लिटौ प्राप्नुतः । 'पुरि लुङ् चास्मे'[4] इति 'लुङ्' प्राप्तः सर्वेभ्यो विप्रतिषेधेन स्मलक्षणो 'लट्' भवति ॥ ११८ ॥

यहां 'भूतानद्यतन परोक्ष' इन का अनुवर्त्तन है ॥ अनद्यतनपरोक्षभूतकाल में वर्त्तमान धातु से [स्मे] स्म शब्द उपपद हो तो [लट्] 'लट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—धर्मेण स्म कुरवो युध्यन्ते । युधिष्ठिरो यजते स्म । युयुधिरे, इयाज ऐसा लिट् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

१. आ० सू०—७४८ ॥

२. 'पञ्चवर्षाभ्यन्तरमासन्नकाल' इति वदतां मतेऽनद्यतन इत्यनुवर्त्तते ॥

३. आ० सू०—७४९ ॥ ४. अ०—३ । २ । १२२ ॥

'हशश्वत्०' सूत्र की अपेक्षा 'लट् स्मे' सूत्र परविप्रतिषेध से हो जाता है। और 'पुरि लुङ्०' सूत्र की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से हो जाता है॥ **न ह स्म वै पुरा शश्वदग्निरपरशु-वृक्णं दहति** । यहां ह-शब्द उपपद होने पर लङ् और लिट् प्राप्त थे 'पुरि लुङ् चास्मे' सूत्र से सब को बाधकर विप्रतिषेध से 'लुङ्' प्राप्त था परन्तु स्मलक्षण 'लट्' हो जाता है॥ ११८॥

अपरोक्षे च[1] ॥ ११९ ॥

भूतानद्यतन इत्यनुवर्त्तते । अपरोक्षे । ७ । १ । च [अ०] ॥

अपरोक्षे भूतानद्यतने वर्त्तमानात् स्मोपपदाद् धातोः 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

अध्यापयति स्म गुरुर्माम् । पिता मे ब्रवीति स्म । मया सह पुत्रो गच्छति स्म ॥ ११९ ॥

यहां 'भूतानद्यतने' इस पद का अनुवर्त्तन है॥ [अपरोक्षे] अपरोक्षभूतानद्यतन में वर्त्तमान [च] स्म उपपद धातु से 'लट्' प्रत्यय होता है॥ जैसे—**अध्यापयति स्म गुरुर्माम्** । पिता मे **ब्रवीति स्म** । मया सह पुत्रो गच्छति स्म॥ ११९॥

ननौ पृष्ठप्रतिवचने[2] ॥ १२० ॥

अत्र अनद्यतनपरोक्षौ निवर्त्तेते । सामान्यभूतेऽयं विधिस्तत्र 'लुङ्' प्राप्तस्तस्या-यमपवादः । ननौ । ७ । १ । पृष्टप्रतिवचने । ७ । १ । ननुशब्दोऽव्ययवाची । पृष्टस्य प्रतिवचनमुत्तरं तस्मिन् ।

पृष्टप्रतिवचनेऽर्थे वर्त्तमानात् 'ननु' शब्दोपपदाद् धातोः सामान्यभूते 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

ननु ब्रवीमि शिष्य सूत्रम् । शिष्येण सूत्रमहं पृष्टस्तदुत्तरमवोचमित्यर्थः ॥

'पृष्टप्रतिवचने' इति किम्—नन्ववोचन् पण्डिताः ॥ १२० ॥

यहां 'अनद्यतने' तथा 'परोक्षे' पदों का निवर्त्तन है। यह सूत्र सामान्यभूत-काल में प्रत्यय विधान करता है लुङ् प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥ ननु-शब्द अव्ययवाची है पृष्टप्रतिवचन = उत्तर अर्थात् जो पूछने पर कहा जावे॥ [पृष्टप्रतिवचने] पृष्टप्रतिवचन अर्थात् उत्तर देने अर्थ में वर्त्तमान [ननौ] ननु शब्द उपपद हो तो धातु से सामान्यभूत में लट् प्रत्यय होता है॥

जैसे—**ननु ब्रवीमि शिष्य सूत्रम्** । अर्थात् शिष्य से पूछे हुए सूत्र का उत्तर दे रहा हूँ॥

'पृष्टप्रतिवचने' ग्रहण इसलिये है कि—नन्ववोचन् पण्डिताः । यहां 'लट्' न हो॥ १२०॥

नन्वोर्विभाषा[3] ॥ १२१ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । सामान्यभूतकाल एव विधिरयम् । तत्र लुङोऽपवादः । नन्वोः । ७ । २ । विभाषा [अ०] ॥

१. आ० सू०—७५० ॥ २. आ० सू०—७५१ ॥
३. आ० सू०—७५२ ॥

न, नु इत्यव्ययद्वयोपपदात् सामान्यभूते वर्त्तमानाद् धातोः पृष्टप्रतिवचने गम्यमाने विकल्पेन 'लट्' प्रत्ययो भवति ।। किं ग्राममगमस्त्वम् ? । न गच्छामि भोः । नु गच्छामि भोः । नागमं भोः । न्वगमं भोः । पक्षे लुङेव भवति ।। १२१ ।।

यह सूत्र अप्राप्तविभाषा है यह सूत्र सामान्यभूतकाल में प्रत्यय विधान करता है । यह 'लुङ्' का अपवाद है ।।

[नन्वोः] न, नु ये अव्यय उपपद हों तो सामान्यभूत में वर्त्तमान धातु से पृष्टप्रतिवचन गम्यमान होने पर [विभाषा] विकल्प से 'लट्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे —किं ग्राममगमस्त्वम् ? न गच्छामि भोः । नु गच्छामि भोः । नागमं भोः । न्वगमं भोः । पक्ष में 'लुङ्' ही होता है ।। १२१ ।।

पुरि लुङ् चास्मे[1] ।। १२२ ।।

अस्मिन् सूत्रे लुङ्ग्रहणसामर्थ्याद् 'अनद्यतन' ग्रहणमनुवर्त्तते ।। यदि सामान्यभूते स्यात्तर्हि विभाषाऽनुवृत्त्या स्यादेव पक्षे 'लुङ्' । चकारग्रहणाद् 'विभाषा लट्' इत्यनुवर्त्तते ।। पुरि[2] । ७ । १ । लुङ् । १ । १ । च [अ०] । अस्मे । ७ । १ ।। स्मशब्दरहिते पुर्युपपदेऽनद्यतनभूते वर्त्तमानाद् धातोः 'लुङ्-लटौ' विकल्पेन भवतः पक्षे च 'लङ्-लिटौ' । एवं चत्वारः प्रत्यया अत्र भवन्ति ।। रथेनायं पुरा याति । रथेनाऽयं पुराऽयासीत् । पक्षेऽनद्यतनभूते लङ्-रथेनाऽयं पुराऽयात् । परोक्षभूते लिट्—रथेनाऽयं पुरा ययौ ।।

हशश्वल्लक्षणात् पुरालक्षणो भवति परविप्रतिषेधेन । रथेनाऽयं ह शश्वत्पुरायाति । रथेनाऽयं ह शश्वत्पुराऽयासीत् । अत्र परविप्रतिषेधाद् 'हशश्वतोर्लङ् च'[3] इति 'लङ्' न भवति ।। १२२ ।।

इस सूत्र में लुङ्-ग्रहण सामर्थ्य से 'अनद्यतन' पद का अनुवर्त्तन है ।। यदि यह सूत्र सामान्यभूत में विधायक होता तो 'विभाषा' इस पद की अनुवृत्ति से पक्ष में लुङ् हो ही जाता । चकारग्रहण से यहाँ 'विभाषा' तथा 'लट्' पदों का अनुवर्त्तन है ।।

[अस्मे] स्मशब्दरहित [पुरि] पुरा उपपद हो तो अनद्यतनभूत में वर्त्तमान धातु से [लुङ् च] 'लुङ्' तथा 'लट्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं पक्ष में 'लङ्' तथा 'लिट्' हो जाते हैं

१. आ० सू०—७५३ ।।

२. 'पुरि' इति पुरा-इत्येतस्य सप्तम्येकवचनम् । तच्च नोपपद्यते, तत्र समाधिः—आतो धातोः (अ० ६ । ४ । १४०) इत्यत्र योगविभागादाकारलोपाददोषः । तथा च भाष्यम्—अथवा योगविभागः करिष्यते —'आतः' आकारलोपो भवति । ततो 'धातोः' आतोऽआकारस्य लोपो भवति (अ० ६ । ४ । १४० भा०) ।।

३. अ०—३ । २ । ११६ ।।

इस प्रकार यहां चार प्रत्यय होते हैं ॥ जैसे—रथेनाय पुरा याति । रथेनाय पुराऽयासीत् । पक्ष में अनद्यतनभूत में लङ्—रथेनाय पुराऽयात् । परोक्षभूत में लिट्—रथेनाय पुरा ययौ ॥

हृशश्वतोर्लङ् च' सूत्र की अपेक्षा 'पुरि लुङ् चास्मे' परविप्रतिषेध से होता है ॥

जैसे—रथेनाऽय ह शश्वत् पुरा याति । रथेनाऽय ह शश्वत् पुराऽयासीत् । यहां परविप्रतिषेध से 'हृशश्वतोर्लङ् च' इससे 'लङ्' प्रत्यय नहीं होता ॥ १२२ ॥

वर्त्तमाने लट्[1] ॥ १२३ ॥

'भूते' इति निवृत्तम् । वर्त्तमाने । ७ । १ । लट् । १ । १ ॥ प्रवृत्ताया क्रियाया असमाप्तिर्वर्त्तमानकालः[2], तस्येदानीमधिकारः क्रियते आ उणादयो बहुलमिति । वर्त्तमाने धात्वर्थे 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥ हसति । भुनक्ति । पचति । पठति ॥ १२३ ॥

यहां 'भूते' इस पद का निवर्त्तन है । प्रवृत्त अर्थात् आरम्भ की हुई क्रिया की जब तक परिसमाप्ति न हो जावे तब तक उस काल को वर्त्तमान कहते हैं ॥ वर्त्तमान का अधिकार उणादयो बहुलम्' तक जानना चाहिये ॥

[**वर्त्तमाने**] वर्त्तमान धात्वर्थ में [लट्] 'लट्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे——हसति । भुनक्ति । पचति । पठति ॥ १२३ ॥

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे[3] ॥ १२४ ॥

'नन्वोर्विभाषा'[4] इति सूत्रान्मण्डूकप्लुत्या विभाषाग्रहणमिहानुवर्त्तते । लटः ॥ ६ । १ । शतृशानचौ । १ । २ । अप्रथमासमानाधिकरणे । ७ । १ ॥ प्रथमया विभक्त्या समानाधिकरणं प्रथमासमानाधिकरणं तत्प्रतिषेधस्तस्मिन् ॥

अप्रथमासमानाधिकरणे प्रत्ययार्थे लटः स्थाने 'शतृ-शानचौ' प्रत्ययौ नित्यं भवतः, प्रथमासमानाधिकरणे तु विकल्पेन भवतः ॥

पठन्तं पश्य । आसीनं पश्य । पठता कृतम् । आसीनेन [कृतम् ।] पठते देहि । आसीनाय देहि ॥

---

१. आ० सू०—४ ॥

२ एष एव न्याय्यो वर्त्तमानः कालो यत्र क्रियाया असमाप्तिर्भवति (अ० ३ । २ । १२० भा०) एष एव च न्याय्यो वर्त्तमानः कालो यत्राऽऽरम्भोऽनपवृक्तः (अ० ३ । २ । १२३ भा०) ॥ एष नाम न्याय्यो०..........इति क्वाचित्कः पाठः ॥

३. आ० सू०—१२३२ ॥ ४. अ० ३ । २ । १२१ ॥

'अप्रथमासमानाधिकरणे' इति किम्—देवदत्तो गच्छति । पचन् । पचमानः । सन् ब्राह्मणः । अस्ति ब्राह्मणः । कुर्वन्, कुर्वाणो वा ब्राह्मणः । करोति ब्राह्मणः । अत्र सर्वत्र प्रथमासमानाधिकरणे विकल्पेन[1] 'शतृ-शानचौ' भवतः ॥ १२४ ॥

'नञोर्विभाषा' इस सूत्र से मण्डूकप्लुति द्वारा यहां 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [अप्रथमासमानाधिकरणे] जब प्रथमान्त के साथ लट् प्रत्यय का समानाधिकरण न हो तो [लटः] लट् के स्थान मे [शतृशानचौ] 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय नित्य होते हैं प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प से होते है ॥ जैसे—पठन्तं पश्य । आसीनं पश्य । पठता कृतम् । आसीनेन कृतम् । पठते देहि । आसीनाय देहि ॥

'अप्रथमासमानाधिकरणे' ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्तो गच्छति । पचन् । पचमानः । सन् ब्राह्मणः । अस्ति ब्राह्मणः । कुर्वन् कुर्वाणो वा ब्राह्मणः । करोति ब्राह्मणः । यहां सब जगह प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प से 'शतृ-शानच्' होते हैं ॥ १२४ ॥

सम्बोधने च[2] ॥ १२५ ॥

प्रथमासमानाधिकरणे नित्यार्थोऽयमारम्भः । सम्बोधने । ७ । १ । च [अ०] ॥

सम्बोधनविषये वर्त्तमानाद् धातोः परस्य लटः स्थाने 'शतृ-शानचौ' आदेशौ भवतः ॥ हे पचन् । हे पचमान । हे पठन् । हे अधीयान । अत्र [पूर्वसूत्रेण] विकल्पेन प्राप्नुतः ॥ १२५ ॥

प्रथमासमानाधिकरण में नित्य शतृ-शानच् के विधान के लिये यह सूत्र है । [सम्बोधने] सम्बोधन विषय में वर्त्तमान धातु से परे [च] लट् के स्थान में 'शतृ-शानच्' आदेश होते हैं ॥ जैसे—हे पचन् । हे पचमान । हे पठन् । हे अधीयान । यहां पूर्वसूत्र से विकल्प से प्राप्त थे सो नित्य हो जाते हैं ॥ १२५ ॥

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः[3] ॥ १२६ ॥

'लटः शतृ-शानचौ' अनुवर्त्तेते । अयमपि प्रथमासमानाधिकरणे नित्यार्थो योगः । लक्षणहेत्वोः । ७ । २ । क्रियायाः । ६ । १ ॥ लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् । हेतुः—कारणम् ॥

क्रियाया लक्षणहेत्वोरर्थयोर्वर्त्तमानाद् धातोः परस्य लटः स्थाने 'शतृ-शानचौ' आदेशौ भवतः ॥

लक्षणे तावत्—तिष्ठन् मूत्रयति । गच्छन् भक्षयति । अत्र तिष्ठतिक्रिया मूत्रयतिक्रियाया लक्षणम् । गच्छतिक्रिया भक्षयतिक्रियायाश्च । शयानो भुङ्क्ते बालः । अत्र

---

१ "व्यवस्थितविभाषा च" [अ० ३ । २ । १२४] इति भाष्यवचनात् "सदादयश्च बहुलम्" इति वार्त्तिकाच्च व्यवस्थितविभाषेयं, तेन प्रथमासमानाधिकरणे सर्वत्र शतृशानचावादेशौ न भवतः ॥

२. आ० सू०—१२३८ ॥   ३. आ० सू०—१२३९ ॥

शयान इति भुनक्तिक्रियया लक्षणम् ॥ हेतौ—अधीयानो वसति । उपदिशन् भ्रमति । अत्र वसनक्रियाया अध्ययनक्रिया हेतुः कारणम् । भ्रमणक्रियायाश्चोपदेशनक्रिया ॥

'लक्षणहेत्वोः' इति किम्—व्रजति । हसति ॥ 'क्रियायाः' इति किम्—य आस्ते चाऽधीते च स चैत्रः । अत्र कर्त्तुः लक्षणे मा भूत् ॥

वा०—सदादयश्च बहुलम्[1] ॥ १ ॥

सच्छब्दो विद्यमानार्थवाची । तत्सदृशाः शब्दाः शतृशानजन्ता विकल्पेन भवन्ति ॥ सन् ब्राह्मणः । अस्ति ब्राह्मणः । विद्यते ब्राह्मणः । विद्यमानो ब्राह्मणः ॥ प्रथमासमानाधिकरणे विकल्पेन भवत एव शतृशानचौ पुनर्बहुलार्थं आरम्भः ॥ १ ॥

वा०—इङ्जुहोत्योर्वा वचनम्[2] ॥ २ ॥

इङ्-जुहोतिभ्यां धातुभ्यां परस्य लटः स्थाने 'शतृ-शानचौ' विकल्पेन भवतः । अधीते । अधीयानः । जुहोति । जुह्वन् ॥ २ ॥

वा०—माङ्याक्रोशे[3] ॥ ३ ॥

माङ्युपपदे आक्रोशे वर्त्तमानाद् धातोः परस्य लटः स्थाने 'शतृ-शानचौ' वा भवतः ॥ मा पचन् । मा पचमानः ॥ 'आक्रोशे' इति किम्—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि[4] । अत्र माङ्युपपदे 'लोट्'[5] भवति । 'माङि लुङ्'[6] इत्यस्यापवादो वार्त्तिकमिदम् ॥ १२६ ॥

यहां 'लटः' तथा 'शतृशानचौ' पदों का अनुवर्त्तन है । यह सूत्र भी प्रथमासमानाधिकरण में नित्य विधान करने के लिये है ॥ जिस से जाना जाय वह लक्षण होता है ॥ हेतु कारण को कहते हैं ॥ [क्रियायाः] क्रिया के [लक्षणहेत्वोः] लक्षण तथा हेत्वर्थ में वर्तमान धातु से परे लट् के स्थान में 'शतृ-शानच्' आदेश होते हैं ॥ जैसे—तिष्ठन् मूत्रयति । गच्छन् भक्षयति । यहां तिष्ठतिक्रिया मूत्रयतिक्रिया की ज्ञापिका है । और गच्छतिक्रिया भक्षयतिक्रिया को जनाने वाली है ॥ शयानो भुङ्क्ते बालः । यहां 'शयानः' यह भुनक्ति (खाने) क्रिया का लक्षण है ॥ हेतु में—अधीयानो वसति । उपदिशन् भ्रमति । यहां बसने में अध्ययन कारण है और भ्रमण में हेतु उपदेश है ॥

'लक्षणहेत्वोः' ग्रहण इसलिये है कि—व्रजति-हसति ॥ 'क्रियायाः' ग्रहण इसलिये है कि—य आस्ते चाधीते च स चैत्रः । यहां कर्त्ता के लक्षण में न हो ॥

वा० —सदादयः०—सच्छब्द विद्यमान अर्थ का वाची है तत्-सदृश शब्द विकल्प करके 'शतृ-शानच्' प्रत्ययान्त होते हैं ॥ जैसे—सन् ब्राह्मणः । अस्ति ब्राह्मणः । विद्यमानो ब्राह्मणः ।

१. अ० ३ । २ । १२६ भा० ॥ २. अ० ३ । २ । १२६ भा० ॥
३. अ० ३ । २ । १२६ भा० ॥ (ख) का० वा० १२३७ ॥
४. गीता २ । ४७ ।
५. एतद् विषये माङि लुङ् (अ० ३ । ३ । १७५) सूत्रस्था टिप्पणी द्रष्टव्या ॥
६. अ० ३ । ३ । १७५ ॥

प्रथमसमानाधिकरण में तो 'शतृ, शानच्' विकल्प से होते ही हैं पुन वार्त्तिक बहुल विधान के लिये है ॥ १ ॥

वा०—इङ्जुहो०—इङ् तथा जुहोति धातु से परे लट् के स्थान मे 'शतृ-शानच्' विकल्प से होते है। जैसे—अधीते। अधीयानः। जुहोति। जुह्वत् ॥ २ ॥

वा०—माङ्या०—माङ् उपपद हो तो आक्रोश में वर्त्तमान धातु से परे लट् के स्थान में 'शतृ-शानच्' विकल्प करके होते हैं ॥

जैसे—मा पचन्। मा पचमानः ॥ 'आक्रोश' ग्रहण इसलिये ? कि—मा ते सङ्गो-ऽस्त्वकर्मणि। यहां 'माङ्' उपपद होने पर 'लोट्' होता है। 'माङि लुङ्' इस सूत्र का अपवाद यह वार्त्तिक है ॥ १२६ ॥

तौ सत्[1] ॥ १२७ ॥

ताविति शतृशानचौ निर्दिश्येते। तौ। १। २। सत्। १। १ ॥

तौ पूर्वविहितौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ भवतः ॥

ब्राह्मणस्य पक्ष्यन्। ब्राह्मणस्य पक्ष्यमाणः। अत्र शतृशानचोः सत्संज्ञत्वात् 'पूरणगुण०'[2] इति षष्ठीसमासनिषेधः ॥ १२७ ॥

यहां 'तौ' पद से शतृ तथा शानच् का ग्रहण है। [तौ] अर्थात् पूर्व सूत्रों में विहित जो शतृ-शानच् प्रत्यय हैं वे [सत्] सत्संज्ञक होते हैं ॥ जैसे——ब्राह्मणस्य पक्ष्यन्। ब्राह्मणस्य पक्ष्यमाणः। यहां शतृ-शानच् की सत्संज्ञा होने से 'पूरणगुणसु०' इस से षष्ठीसमास का निषेध हो जाता है ॥ १२७ ॥

पूङ्यजोः शानन्[3] ॥ १२८ ॥

'वर्त्तमाने' इत्यनुवर्त्तते, अन्यत् सर्वं निवृत्तम्। पूङ्यजोः। ६। २। शानन्। १। १ ॥

शानन्नादयो लादेशा[4] न सन्ति किन्तु प्रत्यया निर्दिश्यन्ते ॥

'पूङ्'-'यज' धातुभ्यां वर्त्तमाने 'शानन्' प्रत्ययो भवति ॥

[पवमानः। यजमानः] ॥ सोमं पवमानः। नटमाघ्नानः। 'न लोकाव्यय०'[5] इति सूत्रे 'तृन्' इति प्रत्याहारग्रहणादत्र कर्मणि षष्ठी प्रतिषिध्यते ॥ १२८ ॥

यहां 'वर्त्तमाने' पद का अनुवर्त्तन है शेष सब निवृत्त है ॥ 'शानन्' आदि लादेश नहीं हैं किन्तु प्रत्यय हैं। [पूङ्यजोः] 'पूङ्' तथा 'यज' धातु से वर्त्तमान में [शानन्] 'शानन्' प्रत्यय

---

१. आ० सू०—११४२ ॥ २. अ० २। २। ११ ॥

३. आ० सू०—१२४४ ॥

४. सति हि लादेशे भावकर्मणोरपि प्राप्नुवन्ति, न चेष्यन्ते ॥

५. अ० २। ३। ६९ ॥

होता है। जैसे—पवमान.। यजमानः। सोम पवमानः। नटमाघ्नानः। यहां 'न लोका-व्यय०' इस सूत्र में 'तृन्' पद से प्रत्याहार का ग्रहण है अतः कर्म में षष्ठीविभक्ति का प्रतिषेध हो जाता है॥ १२८॥

ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्[1] ॥ १२९ ॥

ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु। ७। ३। चानश्। १। १॥ ताच्छील्यं=स्वाभाविकी वृत्तिः। वयः=यौवनाद्यवस्था। शक्तिः=सामर्थ्यम्॥

ताच्छील्यादिषु वर्त्तमानाद् धातोः 'चानश्' प्रत्ययो भवति॥

ताच्छील्ये—शाकं भुञ्जानः। ओदनं भुञ्जानः॥ वयोवचने—कवचं बिभ्राणः। अत्र चानशः सार्वधातुकत्वात् 'श्लौ'[2] द्विर्वचनम्॥ शक्तौ—सन्तीह पचमानाः। सन्तीह पठमानाः॥ पक्तुं पठितुञ्च समर्था इत्यर्थः॥ १२९॥

ताच्छील्यम्=स्वभाव। वय=यौवनाद्यवस्था। शक्तिः=सामर्थ्य॥

[ताच्छील्य० षु] ताच्छील्यादि अर्थों में वर्त्तमान धातु से [चानश्] 'चानश्' प्रत्यय होता है॥ जैसे—ताच्छील्य में—शाकं भुञ्जानः। ओदनं भुञ्जानः। वयोवचन में—कवचं बिभ्राणः। यहां 'चानश्' के सार्वधातुक होने से 'श्लौ' इससे द्विर्वचन हो जाता है॥ शक्ति में—सन्तीह पचमानाः। सन्तीह पठमानाः। अर्थात् पकाने तथा पढ़ने में समर्थ हैं॥ १२९॥

इङ्धार्य्योः शत्रकृच्छ्रिणि[3] ॥ १३० ॥

इङ्धार्य्योः। ६। २। शतृ। १। १। अकृच्छ्रिणि। ७। १। कृच्छ्रमस्यास्तीति कृच्छ्री न कृच्छ्री अकृच्छ्री तस्मिन्॥

अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि वाच्ये इङ्-धारिभ्यां वर्त्तमानार्थाभ्यां धातुभ्यां 'शतृ' प्रत्ययो भवति॥

अधीयन् वेदान्। अधीयन् पारायणम्। धारयन् भारम्। अध्येतुं धारयितुञ्च काठिन्यं न मन्यत इति॥

'अकृच्छ्रिणि' इति किमर्थम्—कृच्छ्रेणाधीते वेदान्। कृच्छ्रेण धारयति भारम् ॥ १३०॥

[अकृच्छ्रिणि] जिसकी क्रिया कष्टसाध्य नहीं है ऐसा कर्त्ता वाच्य हो तो [इङ्धार्य्योः] 'इङ्' तथा 'धारि' धातु से वर्त्तमान काल में [शतृ] 'शतृ' प्रत्यय होता है॥ जैसे—अधीयन् वेदान्। अधीयन् पारायणम्। धारयन् भारम्। पढ़ने में तथा भार उठाने में काठिन्य अनुभव नहीं करता॥ 'अकृच्छ्रिणि' ग्रहण इसलिये है कि—कृच्छ्रेणाधीते वेदान्। कृच्छ्रेण धारयति भारम्॥ यहां काठिन्य अर्थात् दुःखसाध्यत्व अर्थ है॥ १३०॥

---

१. भा० सू०—१२४५॥ २. अ० ६। १। १०॥
३. भा० सू०—१२४६॥

द्विषोऽमित्रे[1] ॥ १३१ ॥

द्विषः । ५ । १ । अमित्रे । ७ । १ ॥ न मित्रममित्रमरिः ॥

वर्त्तमानार्थाद् 'द्विष' धातोरमित्रे कर्त्तरि 'शतृ' प्रत्ययो भवति ॥

दुष्टस्य द्विषन् । दुष्टं द्विषन् । अत्र **'द्विषः शतुर्वा'**[2] इति वार्त्तिकेन षष्ठी विकल्पः ॥

'अमित्रे' इति किम्—द्वेष्टि पठनाय पुत्रम् ॥ १३१ ॥

वर्त्तमान अर्थ में [द्विषः] 'द्विष' धातु से [अमित्रे] शत्रु कर्त्ता हो तो 'शतृ' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दुष्टस्य द्विषन् । दुष्टं द्विषन् । यहां 'द्विषः शतुर्वा' इस वार्त्तिक से षष्ठी का विकल्प है ॥

'अमित्रे' ग्रहण इसलिये है कि—द्वेष्टि पठनाय पुत्रम् । यहां शतृ नहीं होता ॥ १३१ ॥

सुञो यज्ञसंयोगे[3] ॥ १३२ ॥

सुञः । ५ । १ । यज्ञसंयोगे । ७ । १ । संयुज्यत इति संयोगः, यज्ञेन संयोग-स्तस्मिन् । कर्मणि 'घञ्' ॥

यज्ञसंयोगे गम्यमाने वर्त्तमानार्थात् ['सुञ्'] धातोः 'शतृ' प्रत्ययो भवति ॥

यजमानाः[4] सुन्वन्तः । यज्ञेन संयुक्ता इत्यर्थः ॥

'यज्ञसंयोगे' इति किमर्थम्—सुनोति सुराम् । अत्र 'सुञ्' धातोः 'शतृ' प्रत्ययो न भवति ॥ १३२ ॥

[यज्ञसंयोगे] यज्ञसंयोग गम्यमान हो तो वर्त्तमान अर्थ वाली [सुञः] 'सुञ्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—यजमानाः सुन्वन्तः । अर्थात् यज्ञ में संयुक्त हैं ॥

'यज्ञसंयोगे'—ग्रहण इसलिये है कि—सुनोति सुराम् । यहां 'सुञ' धातु से 'शतृ' प्रत्यय नहीं होता ॥ १३२ ॥

अर्हः प्रशंसायाम्[5] ॥ १३३ ॥

अर्हः । ५ । १ । प्रशंसायाम् । ७ । १ ॥

१. भा० सू०—१२४७ ॥ २. अ०—३ । २ । १२७ ॥

३. भा० सू०—१२४८ ॥

४ ये यजमानास्त ऋत्विजः (मी० भा० ५ । १ । १) इति वचनात् सत्रे सर्वे ऋत्विजोऽपि यजमाना भवन्ति, अतः सर्वेषां यज्ञेन प्रधानसंयोगसंभवात् सुनोतिक्रियायाः कर्त्तारो भवन्ति ॥

५ भा० सू० –१२४९ ॥

प्रशंसायां सत्यां 'अर्ह' धातोर्वर्त्तमानकाले 'शतृ' प्रत्ययो भवति ॥

अर्हन् विद्याम् । अर्हन् सत्कारम् ॥

'प्रशंसायाम्' इति किम्—आततायी वधमर्हति । अत्र 'शतृ' प्रत्ययो मा भूत् ॥ १३३ ॥

[प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान हो तो [अर्हः] 'अर्हः' धातु से वर्त्तमानकाल में 'शतृ' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—अर्हन् विद्याम् । अर्हन् सत्कारम् ॥

'प्रशंसायाम्' ग्रहण इसलिये है कि——आततायी वधमर्हति । यहां 'शतृ' प्रत्यय नहीं होता ॥ १३३ ॥

आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु[1] ॥ १३४ ॥

शतृ-ग्रहणं निवृत्तम् । आ । क्वेः । ५ । १ । तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु । ७ । ३ ॥ आक्वेरित्यभिविधावाङ् कर्मप्रवचनीय संज्ञा, ततः पञ्चमी । तच्छीलो धात्वर्थे स्वभावतः प्रवृत्तः । तद्धर्मा तस्मिन् स्वभावेन विनाऽपि प्रवृत्तः । तत्साधुकारी तत्कार्य्यकरणे शिल्पी । अधिकारसूत्रमिदम् ॥

इतोऽग्रे 'भ्राजभास०'[2] इति सूत्रेण विहितो यो क्विप् तत् पर्य्यन्तं ये प्रत्यया विधास्यन्ते तच्छीलादिषु कर्त्तृषु ते बोध्याः ॥ वक्ष्यमाणसूत्र उदाहरणानि ॥ १३४ ॥

यहां 'शतृ' पद का निवर्त्तन हुआ । 'आक्वेः' इसमें आङ् अभिविधि के अर्थ में होने से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है अतः उसके योग में यहां पञ्चमी है ॥ तच्छील=अर्थात् धात्वर्थ में स्वभाव से प्रवृत्त होने वाला । तद्धर्म=अर्थात् बिना भी स्वभाव के किसी कार्य्य में प्रवृत्त होने वाला । तत्साधुकारी=अर्थात् किसी कार्य को सुन्दरता से करने वाला शिल्पी=कारीगर ॥

यह अधिकार-सूत्र है यहां से आगे—'भ्राजभास०' इस सूत्र से विहित 'क्विप्' पर्यन्त जो प्रत्यय कहेंगे वे तच्छील्यादि कर्त्ता में जानने चाहियें । इसके उदाहरण अगले सूत्र में हैं ॥ १३४ ॥

तृन्[3] ॥ १३५ ॥

तृन् । १ । १ । वर्त्तमानार्थाद् धातुमात्रात्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'तृन्' प्रत्ययो भवति ॥ तच्छीलः परुषं वदिता । कठोरं वदिता । मृदु वक्ता । तद्धर्मा—वेदानुपदेष्टा । धर्ममुपदेष्टा । वेदान् पठिता ॥ तत्साधुकारी—कटं कर्त्ता । ओदनं पक्ता । अत्र सर्वत्र 'न लोकाव्यय०'[4] इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया भवति ॥

वा०—तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्य[5] ॥ १ ॥

---

१. भ्रा० सू०—१२५० ॥ २. अ० ३ । २ । १७७ ॥
३. आ० सू०—१२५१ ॥ ४. अ० २ । ३ । ६९ ॥
५. अ० । ३ । २। १३५ भा० ॥ (ख) आ० वा० १२५२ ॥

ऋत्विक्षु कर्त्तृष्वनुपसर्गाद् धातोः 'तृन्' भवति ॥ होता । पोता ॥ अनुपसर्गस्य इति किमर्थम्—प्रशास्ता । प्रतिहर्त्ता । अत्र तृजेव भवति ॥ १ ॥

वा०—नयते षुक् च[2] ॥ २ ॥

'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् धातोः 'तृन्, षुक्' आगमश्च भवति ॥ नेष्टा ॥ २ ॥

वा०—त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वञ्च[3] ॥ ३ ॥

'त्विष' धातोर्देवतायां कर्त्तरि 'तृन्' प्रत्ययो भवति' उपधाया इकारस्याकारादेशोऽनिट्त्वञ्च 'त्विष्' धातोर्भवति ॥ त्वष्टा । अस्मिन् वार्त्तिके यदनिट्त्वमुक्तं तत्पूर्वापर सर्वेषां वार्त्तिकेषु सम्बध्यते । तेन प्रथमवार्त्तिके 'पूञ्' धातो पोताशब्दे 'इट्' आगमो न भवति ॥ ३ ॥

वा—क्षदेश्च युक्ते[4] ॥ ४ ॥

क्षदिरयं वार्त्तिके सौत्रो धातुः । 'क्षद' धातोर्युक्तेऽर्थे 'तृन्' भवति । अनिट्त्वञ्चानुवर्त्तते । क्षत्ता ॥ ४ ॥

वा०—छन्दसि तृच्च[5] ॥ ५ ॥

छन्दसि 'क्षद' धातोः 'तृन्'-तृचौ' द्वावपि भवतः ॥ क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्य[6] । निन्, चिदित्यनुबन्धद्वयेन स्वरे विशेष । तृन्याद्युदात्तत्वम् । तृच्यन्तोदात्तत्वं च भवति ॥ १३५ ॥

वर्त्तमान अर्थ में धातुमात्र से तच्छीलादि कर्त्ता में [तृन्] 'तृन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—तच्छील में—वक्ता वदिता । कठोरं वदिता । मृदु वक्ता ॥ तद्धर्म्मा—वेदानुपदेष्टा । वेदान् पठिता ॥ तत्साधुकारी—कटं कर्त्ता । ओदनं पक्ता । यहां सब स्थानों में 'न लोकाव्यय०' इस सूत्र से षष्ठी के प्रतिषिद्ध हो जाने से द्वितीया हो जाती है ॥

वा०—तृन्विधावृ०—ऋत्विक् कर्त्ता हो तो उपसर्गरहित धातु से 'तृन्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—होता । पोता ॥ अनुपसर्गस्य' इसलिये कहा है कि—प्रशास्ता । प्रतिहर्त्ता । यहां 'तृन्' ही होता है ॥

---

१. अ० ३ । २ । १३५ भा० ॥ (ख) धात्वन्तरेणापि प्रयोगसिद्धिः—यथा भाष्यम् 'धात्वन्तरं नेषति' कथं ज्ञायते । नेषतुः—नेष्टाविति प्रयोगो दृश्यते—इन्द्रो वस्तेन नेषतुः । गावो नेष्टात् (भा० ३ । २ । १३५) ॥

२. धा०—भ्वा०—८८८ ॥

३. अ० ३ । २ । १३५ भा० ॥ (ख) आ०—वा०—१२५३ ॥

४. अ० ३ । २ । १३५ भा० ॥ (ख) आ०—वा०—१२५४ ॥

५. अ० ३ । २ । १३५ भा० ॥ (ख) आ०—वा०—१२५५ ॥

६. यजु० १६ । २६ ॥

वा० – नयतेः षुक् च—'णीञ् प्रापणे' इस धातु से 'तृन्' प्रत्यय तथा 'षुक्' का आगम भी होता है ॥ जैसे—नेष्टा ॥ २ ॥

वा० —त्विषेर्देवतायाम० —'त्विष्' धातु से देवता कर्त्ता होने पर 'तृन्' प्रत्यय होता है तथा उपधाभूत इकार को 'अकार' आदेश और 'त्विष' धातु को अनिट्त्व होता है। त्वष्टा ॥ इस वार्त्तिक में जो अनिट्त्व कहा है उसका पूर्वापर सब वार्त्तिकों से सम्बन्ध है। अतः प्रथम वार्त्तिक में पूञ् धातु से 'पोता' शब्द में 'इट्' आगम नहीं होता ॥ ३ ॥

वा० —क्षदेश्च युक्ते —इस वार्त्तिक में 'क्षदि' सौत्र धातु है ॥ क्षद धातु से 'युक्ते' इस अर्थ में 'तृन्' प्रत्यय होता है, तथा अनिट्त्व भी ॥ जैसे —क्षत्ता ॥ ४ ॥

वा० —छन्दसि तृच्च —छन्द में 'क्षद' धातु से 'तृन्' और 'तृच्' दोनों ही प्रत्यय होते हैं। जैसे —क्षत्तृभ्य संग्रहीतृभ्य' ॥ नित् तथा चित् दो अनुबन्ध स्वर में विशेषता अर्थात् पृथक्ता लाने के लिये हैं -तृन् में आद्युदात्त तथा तृच् में अन्तोदात्त स्वर होता है ॥ १३५ ॥

अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर-इष्णुच्[1] ॥ १३६ ॥

अलकृञ्० चर. । ५ । १ । इष्णुच् । १ । १ । अलंकृञ्, निराकृञ्, प्रजन, उत्पच, उत्पत, उन्मद, रुचि, अपत्रप, वृतु, वृधु, सह, चर इत्येभ्यो वर्त्तमानार्थेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'इष्णुच्' प्रत्ययो भवति ॥

अलंकरिष्णुः । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्त्तिष्णुः । वर्धिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ॥

कृञादिषूपपदासञ्जनं नियमार्थम् । अलंपूर्वान्निरापूर्वादेव कृञ इष्णुच् प्रत्ययो भवति नान्यपूर्वाद् [एवमन्यत्रापि] इति ॥ १३६ ॥

[अलकृञ् ० चरः] अलंकृञ्-निराकृञ्-प्रजन-उत्पच-उत्पत-उन्मद-रुचि-अपत्रप-वृतु-वृधु-सह-चर इन धातुओं से वर्त्तमान अर्थ में तच्छीलादि कर्त्ता हों तो [इष्णुच्] 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अलकरिष्णु. । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णु' । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णु । वर्त्तिष्णु. । वर्धिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णु' ॥ कृञादि धातुओं में उपपदों का ग्रहण नियम के लिये है अर्थात् अलं तथा निरापूर्वक 'कृञ्' से ही 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है। अन्य उपसर्गपूर्वक से नहीं। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

णेश्छन्दसि[2] ॥ १३७ ॥

'इष्णुच्' इत्यनुवर्त्तते । णेः । ५ । १ । छन्दसि । ७ । १ ॥ छन्दसि =वेदविषये ण्यन्ताद् धातोस्तच्छीलादिषु कर्तृषु 'इष्णुच्' प्रत्ययो भवति ॥

१ आ० सू०—१२५६ ॥ २ आ० सू०—१२५७ ॥

भावयिष्णुः । कारयिष्णुः । धारयिष्णुः[1] ॥ १३७ ॥

यहां 'इष्णुच्' इस पद का अनुवर्तन है ॥ [छन्दसि] वेदविषय में [णे:] ण्यन्त धातु से तच्छीलादि कर्ता हों तो 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—भावयिष्णुः । कारयिष्णुः । धारयिष्णुः ॥ १३७ ॥

भुवश्च[2] ॥ १३८ ॥

[भुवः । ५ । १ ॥ च । अ० ॥] अण्यन्तार्थोऽयमारम्भः । 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते ॥

'भू' धातोश्छन्दसि विषये 'इष्णुच्' प्रत्ययो भवति ॥

भविष्णुः[3] ॥ पृथग्योग उत्तरार्थः ॥ १३८ ॥

यह सूत्र अण्यन्त के लिये है । यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[भुवः] भूधातु से वेदविषय में 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—भविष्णुः ॥ पृथक् निर्देश उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है ॥ १३८ ॥

ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः[4] ॥ १३९ ॥

'छन्दसि' इति निवृत्तम् । चकाराद् 'भुवः' इत्यनुवर्त्तते । ग्लाजिस्थः । ५ । १ । च [अ० ।] 'ग्स्नुः' । १ । १ ॥

ग्ला, जि, स्था इत्येतेभ्यो वर्त्तमानार्थेभ्यो धातुभ्यो [भवतेश्च] तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'ग्स्नुः' प्रत्ययो भवति ॥

ग्लास्नुः । जिष्णुः । [स्थास्नुः] भूष्णुः ॥ ग्स्नो: कित्वात् 'स्थास्नुः' इति स्थाधातो 'ईत्व' प्राप्नोति, तदर्थमिदमुच्यते—

का०—**ग्स्नोर्गित्वान्न स्थ ईकारः क्ङितोरीत्वशासनात् ।**
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः[5] ॥ १ ॥

ग्स्नु-प्रत्ययो गित्कर्त्तव्यस्तेन स्था-धातोरीत्वं न भविष्यति । कुतः ? किति ङिति च परत ईत्वस्य शासनात् । **त्रिषु** गित् कित् ङिदिति त्रिषु परतो गुणस्य प्रतिषेधो

---

१ भा० ग्रा० १२ । २ । ७ ॥ तथा च बोधय धारयिष्णव (ऋ० १० । ९७ । ३) ॥ धारयिष्णुः (अथ० ६ । ९३ । २) ॥

२. आ० सू०—१२५८ ॥

३ प्रभविष्णु च (गीता—१३ । १६) छन्दोवत् कवय कुर्वन्तीति कृत्वैष प्रयोग ॥ यद्वा ग्रसिष्णु , भ्राजिष्णु , क्षयिष्णु , इत्यादि प्रयोगबाहुल्याच्चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वं बोध्यम् ॥

४. आ० सू० १२५९ ॥ ५. भा० ३ । २ । १३९ ॥

विज्ञेयः । अर्थात् 'क्ङिति च'[1] इति सूत्रे चर्त्वभूतो गकारोऽपि निर्दिश्यते । 'क्क्ङिति च'[1] एतादृक् सूत्रमस्तीति । तेन-जिष्णुः, भूष्णुरित्युभयत्र गुणो न भविष्यति । [श्र्युको०] भूष्णुरितीट् प्रतिषेधार्थं 'श्र्युकः किति'[2] इति सूत्रे 'गकोरितोः' गित् कितो: परयोरिट् प्रतिषेधो ज्ञातव्यः । अर्थात् 'श्र्युकः किति'[2] इत्यत्रापि चर्त्वभूतो गकारो निर्दिश्यते । 'श्र्युकः क्किति'[2] ईदृक् सूत्रमस्तीति तेन भूष्णुरित्युगन्ताद् इट् न भविष्यति ॥ १ ॥

वा०—स्थादंशिभ्यां स्नुश्छन्दसि[3] ॥ १ ॥

स्था-दंशिभ्यां धातुभ्यां छन्दसि वेदे 'स्नुः' प्रत्ययो भवति ॥ स्थास्नु जङ्गमम्[4] । दङ्क्ष्णवः पशवः[5] । अत्र स्नोः कित्वाभावात् दंशेरनुनासिकलोपाभावः ॥ १३९ ॥

यहां 'छन्दसि' पद निवृत्त हुआ । चकार ग्रहण से 'भुवः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [ग्ला-जिस्थः] ग्ला, जि, स्था तथा भू इन धातुओं से वर्त्तमान अर्थ में ताच्छीलादि कर्त्ता में [ग्स्नुः] 'ग्स्नु' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—ग्लास्नु । जिष्णुः । स्थास्नुः । भूष्णु । ग्स्नु प्रत्यय के कित् होने से 'स्थास्नु' में स्था धातु से 'ईत्व' प्राप्त होता है । उस विषय में कहते हैं

का०—ग्स्नोर्गित्वा०—ग्स्नु प्रत्यय गित् करना चाहिये, ऐसा करने से स्था धातु को 'ईत्व' नहीं होगा । क्यों ? [क्ङितोरीत्वशासनात्] कित्-ङित् परे ईत्व का विधान किया है ॥ [गुणाभावस्त्रिषु] गुण का प्रतिषेध तीनों में अर्थात् गित्-कित्-ङित् परे होता है ऐसा जानना चाहिये । अर्थात् 'क्क्ङिति च' सूत्र में चर्त्वभूत गकार भी निर्दिष्ट है । सूत्र का स्वरूप भी 'क्क्ङिति च' इस प्रकार का है, अतः 'जिष्णु' तथा 'भूष्णुः' इन दोनों में गुण नहीं होता । (श्र्युको०) भूष्णु इस उदाहरण में इट् के प्रतिषेध के लिये 'श्र्युकः किति' सूत्र में (गकोरितोः) गित् तथा कित् परे इट् का प्रतिषेध होता है ऐसा जानना चाहिये, अर्थात् 'श्र्युकः किति' सूत्र में चर्त्वभूत गकार भी निर्दिष्ट है सूत्र का स्वरूप भी 'श्र्युकः क्किति' इस प्रकार है । इस कारण 'भूष्णु' में उगन्त से इट् नहीं होता ॥

वा०—स्थादंशिभ्या०—स्था तथा दंश धातु से वैदिक प्रयोग विषय में स्नु प्रत्यय होता है ॥ जैसे -स्थास्नु जङ्गमम् । दङ्क्ष्णवः पशवः । यहां स्नु प्रत्यय के कित् न होने से दंश धातु के अनुनासिक का लोप नहीं होता ॥ १३९ ॥

त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः[1] ॥ १४० ॥

त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः । ५ । १ । क्नुः । १ । १ ॥ वर्त्तमानेभ्यस्त्रस्यादिभ्यस्त-च्छीलादिषु कर्त्तृषु 'क्नुः' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. अ० १ । १ । ५ ॥ २. अ० ७ । २ । ११ ॥

३. अ० ३ । २ । १३९ भा० ॥ (ख) भा० सू० १२६० ॥

४ अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ ५ भा० सू० १२६१ ॥

त्रस्नुः । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः । क्नोः कित्वात् गृध्यादीनां धातूनां गुणो न भवति ॥

[त्रसि० क्षिपेः] त्रसि, गृधि, धृषि, क्षिप इन धातुओं से वर्त्तमान काल में तच्छीलादि कर्त्ता हों तो [क्नुः] 'क्नु' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—त्रस्नुः । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः । 'क्नु' प्रत्यय के कित् होने से 'गृधु' आदि धातुओं में गुण नहीं होता ॥ १४० ॥

शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्[1] ॥ १४१ ॥

शमिति । अष्टाभ्यः । ५ । ३ । घिनुण् । १ । १ ॥ इति शब्दोऽत्रादिवाची शमाद्यष्टाभ्य इत्यर्थः । दिवाद्यन्तर्गताः शमादयः ॥

शमादिभ्योऽष्टाभ्यो धातुभ्यो 'घिनुण्' प्रत्ययो भवति ॥

शमी । तमी । दमी । श्रमी । भ्रमी । क्लमी । प्रमादी । उन्मादी । घिनुण् प्रत्यये घकार उत्तरसूत्रे कुत्वार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः । शमिनितरा । शमिनीतरा । अत्र घिनुण उगित्वात् 'उगितश्च'[2] इति घादिपूत्तरेषु विकल्पेन ह्रस्वादेशः । णित् करणं 'मदी' धातोर्वृद्ध्यर्थम् ॥ १४१ ॥

यहां 'इति' शब्द आदि का वाची है अर्थात् दिवाद्यन्तर्गत शमादि आठ धातुओं का ग्रहण है ॥

[शमित्यष्टाभ्यः] शमादि आठ धातुओं से [घिनुण्] 'घिनुण्' प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्त्ता हों तो ॥

जैसे—शमी । तमी । दमी । श्रमी । भ्रमी । क्लमी । प्रमादी । उन्मादी ।

'घिनुण्' प्रत्यय में घकार उत्तर-सूत्र में कुत्व करने के लिये है । तथा उकार उगित् कार्य्य के लिये है । जैसे—शमिनितरा । शमिनीतरा । यहां घिनुण्' के उगित् होने से 'उगितश्च' इस सूत्र से घादि परे होने पर विकल्प से ह्रस्वादेश होता है । णित् करण 'मदी' धातु में वृद्धि के लिये है ॥ १४१ ॥

सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिप-परिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविवि-चत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च[3] ॥ १४२ ॥

'घिनुण्' इत्यनुवर्त्तते । सम्पृचानु० हनः । ५ । १ । च [अ०] ॥ सम्पृचादीनां समाहारद्वन्द्वः ॥ सम्पृचादिषु ये सोपसर्गा धातवस्तेष्वन्योपसर्गस्य ग्रहणं न भविष्यतीति नियमार्थम् । निरुपसर्गाश्च यथेष्टं सोपसर्गा भविष्यन्ति ॥

१. आ० सू० १२६२ ॥ २. अ० ६ । ३ । ४५ ॥
३. आ० सू० १२६३ ॥

सम्पृच, अनुरुध, आङ्यम, आङ्यस, परिसृ, संसृज, परिदेवि, सज्वर परिक्षिप, परिरट, परिवद, परिदह, परिमुह, दुष, द्विष, द्रुह, दुह, युज, आक्रीड, विविच, त्यज, रज, भज, अतिचर, अपचर, आमुष, अभ्याहन इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'घिनुण्' प्रत्ययो भवति ॥

सम्पृच-रौधादिकस्य ग्रहणम् । परिभाषया[1] लुग्विकरणस्य ग्रहणं न भवति । सम्पर्की । अनुरोधी । आयामी । आयासी । परिसारी । संसर्गी । परिदेवीति **'देवृ देवने'**[2] भ्वादिस्थस्य ग्रहणम् । परिदेवी । सञ्ज्वारी । परिक्षिपेति **'क्षिप प्रेरणे'**[3] तुदादिदिवादिस्थयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्, परिक्षेपी । परिराटी । परिवादी । परिदाही । परिमोही । दोषी । द्वेषी । द्रोही । दोही । **'युज समाधौ'**[4], **युजिर्[5] योगे'** इति दिवादिरुधादिस्थयोर्द्वयोरपि ग्रहणम् । योगी । आक्रीडी । विवेकी । त्यागी । **'रञ्ज[6] रागे'** इत्यस्य निपातनादनुनासिकलोपः । रागी । भागी । अतिचारी । अपचारी । आमोषी । अभ्याघाती । अत्र घिनुणि परतो यथायोग्यं कार्य्याणि भवन्ति ॥ १४२ ॥

यहां 'घिनुण्' इस पद का अनुवर्त्तन है । सम्पृचादि में समाहारद्वन्द्व है ॥

सम्पृचादि में सोपसर्ग धातुओं का ग्रहण अन्य उपसर्गों से न हो इस विषय के लिये है । और निरुपसर्ग धातुओं में तो प्रत्येक उपसर्ग के योग में प्रत्यय की उत्पत्ति हो जाती है ।

[सम्पृचा० हनः] सम्पृच, अनुरुध, आङ्यम, आङ्यस, परिसृ, संसृज, परिदेवि, सञ्ज्वर, परिक्षिप, परिरट, परिवद, परिदह, परिमुह, दुष, द्विष, द्रुह, दुह, युज, आक्रीड, विविच, त्यज, रज, भज, अतिचर, अपचर, आमुष, अभ्याहन इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'घिनुण्' प्रत्यय होता है ॥

सम्पर्की—इस में रौधादिक 'पृची सम्पर्के' का ग्रहण है क्योंकि 'लुग्विकरणा लुग्वि०'—इस परिभाषा से अदादिगण वाली पृची का ग्रहण नहीं होता ॥ **अनुरोधी । आयामी । आयासी । परिसारी । संसर्गी । परिदेवी ।** इस में भ्वादिगण वाला 'देवृ देवने' का ग्रहण है । **सञ्ज्वारी । परिक्षेपी ।** तुदादि तथा दिवादिगण वाला 'क्षिप प्रेरणे' का ग्रहण है । **परिराटी । परिवादी । परिदाही । परिमोही । दोषी । द्वेषी । द्रोही । दोही । योगी**—इसमें दिवादि तथा रुधादिगण को 'युज समाधौ' 'युजिर् योगे' धातुओं का ग्रहण है । **आक्रीडी । विवेकी । त्यागी । रागी**—इस में 'रञ्ज रागे' धातु का अनुनासिक लोप रञ्ज इस निपातन से होता है ॥ **भागी । अतिचारी । अपचारी । आमोषी । अभ्याघाती ।** यहां 'घिनुण्' प्रत्यय के परे रहने पर यथायोग्य कार्य्य हो जाते हैं ॥ १४२ ॥

---

१ 'लुग्विकरणाऽलुग्वि०' अ० ७ । २ । ४४ भा० ॥
२. धा०—भ्वा०—४९३ ॥
३ धा०—दिवा०—१४ । तुदा० ५ ॥
४ धा० दिवा० —६९ ॥
५. धा०—रुधा०—७ ॥
६. धा०—भ्वा०—९८४ ॥

वौ कषलसकत्थस्रम्भः[1] ॥ १४३ ॥

वौ । ७ । १ । कष० स्रम्भ । ५ । १ ॥ कष, लस, कत्थ, स्रम्भ इत्येभ्यो विपूर्वेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'घिनुण्' प्रत्ययो भवति ॥

विकाषी । विलासी । विकत्थी । विस्रम्भी । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः'[2] इत्यस्य धातोरत्र ग्रहणम् ॥ १४३ ॥

[वौ] वि-पूर्वक [कष० स्रम्भ] कष, लस, कत्थ, स्रम्भ इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'घिनुण्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विकाषी । विलासी । विकत्थी । विस्रम्भी यहां 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इस धातु का ग्रहण है ॥ १४३ ॥

अपे च लषः[3] ॥ १४४ ॥

वि-ग्रहणं चादनुवर्त्तते । अपे । ७ । १ । च [अ०] । लषः । ५ । १ । 'लष कान्तौ'[4] इत्यस्यात्र ग्रहणम् ॥

अप-पूर्वाद् वि-पूर्वाच्च 'लष' धातोस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'घिनुण्' प्रत्ययो भवति ॥ अपलाषी । विलाषी ॥ १४४ ॥

यहां चकार ग्रहण से 'वि' इस पद का अनुवर्त्तन है । यहां 'लष कान्तौ' इस धातु का ग्रहण है ॥

[अपे] अप-पूर्वक [च] तथा वि-पूर्वक [लषः] 'लष' धातु से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो घिनुण् प्रत्यय होता है ॥ जैसे—अपलाषी । विलाषी ॥ १४४ ॥

प्रे लपसृद्रुमथवदवसः[5] ॥ १४५ ॥

प्रे । ७ । १ । लप० वसः । ५ । १ ॥ इति 'वस निवासे'[6] इत्यस्यैव ग्रहणम् । न त्वाच्छादनार्थस्य लुग्विकरणत्वात् ॥

प्रोपसर्गपूर्वेभ्यो लपादिधातुभ्यो 'घिनुण्' प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु वाच्यार्थेषु ॥

प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । प्रवासी ॥ १४५ ॥

यहां 'वस' ग्रहण से 'वस निवासे' इसी का ग्रहण है लुग्विकरण होने से 'वस आच्छादने' का नहीं ॥

1. अ० सू० १२६४ ॥ 2. धा० भ्वा० ७०१ ॥
3. अ० सू० १२६५ ॥ 4. धा० भ्वा० ८७६ ॥
5. अ० सू० १२६६ ॥ 6. धा० भ्वा० ९९० ॥

[प्रे] प्र-पूर्वक [लप० वसः] लप, सृ, द्रु, मथ, वद, वस इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता अभिधेय हो तो 'घिनुण्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रलापी । प्रसारी प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । प्रवासी ॥ १४५ ॥

निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादिव्याभाषासूयो वुञ्[1] ॥ १४६ ॥

'घिनुण्' निवृत्तः ॥ निन्द० सूयः । १ । १ । वुञ् । १ । १ ॥ असूय इति प्रथमया विभक्त्या निर्देशः क्रियते, तत्र प्रातिपदिकनिर्देशस्यार्थतन्त्रत्वात्पञ्चमी[2] प्रकल्प्यते ॥

निन्द, हिंस, क्लिश, खाद, विनाश, परिक्षिप, परिरट, परिवादी, व्याभाष, असूय इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'वुञ्' प्रत्ययो भवति ॥

असूयेति कण्ड्वादेर्यगन्तस्य धातोर्ग्रहणम् ॥ निन्दकः । हिंसकः । '**क्लिश उपतापे**[3], **क्लिशू विबाधे**[4]' इति द्वयोरेव ग्रहणम् । क्लेशकः । खादकः । विनाशकः । परिक्षेपकः । परिराटकः । परिवादकः । व्याभाषकः । असूयकः । ण्वुल् प्रत्यये वुञ्-प्रत्यये च स्वरप्रयोगभेदो नास्ति । अतो निन्दादिषु वाऽसरूपविधिना तच्छीलादिषु स्यादेव 'ण्वुल्' । पुनर्निन्दादिभ्यो यद्वुञ् विधीयते तेनैतज्ज्ञाप्यते तच्छीलादिषु वाऽसरूपन्यायेन तृजादयो न भवन्तीति । तेन शमी, तमी, वासरूपेण ण्वुल् तृचौ न भवतः ॥ १४६ ॥

यहां 'घिनुण्' पद का निवर्त्तन है ॥ निन्द० ...... असूय —यह ऐसा प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया है । प्रातिपदिकनिर्देश के अर्थाधीन होने के कारण यहां पञ्चमी की प्रकल्पना हो जाती है ॥

[निन्द० सूयः] निन्द, हिंस, क्लिश, खाद, विनाश, परिक्षिप, परिरट, परिवादी, व्याभाष, असूय इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो [वुञ्] 'वुञ्' प्रत्यय होता है ॥

असूय यह कण्ड्वादि यगन्त का ग्रहण है । जैसे—निन्दकः । हिंसकः । क्लेशकः । इसमें—'क्लिश उपतापे, क्लिशू विबाधे' इन दोनों का ग्रहण है ॥ खादकः । विनाशकः । परिक्षेपकः । परिराटकः । परिवादकः । व्याभाषकः । असूयकः ॥

ण्वुल् तथा वुञ् प्रत्यय होने पर स्वर में भी भेद नहीं होता । अतः निन्दादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता होने पर वाऽसरूपविधि से 'ण्वुल्' हो ही जाता पुनः निन्दादि से जो 'वुञ्'

१. आ० सू० १२६७ ॥

२. अत्र भाष्यम् —'**प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम् । प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या**' (अ० १ । १ । ५६ सू० भाष्य) ॥

३. धा० दिवा० ५३ ॥ ४. धा० क्र्या० ५० ॥

विधान किया है उससे यह जाना जाता है कि तच्छीलादि में वाऽसरूपविधि से तृजादि नहीं होते इस कारण शमी । तमी । इत्यादि में वासरूपविधि से 'ण्वुल्' तथा 'तृच्' नहीं होते ॥ १४६ ॥

देविक्रुशोश्चोपसर्गे[1] ॥ १४७ ॥

देविक्रुशोः । ६ । २ च [अ०] । उपसर्गे । ७ । १ ॥ 'देवृ देवने'[2] इति भ्वादेर्ग्रहणम् ।

सोपसर्गाभ्यां देवि-क्रुशिधातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'वुञ्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रदेवकः । परिदेवकः । आदेवकः । प्रक्रोशकः । परिक्रोशकः ।

'उपसर्गे' इति किम् — देविता । क्रोष्टा । अत्र तृन्नेव ॥ १४७ ॥

यहां भ्वादिगणस्थ 'देवृ देवने' का ग्रहण है ॥

[उपसर्गे] सोपसर्ग [देविक्रुशोः] 'देवि' तथा 'क्रुश' धातु से तच्छीलादि कर्ता हों तो 'वुञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे — प्रदेवकः । परिदेवकः । आदेवकः । प्रक्रोशकः । परिक्रोशकः ।

'उपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि — देविता । क्रोष्टा । यहां 'तृन्' ही होता है ॥ १४७ ॥

चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्[3] ॥ १४८ ॥

चलनशब्दार्थात् । ५ । १ । अकर्मकात् । ५ । १ । युच् । १ । १ ॥

चलनञ्च शब्दश्च चलनशब्दौ, तावर्थौ यस्य स चलनशब्दार्थस्तस्मात् ॥

अकर्मकेभ्यश्चलनशब्दार्थेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'युच्' प्रत्ययो भवति ॥

चलनः । चोपनः ॥ शब्दार्थ — रवणः । कवनः । लम्बनः ॥

'अकर्मकात्' इति किम् — वदिता श्लोकान् । अत्र तृन्नेव भवति ॥ १४८ ॥

[चलनशब्दार्थात्] चलनार्थ और शब्दार्थक जो [अकर्मकात्] अकर्मक धातु उन से तच्छीलादि कर्ता हों तो [युच्] 'युच' प्रत्यय होता है ॥

जैसे — चलनः । चोपनः । शब्दार्थक — रवणः । कवनः । लम्बनः । 'अकर्मकात्' ग्रहण इसलिये है कि — वदिता श्लोकान् । यहां 'तृन्' ही होता है ॥ १४८ ॥

---

१. अ० सू० १२६८ ॥ २. धा० भ्वा० ४९३ ॥
३. अ० सू० १६९ ॥

अनुदात्तेतश्च हलादेः[1] ॥ १४६ ॥

अनुदात्तेतः । ५ । १ । च [अ०] । हलादेः । ५ । १ ॥ हल् आदौ यस्य तस्मात् ॥

अनुदात्तेतो हलादेर्धातोस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'युच्' प्रत्ययो भवति । स्पर्द्धनः । वर्त्तनः । वर्द्धनः ॥

'हलादेः' इति किम्—आसिता । एधिता ॥ १४६ ॥

[अनुदात्तेतः] अनुदात्तेत् [च] और [हलादेः] हलादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों तो 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्पर्धनः । वर्त्तनः । वर्द्धनः ।

'हलादेः' ग्रहण इसलिये है कि—आसिता । एधिता । यहां 'तृन्' ही होता है ॥ १४९ ॥

जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः[2] ॥ १५० ॥

जु० पद. । ५ । १ ॥ जु इति सौत्रो धातुः । चङ्क्रम्य-दन्द्रम्य इति द्वौ यङन्तौ । पद-धातुरनुदात्तेद्धलादिश्च, तस्मात् पूर्वेणैव 'युच्' सिद्धे पुनर्ग्रहणं ज्ञापकार्थम्, अनेन ज्ञाप्यते तच्छीलाद्यधिकारे वाऽसरूपविधिर्न भवति । 'लषपतपदस्थ०'[3] इति वक्ष्यमाणसूत्रेण 'पद'धातोः 'उकञ्' विधीयते सोऽपि स्यात् । अत्र ग्रहणाद् युजपि स्यात् । अन्यदपि प्रयोजनम्—शमादिभ्यो 'घिनुण्' विधीयते [तत्र] वाऽसरूपन्यायेन तृन् भवति ॥

जु, चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, सृ, गृधि, ज्वल, शुच, लष, पत, पद इत्येभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'युच्' प्रत्ययो भवति ॥

जवनः । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः । अत्र "अतो लोपः"[4] इत्यकारस्य लोपो 'यस्य हलः'[5] इति यकारस्य च । सरणः । गर्द्धनः । ज्वलनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः ॥ १५० ॥

'जु' यह सूत्रपठित धातु है । चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य यह दो यङन्त पद हैं 'पद' धातु के अनुदात्तेत तथा हलादि होने से पूर्व सूत्र से ही 'युच्' प्रत्यय सिद्ध था पुनः पदधातु का ग्रहण इस बात के ज्ञापन के लिये है कि तच्छीलाधिकार में वाऽसरूपविधि नहीं होती । 'लषपतपद०' इस अगले सूत्र से 'पद' धातु से 'उकञ्' कहा है वह भी हो जाता है और इस सूत्र से 'युच्' भी होता है । दूसरा और भी प्रयोजन है कि—शमादि से 'घिनुण्' कहा है उसमें वाऽसरूपविधि से 'तृन्' नहीं होता ॥

1. आ० सू० १२७० ॥ 2. आ० सू० १२७१ ॥
3. अ० ३ । २ । १५४ ॥ 4. अ० ६ । ४ । ४८ ॥
5. अ० ६ । ४ । ४९ ॥

[जु० पदः] जु, चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, सृ, गृधि, ज्वल, शुच, लष, पत, पद इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जवनः । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः । यहां 'अतो लोपः' से अकार लोप तथा 'यस्य हल.' सूत्र से यकार का लोप होता है । सरणः । गर्द्धनः । ज्वलनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः ॥ १५० ॥

क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च[1] ॥ १५१ ॥

क्रुधमण्डार्थेभ्यः । ५ । ३ ।। क्रुधश्च मण्डश्चानयोरिवार्था येषां ते क्रुधमण्डार्था-स्तेभ्यः ।।

क्रुधार्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धातुभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'युच्' प्रत्ययो भवति ।।

क्रोधनः । कोपनः । द्रोहणः ।। मण्डार्थ—मण्डनः । भूषणः ।। १५१ ।।

[क्रुधमण्डार्थेभ्यः] क्रुध तथा मण्ड धातु के अर्थ के समान जिन धातुओं के अर्थ हैं उन से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—क्रोधन. । कोपनः । द्रोहणः । मण्डार्थ—मण्डन. । भूषणः ॥ १५१ ॥

न यः[2] ॥ १५२ ॥

'अनुदात्तेतश्च हलादेः'[3] इति सामान्यप्राप्तस्य युचोऽयं प्रतिषेधः । न [अ०] । यः । ५ । १ ।।

यकारान्ताद्धातो 'युच्' प्रत्ययो न भवति ।। दयिता । क्नूयिता । क्ष्मायिता । तृन्नेव ।। १५२ ।।

अनुदात्तेतश्च हलादेः' इस सूत्र से सामान्यप्राप्त 'युच्' का यह प्रतिषेध है ॥

[यः] यकारान्त धातु से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'युच्' प्रत्यय [न] नहीं होता ॥

जैसे—क्नूयिता । क्ष्मायिता । यहां 'तृन्' ही होता है ॥ १५२ ॥

सूददीपदीक्षश्च[4] ॥ १५३ ॥

अयमपि तस्यैव प्रतिषेधः ।। सूददीपदीक्षः । ५ । १ । च [अ०] ।।

सूद, दीप, दीक्ष इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु 'युच्' प्रत्ययो न भवति ।।

सूदिता । दीपिता । दीक्षिता ।। यदि तच्छीलाधिकारे वाऽसरूपविधिः सर्वथा न भवेत्तह्यस्मिन् सूत्रे दीपिग्रहणमनर्थकं स्यात् । कथम् ? 'नमिकम्पी'[5] ति वक्ष्यमाणसूत्रे

१. आ० सू० १२७२ ॥ २. आ० सू० १२७३ ॥
३. अ० ३ । २ । १४९ ॥ ४. आ० सू० १२७४ ॥
५. अ० ३ । २ । १६७ ॥

'दीप' धातो 'रः' प्रत्ययो विधीयते स युचो बाधकः स्यादेव । पुनर्युचः प्रतिषेधार्थं 'दीप' धातुरत्र पठ्यते, तेन ज्ञायते क्वचिद्वाऽसरूपविधिनाऽपि तच्छीलादिषु प्रत्यया भवन्ति । **'कमु कान्तौ'**[1] इत्यनुदात्तेद्-हलादिर्धातुस्तस्मात् सामान्येन युच्, विशेषत्वेन रो विधीयते, वाऽसरूपविधिना द्वयमपि भवति । इह पक्षद्वयमुच्यते । तच्छीलाधिकारे वाऽसरूपविधिर्न भवति, भवति च । तत्कथं प्रतिपत्तव्यम् ? । एतद्द्वयमेव न्याय्यम् । द्विविधमेव ज्ञापकं दृश्यते । प्रायशो वाऽसरूपविधिर्न भवत्यल्पशो भवति च ॥ १५३ ॥

यह सूत्र भी 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' का ही अपवाद है ।

[सूद० दीक्षः] सूद, दीप, दीक्ष इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'युच्' प्रत्यय नहीं होता ॥

जैसे—सूदिता । दीपिता । दीक्षिता ॥

यदि इस तच्छीलाधिकार में वाऽसरूपविधि सर्वथा होती ही नहीं ऐसा माना जाय तो इस सूत्र में 'दीपि' ग्रहण अनर्थक होता है । कैसे ? 'नमिकम्पिस्म्य०' इस अगले सूत्र में दीप धातु से 'र' प्रत्यय कहा है वह 'र' प्रत्यय 'युच्' का बाधक हो ही जाता पुनः इस सूत्र में 'युच्' बाधने के लिये जो 'दीप' धातु पढ़ा है उससे यह जाना जाता है कि इस तच्छीलादि अधिकार में भी कहीं कहीं वाऽसरूपविधि से प्रत्यय हो जाते हैं । जैसे—'कमु कान्तौ' इस अनुदात्तेत् हलादि धातु से 'अनुदात्ते०' से सामान्यतया 'युच्' प्राप्त है विशेषतया 'र' प्रत्यय का विधान किया है सो वाऽसरूप विधि से दोनों ही हो जाते हैं ।

(प्रश्न) इस तच्छीलादि अधिकार में दो पक्ष कहे हैं कि—तच्छीलादि अधिकार में वाऽसरूप विधि नहीं होती और होती भी है सो इसका क्या स्वरूप समझा जावे ?

(उत्तर) यह दोनों ही पक्ष ठीक हैं क्योंकि दोनों ही प्रकार के ज्ञापक दीखते हैं । अर्थात् इस तच्छीलादि अधिकार में प्रायः करके वाऽसरूपविधि नहीं होती और अल्पशः अर्थात् कहीं कहीं हो भी जाती है ॥ १५३ ॥

लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् ॥ १५४ ॥

लष० शॄभ्यः । ५ । ३ । उकञ् । १ । १ ॥ लषादिधातुभ्यस्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'उकञ्' प्रत्ययो भवति ॥

अपलाषुकः । पातुकः । पादुकः । प्रस्थायुकः । भावुकः । प्रवर्षुकः । चोरघातुकः । स्त्रियं कामुकः । गृहमागामुकः । किं शारुकः ॥ अत्र **'न लोकाव्यय०'**[2] इति सूत्रेण षष्ठी प्रतिषिध्यतेऽतो लषादीनां कर्मणि द्वितीयैव भवति । १५४ ॥

१. धा० भ्वा० ४४६ ॥　　२. अ० सू० १२७५ ॥

३. अ० २ । ३ । ६९ ॥

[लष० शॄभ्यः] लष, पत, पद, स्था, भू, वृष, हन, कम, गम, शॄ इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों तो [उकञ्] 'उकञ्' प्रत्यय होता है ।

जैसे—अपलाषुकः । पातुकः । पादुकः । उपस्थायुकः । भावुकः । प्रवर्षुकः । चोरघातुकः । स्त्रियं कामुकः । गृहमागामुकः । किशारुकः । यहां 'न लोकाव्यय०' इस सूत्र से षष्ठी का निषेध हो जाता है अतः लषादिकों से कर्म में द्वितीया ही होती है ॥ १५४ ॥

जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन्[1] ॥ १५५ ॥

जल्प० वृङः । ५ । १ ॥ षाकन् । १ । १ ॥ जल्पादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'षाकन्' प्रत्ययो भवति ॥

जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः ।

षाकनि षित्करणं 'षिद्गौरादिभ्यश्च'[2] इति ङीषर्थम् । जल्पाकी । भिक्षाकी । कुट्टाकी । लुण्टाकी । वराकी ॥ नित्करणं स्वरार्थम् ॥ १५५ ॥

[जल्प० वृङः] जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट, वृङ् इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों तो [षाकन्] 'षाकन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः । 'षाकन्' प्रत्यय में षित्करण इसलिये किया है कि 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् हो जावे ॥ जैसे—जल्पाकी । भिक्षाकी । कुट्टाकी । लुण्टाकी । वराकी ॥ नित्करण स्वर के लिये है ॥ १५५ ॥

प्रजोरिनिः[3] ॥ १५६ ॥

प्रजोः । ५ । १ । इनिः । १ । १ ॥

प्रपूर्वकात्सौत्राज्जुधातोस्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'इनिः' प्रत्ययो भवति ॥ प्रजवी । प्रजविनौ । प्रजविनः ॥ १५६ ॥

[प्रजोः] प्र-पूर्वक सौत्र 'जु' धातु से तच्छीलादि अर्थों में [इनिः] 'इनि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रजवी । प्रजविनौ । प्रजविनः ॥ १५६ ॥

जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च[4] ॥ १५७ ॥

'इनिः' इत्यनुवर्त्तते । जि० प्रसूभ्यः । ५ । ३ । च [अ०] ॥

जि, दृ, क्षि, विश्री, इण्, वम, अव्यथ, अभ्यम, परिभू, प्रसू इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'इनिः' प्रत्ययो भवति ॥

१. भा० सू० १२७६ ॥ २. अ० ४ । १ । ४१ ॥
३. भा० सू० १२७७ ॥ ४. भा० सू० १२७८ ॥

'जि जये'[1], 'ज्रि ज्रि[2] अभिभवे'[3] इति द्वयोरेव ग्रहणम् । जयी । दरी । 'क्षि क्षये'[4], 'क्षि निवासगत्योः'[5] अनयोरपि द्वयोर्ग्रहणम् । क्षयी । विश्रयी । अयी । अत्ययी । वमी । अव्यथी[5] । अभ्यमी । परिभवी ।। 'षू प्रेरणे'[6] इत्येतस्यैव प्रसवी । निरुपसर्गेभ्य उपसर्गनियमो नास्ति ।। १५७ ।।

[जि० प्रसूभ्यः] जि, दृ, क्षि, विश्री, इण्, वम, अव्यथ, अभ्यम, परिभू, प्रसू इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में 'इनि' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—जयी । इसमें-जि जये, ज्रि ज्रि अभिभवे । इन दोनों का ही ग्रहण है ।। दरी । क्षयी । इसमें 'क्षि क्षये, क्षि निवासगत्योः' । इन दोनों का ही ग्रहण है । विश्रयी । अयी । अत्ययी । वमी । अव्यथी । अभ्यमी । परिभवी । प्रसवी—इसमें 'षु प्रेरणे' का ग्रहण है ।। यहां जो निरुपसर्ग धातु हैं उनमें उपसर्ग का नियम नहीं ।। १५७ ।।

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्[7] ।। १५८ ।।

स्पृहि० श्रद्धाभ्यः । ५ । ३ । आलुच् । १ । १ ।।

स्पृहादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु 'आलुच्' प्रत्ययो भवति ।।

'स्पृह ईप्सायाम्'[8], 'गृह ग्रहणे'[9], 'पत गतौ'[10] इति त्रयो धातवश्चुरादिष्वदन्ताः पठ्यन्ते तेभ्यो ण्यन्तेभ्य 'आलुच्' । स्पृहयालुः । गृहयालुः । पतयालुः । लुप्तस्याकारस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भवतः । 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु'[11] दयालुः ।। 'द्रा कुत्सायां गतौ'[12] इत्यस्मान्निपूर्वात् तत्पूर्वाच्चालुच् नच्छब्दस्य नकारादेशो निपातनात् । निद्रालुः । तन्द्रालुः । श्रत्पूर्वाच्च 'धाञ्' धातोरालुच् । श्रद्धालुः ।।

वा०—आलुचि शीङ्ग्रहणम्[13] ।। १ ।।

---

१. धा० भ्वा० ५५२ ।। २. धा० भ्वा० ९३१ ।।
३. धा० भ्वा० २३७ ।। ४. धा० तुदा० १२३ ।।
५. नञ्पूर्वोऽत्र व्यथधातुः, निपातनान्नञो नकारलोपो धातुना च समासः ।।
६. धा० तुदा० १२४ ।। (ख) 'षू' इति निरनुबन्धकग्रहणात् 'षूङ् प्राणिप्रसवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यनयोर्ग्रहणं न भवति सानुबन्धकत्वात् ।।
७. अ० सू० १२७९ ।। ८. धा० चु० ३२२ ।।
९. धा० चु० ३४८ ।। १०. धा० चु० ३१२ ।।
११. धा० भ्वा० ४७४ ।। १२. धा० अदा० ४४ ।।
१३. अ० ३ । २ । १५८ भा० ।। (ख) अ० वा० १२८० ।।

'शीङ्' धातोरप्यालुच् स्यात् । शयालुः[1] ॥ १५८ ॥

[स्पृहि० श्रद्धाभ्यः] स्पृहि, गृहि, पति, दयि, निद्रा, तन्द्रा, श्रद्धा इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता में [आलुच्] 'आलुच्' प्रत्यय होता है ॥

'स्पृह ईप्सायाम्, गृह ग्रहणे, पत गतौ' ये तीनों धातु चुरादिगण में अदन्त पढ़ी हैं। इन से ण्यन्त से 'आलुच्' होता है ॥

जैसे—स्पृहयालुः । गृहयालुः । पतयालुः । लुप्त हुए अकार के स्थानिवद्भाव से गुण तथा वृद्धि नहीं होते । दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । इनमें 'नि' तथा 'तत्' पूर्वक 'द्रा कुत्सायां गतौ' इस धातु से 'आलुच्' तथा तत् शब्द को नकारान्तादेश निपातन से होता है ॥ श्रद्धालुः । इसमें 'श्रत्' पूर्वक 'धाञ्' धातु से 'आलुच्' होता है ॥

वा०—आलुचि शीङ्ग्रहणम्—'शीङ्' धातु से भी 'आलुच्' प्रत्यय होता है । जैसे—शयालुः ॥ १५८ ॥

दाधेट्सिशदसदो रुः[2] ॥ १५९ ॥

दाधेट्सिशदसदः । ५ । १ । रुः । १ । १ ॥

दा, धेट्, सि, शद, सद इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'रुः' प्रत्ययो भवति ॥

दारुः । धारुः । सेरुः । शद्रुः । सद्रुः ॥

अस्मिन् सूत्रे काशिकाकृज्जयादित्येनोक्तम्—धारुर्वत्सो मातरम् । 'न लोकाव्यय०[3]' इत्युकारप्रश्लेषात् षष्ठी न भवतीति' । तदेतद्विचारणीयम् । 'न लोकाव्ययेति सूत्रे उकारप्रश्लेषः कृतो न तु 'रु' इत्यस्य । रुकारे य उकारः सोऽनर्थकः, समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः । 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य[4]' इत्युकारग्रहणे रुकारविशिष्टस्यानर्थकस्य ग्रहणं न भविष्यति । अतो 'धारुर्वत्सो मातरम्' इत्यशुद्धमेव । धारुर्वत्सो मातुरित्यत्रैव षष्ठी भविष्यति । एवं जयादित्यवचनं प्रामादिकमेव ॥१५९॥

[दा० सदः] दा, धेट्, सि, शद, सद इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में [रुः] 'रु' प्रत्यय होता है ॥

---

१ ईर्ष्यालुः, बुभुक्षालुः, स्पर्धालुः, कृपालुरित्येवमादयस्तु मृगय्वादयश्च' (उ० १ । ३७ ।) इत्यनेन 'उ' प्रत्ययान्ताः सिध्यन्ति कृपां लातीति कृपालुः । ईर्ष्यां लातीति = ईर्ष्यालुरित्येवं विग्रहः ॥

हृदयालुः, शीतालुः, उष्णालुः, तृप्रालुरित्यादयस्तु 'बहुलं छन्दसि' (अ० ५ । २ । १२२) इत्यत्र वार्त्तिकेन सिध्यन्ति ॥

२. आ० सू० १२८१ ॥ ३. अ० २ । ३ । ६९ ॥

४ अ० १ । १ । २२ भा० ॥

जैसे—इत्वरः । भासुरः । मेदुरः । छिदुरः ।

सूत्र में काशिकाकार जयादित्य ने कहा है कि—धात्वर्थसो मातरम् । यहाँ 'न लोकाव्यय०' इस सूत्र में उकार का प्रयोग होने से षष्ठी नहीं होती । इसमें यह विचार है कि 'न लोकाव्यय०' इस सूत्र में उकार का प्रयोग किया है न कि 'उ' का, क्योंकि उकार का उकार तो अनर्थक है, समुदाय ही अर्थवान् होता है समुदाय का एकदेश अनर्थक होता है इसलिये 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इस परिभाषा के बल से उकार के ग्रहण में स्वार्थलिङ्गाय अनर्थक उकार का ग्रहण होगा ही नहीं । इस कारण 'धात्वर्थसो मातरम्' यहाँ षष्ठी होगी, अतः 'धात्वर्थसो मातुः' इसमें षष्ठी अवश्य ही होगी । इसलिये जयादित्य का यह वचन प्रामादिक है ॥ १५९ ॥

सृघस्यदः क्मरच् ॥ १६० ॥

सृघस्यदः । ५ । १ । क्मरच् । १ । १ ॥ सृ घसि, अद इत्येतेभ्यो धातुभ्य स्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'क्मरच्' प्रत्ययो भवति ॥

सृमरः । घस्मरः । अद्मरः । ककारो गुणप्रतिषेधार्थः, चकारः स्वरार्थः ॥ १६० ॥

[सृ० अदः] सृ घसि, अद इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता में [क्मरच्] क्मरच् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—सृमरः । घस्मरः । अद्मरः । 'क्मरच्' में ककार गुण के प्रतिषेध के लिये है तथा चकार स्वर के लिये ॥ १६० ॥

भञ्जभासमिदो घुरच् ॥ १६१ ॥

भञ्जभासमिदः । ५ । १ । घुरच् । १ । १ ॥ भञ्ज, भास, मिद इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'घुरच्' प्रत्ययो भवति ॥

भङ्गुरः । भासुरः । मेदुरः । घुरचो घित्वाद् भङ्गुर इति कुत्वम्[3] । चित्करणञ्च स्वरार्थम् ॥ १६१ ॥

[भञ्ज० मिदः] भञ्ज, भास, मिद इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में [घुरच्] 'घुरच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—भङ्गुरः । भासुरः । मेदुरः ॥ 'घुरच्' प्रत्यय के घित् होने से 'भङ्गुर' में कुत्व हो जाता है । चित्करण स्वर के लिये है ॥ १६१ ॥

विदिभिदिच्छिदेः कुरच् ॥ १६२ ॥

विदिभिदिच्छिदेः । ५ । १ । कुरच् । १ । १ ॥ विदादिभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'कुरच्' प्रत्ययो भवति ।

१. आ० सू० १०८२ ॥
२. आ० सू० १०८३ ॥
३. अ० ७ । ३ । ५२ ॥
४. आ० सू० १०८४ ॥

विदुरः । पण्डितशब्दपर्यायो विदुर-शब्दोऽतो ज्ञानार्थस्यैव 'विद' धातोर्ग्रहणं नान्यस्य ।। भिदुरं काष्ठं स्वयमेव । छिदुरा रज्जुः स्वयमेव । भिदि-छिदिभ्यां कर्मकर्त्तरि [अपि] 'कुरच्' । कर्त्रपदिष्टा विषयोऽपि कर्मकर्त्तरि भवन्तीत्युक्तम्[1] ।। १६२ ।।

[**विदि० छिदेः**] विदि, भिदि, छिदि इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में [कुरच्] 'कुरच्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—विदुरः । इसमें 'विद ज्ञाने' धातु का ग्रहण है, क्योंकि विदुर शब्द पण्डित का पर्यायवाची है ।। भिदुरं काष्ठं स्वयमेव । छिदुरा रज्जुः स्वयमेव । भिद, छिद धातु से कर्मकर्त्ता में भी 'कुरच्' प्रत्यय होता है । कर्त्ता में विहित विधि कर्मकर्त्ता में भी हो जाती है ऐसा (अ० ३ । १ । ६७) में कहा है ।। १६२ ।।

इण्नश्जिसर्त्तिभ्यः क्वरप्[1] ।। १६३ ।।

इण्० सर्त्तिभ्यः । ५ । ३ । क्वरप् । १ । १ ।। इण्, नश्, जि, सर्त्ति इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'क्वरप्' प्रत्ययो भवति ।।

क्वरपि ककारो गुणप्रतिषेधार्थो विशेषणार्थश्च "......**कञ् क्वरपः**[2]" इति, पकारस्तुगर्थः स्वरार्थश्च ।। इत्वरः । इत्वरी । नश्वरी । जित्वरः । जित्वरी । सृत्वरः । सृत्वरी ।। नश्वर इति '**नेड्वशि कृति**[3]' इतीट् प्रतिषिध्यते ।। १६३ ।।

[इण्० सर्त्तिभ्यः] इण्, नश्, जि, सर्त्ति इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में [**क्वरप्**] 'क्वरप्' प्रत्यय होता है ।।

---

१ प्रकृतसूत्रे कुरचो ङित्त्वे गुणाभावे सिद्धे सति प्रत्ययान्तरविधानं ज्ञापकार्थम् 'आतिदेशिकं ङित्त्वमनित्यम्' इति ।। ज्ञापकाननुज्ञाफलात्र '**घसेरचः**' (उ०-४-७९) इत्यस्मादनुवर्तमानस्य 'अच्' प्रत्ययस्य '**गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्**' (अ० १ । २ । १) इत्यनेन ङित्त्वे सिद्धे '**कुटः कित्**' (उ० ४ । ८०) इति किद्वचनम् । तेन '**पवित्रम्**' इत्यत्र कुटादित्वात् ङित्त्वेऽपि गुणो भवति ।

अत एवाह **श्वेतवनवासी**—"कुटादित्वान्ङित्त्वेनैव गुणाभावे सिद्धे तस्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थं पुनः किद्विधानं, तेन—'**पवित्रम्**' (अ० ३ । २ । १८४) इत्यत्र गुणाऽभावो न भवति (उ० वृ०—४ । ८४)" ।। कुट-धातौ **माधवोऽप्येवम्** ।। **नारायणोऽप्याह** —

कुटेर्ङित्त्वेन सिद्धेऽपि यदयं कित्प्रहः कृतः । तेन कोटरकोटीरगुलादौ ज्ञापितो गुणः ।।
(उ० वृ० ४ । ८५)

२. अ० सू० १२८५ ।। ३. अ० ४ । १ । १५ ।।
४. अ० ७ । २ । ८ ।।

'क्वरप्' में ककार गुण, के प्रतिषेध तथा 'कन्नक्वरप:' इसमें विशेषण के लिये है। पकार 'तुक्' तथा 'स्वर' के लिए है ॥

जैसे—इत्वर:। इत्वरी। नश्वर:। नश्वरी। जित्वर:। जित्वरी। सृत्वर:। सृत्वरी। 'नश्वर:' इसमें 'नेड्वशि कृति' से 'इट्' का निषेध हो जाता है ॥ १६३ ॥

गत्वरश्च[1] ॥ १६४ ॥

गत्वर:। १। १। च [अ०]॥ गत्वर इति 'गम' धातो: 'क्वरप्' प्रत्ययो निपात्यते ॥ अनुनासिकलोपो झलि परतो विधीयते स क्वरपि न प्राप्नोति निपातनादनुनासिको लुप्यते ॥ १६४ ॥

गत्वर: इसमें 'गम' धातु से 'क्वरप्' प्रत्यय निपातन है ॥ झल् परे रहते अनुनासिक का लोप कहा है परन्तु वह 'क्वरप्' परे नहीं पाता था अत: निपातन से अनुनासिक का लोप किया है ॥ १६४ ॥

जागरूक:[2] ॥ १६५ ॥

जागु:। ५। १। ऊक:। १। १॥ तच्छीलाद्यर्थेषु 'जागृ' धातो: 'ऊक:' प्रत्ययो भवति जागरूक:। जागरणशील इत्यर्थ: ॥ १६५ ॥

[जागु:] तच्छीलादि अर्थों में 'जागृ' धातु से [ऊक:] 'ऊक' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—जागरूक:—अर्थात् जागरणशील ॥ १६५ ॥

यजजपदशां यङ:[3] ॥ १६६ ॥

यजजपदशाम्। ६। ३। यङ:। ५। १॥ तच्छीलाद्यर्थेषु यज, जप, दश[4] इत्येतेभ्यो यङन्तेभ्यो धातुभ्य 'ऊक:' प्रत्ययो भवति ॥ यायज्यत इति यायजूक:। जञ्जप्यत इति जञ्जपूक:। दन्दश्यत इति दन्दशूक: ॥ १६६ ॥

तच्छीलादि अर्थों में [यज० दशाम्] यज, जप, दश इन [यङ:] यङन्त धातुओं से 'ऊक' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यायज्यत इति यायजूक:। जञ्जपूक:। दन्दशूक: ॥ १६६ ॥

नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र:[5] ॥ १६७ ॥

नमि० दीप:। ५। १। र:। १। १॥ नमि, कम्पि, स्मि, अजस, कम, हिंस, दीप इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'र:' प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु ॥

१. आ० सू० १२८६ ॥ २. आ० सू० १२८७ ॥

३. आ० सू० १२८८ ॥

४. 'यजजपदशां' इति दशेर्भावेना नलोपेन निर्देश: ॥

५. आ० सू० १२८९ ॥

नम्रो ब्राह्मणः । कम्प्रा शाखा । स्मेरः पुरुषः, ईषद्धसनशीलः ।। अजस इति नञ् पूर्वकस्य 'जसु मोक्षणे'[1] इत्यस्य ग्रहणम् । अजस्रम् । कम्रा युवतिः । हिंस्रो दस्युः । दीप्रं काष्ठम् ।। १६७ ।।

[नमि-दीपः] नमि, कम्पि, स्मि, अजस, कम, हिंस, दीप इन धातुओं से [रः] 'र' प्रत्यय होता है, तच्छीलादि कर्त्ता में ।।

जैसे—नम्रो ब्राह्मण । कम्प्रा शाखा । स्मेरः पुरुष । मुस्कराने वाला ।। अजस्रम् । इसमें नञ् पूर्वक 'जसु मोक्षणे' का ग्रहण है । कम्रा युवति । हिंस्रो दस्युः । दीप्रं काष्ठम् ।। १६७ ।।

सनाशंसभिक्ष उः[2] ।। १६८ ।।

सनाशसभिक्षः । ५ । १ । उः । १ । १ ।। सनिति सन्नन्तस्य[3] ग्रहणं न तु सनधातोः । आशंसेति आङः शसि इच्छायामित्यस्य ग्रहणम्[4] ।

सन्नन्तेभ्यः आशंस-भिक्षिभ्याञ्च धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'उः' प्रत्ययो भवति ।।

चिकीर्षुः कटम् । व्याकरणं पिपठिषुः । ग्रामं जिगमिषुः । आशंसुः । भिक्षुः ।। १६८ ।।

यहां 'सन्' से सन्नन्त का ग्रहण है 'सन' धातु का नहीं । 'आशस' में 'आङः शसि इच्छायाम्' धातु का ग्रहण है ।।

[सना० भिक्षः] सन्नन्त तथा 'आशस' और 'भिक्ष' धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता में [उः] 'उ' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—चिकीर्षुः कटम् । व्याकरणं पिपठिषुः । ग्रामं जिगमिषुः । आशंसुः । भिक्षुः ।। १६८ ।।

विन्दुरिच्छुः[5] ।। १६९ ।।

विन्दुः । १ । १ । इच्छुः । १ । १ । [विन्दुरिच्छुरिति शब्दद्वयं तच्छीलाद्यर्थे निपात्यते] । विन्दुरिति 'विद' धातोः 'उः' प्रत्ययो नुम् आगमश्च निपात्यते । इच्छुरिति 'इष' धातोश्छत्वञ्च निपात्यते ।। वेदनशीलो विन्दुः[6] । एषणशील इच्छुः । विद्या-

---

१ धा० दिवा० १०३ ।। (ख) अजस्रमित्यत्र नञ्-पूर्वो 'जसु' तत्र निपातनान्नञो नकार-लोपो धातुना च समासः ।। अजस्रं क्रियासातत्ये वर्त्तते ।।

२. म० सू० १२९० ।।

३ 'वर्णादिभ्यो यञ्' (अ० । ४ । १ । १०५) इत्यत्र गणे जिगीषु-पाठाज्ज्ञाप्यते ।।

४. धा० भ्वा० ६१९ ।। ५. म० सू० १२९१ ।।

६ केचित्तु—विदि अवयवे' इत्यस्मान्निपातनमिच्छन्ति । तेन—तैलबिन्दुरिवाम्भसि । जल-बिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्य्यते घटः (चा० नी० १२ । २२ ।। बह्विन्दु—इत्यादयः सिध्यन्ति) ।।

मिच्छुः । अत्र 'उ' प्रत्ययान्तशब्देषु 'न लोकाव्यये'[1] ति कर्मणि षष्ठीनिषेधाद् द्वितीयैव भवति ॥ १६९ ॥

[विन्दुरिच्छुः] 'विन्दुः' तथा 'इच्छुः' यह दो शब्द तच्छीलादि अर्थ में निपातन हैं ॥

जैसे—विन्दुः । इसमें 'विद' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा 'नुम्' आगम निपातन है ॥ इच्छुः इसमें इष-धातु से 'उ' प्रत्यय तथा 'छत्व' निपातन है ॥ वेदनशीलो विन्दुः । एषणशील इच्छुः । यहां 'उ' प्रत्ययान्त शब्दों में 'न लोकाव्यय०' से कर्म में षष्ठी के प्रतिषिद्ध होने से द्वितीया ही होती है ॥ १६९ ॥

क्याच्छन्दसि[2] ॥ १७० ॥

क्यात् । ५ । १ । छन्दसि । ७ । १ ॥ निरनुबन्धकग्रहणे[3] सानुबन्धकग्रहणं भवतीति क्यच्-क्यङ्-क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥

क्यात्=क्यप्रत्ययान्ताद् धातोस्तच्छीलादिषु छन्दसि=वेदविषये 'उः' प्रत्ययो भवति ॥

देवयुः[4] । सुम्नयुः[5] । अघायुः[6] ॥

'छन्दसि' इति किम्—पुत्रीयिता । मित्रीयिता लोके तच्छीलादिषु 'तृन्' ॥ १७० ॥

'क्यात्' इस पद के निरनुबन्धक होने से सामान्य करके क्यच्, क्यङ्, क्यष्, इन सानुबन्धकों का ग्रहण होता है ॥

[क्यात्] क्यप्रत्ययान्त धातु से तच्छीलादि अर्थों में [छन्दसि] वेदविषय में 'उ' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—देवयुः । सुम्नयुः । अघायुः ॥

'छन्दसि' ग्रहण इसलिये है कि—पुत्रीयिता । मित्रीयिता । लोक में तच्छीलादि में 'तृन्' ही होता है ॥ १७० ॥

आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च[7] ॥ १७१ ॥

आदृ० जनः । ५ । १ । किकिनौ । १ । २ । लिट् । १ । १ । च [अ०] ॥ आत्-आकारान्तः । ऋ-ग्रहणेन ऋवर्णान्ताश्च धातवो गृह्यन्ते ॥

---

१. अ० २ । ३ । ६९ ॥ २ मा० सू० १२९२ ॥

३. विशेषाऽनुबन्धरहितानां ग्रहणे—इत्यर्थः ॥

४. ऋ० ९ । ११ । २ ॥ ४ । २ । ७ । इत्यादिषु बहुषु स्थलेषु ॥

५. ऋ० १ । ७३ । १० ॥ २ । ३० । ११ ॥ ३ । २७ । ११ ॥ ६ । २ । ३ ॥

६. अघायवः—यजु० ४ । ३४ ॥ ११ । ७९ ॥ (ख) यत्तु गीतायाम्—"अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति" । ३ । १६ ॥ छन्दोवत् कवयः कुर्वन्तीत्यनुसृत्यैव तदिति वेदितव्यम् ॥

७. मा० सू० १२९२ ॥

आत्, ऋ, गम, हन, जन इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु छन्दसि = वेदविषये ईक-किनौ प्रत्ययौ भवतः, 'लिट् च' किकिनौ [च] लिड्वद्भवतः। लिड्वदिति कार्य्यातिदेशः। लिटि यानि द्वित्वादीनि कार्य्याणि, [तानि] यथा स्युः ॥

पपिः[1] सोमम् । ददिः[2] गाः ॥ ऋ—मित्रावरुणौ ततुरिः[3] । दूरे ह्यध्वा जगुरिः[3] । अत्र तृ-गृभ्यां किकिनौ, लिड्वत्त्वाद् द्विर्वचनं 'बहुलं छन्दसि'[4] इत्युत्वम् ॥ गम—जग्मिः[5] ॥ हन—जघ्निः[6] ॥ जन—जज्ञिः[6] ॥

लिड्वत्करणेन 'असंयोगाल्लिट् कित्'[7] इति किकिनौ किद्वद्भविष्यतः, पुनः किकिनोः कित्करणस्यैतत्प्रयोजनम्—'ऋच्छत्यृताम्'[8] इति प्रतिषेधविषये गुणः प्रारभ्यते स यथा तेरतुः तेरुरित्यत्र भवत्येवं ततुरिर्जगुरिरित्यत्रापि प्राप्नोति । एवमर्थं किकिनोः कित्करणम् । नित्करणञ्च स्वरार्थम् ॥

वा०—उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्[9] ॥ १ ॥

कि-किनौ प्रत्ययौ छन्दसि वेदे सामान्यधातुभ्यो वक्तव्यौ । किं कारणम् ? सदादिधातुभ्यो वेदेषु किकिनौ दृश्येते ॥

सेदिः[10] । मेनिः[11] । रेमिः[6] । नेमिश्चक्रमिवाभवत्[12] । विविचिः[13] रत्नधातमम् ॥

वा०—भाषायां धाञ्कृसृजनिनमिभ्यः[14] ॥ २ ॥

भाषायां लौकिकशब्दविषये धात्रादिभ्यः किकिनौ भवतः। दधिः । चक्रिः । सस्रिः । जज्ञिः । नेमिः ॥ २ ॥

वा०—सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ[15] ॥ ३ ॥

---

१ ऋ०—६ । २३ । ४ ॥ २. रतुगलभ्यमूर्जभिदम् ॥
३. ऋ० १० । १०८ । १ ॥ ४. अ० ७ । १ । १०३ ॥
५. ऋ० ७ । २० । १ ॥ ६ ऋ० ९ । ६१ । २० ॥
७. अ० १ । २ । ५ ॥ ८. अ० ७ । ४ । ११ ॥
९. अ० ३ । २ । १७१ भा० ॥ (ख) अ० वा० १२९३ ॥
१०. ऋ०—७ । ३ । १ । २३ ॥ तै० आ०—४ । २२ । १, २३ । १ ॥
११. अथ० २ । ११ । १ ॥ ६ । ३ । ९ ॥ एवं बहुत्रापि ॥
१२. ऋ० २ । ५ । ३ ॥ १३. ऋ० ५ । ८ । ३ ॥
१४. अ० ३ । २ । १७१ भा० ॥ भा० वा०—१२९४ ॥
१५ अ० ३ । २ । १७१ भा० ॥ (ख) अ० वा० १२९५ ॥

वृषा सहमान सासहिः[1] । वावहिः[2] । चाचलिः[3] । पापतिः[3] । इदं तृतीय वार्त्तिकं वेदविषयमेव ॥ १७१ ॥

यहां 'आत्' ग्रहण से आकारान्त तथा 'ऋ' ग्रहण से ऋवर्णान्तों का ग्रहण है ॥

[आदृ० जनः] आत्, ऋ, गम, हन, जन इन धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में छन्दसि अर्थात् वैदिकविषय में [किकिनौ] 'कि' तथा 'किन्' प्रत्यय होते हैं [लिट् च] और कि, किन् प्रत्ययों को लिड्वत् होता है ॥ 'लिट् च' इस पद से लिड्वत् कार्य्यातिदेश कहा है । अर्थात् लिट् परे जो द्वित्वादि कार्य्य होते हैं वे इन से भी हो जाते ॥

जैसे—पपिः सोमम् । ददिर्गाः ॥ ऋ—मित्रावरुणौ ततुरिः । दूरे ह्यध्वा जगुरिः । यहां 'तॄ' तथा 'गॄ' धातु से, 'कि-किन्' प्रत्यय तथा इन के लिड्वत् होने से द्विर्वचन हो जाता है । 'बहुलं छन्दसि' से उत्व हो जाता है ॥ गम-जग्मिः ॥ हन-जघ्निः ॥ जन-जज्ञिः ॥ लिड्वत् करने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' सूत्र से किद्वत् हो जाते, पुनः कि-किन् प्रत्ययों को कित् करने का यह प्रयोजन है कि—'ऋच्छत्यृताम्' यह सूत्र प्रतिषेध विषय में गुण का विधायक है, वह जिस प्रकार तेरतुः । तेरुः में गुण कर देता है इसी प्रकार ततुरिः । जगुरिः में भी प्राप्त था सो न हो जावे इसलिये 'कि-किन्' को कित् किया ॥

वा०—उत्सर्गश्छन्दसि सदा०—छन्द अर्थात् वैदिकविषय में धातुमात्र से सामान्यतया 'कि-किन्' प्रत्यय होते हैं ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि सदादि धातुओं से वेदविषय में कि-किन् देखे जाते हैं ॥

जैसे—सेदिः । नेमिः । रेमिः । नेमिश्चक्रमिवाऽभवत् । विविचि रत्नधातमम् ॥१॥

वा०—भाषायां धाञ्कृ०—भाषायां अर्थात् लौकिकशब्दविषय में धाञादि धातुओं से 'कि-किन्' हो जाते हैं ॥

जैसे—दधिः । चक्रिः । सस्त्रिः । जज्ञिः । नेमिः ॥ २ ॥

वा०—सहिवहि०—सहि, वहि, चलि, पति इन यङन्त धातुओं से 'कि-किन्' प्रत्यय होते हैं ऐसा कहना चाहिये ॥

जैसे—वृषा सहमान सासहिः । वावहिः । चाचलिः । पापतिः ॥ यह तृतीय वार्त्तिक वेदविषय में ही है ॥ ३ ॥ १७१ ॥

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥ १७२ ॥

स्वपितृषोः । ६ । २ । नजिङ् । १ । १ ॥

स्वपि-तृषिभ्यां धातुभ्यां तच्छीलादिषु 'नजिङ्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. परन्तु—येना समत्सु सासहिः ॥ (सा० उ० प्र० ७ । अ० प्र० २ । १० । २) इत्येवमन्यत्रापि (ऋ० ६ । ६ । ३ । ६) ॥

२. सप्त पश्यन्ति वावहिः ॥ (ऋ० ९ । ९ । ६) ॥

३. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ ४. अ० सू० १२९६ ॥

स्वप्नक् । तृष्णक् । ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः । ङकारो जकाररक्षणार्थश्च ॥ १७२ ॥

[स्वपितृषोः] 'स्वपि' तथा 'तृष' धातु से तच्छीलादि अर्थों में [नजिङ्] 'नजिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्वप्नक् । तृष्णक् ॥

ङकार गुण वृद्धि के निवारणार्थ तथा 'इकार' जकार की रक्षा के लिये है ॥ १७२ ॥

शृवन्द्योरारुः[1] ॥ १७३ ॥

शृवन्द्योः । ६ । २ । आरुः । १ । १ ॥

शृवन्दिभ्यां धातुभ्यां 'आरुः' प्रत्ययो भवति तच्छीलाद्यर्थेषु ॥

शॄ हिंसायाम्[2] शरारुः । वदिअभिवादनस्तुत्योः[3] । वन्दारुः ॥ १७३ ॥

[शृवन्द्योः] 'शृ' तथा 'वन्दि' धातु से तच्छीलादि अर्थों में [आरुः] 'आरुः' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—शरारुः—इसमें 'शॄ हिंसायाम्' धातु है । वन्दारुः में—'वदि अभिवादनस्तुत्योः' धातु है ॥ १७३ ॥

भियः क्रुक्लुकनौ[4] ॥ १७४ ॥

भियः । ५ । १ । क्रुक्लुकनौ । १ । २ ॥

'ञिभी भये'[5] इत्यस्माद् धातोस्तच्छीलादिषु क्रु-क्लुकनौ प्रत्ययौ भवतः ॥

भीरुः । भीलुकः ॥

१—वा०—क्रुकन्नपि वक्तव्यः[6] ॥

भीरुकः । कित्करणं त्रिष्वपि प्रत्ययेषु गुणप्रतिषेधार्थम् ॥ १७४ ॥

[भियः] 'ञिभी भये' इस धातु से तच्छीलादि अर्थों में [क्रुक्लुकनौ] 'क्रुक्लुकन्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—भीरुः । भीलुकः ॥

१—वा० —क्रुकन्नपि०—'ञिभी' धातु से 'क्रुकन्' प्रत्यय भी कहना चाहिये ॥ जैसे—भीरुकः ॥ तीनों प्रत्ययों में कित्करण गुण के प्रतिषेध के लिये है ॥

१. भा० सू० १२९७ ॥ २. धा० क्र्या० १६ ॥
३. धा० भ्वा० ११ ॥ ४. भा० सू० १२९८ ॥
५. धा० जुहो० २ ॥
६. अ० ३ । २ । १७४ भा० ॥ (ख) भा० वा० १२९९ ॥

स्थेशभासपिसकसो वरच्[1] ॥ १७५ ॥

स्थेश० कसः । ५ । १ । वरच् । १ । १ ॥

स्था, ईश, भास, पिस, कस इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'वरच्' प्रत्ययो भवति तच्छीलादिष्वर्थेषु ॥

स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । विकस्वरः ॥ १७५ ॥

[स्थे० कसः] स्था, ईश, भास, पिस, कस इन धातुओं से तच्छीलादियों में [वरच्] 'वरच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । विकस्वरः ॥ १७५ ॥

यश्च यङः[2] ॥ १७६ ॥

यः । ५ । १ । च । [अ०] । यङः । ५ । १ ॥ वरच् इत्यनुवर्त्तते ॥

'या प्रापणे'[3] यङन्ताद् 'या' धातोस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'वरच्' प्रत्ययो भवति ॥ यायावरः ॥ १७६ ॥

यहां 'वरच्' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ [यङः] यङन्त [यः] 'या प्रापणे' धातु से तच्छीलादि कर्त्ता हो तो 'वरच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यायावरः ॥ १७६ ॥

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः[4] क्विप् ॥ १७७ ॥

भ्राज:० स्तुवः । ५ । १ । क्विप् । १ । १ ॥

भ्राज, भास, धुर्वि, द्युत, ऊर्जि, पॄ, जु, ग्रावस्तु इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'क्विप्' प्रत्ययो भवति ॥

[भ्राज]—विभ्राट् । विभ्राजौ । 'व्रश्चभ्रस्ज०'[5] इति पदान्ते षत्वम् ॥ [भास] भाः । भासौ । भासः ॥ [धुर्वि]—धूः । धुरौ । धुरः ॥ [द्युत]—विद्युत् । विद्युतौ ॥ [ऊर्जि] ऊर्क् । ऊर्जौ ॥ [पॄ]—पूः । पुरौ ॥ अत्र 'उदोष्ठ्य-पूर्वस्य'[6] इत्युत्वम् ॥ [जु]—जूः । [जुवौ] । जुवः ॥ अत्र वार्त्तिकेन दीर्घत्वम् [ग्रावस्तु]—ग्रावस्तुत् । ग्रावस्तुतौ ॥

'क्विप् च'[7] इति सूत्रेण सिद्ध एव 'क्विप्', पुनर्विधानस्यैतत् प्रयोजनम्—तच्छीलादिष्वर्थेषु वासरूपेण तृजादयो न भवन्ति । 'क्विप् च'[7] इति विहितः क्विबपि

---

१. आ० सू० १३०० ॥
२. आ० सू० १३०१ ॥
३. धा० अदा० ३९ ॥
४. आ० सू० १३०२ ॥
५. अ० ८ । २ । ३६ ॥
६. अ० ७ । १ । १०२ ॥
७. अ० ३ । २ । ७६ ॥

तृजादिस्तस्य सामान्यविहितस्य विशेषविहितस्तच्छीलादिष्वर्थेषु 'तृन्' बाधकः स्यात्, इष्यते च भ्राजादिभ्योऽपि तच्छीलादिष्वर्थेषु 'क्विप्' स्यात्तत्पुनर्विधानमन्तरा न प्राप्नोतीति प्रयोजनम् ॥ १७७ ॥

[भ्राज० स्तुवः] भ्राज, भास, धुर्वि, द्युत, ऊर्जि, पॄ, जु, ग्रावस्तु इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता में [क्विप्] 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—भ्राज—विभ्राट्, विभ्राजौ । 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादि सूत्र से पदान्त में षत्व हो जाता है ॥ भास्—भाः, भासौ, भासः ॥ धुर्वि—धूः, धुरौ, धुरः ॥ द्युत—विद्युत्, विद्युतौ ॥ ऊर्जि—ऊर्क् ऊर्जौ । पॄ—पूः, पुरौ । यहां 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से उत्व हो जाता है ॥ जु—जूः, जुवौ, जुवः । यहां वार्त्तिक से दीर्घ होता है ॥ ग्रावस्तु—ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ ॥ इन में 'क्विप् च' सूत्र से 'क्विप्' सिद्ध ही था पुनः 'क्विप्' विधान करने का यह प्रयोजन है कि—तच्छीलादि में वासरूपविधि से तृजादि नहीं होते हैं। 'क्विप् च' सूत्र से विहित क्विप् भी तृजादि है अतः उसका तच्छीलादि अर्थों में विशेष विहित 'तृन्' बाधक हो जाता परन्तु इष्ट यह है कि—भ्राजादि धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में 'क्विप्' हो, वह विधान किये विना प्राप्त नहीं होता ॥ १७७ ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते[1] ॥ १७८ ॥

क्विबनुवर्त्तते ॥ अन्येभ्यः । ५ । ३ । अपि । [अ०] । दृश्यते । [क्रियापदम्] ॥

अन्येभ्योऽपि धातुभ्यस्तच्छीलाद्यर्थेषु 'क्विप्' प्रत्ययो दृश्यते ॥

पचतीति पक् । पचनशील इत्यर्थः । भिनत्तीति भित् । छित् ॥

वा०—वचिप्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घश्च[2] ॥ १ ॥

वचि, प्रच्छि, आयतपूर्वक-स्तु, कटपूर्वक-प्रु, जु, श्री इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु 'क्विप्' तस्मिन् परत एषां दीर्घत्वञ्च भवति ॥

वाक् । प्राट् । अत्र दीर्घवचनसामर्थ्यात् सम्प्रसारणं न भवति ॥ आयतस्तूः । कटप्रूः । जूः । भ्राजादिसूत्रे 'जु' धातोः 'क्विप्' विधीयते तस्यैव दीर्घार्थमत्र ग्रहणम् । [श्रीः] ॥ १ ॥

वा०—द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च[3] ॥ २ ॥

चकाराद्दीर्घत्वञ्चानुवर्त्तते । तज्जुहोतिना[4] सम्बध्यते । द्युतिगमिजुहोतिभ्यः 'क्विप्' एतेषां द्विर्वचनं जुहोतेर्दीर्घश्च । दिद्युत् । जगत् । जुहूः ॥ २ ॥

---

१. आ० सू० १३०३ ॥

२. अ० ३ । २ । १७८ भा० ॥ (ख) आ० वा० १३०४ ॥

३. अ० ३ । २ । १७८ भा० ॥ (ख) आ० वा० १३०५ ॥

४. दीर्घत्वविधानात् 'अचश्च' (अ० । १ । २ । २८) इति परिभाषया उपस्थितादजन्तस्य धातोरित्यर्थे दीर्घग्रहणं जुहोतेरेव सम्बध्यते, द्युतिगम्योरनजन्तत्वात् ॥ (ख) आ० वा० १३०६ ॥

वा०—दृणातेर्ह्रस्वश्च द्वे च क्विप् चेति वक्तव्यम्[1] ॥ ३ ॥ दद्दत् । ह्रस्वत्वे कृते 'तुक्' ।

भा०—जुहूः जुहोतेर्ह्वयतेर्वा, दद्दत्—दृणातेर्दीर्यतेर्वा । जूः—ज्वरते-र्जीर्यतेर्वा ॥

वा०—ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च[2] ॥ ४ ॥ धीर्ध्यायतेर्दधातेर्वा ॥ १७८ ॥

यहां 'क्विप्' पद का अनुवर्त्तन है । [अन्येभ्योऽपि] और धातुओं से भी तच्छीलादि अर्थों में 'क्विप्' प्रत्यय [दृश्यते] देखा जाता है ॥ जैसे पचतीति पक् अर्थात् पचन स्वभाव वाला ॥ भिनत्तीति भिन् । छिन् ॥

वा०—वचिप्रच्छ्या०—वचि, प्रच्छि, आयतपूर्वक स्तु, कटपूर्वक प्रु, जु, श्री, इन धातुओं से तच्छीलादि में 'क्विप्' होता है ॥ तथा क्विप् परे इन को दीर्घत्व भी हो जाता है ॥

जैसे—वाक् । प्राट् । यहां दीर्घवचनसामर्थ्य से सम्प्रसारण नहीं होता ॥ आयतस्तूः । कटप्रूः । जूः । भ्राजादि सूत्र में 'जु' धातु से 'क्विप्' विधान किया है उसी को दीर्घ विधान करने के लिये यहां पढ़ा है ॥ १ ॥

वा०—द्युतिगमि०—यहां वार्त्तिक में चकार से 'दीर्घत्व' का अनुवर्त्तन है । और वह दीर्घ जुहोति के साथ सम्बन्धित हो जाता है । जैसे—द्युति, गमि, जुहोति इन से 'क्विप्' होता है और उनको द्विर्वचन होता है तथा जुहोति को दीर्घत्व भी हो जाता है ॥ जैसे—दिद्युत् । जगत् । जुहूः ॥ २ ॥

वा०—दृणातेर्ह्रस्व०—दृणाति से 'क्विप्' और ह्रस्वत्व तथा द्विर्वचन कहना चाहिये ॥ जैसे—दद्दत् ॥ ह्रस्व करने से 'तुक्' हो जाता है ॥ ३ ॥

[भा०] जुहूः जुहोति तथा ह्वयति दोनों से सिद्ध है । दद्दत् दृणाति तथा दीर्यति से तथा 'जूः'—ज्वरति तथा जीर्यति से सिद्ध है ॥

वा० ध्यायते सम्प्रसारणञ्च—धीः । इसमें—ध्यायति तथा दधाति का ग्रहण है ॥ १७८ ॥

भुवः संज्ञान्तरयोः[1] ॥ १७९ ॥

'क्विप्' अनुवर्त्तते । भुवः । ५ । १ । संज्ञान्तरयोः । ७ । २ ॥

'भू' धातोस्तच्छीलादिषु संज्ञान्तरयोः क्विप् प्रत्ययो भवति ॥

संज्ञायाम्—विभूः । स्वयम्भूः । अन्तरे—प्रतिभूः[4] ॥ इह पर्यन्त तच्छीला-धिकारोऽनुवर्त्तते ॥ १७९ ॥

यहां 'क्विप्' पद की अनुवृत्ति है [भुवः] 'भू' धातु से तच्छीलादि अर्थों में [संज्ञा-न्तरयोः] 'संज्ञा' तथा 'अन्तर' गम्यमान हो तो 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥

१. भा० वा० १३०७ ॥

२. अ० ३ । २ । १७८ भा० ॥ भा० वा० १३०८ ॥

३. भा० सू० १३०९ ॥

४. "धनिकाधमर्णयोरन्तरे यस्तिष्ठति स प्रतिभूरुच्यते" इति वृत्तिः ॥

जैसे—संज्ञा में विभूः। स्वयम्भूः॥ मन्त्र में—प्रतिभूः। इस सूत्र तक नन्द्यादि का अधिकार है, आगे नहीं॥ १७९॥

विप्रसम्भ्यो ड्वसंज्ञायाम्[1] ॥ १८० ॥

'भुव' इत्यनुवर्त्तते, 'क्विप्' निवृत्तः॥ विप्रसम्भ्यः। ५। ३। डु। १। १। असंज्ञायाम्। ७। १॥

वि, प्र, सम् इत्युपसर्गत्रयपूर्वाद् 'भू' धातो 'डु' प्रत्ययो भवति [असंज्ञायां गम्यमानायाम्]॥

विभुः। प्रभुः। सम्भुः। डित्करणेनात्र टिलोपः॥

वा०—डु प्रकरणे *मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानं धातुविधितुक् प्रतिषेधार्थम्*[2]॥

मितं द्रवतीति मितद्रुः। शतद्रुः। शम्भुः। धातुविधिर्धातोर्विहितानि कार्याणि मितद्र्वादीनां मा भूवन्। मितद्रव इत्युवङ् मा भून्। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[3] इति क्विपि 'तुक्' प्राप्नोति स मा भून्॥ १८०॥

यहां 'भुवः' इस पद का अनुवर्त्तन है। तथा 'क्विप्' का निवर्त्तन हुआ॥

[विप्रसम्भ्यः] वि, प्र, सम् ये तीन उपसर्ग हों तो 'भू' धातु से [असंज्ञायाम्] असंज्ञा गम्यमान हो तो [डु] 'डु' प्रत्यय होता है॥ जैसे—विभुः। प्रभुः। सम्भुः। डित् करने से यहां टिलोप हो जाता है॥

वा०—डुप्रकरणे मित०—डु-प्रकरण में 'मितद्रु' आदि का उपसंख्यान करना चाहिये धातुविधि तथा 'तुक्' प्रतिषेध के लिये॥ जैसे—मितं द्रवतीति मितद्रुः। शतद्रुः। शम्भुः। 'धातुविधि' का प्रतिषेध इसलिये कहा है कि—धातु से विहित कार्य्य मितद्रु आदि को न हों॥ जैसे—मितद्रवः में 'उवङ्' नहीं हुआ॥ 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् प्राप्त था सो न होवे॥ १८०॥

धः कर्मणि ष्ट्रन्[4] ॥ १८१ ॥

धः। ५। १। कर्मणि। ७। १। ष्ट्रन्। १। १॥ ध इति 'धेट्' निर्दिश्यते 'डुधाञ्' वा॥ 'धा' धातोः कर्मणि कारके 'ष्ट्रन्' प्रत्ययो भवति॥

धयति दधाति वा यां सा धात्री स्तनदायिनी माता। षित्करणं ङीषर्थम्॥१८१॥

'ध' इस पद से 'धेट्' या 'डुधाञ्' का निर्देश है॥ [धः] 'धा' धातु से [कर्मणि] कर्मकारक में [ष्ट्रन्] 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—धयति-दधाति वा यां सा धात्री। स्तन देने वाली माता धात्री (धायी) कहाती है। 'ष्ट्रन्' में षित् करण 'ङीष्' के लिये है॥ १८१॥

---

१. आ० सू० १३१०॥

२. अ० ३। २। १८० भा०॥ (ख) आ० वा० १३११॥

३. अ० ६। १। ७१॥ ४. आ० सू० १३१२॥

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे[1] ॥ १८२ ॥

दाम्नी० नहः । ५ । १ ॥ करणे । ७ । १ ॥ ष्ट्रनित्यनुवर्त्तते ॥

दाप्, नी, शसु, यु, युज, स्तु, तुद, सि, सिच, मिह, पत, दश, नह इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणकारके 'ष्ट्रन्' प्रत्ययो भवति ॥

दान्ति लुनन्त्यनेन दात्रम् । नयन्ति प्राप्नुवन्ति कार्य्याण्यनेन नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्तृम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दश इति भ्वादिस्थस्य दश-धातोर्ग्रहणाय 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि'[2] इति शब्विषयेऽनुनासिकलोपो भवति । अन्यथा—यङ्लुगन्तस्य [अपि] ग्रहणं स्यात् । 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति'[3] इत्यत्रानुनासिकलोपविषये महाभाष्ये व्याख्यातम् । दशन्त्यनया दंष्ट्रा—अत्र ष्ट्रनः षित्वात् ङीषि प्राप्तेऽजादिपाठाट्टाप्[4] ॥

नह्यन्ति बध्नन्त्यनेन नद्ध्रं पाशम् । 'नहो धः'[5] इति झलि परतो हकारस्य धकारादेशः ॥ १८२ ॥

यहां 'ष्ट्रन्' पद का अनुवर्तन है ॥ [दाम्नी० नहः] दाप्, नी, शसु, यु, युज, स्तु, तुद, सि, सिच, मिह, पत, दश, नह इन धातुओं से [करणे] करणकारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—दान्ति लुनन्त्यनेन दात्रम् । नयन्ति प्राप्नुवन्ति कार्य्याण्यनेन नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । इसमें 'दश' पद से भ्वादिगणवाली 'दश' धातु का ग्रहण करने के लिये 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इस सूत्र से शप् विषय में अनुनासिक का लोप किया है । अन्यथा यङ्लुगन्त का भी ग्रहण हो जाता । यह बात महाभाष्य में 'अनिदितां हल०' इस सूत्र में अनुनासिक के लोपविषय में व्याख्यात है । दशन्त्यनया दंष्ट्रा । यहां 'ष्ट्रन्' के षित् होने से ङीष् की प्राप्ति थी परन्तु अजादि गण में पाठ होने से 'टाप्' हो जाता है ॥ नह्यन्ति बध्नन्त्यनेन नद्ध्रं पाशम् । 'नहो धः' से झल् परे रहते हकार को 'धकार' आदेश हो जाता है ॥ १८२ ॥

हलसूकरयोः पुवः[6] ॥ १८३ ॥

हलसूकरयो । ७ । २ । पुवः । ५ । १ ॥ करण इति हलसूकराभ्यां सह सम्बध्यते । 'पू' धातोर्हलसूकरकरणकारकयोः 'ष्ट्रन्' प्रत्ययो भवति ॥

पोत्रं हलम् । पोत्रः सूकरः । ष्ट्रनः षित्वात् 'पोत्री' सूकरी इति ङीषपि सिद्धो भवति ॥ १८३ ॥

---

१. आ० सू० १३१३ ॥
२. अ० ६ । ४ । २५ ॥
३. अ० ६ । ४ । २४ ॥
४. अ० ४ । १ । ४ ॥
५. अ० ८ । २ । ३४ ॥
६. आ० सू० १३१४ ॥

यहां 'करणे' पद का 'हल' तथा 'सूकर' शब्द के साथ सम्बन्ध है ॥ [पुवः] 'पू' धातु से [हलसूकरयोः] हल तथा सूकर करणकारक हों तो 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—पोत्रम् । हलम् । पोत्रः सूकरः । 'ष्ट्रन्' के षित् होने से 'पोत्री सूकरी' इसमें 'ङीष्' भी सिद्ध हो जाता है ॥ १८३ ॥

अर्त्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः[1] ॥ १८४ ॥

'करणे' इत्यनुवर्त्तते । अर्त्ति० चरः । ५ । १ । इत्रः । १ । १ ॥ अर्त्ति, लू, धू, सू, खन, सह, चर इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणकारके 'इत्रः' प्रत्ययो भवति ॥

अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम्[2] । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् । 'तितुत्र०[3]' इति 'इट्' प्रतिषिध्यते तदर्थं वचनम् ॥ १८४ ॥

यहां 'करणे' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ [अर्त्ति चरः०] अर्त्ति, लू, धू, सू, खन, सह, चर इन धातुओं से करणकारक में [इत्रः] 'इत्र' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ॥ 'तितुत्र०' इत्यादि से 'इट्' का निषेध होता है अतः 'इत्र' विधान के लिए सूत्र है ॥ १८४ ॥

पुवः संज्ञायाम्[4] ॥ १८५ ॥

पुवः । ५ । १ । संज्ञायाम् । ७ । १ ॥ संज्ञायां गम्यमानायां 'पू' धातोः करणकारके 'इत्र' प्रत्ययो भवति ॥ पवित्रं दर्भः । पवित्रे प्राणापानौ ॥ १८५ ॥

[संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो तो [पुवः] 'पू' धातु से करणकारक में 'इत्र' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पवित्रं दर्भः । पवित्रे प्राणापानौ ॥ १८५ ॥

कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः[5] ॥ १८६ ॥

करणे, पुव इत्यनुवर्त्तते । कर्त्तरि । ७ । १ । च । [अ०] । ऋषिदेवतयोः । ७ । २ ॥

'पू' धातोर्ऋषौ करणे देवतायाञ्च कर्त्तरि 'इत्र' प्रत्ययो भवति ॥

पूयतेऽनेन पवित्रोऽयमृषिः । देवताया कर्त्तरि -अग्निः पवित्रमुच्यते[6] । वायुः पवित्रमुच्यते[6] । इन्द्रः पवित्रमुच्यते[6] ॥ १८६ ॥

---

१. आ० सू० १३१५ ॥

२. आतिदेशिकस्य कुटादिङित्त्वस्यानित्यत्वादत्र गुणः । अयमर्थश्चैतच्च विस्तरेणास्माभिः 'विवि मिविधिवेः कुरण्' (अ० ३ । २ । १६२) इत्यत्र ॥

३. अ० ७ । २ । ९ ॥

४. आ० सू० १३१६ ॥

५. आ० सू० १३१७ ॥

६. निरुक्त ५ । ६ ॥

यहां 'करण' तथा 'पुव' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ 'पू'धातु से [कर्त्तरि च ऋषि-देवतयोः] ऋषि करण हो तथा देवता कर्त्ता हो तो 'इत्र' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पूयतेऽनेन इति पवित्रोऽयमृषि.। देवता से कर्त्ता में अग्नि पवित्रमुच्यते। वायु. पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते ॥ १८६ ॥

ञीतः क्तः[1] ॥ १८७ ॥

ञीतः। ५। १। क्तः। १। १ ॥ सामान्यधातुभ्यो भूते निष्ठा विहिता वर्त्तमानार्थोऽयमारम्भः ॥

ञि इद्यस्य स ञीत्, तस्मात्, ञीतो धातोर्वर्त्तमाने 'क्तः' प्रत्ययो भवति। **ञिमिदा स्नेहने[2]**—मिन्नः। **ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः। ञिधृषा—धृष्टः।** निष्ठासंज्ञाऽस्यापि भवति तेन 'मिन्नः' इत्यादिषु नत्वं सिद्धं भवति ॥ १८७ ॥

धातुमात्र से भूतकाल में निष्ठा कहा है, यह सूत्र वर्त्तमानकाल में विधान करने के लिये है ॥

[ञीतः] ञि-इत् धातु से वर्त्तमानकाल में [क्तः] 'क्त' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—ञिमिदा स्नेहने-मिन्नः। ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः। ञिधृषा—धृष्टः ॥ इस 'क्त' की भी निष्ठा संज्ञा होती है, इस कारण 'मिन्न' इत्यादि में 'नत्व' सिद्ध हो जाता है ॥ १८७ ॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च[3] ॥ १८८ ॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः। ५। ३। च। [अ०]। चकारोऽत्र समाप्त्यर्थ, पादसमाप्तिं द्योतयति। मति, बुद्धि, पूजा इति अर्थोऽर्था येषां तेभ्यो धातुभ्यो वर्त्तमानकाले 'क्तः' प्रत्ययो भवति ॥

मत्यर्थेभ्यः—राज्ञा मतः। राज्ञामिष्टः ॥ बुद्ध्यर्थेभ्यः—राज्ञां बुद्धः। राज्ञां ज्ञातः ॥ पूजार्थेभ्यः—राज्ञा पूजितः। राज्ञामर्चितः ॥ **'क्तस्य च वर्त्तमाने[4]'** इति षष्ठी। **'क्तेन च पूजायाम्[5]'** इति षष्ठीसमासनिषेधश्च ॥

का०—**शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि।**
रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि ॥ १ ॥
हृष्टतुष्टौ तथा कान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत्स्मृताः[6] ॥ २ ॥

---

१. आ० सू० १२२१ ॥
२. धा० क्या०—१३४ ॥
३. आ० सू० १२२२ ॥
४. अ० २। ३। ६७ ॥
५. अ० २। २। १२ ॥
६. अ० ३। २। १८८ भा० ॥

सूत्रेणाऽसिद्धानां शब्दानां परिगणनं क्रियते । शीलितः । रक्षितः । क्षान्तः । आक्रुष्टः । जुष्टः । रुष्टः । रुषितः । 'तीषसह॰'[1] इति वा-इट् ।। अभिव्याहृतः हृष्टः । तुष्टः । कान्तः । संयतः । उद्यतः । इत्येते शब्दा वर्त्तमानकाले क्त-प्रत्ययान्ताः सिद्ध्यन्ति । कष्टमिति 'कष'धातोर्भविष्यति काले 'क्त' इति वदन्ति । अमृत-शब्दे पूर्ववत् वर्त्तमाने 'क्त' प्रत्ययः ।। १८८ ।।

॥ इति तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

यहां 'चकार' समाप्ति के अर्थ में है अर्थात् पाद समाप्त हुआ ऐसा दर्शाता है ।।

[मति॰ र्थेभ्यः] मति, बुद्धि, पूजा, ये तीन अर्थ हैं जिन धातुओं के उनसे वर्त्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—मत्यर्थ—राज्ञां मतः । राज्ञामिष्टः ।। बुद्ध्यर्थ—राज्ञां बुद्धः । राज्ञां ज्ञातः ।। पूजार्थ—राज्ञां पूजितः । राज्ञामर्चितः ।। यहां सर्वत्र 'क्तस्य च वर्त्तमाने' से षष्ठी होती है । 'क्तेन च पूजायाम्' से षष्ठी समास का निषेध हो जाता है ।।

का॰—शीलितो रक्षितः॰—जो शब्द सूत्र में सिद्ध नहीं होते उनका परिगणन इन दो कारिकाओं द्वारा किया है ।। जैसे—शीलितः । रक्षितः । क्षान्तः । आक्रुष्टः । जुष्टः । रुष्टः । रुषितः । इसमें 'तीषसह॰' इत्यादि से विकल्प से 'इट्' होता है ।। अभिव्याहृतः । हृष्टः । तुष्टः । कान्तः । संयतः । उद्यतः । ये शब्द क्तप्रत्ययान्त वर्त्तमान काल में सिद्ध होते हैं । कष्टम्—इस में 'कष' धातु से भविष्यत् काल में 'क्त' प्रत्यय है । अमृत—शब्द में पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है ।। १८८ ।।

[तीसरे अध्याय का द्वितीयपाद समाप्त हुआ]

---

[1] अ॰ ७ । २ । ४८ ।।

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

उणादयो बहुलम्[1] ॥ १ ॥

उणादयः । १ । ३ । बहुलम् । १ । १ ॥ वर्त्तमान इत्यनुवर्त्तते ॥

उणादयः प्रत्यया वर्त्तमानकाले धातुभ्यो बहुलं भवन्ति ॥

का०—बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥ १ ॥

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ २ ॥

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्य्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु[2] ॥ ३ ॥

आभिः कारिकाभिर्बहुलप्रयोजनमुच्यते—तन्वीभ्योऽल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते, तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यो भवन्ति । यथा—'हृषेरुलच्[3]' इति 'हृष' धातोः उलच्' विधीयते शकि-धातोरपि भवति—शङ्कुला । तथा त उणादयः प्रत्यया अपि न समुच्चिता एकीकृताः किन्तु प्रायेण लघुत्वेन प्रत्यय-विधानमुणादौ कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिताः प्रत्यया भवन्ति । यथा - ऋ-धातोः फिडफिड्डौ[4] भवतः, ऋफिडः । ऋफिड्डः ॥ एवमुणादिषु कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि, अष्टाध्याय्यां यानि कार्य्याणि सूत्रैर्विधीयन्ते तान्युणादौ सर्वाणि न भवन्ति, किन्तु सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति, यथा 'दण्ड[5]' इत्यत्र प्रत्यया-

---

१ आ० सू० १३१८ ॥ (ख) सूत्रमिदमुणादिसूत्रभूमिकायामृग्वेदादिभाष्यभूमिकायां [व्याकरणविषये] च भगवत्पादैः सुव्याख्यातम् ॥

(ग) उणादिसूत्राण्याचार्यपादैः स्वयमपि विवृतानि । तानि च ग्रन्थरूपेण पृथङ् मुद्रिताण्यु-पलभ्यन्त इति नात्र मुद्र्यन्ते ॥

२. अ० ३ । ३ । १ भा० ॥ ३. उणा० १ । ९६ ॥

४ अत्र भाष्यम्—"अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिडः, लृफिड्ड इति । एषोऽपि ऋफिडः, ऋफिड्डश्च । कथम् ? अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते । फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ" (ऋलृक् सूत्रे)

५. उणा० १ । ११४ ॥

देइंकारस्येत्संज्ञा[1] प्राप्ता सा न भवति । 'षण्ढ'[2] इत्यत्राप्राप्तं षत्वं भवति । **तदुक्त**मेतदर्थं बहुलमित्युक्तम् ॥ इद पूर्वोक्तं त्रिविधं कार्य्यमुणादौ किमर्थं क्रियत इत्युच्यते—**'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु'** नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुसाधु शोभनाः साधवो यथा स्युः । एव कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति ॥ १ ॥

(नाम च०) **नाम** संज्ञाशब्दान् **निरुक्ते**[3] निरुक्तकारा धातुजान् यौगिका-नाहुर्वदन्ति । **व्याकरणे** वैयाकरणेषु **शकटस्य तोक**मपत्यं शाकटायनस्यैकस्य ऋषेर्मतं संज्ञाशब्दा यौगिका इति । अन्येषां मतेन तु संज्ञाशब्दा रूढय एव ॥ (यन्न०)—यद्विशेषात् पदार्थाश्च सम्यगुत्थितमर्थात् प्रकृति-प्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृति दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययञ्च दृष्ट्वा प्रकृतिः ॥ २ ॥

(संज्ञासु०)—प्रकृतिप्रत्यययोरूहनं क्व कर्त्तव्यमित्याह—**संज्ञासु** संज्ञाशब्देषु **धातु-रूपाणि** पूर्वमूह्यानि, ततस्तेभ्यः प्रकृतिभ्यः परे च प्रत्ययाः । तत्राऽनुबन्धकार्य्यं दृष्ट्वा प्रकृतिप्रत्यययोरनुबन्ध ऊह्यः । यथा—टित्कार्य्यं ङीप्[4] दृश्येत, टित्प्रत्यय ऊह्यः । शब्दा-नुशासनेऽस्मिन् ग्रन्थ उणादिष्वे[त]च्छास्त्रं शासितव्यमस्तीति । एवमर्थमस्मिन् सूत्रे बहुलग्रहणमस्तीति । अत एव बहुलार्था[5] बोध्याः ॥ ३ ॥ १ ॥

उणादि प्रत्यय वर्त्तमान काल में धातु से बहुल करके होते हैं ॥

कारिका—बाहुलकं प्रकृतेः·········हि सुसाधु ॥ १ ॥

नाम च धातुज·········तदूह्यम् ॥ २ ॥

संज्ञासु धातु·········मुणादिषु ॥ ३ ॥

इन कारिकाओं से बहुलग्रहण का प्रयोजन कहते हैं—उणादि प्रत्ययों का विधान थोड़े से धातुओं में ही किया है । परन्तु बहुलवचन से अविहित धातुओं से भी उणादि प्रत्यय देखे जाते हैं । यथा—'हृपेरुलच्' इस सूत्र में 'हृप' धातु से 'उलच्' प्रत्यय का विधान है परन्तु इस वचन से शकि धातु से भी 'उलच्' प्रत्यय होकर शङ्कुला शब्द सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रत्यय भी

---

१. अ० १ । ३ । ७ ॥

२. "शमेर्ढः" उणा० १ । ९७ (श्वेतवनवासिवृत्तौ) । अन्यत्र तु "शमेर्ढः" षण्ढ इति पाठ ॥

३ "तत्र नामानि सर्वाण्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" । निरु० १ । १२ ॥

४. "टिड्ढाणञ्०" (अ० ४ । १ । १५) इति ङीप् ॥

५ क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥ इति प्राञ्च ॥

थोड़े से संकेतमात्र ही पढ़े हैं इसीलिये बहुलवचन से अविहित प्रत्यय भी देखे जाते हैं। यथा— 'ऋफिड' और 'ऋफिड्ड' शब्दों में 'ऋ' धातु से 'फिड' और 'फिड्ड' प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार अन्य कार्यों का भी उणादि में पूर्णरूप से विधान नहीं किया गया है। इसलिये अष्टाध्यायी में विहित सब कार्य उणादि में नहीं होते, और अविहित कार्य हो भी जाते हैं। यथा 'दण्ड' इस शब्द में दम धातु से विहित ड प्रत्यय में 'चुटू' इस सूत्र से डकार की इत् संज्ञा नहीं होती। और 'षण्ढ' इस पद में अष्टाध्यायी से अप्राप्त षत्व बहुलवचन से हो जाता है इन सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिये सूत्रकार ने बहुल ग्रहण किया है।

उणादि में पूर्वोक्त त्रिविधकार्य का विधान क्यों किया है इसका प्रयोजन कहते हैं— **"नैगमरूढिभवं हि सुसाधु"** नैगम अर्थात् वैदिक और रूढि अर्थात् लौकिक संज्ञाशब्द जिससे भली प्रकार सिद्ध हो सकें। ऐसा किये विना ये शब्द भली प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते ॥ १ ॥

"नाम च धातुजम्" निरुक्तकार ने तथा वैयाकरणों में शकट ऋषि के पुत्र शाकटायन ने भी संज्ञावाची शब्दों को धातुज अर्थात् यौगिक कहा है। अन्य आचार्य संज्ञावाची शब्दों को रूढि अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं इसलिये जो पद प्रकृतिप्रत्यय के विधान से सिद्ध नहीं होते उन में प्रकृति को देखकर प्रत्यय की और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ २ ॥

प्रकृति और प्रत्ययों की कल्पना कहां करनी चाहिये इसके लिये लिखते हैं—"संज्ञासु ..." संज्ञाशब्दों में प्रकृति को देखकर उसके परे प्रत्यय की तथा प्रत्यय को देखकर उससे पूर्व धातु की कल्पना कर लेनी चाहिये। इसी प्रकार कार्य को देखकर प्रकृति और प्रत्यय में अनुबन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिये। यथा किसी पद में टित् कार्य ङीप् देखा जाता हो तो टित् प्रत्यय की कल्पना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

शब्दानुशासनरूप इस अष्टाध्यायी ग्रन्थ में उणादिसूत्रों में ऐसा विधान समझना चाहिये। इसीलिये इस सूत्र में बहुलग्रहण किया है। इसी से बहुल शब्द का अर्थ भी समझ लेना चाहिये ॥ १ ॥

यहां वर्त्तमान का अधिकार समाप्त हुआ ॥

भूतेऽपि दृश्यन्ते[1] ॥ २ ॥

'वर्त्तमाने' इति निवृत्तम्। 'उणादयः' इत्यनुवर्त्तते। भूते । ७ । १ । अपि । [अ०] । दृश्यन्ते । [क्रियापदम्] ॥

उणादयः प्रत्यया भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥ वृत्तमिति वर्त्म[2]। चरितमिति चर्म ॥ दृश्यन्त इति ग्रहणात् शिष्टप्रयोगेषु[3] दृष्टा मन्तव्याः ॥

१. भा० सू० १३१९ ॥ २. सर्वधातुभ्यो मनिन् । (उणा० ४ । १४५) ॥

३. शिष्टलक्षणं तु 'एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः' ॥ अ० ६ । ३ । १०९ भा० ॥

यहां 'वर्त्तमाने' पद की निवृत्ति हो जाती है और 'उणादय' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥

उणादि प्रत्यय [भूतेऽपि] भूतकाल में भी [दृश्यन्ते] देखे जाते हैं ॥

जैसे—वृत्तमिति वर्त्म । चरितमिति चर्म ।

'दृश्यन्ते' इस ग्रहण से शिष्टप्रयोगों में देखे जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ २ ॥

भविष्यति गम्यादयः[1] ॥ ३ ॥

भविष्यति । ७ । १ । गम्यादयः । १ । ३ ॥ उणादिषु गम्यादयः शब्दा भविष्यत्काले सिद्धा भवन्ति । अर्थात् गम्यादिषु ये प्रत्ययाः सन्ति, ते भविष्यत्काले विधीयन्ते ॥

वा०—भविष्यतीत्यनद्यतन उपसंख्यानम्[2] ॥ १ ॥

अनद्यतनभविष्यत्काले गम्यादयो भवन्तीत्यर्थः । श्वो ग्रामं गमी ॥

अथ गम्यादिगणः—[१] गमी । [२] आगमी[3] । [३] आगामी । [४] प्रस्थायी । [५] प्रतिरोधी । [६] प्रतिबोधी । [७] प्रतियोधी । [८] प्रतियोगी । [९] प्रतियायी[4] । [१०] भावी । इति गम्यादयः ॥

इतोऽग्रे 'अनद्यतने लुट्'[5] पर्य्यन्तं भविष्यदधिकारः ॥ ३ ॥

उणादि में [गम्यादयः] गम्यादि शब्द [भविष्यति] भविष्यत्काल में सिद्ध होते हैं अर्थात् गम्यादि शब्दों में धातु से भविष्यत्काल में प्रत्यय होते हैं ॥

वा०—भविष्यतीत्य० । गम्यादि शब्दों का विधान अनद्यतनभविष्यत्काल में करना चाहिये ॥ जैसे—श्वो ग्रामं गमी । अर्थात् कल गांव को जायगा ॥

यहां से आगे 'अनद्यतने लुट्' तक भविष्यत् का अधिकार है ॥ ३ ॥

शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः ॥ ५ ॥

धर्मेणाधिगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः । शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ ६ ॥
(बौधा० स्मृ० १ । १)

'पारम्पर्य्यगतो येषाम्' इति प्रथमचरणभेदेन वसिष्ठस्मृतावपि (६ । ३९) ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥
(मनु० १२ । १०९) ॥

१ आ० सू० १३२० ॥

२. अ० ३ । ३ । ३ । भा० ॥ आ० वा० १३२१ ॥

३ काशिकायाम्—'आगमी' नास्ति ॥ ४ 'प्रत्यायी' इति तु काशिकायामधिकम् ॥

५ अ० ३ । ३ । १५ ॥

यावत्पुरानिपातयोर्लट्[1] ॥ ४ ॥

भविष्यति' इत्यनुवर्त्तते । यावत्पुरानिपातयोः । ७ । २ । लट् । १ । १ ॥

यावत्पुराशब्दयोर्निपातोपपदयोः सामान्यधातोर्भविष्यति काले 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥ यावद् भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते ॥

'निपातयोः[2]' इति किम्—यावद्दास्यति तावद् ग्रहीष्यति । पुरा[3] वाराणस्या पृथग्भविष्यति ॥ 'अनद्यतने लुट्[4]' इत्यस्माद् 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्[5]' इति 'लट्' भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । यावत् श्वो भुङ्क्ते । पुरा श्वो भुङ्क्ते । लुट्प्राप्तौ 'लट्' भवति विप्रतिषेधेन ॥ ४ ॥

यहां 'भविष्यति' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[यावत्-पुरानिपातयोः] यावत्, पुरा ये दो निपात उपपद हों तो धातु से भविष्यत्-काल में [लट्] 'लट्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—यावद्भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते ॥ 'निपातयोः' ग्रहण इसलिये है कि—यावद्दास्यति तावद् ग्रहीष्यति । पुरा वाराणस्या पृथग्भविष्यति ॥

'अनद्यतने लुट्' इस सूत्र की अपेक्षा 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' सूत्र से प्राप्त लट् पूर्वविप्रतिषेध से हो जाता है । जैसे—यावत् श्वो भुङ्क्ते । पुरा श्वो भुङ्क्ते । यहां 'लुट्' की प्राप्ति में पूर्वविप्रतिषेध से 'लट्' हुआ ॥ ४ ॥

विभाषा कदाकर्ह्योः[6] ॥ ५ ॥

'लट्' अनुवर्त्तते । अप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । १ । १ । कदाकर्ह्योः । ७ । २ ॥

कदाकर्ह्योरुपपदयोर्धातुमात्राद् भविष्यत्काले विकल्पेन 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

कदा याति । कदा यास्यति । कर्हि याति । कर्हि यास्यति ॥ विशेषेऽनद्यतने भविष्यति 'लुट्' । कदा याता । कर्हि याता । लुट्पक्षे लुडपि भवति ॥ ५ ॥

यहां 'लट्' पद का अनुवर्त्तन है । यह सूत्र 'अप्राप्तविभाषा' है ॥

[कदाकर्ह्योः] कदा और कर्हि ये दो उपपद हों तो धातुमात्र से भविष्यत्काल में [विभाषा] विकल्प करके 'लट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे कदा याति । कदा यास्यति । कर्हि याति । कर्हि यास्यति ॥ अनद्यतन भविष्यत् में 'लुट्' होता है । कदा याता । कर्हि याता । पक्ष में 'लुट्' भी हो जाता है ॥ ५ ॥

---

१. आ० सू० ७५४ ॥

२. निपातग्रहणम्—'लक्षणप्रतिपदोक्त०' परिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनार्थम् । यद्वा मन्दबुद्धीनां प्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थम् ॥

३. पुर्शब्दात् करणे तृतीयैकवचनम् ॥

४. अ० ३ । ३ । १५ ॥

५. अ० ३ । ३ । ४ ॥

६. आ० सू० ७५५ ॥

किंवृत्ते लिप्सायाम्[1] ॥ ६ ॥

'विभाषा' इत्यनुवर्त्तते 'लट्' च । किंवृत्ते । ७ । १ । लिप्सायाम् । ७ । १ ॥

वृत्त-शब्दोऽत्र प्रयोगवाची स्वरूपविधिनिवृत्त्यर्थः । लब्धुमिच्छा लिप्सा तस्याम् ॥ लिप्सायां गम्यमानायां किं-शब्दस्य प्रयोग उपपदे धातोर्विकल्पेन भविष्यत्काले 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

कं [कतरं कतमं वा] भवानिदं पुस्तकं ददाति । कस्मै [कतरस्मै कतमस्मै वा] भवानिदं पुस्तकं दास्यति [दाता वा] । कतमो मह्यं भिक्षां ददाति, दास्यति, दाता वा ईप्सुः कश्चिद्वदति ॥

'लिप्सायाम्' इति किम्—को गृहं गमिष्यति । अत्र लण्मा भूत् ॥ ६ ॥

यहां 'विभाषा' तथा 'लट्' पद का अनुवर्त्तन है । यहां स्वरूप की निवृत्ति के लिये प्रयोगवाची वृत्त शब्द का ग्रहण है । प्राप्त करने की इच्छा का नाम लिप्सा है ।

[लिप्सायाम्] लिप्सा गम्यमान होने पर [किंवृत्ते] किं शब्द का प्रयोग उपपद हो तो धातु से विकल्प करके 'लट्' प्रत्यय हो ॥

जैसे—कस्मै कतरस्मै कतमस्मै वा भवानिदं पुस्तकं ददाति । कं कतरं कतमं वा भवानिदं पुस्तकं दास्यति । कतमो मह्यं भिक्षां ददाति-दास्यति-दाता वा । लेने की इच्छा रखने वाला कोई ऐसा कहता है ॥

'लिप्सायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—को गृहं गमिष्यति । यहां 'लट्' प्रत्यय न हो ॥ ६ ॥

लिप्स्यमानसिद्धौ च[2] ॥ ७ ॥

पूर्वेण सूत्रेण सिद्धेऽकिंवृत्त्यर्थोऽयमारम्भः ॥

'विभाषा, लट्' इत्यनुवर्त्तते । लिप्स्यमानसिद्धौ । ७ । १ । च । [अ०] ॥

लिप्स्यते प्राप्तुमिष्यतेऽसौ लिप्स्यमानम् । कर्मणि 'शानच्' । तस्य सिद्धिः प्राप्तिस्तस्याम् । लिप्स्यमानसिद्धौ सत्यां धातोर्भविष्यत्काले विकल्पेन 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

यो धर्ममाचरति स स्वर्गं लोकं गच्छति । यो धर्ममाचरिष्यत्याचरिता वा स स्वर्गं लोकं गमिष्यति गन्ता वा ॥ 'लट्' पक्षेऽनद्यतनविशेषे लुडपि ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्र से किंवृत्त में प्राप्त था अकिंवृत्त के लिये इस सूत्र का आरम्भ है ॥

यहां ['विभाषा' और] 'लट्' पद का अनुवर्त्तन है । जिसे प्राप्त करना चाहते हैं उसे लिप्स्यमान कहते हैं । यहां 'शानच्' प्रत्यय कर्म में है ॥

[लिप्स्यमान] लिप्स्यमान पदार्थ की [सिद्धौ] सिद्धि हो तो धातु से भविष्यत्काल में विकल्प करके 'लट्' प्रत्यय होता है ॥

१. आ० सू० ७५६ ॥ २. आ० सू० ७५७ ॥

जैसे—यो धर्ममाचरति स स्वर्गं लोकं गच्छति, यो धर्ममाचरिष्यति, आचरिता वा स स्वर्गं लोकं गमिष्यति, गन्ता वा ।। 'लट्' पक्ष में अनद्यतन भविष्यत्काल होने पर 'लुट्' भी होता है ।। ७ ।।

लोडर्थलक्षणे च[1] ।। ८ ।।

'विभाषा, लट्' इत्यनुवर्त्तते । लोडर्थलक्षणे । ७ । १ ।। च । [अ०] ।। लोटोऽर्थो लोडर्थः प्रैषादिः, स लक्ष्यते भवत्यनेन तल्लोडर्थलक्षणम् ।। लोडर्थलक्षणे धातोर्विकल्पेन भविष्यत्काले 'लट्' भवति ।।

उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगमिष्यति, आगन्ता वा- अथ त्वं व्याकरणमधीष्व ।।

अत्राध्ययनं लोडर्थस्तस्य लक्षणमुपाध्यायागमनं तस्मिन् त्रयो लकारा भवन्ति ।। ८ ।।

यहां 'विभाषा, लट्' इन पदों का अनुवर्त्तन है । जिससे लोट् के प्रैषादि अर्थ लक्षित हों उसे लोडर्थलक्षण कहते हैं ।।

[लोडर्थलक्षणे] लोडर्थलक्षण गम्यमान हो तो धातु से विकल्प करके भविष्यत्काल में 'लट्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगमिष्यति, आगन्ता वा, अथ त्वं व्याकरणमधीष्व । यहां अध्ययन लोडर्थ है उसका लक्षण उपाध्याय का आगमन है उसमें तीनों लकार होते हैं ।। ८ ।।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके[2] ।। ९ ।।

'विभाषा, लट्' इति 'लोडर्थलक्षणे' इति चानुवर्त्तते । लिङ् । १ । १ । च । [अ०] । ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके । ७ । १ ।। मुहूर्त्तादूर्ध्वमूर्ध्वमुहूर्त्तस्तत्र भवमूर्ध्वमौहूर्त्तिकम् । कालाट्ठञिति[3] ठञ् । निपातनादवृद्धिश्च[4] ।।

ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके लोडर्थलक्षणे वर्त्तमानाद् धातोर्विकल्पेन भविष्यत्काले 'लिङ्' चाल्लट् पक्षे लृट्लुटौ च लकारौ भवतः ।

मुहूर्त्तस्य पश्चादुपाध्यायश्चेदागच्छेद्, उपाध्यायश्चेदागच्छति, उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, आगन्ता वा अथ त्वं वेदमधीष्व । मुहूर्त्तस्य पश्चाद्भविष्यति लिङपि भवतीति विशेषः । अत्राध्ययनस्य लोडर्थस्योपाध्यायागमनं लक्षणम् ।। ९ ।।

यहां 'विभाषा, लट्, लोडर्थलक्षणे' इन पदों का अनुवर्त्तन है । 'ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके' पद में 'कालाट्ठञ्' से ठञ् तथा उत्तरपदवृद्धि होती है ।।

---

१. आ० सू० ७५८ ।। २. आ० सू० ७५९ ।।

३. अ० ४ । ३ । ११ ।।

४. अस्मिन् सूत्रे निपातनात्, समास उत्तरपदवृद्धिश्चेति भावः ।।

लोडर्थ में वर्त्तमान धातु से [ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके] दो घड़ी से ऊपर जो भविष्यत्काल है उसमें विकल्प करके [लिङ्] 'लिङ्' और 'लट्' हो पक्ष में 'लृट्' और 'लुट्' होते हैं ॥

जैसे—मुहूर्त्तस्य पश्चादुपाध्यायश्चेदागच्छेत्, उपाध्यायश्चेदागच्छति, उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, आगन्ता वा, अथ त्वं वेदमधीष्व । मुहूर्त्त से अनन्तर भविष्यत् में 'लिङ्' भी हो जाता है ॥ यहां भी अध्ययनरूप लोडर्थ का लक्षण उपाध्याय का आगमन है ॥ ९ ॥

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्[1] ॥ १० ॥

'भविष्यत्' इत्यनुवर्त्तते । अन्यत्सर्वं निवृत्तम् । तुमुन्ण्वुलौ । १ । २ । क्रियायाम् । ७ । १ । क्रियार्थायाम् । ७ । १ ॥

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे धातोर्भविष्यत्काले तुमुन्ण्वुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥

भोक्तुं व्रजति । पठितुं व्रजति । अत्र व्रजन-क्रिया भोजन-पठनप्रयोजनोपपदं, तत्र भुजिपठिभ्यां तुमुन् । आसको व्रजति । शायको व्रजति । भोजको व्रजति । पाचको व्रजति अत्र व्रजनक्रियाऽऽसनादिक्रियार्था उपपदं, तत्र आसादिभ्यो धातुभ्यो ण्वुल् ॥

'ण्वुल्तृचौ'[2] इति सूत्रेण सामान्यविहितो 'ण्वुल्' क्रियार्थायां क्रियायामुपपदेऽपि स्यात् पुनर्वचनेनैतज्ज्ञाप्यते क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे वाऽसरूपेण तृजादयो न भवन्तीति । यद्यत्र ण्वुल्विधानं न स्यात्तर्हि क्रियार्थायां क्रियायां 'लृट्' स्यात्, वाऽसरूपेण सामान्यविहितो ण्वुलपि स्यात्, पुनर्वचनस्यैतत् प्रयोजनं क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे वासरूपेण तृजादयो मा भूवन् ॥ १० ॥

यहां 'भविष्यति' पद का अनुवर्त्तन है अन्य सब पदों का निवर्त्तन है ॥

[क्रियायां क्रियार्थायाम्] क्रियार्थ क्रिया उपपद हो तो धातु से भविष्यत्काल में [तुमुन्ण्वुलौ] 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—भोक्तुं व्रजति । पठितुं व्रजति । जाना रूप क्रिया भोजन तथा पठन के लिये होने से क्रियार्थ क्रिया है, अतः क्रियार्थ क्रिया व्रजति के उपपद होने से 'भुज' तथा 'पठ' धातुओं से 'तुमुन्' प्रत्यय हो जाता है ॥ आसको व्रजति । शायको व्रजति । भोजको व्रजति । पाचको व्रजति । यहां व्रजन क्रिया आसनादि क्रिया के लिये होती हुई उपपद है अतः आसादि धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय हो जाता है ॥

'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से सामान्यविहित 'ण्वुल्' क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर भी हो जाता, पुनः विधान से यह जाना जाता है कि क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर वासरूप विधि से तृजादि नहीं होते । यदि 'ण्वुल्' विधान न किया जाय तो भी क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर 'लृट्' और वासरूप विधि से सामान्य विहित 'ण्वुल्' भी हो ही जाता, पुनः विधान का यह प्रयोजन है कि क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर वासरूप विधि से तृजादि न हों ॥ १० ॥

१. आ० सू० १३२५ ॥ २. अ० ३ । १ । १३३ ॥

भाववचनाश्च[1] ॥ ११ ॥

भाववचनाः । १ । ३ ॥ च । [अ०] ॥ 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यनुवर्त्तते भविष्यत्काले क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भाववचना भाववाचकाश्च प्रत्यया भवन्ति ॥

पाकाय व्रजति । इज्यै व्रजति । पक्तये व्रजति । अत्र व्रजिक्रिया पचनाद्यर्थोपपद तत्र पचादिभ्यो भविष्यति घञ्-क्तिनौ भवतः । अस्मिन् भविष्यदधिकारे वासरूपविधिर्न[2] भवति । अतः क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भाववाचकानां 'तुमुन्' बाधकः स्यात्, एतदर्थमिदमुच्यते भाववचना अपि यथा स्युः[3] ॥ ११ ॥

यहां 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

भविष्यत्काल में क्रियार्थक्रिया उपपद हो तो [भाववचनाः] भाव-वचन अर्थात् भाववाचक प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—पाकाय व्रजति । इज्यै व्रजति । पक्तये व्रजति । यहां व्रजति क्रिया पचनादि के लिये जाता हुआ उपपद है तो पचादि से भविष्यत्काल में 'घञ्' और 'क्तिन्' होते हैं ॥

इस भविष्यदधिकार में वासरूपविधि नहीं होती । अतः क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर भाववाचकों का 'तुमुन्' बाधक हो जाता, इसलिये यह कहा है कि भाववाचक प्रत्यय भी हो जावें ॥ ११ ॥

अण् कर्मणि च[4] ॥ १२ ॥

'क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यनुवर्त्तते । अण् । १ । १ । कर्मणि । ७ । १ । च । [अ०] ॥ क्रियार्थायां क्रिया[यां] कर्मणि चोपपदे धातोर्भविष्यत्कालेऽण् प्रत्ययो भवति ॥

गोदायो व्रजति । कम्बलदायो व्रजति । गां दास्यति, कम्बलं दास्यतीति दान-क्रियार्था व्रजिक्रियोपपद तत्र 'ण्वुल्' प्राप्नोति तस्यायमपवादेनाण् विधीयते ।

---

१. आ० सू० १३३१ ॥

२. अत्र भाष्यम्—भाववचनानां च यथाविहितानां प्रतिपदविधयर्थोऽयमारम्भः ॥ इदानीमेव ह्युक्तं क्रियार्थायां वाऽसरूपेण तृजादयो न भवन्तीति, भाववचनाश्च तृजादयः ॥ अ० ३ । ३ । ११ ॥

३. [वचन-ग्रहणं किमर्थं ?] अत्र भाष्यम्—इह भावे प्रत्यया भवन्तीतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्वचन-ग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनं वाचका यथा स्युरिति । यदि च याभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषेण भावे प्रत्यया विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषेण क्रियायामुपपदे क्रियार्थायामपि भवन्ति ततोऽमी वाचकाः कृताः स्युः ॥ अ० ३ । ३ । ११ ॥ विषयोऽयमाख्यातिके प्रदर्शितः ॥

४. आ० सू० १३३२ ॥

'कर्मण्यण्'[1] इति सामान्यविहितोऽण् क्रियार्थायां क्रियायामुपपदेऽपि स्यात् पुनर्वचन वाऽसरूपविधिप्रतिषेधार्थम्[2] ॥ १२ ॥

इस सूत्र में 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' का अनुवर्त्तन है ॥

[कर्मणि च] क्रियार्थक्रिया और कर्म उपपद हो तो धातु से भविष्यत्काल में [अण्] 'अण्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—गोदायो व्रजति । कम्बलदायो व्रजति । गौ देगा, कम्बल देगा, इस अर्थ में दानक्रियार्थ व्रजिक्रिया उपपद है, यहां 'ण्वुल्' प्राप्त था अतः उसका अपवाद यह 'अण्' है ॥

'कर्मण्यण्' इस सूत्र से सामान्य विहित 'अण्' क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर भी हो ही जाता, पुनः 'अण्' का विधान वाऽसरूपविधि के प्रतिषेध के लिये है ॥ १२ ॥

लृट् शेषे च[3] ॥ १३ ॥

अत्र सर्वेषु सूत्रेषु चकारः 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यधिकारस्याऽनुकर्षणार्थः ॥ लृट् । १ । १ । शेषे । ७ । १ । च । [अ०] ॥

शेषे केवले भविष्यत्काले क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे च भविष्यति काले धातो-र्लृट्' प्रत्ययो भवति ॥

केवले भविष्यत्काले—करिष्यति । हरिष्यति । पक्ष्यति ॥ क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे—करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति ॥ १३ ॥

यहां सब सूत्रों में चकार 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' इस अधिकार के अनुकर्षण के लिये है ॥

[शेषे] शेष अर्थात् केवल भविष्यत्काल में [च] तथा क्रियार्थ क्रिया उपपद होने पर भविष्यत्काल में धातु से [लृट्] 'लृट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—करिष्यति । हरिष्यति । पक्ष्यति । क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर—करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति ॥ १३ ॥

लृटः सद्वा[4] ॥ १४ ॥

लृटः । ६ । १ । सत् । १ । १ । वा । [अ०] ॥ क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे शेषे केवले भविष्यत्काले च लृड्-विहितस्तस्य स्थाने शतृ-शानचौ प्रत्ययौ विकल्पेन भवतः ॥

---

१ अ० ३ । २ । १ ॥

२ अत्र भाष्यम्—एवं तर्हि यत्नेन क्रियते अपवादविषये चानिवृत्तिः, उत्सर्गविषये च अनिवृत्तिः । अ० ३ । ३ । १३ ॥

३ आ० सू० ५५ ॥ ४. आ० सू० १२४३ ॥

३२

वा०— सद्विधिर्नित्यमप्रथमासमानाधिकरणे[1] ॥ १ ॥

लृटः स्थाने सत्संज्ञकौ शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे नित्यं भवतः ॥ पक्ष्यन्त पश्य । पक्ष्यमाणं पश्य । क्व तर्हीदानीं विभाषा ?, प्रथमासमानाधिकरणे । प्रथमासमानाधिकरणे लृटः स्थाने शतृ-शानचौ विकल्पेन भवतः । पक्ष्यन् । पक्ष्यति । पक्ष्यमाणः । पक्ष्यते । पठिष्यन् वसति । अध्येष्यमाणो वसति । अत्र अध्ययनार्थो वसनक्रियोपपद तत्रापि शतृ-शानचौ भवतः ॥ १४ ॥

क्रियार्थक्रिया उपपद होने पर तथा केवल भविष्यत्काल में विहित [लृटः] लृट्' के स्थान में [सत्] 'शतृ, शानच्' प्रत्यय [वा] विकल्प से होते हैं ॥

वा०—सद्विधिर्नित्य०—लृट् के स्थान में सत्संज्ञक 'शतृ-शानच्' प्रत्यय अप्रथमासमानाधिकरण में नित्य होते हैं ॥ जैसे—पक्ष्यन् । पक्ष्यति । पक्ष्यमाणः । पक्ष्यते । पठिष्यन् । वसति । अध्येष्यमाणो वसति । यहां अध्ययनार्थ वसनक्रिया उपपद है, वहां भी 'शतृ, शानच्' हो जाते हैं ॥ १४ ॥

अनद्यतने लुट्[2] ॥ १५ ॥

'भविष्यन्' इत्यनुवर्त्तते ॥ अनद्यतने । ७ । १ । लुट् । १ । १ ॥ न विद्यतेऽद्यतनमस्मिन्, तस्मिन् । अनद्यतनभविष्यत्काले धातो 'लुट्' प्रत्ययो भवति ॥ श्वः कर्त्ता । श्वोऽध्येता । श्वो भोक्ता ॥

अनद्यतनशब्दे बहुव्रीहिसमासादद्यतनानद्यतनयोर्मिश्रीभावे 'लुट्' न भवति ॥ अद्य श्वो वा कार्य्यं भविष्यति ॥

भा०—योगविभागः कर्त्तव्यः । अनद्यतने । लृटः सत्संज्ञौ भवतः । श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन । श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन । ततो लुट् । लुट् च भवत्यनद्यतने ॥[3]

अनेन योगविभागेनानद्यतनभविष्यति शतृ-शानचावपि भवतः । अन्यथा 'लुट्' बाधकः स्यात् ॥

वा०—परिदेवने श्वस्तनीभविष्यन्त्यर्थे[5] ॥ १ ॥

पूर्वाचार्य्यसंज्ञया भविष्यन्ती-शब्देन 'लृट्' उच्यते । श्वस्तन्यनद्यतनभविष्यत्काले परिदेवने[4]ऽर्थे धातो 'लुट्' प्रत्ययो भवति[5] । इयं नु कदा गन्ता यैवं पादौ निदधाति ।

---

१. अ० ३ । ३ । १४ भा० ॥　　　२. आ० सू० ४७ ॥

३. अ०—३ । ३ । १५ भा० ॥

४. परिदेवनम् अनुशोचनं, विलाप, दुःखानुभवन वा । तथा च -

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥
(गी० अ० २ श्लो० २८)

५. अपरे तु वार्त्तिकमिदमन्यथा व्याचक्षते ॥

अयन्तु कदाऽध्येता य एवमनभियुक्त इति । अत्र 'विभाषा कदाकर्ह्योः'[1] इति लट्-लृटौ प्राप्नुतस्तत्र परिदेवनेऽनेन बाध्येते । अपरिदेवने तस्यावकाशः ॥ १५ ॥

यहां 'भविष्यति' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[अनद्यतने] अनद्यतनभविष्यत्काल में धातु से [लुट्] 'लुट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—श्वः कर्त्ता । श्वोऽध्येता । श्वो भोक्ता ॥

अनद्यतन शब्द में 'नहीं है विद्यमान अद्यतन जिस में' वह अनद्यतन कहाता है, इस प्रकार बहुव्रीहिसमास होने से अद्यतन तथा अनद्यतन मिले होने पर 'लुट्' नहीं होता । जैसे—अद्य श्वो वा कार्य्यं भविष्यति ॥ 'अनद्यतने लुट्' इस सूत्र का योगविभाग करना चाहिये—'अनद्यतने' अनद्यतन में 'लट्' के स्थान में 'शतृ, शानच्' होते हैं। जैसे—श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन । श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन । तदनन्तर 'लुट्' कहना चाहिये । अर्थात् अनद्यतन में 'लुट्' होता है । इस योग विभाग से अनद्यतन भविष्यत् में 'शतृ-शानच्' भी हो जाते हैं, अन्यथा 'लुट्' उनका बाधक हो जाता ॥

वा०—परिदेवने०—यहां 'भविष्यन्ती' इस पूर्वाचार्य्यों की संज्ञा से 'लट्' गृहीत होता है । अनद्यतनभविष्यत्काल में परिदेवन अर्थ में धातु से 'लुट्' प्रत्यय होता है । जैसे—इयं नु कदा गन्ता यैवं पादौ निदधाति । अय तु कदाऽध्येता य एवमनभियुक्त इति । यहां 'विभाषा कदाकर्ह्योः' सूत्र से 'लट्-लृट्' प्राप्त थे, परन्तु परिदेवन अर्थ में यह वार्त्तिक बाध लेता है, क्योंकि परिदेवन से अन्य अर्थ में 'विभाषा कदाकर्ह्योः' की प्राप्ति है ही ॥ १५ ॥

पदरुजविशस्पृशो घञ्[2] ॥ १६ ॥

'भविष्यति' इति निवृत्तम् । इत उत्तरं घञादयः प्रत्ययास्त्रिषु कालेषु भवन्ति । पद० स्पृशः । ५ । १ । घञ् । १ । १ ॥

पद, रुज, विश, स्पृश इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

सामान्येन विधानात् कर्त्तरि 'घञ्' भवति । पद्यतेऽसौ पादः ।

रुजत्यसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः ॥

वा०—स्पृश उपतापे[3] ॥ १ ॥

स्पृशतीति स्पर्श उपतापः, व्याधिविशेषः[4] । इह मा भूत्—कम्बलस्पर्शः । कम्बलस्य स्पर्शकर्त्ता अत्र 'सर्वधातुभ्योऽच्'[5] इत्यच् प्रत्ययः ॥ १६ ॥

यहां 'भविष्यति' पद का निवर्त्तन है । यहां से आगे घञादि प्रत्यय तीनों कालों में होते हैं ॥

१. अ० ३ । ३ । ५ ॥ २. आ० सू० १३३३ ॥
३. अ० ३ । ३ । १६ भा० ॥ आ० वा० १३३४ ॥
४. ज्वरः ॥ ५. अ० ३ । १ । १३४ भा० ॥

[पद० स्पृशः] पद, रुज, विश, स्पृश इन धातुओं से [घञ्] 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ सामान्य विधान से 'घञ्' कर्त्ता में होता है। जैसे—पदतेऽसौ पादः। रुजत्यसौ रोगः। विशत्यसौ वेशः॥

वा०—स्पृश उपतापे—स्पृशतीति स्पर्श उपतापः। व्याधिविशेष को कहते हैं। अतः 'कम्बलस्पर्शः' यहाँ 'घञ्' नहीं होता, किन्तु 'स्पृश' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽच्' इस वार्त्तिक से 'अच्' प्रत्यय होता है ॥ १६ ॥

सृ स्थिरे[1] ॥ १७ ॥

सृ। ५। १। स्थिरे। ७। १॥ लुप्तविभक्तिको निर्देशः 'सृ'। स्थिर इति कालान्तरस्थायी पदार्थ उच्यते॥

[सर्त्तेर्धातोः स्थिरे कर्त्तरि 'घञ्' प्रत्ययो भवति]॥ चन्दनसारः। आम्रसारः॥ 'स्थिरे' इति किम्—सर्त्ता। सारकः॥

वा०—व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्[2] ॥ १ ॥

अतिसारो[3] व्याधिः[4]। विसारो मत्स्यः। बले—शालसारः। खदिरसारः। शालस्य खदिरस्य वा बलमुच्यते। अस्थिरार्थोऽयमारम्भः॥ १७॥

'सृ' यह लुप्तविभक्तिक निर्देश है। कालान्तर में वर्त्तमान रहने वाले पदार्थ को स्थिर कहते हैं।

[सृ] 'सृ' धातु से [स्थिरे] स्थिर कर्त्ता हो तो 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—चन्दनसारः। आम्रसारः॥

'स्थिरे' ग्रहण इसलिये किया है कि—सर्त्ता। सारकः। यहाँ न हो॥

१. का० सू० १३३५ ॥

२. भा० ३। ३। १७ भा० ॥ का० वा० १३३६ ॥

३. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (अ० ६। ३। १२२) इति दीर्घत्वस्य बहुलवचनात् 'अतिसारः'—'अतीसारो' वा ॥

४. अतिसार-व्याधेरुत्पत्ति—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे॥ (च० चि० स्थान अ० १९। गद्य ४ ॥ तल्लक्षणन्तु—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाधः प्रणुन्नः। सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥ (सु० उ० अ० ४०, श्लो०—३, ४।)

वा०—व्याधिमत्स्य० व्याधि, मत्स्य, बल इन अर्थों में 'सृ' धातु से 'घञ्' कहना चाहिये ॥ जैसे—अतिसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । बले—शालसारः । खदिरसारः । शाल अथवा खदिर का बल कहाता है ॥ यह वार्त्तिक स्थिर अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रत्यय विधान करने के लिये है ॥ १७ ॥

भावे[1] ॥ १८ ॥

भावे । ७ । १ ॥ भाव इति पुल्लिङ्गेनैकवचनेन निर्देशः क्रियते, स प्रातिपदिक-निर्देशो[2] विज्ञेयः । न तु पुल्लिङ्ग एकवचनाभिधायकाः प्रत्यया भवन्ति । किन्तु त्रिषु लिङ्गेषु त्रिवचनाभिधायका घञादयः प्रत्यया भवन्ति ॥

भावे सामान्यधातुभ्यो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

पचनं पाकः । त्यजनं त्यागः । रञ्जनं रागः । भजनं भागः ॥ 'भावे' इति सूत्रमधिक्रियते । अतोऽग्रे भावाधिकारः ॥ १८ ॥

'भावे' इस पुल्लिङ्ग तथा एकवचन निर्देश से प्रातिपदिकमात्र का निर्देश समझना चाहिये इसलिये पुल्लिङ्ग तथा एकवचन के ही अभिधायक प्रत्यय नहीं होते किन्तु तीनों लिङ्गों में तथा तीनों वचनों को कहने वाले घञादि प्रत्यय होते हैं ॥

[भावे] भाव में धातुमात्र से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—पचन पाकः । त्यजनं त्यागः । रञ्जन रागः । भजन भागः । 'भावे' यह अधिकार सूत्र है अर्थात् यहां से आगे भाव का अधिकार है ॥ १८ ॥

अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्[3] ॥ १९ ॥

अकर्त्तरि । ७ । १ । च । [अ०] । कारके । ७ । १ । संज्ञायाम् । ७ । १ ॥ कर्तृरहिते कारके संज्ञायां गम्यमानायां धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

आवाहः । विवाहः । उद्वाहः । आहारः । विहारः । प्रासः । प्रसेवः ॥

'अकर्त्तरि' इति किम्—पक्ता । पाचकः ॥ 'संज्ञायाम्' इति किम्—दुर्लभः ॥

भा०—**संज्ञाग्रहणानर्थक्यं सर्वत्र घञो दर्शनात् । असंज्ञायामपि घञ् दृश्यते । को भवता लाभो लब्धः । को भवता दायो दत्तः ॥**

सर्वं स्पष्टम् ॥ १९ ॥

---

१. आ० सू० १३३७ ॥

२. अत्र भाष्यम्—एवमिहापि नान्तरीयकत्वात् पुल्लिङ्गेन निर्देशः क्रियत एकवचनान्तेन च । नह्यत्र निर्देशस्तन्त्रम् । अवश्यं कयाचिद्विभक्त्या केनचिच्च लिङ्गेन निर्देशः कर्त्तव्यः ॥ अ० ३ । ३ । १८ ॥

३. आ० सू० १३४४ ॥

[अकर्त्तरि च] कर्तृभिन्न [कारके] कारक में [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो तो धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—आवाहः । विवाहः । उद्वाहः । आहारः । विहारः । प्रासः । प्रसेवः ॥ 'अकर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—पक्ता । पाचकः ॥ 'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि— दुर्लभः । यहां घञ् न हो ॥

संज्ञा ग्रहण अनर्थक है क्योंकि असंज्ञा में भी 'घञ्' देखा जाता है जैसे—को भवता लाभो लब्धः । को भवता दायो दत्तः ॥ १९ ॥

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः[1] ॥ २० ॥

'अकर्त्तरि कारके' इत्यनुवर्त्तते । अग्रेऽप्यधिकारेणास्याऽनुवर्त्तनं भविष्यति ॥ परिमाणाख्यायाम् । ७ । १ । सर्वेभ्यः । ५ । ३ ॥ परिमाणस्येयत्ताया आख्या तस्याम्—सर्वेभ्यो[2] धातुभ्यः परिमाणाख्यायां सत्यां 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

एकस्तण्डुलनिचायः । द्वौ शूर्पनिष्पावौ । द्वौ पाकौ । त्रयः पाकाः ॥ सर्वग्रहणम-जपोर्बाधनार्थम् । अन्यथा पुरस्तादपवादन्यायेन[3] 'अच्' प्रत्ययस्यैव बाधनं स्यात्, अपो बाधनं न स्यात् ॥

'परिमाणाख्यायाम्' इति किम्—निश्चयः । जयः । लवः । पवः ॥

वा०—घञनुक्रमणमजब्विषये[4] ॥ १ ॥

अतोऽग्रे घञ् प्रत्ययस्यानुक्रमणं विशेषविधानं क्रियते तद्-अजपोरपवादो विज्ञेयः । न तु स्त्रीप्रत्ययानाम् । तेन—एका तिलोच्छ्रितिः । द्वे प्रसृती इति । अत्र परिमाणाख्यायां 'क्तिन्' प्रत्ययस्य घञा बाधनं न भवति ॥ १ ॥

वा०—दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च[5] ॥ २ ॥

ण्यन्ताभ्यां दारिजारिधातुभ्यां कर्त्तरि 'घञ्', णिप्रत्ययस्य [च] लुग्भवति । दारयन्तीति दाराः । जारयन्तीति जाराः ॥ २ ॥

वा०—करणे वा[6] ॥ ३ ॥

---

१. आ० सू० १३४४ ॥

२. अत्र भाष्यम्—प्रकृत्याश्रयो योऽपवादस्तस्य बाधनं यथा स्यात्, अर्थाश्रयो योऽपवादस्तस्य बाधनं मा भूत् ॥ अ० ३ । ३ । २० ॥

३. पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, इति परिभाषया ॥ (अ० ४ । १ । ५१ भा०) ॥

४. अ० ३ । ३ । २० भा० ॥

५. अ० ३ । ३ । २० भा० ॥ आ० वा० १३४५ ॥

६. अ० ३ । ३ । २० भा० ॥ आ० वा० १३४६ ॥

अथवा करणे दारजारशब्दौ निपातयितव्यौ। दीर्य्यन्ते तैर्दाराः। जीर्य्यन्ति तैर्जाराः ॥ ३ ॥ २० ॥

यहां 'अकर्त्तरि' तथा 'कारके' इन पदों का अनुवर्त्तन है। आगे भी अधिकार से इन पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये ॥

[परिमाणाख्यायाम्] परिमाणाख्या गम्यमान होने पर [सर्वेभ्यः] सब धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—एकस्तण्डुलनिचायः। द्वौ शूर्पनिष्पावौ। द्वौ पाकौ। त्रयः पाकाः। सर्व-शब्द का ग्रहण 'अच्' तथा 'अप्' के बाधनार्थ है। अन्यथा 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस न्याय से 'अच्' प्रत्यय का ही बाधन होता, 'अप्' का नहीं होता ॥

'परिमाणाख्यायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—निश्चयः। जयः। लवः। पवः। यहां घञ् नहीं होता ॥

वा०—घञनुक्रमण०—यहां से आगे 'घञ्' प्रत्यय के विधान को 'अच्', अप्' का अपवाद समझना चाहिये, स्त्रीप्रत्ययों का नहीं, अतः एका तिलोच्छ्रितिः। द्वे प्रसृती। यहां परिमाणाख्या होने पर भी 'घञ्' के द्वारा 'क्तिन्' प्रत्यय का बाधन नहीं होता ॥ १ ॥

वा०—दारजारौ०- ण्यन्त दारि, जारि धातुओं से कर्त्ता में 'घञ्' प्रत्यय होता है और णि का लुक् हो जाता है ॥ जैसे—दारयन्तीति दाराः। जारयन्तीति जाराः ॥ २ ॥

वा०—करणे वा—अथवा दार-जार-शब्दों का करण में निपातन समझना चाहिये ॥ जैसे—दीर्य्यन्ते तैर्दाराः। जीर्य्यन्ते तैर्जाराः ॥ ३। २० ॥

इङश्च[1] ॥ २१ ॥

'एरच्[2]' इत्यच् प्राप्तस्तस्यायमपवादः ॥ इङः। ५। १। च। [अ०] ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'इङ्' धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति।

उपेत्याधीयते शिष्या यस्मादित्युपाध्यायः ॥

वा० —इङश्चेत्यपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीप्[3] ॥ १ ॥

[अपादाने कारके] स्त्रियामभिधेयायामिङ्धातो 'घञ्', तदन्ताच्च विकल्पेन 'ङीष्', पक्षे 'टाप्' ॥ उपाध्यायी। उपाध्याया ॥ १ ॥

वा०—शृ वायुवर्णनिवृतेषु[4] ॥ २ ॥

---

१. भा० सू० १३४७ ॥ २. अ० ३। ३। ५६ ॥

३. अ० ३। ३। २१ भा० ॥ भा० वा०—१३४८ ॥

४ अ० ३। ३। २१ भा० ॥ भा० वा० १३४९ ॥

शॄ हिंसायामित्यस्माद्[1] धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। शारो वायुः । शारो वर्णः । गौरिवाकृतनीशार[2] प्रायेण शिशिरे कृशः ।। २१ ।।

'ॠदोरप्' इस सूत्र से प्राप्त 'अप्' का यह अपवाद है ।।

कर्त्तृभिन्नकारक तथा भाव में [इङश्च] 'इङ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।। जैसे—उपेत्याधीयते शिष्या यस्मादित्युपाध्यायः ।।

वा०—इङश्चेत्यपा०—स्त्री अभिधेय हो तो [अपादान कारक में] 'इङ्' धातु से 'घञ्' और तदन्त से विकल्प करके 'ङीष्' पक्ष में 'टाप्' होता है ।। जैसे—उपाध्यायी । उपाध्याया ।।

वा०—शॄ वायुवर्ण०—शॄ हिंसायाम्' इस धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।। जैसे—शारो वायुः । शारो वर्णः । गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः ।। २१ ।।

उपसर्गे रुवः[3] ।। २२ ।।

उवर्णान्ताद् 'अप्' प्रत्ययः प्राप्तस्तस्यापवादः । उपसर्गे । ७ । १ । रुवः । ५ । १ ।। कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च सोपसर्गाद् 'रु' धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति । संरावः । विरावः । उपरावः ।।

'उपसर्गे' इति किम्—रवः । अत्र निरुपसर्गेऽप्येव ।। २२ ।।

उवर्णान्त होने से 'अप्' प्राप्त था उस का यह अपवाद है ।।

कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में [उपसर्गे] उपसर्ग उपपद होने पर [रुवः] 'रु' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—संरावः । विरावः । उपरावः ।।

'उपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—रवः । यहां निरुपसर्ग होने से 'अप्' ही होता है ।।२२।।

समि युद्रुदुवः[4] ।। २३ ।।

अयमप्यप एवापवादः । समि । ७ । १ । युद्रुदुवः । ५ । १ ।।

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च सम्पूर्वेभ्यो यु, द्रु, दु इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। संयावः । सन्द्रावः । सन्दावः ।।

'समि' इति किम्—प्रयवः । विद्रवः ।। २३ ।।

यह सूत्र भी 'अप्' का अपवाद है ।।

कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में [समि] सम्पूर्वक [युद्रुदुवः] यु, द्रु, दु, इन धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

१. धा०—क्र्या० १६ ।।
२. अकृतशीतनिवारणाच्छादनः ।।
३. आ० सू० १३५० ।।
४. आ० सू० १३५१ ।।

जैसे—प्रयावः । संद्रावः । संदावः ॥

'समि' ग्रहण इसलिये है कि—प्रयवः । विदवः ॥ २३ ॥

श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे[1] ॥ २४ ॥

श्रि-णीभ्यां 'अच्' प्राप्तो भूधातोश्च 'अप्', द्वयोरप्यपवादः । श्रिणीभुवः ५ । १ । अनुपसर्गे । ७ । १ ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च श्रि, णी, भू एतेभ्य उपसर्गरहितेभ्यो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ श्रायः । नायः । भावः ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्—विश्रयः । प्रणयः । प्रभवः ॥ २४ ॥

श्रि, णी, धातु से 'अच्' तथा 'भू' धातु से 'अप्' प्राप्त था, उन दोनों का यह अपवाद है ॥ कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में [अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [श्रिणीभुवः] श्रि, णी और भू इन धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—श्रायः । नायः । भावः ॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—विश्रयः । प्रणयः । प्रभवः । यहां यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं ॥ २४ ॥

वौ क्षुश्रुवः[2] ॥ २५ ॥

अपोऽपवादः । वौ । ७ । १ । क्षुश्रुवः । ५ । १ ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विपूर्वाभ्यां क्षु-श्रुधातुभ्यां 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ विक्षावः । विश्रावः ॥

'वौ' इति किम्—क्षवः । श्रवः ॥ २५ ॥

यह सूत्र 'अप्' का अपवाद है ।

कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में [वौ] विपूर्वक [क्षुश्रुवः] 'क्षु' और 'श्रु' धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विक्षावः । विश्रावः ॥

'वौ' ग्रहण इसलिये है कि—क्षवः । श्रवः ॥ यहां 'अप्' होता है ॥ २५ ॥

अवोदोर्नियः[3] ॥ २६ ॥

अचोऽपवादः । 'श्रिणीभुवः' इति तत्रानुपसर्ग इति निषेधे प्राप्ते विधीयते । अवोदोः । ७ । २ । नियः । ५ । १ ॥

---

१. आ० सू० १३५२ ॥ २. आ० सू० १३५३ ॥

३. आ० सू० १३५४ ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च अव-उत्-इत्युपसर्गद्वयपूर्वात् 'नी' धातो 'र्घञ्' प्रत्ययो भवति । अवनायः । उन्नायः ॥ २६ ॥

यह 'अच्' का अपवाद है । 'श्रिणीभुव०' इस सूत्र से उपसर्ग होने पर प्रतिषेध प्राप्त था इसलिये विधान किया ॥

कर्तृभिन्न कारक और भाव में [अवोदोः] अव, उत् ये दो उपसर्ग पूर्व हों तो [नियः] 'नी' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अवनायः । उन्नायः ॥ २६ ॥

प्रे द्रुस्तुस्रुवः[1] ॥ २७ ॥

अपोऽपवादः । प्रे । ७ । १ । द्रुस्तुस्रुवः । ५ । १ ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च प्रपूर्वेभ्यो द्रु, स्तु, स्रु इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रस्रावः ॥

'प्रे' इति किमर्थम्—द्रवः । स्तवः । स्रवः । अत्रोत्सर्गत्वादबेव भवति ॥ २७ ॥

यह 'अप्' का अपवाद है ॥

कर्तृभिन्न कारक और भाव में [प्रे] प्र-पूर्वक [द्रुस्तुस्रुवः] द्रु, स्तु, स्रु इन धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रस्रावः ॥

'प्रे' ग्रहण इसलिये है कि—द्रवः । स्तवः । स्रवः ॥ यहां उत्सर्ग 'अप्' ही होता है ॥ २७ ॥

निरभ्योः पूल्वोः[2] ॥ २८ ॥

अयमपि 'अप' एवापवादः । निरभ्योः । ७ । २ । पूल्वोः । ६ । २ ॥ पू इति पूङ्-पूञोः सामान्येन ग्रहणम् ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च निरभिपूर्वाभ्यां 'पू-लू' धातुभ्यां यथासंख्य 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ निष्पावः । अभिलावः ॥

'निरभ्योः' इति किम्—लवः । पवः ॥ २८ ॥

यह 'अप्' का अपवाद है । यहां पू, निर्देश से 'पूङ्' तथा 'पूञ्' दोनों का सामान्यग्रहण होता है ॥

कर्तृभिन्न कारक और भाव में [निरभ्योः] यथासंख्य निर्-अभि-पूर्वक [पूल्वोः] 'पू' तथा 'लू' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—निष्पावः । अभिलावः ॥

१. आ० सू० १२५५ ॥ २. आ० सू० १२५६ ॥

'निरभ्योः' ग्रहण इसलिये है कि—लवः । पवः । यहां 'अप्' होता है ॥ २८ ॥

उन्न्योर्ग्रः[1] ॥ २९ ॥

ऋवर्णान्ताद्-अपोऽपवादः । उन्न्योः । ७ । २ । ग्रः । ५ । १ ॥ गृ[2] इति निगरणशब्दार्थयोर्द्वयोरेव ग्रहणम् ॥

कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च उत्-नि-इत्युपसर्गद्वयपूर्वाद् 'गृ' धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ उद्गारः । निगारः ॥ २९ ॥

ऋवर्णान्त होने से प्राप्त 'अप्' का यह अपवाद है 'गृ निगरणे' तथा 'गृ शब्दे' दोनों का ही ग्रहण है ॥

कर्तृभिन्न कारक और भाव में [उन्न्योः] उत्, नि, इन दो उपसर्ग पूर्वक [ग्रः] 'गृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—उद्गारः । निगारः ॥ २९ ॥

कॄ धान्ये[3] ॥ ३० ॥

'उन्न्योः' इत्यनुवर्त्तते । अप एवापवादः । कॄ । १ । धान्ये । ७ । १ ॥ कॄ इति लुप्तविभक्तिको[4] निर्देशः ॥ विक्षेपार्थस्य कॄ[5]-धातोरत्र ग्रहणम् ॥

धान्येऽर्थे वर्त्तमानादुत्-नि-पूर्वात् 'कॄ' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ उत्कारः । निकारः ॥

'धान्ये' इति किम्—भिक्षोत्करः । फलनिकरः ॥ ३० ॥

यहां 'उन्न्योः' पद का अनुवर्त्तन है । 'अप्' का ही अपवाद है । 'कॄ' यह लुप्तविभक्तिक है ॥ यहां विक्षेप अर्थ वाली 'कॄ' धातु का ग्रहण है ॥

[धान्ये] धान्य अर्थ में वर्तमान नि तथा उत् पूर्वक [कॄ] 'कॄ' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उत्कारः । निकारः ॥

'धान्ये' ग्रहण इसलिये है कि—भिक्षोत्करः । फलनिकरः ॥ ३० ॥

यज्ञे समि स्तुवः[6] ॥ ३१ ॥

यज्ञे । ७ । १ । समि । ७ । १ । स्तुवः । ५ । १ ॥ यज्ञेऽभिधेये संपूर्वात् 'स्तु' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

संस्तुवन्ति यस्मिन् संस्तावो यज्ञः ॥

---

१. ग्रा० सू० १३५७ ॥ २. धा० क्र्या० १२६, धा० क्र्या० २७ ॥

३. ग्रा० सू० १३५८ ॥

४. सुपां सुलुक्पूर्व० (अ० ७ । १ । ३९) इति सुब्लुक् ॥

५. धा० तुदा० १२५ ॥ ६. ग्रा० सू० १३५९ ॥

'यज्ञे' इति किम् — गुरोः संस्तवः। अत्रोत्सर्गत्वादबेव भवति ॥ ३१ ॥

[यज्ञे] यज्ञ अभिधेय हो तो [समि] सम्-पूर्वक [स्तुवः] 'स्तु' धातु से कर्तृभिन्न कारक में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—संस्तुवन्ति यस्मिन् संस्तावो यज्ञः ॥

'यज्ञे' ग्रहण इसलिये है कि—गुरोः संस्तवः। यहां उत्सर्ग 'अप्' ही होता है ॥ ३१ ॥

प्रे स्त्रोऽयज्ञे[1] ॥ ३२ ॥

ऋवर्णान्ताद् अपोऽपवादः। प्रे। ७। १। स्त्रः। ५। १। अयज्ञे। ७। १ ॥

स्तृञ् आच्छादने[2]—इत्यस्मात् प्रपूर्वाद् यज्ञविषयं विहाय कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ छन्दःप्रस्तारः। वर्णप्रस्तारः ॥

'अयज्ञे' इति किम्—प्रस्तरो यज्ञ[3]: ॥ ३२ ॥

ऋवर्णान्त से प्राप्त 'अप्' का यह अपवाद है।

[प्रे] प्र पूर्वक [स्त्रः] 'स्तृञ् आच्छादने' इस धातु से [अयज्ञे] यज्ञविषय को छोड़ कर कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—छन्दःप्रस्तारः। वर्णप्रस्तारः ॥

'अयज्ञे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रस्तरो यज्ञः ॥ ३२ ॥

प्रथने वावशब्दे[4] ॥ ३३ ॥

'स्त्रः' इत्यनुवर्त्तते। प्रथने। ७। १। वौ। ७। १। अशब्दे। ७। १ ॥

विपूर्वात् 'स्तृञ्' धातोरशब्दे प्रथनेऽर्थेऽभिधेये कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ पटस्य विस्तारः। अन्नस्य विस्तारः ॥

'प्रथने' इति किम्—तृणविस्तरः ॥ 'वौ' इति किम्—स्तरः ॥

'अशब्दे' इति किम्—वाग्विस्तरः। कथनविस्तरः ॥ अत्र सर्वत्र ऋवर्णान्तादबेव भवति ॥ ३३ ॥

यहां 'स्त्रः' पद का अनुवर्त्तन है।

[वौ] वि-पूर्वक 'स्तृञ्' धातु से [अशब्दे] शब्दभिन्न [प्रथने] प्रथन अर्थ में कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पटस्य विस्तारः। अन्नस्य विस्तारः ॥

---

१. आ० सू० १३६० ॥ २. या० क्या० १२ ॥

३. तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम् ॥ ४. आ० सू० १३६१ ॥

'प्रथने' ग्रहण इसलिये है कि—तृणविस्तरः ॥ 'वौ' ग्रहण इसलिये है कि—स्तरः ॥ 'अशब्दे' ग्रहण इसलिये है कि—शब्दविस्तरः। कथनविस्तरः। यहां शब्दार्थ होने से 'अप्' ही होता है ॥ ३३ ॥

छन्दोनाम्नि च[1] ॥ ३४ ॥

'वौ—स्त्र.' इत्यनुवर्त्तते। छन्दोनाम्नि। ७। १। च। [अ०] ॥

विपूर्वात् 'स्तृञ्' धातोश्छन्दोनाम्नि सति कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ गायत्र्यादीनां छन्दसां नाम छन्दोनाम। विष्टारपङ्क्तिः। पङ्क्तिविशेषस्य छन्दस इयं संज्ञा। आष्टमिकेन 'छन्दोनाम्नि च'[2] इति सूत्रेण मूर्द्धन्यादेशः ॥ ३४ ॥

वि-पूर्वक 'स्तृञ्' धातु से [छन्दोनाम्नि] छन्दोनाम हो तो कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

छन्दः शब्द से गायत्र्यादि छन्द समझने चाहिये ॥

जैसे—विष्टारपङ्क्तिः ॥

पङ्क्ति छन्दविशेष का यह नाम है। 'विष्टार' इस में आष्टमिक 'छन्दोनाम्नि च' सूत्र से मूर्द्धन्य आदेश हो जाता है ॥ ३४ ॥

उदि ग्रहः[3] ॥ ३५ ॥

'ग्रहवृद०'[4] इति सामान्येन 'अप्' प्रत्ययः प्राप्तस्तस्यायमपवादः। उदि। ७। १ ग्रहः। ५। १ ॥

उत्पूर्वाद् 'ग्रह' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति। उद्ग्राहः ॥ ३५ ॥

ग्रहवृद० इस सूत्र से सामान्यतया 'अप्' प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

[उदि] उत्-पूर्वक [ग्रहः] 'ग्रह' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक तथा भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—उद्ग्राहः ॥ ३५ ॥

समि मुष्टौ[5] ॥ ३६ ॥

'ग्रहः' इत्यनुवर्त्तते। परिमाणाख्यायां 'घञ्' सिद्ध एव अपरिमाणार्थोऽयमारम्भः। समि। ७। १। मुष्टौ। ७। १ ॥

मुष्टौ वाच्ये संपूर्वाद् 'ग्रह' धातोः 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ मल्लस्य संग्राहः। मुष्टिकस्य संग्राहः।

---

१. आ० सू० १३६२ ॥
२. अ० ८। ३। ९४ ॥
३. आ० सू० १३६३ ॥
४. अ० ३। ३। ५८ ॥
५. आ० सू० १३६५ ॥

वा०—उद्ग्राभनिग्राभौ च छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयोः[1] ॥ १ ॥

उद्ग्राभ-निग्राभौ शब्दौ स्रुगुद्यमननिपातनयोरर्थयोर्घञ् प्रत्ययान्तौ भवतः 'हृग्रहो[र्भ]श्छन्दसि हस्य'[2] इति वार्त्तिकेन हकारस्य भकारादेशः ॥ ३६ ॥

यहां 'ग्रह' पद का अनुवर्त्तन है। परिमाणाख्या में तो 'घञ्' सिद्ध ही था यह सूत्र अपरिमाणार्थ है ॥

[मुष्टौ] मुष्टि वाच्य हो तो [समि] सम्-पूर्वक 'ग्रह' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मल्लस्य संग्राहः। मुष्टिकस्य संग्राहः ॥

वा०—उद्ग्राभनिग्राभौ च०—उद्ग्राभ और निग्राभ शब्द स्रुक्[3] के उद्यमन और निपातन अर्थ में 'घञ्' प्रत्ययान्त होते हैं ॥

'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य' इस वार्त्तिक से हकार को 'भकार' आदेश होता है ॥ ३६ ॥

परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः[4] ॥ ३७ ॥

इवर्णान्तादचोऽपवादः। परिन्योः। ७। २। नीणोः। ६। २। द्यूताभ्रेषयोः। ७। २। अभ्रेषो यथार्थकरणम् ॥

परिपूर्वात् 'नी' धातोर्द्यूते, निपूर्वाद्-'इण्' धातोश्चाभ्रेषेऽर्थे 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ परिणायो द्यूतः। न्यायः—पक्षपातराहित्येन कार्य्यकरणम् ॥ 'द्यूताभ्रेषयोः' इति किम्—परिणयः। न्ययः। अत्राजेव भवति ॥ ३७ ॥

इवर्णान्त से प्राप्त 'अच्' का अपवाद है। अभ्रेष यथार्थ करने को कहते हैं ॥

परि-पूर्वक 'नी' धातु से द्यूत अर्थ में तथा नि-पूर्वक 'इण्' धातु से अभ्रेष (यथार्थ करने) अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—परिणायो द्यूतः। न्यायः। पक्षपात से रहित हो कर कार्य्य करना ॥

'द्यूताऽभ्रेषयोः' ग्रहण इसलिये है कि—परिणयः। न्ययः। यहां 'अच्' ही होता है ॥ ३७ ॥

परावनुपात्यय इणः[5] ॥ ३८ ॥

परौ। ७। १। अनुपात्यये। ७। १। इणः। ५। १ ॥ अनुपात्ययो विशेषसहचारित्वम् ॥ परिपूर्वाद् 'इण्' धातोरनुपात्यये कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ शब्दस्य पर्य्यायः। धर्मस्य पर्य्यायः ॥

१. अ० ३। ३। ३६ भा० ॥ आ० वा० १३६४ ॥

२. अ० ८। २। ३२ भा० ॥

३. स्रुच् यज्ञीय पात्रविशेष का नाम है जिसमें कि—यज्ञीय घृत डाला जाता है, दर्शपौर्णमासादि के अनुष्ठान काल में विशेष क्रियाओं में उस स्रुच को नीचे ऊपर उठाना होता है ॥

४. आ० सू० १३६६ ॥ ५. आ० सू० १३६७ ॥

'अनुपात्यये' इति किम्—कालस्य पर्य्ययः ।। ३८ ।।

[परौ] परि-पूर्वक [इणः] 'इण्' धातु से [अनुपात्यये] अनुपात्यय (क्रम अर्थात् वारी) अर्थ में कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—शब्दस्य पर्य्यायः । धर्मस्य पर्य्यायः ।

'अनुपात्यये' ग्रहण इसलिये है कि—कालस्य पर्य्ययः । यहां न हो ।। ३८ ।।

व्युपयोः शेतेः पर्य्याये[1] ।। ३९ ।।

अचोऽपवादः । व्युपयोः । ७ । २ । शेतेः । ५ । १ । पर्य्याये । ७ । १ ।।

वि-उप-इत्युपसर्गद्वय पूर्वात् 'शीङ्' धातोः पर्य्याये कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।।

तव विशायः । मम विशायः । तवोपशायः । ममोपशायः ।। इदानीं तव शयनस्य समय इदानीं च मम ।।

'पर्य्याये' इति किम्—विशयः । अत्राजेव भवति ।। ३९ ।।

यह 'अच्' का अपवाद है ।।

[व्युपयोः] वि, उप, इन दो उपसर्ग पूर्वक [शेतेः] 'शीङ्' धातु से [पर्य्याये] पर्य्याय अर्थ में कर्तृभिन्न कारक और भाव मे 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—तव विशायः । मम विशायः । तवोपशायः । ममोपशायः । अर्थात् अब तेरे सोने का समय है और अब मेरे सोने का समय है ।।

'पर्य्याये' ग्रहण इसलिये है कि—विशयः । उपशयः । यहां 'अच्' ही होता है ।। ३९ ।।

हस्तादाने चेरस्तेये[2] ।। ४० ।।

अचोऽपवादः । हस्तादाने । ७ । १ । चेः । ५ । १ । अस्तेये । ७ । १ ।। हस्तेनादानं ग्रहणं हस्तादानं तस्मिन् । अस्तेये चौर्य्यरहिते हस्तादाने 'चिञ्' धातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।।

मुद्राप्रचायः । कार्षापणप्रचायः ।।

'हस्तादाने' इति किम्—गृहेऽग्रप्रचयं करोति ।। 'अस्तेये' इति किम्—फलप्रचयश्चौर्य्येण करोति ।। ४० ।।

यह 'अच्' का अपवाद है । हाथ से ग्रहण करने को हस्तादान कहते हैं ।।

[अस्तेये] अस्तेय अर्थात् चौर्यरहित [हस्तादाने] हस्तादान में [चेः] 'चिञ्' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव मे 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—मुद्राप्रचायः । कार्षापणप्रचायः ।।

---

१ आ० सू० १३६८ ।। २. आ० सू० १३६९ ।।

'हस्तादाने' ग्रहण इसलिये है कि—गृहेऽस्यप्रचयं करोति। 'अस्तेय' ग्रहण इसलिये है कि—फलप्रचयश्चौर्येण करोति॥ ४०॥

निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः[1] ॥ ४१ ॥

'चेः'[2] इत्यनुवर्त्तते। निवास० नेषु। ७। ३। आदेः। ६। १। च। [अ०]। कः। १। १॥ उपसमाधानं पुञ्जीकरणम्॥

निवास, चिति, शरीर, उपसमाधान इत्येतेषु 'चिञ्' धातोः 'घञ्' प्रत्ययो भवति 'चिञ्' धातोरादेश्चकारस्य 'ककार' आदेशः॥

एषोऽस्य निकायः। निवासस्थानमित्यर्थः॥ आकायमग्निं चिन्वीत[3]। अकायं ब्रह्म। शरीररहितमित्यर्थः। महान् फलनिकायः। फलसमूह इत्यर्थः॥

'निवासादिषु' इति किम्—चयः॥ ४१॥

यहां 'चेः' इस पद का अनुवर्त्तन है। उपसमाधान समूह अर्थात् (ढेर) कहाता है॥

[निवास० नेषु] निवास, चिति, शरीर, उपसमाधान इन अर्थों में 'चिञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है [आदेश्च] 'चिञ्' के आदि चकार को [कः] ककार आदेश हो जाता है॥

जैसे—एषोऽस्य निकायः, अर्थात् निवास स्थान। आकायमग्निं चिन्वीत। अकायं ब्रह्म। अर्थात् शरीररहित है। महान् फलनिकायः, अर्थात् फलों का ढेर॥

'निवास० नेषु' ग्रहण इसलिये है कि—चयः। यहां 'घञ्' नहीं होता॥ ४१॥

सङ्घे चानौत्तराधर्ये[3] ॥ ४२ ॥

'चेः—आदेश्च कः' इत्यनुवर्त्तते॥ सङ्घे। ७। १। च। [अ०]। अनौत्तराधर्य्ये। ७। १॥ एकस्योपरि द्वितीयस्य स्थापनमौत्तराधर्य्यं[4] तस्य प्रतिषेधः। अनौत्तराधर्य्ये सङ्घे 'चिञ्' धातोः 'घञ्' प्रत्ययो भवति, 'चिञ्' धातोश्चकारस्य 'ककार' आदेशश्च॥ ब्राह्मणनिकायः। पण्डितनिकायः॥ 'अनौत्तराधर्य्ये' इति किम्—[सूकरनिचयः]

['सङ्घे' इति किम्—घटनिचयः, ज्ञानकर्मसमुच्चयः, प्राणिविषयत्वात् सङ्घस्येह न भवति]॥ ४२॥

यहां 'चेः, आदेश्च कः' इन पदों का अनुवर्त्तन है। एक के ऊपर दूसरे को रखना औत्तराधर्य्य है, उसका न होना अनौत्तराधर्य्य कहाता है॥

[अनौत्तराधर्य्ये] अनौत्तराधर्य्य (ऊपर नीचे न होने) [सङ्घे] सङ्घ अर्थ में 'चिञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है 'चिञ्' के चकार को 'ककार' आदेश हो जाता है॥

जैसे—ब्राह्मणनिकायः। पण्डितनिकायः।

१. आ० सू० १३७०॥

२. अनुपलब्धमूलमिदम्॥

३. आ० सू० १३७१॥

४. उत्तरं चाधरं चोत्तराधरे तयोर्भाव औत्तराधर्य्यम्॥

'अनौत्तराधर्य्ये' ग्रहण इसलिये है कि—सूकरनिचयः । यहां 'घञ्' न हो ॥

'सङ्घे' ग्रहण इसलिये है कि—घटनिचय. । ज्ञानकर्मसमुच्चय. । सङ्घ से प्राणिविषयक समुदाय का ग्रहण होने से यहां 'घञ्' न होकर 'अप्' हो जाता है ॥ ४२ ॥

कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्[1] ॥ ४३ ॥

कर्मशब्दोऽत्र क्रियावाची ॥ कर्मव्यतिहारे । ७ । १ । णच् । १ । १ । स्त्रियाम् । ७ । १ ।

कर्मणः क्रियाया व्यतिहारः परस्परकरणं तस्मिन् कर्मव्यतिहारे स्त्रियामभिधेयायां सामान्यधातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'णच' प्रत्ययो भवति ॥

व्यावचोरी । व्यावचर्ची । व्यावक्रोशी[2] । व्यावहासी ॥ अत्र '**णचः स्त्रियामञ्**[3]' इति स्वार्थेञ् तदन्तान्ङीप् प्रत्ययः ॥

'कर्मव्यतिहारे' इति किम्—उपाध्याया । 'स्त्रियाम्' इति किम्—व्यतिपाको वर्तते ॥ ४३ ॥

कर्म शब्द से यहां क्रिया अभिप्रेत है । क्रिया का अदल बदल करना कर्मव्यतिहार कहाता है ॥

[कर्मव्यतिहारे] कर्मव्यतिहार में [स्त्रियाम्] स्त्री अभिधेय हो तो धातुमात्र से कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में [णच्] 'णच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—व्यावचोरी । व्यावचर्ची । व्यावक्रोशी । व्यावहासी ॥ 'णचः स्त्रियामञ्' इस सूत्र से स्वार्थ में 'अञ्' और तदन्त से 'ङीप्' प्रत्यय हो जाता है ॥

'कर्मव्यतिहारे' ग्रहण इसलिये है कि—उपाध्याया ॥ 'स्त्रियाम्' ग्रहण इसलिये है कि—व्यतिपाको वर्तते ॥ ४३ ॥

अभिविधौ भाव इनुण्[4] ॥ ४४ ॥

अभिविधौ । ७ । १ । भावे । ७ । १ । इनुण् । १ । १ ॥ सर्वथा कार्य्यविधानमभिविधिस्तस्मिन् । अभिविधौ भावे धातोः 'इनुण्' प्रत्ययो भवति ॥

१. आ० सू० १३७२ ॥

२. अत्र 'णचः स्त्रियामञ्' (अ० ५ । ४ । १४) इत्यादिना कथनात् कृदन्तादेव तद्धितोत्पत्ति. प्राप्नोति, तद्वारणाय **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्ते.'** (अ० २ । २ । १९ भा०) इत्यनया परिभाषया सुबुत्पत्ते प्राक् समासे कृते पुन. प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्यां तद्धितोत्पत्तिर्भवति एवं साङ्कूटिनमत्रापि । तथा च भाष्यम् साङ्कूटिनम्, व्यावक्रोशी । **अत्र अव्ययवानुत्पत्ति प्रसज्ज्येत 'गतिकारकोपपदानां कृद्भि. सह समासो भवति' इति न दोषो भवति । (अ० ४ । १ । ४८ भा०) ॥**

३. अ० ५ । ४ । १४ ॥ ४. आ० सू० १३७३ ॥

सांराविणम् । सांकूटिनम्[1] ।। इनुणन्तात् स्वार्थेऽण् विधीयते ।।

'अभिविधौ' इति किम् संरावः । संकोटः ।।

भाव इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्भावग्रहणस्य प्रयोजनम्—अभिविधौ भावे विहितानां क्तादीनामपीनुण् बाधकः स्यात् । अन्यथा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते'[2] इति घञो बाधकः स्याद् वाऽसरूपेण क्तादयस्तु प्राप्नुवन्त्येव । 'कृत्यल्युटो बहुलम्'[3] इति बहुलवचनाल्ल्युटो बाधनमभिविधावपि न भवति सकूटनम् ।। ४४ ।।

[अभिविधौ] अभिविधि (अभिव्याप्ति अर्थात् क्रिया और गुणों से परिपूर्ण सम्बन्ध) अर्थ हो तो [भावे] भाव में धातु से [इनुण्] 'इनुण्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे सांराविणम् । साङ्कूटिनम् ।। इनुणन्त से स्वार्थ में 'अण्' हो जाता है ।।

'अभिविधौ' ग्रहण इसलिये कि—संरावः । संकोटः ।।

'भावे' पद की अनुवृत्ति आ रही थी पुनः भाव-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'इनुण्' अभिविधि अर्थ होने पर भाव में विहित क्तादि प्रत्ययों का भी बाधक हो जाय, अन्यथा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस नियम से 'घञ्' का बाधक होता, वासरूप विधि से क्तादि तो प्राप्त होते ही हैं । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इसमें बहुलवचन से ल्युट्' का बाधन अभिविधि में भी नहीं होता ।। जैसे—सकूटनम् ।। ४४ ।।

आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः[4] ।। ४५ ।।

'घञ्' अनुवर्त्तते, नेनुण् । आक्रोशे । ७ । १ । अवन्योः । ७ । २ । ग्रहः । ५ । १ ।। आक्रोशः शापः ।।

अव-नि-इत्युपसर्ग द्वयपूर्वादाक्रोशे वर्त्तमानाद् 'ग्रह' धातो 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। अवग्राहो दुष्ट ते भूयात् । निग्राहो दुष्ट ते भूयात् । विनाशस्ते स्यात् । 'आक्रोशे' इति किम् —अवग्रहः पदस्य । निग्रह इन्द्रियाणाम् । अत्र 'ग्रहवृदृ०'[5] इत्यप् प्रत्ययः ।।४५।।

यहां 'घञ्' पद का अनुवर्त्तन है, इनुण् का नहीं । आक्रोश शाप को कहते हैं ।।

[अवन्योः] अव, नि ये दो उपसर्ग पूर्व होने पर [आक्रोशे] आक्रोश अर्थ गम्यमान हो तो [ग्रहः] 'ग्रह' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—अवग्राहो दुष्ट ते भूयात् । निग्राहो दुष्ट ते भूयात् ।।

'आक्रोशे' ग्रहण इसलिये है कि—अवग्रहः पदस्य । निग्रह इन्द्रियाणाम् । यहां 'ग्रहवृदृ०' से 'अप्' प्रत्यय हो जाता है ।। ४५ ।।

१. 'तनु-व्यावक्रोशे' (अ० ३ । ३ । ४३) टिप्पण्यां तदत्रापि सम्येयम् ।।
२. अ० ४ । १ । ५५ भा० ।। पा०—५२ ।। ३. अ० ३ । ३ । ११३ ।।
४. आ० सू० १३७४ ।। ५. अ० ३ । ३ । ५८ ।।

प्रे लिप्सायाम्[1] ॥ ४६ ॥

'ग्रहः' इत्यनुवर्त्तते ॥ प्रे । ७ । १ ॥ लिप्सायाम् । ७ । १ ॥ लब्धुमिच्छायां=लिप्सायाम्, लिप्सायां वर्त्तमानात् प्र-पूर्वाद् 'ग्रह' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

अन्नप्रग्राहेण चरति भिक्षुकः, अन्नमभीप्सुश्चरति ॥

'लिप्सायाम्' इति किम्—प्रग्रहो देवदत्तस्य ॥ ४६ ॥

यहां 'ग्रह' पद का अनुवर्त्तन है । प्राप्ति की इच्छा लिप्सा कहाती है ॥

[लिप्सायाम्] लिप्सा अर्थ में [प्रे] प्र-पूर्वक 'ग्रह' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अन्नप्रग्राहेण चरति भिक्षुकः । अर्थात् अन्नप्राप्ति की अभिलाषा से घूमता है ॥

'लिप्सायाम्' ग्रहण इसलिये है कि प्रग्रहो देवदत्तस्य । यहां 'ग्रहवृद०' से 'अप्' हो जाता है ॥ ४६ ॥

परौ यज्ञे[2] ॥ ४७ ॥

ग्रह इत्यनुवर्त्तते । परौ । ७ । १ ॥ यज्ञे । ७ । १ ॥ यज्ञेऽभिधेये परिपूर्वाद् 'ग्रह' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ परिग्राहो[3] यज्ञः ॥

'यज्ञे' इति किम्—परिग्रहः ॥ ४७ ॥

यहां 'ग्रह' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[यज्ञे] यज्ञ अभिधेय हो तो [परौ] परि-पूर्वक 'ग्रह' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—परिग्राहो यज्ञः ॥

'यज्ञे' ग्रहण इसलिये है कि परिग्रहः । यहां 'अप्' होता है ॥ ४७ ॥

---

१ भा० सू० १३७५ ॥ २. भा० सू० १३७६ ॥

३ दर्शपौर्णमासयोर्वेदिनिर्माणे इद श्रूयते—**त्रिः पूर्वं परिग्राहं परिगृह्णाति त्रिरुत्तरम्** (कां० श० २ । २ । ३ । ११) तत्र गार्हपत्यादारभ्याहवनीयपर्य्यन्ता या रेखा वेदिनिर्माणार्था क्रियते सा परिग्राहपदेनोच्यते । अयमत्र विशेषः—**काण्वशतपथे** यत्र 'परिग्राह' (१ । ६ । १ । ९ ॥ २ । ३ । ११ ।) पद प्रयुज्यते **माध्यन्दिने शतपथे** तत्रैव **परिग्रह** (१ । २ । ५ । १२ ॥ २ । ६ । १ । १२ ।) पद श्रूयते, अर्थस्तु स एव । **तैत्तिरीये** तु **'परिग्राह'** एव (ब्रा० ३ । २ । ९ ।) अत्राष्टाध्यायीभाष्ये तु—तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति न्यायेन परिग्राहो यज्ञ इति प्रयुक्तम् ॥

नौ वृ धान्ये[1] ॥ ४८ ॥

ऋवर्णान्ताद्-अपोऽपवादः । नौ । ७ । १ । वृ । ५ । १ । धान्ये । ७ । १ ॥ वृ लुप्तविभक्तिको[2] निर्देशः । 'वृ' इति निरनुबन्धकग्रहणे वृङ्-वृञोः सामान्यग्रहणम् ॥

नि-पूर्वाद् 'वृञ्-वृङ्' धातोः [धान्येऽर्थे] कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ नीवारा व्रीहयः ॥

'धान्ये' इति किम्—निवरा कन्या ॥ ४८ ॥

ऋवर्णान्त से प्राप्त 'अप्' का अपवाद है । 'वृ' यह अविभक्तिक निर्देश है, 'वृ' ऐसे निरनुबन्ध निर्देश से 'वृञ्-वृङ्' दोनों का सामान्यग्रहण हो जाता है ॥

[नौ] नि पूर्वक [वृ] वृञ्, वृङ् धातु से [धान्ये] धान्य अर्थ में कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—नीवारा व्रीहयः ॥

'धान्ये' ग्रहण इसलिये है कि—निवरा कन्या ॥ ४८ ॥

उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः[3] ॥ ४९ ॥

अजपोरपवादः । उदि । ७ । १ । श्रयतियौतिपूद्रुवः । ५ । १ ॥

उत्पूर्वेभ्यः श्रयत्यादिधातुभ्यः कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ उच्छ्रायः । उद्यावः । उत्पावः । उद्द्रावः ॥

'उदि' इति किम्—आश्रयः । यवः । अत्राजपौ भवतः ॥ ४९ ॥

यह सूत्र 'अच्' तथा 'अप्' का अपवाद है ॥

[उदि] उत्पूर्वक [श्रयतियौतिपूद्रुवः] श्रि, यु, पू, द्रु इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उच्छ्रायः । उद्यावः । उत्पावः । उद्द्रावः ॥

'उदि' ग्रहण इसलिये है कि—आश्रयः । यवः । यहां 'अच्' तथा 'अप्' प्रत्यय हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

विभाषाङि रुप्लुवोः[4] ॥ ५० ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । विभाषा । [अ०] । आङि । ७ । १ । रुप्लुवोः । ६ । २ ॥

१. आ० सू० १२७७ ॥

२. सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति सुल्लुक् ॥

३. आ० सू० १२७८ ॥ ४. आ० सू० १२७९ ॥

आङ्-पूर्वाभ्यां रु-प्लु' धातुभ्यां कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। आरावः । आरवः । आप्लावः ।। आप्लवः ।। पक्षे उत्सर्गत्वादेव भवति ।। ५० ।।

यह सूत्र प्राप्त विभाषा है ।।

[आङि] आङ्पूर्वक [रुप्लुवोः] रु, प्लु धातुओं से कर्त्तृभिन्न कारक तथा भाव में [विभाषा] विकल्प करके घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—आरावः । आरवः । आप्लावः । आप्लवः । पक्ष में 'ऋदोरप्' [ऋदोरप्] से अप्' ही हो जाता है ।। ५० ।।

अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' ।। ५१ ।।

विभाषा' इत्यनुवर्त्तते । अपोऽपवादः । अवे । ७ । १ । ग्रहः । ५ । १ । वर्षप्रतिबन्धे ७ । १ ।। वर्षस्य प्राप्तप्रवाहस्य कार्य्यस्य प्रतिबन्धस्तस्मिन् ।

वर्षप्रतिबन्धेऽभिधेयेऽवपूर्वाद् 'ग्रह' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। अवग्राहः । अवग्रहः ।।

'वर्षप्रतिबन्धे' इति किम्—अवग्रहः शब्दस्य । [अवग्रहः पदस्य] ।। ५१ ।।

यहां 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है ।

[वर्षप्रतिबन्धे] वर्षप्रतिबन्ध (समय होने पर भी वर्षा का न होना वर्ष प्रतिबन्ध कहाता है) अभिधेय हो तो [अवे] अव-पूर्वक [ग्रहः] 'ग्रह' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक तथा भाव में विकल्प करके 'घञ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—अवग्राहः । अवग्रहः ।।

'वर्षप्रतिबन्धे' ग्रहण इसलिये है कि—अवग्रहः शब्दस्य । अवग्रहः पदस्य ।। ५१ ।।

प्रे वणिजाम्' ।। ५२ ।।

'विभाषा-ग्रह' इत्यनुवर्त्तते । प्रे । ७ । १ । वणिजाम् । ६ । ३ ।।

वणिक्सम्बन्धे प्रत्ययार्थे सति प्र-पूर्वाद् 'ग्रहः' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विभाषा 'घञ्' प्रत्ययो भवति ।। तुलाप्रग्राहः[3] । तुलाप्रग्रहः ।।

'वणिजाम्' इति किम्—प्रग्रहो देवदत्तस्य ।। ५२ ।।

यहां 'विभाषा' तथा 'ग्रह' पदों का अनुवर्त्तन है ।।

---

१. भा० सू० १३८० ।। २. भा० सू० १३८१ ।।

३. तुला सूत्रेऽश्वादिरश्मौ प्रग्राहः प्रग्रहः पुनः ।। (वै० कोष, पुल्लिङ्गाध्याय श्लो० ४९)

[वणिजाम्] वणिक् सम्बन्धी प्रत्ययार्थ हो तो [प्रे] प्र-पूर्वक 'ग्रह' धातु से कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में विभाषा 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—तुलाप्रग्राहः । तुलाप्रग्रहः ॥

'वणिजाम्' ग्रहण इसलिये है कि—प्रग्रहो देवदत्तस्य ॥ ५२ ॥

रश्मौ च[1] ॥ ५३ ॥

विभाषा, ग्रहः, प्रे इत्यनुवर्तते । रश्मौ । ७ । १ । च । [अ०] ॥

रज्ज्वा[2] वाच्ये प्रपूर्वाद् 'ग्रह' धातोर्विकल्पेन 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रग्राहः प्रग्रहः ॥

'रश्मौ' इति किम्—प्रग्रहः ॥ ५३ ॥

यहां 'विभाषा', 'ग्रहः' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[रश्मौ] रज्जुवाच्य हो तो प्र-पूर्वक 'ग्रह' धातु से विकल्प करके 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रग्रहः । प्रग्राहः ॥

'रश्मौ' ग्रहण इसलिये है कि—प्रग्रहः ॥ ५३ ॥

वृणोतेराच्छादने[3] ॥ ५४ ॥

विभाषा, प्रे, इत्यनुवर्त्तते । वृणोतेः । ५ । १ । आच्छादने । ७ । १ ॥

आच्छादनार्थात् प्रपूर्वाद् 'वृञ्' धातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे च [विभाषा] 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रावारः । प्रवरः ॥

'आच्छादने' इति किम्—प्रवरः ॥ ५४ ॥

यहां 'विभाषा' तथा 'प्रे' इन दो पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[आच्छादने] आच्छादन अर्थ वाली प्र-पूर्वक [वृणोतेः] 'वृञ्' धातु से कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में विकल्प करके 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रावारः । प्रवरः ॥

'आच्छादने' ग्रहण इसलिये है कि—प्रवरः । यहां 'अप्' ही होता है ॥ ५४ ॥

१. आ० सू० १३८२ ॥

२. रज्जु० शब्दोऽत्र नहि रज्जुमात्रवचन, किन्त्वश्वादि-निग्रहनिमित्तो रज्जुर्गृह्यते । तथा च प्रयोगः—'आत्मानं रथिनं वि० '' ...... मनः प्रग्रहमेव च । (कठ उ०—अ० १ । वल्ली ३ । मं० ३)

३. आ० सू० १३८३ ॥

परौ भुवोऽवज्ञाने[1] ॥ ५५ ॥

'विभाषा' इत्यनुवर्त्तते । परौ । ७ । १ । भुवः । ५ । १ । अवज्ञाने । ७ । १ ॥ अवज्ञान तिरस्कारः ॥

अवज्ञाने वर्त्तमानात् परिपूर्वाद् 'भू' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विभाषा 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥ परिभावः । परिभवः ॥

अवज्ञाने' इति किम् परितो भवनं परिभवः ॥ ५५ ॥

यहां 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है । अवज्ञान तिरस्कार को कहते हैं ॥ [अवज्ञाने] अवज्ञान में वर्त्तमान [परौ] परि-पूर्वक [भुवः] 'भू' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में विकल्प करके 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—परिभावः । परिभवः ॥

'अवज्ञाने' ग्रहण इसलिये है कि—परितो भवनं परिभवः । यहां 'अप्' हो जाता है ॥५५॥

एरच्[2] ॥ ५६ ॥

एः । ५ । १ । अच् । १ । १ ॥ उत्सर्गसूत्रमिदम् । सामान्यविहितस्य घञस्त्वपवाद एव ॥

इवर्णान्ताद् धातोः कर्त्तृवर्जिते कारके भावे च 'अच्' प्रत्ययो भवति ॥ जय । नयः । चयः । क्षयः । आश्रयः ॥

वा०—अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्[3] ॥ १ ॥

भयादिशब्दा अप्यच् प्रत्ययान्ताः स्युः । भयम् । वर्षम्[4] । किं प्रयोजनम् ? नपुंसकलिङ्गे भावे क्तादयो मा भूवन् । घञ् त्वनेन बाध्यते । वाऽसरूपन्यायेन क्तादयः प्राप्नुवन्त्येव तेषामपि बाधनं स्यात् ॥

वा०—कल्प्यादिभ्यः प्रतिषेधः[5] ॥ २ ॥

ण्य[6]न्तानामिवर्णान्तत्वादच् प्राप्तस्तत् प्रतिषेधे 'घञ्' यथा स्यात् । कल्पः । अर्थः । मन्त्रः ॥ २ ॥

---

१. भा० सू० १३८४ ॥ २. भा० सू० १३८५ ॥

३. अ० ३ । ३ । ५६ भा० ॥ भा० वा० १३८६ ॥

४. '**वृषभो वर्षणात्**' (पस्पशाह्निके भाष्ये) इति भाष्यवचनाद् बाहुलकात् 'ल्युट्' अपि भवति ॥

५. अ० ३ । ३ । ५६ ॥ भा० वा० १३८७ ॥

६. केचन वृत्तिकारा ण्यन्तेभ्योऽच् प्रत्ययो न भवतीत्याहुः । ज्ञापकञ्चात्र '**वञ्ज्ञादीनाञ्च**' (अ० ६ । १ । १६०) इति सूत्रे '**भक्षमन्थभोगदेहाः**' इति गणसूत्रे पठन्तः भक्षग्रहणं वदन्ति । कुतः यदि भक्षयतेरपि अच् स्यात्तर्हि चित्वादेवान्तोदात्तत्वे सिद्धेऽन्तोदात्तार्थं भक्षग्रहणमनर्थकं स्यात्, तदर्थं '**एरजण्यन्तानाम्**' (का० वृ० ६ । १ । १६० ।) इति पठन्ति । तदेतत् सर्वमयुक्तम् ।

वा०—जवसवौ छन्दसि[3] ॥ ३ ॥

अप्राप्तेऽज्विधीयते स्वरभेदार्थम् । ऊर्वोरस्तु मे जवः[3] । अथ मे पश्चौदन. सवः[3] ॥ द्वितीयतृतीयवार्त्तिकाभ्यां स्वर एव विशेषः ॥ ५६ ॥

यह उत्सर्ग सूत्र है, और सामान्य 'घञ्' का तो अपवाद ही है ॥ [एः] इवर्णान्त धातु से कर्तृवर्जित कारक तथा भाव में [अच्] 'अच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जयः । नयः । चयः । क्षयः । आश्रयः ॥

वा० अज्विधौ भया० -भयादि शब्दों का भी अज्विधि में उपसंख्यान करना चाहिये, अर्थात् भयादि शब्द भी 'अच्' प्रत्ययान्त होते हैं ॥ जैसे—भयम् । वर्षम् ॥ इसका प्रयोजन यह है कि—नपुंसकलिङ्ग भाव में क्तादि प्रत्यय न हों, 'घञ्' तो 'अच्' से बाधा हो जाना है, वासरूपन्याय से क्तादि प्राप्त होते हैं, उनका भी बाधन हो जाय इसलिये 'अच्' विधि में भयादि का उपसंख्यान किया ॥

वा०—कल्प्यादि०—ण्यन्तों के इवर्णान्त होने से 'अच्' प्राप्त था उसको बाध कर 'घञ्' हो जाय । जैसे—कल्पः । अर्थः । मन्त्रः ॥

वा०—जवसवौ०—अप्राप्ति में 'अच्' का विधान स्वरभेद के लिये है ॥ जैसे—ऊर्वोरस्तु मे जवः । अथ मे पश्चौदन' सवः ॥ द्वितीय, तृतीय वार्त्तिक से स्वर में ही भेद होता है ॥ ५६ ॥

ऋदोरप्[1] ॥ ५७ ॥

अयमपि सामान्यविहितस्य घञ एवापवादः । ऋदो' । ५ । १ । अप् । १ । १ । दकारो मुखसुखार्थो न तु तपरकरणम् ॥

ऋवर्णान्तेभ्य उवर्णान्तेभ्यश्च धातुभ्यः कर्तृवर्जिते कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥

करः । गरः । स्मरः । शरः । सरः । दरः ॥ उवर्णान्तेभ्यः—रवः । लवः । यवः । पवः ॥ विशेषविहिता घञादयस्त्वस्यापवादाः ॥ ५७ ॥

भाष्ये तादृशवचनस्यानुपलब्धे । यत्तु ज्ञापकं तदपि न, चौरादिकस्य णेरनित्यत्वाद्यदा णिर्न भवति तदा भक्षग्रहणं सप्रयोजनं भवति, चौरादिकस्य णेरनित्यत्वञ्च 'ऋदुपधात्०' (अ० ३ । १ । ११०) इति सूत्रे उक्तम् । यद्वा— 'कल्प्यादिभ्यः प्रतिषेधः' इति वचनात् भक्षयतेरच् न भविष्यति ॥

१. अ० ३ । ३ । ५६ भा० ॥ आ० सा० १३८८ ॥

२. अनुपलब्धमूलमिदम् । परन्त्वन्तोदात्तो जवसवौ वेदे दृश्येते –श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता (अथ० ७ । ७३ । ३) एवमन्येष्वपि । जवस्ते॑ अर्वन् (अथ० ६ । ९२ । २) एवमन्यत्रापि - ज॒वेषु॑ (ऋ० १० । ७१ । ८) ॥

३ आ० सू० १३८९ ॥

यह सूत्र भी सामान्यविहित 'घञ्' का ही अपवाद है ॥ सूत्र मे दकार उच्चारण की सुगमता के लिये है, तपर करने के लिये नहीं ॥

[ॠदो.] ॠवर्णान्त धातुओं से कर्तृवर्जित कारक और भाव में [अप्] 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे --करः । गरः । स्मरः । पारः । सरः । दरः ॥ उवर्णान्तेभ्यः—स्तवः । लवः । यव । पव. । विशेषविहित घञादि तो इसके अपवाद हैं ॥ ५७ ॥

ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च[1] ॥ ५८ ॥

घञ्-अचोरपवाद. । ग्रह-वृ-दृ-निश्चि-गम: ५ । १ । [च । अ०] ॥

ग्रह, वृ, दृ, निश्चि, गम इत्येतेभ्यः [धातुभ्यः] कर्तृवर्जिते कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ ग्रहः । वरः । दरः । निश्चयः । गमः ॥

अत्र ग्रह-गम धातुभ्यां घञ् प्राप्तः स बाध्यते । वृ दृभ्यां त्वप् सिद्ध एव पुनर्ग्रहणं वागरूपविधिनिवृत्त्यर्थम् । नपुंसके भावे क्तादीनां बाधनं स्यात् । कर्तृभिन्ने कारके भाव चाप्येव स्यात् । निस्पूर्वाच्चिञ्-धातोरच् प्राप्तस्तस्य ग्रहणं मध्योदात्तो[2] यथा स्यात् [इति] ।

वा०—वशिरण्योश्चोपसंख्यानम्[3] ॥ १ ॥

वशिरणिभ्यामप् प्रत्ययः स्यात् । घञोऽपवादः । सवशं सैन्धवम् । धनञ्जयं रणे रणे ॥ १ ॥

वा०— घञर्थे क-विधानं स्था, स्ना, पा, व्यधि, हनि, युध्यर्थम्[4] ॥ २ ॥

घञर्थे कर्तृवर्जिते कारके भावे च स्थादिधातुभ्यः 'क' प्रत्ययो भवति । प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानीति प्रस्थः । प्रस्थे हिमवतः शृङ्गे ॥

१. आ० सू० १३९० ॥

२ अचि सति 'थाथघञ्' (अ० ६ । २ । १४४) इति सूत्रेणोत्तरपदान्तोदात्त्व प्राप्नोति, अप्यपि सति स एव स्वर प्राप्नोति तदनर्थकं सन् ज्ञापयत्याचार्यो नाऽत्र थाथादिविधिर्भवतीति । 'परिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य पित्वात् धातुस्वरेण मध्योदात्तो भवति ॥

तथा च भाष्यम्—एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निस्पूर्वाच्चिनोतेरपं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो यदद् 'अन्तःथाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (अ० ६ । २ । १४४) इति तन्निस्पूर्वाच्चिनोतेर्न भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? निश्चयः, इत्येष स्वरः सिद्धो भवति (अ० ३ । ३ । ५८ भा०) ॥

३ अ० ३ । ३ । ५८ भा० ॥ आ० वा० १३९१ ॥

४. अ० ३ । ३ । ५८ भा० ॥ आ० वा० १३९२ ॥

स्ना —प्रस्नान्त्यस्मिन्निति प्रस्नः ॥ पा—प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा ॥

व्यधि—आविध्यन्ति तेनाविधः ॥ हनि विघ्नन्ति तस्मिन् मनांसि विघ्नः ॥ युधि—आयुध्यन्ते येन तदायुधम् ॥ अत्र 'क' प्रत्ययस्य कित्वादाकारलोपो व्यधेः संप्रसारणं हनेरुपधालोपश्च भवति ॥ ५८ ॥

यह सूत्र 'घञ्' तथा 'अच्' का अपवाद है ॥

[ग्रह० गमः] ग्रह, वृ दृ, निश्चि, गम इन धातुओं से कर्तृवर्जित कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ग्रहः । वरः । दरः । निश्चयः । गमः ॥ यहां ग्रह, गम इन धातुओं से 'घञ्' प्राप्त था सो इस सूत्र से नहीं होता । वृ, दृ से तो 'अप्' सिद्ध ही था, पुनर्वचन वासरूपविधि की निवृत्त्यर्थ है ॥ नपुंसकलिङ्ग भाव में क्तादि प्रत्ययों का बाधन हो जाय, अर्थात् कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' ही हो ॥

निश्चि—इसमें निस् पूर्वक 'चिञ्' धातु से 'अच्' प्राप्त था उसका ग्रहण मध्योदात्तस्वर के लिये किया है ॥

वा०—वशिरण्यो०—वश तथा रण धातुओं से 'अप्' प्रत्यय हो । 'घञ्' का अपवाद है ॥ जैसे—सवशः संघवम । धनञ्जय रणे रणे ॥ १ ॥

वा०—घञर्थेकविधान०—घञर्थ में अर्थात् कर्तृवर्जित कारक और भाव में स्थादि धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है । जैसे—प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानीति प्रस्थः । प्रस्थे हिमवतः शृङ्गे । स्ना—प्रस्नान्त्यस्मिन्निति प्रस्नः । पा—प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा । व्यधि—आविध्यन्ति तेनाविधः । हनि—विघ्नन्ति तस्मिन् मनांसि विघ्नः । युधि – आयुध्यन्ते तेनायुधम् ॥ यहां 'क' प्रत्यय के कित् होने से आकार का लोप 'व्यध' धातु को सम्प्रसारण तथा 'हन्' धातु के उपधा का लोप हो जाता है ॥ ५८ ॥

उपसर्गेऽदः[1] ॥ ५९ ॥

उपसर्गे । ७ । १ । अदः । ५ । १ ॥ घञोऽपवादः ॥ सोपसर्गाद् 'अदः' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ प्रघसः । विघसः ॥

'उपसर्गे' इति किम्—घासः । उत्सर्गत्वाद् 'घञ्' । उभयत्र 'घञपोश्च'[2] इति घस्लादेशः ॥ ५९ ॥

यह सूत्र 'घञ्' का अपवाद है ॥

[उपसर्गे] उपसर्ग सहित [अदः] 'अद' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रघसः । विघसः ॥

---

१ मा० सू० १३९४ ॥ २ अ० २ । ४ । ३८ ॥

'उपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—घासः । यहां उत्सर्ग 'भावे' सूत्र से 'घञ्' ही आता है । दोनों ही स्थानों में 'घञपोश्च' से 'घस्लृ' आदेश होता है ॥ ५९ ॥

नौ ण च[1] ॥ ६० ॥

'अदः' इत्यनुवर्त्तते । नौ । ७ । १ । णः । १ । १ । च । [अ०] ॥

निपूर्वाद् 'अद' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'णः' प्रत्ययो भवति चाद् 'अप्' च ॥

न्यादः । निघसः । णपक्षे वृद्धिर्घस्लादेशाभावश्च ॥ ६० ॥

यहां 'अदः' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[नौ] नि-पूर्वक 'अदः' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में [णः] 'ण' प्रत्यय होता है, चकार से 'अप्' भी होता है ॥

जैसे—न्यादः । निघसः ॥ ण-पक्ष में वृद्धि और 'घस्लृ' आदेश नहीं होता है ॥ ६० ॥

व्यधजपोरनुपसर्गे[2] ॥ ६१ ॥

घञोऽपवादः । व्यधजपोः । ६ । २ । अनुपसर्गे । ७ । १ ॥

उपसर्गरहिताभ्यां 'व्यध-जप' धातुभ्यां कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ व्यधः । जपः ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्—प्रव्याधः ॥ ६१ ॥

यह 'घञ्' का अपवाद है ॥

[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [व्यधजपोः] 'व्यध' तथा 'जप' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—व्यधः । जपः ॥

'अनुपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—प्रव्याधः ॥ ६१ ॥

स्वनहसोर्वा[3] ॥ ६२ ॥

अनुपसर्गे इत्यनुवर्त्तते । घञ एवापवादः । स्वनहसोः । ६ । २ । वा [अ०] । अप्राप्तविभाषेयम् ॥

उपसर्गरहिताभ्यां स्वन-हसधातुभ्यां कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो विकल्पेन भवति पक्षे 'घञ्' ॥ स्वनः । स्वानः । हसः । हासः ॥

'अनुपसर्गे' इति किम्—प्रस्वानः । प्रहासः ॥ ६२ ॥

---

१. आ० सू० १३९५ ॥ २. आ० सू० १३९७ ॥
३. आ० सू० १३९८ ॥

यहां 'अनुपसर्गे' इस पद का अनुवर्त्तन है। यह 'घञ्' का अपवाद है। यह अप्राप्त-विभाषा है॥

उपसर्गरहित [स्वनहसोः] 'स्वन' तथा 'हस' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय [वा] विकल्प करके होता है, पक्ष में 'घञ्' होता है॥

जैसे—स्वनः। स्वानः। हसः। हासः॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रस्वानः। प्रहासः॥ ६२॥

यमः समुपनिविषु च[1] ॥ ६३ ॥

'वा' इत्यनुवर्त्तते। यमः। ५। १। समुपनिविषु। ७। ३। च। [अ०]॥ घञोऽपवादः। सम्-उप-नि-वि-इत्युपसर्गचतुष्टयपूर्वाद् 'यम' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'अप्' प्रत्ययो भवति पक्षे 'घञ्'॥

संयमः। संयामः। उपयमः। उपयामः। नियमः। नियामः। वियमः। वियामः॥ ६३॥

यहां 'वा' इस पद का अनुवर्त्तन है। यह 'घञ्' का अपवाद है॥ [समुपनिविषु] सम्, उप, नि, वि ये चार उपसर्ग पूर्व हों तो [यमः] 'यम' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में विकल्प से 'अप्' प्रत्यय होता है पक्ष में 'घञ्'॥

जैसे—संयमः। संयामः। उपयमः। उपयामः। नियमः। नियामः। वियमः। वियामः॥ ६३॥

नौ गदनदपठस्वनः[2] ॥ १६७ ॥

घञोऽपवादः। वा इत्यनुवर्त्तते। नौ। ७। १। गदनदपठस्वनः। ५। १॥ निपूर्वेभ्यो गदादिधातुभ्यः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'अप्' प्रत्ययो भवति पक्षे 'घञ्'॥

निगदः। निगादः। निनदः। निनादः। निपठः। निपाठः। निस्वनः। निस्वानः॥

'नौ' इति किम्—गादः॥ ६४॥

यह 'घञ्' का अपवाद है॥ 'वा' इस पद का अनुवर्त्तन है॥

[नौ] नि-पूर्वक [गद० स्वनः] गद, नद, पठ, स्वन इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक और भाव में विकल्प से 'अप्' प्रत्यय होता है, पक्ष में 'घञ्'॥

जैसे—निगदः। निगादः। निनदः। निनादः। निपठः। निपाठः। निस्वनः। निस्वानः॥

'नौ' ग्रहण इसलिये है कि—गादः। यहां 'घञ्' होता है॥ ६४॥

---

१. आ० सू० १३९९॥ २. आ० सू० १४००॥

क्वणो वीणायां च[1] ॥ ६५ ॥

'वा' इति 'नौ' इति चानुवर्त्तते ॥ क्वणः । ५ । १ ॥ वीणायाम् । ७ । १ । च । [अ०] ॥

वीणायामभिधेयायां निपूर्वात् [अनुपसर्गाच्च] 'क्वण' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ निक्वणः । निक्वाणः । [क्वणः । क्वाणः । वीणायां – प्रक्वणः । प्रक्वाणः । उपक्वणः । उपक्वाणः ।]

'वीणायाम्' इति किम् – प्रक्वाणः ॥ 'नौ' इति किम् – अतिक्वाणो वर्त्तते ॥ ६५ ॥

यहां 'वा' तथा 'नौ' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[वीणायाम्] वीणा अभिधेय हो तथा नि-उपसर्गपूर्वक अथवा उपसर्गरहित [क्वणः] 'क्वण' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में विकल्प करके 'अप्' प्रत्यय होता है, पक्ष में 'घञ्' ॥

जैसे—निक्वणः । निक्वाणः । क्वणः । क्वाणः । वीणा में—प्रक्वणः । प्रक्वाणः । उपक्वणः । उपक्वाणः ॥

'वीणायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—प्रक्वाणः । 'नौ' ग्रहण इसलिये है कि—अतिक्वाणो वर्त्तते । यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ ६५ ॥

नित्यं पणः परिमाणे[2] ॥ ६६ ॥

विकल्पग्रहणं निवृत्तं, नौ इति च ॥ नित्यम् । १ । १ । पणः । ५ । १ । परिमाणे । ७ । १ ॥ **पण व्यवहारे स्तुतौ च[3]** । परिमाणे तोलनसाधने गम्यमाने 'पण' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च नित्यम् 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ पणः । कार्षापणस्य[4] संज्ञा ॥

'परिमाणे' इति किम्—पाणः ॥ ६६ ॥

यहां 'वा' और 'नौ' इन पदों की अनुवृत्ति नहीं आती ॥ 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' ॥ [परिमाणे] परिमाण तोलने का साधन गम्यमान हो तो [पणः] 'पण' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में [नित्यम्] नित्य 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पणः । यह कार्षापण की संज्ञा है ॥

'परिमाण' ग्रहण इसलिये है कि—'पाणः' यहां घञ् होता है ॥ ६६ ॥

---

१. आ० सू० १४०१ ॥ २. आ० सू० १४०२ ॥

३. धा० भ्वा० ४४२ ॥

४. ताम्रसम्बन्धी-कर्षप्रमाणे 'पण' इत्येक 'पैसा' इति ख्यातस्य ॥
(अमरको० माहे० टी० —कां० २ । वैश्यवर्ग । श्लो० २८)
'मूलकपणः—शाकपणः—संव्यवहाराय मूलकादीनां यः परितो मुष्टिर्बध्यते तस्येदमभिधानम्' इति काशिका ॥

मदोऽनुपसर्गे[1] ॥ ६७ ॥

घञोऽपवादः । मदः । ५ । १ । अनुपसर्गे । ७ । १ ॥ उपसर्गरहितात्' मद' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥ यौवनस्य मदः । धनस्य मदः । अहङ्कार इत्यर्थः ॥

'अनुपसर्गे' इति किमर्थम्—निमादः । उन्मादः । परिमादः ॥ अत्र घञेव ॥६७॥

यह 'घञ्' का अपवाद है ॥

[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [मदः] 'मद' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यौवनस्य मदः । धनस्य मदः । अर्थात् धन का अहङ्कार है ॥

'अनुपसर्गे' ग्रहण इसलिये कि—निमादः । उन्मादः । यहां 'घञ्' ही हो ॥ ६७ ॥

प्रमदसम्मदौ हर्षे[2] ॥ ६८ ॥

प्रमदसम्मदौ । १ । २ । हर्षे । ७ । १ ॥ हर्षेऽभिधेये प्रमद सम्मदशब्दौ 'अप्' प्रत्ययान्तौ निपात्येते ॥ सोपसर्गत्वं निपातनम् । बालानां प्रमदः । छात्राणां सम्मदः ॥

'हर्षे' इति किम्—प्रमादः ॥ ६८ ॥

[हर्षे] हर्ष अभिधेय हो तो [प्रमद-सम्मदौ] प्रमद और सम्मद शब्द 'अप्' प्रत्ययान्त निपातन हैं । पूर्वसूत्र से सोपसर्ग 'मद' धातु से 'अप्' का निषेध प्राप्त था, इस सूत्र से सोपसर्ग 'मद' का निपातन किया है ॥

जैसे—बालानां प्रमदः । छात्राणां सम्मदः ॥

हर्षे' ग्रहण इसलिये है कि—प्रमादः । यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ ६८ ॥

समुदोरजः पशुषु[3] ॥ ६९ ॥

घञोऽपवादः समुदोः । ७ । २ । अजः । ५ । १ । पशुषु । ७ । ३ ॥

पशुविषये प्रत्ययार्थे सम्-उत्-इत्युपसर्गद्वयपूर्वाद् 'अज' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥

समजः पशूनाम् । समुदाय इत्यर्थः । उदजः पशूनाम्, प्रेरणमित्यर्थः ॥

'पशुषु' इति किम्—समाज आर्य्याणाम् । समाजो वैयाकरणानाम् । उदाजो राज्ञाम् । अत्र घञेव ॥ ६९ ॥

यह सूत्र 'घञ्' का अपवाद है ॥

१. आ० सू० १४०३ ॥ २. आ० सू० १४०४ ॥
३. आ० सू० १४०५ ॥

[पशुषु] प्रत्ययान्त से पशुविषयक अर्थ प्रतीत हो तो [समुदोः] सम्-उत् इन दो उपसर्ग पूर्वक [अजः] 'अज' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव मे 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—समजः पशूनाम् । अर्थात् पशुओं का समुदाय ॥ उदजः पशूनाम् । पशुओं को प्रेरणा करना (हांकना) ॥

'पशुषु' ग्रहण इसलिये है कि—समाजः ब्राह्मणानाम् । समाजो वैयाकरणानाम् । उदाजो राज्ञाम् । यहां 'घञ्' ही होता है ॥ ६९ ॥

अक्षेषु ग्लहः[1] ॥ ७० ॥

अक्षेषु । ७ । ३ । ग्लहः । ५ । १ ॥ अक्षविषये प्रत्ययार्थे 'ग्रह' धातोः 'अप्' प्रत्ययो लत्वञ्च[2] निपात्यते ॥ अक्षस्य ग्लहः ॥

'अक्षेषु' इति किम्—ग्रहो धान्यस्य ॥ ७० ॥

[अक्षेषु] अक्षविषयक प्रत्ययार्थ हो तो [ग्लहः] 'ग्रह' धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा लत्व निपातन से होता है ॥

जैसे—अक्षस्य ग्लहः ॥

अक्षेषु' ग्रहण इसलिये है कि ग्रहो धान्यस्य । यहां लत्व नहीं होता ॥ ७० ॥

प्रजने सर्त्तेः[3] ॥ ७१ ॥

प्रजने । ७ । १ । सर्त्तेः । ५ । १ ॥ प्रजनं प्रथमं गर्भाधानम् । प्रजने वर्त्तमानात् 'सृ' धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति ॥

वडवाया उपसरः । महिष्या उपसरः ॥

'प्रजने' इति किमर्थम्—गोधूमसारः । सामान्यविहितोऽप् विशेषत्वेन नियम्यते ॥ ७१ ॥

प्रजनम्—प्रथम गर्भधारण करना ॥ [प्रजने] प्रजन अर्थ में वर्त्तमान [सर्त्तेः] 'सृ' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—वडवाया उपसरः । महिष्या उपसरः ॥

'प्रजने' ग्रहण इसलिये है कि—गोधूमसारः ॥ सामान्य विहित 'अप्' को विशेष अर्थ में नियमित किया है ॥ ७१ ॥

---

१. आ० सू० १४०६ ॥

२. 'ग्रहवृदृ०' (अ० ३ । ३ । ५८) इत्यादिना 'अपि' सिद्धे पुनर्वचनं लत्वनिपातनार्थमिति भावः । येषां ग्लहिः प्रकृत्यन्तरस्तेषां 'ग्लाहः' प्रत्युदाहरणम् ॥

३ आ० सू० १४०७ ॥

ह्वः संप्रसारणं च न्यभ्युपविषु[1] ॥ ७२ ॥

घञोऽपवादः । ह्वः । ५ । १ । सम्प्रसारणम् । १ । १ । च । [५०] । न्यभ्युपविषु । ७ । ३ ॥ नि, अभि, उप, वि इत्युपसर्गचतुष्टयपूर्वात् 'ह्वेञ् स्पर्द्धायाम्'[2] धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अप्' प्रत्ययो भवति, [ह्वेञ्] धातोश्च संप्रसारणं भवति ॥

निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः ॥

'न्यभ्युपविषु' इति किम्—प्रह्वायः । अत्र 'घञ्' यथा स्यात् ॥ ७२ ॥

यह 'घञ्' का अपवाद है ॥

[न्यभ्युपविषु] नि, अभि, उप, वि इन चार उपसर्गों के पूर्व होने पर [ह्वः] 'ह्वेञ्' धातु से कर्त्तृभिन्न कारक और भाव में 'अप्' प्रत्यय होता है [सम्प्रसारणं च] और 'ह्वेञ्' धातु को सम्प्रसारण भी हो जाता है ।

जैसे—निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः ॥

'न्यभ्युपविषु' ग्रहण इसलिये है कि—प्रह्वायः । यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ २७ ॥

आङि युद्धे[3] ॥ ७३ ॥

'ह्वः' इत्यनुवर्त्तते । [सम्प्रसारणञ्च] । आङि । ७ । १ । युद्धे । ७ । १ ॥ [युद्धे गम्यमाने] आङ्-पूर्वाद् 'ह्वेञ्' धातोः 'अप्' प्रत्ययो भवति सम्प्रसारणञ्च ॥

आहूयन्तेऽस्मिन्नित्याहवः संग्रामः ॥ 'युद्धे' इति किम्—आह्वायः ॥ ७३ ॥

यहां 'ह्वः' 'सम्प्रसारणञ्च' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[युद्धे] युद्ध अर्थ में [आङि] आङ्-पूर्वक 'ह्वेञ्' धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होता है ॥

जैसे—आहवः संग्रामः ॥

'युद्धे' ग्रहण इसलिये है कि—आह्वायः । यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ ३३ ॥

निपानमाहावः[4] ॥ ७४ ॥

निपानम् । १ । १ । आहावः । १ । १ ॥ निपिबन्त्यस्मिन् तन्निपानं जलाधारः । अधिकरणे 'ल्युट्' ॥

---

१. आ० सू० १४०८ ॥

२. धा० पा० ९९३ ॥ (ख) अत्र ह्वेञः स्पर्द्धार्थस्याभीष्टत्वात् 'स्पर्द्धायाम्' इत्युक्तम्, अन्यथा शब्दार्थस्यापि ग्रहणमभविष्यत् ॥

३. आ० सू० १४०९ ॥　　　　४. आ० सू० १४१० ॥

'ह्वेञ्' धातोः 'अप्' प्रत्ययः सम्प्रसारणं वृद्धिश्चास्य निपानेऽभिधेये निपात्यते ॥ आहावो निपानम् । आहूयन्ते पशवो यत्र स आहावः । कूपसमीपे पश्वर्थं जलाधारो मनुष्यैः सृज्यते तत्र पशव आहूयन्ते ॥

'निपानम्' इति किमर्थम्—आह्वायः । अत्र घञेव ॥ ७४ ॥

निपानम् —यहां करण कारक में 'ल्युट्' प्रत्यय निपातन है ॥

निपान जलाधार को कहते हैं जो कि कूपों के समीप पशुओं को पानी पिलाने के लिये बनाया जाता है ॥

[निपानम्] निपान अभिधेय होने पर [आहावः] 'ह्वेञ्' धातु से 'अप्' प्रत्यय सम्प्रसारण और वृद्धि का निपातन है ॥

जैसे—आहावो निपानम् । जहां पशु पानी पिलाने के लिये ले आये जाते हैं वह 'आहाव' कहाता है ॥

'निपान' ग्रहण इसलिये है कि—आह्वायः । यहां 'घञ्' ही हो ॥ ७४ ॥

भावेऽनुपसर्गस्य[1] ॥ ७५ ॥

अकर्त्तरि कारक इति निवृत्त्यर्थं भावग्रहणम् । 'ह्वः' इत्यनुवर्त्तते [सम्प्रसारणञ्च] । भावे । ७ । १ । अनुपसर्गस्य । ६ । १ ॥

उपसर्गरहिताद् 'ह्वेञ्' धातोर्भावे 'अप्' प्रत्ययः सम्प्रसारणञ्च भवति ॥

हवः । हवेहवे [सुहवं] शूरमिन्द्रम्[2] ॥

'अनुपसर्गस्य' इति किम्—प्रह्वायः । संह्वायः । अत्र घञेव भवति ॥ ७५ ॥

यहां 'ह्वः' तथा 'सम्प्रसारणञ्च' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥ 'अकर्त्तरि च कारके' इस अधिकार की निवृत्ति के लिये 'भावे' ग्रहण किया ॥

[अनुपसर्गस्य] उपसर्गरहित 'ह्वेञ्' धातु से [भावे] भाव में 'अप्' प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होता है ॥

जैसे—हवः । हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ॥

'अनुपसर्गस्य' ग्रहण इसलिये है कि—प्रह्वायः । संह्वायः ॥ यहां 'घञ्' ही होता है ॥ ७५ ॥

---

१. भा० सू० १४११ ॥

२. ऋ० ६ । ७ । ११ ॥, साम० पू०—४ । ५ । २ ॥

हनश्च वधः[1] ॥ ७६ ॥

भावे, अनुपसर्गस्य इत्यनुवर्त्तते । हनः । ५ । १ । च । [अ०] । वधः । १ । १ ॥ वध इत्यादेशोऽकारान्तः[2] ॥

उपसर्गरहिताद् 'हन' धातोर्भावे 'अप्' प्रत्ययो भवति 'हन' धातोश्च वधादेशः ॥ वधश्चौराणाम् । वधः शत्रूणाम् । कंसस्य वधः ॥

'भावे' इति किम्—घातः ॥ 'अनुपसर्गस्य' इति किम्—प्रघातः ॥ ७६ ॥

यहां 'भावे' तथा 'अनुपसर्गस्य' इन पदों का अनुवर्त्तन है । 'वध' यह अकारान्त आदेश होता है ॥

उपसर्गरहित [हनः] 'हन' धातु से भाव में 'अप्' प्रत्यय और 'हन' धातु को [वधः] 'वध' आदेश होता है ॥

जैसे—वधश्चौराणाम् । वधः शत्रूणाम् । कंसस्य वधः ॥

'भावे' का अनुवर्त्तन इसलिये है कि—घातः ॥ 'अनुपसर्गस्य' का अनुवर्त्तन इसलिये है कि—प्रघातः । यहां 'घञ्' ही होता है ॥ ७६ ॥

मूर्त्तौ घनः[3] ॥ ७७ ॥

मूर्त्तौ । ७ । १ । घनः । १ । १ ॥ मूर्त्तिः स्थूलता काठिन्यं वा ॥ मूर्त्ताविभिधेयायां 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्ययो घत्वादिहकारस्य च कुत्वं निपात्यते ॥

[अभ्रघनः । दधिघनः ।] घनो मेघः । घनं वस्त्रम् [घनं दधि[4]] 'मूर्त्तौ' इति किम्—घातः ॥ ७७ ॥

मूर्त्तिः=स्थूलता तथा कठिनता को कहते हैं ॥

[मूर्त्तौ] मूर्त्ति अभिधेय हो तो [घनः] 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा घत्वादि हकार को कुत्व का निपातन है ॥

जैसे– अभ्रघनः । दधिघनः । घनो मेघः । घनं वस्त्रम् । घनं दधि ॥

'मूर्त्तौ' ग्रहण इसलिये है कि—घातः । यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ ७७ ॥

---

१. आ० सू० १४१२ ॥

२. अत्र भाष्यम्—किमयमदन्तः, आहोस्विद् व्यञ्जनान्तः ? यदि व्यञ्जनान्तः, वधो व्यञ्जनान्त उक्तम् । किमुक्तम् ? वध्यादेशे वृद्धितत्वप्रतिषेध इड्विधिश्च इति । अथादन्तः, न दोषो भवति, यथा न दोषस्तथाऽस्तु ॥ (अ० २ । ४ । ४३ भा०)

३. आ० सू० १४१३ ॥

४. घनो मेघः, घनं वस्त्रम्, घनं दधि-इत्याद्युदाहरणेषु गुणशब्देन गुणी गृह्यत इति बोध्यम् । घनं वस्त्रम्-इत्यत्र तु सघनशब्दस्यापि व्यवहारो दृश्यते, अत एवास्य सरूपः 'सघनः' इति शब्दो भाषायामपि दृश्यते ॥

अन्तर्घनो देशे[1] ॥ ७८ ॥

अन्तर्घनः । १ । १ । देशे । ७ । १ ॥ देशेऽभिधेयेऽन्तः पूर्वाद् 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्ययः, आदेश्च कुत्वं निपात्यते ॥

अन्तर्घनो[2] देशः । देशविशेषस्य[3] सञ्ज्ञा ॥ 'देशे' इति किम्—अन्तर्घातः ॥ ७८ ॥

[देशे] देश अभिधेय हो तो [अन्तर्घनः] अन्तःपूर्वक 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा धात्वादि को कुत्व का निपातन है ॥

जैसे—अन्तर्घनो देश ॥ यह किसी देश का नाम है ॥

'देशे' ग्रहण इसलिये है कि—अन्तर्घातः ॥ ७८ ॥

अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च[4] ॥ ७९ ॥

अगारैकदेशे । ७ । १ । प्रघणः । १ । १ । प्रघाणः । १ । १ ॥ च । [अ०] ॥ अगारस्य स्थानस्यैकदेशोऽवयवः [अगारैकदेशः] ॥

अगारैकदेशे प्रघण-प्रघाण इत्येतौ शब्दौ 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्ययान्तौ कृतकुत्वणत्वौ च निपात्येते ॥ प्रघणः[5] । प्रघाणः ॥

'अगारैकदेशे' इति किम्—प्रघातोऽन्यत्र ॥ ७९ ॥

[अगारैकदेशे] अगार अर्थात् गृह का एक देश अभिधेय हो तो 'हन' धातु से [प्रघणः प्रघाणश्च] प्रघण और प्रघाण ये शब्द 'अप्' प्रत्ययान्त तथा धात्वादि को कुत्व तथा णकारादेश किये हुए निपातित हैं ॥

जैसे—प्रघणः । प्रघाणः ॥

'अगारैकदेशे' ग्रहण इसलिये है कि—अन्यत्र 'प्रघातः' ही हो ॥ ७९ ॥

उद्घनोऽत्याधानम्[6] ॥ ८० ॥

उद्घनः । १ । १ । अत्याधानम् । १ । १ ॥ अत्यन्तमाधीयन्तेऽस्मिन्नित्यत्याधानम् । उत्पूर्वाद् 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्यय आदेश्च कुत्वं निपात्यतेऽत्याधाने वाच्ये ॥

उद्घनः । यस्मिन्काष्ठेऽन्यानि काष्ठानि स्थापयित्वा तक्षकास्तक्षन्ति स उच्यत उद्घनः ॥ उद्घातोऽन्यत्र ॥ ८० ॥

---

१. भा० सू० १४१४ ॥ २. अन्ये णकारं पठन्ति—अन्तर्घणो देश इति ॥

३. द्वारमतिक्रम्य यः सावकाश. प्रदेश सोऽन्तर्घनः । तस्यैव 'आङ्गन' इत्यपभ्रंशो भाषायाम् वाहीकेषु देशविशेष इति केचित् ॥

४. भा० सू० १४१५ ॥

५. द्वारप्रकोष्ठाद् बहिर्द्वाराग्रवर्त्तिचतुष्कस्य, 'चबूतरा' इति ख्यातस्य ॥

६. भा० सू० १४१६ ॥

[उद्घनः] उत्-पूर्वक 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय और आदि को कुत्व निपातन है [अत्याधाने] अत्याधान वाच्य हो तो ॥

जैसे—उद्घनः । जिस काष्ठ पर वर्द्धिक (बढ़ई) लोग काष्ठ को रख कर छीलते हैं वह काष्ठ उद्घन कहाता है ॥

'अत्याधाने' ग्रहण इसलिये है कि—अन्यत्र 'उद्घातः' ही होगा ॥ ८० ॥

अपघनोऽङ्गम्[1] ॥ ८१ ॥

अपघनः । १ । १ । अङ्गम् । १ । १ ॥ अङ्गशब्दोऽत्रावयववाची तेन हस्तादयः शरीरावयवा गृह्यन्ते ॥

अप-पूर्वाद् 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्यय आदेश्च कुत्वमवयवाऽभिधेये निपात्यते ॥ [अपहन्यतेऽनेनेति, अपघनः, पाणिः पादो वा] ॥

'अङ्गम्' इति किम्—अपघातोऽन्यत्र ॥ ८१ ॥

अङ्ग शब्द सामान्य अवयव वाची होता हुआ यहां हाथ पैर का वाची है ॥

[अङ्गम्] हाथ-पैर आदि अवयव अभिधेय हो तो [अपघनः] अपपूर्वक हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा आदि को कुत्व निपातन से होता है ॥

जैसे—अपघनः पाणिः पादो वा ॥

'अङ्गम्' ग्रहण इसलिये है कि—अपघातः । यहां नहीं होता ॥ ८१ ॥

करणेऽयोविद्रुषु[2] ॥ ८२ ॥

'हनश्च वधः[3]' इत्यस्माद् 'हनः' इत्यनुवर्त्तते ॥ करणे । ७ । १ । अयोविद्रुषु । ७ । ३ ॥ अयस्, वि, द्रु इति शब्दत्रयोपपदाद् 'हन' धातोः करणकारके 'अप्' प्रत्ययो भवति 'हन' धातोश्च घनादेशः ॥

अयो हन्यतेऽनेनायोघनः । विघनः । द्रुघणः[4] ॥ विशब्देनात्रोपसर्गस्य ग्रहणं नास्ति किन्तु पक्षिवाचिनः ॥ द्रुघणः कुद्दाल उच्यते । 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः[5]' इति णत्वम् ॥ ८२ ॥

'हनश्च वधः' इस सूत्र से 'हन' का अनुवर्त्तन है ॥

---

१. आ० सू० १४१७ ॥ २. आ० सू० १४१८ ॥

३. अ० ३ । ३ । ७६ ॥

४. "द्रुघणो द्रुमयो घन" इति निघ० अ० ९ खं० २३ ॥ (ख) द्रुघणं शयानम् । ऋ० १० । १०२ । ९ ॥

५. अ० ८ । ४ । ३ ॥

[अयोविद्रुषु] अयस्, वि, द्रु ये तीन शब्द उपपद हों तो 'हन' धातु से [करणे] करणकारक में 'अप्' प्रत्यय तथा 'हन' धातु को घनादेश होता है ॥

जैसे—अयोघनः । विघनः । द्रुघणः ॥ यहां वि-शब्द पक्षी वाची है, उपसर्ग नहीं । द्रुघण कुद्दाल (कुठार या कुल्हाडी) का नाम है । 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' सूत्र से णत्व हो जाता है ॥ ८२ ॥

स्तम्बे क च[1] ॥ ८३ ॥

'हनः, करणे' इत्यनुवर्त्तेते । स्तम्बे । ७ । १ । क । १ । १ । च । [अ०] ॥ चकारोऽनुकर्षणार्थः ॥

स्तम्बपूर्वाद् 'हन' धातोः करणे कारके 'क' प्रत्ययश्चाद् 'अप्' च भवति, तत्राप्-सन्नियोगे घनादेशश्च ॥

स्तम्बघ्नः । स्तम्बघनः । स्तम्बघ्ना । स्तम्बघना ॥

'करणे' इति किम्—स्तम्बघातः ॥ ८३ ॥

यहां 'हनः', 'करणे' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ चकार 'अप्' प्रत्यय का अनुकर्षक है ॥

[स्तम्बे] स्तम्ब-पूर्वक 'हन' धातु से करणकारक में [क] 'क' प्रत्यय [च] और 'अप्' प्रत्यय भी होता है, 'अप्' प्रत्यय के साथ 'घन' आदेश भी हो जाता है ॥

जैसे—स्तम्बघ्नः । स्तम्बघनः । स्तम्बघ्ना । स्तम्बघना ॥

'करण' ग्रहण इसलिये है कि—स्तम्बघातः । यहां 'घञ्' होता है ॥ ८३ ॥

परौ घः[2] ॥ ८४ ॥

'करणे-हनः' इत्यनुवर्त्तते । परौ । ७ । १ । घः । १ । १ ॥

परिपूर्वाद् 'हन' धातोः करणकारके 'अप्' प्रत्ययो भवति 'हन' धातोश्च 'घ' इत्यादेशः ॥

परिघः । पलिघः ॥ 'परेश्च घाङ्कयोरिति[3]' विभाषा लत्वम्, परिहन्यतेऽनेनेति विग्रहः ॥

'करणे' इति किम्—परिघातः ॥ ८४ ॥

यहां 'करणे, हनः' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[परौ] परि-पूर्वक 'हन' धातु से करणकारक में 'अप्' प्रत्यय होता है, 'हन' धातु को [घः] 'घ' यह आदेश हो जाता है ॥

जैसे—परिघः । पलिघः ॥ 'परेश्च घाङ्कयोः' सूत्र से विकल्प करके लत्व हो जाता है ॥

---

१. आ० सू० १४१९ ॥　　२. आ० सू० १४२० ॥
३. अ० ८ । २ । २१ ॥

'करणे' ग्रहण इसलिये है कि—परिघातः। यहां 'घञ्' हो जाता है ॥ ८४ ॥

उपघ्न आश्रये[1] ॥ ८५ ॥

उपघ्नः। १। १। आश्रये। ७। १॥ उपपूर्वाद् 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्यय उपधालोपश्च आश्रयेऽभिधेये निपात्यते ॥

आश्रय-शब्द आधारवाची। पर्वतोपघ्नः। ग्रामोपघ्नः॥ उपघातोऽन्यत्र ॥८५॥

[आश्रये] आधार अभिधेय हो तो [उपघ्नः] उप-पूर्वक 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय, उपधा का लोप निपातन है ॥

जैसे—पर्वतोपघ्नः। ग्रामोपघ्नः॥ अन्यत्र 'उपघातः' होता है ॥ ८५ ॥

संघोद्घौ गणप्रशंसयोः[2] ॥ ८६ ॥

संघोद्घौ। १। २। गणप्रशंसयोः। ७। २॥ गणप्रशंसयोरभिधेययोः समुदुत्पूर्वाद् 'हन' धातोः 'अप्' प्रत्ययो घादेश[ष्टिलोप]श्च निपात्यते ॥

सङ्घः पशूनाम्। उद्घो मनुष्यः, प्रशंसायोग्य इत्यर्थः॥

'गणप्रशंसयोः' इति किम्—[सङ्घातः]। उद्घात इत्यन्यत्र ॥ ८६ ॥

[गणप्रशंसयोः] गण (समुदाय) और प्रशंसा अभिधेय हो तो [सङ्घोद्घौ] सम् और उत्पूर्वक 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय, 'हन' के हकार को 'घ' आदेश और टिलोप निपातन से हो जाते हैं ॥

जैसे—सङ्घः पशूनाम्। पशुओं का समूह॥ उद्घो मनुष्य। अर्थात् प्रशंसा योग्य मनुष्य है॥

'गणप्रशंसयो' ग्रहण इसलिये है कि—अन्यत्र 'सङ्घातः'। 'उद्घातः' ऐसा ही हो ॥ ८६ ॥

निघो निमितम्[3] ॥ ८७ ॥

निघः। १। १। निमितम्। १। १॥ निरन्तरं मितं तुलितं निमितम्॥ निमितेऽभिधेये निघ इति निपूर्वाद् 'हन्' धातोः 'अप्' प्रत्ययो घादेशश्च निपात्यते॥ निघो गोधूमः। निघाः शालयः। निघा[4] वृक्षाः॥

'निमितम्' इति किम्—निघात इत्यन्यत्र ॥ ८७ ॥

[निमितम्] सब प्रकार से जो मित (परिपूर्णता को प्राप्त) अभिधेय हो तो [निघः] 'निघ' इस पद में नि-पूर्वक 'हन' धातु से 'अप्' प्रत्यय और हकार को 'घ' आदेश निपातन से हो जाते हैं॥

१. आ० सू० १४२२॥
२. आ० सू० १४२३॥
३. आ० सू० १४२४॥
४. निर्विशेषं हन्यन्ते ज्ञायन्ते = निघा वृक्षाः॥

जैसे—निघो गोधूमः । निघाः शालयः । निघा वृक्षाः ॥

'निमितम्' ग्रहण इसलिये है कि—अन्यत्र 'निघातः' यहां 'घञ्' होता है ॥ ८७ ॥

ड्वितः क्त्रिः[1] ॥ ८८ ॥

ड्वितः । ५ । १ । क्त्रिः । १ । १ ॥ डु इद्यस्य स ड्वित् तस्मात् । ड्वितो धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'क्त्रिः' प्रत्ययो भवति ॥

कृत्रिमम् । पक्त्रिमम् । **'क्त्रेर्मम् नित्यम्'**[2] इति वचनात् केवलस्य 'क्त्रि' प्रत्ययान्तस्य प्रयोगो न भवति । वाऽसरूपन्यायेन घञादयः प्रत्यया अपि भवन्ति । कित्त्वाद् गुणप्रतिषेधः सम्प्रसारणञ्च ॥ ८८ ॥

[ड्वितः] डु इत् है जिन धातुओं का उन से कर्तृभिन्न कारक और भाव में [क्त्रिः] 'क्त्रिः' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कृत्रिमम् । पक्त्रिमम् ॥ 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' इस सूत्र से केवल 'क्त्रि-प्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं होता ॥ वाऽसरूपन्याय से घञादि प्रत्यय भी होते हैं ॥ प्रत्यय के कित् होने से गुण का प्रतिषेध और सम्प्रसारण हो जाता है ॥ ८८ ॥

ट्वितोऽथुच्[3] ॥ ८९ ॥

ट्वितो । ५ । १ । अथुच् । १ । १ ॥ टु इद्यस्य तस्मात् । ट्वितो धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अथुच्' प्रत्ययो भवति ॥

टुवेपृ—वेपथुः[4] । टुओश्वि—श्वयथुः । वासरूपेण घञादयोऽपि ॥ ८९ ॥

[ट्वितः] टु इत् है जिन धातुओं का उनसे कर्तृभिन्न कारक और भाव में [अथुच्] 'अथुच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—टुवेपृ—वेपथुः । टुओश्वि—श्वयथुः । वाऽसरूपविधि से घञादि भी हो जाते हैं ॥ ८९ ॥

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्[5] ॥ ९० ॥

यज० रक्षः । ५ । १ । नङ् । १ । १ ॥ यज, याच, यत, विच्छ, प्रच्छ, रक्ष इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'नङ् प्रत्ययो भवति ॥

१. भा० सू० १४२५ ॥ २. अ० ४ । ४ । २० ॥
३. भा० सू० १४२६ ॥
४. वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ गी० अ० १ । श्लो० २९ ॥
५. भा० सू० १४२७ ॥

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ॥ नङो ङित्वाद् विश्न इत्यत्र गुणःप्रतिषिध्यते । प्रश्न इत्यत्र ङित्वात् सम्प्रसारणं प्राप्तं तत् 'प्रश्ने चासन्नकाले'[1] इति ज्ञापकान्निवार्य्यते । यजादिभ्यो वासरूपत्वाद् घञादयोऽपि भवन्ति ॥ ९० ॥

[यज० रक्षः] यज, याच, यत, विच्छ, प्रच्छ, रक्ष इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक और भाव में [नङ्] 'नङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ॥ 'नङ्' प्रत्यय के ङित् होने से 'विश्न' इस में गुण नहीं होता ॥ 'प्रश्न' इस में ङित् होने से सम्प्रसारण प्राप्त था वह 'प्रश्ने चासन्नकाले' इस ज्ञापक से नहीं होता, यजादि में वाऽसरूपविधि से घञादि भी हो जाते हैं ॥ ९० ॥

स्वपो नन्[2] ॥ ९१ ॥

सम्प्रसारणनिवारणाय नित्स्वरसिद्धयर्थञ्च पृथग्ग्रहणम् ॥ स्वपः । ५ । १ । नन् । १ । १ ॥ 'स्वप' धातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'नन्' प्रत्ययो भवति ॥ स्वप्नः ॥ ९१ ॥

सम्प्रसारण की निवृत्ति के लिये तथा नित् स्वर के लिये पृथक् ग्रहण है ॥

[स्वपः] 'स्वप' धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में [नन्] 'नन्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—स्वप्नः ॥ ९१ ॥

उपसर्गे घोः किः[3] ॥ ९२ ॥

उपसर्गे । ७ । १ । घोः । ५ । १ । किः । १ । १ ॥ 'दाधाघ्वदाप्'[4] इति घुसंज्ञा कृता तस्या इदानीं कार्य्यमुच्यते ॥

सोपसर्गाद् घुसंज्ञकाद् धातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे च 'किः' प्रत्ययो भवति ॥

विधिः । निधिः । प्रतिनिधिः । प्रदिः । अन्तर्द्धिः[5] । केः कित्वादाकारलोपः ॥ ९२ ॥

'दाधा घ्वदाप्' इस सूत्र से 'घु' संज्ञा कही है अब उस संज्ञा का कार्य्य कहते हैं ॥

[उपसर्गे] उपसर्गपूर्वक [घोः] घुसंज्ञक धातुओं से कर्तृभिन्न कारक और भाव में [किः] 'कि' प्रत्यय होता है ॥

---

१. अ० ३ । २ । ११७ ॥ २. आ० सू० १४२८ ॥

३ आ० सू० १४२९ ॥ ४. अ० १ । १ । २० ॥

५ अन्त शब्दस्याऽनुपसर्गेऽपि 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति' (अ० १ । ४ । २८) इत्यत्र अन्तर्द्धि-शब्दप्रयोगादुपसर्गवद्वृत्तिर्बोध्या ॥ ये तु— 'अन्तः शब्दस्य-अङ्-किविधि-णत्व-सत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' इति ब्रुवन्ति तद् भाष्यानारूढत्वादुपेक्षणीयम् ॥

जैसे—विधिः । निधिः । प्रतिनिधिः । प्रदिः । प्रधिः । अन्तर्द्धिः ॥ 'कि' प्रत्यय के कित् होने से आकार का लोप हो जाता है ॥ ९२ ॥

कर्मण्यधिकरणे च[1] ॥ ९३ ॥

'घोः, किः' इत्यनुवर्त्तते । कर्मणि । ७ । १ । अधिकरणे । ७ । १ । च । [अ०] ॥ घञादीनामपवादः ॥

कर्मण्युपपदे घुसंज्ञकाद् धातोः अधिकरणकारके 'किः' प्रत्ययो भवति ॥ उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नुदधिः समुद्रः । संज्ञायामुदकशब्दस्य 'उद'[2] आदेशः [जलधिः । वारिधिः । तोयधिः । पयोधिः । यशोधिः] अधिकरण-ग्रहणं कर्त्तृभिन्नकारकभावनिवृत्यर्थम् । चकारः[केर]नुवर्त्तनार्थः ॥ ९३ ॥

यहां 'घो, कि' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ यह घञादि का अपवाद है ॥ [कर्मणि] कर्म उपपद हो तो घुसंज्ञक धातुओं से [अधिकरणे च] अधिकरण कारक में 'कि' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्निति उदधिः समुद्रः । जलधिः । वारिधिः । तोयधिः । पयोधिः । यशोधिः ॥ संज्ञा में उदक शब्द को 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' से 'उद' आदेश हो जाता है ॥

अधिकरण-ग्रहण कर्त्तृभिन्नकारक और भाव की निवृत्ति के लिये है, चकार 'किः' प्रत्यय की अनुवृत्ति के लिये है ॥ ९३ ॥

स्त्रियां क्तिन्[3] ॥ ९४ ॥

अकर्त्तरि कारके भावे च, इत्यनुवर्त्तते । स्त्रियाम् । ७ । १ । क्तिन् । १ । १ ॥ स्त्रियामित्यधिकारः क्रियते 'नपुंसके भावे क्तः'[4] इत्यतः प्राक् । अस्मिन्नधिकारे वाऽसरूपविधिर्नास्ति, अस्त्रियामिति प्रतिषेधात् ॥

सामान्यधातोः स्त्रीलिङ्गे कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'क्तिन्' प्रत्ययो भवति ॥ इष्टिः । मतिः । बुद्धिः । धृतिः ॥ उत्सर्गसूत्रमिदमस्यायेऽपवादा वक्ष्यन्ते ॥

वा०—स्त्रियां क्तिन्नाबादिभ्यश्च[5] ॥ १ ॥

आप्तिः । राद्धिः । दीप्तिः । उदाहरणमात्रमेतन्नतु परिगणनम् ॥ 'गुरोश्च हलः'[6] इति 'अ' प्रत्ययः प्राप्तस्तस्य बाधनार्थं वार्त्तिकमिदम् ॥ ९४ ॥

---

१. भा० सू० १४३० ॥

२. 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' (अ० ६ । ३ । ५७) ॥

३. भा० सू० १४३१ ॥ ४. अ० ३ । ३ । ११४ ॥

५. अ० ३ । ३ । ९४ भा० ॥ भा० वा० १४३२ ॥

६ अ० ३ । ३ । १०३ ॥

यहां 'अकर्त्तरि, कारके, भावे च' इन पदों का अनुवर्त्तन है। यह उत्सर्ग सूत्र है आगे इस के अपवाद कहेंगे॥ 'स्त्रियाम्' यह अधिकार 'नपुंसके भावे क्तः' सूत्र तक है। इस अधिकार में वाऽसरूपविधि नहीं होती क्योंकि 'अस्त्रियाम्' ऐसा प्रतिषेध किया है। सामान्य धातु से [स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में कर्तृभिन्न कारक और भाव में [क्तिन्] क्तिन् प्रत्यय होता है॥

जैसे—दृष्टिः। मतिः। बुद्धिः। धृतिः॥

वा० स्त्रियां क्तिन्नाबा०—'आप्लृ' आदि धातुओं से भावादिकों में 'क्तिन्' प्रत्यय हो॥ जैसे—आप्तिः। राद्धिः। दीप्तिः॥ ये उदाहरणमात्र है परिगणन नहीं। 'गुरोश्च हलः' इससे 'अ' प्रत्यय प्राप्त था उसको बाधने के लिये यह वार्त्तिक है॥ ९४॥

स्थागापापचो भावे॥ ९५॥

'आतश्चोपसर्गे'[१] इत्यङ् प्राप्तस्तस्या[यम]पवादः॥ स्थागापापच। ५। १। भावे। ७। १॥ स्थादि-धातुभ्यो भावे स्त्रीलिङ्गे 'क्तिन्' प्रत्ययो भवति॥

स्थितिः[३]। प्रस्थितिः। गीतिः। संगीतिः। उद्गीतिः। प्रपीतिः। संपीतिः। पक्तिः। पचो ग्रहणं केवले भावे क्तिन्विधानार्थम्। भाव-ग्रहणमकर्त्तरि कारक-निवृत्त्यर्थम्॥

वा०—श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे[४]॥ १॥

श्रु, यजि, इषि, स्तु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणकारके 'क्तिन्' प्रत्ययो भवति॥

श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः। इज्यतेऽनयेति 'इष्टिः'। इष्यतेऽनयेति 'इष्टिः'। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः॥ १॥

वा०—ग्लाम्लाज्याहाभ्यो[५] *निः*॥ २॥

क्तिनोऽपवादः। ग्लादिभ्यो 'निः' प्रत्ययो भवति॥ ग्लानिः। म्लानिः। ज्यानिः। हानिः॥ २॥ ९५॥

'आतश्चोपसर्गे' इससे 'अङ्' प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥ [स्था० पच.] स्था, गा, पा, पच इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग [भावे] भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—स्थितिः। प्रस्थितिः। गीतिः। संगीतिः। उद्गीतिः। प्रपीतिः। संपीतिः। पक्तिः॥

१. आ० सू० १४३६॥ २. अ० ३। ३। १०६॥

३. अव्यवस्था, व्यवस्था, संस्था इत्यादिषु 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (अ० १। १। ३४) इत्यादिज्ञापकादिह क्तिन् प्रत्ययाभाव इति ध्येयम्॥

४. अ० ३। ३। ९५ भा०॥ आ० वा० १४३३॥

५. अ० ३। ३। ९५॥ आ० वा० १४३४॥

यहां 'पच' का ग्रहण केवल भाव में 'क्तिन्' बाधने के लिये है, तथा भाव-ग्रहण 'अकर्त्तरि च कारके' की निवृत्ति के लिये है ॥

वा० —श्रुयजी० श्रु, यजि, इषि, स्तु इन धातुओं से करण-कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे —श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः । इज्यतेऽनयेति इष्टिः । इष्यतेऽनयेति 'इष्टिः' । स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः ॥

वा०—ग्लाम्ला०—यह वार्त्तिक 'क्तिन्' का अपवाद है ॥

ग्लादि धातुओं से 'नि' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—ग्लानिः । म्लानिः । ज्यानिः । हानिः ॥ २ ॥ ९५ ॥

मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः[1] ॥ ९६ ॥

'भावे' इत्यनुवर्त्तते । भावे । ७ । १ । वृषेष० राः । १ । ३ । उदात्तः । १ । १ ॥

मन्त्रे वैदिकप्रयोगविषये वृषादिधातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे 'क्तिन्' प्रत्ययो भवति स चोदात्तः ॥

नित्स्वरे प्राप्ते प्रत्ययस्योदात्तस्वरो विधीयते । वृष्टिः[2] । इष्टिः[3] । पक्तिः[4] । मतिः[5] । वित्तिः । भूतिः । वीतिः[6] । रातिः[7] ॥

'इष' धातोर्मन्त्रादन्यत्र करणे 'क्तिन्' वार्त्तिकेन भवति, तत्रोदात्तत्वमपि न भवति । 'पच' धातोः पूर्वसूत्रेण भावे क्तिन्, पुनर्विधानमुदात्तार्थम् । वृषादिभ्यो यथा-प्राप्तं लोके प्रत्ययाः भवन्ति ॥ ९६ ॥

यहां 'भावे' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[मन्त्रे] वैदिक प्रयोगविषय में [वृषे० राः] वृषादि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है और वह [उदात्तः] उदात्त होता है ॥ नित् स्वर की प्राप्ति में प्रत्यय को उदात्त विधान किया है ॥

1. अ० सू० १४३७ ॥

2. यदेषां वृष्टिरसर्जि ॥ ऋ० १ । ३८ । ८ ।, १५२ ॥ ७ ।, ५ । ६३ । १ ।, एवं बहुत्र ॥

3. विश्वेदग्ने सुदिना मासदिष्टिः ॥ ऋ० ८ । ४ । ७ ॥

4. आदित् पक्तिः पुरोडाशं रिरिच्यात् ॥ ऋ० ४ । २४ । ५ ॥ ६ । २९ । ४ ॥

5. यद्दीमुपह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य ॥ ऋ० १ । १४१ । १ ।, १४९ । ४ ।, ३ । ३९ । १ ॥ एवं बहुत्र ॥

6. शुचयो यान्ति वीतये ॥ अथ० २० । ६९ । ३ ॥

7. उत रातिरश्विना ॥ ऋ० १ । ३४ । १ ।, ८९ । २ ।, ११७ । १ । एवमन्यत्रापि ॥

जैसे—वृष्टिः। इष्टिः। पक्तिः। मतिः। वित्तिः। भूतिः। वीतिः। रातिः॥ 'इष' धातु को मन्त्र से अन्यत्र करण में 'क्तिन्' वार्त्तिक से होता है और वह उदात्त भी नहीं होता। 'पच' धातु से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय तो पूर्वसूत्र से सिद्ध ही था, पुनर्विधान उदात्तविधान के लिये है॥ लौकिक प्रयोग में वृषादि धातुओं से यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं॥ ९६॥

ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च[1]॥ ९७॥

'उदात्त' इत्यनुवर्त्तते, मन्त्र इति निवृत्तम्। ऊति० कीर्त्तयः। १। ३। च। [अ०]॥

ऊत्यादयः शब्दाः 'क्तिन्' प्रत्ययान्ता अन्तोदात्ता निपात्यन्ते॥

'अव' धातोः क्तिनि परतो '**ज्वरत्वर०**'[1] इति सूत्रेण 'ऊठ्', ऊतिः॥ 'यु-जु' धातुभ्यां क्तिन् तस्मिन्ननयोर्दीर्घत्वम् निपात्यते—यूतिः, जूतिः॥ सातिरिति—'सन' धातोः [**जनसन०**[2]] इत्यनुनासिकस्याकारादेशः, [स्वरार्थं निपातनम्], अथवा 'षो अन्तः-कर्मणि' अस्मात् 'क्तिन्' '**द्यतिस्यति०**'[4] इति निपातनादित्वं न भवति॥ हेतिरिति—'हन' धातोर्हे इत्यादेशः। अथवा '**हि गतिवृद्धौ च**'[5] इत्यस्य गुणादेशो निपातनात्, हेतिः॥ '**कॄत संशब्दने**'[6] 'इत्यस्मात्' 'क्तिन्' कीर्त्तिः[7]॥ ९७॥

यहां 'उदात्त' पद का अनुवर्त्तन है और 'मन्त्रे' पद की निवृत्ति हो जाती है॥

[ऊति० कीर्त्तयः] ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, कीर्त्ति ये शब्द 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अन्तोदात्त निपातन हैं॥

ऊतिः—'अव' धातु से 'क्तिन्' परे रहते 'ज्वरत्वर०' इस सूत्र से ऊठ् हो जाता है॥ यूतिः। जूतिः। 'यु' और 'जु' धातुओं को 'क्तिन्' परे दीर्घत्व निपातन है॥ सातिः—सन' धातु के अनुनासिक को 'जनसन०' इस से आकारादेश होता है, यहां स्वर के लिये निपातन है। अथवा 'षो अन्तःकर्मणि' इस धातु से 'क्तिन्' 'द्यतिस्यति०' इस सूत्र से प्राप्त 'इत्व' निपातन से नहीं होता॥

हेतिः—'हन' धातु को 'हे' यह आदेश निपातन है। अथवा 'हि गतिवृद्धौ च' इस धातु से गुणादेश निपातन करके हो जाता है॥

'कॄत संशब्दने' इस धातु से 'क्तिन्' में कीर्त्तिः शब्द सिद्ध होता है॥ ९७॥

---

१. आ० सू० १४३८॥ २. अ० ६। ४। २०॥
३. अ० ६। ४। ४२॥ ४. अ० ७। ४। ४०॥
५. धा० स्वा० ११॥ ६. धा० चुरा० ११२॥
७ अत्र '**ण्यासश्रन्थो युच्**' (अ० ३। ३। १०७) इति प्राप्ते निपातनम्॥

व्रजयजोर्भावे क्यप्[1] ॥ ९८ ॥

क्तिनोऽपवादः । उदात्त इत्यनुवर्त्तते । व्रजयजोः । ६ । २ । भावे । ७ । १ । क्यप् । १ । १ ॥

'व्रज-यज' धातुभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे[2] 'क्यप्' प्रत्ययो भवति, स चोदात्तः ॥ व्रज्या । इज्या । कित्त्वात् सम्प्रसारणम्, पित्करणमुत्तरसूत्रे तुगर्थम् ॥ ९८ ॥

यह सूत्र 'क्तिन्' का अपवाद है । यहां 'उदात्त' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[व्रजयजोः] 'व्रज' तथा 'यज' धातु से स्त्रीलिङ्ग [भावे] भाव में [क्यप्] 'क्यप्' प्रत्यय होता है और वह उदात्त होता है ॥

जैसे—व्रज्या । इज्या । 'क्यप्' के कित् होने से सम्प्रसारण और पित् अगले सूत्रों में तुक् विधान के लिये है ॥ ९८ ॥

संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः[3] ॥ ९९ ॥

भावे, [उदात्त] इत्यनुवर्त्त[र्त्त]ते, क्यप् च । संज्ञायाम् । ७ । १ । समज० भृञिणः । ५ । १ ॥

संज्ञायां सत्यां समजादिभ्यो भावे 'क्यप्' प्रत्ययो भवति, स चोदात्तः ॥

समजनं समज्या । निषद्या । निपत्या । मन्या । विद्या । सुत्या । शय्या । भृत्या । इत्या ॥

'संज्ञायाम्' इति किम्—भृतिः ॥ अस्मिन् सूत्रे भाव[4]ग्रहणानुवर्त्तनादकर्तृकारकस्य निवृत्तत्वाच्च कर्मणि स्त्रीलिङ्गे ण्यदेव भवति । तेन भार्या शब्दः सिद्ध्यति ॥

वा०—क्यब्विधिरधिकरणे च[5] ॥ १ ॥ समजन्ति तस्यां समज्या[6] ॥ ९९ ॥

---

१. धा० सू० १४३९ ॥

२. अत्र भाव-ग्रहणम्—'**अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्**' इत्यस्य निवृत्त्यर्थमेव, अग्रिमसूत्रे स्त्रियां भावाधिकारोऽस्तीति वचनात् ॥

३. धा० सू० १४४० ॥

४. इहान्ये वृत्तिकारा 'भाव-ग्रहणं न स्वर्यते' इत्युक्त्वा कर्त्तृभिन्ने कारकेऽपि क्यप् प्रत्ययं विदधति, तदयुक्तम्—'**भृञोऽसंज्ञायाम्**' (अ० ३ । १ । ११२) इत्यत्र '**स्त्रियां भावाधिकारोऽस्तीति**' वचनात् । समजन्ति तस्यां समज्या इत्यत्र क्यब्विधानाय '**क्यब्विधिरधिकरणे च**' इति वार्त्तिकप्रणयनाच्चासंदिग्धा भावानुवृत्तिः, अन्यथाऽधिकरणे क्यब्विधानाय वार्त्तिकप्रणयनं व्यर्थं स्यात् । यत्तु काशिकाकृता तद्व्याख्यातृभिश्च 'भावाधिकारो भावव्यापारो वाच्यत्वेन विवक्षितः, न तु शास्त्रीयोऽधिकारः' इत्युक्तं तत्तु प्रौढिवादमात्रम् ॥

५. अ० ३ । ३ । ९९ ॥

६. संज्ञायामिति वचनात् अजेर्वीभावो न भवति, नियतवर्णानुपूर्वीकत्वात् संज्ञायाः ॥

यहां 'भावे' ['उदात्त'] और 'क्यप्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[संज्ञायाम्] संज्ञा हो तो [समज० त्रिणः] समज, निषद, निपत, मन, विद, षुञ्, शीङ्, भृञ् इण् इन से स्त्रीलिङ्ग भाव में 'क्यप्' प्रत्यय और वह उदात्त होता है ॥

जैसे—समजन समज्या । निषद्या । निपत्या । मन्या । विद्या । सुत्या । शय्या । भृत्या । इत्या ॥

'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—भृतिः । इस सूत्र में भाव ग्रहण की अनुवृत्ति होने से तथा 'कर्तृभिन्न कारक' अर्थ के निवृत्त होने से कर्म में स्त्रीलिङ्ग में 'ण्यत्' ही होता है, अतः भार्या शब्द सिद्ध हो जाता है ॥

वा०—क्यब्विधि०—'क्यप्' प्रत्यय अधिकरण में भी कहना चाहिये । जैसे—समजन्ति तस्यां समज्या ॥ ९९ ॥

कृञः श च[1] ॥ १०० ॥

भावादि सर्वं निवृत्तम् । क्यबनुवर्त्तते । कृञः । ५ । १ । श । १ । १ । च । [अ०] ॥

वा०—कृञः श चेति वा वचनम्[2] ॥ १ ॥

'कृञ्' धातोः 'श' प्रत्ययो विधीयते स क्तिनो बाधकः स्यात्, एतदर्थं विकल्पः क्रियते क्तिन्नपि यथा स्यात् ॥

'कृञ्' धातोः [स्त्रियां] कर्तृभिन्ने कारके भावे च विकल्पेन 'श' प्रत्ययो भवति, पक्षे 'क्तिन्' चकारेणानुकर्षणात् 'क्यप् च' ॥ क्रिया । कृतिः । कृत्या ॥ १०० ॥

यहां भावादि सब निवृत्त है । 'क्यप्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

वा०—कृञः श०—'कृञ्' धातु से जो 'श' प्रत्यय का विधान किया है वह 'क्तिन्' का अपवाद हो जाता, अतः यहां विकल्प करके विधान किया जिससे 'क्तिन्' भी हो जावे ॥

[कृञः] 'कृञ्' धातु से स्त्रीलिङ्ग में कर्तृभिन्न कारक और भाव में विकल्प करके [श] 'श' प्रत्यय होता है पक्ष में 'क्तिन्', चकार के अनुकर्षण से 'क्यप्' भी हो जाता है ॥

जैसे—क्रिया । कृतिः । कृत्या ॥ १०० ॥

१. आ० सू० १४४२ ॥

२. अ० ३ । ३ । १०० भा० ॥ आ० वा० १४४३ ॥

इच्छा[1] ॥ १०१ ॥

इच्छा । १ । १ ॥ 'इष' धातोः 'श' प्रत्ययस्तस्य सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुके यक्'[2] इति 'यक्' प्राप्तो निपातनात्[3] प्रतिषिध्यते । इषुगमि०[4] इति छत्वम् ॥

वा०—परिचर्य्यापरिसर्य्यामृगयाऽटाट्यानामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्[5] ॥ १ ॥

परिपूर्वाभ्यां चर-सृभ्यां 'क्तिन्' प्राप्तः स बाध्यते । मृगया । अटाट्येति प्रत्ययान्तत्वाद् 'अ' प्रत्ययः प्राप्तः स बाध्यते ॥

वा०—जागर्त्तेरकारो वा[6] ॥ २ ॥

'जागृ' धातोः 'क्तिन्' प्राप्तः स बाध्यते, 'अ' प्रत्ययः स्यात् पक्षे च 'शः' ॥ जागर्य्या । जागरा ॥ १०१ ॥

[इच्छा] 'इष' धातु से 'श' प्रत्यय होता है, 'श' प्रत्यय के सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुके यक्' सूत्र से 'यक्' प्राप्त था, उसका निपातन से निषेध हो जाता है। 'इषुगमियमां छः' सूत्र से छकार हो जाता है ॥

वा०—परिचर्य्या०—परिचर्य्या । परिसर्य्या—परि-पूर्वक 'चर' तथा 'सृ' धातु से 'क्तिन्' प्राप्त था उसका निषेध वार्त्तिक ने किया ॥

मृगया । अटाट्या इस में 'णिच्' तथा 'यङ्' प्रत्ययान्त होने से 'अ' प्रत्यय प्राप्त था, उसका वार्त्तिक ने निषेध कर दिया ॥

वा०—जागर्त्ते०—यहां 'जागृ' धातु से 'क्तिन्' प्राप्त था उसको बाध कर 'श' और 'अ' प्रत्यय विकल्प करके विधान किये हैं ॥

जैसे—जागर्य्या । जागरा ॥ १०१ ॥

---

१. आ० सू० १८४४ ॥ २. अ० ३ । १ । ६७ ॥

३ अत्र भाष्यम् —किं निपात्यते । इषेः शे यगभावः ॥ यगभाव इति वचनसामर्थ्यात् भावेऽत्र विधानम् ॥ (ख) ......एवं तर्हि यस्य स्त्रियामित्येतद्रूपं निपात्यते । कस्य चैतन्निपात्यते ? कान्तिकर्मणः ॥ (अ० ३ । १ । ७ भाष्ये) ॥ इष इच्छायाम्—तुदादिः ॥

४ अ० ७ । ३ । ७७ ।

५ अत्र भाष्यम् अत्यल्पमिदमुच्यते इच्छेति । इच्छापरिचर्य्यापरिसर्य्यामृगयाटाट्यानामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम् । जागर्त्तेरकारो वा । जागर्य्या जागरा ॥ (ख) अ० ३ । ३ । १०१ भा० ॥ आ० वा० १६४५ ॥

६ अ० ३ । ३ । १०१ भा० ॥ आ० वा० १६४६ ॥

अ प्रत्ययात्[1] ॥ १०२ ॥

क्तिनोऽपवादः। अ[2]। १। १॥ प्रत्ययात्। ५। १॥ प्रत्ययान्ताद् धातोः स्त्रीलिङ्गे कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अ' प्रत्ययो भवति ॥

जुगुप्सा। मीमांसा। चिकीर्षा। पुत्रीया। पुत्रकाम्या। पापचा। कण्डूया। गोपाया ॥ १०२ ॥

यह सूत्र 'क्तिन्' का अपवाद है ॥

[प्रत्ययात्] प्रत्ययान्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में [अ] 'अ' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जुगुप्सा। मीमांसा। चिकीर्षा। पुत्रीया। पुत्रकाम्या। पापचा। कण्डूया। गोपाया ॥ १०२ ॥

गुरोश्च हलः[3] ॥ १०३ ॥

क्तिनोऽपवादः। अ इत्यनुवर्त्तते। गुरोः। ५। १। च। [अ०] हलः। ५। १ ॥

गुरुमतो हलन्ताद् धातोः स्त्रीलिङ्गे कर्त्तृभिन्ने कारके भावे च 'अ' प्रत्ययो भवति ॥

इन्दा। नन्दा। ईहा। ऊहा ॥

'गुरोः' इति किम्—चित्तिः। सिद्धिः॥ 'हलः' इति किम्—क्रीतिः। नीतिः ॥ १०३ ॥

यह सूत्र 'क्तिन्' का अपवाद है। यहां 'अ' पद की अनुवृत्ति है॥ [गुरोः] गुरुमान् [हलः] हलन्त धातु से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अ' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—इन्दा। नन्दा। ईहा। ऊहा ॥

'गुरोः' ग्रहण इसलिये है कि—चित्तिः। सिद्धिः॥ 'हलः' ग्रहण इसलिये है कि—क्रीतिः। नीतिः॥ यहां 'अ' नहीं होता ॥ १०३ ॥

षिद्भिदादिभ्योऽङ्[4] ॥ १०४ ॥

क्तिनोऽपवादः। षिद्भिदादिभ्यः। ५। ३। अङ्। १। १॥ ष् इत्यस्य स षित्, भिदादयो गणपठिताः ॥

षिद्भ्यो भिदादिभ्यश्च धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गेऽकर्त्तरि कारके भावे च 'अङ्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. आ० सू० १४४७ ॥
२. लुप्तविभक्तिको निर्देशः ॥
३. आ० सू० १४४८ ॥
४. आ० सू० १४४९ ॥

जृष्–जरा । 'ऋदृशोऽङि गुणः'[1] इति प्रतिषेधविषयो गुणः ॥ त्रपूष्–त्रपा । क्षमूष्–क्षमा[2] ॥ भिदादिः–भिदा । छिदा । विदा ॥ वा०–भिदा[3] विदारण इति वक्तव्यम् । भित्तिरन्या । छिदा[3] द्वैधीकरण इति वक्तव्यम् ॥ छित्तिरन्या ॥ आरा[3] शस्त्र्यामिति वक्तव्यम् । आर्त्तिरन्या ॥ धारा[3] प्रपात इति वक्तव्यम् । धृतिरन्या ॥ गुहा[3] गि[4]र्य्योषध्योरिति वक्तव्यम् । गूढिरन्या ॥

अथ भिदादिगणः—भिदा । छिदा । विदा । क्षिपा । गुहा । श्रद्धा[5] । मेधा । गोधा । आरा[6] । हारा । कारा । क्षिया । भारा । धारा । रेखा । लेखा । चूडा । पीडा । वपा[6] । वसा[6] । सृजा[6] । मृजा[6] ॥ क्रपेः सम्प्रसारणं च ॥ कृपा[7] ॥ इति भिदादिगणः[8] ॥ येषु भिदादिशब्देषु वार्त्तिकैरर्था निर्दिष्टास्ते नियमार्थाः ॥ १०४ ॥

---

१. अ० ७ । ४ । १६ ॥

२ 'डुलभष् प्राप्तौ' (भ्वा०) इत्यत्र षासो' पित्त्वात् 'लभा' इत्येव प्राप्नोति, परम्—अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः' (हयवरडिति सूत्रे) इति वचनात् क्षिपपि भवति ॥

३. अ० ३ । ३ । १०४ भा० ॥

४ गिरिशब्दोऽत्र गिर्य्यवयववाची 'गुहां प्रविष्टे परमे परार्द्धे' (कठो० ३ । १) इत्यादि-दृष्टवारात् प्रयोगः ॥

५. नास्ति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥ ६. नास्ति काशिका-प्रक्रियाकौमुद्योः ॥

७ तारा, क्षिपा, भारा, रेखा इत्यधिकाः प्रक्रियाकौमुद्याम् । कुटा, मृत्सा इत्यधिको प्रक्रिया-कौमुदीटीकायाम् ।

दया, रुजा, पृच्छा, चुरा, क्षिपा, तुला, क्षपा, लेखा, शोभा, सेधा, गदा, तारा, खेदा, इत्यधिकाः गणरत्नमहोदधौ ॥

८. आकृतिगणश्चायम् । तेन—चूडा, पीडा, ऊहा प्रभृतयो द्रष्टव्या इति गणरत्नमहोदधौ ॥

अर्था निर्दिश्यन्ते—

भिदा—विदारणम् । छिदा—द्वैधीकरणम् । विदा—लाभो ज्ञानं वा । क्षिपा—प्रेरणम् । गुहा—पर्वतकुहरम्, ओषधिविशेषश्च । श्रद्धा—सत्यधारणारूपो विश्वासः । मेधा—धारणारूपा बुद्धिः । गोधा—प्राणिविशेषः 'गोह' इति भाषायाम् । आरा—शस्त्री—क्रकचो वा । हारा—मुक्ता-फलमाला, मानमिति भोजः । कारा—गुप्तिः । 'अस्यैव कारावासः—कारागारो वा' । क्षिया—आचारभेदः । भारा—बोरा, इति भाषायाम् । तारा—ज्योतिः, ग० म०, तृ प्लवनसन्तरणयोरिति न्यासः । धारा—प्रपातः । जलधारा, क्षीरधारा इति न्यासः । रेखा—राजिः =पङ्क्तिः, रिखि सौत्रो धातुर्लिखे समानार्थः । अथवा लेखा—लिखेर्गुणः, पक्षे लकारस्य रेफादेशश्च तेन रेखा इति न्यासः । चूडा—केशसंघातः । चोदयते ('चुद समुच्छ्राये') दकारस्य डत्वमुपधादीर्घश्च (व्या० सुधानिधि) । पीडा—अवगाहनम् । वपा—मेदोविशेषः । 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । मनुष्य वर्ग ६-८ ॥ सृजा—सर्जनम् ॥ मृजा—शरीरशुद्धिः ॥ कृपा—अनुग्रहविशेषः ॥

यह सूत्र 'क्तिन्' का अपवाद है ॥

[षित्] ष् इत् है जिन धातुओं का उन से तथा [भिदादिभ्यः] भिदादिकों से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में [अङ्] 'अङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे -जृष्—जरा । यहां 'ऋदृशोऽङि गुणः' इस सूत्र से प्रतिषेध विषय में गुण हो जाता है ॥ त्रपूष्—त्रपा । क्षमूष्–क्षमा ॥

भिदादि—भिदा । छिदा । विदा ॥

वा०—भिदा विदारण०—भित्तिरन्या ॥ छिदा द्वैधीकरण०—छित्तिरन्या ॥ आरा शस्त्र्याम्—आर्त्तिरन्या ॥ धारा प्रपात०—धृतिरन्या ॥ गुहा गिर्योषध्योः०—गूढिरन्या ॥ भिदादि शब्दों में गणवार्त्तिकों ने जिन अर्थों का निर्देश किया है वह नियमार्थ समझने चाहियें ॥ १०४ ॥

चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च[1] ॥ १०५ ॥

चिन्ति० चर्चः । ५ । १ । च । [अ०] । चिन्त्यादयः सर्वे धातवश्चुरादिस्थाः, ण्यन्तेभ्यस्तेभ्यो 'युच्' प्रत्ययः प्राप्तस्तस्यापवादोऽङ् विधीयते ॥

चिन्त्यादिधातुभ्यः [स्त्रियां] अकर्त्तरि कारके भावे च 'अङ्' प्रत्ययो भवति ॥

चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्बा । चर्चा[2] ॥ १०५ ॥

चिन्ति आदि सब धातु चुरादिस्थ हैं उनके ण्यन्त होने से युच्' प्राप्त था उसका अपवाद 'अङ्' विधान किया ॥

[चिन्ति० चर्चः] चिन्ति, पूजि, कथि, कुम्बि, चर्च इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्बा । चर्चा । १०५ ॥

आतश्चोपसर्गे[3] ॥ १०६ ॥

क्तिनोऽपवादः । आतः । ५ । १ । [च । अ० ।] उपसर्गे । ७ । १ ॥ सोपसर्गेभ्य आकारान्तधातुभ्यः [स्त्रियां] अकर्त्तरि कारके भावे च 'अङ्' प्रत्ययो भवति ॥

संज्ञा । उपधा । अन्तर्द्धा[4] ॥ १०६ ॥

---

१. आ० सू० १४५० ॥

२. तोलयतेस्तुला अत्र '……तुलोपमाभ्याम्०' (अ० २ । ३ । ७२) इति निपातना-युच् न भवति, चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादित्यन्ये ॥

३. आ० सू० १४५१ ॥

४. अन्तः शब्दस्योपसर्गत्वे (अ० १ । ३ । ९०) टिप्पणिर्द्रष्टव्या ॥

यह सूत्र 'क्तिन्' का अपवाद है ॥

[उपसर्गे] उपसर्गपूर्वक [आतः] आकारान्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में 'अङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—संज्ञा । उपधा । अन्तर्द्धा ॥ १०६ ॥

ण्यासश्रन्थो युच्[1] ॥ १०७ ॥

ण्यन्तानां प्रत्ययान्तत्वादासश्रन्थोश्च हलन्तगुरुमत्त्वाद् 'अः' प्राप्तस्तस्यापवादः ॥ ण्यासश्रन्थः । ५ । १ । युच् । १ । १ ॥ ण्यन्तेभ्य आसश्रन्थिभ्यां च धातुभ्यां [स्त्रियाम्], अकर्त्तरि कारके भावे च 'युच्' प्रत्ययो भवति ॥

कारणा । हारणा । पाचना । भावना । पाठना । आसना । श्रन्थना । श्रन्थ- धातोः क्र्यादिस्थस्य ग्रहणम् । चुरादिस्थस्य ण्यन्तत्वादेव सिद्धम् । चित्करणमन्तो- दात्तार्थम् ॥

वा०—*युच् प्रकरणे घट्टिवन्दिविदिभ्य उपसंख्यानम्*[2] ॥ १ ॥

घट्टादीनां हलन्तगुरुमत्त्वाद् 'अ' प्राप्तः स बाध्यते ॥ घट्टना । वन्दना । वेदना ॥ १ ॥

वा०—*इषेरनिच्छार्थस्य*[3] ॥ २ ॥

क्तिन् बाधनार्थम् । अनिच्छार्थाद् 'इष' धातो 'युँच्' । अन्वेषणा ॥ २ ॥

वा०—*परेर्वा*[4] ॥ ३ ॥

परिपूर्वादनिच्छार्थाद् 'इष' धातोर्वा 'युच्' पक्षे क्तिन्नेव ॥ अन्यां परीष्टिं चर । अन्यां पर्य्येषणां चर ॥ विशेषविहितः क्तिन्नपि भावे करणे च भवत्येव ॥ १०७ ॥

प्रत्ययान्त होने से ण्यन्तों को तथा आस, श्रन्थ को हलन्त गुरुमान् होने से 'अ' प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥

[ण्यासश्रन्थः] ण्यन्तों से तथा आस, श्रन्थ धातुओं से स्त्रीलिङ्ग विषयक कर्तृभिन्न कारक और भाव में [युच्] 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

---

१. आ० सू० १४५२ ॥

२. अ० ३ । ३ । १०७ भा० ॥ आ० वा० १४५३ ॥

३. अ० ३ । ३ । १०७ भा० ॥ आ० वा० १४५४ ॥ (क) वित्तैषणायाः पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति । (बृ० उ० ३ । ५ । १) ॥

तथा च—या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा ॥ (बृ० उ० ३ । ५ । १) ॥

इति छान्दसप्रयोगो द्रष्टव्यः ॥ कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा०) इति वचनाद्वा इच्छार्थकादपि 'इषे' 'युँच्' भवति ॥

४. अ० ३ । ३ । १०७ भा० ॥ आ० वा० १४५५ ॥

जैसे—कारणा । हारणा । पाचना । भावना । पाठना । आसना । श्रन्थना ॥ यहाँ क्र्यादिगणस्थ 'श्रन्थ' का ग्रहण है क्योंकि चुरादिस्थ का 'णि' ग्रहण से ही ग्रहण हो जाता है ॥ चित्करण अन्तोदात्त के लिये है ॥

वा०—युच्-प्रकरणे घट्टिवन्दि० घट्टि आदिकों को हलन्त गुरुमान् होने से 'अ' प्रत्यय प्राप्त था उसका अपवाद है ॥

जैसे—घट्टना । वन्दना । वेदना ॥ १ ॥

वा०—इषेरनि०—यह वार्त्तिक 'क्तिन्' के प्रतिषेध के लिये है ॥ अनिच्छार्थक 'इष' धातु से 'युच्' प्रत्यय हो । जैसे—अन्वेषणा ॥

वा०—परेर्वा—परि-पूर्वक अनिच्छार्थक 'इष' धातु से विकल्प करके 'युच्' प्रत्यय होता है, पक्ष में 'क्तिन्' ॥

जैसे—धन्या परीष्टि चर । धन्यां पर्यषणां चर ॥ विशेषविहित 'क्तिन्' भी भाव, करण में होता है ॥ १०७ ॥

रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्[1] ॥ १०८ ॥

क्तिन्नादीनां सर्वेषामपवादः ॥ रोगाख्यायाम् । ७ । १ । ण्वुल् । १ । १ । बहुलम् । १ । १ ॥ रोगस्याख्या विशेषसंज्ञा तस्याम् । प्रत्ययान्तेन रोगाख्यायां सत्यां धातोः [स्त्रियाम्] अकर्त्तरि कारके भावे च बहुलं 'ण्वुल्' प्रत्ययो भवति । प्रच्छर्दिका[2] । प्रवाहिका[3] । विचर्चिका[4] । रोगविशेष[स्य] संज्ञा इमाः ॥ बहुलग्रहणान् क्वचिन्नापि भवति । शिरोर्त्तिः । अत्र क्तिन्नेव ॥

वा०—धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्[5] ॥ १ ॥

धात्वर्थो भावस्तस्य निर्देशे 'ण्वुल्' भवति ॥ का नामासिकाऽन्येष्वोह्यमानेषु । का नाम शायिकाऽन्येष्वधीयानेषु ॥ १ ॥

---

१. का० सू० १४५६ ॥ २. वमनरोगः ॥ तल्लक्षणम्तु—

बीभत्सहेतुभिश्चार्म्यह्न्तमुत्क्लेशितो बलात् । छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ (सु० उ० अ० ४९ श्लो० ३)

३. 'मरोड़' इति भाषायाम् । तल्लक्षणम्तु—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं, नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं, प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च ।
सशोणिताः शोणितसम्भवास्तु ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥

(सु० उ० अ० ४० श्लो० ३३ । ३४)

४. पामारोगः । 'खाज-खुजली' वा भाषायाम् ॥

५. म० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ का० वा० १४५७ ॥

वा०—इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे[1] ॥ २ ॥

धातवो यत्र कार्य्यार्थं सूत्रेष्वन्यत्र वा निर्देष्टव्यास्तत्र 'इक्श्तिपौ' प्रत्ययौ द्रष्टव्यौ ॥ पचेः प्रयोगं ब्रूहि । पचतेः प्रयोगं ब्रूहि ॥ सूत्रेषु—चिन्तिपूजि०[2] । भवतेर:[3] ॥ श्तिपि शितिपदित्यनुबन्धद्वयकरणात्कर्त्तरि सार्वधातुकेऽपि विकरणा भवन्त्येव ॥ भवतिः । पचतिः ॥ अतिङ्त्वात् कृत्संज्ञा ततः प्रातिपदिकत्व च ॥ २ ॥

वा०—वर्णात्कारः[4] ॥ ३ ॥

वर्णमात्रात् 'कार' प्रत्ययो भवति ॥ अकारः । आकारः । इकारः । ईकारः ॥

वा०—रादिफः[5] ॥ ४ ॥

राद् रवर्णादिफः प्रत्ययो भवति न तु कारः ॥ रेफः[6] ॥ ४ ॥

---

१. अ० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ मा० वा० १४५८ ॥ (क) **'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे'** इत्युक्तं धात्वर्थनिर्देशेऽपि भवतः ।

यथा—**"आहो प्रभूतादिभ्यः" "गच्छतौ परदारादिभ्यः"** (भा० वा० ४ । ४ । १) **ईक्षतेर्नाशब्दम्** (वेदा० १ । १ । ५) ॥

विकरणैरपि निर्देशो भवति—

यथा—**मन्यकर्मण्यना०** (अ० २ । ३ । १७) इति, **उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौति-स्तोभतिस्थासेनयसेध०** (अ० ८ । ३ । ६५) इति च । अत एव 'श्तिपाशपाऽनुबन्धेन' इत्यादिप्राचा-मुक्तमुपपद्यते ॥

२. अ० १ । ३ । १०५ ॥ ३. अ० ७ । ४ । ७३ ॥

४ अ० ३ । ३ । १०८ ॥ (ख) मा० वा० १४५९ ॥ (ग) **'वर्णात् कारः'** इत्युक्त निपातरूपवर्णसमुदायादपि भवति–एवकारः । हुङ्कारः । अहङ्कारः । यद्वा—**'उच्चैस्तरां वा वषट्-कार'** (अ० १ । २ । ३५) इति निर्देशात् समुदायात् कारप्रत्यय ॥

(घ) **अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य** (वा० प्रा० १ । ३८) । अकारव्यवहितेन कारप्रत्ययेन व्यञ्जनस्य निर्देशो भवतीत्यर्थं ॥ यथा—ककार., खकार. ॥ **स्वरैरपि** (वा० प्रा० १ । ४०) ॥ स्वरैरपि व्यञ्जनानां निर्देशो भवति । **यथा —नुः । षढयोः अस्** । (वा० प्रा० १ । १३३ । १३४) अत्र उकारेण, अकारेण च निर्देश । तथा पाणिनीयेऽपि —**सवाभ्यां वामौ** ॥ ३ । ४ । ९१ ॥ **नानुस्वारयमविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः** (वा० प्रा०—१ । ४१) ॥ एते न कारप्रत्ययेन निर्देष्टव्याः, किन्तु स्वशब्दैरेव ॥

निर्देश इतिना (वा० प्रा०—१ । ३६) ॥ वर्णानामितिना निर्देशो भवति ॥ यथा–किति, खिति, गिति घिति, ङिति कवर्गः (वा० प्रा० ८ । ८) ॥

५. अ० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ (ख) मा० वा० १४६० ॥

६ 'रादिफः' इत्युक्तं, कारप्रत्ययोऽपि दृश्यते । यथा— **रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण'** (वा० रा०—अर० कां० स० ३९ । श्लो० १७) ॥

वा०—मत्वर्थाच्छः[1] ॥ ५ ॥

मत्वर्थशब्दात् 'च्छ' प्रत्ययो भवति ॥ मत्वर्थीयः[2] ॥ सूत्रे यत् बहुल-ग्रहणं तत्सर्वेषु वार्त्तिकेषु सम्बध्यते । तेन मत्वर्थशब्दस्याभत्वेऽप्यकारो लुप्यते ॥ ५ ॥

वा०—इणजादिभ्यः[3] ॥ ६ ॥

अजादिधातुभ्य 'इण्' प्रत्ययो भवति ॥ आजिः[4] । आतिः । आदिः ॥ ६ ॥

वा०—इञ्वपादिभ्यः[5] ॥ ७ ॥

वापिः[6] । वासिः । वादिः ॥ ७ ॥

वा०—इक्कृष्यादिभ्यः[7] ॥ ८ ॥

नव्यास्तु—स्त्रियामित्यस्यासम्बन्धात् वाऽसरूपविधिना कारप्रत्ययोऽपि भवतीत्याहुः ॥ 'क्वचिदपवादेऽप्युत्सर्गः प्रवर्त्तते' इति दुर्घटवृत्तिः ॥

बहुलग्रहणात् क्वचिन्नापि भवति । यथा—'रेफ तुल्यं सुधीवनि—तद्यथा सुधीवा सुधीवेति ङीप् तत्सन्नियोगेन र उपधमागोऽसति ङीपि न भवति ॥ (भा०—१ । २ । १८) इति । एवं च कृत्वा प्रत्याहारसूत्रेष्वपि वर्णनिर्देश उपपन्नो भवति ॥

(ख) र एकेन च (भा०—प्रा० १ । २९) ॥ र एकेन निर्दिश्यते, इतिना च । यथा—रेफः । रिनिः ॥

1. अ० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ (ख) भा० वा० १४६१ ॥

2. 'मत्वर्थाच्छः' इत्युक्तम्, मतुबर्थशब्दादपि भवति यथा—शैषिकान्मतुबर्थीयात् (भा० ३ । १ । ७ सूत्रे) ॥

3. अ० १०८ भा० ॥ (ख) भा० वा० १४६२ ॥

4. 'दासस्य पत्राज्यातिगोपहतेषु' (अ० ६ । ३ । ५२) । इति निपातनात् 'अजेर्व्यघञपोः' (अ० २ । ४ । ५६) इत्यजेर्वीभावो न भवति, बाहुलकाद्वा । 'अज्यतिभ्यां च' (उणा० ४ । १३१) इत्युणादिसूत्रेणापि 'आजिआति' शब्दौ सिध्यत, तत्राऽपि पूर्ववद् वीभावाभावो बोध्य. ।

5. अ० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ (ख) भा० वा० १४६३ ॥

6. वापिः, वासिः, वादि.—वसिवपियजिराजि० (उ० ४ । १२५) इत्यादिसूत्रेणाऽपि 'इञ्'-प्रत्ययान्ताः साध्यन्ते ।

उणादौ व्युत्पन्नान्यपि पदानि बहुलग्रहणस्य प्रपञ्चार्थमेवात्र पुनर्व्युत्पादितानि । प्रयोजनान्तरं वा मृग्यम् ॥

7. अ० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ (ख) भा० वा० १४६४ ॥

कृषिः[1] । किरिः[2] । गिरिः ॥ ८ ॥

वा०—सम्पदादिभ्यः क्विप्[3] ॥ ९ ॥

सम्पत्[4] । विपत् । प्रतिपत् । आपत् । परिषत् ॥ इणजादिभ्य इत्यारभ्य चतुर्षु वार्त्तिकेषु परिगणनं नास्ति किन्त्वन्येऽपीदृशाः शब्दाः सिध्यन्ति । बहुलग्रहणं च सर्वेषु सम्बध्यते, तेन वार्त्तिकविहितानि कार्य्याणि बहुलं भवन्ति ॥ १०८ ॥

यह क्तिन् आदि सब प्रत्ययों का अपवाद है ॥

[**रोगाख्यायाम्**] यदि ण्वुल् प्रत्ययान्त से रोगविशेष की संज्ञा प्रतीत होती हो तो धातु से स्त्रीलिङ्ग, भाव तथा कर्तृभिन्न कारक में [**बहुलम्**] बहुल करके [**ण्वुल्**] 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—प्रच्छर्द्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । ये रोगविशेष के नाम हैं । बहुल-ग्रहण से कहीं 'ण्वुल्' नहीं भी होता । जैसे—शिरोर्त्तिः । यहां 'क्तिन्' ही होता है ॥

---

१. उणादावपि **'इगुपधात् कित्'** (उ० ४ । १२०) इति सूत्रेण इन् प्रत्ययान्तः कृषिशब्दः सिध्यति । स च नित्त्वादाद्युदात्तं प्राप्नोति परं **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'** (ऋ० १० । ३४ । १३) इत्यादौ सर्वत्राऽन्तोदात्त एव कृषिशब्द उपलभ्यते, वार्त्तिकेनापि 'इक्' प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्त एव साध्यते, अतस्त्वाद्युदात्तस्वरप्राप्तिर्बाहुलकात् प्रतिविधेया । औणादिको नित्त्वादाद्युदात्तो भवतु, इक् प्रत्ययान्तश्चान्तोदात्तः, किं स्वरव्यत्ययेनेति चेत्, न आद्युदात्तस्य कृषिशब्दस्यानुपलम्भात् । केचनोणादिवृत्तिकारा **'इगुपधात् किः'** इत्येवं पठन्ति, तदप्ययुक्तम्—**'पूर्वेभिर्ऋषिभिः'** (ऋ० १ । १ । २) **'शुचिविप्रः'** (ऋ० ८ । ४४ । २१) इत्यादिषु ऋषि-शुचि-प्रभृतिषु शब्देष्वाद्युदात्तत्वदर्शनात् । तस्माद्बहुत्र व्यत्ययकल्पनादेकत्रैव व्यत्ययकल्पना ज्यायसी ॥

२. उणादौ **'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च'** ... **'अच इः'** (उ० ४ । १३९) इति सूत्रेणापि किरि-गिरिशब्दौ सिध्यतः ॥

३. म० ३ । ३ । १०८ भा० ॥ (ख) मा० वा० १४६५ ॥

४. **'सम्पदादिभ्यः क्विप्'** इत्युक्तम्, क्तिन्नपि भवति । यथा—सम्पत्तिः । विपत्तिः ॥

गणरत्नमहोदध्यनुसारं सम्पदादिगणः—

सम्पदादेः क्विप् क्तिरित्यनेन सम्पदादेः स्त्रियां भावेऽकर्त्तरि च कारके क्विप्-क्तिप्रत्ययौ भवतः ॥ सम्पत्तिः । सम्पत् । विपत्तिः । विपत् । व्यापत्तिः । व्यापत् । प्रतिपत्तिः । प्रतिपत् । संसत् । परिषत् । उपसत् । उपनिषत् । संवित् । निवित् । उपानत् । प्रावृट् । विप्रुट् । समित् । नीवृत् । उपावृत् । संयत् । प्रतिश्रुत् । उपस्तुत् । उपभृत् । विदेति जानात्यर्थं इत्यन्ये । समिध्यतेऽनया समित् । **वामनमते** क्तिप्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥ ऋत् । युत् । क्षुत् । तृट् । त्विट् । रुट् । रुक् । शुक् । ऋक् । मुत् । मृत् । धीः । अत्रापि क्तिप्रत्ययो वामनमतेन । **भोजस्तु** । क्तिप्रत्ययं न ददर्श । ह्रीतिः । ह्रीः ॥ भीतिः । भीः ॥ सूतिः । सूः ॥ भूतिः । भूः ॥ कृतिः । कृत् ॥ भित्तिः । भित् ॥ छित्तिः । छित् ॥ तुत्तिः । तुत् ॥ इष्टिः । इक् ॥ नष्टिः । नक् ॥ युक्तिः । युक् ॥ जूतिः । जूः ॥ ऊतिः । ऊः ॥ तूर्तिः । तूः ॥ श्रुतिः । श्रूः ॥ मूतिः । मूः ॥ शक्तिः । शक् ॥ नुतिः । नुत् ॥ भोजोऽपि क्तिक्विपौ ददर्श ॥ आकृतिगणोऽयम् ॥ तेन शामि-श्रं-कण्डूयप्रभृतयो द्रष्टव्याः ॥ इति सम्पदादिः ॥

वा०—धात्वर्थनि० -धात्वर्थ अर्थात् भाव के निर्देश में ण्वुल् प्रत्यय होता है ॥ जैसे—का नामासिकाऽस्येभ्वोहमानेषु । का नाम शायिकाऽस्येष्वधीयानेषु ॥ १ ॥

वा० -इक्श्तिपौ० -जहां कार्य के लिये सूत्र में या अन्यत्र धातु का निर्देश करना हो वहां 'इक्' और 'श्तिप्' प्रत्यय हो जाते हैं ॥ जैसे -पचेः प्रयोगं ब्रूहि । पचतेः प्रयोग ब्रूहि ॥ सूत्रों में—चिन्तिपूजि० । भवतेर ॥

'श्तिप्' में श् तथा प् इन दो अनुबन्धों के करने का यह प्रयोजन है कि अकर्तृवाची सार्वधातुक में भी विकरण हो जाते हैं। जैसे—भवतिः । पचतिः । अनिङ् होने से कृत्संज्ञा, पुन प्रातिपदिकसंज्ञा होने से 'सु' आदि उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २ ॥

वा०—वर्णात्कारः—वर्णमात्र से 'कार' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अकारः । आकारः । इकारः । ईकारः ॥ ३ ॥

वा०—रादिफः—र-वर्ण से 'इफ' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—रेफः ॥ ४ ॥

वा०—मत्वर्थाच्छः—मत्वर्थ शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है ॥ जैसे —मत्वर्थीयः ॥ सूत्र में जो बहुल ग्रहण किया है वह सब वार्त्तिकों में सम्बन्धित होता है। अतः बिना भी भ-संज्ञा के मत्वर्थ शब्द में अकार लोप हो जाता है ॥ ५ ॥

वा०—इणजादिभ्यः—'अज' आदि धातुओं से 'इण्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे—आजिः । आतिः । आदिः ॥ ६ ॥

वा०—इञ् वपादिभ्यः—'वप' आदि धातुओं से 'इञ्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे —वापिः । वासिः । वादिः ॥ ७ ॥

वा०—इक् कृष्यादिभ्यः—'कृषि' आदि धातुओं से 'इक्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे —कृषिः । किरिः । गिरिः ॥ ८ ॥

वा० -सम्पदादि० -सम्पद् आदि में 'क्विप्' प्रत्यय होता है ॥ जैसे -सम्पत् । विपत् । प्रतिपत् । आपत् । परिषत् ॥ ९ ॥

इणजादि चार वार्त्तिकों में परिगणन नहीं किन्तु इस प्रकार के और भी शब्द सिद्ध हो जाते हैं ॥

बहुल-ग्रहण सब वार्त्तिकों से सम्बद्ध है अतः वार्त्तिक से विहित कार्य्य भी बहुल करके ही होते हैं ॥ १०८ ॥

संज्ञायाम्[1] ॥ १०९ ॥

ण्वुल्-इत्यनुवर्त्तते ॥ संज्ञायाम् । ७ । १ ॥ प्रत्ययान्तेन संज्ञायां सत्यां धातोः [स्त्रियाम्] 'ण्वुल्' प्रत्ययो भवति ॥

उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । अभ्यूषखादिका ॥ १०९ ॥

---

१. आ० सू० १४६६ ॥

यहां 'ण्वुल्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

प्रत्ययान्त से [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो तो धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । अभ्यूषखादिका ॥ १०९ ॥

विभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् च[1] ॥ ११० ॥

अप्राप्तविभाषेयम् ॥ चकाराण्ण्वुलप्यनुवर्त्तते ॥ विभाषा । १ । १ आख्यानपरिप्रश्नयोः । ७ । २ । इञ् । १ । १ । च । [अ०] ॥ पूर्वं परिप्रश्नो भवति पश्चात्तस्याख्यानमुत्तरम् ॥

आख्यान-परिप्रश्नयोरर्थयोर्धातोर्विकल्पेन [स्त्रियाम्] 'इञ्', पक्षे यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति, चकाराण्ण्वुल् च ॥

परिप्रश्ने—कां कारिमकार्षीः । कां कारिकामकार्षीः । कां क्रियामकार्षीः । कां कृत्यामकार्षीः । कां कृतिमकार्षीः ॥ आख्याने—सर्वां कारिं, कारिकां, क्रियां, कृत्यां, कृतिं वाऽकार्षम् ॥

'आख्यानपरिप्रश्नयोः' इति किमर्थम्—कृतिः । हृतिः । धृतिः ॥ ११० ॥

यह अप्राप्तविभाषा है ॥ चकार से 'ण्वुल्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[आख्यानपरिप्रश्नयोः] प्रश्न तथा उत्तर अर्थ में धातु से [विभाषा] विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग में [इञ्] 'इञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे- प्रश्ने कां कारिमकार्षीः । कां कारिकामकार्षीः । कां क्रियामकार्षीः । कां कृत्यामकार्षीः । कां कृतिमकार्षीः ॥ आख्याने—सर्वां कारिम्, कारिकाम्, क्रियाम्, कृत्याम्, कृतिं वाऽकार्षम् ॥

'आख्यानपरिप्रश्नयोः' ग्रहण इसलिये है कि—कृतिः । हृतिः । धृतिः ॥ ११० ॥

पर्य्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच्[2] ॥ १११ ॥

पर्य्या० त्तिषु । ७ । ३ । ण्वुच् । १ । १ ॥ पर्य्याय, अर्ह, ऋण, उत्पत्ति इत्येतेषु प्रत्ययार्थेषु धातोः [स्त्रियाम्] विकल्पेन[3] 'ण्वुच्' प्रत्ययो भवति ॥

पर्य्याये—भवतः शायिका । मम जागरिका ॥ अर्हे—इक्षुभक्षिकामर्हति भवान् । उत्कृष्टामासिकामर्हति भवान् ॥ ऋणे -अन्नदायिकां मे धारयसि ॥ आम्रभक्षिकां मे

१. अ० सू० १४६७ ॥ २. अ० सू० १४६८ ॥

३ विभाषेत्यनुवर्त्तते—अग्रिमसूत्रे विभाषेति निवृत्तमित्युक्तत्वात् । तथा चान्येऽप्याहु —विभाषेयं 'चिकीर्षोत्पद्यते' इति काशिका । 'वा ण्वुच् स्यात्' इत्यन्नंभट्टः । 'आक्रोशे नञ्यनि.' इत्यत्र विभाषात 'निवृत्तम्' इति सिद्धान्तसुधानिधिः ॥

धारयसि ।। उत्पत्तौ-इक्षुभक्षिका मे उदपादि भवान् ।। [पक्षे—तव चिकीर्षा, मम चिकीर्षा । तव क्रिया । मम क्रिया] प्रत्ययान्तरविधानं स्वरार्थम् ।। १११ ।।

[पर्य्या० त्सिषु] पर्य्याय (परिपाटी, क्रम) अर्ह (योग्यता) ऋण, (दूसरे का द्रव्य धारण करना) उत्पत्ति (जन्म) इन अर्थों में धातु से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से [ण्वुच्] 'ण्वुच' प्रत्यय होता है ।।

पर्याय में—भवत शायिका । मम जागरिका ।। अर्ह में—इक्षुभक्षिकामर्हति भवान् । उत्कृष्टभाविकामर्हति भवान् ।। ऋण में अन्नदायिका मे धारयसि । आम्रभक्षिका मे धारयसि ।। उत्पत्ति में—इक्षुभक्षिका मे उदपादि भवान् ।। द्वितीय पक्ष में—तव चिकीर्षा । मम चिकीर्षा । तव क्रिया । मम क्रिया ।। प्रत्ययान्तरकरण स्वर के लिये है ।। १११ ।।

आक्रोशे नञ्यनिः[1] ।। ११२ ।।

विभाषा इति निवृत्तम् । क्तिन्नादीनां सर्वेषामपवादः ।। आक्रोशे । ७ । १ । नञि । ७ । १ । अनिः । १ । १ ।।

आक्रोशे गम्यमाने नञ्पूर्वाद् धातोः [स्त्रियां] कर्त्तृरहिते कारके भावे च 'अनिः' प्रत्ययो भवति ।।

दुष्टस्याजननिरेवास्तु ! अकरणिस्ते सदा भूयात् ।।

'आक्रोशे' इति किम्—अक्रिया कटस्यास्य ।। 'नञि' इति किम्—सास्थतिस्ते भूयात् ।। ११२ ।।

यहां 'विभाषा' पद की निवृत्ति हुई । यह सूत्र क्तिन् आदि सब का अपवाद है ।।

[आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान हो तो [नञि] नञ्-पूर्व धातु से स्त्रीलिङ्ग में कर्तृभिन्न कारक और भाव में [अनिः] 'अनि' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—दुष्टस्याजननिरेवास्तु । अकरणिस्ते सदा भूयात् ।।

आक्रोशे ग्रहण इसलिये है कि—अक्रिया कटस्यास्य ।। 'नञि' ग्रहण इसलिये है कि—सस्थितिस्ते भूयात् ।। ११२ ।।

कृत्यल्युटो बहुलम्[2] ।। ११३ ।।

अकर्त्तरि कारके भावे चेतः सूत्रात् पूर्वमेव सर्वं निवर्त्तते स्त्रीलिङ्गाधिकारश्च ।। कृत्यल्युटः । १ । ३ । बहुलम् । १ । १ ।। कृत्याश्च ल्युट् च ते ।। कृत्यसंज्ञकाः प्रत्ययाः ल्युट् च विहितेष्वर्थेषु बहुलं भवन्ति ।।

अर्थाद् येषु विहितास्तेषु नापि भवन्त्यविहितेषु च भवन्ति । भावकर्मणोः कृत्या विधीयन्ते, ततोऽन्यत्रापि दृश्यन्ते—स्नेयः सङ्गः । स्नान्य दानम् । अत्र करणे यत् ।। तथा

१. अ० सू० १४६९ ।। २. अ० सू० ९१८ ।।

करणाधिकरणे भावे च ल्युड् विधीयते । प्रस्कन्दनम् । प्रपतनम् । अत्रापादानेऽपि दृश्यते ॥

वा० कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् ॥ १ ॥ कृतो बहुलमिति वा[1] ॥

कृतो बहुलमिति पक्षो ज्यायान् । कृत्संज्ञा च कृत्यानां ल्युटश्च, तेन सर्वेषां ग्रहणं भविष्यति ॥ कृत्संज्ञकाः प्रत्यया विहितार्थेषु बहुलं स्युः । तेनेदमपि सिद्धं भवति । पादाभ्यां ह्रियते इति पादहारकः, अत्र करणे ण्वुल् । गले चोप्यते गलेचोपकः, अत्राधिकरणे च । कर्त्तरि विहिता अन्यत्रापि भवन्ति ॥ ११३ ॥

इस सूत्र से पूर्व अकर्त्तरि, कारके, भावे तथा स्त्रियाम्, इन पदों की निवृत्ति हो जाती है ॥

[कृत्यल्युट.] 'कृत्य' संज्ञक प्रत्यय और 'ल्युट्' विहितार्थों में [बहुलम्] बहुल करके होते हैं ॥ अर्थात् जिन अर्थों में विहित हैं उन में नहीं भी होते, और जिन अर्थों में विहित नहीं उन अर्थों में भी हो जाते हैं ॥ भाव और कर्म में कृत्यों का विधान किया है, इससे भिन्न में भी देखे जाते हैं । जैसे—छेद्यः खड्गः । लव्यं दात्रम् । यहां करणकारक में 'यत्' प्रत्यय होता है । इसी प्रकार ल्युट् प्रत्यय का विधान करण, अधिकरण और भाव में किया है, किन्तु-**प्रस्कन्दनम्** । **प्रपतनम्** । इत्यादि उदाहरणों में अपादान में भी देखा जाता है ॥

वा०—कृल्ल्युट०—इस वार्त्तिक में 'कृतो बहुलम्' यह पक्ष महाभाष्यानुसारी होने से ठीक है, क्योंकि कृत्संज्ञा कृत्य प्रत्ययों की तथा ल्युट की भी है, अतः उससे सब का ग्रहण हो जायगा ॥ कृत्संज्ञक प्रत्यय विहितार्थों में बहुल करके होते हैं । इससे 'पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः' यहां करण में, तथा 'गले चोप्यते गलेचोपकः' यहां अधिकरण में 'ण्वुल्' सिद्ध हो जाता है अर्थात् कर्त्ता में विहित हैं परन्तु बहुलग्रहण से अन्यत्र भी हो जाते हैं ॥ ११३ ॥

नपुंसके भावे क्तः[2] ॥ ११४ ॥

नपुंसके । ७ । १ । भावे । ७ । १ । क्तः । १ । १ ॥ नपुंसकलिङ्गे भावे धातुमात्रात् 'क्त[3]' प्रत्ययो भवति ॥

हसितम् । सुप्तम् । नृत्तम् । शयितम् । वाऽसरूपेण घञादयोऽपि भवन्ति । हासः ॥ ११४ ॥

[नपुंसके] नपुंसकलिङ्ग [भावे] भाव में धातुमात्र से [क्तः] 'क्त' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—हसितम् । सुप्तम् । नृत्तम् । शयितम् ॥ वाऽसरूप विधि से घञादि भी हो जाते हैं, जैसे—हासः ॥ ११४ ॥

---

१. अ० ३ । ३ । ११३ भा० ॥ २. भा० सू० १४७० ॥

३ इदं तु कालसामान्ये क्तस्य विधानम् । अत एव 'क्तस्य च वर्त्तमाने' (अ०—२ । ३ । ६७) इत्यत्र वार्त्तिकम् —'क्तस्य वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसंख्यानम्' * । क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसंख्यानं कर्त्तव्यम् । छात्रस्य हसितम् । नटस्य भुक्तम् । मयूरस्य नृत्तम् । कोकिलस्य व्याहृतमिति ॥ (अ० २ । ३ । ६७ भाष्ये) ॥

ल्युट् च[1] ॥ ११५ ॥

नपुंसके, भावे इत्यनुवर्त्तते । ल्युट् । १ । १ । च । [अ०] ॥

नपुंसके भावे धातोः 'ल्युट्' प्रत्ययो भवति । हसनम् । [दर्शनम् ।] नर्त्तनम् । शोभनम् । पृथग्योग उत्तरार्थः[2] ॥ ११५ ॥

यहां 'नपुंसके, भावे' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

नपुंसक भाव में धातु से [ल्युट् च] 'ल्युट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—हसनम् । नर्त्तनम् । शोभनम् ॥ पृथक्सूत्र करने का यह प्रयोजन है कि आगे के सूत्रों में अनुवृत्ति जावे ॥ ११५ ॥

कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्त्तुः शरीरसुखम्[3] ॥ ११६ ॥

नपुंसके, भावे, ल्युट् इत्यनुवर्त्तते ॥ कर्मणि । ७ । १ । च । [अ०] । येन । ३ । १ । संस्पर्शात् । ५ । १ । कर्त्तुः । ६ । १ । शरीरसुखम् । १ । १ ॥ शरीरस्य सुखं शरीरसुखमिति षष्ठीतत्पुरुषः ॥

येन साधकतमेन कर्मणा संस्पृश्यमानस्य कर्त्तुः शरीरसुखं भवति तस्मिन् कर्मण्युपपदे धातोर्नपुंसके भावे 'ल्युट्' प्रत्ययो भवति ॥

दुग्धपानम् [सुखम्] । [पयःपानं सुखम्] । घृतपानम् [सुखम्] । पूर्वसूत्रेण ल्युट्सिद्धे उपपदनियमेन नित्यसमासार्थं आरम्भः । **उपपदमतिङ्**[4] इति नित्यसमासो यथा स्यात्, अन्यथा वाक्यमपि प्रसज्येत ॥

'कर्मणि' इति किम्—रथेन यानं सुखम् ॥ 'संस्पर्शात्' इति किम्—अग्न्यग्न्या उपासनं सुखम् ॥ 'कर्त्तुः' इति किम्—गुरोः स्नापनं सुखम् । स्नापनस्य कर्त्ता शिष्यः ॥ 'शरीर' ग्रहणं किमर्थम्—वेदस्य पठनं सुखम् ॥ ['सुखम्' इति किम्—] कण्टकानां मर्दनं दुःखम् ॥ ११६ ॥

यहां 'नपुंसके भावे ल्युट्' इन तीनों पदों का अनुवर्त्तन है । 'शरीरसुखम्' यह षष्ठीसमास है ॥

[येन] जिस साधकतम कर्म के [संस्पर्शात्] स्पर्श करने से [कर्त्तुः] कर्त्ता को [शरीरसुखम्] शरीरसुख उत्पन्न हो ऐसा [कर्मणि] कर्म उपपद हो तो धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय हो ॥

जैसे—दुग्धपानं सुखम् । घृतपानं सुखम् । पयःपानं सुखम् ॥

पूर्वसूत्र से 'ल्युट्' सिद्ध ही था, पुनः विधान इसलिये है कि 'उपपदमतिङ्' इस नियम से नित्यसमास हो अन्यथा पक्ष में वाक्य की भी प्राप्ति होती ॥

---

१. मा० सू० १४७१ ॥ २. उत्तरानुवृत्त्यर्थं इति वा ॥
३. मा० सू० १४७२ ॥ ४. अ० २ । २ । १९ ॥

'कर्मणि' ग्रहण इसलिये है कि—रथेन यानं सुखम् ॥ 'संस्पर्शात्' ग्रहण इसलिये है कि—ब्रह्मण उपासनं सुखम् ॥ 'कर्तुः' ग्रहण इसलिये है कि—गुरोः स्नापनं सुखम् । यहां स्नापन का कर्त्ता शिष्य है ॥ 'शरीर' ग्रहण इसलिये है कि—वेदस्य पठनं सुखम् ॥ 'सुखम्' ग्रहण इसलिये है कि—कण्टकानां मर्दनं दुःखम् ॥ ११६ ॥

करणाधिकरणयोश्च[1] ॥ ११७ ॥

ल्युट्-इत्यनुवर्त्तते । करणाधिकरणयोः । ७ । २ । च । [अ०] ॥

धातोः करणेऽधिकरणे च कारके 'ल्युट्' प्रत्ययो भवति ॥

इध्मप्रव्रश्चनः । पलाशशातनः ॥ अधिकरणे—[गो] दोहनी । अश्वरक्षणी । सक्तुधानी । घृतरक्षणं पात्रम् ॥ ११७ ॥

यहां 'ल्युट्' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥

धातु से [करणाधिकरणयोः] करण और अधिकरण कारक में 'ल्युट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—इध्मप्रव्रश्चनः । पलाशशातनः ॥ अधिकरण में—[गो] दोहनी । अश्वरक्षणी । सक्तुधानी । घृतरक्षणं पात्रम् ॥ ११७ ॥

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण[2] ॥ ११८ ॥

करणाधिकरणयोरित्यनुवर्त्तते ॥ पुंसि । ७ । १ । संज्ञायाम् । ७ । १ । घः । १ । १ । प्रायेण । ३ । १ ॥ प्रायेण क्वचिदित्यर्थः ॥

संज्ञायां सत्यां धातोः करणाधिकरणयोः पुल्लिङ्गकारकयोरभिधेययोर्धातोः प्रायेण क्वचिद् 'घः' प्रत्ययो भवति ॥

दन्तच्छदः[3] । उरश्छदः ॥ अधिकरणे—आकरः[4] । आलयः ॥

'पुंसि' इति किम्—प्रसाधनम् ॥ 'संज्ञायामिति' किम्—प्रहरणः खड्गः । 'ऋतेरीयङ्'[5] इति ज्ञापकात् कृत्स्थस्य प्रत्ययादेर्घकारस्य 'इय्' आदेशो न भवति, एवं कृत्स्थानां फढखछघां प्रत्ययादीनामायन्नादयो न भवन्तीति ॥ ११८ ॥

यहां 'करणाधिकरणयो' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो तो धातु से करण और अधिकरण में [पुंसि] पुल्लिङ्ग कारक अभिधेय होने पर [प्रायेण] प्रायः करके [घः] 'घ' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दन्तच्छदः । उरश्छदः ॥ अधिकरण में—आकरः । आलयः ॥

---

१. प्रा० सू० १४७४ ॥ २. प्रा० सू० १४७५ ॥

३. दन्ताश्छाद्यन्ते येनासौ दन्तच्छदः 'ओष्ठः' ॥

४. एत्यास्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः ॥ ५. अ० ३ । १ । २९ ॥

'पुंसि' ग्रहण इसलिये है कि—प्रसाधनम् ॥ 'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—प्रहरणः खड्ग । यहां 'घ' नहीं होता ॥

'ऋतेरीयङ्' इस ज्ञापक से कृत् प्रत्ययों के आदि घकार को 'इय्' आदेश नहीं होता, इसी प्रकार कृत्प्रत्ययों के आदि में जो फ, ढ, ख, छ, घ हैं उनको 'आयन्' आदि आदेश नहीं होते ॥ ११८ ॥

गोचरसंचरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च[1] ॥ ११९ ॥

गोचर० गमाः । १ । ३ । च । [अ०] । गोचर, संचर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम इत्येते शब्दाः 'घ' प्रत्ययान्ताः करणाधिकरणयोः पुंसि निपात्यन्ते । वक्ष्यमाणसूत्रेण[3] 'घञ्' प्राप्तस्तस्यापवादः ॥

गावश्चरन्त्यस्मिन् स गोचरः । संचरन्त्यनेन स संचरः । वहन्ति येन स वहः । व्रजन्ति येन स व्रजो वाहनम् । व्यजन्ति येन स व्यजः । 'अजेर्व्यघञपोः'[2] इति वीभावो निपातनान्न भवति ॥

आपणन्ते येषु त आपणा हाटकाः । नितरां गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ज्ञानं यस्मिन् स निगमो वेदः ॥ ११९ ॥

[गोचर० गमाः] गोचर, संचर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम ये शब्द करण और अधिकरण में पुंल्लिङ्ग विषय में 'घ' प्रत्ययान्त निपातन हैं । अगले सूत्र से 'घञ्' प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

जैसे—गोचरः । संचरः । वहः । व्रजः । व्यजः—यहां 'वी' भाव निपातन से नहीं होता ॥ आपणः । निगमो वेदः ॥ ११९ ॥

अवे तॄस्त्रोर्घञ्[4] ॥ १२० ॥

करणाधिकरणयोः, पुंसि-संज्ञायां-प्रायेण इत्यनुवर्त्तते । अवे । ७ । १ । तॄस्त्रोः । ६ । २ । घञ् । १ । १ ॥ अवपूर्वाभ्यां 'तॄ-स्तॄ' धातुभ्यां करणाधिकरणयोः प्रायेण क्वचिद् 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

१. आ० सू० १४७७ ॥ २. अ० २ । ४ । ५६ ॥

३. आ० सू० १४७८ ॥

४. धातोरर्थयाश्च समसङ्ख्यात्वेऽप्यस्वरितत्वाद्यथासङ्ख्यं न भवति । तथा च भाष्यम् ……
…… "अथवैवं वक्ष्यामि 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानां स्वरितेन' इति । एवमपि स्वरितं दृष्ट्वा सन्देहः स्यात्—न ज्ञायते किमयं समसङ्ख्यार्थः, आहोस्विदधिकारार्थ इति ? ॥ सन्देहमात्रमेतद्भवति सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति । समसंख्यार्थ इति व्याख्यास्यामः (अ०—१ । ३ । १० । सूत्रभाष्ये)

(ख) 'संज्ञायाम्' पदस्यानुवृत्तौ सत्यामपि 'अवतारो नद्याः, अवतारः सागरस्य' इत्यादिलक्ष्यानुरोधादत्र न सम्बध्यते, यत्तु काशिकाकृता 'कथमवतारो नद्याः', नहीयं संज्ञा

अवतारः । अवस्तारः । प्रायग्रहणादवतरः, अवस्तर इत्यपि भवति ॥ १२० ॥

यहां 'करणाधिकरणयोः' तथा ['पुंसि, सञ्ज्ञायाम्, प्रायेण'] इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[अवे] अव-पूर्वक [तॄस्त्रोः] 'तॄ' 'स्तॄ' धातुओं से करण और अधिकरण कारक में प्रायः करके [घञ्] 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अवतारः । अवस्तारः । प्राय ग्रहण से 'अवतर' और 'अवस्तर' यह भी हो जाता है ॥ १२० ॥

हलश्च[1] ॥ १२१ ॥

करणाधिकरणयोः, पुंसि, सञ्ज्ञायां, प्रायेण इत्यनुवर्त्तते ॥ हलः । ५ । १ । च । [अ०] ॥ हलन्ताद् धातोः पुल्लिङ्गयोः [करणाधिकरणयोः] कारकयोः सञ्ज्ञायां सत्यां प्रायेण 'घञ्' प्रत्ययो भवति ॥

'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'[2] इति सामान्यविहितस्यापवादः ॥

वेदः । वेष्टः । मार्गः । अपामार्गः । बन्धः । वाग -वजन्ति गच्छन्ति यस्मिन्निति वज-धातोः प्रयोगः ॥ प्रायवचनात्[3] - कषः । निकषः । अत्र घ एव भवति ॥ १२१ ॥

यहां 'करणाधिकरणयोः, पुंसि, सञ्ज्ञायाम्, प्रायेण' इन पदों की अनुवृत्ति है ॥

[हलः] हलन्त धातु से पुल्लिङ्ग करण अधिकरण कारक में संज्ञा गम्यमान हो तो प्रायः करके 'घञ्' प्रत्यय होता है ॥ 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण' इससे सामान्य प्राप्त 'घ' का यह अपवाद है ॥

जैसे—वेदः । वेष्टः । मार्गः । अपामार्गः । बन्धः । वागः ॥ प्रायवचन से कषः, निकषः, यहां 'घ' ही होता है ॥ १२१ ॥

अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च[4] ॥ १२२ ॥

अध्याय० हाराः । १ । ३ । च । [अ०] ॥ अध्यायादयः शब्दाः पुंसि सञ्ज्ञायां करणाधिकरणयोः कारकयोर्घञन्ता निपात्यन्ते ॥

हलन्ताद् 'घञ्' विधीयते, अध्यायादिष्वजन्ताद् घः प्राप्तस्तद्बाधनार्थम् ॥ अधीयतेऽस्मिन्नित्यध्यायः । नीयन्तेऽनेन कार्याणीति न्यायः । उद्युवन्त्यस्मिन्नित्युद्यावः । संह्रियन्तेऽनेन इति संहारः ॥

प्रायवचनानुवृत्तेरसञ्ज्ञायामपि भवति, इत्युक्तं तत्र—'नह्यत्र पाठेष्वपाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणम्' इत्येतस्य (अ० १ । २ । २ । भा०) सिद्धान्तितत्वात् ॥ तेन—प्रायग्रहणं घञैव सम्बध्यते न सञ्ज्ञायामित्यनेन ॥

१. आ० सू० १८७९ ॥ २. अ० ३ । ३ । ११८ ॥

३. एतेन गोचरादिसूत्रे 'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थं' इति काशिकाकृदुक्तं प्रत्युक्तम् ॥

४ आ० सू० १४८२ ॥

वा०—घञ्विधावहाराधारावायानामुपसंख्यानम्[1] ॥ १ ॥

अवह्रियन्तेऽस्मिन्नवहारः । आध्रियन्तेऽस्मिन्नाधारः । एत्येतस्मिन् वयन्त्या-वायः ॥ अत्र **जयादित्यादिभि**राधारावाय-शब्दौ सूत्रे पठित्वा व्याख्यातौ । चकारो-ऽनुक्तसमुच्चयार्थं इत्यवहार-शब्दः साधितः । महाभाष्ये च वार्त्तिकं पठितमस्ति, यदि सूत्रेणैव सिद्धाः स्युर्वार्त्तिकं पुनः किमर्थं स्यात्, इदानीन्तनेषु पुस्तकेष्वपि सूत्रान्त आधारावाय-शब्दौ मुद्रितौ लिखितौ च दृश्येते अतो ज्ञायते बहुकालादारभ्य सूत्रे केनचिन्मेलितौ, **कैय्यटेना**ऽपि लिखितं[2]—'अध्यायसूत्रे आधारवाय-शब्दौ वार्त्तिक-दर्शनादभियुक्तैः प्रक्षिप्तौ' । महाभाष्येऽपि '**परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः**[3]' इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानेऽध्यायादयः सर्वे शब्दा लिखिताः, तत्र यथा पुस्तकेषु सूत्रं दृष्टं तथा शोधकै-र्महाभाष्यमपि शोधितम् । अव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण न भवितव्यम्, यदाऽऽधारावाय-शब्दौ सूत्रे वार्त्तिके चैकप्रयोजनायोभयत्र स्याताम्, अतो ज्ञायतेऽपाणिनीयावेव, **जयादित्यादीनां** च व्याख्यानं सर्वथाऽसङ्गतम् ॥ १२२ ॥

[अध्याय० हाराः] अध्याय, न्याय, उद्याव, संहार ये शब्द संज्ञा हों तो पुंल्लिङ्ग करण अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥

हलन्तों से 'घञ्' का विधान है, अध्याय-आदि अजन्तों में 'घ' प्राप्त था उसको बाधने के लिये सूत्र है ॥

जैसे—अध्यायः । न्यायः । उद्यावः । संहारः ॥

वा०—घञ्विधावा० 'घञ्' प्रत्यय के विधान में अवहार, आधार, आवाय, इनका भी उपसंख्यान करना चाहिये ॥ जैसे—अवहारः । आधारः । आवायः ॥

यहां जयादित्यादिकों ने आधार, आवाय शब्द सूत्र में पढ़ कर व्याख्यान किये हैं । चकार को अनुक्तसमुच्चायक मान कर अवहार शब्द सिद्ध किया है । महाभाष्य में यह वार्त्तिक पढ़ा है, यदि सूत्र से ही ये सिद्ध हो जाते तो पुनः वार्त्तिकपाठ का क्या प्रयोजन ? आज कल पुस्तकों में भी सूत्र के अन्त में आधार, आवाय शब्द मुद्रित तथा लिखित देखे जाते हैं । अतः यह जाना जाता है कि—चिरकाल से किसी ने सूत्र में मिला दिये हैं । कैय्यट ने भी लिखा है कि—'अध्याय०' इस सूत्र में आधार, आवाय शब्द वार्त्तिक में देखे जाने से अभियुक्तों ने सूत्र में प्रक्षिप्त किये हैं । महाभाष्य में भी 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः' इस सूत्र के व्याख्यान में अध्यायादि सारे शब्द लिखे हैं । वहां जैसा पुस्तकों में सूत्र देखा वैसा शोधकों ने महाभाष्य में भी शुद्ध कर दिया । शास्त्र में अव्यवस्था नहीं होती क्योंकि यदि सूत्र और वार्त्तिक दोनों ही आधार, आवाय इन शब्दों की सिद्धि करें तो एक से ही सिद्ध हो जाने पर दूसरे का क्या काम रह जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि—सूत्रों में इन शब्दों का पाठ अपाणिनीय ही है । इसमें जयादित्यादिकों का व्याख्यान भी अपाणिनीय ही सिद्ध होता है । अन्यत्र भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ॥ १२२ ॥

१. अ० ३ । ३ । १२१ भा० ॥ आ० वा० १६८० ॥
२. अ० ३ । ३ । १२१ । सू० भाष्ये ॥ ३. अ० ३ । ३ । २० ॥

उदङ्कोऽनुदके[1] ॥ १२३ ॥

उदङ्कः । १ । १ । अनुदके । ७ । १ । अनुदके— उदकभिन्ने पदार्थेऽभिधेये उत्पूर्वाद् 'अञ्चु' धातो 'घञ्' प्रत्ययो निपात्यते ।। घृतमुदच्यतेऽस्मिन्निति, घृतोदङ्कः । तैलोदङ्कः ।

'अनुदके' इति किम्—उदकोदञ्चनः[2], अत्र **'करणाधिकरणयोश्च'**[3] इति ल्युट् । उदङ्क इत्यत्र पूर्वसूत्रेण घञ् सिद्ध एव पुनरुदकप्रतिषेधार्थं आरम्भः ।। १२३ ।।

[अनुदके] उदकभिन्न पदार्थ अभिधेय हो तो [उदङ्कः] उत्पूर्वक 'अञ्चु' धातु से **'घञ्'** प्रत्यय का निपातन है ।।

जैसे—**घृतोदङ्कः । तैलोदङ्कः ।** घी डाला जाता है जिसमें वह घी की कुप्पी 'घृतोदङ्क' इसी प्रकार तेल का पात्र 'तैलोदङ्क' कहाता है ।।

'अनुदके' ग्रहण इसलिये है कि—उदकोदञ्चनः । यहां 'करणाधिकरणयोश्च' इससे 'ल्युट्' ही जाता है ।।

'उदङ्क' इसमें पूर्वसूत्र से 'घञ्' सिद्ध ही था पुनः उदकविषय में प्रतिषेध के लिये सूत्र है ।। १२३ ।।

जालमानायः[4] ॥ १२४ ॥

जालम् । १ । १ । आनायः । १ । १ ।। हलन्ताद् 'घञ्' विधीयतेऽजन्ताद् घ प्राप्तस्तस्यापवादः ।।

जालेऽभिधेये आनाय इत्याङ् पूर्वात् 'नी' धातोः करणकारके 'घञ्' प्रत्ययो निपात्यते ।।

आनयन्त्यनेनेत्यानायो मत्स्यानाम् । आनायो मृगाणाम् ।।

'जालम्' इति किम्—आनयः ।। १२४ ।।

हलन्तों से 'घञ्' कहा है, अजन्तों से 'घ' प्राप्त था उसका यह अपवाद है ।।

[जालम्] जाल अभिधेय हो तो [आनायः] यह आङ्-पूर्वक 'नी' धातु से करणकारक में 'घञ्' प्रत्ययान्त निपातन है ।।

जैसे—**आनायो** मत्स्यानाम् । आनायो मृगाणाम् ।।

---

१. आ० सू० १४८२ ।।

२. घञोऽभावे घप्रत्ययो न प्रत्युदाह्रियते विशेषाभावात् । घप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणोत्तरपदान्तोदात्तत्वं भवति घञ्यपि **'थाथा०'** (अ० ६ । २ । १४४) इत्यादिना स एव स्वरः ।।

३. अ० ३ । ३ । ११७ ।। ४. आ० सू० १४८३ ।।

'आलम्' ग्रहण इसलिये है कि -आनयः । यहां 'घ' हो जाता है ॥ १२४ ॥

खनो घ च[1] ॥ १२५ ॥

करणाधिकरणयोः, घञ् इत्यनुवर्त्तते । खन. । ५ । १ । घ[2] । १ । १ । च । [अ०] ॥ 'खन' धातोः करणाधिकरणकारकयो 'र्घ' प्रत्ययो भवति चकाराद् 'घञ्' च ॥

आख[न]न्त्यनेनास्मिन् वा आखनः[3], आखानः[4] ।

वा०—खनो डडरेकेकवकाः[5] ॥ १ ॥

'खन' धातोः परे ड, डर, इक, इकवक चत्वारः प्रत्ययाः करणाधिकरणयो र्भवन्ति ॥ ड—आखः । डर—आखरः । डित्त्वादुभयत्र टिलोपः । इक—आखनिकः । इकवक—आखनिकवकः ॥ १२५ ॥

यहां 'करणाधिकरणयोः' और 'घञ्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[खनः] 'खन' धातु से करण और अधिकरण कारक में [घ] 'घ' प्रत्यय और [च] चकार से 'घञ्' प्रत्यय भी हो जाता है ॥

जैसे—आखनः । आखानः ॥

वा०—खनो डड०—खन धातु से परे ड, डर, इक, और इकवक ये चार प्रत्यय करण और अधिकरण कारक में होते हैं ॥ १ ॥

जैसे—ड—आखः । डर—आखरः । प्रत्यय के डित् होने से दोनों उदाहरणों में टिलोप हो जाता है । इक—आखनिकः । इकवक—आखनिकवकः ॥ १२५ ॥

---

१. मा० सू० १४८४ ॥

२. 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इति सोर्लुक् ॥

३. अतः—'खनो घ च' (अ० ३ । ३ । १२५) इति च-शब्दात् घ. कुत्वमिति माधव ॥

हरदत्तस्तु—"घित्करणं किमर्थं यावता न खनः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति ? ज्ञापनार्थन्तु—एतज्ज्ञापयत्यन्येभ्योऽप्यय भवतीति । तेन—भजेर्भगः, पदेः पदम्, खल सञ्चलने (भ्वा०) अधिकरणे घः खल एवमादि-सिद्धं भवतीति" ॥ अन्येऽप्येवमाहुः ॥

अत एव 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते०' (अ० ७ । ३ । १९) इत्यत्र भगपदस्य, कल्याण्यादिषु 'सुभग-दुर्भग-पदयोश्च पाठः प्रकल्पते ॥

४. आखनादयः खनित्रवचना इति हरदत्तः ॥

५. अ० ३ । ३ । १२५ भा० ॥ (ख) सा० मा० १४८५ ॥

ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्[1] ॥ १२६ ॥

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । ईषद्दुःसुषु । ७ । ३ । कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु । ७ । ३ । खल् । १ । १ ॥ कृच्छ्राकृच्छ्रे यथायोग्येनार्थो[2] येषां तेषु, दुःशब्दस्य कृच्छ्रार्थः, अकृच्छ्रार्थ इतरयोः ॥

कृच्छ्रार्थदुरुपपदादकृच्छ्रार्थेषत्सूपपदाच्च धातोः 'खल्[3]' प्रत्ययो भवति ॥ ईषत्करः कटस्त्वेन । ईषद्गमो ग्रामो भवता । दुष्पठा विद्या भवता । दुष्करः पाको भवता । सुकरः पाको भवता । सुपठा विद्या भवता । '**तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः**[4]' इति भावकर्मणोः 'खल्' भवति । घञादिभ्यो विप्रतिषेधाद्बाधकत्वाच्च खल् भवति । ईषच्चयः । सुचयः । ईषल्लवः । अत्रेवर्णान्ताद् अच्, उवर्णान्ताद् अप् च प्राप्तो विप्रतिषेधेन खलेव भवति ॥ १२६ ॥

यहां 'करणाधिकरणयोः' पद की निवृत्ति है ॥

[कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु] कृच्छ्र (दुःख) अर्थ वाला दुर् और अकृच्छ्र (दुःखभिन्न) अर्थ वाले ईषत्, सु ये उपपद हों तो धातु से 'खल्' प्रत्यय होता है । जैसे—ईषत्करः कटस्त्वेन । ईषद्गमो ग्रामो भवता । दुष्पठा विद्या भवता । दुष्करः पाको भवता । सुकरः पाको भवता । सुपठा विद्या भवता ॥

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इस सूत्र से भाव कर्म में 'खल्' प्रत्यय होता है, विप्रतिषेध तथा बाधक होने से 'खल्' घञादि प्रत्ययों को बाध लेता है ॥ जैसे—ईषच्चयः । सुचयः । ईषल्लवः । यहां इवर्णान्तों से 'अच्' उवर्णान्तों से 'अप्' प्राप्त था, विप्रतिषेध से 'खल्' ही होता है ॥ १२६ ॥

कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः[5] ॥ १२७ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । कर्तृकर्मणोः । ७ । २ । च । [अ० ।] भूकृञोः । ६ । २ ॥ कर्तृकर्मग्रहणमुपपदसंज्ञार्थम् । '**उपपदमतिङ्**[6]' इति नित्यसमासो यथा स्यात्, न स्वभिधेयार्थो ॥

वा०—खल् कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोः[7] ॥ १ ॥

---

१. अ० सू० १४८६ ॥

२. '**तृतीया समासेऽबहुलम्**' (अ० २ । ४ । ८२) इत्यम्न भवति ॥

३. लकारः स्वरार्थः । खित्करणमुत्तरत्र मुमर्थम् ॥

४. अ० ३ । ४ । ७० ॥ ५. अ० सू० १४९० ॥

६. अ० २ । २ । १९ ॥ ७. अ० ३ । ३ । १२७ ॥

च्व्यर्थकर्तृकर्मोपपदाभ्यां कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषद्दुःसुपूर्वाभ्यां भू-कृञ् धातुभ्यां[1] 'खल्' प्रत्ययो भवति ॥

अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम्—ईषदाढ्यंभवं भवता । दुराढ्यंभवं भवता । स्वाढ्यंभवं भवता ॥ अनाढ्य ईषदाढ्यः क्रियत इति—ईषदाढ्यंकरो देवदत्तः । दुराढ्यंकरः । स्वाढ्यंकरः ॥

'च्व्यर्थयोः' इति किम्—आढ्येन सुभूयते । अत्र सु-शब्दस्य गतित्वाद् धातोः प्राक् प्रयोगः । स्वाढ्यंभवं भवतेत्यादौ तु खलः खित्वाद् धातोः पूर्वं कर्तृकर्मणी मुमर्थं प्रयुज्येते ॥ १२७ ॥

यहां पूर्वसूत्र का अनुवर्त्तन है । कर्त्तृ कर्म का ग्रहण उपपद संज्ञा के लिये है, जिससे कि 'उपपदमतिङ्' इस सूत्र से नित्य समास हो, अर्थ के लिये नहीं ॥

भा०—खल् कर्त्तृकर्मणो०—[कर्त्तृकर्मणोः] च्व्यर्थ कर्त्ता कर्म उपपद हों, कृच्छ्र और अकृच्छ्रार्थ में वर्त्तमान ईषद्-दुः-सु पूर्व हों तो [भूकृञोः] 'भू' तथा 'कृञ्' धातु से 'खल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम्—ईषदाढ्यम्भवं भवता । दुराढ्यंभवं भवता । स्वाढ्यंभवं भवता ॥ अनाढ्य ईषदाढ्यः क्रियत इति—ईषदाढ्यङ्करो देवदत्त । दुराढ्यङ्करः । स्वाढ्यङ्करः ॥

'च्व्यर्थयो.' ग्रहण इसलिये है कि—आढ्येन सुभूयते । यहां सु-शब्द की गति-संज्ञा होने से धातु से पूर्व प्रयोग होता है ॥

'स्वाढ्यंभवं भवता' इत्यादि उदाहरणों में 'खल्' के खित् होने से 'मुम्' विधान के लिये धातु से पूर्व कर्त्ता और कर्म का प्रयोग किया जाता है ॥ १२७ ॥

आतो युच्[2] ॥ १२८ ॥

ईषदादयोऽनुवर्त्तन्ते । कर्त्तृकर्मणोरिति निवृत्तम् । आतः । ५ । १ । युच् । १ । १ ॥ खलोऽपवादः ॥

कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषद्दुःसूपपदेभ्य आकारान्तधातुभ्यो 'युच्' प्रत्ययो भवति ॥

ईषत्पानं दुग्धं भवता । दुष्पानम् । सुपानम् । ईषद्दानः । दुर्दानः । सुदानः ॥ युजपि खलर्थत्वाद्भावकर्मणोर्भवति ॥ १२८ ॥

यहां ईषदादि का अनुवर्त्तन है, कर्त्तृकर्मणो.' का नहीं ॥

---

१. यत्त्वत्र वृत्तिकारादयो यथासंख्य प्रत्यय-विधानमाहु:, तद्भाष्यविरोधादयुक्तम् । तथा च भाष्यम्—

'कर्तृकर्मणी द्वे भूकृञौ द्वौ तत्र संख्यातानुदेशः प्राप्नोति' (अ० १ । ३ । १० भाष्ये) अनिष्ट एवात्र संख्यातानुदेश इति भाष्याभिप्रायः ॥

२. आ० सू० १४९१ ॥

कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ वाले ईषद्-दुः-सु उपपद हों तो [आतः] आकारान्त धातु से [युच्] 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ईषत्पानं दुग्धं भवता । दुष्पानम् । सुपानम् । ईषद्दानः । दुर्दानः । सुदानः । युच् प्रत्यय भी खलर्थ होने से भाव और कर्म में होता है ॥ १२८ ॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः[1] ॥ १२९ ॥

छन्दसि । ७ । १ । गत्यर्थेभ्यः । ५ । ३ ॥ गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थास्तेभ्यः, कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेष्वीषदादिषूपपदेषु गत्यर्थधातुभ्यो वैदिकप्रयोगविषये 'युच्' प्रत्ययो भवति ॥

ईषत्सदनः[2] । दुःसदनः[2] । सुसदनः[2] । ईषत्सर्पणः[2] । दुःसर्पणः[2] । सुसर्पणः[2] । खलोऽपवादः ॥ १२९ ॥

[गत्यर्थेभ्यः] गति अर्थ वाले धातुओं से कृच्छ्राकृच्छ्रार्थक ईषद् दुः सु उपपद हों तो [छन्दसि] वैदिकप्रयोगविषय में 'युच्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ईषत्सदनः । दुःसदनः । सुसदनः । ईषत्सर्पणः । दुःसर्पणः । सुसर्पणः । यह सूत्र 'खल्' का अपवाद है ॥ १२९ ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते[3] ॥ १३० ॥

छन्दसि इत्यनुवर्त्तते । अन्येभ्यः । ५ । ३ । अपि । [अ०] । दृश्यते । [क्रियापदम्] ॥

गत्यर्थादितरेभ्यश्च छन्दसि 'युच्' प्रत्ययो दृश्यते ॥ सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्[4] ॥

वा०—भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युच्[5] ॥ १ ॥

भाषायां लौकिकशब्दप्रयोगेषु शास्यादिभ्यो 'युच्' प्रत्ययो दृश्यते ॥

दुःशासनः । दुर्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः ॥

वा०—मृषेश्चेति वक्तव्यम् ॥ २ ॥ दुर्मर्षणः ॥ १३० ॥

यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्तन है ॥

[अन्येभ्यः] गत्यर्थकों से इतर धातुओं से [अपि] भी छन्द में 'युच्' प्रत्यय [दृश्यते] देखा जाता है ॥ जैसे—सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥

वा०—भाषायां शासियुधि०—भाषा में अर्थात् लौकिक शब्द प्रयोग में 'शासि' आदि धातुओं से 'युच्' प्रत्यय देखा जाता है ॥

---

१. आ० सू० १४९२ ॥
२. अनुपलब्धमूलानीमानि ॥
३. आ० सू० १४९३ ॥
४. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥
५. म० ३ । ३ । १३० भा० ॥ आ० वा०—१४९४ ॥

जैसे—दुःशासनः। दुर्योधनः। दुर्दर्शनः। दुर्मर्षणः॥

वा०—मृषेश्च०—भाषा में 'मृष' से भी 'युच्' कहना चाहिये॥ तैत्ति० ~ ३१ १३०

वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा॥ १३१॥

वर्त्तमानसामीप्ये। ७। १। वर्त्तमानवत्। [अ०।] वा। [अ०]॥ समीपस्य भावः सामीप्यम्, वर्त्तमानस्य सामीप्यं वर्त्तमानसामीप्यम्। वर्त्तमान इव वर्त्तमानवत्, सप्तमीसमर्थाद्वतिः। वर्त्तमानाधिकारो **'वर्त्तमाने लट्'**[1] इत्यारभ्य **'उणादयो बहुलम्'**[2] इति पर्यन्तम्—तत्र याभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन ये प्रत्यया विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेनैव विशेषणेन ते प्रत्यया वर्त्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च काले विकल्पेन भवन्ति, पक्षे यथाविहिताः॥

देवदत्त कदाऽऽगतोऽसि? । एष पचामि। एष पचन्। एष पचमानः। एष उत्पचिष्णुः। एषोऽपाक्षम्। एष पक्तवान्॥ देवदत्त कदाऽलङ्कृतम्? । एषोऽलङ्करोमि। एषोऽलङ्कुर्वन्। एषोऽलङ्कुर्वाणः। एषोऽलङ्करिष्णुः। एषोऽलमकार्षम्। एषोऽलङ्कृतवान्॥ देवदत्त कदा पक्ष्यसि? । एष पचामि। एष पचन्। एष पचमानः। एष उत्पचिष्णुः। एष [प]क्ष्यामि॥

वत्करणं किमर्थम्[4]—वर्त्तमाने ये प्रत्यया विहितास्ते वर्त्तमानसामीप्ये [धातुमात्रात्] विभाषा मा भूवन्। वत्करणेन वर्त्तमाने यथा विहितास्तथैव भवन्ति॥१३१॥

'वर्त्तमाने लट्' से 'उणादयो बहुलम्' तक वर्त्तमान का अधिकार है। उसमें जिन धातुओं से जिस विशेषण के साथ जो प्रत्यय कहा है वह उन ही विशेषणयुक्त प्रकृतियों से [वर्त्तमानसामीप्ये] वर्त्तमान काल के समीप जो भूत और भविष्यत् काल हैं उनमें वर्त्तमान काल की भांति [वा] विकल्प करके प्रत्यय होते हैं, पक्ष में यथाविहित होते हैं॥

जैसे—देवदत्त कदाऽऽगतोऽसि? । एष पचामि। एष पचन्। एष पचमानः। एष उत्पचिष्णुः। एषोऽपाक्षम्। एष पक्तवान्॥ देवदत्त कदाऽलङ्कृतम्? । एषोऽलङ्करोमि। एषोऽलङ्कुर्वन्। एषोऽलङ्कुर्वाणः। एषोऽलङ्करिष्णुः। एषोऽलमकार्षम्। एषोऽलङ्कृतवान्॥ देवदत्त कदा पक्ष्यसि? । एष पचामि। एष पचन्। एष पचमानः। एष उत्पचिष्णुः। एष पक्ष्यामि॥

'वत्करण' इसलिये है कि—वर्त्तमान में जो प्रत्यय विहित हैं वे वर्त्तमानसामीप्य में धातुमात्र से विकल्प करके न हों, 'वत्' करने से वर्त्तमान में जैसे विहित हैं वैसे ही होते हैं॥ १३१॥

---

१. प्रा० सू० ७६०॥ २. अ० ३। ३। १२१॥

३. अ० ३। ३। १॥

४. अत्र भाष्यम्—वत्करणं किमर्थम्। 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमाने वा' इतीयत्युच्यमाने वर्त्तमाने ये प्रत्यया विहितास्ते वा वर्त्तमानसामीप्ये धातुमात्रात्स्युः। वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

आशंसायां भूतवच्च[1] ॥ १३२ ॥

वर्त्तमानवद् वा-इत्यनुवर्त्तते । वर्त्तमानसामीप्य इति निवृत्तम् । आशंसायाम् ७ । १ । भूतवत् । [अ० ।] च । [अ०] ॥

'आङः शसि इच्छायाम्[2]' इत्यस्माद् धातोः 'गुरोश्च हलः[3]' इत्यकार-प्रत्ययः । अप्राप्तस्येष्टस्य पदार्थस्य प्राप्तुमिच्छा [आशंसा], सा च भविष्यत्-कालविषया भवति । भूत इव भूतवत् । सामान्यातिदेशे विशेषस्यातिदेशो न भवतीति नियमोऽस्ति, अतः सामान्यातिदेशेऽनद्यतनपरोक्षभूतयोर्ग्रहणं न भविष्यति, तेन—'परोक्षे लिट्[4]', 'अनद्यतने लङ्[5]' इति लकारौ न भवतः ॥

आशंसायां गम्यमानायां धातोर्विकल्पेन भूतवत् प्रत्यया भवन्ति, चकाराद् वर्त्तमानवच्च, पक्षे आशंसाविषयो 'लृट्' ॥

मेघश्चेदवर्षीत्, वृष्टो, वर्षति, वर्षिष्यति वा धान्यमवाप्स्म, उप्तवन्तः, वपाम, वप्स्यामो वा ॥

'आशंसायाम्' इति किमर्थम् —आगमिष्यति देवदत्तः ॥ १३२ ॥

यहाँ 'वर्त्तमानवत्' तथा 'वा' इन पदों का अनुवर्त्तन है, 'वर्त्तमानसामीप्ये' इस पद का निवर्त्तन है ॥

'आङः शसि इच्छायाम्' इस धातु से 'गुरोश्च हलः' इस सूत्र से 'अकार' प्रत्यय होकर 'आशंसा' रूप बनता है । अप्राप्त इष्टपदार्थ की प्राप्ति की इच्छा आशंसा कहाती है, वह भविष्यत् काल का विषय है ॥

भूत की भांति = भूतवत् । सामान्य के अतिदेश में विशेष का अतिदेश नहीं होता यह नियम है । अतः सामान्य अतिदेश में अनद्यतन तथा परोक्षभूत का ग्रहण नहीं होगा, इस कारण 'परोक्षे लिट्' तथा 'अनद्यतने लङ्' इन दो लकारों का ग्रहण नहीं होता ॥

[आशंसायाम्] आशंसा गम्यमान हो तो धातु से विकल्प करके [भूतवत्] भूतकाल की भांति प्रत्यय होते हैं [च] चकार से वर्त्तमानवत् भी, पक्ष में—आशंसाविषयक 'लृट्' भी होता है ॥

जैसे—मेघश्चेदवर्षीत्, वृष्टो, वर्षति, वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्स्म, उप्तवन्तः, वपामः, वप्स्यामो वा ॥

'आशंसा' ग्रहण इसलिये है कि—आगमिष्यति देवदत्त ॥ १३२ ॥

---

१. धा० सू० ७६१ ॥ २. धा० भ्वा० ६१९ ॥
३. अ० ३ । ३ । १०३ ॥ ४. अ० ३ । २ । ११५ ॥
५. अ० ३ । २ । १११ ॥

क्षिप्रवचने लृट्[1] ॥ १३३ ॥

पूर्वसूत्रेण भूतवदतिदेशः प्राप्तस्तस्यायमपवादः । आशंसायामित्यनुवर्त्तते । क्षिप्रवचने । ७ । १ । लृट् । १ । १ ॥

आशंसायां गम्यमानायां क्षिप्रार्थवाचिशब्दोपपदाद् धातो 'लृट्' लकारो भवति ॥ उपाध्यायश्चेदागतः क्षिप्रमध्येष्यामहे, शीघ्रमध्येष्यामहे, त्वरितमध्येष्यामहे ॥

वचनग्रहणं क्षिप्रशब्दस्य पर्य्यायवाचिनां ग्रहणार्थम् ॥ १३३ ॥

पूर्वसूत्र से भूतवद् अतिदेश प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। यहां 'आशंसायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

आशंसा गम्यमान हो और [क्षिप्रवचने] क्षिप्रार्थवाची शब्द उपपद हो तो धातु से [लृट्] 'लृट्' लकार होता है ॥

जैसे—उपाध्यायश्चेदागतः क्षिप्रमध्येष्यामहे । शीघ्रमध्येष्यामहे । त्वरितमध्येष्यामहे ॥

'वचन' ग्रहण इसलिये किया है कि—क्षिप्रशब्द के पर्यायवाचियों का भी ग्रहण हो जाय ॥ १३३ ॥

आशंसावचने लिङ्[2] ॥ १३४ ॥

भूतवच्चेत्यस्यैवापवादः । आशंसावचने । ७ । १ । लिङ् । १ । १ ॥ आशंसा उक्तार्था । सा उच्यतेऽनेन शब्देन तस्मिन् । आशंसावाचिशब्दोपपदाद् धातो 'लिङ्' लकारो भवति ॥

उपाध्यायश्चेदागत आशंसे युक्तोऽधीयीय, इच्छामि युक्तोऽधीयीय ॥

'क्षिप्रवचने' 'आशंसावचने' च द्वयोरुपपदयोः परविप्रतिषेधाल्लिङेव[3] भवति । उपाध्यायश्चेदागत आशंसे क्षिप्रमधीयीय ॥ वचनग्रहणमत्रापि पर्य्यायग्रहणार्थम् ॥१३४॥

यह भी भूतवद् अतिदेश का अपवाद है ॥ आशंसा जिस पद से प्रतीत हो वह 'आशंसावचन' कहाता है ॥

[आशंसावचने] आशंसावाची शब्द उपपद हो तो धातु से [लिङ्] 'लिङ्' लकार होता है ॥

जैसे—उपाध्यायश्चेदागत आशंसे युक्तोऽधीयीय । इच्छामि युक्तोऽधीयीय ॥

---

१. आ० सू० ७६२ ॥ २. आ० सू० ७६३ ॥

३. भाष्ये तु क्षिप्रवचने लृड् आशंसावचने लिङ् भवति विप्रतिषेधेन । क्षिप्रवचने लृड् भवतीत्यस्यावकाशः—उपाध्यायश्चेदागतः क्षिप्रमध्येष्यामहे । आशंसावचने लिङ् भवतीत्यस्यावकाशः—उपाध्यायश्चेदागत आशंसे युक्तोऽधीयीय । इहोभयं प्राप्नोति—उपाध्यायश्चेदागत आशंसे क्षिप्रमधीयीय । लिङ् भवति विप्रतिषेधेन ॥

क्षिप्रवचन और आशंसावचन उपपद होने पर पूर्वविप्रतिषेध से 'लिङ्' ही होता है ॥ जैसे उपाध्यायश्चेदागत आशंसे क्षिप्रमधीयीय ॥ यहां भी वचनग्रहण पर्य्याय के ग्रहण के लिये है ॥ १३४ ॥

नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः[1] ॥ १३५ ॥

न । [अ०] । अनद्यतनवत् [अ०] । क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः । ७ । २ ॥ अनद्यतन इवानद्यतनवत् । भूताऽनद्यतने लङ् विहितो भविष्यदनद्यतने च लुट् तयोः प्रतिषेधः ॥

क्रियायाः प्रबन्धः सामीप्यं च तयोः । क्रियाप्रबन्धो नैरन्तर्य्येण क्रियाया अनुष्ठानम् । क्रियायाः प्रबन्धे सामीप्ये च सत्यनद्यतनवत् प्रत्यया न भवन्ति ॥

क्रियाप्रबन्धे—यावज्जीवमध्यापिपत् । यावज्जीवमध्यापयिष्यति । यावज्जीवमिति णमुल् प्रयोगः ॥ सामीप्ये—येयं प्रतिपदतिक्रान्ता तस्यां विद्युदपप्तत् । वृक्षमभैत्सीत् । मार्गमरीरत्सीत् ॥ योऽयं रविवार आगामी, एतस्मिन् नगरान्तरं यास्यामः । धनं दास्यामः । पुस्तकं ग्रहीष्यामः ॥

अस्मिन् सूत्रे द्वयोः प्रतिषेधयोरेतत्प्रयोजनम् । प्रत्ययविधिर्माभूत् । अद्यतनवन्नेत्युक्ते लटः प्रतिषेधः स्यात् । लङ्लुटौ तु प्राप्नुयातामेव[2] ॥ १३५ ॥

भूतानद्यतन 'लङ्' विहित है, भविष्यत् अनद्यतन में 'लुट्' उन दोनों का प्रतिषेध है ॥ क्रिया का निरन्तर अनुष्ठान क्रियाप्रबन्ध कहाता है ॥

[क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः] क्रियाप्रबन्ध और सामीप्य अर्थ हो तो [अनद्यतनवत्] अनद्यतनवत् प्रत्यय [न] नहीं होते ॥ जैसे—क्रियाप्रबन्ध में—यावज्जीवमध्यापिपत् । यावज्जीवमध्यापयिष्यति । 'यावज्जीवम्' यह णमुल् प्रत्ययान्त का प्रयोग है ॥ सामीप्य में—येयं प्रतिपदतिक्रान्ता तस्यां विद्युदपप्तत् । वृक्षमभैत्सीत् । मार्गमरीरत्सीत् । योऽयं रविवार आगामी, एतस्मिन्नगरान्तरं यास्यामः । धनं दास्यामः । पुस्तकं ग्रहीष्यामः ॥

इस सूत्र में दो प्रतिषेधों का यह प्रयोजन है कि—अनद्यतनप्रत्ययविधि न हो । अद्यतनवत् न हो, ऐसा कहने से 'लट्' का तो प्रतिषेध हो जाता परन्तु 'लङ्' और 'लुट्' तो हो ही जाते ॥ १३५ ॥

---

१. अ० सू० ७६४ ॥

२. अत्र भाष्यम्—किमर्थमिमौ द्वौ प्रतिषेधावुच्येते । न अद्यतनवदित्येवोच्येत । नानद्यतनवत् प्रतिषेधे लङ्लुटोः प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । अद्यतनवचने हि सति विधानमिदं विज्ञायेत । तत्र को दोषः ? । तत्र लड्विधिः प्रसज्येत । लुङोऽपि विषये लट् स्यात्, लृटश्च विषये लुङ् स्यात् । अथ पुनरयं द्वौ प्रतिषेधावुक्त्वा तूष्णीमास्ते । यथाप्राप्तमेवाद्यतने भविष्यति ॥

भविष्यति मर्य्यादावचनेऽवरस्मिन्[1] ॥ १३६ ॥

नानद्यतनवत्, इत्यनुवर्त्तते[2]। भविष्यति । ७ । १ । मर्यादावचने । ७ । १ । अवरस्मिन् । ७ । १ ॥ मर्यादोच्यतेऽनेन तस्मिन् । अवरभागे मर्य्यादावचन उपपदे धातोर्भविष्यत्कालेऽनद्यतनवत्प्रत्ययो न भवति । योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र स्थास्यामः । स्नानादिकं करिष्यामः । आरंस्यामः ॥

'भविष्यति' इति किम् —योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात्तस्य यदवरं साकेतात्तत्र युक्ता अध्येमहि । अत्रानद्यतने लङेव ॥ 'मर्यादावचने' इति किम्—योऽयमध्वाऽपरिमाणो गन्तव्यस्तस्य यदवरं साकेतात्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥ 'अवरस्मिन्' इति किम्—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यत्परं साकेतात्तत्र सक्तून् पातास्मः ॥ अत्रोभयत्राऽनद्यतनभविष्यति लुट् ॥ १३६ ॥

इस सूत्र में 'न-अनद्यतनवत्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[अवरस्मिन्] अवर अविभाग अर्थात् उरले भाग को लेकर [मर्यादावचने] मर्यादा को कहने वाला उपपद हो तो धातु से [भविष्यति] भविष्यत् काल में अनद्यतनवत् प्रत्यय नहीं होते ॥

जैसे —योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र स्थास्यामः । स्नानादिकं करिष्यामः । आरंस्यामः ॥

'भविष्यति' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात्तस्य यदवरं साकेतात्तत्र युक्ता अध्येमहि । यहां अनद्यतन में 'लङ्' ही होता है ॥ 'मर्य्यादावचने' ग्रहण इसलिये है कि योऽयमध्वाऽपरिमाणो गन्तव्यस्तस्य यदवरं साकेतात्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥' अवरस्मिन्' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यत्परं साकेतात् तत्र सक्तून् पातास्मः । यहां दोनों उदाहरणों में अनद्यतनभविष्यत् में 'लुट्' हो जाता है ॥ १३६ ॥

कालविभागे चानहोरात्राणाम्[3] ॥ १३७ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । पूर्वेणैव सिद्धेऽनहोरात्राणामिति प्रतिषेधार्थ आरम्भः ।

कालविभागे । ७ । १ । च । [अ०] । अनहोरात्राणाम् । ६ । ३ ॥ कालस्य विभागः कालविभागः । भविष्यत्यनहोरात्राणां कालविभागेऽवरस्मिन् मर्य्यादावचन उपपदे धातोरनद्यतनवत् प्रत्ययो न भवति ॥

योऽयं मास आगामी तस्य यावरा पौर्णमासी तस्यां यक्ष्यामहे । पठनमारप्स्यामहे ॥

---

१. आ० सू० ७६५ ॥

२. प्रक्रियाप्रबन्धार्थोऽयमारम्भः (अ० ३ । ३ । ३६) इति भाष्ये ॥

३. आ० सू० ७६६ ॥

'भविष्यति' इति किम्—योऽयं मासोऽतीतस्तस्य यदवरममावास्यायास्तत्रौदनम-भुञ्ज्महि ।। 'मर्य्यादावचने' इति किम्—योऽयमपरिमितः काल आगामी तस्य यदवरं माध्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ।। 'अवरस्मिन्' इति किम्—परस्मिन् मर्यादावचने वक्ष्यमाणसूत्रेण विभाषा यथा स्यात् ।। 'अनहोरात्राणाम्' इति किम्—अहोरात्राणा-महोरात्रैश्च विभागेऽनद्यतनवत्प्रतिषेधो माभूत् । योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः । योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्धमासस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे । अत्र सर्वत्रानद्यतनविहिताः प्रत्यया भवन्त्येव । सामान्येनानद्यतने लङ्लुटौ विधीयेते तयोरेवायं सर्वः प्रतिषेधः ।। १३७ ।।

यहां पूर्वसूत्र से सब पदों की अनुवृत्ति आ रही है । पूर्वसूत्र से ही सिद्ध था पुनः अहोरात्र-विषय में प्रतिषेध के लिये यह सूत्र है ।।

[कालविभागे] समय की मर्य्यादा के विभाग में उरले विभाग की अपेक्षा हो तो भविष्यत्काल में अनद्यतनवत् प्रत्यय न हो, यदि वह मर्यादा-विभाग [अनहोरात्राणाम्] अहोरात्रसम्बन्धी न हो ।।

योऽयं मास आगामी तस्य यावरा पौर्णमासी तस्यां यक्ष्यामहे । पठनमारप्स्यामहे ।।

'भविष्यति' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयं मासोऽतीतस्तस्य यदवरममावास्यायास्तत्रौदनम-भुञ्ज्महि ।। 'मर्य्यादावचने' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयमपरिमित काल आगामी तस्य यदवरं माध्यास्तत्र युक्ताऽध्येतास्महे ।। 'अवरस्मिन्' ग्रहण इसलिये है कि—परली मर्य्यादा को कहने वाला उपपद हो तो अगले सूत्र से विकल्प हो जाय ।। 'अनहोरात्राणाम्' ग्रहण इसलिये है कि—जहां दिन और रात का विभाग हो अथवा दिन और रात के द्वारा विभाग हो, वहां अनद्यतनवत् विधि का प्रतिषेध न हो । जैसे—योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः । योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्धमासस्तत्र युक्ताऽध्येतास्महे ।। यहां सब स्थानों में अनद्यतन में विहित प्रत्यय होते हैं । सामान्यतया अनद्यतन में, 'लङ्-लुट्' का विधान है अतः इन दोनों का ही प्रतिषेध है ।। १३७ ।।

परस्मिन्विभाषा[1] ।। १३८ ।।

अप्राप्तविभाषेयम् । अवरस्मिन् पूर्वेण प्रतिषेध उच्यते । परस्मिन् विधिरेव प्राप्तो विकल्प उच्यते । भविष्यति मर्य्यादावचने कालविभागे चानहोरात्राणामिति सर्वम-नुवर्तते । परस्मिन् । ७ । १ । विभाषा । १ । १ ।।

भविष्यत्यनहोरात्राणां कालविभागे परस्मिन् मर्य्यादावचन उपपदे धातोरनद्यत-नवत् प्रत्ययो विकल्पेन भवति ।।

योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यत्परं कार्त्तिक्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे । तत्र युक्ता अध्येतास्महे । तत्र सक्तून् पास्यामः । तत्र सक्तून् पातास्मः ।।

---

१. भा० सू० ७६७ ।।

'अनहोरात्राणाम्' इति किम्—योऽयं मास आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्र-स्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥ 'भविष्यति' इति किम्—योऽयं मासो व्यतीतस्तस्य या परा सप्तमी तत्र गृहमगच्छम् । तत्र सर्वानमिलम् ॥ 'मर्य्यादावचने' इति किम्—योऽयम-परिमितः काल आगामी तस्य यत्परं कार्त्तिक्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे । 'कालविभागे' इति किम्—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्रारन्तास्महे । अत्र सर्वत्र प्रत्युदाहरणेष्वनद्यतनवत् प्रत्यया भवन्त्येव ॥ १३८ ॥

यहां प्राप्तविभाषा है । अवरविभाग में पूर्वसूत्र से प्रतिषेध कहा है । परविभाग में विधि की प्राप्ति में सब विकल्प करके विधान किया है ॥

यहां 'भविष्यति, मर्य्यादावचने, कालविभागे, च, अनहोरात्राणाम्' इन सब पदों का अनुवर्त्तन है ॥

भविष्यत्काल में अहोरात्र को छोड़ कर कालविभाग में [परस्मिन्] परभाग की अपेक्षा से मर्य्यादावाची उपपद हो तो धातु से अनद्यतनवत् प्रत्यय [विभाषा] विकल्प से होता है ॥

जैसे—योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यत्परं कार्त्तिक्यास्तत्र युक्ताऽध्येष्यामहे । तत्र युक्ता अध्येतास्महे । तत्र सक्तून् पास्यामः, तत्र सक्तून् पातास्मः ॥

'अनहोरात्राणाम्' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयं मास आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्र-स्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥ 'भविष्यति' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयं मासो व्यतीतस्तस्य या परा सप्तमी तत्र गृहमगच्छम् । तत्र सर्वानमिलम् ॥ 'मर्य्यादावचने' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयमपरि-मित काल आगामी तस्य यत्परं कार्त्तिक्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥ 'कालविभागे' ग्रहण इसलिये है कि—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात्तस्य यत् परं कौशाम्ब्यास्तत्रारन्तास्महे । यहां सब प्रत्युदाहरणों में अनद्यतनवत् प्रत्यय हो जाते हैं ॥ १३८ ॥

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ[1] ॥ १३९ ॥

भविष्यति-इत्यनुवर्त्तते । अन्यत्सर्वं निवृत्तम् । लिङ्निमित्ते । ७ । १ । लृङ् । १ । १ । क्रियातिपत्तौ । ७ । १ ॥ लिङो निमित्तं [लिङ्निमित्तं], लिङर्थे हेतुहेतुम-द्भावादयः । क्रियाया अतिपत्तिरनिष्पन्नता तस्याम् ॥ लिङ्निमित्ते भविष्यत्काले क्रियातिपत्तौ सत्यां धातोः 'लृङ्' प्रत्ययो भवति ॥

अभोक्ष्यत भवान् मासेन यदि मत्समीप आसिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीप आसिष्यत ॥

'भविष्यति' इति किम्—अध्यैषि शीघ्रं यद्यहं तत्रासम् ॥ 'लिङ्निमित्ते' इति किम्—पठिष्याम्यवश्यम्[2] ॥ 'क्रियातिपत्तौ' इति किम्—यद्यनित्यः शब्दः स्यात्तदैतद्युक्तं स्यात् ॥ १३९ ॥

यहां 'भविष्यति' पद का अनुवर्त्तन है, और सब निवृत्त है ॥

१. अ० सू० ९३ २. अत्र क्रियातिपत्तिरपि नास्ति ॥

[लिङ्निमित्ते] भविष्यत्कालविषयक हेतुहेतुमद्भावादि 'लिङ्' लकार के निमित्त होने पर [क्रियातिपत्तौ] क्रिया की अतिपत्ति अर्थात् असिद्धि गम्यमान हो तो धातु से [लृङ्] 'लृङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अभोक्ष्यत भवान् मांसेन यदि मत्समीप आगमिष्यत । अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीप आगमिष्यत ।।

'भविष्यति' ग्रहण इसलिये है कि—अभ्यर्थेऽपि शीघ्रं यथा तत्रासम् ।। 'लिङ्निमित्ते' ग्रहण इसलिये है कि—पठिष्याम्यवश्यम् ।। 'क्रियातिपत्तौ' ग्रहण इसलिये है कि—यद्यनित्यः शब्दः स्यात्तदेतद् युक्तं स्यात् ।। १३९ ।।

भूते च[1] ।। १४० ।।

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । भूते । ७ । १ । च । [अ०] ।। भूते लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ 'लृङ्' प्रत्ययो भवति ।।

दृष्टो मया भिक्षुको बुभुक्षया पीडितः, अपरश्च भोजयिताऽन्विष्यमाणः, यदि स भिक्षुकमद्रक्ष्यत्, तर्ह्यवश्यमभोजयिष्यत् ।।

'भूते च' इति सूत्रमधिकारार्थम्[2] ।। १४० ।।

यहां पूर्व सूत्र से सब पदों का अनुवर्त्तन है ।। 'भूते च' अधिकार 'लिङ् च' तक है ।।

[भूते] भूतविषयक लिङ्निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति गम्यमान हो तो धातु से 'लृङ्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—दृष्टो मया भिक्षुको बुभुक्षया पीडित, अपरश्च भोजयिताऽन्विष्यमाण, यदि स भिक्षुकमद्रक्ष्यत् तर्ह्यवश्यमभोजयिष्यत् ।। १४० ।।

वोताप्योः[3] ।। १४१ ।।

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ-इत्यपि सर्वमनुवर्त्तते । वा । [अ०] । आ । [अ०] । उताप्योः । ७ । २ ।। आङ्शब्दोऽत्र मर्य्यादायाम् ।।

'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्' इत्यस्मात् प्राक् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते विभाषा लृङ्' भवतीत्यधिकारः । अर्थाद् भूतविकल्पाधिकारो लृङा सह सम्बध्यते न त्वन्येन ।।

[कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयिष्यत्, याजयेद् वा]

वा०—भूते लृङुताप्योर्दिष्टः[4] ।। १ ।।

---

१. आ० सू० ७६८ ।।

२. अनुवृत्तपूर्वसूत्रकोऽयमधिकारः 'लिङ् च' (अ० ३ । ३ १५९) इति यावत् ।।

३ आ० सू० ७६९ ।।

४. आदिशब्दग्रहणाद् 'भूते' इत्यधिकारः 'लिङ् च' (अ० ३ । ३ । १५९) इति यावदनुवर्तत इति ज्ञाप्यते ।।

५. वार्त्तिकमिदं भाष्ये 'भूते च' (अ० ३ । ३ । १४० भाष्ये) इत्यत्र पठ्यते ।।

उताध्यैष्यत । अप्यध्यैष्यत । विकल्पाधिकार उतापिभ्यां प्राग् वेदितव्यः ॥ १४१ ॥

यहां 'लिङ्निमित्ते-लृङ्-क्रियातिपत्तौ, इन सब पदों का अनुवर्त्तन है। यहां आङ्-शब्द मर्य्यादा में है ॥

'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्' इस सूत्र से पूर्व भूतकाल में लिङ् के निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति में 'लृङ्' [वा] विकल्प करके होता है ॥ यह अधिकार समझना चाहिये अर्थात् भूत और विकल्पाधिकार का 'लृङ्' के साथ सम्बन्ध है अन्य के साथ नहीं ॥

जैसे कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयिष्यत्, याजयेद्वा ॥

वा०—भूते लृङ्०—उताप्यादि उपपद हों तो भूत में 'लृङ्' होता है ॥

जैसे—उताध्यैष्यत । अप्यध्यैष्यत ॥

विकल्प का अधिकार 'उतापि' शब्द से पूर्व पूर्व जानना चाहिये ॥ १४१ ॥

गर्हायां लडपिजात्वोः[1] ॥ १४२ ॥

[गर्हायां०] इत्यादिसूत्रेषु कालत्रये सामान्येन विधानम् । नीचकर्मणः कथन-प्रवृत्तिर्गर्हा ॥ गर्हायाम् । ७ । १ । लट् । १ । १ । अपिजात्वोः । ७ । २ ॥

गर्हायां गम्यमानायामपिजात्वोरुपपदयोः कालत्रये सर्वापवादो 'लट्' प्रत्ययो भवति ॥

अपि तत्र भवान् मांसं खादति गर्हितमेतत् । जातु तत्र भवान् मांसं खादति गर्हितमेतत् ॥ १४२ ॥

(गर्हायां०) इत्यादि सूत्रों से सामान्य करके तीन काल में प्रत्यय विधान है ॥

[गर्हायाम्] गर्हा (नीच कर्म के कथन की प्रवृत्ति) गम्यमान हो, [अपिजात्वोः] अपि और जातु उपपद हों तो तीनों कालों में सब का अपवाद [लट्] 'लट्' लकार होता है ॥

जैसे—अपि तत्र भवान् मांसं खादति गर्हितमेतत् । जातु तत्र भवान् मांसं खादति गर्हितमेतत् ॥ १४२ ॥

विभाषा कथमि लिङ् च[2] ॥ १४३ ॥

चकारग्रहणात् 'गर्हायां लट्' इत्यनुवर्त्तते । विभाषा । [अ० ।] कथमि । ७ । १ । लिङ् । १ । १ ॥ च [अ०] ॥

गर्हायां सत्यां कथंशब्द उपपदे धातोः कालत्रये 'लिङ्' वा 'लट्' विकल्पेन भवतः । पक्षे [यथाविहितम्], लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते वा 'लृङ्', [भविष्यति नित्यम्] ॥

१. अ० सू० ७७० ॥ २. अ० सू० ७७१ ॥

कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशेत् । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशति । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोक्ष्यति । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोष्टा । कथं [नाम] भवान् ब्राह्मणमक्रोशत् । कथं [नाम] भवान् ब्राह्मणं चुक्रोश । लृङ्-कथं [नाम] भवान् ब्राह्मणमक्रोक्ष्यत् । यत्र लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते विकल्पेन लृङुच्यते, तत्र लृङ्-पक्षे सामान्यभूते लुङपि भवति । कथं [नाम] भवान् ब्राह्मणमक्रुक्षत् ।। १४३ ।।

चकार ग्रहण से 'गर्हायाम्' और 'लट्' पदों का अनुवर्त्तन है ।।

गर्हा गम्यमान हो और [कथमि] 'कथं' शब्द उपपद हो तो धातु से तीनों कालों में [लिङ्] 'लिङ्' और चकार से 'लट्' प्रत्यय [विभाषा] विकल्प से होते हैं, पक्ष में—यथाविहित प्रत्यय होते हैं । लिङ्निमित्त में क्रियातिपत्ति हो तो भूत में विकल्प से 'लृङ्' होता है, और भविष्यत् में नित्य ।।

जैसे—कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशेत् । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशति । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोक्ष्यति । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोष्टा । कथं नाम भवान् ब्राह्मणमक्रोशत् । कथं नाम भवान् ब्राह्मणं चुक्रोश । लृङ्—कथं नाम भवान् ब्राह्मणमक्रोक्ष्यत् ।।

जहां भूतविषयक लिङ्निमित्त में क्रियातिपत्ति होने पर विकल्प से लृङ् कहा, वहां लृङ् के पक्ष में सामान्यभूत में 'लुङ्' भी होता है ।। जैसे—कथं नाम भवान् ब्राह्मणमक्रुक्षत् ।। १४३ ।।

किंवृत्ते लिङ्लृटौ[1] ।। १४४ ।।

गर्हायामित्यनुवर्त्तते । विभाषेति निवृत्तम् । किंवृत्ते । ७ । १ । लिङ्लृटौ । १ । २ ।। किंवृत्त [इत्यत्र] लिङि प्रकृते पुनर्ग्रहणं लटो निवृत्त्यर्थम् ।।

गर्हायां गम्यमानायां किंवृत्ते किंशब्दस्य प्रयोग उपपदे धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादौ लिङ्-लृटौ भवतः । तथा किंशब्दस्य प्रयोग उपपदे धातोर्लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते विकल्पेन 'लृङ्' भवति, पक्षे यथा प्राप्तः ।।

कतरो विद्यां निन्देत् । कतरो विद्यां निन्दिष्यति । लृङ्—कतरो वेदमनिन्दिष्यत् ।। १४४ ।।

यहां 'गर्हायाम्' पद का अनुवर्त्तन है, विभाषा पद का नहीं ।।

लिङ् के अनुवर्त्तन होने पर पुनः लिङ् का ग्रहण 'लट्' की निवृत्ति के लिये है ।।

गर्हा गम्यमान हो तथा [किंवृत्ते] 'किं' शब्द का प्रयोग उपपद हो तो धातु से सामान्यकाल में सब लकारों के अपवाद [लिङ्लृटौ] 'लिङ्' और 'लृट्' प्रत्यय होते हैं ।। तथा 'किं' शब्द का प्रयोग उपपद होने पर धातु से लिङ्निमित्त में क्रियातिपत्ति गम्यमान हो तो भूतकाल में विकल्प से 'लृङ्' होता है, पक्ष में—यथाप्राप्त प्रत्यय हो जाते हैं ।।

जैसे—कतरो विद्यां निन्देत् । कतरो विद्यां निन्दिष्यति । लृङ्—कतरो वेदमनिन्दिष्यत् ।। १४४ ।।

---

१. भा० सू० ७७२ ।।

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि[1] ॥ १४५ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । अनवक्लृप्त्यमर्षयोः । ७ । २ । अकिंवृत्ते । ७ । १ । अपि [अ०] । अनवक्लृप्तिरसंभावना । अमर्षोऽसहनम् ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरभिधेययोः किंवृत्तेऽकिंवृत्ते चोपपदे धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो लिङ्-लृटौ प्रत्ययौ भवतः ॥

अनवक्लृप्तौ—नावकल्पयामि न संभावयामि । यद्भवान् मांसं भुञ्जीत । कथंचिद्भवान् मांसं भुञ्जीत । कदाचिद्भवान् मांसं भुञ्जीत ॥ नावकल्पयामि न संभावयामि यद्भवान् मांसं भोक्ष्यते । कथंचिद्भवान् मांसं भोक्ष्यते । कदाचिद्भवान् मांसं भोक्ष्यते ॥ अमर्ष—न मर्षयामि न सहे यद्भवान् देशान्तरं गच्छेत् । कथंचिद्भवान् देशान्तरं गच्छेत् । कदाचिद्भवान् देशान्तरं गच्छेत् ॥ न मर्षयामि न सहे यद्भवान् देशान्तरं गमिष्यति । कथंचिद्भवान् देशान्तरं गमिष्यति । कदाचिद्भवान् देशान्तरं गमिष्यति ॥ तथाऽनवक्लृप्त्यमर्षयोरभिधेययोः किंवृत्तेऽकिंवृत्ते चोपपदे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूतकाले विकल्पेन लृङ्, पक्षे लिङ्लृटावुदाहृतौ । नावकल्पयामि न संभावयामि न मर्षयामि न सहे यद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् । कथंचिद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् । कदाचिद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् ॥ १४५ ॥

यहां पूर्वसूत्र के सब पदों का अनुवर्त्तन है । अनवक्लृप्ति = असम्भावना, अमर्ष = असहन को कहते हैं ॥

[अनवक्लृप्त्यमर्षयोः] अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिधेय हो तो [अकिंवृत्तेऽपि] किंवृत्त और अकिंवृत्त उपपद होने पर सामान्यकाल में सब लकारों के अपवाद 'लिङ्' और 'लृट्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—अनवक्लृप्ति में—नावकल्पयामि न सभावयामि यद्भवान् मांस भुञ्जीत । कथंचिद्भवान् मांसं भुञ्जीत । कदाचित् भवान् मांसं भुञ्जीत ॥ नावकल्पयामि न सभावयामि यद्भवान् मांस भोक्ष्यते । कथंचिद्भवान् मांस भोक्ष्यते । कदाचिद् भवान् मांस भोक्ष्यते ॥ अमर्ष में—न मर्षयामि न सहे यद्भवान् देशान्तर गच्छेत् । कथंचिद्भवान् देशान्तर गच्छेत् । कदाचिद्भवान् देशान्तर गच्छेत् ॥ न मर्षयामि न सहे यद्भवान् देशान्तर गमिष्यति । कथंचिद्भवान् देशान्तर गमिष्यति । कदाचिद्भवान् देशान्तर गमिष्यति ॥

अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिधेय होने पर किंवृत्त तथा अकिंवृत्त उपपद हो तो लिङ्निमित्त तथा क्रियातिपत्ति होने पर भूतकाल में विकल्प से 'लृङ्', तथा पक्ष में 'लिङ्-लृट्' का उदाहरण दिया है ॥

जैसे—नावकल्पयामि न सम्भावयामि, न मर्षयामि न सहे यद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् । कथंचिद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् । कदाचिद्भवान् वेदमनिन्दिष्यत् ॥ १४५ ॥

---

१. आ० सू० ७७३ ॥

किंकिलास्त्यर्थेषु लृट्[1] ॥ १४६ ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरित्यनुवर्त्तते । किंकिलास्त्यर्थेषु । ७ । ३ । लृट् । १ । १ ॥ किंकिलेति क्रोधद्योतकः समुदायो गृह्यते । अस्ति, भवति, विद्यते, इत्यस्त्यर्थाः । लृट्-ग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरभिधेययोः किंकिलास्त्यर्थेषूपपदेषु धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लृट्' प्रत्ययो भवति ॥

न संभावयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । न मर्षयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । न संभावयामि न सहे, अस्ति भवति विद्यते वा भवान् मां त्यक्ष्यति । लिङ्निमित्ताभावादत्र लृङ् न भवति ॥ १४६ ॥

यहां 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोः' पद का अनुवर्त्तन है ।' किंकिल' यह पदसमुदाय क्रोध का द्योतक है । 'अस्त्यर्थ' पद से यहां अस्ति, भवति, विद्यते इनका ग्रहण है ॥ 'लृट्' का ग्रहण 'लिङ्' की निवृत्ति के लिये है ॥

अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिप्रेय हों और [किंकिलास्त्यर्थेषु] किंकिल तथा अस्त्यर्थक उपपद हों तो धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद [लृट्] 'लृट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—न सम्भावयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । न मर्षयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । न सम्भावयामि न सहे अस्ति भवति विद्यते वा भवान् मां त्यक्ष्यति । लिङ्-निमित्त का अभाव होने से यहां 'लृङ्' नहीं होता ॥ १४६ ॥

जातुयदोर्लिङ्[2] ॥ १४७ ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरित्यनुवर्त्तते । जातुयदोः । ७ । २ । लिङ् । १ । १ ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरभिधेययोर्जातुयदिभ्युपपदाद् धातोः सामान्यकाले सर्वलकारा-पवादो 'लिङ्' भवति । न संभावयामि जातु भवान् धर्मं त्यजेत्, यद्भवान् धर्मं त्यजेत् । न मर्षयामि न सहे जातु भवान् ब्राह्मणं हन्यात्, यद् भवान् ब्राह्मणं हन्यात् ॥

वा०—जातुयदोर्लिङ्विधाने यदायद्योरुपसंख्यानम्[3] ॥ १ ॥

यदायदीत्युपपदादपि धातोर्लिङ् भवति । न संभावयामि न मर्षयामि यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । तथाऽनवक्लृप्त्यमर्षयोर-भिधेययोर्जातुयदित्युपपदाद् धातोर्लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सामान्यभूते विकल्पेन लृङ्, पक्षे लिङेव । न मर्षयामि न संभावयामि जातु भवद्विधः क्षत्रियमयाजयिष्यत् । यद्भव-द्विधः क्षत्रियमयाजयिष्यत् । पक्षे भूतेऽपि सर्वापवादत्वाल्लिङ् भवति स उदाहृतः ॥ १४७ ॥

१. आ० सू० ७७४ ॥ २. आ० सू० ७७५ ॥

३. अ० ३ । ३ । १४७ भा० ॥ आ० वा० ७७६ ॥

यहां 'अनवक्लृप्त्यमर्षयो:' पद का अनुवर्त्तन है ॥

अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिधेय हों तो [जातुयदो:] जातु और यत् उपपद होने पर धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद [लिङ्] 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—न सम्भावयामि जातु भवान् धर्मं त्यजेत् । यद्भवान् धर्मं त्यजेत् । न मर्षयामि न सहे जातु भवान् ब्राह्मणं हन्यात् । यद्भवान् ब्राह्मणं हन्यात् ॥

वा०—जातुयदोर्लिङ्।—पूर्वोक्त लिङ् विधान में 'यदा यदि' उपपद होने पर भी धातु से 'लिङ्' प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये ॥

न सम्भावयामि न मर्षयामि यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । तथा अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिधेय हों, जातु और यत् उपपद हो तो धातु से लिङ्-निमित्त में क्रियातिपत्ति गम्यमान होने पर सामान्यभूत में विकल्प से 'लृङ्', पक्ष में 'लिङ्' ही होता है ॥

जैसे—न मर्षयामि न सम्भावयामि जातु भवद्विधः क्षत्रियमयाजयिष्यत् । यद्भवद्विधः क्षत्रियमयाजयिष्यत् । पक्ष में—भूतकाल में भी सब लकारों का अपवाद होने से 'लिङ्' होता है । उसका उदाहरण दे चुके हैं ॥ १४७ ॥

यच्चयत्रयोः[1] ॥ १४८ ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरित्यनुवर्त्तते । यच्चयत्रयोः । ७ । २ । यच्चेति समुदायो गृह्यते ॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयोर्यच्चयत्रेतिशब्दद्वयपूर्वाद् धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति ॥

न संभावयामि यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत् । यत्र भवद्विधोऽनृतं वदेत् । न मर्षयामि यच्च त्वं वदेः, यत्र त्वं वदेः ॥ तथाऽनवक्लृप्त्यमर्षयोरभिधेययोर्यच्चयत्रोपपदाद् धातोर्लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूतसामान्ये विकल्पेन लृङ्, पक्षे लिङुदाहृतः । न संभावयामि यच्च भवाननृतमवदिष्यत् । न मर्षयामि यत्र भवान् मामत्यक्ष्यत् ॥१४८॥

यहां अनवक्लृप्त्यमर्षयो' पद का अनुवर्त्तन है । यहां यच्च इस पदसमुदाय का ग्रहण है ॥

अनवक्लृप्ति और अमर्ष गम्यमान हों तथा [यच्चयत्रयोः] यच्च और यत्र उपपद हों तो धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद 'लिङ्' होता है ॥

जैसे—न सम्भावयामि यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत्, यत्र भवद्विधोऽनृतं वदेत् । न मर्षयामि यच्च त्वं वदेः । यत्र त्वं वदेः । तथा अनवक्लृप्ति और अमर्ष अभिधेय होने पर यच्च यत्र उपपद हों तो धातु से लिङ्‌निमित्त में क्रियातिपत्ति गम्यमान हो तो सामान्यभूतकाल में विकल्प से लृङ्, पक्ष में लिङ् भी होता है ॥ लिङ् का उदाहरण ऊपर दे दिया है ॥

जैसे—न सम्भावयामि यच्च भवाननृतमवदिष्यत् । न मर्षयामि यत्र भवान् मामत्यक्ष्यत् ॥ १४८ ॥

---

१. म्रा० सू० ७७७ ॥

गर्हायाञ्च[1] ॥ १४६ ॥

'अनवक्लृप्त्यमर्षयोः' इति निवृत्तम्, यच्चयत्रयोः लिङित्यनुवर्त्तते । गर्हायाम् । ७ । १ । च [अ०] ॥ गर्हायां निन्दायामभिधेयाया यच्चयत्रोपपदाद् धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति ॥ यच्च भवान् मांसं खादेत् । यत्र भवान् मांसं खादेत्, गर्हितमेतत् ॥ तथा लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सामान्यभूते पूर्ववल्लृङ् । यच्च भवानेतदकरिष्यत् । यत्र भवानेतदकरिष्यत्, अन्याय्यमेतत् ॥ पक्षे सामान्यभूते लिङेव भवति ॥ १४६ ॥

यहां 'अनवक्लृप्त्यमर्षयो' इस पद की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु 'यच्चयत्रयो' और 'लिङ्' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[गर्हायाम्] गर्हा अर्थात् निन्दा अभिधेय हो तो 'यच्च' और यत्र' उपपद होने पर धातु से सामान्यकाल मे सब लकारों का अपवाद 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यच्च भवान् मांसं खादेत् । यत्र भवान् मांसं खादेत्, गर्हितमेतत् ॥ तथा लिङ्-निमित्त मे क्रियातिपत्ति गम्यमान होने पर सामान्यभूत मे पूर्ववत् 'लृङ्' होता है। जैसे—यच्च भवानेतदकरिष्यत् । यत्र भवानेतदकरिष्यत्, अन्याय्यमेतत् । पक्ष में—सामान्यभूत में 'लिङ्' ही होता है ॥ १४६ ॥

चित्रीकरणे च[2] ॥ १५० ॥

'यच्चयत्रयोः' इत्यनुवर्त्तते, गर्हायामिति न । चित्रीकरणे । ७ । १ । च [अ०] ॥ चित्रीकरणमाश्चर्यमद्भुतम् ॥

चित्रीकरणे गम्यमाने यच्चयत्रोपपदाद् धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति ॥

यच्च भवान् सदसि वदेत् । यत्र भवान् सदसि वदेत्, आश्चर्यमेतत् । तथा यच्च भवान् सदस्यवदिष्यत् । यत्र भवान् सदस्यवदिष्यदाश्चर्य्यमेतत् । अत्र पूर्ववत् सामान्यभूते लृङ् । पक्षे सर्वापवादो लिङुदाहृतः ॥ १५० ॥

इस सूत्र में 'यच्चयत्रयोः' पद का अनुवर्त्तन है । 'गर्हायाम्' पद का नहीं ॥ चित्रीकरण' आश्चर्य्य तथा अद्भुत को कहते हैं ॥

[चित्रीकरणे] आश्चर्य्य गम्यमान हो तो 'यच्च यत्र' उपपद होने पर धातु से सामान्यकाल मे सब लकारों का अपवाद 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यच्च भवान् सदसि वदेत् । यत्र भवान् सदसि वदेत् । आश्चर्य्यमेतत् ॥

तथा —यच्च भवान् सदस्यवदिष्यत् । यत्र भवान् सदस्यवदिष्यत्, आश्चर्य्यमेतत् ॥ यहां पहिले की भांति सामान्यभूत मे 'लृङ्', पक्ष मे —सब लकारों का अपवाद' लिङ्' होता है ॥१५०॥

---

१. आ० सू० ७७८ ॥ २. आ० सू० ७७९ ॥

शेषे लृडयदौ[1] ॥ १५१ ॥

यच्चयत्रयोरिति नानुवर्त्तते लिङ् च। चित्रीकरण इत्यनुवर्त्तते। शेषे। ७। १। लृट्। १। १। अयदौ। ७। १॥ यच्चयत्रापेक्षायां चित्रीकरणे शेषस्तस्मिन्॥

शेषे चित्रीकरणे गम्यमाने यदिभिन्नोपपदाद् धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लृट्' भवति॥ बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते। अन्धो नाम मार्गं क्षिप्रं यास्यति, आश्चर्यमेतत्॥

'शेषे' इति किम्—यच्च यत्र वा त्वं वदेः, आश्चर्यमेतत्। 'अयदौ' इति किम्—आश्चर्यं यदि बुद्धिहीनोऽधीयीत। अत्रोभयत्र लिङेव भवति। अत्र लिङ्निमित्ताभावाल्लृङ् न भवति। विकल्पग्रहणमत्र[2] निवृत्तम्। [इतोऽग्रे] भूते चेति सामान्येनाधिकारः स त्वनुवर्त्तत एव। तस्मिन् भूतसामान्ये लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ नित्यं लृङ् भविष्यति। अन्यविधानं च सामान्यकाले॥ १५१॥

इस सूत्र में 'यच्चयत्रयोः' और 'लिङ्' इन पदों की निवृत्ति है, 'चित्रीकरणे' इस पद का अनुवर्त्तन है॥

[शेषे] शेष (यच्च यत्र की अपेक्षा में) चित्रीकरण गम्यमान हो तो [अयदौ] यदि भिन्न उपपद होने पर धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद [लृट्] 'लृट्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते, अन्धो नाम मार्गं क्षिप्रं यास्यति, आश्चर्यमेतत्॥

'शेषे' ग्रहण इसलिये है कि—यच्च यत्र वा त्वं वदेः, आश्चर्यमेतत्॥ 'अयदौ' ग्रहण इस लिये है कि—आश्चर्यं यदि बुद्धिहीनोऽधीयीत। यहां दोनों स्थानों पर लिङ् ही होता है। यहां लिङ्निमित्त का अभाव होने से लृङ् नहीं होता॥

इस सूत्र में विकल्प का निवर्त्तन है॥ 'भूते' यह सामान्य अधिकार तो अनुवर्त्तित ही है। उस सामान्यभूत में लिङ्निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति में नित्य लृङ् होता है। और विधान तो सामान्यकाल में है॥ १५१॥

उताप्योः समर्थयोर्लिङ्[3] ॥ १५२ ॥

उताप्योः। ७। २। समर्थयोः। ७। २। लिङ्। १। १॥ समर्थयोः समानार्थयोः॥

समर्थयोरुताप्योरुपपदयोर्धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति॥ उताधीयीत। अप्यधीयीत। बाढमध्येष्यतेऽधीते वेत्यर्थः॥

---

१. आ० सू० ७८० ॥

२. अत्र भाष्यम्—"""तथाचार्यः सुहृद्भूत्वाऽन्वाचष्टे—विभाषा गर्हाप्रभृतौ प्रागुतापिभ्याम्। अ० ३। ३। १४९ भा०॥

३. आ० सू० ७८१ ॥

'समर्थयोः' इति किम्—उत दण्डः पतिष्यति । उतशब्दोऽत्र प्रश्ने । अपि धास्यति द्वारम् । अपिशब्दोऽत्राच्छादनेऽतो भिन्नार्थौ । लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूतसामान्ये नित्यं 'लृङ्' । उताध्यैष्यत । अप्यध्यैष्यत ॥ १५२ ॥

[समर्थयोः] समान अर्थवाले [उताप्योः] उत-अपि उपपद हों तो धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद [लिङ्] लिङ् होता है ॥

जैसे—उताऽधीयीत । अप्यधीयीत । बाढमध्येष्यते, अधीते वा—यह अर्थ हुआ ॥

'समर्थयोः' ग्रहण इसलिये है कि—उत दण्डः पतिष्यति । यहां 'उत' शब्द प्रश्न में है । अपिधास्यति द्वारम् । यहां 'अपि' शब्द आच्छादन अर्थ में है, अतः ये दोनों 'उत-अपि' भिन्नार्थक हैं ॥

लिङ्निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति में नित्य लृङ् प्रत्यय होता है । जैसे—उताध्यैष्यत । अप्यध्यैष्यत ॥ १५२ ॥

कामप्रवेदनेऽकच्चिति[1] ॥ १५३ ॥

'लिङ्' इत्यनुवर्त्तते । कामप्रवेदने । ७ । १ । अकच्चिति । ७ । १ ॥ कामः कामना स्वेच्छा तस्याः प्रवेदनं ज्ञापनं तस्मिन् ॥

कामप्रवेदने सति कच्चिद्भिन्न उपपदे धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति ॥ कामो मे भुञ्जीत भवान् । इच्छा मे भुञ्जीत भवान् । अभिलाषा मे भुञ्जीत भवान् ॥

'अकच्चिति' इति किम्—कामो मे कच्चिद् भोक्ष्यते भवान् । लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूतसामान्ये नित्यं लृङ् । कामो मेऽपठिष्यद्भवान् ॥ १५३ ॥

यहां 'लिङ्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ कामप्रवेदन अर्थात् अपनी इच्छा का प्रकट करना ॥

[कामप्रवेदने] कामप्रवेदन गम्यमान हो तो [अकच्चिति] 'कच्चित्' से भिन्न अन्य उपपद होने पर धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कामो मे भुञ्जीत भवान् । इच्छा मे भुञ्जीत भवान् । अभिलाषा मे भुञ्जीत भवान् ॥

'अकच्चिति' ग्रहण इसलिये है कि—कामो मे कच्चिद्भोक्ष्यते भवान् । यहां लिङ् नहीं होता ॥

लिङ्निमित्त में क्रियातिपत्ति गम्यमान होने पर सामान्यभूत में नित्य लृङ् होता है ॥ जैसे—कामोऽमेऽपठिष्यद्भवान् ॥ १५३ ॥

---

१. अ॰ सू॰ ७८२ ।

सम्भावनेऽलमिति चेत्सिद्धाप्रयोगे[1] ॥ १५४ ॥

लिङ्' इत्यनुवर्त्तते । संभावने । ७ । १ । अलम् । अ० । इति [अ०] । चेत् [अ०] । सिद्धाप्रयोगे । ७ । १ ॥ सभावनमनुमानम् । अल शब्दोऽत्र समर्थवाची । यद् दृष्ट्वाऽनुमीयते तदलं समर्थो भवेत् । तस्य चालंशब्दस्याप्रयोगोऽर्थमात्र स्यात्, तत्रास्य प्रयोगो मा भून् ॥ ईदृशे संभावनेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातो. सामान्यकाले सर्वलकारापवादो 'लिङ्' भवति । अपि भित्ति शिरसा पातयेत् । अपि वृक्ष हस्तेन त्रोटयेत् । अप्युष्ट्रं धावत्यारोहेत् । कश्चित् मनुष्यं दृष्ट्वाऽनुमीयते, एवमयं कर्तुं योग्योऽस्ति । अलमर्थो गम्यते न तु प्रयुज्यते ॥

'अलम्' इति किम्—पिपासार्त्तो मृगोऽवश्यं पास्यति जलम् । 'सिद्धाप्रयोगे' इति किम्—अलं देवदत्तो हस्तिनं हनिष्यति ॥

[लिङ्निमित्ते] क्रियातिपत्तौ भूतसामान्ये नित्य 'लृङ्' । अपि सिंहं शस्त्रहीनोऽहनिष्यत् । अत्रापि यत्रालमर्थो भवेत्तत्र लृङेव ॥ १५४ ॥

यहां 'लिङ्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ सम्भावन = अनुमान को कहते हैं ॥ अल शब्द यहां समर्थवाची है, अर्थात् जिसे देख कर यह अनुमान किया जा सके कि यह अलम् अर्थात् समर्थ है । जहां अल शब्द के प्रयोग के बिना उसके अर्थ की प्रतीति होती हो ऐसी अवस्था में [सम्भावने] सम्भावन अर्थ में वर्त्तमान धातु से सामान्यकाल में सब लकारों का अपवाद लिङ् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अपि भित्ति शिरसा पातयेत् । अपि वृक्ष हस्तेन त्रोटयेत् । अप्युष्ट्रं धावत्यारोहेत् । किसी मनुष्य को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि—यह ऐसा करने के योग्य है । यहां अलमर्थ तो जाना जाता है परन्तु 'अल' शब्द का प्रयोग नहीं ॥

'अलम्' ग्रहण इसलिये है कि—पिपासार्त्तो मृगोऽवश्य पास्यति जलम् ॥ 'सिद्धाप्रयोगे' ग्रहण इसलिये है कि—अलं देवदत्तो हस्तिनं हनिष्यति । यहां उभयत्र 'लिङ्' नहीं होता । लिङ्निमित्त में क्रियातिपत्ति गम्यमान होने पर सामान्यभूतकाल में नित्य 'लृङ्' होता है ॥ जैसे—अपि सिंह शस्त्रहीनोऽहनिष्यत् ॥ इस विषय में भी जहां अलमर्थ हो वहां 'लृङ्' ही होता है ॥ १५४ ॥

विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि[2] ॥ १५५ ॥

प्राप्तविभाषेयम् । पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते । पूर्वसूत्र सर्वमनुवर्त्तते ॥

विभाषा [अ०] । धातौ । ७ । १ । सभावनवचने । ७ । १ । अयदि । ७ । १ ॥ सभावनमुच्यतेऽनेन स संभावनवचनस्तस्मिन्, सिद्धाप्रयोगेऽलमर्थे सति यच्छब्दरहिते सभावनवचने धातावुपपदे धातोः सामान्यकाले विकल्पेन 'लिङ्' भवति । पक्षे लृट् सामान्यभविष्यत्त्वात् । संभावयामि भवान् पाठयेत् । संभावयामि भवान् पाठयिष्यति । क्रियातिपत्तौ भूते च नित्य लृङ् । संभावयामि भवानपाठयिष्यत् ॥

अयदि' इति किम्—संभावयामि यदध्यापयेद्भवान् ॥ १५५ ॥

---

१ अा० सू० ७८३ ॥ २. अा० सू० ७८४ ॥

यह सूत्र प्राप्तविभाषा है। पूर्वसूत्र से नित्य की प्राप्ति में विकल्प कहा है ॥ पूर्वसूत्र से सब पदों की अनुवृत्ति आती है ॥

'अलं' शब्द के प्रयोग के विना उसके अर्थ की प्रतीति होती हो तथा [अयदि] यच्छब्द-वर्जित [सम्भावनवचने] सम्भावन अर्थ को कहने वाला [धातौ] धातु उपपद हो तो धातु से सामान्यकाल में [विभाषा] विकल्प करके 'लिङ्' होता है, पक्ष में सामान्यभविष्यत् होने से 'लृट्' प्रत्यय हो जाता है ॥

जैसे—सम्भावयामि भवान् पाठयेत्। सम्भावयामि भवान् पाठयिष्यति। क्रियातिपत्ति गम्यमान होने पर भूत में नित्य 'लृङ्' होता है ॥ जैसे—सम्भावयामि भवानपाठयिष्यत् ॥

'अयदि' ग्रहण इसलिये है कि—सम्भावयामि यदध्यापयेद्भवान् ॥ १५५ ॥

हेतुहेतुमतोर्लिङ्[1] ॥ १५६ ॥

हेतुहेतुमतोः। ७। २। लिङ्। १। १॥ हेतु कारणं, हेतुमत्कार्य्यम् ॥

वा०—हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा ॥ १ ॥

हेतुहेतुमतोरर्थयोर्धातोर्भविष्यति काले विभाषा 'लिङ्' भवति। पक्षे च लृट् ॥

दक्षिणेन चेद्यायान्न शकटं पर्य्याभवेत्। दक्षिणेन चेद्यास्यति न शकटं पर्य्याभविष्यति। दक्षिणेन यानं हेतुः। अपर्य्याभवनं हेतुमत् ॥

वा०—भविष्यदधिकारे च ॥ २ ॥

अस्मिन् प्रकरणे सामान्यकालाधिकारोऽस्ति। तत्र नियमार्थं वार्त्तिकं, न ह्यन्यस्मिन् काले हेतौ हेतुमति च लिङ् स्यात्। तेन नियमेनात्र न भवति—वर्षतीति धावति, हन्तीति पलायते। भूते पूर्ववन्नित्यं 'लृङ्'। दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्य्याभविष्यत् ॥ १५६ ॥

हेतु = कारण तथा हेतुमत् कार्य्य कहलाता है ॥

वा०—हेतुहेतुमतो०—[हेतुहेतुमतोः] हेतु और हेतुमान् अर्थ में धातु से भविष्यत्काल में विकल्प से [लिङ्] 'लिङ्' प्रत्यय होता है, और पक्ष में 'लृट्' ॥

जैसे—दक्षिणेन चेद्यायान्न शकटं पर्य्याभवेत्। दक्षिणेन चेद्यास्यति न शकटं पर्य्याभविष्यति ॥

यहां दक्षिण से जाना हेतु और अपर्य्याभवन = न गिरना हेतुमत् अर्थात् कार्य्य है ॥

वा०—भविष्यद०—इस प्रकरण में सामान्यकाल का अधिकार है, अतः यह वार्त्तिक नियम के लिये है कि—अन्य काल में हेतु तथा हेतुमान् में 'लिङ्' न हो। उस नियम से यहां नहीं होता—वर्षतीति धावति। हन्तीति पलायते। भूतविषय में तो पूर्ववत् नित्य 'लृङ्' हो जाता है। जैसे—दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्य्याभविष्यत् ॥ १५६ ॥

---

१. अ० सू० ७८५ ॥

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ[1] ॥ १५७ ॥

इच्छार्थेषु । ७ । ३ । लिङ्लोटौ । १ । २ ॥ इच्छार्थो येषां तेषु । इच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोः सामान्यकाले सर्वलकारापवादो लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः इच्छामि भुञ्जीत भवान् । इच्छामि भुङ्क्ताम्भवान् ॥

वा०—कामप्रवेदनं चेत् ॥ १ ॥

कामस्य स्वेच्छायाः प्रवेदनं प्रकाशनं यदि स्यात्तदास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः स्यात् । तथैवोदाहृतम् ॥

'कामप्रवेदनम्' इति किम्—इह मा भूत् । इच्छन् कटं करोति ॥ १५७ ॥

[इच्छार्थेषु] इच्छार्थ वाले धातु उपपद हों तो धातु से सामान्यकाल में सब लकारों के अपवाद [लिङ्लोटौ] 'लिङ्' और 'लोट्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—इच्छामि भुञ्जीत भवान् । इच्छामि भुङ्क्तां भवान् ॥

वा०—कामप्रवेदनं चेत्—'कामप्रवेदन' अर्थात् अपनी इच्छा का प्रकाश करना यदि हो तब इस सूत्र की प्रवृत्ति है । ऐसे ही उदाहरण दिये हैं ॥

'कामप्रवेदनम्' ग्रहण इसलिये है कि=यहां न हो 'इच्छन् कटं करोति' ॥ १५७ ॥

समानकर्त्तृकेषु तुमुन्[2] ॥ १५८ ॥

इच्छार्थेष्वित्यनुवर्त्तते । समानकर्त्तृकेषु । ७ । ३ । तुमुन् । १ । १ ॥ लिङ्-लोटोरपवादस्तुमुन् विधीयते ॥

समानकर्त्तृकेष्विच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोः सामान्यकाले 'तुमुन्' प्रत्ययो भवति । इच्छामि भोक्तुम् । कामये भोक्तुम् । वाञ्छामि भोक्तुम् । अत्रेच्छाया भोजनस्य च कर्त्तैक एव ॥

'समानकर्त्तृकेषु' इति किम्—देवदत्तं भुञ्जा[न]मिच्छति यज्ञदत्तः ॥ १५८ ॥

यहां 'इच्छार्थेषु' पद का अनुवर्त्तन है । 'लिङ्-लोट्' के अपवाद 'तुमुन्' प्रत्यय का विधान है ।

[समानकर्त्तृकेषु] समानकर्त्तृक इच्छार्थक धातु उपपद हों तो धातु से सामान्यकाल में [तुमुन्] 'तुमुन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—इच्छामि भोक्तुम् । कामये भोक्तुम् । वाञ्छामि भोक्तुम् । यहां इच्छा और भोजन का कर्त्ता एक ही है ॥

'समानकर्त्तृकेषु' ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्त भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्त ॥ १५८ ॥

---

१. भा० सू० ७८६ ॥ २. भा० सू० १३२७ ॥

लिङ् च[1] ॥ १५६ ॥

इच्छार्थेषु समानकर्त्तृकेषु' इत्यनुवर्त्तते । पृथग्योग उत्तरार्थः । लिङ् । १ । १ । च । [अ०] ॥

समानकर्त्तृकेष्विच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङपि भवति ॥ अध्यापयेयमि-[ती]च्छति । अधीयीयेति वाञ्छति । भुञ्जीयेत्यभिलषति ॥

अग्रे च वर्त्तमानाधिकारः । अत्रैव 'भूते लृङ्' निवर्त्तते । सामान्यकालविधायक प्रकरणं निवृत्तम् ॥ १५९ ॥

यहां 'इच्छार्थेषु' और 'समानकर्त्तृकेषु' पदों का अनुवर्त्तन है, पृथक् सूत्र उत्तरसूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है ॥

समानकर्त्तृक इच्छार्थक धातु उपपद हों तो धातु से [लिङ् च] 'लिङ्' भी होता है ॥

जैसे—अध्यापयेयमितीच्छति । अधीयीय–इति वाञ्छति । भुञ्जीय–इत्यभिलषति ॥

आगे वर्त्तमान का अधिकार है । अतः 'भूते–लृङ्' यहीं निवृत्त हो जाता है, और सामान्य-कालविधायक प्रकरण भी समाप्त हुआ ॥ १५९ ॥

इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्त्तमाने[2] ॥ १६० ॥

लिङ्' इत्यनुवर्त्तते । इतोऽग्रे पादपर्य्यन्तं वर्त्तमानाधिकारः । तत्र सामान्य-विहितस्य 'वर्त्तमाने लट्[3]' इत्यादिप्रकरणस्य विशेषत्वेनापवादा उच्यन्ते । अर्थाद्वि-ध्यादिषु वर्त्तमाने 'लट्' न भविष्यति ॥ इच्छार्थेभ्यः । ५ । ३ । विभाषा [अ०] । वर्त्तमाने । ७ । १ ॥

इच्छार्थेभ्यो धातुभ्यो वर्त्तमानकाले विकल्पेन लिङ्, पक्षे च लडेव भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । वाञ्छेत् । वाञ्छति ॥ १६० ॥

यहां लिङ्' पद का अनुवर्त्तन है । यहां से आगे पाद की समाप्ति तक वर्त्तमान का अधिकार है । सामान्यविहित जो 'वर्त्तमाने लट्' इत्यादि प्रकरण है उसके विशेष अपवाद कहे हैं । अर्थात् विध्यादि अर्थों में वर्त्तमानकाल में 'लट्' नहीं होगा ॥

[इच्छार्थेभ्यः] इच्छार्थक धातुओं से [वर्त्तमाने] वर्त्तमानकाल में [विभाषा] विकल्प से 'लिङ्' होता है, पक्ष में 'लट्' ही होता है ॥

जैसे—इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । वाञ्छेत् । वाञ्छति ॥ १६० ॥

---

१. आ० सू० ७८७ ॥ २. आ० सू० ७८८ ॥

३. अ० ३ । २ । १२३ ॥

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाऽधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्[1] ॥ १६१ ॥

लिङित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहणं विभाषानिवृत्त्यर्थम् । वर्त्तमान इत्यनुवर्त्तते ॥ विधि० प्रार्थनेषु । ७ । ३ । लिङ् । १ । १ ॥ विधिर्नाम प्रेषणम् । निमन्त्रणम्[2]=निकटस्थान् जनानाहूय तेषां शास्त्रानुसारेण सत्कारः । आमन्त्रणम् = दूरस्थानां सत्कारायाह्वानम् । अधीष्टम्=सत्कारपूर्विका व्यापारणा । संप्रश्नः=सन्दिग्धस्य निश्चयार्थं प्रच्छनम् । प्रार्थना=याञ्चा ॥

विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्वर्त्तमानकाले 'लिङ्' प्रत्ययो भवति । वर्त्तमानाधिकारस्यापवादः ॥

विधौ—ओदनं पचेत् । ग्रामं गच्छेत् । जनान् सत्कुर्यात् । विद्यां पठेत् ॥ निमन्त्रणे–अद्येह भवान् भुञ्जीत ॥ आमन्त्रणे–इह भवानासीत ॥ अधीष्टे–माणवक मे भवानुपनयेत् ॥ संप्रश्ने—किं[3] भवान् न्यायमधीयीत ॥ प्रार्थना[याम्]–भवदनुकम्पातो व्याकरणमधीयीय ॥

विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु लिङ् भवतीति । तेन देवदत्तो भवन्तमामन्त्रयते । अत्र धात्वर्थात्प्रत्ययार्थ आमन्त्रणं पृथङ्नास्तीति 'लिङ्' न भविष्यति ॥ १६१ ॥

'लिङ्' अनुवर्त्तमान होने पर फिर लिङ्ग्रहण 'विभाषा' पद की निवृत्ति के लिये है । यहां 'वर्त्तमाने' पद का अनुवर्त्तन है ॥

विधि = आज्ञा । निमन्त्रण = निकटवर्त्ती पुरुषों को बुलाकर उनका शास्त्रानुकूल सत्कार करना । आमन्त्रण = दूरस्थ मनुष्यों को सत्कार के लिये बुलाना । अधीष्ट = सत्कारपूर्वक प्रेरणा । सम्प्रश्न = सन्दिग्ध के निश्चय के लिये पूछना । प्रार्थना = याञ्चा कहाती है ॥

[विधि० प्रार्थनेषु] विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना इन अर्थों में धातु से वर्त्तमानकाल में [लिङ्] 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

वर्त्तमान अधिकार का यह अपवाद है । विधि में—ओदनं पचेत् । ग्रामं गच्छेत् । जनान् सत्कुर्यात् । विद्यां पठेत् । निमन्त्रण में—अद्येह भवान् भुञ्जीत । आमन्त्रण में—इह भवानासीत । अधीष्ट में—माणवक मे भवानुपनयेत् । सम्प्रश्न में—किं भवान् न्यायमधीयीत । प्रार्थना में—भवदनुकम्पातो व्याकरणमधीयीय । विध्यादिविशिष्ट कर्त्ता आदि में 'लिङ्' होता है, अत

---

१. अ० सू० ७७ ॥

२. अत्र भाष्यम्—अथ निमन्त्रणामन्त्रणयोः को विशेषः । सन्निहितेन निमन्त्रणं भवति । असन्निहितेनामन्त्रणम् । नैषोऽस्ति विशेषः । असन्निहितेनापि निमन्त्रणं भवति सन्निहितेन चामन्त्रणम् । एवं तर्हि यन्नियोगतः कर्त्तव्यं तन्निमन्त्रणम् । किं पुनस्तत् । हव्यं कव्यञ्च । ब्राह्मणेन सिद्धं भुज्यतामित्युक्तेऽधर्मः प्रत्याख्यातुः । आमन्त्रणे कामचारः (अ० ३ । ३ । ६१) ॥

३. अधोऽत्रास —किं, इत्यादीनि पदानि तदर्थद्योतनपराणि, तेषामभावेऽपि अधीष्टसम्प्रश्नादीनामर्थानां प्रतीतिसम्भवात् ॥

'देवदत्तो भवन्तमामन्त्रयते' यहां धात्वर्थ से प्रत्ययार्थ आमन्त्रण पृथक् नहीं रह जाता इस कारण 'लिङ्' नहीं होता ॥ १६१ ॥

लोट् च[1] ॥ १६२ ॥

विध्यादिष्वित्यनुवर्त्तते । लोट् । १ । १ च । [अ०] ॥ पृथक्करणमुत्तरार्थम् ॥

कर्त्रा [दि] विशिष्टेषु विध्यादिषु वर्त्तमानकाले धातो 'र्लोट्' प्रत्ययो भवति ॥

विधौ—वाराणसीं गच्छतु भवान् । भोजनं करोतु भवान् ॥ निमन्त्रणे अद्येह भुङ्क्तांभवान् ॥ आमन्त्रणे—अमुत्रास्तांभवान् ॥ अधीष्टे—अधीच्छाम इह भवान् मासं निवसतु ॥ संप्रश्ने—किं भवान् व्याकरणमधीताम् ॥ प्रार्थना-[याम्]-न्यायं पाठयतु भवान् । वेदं पाठयतु भवान् ॥ १६२ ॥

यहां 'विधि० प्रार्थनेषु' पद की अनुवृत्ति है। उत्तरसूत्रों में अनुवृत्ति के लिये पृथक् सूत्र किया है ॥

कर्त्रादिविशिष्ट विधि आदि अर्थ हो तो वर्त्तमान काल में धातु से [लोट् च] 'लोट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—विधि में—वाराणसीं गच्छतु भवान् । भोजन करोतु भवान् ॥ निमन्त्रण में—अद्येह भुङ्क्तां भवान् ॥ आमन्त्रण में—अमुत्रास्तां भवान् ॥ अधीष्ट में—अधीच्छाम इह भवान् मासं निवसतु ॥ सम्प्रश्न में—किं भवान् व्याकरणमधीताम् ॥ प्रार्थना में—न्याय पाठयतु भवान् । वेद पाठयतु भवान् ॥ १६२ ॥

प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च[2] ॥ १६३ ॥

चकाराल्लोडप्यनुवर्त्तते । प्रैषाति० कालेषु । ७ । ३ । कृत्याः । १ । ३ । च । [अ०] ॥ प्रेषणम्=प्रैषः । अतिसर्जनमतिसर्गः[3] । प्राप्तः कालः=प्राप्तकाल ॥

प्रैषादिष्वर्थेषु वर्त्तमानाद् धातोः कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया भवन्ति, चकारा 'ल्लोट्' च ॥ ग्रामो गन्तव्यः । भोजनं करणीयम् । कार्यम् । कृत्यम् ॥ लोट्=प्रेषितो भवान् गच्छतु ग्रामम्, [अतिसृष्टः, प्राप्तकालः] ॥ १६३ ॥

चकार ग्रहण से यहां 'लोट्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ प्रैष=प्रेरणा करना । अतिसर्ग=इच्छापूर्वक आज्ञा देना । प्राप्तकाल=समय का उपस्थित होना ॥

[प्रैषातिसर्ग०] प्रैष, अतिसर्ग, प्राप्तकाल इन अर्थों में वर्त्तमान धातु से [कृत्याः] कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं, चकार से 'लोट्' भी हो जाता है ॥

जैसे—ग्रामो गन्तव्यः । भोजन करणीयम् । कार्य्यम् । कृत्यम् ॥ लोट्—प्रेषितो भवान् गच्छतु ग्रामम्, अतिसृष्टः, प्राप्तकालः ॥ १६३ ॥

---

१. आ० सू० ६४ ॥ २. आ० सू० ७८९ ॥

३. कामचाराभ्यनुज्ञा ॥

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके[1] ॥ १६४ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते ॥ लिङ् । १ । १ । च । [अ०] । ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके । ७ । १ ॥ प्रैषादिषु गम्यमानेषूर्ध्वमौहूर्त्तिके काले धातो 'लिङ्' चात् कृत्याश्च भवन्ति ॥

मुहूर्त्त[स्य] पश्चाद्भवता ग्रामो गन्तव्यः । भोजनं कर्त्तव्यम् । करणीयम् । कार्य्यं वा । मुहूर्त्तस्य पश्चाद् ग्राम गच्छेत्, गच्छतु वा [भवानिह प्रेषित.' अतिसृष्ट.' प्राप्तकालो वा] ॥ १६४ ॥

यहां पूर्वसूत्रों से सब पदों की अनुवृत्ति है ॥

प्रैष, अतिसर्ग, प्राप्तकाल ये अर्थ गम्यमान हों तो [ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके] दो घड़ी से ऊपर काल कहने में धातु से 'लिङ्' प्रत्यय [च] और चकार से 'कृत्य' प्रत्यय भी होते हैं ॥

जैसे—मुहूर्त्तस्य पश्चाद्भवता ग्रामो गन्तव्यः । भोजन कर्त्तव्यम्, करणीयम्, कार्य्यं वा । मुहूर्त्तस्य पश्चाद् ग्रामं गच्छेत्, गच्छतु वा । भवानिह प्रेषित, अतिसृष्ट, प्राप्तकालो वा ॥ १६४ ॥

स्मे लोट्[2] ॥ १६५ ॥

कृत्यानां लिङश्चापवाद । प्रैषादिषूर्ध्वमौहूर्त्तिक इत्यनुवर्त्तते । स्मे । ७ । १ । लोट् । १ । १ ॥

प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके काले स्मोपपदाद् धातो 'लोट्' प्रत्ययो भवति ॥ ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद्भवान् भुनक्तु[3] स्म । ग्रामं गच्छतु स्म । शिष्यं पाठयतु स्म ॥ १६५ ॥

यह सूत्र कृत्यप्रत्ययों का तथा 'लिङ्' का अपवाद है । यहां 'प्रैषादिषु' तथा 'ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके' इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन है ॥

प्रैषादि अर्थ गम्यमान हों तो दो घड़ी से ऊपर के काल में [स्मे] स्म शब्द उपपद होने पर धातु से [लोट्] 'लोट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद्भवान् भुनक्तु स्म । ग्रामं गच्छतु स्म । शिष्य पाठयतु स्म ॥१६५॥

अधीष्टे च[4] ॥ १६६ ॥

'स्मे लोट्' इत्यनुवर्त्तते । अधीष्टे लिङपि प्राप्तस्तस्यापवाद । अधीष्टे । ७ । १ । च । [अ०] ॥

---

१. आ० सू० ७९० ॥ २. आ० सू० ७९१ ॥

३ 'भुजोऽनवने' (अ० १ । ३ । ६६) इत्यवने (पालने) आत्मनेपदाभाव ।

४. आ० सू० ७९२ ॥

अधीष्टे गम्यमाने स्मोपपदाद् धातोर्वर्त्तमानकाले 'लोट्' प्रत्ययो भवति ॥ अधीच्छामि ब्राह्मण बालानध्यापय स्म । अधीच्छामि राजन्नग्निहोत्रं जुहुधि [स्म] ॥ १६६ ॥

यहां 'स्मे' 'लोट्' पदों का अनुवर्त्तन है। अधीष्ट में 'लिङ्' भी प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

[अधीष्टे] सत्कारपूर्विका चेष्टा गम्यमान हो तो स्म उपपद होने पर धातु से वर्त्तमान काल में 'लोट्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे अधीच्छामि ब्राह्मण बालानध्यापय स्म । अधीच्छामि राजन्नग्निहोत्रं जुहुधि स्म ॥ १६६ ॥

कालसमयवेलासु तुमुन्[1] ॥ १६७ ॥

प्रैषादयोऽनुवर्त्तन्ते । काल० वेलासु । ७ । ३ । तुमुन् । १ । १ ॥

प्रैषादिषु गम्यमानेषु कालसमयवेलासु[2] शब्दत्रयोपपदेषु धातोर्वर्त्तमानकाले 'तुमुन्' प्रत्ययो भवति ॥ कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् ॥

'प्रैषादिषु' इति किमर्थम्—इह मा भूत्—कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजा[3] । अत्र प्रैषादयो न सन्तीति तुमुनभावः ॥ १६७ ॥

यहां 'प्रैषादिषु' पद का अनुवर्त्तन है ॥

प्रैषादि अर्थ गम्यमान हो तो [काल-समय-वेलासु] काल, समय, वेला ये तीन शब्द उपपद हों तो धातु से वर्त्तमानकाल में [तुमुन्] 'तुमुन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् ॥

'प्रैषादिषु' ग्रहण इसलिये है कि—कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजा । यहां प्रैषादि के न होने से 'तुमुन्' नहीं होता ॥ १६७ ॥

लिङ् यदि[4] ॥ १६८ ॥

पूर्वसूत्रेण तुमुन् प्राप्तस्तस्यापवादः । कालादयोऽनुवर्त्तन्ते । [लिङ्] । १ । १ । यदि । ७ । १ ॥]

कालादिषूपपदेषु यच्छब्दपूर्वाद् धातोर्वर्त्तमानकाले 'लिङ्' प्रत्ययो भवति ॥ कालो यद् भुञ्जीत । समयो यद् भुञ्जीत । वेला यद् भुञ्जीत ॥

---

१. आ० सू० १३३० ॥

२ 'पर्य्यायोपादानं पर्य्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम् । अन्ये त्वाहु—अवसरो भोक्तुमित्यादावपि तुमुन् दृश्यते' तस्मादर्थग्रहणार्थं पर्य्यायोपादानम् । यथा—निमित्तकारणहेतुषु (अ०।२।३।२८) इत्यत्र' इति हरदत्तः ॥

३ चा० नी० अ० ६ । श्लो० ७ ॥ ४. आ० सू० ७९३ ॥

'यदि' इति किम्—कालः पठितुम् ॥ १६८ ॥

पूर्वसूत्र से तुमुन् प्राप्त था उस का यह अपवाद है। यहां कालादिकों का अनुवर्त्तन है ॥

कालादि उपपद होने पर [यदि] यच्छब्दपूर्वक धातु से वर्त्तमानकाल मे [लिङ्] 'लिङ्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—कालो यद् भुञ्जीत। समयो यद् भुञ्जीत। वेला यद् भुञ्जीत ॥

'यदि' ग्रहण इसलिये है कि—कालः पठितुम्। यहां 'तुमुन्' ही होता है ॥ १६८ ॥

अर्हे कृत्यतृचश्च[1] ॥ १६९ ॥

'लिङ्' अनुवर्त्तते। अर्हे। ७। १। कृत्यतृचः। १। ३। च। [अ०] ॥

अर्हे योग्ये कर्त्तरि वाच्ये धातोर्वर्त्तमानकाले कृत्यतृचः प्रत्यया भवन्ति, चकारा-ल्लिङ् च ॥

पठितव्या विद्या भवता, पाठ्या वा, पठनीया वा। पठिता विद्याया भवान्। पठेद्विद्यां भवान्। अर्हेत् सत्कारं भवान्। पठितुं योग्योऽस्तीत्यर्थः ॥

स्त्र्यधिकारात् प्राग्[2] वाऽसरूपविधिर्भवति। अग्रे तु साकल्येन न प्रवर्त्ततेऽतोऽर्हे विहितो लिङ् कृत्यतृचां बाधकः स्यादतोऽयमारम्भः ॥ १६९ ॥

यहां 'लिङ्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[अर्हे] योग्य कर्त्ता कहने में धातु से वर्त्तमानकाल में [कृत्यतृचः] 'कृत्य' और 'तृच्' प्रत्यय होते हैं [च] और चकार से 'लिङ्' भी होता है ॥

जैसे—पठितव्या विद्या भवता। पाठ्या वा। पठनीया वा। पठिता विद्याया भवान्। पठेद्विद्यां भवान्। अर्हेत् सत्कारं भवान्। अर्थात् आप पढ़ने योग्य हैं ॥

स्त्र्यधिकार के पूर्व पूर्व वाऽसरूपविधि होती है। आगे पूर्णतया वाऽसरूपविधि नहीं होती अतः अर्हे अर्थ में विहित 'लिङ्', 'कृत्य' और 'तृच्' का बाधक हो जाता इस कारण यह सूत्र रचा है ॥ १६९ ॥

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः[3] ॥ १७० ॥

आवश्यकाधमर्ण्ययोः। ७। २। णिनिः। १। १ ॥

---

१. आ० सू० ७९४ ॥

२. अत्र तु भाष्यम्—विप्रतिषेधं तु स्त्रियाः प्रागिति वचनात्। विप्रतिषेधं तु प्रैषादिषु कृत्यानां वचनम्। अयं प्रैषादिष्वर्थेषु लोड् विधीयते स विशेषविहितः सामान्यविहितान् कृत्यान् बाधेत। वासरूपेण कृत्या अपि भविष्यन्ति। न स्युः। किं कारणम्। स्त्रियाः प्रागिति वचनात्। प्राक् स्त्रिया वाऽसरूपः। (अ० ३। ३। १६३ भाष्ये) ॥

३. आ० सू० १४९६ ॥

आवश्यकमवश्य कर्त्तव्यता । आधमर्ण्यम् = ऋणता ।। तद्विशिष्टे कर्त्तरि वाच्ये धातोर्वर्त्तमानकाले 'णिनिः' प्रत्ययो भवति । धर्मोपदेशी । अवश्यं धर्म उपदेष्टव्य इति तस्य प्रतिज्ञा । प्रातःस्नायी । अवश्यं प्रातः स्नानीयम् [इति तस्य प्रतिज्ञा] ।। आधमर्ण्ये—शतं दायी । सहस्रं दायी । अत्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः'[1] इति षष्ठीप्रतिषेधः, अतः समासो न भवति ।। १७० ।।

[आवश्यकाधमर्ण्ययोः] आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थविशिष्ट कर्त्ता वाच्य हो तो धातु से वर्त्तमानकाल में [णिनिः] 'णिनि' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—धर्मोपदेशी । अर्थात् अवश्य ही धर्म का उपदेश करने की प्रतिज्ञा वाला ।। प्रातःस्नायी । अवश्य प्रातः स्नान करने वाला ।।

आधमर्ण्य में—शतं दायी । सहस्रं दायी । यहां 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इस सूत्र से षष्ठी का प्रतिषेध हो जाता है, इस कारण समास नहीं होता है ।। १७० ।।

कृत्याश्च[2] ।। १७१ ।।

'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' इत्यनुवर्त्तते । कृत्याः । १ । ३ । च । [अ०] ।।

आवश्यकाधमर्ण्य-विशिष्टेऽर्थे धातोर्वर्त्तमानकाले कृत्या भवन्ति ।।

ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च[3] । ब्राह्मणेन षडङ्गसहितस्य वेदस्याध्ययनमवश्यं कर्त्तव्यम् ।। आधमर्ण्ये—शतं दातव्यम् । सहस्रं देयम् । शतं सहस्रं वाऽस्योपरि ऋणमस्ति ।। १७१ ।।

यहां 'आवश्यकाधमर्ण्ययो' पद का अनुवर्त्तन है ।।

आवश्यक और आधमर्ण्य में धातु से वर्त्तमानकाल में [कृत्याश्च] 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं ।।

जैसे- ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति, अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि षडङ्ग सहित वेद का अध्ययन करे ।। आधमर्ण्य में—शतं दातव्यम् । सहस्रं देयम् । अर्थात् सौ या हजार रुपया इस पर ऋण है ।। १७१ ।।

शकि लिङ् च[4] ।। १७२ ।।

'कृत्याः' इत्यनुवर्त्तते । शकि । ७ । १ । लिङ् । १ । १ । च । [अ०] ।। शकीति प्रकृत्यर्थोऽभिधीयते ।।

---

१ अ० २ । ३ । ७० ।। २. आ० सू० १४९७ ।।

३ महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके त्वेवम् -ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।। अत्र तु केचित्—कर्त्तरि वाच्येऽयं विधिः, तत् पक्षे—भव्यगेय० (अ० ३ । ४ । ६८) आदयः कर्तृवाचिनः कृत्या अत्रोदाहर्त्तव्याः ।।

४. आ० सू० ७९५ ।।

शक्त्यर्थविशिष्टे धात्वर्थे धातोर्वर्त्तमानकाले 'लिङ्' भवति चात् कृत्याश्च ॥ भवान् शत्रुं जयेत्। भवता शत्रुर्जेतव्यः। भवता शत्रुर्जय्य। जेतुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १७२ ॥

यहां 'कृत्या' पद का अनुवर्त्तन है। शकि से यहां शक्यार्थ अभिधेय है ॥

[शकि] शक्यार्थ गम्यमान हो तो धातु से वर्त्तमानकाल में [लिङ् च] 'लिङ्' प्रत्यय होता है, चकार से 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—भवान् शत्रुं जयेत्। भवता शत्रुर्जेतव्यः। भवता शत्रुर्जय्यः। अर्थात् आप शत्रु को जीत सकते हैं ॥ १७२ ॥

आशिषि लिङ्लोटौ[1] ॥ १७३ ॥

आशिषि। ७। १। लिङ्लोटौ। १। २। आशीरप्राप्तस्य पदार्थस्य प्राप्तीच्छा ॥

आशिषि गम्यमाने धातोर्वर्त्तमानकाले लिङ्-लोटौ प्रत्ययौ भवतः। लटोऽपवादौ ॥

बुद्धिस्ते शुद्धा भूयात्। बुद्धिस्ते शुद्धा भवतु। शतं वर्षाणि ते पुत्रो जीव्यात्। शतं वर्षाणि ते पुत्रो जीवतु। आयुष्मान् भव सौम्य ॥

'आशिषि' इति किम्—शतं वर्षाणि जीवति। अत्र वर्त्तमान उत्सर्गत्वाल्लडेव भवति ॥ १७३ ॥

आशी = अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा को कहते हैं। यह सूत्र 'लट्' का अपवाद है ॥

[आशिषि] आशीर्वाद गम्यमान होने पर धातु से वर्त्तमानकाल में [लिङ्लोटौ] 'लिङ्' और 'लोट्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—बुद्धिस्ते शुद्धा भूयात्। बुद्धिस्ते शुद्धा भवतु। शतं वर्षाणि ते पुत्रो जीव्यात्। शतं वर्षाणि ते पुत्रो जीवतु। आयुष्मान् भव सौम्य ॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि—शतं वर्षाणि जीवति। यहां वर्त्तमान के उत्सर्ग होने से 'लट्' ही होता है ॥ १७३ ॥

क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्[2] ॥ १७४ ॥

'आशिषि' इत्यनुवर्त्तते। क्तिच्क्तौ। १। २। च। [अ०]। संज्ञायाम्। ७। १ ॥

प्रत्ययार्थेन संज्ञायां गम्यमानायामाशिष्यभिधेये धातोः 'क्तिच्-क्तौ' प्रत्ययौ भवतः ॥

---

१. आ० सू० ६५ ॥ २. आ० सू० १४९८ ॥

सामान्यविहितस्य क्तप्रत्ययस्य क्तिच् बाधकः स्यादिति मत्वा पुनः क्त-ग्रहणं क्रियते—तन्तिः । सातिः । भूतिः । देवदत्तः । यज्ञदत्तः । चकारो विशेषणार्थः । 'न क्तिचि०'[1] इति सामान्येन ग्रहणं मा भूत् ॥ १७४ ॥

यहां 'आशिषि' पद का अनुवर्त्तन है ॥

प्रत्ययार्थ से [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान होने पर आशीर्वाद अभिप्रेय हो तो धातु से [क्तिच्क्तौ] 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय होते हैं ॥ सामान्यविहित 'क्त' प्रत्यय का 'क्तिच्' बाधक हो जाता ऐसा सोच कर पुनः 'क्त' ग्रहण किया है ॥

जैसे—तन्तिः । सातिः । भूतिः । देवदत्तः । यज्ञदत्तः । चकार विशेषण के लिये है कि—'न क्तिचि०' इसमें सामान्य करके ग्रहण न हो ॥ १७४ ॥

माङि लुङ्[2] ॥ १७५ ॥

'आशिषि लिङ्लोटौ' इत्यनुवर्त्तते[3] । माङि । ७ । १ । लुङ् । १ । १ ॥

माङ्पूर्वाद् धातोराशिषि[4] गम्यमानायां वर्त्तमानकाले 'लुङ्-लिङ्-लोटः' प्रत्यया भवन्ति ॥

मा कार्षीत् । इह मा भूत् । इह मा भूवन् । रोगस्त्वां मा हन्यात् । मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि[5] ॥ १७५ ॥

यहां 'आशिषि' और 'लिङ्लोटौ पदों का अनुवर्त्तन है ॥

---

१. अ० ६ । ४ । ३९ ॥ २. भा० सू० ७९६ ॥

३. मण्डूकप्लुतिन्यायेन इति शेषः । अन्ये वृत्तिकाराः 'आशिषि लिङ्लोटौ' (अ० ३ । ३ । १७३) इति नानुवर्त्तयन्ति सर्वलकाराणामपवादो लुङ् इति च वदन्ति । तत्र कथं—'मा भवतु, पाप मा भविष्यति' इति, अत्राह काशिकाकारः—असाधुरेवायम् । केचिदाहुः—अङिदपरो मा शब्दो विद्यते तस्यायं प्रयोग इति (प्रायेणान्येऽपि ग्रन्थकारा अत्रानुकूलाः) । तदसाधुरेव । 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (गी० अ० २ । श्लो० ४७) इत्यादिशिष्टप्रयोगाणामसन्दिग्धैव साधुता । न चान्योऽङित् माशब्दः प्रतिषेधवाची विद्यते यस्यायं प्रयोगः स्यात् । तदुक्तं भाष्यकृता—आङ्माङोः सानुबन्धकयोर्निर्देशो गतिकर्मप्रवचनीयप्रतिषेधसम्प्रत्ययार्थः ।……माङः प्रतिषेधसम्प्रत्ययार्थं इति (अ० ६ । १ । ७४ भा०) ॥

यत्तु नागेशभट्ट आह—'असाधुत्वमेतादृशप्रयोगाणामनार्षाणामिति' तत्तस्याज्ञानविजृम्भितमेव उपलभ्यन्ते हि—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यादय आर्षप्रयोगाः । तस्मादेवम्भूतानां प्रयोगाणां साधुत्वज्ञापनायानुवर्त्तनीयावेव 'लिङ्लोटौ' ॥

४ लिङ्लोड्भ्यां सहोच्चारणाद् 'आशिषि' इति पदं ताभ्यामेव सम्बध्यते, न लुङा, तथैव चोदाहृतमिति बोध्यम् ॥

५. भगवद्गीता—अ० २ । श्लो० ४७ ॥

[माङि] माङ्पूर्वक धातु से आशीर्वाद गम्यमान होने पर वर्तमानकाल में [लुङ्] 'लुङ्' 'लिङ्' और 'लोट्' प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—मा कार्षीत् । इह मा भूत् । इह मा भूवन् । रोगस्त्वां मा हन्यात् । मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ १७५ ॥

स्मोत्तरे लङ् च[1] ॥ १७६ ॥

'लुङ्' अनुवर्त्तते । स्मोत्तरे । ७ । १ । लङ् । १ । १ । च । [अ०] स्मशब्द उत्तरो यस्मात् तस्मिन् । स्मोत्तरे माङ्युपपदे धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति चात् 'लुङ्' च ॥

मा स्म करोत् । मा स्म कार्षीत् । मा स्म पचत् । मा स्म पाक्षीत् । स्मादि-विशेषोपाधीनामभावे लडेव भविष्यति ॥ १७६ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

यहाँ 'लुङ्' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[स्मोत्तरे] स्म शब्द परे रहते माङ् उपपद हो तो धातु से [लङ्] 'लङ्' प्रत्यय और चकार से 'लुङ्' भी होता है ॥

जैसे—मा स्म करोत् । मा स्म कार्षीत् । मा स्म पचत् । मा स्म पाक्षीत् । स्म आदि उपपद के बिना 'लट्' ही होगा ॥ १७६ ॥

[तीसरे अध्याय का तृतीयपाद समाप्त हुआ]

---

१. अ० सू० ७९७ ॥

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः[1] ॥ १ ॥

धातुसम्बन्धे । ७ । १ । प्रत्ययाः । १ । ३ । धातुसम्बन्ध इत्यत्रोत्तरपदलोपः । धातोरर्थो धात्वर्थः धात्वर्थस्यान्येन शब्दार्थेन सम्बन्धो धातुसम्बन्धः ॥

धातुसम्बन्धे सति भिन्नकालोक्ताः प्रत्यया अपि कालान्तरे [साधवो[2]] भवन्ति ॥

अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता[3] । अग्निष्टोमयाजीति भूतकालो[4] जनितेत्यनद्यतनभविष्यत्कालेन सम्बध्यते । जनितेत्युत्पत्तिर्धात्वर्थस्तस्य भविष्यति प्रवृत्तिः । तत्सम्बन्धे 'अग्निष्टोमयाजीति' भूतकालविहितो [णिनि]प्रत्ययोऽत्र विधीयते ॥ पुत्रो जनिष्यमाण आसीत् । अत्र जनिष्यमाण इति भविष्यति काले तस्यासीदिति भूतकालेन सह सम्बन्धः ॥

प्रत्ययाधिकारेऽनुवर्त्तमाने[5] पुनः प्रत्यय-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—अधातोरर्थात् प्रातिपदिकाद्विहितानामपि [तद्धित]प्रत्ययानां धातुसम्बन्धे साधुत्वं यथा स्यात् । गोमानासीत्[6] । गोमान् भविता । अत्र गोमानिति वर्त्तमानकाले मतुप् । तस्याऽऽसीदिति भूतकालेन, भवितेत्यनद्यतनभविष्यत्कालेन सह सम्बन्धः ॥ १ ॥

'धातुसम्बन्धे' यहां उत्तरपदलोपी समास है । जैसे—'धातोरर्थो धात्वर्थस्यान्येन शब्दार्थेन सम्बन्धो धातुसम्बन्धः' यहां अर्थ पद का लोप है ॥

[धातुसम्बन्धे] धातुसम्बन्ध होने पर भिन्नकाल में विहित [प्रत्ययाः] प्रत्यय भी कालान्तर में साधु हो जाते हैं ॥

---

१. भा० सू० ७९८ ॥

२. साधुत्वमात्रमत्र विधीयते न तु कालान्तरे प्रत्ययविधिरिति ॥

३. वाक्यमेवैतदेवंजातीयं यत्र यथाकालविहितानामपि प्रत्ययानां सम्बन्धो भवति 'अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता' इत्यत्र 'अग्निष्टोमयाजीति' पद भविष्यत्कालस्य प्रतीतिमात्रत्वमेव । सम्बन्धप्रतिपत्तिस्तु भाष्य एवं प्रदर्शिता—एवं तर्हि वाक्यमेवैतदेवंविषयं प्रयुज्यते । अग्निष्टोमयाजीत्येतत् तस्मिन् भविता । कस्मिन् । योऽस्य पुत्रो जनिता । कदा । यदानेनाग्निष्टोमेनेष्टं भवति ॥

४. भूतः कालोऽस्येति बहुव्रीहिः ॥

५. अत्र भाष्यम्—प्रत्यय इति वर्त्तमाने पुनः प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् । अधातुप्रत्ययानामपि धातुसम्बन्धे साधुत्वं यथा स्यात् ॥

६. अत्र भाष्यम्—नैवा गवां सत्ता कथ्यते । किं तर्हि गोमतस्सत्तैषा कथ्यते । अस्य च वर्त्तमानकालोऽस्तिः । कथं तर्हि भूतभविष्यत्सत्ता गम्यते । 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (अ० ३ । ४ । १) इति ॥ अ० ५ । २ । ९४ भा० ॥

जैसे—अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता। यहां 'अग्निष्टोमयाजी' यह भूतकाल में है परन्तु 'जनिता' इन अनद्यतनभविष्यत् में वर्त्तमान शब्द के साथ सम्बन्ध है ॥

'जनिता' इसमें धात्वर्थ उत्पत्ति है उसकी भविष्यत् में प्रवृत्ति है, उस भविष्यत्काल के सम्बन्ध में 'अग्निष्टोमयाजी' यहां भूतकाल में विहित णिनि प्रत्यय का विधान किया है ॥

पुत्रो जनिष्यमाण आसीत्—यहां 'जनिष्यमाण' भविष्यत्काल में है। उसका 'आसीत्' इस भूतकाल के साथ सम्बन्ध है ॥

प्रत्यय अधिकार के अनुवर्त्तित होने पर पुनः प्रत्यय-ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—अधातु अर्थात् प्रातिपदिक से विहित तद्धित प्रत्ययों का भी धातुसम्बन्ध में साधुत्व होजाय ॥

जैसे—गोमानासीत्। गोमान् भविता। 'गोमान्' इसमें 'मतुप्' प्रत्यय वर्त्तमानकाल में है। उसका 'आसीत्' इस भूतकालवाची के साथ तथा अनद्यतनभविष्यत्कालवाची 'भविता' इस पद के साथ सम्बन्ध हो जाता है ॥ १ ॥

क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः[1] ॥ २ ॥

सर्वलकारापवादो लोट् ॥ क्रियासमभिहारे। ७। १। लोट्। १। १। लोटः। ६। १। हिस्वौ। १। २। वा। [अ०] च। [अ० ।] तध्वमोः। ६। २ ॥ क्रियायाः समभिहारो भृशं करणम्। तत्र विकल्पेन यङ् विधीयते, पक्षे स्वस्वकाले सर्वे लकाराः प्राप्तास्तेषां बाधनार्थं लोड् विधीयते ॥

क्रियासमभिहारे गम्यमाने सर्वस्मिन् काले सर्वलकारापवादो धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति, तस्य लोटः स्थाने हिस्वावादेशौ नित्यं भवतः। त-ध्वम्-भाविनस्तु लोटः स्थाने हिस्वावादेशौ विकल्पेन भवतः। पक्षे त-ध्वमावेव तिष्ठतः ॥

वर्त्तमानविषये तावत्—स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति। तौ भवन्तौ लुनीहि [2]लुनीहीतीमौ लुनीतः। ते भवन्तो लुनीहि लुनीहीतीमे लुनन्ति। त्वं लुनीहि लुनीहीति लुनासि। युवां लुनीहि लुनीहीति लुनीथः। त-ध्वम्-विषये लोण्मध्यमबहुवचनविषये हिस्वौ वा भवतः। यूय लुनीत लुनीतेति लुनीथ। यूयं लुनीहि लुनीहीति लुनीथ। अहं लुनीहि लुनीहीति लुनामि। आवां लुनीहि लुनीहीति लुनीवः। वयं लुनीहि लुनीहीति लुनीमः ॥ भूतविषये—स भवान् लुनीहि लुनीहीत्यलावीत्। तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहीत्यलाविष्टाम्। ते भवन्तो लुनीहि लुनीहीत्यलाविषुः। त्वं लुनीहि लुनीहीत्यलावीः। युवां लुनीहि लुनीहीत्यलाविष्टम्। त-ध्वमोर्वा—यूय लुनी[त] लुनीतेत्यलाविष्ट [यूयं लुनीहि लुनीहीत्यलाविष्ट] अहं लुनीहि लुनीहीत्यलाविषम्। आवां लुनीहि लुनीहीत्यलाविष्व। वयं लुनीहि लुनीहीत्यलाविष्म ॥ भविष्यद्विषये—स

१. आ० सू० ७९९ ॥

२. अत्र द्विर्वचन तु—क्रियासमभिहारे द्वे भवतः (अ० ८। १। १२ भा० वा०) ॥

भवान् लुनीहि लुनीहीति लविष्यति । तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहीति लविष्यतः । ते भवन्तो लुनीहि लुनीहीति लविष्यन्ति । एव रीत्या मध्यमोत्तमयोरप्युदाहार्य्यम् ।।

स्व-विषये—स भवानधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते । तौ भवन्तावधीष्वाधीष्वेतीमावधीयाते । ते भवन्तोऽधीष्वाऽधीष्वेतीमेऽधीयते । त्वमधीष्वाधीष्वेत्यधीषे । युवामधीष्वाधीष्वेत्यधीयाथे । त-ध्वमोर्विषये वा—यूयमधीध्वमधीध्वेमित्यधीध्वे । यूयमधीष्वाधीष्वेत्यधीध्वे । एवमुत्तमेऽपि ।। भूतविषये—स भवानधीष्वाधीष्वेत्यध्यगीष्ट । अध्यैष्ट वा ।। भविष्यद्विषये— स भवानधीष्वाधीष्वेत्यध्येष्यते ।।

एवं सर्वेषु लकारेषु सर्वेषु पुरुषेषु सर्वेषु वचनेषु चोदाहरणान्यूह्यानि । न तु सर्वाणि 'लिखितुं' शक्यन्ते । हिस्वौ लोडादेशौ विधीयेते तत्र लकारस्यातिङ्त्वात् पदसंज्ञा न प्राप्नोति । तस्येदं समाधानम्—लकारस्य कृत्त्वात्प्रातिपदिकसंज्ञा । प्रातिपदिकात् स्वाद्युत्पत्तिः । 'सुबन्तं पदम्' इति पदसंज्ञा । विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्चेत्यव्ययत्वमव्ययात् सुपो लुग्भविष्यति । [इह तर्हि स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, तिङ्ङतिङः' (अ० ८ । १ । २८) इति निघातो न प्राप्नोति । योगविभागः करिष्यते । क्रियासमभिहारे लोड् भवति । ततो लोटो हिस्वौ भवतः, लोडित्येवानुवर्तते लोटौ यौ हिस्वाविति । कथं च तध्वमोरिति । वा च तध्वंभाविनो लोट इत्येवमेतद् विज्ञायते] ।। २ ।।

यह लोट् सब लकारों का अपवाद है । क्रियासमभिहार = क्रिया के पुन: पुन: करने को कहते हैं । क्रियासमभिहार में विकल्प से यङ् विहित है, पक्ष में अपने अपने काल में सब लकार प्राप्त थे उन सब को बाधने के लिये लोट् प्रत्यय का विधान किया है ।।

[क्रियासमभिहारे] क्रियासमभिहार गम्यमान हो तो धातु से सब कालों में सब लकारों का अपवाद [लोट्] लोट् प्रत्यय होता है, उस [लोट:] लोट् के स्थान में [हिस्वौ] 'हि' और 'स्व' ये आदेश नित्य हो जाते हैं परन्तु [तध्वमो:] त-ध्वम् होने वाले लोट् के स्थान में [वा] विकल्प से 'हि-स्व' आदेश होते हैं । पक्ष में 'त' और 'ध्वम्' ही रहते हैं ।।

जैसे—वर्त्तमानविषय में—स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवाय लुनाति इत्यादि । इसी प्रकार वर्तमान के शेष उदाहरण तथा भूत और भविष्यत् के उदाहरण भी मूल संस्कृत में देख लेवें । क्योंकि सब लकारों को दर्शाना कठिन है ।।

'हि' और 'स्व' लोट् के आदेश कहे हैं । अत: लकार के अतिङ् होने से पदसंज्ञा नहीं पाती ? । उसका यह समाधान है कि—लकार के कृत् होने से प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक से स्वाद्युत्पत्ति होकर 'सुबन्तं पद' इस नियम से पदसंज्ञा हो जायगी—'विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च०' इससे निपात होकर अव्ययसंज्ञा पुनः अव्ययों से सुपों का लुक् हो जायगा । इस पक्ष में—स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति । यहां 'तिङ्ङतिङः' से निघात की प्राप्ति नहीं होती,

१. अत्र कुटस्यादिः कुटादिरिति षष्ठीसमासमप्याश्रित्य गुणाभावः ।।

अतः इस दोष की निवृत्ति के लिये योगविभाग करेंगे—[क्रियासमभिहारे लोट्] क्रिया के समभिहार में लोट् होता है, तदनन्तर [लोटो हिस्वौ] उस लोट् के स्थान में 'हि' और 'स्व' ये आदेश हो जाते हैं और लोट् इस पद की अनुवृत्ति आने के कारण वे 'हि' और 'स्व' लोड्धर्म वाले होते हैं। तथा [वा च तध्वमोः] त और ध्वम्-भावी (जिस लोट् के स्थान में त और ध्वम् होने हैं उस) लोट् के स्थान में विकल्प से 'हि' और 'स्व' होते हैं ॥ २ ॥

समुच्चयेऽन्यतरस्याम्[1] ॥ ३ ॥

पूर्वं सूत्रं सर्वमनुवर्त्तते । समुच्चये । ७ । १ । अन्यतरस्याम् [अ०] ॥ अनेकासां क्रियाणामेकत्रप्रयोगः समुच्चयस्तस्मिन् ॥

समुच्चये सति क्रियासमभिहारे धातोः सामान्यकाले विकल्पेन लोट् प्रत्ययो भवति, पक्षे स्वस्वविषये लकारा भवन्ति ॥

व्याकरणमधीष्व । अग्निहोत्रं जुहुधि । गुरुं सेवस्व । मृदु वद । प्रातः स्नाहि । [इत्येवायं करोति, अकार्षीत्, करिष्यति, वा] । अत्र यदि भूतविषयस्तदा पक्षे—व्याकरणमध्यगीष्ट । अध्यैष्ट वा । अग्निहोत्रमहौषीत् । गुरुमसेविष्ट । मृद्ववादीत् । प्रातरस्नासीत् । [इत्येवायमकार्षीत्] । एवं यस्मिन् पुरुषे यद्वचनं विवक्षितं स्यात्, तदेव कर्त्तुं शक्यते । वर्त्तमाने—व्याकरणमधीते । अग्निहोत्रं जुहोति । गुरुं सेवते । मृदु वदति । प्रातः स्नाति । [इत्येवायं करोति] एवमन्यान्यपि त्रिकवचनान्युदाहार्य्याणि । भविष्यत्काले—व्याकरणमध्येष्यते । अग्निहोत्रं होष्यति । गुरुं सेविष्यते । मृदु वदिष्यति । प्रातः स्नास्यति । [इत्येवायं करिष्यति] । एवं यस्य लकारस्य विषये क्रियासमुच्चये लोट् विवक्षितः स्यात्, स एव लकारः पक्षे प्रयोक्तव्यः ॥ ३ ॥

यहां पूर्व सूत्र से सब पदों की अनुवृत्ति है। अनेक क्रियाओं को इकट्ठा करके प्रयोग करना समुच्चय कहाता है ॥

[समुच्चये] समुच्चय होने पर क्रियासमभिहार में वर्त्तमान धातु से सामान्यकाल में [अन्यतरस्याम्] विकल्प से लोट् प्रत्यय होता है, पक्ष में—अपने अपने विषय में लकार होते हैं ॥

जैसे—व्याकरणमधीष्व-अग्निहोत्रं जुहुधि-गुरुं सेवस्व-मृदु वद-प्रातः स्नाहि । इत्येवायं करोति, अकार्षीत्, करिष्यति वा । यहां यदि भूतविषय होगा तब पक्ष में—व्याकरणमध्यगीष्ट, अध्यैष्ट वा । अग्निहोत्रमहौषीत् । गुरुमसेविष्ट । मृद्ववादीत् । प्रातरस्नासीत् । इत्येवाय्यमकार्षीत् । इस प्रकार जिस पुरुष में जो वचन विवक्षित हो वही किया जा सकता है ॥

वर्त्तमान में—व्याकरणमधीते-अग्निहोत्रं जुहोति-गुरुं सेवते-मृदु वदति-प्रातः स्नाति । इत्येवायं करोति । इसी प्रकार शेष वचनों के भी उदाहरण समझ लेने चाहियें ॥

---

१. शा० सू० ८०० ॥

भविष्यत् काल में—व्याकरणमध्येष्यते-अग्निहोत्रं होष्यति-गुरुं सेविष्यते-मृदु वदिष्यति-प्रातः स्नास्यति । इत्येवायं करिष्यति ॥

इसी प्रकार जिस लकार के विषय में क्रियासमुच्चय में लोट् विवक्षित हो, पक्ष में उसी लकार का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३ ॥

यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्[1] ॥ ४ ॥

यथाविधि । [अ०] । अनुप्रयोगः । १ । १ । पूर्वस्मिन् । ७ । १ ॥

पूर्वस्मिन् लोड्विधायके सूत्रे यथाविधि यस्माद्धातोर्लोड् विधीयते तस्यैव धातोरनुप्रयोगः स्यात् । यथा—स भवान् लुनीहि लुनीहीति लुनाति । अत्र लुनातिः शब्दः [अनु]प्रयुज्यते । तथैव पूर्वमुदाहृतम् ॥

'यथाविधि' इति किम्—लुनातीत्यत्र छिनत्तीत्यस्यानुप्रयोगो मा भूत् ॥ ४ ॥

[पूर्वस्मिन्] पहले लोड्विधायक सूत्र में [यथाविधि] जिस धातु से लोट् विधान किया हो उसी धातु का [अनुप्रयोगः] अर्थात् द्वितीय प्रयोग भी वैसा ही होता है ॥

जैसे—स भवान् लुनीहि लुनीहीति लुनाति । यहां लुनाति शब्द का अनुप्रयोग होता है ॥

'यथाविधि' ग्रहण इसलिये है कि -लुनाति के स्थान में 'छिनत्ति' आदि भिन्न क्रियाओं का अनुप्रयोग न हो ॥ ४ ॥

समुच्चये सामान्यवचनस्य[2] ॥ ५ ॥

समुच्चये । ७ । १ । सामान्यवचनस्य । ६ । १ ॥ अनुप्रयोग इत्यनुवर्त्तते । सर्वासां समुच्चितानां क्रियाणां येनकेन प्रयोगेणार्थो गम्यते तत्सामान्यवचनं तस्य ॥

समुच्चयेऽर्थात् 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्'[3] इति सूत्रे सामान्यवचनस्य धातोरनुप्रयोगो भवति ॥

वेदानधीष्व । सत्यं वद । अग्निहोत्रं जुहुधि । सत्पुरुषान् सेवस्व । एवं धर्मं [करोति, करिष्यति, अकार्षीद वा] सामान्यवचनस्यानुप्रयोगः ॥ ५ ॥

यहां 'अनुप्रयोग' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ सामान्यवचन उसे कहते हैं कि जिस एक के प्रयोग से सारी समुच्चित क्रियाओं का अर्थ जाना जाय ॥

[समुच्चये] अर्थात् 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इस सूत्र में [सामान्यवचनस्य] सामान्यवचन धातु का अनुप्रयोग होता है ॥

जैसे—वेदानधीष्व-सत्यं वद-अग्निहोत्रं जुहुधि-सत्पुरुषान् सेवस्व । एवं धर्मं करोति-करिष्यति-अकार्षीत् वा । यहां सामान्यवचन कृञ् धातु का अनुप्रयोग होता है ॥ ५ ॥

---

१. का० सू० ८०१ ॥ २. का० सू० ८०१ ॥
३. अ० ३ । ४ । ३ ॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः[1] ॥ ६ ॥

धातुसम्बन्ध इत्यनुवर्त्तते [अन्यतरस्यामिति च]। छन्दसि । ७ । १ । लुङ्-लङ्-लिटः । १ । ३ ॥ सामान्यकाले धातुसम्बन्धे विधानार्थ आरम्भः ॥

छन्दसि वैदिकप्रयोगविषये धातुसम्बन्धे धातोः सामान्यकाले [अन्यतरस्याम्] लुङ्-लङ्-लिटः प्रत्यया भवन्ति ॥

दे॒वो दे॒वेभि॒राग॑मत्[2] । आगमदिति लुङ् । आगच्छतीत्यर्थः ॥ **अ॒हं तेभ्यो॑ऽकरं॒**[3] **नमः॑** । अकरमिति लङ् ॥ **अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द**[4] । **त्वष्टा॑ऽस्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष**[5] । ततर्द,[6] ततक्ष, इति वर्त्तमानकाले लिट् ॥

इतोऽग्रे **सृपितृदोः कसुन्**[7] इतिपर्य्यन्तं छन्दसीत्यधिकारः ॥ ६ ॥

यहां 'धातुसम्बन्धे' तथा 'अन्यतरस्याम्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ सामान्यकाल धातुसम्बन्ध में विधान के लिये यह सूत्र है ॥

[छन्दसि] वैदिकप्रयोग में धातुसम्बन्ध होने पर सामान्यकाल में विकल्प से [लुङ्-लङ्-लिटः] लुङ्-लङ् और लिट् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—देवो देवेभिरागमत् । 'आगमत्' यह लुङ् लकार का प्रयोग 'आगच्छति' इस वर्त्तमानकाल के अर्थ में है। अहं तेभ्योऽकरन्नमः । 'अकरम्' यह लङ् लकार का प्रयोग है। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द । त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्य्यं ततक्ष । ततर्द—ततक्ष—इन प्रयोगों में लिट् वर्त्तमानकाल में है ॥

यहां से आगे 'सृपितृदोः कसुन्' सूत्र तक 'छन्दसि' इस पद का अनुवर्त्तन है ॥ ६ ॥

लिङर्थे लेट्[8] ॥ ७ ॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते [अन्यतरस्यामिति च]। लिङर्थे । ७ । १ । लेट् । १ । १ । लिङर्थो हेतुहेतुमदित्यादिः ॥

छन्दसि लिङर्थविशिष्टे कर्त्तरि वाच्ये धातो [रन्यतरस्याम्] लेट् प्रत्ययो भवति ॥

---

१. अ० ८०४ ॥
२. ऋ० १ । १ । ५ ॥
३. यजु० १६ । ८ ॥
४. ऋ० १ । ३२ । १ ॥
५. ऋ० १ । ३२ । २ ॥
६. उदाहरणेषु धातुसम्बन्धो मृग्य इति पदमञ्जर्याम् ॥
७. अ० ३ । ४ । १७ ॥
८. आ० सू० ५७ ॥

स देवाँ एह वक्षति[1] । वक्षतीति वह-धातोर्लेट् प्रयोगः । **धियो यो नः प्रचोदयात्**[2] । प्रचोदयादिति ण्यन्तात् प्रार्थनायां लेट् । **सविता धर्मं साविषत्**[3] । **प्र ण आयूंषि तारिषत्**[4] ॥ ७ ॥

यहां 'छन्दसि' तथा 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्त्तन है । हेतु और हेतुमत् इत्यादि लिङ् के अर्थ हैं ॥

छन्द में [लिङर्थे] लिङर्थविशिष्ट कर्त्ता वाच्य होने पर धातु से विकल्प करके [लेट्] लेट् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स देवाँ एह वक्षति । वक्षति यह 'वह' धातु से लेट् का प्रयोग है । 'धियो यो न. प्रचोदयात्' इसमे प्रचोदयात् यहां प्रपूर्वक ण्यन्त 'चुद' से प्रार्थना मे लेट् प्रत्यय है ॥

सविता धर्मं साविषत् । प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ७ ॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ ८ ॥

छन्दसि लेडित्यनुवर्त्तते । उपसंवादाशङ्कयोः । ७ । २ । [च । अ०] ॥ उपसंवादो व्यवहारे परस्पर भाषणम् । कारणं दृष्ट्वा कार्य्याद्भयमाशङ्का ॥

उपसंवाद आशङ्कायां च गम्यमानायां छन्दसि वेदविषये धातोर्लेट् प्रत्ययो भवति ॥

उपसंवादे—**निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा**[5] । हरासीत्यत्रोपसंवादे लेट् ॥ आशङ्कायाम्—**नेजिह्मायन्तो**[6] **नरकं पताम**[7] । अत्र पताम इति लेट् । जिह्माचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥ ८ ॥

---

१ ऋ० १ । १ । २ ॥

२ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥ यजु० ३ । ३५ ॥ २२ । ९ ॥ ३० । २ ॥ ३६ । ३ ॥ सा० उ० ६ । १० । १ ॥

३. यजु० ९ । ५ ॥ १८ । ३० ॥ ४. यजु० २३ । ३२ ॥

५. यजु० ३ । ५० ॥

६. छान्दसत्वादुपमानादन्यत्राप्याचार एव क्यच् । अध्वाचस्यात् (अ० ७ । ४ । ३७) इति योगविभागात्—आत्वम् ॥

भाष्यम्—केचित्तावदाहुः—हेतुहेतुमतोर्लिङिति । अपर आहुः—वक्तव्य एवैतस्मिन् विशेषे लिङ् । प्रयुज्यते हि लोके यदि मे भवानिदं कुर्य्यात्, अहमपि त इदं वक्ष्यामीति ॥

७. नि०१–११ ॥ ऋ०–खिल १० । १०६ । १ ॥ तुलनात्मको 'यन्त्या.' पाठ ॥

यहां 'छन्दसि' तथा 'लेट्' इन पदों का अनुवर्त्तन है। व्यवहार में परस्पर भाषण को उपसंवाद कहते हैं अर्थात् तू ऐसा करे तो मैं ऐसा करूं। कारण को देख कर कार्य से भय करना आशङ्का कहाती है॥

[उपसंवादाशङ्कयोः] उपसंवाद और आशङ्का गम्यमान हो तो छन्द अर्थात् वेद विषय में धातु से 'लेट्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—उपसंवाद में—निहारञ्च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ 'हरासि' यह लेट् प्रत्ययान्त प्रयोग उपसंवाद में है॥

आशङ्का में—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम। यहां 'पताम' यह लेडन्त प्रयोग है॥ अर्थात् जिह्म=कुटिलाचरण से नरकपात की आशङ्का की जाती है॥

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः[1] ॥ ९ ॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते। तुमर्थे। ७। १। से० तवेनः। १। ३॥ तुमर्थो भावः। यदि च कर्तृग्रहणं स्यात्तुमर्थग्रहणमनर्थकं स्यात्। 'कर्तरि कृत्'[2] इति कर्तरि विहितमेव। पुनस्तुमर्थग्रहणज्ञापकादिदं वचनं निस्सरति। "अव्ययकृतो भावे भवन्तीति"[3] भावो धात्वर्थस्त्वर्थः स्तस्मिन्॥

तुमर्थे वर्त्तमानाद् धातोश्छन्दसि विषये से-इत्यादयः पञ्चदश प्रत्यया भवन्ति॥

से—वक्षे रायः[4]। अत्र वह-धातोः से॥ सेन्—तावमेषे रथानाम्[5]। अत्र इण्-धातोः सेन्॥ असे-असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे[6]। अत्र जीवधातोर[सेऽ]सेन्। स्वर-विशेषार्थं नित्करणेन प्रत्ययान्तर सवत्र॥ क्से—प्रेषे भगाय[7]। अत्र इण्-धातोः क्से॥ कसेन्—श्रियसे[8]। अध्यै-अध्यैन्—कर्मण्युपाचरध्यै[9]॥ कध्यै-कध्यैन्—इन्द्राग्नी आ

१. वा० सू० १५०१॥ २. अ० ३। ४। ६७॥
३ अ० ३। ४। २६ सू० भाष्ये॥ ४. अनुपलब्धमूलमिदम्॥
५ से—एषे, ऋ० १। १८०। ४॥ सेन्—ऋ० ५। ६६। ३॥
६ अथ० ६। १९। २॥ ७. यजु० ५। ७॥
८ गवामिव श्रियसे, ऋ० ५। ५९। ३॥ अत्र 'कसे' प्रत्ययस्याभावाच्छान्दसः स्वरव्यत्ययो द्रष्टव्यः। आद्युदात्तस्तु मृग्यः॥
९. अनुपलब्धमूलमिदम्॥

हुवध्यै[1] ॥ शध्यै-शध्यैन्—पिबध्यै[2] । शित्त्वादत्र पिबादेशः । सह मादयध्यै[3] ॥ तवै—सोममिन्द्राय पातवै[4]। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे[5] । अत्र षूङ्-धातोस्तवेङ्, ङित्त्वाद् गुणाभावः ॥ तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे[6] । अत्र गम-धातोस्तवेन् ॥ ९ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है। तुमर्थ से यहां भाव अभिप्रेत है। यदि यहां कर्त्ता अर्थ अभिप्रेत होता तो तुमर्थ-ग्रहण अनर्थक हो जाता क्योंकि 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र से कृत् प्रत्ययों का कर्त्ता में विधान है ही। फिर इस तुमर्थ-ग्रहण के ज्ञापक से यह वचन निकलता है कि—'अव्ययकृतो भावे भवन्तीति' अर्थात् अव्ययसंज्ञक कृत् भाव में होते हैं। भाव धात्वर्थ अर्थात् धातु के अपने अर्थ को कहते हैं॥

[तुमर्थे] तुमर्थ अर्थात् स्वार्थ में वर्त्तमान धातु से छन्दविषय में [से० तवेन०] से, सेन् असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् ये पन्द्रह प्रत्यय होते हैं॥

जैसे—से—वक्षे रायः। यहां वह धातु से 'से' प्रत्यय होकर 'वक्षे' सिद्ध हुआ है॥ सेन्—'ता वामेषे रथानाम्' यहां 'इण्' धातु से 'सेन्' प्रत्यय होकर 'एषे' रूप सिद्ध हुआ है॥ असे-असेन्—'क्रत्वे दक्षाय जीवसे' यहां 'जीव' धातु से असे-असेन् प्रत्यय होकर 'जीवसे' रूप सिद्ध हुआ है॥ यहां सर्वत्र प्रत्ययों में नित् करके प्रत्ययान्तर स्वर भेद करने के लिये किया है॥ क्से—'प्रेषे भगाय' यहां इण् धातु से क्से-प्रत्यय में 'इषे' रूप है॥ कसेन्—श्रियसे। अध्यै, अध्यैन्—कर्मण्युपाचरध्यै॥ कध्यै, कध्यैन्—इन्द्राग्नी आहुवध्यै॥ शध्यै, शध्यैन्—'पिबध्यै' यहां प्रत्यय के शित् होने से 'पा' धातु को 'पिब' आदेश हो जाता है। सह मादयध्यै॥ तवै—सोममिन्द्राय पातवै'॥ तवेङ्—दशमे मासि सूतवे॥ यहां 'षूङ्' धातु से 'तवेङ्' प्रत्यय होता है। तथा 'तवेङ्' के ङित् होने से गुण नहीं होता॥ तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे। यहां गम-धातु से 'तवेन्' प्रत्यय होता है॥ ९॥

प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै ॥ १० ॥

छन्दसि तुमर्थे इत्यनुवर्त्तते। प्रयै-रोहिष्यै-अव्यथिष्यै-इत्येते त्रयः शब्दा वैदिकास्तुमर्थविषये निपात्यन्ते॥

---

१. यजु० ३। १३
२. ऋ० ७। ९२। २॥ शध्यैन्' प्रत्ययोदाहरणम्॥
३. यजु० ३। १३॥ शध्यै-प्रत्ययोदाहरणम्॥
४. अनुपलब्धमूलमिदम्। तु०—ऋ० ३। ४६। २॥
५. ऋ० १०। १८४। ३॥ अत्र व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्॥ अथ० ५। २५। १०॥
६. यजु० १५। ५५॥ अथ० ९। ५। १७॥
७ आ० सू० १५०२॥

प्रपूर्वाद् 'या' धातोः 'के' प्रत्ययः । प्रयातुं, प्रयै[1] । 'रुह' धातोरिष्यैप्रत्ययः । रोढुं रोहिष्यै । अपामोषधीनां रोहिष्यै[2] । नञ्पूर्वाद् 'व्यथ' धातोरिष्यैप्रत्ययः । अव्यथितुमव्यथिष्यै[3] ॥ १० ॥

यहां 'छन्दसि' तथा 'तुमर्थे' पदों का अनुवर्त्तन है ।

प्रयै-रोहिष्यै-अव्यथिष्यै-ये तीन वैदिक शब्द तुमर्थ में निपातन हैं ॥

प्रयै—प्रपूर्वक 'या' धातु से 'के' प्रत्यय है । प्रयातुम् के अर्थ में 'प्रयै' यह प्रयोग है ॥ रोहिष्यै—'रुह' धातु से 'इष्यै' प्रत्यय है । रोहिष्यै-प्रयोग 'रोढुम्' पद के अर्थ में है । जैसे—अपामोषधीनां रोहिष्यै ॥ नञ्पूर्वक 'व्यथ' धातु से 'इष्यै' प्रत्यय होकर 'अव्यथिष्यै' रूप सिद्ध होता है । अव्यथिष्यै का अर्थ 'अव्यथितुम्' है ॥ १० ॥

दृशेविख्ये च[4] ॥ ११ ॥

दृशे-विख्ये इत्येतौ द्वौ वैदिकौ शब्दौ तुमर्थे निपात्येते ॥

दृश-धातोः के प्रत्ययः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम्[5] ॥ विपूर्वात् ख्या-धातोः के-प्रत्ययः । विख्यातुमिति विख्ये । विख्ये त्वा हरामि[6] ॥ ११ ॥

[दृशेविख्ये च] दृशे-विख्ये ये दो वैदिक-शब्द तुमर्थ में निपातित हैं ॥

'दृश' धातु से 'के' प्रत्यय हो कर दृशे रूप बनता है । जैसे—दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ वि-पूर्वक ख्या धातु से 'के' प्रत्यय होकर विख्ये रूप सिद्ध होता है 'विख्यातुम्' पद के अर्थ में ; जैसे—विख्ये त्वा हरामि ॥ ११ ॥

शकि णमुल्कमुलौ[7] ॥ १२ ॥

शकि । ७ । १ । णमुल्कमुलौ । १ । २ ॥ शक्नोति धातावुपपदे तुमर्थे वर्त्तमानाद् धातोश्छन्दसि विषये णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥

विभाजं नाशकत्[7] । अत्र विपूर्वाद् भज-धातोर्णमुल्, णित्वाद् वृद्धिः । विभक्तुमित्यर्थः ॥ अपलुपं नाशकत्[8] । अत्रापपूर्वाल्लुप-धातोः कमुल्, कित्वाद् गुणाभावः । लकार उभयत्र स्वरार्थः ॥ १२ ॥

---

१. ऋ० १ । १४२ । ६ ॥ २. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥

३. मा० सू० १५०३ ॥ ४. यजु० ७ । ४१ । ८ । ४१ ॥

५ अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ (ख) चकारात् 'विख्यै' इत्यपि भवति—चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः । ऋ० १० । १५८ । ४ ॥

६. मा० सू० १५०४ ॥

७. अनुपलब्धमूलमिदम् । परन्तूपलभ्यते चैवं प्रयोगः—'तौ विभाजं नाशक्नोत्' । तै० ब्रा० १ । १ । ५ । ६ ॥

८. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥

[शकि] शक्नोति धातु उपपद हो तो तुमर्थ में वर्त्तमान धातु से छन्दविषय में [णमुल्-कमुलौ] 'णमुल्' और 'कमुल्' प्रत्यय होते हैं ॥ जैसे—विभाजं नाशकत् । यहां वि-पूर्वक 'भज' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय तथा णित् होने से वृद्धि होती है । 'विभाजम्' यहां 'विभक्तुम्' पद के अर्थ में है ॥ 'अपलुपं नाशकत्' यहां अप् पूर्वक 'लुप्' धातु से 'कमुल्' प्रत्यय होता है । तथा कित् होने से गुण नहीं होता ॥ दोनों प्रत्ययों में लित्करण स्वर के लिये है ॥ १२ ॥

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ[1] ॥ १३ ॥

तुमर्थे छन्दसीत्यनुवर्त्तते । ईश्वरे । ७ । १ । तोसुन्कसुनौ । १ । २ ॥

ईश्वरशब्द उपपदे तुमर्थे वर्त्तमानाद् धातोश्छन्दसि विषये तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः ॥ ईश्वरो विचरितोः[2] । ईश्वरो विलिखः[3] ॥ विचरितुं विलेखितुमित्यर्थः[3] ॥

कित्वं गुणप्रतिषेधार्थम् । नित्करणमुभयत्र स्वरार्थम् ॥ १३ ॥

यहां 'तुमर्थे' तथा 'छन्दसि' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

[ईश्वरे] ईश्वर शब्द उपपद हो तो तुमर्थ में वर्त्तमान धातु से छन्द विषय में [तोसुन्-कसुनौ] तोसुन् और कसुन् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—ईश्वरो विचरितोः । ईश्वरो विलिखः । विचरितुम्-विलेखितुम्-ये दोनों के अर्थ हैं । कित्व गुणप्रतिषेध के लिये है । दोनों प्रत्ययों में नित्करण स्वर के लिये है ॥ १३ ॥

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः[4] ॥ १४ ॥

तुमर्थ इति नानुवर्त्तते । छन्दसीत्यनुवर्त्तते । कृत्यार्थे । ७ । १ । तवै० त्वनः । १ । ३ ॥ कृत्यार्थौ भावकर्मणी ॥

कृत्यार्थेऽभिधेये छन्दसि विषये धातोस्तवै-केन्-केन्य-त्वन् इति चत्वारः प्रत्यया भवन्ति ॥ अकर्मकाद्भावे, सकर्मकात् कर्मणि चेति विशेषः ॥

ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै[5] । न म्लेच्छितव्य नापभाषितव्यम् । केन्—नावगाहे[6] । नावगाहितव्यम् ॥ केन्य—दिदृक्षेण्यः[7] । शुश्रूषेण्य.[8] । दिदृक्षितव्यम् । शुश्रूषितव्यम् ॥ त्वन् कर्त्त्वं हविः[9] । कर्त्तव्यम् ॥ नित्करणमुभयत्र स्वरार्थम् ॥१४॥

---

१. आ० सू० १५०५ ॥ २. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥
३ कुटादित्वाभावपक्षे गुणाभावः ॥ ४ आ० सू० १५०६ ॥
५. महाभाष्यपस्पशाह्निके ॥ ६ अनुपलब्धमूलम् ॥
७. दिदृक्षेण्यौ दर्शनीयौ भवतः ॥ तै० ब्रा० २ । ७ । ९ । ४ ॥
८ अनुपलब्धमूलमिदम् ॥ वाचमुद्या सशुश्रूषेण्यां मनुष्येभ्यः ॥ तै० ब्रा० प्र० ४ । अनु० १ । १ ॥
९. अथ० १ । ४ । ३ ॥

यहां 'तुमर्थे' पद का निवर्त्तन है। 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है। कृत्यार्थ से यहां भाव और कर्म अर्थ अभिप्रेत है॥

[कृत्यार्थे] कृत्यार्थ अभिधेय हो तो वेदविषय में धातु से [तवै० त्वनः] तवै, केन्, केन्य और त्वन् ये चार प्रत्यय होते हैं॥

अकर्मक धातुओं से भाव में और सकर्मकों से कर्म में प्रत्यय होते हैं। ऐसा समझना चाहिये॥

जैसे—ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। न म्लेच्छितव्यम्, नापभाषितव्यम् यह अर्थ है॥ केन्—नावगाहे। अर्थ हुआ 'नावगाहितव्यम्'॥ केन्य—दिदृक्षेण्यः। शुश्रूषेण्यः। अर्थ हुआ—दिदृक्षितव्यम्, शुश्रूषितव्यम्॥ त्वन्—कर्त्वं हविः। अर्थ हुआ—कर्त्तव्यम्॥ दोनों प्रत्ययों में नित्करण स्वर के लिये है॥ १४॥

अवचक्षे च[1]॥ १५॥

कृत्यार्थ इत्यनुवर्त्तते छन्दसीति च॥ अवचक्षे [अ० । च । अ०]॥

अवचक्षे-इति वैदिकः शब्दः कृत्यार्थे निपात्यते॥

रिपुणा नावचक्षे[2]। अवपूर्वाच्चक्षिङ्-धातोः 'शेन्[3]' प्रत्ययो निपात्यते। शित्वात् सार्वधातुकत्वं, तेन ख्याञादेशाभावः। सार्वधातुके परतः शप्[4]। अदादित्वात्तस्य लुक्॥ १५॥

यहां 'कृत्यार्थे' इस पद का अनुवर्त्तन है और 'छन्दसि' का भी॥ [अवचक्षे] अवचक्षे यह वैदिक-शब्द कृत्यार्थ में निपातन है॥

जैसे – रिपुणा नावचक्षे॥ अव पूर्वक चक्षिङ् धातु से 'शेन्' प्रत्यय निपातित है॥ शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा हो जाती है। अतः चक्षिङ् को 'ख्याञ्' आदेश नहीं हुआ॥ सार्वधातुक परे रहते शप् होता है। उसका अदादि होने से लुक् हो जाता है॥ १५॥

भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्[5]॥ १६॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते। कृत्यार्थ इति निवृत्तम्। भावलक्षणे। ७। १। स्थेण्० जनिभ्यः। ५। ३। तोसुन्। १। १॥ लक्ष्यते येन तल्लक्षणं, भावस्य धात्वर्थस्य लक्षणं भावलक्षणं तस्मिन्॥

---

१. ऋ० सू० १५०७॥ २. यजु० १७। ९३॥

३. अत्र 'एश्' प्रत्यय इति वृत्तिकारादयो मन्यन्ते। वेदे सर्वत्र उत्तरपदाद्युदात्तदर्शनात् 'शेन्' इत्येव सम्यक्॥

४. भावकर्मणोर्यक् प्राप्तो छान्दसत्वात् शबिति ध्येयम्॥

५. ऋ० सू० १५०८॥

भावलक्षणे वर्त्तमानेभ्यः स्थादिधातुभ्यश्छन्द[सि] विषये 'तोसुन्' प्रत्ययो भवति ॥

आसंस्थातोर्वेद्यां सीदन्ति । आसंस्थानादासमाप्तेरित्यर्थः[१] ॥ इण्—पुरा सूर्य्यस्योदेतोराधेयः[२] । सूर्य्योदयात्प्रागग्न्याधानं कर्त्तव्यम् ॥ कृञ्—पुरा वत्सानामपाकर्तोः[३] । अपाकरणात् ॥ वदि—पुरा प्रवदितोरग्नौ[४] प्रहोतव्यम् । प्रवदनात् । चरि—पुरा प्रचरितोराग्नीध्रे[५] । प्रचरणात् ॥ हु—आहोतोरप्रमत्तस्तिष्ठति[१] । आहवनसमाप्तेः ॥ तमि—आतमितोरासीत्[६] ॥ आतमनात् ॥ जनि—आविजनितोः[७] सम्भवाम । आविजननात् ॥ १६ ॥

यहां 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन है, कृत्यार्थे पद निवृत्त हुआ ॥ जिससे लक्षित किया जाय वह लक्षण कहाता है ॥ भाव अर्थात् धात्वर्थ का लक्षण भावलक्षण कहाता है ॥

[भावलक्षणे] भावलक्षण में वर्त्तमान [स्थे० जनिभ्यः] स्था, इण्, कृञ् वदि, चरि, हु तमि, जनि इन धातुओं से छन्द विषय में [तोसुन्] 'तोसुन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—आसंस्थातोर्वेद्यां सीदन्ति । आसंस्थानात् अर्थात् यज्ञसमाप्ति तक ॥ इण्—पुरा सूर्य्यस्योदेतोराधेयः । अर्थात् सूर्योदय से पहले अग्न्याधान करना चाहिये ॥ कृञ्—पुरा वत्सानामपाकर्त्तोः । अपाकरणात् अर्थात् दूर करने से पूर्व । वदि—पुरा प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम् । चरि—पुरा प्रचरितोराग्नीध्रे ॥ हु—आहोतोरप्रमत्तस्तिष्ठति । अर्थात् हवन समाप्ति तक । तमि—आतमितोरासीत् ॥ जनि—आविजनितोः सम्भवाम ॥ १६ ॥

सृपितृदोः कसुन्[८] ॥ १७ ॥

भावलक्षणे छन्दसीति चानुवर्त्तते । सृपितृदोः । ६ । २ । कसुन् [१ । १] ॥

भावलक्षणे वर्त्तमानाभ्यां सृपि-तृदिभ्यां धातुभ्यां छन्दसि विषये 'कसुन्' प्रत्ययो भवति ॥ पुरा क्रूरस्य विसृपो[७] विरप्शिन् । पुरा जर्तृभ्य आतृदः[८] ॥ १७ ॥

यहां 'भावलक्षणे' तथा 'छन्दसि' पदों का अनुवर्त्तन है ॥

भावलक्षण में वर्त्तमान [सृपितृदोः] सृपि तथा तृद धातु से छन्द विषय में [कसुन्] 'कसुन्' प्रत्यय होता है ॥

---

१ सम्पूर्वस्तिष्ठति समाप्तौ वर्त्तते 'संस्तिष्ठते पिण्डपितृयज्ञ (श० ब्रा० मनो०) इत्यादौ तथा दर्शनात् ॥

२. अनुपलब्धमूलमिदम् । एवं तु दृश्यते—'आ सूर्य्यस्योदेतोः शसेत्' तां० ब्रा० ९ । १ । ३८ ॥

३. अनुपलब्धमूलमिदम् ॥

४. अनुपलब्धमूलमिदम् । एवं तु दृश्यते—'पुरा वाचः प्रवदितोरनूच्य' ऐ० ब्रा० २ । १५ ॥

५ पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्या ॥ गोपथ० २ । २ । १० ॥

६. आ० सू० १५०९ ॥ ७. यजु० १ । २८ ॥

८. तु० ऋ० ८ । १ । १२ ॥ अथ० १४ । २ । ४७ ॥

जैसे—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् । पुरा जर्तृभ्य आतृदः ॥ १७ ॥

अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा[1] ॥ १८ ॥

छन्दसि भावलक्षण इति सर्वं निवृत्तम् । अलंखल्वोः । ७ । २ । प्रतिषेधयोः । ७ । २ । प्राचाम् । ६ । ३ । क्त्वा [१ । १] ॥

प्रतिषेधवाचिनोरलंखल्वोरुपपदयोर्धातोः प्राचां मतेन 'क्त्वा' प्रत्ययो भवति ॥

प्राचां ग्रहणं विकल्पार्थम्[2] । अलमुक्त्वा । खलूक्त्वा । अलं भुक्त्वा । खलु भुक्त्वा । न वक्तव्यम्, न भोक्तव्यम् [इत्यर्थः] । अन्येषां मतेन क्त्वा न भवति ॥

[अलं वचनेन । अलं भोजनेन । खलु वचनेन । खलु भोजनेन ।

'अलं खल्वो' इति किम्—मा कार्षीत् ॥ 'प्रतिषेधयोः' इति किम्—अलङ्कारः]
॥ १८ ॥

यहां 'छन्दसि' तथा 'भावलक्षणे' इन सब पदों की निवृत्ति हो जाती है ॥

[प्रतिषेधयोः] प्रतिषेधवाची [अलं-खल्वोः] अलं और खलु उपपद हों तो धातु से [प्राचाम्] प्राचों के मत से [क्त्वा] 'क्त्वा' प्रत्यय होता है । यहां 'प्राचां' ग्रहण विकल्प के लिये है ॥

जैसे—अलमुक्त्वा । खलूक्त्वा । अलं भुक्त्वा । खलु भुक्त्वा । न भोक्तव्यम् न वक्तव्यम् यह अर्थ हुआ । अन्य आचार्यों के मत से पक्ष में क्त्वा नहीं होता—अलं वचनेन । खलु वचनेन । अलं भोजनेन । खलु भोजनेन ॥ १८ ॥

उदीचां माङो व्यतीहारे[3] ॥ १९ ॥

क्त्वेत्यनुवर्त्तते । उदीचाम् । ६ । ३ । माङः । ५ । १ । व्यतीहारे । ७ । १ । पूर्वकाले क्त्वा विधीयतेऽपूर्वकालार्थोऽयमारम्भः ॥ माङ् इति मङ्-धातोरात्वभूतस्य ग्रहणम्, व्यतीहारो विपर्ययः । पूर्वकाले विधीयमानः क्त्वा प्रत्ययः परकाले यथा स्यात् ॥

व्यतीहारार्थान्मेङ्-धातोरुदीचां मतेन 'क्त्वा' प्रत्ययो भवति ॥ अपमित्य याचते । पूर्वं भिक्षुको याचते[4] पश्चाद्वस्त्रादिकमपमयतेऽस्मिन् देहीति ॥

१. अ० सू० १५१० ॥

२. अत्र नव्याः प्राचां ग्रहणं पूजार्थमाचक्षते । वासरूपविधिना च 'अलं रोदनेन' इत्यादि प्रयोगान् साधयन्ति तच्चिन्त्यम्—स्त्र्यधिकारात् प्रागेव वासरूपविधिरिति भाष्ये स्पष्टम् । तदुक्तम् । विप्रतिषेधे तु क्रियाः प्रागिति वचनात् (अ० ३ । ३ । १६३ सूत्रभाष्ये) इति । एवं च क्त्वाप्रत्ययेन ल्युटो नित्यं बाधापत्तेः । तस्मात् प्राचां ग्रहणं विकल्पार्थमेवैषितव्यम् ॥

३. अ० सू० १५११ ॥

४. अत्र पदमञ्जरी—पूर्वं ह्यसौ याचते पश्चादपमयते, यदा चास्मादु वचनात् मयतेः क्त्वा भवति, तदा 'समानकर्तृकयोः०' (अ० ३ । ४ । २१) इत्यादिना याचेर्न भवति, अनेन बाधितत्वात् यथा—द्वितीयद्विर्वचनेन प्रथमद्विर्वचनम् । अनभिधानाद्वा ॥

अत्र मेङः सानुबन्धकस्यात्त्वभूतस्य ग्रहणादेवेयं परिभाषा निस्सरति 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्'[1] इति । सा च 'दाधाघ्वदाप्'[2] इत्यत्र व्याख्याता ॥ १९ ॥

यहां 'क्त्वा' पद का अनुवर्त्तन है । पूर्वकाल में क्त्वा का विधान किया है यह सूत्र अपूर्वकाल के लिये है ॥

यहां माङ् से आत्वभूत मेङ् धातु का ग्रहण है । व्यतीहार विपर्य्यय को कहते हैं ॥ पूर्वकाल में विहित क्त्वा प्रत्यय परकाल में भी हो जाय ॥

[व्यतीहारे] व्यतीहार अर्थ वाले [माङः] 'मेङ्' धातु से [उदीचाम्] उदीचों के मत में 'क्त्वा' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—अपमित्य याचते । पहले भिक्षुक मांगता है पुनः वस्त्रादिक फैलाता है कि इसमें दे दो ॥

यहां सानुबन्धक 'मेङ्' को आत्वनिर्देश से पढ़ना इस परिभाषा को ज्ञापित करता है कि— 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' अर्थात् अनुबन्ध के होने पर भी धातु का एजन्तत्व नष्ट नहीं होता । यह परिभाषा 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र में व्याख्यात है ॥ १९ ॥

परावरयोगे च[3] ॥ २० ॥

परावरयोगे । ७ । १ । च । [अ०] ॥ परावरयोः परपूर्वयोर्योगः परावरयोगस्तत्र । परावरयोगे वर्त्तमानाद् धातोः 'क्त्वा' प्रत्ययो भवति ॥

पूर्वस्य परेण सह सम्बन्धो भवति परस्य च पूर्वेण तदाऽस्य प्रवृत्तिः ॥ पूर्वस्य परेण योगे–अप्राप्य वाटिकां कूपः । परा वाटिका तद्योगेन कूपो विशेष्यते ॥ परस्य पूर्वेण योगे—अतिक्रम्य पर्वतं नदी । पूर्वः पर्वतस्तद्योगेन नदी विशेष्यते ॥ २० ॥

[परावरयोगे] पर और पूर्व के योग में वर्त्तमान धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है ॥

जब पूर्व का पर के साथ और पर का पूर्व के साथ सम्बन्ध होता है तब यह सूत्र प्रवृत्त होता है । जैसे पूर्व का पर के साथ योग होने पर—अप्राप्य वाटिकां कूपः । वाटिका पर है उसके सम्बन्ध से कूएँ को विशेषित किया है ॥ पर का पूर्व के साथ योग होने पर—अतिक्रम्य पर्वतं नदी । पूर्व पर्वत है उसके योग से नदी को विशेषित किया है ॥ २० ॥

समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले[4] ॥ २१ ॥

समानकर्त्तृकयोः । ७ । २ । पूर्वकाले । ७ । १ ॥ समान एकः कर्त्ता ययोर्धात्वर्थयोस्तयोः ॥

---

१. भाष्ये ३ । ४ । १९ ॥ परि० ६ ॥ २. अ० १ । १ । २० ॥
३. आ० सू० १५१५ ॥ ४. आ० सू० १५१६ ॥

पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद् धातोः 'क्त्वा' प्रत्ययो भवति ।। स्नात्वा भुङ्क्ते । भुक्त्वा[1] व्रजति । हृत्वा धावति । जित्वा भुङ्क्ते ।।

अस्मिन् सूत्रे समानकर्तृकयोरिति द्विवचननिर्देशः कृतः, स प्रातिपदिकनिर्देश-न्यायेन[2] ज्ञातव्यः, अवश्यं कयाचिद्विभक्त्या केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्त्तव्यः । अर्थादिष्टत्वेनात्र द्विवचननिर्देशो नास्ति, इष्टा च शब्दसिद्धिः । सा सिद्धिर्यया विभक्त्या येन वचनेन भवेत्तदेव तत्रोह्यम्, एवं कृत्वा बहूना पौर्वकाल्येऽपि क्त्वा सिद्धो भवति । स्नात्वा पीत्वा भुक्त्वा व्रजति[3] ।। २१ ।।

[**समानकर्तृकयोः**] समान अर्थात् एक कर्ता है जिन दो धातुओं का उन में [**पूर्व-काले**] पूर्वकाल धात्वर्थ में वर्त्तमान धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—स्नात्वा भुङ्क्ते । भुक्त्वा व्रजति । हृत्वा धावति । जित्वा भुङ्क्ते ।।

इस सूत्र में 'समानकर्तृकयोः' पद में द्विवचन का निर्देश है । यह प्रातिपदिकनिर्देश न्याय से समझना चाहिये क्योंकि अवश्य ही किसी न किसी विभक्ति और वचन में तो निर्देश करना ही होगा, अर्थात् यहां द्विवचननिर्देश इष्ट नहीं, इष्ट तो शब्दसिद्धि है यह शब्दसिद्धि जिस विभक्ति और जिस वचन से हो उसकी वहां ऊहा कर लेनी चाहिये । ऐसा करने से बहुतों के पूर्वकाल में भी क्त्वा सिद्ध होता है ।। जैसे—स्नात्वा, पीत्वा, भुक्त्वा व्रजति ।। २१ ।।

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च[4] ।। २२ ।।

[अत्र समानकर्तृकयोः पूर्वकाले] क्त्वाप्यनुवर्त्तते । आभीक्ष्ण्ये । ७ । १ । णमुल् । १ । १ । च । [अ०] ।। आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम् ।।

आभीक्ष्ण्ये गम्यमाने धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति चात् 'क्त्वा' च ।।

भुक्त्वा भुक्त्वा[5] हसति । भोजं भोजं[5] हसति । स्मृत्वा स्मृत्वा रोदिति स्मारं स्मारं रोदिति ।। २२ ।।

१, अत्र पुरुषोत्तमदेवः—'अव्ययकृतो भावे भवन्तीति' भावेऽपि हि प्रत्यये सकर्मकाद्धातो पश्चान् कर्मसम्बन्धो भवत्येव । पाक ओदनस्य, कट कृत्वा शेते इति गम्यते मया ग्रामम् । इति भाषावृत्त्यनुक्रम्, (अ० ३ । ४ । १८ भाषावृत्तौ) ।।

२. अत्र भाष्यम्—नात्र निर्देशस्तन्त्रम् । कथं पुनस्तेनैव निर्देश क्रियते तच्चातन्त्रं स्यात् । तत्कारी च भवान् तद्द्वेषी च । नान्तरीयकत्वादत्र द्विवचनेन निर्देश क्रियते, अवश्यं कयाचिद्विभक्त्या केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्त्तव्यः ।। (अ० ३ । ४ । २१ सूत्रे) ।।

३ 'व्यादाय स्वपिति' अत्र भाष्यम् अपरकालः स्वप्नः, अवश्यमसौ व्यादाय मुहूर्त्तमपि स्वपिति ।। (अ० ३ । ४ । २१ सूत्रे) ।।

४ आ० सू० १५४० ।।

५. आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (८ । १ । १२) इति वार्तिकेन द्विर्वचनम् ।।

यहां 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' तथा 'क्त्वा' इन पदों की अनुवृत्ति आती है ॥ आभीक्ष्ण्य = पुनः पुनः होना ॥

[आभीक्ष्ण्ये] आभीक्ष्ण्य (पुनः पुनः होना) अर्थ गम्यमान हो तो धातु से [णमुल्] 'णमुल्' प्रत्यय होता है [च] और चकार से 'क्त्वा' भी ॥

जैसे—भुक्त्वा भुक्त्वा हसति । भोजं भोजं हसति । स्मृत्वा स्मृत्वा रोदिति । स्मारं स्मारं रोदिति ॥ २२ ॥

न यद्यनाकाङ्क्षे[1] ॥ २३ ॥

न । [अ०] । यदि । ७ । १ । अनाकाङ्क्षे । ७ । १ ॥ आभीक्ष्ण्य इत्यनुवर्त्तते ॥

यच्छब्दयोगेऽनाकाङ्क्षवाक्य[2] आभीक्ष्ण्येऽपि क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ न भवतः ॥ यदयं भुङ्क्ते ततोऽधीते ॥

'अनाकाङ्क्षे' इति किम्—यदयं भुक्त्वा व्रजति ततोऽधीते ॥ २३ ॥

यहां 'आभीक्ष्ण्ये' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[यदि] यत्-शब्द के योग में [अनाकाङ्क्षे] अनाकाङ्क्ष वाक्य में आभीक्ष्ण्य अर्थ होने पर भी धातु से 'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय [न] नहीं होते ॥

जैसे—यदयं भुङ्क्ते ततोऽधीते ॥

'अनाकाङ्क्षे' ग्रहण इसलिये है कि—यदयं भुक्त्वा व्रजति ततोऽधीते ॥ २३ ॥

विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु[3] ॥ २४ ॥

अप्राप्तविभाषेयम् । आभीक्ष्ण्य इति नाऽनुवर्त्तते । समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाल इत्यनुवर्त्तत एव । विभाषा । १ । १ । अग्रेप्रथमपूर्वेषु । [७ । ३] ॥

अग्रे-प्रथम-पूर्व-इति शब्दत्रयोपपदात् समानकर्त्तृकधात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्विकल्पेन क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ भवतः, पक्षे च लडादयः ॥

अग्रे[4] भुक्त्वा व्रजति । अग्रे भोजं व्रजति । अग्रे भुङ्क्ते ततो व्रजति । प्रथमं भुक्त्वा व्रजति । प्रथमं भोजं व्रजति । [प्रथमं भुङ्क्ते ततो व्रजति ।] पूर्वं भुक्त्वा व्रजति । पूर्वं भोजं व्रजति । [पूर्वं भुङ्क्ते ततो व्रजति] ॥

---

१. आ० सू० १५४२ ॥

२. न विद्यते आकाङ्क्षा यस्य स अनाकाङ्क्षस्तस्मिन्ननाकाङ्क्ष इति बहुव्रीहिः ॥

३. आ० सू० १५४३ ॥

४. अग्र-शब्दो देशवचनोऽप्यस्ति—ग्रामोऽग्रे भुङ्क्ते इति, इह तु प्रथमशब्दसाहचर्यात् 'काल-विशेषवाचिनो ग्रहणम् । अनुकरणत्वाच्चाग्रे इति विभक्तेर्लुगभावोऽप्ययथामीयमिति यथेति पदमञ्जरी ॥

स्त्र्यधिकारात् प्राग् वाऽसरूपविधिः सम्यक् प्रवर्त्तते । इह तु तस्यानित्य-[1]त्वाल्लडादयो न प्राप्नुवन्त्यतो विभाषाऽऽरभ्यते । '**अमैवाव्ययेन**'[2] इत्यत्रोक्तमेवकार[3]-ग्रहणस्य प्रयोजनम्—यत्र केवलोऽम् विधीयते तत्रैवोपपदसमासः स्यात् । यत्र तु अन्येन सह विधीयेते तत्र मा भूत् । अतोऽग्र आदीनां णमुलन्तेन सह समासो न भवति ॥ २४ ॥

यह सूत्र अप्राप्तविभाषा है । यहां आभीक्ष्ण्ये पद का अनुवर्तन नहीं, किन्तु 'समानकर्त्तृकयोः' तथा 'पूर्वकाले' इन दो पदों का अनुवर्तन है ॥

[**अग्रेप्रथमपूर्वेषु**] अग्रे-प्रथम-पूर्व ये तीन शब्द उपपद हों तो समानकर्त्तृक धात्वर्थों में जो पूर्वकाल धात्वर्थ में वर्तमान है उस धातु से [**विभाषा**] विकल्प करके 'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय होते हैं । पक्ष में—लडादि होते हैं ॥

---

१. क्त्वाणमुलौ यत्र सह विधीयेते तत्र वाऽसरूपविधिर्न भवतीति भावः । इयमत्राभिसन्धिः—वाऽसरूपविधिः स्त्रियाः प्रागिति भाष्यसिद्धान्तः । अत एव '**स्त्रियाः प्रागिति चेत् क्त्वायां वावचनम्**' (अ० ३ । १ । ९४ भाष्ये) इत्यादिभाष्यं तत्तत्स्थलेषु वाऽऽसरूपविधिविधायकम् । अतो यत्त्वत्र **काशिकाकारेणोक्तम्**—'ननु च वाऽसरूप इति भविष्यति, क्त्वाणमुलौ यत्र सह विधीयेते तत्र वाऽसरूपविधिर्नास्तीत्येतदनेन ज्ञाप्यते' इत्याद्युक्तं तद्भाष्यानारूढत्वादुपेक्षणीयम् ।

किञ्च—'यत्त्वत्र विभाषाग्रहणं एनाभ्यां भुक्ते लडादयोऽपि यथा स्युरिति' **काशिकाकारः** 'पक्षे लडादय इति कर्त्रादिपक्ष इत्यर्थः । भावे त्वेतौ, तदाह अग्रे भुङ्क्त इति । अत्रैवार्थे विभाषा-ग्रहणं तात्पर्यग्राहकम् । एतद्विषये कर्त्रादिविवक्षाऽपि, पूर्वसूत्रविषये तु न सा मानाभावादिति दिक्' इति **नागेशः** । तत्सर्वमेतच्चिन्त्यम्—'**अव्ययकृतो भावे भवन्ति**' इति भाष्यनियमात् । क्त्वाणमुलौ भाव एव । कुतः कर्त्रादिविवक्षासम्भवो भिन्नविषयत्वात् । अतः पक्षे लडादय इत्यादि सर्वमविचारित-रमणीयमेव । विभाषा ग्रहणं किमर्थमितिचेदत्रोच्यते—**आभीक्ष्ण्ये णमुल् च** (अ० ३ । ४ । २२ ।) इति सूत्रे चकारग्रहणेन क्त्वाऽनुकृष्यते । **चानुकृष्टं नोत्तरत्र** (परि० सू० ४८) इति न्यायेन क्त्वा-ग्रहणं निवृत्तम् । अतो '**विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु**' (अ० ३ । ४ । २४) इति सूत्रे क्त्वा विभाषाग्रहणेन प्रतीप्रसूयते । विभाषाग्रहणस्य प्रयोजनम् । '**न यद्यनाकाङ्क्षे**' (अ० ३ । ४ । २३) इति तु यदुक्तं तन्न भवतीति निषेधपरम् ॥

'**नित्यवीप्सयोः णमुल् च**' (अ० ३ । ४ । २२) इत्यत्र लडादयो भावाभावाश्च स्युरिति तदपि कर्तृविवक्षया भाव-प्रत्ययेन मिथः कः सम्बन्ध इत्येवाकिञ्चित्करम् ॥

विशेषे तु सुधिय एव शरणम् ॥

२ अ० २ । २ । २० ॥

३ अत्र भाष्यम् ....उक्तमेतत् । **अमैवाव्ययेन** (अ० २ । २ । २० ।) इत्यत्र एव-कारणस्य प्रयोजनम्—अमैवाव्ययेन यत्तुल्यविधानमुपपदं तत्र समासो यथा स्यात् । अमा चान्येन च यत्तुल्यविधानमुपपदं तत्र मा भूदिति ॥ (अ० ३ । ४ २४ सूत्रे) ॥

जैसे—अग्रे भुक्त्वा व्रजति । अग्रे भोजं व्रजति । अग्रे भुङ्क्ते ततो व्रजति । प्रथमं भुक्त्वा व्रजति । प्रथमं भोजं व्रजति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो व्रजति । पूर्वं भुक्त्वा व्रजति । पूर्वं भोजं व्रजति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो व्रजति ॥

स्त्र्यधिकार से पूर्व पूर्व वाऽसरूपविधि सम्यक्तया प्रवर्त्तित होती है । परन्तु यहां तो उसके अनित्य होने से ल्युडादि प्राप्त नहीं होते इस लिये विभाषा कही है ॥ 'अमैवाव्ययेन' इस सूत्र में एवकार ग्रहण का यह प्रयोजन कहा है कि—जहां केवल 'अम्' का विधान हो वहीं उपपद का समास हो, जहां अन्य प्रत्यय के साथ 'अम्' का विधान हो वहां न हो, इस कारण अग्रे आदि उपपदों का णमुलन्त के साथ समास नहीं होता ॥ २४ ॥

कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्[1] ॥ २५ ॥

कर्मणि । ७ । १ । आक्रोशे । ७ । १ । कृञः । ५ । १ । खमुञ् । १ । १ ॥ आक्रोश माह्वानमत्र गृह्यते ॥

[कर्मण्युपपदे 'कृञ्' धातोः 'खमुञ्' प्रत्ययो भवति आक्रोशे गम्यमाने ॥] चोरंकारमाक्रोशति[2] । दस्युंकारमाक्रोशति । चोरोऽसीत्याह्वयति । खित्वान्मुम् ॥२५॥

यहां आक्रोश का अर्थ पुकारना है ॥

[कर्मणि] कर्म उपपद हो तो [कृञः] 'कृञ्' धातु से [खमुञ्] 'खमुञ्' प्रत्यय होता है [आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान हो तो ॥

जैसे—चोरंकारमाक्रोशति । दस्युंकारमाक्रोशति । चोर है, ऐसा पुकारता है । प्रत्यय के खित् होने से 'मुम्' हो जाता है ॥ २५ ॥

स्वादुमि णमुल्[3] ॥ २६ ॥

कृञ इत्यनुवर्त्तते ॥ स्वादुमि । ७ । १ । णमुल् । १ । १ । स्वादुशब्दोऽत्र मकारान्तो निपातितः ॥

स्वादुम्पूर्वात् 'कृञ्' धातोः 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥ स्वादुंकारं[4] भुङ्क्ते ॥

मकारान्तनिपातनस्यैतत् प्रयोजनं स्वादुशब्दः सर्वथा मकारान्त एव स्यात्, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग ईकारान्तत्वं[5] प्राप्नोति तन्मा भूत् । स्वाद्वीं कृत्वा[6] यवागूं भुङ्क्ते,

---

१. मा० सू० १५४४ ॥

२. अन्ये तु-करोतिरत्रोच्चारणे, चोरशब्दमुच्चार्य्याक्रोशति चोरोऽसीति । तथैव चाख्यातिके ॥

३. मा० सू० १५४५ ॥

४. अन्ये त्वत्र "लवणंकारं भुङ्क्ते—सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते" इत्याद्युदाहरन्ति, तत्र चैवं वदन्ति—इह चार्थनिर्देशः, अर्थपरत्वन्तु निर्देशस्याविच्छिन्नपारम्पर्य्योपदेशाद् विज्ञायत इति न्यासः ॥

५. 'वोतो गुणवचनात्' अ० ४ । १ । ४४ ॥

६. अत्र भाष्यम्—स्वादुमि मान्तनिपातनं क्रियत ईकाराभावार्थम् । ईकारो मा भूदिति स्वाद्वीं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते स्वादुंकारं यवागूं भुङ्क्ते इति । क्त्व्यन्तस्य च मकारान्तत्वं यथा स्यात् । अस्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते ॥ (अ० ३ । ४ । २६)

स्वादुकारं भुङ्क्ते । च्व्यन्तस्य—अस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते ॥ २६ ॥

यहां 'कृञ्' पद का अनुवर्त्तन है । स्वादुं शब्द यहां मकारान्त निपातन है ॥

[स्वादुमि] स्वादुम् उपपद होने पर 'कृञ्' धातु से [णमुल्] 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—स्वादुंकारं भुङ्क्ते ॥

मकारान्त निपातन करने का यह प्रयोजन है कि –स्वादु-शब्द सर्वथा मकारान्त ही होवे, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्तत्व प्राप्त है वह न हो । जैसे—स्वाद्वीं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते । च्व्यन्त में—अस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते ॥ २६ ॥

अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्[1] ॥ २७ ॥

कृञो णमुल् इत्यनुवर्त्तते । अन्यथैवंकथमित्थम् । ७ । ३ । सिद्धाप्रयोगः । १ । १ । चेत् । [अ०] ॥ प्रयोक्तुमयोग्यो ऽप्रयोग..[2] सिद्धस्य णमुलन्तस्य कृञ् धातोरप्रयोगः सिद्धाप्रयोगः ॥

अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्थ[3], इति शब्दचतुष्टयोपपदात् 'कृञ्' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति सिद्धस्य यद्यप्रयोगः स्यात् ॥

अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्थंकारं[4] भुङ्क्ते ॥

अन्यथाकारं भुङ्क्ते-इत्यनेन योऽर्थः प्रतीयते, स एवान्यथा भुङ्क्ते [इत्य] स्यार्थः ॥

'सिद्धाप्रयोगः' इति किम्—शिर एव कृत्वा भुङ्क्ते । अत्र णमुल् न भवति ॥ २७ ॥

यहां 'कृञ' तथा 'णमुल्' इन दो पदों का अनुवर्तन है ॥

जो कृञ्-धातु के प्रयोग के विना भी अभीष्ट अर्थ वाक्य से कहा जाय तो कृञ् के प्रयोग को भी अप्रयोग के तुल्य समझना चाहिये, इस प्रकार सिद्ध 'कृञ्' धातु के अप्रयोग को यहां सिद्धाप्रयोग कहा है ॥

[अन्यथैवं कथमित्थसु] अन्यथा, एवं, कथं, इत्थं ये चार शब्द उपपद हों तो 'कृञ्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है [सिद्धाप्रयोगश्चेत्] यदि सिद्ध का अप्रयोग हो ॥

---

१. आ० सू० १५४६ ॥ २. अनर्थक इति यावत् (द्र० ३ । ४ । २८) ॥

३. अन्यथादयः प्रकारवचनाः ॥

४. वाऽसरूपविधिना क्त्वा प्रत्ययोऽपि इष्यते—अन्यथा कृत्वा चोदितमन्यथा कृत्वा परिहारः । कथं कृत्वा वाचकमित्यादिभाष्यप्रयोगात् ॥

जैसे—अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्थंकारं भुङ्क्ते ॥ 'अन्यथाकारं' भुङ्क्ते इससे जो अर्थ जाना जाता है वही 'अन्यथा भुङ्क्ते' का अर्थ है ॥

'सिद्धाप्रयोग' ग्रहण इसलिये है कि—शिर एवं कृत्वा भुङ्क्ते । यहां 'णमुल्' नहीं होता ॥ २७ ॥

यथातथयोरसूयाप्रतिवचने[1] ॥ २८ ॥

कृञः सिद्धाप्रयोगश्चेत्यनुवर्त्तते । यथातथयोः । ७ । २ । असूयाप्रतिवचने । ७ । १ ॥ असूयया निन्दया यः पृच्छेत्तस्य प्रतिवचनमुत्तरं तस्मिन् ॥

असूयाप्रतिवचने गम्यमाने यथातथा-शब्दोपपदात् 'कृञ्' धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति, तस्य सिद्धस्य कृञ् धातोरप्रयोगो यद्यनर्थकः प्रयोगः स्यात् ॥

यथाकारं भुञ्जे तथाकारं भुञ्जे किं तवाऽनेन ॥

'असूयाप्रतिवचने' इति किम्—यथा कृत्वाऽहं भुञ्जे तथा त्वं पश्यसि ॥ 'सिद्धाऽप्रयोग:' इति किम्—यथाऽहं शिरः कृत्वा भुञ्जे किं तवानेन ॥ २८ ॥

यहां 'कृञ्' तथा 'सिद्धाप्रयोगश्चेत्' इन पदों का अनुवर्त्तन है ॥ असूया अर्थात् निन्दा से जो पूछे उसका जो प्रतिवचन अर्थात् उत्तर देना है वह असूयाप्रतिवचन कहाता है ॥

[असूयाप्रतिवचने] असूयाप्रतिवचन (जो न सह करके दूसरे की निन्दा करना उसका प्रतिवचन = उत्तर) गम्यमान हो तो [यथातथयो:] यथा तथा शब्दोपपद 'कृञ्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है यदि 'कृञ्' का अप्रयोग अर्थात् अनर्थक प्रयोग हो तो ॥

जैसे—यथाकारं भुञ्जे, तथाकारं भुञ्जे किं तवानेन ॥

'असूयाप्रतिवचने' ग्रहण इसलिये है कि—यथा कृत्वाऽहं भुञ्जे तथा त्वं पश्यसि ॥ 'सिद्धाप्रयोग' ग्रहण इसलिये है कि—यथाऽहं शिरः कृत्वा भुञ्जे किं तवाऽनेन ॥ २८ ॥

कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये[2] ॥ २९ ॥

कर्मणि । ७ । १ । दृशिविदोः । ६ । २ । साकल्ये । ७ । १ ॥

साकल्ये = सम्पूर्णताविशिष्टे कर्मण्युपपदे दृशि-विदिभ्यां[3] धातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

यवनदर्शं घातयति । यं यं यवनं पश्यति तं तं घातयतीत्यर्थः । ब्राह्मणवेदं भोजयति । यं यं ब्राह्मणं जानाति तं तं साकल्येन भोजयतीत्यर्थः ॥

'साकल्ये' इति किम्—ब्राह्मणं दृष्ट्वा भोजयति ॥ २९ ॥

१. भा० सू० १५४७ ॥ २. भा० सू० १५४८ ॥

३. विद् इत्यनेन सामान्यतया—लाभार्थस्य, ज्ञानार्थस्य, विचारार्थस्य चेह ग्रहणं भवति । विदसत्तायामित्यस्य न भवत्यकर्मकत्वात् ॥

[साकल्ये] साकल्य अर्थात् सम्पूर्णताविशिष्ट [कर्मणि] कर्म उपपद हो तो [दृशिविदोः] दृशि तथा विद धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यवनदर्शं घातयति । अर्थात् जिस जिस यवन को देखता है उस उस को मारता है । ब्राह्मणवेदं भोजयति । जिस जिस ब्राह्मण को जानता है उस उस को भोजन कराता है ॥ 'साकल्ये' ग्रहण इसलिये है कि—ब्राह्मणं दृष्ट्वा भोजयति ॥ २९ ॥

यावति विन्दजीवोः[1] ॥ ३० ॥

यावति । ७ । १ । विन्दजीवोः । ६ । २ ॥ विन्द इति सनुमो लाभार्थस्य ग्रहणम् ॥

यावच्छब्दोपपदाभ्यां विन्द-जीवधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

यावद्वेदं भुङ्क्ते, यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते ॥ यावज्जीवमधीते, मरणपर्य्यन्तमधीते ॥ ३० ॥

यहां 'विन्द' इस सनुम् ग्रहण से लाभार्थक 'विद' धातु का ग्रहण है ॥

[यावति] यावत् शब्द उपपद हो तो [विन्दजीवोः] विन्द तथा जीव धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—यावद्वेदं भुङ्क्ते । अर्थात् जितना मिलता है, उतना खा लेता है । यावज्जीवमधीते, अर्थात् मरण पर्य्यन्त पढ़ता है ॥ ३० ॥

चर्मोदरयोः पूरेः[2] ॥ ३१ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते । चर्मोदरयोः । ७ । २ । पूरेः । ५ । १ ॥ पूरीति ण्यन्तस्य ग्रहणम् ॥

चर्मोदरयोः कर्मोपपदयोः 'पूरि' धातोः 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

चर्मपूरं स्तृणाति । उदरपूरं भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

यहां 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है । 'पूरि' से ण्यन्त का ग्रहण है ॥

[चर्मोदरयोः] चर्म और उदर कर्म उपपद हो तो [पूरेः] 'पूरि' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—चर्मपूरं स्तृणाति । उदरपूरं भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्[3] ॥ ३२ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते पूरेश्च । वर्षप्रमाणे । ७ । १ । ऊलोपः । १ । १ । च । [अ० ।] अस्य । ६ । १ । अन्यतरस्याम् । [अ०] ॥ वर्षस्य=वर्षणस्य प्रमाणं वर्षप्रमाणं तस्मिन् । अप्राप्तविभाषेयम् । ऊलोपेन सह सम्बध्यते ॥

---

१. आ० सू० १५४९ ॥ २. असाकल्यार्थ आरम्भः ॥
३. आ० सू० १५५० ॥ ४. आ० सू० १५५१ ॥

वर्षप्रमाणे गम्यमाने कर्मण्युपपदे 'पूरि' धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति, अस्य पूरिधातोरूलोपश्च विकल्पेन भवति ॥

गोष्पदप्रं वृष्टो देवः । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ॥

['अस्य' इति किम्] मूषिकाबिलप्रं वृष्टो देवः । मूषिकाबिलपूरं वृष्टो देवः । अत्र मूषिकाशब्दे य ऊकारस्तस्य लोपो मा भूत् ॥ ३२ ॥

यहां 'कर्मणि' तथा 'पूरेः' इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन है। यह अप्राप्तविभाषा है, इसका सम्बन्ध ऊलोप से है ॥

[वर्षप्रमाणे] वर्षा का प्रमाण गम्यमान हो तो कर्म उपपद होने पर 'पूरि' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है [ऊलोपश्चास्य] और इस पूरि धातु के ऊकार का लोप [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है ॥

जैसे—गोष्पदप्रं वृष्टो देवः । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ॥

'अस्य' ग्रहण इसलिये है कि—मूषिकाबिलप्रं वृष्टो देवः । मूषिकाबिलपूरं वृष्टो देवः । यहां मूषिका शब्द के ऊकार का लोप न हो ॥ ३२ ॥

चेले क्नोपेः[1] ॥ ३३ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते, वर्ष-प्रमाण इति च । चेले । ७ । १ । क्नोपेः । ५ । १ । चेल-शब्दो वस्त्रवाची । 'क्नूयी शब्दे उन्दे च'[1] उन्दनार्थस्य[2] क्लेदनार्थस्य क्नूयी-धातोर्ण्यन्तस्य ग्रहणम् ॥

चेले कर्मण्युपपदे क्नोपिधातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

चेलक्नोपं वृष्टो मेघः । अत्र पर्य्याय[4]-वचनानामपि ग्रहणं भवति । वस्त्रक्नोपम् । वसनक्नोपम् ॥ ३३ ॥

यहां 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है, और 'वर्षप्रमाण' का भी ॥ चेल शब्द वस्त्रवाची है ॥ उन्दन = गीला करने अर्थ में वर्त्तमान ण्यन्त 'क्नूयि शब्दे उन्दे च' का ग्रहण है ॥

[चेले] चेल कर्म उपपद हो तो [क्नोपेः] ण्यन्त 'क्नोपि' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

---

१. अ॰ सू॰ १५५२ ॥　　　२. धा॰ भ्वा॰ ४७८ ॥

३. चेलक्नोपमित्यत्र ये क्नूयिधातोः शब्दार्थं दृष्ट्वैवं व्याचक्षते—'चेलं क्नोपयन् शब्दायन् वृष्ट इत्यर्थः' इत्यादि वदन्ति तदसमञ्जसं वस्त्रासार्द्रीकरणमात्रमेव वृष्टो मेघ इत्यर्थस्यैवात्र युक्ततरत्वात् । अत एवात्र 'उन्दनार्थस्य क्लेदनार्थस्य' इत्युक्तम् ॥

४. अर्थपरत्वादत्र चेलशब्दस्य ॥

जैसे—चेलक्नोपं वृष्टो मेघः। यहां पर्य्यायवाची का भी ग्रहण होता है॥ जैसे—वस्त्रक्नोपम् ।वसनक्नोपम्॥ ३३॥

निमूलसमूलयोः कषः[1] ॥ ३४ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते। निमूलसमूलयोः। ७। २। कषः। ५। १॥

निमूल-समूलकर्मोपपदात् 'कष' धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति॥

हिंसार्थस्य कषधातोरत्र[2] ग्रहणम्। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। निमूलं कषति, समूलं कषति, हन्तीत्यर्थः॥ ३४॥

यहां 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है॥

[निमूलसमूलयोः] निमूल, समूल कर्म उपपद हों तो [कषः] 'कष' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है॥ यहां हिंसार्थक 'कष' धातु का ग्रहण है॥

जैसे—निमूलकाषं कषति। जड़ को छोड़ के जैसे काटता हो वैसे काटता है[3]॥ समूलकाषं कषति। जड़समेत जैसे काटता हो वैसे काटता है॥ ३४॥

शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः[4] ॥ ३५ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते। शुष्कचूर्णरूक्षेषु। ७। ३। पिषः। ५। १॥

शुष्कादिषु [कर्मसु] उपपदेषु 'पिष' धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति॥ शुष्कपेषं पिनष्टि। शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः। चूर्णपेषं पिनष्टि। रूक्षपेषं पिनष्टि॥ ३५॥

यहां 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है॥

[शुष्कचूर्णरूक्षेषु] शुष्क, चूर्ण, रूक्ष ये कर्म उपपद हों तो [पिषः] 'पिष' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है॥

जैसे—शुष्कपेषं पिनष्टि। सूखा पीसता हो वैसे पीसता है॥ चूर्णपेषं पिनष्टि। रूक्षपेषं पिनष्टि। चूर्ण तथा रूक्ष जैसे पीसता हो वैसे पीसता है॥ ३५॥

समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः[5] ॥ ३६ ॥

कर्मणीत्यनुवर्त्तते। समूलाकृतजीवेषु। ७। ३। हन्कृञ्ग्रहः। ५। १॥ हनादीनां समाहारद्वन्द्वः॥

---

१. आ० सू० १५५३॥

२. अत्र कषादिषु पूर्वकालता न सम्बध्यते॥

३. यहां से लेकर ३। ४। ४६ सूत्र तक उदाहरणों का भाषार्थ आख्यातिक के अनुसार दिया है॥

४. आ० सू० १५५४॥

५. आ० सू० १५५५॥

समूल-अकृत-जीव इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु यथासंख्यं हन्, कृञ्, ग्रह इत्येतेभ्यो धातुभ्यो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

समूलघातं शत्रुं हन्ति । समूलं हन्तीत्यर्थः ॥ अकृतकारं करोति । अकृतं करोति ॥ जीवग्राहं गृह्णाति । जीवान् गृह्णाति [इत्यर्थः] ॥ ३६ ॥

यहां 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है । 'हन्कृञ्ग्रहः' में समाहारद्वन्द्व समास है ॥

[**समूलाकृतजीवेषु**] समूल, अकृत, जीव ये कर्म उपपद हों तो यथासंख्य [**हन्-कृञ्-ग्रहः**] हन्, कृञ्, ग्रह धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे – समूलघातं शत्रुं हन्ति । मूलसमेत जैसे मारता हो वैसे मारता है । अकृतकारं करोति । न किये को जैसे करता हो, वैसे करता है । जीवग्राहं गृह्णाति । जीव का ग्रहण करता हो वैसे ग्रहण करता है ॥ ३६ ॥

करणे हनः[1] ॥ ३७ ॥

कर्मणीति नानुवर्त्तते । करणे । ७ । १ । हनः । ५ । १ ॥

करण उपपदे हन्' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

पाण्युपघातं वेदिं हन्ति । पादोपघातं भूमिं हन्ति । पाणिभ्यां पादाभ्यां वा हन्तीत्यर्थः ॥

'हिंसार्थानाञ्च समानकर्मकाणाम्'[2] इति वक्ष्यमाणसूत्रेण णमुल् स्यादेव, पुनर्ग्रहणमहिंसार्थादपि यथा स्यात् । वेदिभूमी जडपदार्थौ, तत्र हिंसा न सम्भवति । अन्यच्च—वक्ष्यमाणसूत्रेण यत्र णमुल् विधीयते तत्र **'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्'**[3] इति विकल्पेन समासो भवति । अनेन णमुलि सति नित्यसमासो यथा स्यात् । यथाविध्यनुप्रयोगार्थञ्च ॥ ३७ ॥

यहां 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति नहीं आती ॥

[**करणे**] करण उपपद हो तो [**हनः**] 'हन्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पाण्युपघातं वेदिं हन्ति । पादोपघातं भूमिं हन्ति । हाथ तथा पांव से मारता हो वैसे मारता है ॥

'हिंसार्थानाञ्च समानकर्मकाणाम्' इस अगले सूत्र से 'णमुल्' हो ही जाता पुन 'हन्' का ग्रहण इसलिये है कि—अहिंसार्थक से भी णमुल् हो जावे, क्योंकि वेदि तथा भूमि जड़ पदार्थ हैं, उनमें हिंसा नहीं हो सकती ॥ दूसरा प्रयोजन यह है कि—वक्ष्यमाणसूत्र से जहां 'णमुल्' होता है, उस णमुल् विषय में 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' सूत्र से विकल्प करके समास होता है, परन्तु इससे विहित णमुल् के साथ नित्यसमास हो तथा यथाविध्यनुप्रयोग भी हो जावे ॥ ३७ ॥

---

१. भा० सू० १५५६ ॥ २. अ० ३ । ४ । ४८ ॥
३. अ० २ । २ । २१ ॥

स्नेहने पिषः[1] ॥ ३८ ॥

करण इत्यनुवर्त्तते । स्नेहने । ७ । १ । पिषः । ५ । १ ॥

स्नेहनवाचिनि करण उपपदे 'पिष' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

उदपेषं पिनष्टि । उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । 'पेषंवासवाहनधिषु च'[2] इत्युदकशब्दस्योदादेशः । तैलपेषं पिनष्टि । घृतपेषं पिनष्टि ॥ ३८ ॥

यहां 'करणे' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[स्नेहने] स्नेहन वाची करण उपपद हो तो [पिषः] 'पिष' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—उदपेषं पिनष्टि । जल से पीसता हो वैसे पीसता है । 'पेषंवासवाहनधिषु च' इससे उदक शब्द को 'उद' आदेश हो जाता है । तैलपेषं पिनष्टि । घृतपेषं पिनष्टि ॥ ३८ ॥

हस्ते वर्त्तिग्रहोः[3] ॥ ३९ ॥

करण इत्यनुवर्त्तते । हस्ते । ७ । १ । वर्त्तिग्रहोः । ६ । २ । वर्त्तीति ण्यन्तस्य ग्रहणम् ॥

हस्ते करण उपपदे वर्त्ति-ग्रहधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

हस्तवर्त्तं वर्त्तयति । हस्तेन वर्त्तयति ॥ हस्तग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । हस्तपर्य्यायाणामपि ग्रहणमिष्यते—करग्राहम् । पाणिग्राहम् ॥ ३९ ॥

यहां 'करणे' पद का अनुवर्त्तन है । वर्त्ति से यहां ण्यन्त 'वृतु' धातु का ग्रहण है ॥

[हस्ते] हस्त करण उपपद हो तो [वर्त्तिग्रहोः] वर्त्ति तथा ग्रह धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—हस्तवर्त्तं वर्त्तयति । हस्तग्राहं गृह्णाति । जैसे हाथ से वर्त्तता तथा ग्रहण करता हो वैसे वर्त्तता तथा ग्रहण करता है ॥ यहां हस्त के पर्य्यायों का भी ग्रहण इष्ट है । जैसे—करग्राहम् । पाणिग्राहम् ॥ ३९ ॥

स्वे पुषः[4] ॥ ४० ॥

करण इत्यनुवर्त्तते । स्वे । ७ । १ । पुषः । ५ । १ ॥ अत्र सर्वस्मिन् प्रकरणे 'पित्पर्य्यायवचनस्य [च] स्वाद्यर्थम्'[5] इति वार्त्तिकेन सर्वेषूपपदेषु पर्य्यायवचनानां ग्रहणं भवति ॥

करणवाचिषु स्वपर्य्यायेषूपपदेषु 'पुष' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. मा० सू० १५५७ ॥ २. अ० ६ । ३ । ५८ ॥
३. मा० सू० १५५८ ॥ ४. मा० सू० १५५९ ॥
५. अ० १ । १ । ६८ वा० ॥

स्व-शब्दोऽत्र [आत्मीयज्ञाति] धनपर्य्यायो गृह्यते । स्वपोषं पुष्यति । आत्मपोषं पुष्यति । पितृपोषं पुष्यति । मातृपोषं पुष्यति । रैपोषं पुष्यति । धनपोषं पुष्यति । अश्वपोषम् । गोपोषम् ।। ४० ।।

यहां 'करणे' पद का अनुवर्त्तन है । इस प्रकरण में 'वित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्' इस वार्त्तिक से सब उपपदों में पर्य्यायवाची का ग्रहण होता है ।।

करणवाची [स्वे] स्व के पर्य्याय उपपद हों तो [पुषः] 'पुष' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।। यहां स्व-शब्द आत्मा तथा ज्ञाति और धन का पर्य्यायवाची है ।।

जैसे—स्वपोषं पुष्यति । आत्मपोषं पुष्यति । पितृपोषं पुष्यति । मातृपोषं पुष्यति । रैपोषं पुष्यति । धनपोषं पुष्यति । अश्वपोषं । गोपोषं ।। ४० ।।

अधिकरणे बन्धः[1] ।। ४१ ।।

अधिकरणे । ७ । १ । बन्धः । ५ । १ ।। अधिकरणवाचिशब्दोपपदाद् 'बन्ध' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ।।

चक्रबन्धं बध्नाति । कूटबन्धं बध्नाति । मुष्टिबन्धं बध्नाति । चक्रे-कूटेमुष्टौ वा बध्नातीत्यर्थः ।। ४१ ।।

[अधिकरणे] अधिकरणवाची शब्द उपपद हो तो [बन्धः] 'बन्ध' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—चक्रबन्धं बध्नाति । कूटबन्धं बध्नाति । मुष्टिबन्धं बध्नाति ।। जैसे चक्र (पहिया) कूट तथा मुष्टि (मुट्ठी) में बांधता हो वैसे बांधता है ।। ४१ ।।

संज्ञायाम्[2] ।। ४२ ।।

अधिकरण[3] इति नानुवर्त्तते । संज्ञायाम् । ७ । १ ।।

संज्ञायां विषये सामान्योपपदाद् 'बन्ध' धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ।।

अट्टालिकाबन्धं बद्धः । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । बन्धविशेषस्य 'अट्टालिकाबन्ध' इत्यादयः संज्ञाः सन्ति ।। ४२ ।।

यहां 'अधिकरण' पद की निवृत्ति हो जाती है ।।

[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में सामान्य उपपद होने पर 'बन्ध' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—अट्टालिकाबन्धं बद्धः । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । ये बन्धविशेष के नाम हैं अर्थात् अट्टालिका (अटारी) तथा चण्डालिका के समान बांधता हो वैसे बांधता है ।। ४२ ।।

---

१. भा० सू० १५६० ।। २. भा० सू० १५६१ ।।

३. अनधिकरणार्थ आरम्भः ।।

कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः[1] ॥ ४३ ॥

कर्त्रो । ७ । २ । जीवपुरुषयोः । ७ । २ । नशिवहोः । ६ । २ ॥

यथासंख्यं कर्तृ वाचिजीव-पुरुषोपपदाभ्यां नशि-वहिधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

जीवनाशं नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः ॥ पुरुषवाहं वहति । पुरुषो वहतीत्यर्थः । 'कर्त्रोः' इति किम्—जीवेन नष्टः ॥ ४३ ॥

[कर्त्रो.] कर्तृ वाची [जीवपुरुषयोः] जीव और पुरुष उपपद हों तो यथासंख्य [नशिवहोः] नश तथा वह धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—जीवनाशं नश्यति । जीव नष्ट होता है ॥ पुरुषवाहं वहति । अर्थात् जैसे पुरुष यहां तहां वस्तु ले जाने तथा ले आने में वहता है वैसे वहता है ॥

'कर्त्रोः' ग्रहण इसलिये है कि—जीवेन नष्टः ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वे शुषिपूरोः[2] ॥ ४४ ॥

कर्तृ ग्रहणमनुवर्त्तते । ऊर्ध्वे । ७ । १ । शुषिपूरोः । ६ । २ ॥

कर्तृ वाचिन्यूर्ध्वशब्दोपपदाभ्यां शुषि-पूरिधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

ऊर्ध्वशोषं शुष्यति । ऊर्ध्वं शुष्यतीति यावत् ॥ ऊर्ध्वपूरं पूर्यते । ऊर्ध्वं पूर्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यहां 'कर्तृ' पद का अनुवर्त्तन है ॥

कर्तृ वाची [ऊर्ध्वे] ऊर्ध्व शब्द उपपद हो तो [शुषिपूरोः] शुषि तथा पूरि धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—ऊर्ध्वशोषं शुष्यति । ऊपर को सूखता हो वैसे सूखता है ॥

ऊर्ध्वपूरं पूर्यते ॥ ऊपर को पूरा होता हो वैसे पूरा होता है ॥ ४४ ॥

उपमाने कर्मणि च[3] ॥ ४५ ॥

कर्तृ ग्रहणमप्यनुवर्त्तते । उपमाने । ७ । १ । कर्मणि । ७ । १ । च । [अ०] ॥

उपमानवाचिनि कर्मणि कर्त्तरि चोपपदे सामान्यधातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

मातृघातं घातयति । गुरुसेवं सेवते । मातरमिव घातयति । गुरुमिव सेवते ॥ कर्त्तरि—बालरोदं रोदिति । बाल इव रोदिति । सिंहगर्जं गर्जति । सिंह इव गर्जति ॥ ४५ ॥

१. आ० सू० १५६२ ॥ २. आ० सू० १५६३ ॥
३. आ० सू० १५६४ ॥

यहां 'कर्त्तृ' पद का अनुवर्त्तन है ॥

[उपमाने] उपमानवाची [कर्मणि च] कर्म तथा कर्त्ता उपपद हो तो सामान्य धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मातृघायं पयति। गुरुसेवं सेवते। जैसे माता पिलाती हो वैसे पिलाती है, गुरु की सेवा के तुल्य सेवा करता है ॥

कर्त्तरि—बालरोदं रोदिति। बालक के रोने के तुल्य रोता है। सिंहगर्जं गर्जति। सिंह की गर्जना के तुल्य गर्जा ॥ ४५ ॥

कषादिषु[1] [2]यथाविध्यनुप्रयोगः ॥ ४६ ॥

कषादिषु। ७। ३। यथाविधि। [अ० ।] अनुप्रयोगः। १। १ ॥ 'निमूलसमूलयोः कषः[3]' इत्यारभ्याऽनुक्रान्ताः कषादयः ॥

कषादिषु यथाविधि यस्माद् धातोर्णमुल् विधीयते तस्य धातोरन्यप्रत्ययान्तो द्वितीयः प्रयोगः कर्त्तव्यः ॥

यथा—निमूलकाषं कषति, कषतु, कषितव्यम्, कषिता वा। ते चाऽनुप्रयोगाः[4] सर्वत्रास्माऽनुक्रान्त उदाहृताः। अस्मिन् [णमुल्] प्रकरणे णमुल्-कमुल्-खमुञ्-इत्येतेषु प्रत्ययेषु निरनुबन्धकेषु 'अम्' शिष्यते। तत्र 'अमैवाव्ययेन[5]' इत्युपपदस्यामन्तेन नित्यसमासो भवति। अग्रे तृतीयाप्रभृतिषु विकल्प उक्तस्तत्र पक्षे वाक्यमपि स्थास्यति ॥४६॥

'निमूलसमूलयोः कषः' सूत्र से लेकर यहां तक कषादि कहे हैं। [कषादिषु] कषादि में [यथाविधि] जिस धातु से णमुल् विधान किया है उस धातु का अन्य प्रत्ययान्त [अनुप्रयोगः] पीछे प्रयोग करना चाहिये ॥

जैसे—निमूलकाषं कषति, कषतु, कषितव्यम्, कषिता वा ॥ ये अनुप्रयोग सब सूत्रों में इसी प्रकार दिखाये जा चुके हैं ॥

इस प्रकरण में णमुल्, कमुल्, खमुञ् इन प्रत्ययों में अनुबन्ध रहित होने पर 'अम्' शेष रह जाता है। वहां 'अमैवाव्ययेन' इस सूत्र से उपपद का अमन्त के साथ नित्य समास होता है ॥ आगे तृतीया प्रभृतियों में विकल्प से समास कहा है, अतः पक्ष में वाक्य भी रहता है ॥ ४६ ॥

१ अ० सू० १५६५ ॥ २. यथाविधीति नियमार्थं वचनम् ॥

३. अ० ३। ४। ३४ ॥

४. "स च क्रियासमभिहारानुप्रयोगवद् व्यवधानेऽपि भवति यथा—घृतनिधायमुदकं निदधातीति" भागवृत्तिः ॥

५. अ० २। २। २० ॥

उपदंशस्तृतीयायाम्[1] ॥ ४७ ॥

उपदंशः । ५ । १ । तृतीयायाम् । ७ । १ ॥ तृतीयान्तोपपदादुपपूर्वाद् 'दंश' धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते ॥ दन्तोपदंशं भुङ्क्ते । दन्तैरुपदंशं भुङ्क्ते । विकल्पेनात्र[2] समासः ॥ ४७ ॥

[तृतीयायाम्] तृतीयान्त उपपद हो तो [उपदंश'] उपपूर्वक 'दश' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—मूलकोपदशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदशं भुङ्क्ते ॥ दन्तोपदशं भुङ्क्ते ॥ दन्तैरुपदशं भुङ्क्ते ॥ यहां विकल्प से समास होता है ॥ ४७ ॥

हिंसार्थानाञ्च समानकर्मकाणाम्[4] ॥ ४८ ॥

तृतीयायामित्यनुवर्त्तते । हिंसार्थानाम् । ६ । ३ । च । [अ० ।] समानकर्मकाणाम् । ६ । ३ ॥

हिंसा जङ्गमानां जीवानां प्राणत्याजनम्, हिंसाऽर्थो येषां ते हिंसार्थास्तेषाम् । ये चात्राऽनुप्रयुक्ता धातवस्तैः समानकर्मकाणाम्, अर्थाद्धिंसार्थस्य धातोरनुप्रयुक्तस्य चैकं कर्म स्यात्तदा, तृतीयान्तोपपदेभ्यो हिंसार्थेभ्यो धातुभ्यो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

दण्डोपघातं गाश्चालयति । नखोपघातं यूकान् गृह्णाति । अत्र हनो ग्रहणस्य [च] यूकशब्द एकं कर्मेति समानकर्मत्वम् ॥

'समानकर्मकाणाम्' इति किम्—दण्डेन वृकमुपहत्य गोपालको गाश्चालयति । अत्रोपघातस्य पूर्वकालत्वात् क्त्वा प्रत्ययो भवति । ४८ ॥

यहां 'तृतीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है । जङ्गम प्राणियों के प्राणों को छुड़ा देना हिंसा कहाती है ॥

तृतीयान्त उपपद हो तो [समानकर्मकाणाम्] अनुप्रयुक्त धातु के समान कर्म वाले [हिंसार्थानाम्] हिंसार्थक धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—दण्डोपघातं गाश्चालयति । नखोपघातं यूकान् गृह्णाति । यहां उपपूर्वक हन धातु का तथा णिजन्त चल धातु का गौ एक कर्म होने से समानकर्मत्व है, इसी प्रकार हन का तथा गृह्णाति का यूक एक कर्म है, अतः यहां समानकर्मकत्व है ॥

'समानकर्मकाणाम्' ग्रहण इसलिये है कि—दण्डेन वृकमुपहत्य गोपालको गाश्चालयति । यहां उपघात के पूर्वकाल होने से क्त्वा प्रत्यय होता है ॥ ४८ ॥

---

१. आ० सू० १५६६ ॥ २. अतः परं पूर्वकालस्य सम्बन्धः ॥
३. अ० २ । २ । २१ ॥ ४. आ० सू० १५६७ ॥

सप्तम्याञ्चोपपीडरुधकर्षः[1] ॥ ४९ ॥

तृतीयायामित्यप्यनुवर्त्तते । सप्तम्याम् । ७ । १ । च । [अ०] । उपपीडरुध[2]-कर्षः । ५ । १ ॥ उपशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते ॥

तृतीयान्तसप्तम्यन्तोपपदेभ्य उपपूर्वेभ्यः 'पीड-रुध-कर्ष' धातुभ्यो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

पार्श्वोपपीडं शेते । पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते ॥ कण्ठोपपीडं जलं पिबति । कण्ठ उपपीडं जलं पिबति ॥ पाण्युपरोधं चूर्णं पिनष्टि । पाणिभ्यामुपरोधं चूर्णं पिनष्टि ॥ हृदयोपरोधं वाक्यं वदति । हृदय उपरोधं वा । हस्तोपकर्षं काष्ठं गृह्णाति । हस्ताभ्यामुपकर्षं वा ॥ कूपोपकर्षं रज्जुं गृह्णाति । कूप उपकर्षं वा ॥ कर्ष इति गुणनिर्देशाद् भ्वादेर्ग्रहणं न तु तुदादेः ॥ ४९ ॥

यहां 'तृतीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है । उप-शब्द का पीड, रुध, कर्ष इन तीनों के साथ सम्बन्ध है ॥

[सप्तम्याञ्च] तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त उपपद हो तो [उप-पीड-रुध-कर्षः] उप-पूर्वक पीड, रुध, कर्ष धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—पार्श्वोपपीडं शेते । पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते ॥ कण्ठोपपीडं जलं पिबति । कण्ठ उपपीडं जलं पिबति ॥ पाण्युपरोधं चूर्णं पिनष्टि । पाणिभ्यामुपरोधं चूर्णं पिनष्टि ॥ हृदयोपरोधं वाक्यं वदति । हृदय उपरोधं वा ॥ हस्तोपकर्षं काष्ठं गृह्णाति । हस्ताभ्यामुपकर्षं वा ॥ कूपोपकर्षं रज्जुं गृह्णाति । कूप उपकर्षं वा ॥ 'कर्ष' इसमें गुण निर्देश से भ्वादि का ग्रहण होता है तुदादि का नहीं ॥ ४९ ॥

समासत्तौ[3] ॥ ५० ॥

सप्तम्यन्तं तृतीयान्तं चोभयमनुवर्त्तते[4] । समासत्तौ । ७ । १ ॥ समासत्तिः समीपता ॥

समासत्तौ गम्यमानायां तृतीयान्तसप्तम्यन्तोपपदात् सामान्यधातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

---

१. प्रा० सू० १५६८ ॥

२. पीडादीनां समाहारद्वन्द्वः, उपपूर्वपीडादिरित्युत्तरपदलोपी समासः, पुंस्त्वं विभक्तिव्यत्ययश्च सौत्रत्वात् ॥ 'उप' इत्येतस्य 'पीड' इत्यनेनैव सम्बन्ध इति भागवृत्तिकारः पुरुषोत्तमदेवश्च ॥

३. प्रा० से० १५६९ ॥

४. 'सप्तम्याञ्चोपपीडरुधकर्षः' इत्यत्र चकारस्यैतत् प्रयोजनम्—तृतीयायामित्यस्य निवर्त्तनं न स्यादिति, तेनात्र 'चानुकृष्टं नोत्तरत्र' इति न युज्यते । अतः स्वरितत्वादेवात्रानुवर्त्तेते सप्तम्यां तृतीयायाञ्चेति ॥

केशग्राहं, केशैर्ग्राहं युध्यन्ते । केशग्राहं, केशेषु ग्राहं युध्यन्ते । केशाकेशियुद्धेऽत्यन्तः सन्निकर्षो भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

यहां 'तृतीयायाम्' तथा 'सप्तम्याम्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ [समासत्तौ] समीपता गम्यमान होने पर तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त उपपद हों तो सामान्य धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है । जैसे—केशग्राहं, केशैर्ग्राहं युध्यन्ते । केशग्राहं, केशेषु ग्राहं युध्यन्ते, अर्थात् केशाकेशि युद्ध में अत्यन्त सन्निकर्ष होता है ॥ ५० ॥

प्रमाणे च[1] ॥ ५१ ॥

तृतीयासप्तम्योरित्युभयमनुवर्त्तते । प्रमाणे । ७ । १ । च । [अ०] । प्रमाण[2]-मियत्ता ॥

प्रमाणे गम्यमाने तृतीयान्तसप्तम्यन्तोपपदाद् धातो'र्णमुल' प्रत्ययो भवति द्व्यङ्गुल्युत्कर्षं खण्डिका[3] छिनत्ति । द्व्यङ्गुल उत्कर्षम् । द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षं वा ॥५१॥

यहां 'तृतीयायाम्' तथा 'सप्तम्याम्' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ [प्रमाणे च] प्रमाण अर्थात् इयत्ता (इतनापन) गम्यमान हो तो तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त उपपद होने पर धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है । जैसे—द्व्यङ्गुल्युत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति । द्व्यङ्गुल उत्कर्षम् । द्व्यङ्गु-लेनोत्कर्षं वा ॥ दो अङ्गुल के प्रमाण में वा दो अङ्गुल के प्रमाण से काष्ठ को काटता है ॥ ५१ ॥

अपादाने परीप्सायाम्[4] ॥ ५२ ॥

तृतीयासप्तम्योरिति निवृत्तम् । अपादाने । ७ । १ ॥ परीप्सायाम् । ७ । १ ॥ परितः सर्वत इच्छा तस्याम् ॥

परीप्सायां[5] गम्यमानायामपादानोपपदाद् धातो 'र्णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थायं धावति । पीठोत्थायं ग्रामं गच्छति । पीठादुत्थायं वा ॥

'परीप्सायाम्' इति किम्—आसनादुत्थायेतस्ततो भ्रमति ॥ ५२ ॥

यहां 'तृतीयायाम्' तथा 'सप्तम्याम्' इन दो पदों की निवृत्ति है ॥ [परीप्सायाम्] परीप्सा सब ओर से चाहना गम्यमान हो तो [अपादने] अपादान उपपद होने पर धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

---

१. आ० सू० १५७० ॥

२. आयामस्तु प्रमाणं स्यात् । अ० ५ । १ । १९ भा० ॥

३. ह्रस्वः खण्डः खण्डिका ॥ ४. आ० सू० १५७१ ॥

५. परीप्सा त्वरा, इत्यन्ये ॥

जैसे—शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थायं धावति । पीठोत्थायं ग्रामं गच्छति । पीठादुत्थायं वा ग्रामं गच्छति ॥ 'परीप्सायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—आसनादुत्थायेतस्ततो भ्रमति ॥ ५२ ॥

द्वितीयायाञ्च[1] ॥ ५३ ॥

परीप्सायामित्यनुवर्त्तते । द्वितीयायाम् । ७ । १ । च । [अ०] ॥

परीप्सायामभिधेयायां द्वितीयान्तोपपदाद् धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥

असिग्राहं युध्यन्ते । असिं ग्राहं वा । यष्टिग्राहं युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहं वा ॥

'परीप्सायाम्' इति किम्—यष्टिं गृहीत्वा भ्रमति ॥ ५३ ॥

यहां 'परीप्सायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ परीप्सा अभिधेय हो तो [द्वितीयायाम्] द्वितीयान्त उपपद होने पर धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥

जैसे—असिग्राहं युध्यन्ते । असिं ग्राहं वा । यष्टिग्राहं युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहं वा ॥ 'परीप्सायाम्' ग्रहण इसलिये है कि—यष्टिं गृहीत्वा भ्रमति ॥ ५३ ॥

स्वाङ्गेऽध्रुवे[2] ॥ ५४ ॥

द्वितीयायामित्यनुवर्त्तते, न परीप्सायाम् । स्वाङ्गे । ७ । १ । अध्रुवे । ७ । १ ॥

[अध्रुवे स्वाङ्गवाचिनि द्वितीयान्त उपपदे धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥] केशप्रसारं भुङ्क्ते ॥

'अध्रुवे' इति किम्—शिरः प्रकम्प्य वाक्यं वदति ॥ यदेकस्मिन्ञ्छरीरे सदा न स्थीयते तदध्रुवम्[3] । केशास्तु कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न ॥ ५४ ॥

यहां 'द्वितीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है, परीप्सा का नहीं ॥ [अध्रुवे] अध्रुव अर्थात् अस्थिर [स्वाङ्गे] स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद हो तो धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—केशप्रसारं भुङ्क्ते ॥ 'अध्रुवे' ग्रहण इसलिये है कि—शिरः प्रकम्प्य वाक्यं वदति । जो एक शरीर में सदा नहीं रहता वह अध्रुव कहाता है, यहां इस उदाहरण में केश कभी होते हैं कभी नहीं, शरीर बना रहता है अतः केश अध्रुव हैं ॥ ५४ ॥

परिक्लिश्यमाने च[4] ॥ ५५ ॥

स्वाङ्गे द्वितीयायामित्यनुवर्त्तते । परिक्लिश्यमाने । ७ । १ । च । [अ०] । परिक्लेशोऽतिदुःखम् ॥

---

१. का० सू० १५७२ ॥　　२. का० सू० १५७४ ॥

३. अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थ० (अ० ४ । १ । ५४ । का०) ॥ यस्मिन्नङ्गे छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियत इत्यन्ये ॥

४. का० सू० १५७५ ॥

परिक्लिश्यमाने[1] द्वितीयान्तस्वाङ्ग उपपदे धातो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ।।

शिरस्त्रोटं युध्यन्ते । पाणिच्छेदं युध्यन्ते । पाणि छेदं वा ।।

अध्रुवे पूर्वेण सिद्ध, ध्रुवार्थोऽयमारम्भः ।। 'परिक्लिश्यमाने' इति किम्—शिरः प्रकम्प्य व्रजति ।। ५५ ।।

यहां 'स्वाङ्गे' तथा 'द्वितीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ।। [परिक्लिश्यमाने] अति दुःख को प्राप्त स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद हो तो धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—शिरस्त्रोटं युध्यन्ते । पाणिच्छेदं युध्यन्ते । पाणि छेदं वा ।।

पूर्वसूत्र अध्रुव स्वाङ्गवाची के विषय में था, यह ध्रुव स्वाङ्ग के लिये है ।। 'परिक्लिश्यमाने' ग्रहण इसलिये है कि—शिरः प्रकम्प्य व्रजति ।। ५५ ।।

विशिपतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानाऽऽसेव्यमानयोः[2] ।। ५६ ।।

द्वितीयायामित्यनुवर्त्तते । विशिपतिपदिस्कन्दाम् । ६ । ३ । व्याप्यमानासेव्यमानयोः । ७ । २ ।। क्रियया साकल्येन सम्बन्धो व्याप्तिः । क्रियायाः पौनःपुन्यमासेवा ।। तत् क्रियमाणयोः कर्त्रोरभिधेययोर्द्वितीयान्तोपपदेभ्यो विश्यादिधातुभ्यो 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ।।

गेहं गेहमनुप्रविश्य गेहानुप्रवेशमास्ते[3] । असमासपक्षे—गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते ।। आसेव्यमाने—राजसभाप्रवेशमास्ते । राजसभां [मनुप्रवेशमनुप्रवेशं] वा ।। [पति]—गेहानुप्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते । गेहानुप्रपातमास्ते । गेह[मनुप्रपातमनुप्रपातं] वा ।। पदि—गेहानुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादं वा । गेहानुप्रपादमास्ते । गेह[मनुप्रपादमनुप्रपादं] वा ।। [स्कन्दि]—गेहावस्कन्दमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दं वा । गेहावस्कन्दमास्ते । गेह[मवस्कन्दमवस्कन्दं] वा ।।

'व्याप्यमानासेव्यमानयोः' इति किम्—गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते ।। आभीक्ष्ण्यमासेवा चेत्यनर्थान्तरम् ।। आभीक्ष्ण्ये यो णमुल् विधीयते तत्रोपपदनियमो नास्ति । अत्रोपपदनियमेन विकल्पेन तृतीयाप्रभृतावुपपदसमासः सिद्धो भवति ।। ५६ ।।

यहां 'द्वितीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ।। क्रिया के साथ सम्पूर्णता से सम्बन्ध होना 'व्याप्ति' कहाती है, बार बार करना 'आसेवा' कहाती है ।।

[व्याप्यमानासेव्यमानयोः] व्याप्ति तथा आसेवा का करने वाला कर्त्ता अभिधेय हो तो द्वितीयान्त उपपद होने पर [विशि० स्कन्दाम्] विशि, पति, पदि, स्कन्द इन धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।।

---

१. परिक्लिश्यमाने इत्यत्र 'क्लिशू विबाधने' इत्यस्य ग्रहणम्, न तु 'क्लिश उपतापे' इत्यस्य ।।

२. श्रा० सू० १५७६ ।।

३. समासेन व्याप्त्यासेवयोरुक्तत्वात् 'नित्यवीप्सयोः' (अ० ८ । १ । ४) इति द्वित्वं न भवति, समासः स्वभावत एतयोरर्थयोरभिधानं करोति 'सप्तपर्णः' इति यथा ।।

जैसे—गेहं गेहमनुप्रविश्य=गेहानुप्रवेशमास्ते । असमासपक्षे—गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते ।। आसेव्यमाने राजसभाप्रवेशमास्ते । राजसभामनुप्रवेशमनुप्रवेशं वा ।।

पति—गेहानुप्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते । गेहानुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातं वा ।। पदि—गेहानुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादमास्ते । गेहानुप्रपादमास्ते । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादं वा ।। स्कन्दि—गेहावस्कन्दमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दं वा । गेहावस्कन्दमास्ते । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दं वा ।।

'आभीक्ष्ण्यमानासेव्यमानयोः' ग्रहण इसलिये है कि—गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते ।। आभीक्ष्ण्य और आसेवा ये पर्य्यायवाची हैं। आभीक्ष्ण्य अर्थ में जो णमुल् विधान किया है उसमें उपपद का नियम नहीं, इस सूत्र में उपपद के नियम से तृतीयाप्रभृति होने से विकल्प करके उपपद समास सिद्ध हो जाता है ।। ५६ ।।

अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु[1] ।। ५७ ।।

द्वितीयान्तग्रहणमनुवर्त्तते । अस्यतितृषोः । ६ । २ । क्रियान्तरे । ७ । १ । कालेषु । ७ । ३ ।। क्रियाया अन्तरं व्यवधानं[2] तस्मिन् । कालेष्विति द्वितीयान्तेन सह सम्बध्यते ।।

क्रियान्तरे गम्यमाने कालवाचिषु द्वितीयान्तेषूपपदेषु सत्सु अस्यति-तृषिधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ।।

द्व्यहात्यासं पशून् पाययति । द्व्यहमत्यासं वा ।। द्व्यहतर्षं पशून् पाययति । द्व्यहं तर्षं वा । अत्र पानक्रियाया द्वे अह्नी व्यवधानम् ।

'अस्यतितृषोः' इति किम्—द्व्यहं लङ्घयित्वा भुङ्क्ते ।। 'क्रियान्तरे' इति किम्—अहरत्यस्य रात्रौ भुङ्क्ते[3] ।। 'कालेषु' इति किम्—योजनमत्यस्य पशून् पाययति ।। ५७ ।।

यहां 'द्वितीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है । 'कालेषु' पद का सम्बन्ध द्वितीयान्त के साथ है ।।

[क्रियान्तरे] क्रिया का व्यवधान हो तो [कालेषु] कालवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर [अस्यतितृषोः] अस्यति तथा 'तृष' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ।।

जैसे—द्व्यहात्यासं पशून् पाययति । द्व्यहमत्यासं वा । द्व्यहतर्षं पशून् पाययति । द्व्यहं तर्षं वा ।। यहां पानक्रिया में दो दिन का व्यवधान है अर्थात् दो दिन छोड़कर पशुओं को पानी पिलाता है ।।

'अस्यतितृषोः' ग्रहण इसलिये है कि—द्व्यहं लङ्घयित्वा भुङ्क्ते यहां 'लघि' क्रिया का व्यवधान है अतः णमुल् नहीं होता ।। 'क्रियान्तरे' ग्रहण इसलिये है कि—अहरत्यस्य रात्रौ

१. आ० सू० १५७७ ।।

२. क्रियामन्तरयति इति क्रियान्तरः, क्रियाव्यवधायक इत्यन्ये ।।

३. सर्वं दिनमत्यसनक्रियां कृत्वा, अव्यवधानेन भोजनं करोतीत्यर्थः ।।

भुङ्क्ते । यहां दिन का व्यवधान है न कि क्रिया का ॥ 'कालेषु' ग्रहण इसलिये है कि—क्रोशमयमत्यस्य पशून् पाययति यहां अध्ववाची द्वितीयान्त उपपद है अतः णमुल् न होकर क्त्वा हो जाता है ॥ ५७ ॥

नाम्न्यादिशिग्रहोः[1] ॥ ५८ ॥

द्विती[या]यामित्यनुवर्त्तते । नाम्नि । ७ । १ । आदिशिग्रहोः । ६ । २ ॥

द्वितीयान्तनामशब्दोपपदाभ्यामाङ्पूर्वदिशि[2]-ग्रहधातुभ्यां 'णमुल्' प्रत्ययो भवति ॥ नामादेशमाचष्टे । नामग्राहमाचष्टे ॥ ५८ ॥

यहां 'द्वितीयायाम्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ द्वितीयान्त [नाम्नि] नाम शब्द उपपद हो तो [आदिशिग्रहोः] आङ्-पूर्वक दिश तथा ग्रह धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—नामादेशमाचष्टे । नामग्राहमाचष्टे । नाम का उच्चारण करके अथवा नाम लेकर के कहता है ॥ ५८ ॥

अव्ययेऽयथाऽभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ[3] ॥ ५९ ॥

द्वितीयायामिति निवृत्तम्, णमुल् च ॥ अव्यये । ७ । १ । अयथाऽभिप्रेताख्याने । ७ । १ । कृञः । ५ । १ । क्त्वाणमुलौ । १ । २ ॥

अभिप्रेतस्येष्टस्याख्यानं यथा कर्त्तव्यं तथा [न] भवतीत्ययथाभिप्रेताख्यानम् । अयथाऽभिप्रेताख्याने गम्यमानेऽव्ययोपपदात् 'कृञ्' धातोः क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥

उच्चैःकृत्य वदति । उच्चैः कृत्वा वदति ॥ उच्चैःकारं वदति ॥ यदभिप्रेतं तस्याख्यानं न [तथा[4]] करोतीत्यर्थः ॥ सामान्यविहितः क्त्वा प्रत्ययोऽत्रापि स्यात् पुनर्विधानस्यैतत् प्रयोजनं—'क्त्वा च'[5] इति तृतीयाप्रभृतौ विकल्पेनोपपदसमासो यथा स्यात् ॥

'अयथाऽभिप्रेताख्याने' इति किम्—उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टे पुत्रस्ते जात इति ॥५९॥

यहां 'द्वितीयायाम्' पद का निवर्त्तन है [अयथाभिप्रेताख्याने] अयथाऽभिप्रेताख्यान (अभिप्रायविरुद्ध अर्थात् इष्ट की तरह न बोलना) अर्थ गम्यमान हो तो [अव्यये] अव्यय उपपद होने पर [कृञः] 'कृञ्' धातु से [क्त्वाणमुलौ] क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—उच्चैःकृत्य वदति । उच्चैःकृत्वा वदति । उच्चैःकारं वदति ॥ अर्थात्—जैसे कहना चाहिये वैसे नहीं कहता । अप्रिय बात नीचे स्वर से कही जाती है उसे नीचे स्वर से न कह कर ऊंचे स्वर से कहता है ॥

---

१. भा० सू० १५७८ ॥

२. आङो दिशतिना सम्बन्धः, आङ्पूर्वो दिशतिरुच्चारणे ॥

३. भा० सू० १५७९ ॥

४. अप्रियमुच्चैर्वदति, प्रियं वा नीचैः कृत्वा वदतीत्यर्थोऽभिप्रेतः ॥

५. अ० २ । २ । २२ ॥

सामान्यविहित क्त्वा प्रत्यय यहां भी हो ही जाता पुन. क्त्वा प्रत्यय के विधान का यह प्रयोजन है कि—'क्त्वा च' इस सूत्र से तृतीयाप्रभृति उपपदों में विकल्प से समास हो जावे ॥ 'अयथाभिप्रेताख्यान' ग्रहण इसलिये है कि—उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टे पुत्रस्ते जात इति ॥ ५९ ॥

तिर्यच्यपवर्गे[1] ॥ ६० ॥

'क्त्वाणमुलावनुवर्त्तेते कृञश्च ॥ तिर्यचि । ७ । १ । अपवर्गे । ७ । १ । अपवर्गः समाप्तिः । तिरश्चीति[2] प्राप्ते सौत्रो निर्देशः ॥

अपवर्गे गम्यमाने तिर्यगुपपदात् 'कृञ्' धातोः क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥

तिर्य्यक्कृत्य पाकं गतः । तिर्यक्कृत्वा पाकं गतः । तिर्यक्कारं पाकं गतः । समाप्य गत इत्यर्थः ॥

'अपवर्गे' इति किम्—तिर्य्यक्कृत्वा यष्टिं गतः । वक्रामित्यर्थः ॥ ६० ॥

यहां 'क्त्वाणमुलौ' तथा 'कृञ्' पदों का अनुवर्त्तन है। अपवर्ग समाप्ति को कहते हैं। तिरश्चि ऐसा प्राप्त था परन्तु सूत्रनिर्देश से तिर्य्यचि पद शुद्ध है ॥

[अपवर्गे] अपवर्ग = समाप्ति गम्यमान हो तो [तिर्यचि] तिर्यक् उपपद होने पर 'कृञ्' धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—तिर्य्यक् कृत्य पाकं गतः । तिर्य्यक् कृत्वा पाकं गतः । तिर्यक्कारं पाकं गतः । अर्थात् पाक को समाप्त करके गया ॥ 'अपवर्गे' ग्रहण इसलिये है कि—तिर्य्यक् कृत्वा यष्टिं गतः । अर्थात् लाठी टेढ़ी करके गया ॥ ६० ॥

स्वाङ्गे तस् प्रत्यये कृभ्वोः[3] ॥ ६१ ॥

क्त्वाणमुलावनुवर्त्तेते । स्वाङ्गे । ७ । १ । तस्प्रत्यये । ७ । १ । कृभ्वोः । ६ । २ ॥ तस् प्रत्ययो यस्मात्तस्मिन्[4] ।

तस्-प्रत्ययान्तस्वाङ्गवाचिशब्दोपपदाभ्यां कृ-भूधातुभ्यां क्त्वा-णमुलौ[5] प्रत्ययौ भवतः ॥

मुखतःकृत्य । मुखतःकृत्वा । मुखतःकारम् । पाणितःकृत्य ॥ पाणितःकृत्वा । पाणितःकारम् । मुखतोभूय । मुखतो भूत्वा । मुखतोभावम् 'स्वाङ्गे' इति किम्—विश्वतः कृत्वा । विश्वतो भूत्वा ॥ 'तस्प्रत्यये' इति किम्—मुखीकृत्य । मुखीभूय[6] ॥ ६१ ॥

१. आ० सू० १५८० ॥

२. अत्र भाष्यम्—अयुक्तोऽयं निर्देशः तिरश्चीति भवितव्यम् । सौत्रोऽयंनिर्देशः ॥

३. आ० सू० १५८१ ॥ ४ बहुव्रीहि कर्मधारयो वेति पदमञ्जरी ॥

५. कृभ्वोरिति लक्षणाव्यभिचारचिह्नात्, अस्वरितत्वाद्वात्र यथासंख्याभावः ॥

६. अत्र वृत्तिकारः—प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् । मुखे तस्यतीति मुखतः कृत्वा गतः ॥ वस्तुतस्तु—'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवतीति परिभाषया, प्रत्यया-

यहां 'क्त्वाणमुलौ' पद का अनुवर्तन है ॥ [तस्प्रत्यये] तस्प्रत्ययान्त [स्वाङ्गे] स्वाङ्गवाची शब्द उपपद होने पर [कृभ्वोः] कृ तथा भू धातुओं से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे — मुखतःकृत्य । मुखतः कृत्वा । मुखतःकारम् ॥ पाणितःकृत्य । पाणितः कृत्वा । पाणितःकारम् ॥ भू — मुखतोभूय । मुखतो भूत्वा । मुखतोभावम् ॥ 'स्वाङ्गे' ग्रहण इसलिये है कि — विश्वतः कृत्वा । विश्वतो भूत्वा ॥ 'तस्प्रत्यये' ग्रहण इसलिये है कि — मुखीकृत्य । मुखीभूय । यहां न हो ॥ ६१ ॥

नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे[1] ॥ ६२ ॥

कृभ्वोः, क्त्वाणमुलावित्यनुवर्त्तते । नाधार्थप्रत्यये । ७ । १ । च्व्यर्थे । ७ । १ ॥ नाधयोः प्रत्यययोरर्थ इवार्थो येषां ते नाधार्थाः, नाधार्थाः प्रत्यया यस्मात्तस्मिन् ॥

च्व्यर्थे नाधार्थप्रत्ययोपपदाभ्यां कृ-भूधातुभ्यां क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ अनाना नाना कृत्वा—नानाकृत्य । नाना कृत्वा । नानाकारम् ॥ विनाकृत्य । विना कृत्वा । विनाकारम् ॥ अनाना नाना भूत्वा-नानाभूय । नाना भूत्वा । नानाभावम् ॥ विनाभूय । विना भूत्वा । विनाभावम् ॥ धार्थोपपदाभ्याम्—अद्विधा द्विधा कृत्वा द्विधाकृत्य । द्विधा कृत्वा । द्विधाकारम् । द्वैधंकृत्य । द्वैधं कृत्वा । द्वैधंकारम् । अद्विधा द्विधा भूत्वा-द्विधाभूय । द्विधा भूत्वा । द्विधाभावम् ॥ द्वैधंभूय । द्वैधं भूत्वा । द्वैधंभावम्[2] ॥

प्रत्यय-ग्रहणं किम्—पृथक्कृत्वा ॥ 'च्व्यर्थे' इति किम्—नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ॥ ६२ ॥

यहां 'कृभ्वोः' तथा 'क्त्वाणमुलौ' इन पदों का अनुवर्तन है ॥ ना तथा धा प्रत्ययों के अर्थ के समान अर्थ हैं जिनके वे नाधार्थ कहाते हैं ॥

[च्व्यर्थे] च्वि के अर्थ में वर्त्तमान [नाधार्थप्रत्यये] नाधार्थप्रत्ययान्त शब्द उपपद हों तो कृ तथा भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—अनाना नाना कृत्वा = नानाकृत्य, नाना कृत्वा, नानाकारम् ॥ विनाकृत्य, विना कृत्वा, विनाकारम् ॥ अनाना नाना भूत्वा = नानाभूय, नाना भूत्वा, नानाभावम् ॥

प्रत्ययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति परिभाषया वा प्रत्ययग्रहणमत्र व्यर्थमित्यपि वक्तुं सुशकम् । व्यर्थं सज्ज्ञापयति प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणमित्यनित्येयं परिभाषा ॥

१. ग्रा० सू० १५८२ ॥

२ अर्थ ग्रहणेन—धमुञन्तात् स्वार्थे डदर्शनम् (अ० ५ । ३ । ४५ वा०) इति वार्त्तिक-विहितस्य ड प्रत्ययान्तस्यापि द्वैधशब्दस्यात्र ग्रहणम् । द्वैधंकृत्य, द्वैधं कृत्वा, द्वैधंकारमिति ॥ तथा च न्यासः—वयं तु ब्रूमो नार्थमप्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यमेव । तथाहि द्वौ नाप्रत्ययौ । एको निरनुबन्धकः । द्वितीयः सानुबन्धकः । तत्रासत्यर्थग्रहणे निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्येति नाप्रत्ययस्यैव ग्रहणं स्यात् । न सानुबन्धस्य नाञः । अर्थग्रहणे तु सति तस्यापि ग्रहणं भवति ॥

विनाभूय, विना भूत्वा, विनाभावम् ।। धार्थोपपदाभ्याम्—अद्विधा द्विधा कृत्वा = द्विधाकृत्य, द्विधा कृत्वा, द्विधाकारम् ।। द्वैधं कृत्य, द्वैधं कृत्वा, द्वैधंकारम् । अद्विधा द्विधा भूत्वा — द्विधा भूय, द्विधा भूत्वा, द्विधाभावम् ।। द्वैधं भूय, द्वैध भूत्वा, द्वैधंभावम् ।।

प्रत्ययग्रहण इसलिये है कि—पृथक्कृत्वा । यहां न हो ।। 'च्व्यर्थे' ग्रहण इसलिये है कि—नाना कृत्वा काष्ठानि गतः । अर्थात् लकडियों को पृथक् पृथक् करके चला गया ।। ६२ ।।

तूष्णीमि भुवः[1] ।। ६३ ।

क्त्वा-णमुलावनुवर्त्तेते । तूष्णीमि । ७ । १ । भुवः । ५ । १ ।। कृञो निवृत्त्यर्थमत्र भूग्रहणम् ।।

तूष्णीमि शब्दोपपदाद् 'भू' धातोः क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ भवतः ।।

तूष्णींभूय । तूष्णींभूत्वा । तूष्णींभावं गतः ।। ६३ ।।

यहां 'क्त्वाणमुलौ' पद का अनुवर्तन है । इस मे भू ग्रहण कृञ् की निवृत्ति के लिये है ।।

[तूष्णीमि] तूष्णीं शब्द उपपद हो तो [भुवः] भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ।।

जैसे—तूष्णींभूय, तूष्णीं भूत्वा, तूष्णींभावं गतः ।। ६३ ।।

अन्वच्यानुलोम्ये[2] ।। ६४ ।।

भुव इत्यनुवर्त्तते, क्त्वाणमुलौ च । अन्वचि । ७ । १ । आनुलोम्ये । ७ । १ ।। अत्राप्यनूचीति प्राप्ते सौत्रो[3] निर्देशः ।।

आनुलोम्येऽनुकूलत्वे गम्यमानेऽन्वगुपपदाद् 'भू' धातोः क्त्वा-णमुलौ प्रत्ययौ भवतः ।।

अन्वग्भूय राजसभामध्यास्ते । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावं वा ।।

'आनुलोम्ये' इति किम्—अन्वग्भूत्वा व्रजति ।। ६४ ।।

यहां 'भुव' तथा 'क्त्वाणमुलौ' पदों का अनुवर्तन है । यहां भी 'अनूचि' ऐसा प्राप्त था परन्तु 'अन्वचि' यह सौत्र निर्देश है ।।

[आनुलोम्ये] अनुकूलता अर्थात् दूसरे के चित्त की प्रसन्नता रखना अर्थ गम्यमान हो तो [अन्वचि] अन्वक् शब्द उपपद होने पर 'भू' धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ।।

जैसे—अन्वग्भूय राजसभामध्यास्ते । अन्वग्भूत्वा, अन्वग्भावं वा ।।

'आनुलोम्य' ग्रहण इसलिये है कि—अन्वग्भूत्वा व्रजति यहां पीछे होकर जाना है, इस अर्थ के होने से क्त्वा और णमुल् नहीं होते ।। ६४ ।।

---

१. अ० सू० १५८३ ।। २. अ० सू० १५८४ ।।

३. अत्र भाष्यम्—अयुक्तोऽयं निर्देशः । अनूचीति भवितव्यम् । सौत्रोऽयं निर्देशः ।।

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्[1] ॥ ६५ ॥

क्त्वाणमुल् प्रकरणं निवृत्तम् । शक० स्त्यर्थेषु । ७ । ३ । तुमुन् । १ । १ ॥ अस्त्यर्थास्त्रयः । अस्ति । भवति । विद्यते ॥

[2]शकादिधातुप्रयोगेषूपपदेषु धातुमात्रात् 'तुमुन्' प्रत्ययो भवति ॥

शक्नोति योद्धुम् । शक्नोति पक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति पठितुम् । ग्लायति गन्तुम् । घटते शयितुम् । आरभते लेखितुम् । लभते खादितुम् । क्रमते रचितुम् । सहते क्रोष्टुम् । अर्हति पाठयितुम् ॥ अस्त्यर्थेषु—अस्ति त्रोटितुं दण्डः । भवति पालयितुं राजा । विद्यन्ते वोढुं काष्ठानि[3] ॥ ६५ ॥

यहां 'क्त्वाणमुलौ' का प्रकरण समाप्त हुआ । अस्त्यर्थ पद से अस्ति, भवति और विद्यते का ग्रहण है ॥

[शक० स्त्यर्थेषु] शक, धृष, ज्ञा, ग्ला, घट, रभ, लभ, क्रम, सह, अर्ह, अस्त्यर्थ उपपद हों तो धातुमात्र से [तुमुन्] 'तुमुन्' प्रत्यय होता है ॥

जैसे—शक्नोति योद्धुम् । शक्नोति पक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति पठितुम् । ग्लायति गन्तुम् । घटते शयितुम् । आरभते लेखितुम् । लभते खादितुम् । क्रमते रचितुम् । सहते क्रोष्टुम् । अर्हति पाठयितुम् ॥ अस्त्यर्थेषु—अस्ति त्रोटितुं दण्डः । भवति पालयितुं राजा । विद्यन्ते वोढुं काष्ठानि ॥ ६५ ॥

पर्य्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु[3] ॥ ६६ ॥

तुमुन्नित्यनुवर्त्तते । पर्य्याप्तिवचनेषु । ७ । ३ । अलमर्थेषु । ७ । ३ । पर्य्याप्तिः सामर्थ्यमुच्यते यैस्ते पर्य्याप्तिवचनास्तेषु ॥

पर्य्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषूपपदेषु धातोः 'तुमुन्' प्रत्ययो भवति ॥

पर्य्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् ॥

'पर्य्याप्तिवचनेषु' इति किम्—अलं कृत्वा ॥ 'अलमर्थेषु' इति किम्—पर्य्याप्तं भुङ्क्ते[4] ॥ ६६ ॥

यहां 'तुमुन्' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [पर्य्याप्तिवचनेषु] सामर्थ्य को कहने वाले [अलमर्थेषु] अलमर्थ उपपद होने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है ॥

१. भा० सू० १३२८ ॥

२. अक्रियार्थोऽयमारम्भः ॥ अक्रियार्थेष्वपि शकादिषु तुमुन् यथा स्यात् । शक्नोति-धृष्णोति-जानाति भोक्तुम् । अत्रैते धातवोऽनेकार्थत्वात् प्रावीण्यं द्योतयन्ति ॥ ग्लायति भोक्तुम् । अयाशक्तिं द्योतयति ॥ घटयति भोक्तुम् । अर्हति भोक्तुम् । तद्योग्यतामात्रं द्योतयत ॥ आरभते-प्रक्रमते-उत्सहते भोक्तुम् इत्येत आदिप्रयत्नमाचक्षते ॥ लभते भोक्तुम् । अप्रत्याख्यानम् ॥ अस्ति-भवति-विद्यते भोक्तुम् । इत्यादौ सम्भवमात्रम् ॥

३. भा० सू० १३२९ ॥

४. प्रभूतत्वमात्रमिह गम्यते न तु सामर्थ्यम् ॥

जैसे—पर्य्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् ॥

'पर्य्याप्तिवचनेषु' ग्रहण इसलिये है कि अलं कृत्वा यहां निषेधार्थक है ॥ 'अलमर्थेषु' ग्रहण इसलिये है कि 'पर्य्याप्तं भुङ्क्ते' यहां न हो ॥ ६६ ॥

कर्त्तरि कृत्[१] ॥ ६७ ॥

'कृदतिङ्[२]' इत्यध्यायस्यास्य प्रथमपादे कृत्संज्ञा कृता तस्या इदानीमभिधान-मुच्यते । कर्त्तरि । ७ । १ । कृत् । १ । १ ॥

अस्मिन् तृतीयाध्याये धातोः प्रत्ययविधाने सामान्यविहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कर्त्तरि भवन्ति । विशेषविहिताश्चास्य सूत्रस्य बाधका भविष्यन्ति । यथा सामान्य-विहितेषु । कर्त्ता । कारकः । नन्दनः । ग्राही । पचः ॥ विशेषविहितेषु—'घः कर्मणि ष्ट्रन्[३]' दाम्न्यादिभ्यः करणे[४], इत्यादयोऽस्य बाधकाः ॥ ६७ ॥

इस अध्याय के प्रथम पाद में 'कृदतिङ्' इस सूत्र से कृत्संज्ञा का विधान किया है । अब वह कृत्संज्ञक प्रत्यय किस अर्थ में होते हैं, इसका विधान किया जाता है ॥

इस तृतीयाध्याय में धातु से प्रत्यय विधान में सामान्य विहित [कृत्] कृत्संज्ञक प्रत्यय [कर्त्तरि] कर्त्ता में होते हैं, विशेष विहित इस [कर्त्तरि कृत्] सूत्र के बाधक होंगे ॥

जैसे—सामान्यविहितों में—कर्त्ता । कारकः । नन्दनः । ग्राही । पचः । विशेष विहितों में—'धः कर्मणि ष्ट्रन्' दाम्नी० नहः करणे' इत्यादि बाधक हैं ॥ ६७ ॥

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा[५] ॥ ६८ ॥

वक्ष्यमाणेन 'तयोरेव०[६]' इति सूत्रेण भावकर्मणोरेव प्राप्ताः कृत्याः कर्त्त[रि] विकल्प्यन्ते । भव्य० पात्याः । १ । ३ । वा । [अ०] ॥

भव्यादयः कृत्यप्रत्ययान्ताः शब्दा विकल्पेन कर्त्तरि निपात्यन्ते, पक्षे [यथाप्राप्तं भावकर्मणोः] ॥

भव्यः पुत्रः । भव्यं पुत्रेण । अत्र पक्षे भावे यत्, अनभिहिते कर्त्तरि तृतीया ॥ गेयो माणवकः साम्नाम् । गेयानि माणवकेन सामानीति वा ॥ प्रवचनीयो ब्राह्मणो व्याकरणस्य । प्रवचनीयं ब्राह्मणेन व्याकरणम् ॥ जायतेऽसौ जन्यः पुत्रः । जन्यं पुत्रेण वा ॥ अत्र पक्षे भावे यत् ॥ आप्लाव्यो देवदत्तः । आप्लाव्यं देवदत्तेन वा ॥ आपात्यो बालः । आपात्यं बालेन वा[७] ॥ ६८ ॥

---

१. प्रा० सू० ९१३ ॥ २. अ० ३ । १ । ९३ ॥
३. अ० ३ । २ । १८१ ॥ ४ दाम्नीशस० करणे (अ० ३ । २ । १८२) ॥
५. प्रा० सू० ९७२ ॥ ६. अ० ३ । ४ । ७० ॥

७. 'रजनीयकोपनीयमोहनीयेति भव्यगेयादिपाठात्कर्त्तरि कृत्य इति, वाचस्पतिमिश्रः । यद्यपि भव्यगेयादीनां नियतानामेव सूत्रेण पाठान्नाकृतिगणोऽयम् । तथापि शिष्टप्रयोगप्राचुर्य्यात्तत्र पाठो

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इस अगले सूत्र से कृत्यप्रत्यय भावकर्म में प्राप्त थे अतः यहां कर्त्ता में विकल्प करके विधान करते हैं ॥ [भव्य० पात्याः] भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य, आपात्य ये शब्द [वा] विकल्प से कर्त्ता में निपातन हैं । पक्ष में यथाप्राप्त भाव और कर्म में होते हैं ॥

जैसे—भव्यः पुत्रः । भव्यं पुत्रेण । यहां पक्ष में भाव में यत् के होने से अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है ॥ गेयो माणवकः साम्नाम् । गेयानि माणवकेन सामानीति वा ॥ प्रवचनीयो ब्राह्मणो व्याकरणस्य । प्रवचनीयं ब्राह्मणेन व्याकरणम् । जायतेऽसौ जन्यः । जन्यं पुत्रेण वा । यहां पक्ष में यत् हो जाता है । आप्लाव्यो देवदत्तः । आप्लाव्यं देवदत्तेन वा । आपात्यो बालः । आपात्यं बालेन वा ॥ ६८ ॥

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः[1] ॥ ६९ ॥

'कर्तृ'ग्रहणमप्यनुवर्त्तते ॥ लः[2] । १ । ३ । कर्मणि । ७ । १ । च । [अ०] । भावे । ७ । १ । च । [अ०] । अकर्मकेभ्यः । ५ । ३ ॥ अकर्मकग्रहणात् सकर्मका अपि धातव आक्षिप्यन्ते ॥

सकर्मकेभ्यो धातुभ्यो लकाराः कर्मणि भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च, अकर्मकेभ्यो भावे भवन्ति द्वितीयचकारात् कर्त्तरि च ॥

पठ्यते विद्या ब्राह्मणेन । पठति विद्यां ब्राह्मणः । अकर्मकेभ्यः—आस्यते देवदत्तेन । शय्यते देवदत्तेन । आस्ते देवदत्तः । शेते देवदत्तः ॥ 'कर्त्तरि कृत्'[3] इति कर्त्तरि प्राप्ता बाध्यन्ते । सकर्मकेभ्यो भावे[4] न भवन्तीति नियमः ॥ ६९ ॥

प्रवृत्यः । पाणिनिनैव कर्मप्रवचनीया इत्यनेन व्यभिचारस्य दर्शितत्वादित्युपयमाचार्यः । न च प्रवचनीय-शब्दस्योक्तसूत्रे पाठादसंस्कृतमेवैतदिति वाच्यम् । वर्तमानार्थ एव तद्विधानात् । कर्म-प्रवचनीयैरत्र तु भूते तत्स्येष्टत्वात् । अत एव तत्र बाहुलकाद् भूते कर्तर्यनीयरिति कैय्यटादिभिर्व्या-ख्यातम् ॥

१. आ० सू० ५ ॥

२. ल इत्युत्सृष्टानुबन्धकस्येह ग्रहणम् ॥ द्विविधो लकारस्तिङ्भावी-अतिङ्भावी च । तत्र तिङ्भाविन कृत्सञ्ज्ञानिषेधात्, 'कर्त्तरि कृत्' इत्यस्यानुपस्थानात् स्वार्थे भावे विधानं प्राप्नोति । अतिङ्भाविनस्तु 'कर्त्तरि कृत्' इति वचनात् कर्त्तर्येव साधुत्वं प्राप्नोतीति वचनम्, अत इदमारभ्यते ॥

अत्र भाष्यम्—किमर्थमिदमुच्यते । लग्रहणं क्रियते सकर्मकनिवृत्त्यर्थम् ॥ सकर्मकाणां भावे मा भूदिति ॥

३. उच्चारणार्थाकारेण सूत्रे 'लस्य' (अ० ३ । ४ । ७७) इति षष्ठ्यर्थैकवचनवत् प्रथमैक-वचनं जातौ, 'एतावांश्च लो यदुत परस्मैपदम्' (अ० १ । ४ । ९९ भाष्ये) इत्याहुः ॥ केचिल्ल इति प्रथमां व्याचक्षतेऽपरे षष्ठीं लस्य य आदेश इति कैय्यटः (अ० ३ । ४ । ६९) ॥

४. अ० ३ । ४ । ६७ ॥

५. अत्र भाषावृत्तिः—भावेऽपि हि प्रत्यये सकर्मकाद् धातोः पश्चात् कर्मसम्बन्धो भवत्येव पाकः ओदनस्य । कटं कृत्वा शेते । गम्यते मया ग्राममिति भाषवृत्तावुक्तम् (पृ० १८९) ॥

यहां 'कर्त्तरि' पद का अनुवर्त्तन है ॥ इस सूत्र में अकर्मक ग्रहण से सकर्मक धातुओं का भी आक्षेप अर्थात् ग्रहण होता है ॥

सकर्मक धातुओं से लकार [कर्मणि] कर्म में होते हैं [च] चकार से कर्त्ता में भी होते हैं, [अकर्मकेभ्यः] अकर्मकों से [भावे] भाव में तथा द्वितीय [च] चकार से कर्त्ता में भी होते हैं ॥

जैसे—पठ्यते विद्या ब्राह्मणेन । पठति विद्यां ब्राह्मणः ॥ अकर्मकों से—आस्यते देवदत्तेन । शय्यते देवदत्तेन । आस्ते देवदत्तः । शेते देवदत्तः ॥ 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र से कर्त्ता में प्राप्त थे उनका बाधन किया है । और सकर्मकों से भाव में नहीं होते, यह नियम भी किया है ॥ ६९ ॥

तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः[1] ॥ ७० ॥

भावे चाकर्मकेभ्य इत्यनुवर्त्तते ॥ तयोः । ७ । २ । एव । [अ०] । कृत्यक्तखलर्थाः । १ । ३ ॥ एवकारः कर्त्तरीति निवृत्यर्थः । कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च ते ॥ 'कर्त्तरि कृत्' इत्यस्यापवादः ॥

कृत्संज्ञकेषु कृत्यक्तखलर्थाः प्रत्ययास्तयोर्भावकर्मणोरेव भवन्ति । सकर्मकेभ्यो कर्मण्यकर्मकेभ्यो भावे ॥

कृत्याः कर्मणि—कर्त्तव्यो घटः कुलालेन । भुक्त ओदनो देवदत्तेन ॥ भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता ॥ क्तः कर्मणि—कृतो घटः कुलालेन । भुक्त ओदनो देवदत्तेन ॥ भावे—आसितं भवता । शयितं भवता ॥ खलर्थाः कर्मणि—ईषत्पच ओदनो देवदत्तेन । सुपचः । दुष्पचः । ईषत्पठा विद्या ब्राह्मणेन । सुपठा । दुष्पठा ॥ भावे—ईषत्स्वपं भवता । सुस्वपम् । दुस्स्वपम् । ईषदाढ्यं भवं भवता ॥ अर्थग्रहणादत्रापि सिद्धं भवति—ईषत्पानं दुग्धं भवता । ईषद्दान ओदनो भवता । भावे—ईषद्ग्लान भवता ॥ भावे चाकर्मकेभ्य इत्यनुवर्त्तनात् सकर्मकेभ्यो भावे न भवन्ति ॥ ७० ॥

यहां 'भावे चाकर्मकेभ्यः' पदों का अनुवर्त्तन है । एवकार 'कर्त्तरि' पद की निवृत्ति के लिये है । यह सूत्र 'कर्त्तरि कृत्' का अपवाद है ॥

कृत्संज्ञक प्रत्ययों में [कृत्यक्तखलर्थाः] कृत्य-क्त-और खलर्थ प्रत्यय [तयोरेव] भाव और कर्म में ही होते हैं । सकर्मकों से कर्म में अकर्मकों से भाव में ॥

जैसे—कृत्याः कर्मणि—कर्त्तव्यो घटः कुलालेन । भुक्त ओदनो देवदत्तेन ॥ भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता ॥ क्त कर्मणि—कृतो घटः कुलालेन । भुक्त ओदनो देवदत्तेन । भावे—आसितं भवता । शयितं भवता ॥ खलर्थाः कर्मणि—ईषत्पच ओदनो देवदत्तेन । सुपचः । दुष्पचः । ईषत्पठा विद्या ब्राह्मणेन । सुपठा । दुष्पठा । भावे—ईषत्स्वप भवता । सुस्वपं । दुस्स्वपम् । ईषदाढ्यं भवं भवता ॥

---

१. अ० सू० ९१४ ॥

'अर्थ' ग्रहण से यहां भी सिद्ध हो जाता है ईषत्पान दुग्धं भवता । ईषद्दान ओदनो भवता ।। भावे—ईषद्ग्लानं भवता ।। 'भावे चाकर्मकेभ्यः' इन पदों के अनुवर्त्तन से सकर्मकों से भाव में नहीं होते ।। ७० ।।

आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च[1] ।। ७१ ।।

तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः[1] इति भावकर्मणोः प्राप्तस्तस्यापवाद आरभ्यते ।।

आदिकर्मणि । ७ । १ । क्तः । १ । १ । कर्त्तरि । ७ । १ ।।

[2]आदिकर्मणि—क्रियारम्भस्यादिक्षणेषु विहितः क्तः प्रत्ययः कर्त्तरि भवति चकाराद्भावकर्मणोरपि ।।

प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः ।। भावकर्मणोः—प्रकृतः कटो देवदत्तेन । प्रशयितं देवदत्तेन । शयनारम्भः कृत इत्यर्थः ।। ७१ ।।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इस सूत्र से भावकर्म में प्राप्त का यह सूत्र अपवाद है ।। [आदिकर्मणि] क्रियारम्भ के आदि क्षणों में विहित [क्त] क्तप्रत्यय [कर्त्तरि] कर्त्ता में तथा [च] चकार से भाव कर्म में भी होता है ।।

जैसे—प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः ।। भावकर्मणोः—प्रकृतः कटो देवदत्तेन । प्रशयितं देवदत्तेन । अर्थात् चटाई बनाना तथा सोना आरम्भ किया ।। ७१ ।।

गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्य्यतिभ्यश्च[3] ।। ७२ ।।

क्तः कर्त्तरीत्यनुवर्त्तते ।। गत्यर्था० जीर्य्यतिभ्यः । ५ । ३ । च । [अ०] ।। गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः । न विद्यते कर्म येषां तेऽकर्मकाः[4] ।।

गत्यर्थाकर्मकेभ्यः श्लिष्यादिभ्यश्च विहितः क्तः प्रत्ययः कर्त्तरि भवति चकाराद्भावकर्मणोः ।।

गतो ग्रामं देवदत्तः । गतो ग्रामो देवदत्तेन ।। व्रजितो ग्रामं देवदत्तः । व्रजितो ग्रामो देवदत्तेन ।। अकर्मक—ग्लानो देवदत्तः । ग्लानं देवदत्तेन ।। सुप्तो देवदत्तः । सुप्तं देवदत्तेन । उपश्लिष्टो भार्य्यां देवदत्तः । उपश्लिष्टा भार्य्या देवदत्तेन [उपश्लिष्टा कन्यां माता । उपश्लिष्टा कन्या मात्रा] ।। उपशयितो गुरुं देवदत्तः । उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन । उपास्थितो गुरुं देवदत्तः । उपास्थितो गुरुर्देवदत्तेन । उपासितो गुरुं शिष्यः । उपासितो गुरुः शिष्येण ।। अनूषितो गुरुं भवान् । अनूषितो गुरुर्भवता । अनुजातः पुत्रः

---

१. आ० सू० ११८१ ।।

२. आदिक्षणेषु भूतेष्वपि क्रियाया भूतत्वात् 'आदिकर्मणि निष्ठा' (अ० ३ । २ । १०२ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन निष्ठा विहिता, तस्यात्र ग्रहणम् ।।

३. आ० सू० १२१९ ।।

४. अत्रापि (अ० ३ । ४ । १८) सूत्रस्था टिप्पणिरवलोकनीया ।।

कन्याम् । अनुजाता पुत्रेण कन्या ।। आरूढो हस्तिनं हस्तिपकः । आरूढो हस्ती हस्तिपकेन ।। अनुजीर्णो देवदत्तः पुत्रेण । अनुजीर्णो देवदत्तेन पुत्रः ।।

'अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति'[1] इति श्लिष्यादीनामकर्मकाणां ग्रहणं सोपसर्गत्वे सकर्मकार्थम् । श्लिष्यादिभ्यः सोपसर्गेऽपि कर्त्तरि क्तो यथा स्यात् ।। ७२ ।।

यहां 'क्त' तथा 'कर्त्तरि' पदों का अनुवर्त्तन है ।। 'गत्यर्थाकर्मक' गति अर्थ वाले तथा अकर्मक धातुओं से और [श्लिष० जीर्यतिभ्यश्च] श्लिष्-शीङ्-स्था-आस-वस-जन-रुह् जीर्यति इन धातुओं से विहित क्त प्रत्यय कर्त्ता में होता है चकार से भाव और कर्म में भी ।।

जैसे—गतो ग्रामं देवदत्तः । गतो ग्रामो देवदत्तेन । अजितो ग्रामं देवदत्तः । अजितो ग्रामो देवदत्तेन ।। अकर्मक—ग्लानो देवदत्तः । ग्लानं देवदत्तेन । सुप्तो देवदत्तः । सुप्तं देवदत्तेन ।। श्लिष—उपश्लिष्टो भार्य्यां देवदत्तः । उपश्लिष्टा भार्य्या देवदत्तेन । उपश्लिष्टा कन्यां माता । उपश्लिष्टा कन्या मात्रा ।। शीङ्—उपशयितो गुरुं देवदत्तः । उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन ।। स्था—उपास्थितो गुरुं देवदत्तः । उपास्थितो गुरुर्देवदत्तेन ।। आस्—उपासितो गुरुं शिष्यः । उपासितो गुरुः शिष्येण ।। वस्—अनूषितो गुरुं भवान् । अनूषितो गुरुर्भवता ।। जन—अनुजातः पुत्रः कन्याम् । अनुजाता पुत्रेण कन्या ।। रुह्—आरूढो हस्तिनं हस्तिपकः । आरूढो हस्ती हस्तिपकेन ।। जीर्यति—अनुजीर्णो देवदत्तः पुत्रेण । अनुजीर्णो देवदत्तेन पुत्रः ।। 'अकर्मका० भवन्ति' 'अकर्मक धातुएं भी उपसर्ग से युक्त होने पर सकर्मक हो जाती हैं' इस नियम से अकर्मक श्लिष आदि धातुओं का ग्रहण सोपसर्ग हो जाने पर सकर्मक हो जाने से किया है । अर्थात् श्लिष्यादि सोपसर्गों से भी कर्त्ता में क्त हो जाय ।। ७२ ।।

दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने ।। ७३ ।।

दाशगोघ्नौ । १ । २ । सम्प्रदाने । ७ । १ ।। दाशगोघ्नौ शब्दौ कृदन्तौ सम्प्रदानकारके निपात्येते ।।

'दाशृ दाने'[2] इत्यस्मादच् प्रत्ययः । दाशन्त्यस्मै स दाशः । गोपूर्वाद्धनधातोष्टक् प्रत्ययः । गां घ्नन्ति यस्मै स गोघ्नः[3] ।। ७३ ।।

१. क्वचिदन्तरेणाप्युपसर्गमकर्मकाः सकर्मका भवन्ति । .... तद्यथा—नदी वहतीत्यकर्मकः । भारं वहतीति सकर्मकः ।। द्र० अ० १ । ३ । २१ भाष्ये ।।

२. आ० सू० १३२२ ।।   ३. धा० स्वा० ८७१ ।।

४ शब्दव्युत्पादनपरमिदं सूत्रम् । कृतः कर्त्तरि भवन्तीति शास्त्रेण सामान्येन निर्देशः क्रियते । अत्र सम्प्रदानकारके नियमार्थं सूत्रम् । वेदे तु कर्त्तर्य्यपि गोघ्नपदं दृश्यते । तद्यथा—**'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्'** इति (ऋ० १ । ११४ । १०) अस्य व्याख्याने गोघ्नशब्देन 'गवां हन्त्री'त्यर्थः स्कन्दसायणादिभाष्यकारैरपि गृह्यते । किञ्च 'गौः' इति शब्देनानेकार्था शास्त्रे प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा

[दाशगोघ्नौ] दाश तथा गोघ्न कृदन्त शब्द [सम्प्रदाने] सम्प्रदान कारक में निपातन हैं ॥

'दाशृ दाने' से अच् प्रत्यय होता है। दाशन्त्यस्मै स दाशः। गोपूर्वक हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है। गां घ्नन्ति यस्मै स 'गोघ्नः' ॥ ७३ ॥

भीमादयोऽपादाने ॥ ७४ ॥

भीमादयः। १। ३। अपादाने। ७। १॥ भीमादयः शब्दा औणादिकास्तेऽपादानकारके निपात्यन्ते ॥

बिभ्यति जना यस्मात् स भीमः। भीष्मो वा। 'भियः षुग्वा'[1] इत्यादिसूत्रैः सिद्धाः ॥

अथ भीमादिगणः—[१] भीमः[2] [२] भीष्मः[2] [३] भयानकः[3]। [४] वरुः[4] [५] चरुः[5] [६] भूमिः[6] [७] रजः[7]। [८] प्रस्कन्दनम् [९] प्रपतनम्[8]

निघण्टौ गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्। गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। (नि० २। ५) इति निरुक्तम्। हन्तिरपि न केवलं हिंसायामेव वर्तते किन्तु गतावपि 'हन हिंसागत्योः' (धा० अदा०) इति शासनात्। ज्ञान गमन प्राप्तिश्चेति गत्यर्थाः। गां-पृथिवीं-वाणीं-रश्मि-इषुं-घ्नन्ति जानाति प्राप्नोति, इति स कश्चिदपि ॥

गोशब्देन तद्विकाराः दधि, पयः, चर्मप्रभृतयो गृह्यन्त इत्यपि शास्त्रकाराः प्राहुः। तद्यथा निरुक्ते—अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।

गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९। ४६। ४) इति पयसः ॥

अंशुं दुहन्तोऽध्यासते गवि। (ऋ० १०। ९४। ९) इत्यधिषवणचर्मणः। अथापि चर्म च श्लेष्मा च। **गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व।** (ऋ० ६। ४७। २६ इति) रथस्तुतौ ॥

अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। **गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता** (ऋ० ६। ७५। ११)। इतीषुस्तुतौ (नि० २। ५) ॥ अनेनापि दुर्जनसन्तोषन्यायेन गोघ्नपदेन यस्मै चर्म हन्यते। असमय आगताय कस्मैचिदभ्यागताय पयो हन्यते प्राप्यतेऽसौ गोघ्न इति वक्तुं सुशकम्। न चापि गोघ्न-शब्दोऽतिथिपरत्वेन वेदादिसच्छास्त्रेषु गृहीतः। वेदे च **'प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट'** (ऋ० ८। १०१। १५) इति श्रुतिप्रामाण्यात्। 'अघ्न्याया गोर्हननं न कस्मा अपि युज्यते कुतो न्वतिथय इति कृत्वा 'गोघ्नोऽतिथिः' इत्यादिसर्वमप्रमाणाहम्।

१. आ० सू० १२२३ ॥
२. उणा० १। १४८ ॥
३. उणा० ३। ८२ ॥
४. उणा० १। ७ तत्रोह्यम् ॥
५. उणा० १। ७ ॥
६. उणा० ४। १४५ ॥
७. उणा० ४। २१७ ॥
८. उणादिभूमिकायां 'प्रतपनः' इत्येव पाठः ॥

[१०] समुद्रः[1] [११] स्रुवः[2] [१२] स्रुक्[3] [१३] संस्कारः [१४] मङ्क्रन्दनः [१५] वृष्टिः [१६] रक्षः[4] [१७] संकसुकः[5] [१८] मूर्खः[6] [१९] खलतिः[7] ॥ इति भीमादयः ॥ ७४ ॥

[भीमादयः] भीमादि औणादिक शब्द [अपादाने] अपादान कारक में निपातन हैं ।

जैसे—बिभ्यति जना यस्मात् स भीमः—भीष्मो वा । 'भियः षुग्वा' इत्यादि सूत्रों से सिद्ध होते हैं ॥ ७४ ॥

ताभ्यामन्यत्रोणादयः[8] ॥ ७५ ॥

ताभ्याम् । ५ । २ । अन्यत्र [अ०] । उणादयः । १ । ३ ॥ ताभ्यामिति सम्प्रदानापादाने निर्दिश्यते । 'कर्त्तरि कृत्'[9] इति कर्त्तरि प्राप्ता उणादयो नियम्यन्ते ॥

ताभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्यत्रान्यस्मिन् कर्मादिकारक उणादयः प्रत्यया भवन्ति ॥

वस्त आच्छादयते यत्तद्वासः[10] । कृष्यतेऽसौ कृषिः[11] । तन्यतेऽसौ तन्तुः[12] ॥७५॥

यहां 'ताभ्याम्' पद से सम्प्रदान तथा अपादान का निर्देश है । 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र से कर्त्ता में प्राप्त उणादि प्रत्ययों का नियम किया है ॥

[ताभ्यामन्यत्र] सम्प्रदान तथा अपादान से अन्यत्र कर्मादिकारकों में [उणादयः] उणादि प्रत्यय होते हैं ॥ जैसे—वस्त आच्छादयते यत्तद्वासः । कृष्यतेऽसौ कृषिः । तन्यतेऽसौ तन्तुः ॥ ७५ ॥

क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः[13] ॥ ७६ ॥

क्तः । १ । १ । अधिकरणे । ७ । १ । च । [अ०] । ध्रौव्य० नार्थेभ्यः । [५ । ३] ॥ ध्रौव्यार्थाः स्थित्यर्थाः[14] । प्रत्यवसानार्था भोजनार्थाः ॥

---

१ उणा० २ । १३ ॥ समुद्रः कस्मात् ? समुद्रवन्त्यस्मादापः (नि० २ । १०) ॥

२. उणा० २ । ६१ ॥ ३. उणा० २ । ६२ ॥

४. उणा० ४ । १८९ ॥ ५. उणा० २ । २९ ॥

६. उणा० ५ । २२ ॥ ७. उणा० ३ । १२२ ॥

क्वचिदेते नोपलभ्यन्ते—रजः । रहः । वरु. । चरुः । भूमिः । प्रस्कन्दनम् । स्रुवः । स्रुक् । संस्कारः । मङ्क्रन्दन । वृष्टि । सङ्कसुक । मूर्खः ॥ काशिकाया न सन्ति—वृष्टि । रक्ष । सङ्कसुक । मूर्खः ॥ उणादिभूमिकायामेते न सन्ति —प्रस्कन्दनम् । संस्कार । वृष्टि । रक्ष. । सङ्कसुक ॥

८. अ० सू० १२२४ ॥ ९. अ० ३ । ४ । ६७ ॥

१० वसेर्णित् (उ० ४ । २१८) ॥ ११. इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) ॥

१२ सितनिगमि० (उ० १ । ६९) ॥ १३. अ० सू० १२२० ॥

१४ अकर्मकोपलक्षणार्थमिदम् । यथा स्थित्यर्थका अकर्मकास्तथा येऽकर्मका । अन्ये तु ध्रौव्यार्था अकर्मका इति स्वनिकायप्रसिद्धिरित्याहुः (का० पृ० २६७) ॥

ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यो धातुभ्यो यः क्तो विहितः सोऽधिकरणे भवति चाद्यथा [प्रा] प्तञ्च भाव-कर्म-कर्त्तृषु ॥

ध्रौव्यार्थे— इदमेषामासितम् । इदमेषां स्थितम् । स्थानमित्यर्थः ॥ गत्यर्थे—इदमेषां यातम् । इदमेषां गतम् । मार्ग इत्यर्थः ॥ प्रत्यवसानार्थे—इदमेषां जग्धम् । इदमेषां भुक्तम् । पात्रमित्यर्थः[1] ॥ ७६ ॥

[ध्रौव्य] स्थिरता [गति] जाने और [प्रत्यवसानार्थ] (भक्षण) अर्थ वाले धातुओं से विहित जो [क्तः] क्त प्रत्यय, वह [अधिकरणे] अधिकरण में हो [च] चकार से यथाप्राप्त भावकर्म और कर्त्ता में ॥

जैसे—ध्रौव्यार्थ से—इदमेषामासितम् । इदमेषां स्थितम् । अर्थात् यह इनकी बैठक है ॥ गत्यर्थ—इदमेषां यातम् । इदमेषां गतम् । यह इनके जाने का मार्ग है ॥ प्रत्यवसानार्थ—इदमेषां जग्धम् । इदमेषां भुक्तम् । अर्थात् यह इनके खाने का पात्र है ॥ ७६ ॥

लस्य ॥[2] ७७ ॥

लस्य । ६ । १ ॥ निरनुबन्धकस्य केवलस्य लकारस्यात्र ग्रहणम् । अकारोऽस्मिन्नुच्चारणार्थो निर्दिश्यते । निरनुबन्धकस्य ग्रहणात् सामान्येन दशलकाराणां[3] ग्रहणं सम्भवति । तद्यथा—लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । षट्टितः, चत्वारो ङितः । अक्षरसमाम्नायक्रमेणोपदिष्टाः ॥

अधिकारसूत्रमिदमतोऽग्रे 'लस्य' कार्य्यं भविष्यत्यध्यायपरिसमाप्तेः, क्वचित्सामान्येन क्वचिद्विशेषत्वेन ॥ ७७ ॥

निरनुबन्धक केवल लकार मात्र का यहां ग्रहण है । लकार मे अकार उच्चारणार्थ है । निरनुबन्ध के ग्रहण से दश लकारों का ग्रहण होता है ।

जैसे—लट्-लिट्-लुट्-लृट्-लेट्-लोट्-लङ्-लिङ्-लुङ्-लृङ् छः लकार टित् और चार ङित् हैं यह अक्षरसमाम्नाय के क्रम से पढ़ दिये हैं ॥

यह अधिकार सूत्र है, आगे अध्याय की परिसमाप्ति पर्य्यन्त लकार सम्बन्धी कार्य्य कहीं सामान्य रूप से और कहीं विशेष रूप से होंगे ॥ ७७ ॥

---

१ अत्र भाष्यम्—(विभक्ता भ्रातरः, पीता गावः) ...... कथं तर्हि कर्त्तृत्वं गम्यते । अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः । पीतमेषामस्तीति पीता इति । अथवा उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदका पीता इति । (अ० ३ । ४ । ६७ भाष्ये) ॥

२. शा० सू० ८ ॥

३. 'क्रियते विशिष्टग्रहणं लस्ये' ति भाष्यवचनात् 'शाला-माला-मल्ल' इत्यौणादिको यो 'लन्' प्रत्ययस्तस्य ग्रहणं न भवति ॥

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्[1] ॥ ७८ ॥

सामान्यलकारस्य स्थाने तिबादयोऽष्टादश प्रत्यया भवन्ति, परस्मैपदात्मनेपद-विभागेन नव नव ॥

तिप्सिप्मिप्सु पित्करणमनुदात्तार्थम् । इटि टित्करणमिटोऽदि[2]ति विशेषणार्थम् । महिङि ङित्करणं तिङ् तङ् प्रत्याहारद्वयसिद्धयर्थम् ॥ परस्मैपदाद्धातोस्तिबादयो[3] नव भवन्ति । आत्मनेपदात् तादयश्च । उभयपदाच्च सर्वे ॥ तिप्-तस्-झि ॥ सिप्-थस्-थ ॥ मिप्-वस्-मस् ॥ त-आताम्-झ ॥ थास्-आथाम्-ध्वम् ॥ इट्-वहि-महिङ् ॥ भवति । भवतः । भवन्ति ॥ भवसि । भवथः भवथ ॥ भवामि । भवावः । भवामः ॥ एधते । एधेते । एधन्ते ॥ एधसे । एधेथे । एधध्वे ॥ एधे । एधावहे । एधामहे ॥ उभयपदात्—पचति । पचते । एवमन्येभ्योऽन्येष्वपि लकारेषु बोध्यम् ॥ ७८ ॥

[तिप्तस्झि० महिङ्] सामान्य लकार के स्थान में तिबादि १८ प्रत्यय होते हैं । तिबादि नव परस्मैपद के, त आदि नव आत्मनेपद के ॥ तिप्-सिप्-मिप् में पित्करण अनुदात्त करने के लिये है इट् में टित् करण 'इटोऽत्' सूत्र के विशेषण के लिये है । और महिङ् में ङित्करण तिङ्, तङ् दो प्रत्याहारों के बनाने के लिये है ॥

परस्मैपदी धातुओं से तिबादि नव होते हैं, और आत्मनेपदी धातुओं से तादि नव तथा उभयपदी धातुओं से सारे (१८) प्रत्यय होते हैं ॥

जैसे—तिप्-तस्-झि ॥ सिप्-थस्-थ ॥ मिप्-वस्-मस् ॥ त-आताम्-झ ॥ थास्-आथाम्-ध्वम् ॥ इट्-वहि-महिङ् ॥ भवति । भवतः । भवन्ति ॥ भवसि । भवथः । भवथ ॥ भवामि । भवावः । भवामः ॥ एधते । एधेते । एधन्ते ॥ एधसे । एधेथे । एधध्वे ॥ एधे । एधावहे । एधामहे ॥ उभयपदी से—पचति । पचते ॥ इसी प्रकार प्रकार अन्य धातुओं से तथा शेष लकारों में समझ लेना चाहिये ॥ ७८ ॥

टित आत्मनेपदानां टेरे[4] ॥ ७९ ॥

टितः । ६ । १ । आत्मनेपदानाम् । ६ । ३ । टेः । ६ । १ । ए । १ । १ । टितः । षट् लकाराः ॥

टितो लकारस्य यान्यात्मनेपदानि तेषां टिसंज्ञकस्य विभागस्य एकारादेशो भवति । तथा चैवोदाहृतम् ॥

[प्र०]—अथ पचमानो यजमान इत्यादिष्वेकारः कस्मान्न भवति । टिदादेशत्वादात्मनेपदत्वाच्च ? ।

---

१. अा० सू० ९ ॥ २. अ० ३ । ४ । १०६ ॥

३ परस्मैपदमस्य स परस्मैपद, तस्मात् परस्मैपदात्, एवमात्मनेपदादुभयपदाच्च ॥ अकारोऽत्र मत्वर्थीय. ॥ ४. अा० सू० ९६ ॥

[उत्तर] का०—**आने मुग् ज्ञापकं त्वेत्त्वे टित्तङामिशिसीरिचः ।**

डारौरःसु टिदटितः प्रकृते तद्गुणे कथम्[1] ॥

पचमान इत्यत्र यदेत्वं न भवति तत्र **'आने मुक्'**[1] इति सूत्रं ज्ञापकम्, यद्यानस्यैत्वं स्यात्तर्ह्यानयि मुगिति ब्रूयात् । एतो 'आने मुग्' ज्ञापकन्तु ॥ द्वितीयं समाधानम्—टित्तङां टिल्लकारस्य प्रकृतानां तङामात्मनेपदानामेत्वं विधीयते तन्मुख्यम् । गुणे गौणस्यानस्यैत्वं कथं स्यात् । अथ लुटः प्रथमपुरुषस्य ये डा-रौ-रसो विधीयन्ते तत्र स्थानिवद्भावादेत्वं कस्मान्न भवति ? डारौरःसु इशिसीरिचो ज्ञापकम् । यदि डारौरःसु स्थानिवद्भावेन एत्वं स्यात्तर्हि **'लिटस्तझयोरेशिरेच्'**[2] **'थासः से'**[3] इति सूत्रद्वये पाठगौरवं न कुर्यात् । 'एश्, से, इरेच्' एषां स्थाने 'इश्-सि-इरिच्' एवं वक्तव्यं स्यात्, पुनरेत्वं स्यादेव । अतो ज्ञापकाज्ज्ञायते—डारौरस्सु एत्वं न भवतीति ॥ **टिदटितः** अकुर्वीत्यत्र लङ उत्तमैकवचनेऽटितो ङितो लङ्स्थान इट् तत्रास्य सूत्रस्य प्राप्तिरेव नास्ति ॥ ७९ ॥

[टितः] ट् टित् लकारों के [**आत्मनेपदानाम्**] आत्मनेपद प्रत्ययों के [टेः] टिसंज्ञकविभाग के स्थान [ए] एकार आदेश होता है ॥

जैसे—एधते इत्यादि उदाहरण पूर्वसूत्र में दिये हैं ॥

प्र०—पचमानः, यजमानः इत्यादि में टिदादेश तथा आत्मनेपद होने पर टिसंज्ञकविभाग को एकार आदेश क्यों नहीं होता ? ।

उ०—का०—आने मुग्ज्ञापक०—यहां पर जो एकार नहीं होता इसमें 'आने मुक्' यह सूत्र ज्ञापक है । क्योंकि यदि आन के स्थान में एत्व हो जाता तो 'आनयि मुक्' ऐसा सूत्र बनाते, पहिला समाधान तो 'आने मुक्' का ज्ञापक है । दूसरा समाधान यह है कि—**टित्तङाम्**—टिल्लकार के स्थान में होने वाले प्रकृत आत्मनेपदों को एत्व होता है । गुणे = गौण आन के स्थान में कैसे हो ॥

(प्र०) लुट् के प्रथमपुरुष के स्थान में जो डा-रौ-रस्-आदेश होते हैं उन में स्थानिवत् धर्म मान के एत्व क्यों नहीं होता ? ।

उ०—डा-रौ-रस् विषय में 'इशिसीरिच्' ज्ञापक है अर्थात् यदि डा-रौ-रस् को स्थानिवद्भाव मान कर एत्व होता तो 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' तथा च 'थासः से' इतना पाठ न करते । 'एश्-से-इरेच्' इन तीनों के स्थान में इश् सि इरिच् ऐसा पढ़ देते और उनको टित् होने से एत्व हो ही जाता पुनः ऐसा पाठ न करना ही इस बात का ज्ञापक है कि—डा-रौ-रस् इनमें एत्व नहीं होता । यहां 'अकुर्वि' में क्यों नहीं होता ? **टिदटितः** = अकुर्वि इस प्रयोग में लङ् का उत्तम पुरुष एकवचन में अटित् अर्थात् ङित् लङ् के स्थान में 'इट्' होता है अतः यहां इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं होती ॥ ७९ ॥

---

१. अ० ३ । ४ । ७८ भाष्ये का० ॥ २. अ० ७ । २ । ८२ ॥

३. अ० ३ । ४ । ८१ ॥ अ० ३ । ४ । ८० ॥

थासः से[1] ॥ ८० ॥

टित इत्यनुवर्त्तते । थासः । ६ । १ । से । [१ । १] ।। टितो लकारस्य स्थाने यस्थास् तस्य स्थाने 'से' इत्यादेशो भवति ।।

पचसे । पेचिषे । पक्तासे । पक्ष्यसे ।। ८० ।।

यहां 'टित' पद का अनुवर्त्तन है ।। टित् लकार के स्थान में जो [थासः] थास् होता है उसके स्थान में [से] 'से' यह आदेश होता है ।।

जैसे—पचसे । पेचिषे । पक्तासे । पक्ष्यसे ।। ८० ।।

लिटस्तझयोरेशिरेच्[2] ॥ ८१ ॥

लिटः । ६ । १ । तझयोः । ६ । २ । एशिरेच् । १ । १ ।। लिट आदेशयोस्तझयोः स्थाने एश्-इरेच् इत्यादेशौ यथासङ्ख्येन भवतः ।।

पेचे । पेचिरे । लेभे । लेभिरे । शित्करणं सर्वादेशार्थम् । चित्करणं स्वरार्थम् ।। ८१ ।।

[लिटः] लिट् के आदेश [तझयोः] त और झ के स्थान में यथासंख्य एश् तथा इरेच् ये आदेश होते हैं ।।

जैसे—पेचे । पेचिरे । लेभे । लेभिरे ।। एश् में शित्करण सर्वादेशार्थ है, चित्करण स्वरार्थ है ।। ८१ ।।

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः[3] ॥ ८२ ॥

लिट इत्यनुवर्त्तते । परस्मैपदानाम् । ६ । ३ । णल० वमाः । १ । ३ ।।

लिट आदेशानां परस्मैपदसंज्ञानां तिबादीनां स्थाने णलादयो नवादेशा यथासंख्येन भवन्ति ।।

णल्-अतुस्-उस् ।। थल्-अथुस्-अ[4] ।। णल्-व-म ।। णकारोऽनुबन्धो वृद्ध्यर्थः ।। लकारः स्वरार्थः । सकारस्य ['न विभक्तौ तुस्माः' (अ० १ । ३ । ४) इति प्रतिषेधात्] प्रयोगेषूच्चारणं भवत्येव ।।

पपाच । पेचतुः । पेचुः ।। पेचिथ, पपक्थ । पेचथुः । पेच ।। पपाच, पपच । पेचिव । पेचिम ।। ८२ ।।

यहां 'लिटः' पद का अनुवर्त्तन है । लिट् लकार के [परस्मैपदानाम्] परस्मैपद संज्ञक तिबादि आदेशों के स्थान में [णल० वमाः] णल्-अतुस्-उस् । थल्-अथुस्-अ । णल्-व-म-ये

१. आ० सू० ९९ ।। २. आ० सू० १०५ ।।

३. आ० सू० ३१ ।।

४ अत्र तु भाष्यम्—अविभक्तिनिर्देशोऽयम् । अ अ इति । सोऽसावनेकाल्, 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (अ० १ । १ । ५५) इति सर्वादेशो भविष्यति ।।

आदेश यथासंख्य होते हैं। इन णल् आदि आदेशों में णित्करण वृद्धि के लिये है। और लकारानुबन्ध स्वर के लिये है, सकार का प्रयोगों में श्रवण होता ही है॥

जैसे पपाच। पेचतुः। पेचुः। पेचिथ, पपक्थ। पेचथुः। पेच। पपाच, पपच। पेचिव। पेचिम॥ ८२॥

विदो लटो वा[1] ॥ ८३ ॥

परस्मैपदानामित्यनुवर्त्तते, न लिट इति॥ विदः। ५। १। लटः। ६। १। वा। [अ०]॥ अप्राप्तविभाषेयम्॥

'विद ज्ञाने'[2] इत्यस्माद् धातोः परो यो लट् तस्यादेशानां परस्मैपदसंज्ञकानां तिबादीनां स्थाने णलादयो नवादेशा यथासंख्यं विकल्पेन भवन्ति॥

वेद। विदतुः। विदुः॥ वेत्थ। विदथुः। विद॥ वेद। विद्व। विद्म॥ पक्षे न भवन्ति—वेत्ति। वित्तः। विदन्ति॥ वेत्सि। वित्थः। वित्थ॥ वेद्मि। विद्वः। विद्मः॥ ८३॥

यहां 'परस्मैपदानाम्' पद का अनुवर्त्तन है 'लिटः' का नहीं॥ यह सूत्र अप्राप्त-विभाषा है॥

[विदः] विद ज्ञाने इस धातु से परे जो [लटः] लट् उसके स्थान में होने वाले परस्मैपद तिबादि आदेशों के स्थान में णलादि नव आदेश यथासंख्य [वा] विकल्प से होते हैं॥

जैसे—वेद। विदतुः। विदुः॥ वेत्थ। विदथुः। विद॥ वेद विद्व। विद्म। पक्ष में नहीं होते—वेत्ति। वित्तः। विदन्ति। वेत्सि। वित्थः। वित्थ॥ वेद्मि। विद्वः। विद्मः॥ ८३॥

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः[3] ॥ ८४ ॥

परस्मैपदानां लटो वेति चानुवर्त्तते॥ ब्रुवः। ५। १। पञ्चानाम्। ६। ३। आदितः। [अ०]। आहः। १। १। ब्रुवः। ६। १॥

ब्रू-धातोः परो यो लट् तस्यादेशानामादिभूतानां परस्मैपदसंज्ञकानां पञ्चानां तिबादीनां स्थाने पञ्च णलादय आदेशाः क्रमतो विकल्पेन भवन्ति, आदेशपक्षे ब्रू-धातोश्च 'आह्' इत्यादेशो भवति॥

आह। आहतुः। आहुः। आत्थ। आहथुः। पक्षे न भवन्ति—ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति। ब्रवीषि। ब्रूथः॥

---

१. आ० सू० ३४९॥ २. धा० मदा० ५४॥

अत्र तु भाष्यम्—विहितविशेषणं धातुग्रहणं—धातोर्विहितस्य लस्येति। यद्येवं विन्दतीति णलादयः प्राप्नुवन्ति। धातुनाऽत्र विहितं विशेषयिष्यामो विदिना चाऽऽनन्तर्य्यम्। धातोर्विहितस्य लस्य विदेरनन्तरस्येति॥ (अ० ३। १। ९१ भाष्ये)॥

३. आ० सू० ३३१॥

'पञ्चानाम्' इति किम्—ब्रूथ । ब्रवीमि । ब्रूवः । ब्रूमः ।। 'आदितः' इति किम्—परेषां पञ्चानां [मा] भूवन् ।। 'ब्रुवः' इति पुनर्वचनमादेशार्थम्[1] ।। ८४ ।।

यहां 'परस्मैपदानाम्' 'लटः' 'वा' इन पदों का अनुवर्त्तन है ।। [ब्रुवः] 'ब्रूञ्' धातु से परे जो लट् उसके स्थान में होने वाले परस्मैपद संज्ञक [आदितः] आदि के [पञ्चानाम्] पांच तिबादि आदेशों के स्थान में णलादि पांच आदेश यथासंख्य विकल्प से होते हैं साथ ही आदेश पक्ष में [ब्रुवः] ब्रूञ् धातु को [आहः] आह आदेश हो जाता है ।।

जैसे—आह । आहतुः । आहुः ।। आत्थ । आहथुः । पक्ष में नहीं होते—ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रवीषि । ब्रूथः ।।

'पञ्चानाम्' ग्रहण इसलिये है कि—ब्रूथः । ब्रवीमि । ब्रूवः । ब्रूमः ।। 'आदितः' ग्रहण इसलिये है कि—अगले पांच तिबादि के स्थान में आदेश न हो जायें ।। 'ब्रुवः' इस पद का पुनः उच्चारण आदेश के स्थान के निर्देश के लिये है, अर्थात् ब्रूञ् के स्थान पर आह आदेश हो ।। ८४ ।।

लोटो लङ्वत्[2] ।। ८५ ।।

'कार्य्यातिदेशोऽयम् । लोटः । ६ । १ । लङ्वत् [अ०] ।। लङ इव लङ्वत् षष्ठीसमर्थाद्वतिः प्रत्ययः ।।

लोट्लकारस्य लङ्वत् कार्य्यं भवति, अर्थात् ङित्कार्य्यं लोटोऽपि भवति **तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः**[3] इति ।।

पचताम् । पचतम् । पचत । पचाव । पचाम । अत्र सलोपः ।। षष्ठीसमर्थादत्र वतिः क्रियते तेन लङि परतो यत्कार्यमडागमादि तन्न भवति ।। ८५ ।।

यह सूत्र कार्य्यातिदेश है । लङ्वत् में लङ इस षष्ठी समर्थ से वति-प्रत्यय है ।। [लोटः] लोट् लकार को [लङ्वत्] लङ् की तरह कार्य्य होता है अर्थात् ङित् कार्य **'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः'** यह लोट् को भी हो जाता है ।।

जैसे—पचताम् । पचतम् । पचत । पचाव । पचाम । यहां सकार का लोप हो जाता है ।। 'लङ्वत्' में षष्ठी समर्थ से वति होने के कारण लङ् को परे मानकर होने वाले अट् आदि आगम नहीं होते ।। ८५ ।।

एरुः[4] ।। ८६ ।।

लोट इत्यनुवर्त्तते । एः । ६ । १ । उः । १ । १ ।। लोट्लकारस्य य इकारस्तस्य स्थाने उ-इत्यादेशो भवति ।। पचतु । पचन्तु ।।

---

१. ब्रुवः स्थाने 'आह' आदेशः स्यादन्यथा हि परस्मैपदानां स्थाने स्यादिति भावः ।।

२. आ० सू० ६८ ।। ३. अ० ३ । ४ । १०१ ।।

४. आ० सू० ६६ ।।

हिन्योरुच्चारणसामर्थ्यादुत्वं न भवति, यद्युत्वं स्यात्तदा 'मेर्निः'[1] इत्यत्र मेनुंरिति ब्रूयात् ॥ ८६ ॥

यहां 'लोटः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ लोट् लकार का जो [एः] इकार उसके स्थान में [उः] उ यह आदेश होता है ॥

जैसे—पचतु । पचन्तु ॥ 'हि' तथा 'नि' के इकार को उच्चारण सामर्थ्य से 'उत्व' नहीं होता यदि उत्व हो जाता तो 'मेनुंः' ऐसा सूत्र पढ़ते ॥ ८६ ॥

सेर्ह्यपिच्च[2] ॥ ८७ ॥

['लोटः' इत्यनुवर्त्तते ॥ सेः । ६ । १ । हि । १ । १ । अपित् । १ । १ । च । अ०] ॥

लोट् लकारस्य सिपः स्थाने हि इत्यादेशो भवति स चापित् । स्थानिवद्भावात् पित्त्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यते ॥

लुनीहि । पुनीहि । ब्रूहि । पित्प्रतिषेधेन गुणो मा भून् ॥ ८७ ॥

लोट् लकार के [सेः] सिप् के स्थान में [हि] हि यह आदेश होता है [अपिच्च] और वह अपित् होता है, अर्थात् स्थानिवत्त्व से प्राप्त पित्त्व का प्रतिषेध किया है ॥

जैसे—लुनीहि । पुनीहि । ब्रूहि । पित् प्रतिषेध से गुण नहीं होता ॥ ८७ ॥

वा छन्दसि ॥ ८८ ॥

वा । [अ०] । छन्दसि । ७ । १ ॥ अप्राप्तविभाषेयम् । अपित्त्वं विकल्प्यते ॥

सिपः स्थाने हि इत्यादेशो विधीयते स छन्दसि वेदविषये विकल्पेनापिद्भवति, पित्पक्षे गुणः ॥

जुहुधि । जुहोधि ॥ प्रीणाहि । प्रीणीहि । अत्रापित्पक्ष ईत्वम्[3] ॥ ८८ ॥

यह सूत्र 'अप्राप्तविभाषा' है । यहां अपित्त्व का विकल्प है ॥ सिप् के स्थान में 'हि' यह आदेश होता है वह [छन्दसि] वेद विषय में [वा] विकल्प से अपित् होता है, पित्पक्ष में गुण हो जाता है ॥

जैसे जुहुधि, जुहोधि । प्रीणाहि, प्रीणीहि । यहां अपित्पक्ष में ईत्व हो जाता है ॥८८॥

मेर्निः[4] ॥ ८९ ॥

लोट इत्यनुवर्त्तते ॥ मेः । ६ । १ । निः । १ । १ ॥

---

१. अ० ३ । ४ । ८९ ॥ २. आ० सू० ७० ॥
३. अ० ६ । ४ । ११३ ॥ ४. आ० सू० ७२ ॥

लोट आदेशस्य मिपः स्थाने निरादेशो भवति । पठानि । पचानि । उत्वलोपयो-रपवादः[1] । यदि कृत आदेशे लोपः स्यात् तर्हि नकारमेवादिशेत् ॥ ८९ ॥

यहां 'लोटः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ लोट् सम्बन्धी [मेः] मिप् के स्थान में [निः] नि आदेश होता है ॥

जैसे—पठानि । पचानि ॥ यह सूत्र उत्व तथा लोप का अपवाद है । यदि आदेश करने के अनन्तर इकार का लोप हो जाता तो नकार ही आदेश कर देते ॥ ८९ ॥

आमेतः[2] ॥ ९० ॥

लोट इत्यनुवर्त्तते ॥ आम् । १ । १ । एतः । ६ । १ ॥ लोटष्टित्त्वात् '**टित आत्मनेपदानां टेरे**'[3] इति सूत्रेण यदेत्वं भवति तस्येह कार्य्यमुच्यते ॥

लोट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने 'आम्' इत्यादेशो भवति ॥ एधताम् । एधेताम् एधन्ताम् ॥ ९० ॥

यहां 'लोटः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ लोट् के टित् होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से जो एत्व होता है उसको यहां कार्य्य कहा है ॥

लोट् सम्बन्धी [एतः] एकार के स्थान में [आम्] आम् आदेश होता है ॥

जैसे—एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् ॥ ९० ॥

सवाभ्यां वामौ[4] ॥ ९१ ॥

लोट इत्यनुवर्त्तते एत इति च ॥ सवाभ्याम् । ५ । २ । वामौ । १ । २ ॥ पूर्वसूत्रेण आम् प्राप्तः स बाध्यते ॥

सकारवकाराभ्यां परो लोटः सम्बन्धी य एकारस्तस्य स्थाने यथासङ्ख्येन व-अम्- इति द्वावादेशौ भवतः ॥

एधस्व । एधध्वम् । सकारोत्तरस्य वः, वकारोत्तरस्य च 'अम्' भवति ॥ ९१ ॥

यहां 'लोटः' तथा 'एतः' पदों का अनुवर्त्तन है । पूर्व सूत्र से आम् प्राप्त था उसका यह बाधक है ॥

[सवाभ्याम्] सकार वकार से परे लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में यथासंख्य [वामौ] व, अम् ये आदेश होते हैं ॥

---

१. 'वयं तु ब्रूमो—'लोटो लङ्वत् (अ० ३ । ४ । ८५) इति प्राप्तस्यामादेशस्यापवादः.' इति पदमञ्जरी ॥

२. आ० सू० ११५ ॥ ३. अ० ३ । ४ । ७९ ॥

४. आ० सू० ११६ ॥

जैसे—एधस्व । एधध्वम् ।। सकार से उत्तर एकार को 'व' तथा धकार से उत्तर एकार को 'अम्' होता है ।। ९१ ।।

आडुत्तमस्य पिच्च[1] ।। ९२ ।।

लोट इत्यनुवर्त्तते ।। आट् । १ । १ । उत्तमस्य । ६ । १ । पित् । १ । १ । च । [अ०] ।।

लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य 'आट्' आगमो भवति स च पित् ।।

नवानि । नवाव । नवाम ।। स्तवै । स्तवावहे । स्तवामहे ।। ९२ ।।

यहां 'लोटः' पद का अनुवर्त्तन है ।। लोट् सम्बन्धी [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष को [आट्] आट् आगम होता है और वह आट् [पिच्च] पित् होता है ।।

जैसे—नवानि । नवाव । नवाम ।। स्तवै । स्तवावहे । स्तवामहे ।। ९२ ।।

एत ऐ[1] ।। ९३ ।।

लोट उत्तमस्य चेत्यनुवर्त्तते ।। एतः । ६ । १ । ऐ । [अ०] ।।

लोट उत्तमपुरुषस्य य एकारस्तस्य स्थाने 'ऐ' इत्यादेशो भवति ।।

करवै । करवावहै । करवामहै । अत्राडागमस्य पित्त्वादुकारस्याप्राप्तो गुणः । अन्त्य एकारस्य चैकारः ।। ९३ ।।

यहां 'लोट.' तथा 'उत्तमस्य' पदों का अनुवर्त्तन है । लोट् के उत्तम पुरुष का जो [एतः] एकार उसके स्थान में [ऐ] 'ऐ' यह आदेश होता है ।।

जैसे—करवै । करवावहै । करवामहै ।। यहां आडागम के पित् होने से उकार को गुण हो जाता है और अन्त्य एकार के स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है ।। ९३ ।।

लेटोऽडाटौ[1] ।। ९४ ।।

लोट्प्रकरणं निवृत्तम् ।। लेटः । ६ । १ । अडाटौ । १ । २ ।।

लेट्लकारस्य अट्-आट् इत्येतावागमौ पर्य्यायेण भवतः ।।

सविता धर्म साविषत् । प्र ण आयूंषि तारिषत्[2] । अत्र हल्तकारात् पूर्वमडागमः[3] । जीवाति शरदः शतम् । भवाति[6] । पताति[7] । प्रचोदयात्[8] ।। ९४ ।।

---

१. आ० सू० ११८ ।।
२. आ० सू० ११७ ।।
३. आ० सू० ६१ ।।
४. यजु० २३ । ३२ ।।
५. ऋ० १० । ८५ । ३९ ।।
६. विषुरूपा भवाति (अथ० १८ । १ । २) गत बहुत्र ।।
७. अस्य परिक्षिप्पताति (अथ० ५ । २९ । २)
८. धियो यो नः प्रचोदयात् । (यजु० ३ । ३५ ।, २२ । ९ ।, ३० । २ ।, सा० उ० ६ । १० । १) ।।

यहां लोट् का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ [लेटः] लेट् लकार को [अडाटौ] अट्-आट् ये आगम पर्य्याय से होते हैं ॥

जैसे—सविता धर्मं साविषत् । प्र ण आयूंषि तारिषत् । यहां हलन्त लकार से पूर्व अट् का आगम है ॥ जीवाति शरदः शतम् । भवाति । पताति । प्रचोदयात् ॥ ९४ ॥

आत ऐ[1] ॥ ९५ ॥

लेट इत्यनुवर्त्तते ॥ आतः । ६ । १ । ऐ । [अ०] ॥ प्रथममध्यमयोर्द्विवचन आताम्, आथाम् इत्याकारोऽस्ति तस्येह कार्य्यमुच्यते ॥

लेट्सम्बन्धिन आकारस्य स्थाने 'ऐ' इत्यादेशो भवति ॥

एधैते । एधैथे । पचैते । पचैथे ॥

आट आकारस्य 'ऐ' कस्मान्न भवति—पताति विद्युत् ? । यद्यत्रैकारः स्यात्तर्ह्यैडागममेव ब्रूयात् ॥ ९५ ॥

यहां 'लेटः' पद का अनुवर्त्तन है । प्रथम और मध्यम पुरुष के द्विवचन में आताम्, आथाम् का जो आकार है, उसको यहां कार्य्य कहा है ॥ लेट् लकार सम्बन्धी [आतः] आकार के स्थान में [ऐ] ऐ यह आदेश है ॥

जैसे—ऐधैते । ऐधैथे । पचैते । पचैथे ॥

प्र०—पताति विद्युत्—यहां आट् के आकार के स्थान मे ऐकार क्यों नहीं होता ? ।

उ०—यदि यहां ऐकार हो जाता तो ऐडागम ही पढ़ देते । इसलिये आट् के आकार को ऐकार नहीं होता ॥ ९५ ॥

वैतोऽन्यत्र[2] ॥ ९६ ॥

लेट इत्यनुवर्त्तते ॥ वा । [अ०] । एतः । ६ । १ । अन्यत्र । [अ०] ॥ कस्मादन्यत्रेति सापेक्षम्, तत्रानन्तरमेवापेक्षते 'आत ऐ[3]' सूत्रस्य यो विषयस्तस्मादन्यत्र लेट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने विकल्पेन ऐ इत्यादेशो भवति ॥

अहमेव पशूनामीशै । ईशे वा । एधते । एधाते । एधतै । एधातै । अप्राप्त-विभाषेयम् ॥

'अन्यत्र' इति किम्—मन्त्रयैते । अत्र मा भूत् ॥ ९६ ॥

यहां 'लेट' पद का अनुवर्त्तन है ॥ [अन्यत्र] 'आत ऐ' सूत्र के विषय से अन्यत्र लेट् लकार सम्बन्धी [एतः] एकार के स्थान मे [वा] विकल्प से ऐ यह आदेश होता है ॥

जैसे—अहमेव पशूनामीशै । ईशे वा ॥ एधते । एधाते । एधतै । एधातै । यह सूत्र अप्राप्त विभाषा है ॥ 'अन्यत्र' ग्रहण इसलिये है कि मन्त्रयैते । यहां नहीं होता ॥ ९६ ॥

---

१. भा० सू० ११४ ॥ २. भा० सू० ११३ ॥
३. अ० ३ । ४ । ९५ ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु[1] ॥ ९७ ॥

लेट इति वेति चानुवर्त्तते ॥ इतः । ६ । १ । च । [अ०] । लोपः । १ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ ॥ परस्मैपदेषु परस्मैपदविषयस्य लेट्सम्बन्धिन इकारस्य विकल्पेन लोपो भवति, पक्षे श्रवणञ्च ॥

प्र॒चो॒दया॑त्[2] । जोषि॑षत्[3] । तारिषत्[4] । अत्र सर्वत्र तिप इकारस्य लोपः । पक्षे न च भवति—स दे॒वाँ एह व॑क्षति[5] । भवाति[6] । पताति[7] ॥ परस्मैपद-ग्रहणं किम्—इड्वहिमहिङ्[8] मा भूत् ॥ ९७ ॥

यहां 'लेट' तथा 'वा' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ [परस्मैपदेषु] परस्मैपद विषय में लेट् सम्बन्धी [इतः] इकार का विकल्प करके [लोपः] लोप होता है । पक्ष में श्रवण होता है ॥

जैसे—प्रचोदयात् । जोषिषत् । तारिषत् । यहां सब जगह तिप् के इकार का लोप हुआ है ॥ पक्ष में नहीं होता—स देवाँ एह वक्षति । भवाति । पताति ॥

'परस्मैपदेषु' ग्रहण इसलिये है कि—'इट्-वहि-महिङ्' के इकार का लोप न होवे ॥९७॥

स उत्तमस्य[9] ॥ ९८ ॥

लेट इत्यनुवर्त्तते [वा च] ॥ सः । ६ । १ । उत्तमस्य । ६ । १ ॥

लेट उत्तमपुरुषस्थस्य सकारस्य विकल्पेन लोपो भवति ॥

करवाव । करवाम । पक्षे—करवावः । करवामः ॥ ९८ ॥

यहां 'लेट' तथा 'वा' पदों का अनुवर्त्तन है ॥ लेट् लकार के [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष के [सः] सकार का विकल्प से लोप होता है ॥

जैसे—करवाव । करवाम । पक्ष में—करवावः । करवामः ॥ ९८ ॥

नित्यं ङितः[1] ॥ ९९ ॥

लेट्-प्रकरणं निवृत्तम् विकल्पोऽपि । स उत्तमस्येत्यनुवर्त्तते, परस्मैपदेष्विति च ॥ नित्यम् । १ । १ । ङितः । ६ । १ ॥ ङितो लकारा लङादयस्ते पूर्वं परिगणिताः[10] ॥ तत्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्थस्य सकारस्य नित्यं लोपो भवति ॥

---

१. ग्रा० सू० ६२ ॥ २. यजु० ३ । ३५ ॥, एवं बहुत्र ॥

३ सु॒पे॒श॒सस्क॑रति॒ जोषि॑ष॒द्धि (ऋ० २ । ३५ । १) ॥

४. यजु० २३ । ३२ ॥ ५. ऋ० १ । १ । २ ॥

६. अथ० १८ । १ । २ ॥ ७. अथ० ५ । २९ । २ ॥

८. ग्रा० सू० ६३ ॥ ९. ग्रा० सू० ७३ ॥

१०. "लस्य" (अ० ३ । ४ । ७७) इति सूत्रे ॥

अपचाव । अपचाम ।। पचेव । पचेम । पच्यास्व । पच्यास्म ।। अपाक्ष्व । अपाक्ष्म । अपक्ष्याव । अपक्ष्याम । भवाव । भवाम ।। लोटो लङ्वत् कार्यं भवतीति लोट उत्तमेऽपि नित्यमेव ।। ९९ ।।

लेट् प्रकरण की समाप्ति हुई तथा 'वा' की भी निवृत्ति हुई। परन्तु 'स उत्तमस्य' तथा 'परस्मैपदेषु' इन पदों का अनुवर्त्तन है ।। ङित् लकार चार हैं उनका पूर्व परिगणन कर दिया है ।।

[ङितः] ङित् लकार सम्बन्धी उत्तमपुरुषस्थ सकार का [नित्यं] नित्य लोप हो जाता है ।।

जैसे—अपचाव । अपचाम ।। पचेव । पचेम ।। पच्यास्व । पच्यास्म । अपाक्ष्व । अपाक्ष्म ।। अपक्ष्याव । अपक्ष्याम ।। भवाव । भवाम । लोट् को लङ्वत् कार्य्य होता है, इस कारण लोट् लकार के उत्तम पुरुष में भी नित्य ही सकार का लोप हो जाता है ।। ९९ ।।

इतश्च[1] ।। १०० ।।

ङितो लोप इत्यनुवर्त्तते परस्मैपदेष्विति च ।। इतः । ६ । १ । च । [अ०] ।।

ङिल्लकारसम्बन्धिनः परस्मैपदविषयस्येकारस्य नित्यं लोपो भवति ।।

अपचत् । अपाक्षीत् । अपचः । अपाक्षीः । अपचम् । अपाक्षम् । परस्मैपदेष्वित्यनुवर्त्तनादिह न भवति—अपचावहि अपचामहि ।।

लोट्लकारस्य लङ्वत्कार्य्यमिकारलोपो न भवति, इकारस्यान्येषां कार्य्याणां विहितत्वात् ।। १०० ।।

यहां 'ङितः' तथा 'लोपः' पदों का अनुवर्त्तन है, 'परस्मैपदेषु' का भी ।। ङित् लकार सम्बन्धी परस्मैपद के [इतश्च] इकार का नित्य लोप होता है ।।

जैसे—अपचत् । अपाक्षीत् । अपचः । अपाक्षीः । अपचम् । अपाक्षम् ।। परस्मैपद का अनुवर्त्तन होने से यहां नहीं होता—अपचावहि । अपचामहि ।।

लोट् को ङित् मानकर उसके इकार का लोप नहीं होता क्योंकि 'एरुः' आदि सूत्रों से लोट् के इकार को अन्य कार्य्यों का विधान किया है ।। १०० ।।

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः[2] ।। १०१ ।।

ङित इत्यनुवर्त्तते ।। तस्थस्थमिपाम् । ६ । ३ । तान्तन्तामः । १ । ३ ।।

ङिल्लकारसम्बन्धिनां तस्-थस्-थ-मिप्-इत्येतेषां क्रमेण ताम्-तम्-त-अम् इत्येत आदेशा भवन्ति ।।

अपचताम् । अपचतम् । अपचत । अपचम् । एवमन्येष्वपि—पचताम् । पचतम् । पचत । लोट्लकारे लङ्वत् कार्य्यमिदं भवति । मिपः स्थाने नेर्बाधकत्वान्न ।। १०१ ।।

१. आ० सू० ७६ ।। २. आ० सू० ६९ ।।

यहां 'ङित' पद का अनुवर्तन है ॥ ङित् लकार सम्बन्धी [तस्थस्थमिपां] तस्-थस्-थ-मिप्-इनके स्थान में [ताम्तम्तामः] ताम्-तम्-त-अम् ये आदेश यथासंख्य होते हैं ॥

जैसे—अपचताम् । अपचतम् । अपचत । अपचम् । इसी प्रकार अन्य ङित् लकारों में भी जानना चाहिये । पचताम् । पचतम् । पचत । लोट् लकार को यह लङ्वत् कार्य्य हो जाता है ॥ परन्तु मिप् के स्थान पर 'नि' आदेश का विधान होने से अम् आदेश नहीं होता ॥ १०१ ॥

लिङः सीयुट्[1] ॥ १०२ ॥

लिङः । ६ । १ । सीयुट् [१ । १] ॥ लिङ्लकारस्य सीयुडागमो भवति । परसूत्रे परस्मैपदे यासुटा बाधितत्वादिहात्मनेपदमायाति ॥

पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् ॥ पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् । ईडीत ॥ तिप्सीष्ट । तिप्सीयास्ताम् । तिप्सीरन् ॥ १०२ ॥

[लिङः] लिङ् लकार को [सीयुट्] सीयुट् आगम होता है ॥ अगले सूत्र में परस्मैपद परे यासुट् के बाधक होने से यहां आत्मनेपद का ग्रहण होता है ॥

जैसे—पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् ॥ पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् ॥ ईडीत ॥ तिप्सीष्ट । तिप्सीयास्ताम् । तिप्सीरन् ॥ १०२ ॥

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च[2] ॥ १०३ ॥

सीयुटोऽपवादः । लिङ इत्यनुवर्त्तते ॥ यासुट् । १ । १ । परस्मैपदेषु । ७ । ३ । उदात्तः । १ । १ । ङित् । १ । १ । च । [अ०] ॥

लिङ्सम्बन्धिनां परस्मैपदविषयाणां तिबादीनां यासुडागमो भवति स उदात्तो ङिच्च बोद्धव्यः ॥

भवेत् । भवेताम् । भवेयुः ॥ भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः ॥ कुर्य्यात् । कुर्य्यास्ताम् । कुर्य्यासुः । अत्र यासुडागमस्य ङित्वाद् गुणो न भवति ॥

अस्मिन् सूत्रे आगमस्योदात्तशासनाज्ज्ञायते 'आगमा अनुदात्ता भवन्तीति' । ङिच्चेति द्वितीयं ज्ञापकं 'ङिदादेशा ङितो न भवन्तीति' । यदि लिङः स्थाने तिबादयः स्थानिवद्भावान्ङितः स्युः, पुनस्तेषामागमोऽपि तद्गुणीभूतो ङित् स्यादेव । पुनर्यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापकं ङिदादेशा ङितो न भवन्तीति ॥

ङिदादेशा ङितो न भवन्तीत्युच्यते चेत्, 'नित्यं ङितः[3]' 'इतश्च[4]' सकारेकार-लोपो ङित्कार्य्यं कथं भवति ? । यासुटो ङिद्वचनादेतज्ज्ञाप्यते ङिदादेशानां स्थानिवद्भावात् ङितो यत् कार्य्यं तद्भवति, ङिति यत्कार्य्यं तन्न भवतीति । यासुट्ङिद्वचनस्यैतत्प्रयोजनं गुणप्रतिषेधो यथा स्यात् । तच्च ङिति परतः कार्य्यमस्ति, स गुणप्रतिषेधो

१. आ० सू० १२० ॥ २. आ० सू० ७८ ॥
३. अ० ३ । ४ । ९९ ॥ ४. अ० ३ । ४ । १०० ॥

यदि ङिल्लकारस्य स्थानिवद्भावात् स्यात्तर्हि यासुटो ङिद्वचनमनर्थकं स्यात्, तेन ज्ञायते ङिति यत्कार्य्यं तल्लकारस्य स्थानिवद्भावान्न भवति ङितो यत्कार्य्यं तत्तु भवत्येव, अस्य ज्ञापकस्यान्यत्र फलम्—अचिनवम् । असुनवम् । अकरवम् । अत्र लङुत्तमैकवचने ङितो लङः स्थाने य आदेशस्तस्य स्थानिवद्भावान्-ङिति गुणप्रतिषेधो न भवति ॥ १०३ ॥

यह सूत्र सीयुट् का अपवाद है ॥ यहां 'लिङः' पद का अनुवर्त्तन है ॥

लिङ् लकार सम्बन्धी [परस्मैपदेषु] परस्मैपदसंज्ञक तिबादि को [यासुट्] यासुट् आगम होता है [उदात्तः] वह उदात्त तथा [ङिच्च] ङित् भी होता है ॥

जैसे—भवेत् । भवेताम् । भवेयुः ॥ भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । कुर्य्यात् । कुर्य्यास्ताम् । कुर्य्यासुः ॥ यहां यासुट् आगम के ङित् होने से गुण नहीं होता ॥

इस सूत्र में आगम को उदात्त शासन करने से यह जाना जाता है कि—'आगमा अनुदात्ता भवन्तीति' अर्थात् आगम अनुदात्त होते हैं ॥

'ङिच्च' ऐसा शासन करने से दूसरा ज्ञापक ङित् सम्बन्ध में निकलता है कि—'ङिदादेशा ङितो न भवन्तीति' अर्थात् ङित् के आदेश ङित् नहीं होते । यदि लिङ् के स्थान में होने वाले तिबादि स्थानिवद्भाव से ङित् हो जाते तो फिर उन का आगम भी तद्गुणीभूत होने से ङित् हो ही जाता, फिर यासुट् को ङित् करना इस बात का ज्ञापक है कि—'ङित् के स्थान में होने वाले आदेश ङित् नहीं होते' ॥

प्र०—ङित् के स्थान में होने वाले आदेश ङित् नहीं होते, यदि ऐसा कहते तो 'नित्यं ङितः' 'इतश्च' इन सूत्रों से सकार तथा इकार का लोप कैसे होता है ॥

उ०—यासुट् का ङित् करना ही इस बात का ज्ञापक है कि—ङिदादेशों को स्थानिवद्भाव से 'ङितः' अर्थात् ङित् को होने वाला कार्य्य तो हो जाता है, परन्तु 'ङिति' अर्थात् ङित् परे मान कर जो कार्य्य कहा है वह नहीं होता । यासुट् को ङित् करने का प्रयोजन गुण का निषेध है, वह गुणनिषेध कार्य्य (ङिति) अर्थात् ङित् परे रहते होता है, यदि वह गुण प्रतिषेध ङित् लकार के स्थानिवद्भाव से हो जाता तो यासुट् को ङित् करना व्यर्थ हो जाता । अतः इस से यह जाना जाता है कि—ङित् परे रहते जो कार्य्य होना है वह लकार को स्थानिवद्भाव से नहीं होता, परन्तु ङित् को जो कार्य्य होता है वह हो ही जाता है । इस ज्ञापक का अन्यत्र प्रयोजन यह है कि—अचिनवम् । असुनवम् । अकरवम् । यहां लङ् लकार के उत्तमपुरुष के एकवचन में ङित् लकार के स्थान में आदेश होता है उसके स्थानिवद्भाव से ङित् पर गुण का प्रतिषेध नहीं होता ॥ १०३ ॥

किदाशिषि[1] ॥ १०४ ॥

लिङो यासुट् परस्मैपदेषूदात्त इति सर्वमनुवर्त्तते ॥ कित् । १ । १ । आशिषि । ७ । १ ॥

आशिषि विहितस्य परस्मैपदविषयस्य लिङो यो यासुट् विधीयते स किदुदात्तश्च भवति ॥

१. आ० सू० ८५ ॥

गुणप्रतिषेध उभयत्र तुल्य एव। किति सम्प्रसारणं जागृधातोश्च गुणादेशो विशेषः किस्वस्य प्रयोजनम्। उच्यात्। उच्यास्ताम्। उच्यासुः। इज्यात्। अत्र 'वचिस्वपियजादीनां किति'[1] इति सम्प्रसारणं कित्कार्य्यम्। जागर्य्यात्। जागर्य्यास्ताम्। जागर्य्यासुः। अत्र जागृ-धातोर्ङिति गुणः प्रतिषिद्धः किति भवत्येव॥

'आशिषि' इति किम्—वच्यात्॥ १०४॥

यहां 'लिङः' 'यासुट्' 'परस्मैपदेषु' 'उदात्त' इन पदों का अनुवर्त्तन है॥ [आशिषि] आशीर्वाद में विहित परस्मैपदसंज्ञक लिङ् को जो यासुट् का आगम कहा है, वह [कित्] कित् होता है साथ ही उदात्त भी हो जाता है॥

गुणप्रतिषेध कार्य्य कित् तथा ङित् दोनों में समान ही है। परन्तु कित् करने के विशेष प्रयोजन ये हैं कि कित् परे रहने सम्प्रसारण, तथा जागृ धातु को गुण हो जावे। जैसे—उच्यात्। उच्यास्ताम्। उच्यासुः। इज्यात्। यहां 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र से कित् कार्य्य सम्प्रसारण होता है। जागर्य्यात्। जागर्य्यास्ताम्। जागर्य्यासुः। यहां 'जाग्रोऽविचि०'[2] सूत्र से जागृ धातु को ङित् परे गुण का निषेध कहा है परन्तु कित् परे हो जाता है॥

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि—वच्यात्। यहां विधिलिङ् में 'यासुट्' कित् न हो॥ १०४॥

झस्य रन्[3]॥ १०५॥

प्रत्ययादेशविधायकस्य 'झोऽन्तः'[4] इत्यस्यायमपवादः॥ झस्य। ६। १। रन्। १। १॥ 'लिङः' इत्यनुवर्त्तते॥

लिङ आदेशस्य झस्य[5] 'रन्' इत्यादेशो भवति। पचेरन्। यजेरन्। एधिषीरन्॥ १०५॥

प्रत्यय के आदि झकार को आदेश करने वाले 'झोऽन्तः' सूत्र का यह अपवाद है। यहां 'लिङः' पद का अनुवर्त्तन है॥

लिङ के आदेशभूत [झस्य] झकार को [रन्] 'रन्' आदेश होता है॥

जैसे—पचेरन्। यजेरन्। एधीषीरन्॥ १०५॥

इटोऽत्[6]॥ १०६॥

लिङ इत्यनुवर्त्तते॥ [इटः। ६। १। अत्। १। १॥] आत्मनेपदेषूत्तमैकवचनस्य ग्रहणम्॥

१. अ० ६। १। १५॥ २. अ० ७। ३। ८५॥
३. आ० सू० १२१॥ ४. अ० ७। १। ३॥
५. संघातस्यात्र 'रन्' आदेशः, अन्यथा झो रन्नित्येव ब्रूयात्॥
६. आ० सू० १२२॥

लिङ आदेशस्य इटः स्थाने 'अत्' इत्यादेशो भवति ।। तकार उच्चारणार्थः, न त्वादेशावयवः ।।

एधेय । एधिषीय । अधीयीय । अधीषीय । पचेय । यजेय ।। 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'[1] इति परिभाषयाऽऽगमस्येटो ग्रहणं न भवति ।। १०६ ।।

यहां 'लिङ्' इस पद का अनुवर्त्तन है । आत्मनेपद के उत्तम पुरुषस्थ एकवचन के इट् का ग्रहण है ।।

लिङ् आदेश के [इटः] इट् के स्थान में [अत्] 'अत्' आदेश होता है ।। 'अत्' में तकार करना उच्चारणार्थ है, आदेश का अवयव नहीं है ।।

जैसे—एधेय । एधिषीय । अधीयीय । अधीषीय । पचेय । यजेय ।।

यहां 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इस परिभाषा से इट् आगम का ग्रहण नहीं होता ।। १०६ ।।

सुट् तिथोः[2] ।। १०७ ।।

'लिङः' इत्यनुवर्त्तते ।। सुट् । १ । १ । तिथोः । ६ । २ ।।

लिङ्सम्बन्धिनोस्तकारथकारयोः सुडागमो भवति ।।

एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् ।। एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् ।।

तकारथकारमात्रस्य प्रत्ययस्थस्यागम इष्यते । यदि 'तथयोः' इति ब्रूयादातामित्यत्र मध्ये सुडागमो न स्यात् । किन्तु तकारस्य प्रथमैकवचनस्य थकारस्य मध्यमबहुवचनस्य च ग्रहणं स्यात् ।। १०७ ।।

यहां 'लिङ्' पद का अनुवर्त्तन है ।। लिङ् सम्बन्धी [तिथोः] तकार-थकार को [सुट्] 'सुट्' आगम होता है । जैसे—एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् ।।

यहां प्रत्ययस्थ तकारथकारमात्र को आगम इष्ट है । यदि 'तथयोः' ऐसा सूत्र पढ़ते तो 'आताम्' इस के मध्य में वर्त्तमान तकार को सुट् का आगम न होता, किन्तु तकार से प्रथम पुरुष के एकवचन का तथा थकार से मध्यम पुरुष के बहुवचन का ग्रहण होता ।। १०७ ।।

झेर्जुस्[3] ।। १०८ ।।

लिङ इत्यनुवर्त्तते ।। झेः । ६ । १ । जुस् । १ । १ ।।

लिङ आदेशस्य झेः स्थाने 'जुस्' इत्यादेशो भवति ।।

भवेयुः । पचेयुः । वदेयुः । यजेयुः ।। अतोऽग्रे लिङ् नानुवर्त्तते ।। १०८ ।।

---

१. अ० ५ । १ । २२ भाष्ये ।। २. शा० सू० ७९ ।।
३. शा० सू० ८२ ।।

यहां 'लिङ' पद का अनुवर्त्तन है ॥ निर्देश [झेः] झि के स्थान में 'जुस्' यह आदेश होता है ॥

जैसे—भवेयुः । पचेयुः । वदेयुः । यजेयुः ॥ इस सूत्र से आगे लिङ् का अनुवर्त्तन नहीं होता ॥ १०८ ॥

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च[1] ॥ १०९ ॥

मण्डूकप्लुतगत्या[2] ङित इत्यनुवर्त्तते । 'झेर्जुस्' इति च ॥ सिजभ्यस्तविदिभ्यः । ५ । ३ । च । [अ०] ॥ लुङि सिज् भवति, अतः सिचः परस्य लुङः सम्बन्धिनो झेर्जुस् भाव. । अभ्यस्त[3]विदोर्ग्रहणमसिजर्थम् ॥

सिजादिभ्यः परस्य झेर्जुस् भवति ॥

सिच्—अकार्षुः । अहार्षुः । असैधिषुः । अपाक्षुः ॥ अभ्यस्तात्—अजुहवुः । अबिभयुः ॥ विदेः—अविदुः[4] ॥ १०९ ॥

यहां मण्डूकप्लुतगति से 'ङित' इस पद का, तथा 'झेर्जुस्' का भी अनुवर्त्तन है ॥ सिच् लुङ् लकार में होता है इस कारण सिच् से परे लुङ् का जो झि उस को जुस् होता है 'अभ्यस्त' तथा 'विद' का ग्रहण सिच् से भिन्न के लिये है ॥

[सिजभ्यस्तविदिभ्यः] सिच्, अभ्यस्त तथा विद से परे [च] झि को 'जुस्' आदेश हो जाता है ॥

जैसे—सिच् से—अकार्षुः । अहार्षुः । असैधिषुः । अपाक्षुः । अभ्यस्त से—अजुहवुः । अबिभयुः । विद से—अविदुः ॥ १०९ ॥

आतः[5] ॥ ११० ॥

सिज्ग्रहणमनुवर्त्तते ङित इति च ॥ आतः । ५ । १ ॥ नियमार्थं सूत्रमिदम् ॥ सिचः परस्याकारान्तात् परस्य च झेर्जुस् भवति ॥

---

१. प्रा० सू० १३४ ॥

२ 'लिङः सीयुट्' (अ० ३ । ४ । १०२) इत्यादिषु ङित इति नानुवर्त्तने प्रयोजनाभावात्, इत्येवं मतमास्थायाह—मण्डूकप्लुतेति ॥

३. अत्र केचन धातुवृत्तिकारादय आहुः—अभ्यस्तग्रहणं विदिसाहचर्याल्लङ्विषयमेव तेन भवतेर्यङ्लुगन्ताल्लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने झेर्जुस् न भवति सिजाश्रयस्तु 'आतः' इति नियमादेव न प्रवर्त्तत इति । तच्चिन्त्यम् । भाष्यकृता साहचर्यनियमस्यानभ्युपगमात्, तथाहि—'अपीपचन्नित्येकादेशे कृतेऽभ्यस्ताज्झेर्जुस् भवतीति जुस्भाव प्राप्नोति' इति अ० १ । १ । ५७ ॥ यदीह साहचर्यनियमः स्यात्, जुस् भावस्य प्राप्तिरेव न स्यात् । एवं च कृत्वा 'अबोभवुः' इत्येव भवति ॥

४. सत्ताविचारणार्थयोर्विदेरात्मनेपदित्वादसम्भव एव झेः, लाभार्थस्यापि विकरणेनव्यवधानादनन्तरस्य झेरसम्भवात्, परिशेषात् 'विद ज्ञाने' इत्येव गृह्यते ॥

५. प्रा० सू० २५० ॥

येभ्य आकारान्तेभ्यः सिचो लुग्विधीयते तेभ्य आकारान्तेभ्यः परो झिर्भवति सिचो लुकि प्रत्ययलक्षणेन यदि सिचः परस्य झेर्जुस्स्यात्तर्ह्याकारान्तेभ्यः परस्यैव स्यात् । अदात् । अदाताम् । अदुः । अधुः । अपुः । अस्थुः । अनेन सूत्रेण नियमकरणात्—अभूवन्निति प्रत्ययलक्षणाश्रय. पूर्वसूत्रेण जुस् न भवति । सिज्लुगन्तादाकारान्तादेव धातोः परस्य झेर्जुस्स्यात्, नान्यस्मादिति ॥ ११० ॥

यहां 'सिच्' तथा 'ङित्' पदों का अनुवर्त्तन है । यह सूत्र नियमार्थ है ॥

सिच् से परे तथा [आतः] आकारान्त से परे झि को जुस् आदेश होता है ॥

जिन आकारान्तों से सिच् का लुक् हो जाता है, उन आकारान्तों से परे झि होता है, सिच् लुक् हो जाने पर प्रत्ययलक्षण से यदि सिच् से उत्तर झि को जुस् होवे तो आकारान्तों से परे ही हो ॥

जैसे—अदात् । अदाताम् । अदुः । अधुः । अपुः । अस्थुः ॥ इस सूत्र के नियम कर देने से—अभूवन् इस में प्रत्ययलक्षण मान कर पूर्वसूत्र से जुस् नहीं होता क्योंकि सिज्लुगन्त आकारान्त धातु से ही परे झि को जुस् होना है और किसी से नहीं ॥ ११० ॥

लङः शाकटायनस्यैव[1] ॥ १११ ॥

आत इत्यनुवर्तते ॥ लङः । ६ । १ । शाकटायनस्य । ६ । १ । एव । [अ०] ॥

आकारान्तादुत्तरस्य लङः आदेशस्यैव शाकटायनस्याचार्य्यस्य मते झेर्जुस्स्यात् । अर्थाल्लुङादेशस्य सर्वेषां मते । अयात् । अयाताम् । अयुः । अवात् । अवाताम् । अवुः ॥ अन्येषां मते—अयान् । अवान् ॥

ङित इत्यनुवर्त्तते तेन लङ एव झेर्जुस् भविष्यति । पुनर्लङ्-ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—लङेव यो लङ् तत्र जुसभावः स्यात् । 'लोटो लङ्वत्'[2] इति लङ्वद्भावेन लोटो झेर्जुस् मा भूत् ॥ १११ ॥

यहां 'आतः' पद का अनुवर्त्तन है ॥ आकारान्तों से परे [लङः] लङ् आदेश वाले [एव] ही झि के स्थान में जुस् होता है [शाकटायनस्य] शाकटायन आचार्य्य के मत में अर्थात् और सब आचार्य्यों के मत में लुङ् लकार के झि को जुस् होता है ॥

जैसे—अयात् । अयाताम् । अयुः ॥ अवात् । अवाताम् । अवुः ॥ औरों के मत में—अयान् । अवान् ॥

यहां 'ङित' पद के अनुवर्त्तन से लङ् के ही झि को जुस् होगा पुनः 'लङ' पद के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'लङेव यो लङ्' अर्थात् शुद्ध लङ् के ही झि को जुस् हो । 'लोटो लङ्वत्' से लङ्वद्भाव को प्राप्त हुये लोट् के झि को जुस् न हो ॥ १११ ॥

---

१. मा० सू० ३४८ ॥ २. अ० ३ । ४ । ८५ ॥

द्विषश्च[1] ॥ ११२ ॥

लङः शाकटायनस्यैवेत्यनुवर्त्तते ॥ द्विषः ५ । १ । च । [अ०] ॥

'द्विषः' धातोः परस्य लङ आदेशस्य झेर्जुस् भवति शाकटायनस्यैव मतेन ॥ अद्विषुः । अन्येषां मते—अद्विषन् ॥ ११२ ॥

यहां पूर्वसूत्र 'लङः शाकटायनस्यैव' का अनुवर्त्तन है ॥ [द्विषः] 'द्विष' धातु से परे [च] लङ् आदेश के झि को जुस् होता है शाकटायन के मत से ॥

जैसे अद्विषुः । औरों के मत में—अद्विषन् ॥ ११२ ॥

तिङ्शित् सार्वधातुकम्[2] ॥ ११३ ॥

तिङ्शित् । १ । १ । सार्वधातुकम् । १ । १ ॥ तिङ् प्रत्याहारस्तिबादयोऽष्टादश गृह्यन्ते । तिङश्च शितश्चैषां समाहारः ॥

तिङः शितश्च प्रत्ययाः सार्वधातुकसंज्ञा भवन्ति ॥

रोदिति । स्वपिति । सार्वधातुकाश्रय इट्[3] । पच्यमानः । इज्यमानः । सार्वधातुकत्वाद् यक् ॥ ११३ ॥

यहां तिङ् पद से तिङ् प्रत्याहार का ग्रहण है जिस में तिबादि अठारह आदेशों का ग्रहण होता है ॥ तिङ्शित् में समाहारद्वन्द्व समास है । जैसे तिङ् च शिच्च तिङ्शित् ॥

[तिङ्शित्] तिङ् और शित् प्रत्यय [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक संज्ञक होते हैं ॥

जैसे—रोदिति । स्वपिति । इन में सार्वधातुकाश्रय इट् होता है । पच्यमानः । इज्यमानः । यहां सार्वधातुकाश्रय यक् हो जाता है ॥ ११३ ॥

आर्द्धधातुकं शेषः[4] ॥ ११४ ॥

आर्द्धधातुकम् । १ । १ । शेषः । १ । १ ॥ तिङ्शिद्भ्यो भिन्नः शेषः ॥

धातोर्विहिताः शेषाः प्रत्यया आर्द्धधातुकसंज्ञा भवन्ति ॥

लविता । चिकीर्षिता । लवितुम् । चिकीर्षितुम् । शयितः । 'आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः'[5] इत्यादीनि प्रयोजनानि ॥

धात्वधिकारे धातोर्विहितानां संज्ञाकरणादिह न भवति—लूभ्याम् । लूभिः । भूकाम्यति । जुगुप्सते ॥ ११४ ॥

यहां शेष पद से तिङ् शित् से भिन्न प्रत्ययों का ग्रहण होता है । धातु से विहित [शेषः] शेष प्रत्यय [आर्द्धधातुकम्] आर्द्धधातुक संज्ञक होते हैं ॥

---

१. मा० सू० ३१० ॥
२. मा० सू० १८ ॥
३. अ० ७ । २ । ७६ ॥
४. मा० सू० ४९ ॥
५. अ० ७ । २ । ३५ ॥

जैसे—लविता । चिकीर्षिता । लवितुम् । चिकीर्षितुम् । अयितः ॥ 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यादि इन के प्रयोजन हैं ॥

धातु के अधिकार में धातु से विहित प्रत्ययों की आर्द्धधातुक संज्ञा करने से—लूभ्याम् । लूभिः । भूकाम्यति । जुगुप्सते । इत्यादि की आर्द्धधातुक संज्ञा नहीं होती ॥ ११४ ॥

लिट् च[1] ॥ ११५ ॥

सार्वधातुकसंज्ञाया अपवादः ॥ लिट् । १ । १ । च । [अ०] ॥

लिटः स्थाने [ये] तिबादय[स्त] आर्द्धधातुकसंज्ञा भवन्ति ॥

पेचिथ । पपक्थ । आर्द्धधातुकत्वाद्विकल्पेनेट् । ददे । दधे । आर्द्धधातुकत्वात् 'आतो लोप इटि च'[2] इत्याकारलोपः ॥ ११५ ॥

यह सूत्र सार्वधातुकसंज्ञा का अपवाद है ॥ [लिट्] लिट् के स्थान में तिबादि [च] भी आर्द्धधातुक संज्ञक होते हैं ॥

जैसे—पेचिथ, पपक्थ । आर्द्धधातुक संज्ञा होने से इट् विकल्प से होता है ॥

जैसे—ददे । दधे । यहां आर्द्धधातुक होने से 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार लोप होता है ॥ ११५ ॥

लिङाशिषि[3] ॥ ११६ ॥

अयमपि सार्वधातुकस्यैवापवादः ॥ लिङ् । १ । १ । आशिषि । ७ । १ ॥

आशिषि विहितो यो लिङ् तस्य स्थाने य आदेशास्तिबादयस्त आर्द्धधातुकसंज्ञाः स्युः ॥

लविषीष्ट । यविषीष्ट । इडागमादीनि प्रयोजनानि ॥ ११६ ॥

यह सूत्र भी सार्वधातुकसंज्ञा का अपवाद है ॥ [आशिषि] आशीर्वाद में विहित जो [लिङ्] लिङ् उस के स्थान में होने वाले तिबादि आर्द्धधातुकसंज्ञक होते हैं ॥

जैसे लविषीष्ट । यविषीष्ट । यहां इडागमादि प्रयोजन हैं ॥ ११६ ॥

छन्दस्युभयथा ॥ ११७ ॥

सार्वधातुकार्द्धधातुकस्य सर्वस्य[प्रकरणस्या]यं शेषः ॥ छन्दसि । ७ । १ । उभयथा [अ०] ॥

छन्दसि=वैदिकप्रयोगेषु सार्वधातुकार्द्धधातुकसंज्ञे उभयथा भवतः, अर्थाद् यस्य सार्वधातुकसंज्ञा कृता तस्यार्द्धधातुकसंज्ञापि भवति, आर्द्धधातुकस्य च सार्वधातुकसंज्ञा, अर्थादेकस्मिन् पदेऽपि संज्ञाद्वयकार्य्याणि दृश्यन्ते ॥

१. आ० सू० ३० ॥ २. अ० ६ । ४ । ६४ ॥
३. आ० सू० ८४ ॥

वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः[१] । आर्द्धधातुकत्वाण्णिलोपः, सार्वधातुकत्वाच्छप् । वर्धयन्तु इति प्राप्ते । उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम्[२]—अत्र सार्वधातुकत्वाल्लिङः सलोपः । आर्द्धधातुकत्वात् 'एर्लिङि[३]' इति स्थाधातोरेकारादेशः ॥ ११७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

यह सार्वधातुक तथा आर्द्धधातुक इस सारे प्रकरण का शेष है ॥ [छन्दसि] वैदिक प्रयोगों में सार्वधातुक तथा आर्द्धधातुक [उभयथा] दोनों संज्ञा हो जाती हैं । अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही है उस की आर्द्धधातुक संज्ञा भी हो जाती है, और जिस की आर्द्धधातुक संज्ञा कही है उस की सार्वधातुक संज्ञा अर्थात् एक पद में भी दोनों संज्ञाओं के कार्य्य देखे जाते हैं ॥

जैसे—वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः । यहां आर्द्धधातुक संज्ञा के आश्रय से णि का लोप और सार्वधातुक संज्ञा के आश्रय से शप् होता है 'वर्धयन्तु' ऐसा प्राप्त था ॥ 'उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम्' यहां लिङ् के सार्वधातुक होने से सकार का लोप हो जाता है, और आर्धधातुक संज्ञा मान कर 'एर्लिङि' सूत्र से स्थाधातु को एकार आदेश हो जाता है ॥ ११७ ॥

यह तृतीयाध्याय का चौथा पाद और यह अध्याय भी समाप्त हुआ ॥

१. ऋ० ७ । ९९ । ७ ॥
२. अनुपलब्धमूलमिदम् । तु० ऋ० ६ । ४७ । ८ ॥ तै० ब्रा० २ । ७ । १३ । ४ ॥
३. अ० ६ । ४ । ६७ ॥

ओ३म्

अष्टाध्यायीभाष्यम्

(तृतीयो भागः)

प्रकाशक

वैदिक पुस्तकालय, अजमेर

ओ३म्

अष्टाध्यायीभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
प्रणीतम्

तत्रस्थः

चतुर्थोऽध्यायः

(तृतीयो भागः)

आर्यभाषानुवादकः
आचार्य-राजवीर-शास्त्री
सम्पादक :
विरजानन्द-दैवकरणिः

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिना संस्थापितया
अजयमेरुनगरस्थया श्रीमत्या परोपकारिणीसभया
सञ्चालितेन वैदिकपुस्तकालयेन प्रकाशितम्

प्रकाशक :
वैदिक पुस्तकालय
केसरगंज, अजमेर (राज०)

दयानन्दाब्दः : १७३
विक्रमसंवत् : २०५४
सृष्टिसंवत् : १,९६,०८,५३,०९८

प्रथमं संस्करणम् : १०००

मूल्यम् : १२५/- १३०/-

अक्षरयोजक:
भगवती लेज़र प्रिंट्स
दिल्ली-६५. दूरभाष : ६४७४०६६

मुद्रक:
जैय्यद प्रैस
५२२८, बल्लीमारान, दिल्ली ६

के साथ मन बुद्धि को भी दुर्बल और पराधीन बना दिया और आज जब विश्व प्रगति कर रहा है हम प्रगति के स्थान पर अपनी धरोहर को भी प्रस्तुत करने में असमर्थता अनुभव कर रहे हैं। ऐसे समय में पाणिनि के महत्त्व को प्रस्तुत करने का एक प्रयास किया दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने। उन्होंने भट्टोजी दीक्षित को पढा था परन्तु ऋषिकेश में गङ्गा के किनारे किसी दक्षिणी पण्डित के मुख से अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर इस चमत्कार का अनुभव किया और उसी दिन से अष्टाध्यायी के भक्त बन गये और अपनी पाठशाला में अष्टाध्यायी महाभाष्य परम्परा का सूत्रपात कर दिया। यहीं से उन्हें आर्ष और अनार्ष विज्ञान का बोध हुआ। वे आर्ष विद्या के प्रचारक प्रसारक बन गये। उन्होंने पाणिनि परम्परा की उत्कृष्टता बताते हुए कहा—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
अतोन्यत् पुस्तकं यत्तु तत् सर्वं धूर्त्तचेष्टितम्॥

इस आर्ष अनार्ष विवेक की कसौटी को अपने उत्तराधिकारी शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती को उन्होंने दिया। इसी विवेक से स्वामीजी ने वर्तमान युग की क्रान्ति का सूत्रपात किया। जिस प्रकार धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में ऋषि दयानन्द ने अज्ञानान्धकार का निवारण कर समाज से पाखण्ड व कुरीतियों के निराकरण का सफल प्रयास किया। धर्मग्रन्थों के वास्तविक अर्थों का प्रकाशन करने हेतु प्रचलित अनार्ष परम्पराओं का तिरस्कार करके वेदों का भाष्य किया और उसे निरुक्त ब्राह्मण ग्रन्थ एवं वैदिक साहित्य से प्रमाणित किया मध्यकाल के सायण महीधर आदि तथा उनके अनुयायी मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के त्रुटि प्रमादपूर्ण वेदभाष्य का पाठकों को दिग्दर्शन कराया जिससे पढ़नेवाले के मन में आर्य साहित्य के गौरव का भान हो सका, इसी भाँति व्याकरण के क्षेत्र में भी स्वामीजी ने अष्टाध्यायी भाष्य की रचना कर आधुनिक वैयाकरणों की भूलों को स्पष्ट किया तथा महाभाष्य के प्रमाण से पाणिनि के प्रौढ पाण्डित्य और ज्ञान की गहराई को प्रकाशित किया।

यह दुःख की बात है कि स्वामीजी महाराज वेदभाष्य की भाँति अपना अष्टाध्यायी भाष्य भी पूर्ण नहीं कर पाये। उनका किया प्रायः चार अध्याय पर्यन्त भाष्य हस्तलेखों में प्राप्य है जिसमें से तीन अध्याय तक का भाष्य सभा द्वारा प्रकाशित किया जाता रहा है। चतुर्थ अध्याय का भाष्य किसी कारणवश प्रकाशित नहीं हो सका था। सभा ने १९८३ में ऋषि दयानन्द बलिदान शताब्दी के समय इसका सम्पादन कराकर प्रकाशित कराने का निश्चय किया था, परन्तु इसमें भी अनपेक्षित विलम्ब हुआ। इस सबके बाद भी आज यह ग्रन्थरत्न प्रकाश में आ सका इसके लिए हम ईश्वर का धन्यवाद करते हैं।

इस कार्य में जिन महानुभावों ने अपना सहयोग प्रदान किया उनके हम आभारी हैं। श्री राजवीरजी शास्त्री ने अनुवाद करने तथा श्री पं० विरजानन्दजी दैवकर्णि ने सम्पादन, संशोधन व प्रकाशन में जो पुरुषार्थ किया है उसके बिना इस ग्रन्थ का इस समय प्रकाश में आना कठिन था।

सोनीपत निवासी कर्मठ ऋषिभक्त स्वर्गीय सत्यपालजी आर्य की प्रेरणा से इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय उठाना स्वर्गीय धर्मपालजी नागिया ने स्वीकार किया था, परन्तु उनका आकस्मिक निधन हो गया। फिर भी उनके पुत्र ने इस कार्य हेतु बीस हजार रुपये का सहयोग प्रदान किया, वे धन्यवाद के पात्र हैं। सोनीपत के दोनों महानुभाव आज संसार में नहीं हैं, उनकी ऋषिभक्ति के लिए हम श्रद्धावनत हैं।

इस प्रकार ऋषि के ज्ञात लेखन में जो प्रकाशनीय था वह प्रकाशित हो गया है, यह हमारे लिए सन्तोष की बात है। सभी पाठकों द्वारा इस ग्रन्थ का भी वैसा ही स्वागत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

अजमेर
१ अक्तूबर १९९७ ई०

विद्वानों का अनुचर
गजानन्द आर्य
मन्त्री
परोपकारिणी सभा, अजमेर

ओ३म्

सम्पादकीय

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति। प्रधानञ्च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।

निखिलशब्दशास्त्रनिष्णात महाप्राज्ञ महर्षि श्री पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी के दार्शनिक और विशेष व्याख्यान ग्रन्थ महर्षि पतञ्जलि विरचित महाभाष्य के उपर्युक्त उद्धरण से संस्कृतव्याकरणशास्त्र की महत्ता सुतरां सिद्ध है। वर्तमान उपलब्ध संस्कृतव्याकरण के ग्रन्थों में महर्षि पाणिनि मुनि विरचित अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ है। एक सहस्र श्लोक परिमाणात्मक (३९७७ सूत्रयुक्त) इस छोटे से ग्रन्थरत्न में संस्कृतसाहित्य का विशालतम शब्दभण्डार निहित करके दाक्षिपुत्र शालातुरीय महर्षि पाणिनि ने वस्तुतः महदाश्चर्य कर दिखाया है। व्याकरणशास्त्र में इसके समान, उत्तम अथवा उच्चकोटि की दूसरी रचना अभी तक नहीं हो सकी है। पाणिनिमुनि के पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने व्याकरणविषय में जो कुछ लिखा, वह सब अष्टाध्यायी तथा इसके व्याख्याग्रन्थों को ही आधारभूत मानकर लिखा है। अष्टाध्यायी के निर्माण से (महाभारतयुद्ध के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् से) लगभग ३५०० वर्ष पश्चात् तक आर्ष पद्धति से रचे इसी व्याकरणग्रन्थ का अध्ययनाध्यापन इस आर्यावर्त्त में प्रचलित रहा है। तदनन्तर कौमुदी, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध आदि प्रक्रिया प्रधान अनार्षग्रन्थों के अधिक प्रचार-प्रसार से अष्टाध्यायी का पठन-पाठन लुप्त प्रायः हो गया।

अनार्षग्रन्थों में पाणिनीय सूत्रों को तो अपनाया गया, किन्तु पाणिनीय सूत्रक्रमपद्धति का परित्याग कर दिया। इस प्रकार घोर परिश्रम के अनन्तर भी स्वल्प लाभ होने जैसे अनिष्ट को गहराई तक समझकर व्याकरण के सूर्य श्री ब्रह्मर्षि विरजानन्द जी दण्डी ने आर्ष परम्परा को पुनः जीवित रखने के लिये यावज्जीवन सुमहत्प्रयत्न किया और महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसा एक दिव्य रत्न संसार में आर्षज्योति को प्रसारित करने के लिये प्रदान किया।

गुरुवर विरजानन्दजी दण्डी कहा करते थे—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
अतोऽन्यत्पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्त्तचेष्टितम्॥

अपने गुरु की भाँति महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी आर्षग्रन्थों को श्रेष्ठ तथा अनार्षग्रन्थों को आर्यावर्त्त के लिये घातक समझकर लिखा था—

जितने महाभारतयुद्ध के पीछे टीका वा ग्रन्थ बने हैं, वे विद्याहीन मिथ्या सम्प्रदाय में फस के भ्रान्त पुरुषों ने रचे हैं, इससे उनको पढ़ने पढ़ाने से पुरुष भी वैसे ही होते हैं, क्योंकि जैसा ग्रन्थ पढ़े वा पढ़ावेगा, वैसे ही संस्कार उसके,

बुद्धि में होंगे। इससे ऋषि-मुनियों के रचित मूल, भाष्य और टीकाओं के विना पढ़ने वा पढ़ाने से वेदों का सत्य-सत्य अर्थ और सत्यासत्य का कभी यथावत् बोध नहीं होगा। ...... इससे इनको अवश्य सब मनुष्यों को पढ़ना चाहिये और जिन (अनार्षग्रन्थों) को दूर छोड़ने [के लिये] कहा इनको न पढ़ें, न पढ़ावें, न इनको देखें। क्योंकि इनको देखने से वा सुनने से मनुष्य की बुद्धि बिगड़ जाती है। इससे इन ग्रन्थों को संसार में रहने भी न दें तो बहुत उपकार होय।

—सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्य, १८७५ ईसवी

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी आर्ष परम्परा की सुरक्षा के लिये संस्कृतभाषा के मूलग्रन्थ अष्टाध्यायी का सुबोध भाष्य लिखा था, उसीका यह चतुर्थ अध्याय आपके हाथों में है।

परोपकारिणी सभा का स्तुत्य कार्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा (अजमेर) के संग्रह में महर्षि के प्राय: सभी ग्रन्थों की मूलप्रतियाँ सुरक्षित हैं। इन सभी पाण्डुलिपियों का कागज कालवशात् अत्यन्त जीर्ण शीर्ण हो जाने से इन ग्रन्थों की सुरक्षा की समस्या उत्पन्न होगयी थी। इसलिये सभा के अधिकारियों की इच्छानुसार भारत सरकार के 'राष्ट्रीय अभिलेखाकार' तथा 'राष्ट्रीय संग्रहालय' नई दिल्ली के अधिकारियों से मिलकर मैंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के अधिकतर हस्तलेख आधुनिकतम प्रणाली के अनुसार सुरक्षित करवा दिये हैं। इससे ये ग्रन्थ आगामी दो सौ वर्षों तक के लिये पूर्ण सुरक्षित हो गये हैं। इन्हीं ग्रन्थों में अष्टाध्यायीभाष्य भी सम्मिलित है उसीके एक खण्ड में यह चौथा अध्याय १३१ पृष्ठों में लिखा हुआ है। इन ग्रन्थों के सुरक्षाकार्य हेतु भारत की तत्कालीन शिक्षा राज्यमन्त्री कुमारी शैलजा का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। पहले इसी कार्य का कुछ भाग प्रो० शेरसिंह शिक्षा राज्यमन्त्री भारत सरकार के सहयोग से भी सुरक्षित हुआ था। अवशिष्ट पाण्डुलिपियों का सुरक्षाकार्य आजकल 'राष्ट्रीय अभिलेखाकार' की जयपुर शाखा द्वारा किया जा रहा है।

एक निवेदन

परोपकारिणी सभा के अधिकारियों से एक निवेदन यह है कि जहाँ सभा ने महर्षिकृत अष्टाध्यायीभाष्य प्रकाशित करके एक सराहनीय कार्य किया है वहीं दण्डी स्वामी श्री विरजानन्दजी कृत व्याकरणग्रन्थ शब्दबोध, पाणिनीय सूत्रार्थप्रकाश और वाक्यमीमांसा का भी प्रकाशन कर देना चाहिये। इनमें से शब्दबोध नामक ग्रन्थ अलवर म्यूजियम में ३३२४ संख्या पर विद्यमान है। शेष दोनों ग्रन्थ कविरत्न अखिलानन्द शर्मा के अनुज श्री सुबोधचन्द्र शर्मा अनूपशहर (बुलन्दशहर उ० प्र०) के संग्रह में हैं। वहाँ से प्राप्त कर लेने चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन ग्रन्थों का प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है। इस कार्य में विलम्ब करना अशोभनीय है। प्रस्तुत अष्टाध्यायीभाष्य के प्रकाशन में भी अक्षम्य विलम्ब हो चुका है।

आर्षगुरुकुलों के लिये सुझाव

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्षप्रणाली का पुनरुद्धार करने के लिये अथक प्रयास किया था। उसे सतत चालू रखने के लिये कुछ गुरुकुलों में यथाशक्ति प्रयत्न हो रहा है, परन्तु वहाँ भी महाभाष्य का पठन पाठन लुप्तप्राय: होता जा रहा है। गुरुकुलों के आचार्यजनों को इस विषय में गम्भीरता से विचार करना चाहिये। अन्यथा पुराकाल की भाँति महाभाष्य का चतुर्थ वार पुनरुद्धार करना पड़ जायेगा। क्योंकि आज भी महाभाष्य को पढानेवाले पण्डित अङ्गुलियों पर गिनने योग्य ही रह गये हैं।

राज्य की ओर से मिलनेवाली आजीविका प्राप्ति की सुविधा तथा मान्यताप्राप्ति हेतु आर्षपाठविधि के साथ-साथ अन्य ग्रन्थो को भी पाठ्यक्रम में स्थान देना पड़ रहा है। इस विधि से हमारे छात्र योग्यता और ज्ञान की दृष्टि से खोखले होते जा रहे हैं। इस पीडा को गुरुकुलों के पुराने स्नातक अनुभव करते देखे गये हैं। इस प्रकार तो पूरी आर्षपद्धति की रक्षा होनी असम्भव है। परीक्षा उत्तीर्ण करने की दृष्टि से आधे-अधूरे ग्रन्थ को पढ़ लेना आर्षग्रन्थों के साथ न्याय नहीं कहलाता। आर्षग्रन्थों की रक्षा के लिए तो पूरा शास्त्र पढना-पढाना और पाठविधि में भी पूरा ही ग्रन्थ लगाना चाहिए। इसलिए इस विषय में भी चिन्तन करने की आवश्यकता है।

गुरुकुलों की अपनी पुरानी पाठविधि और वर्तमान में प्रचलित गुरुकुलीय पाठ्यक्रम की तुलना से भी दोनो का अन्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि हम शनै: शनै: ऋषिनिर्दिष्ट पाठ्यप्रणाली से कितने दूर होते जा रहे हैं।

महर्षि जी ने अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति पढ़ने के लिये काशिकादि किसी ग्रन्थविशेष का नाम नहीं लिखा। वे काशिका आदि के दोषों से सुपरिचित थे, अत: उसे पढने पढाने के लिये कहना अनार्षग्रन्थों की पुष्टि करना हो जाता। इसीलिये उन्होने काशिका के स्थानापन्न इस अष्टाध्यायीभाष्य का प्रणयन किया। अत: आर्षगुरुकुलों में काशिका के स्थान पर इसी भाष्य को पढाया जाना चाहिये। तभी हम ऋषि ऋण से अनृण हो सकेंगे।

सम्पादन कार्य

अप्रैल १९९७ से परोपकारिणी सभा के प्रधान श्रद्धेय श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज, मन्त्री श्री गजानन्दजी आर्य और संयुक्त मन्त्री श्री प्रो० धर्मवीरजी आदि ने सभा की ओर से चारों वेद मूल, अष्टाध्यायीभाष्य, निरुक्त, पारिभाषिक और वेदभाष्य आदि ग्रन्थों का सम्पादन कार्य सौंपकर मेरा गौरव बढाया है।

प्रस्तुत भाष्य का हिन्दी भाषारूपान्तर श्री पं० राजवीरजी शास्त्री ने किया है। ये मेरे संस्कृत विद्यागुरु रह चुके हैं। इनके ग्रन्थ का सम्पादन करना मेरे लिये हर्ष का विषय है।

इस भाष्य के सम्पादन करने में निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रक्खा

गया है—

१ इस अष्टाध्यायीभाष्य में महर्षि दयानन्दजी के लिखे मूलभाग को यथावत् सुरक्षित रक्खा गया है।

२. महर्षिजी के सभी ग्रन्थ और पत्रादि का लेखन कार्य प्राय: लेखक लोग किया करते थे। लिखते समय असावधानी से सामान्य त्रुटि रह जाना स्वाभाविक है, ऐसी सामान्य अशुद्धियाँ ठीक कर दी गई हैं।

३ मूल संस्कृतभाष्य में प्रमाण और उदाहरण स्वरूप दिये गये सूत्रों के पते नहीं लिखे हैं, उनके पते अनुवाद करते समय कोष्ठक में दे दिये हैं।

४ च, वा, न, विभाषा, अन्यतरस्याम् और गच्छति, करोति, तिष्ठति आदि पदों को पदपाठ में अव्ययपद वा क्रियापद नहीं लिखा। इन सबके आगे कोष्ठक [ ]-में अव्ययपद अथवा क्रियापद यथावसर लिख दिया है।

५. कुछ आवश्यक स्थानों पर टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं।

६. अनुवादक महोदय ने छात्रों को सुविधा हेतु कहीं-कहीं सन्धिकार्य में शैथिल्य भी कर दिया है।

७. इस भाष्य को शुद्धतम प्रकाशित करने का पूरा प्रयास किया गया है, पुनरपि अनवधानतावश कोई त्रुटि रह गई हो तो जानने-जनाने पर उसका संशोधन कर दिया जायेगा।

अष्टाध्यायी के इस भाष्य तथा उपर्युक्त वेद आदि सभी ग्रन्थों के सम्पादनादि कार्यकाल में श्री वैद्य सुकर्मपालजी आर्य, नयागांव (झज्जर) तथा इनके पूरे परिवार ने अत्यन्त निस्स्वार्थ आत्मीयता से भोजनाच्छादन, आवास आदि की पूर्ण सुविधा प्रदान करके मुझे सर्वथा निश्चिन्त किया हुआ है। लगभग इसी प्रकार का साहाय्य श्री आचार्य हरिदेवजी गुरुकुल गौतमनगर, दिल्ली ने भी दे रक्खा है। इसीलिये यह गुरुतर कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहा है, एतदर्थ मैं इनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

नयागांव, झज्जर (हरयाणा)
श्रावणी २०५४ विक्रमसंवत्

सम्पादक
—विरजानन्द दैवकरणि

भूमिका

महर्षि दयानन्द की निर्वाण शताब्दी के शुभ अवसर पर समस्त आर्यजगत् में महर्षि दयानन्द के अलौकिक कार्यों के प्रति जो अगाध श्रद्धा, स्नेह, उत्साह एवं आस्था की प्रबल उमङ्गों की तरङ्गें आन्दोलित हुई, उनसे अदृश्य, जनमानस से विस्मृत प्राय तल स्थानीय अनेक बातें भी ऊपर उमड़कर आईं। उनमें महर्षि दयानन्द कृत अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय का यह भाष्य भी ऋषि के अनन्य भक्तों के समक्ष आया, जिसे देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि क्या महर्षि का लिखा यह ग्रन्थ महर्षि के निधन के सौ वर्ष बाद भी नहीं छप सका! और अब भी यदि स्वनाम धन्य, आर्षग्रन्थों के अनन्य-भक्त तथा महर्षि दयानन्द के परम दिवाने गुरुवर श्री स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती इस ग्रन्थ के प्रति ध्यान नहीं देते, तो यह ग्रन्थ न जाने कितने समय तक अप्रकाशित ही पड़ा रहता। यथार्थ में जो जिसके गुणों का पारखी होता है, वही उसका मूल्य समझता है। हीरों की परख कोई विरला जौहरी ही कर पाता है। परोपकारिणी सभा के अधिकारियों ने जहाँ महर्षि दयानन्द की धरोहर को न केवल सुरक्षित ही रक्खा, प्रत्युत उसका प्रचार व प्रसार सतत उद्यम से किया, एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद के योग्य है।

पूज्य स्वामीजी ने इस अमूल्य धरोहर को जब सपादन एवं हिन्दीभाष्य करने के लिये मुझे सौंपा, तो मैंने अपना परम सौभाग्य समझकर इसे सहर्ष स्वीकार किया। यद्यपि आर्षसाहित्य-प्रचार ट्रस्ट के कार्याधिक्य के कारण समय का अभाव ही था, पुनरपि मैं इसे अपना कर्त्तव्य समझकर विघ्न बाधाओं की उपेक्षा करते हुए अतीव श्रद्धाभाव से सम्पन्न कर पाया, एतदर्थ सर्वेश्वर परम दयालु जगदीश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ।

महर्षिकृत अष्टाध्यायीभाष्य के प्रमाण—महर्षि निर्वाण के सौ वर्ष बाद प्रकाशित इस ग्रन्थ के विषय में पाठकों के मन में यह सन्देह होना स्वाभाविक ही है कि इस ग्रन्थ को महर्षिकृत कैसे माना जाये? यद्यपि महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण को छोड़कर समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन महर्षि के जीवनकाल में ही हुआ है, और वेद-भाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश भी निर्वणोत्तर कुछ वर्षों के अन्तराल से ही प्रकाशित होकर जनता के हस्तगत हो गये थे। अतः किसी को किसी प्रकार की आशङ्का का कोई अवसर नहीं मिला, परन्तु निर्वाणोत्तर एक शताब्दी का समय थोड़ा नहीं होता, अतः पाठकों के सन्देहनिवारण के लिये प्रामाणिक बाह्य तथा आन्तरिक साक्षी के कतिपय उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

(क) सं० १९३५ वि० के वैशाख मास में प्रकाशित ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के अन्तिम (१५-१६ वें) अङ्क के अन्त में निम्नलिखित विज्ञापन-पत्र छपा—

"आगे यह विचार किया जाता है कि संस्कृत विद्या की उन्नति करनी चाहिये,

सो विना व्याकरण के नहीं हो सकती। जो आजकल कौमुदी, चन्द्रिका, सारस्वत, मुग्धबोध और आशुबोध आदि ग्रन्थ प्रचलित हैं, इनसे न तो ठीक ठीक बोध और न वैदिक विषय का ज्ञान यथावत् होता है। वेद और प्राचीन आर्षग्रन्थों के ज्ञान से विना किसीको संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता और इसके विना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित अष्टाध्यायी, महाभाष्य नामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी [को] सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है।''

(ख) इसी विषय में आर्यसमाज दानापुर (सयुक्त प्रान्त) के मन्त्री थे बाबू माधोलाल को भी महर्षि दयानन्द ने कई पत्र लिखे थे, उनमें से कतिपय उपलब्ध पत्र देखिये—

(१) बाबू माधवलाल जी! आनन्द रहो। विदित है कि चिट्ठी आपकी आई। बहुत हर्ष हुआ। आप पाणिनीय अष्टाध्यायीभाष्य के ग्राहकों का सूचीपत्र बनाकर भेज दीजिये, क्योंकि जो इसमें खर्च होगा, वह तो आपको ज्ञात ही होगा। १००० ग्राहक जब हो जाएँगे, तब आरम्भ करेंगे। सब सभासदों को नमस्ते।

—(२५ जुलाई १८७८ ई०, रुड़की सहारनपुर)

(२) ''अब ग्राहक अष्टाध्यायी के भेज दो, क्योंकि अब तैयार होने लगी है।'' —(९ अगस्त, १८७८ ई०, रुड़की सहारनपुर)

(३) ''अष्टाध्यायी की वृत्ति बनने का आरम्भ हो गया है।''

—(१५ अगस्त, १८७८ ई०, रुड़की, सहारनपुर)

(४) ''अष्टाध्यायी के अभी तक पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं हुए हैं। इसके चार अध्याय अभी तैयार हुए हैं। काम सर्वथा भले प्रकार चल रहा है। यद्यपि कोई कॉपी आजतक यन्त्रालय में से नहीं निकली।'' (२४ अप्रैल १८७९ ई०)

(श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक पुस्तक के पृ० १७१-७२ से)

(ग) अमर हुतात्मा श्री पं० लेखरामजी द्वारा सगृहीत महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्र के ९३९ पृ० पर निम्नलिखित लेख भी उपर्युक्त बात का साक्षी है—

''वेदाङ्ग-प्रकाश के सन्धिविषय में महर्षि का यह लेख है—'यह अट्ठारह प्रयोजन यहाँ संक्षेप से लिखे हैं, किन्तु इनको प्रमाण और विस्तारपूर्वक अष्टाध्यायी की भूमिका में लिखेंगे।' इस लेख के सङ्केत को लेकर हम अनुमान करते हैं कि महर्षि ने वेदाङ्ग प्रकाश के अतिरिक्त अष्टाध्यायी का भाष्य भी रचा होगा। यही नहीं हमारा अनुमान ही यह नहीं कह रहा है, प्रत्युत निम्नलिखित लेख इस बात की निर्भ्रान्ति पुष्टि करता है कि वे अष्टाध्यायी का भाष्य सम्पूर्ण छोड़ गये हैं—

''स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत अष्टाध्यायी की टीका धरी हुई है। संस्कृत

और भाषा टीका सहित छपाई जावे।''

(वैदिक यन्त्रालय द्वारा स० १९४६ में प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य के ११४,११५वें अङ्कों के सयुक्त अङ्क के अन्त में प्रकाशित विज्ञापन से)

महर्षि कृत अष्टाध्यायी की टीका की जितनी आवश्यकता है, उसको संसार जानता है। ऐसे अपूर्व और परमोपयोगी ग्रन्थ का आजतक न छपना हमको विस्मित कर रहा है।

(घ) ऋग्वेदभाष्य १५,१८ तथा यजुर्वेदभाष्य अङ्क १५ (सं० १९३७) और 'सत्यधर्मविचार' नामक पुस्तक (सं० १९३७) में निम्नलिखित विज्ञापन भी विशेषरूपेण द्रष्टव्य है—

'अष्टाध्यायी—यह पुस्तक अलग भी संस्कृतवृत्ति सहित छपेगा।'

महर्षि ने कितना अष्टाध्यायीभाष्य लिखा—

महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त पत्रों तथा विज्ञापनों से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ने अष्टाध्यायी का भाष्य अवश्य किया था। एक सहस्र ग्राहक बन जाने पर उनका प्रकाशन करने का भी पूर्ण निश्चय था, किन्तु ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने तथा अन्य कार्यों में व्यस्त होने के कारण महर्षि की इच्छापूर्ण न हो सकी। महर्षि ने अष्टाध्यायी का भाष्य कितना किया था। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के सप्रमाण इतिहास के लेखक तथा चिरकाल तक अजमेर में रहकर महर्षि के हस्तलेखों का भी अनुशीलन करनेवाले श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का लेख इस विषय में तथ्यपूर्ण होने से यहाँ दिया जाता है—

''अष्टाध्यायीभाष्य की परोपकारिणी-सभा अजमेर के संग्रह में जो हस्तलिखित प्रति विद्यमान है, उसको हम चार विभागों में बाँट सकते हैं। यथा—(१) प्रारम्भ से तृतीयाध्याय के प्रथम पाद के चालीसवें सूत्र तक। इस भाग में संस्कृतभाष्य का भाषानुवाद भी है और पृ० १।११९ तक (अ० १ पा० २ सूत्र ७१ तक) कहीं कहीं लाल स्याही से संशोधन भी है, परन्तु यह संशोधन स्वामीजी के हाथ का नहीं है। इसके आगे संशोधन का सर्वथा अभाव है। इस भाग में पृ० १२० से २२३ तक १०३ पृ० लुप्त हैं। इन पृष्ठों में प्रथमाध्याय के ३ ४ पाद का भाष्य था।

(२) अ० ३। पा० १ सूत्र ४१ से चतुर्थ अध्याय के अन्ततक। इस भाग में भाषानुवाद नहीं है। भाषानुवाद के लिये सामने का पृष्ठ खाली छोड़ रखा है। संशोधन किञ्चिन्मात्र नहीं है। आरम्भ से लेकर यहाँ तक के संस्कृत भाग की लेखन शैली अच्छी है। कहीं कहीं लेख अत्यन्त प्रौढ है।

(३) पञ्चमाध्याय के आरम्भ से षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद के १६३ सूत्र पर्यन्त। इस भाग में न भाषानुवाद ही है और न ही सशोधन। पूर्व की अपेक्षा इसकी रचना शैली भिन्न है और संस्कृत भाष्य का लेख अत्यन्त साधारण है। प्राय: तीन चौथाई भाग काशिका की प्रतिलिपि मात्र है।

इन तीनों भागों का कागज प्रायः एक जैसा है। इस तरह का कागज कहीं कहीं वेदभाष्य के हस्तलेखों में भी प्रयुक्त हुआ है।

(४) अ० ६ पा० ४ सू० १६४ से लेकर सप्तमाध्याय के द्वितीयपाद के दो तिहाई भाग पर्यन्त। इस भाग की रचनाशैली पहिली से सर्वथा निराली है। इसकी लेखनशैली व्याकरण के नव्यग्रन्थों की लेखनशैली से मिलती है

मैंने आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के साथ अष्टाध्यायीभाष्य के तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सम्पादन कार्य किया है। अतः इस भाष्य से भली-भाँति सुपरिचित होने के कारण मैं दृढतापूर्वक कह सकता हूँ कि यह भाष्य चतुर्थाध्याय पर्यन्त ऋषि का बनाया हुआ निश्चित है, क्योंकि इन अध्यायों में कई स्थल इतने प्रौढ और गम्भीर हैं कि व्याकरण के बड़े पण्डित भी उसमें चक्कर खा सकते हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन काल में हमें किसी किसी बात के विचारने में कई कई दिन लग गये थे। ऋषि के वेदभाष्य में जिस प्रकार व्याकरण सम्बन्धी अनेक अभूतपूर्व लेख मिलते हैं, वैसे ही इस अष्टाध्यायीभाष्य में भी चतुर्थाध्याय पर्यन्त उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रौढ लेख महर्षि के विना और किसीके नहीं हो सकते। ('ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृ० १६६ १६८)

अष्टाध्यायीभाष्य के दो भाग इससे पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें प्रथमभाग में अष्टाध्यायी के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों का भाष्य है। इस भाग में प्रथमाध्याय के ३-४ पादों का भाष्य नहीं। पता नहीं, इन दो पादों का भाष्य किसके प्रमाद के कारण आर्यजनता को नहीं मिल सका और द्वितीयभाग में तृतीयाध्याय का भाष्य है। ये दोनों भाग भी महर्षि के निर्वाण के ४६ वर्ष के बाद सन् १९२७ में परोपकारिणी-सभा ने प्रकाशित किये हैं। उस समय भी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि इस भाष्य के महर्षिकृत होने में किसीको कोई शङ्का पैदा न हो, इसलिये प्रथमभाग की भूमिका में श्री डॉ० रघुवीरजी 'एम०ए०' ने अनेक विज्ञापनों व पत्रों की साक्षियाँ प्रस्तुत करके इस शङ्का का उत्तम ढङ्ग से समाधान किया है, और साथ ही महर्षि के दूसरे लेखों से इस भाष्य की तुलना करके भी यही सिद्ध किया है कि इस प्रौढ़शैली में लिखे अष्टाध्यायी का भाष्य महर्षि से भिन्न व्यक्ति का कभी नहीं हो सकता है। अतः प्रथमभाग के तुलनात्मक लेख तथा प्रमाणभाग भी इस विषय में अवश्य द्रष्टव्य हैं।

महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषताएँ—

महर्षि दयानन्द ने यद्यपि मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये ही अपना समस्त जीवन समर्पित किया था और मानव की वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय स्तर की समस्त बुराइयों को दूर कर सत्य-ज्ञान का प्रकाश फैलाया था, किन्तु उनकी सर्वाधिक श्रेय बात का है कि उन्होंने सत्य ज्ञान के लुप्त प्रायः निर्भ्रान्त वैदिक ज्योति पर आच्छन्न, काल्पनिक एवं मिथ्याज्ञान की घोर घटाओं को छिन्न भिन्न

करके वेदज्ञान और वेदों को जानने के साधन प्राचीन आर्षज्ञान के ग्रन्थों को जन समान्य के समक्ष प्रस्तुत करके उनके गौरव को अक्षुण्ण रखने का भगीरथ प्रयास किया। जिन अनार्षग्रन्थों ने मानव की बुद्धि को इतना कुण्ठित कर दिया था कि वह सत्यासत्य के निर्णय करने की प्रतिभा को न के केवल खो बैठा था, प्रत्युत अन्धविश्वासों की वीथिकाओं में भटकने को ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठा था। उन ग्रन्थों से, जिनका पढ़ना ऐसा ही था, जैसे पहाड़ खोदना, किन्तु लाभ कुछ भी न होना था, मानव को मुक्ति दिलाकर उस पावन आर्षज्ञान की शिक्षा को प्राप्त कराया, जिसमें गोता लगाना मानो बहुमूल्य मोतियों को प्राप्त करने के समान है।

महर्षि ने वेदों के सत्यार्थ को जानने के लिये वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा ब्राह्मणग्रन्थों को पढ़ना परमावश्यक माना है और वेदाङ्गों में भी व्याकरण की प्रधानता शरीर में मुख की भाँति मानी है। महर्षि पतञ्जलि के 'प्रधानं षडङ्गेषु व्याकरणम्।' **'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।'** (महाभाष्य) इन वचनों की यथार्थता को महर्षि दयानन्द ने ही परखा था। महर्षि के गुरुवर ब्रह्मर्षि विरजानन्दजी भी व्याकरण के अनार्षग्रन्थों के प्रति इसीलिये छात्रों में अश्रद्धा उत्पन्न किया करते थे कि इन ग्रन्थों ने व्याकरणादि का वेदाङ्गत्व ही नष्ट कर दिया था और लघु उपाय से शब्दों को जानने के साधन व्याकरण को अतीव क्लिष्ट बना दिया था। इसीलिये महर्षि की यह प्रबल इच्छा थी कि वेदभाष्य के साथ साथ व्याकरणादि वेदाङ्गों की भी सत्य एवं सरल व्याख्यायें प्रकाशित कराई जायें। इसी उद्देश्य से उन्होंने अष्टाध्यायी का भाष्य संस्कृत तथा आर्यभाषा में छपवाने के लिये यह विज्ञापन (सं० १९३६ में यजुर्वेदभाष्य के १५वें अङ्क में) प्रकाशित करवाया था—'अब उन्होंने आर्यसमाजों के कहने से व्याकरण आदि. . को भी अति सुलभ आर्यभाषा में प्रकाश करने का प्रारम्भ किया है।'

प्रस्तुत अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के भाष्य में भी महर्षि ने स्थान स्थान पर जो विशेष सूत्रार्थ, अनार्षग्रन्थों की महाभाष्य के आश्रय से समीक्षा और वेदार्थ में परम सहायक वैदिक नियमों की विशेष व्याख्या की है, उनसे जहाँ अनेक भ्रान्तियों का निराकरण होता है, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अन्धभक्तों द्वारा जो वेदों पर इतिहास आदि विषयक मिथ्या आक्षेप किये गये हैं, उनका सरल तथा निर्भ्रान्त समाधान भी स्वतः ही मिल जाता है। पाठकों के लाभार्थ महर्षि की कतिपय विशिष्ट व्याख्याओं का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१) व्याकरण वेद का मुख्य अङ्ग है। जैसे वैदिक शब्द रूढ़ अर्थों को न बताकर यौगिक प्रक्रिया से अर्थों के बोधक होते हैं, वैसे ही वैदिक व्याकरण में भी रूढ़-अर्थों का ग्रहण करना अनुचित है। यद्यपि व्याकरण का प्रयोजन—''नैगम रूढ़ि भवं हि सुसाधु'' के अनुसार लौकिक तथा वैदिक उभयविध शब्दों का साधुत्व बताना है। पुनरपि लोक तथा वेद, दोनों के लिये अथवा वेद के ही लिये जो विशिष्ट नियम हैं, उनमें लोकरूढ़ अर्थों का करना बहुत ही अनर्थ

का कारण बन जाता है। जैसे—तस्यापत्यम् (अ० ४।१।९२) सूत्र में 'अपत्यम्' शब्द का सन्तान अर्थ ही पठन पाठन में व्यवहार में आता है। जैसे—उपगोरपत्यम् औपगवः। उपगु का पुत्र औपगव कहलाता है। इस लोक प्रसिद्ध अर्थ को पढने के पश्चात् जब वेद में ऐसे शब्दों का अर्थ सन्तानपरक किया जाता है, तो इतिहास की भ्रान्ति स्वतः ही होने लगती है। जैसे—उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठः (ऋ० ७।३३।११) यहाँ मित्रावरुण से उत्पन्न वसिष्ठ की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार—मनोरपत्यं मानवः। अदितेरपत्यमादित्यः। इत्यादि में भी भ्रान्ति होती है कि अदिति का अपत्य सूर्य कैसे सम्भव है? तथा—द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः, षाण्मातुरः, अर्थात् दो अथवा छह माताओं का अपत्य (सन्तान) कैसे सम्भव है! क्या व्याकरण से इस प्रकार के शब्दों का साधुत्व आकाश पुष्प की भाँति निरर्थक ही है। इस भ्रान्ति का निराकरण महर्षि ने कितने उत्तम प्रकार से किया है—

'अपत्यमित्युत्पन्नस्य कार्यस्य ग्रहणम्॥' (४।१।९२) अर्थात् 'अपत्यम्' शब्द यहाँ सन्तान का वाची नहीं है अपितु उत्पन्न कार्य का ग्राहक है। जो वस्तु जिस कारण से उत्पन्न होती है, वह कार्य अपत्य कहलाता है और इस अर्थ की सङ्गति जड़-चेतन समस्त पदार्थों में हो जाती है तथा उपर्युक्त भ्रान्तियों का निराकरण भी हो जाता है। सूर्य से दिन प्रकट होता है अतः वह सूर्य का अपत्य है। जिस वस्तु के दो अथवा उससे अधिक कारण हों, वह 'द्वैमातुरः षाण्मातुरः' इत्यादि कहलायेगा। इसी कार्य-कारणभाव को न समझकर और लोक प्रसिद्ध अर्थों का आश्रय करके जब वेदों के अर्थ किये जाने लगे, तो कैसे कैसे अनर्थ हुए, इसका भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है। (ऋ० ३।३१।१) में एक मन्त्र है—

पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्०॥

इसका लौकिक अर्थ यह होगा—पिता अपनी पुत्री में वीर्यस्थापन करता है। ऐसे अर्थों को देखकर कौन व्यक्ति वेदों पर आस्था तथा श्रद्धा कर सकता है? महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में इसका सत्यार्थ दिखाते हुए लिखा है—

''यहाँ प्रजापति कहते हैं सूर्य को, जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही सन्तान कहाता है। इसलिये उषा.....सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उनमें से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है।' (ऋग्वेदादि० ग्रन्थ प्रामाण्या०)

(२) इस पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव को न समझने के कारण ही एक अन्य भ्रान्ति देखिये—समुद्राभ्राद् घः॥ (४।४।११८)

इस सूत्र में समुद्र और अभ्र दो शब्दों का समास है और समास में यह नियम है कि जिसमें अल्प अच् (स्वर) हों, उसका पूर्वनिपात होना चाहिये, किन्तु

सूत्र में इस नियम का उल्लङ्घन दिखायी देता है, इसलिये काशिकाकार ने लिखा है—'अभ्रशब्दस्यापूर्निपातस्य लक्षणस्य व्यभिचारित्वात्।' अर्थात् व्याकरण के नियम का व्यभिचार (उल्लङ्घन) करके यहाँ 'अभ्र' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया है। इसपर महर्षि की व्याख्या देखिये—

''अहो जयादित्यस्येदृशी बुद्धिर्यया सूत्रमिदं दूषितम्। नैतत् तेन विचारितम्—समुद्रशब्दोऽन्तरिक्षनामसु पठितम्। अभ्रशब्दश्च मेघवाची। तत्रान्तरिक्षं पिता मेघोऽभ्रं पुत्रः। मेघानामन्तरिक्षादेव जायमानत्वात्। समुद्रशब्दोऽभ्यर्हितं मेघस्योत्पत्तिकारणत्वात्॥ अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति भवत्येव समुद्रशब्दस्य पूर्वनिपातः॥''

अर्थात् जयादित्य की ऐसी ही बुद्धि है, जिसने सूत्र को ही अशुद्ध बता दिया है। उसने यह विचार नहीं किया कि यह छन्दस सूत्र है और वैदिक शब्दों में समुद्र शब्द का पाठ अन्तरिक्ष नामों में है और अभ्र शब्द मेघ नामों में पठित है और मेघ अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते हैं अतः कार्य-कारणभाव होने से समुद्र तथा मेघ में पिता पुत्र का सम्बन्ध है। पितृवत् अभ्यर्हित (पूजित) होने से सूत्र में 'समुद्र' शब्द का पूर्व निपात नियमानुकूल ही है विरुद्ध नहीं, क्योंकि ''अल्पाच्तरम्'' सूत्र नियम का ''अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति'' यह नियम अपवाद है।

(३) व्याकरण में ऐतिहासिक नामों का ग्रहण नहीं है—व्याकरणशास्त्र में यद्यपि लौकिक शब्दों का अनुशासन है, और सामान्य-अपवाद की अद्भुत प्रक्रिया का आश्रय करके पाणिनि मुनि ने सूत्रों की रचना की है। जिससे लघुतम उपाय के द्वारा अल्पकाल में ही शब्द-सिद्धि का बोध हो सके। पुनरपि कहीं कहीं विशिष्ट शब्दों की सिद्धि के लिये विशेष सूत्रों की भी रचना की है और उन विशेष-शब्दों का आश्रय करके कुछ व्यक्ति व्याकरण में भी लौकिक इतिहास की खोज करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे—

(क) द्रोण पर्वत-जीवन्तादन्यतरस्याम्। (४।१।१०३) सूत्र में महाभारत के आचार्य द्रोण का ग्रहण करना।

(ख) बाह्वादिगण में युधिष्ठिर तथा अर्जुन शब्दों का पाठ है और (ऋष्यन्धकवृष्णि-कुरुभ्यश्च, ४।१।११४) सूत्र में वृष्णिविशेष वासुदेव, कुरुविशेष नाकुल, साहदेव, इत्यादि शब्दों को देखकर महाभारत कालीन पुरुषों का ग्रहण करते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये महर्षि दयानन्द ने महाभाष्य का प्रमाण देकर स्पष्ट किया है—''बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं गोत्रभावे लौकिके ततोऽन्यत्र तेषां प्रतिषेधः।'' इत आरभ्यापत्याधिकारे सर्वत्र वार्तिकस्यास्य प्रवृत्तिः। अर्थात् इस वार्तिक की प्रवृत्ति अपत्याधिकार में सर्वत्र होती है। इस वार्तिक का अभिप्राय यह है कि—अपत्याधिकार में जिन प्रातिपदिकों से प्रत्यय विधान किया है, वे लोकप्रसिद्ध गोत्रों के मुख्य आदि पुरुष लिये गये हैं। जो गोत्रों के प्रवर्त्तक आदिपुरुष

वाचक शब्द हैं, वे यदि किसी व्यक्ति की संज्ञा को बताते हैं, तो उनसे ये प्रत्यय नहीं होते हैं। महर्षि ने इसी भाव को (द्रोण-पर्वत० ४।१।१०३) सूत्र पर (महाभारते यो द्रोणो बभूव तस्मान्न भविष्यति) यह कहकर और (पाण्डोर्ड्यण् वक्तव्यः, ४।१।१६६ वा०) इस वार्त्तिक पर (युधिष्ठिरादीनां पितुः पाण्डोर्ग्रहण मत्रनास्ति) यहाँ युधिष्ठिरादि के पिता पाण्डु का ग्रहण नहीं है, यह कहकर प्रकट किया है।

(४) 'वासुदेव' शब्द परमात्मा का वाचक है, श्रीकृष्ण का नहीं— वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः। ऐसा विग्रह करके 'वासुदेव' शब्द से वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण के ग्रहण में बहुधा भ्रान्ति हुई है और (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् अ० ४।३।९८) सूत्र में 'अर्जुन' शब्द के सान्निध्य से इस बात की पुष्टि होती, प्रतीत होती है, परन्तु यह भी भ्रम ही है, क्योंकि अपत्याधिकार में मुख्य गोत्रप्रवर्त्तक आदिपुरुषों के नामों से ही प्रत्यय होते हैं, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से नहीं, यह बात सप्रमाण पहले लिखी जा चुकी है और यदि इस सूत्र में गोत्रापत्य मान कर प्रत्यय विधान किया होता तो (गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् अ० ४।३।९९) सूत्र से ही वुञ् प्रत्यय हो जाता है। इसीलिये इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—''वासुदेवशब्दो गोत्रक्षत्रियाख्यो नैवात्र गृह्यते, किन्तु सच्चिदानन्दादि लक्षणस्य परमात्मनः संज्ञा।'' अर्थात् वासुदेव शब्द से इस सूत्र में परमात्मा का ग्रहण है, वसुदेव के अपत्य का नहीं और यह बात सूत्र में 'अर्जुन' शब्द के अल्पाच्तर होने पर भी पूर्वनिपात न करने से स्पष्ट होती है, क्योंकि 'अल्पाच्तरम्'' सूत्र का भी ''अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति'' वार्त्तिक अपवाद है।

(५) **याज्ञवल्क्यादि प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थ प्राचीन हैं**—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु' (अ० ४।३।१०५) सूत्र पर जयादित्य ने ''पुराणप्रोक्तेषु'' का प्रत्युदाहरण 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' दिया है और यह लिखा है कि याज्ञवल्क्यादि के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थ नवीन है, किन्तु यह बात महाभाष्य से विरुद्ध होने से मिथ्या है, क्योंकि महाभाष्य में (एतान्यपि तुल्यकालानि) कहकर शाट्यायनादि ऋषियों के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन ही याज्ञवल्क्यादि के ब्राह्मणग्रन्थों को माना है और इसी बात की पुष्टि इस सूत्र पर वार्त्तिक से होती है –''पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्। अन्यथा पुराणप्रोक्त न होने से प्रत्यय की अप्राप्ति में प्रतिषेध करना निरर्थक ही है और काशिकाकार ने इस वार्त्तिक को भी जान बूझकर ही छोड़ दिया है। इसका कारण भी इसके अपने मत का विरोध ही प्रतीत होता है।

(६) **क्या छात्र गुरुजनों के दोषों (पापकर्मों) को ढकनेवाला होता है**—(छत्रादिभ्यो णः अ० ४।४।६२) सूत्र से 'छत्र' शब्द से शील अर्थ में 'ण' प्रत्यय करने से 'छात्र' शब्द सिद्ध होता है। इस शब्द का सत्यार्थ न समझकर जयादित्य तथा भट्टोजिदीक्षितादि लिखते हैं **'गुरुकार्येष्ववहितस्तच्छिद्रावरण प्रवृत्तश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्रः।'** अर्थात् गुरुजनों के कार्यों में जो प्रमाद नहीं करता

तथा गुरुजनों के दोषों को ढकने का जिसका स्वभाव हो गया है। वह शिष्य छात्र कहलाता है।

किन्तु छत्र शब्द का यह अर्थ महाभाष्य तथा प्राचीन शास्त्रीय मर्यादाओं से भी विरुद्ध होने से मिथ्या है। महाभाष्य में ''छत्रमिव छत्रम्'' यहाँ उत्तरपद का लोप माना है। जिसके अनुसार 'छात्र' शब्द का अर्थ है। जैसे छत्र=छाते से धूपादि से होनेवाले दुःखों का निवारण होता है, वैसे ही छत्र के तुल्य गुरु के द्वारा जिसके मूढत्वादि दोषों को दूर किया जाये, वह छात्र है। **''छत्रं गुरुस्तत्सेवनं शीलमस्य स छात्रः''** और जैसे छत्र की भाँति गुरु शिष्य को अविद्यादि दूर करके दुःखों से बचाता है, वैसे ही शिष्य को छत्र तुल्य गुरु की भी सेवा करनी चाहिये।

और कोई भी मनुष्य कितना भी प्रयास करे, वह निर्दोष हो सके, यह असम्भव ही है। इसलिये प्राचीन आचार्य शिष्यों को यह उपदेश दिया करते थे—**'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।'** अर्थात् हे शिष्यो! तुम हमारे सुचरितों का ही ग्रहण करो, दुश्चरितों का नहीं। इससे स्पष्ट है कि गुरुजन दोषों को छिपाना कभी नहीं चाहते थे, अपितु दूर कराना ही चाहते थे, परन्तु मध्यकालीन गुरुडम की अन्ध परम्पराओं ने अपने अनुयायी शिष्यों में ऐसे भाव भरने का प्रयास किया कि जिससे दोषों को दूर करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और पापकर्मों को छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। मध्यकालीन अष्टाध्यायी के व्याख्याकारों ने भी वे ही अशुद्ध भाव व्याकरण में समाविष्ट कर दिये, किन्तु ऋषि तो निष्पाप थे, वे पाप के आवरण को कैसे सहन कर सकते थे। इसलिये उन्होंने व्याकरण के द्वारा भी जहाँ अपशब्दों से बचाकर म्लेच्छता से हमें बचाया, वहाँ व्याकरण के मुख्य वेदाङ्गत्व का गौरव भी समझाया। ऐसे पवित्रात्माओं के भाष्यों की जितनी भी प्रशंसा की जाये, वह थोड़ी ही है।

सत्य-ज्ञान की कसौटी-आर्षशिक्षा

(१) गुरुवर से प्राप्त पारसमणि को क्या आर्य अपना रहे हैं?

महर्षि दयानन्द जिस समय शिक्षा समाप्त करके और गुरुदक्षिणा में मिले गुरु आदेश को शिरोधार्य करके विदा होने लगे, उस समय गुरुजी ने अपने आदर्श शिष्य को एक आदर्श एवं मूल्यवान् आशीर्वाद दिया—

''मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है और ऋषिकृत में नहीं। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।''

(२) क्या हम आर्यजन आदर्श गुरु के आदर्श शिष्य के आदेश की अवहेलना तो नहीं कर रहे हैं? महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

(क) 'जितना बोध इनके (अष्टाध्यायी, महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्ष में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमा आदि के पढ़ने से पचास वर्ष में भी नहीं हो सकता।'

(ख) 'महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके, वहाँ तक सुगम और

जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी। जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्पलाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।' (स० प्र० ३ समु०)

(३) गुरुवर विरजानन्दजी दण्डी अनार्षग्रन्थों पर कैसे अश्रद्धा उत्पन्न करते थे?

'भट्टोजिदीक्षित, जो सिद्धान्त कौमुदी संस्कृत व्याकरण के रचयिता हैं, उनके नाम पर दण्डीजी विद्यार्थियों से जूते लगवाया करते थे और जबतक उसका सम्मान विद्यार्थियों के हृदय से दूर नहीं होता था तबतक अष्टाध्यायी का आरम्भ नहीं करते थे। यह बात उनकी जगत् प्रसिद्ध थी।' (पं० लेखराम-लिखित जीवनचरित, पृ० ४५)

(४) गुरुवर दण्डीजी के मनमें अनार्षग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा क्यों और कैसे जागृत हुई?

(क) व्याकरण के 'सारस्वत' ग्रन्थ की वास्तविकता का रहस्य दण्डीजी सुनाया करते थे—'अनुभूति स्वरूप आचार्य ने इसे बनाया है। बूढ़ा होने के कारण मुख में दाँत न रहने से किसी शास्त्रार्थ में (पुंसु) अशुद्ध शब्द मुख से निकल गया। पण्डितों ने आक्षेप किया, वे क्रोध में आ गये और उसकी सिद्धि के लिये यह झूठा ग्रन्थ बनाया और मिथ्या अभिमान में आकर इस अशुद्ध को शुद्ध कर दिखाया।' (पं० लेखराम जीवनचरित, ४५ पृ०)

(ख) वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य श्री कृष्णशास्त्री न्याय और व्याकरण के प्रसिद्ध पण्डित थे। एक दिन शास्त्री जी के दो विद्यार्थियों (लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड-मुडिया पण्ड्या) का विरजानन्दजी के दो विद्यार्थियों (चौबे गङ्गादत्त और रङ्गदत्त) से शास्त्रार्थ हो पड़ा। कृष्णशास्त्री के विद्यार्थियों ने पूछा—(अजाद्युक्तिः) इस वाक्य में कौन-सा समास है? दण्डीजी के विद्यार्थी कहते थे—षष्ठीतत्पुरुष और शास्त्रीजी के विद्यार्थी सप्तमीतत्पुरुष कहते थे। विवाद बढ़ने पर यह बात गुरुओं तक पहुँच गई। दोनों गुरुओं ने अपने अपने शिष्यों का ही [१]समर्थन किया। श्री दण्डीजी ने अपने कथन में प्रमाण की खोज के लिये एक दक्षिणी ब्राह्मण से अष्टाध्यायी का आद्योपान्त पाठ सुना और उसपर विचार किया। विचारने के पश्चात् दण्डजी ने अपने पक्ष में प्रमाण प्राप्त किया—(कर्तृकर्मणोः कृतिः) अर्थात् कृदन्त 'उक्ति' शब्द से कर्म में षष्ठी विभक्ति का विधान किया है। इस प्रमाण को पाकर दण्डीजी की आत्मा में कितनी प्रसन्नता थी, उसका अनुमान कौन लगा सकता था? उन्होंने महर्षिकृत अष्टाध्यायी की महिमा का अनुभव

---

१ इस विषय में पूर्ण शास्त्रार्थ की घटना प० लेखरामकृत महर्षि जीवनचरित के ८५९ पृ० पर द्रष्टव्य है।

किया और सूर्य के दर्शन करनेवाले का चित्त जिस प्रकार कृत्रिम दीपकों से घृणा करने लगता है, वही अवस्था दण्डीजी की हुई। तब से दण्डीजी अपनी पाठशाला में ऋषियों के ग्रन्थ पढ़ाने लगे और अनार्षग्रन्थों से घृणा करने लगे।

(अजाद्युक्तिः) का सत्यसमाधान तथा उसका प्रमाण पाकर श्री दण्डीजी आधी रात को ही उठ खड़े हुए और अपने विद्यार्थी उदयप्रकाश के घर पर आधी रात के समय में जाकर यह समाधान बताया और उसे जगाकर उसी समय लिखाया। ('पं० लेखरामकृत जीवनचरित' के आधार पर)

(५) श्री दण्डीजी की अनार्षग्रन्थों के प्रति कितनी अश्रद्धा थी? इसका अनुमान निम्नलिखित दो घटनाओं से किया जा सकता है—

(क) एक बार मिस्टर प्रीस्टली साहब मथुरा के स्थानापन्न कलक्टर नियत होकर आये। एक दिन वे भ्रमण करते हुए विरजानन्द जी की कुटिया के पास से जा रहे थे। दण्डीजी की विद्वत्ता की प्रशंसा पहले सुनी थी, इसलिये उनसे मिलने का विचारकर दण्डीजी के पास गये और पूछने लगे कि हमारे योग्य कोई सेवा हो तो अवश्य कहिये। दण्डीजी बोले—यदि हमारी सेवा कर सकते हो तो भट्टोजिदीक्षित के जितने बनाये कौमुदी आदि ग्रन्थ हैं, उनको भारतवर्ष या केवल मथुरा से लेकर आग में फूँक दो या यमुना में प्रवाहित कर दो।

(ख) सं० १९१७ के अन्त में आगरा में राजाओं का एक दरबार हुआ था। उसमें जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह ने दण्डीजी को सत्कारपूर्वक बुलवाया और उनसे व्याकरण-विद्या पढ़ने की इच्छा प्रकट की और अन्त में कहने लगे कि कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे मेरी कीर्त्ति हो। दण्डीजी ने उत्तर दिया कि आप सार्वभौम एक सभा करें। उसपर आपके तीन लाख रुपये व्यय होंगे और पृथिवी भरके पण्डितों को इकट्ठा करके उनसे अष्टाध्यायी और महाभाष्य ही व्याकरण के मुख्य ग्रन्थ हैं, कौमुदी आदि नहीं, इस विषय पर शास्त्रार्थ करायें। हम सबके सामने दो घण्टे में सबको यह निश्चय करा देंगे और आपको विजयपत्र दिलवा देंगे और उससे तुम्हारी विक्रमादित्य के समान अमरकीर्त्ति हो जायेगी, किन्तु महाराज रामसिंह चुप होकर सुनते रहे। दण्डीजी ने उस समय कुछ कटु शब्द भी कहे—इस काम को करोगे तो तुम्हारी कीर्त्ति होगी अन्यथा जिस प्रकार कुत्ते और गधे मर जाते हैं, ऐसे ही मरने के बाद तुम्हें कोई स्मरण नहीं करेगा। चलते समय महाराजा ने दण्डीजी को २०० रुपये, दो अशर्फी और एक दुशाला भेंट किया, किन्तु दण्डीजी ने कहा कि हम रुपये लेने नहीं आये।

(६) अष्टाध्यायी और महाभाष्य ही व्याकरण का राजमार्ग है—

(क) 'अष्टाध्यायी ही वास्तव में ऋषिकृत ग्रन्थ है और पाँच हजार वर्षों से लुप्त संस्कृत विद्या के अनमोल कोषों की यही (अष्टाध्यायी ही) एक अप्राप्य कुञ्जी का महान् भाग है।'

(ख) 'इजन बनानेवाले ने वाष्प के गुणों को जाना, किन्तु वाष्प को उत्पन्न नहीं किया। अष्टाध्यायी को ठीक इसी प्रकार विरजानन्दजी ने बनाया नहीं, प्रत्युत

पहले की बनी हुई इस अष्टाध्यायी की महिमा को अनुभव किया।'

(ग) 'आर्यों की सभ्यता, आर्यों के शास्त्र, आर्यों की विद्या और समस्त उन्नतियों के वास्तविक स्रोत वेद तक पहुँचने का मार्ग और राजपथ अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु और निरुक्त बतला रहा है।'

(घ) जयपुर नरेश महाराज रामसिंह ने अष्टाध्यायी और महाभाष्य के समझने में असमर्थता प्रकट की और दण्डीजी से कहा—'आप कोई और ग्रन्थ बनाकर उसके बदले मुझे पढ़ा दीजिये। तब दण्डीजी ने कहा कि उनका (अष्टाध्यायी और महाभाष्य का) बदल कोई और ग्रन्थ नहीं बन सकता। जैसे सूर्य के बिम्ब को कोई तोड़कर बना नहीं सकता, ठीक यही दशा इन ग्रन्थों की है।' (श्री पं० लेखरामकृत जीवनचरित से उद्धृत)

१. महाभाष्य-सम्मत शुद्ध सूत्र-पाठ—

महर्षि दयानन्द ने महाभाष्य को परम प्रमाण मानकर जहाँ नवीन असङ्गत मिथ्या व्याख्याओं की समीक्षा की है, वहाँ नवीन परवर्त्ती व्याख्याकारों ने जहाँ कहीं योगविभाग को पृथक् सूत्र मानकर अथवा वार्त्तिकों का सूत्रों में समावेश करके मूल-सूत्रों में परिवर्त्तन कर दिया था, उनका भी सप्रमाण शुद्धीकरण किया है। जैसे—

२.	उपलब्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
(१)	वृद्धस्य च पूजायाम् (अ० ४।१।१६६)	वार्त्तिक माना है (अ० ४।१।१६३)
(२)	यूनश्च कुत्सायाम् (अ० ४।१।१६७)	जीवद् वश्य च कुत्सितम् (अ० ४।१।१६२) इसके स्थान पर नवीन वार्त्तिक रचना)
(३)	लाक्षा रोचना शकलकर्दमाद् ठक् (४।२।२)	लाक्षा रोचनाट् ठक् (यहाँ 'शकल, कर्दम' शब्दों को वार्त्तिक से मिलाया है)
(४)	कलेर्ढक् (४।२।८)	(वार्त्तिक से कलि शब्द से ढक् का विधान है)।
(५)	साऽस्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् (४।२।२१)	साऽस्मिन् पौर्णमासीति। (संज्ञाग्रहण वार्त्तिक से किया है)
(६)	ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्। (४।२।४३)	ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् (४।२।४२) (सहाय शब्द का पाठ वार्त्तिक से लिया है)
(७)	कच्छाग्निवक्त्रगर्त्तोत्तरपदात्। (४।२।१२६)	कच्छाग्निवक्त्रवर्त्तोत्तरपदात्। (४।२।१२५)

(८) संज्ञायाम्॥ (अ० ४।३।११७) कुलालादिभ्यो वुञ्॥ (अ० ४।३।११८)	संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुञ् (महाभाष्य में यहाँ योगविभाग किया है)
(९) शाकलाद्वा॥ (अ० ४।३।१२७)	शकलाद्वा॥ (अ० ४।३।१२६)
(१०) कौपिञ्जल हास्तिपदादण्॥ (४।३।१३२)	महाभाष्य में ये दोनों वार्त्तिक है।
(११) आथर्वणिकस्येकलोपश्च॥ (४।३।१३३)	
(१२) शम्याष्ट्लञ्॥ (अ० ४।३।१३९)	शम्याष् ष्लञ् (४।३।१३९)
(१३) विभाषा विवध-वीवधात्॥ (अ० ४।४।१७)	विभाषा विवधात् (४।४।१७ (वार्त्तिक का भाग सूत्र में मिलाया है)
(१४) कृत्रेर्मम्नित्यम्॥ (अ० ४।४।२०)	त्रेर्मम्नित्यम् (४।४।२०)
(१५) मधोर्ञ च॥ (अ० ४।४।१२९)	मधोरञ् च॥ (४।४।१२९)

३. अनार्ष-व्याख्याओं की समीक्षा—

वैयाकरण-निकाय में महर्षि पतञ्जलि कृत महाभाष्य परमप्रमाण है। इस आर्षग्रन्थ को समस्त प्राच्य तथा नवीन वैयाकरण प्रमाण मानते हैं, परन्तु नवीन काशिकादि ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस ग्रन्थ से विरुद्ध अथवा स्वेच्छा से असङ्गत व्याख्यायें की हैं, महर्षि दयानन्द ने यथा स्थान उनकी असङ्गतियाँ दिखायी हैं। जिनका परिज्ञान होना जहाँ वैयाकरणों के लिये परमावश्यक हैं, वहाँ इन समीक्षाओं से महर्षि की व्याकरण में विद्वत्ता एवं प्रौढ़ता का भी बोध होता है। पाठक उन समीक्षाओं से लाभान्वित हो सकें, एतदर्थ उनका दिग्दर्शन यहाँ संक्षेप से किया जाता है—

(१) हरितादिभ्योऽञः (४।१।१००)। इस सूत्र में गोत्र की अनुवृत्ति उत्तरार्थ मानने पर काशिका के प्रयोजन का खण्डन।

(२) फाण्टाहृति मिमताभ्यां णफिञौ (४।१।१५०)। इस सूत्र में अल्पाच्तर मिमत शब्द के पूर्वनिपात के काशिका में कहे प्रयोजन का खण्डन।

(३) उदीचामिञ् (४।१।१५३) क्या इस इञ् प्रत्यय का शिवादि से विहित अण् प्रत्यय बाधक है?

(४) कत्र्यादिभ्यो ढकञ् (अ० ४।२।९४) इस गण में काशिका में ग्राम शब्द का पाठ निरर्थक है, क्योंकि 'ग्रामाच्च' वार्त्तिक से रूपसिद्धि हो जाती है।

(५) द्वन्द्वाद् वुन् वैर-मैथुनिकयोः (अ० ४।३।१२४) इस सूत्र की व्याख्या में श्री जयादित्य ने 'वैर-मैथुनिकयोः' को प्रत्ययार्थ विशेषण माना है, यह

इसलिए 'ङीष्' यहाँ नहीं होता—महोधाः पर्जन्यः। यहाँ 'बहुव्रीहि' का ग्रहण इसलिये है कि **प्राप्ता ऊधः प्राप्तोधाः**। यहाँ ङीष् नहीं हुआ। समासान्त 'अनङ्' आदेश में भी बहुव्रीहि की अनुवृत्ति होने से यहाँ अनङ् आदेश नहीं हुआ है। २५॥

संख्याव्ययादेर्ङीप्॥ २६॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः। ङीष् प्राप्तौ ङीब् विधीयते। संख्याव्ययादेः ५।१। ङीप् —१।१। संख्यादेरव्ययादेश्चोधसन्ताद् बहुव्रीहेः प्रातिपदिकात् स्त्रियाँ ङीप् प्रत्ययो भवति। द्व्यूध्नी। त्र्यूध्नी। उपोध्नी। अत्यूध्नी। आदिग्रहणादिहापि सिद्धं भवति। द्विविधोध्नी॥ २६॥

भावार्थ—यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। पूर्वसूत्र से 'ङीष्' की प्राप्ति में 'ङीप्' का विधान किया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान, संख्या और अव्यय जिसके आदि में हों, ऐसे ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है जैसे—संख्यादि—द्व्यूध्नी। त्र्यूध्नी। अव्ययादि—उपोध्नी। अत्यूध्नी। आदि ग्रहण से यहाँ भी ङीप् होता है—द्विविधोध्नी॥ २६॥

दामहायनान्ताच्च॥ २७॥

ऊधस इति निवृत्तम्। संख्यादेरित्यनुवर्त्तते। अव्ययादेरिति निवृत्तम्। क्वचिदेक देशोऽप्यनुवर्त्तत इति वचनात्। दामहायनान्तात् —५।१। च-[अ०] दामान्ताद् हायनान्ताच्च संख्यादेर्बहुव्रीहेः प्रातिपदिकान् ङीप् प्रत्ययो भवति। द्वे दाम्नी अस्या द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी। द्विहायनी। त्रिहायणी। दामन्-शब्दादनोबहुव्रीहेरिति डाप्-प्रतिषेधौ प्राप्तौ। तयोरपवादः। हायनान्तादप्राप्ते ङीप् विधीयते। अथेह कस्मान्न भवति—द्वौ हायनावस्याः शालाया द्विहायना। त्रिहायना। 'हायनो वयसि स्मृत' इति महाभाष्य प्रामाण्याद् वयो वाची हायनशब्दो गृह्यते। स च चेतनावत्सु घटते, न च शालादिषु जडेषु॥ २७॥

भावार्थ—यहाँ 'ऊधस्' पद की अनुवृत्ति नहीं है। 'संख्यादेः' पद की अनुवृत्ति है, 'अव्ययादेः' की नहीं। यद्यपि सूत्रस्थ पदों की एक साथ ही अनुवृत्ति या निवृत्ति होती है, किन्तु इस नियम का यह अपवाद है—कहीं एकावयव की भी अनुवृत्ति होती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान, संख्या जिसके आदि में हो उस दामन् शब्दान्त और हायन शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—**द्वे दाम्नी अस्या द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी। द्विहायनी। त्रिहायणी।**

यहाँ दामन् शब्दान्त से अनो 'बहुव्रीहेः' (४।१।१२) सूत्र से डाप् और प्रतिषेध प्राप्त हैं, यह उन दोनों का अपवाद है। और हायनान्त शब्द से अप्राप्त ङीप् का विधान किया है।

प्रश्न—यह ङीप् प्रत्यय यहाँ क्यों नहीं होता—**द्वौ हायनावस्याः शालाया द्विहायना। त्रिहायना।**

उत्तर **'हायनो वयसि स्मृतः'**। इस महाभाष्य के वचन से यहाँ वयः अवस्थावाची हायन शब्द का ग्रहण है, और वह चेतनावानों में ही संगत होता

काशिका में 'कुट्याया यलोपश्च' के स्थान पर भ्रान्ति से लिखा है। यदि पाणिनि मुनि को 'कुल्या' शब्द अभीष्ट होता तो गणसूत्र बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि इस वार्त्तिक से जो 'कौलेयक:' रूप बनता है, उसकी सिद्धि तो अगले सूत्र (कुलकुक्षि० ४।२।१९५) से ही हो जाएगी।

(६) गहादिभ्यश्च (अ० ४।२।१३७) इस सूत्र के गणपाठ में काशिकादि ग्रन्थों में निम्न तीन वार्त्तिकों का पाठ मिलता है—

मुख पार्श्वतसोर्लोपः॥ १॥

जनपरयोः कुक् च॥ २॥

देवस्य च॥ ३॥

यहाँ जयादित्यादि ने कुछ भी यह विचार नहीं किया कि इन वार्त्तिकों की यहाँ क्या आवश्यकता है। जबकि महाभाष्य में इन वार्त्तिकों का पाठ (अन्त: पूर्वपदाद् ठञ् अ० ४।३।६०) सूत्रस्थ कारिका में किया है और सोदाहरण व्याख्या भी की है। आश्चर्य तो इस बात का है कि काशिका में इनकी व्याख्या दोनों सूत्रों पर की है।

(७) मध्यान्मः (अ० ४।३।८) सूत्र पर काशिका में दो वार्त्तिक लिखे हैं—

आदेश्चेति वक्तव्यम्॥ १॥ आदिमः॥

अवोधसोर्लोपश्च॥ २॥ अवमम्। अधमम्॥

इनमें प्रथम वार्त्तिक तो इसलिये निरर्थक है कि 'आदिम' शब्द की सिद्धि (सायं चिरं० अ० ४।३।२३) सूत्रस्थ (अग्रादि पश्चाड् डिमच्) वार्त्तिक से हो जाती है। दूसरे वार्त्तिक का महाभाष्य में कहीं भी पाठ नहीं है, अत: मिथ्या है।

(८) गम्भीराञ्ञ्यः (अ० ४।३।५८) सूत्र पर काशिका में (बहिर्देवपञ्च जनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्) एक नवीन वार्त्तिक की कल्पना करके (बाह्यम्, दैव्यम्। पाञ्चजन्यम्) रूपों की सिद्धि की है। जबकि इन प्रयोगों की सिद्धि महाभाष्यकार ने 'अ० ४।३।६०' सूत्रस्थ 'बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्योऽथ गम्भीराञ्ञ्य इष्यते' कारिका से की है।

पाठक इस एक अध्याय के सूत्रों की व्याख्या, समीक्षाओं, सूत्रपाठों में परिवर्त्तन एवं परिवर्धनों तथा नवीन वार्त्तिकों की कल्पना से अनुमान कर सकते हैं कि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों, वार्त्तिकों तथा मिथ्या-व्याख्याओं में कितना त्रुटिपूर्ण मिश्रण किया गया है। इन सब दोषों का निराकरण ऋषियों के भाष्यों तथा प्रामाणिक महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन के विना सम्भव नहीं है।

अष्टाध्यायीभाष्य का भाषा-भाष्य—

अष्टाध्यायी के इस भाष्य की मूल प्रति में महर्षि दयानन्द का संस्कृतभाष्य ही उपलब्ध है। पूर्व प्रकाशित अष्टाध्यायीभाष्य की भाँति संस्कृत तथा भाषा में

यह भाष्य प्रकाशित किया गया है। भाषार्थ बनाने में सर्वत्र यह विशेष ध्यान रखा गया है कि भाषा-भाष्य मूल संस्कृत भाष्य के अनुकूल ही हो। महर्षि के भावों की पुष्टि कहीं कहीं महाभाष्य के प्रमाणों से भी की गई है। सूत्रों, वार्त्तिकों परिभाषाओं तथा कारिकाओं के अर्थ सोदाहरण सरल एवं सुगम भाषा में इस भाष्य में समझाने का विशेष प्रयास किया है। व्युत्पन्न शब्दों की विशेष सिद्धि तथा विशेष सूत्रों का दिग्दर्शन भी यथा स्थान कराया गया है। इस भाष्य में महर्षि के संस्कृतभाष्य को अक्षुण्ण रखने का विशेष ध्यान रखते हुए संस्कृतभाष्य में यदि कहीं भाषा की सामान्य त्रुटियाँ अथवा मात्रादि का दोष दिखाई दिया, उसे हमने शुद्ध कर दिया है और जहाँ कहीं पूरे पद ही छूट गये हैं, अथवा अनेक स्थानों पर सूत्रार्थ भी रह गये हैं, वहाँ पर [ ] ऐसा कोष्ठक देकर पदों तथा अर्थों का सन्निवेश आवश्यक समझकर किया है और सूत्रों के पदच्छेद तथा गणपाठीय शब्दों को अनावश्यक समझकर भाषाभाष्य में नहीं रक्खा है। सर्वत्र गणपाठों का निर्देश तथा महर्षि दयानन्द द्वारा नवीन वैयाकरणों की समीक्षाओं को पृथक् नवीन सन्दर्भ से देने का भी पूर्ण प्रयास किया गया है।

हमें आशा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि जिन पवित्रभावों, दृढ़ आस्था एवं श्रद्धा से ऋषि के भाष्य को सरल भाषा-भाष्य में प्रस्तुत करने का हमने यह प्रयास किया है, उन्हीं पावनभावों से विद्वद्वर्ग, जिज्ञासु विद्यार्थिवृन्द तथा अनुशीलन एवं शोध करनेवाले इस भाष्य से लाभ उठाने का सत्प्रयास करेंगे और जहाँ कहीं किसी भी प्रकार की त्रुटि वा दोष दिखाई देवे, उसका उचित समाधान पूर्वक निर्देश भी अवश्य करते रहेंगे, जिससे उनका संशोधन अगले संस्करणों में किया जा सके।

आभार-प्रदर्शन—भारतीय इतिहास में वर्तमान समय जितना संस्कृत पठन पाठन की दृष्टि से अधोगति का है, उतना कभी नहीं रहा। अपनी संस्कृति व सभ्यता से पराङ्मुख, संस्कृतभाषा के ज्ञान से शून्य होने से वेद-वेदाङ्गादि के स्वाध्याय से उपरत, तथा भौतिक चकाचौंध के प्रबल आकर्षण के कारण आध्यात्मिक ज्ञान से विमुख भारतीयजनों को परिश्रमसाध्य व्याकरण के ग्रन्थों को पढने की प्रेरणा देना और चरमसीमा पर आरूढ़ महंगाई के थपेड़ों से विकलाङ्ग की भाँति असहाय बने निराश प्राय प्रकाशकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय एवं शोचनीय हो रही है। ऐसे विषम समय में व्याकरण के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये सत्प्रेरणा देकर किन्हीं सत्पुरुषों को प्रोत्साहित करना किन्हीं अदृश्य विद्या, त्याग तथा तप का ही प्रभाव हो सकता है। मैं उन आर्षभक्त, तप तथा त्याग की भट्ठी में तपे विशुद्ध कुन्दन के समान परम तेजस्वी आर्यजगत् के प्रसिद्ध संन्यासी परोपकारिणी सभा के प्रधान गुरुवर श्री स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती का किन शब्दों से धन्यवाद करूँ जिन्होंने विद्यार्थीकाल से ही मुझपर असीम अनुकम्पा तथा सहृदयता रखी है, जिनके फलस्वरूप ही आर्षविद्या की कुछ शिक्षा मैं प्राप्त कर सका और प्रस्तुत हिन्दी भाष्य भी उन्हींकी सत्प्रेरणा का ही फल

है। मैं उनके उपकारों से अनृण तो कभी हो ही नहीं सकता, उनका हृदय से धन्यवाद करता हुआ सर्वाधार परम गुरु परमेश्वर से यह अभ्यर्थना करता हूँ कि वे ऐसे महर्षि दयानन्द व आर्षग्रन्थों के अनन्य भक्तों को, जिन्होंने अपना सर्वस्व ही परोपकार में लगा दिया है, दीर्घजीवन, अपारधैर्य, अनभिभवनीय उत्साह एवं दुर्धर्षणीय तेज प्रदान करे, कि जिससे पांच हजार वर्षों के पश्चात् प्रज्वलित महर्षि की आर्षशिक्षा की ज्योति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे।

नमो ब्रह्मणे ब्रह्मर्षि-महर्षिभ्यो गुरुजनेभ्यश्च ॥

ज्येष्ठ कृष्णा दशमी,
सं० २०४१ वि०
२५ मई, १९८४ ई०
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर (उ० प्र०)

विनयावनत
राजवीर शास्त्री
सम्पादक
(दयानन्द-सन्देश)

* ओ३म् *

अथाष्टाध्यायीभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः

तत्र

प्रथमः पादः

ङ्याप्प्रातिपदिकात्॥ १ ॥

ङ्याप्प्रातिपदिकात्।५।१। ङी च आप् च प्रातिपदिकानि च तेषां समाहारो ङ्याप्प्रातिपदिकम्। तस्मात्। समाहारद्वन्द्वः। निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकानां ग्रहणं भवतीति ङीब्ङीष्ङीनां सामान्येन ग्रहणम्। तथा टाप्-डाप्-चापाम् आबित्यनेन। अधिकारसूत्रमिदम्। आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्ते-र्ङ्याप्प्रातिपदिकादिति प्रकृतेरधिकारः।प्रत्ययाधिकारस्तु कृत एव। कप्पर्यन्तेषु स्वादिषु ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्यया विधास्यन्ते।

धातोस्तव्यादयः प्रत्यया विधीयन्ते, धात्वधिकारे समाप्ते शिष्टाः प्रत्ययाः प्रातिपदिकादेव भविष्यन्ति, पुनः प्रातिपदिकाधिकारस्यैतत् प्रयोजनम्। भा०—वृद्धावृद्धावर्णस्वरद्व्यज्लक्षणे तर्हि प्रत्ययविधौ तत्सम्प्रत्ययार्थं ङ्याप्प्राति-पदिकग्रहणं क्रियते। 'वृद्धात्' 'अवृद्धात्' 'अवर्णान्तात्' [अनुदात्तादेः] 'द्व्यचः' इत्येतानि ङ्याप्प्रातिपदिकविशेषणानि यथा स्युरिति। यद्यत्र प्रातिपदिकग्रहणं न क्रियेत तर्हि 'समर्थानां प्रथमाद्वेति' वक्ष्यमाणसूत्रेण समर्थविशेषणानि स्युः। तत्र 'उदीचां वृद्धादगोत्रादिति' वृद्धात् समर्थादुत्पत्तौ सत्यां ज्ञानां ब्राह्मणानामपत्यमित्यत्र ज्ञानामिति समर्थं वृद्धं तस्मात् फिञ् प्राप्नोति। प्रातिपदिकविशेषणे सत्यवृद्धं ज्ञ-प्रातिपदिकम्। इत्यादीनि प्रयोजनानि प्रातिपदिकग्रहणस्य। ङ्यापाम् अकृत्तद्धितत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा नास्ति, तत्राप्रातिपदिकत्वात् स्वाद्युत्पत्तिर्न स्यादिति ङ्याप्ग्रहणम्। कुमारीः पश्य। कुमारीभ्यो देहि। बहुराजा नगर्यः। बहुराजायां नगर्याम्।

परि०—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीत्येषा परिभाषा कर्तव्या। अवश्यमेषा परिभाषा कर्त्तव्या। बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि।

वा०—प्रयोजनम्-सर्वनाम-स्वर-समास-तद्धितविधि-लुगलुगर्थम्॥ १ ॥

सर्वनामविधिः प्रयोजनम्। 'सर्वनाम्नः सुट्' इहैव स्यात्—येषाम्, तेषाम्। यासां, तासामित्यत्र न स्यात्। स्वर—'कुसुलकूपकुम्भशालं बिले'। इहैव स्यात्-कुसूलबिलम्, कुसूलीबिलमित्यत्र न स्यात्। समासः—द्वितीया श्रितादिभिः सह समस्यते। इहैव स्यात्—कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। कष्टं श्रिता कष्टश्रिता, इत्यत्र न स्यात्। तद्धित—विधिप्रयोजनम्—'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्'।

इहैव स्यात्—हस्तिनां समूहो हास्तिकम्। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकमित्यत्र न स्यात्। लुक्—'नेन्सिद्ध बध्नातिषु च।' इहैव स्यात्—स्थण्डिलशायी, स्थण्डिलशायिनीत्यत्र न स्यात्। अलुक्—'शयवासवासिष्वकालात्।' इहैव स्यात्—ग्रामेवासी। ग्रामवासिनीत्यत्र न स्यात्। एवमन्यान्यसंख्यातानि प्रयोजनान्यस्याः परिभाषायाः सन्ति, सर्वाणि प्रयोजनानि लेखितुमशक्यानि। यत्प्रातिपदिकं नितयलिङ्गं तत्रास्याः प्रवृत्तिर्न भवति, यानि च विशेष्यनिघ्नानि तत्र यल्लिङ्गं प्रातिपदिकं सूत्रेषु निर्दिष्टं तस्मादेव प्रातिपदिकाल्लिङ्गान्तरादपि तत्कार्यं भवतीति॥ १॥

भावार्थ—यह अधिकारसूत्र है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' पद में समाहारद्वन्द्व समास है। व्याकरणशास्त्र में अनुबन्ध-रहितों का जहाँ ग्रहण किया है, वहाँ अनुबन्ध-सहितों का ग्रहण हो जाता है। इस परिभाषा से इस सूत्र में 'ङी' शब्द से ङीप्, ङीष् और ङीन् तीनों प्रत्ययों का यहाँ ग्रहण होता है और 'आप्' शब्द से टाप्, डाप् और चाप् का ग्रहण होता है। पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक प्रकृतियों का निर्देश इस सूत्र से किया गया है। प्रत्यय का अधिकार तो ''प्रत्ययः, परश्च'' (३ १ १ २) तृतीयाध्याय में पहले ही किया गया है। 'सु' से लेकर पञ्चमाध्याय के 'कप्' पर्यन्त प्रत्यय ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिकों से विधान किये जाएँगे।

इस सूत्र में प्रातिपदिकाधिकार करने की क्या आवश्यकता है? प्रत्ययों की दो ही प्रकृतियाँ हैं—धातु और प्रातिपदिक। धातु का अधिकार करके तृतीयाध्याय में तव्यादि प्रत्ययों का विधान किया है और धात्वधिकार के यहाँ समाप्त होने पर शेष प्रत्यय प्रातिपदिकों से ही हो जाएँगे। फिर प्रातिपदिक के अधिकार करने का प्रयोजन यह है—

भा०— **वृद्धावृद्धावर्णस्वरद्व्यज्लक्षणे तर्हि प्रत्ययविधौ तत्सम्प्रत्ययार्थं ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणं क्रियते॥**

जिन सूत्रों में ''वृद्धात्, अवृद्धात्, अवर्णान्तात्, अनुदात्तादेः, द्व्यचः'' इस प्रकार के पाठ हैं वे ङ्याप्प्रातिपदिक के विशेषण हो सकें, इसलिए यह अधिकार किया गया है। अन्यथा प्रातिपदिक के अधिकार के अभाव में उपर्युक्त सूत्रस्थ पद समर्थ के (समर्थानां प्रथमाद्वा) (४।१।८२) विशेषण हो जाएँगे और फिर निम्नलिखित दोष प्राप्त होंगे—

(१) **उदीचां वृद्धादगोत्रात्** (४।१।१५७) इस सूत्र के वृद्ध पद के समर्थ का विशेषण होने पर 'ज्ञाना ब्राह्मणानामपत्यम्' यहाँ षष्ठी बहुवचन में 'ज्ञ' शब्द समर्थ वृद्ध संज्ञक है, इससे तो 'फिञ्' प्रत्यय प्राप्त होगा और 'ज्ञयोर्ब्राह्मणयोरपत्यम्' इस षष्ठी के द्विवचन में समर्थवृद्ध न होने से 'फिञ्' प्राप्त नहीं होगा और 'वृद्धात्' पद के प्रातिपदिक का विशेषण होने पर 'ज्ञ' प्रातिपदिक अवृद्ध है, अतः इससे 'फिञ्' नहीं होगा।

(२) **प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्** (४।१।१६०) इस सूत्र के अवृद्ध पद के समर्थ का विशेषण होने पर ''ज्ञयोर्ब्राह्मणयोरपत्यम्'' यहाँ 'फिन्' प्रत्यय होगा

और ''ज्ञानां ब्राह्मणानामपत्यम्'' यहाँ समर्थ वृद्ध होने से फिन् प्राप्त नहीं होगा।

(३) **अतः इञ्** (४।१।९५) सूत्र के 'अतः' पद के समर्थ का विशेषण होने पर ''दक्षस्यापत्यम्'' यहाँ तो इञ् प्रत्यय हो जाएगा, किन्तु ''दक्षयोरपत्य, दक्षाणामपत्यम्'' में समर्थ अदन्त न होने से 'इञ्' प्राप्त नहीं होगा।

(४) **अनुदात्तादेश्च** (४।३।१४०) सूत्र के 'अनुदात्तादेः' पद के समर्थ का विशेषण होने पर ''वाचोविकारः, त्वचोविकारः'' यहाँ वाक् शब्द से ''सावेकाचः०'' (६।१।१६८) सूत्र से विभक्ति के उदात्त होने से शेष अनुदात्त हो जाता है, इसलिए ये दोनों शब्द अनुदात्तादि हैं, इनसे 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त होता है, और ''सर्वेषां विकारः'' यहाँ ''सर्वस्य सुपि'' (६।१।१९१) सूत्र से आद्युदात्त स्वर होने से 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होगा।

(५) **नौ-द्व्यचष्ठन्** (४।४।७) सूत्र के 'द्व्यच्' पद के समर्थ विशेषण होने पर 'वाचा तरति, त्वचा तरति' यहाँ समर्थ द्व्यच् होने से 'ठन्' प्रत्यय प्राप्त होता है और 'घटेन तरति' यहाँ समर्थ द्व्यच् न रहने से 'ठन्' प्राप्त नहीं होता।

प्रातिपदिक का अधिकार करने से वृद्धादि शब्द प्रातिपदिक के विशेषण होंगे और प्रातिपदिक यदि वृद्ध अवृद्धादि है तो ये कार्य होंगे; अन्यथा नहीं।

और 'ङ्याप्' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है? 'ङ्याप्' के ग्रहण न करने पर ङ्यन्त और आबन्त शब्दों से स्वादि प्रत्यय प्राप्त नहीं होंगे, क्योंकि प्रातिपदिक संज्ञा में ''अर्थवदधातुरप्रत्ययः'' (१।२।४५) प्रत्ययान्त का निषेध किया है, और प्रत्ययान्तों में कृत् और तद्धित प्रत्ययान्तों की ''कृत्तद्धितसमासाश्च'' (१।२।४६) प्रातिपदिक संज्ञा की है, किन्तु ङ्याप् की कृत्-तद्धित संज्ञाएँ भी नहीं हैं, अतः ङ्याप् का प्रयोजन ङ्यन्त और आबन्त शब्दों से 'सु' आदि प्रत्यय करना है।

परिभाषा—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति॥

अर्थात् प्रातिपदिक से जो सूत्रविहित कार्य होते हैं, वे पठित प्रातिपदिक के लिङ्ग से भिन्न लिङ्ग में भी हो जाते हैं। इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं, जैसे—

वा०—प्रयोजनं सर्वनामस्वरसमासतद्धितविधिलुगलुगर्थम्॥ १॥

(१) **सर्वनामविधि**—आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२) सूत्र में 'सर्वनाम्नः' पद में पुल्लिंग का निर्देश है, अतः 'येषाम्, तेषाम्' इत्यादि में ही सुट् आगम होना चाहिए और 'यासाम्, तासाम्' इत्यादि में सुट् नहीं होना चाहिए।

(२) **स्वरविधि**—कुसूलकूपकुम्भशालं बिले (६।२।१०२) सूत्र से कुसूलादि को विहित अन्तोदात्त 'कुसूलबिलम्' में ही होना चाहिए (कुसूलीबिलम्) में नहीं।

(३) **समासविधि**—द्वितीयान्त का श्रितादि के साथ समास होता है। वह यहाँ ही होवे—'कष्टं श्रितः कष्टश्रितः', और यहाँ नहीं होना चाहिए—'कष्टं श्रिता कष्टश्रिता।'

(४) **तद्धितविधि**—अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् (४।२।४७) सूत्र से विहित

'ठक्' प्रत्यय यहाँ तो हो जाए—'हस्तिनां समूहो हास्तिकम्', और यहाँ नहीं होना चाहिए—'हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्।'

(५) **लुक्-विधि**—'नेन्सिद्धबध्नातिषु च' (६।३।१९) सूत्र से विहित लुक् यहाँ ही होवे—'स्थण्डिलशायी' और 'स्थण्डिलशायिनी' में लुक् नहीं होवे।

(६) **अलुक् विधि**—'शयवासवासिष्वकालात्' (६।३।१८) सूत्र से विहित अलुक् यहाँ ही हो—'ग्रामे वासी' और 'ग्रामवासिनी' प्रयोग में नहीं होना चाहिए। प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्ग विशिष्ट का भी ग्रहण हो जाता है, इस परिभाषा से उपर्युक्त समस्त दोषों का परिहार हो जाता है, और इस परिभाषा के अन्य भी असंख्य प्रयोजन हैं। सभी प्रयोजनों का लिखना सम्भव नहीं है। और जहाँ सूत्रों में ऐसा प्रातिपदिक हो, जिसका लिङ्ग निश्चित हो, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती और जिन सूत्रों में विशेष्यपरक विशेषण के रूप में प्रातिपदिक पठित हैं, उनसे भिन्न लिङ्ग से भी सूत्र[1] कार्य होते हैं।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्॥ २॥

सुँ। औ। जस्। अम्। औट्। शस्। टा। भ्याम्। भिस्। ङे। भ्याम्। भ्यस्। ङसि। भ्याम्। भ्यस्। ङस्। ओस्। आम्। ङि। ओस्। सुप्। एते सप्तत्रिका एकविंशतिः। स्वादयो ङ्याप् प्रातिपदिकेभ्यः परे स्युः। 'सुँ' इत्यत्रोकारोऽनुबन्धः 'सौ चे'-ति विशेषणार्थः। अन्येऽप्यनुबन्धा यथायोग्यं कार्यार्थाः, पकारः सुप्प्रत्याहारसिद्ध्यर्थः।

ङ्यन्तात्तावत्—कर्त्री। गौरी। कापटवी। इमे त्रयः शब्दा ङीप्-ङीष्-ङीबन्ताः क्रमेण। कर्त्री। कर्त्र्यौ। कर्त्र्यः। कर्त्रीम्। कर्त्र्यौ। कर्त्रीः। कर्त्र्या। कर्त्रीभ्याम्। कर्त्रीभिः॥ कर्त्र्यै। कर्त्रीभ्याम्। कर्त्रीभ्यः। कर्त्र्याः। कर्त्रीभ्याम्। कर्त्रीभ्यः। कर्त्र्याः। कर्त्र्योः। कर्त्रीणाम्। कर्त्र्याम्। कर्त्र्योः। कर्त्रीषु। एवमन्येष्वपीकारान्तेषूदाहार्यम्।

आबन्तात्—चटका। चटके। चटकाः। चटकाम्। चटके। चटकाः। चटकया। चटकाभ्याम्। चटकाभिः। चटकायै। चटकाभ्याम्। चटकाभ्यः। चटकायाः। चटकाभ्याम्। चटकाभ्यः। चटकायाः। चटकयोः। चटकानाम्। चटकायाम्। चटकयोः। चटकासु। एवं डाबन्तादिष्वप्युदाहार्यम्।

प्रातिपदिकात्—वेदिषद्। वेदिषत्। वेदिषदौ। वेदिषदः। वेदिषदम्।

---

१ इस प्रकार परिभाषा के आश्रय से 'ङ्याप्' ग्रहण का प्रयोजन खण्डित हो जाता है। महाभाष्य में इसके बाद (तद्धितविधानार्थं तु, विप्रतिषेधाद्धि तद्धितबलीयस्त्वम्) कहकर 'ङ्याप्' का प्रयोजन यह रक्खा है कि विप्रतिषेध कार्यों में तद्धित प्रत्यय ङ्यन्त और आबन्त से होने चाहिएँ, एतदर्थ यहाँ 'ङ्याप्' का ग्रहण है। जैसे कालितरा। हरिणितरा। खट्वातरा मालातरा इत्यादि में स्त्रीप्रत्ययों की अपेक्षा परत्व से तद्धित प्रत्यय प्रथम होना चाहिए। 'ङ्याप्' ग्रहण से स्त्री प्रत्ययान्त से तद्धित होते हैं। अन्यथा 'कालितरा' न बनकर 'कालतरा' आदि प्रयोग बनने चाहिएँ। —अनुवादक

वेदिषदौ। वेदिषदः। वेदिषदा। वेदिषद्भ्याम्। वेदिषद्भिः। वेदिषदे। वेदिषद्भ्याम्। वेदिषद्भ्यः। वेदिषदः। वेदिषद्भ्याम्। वेदिषद्भ्यः। वेदिषदः। वेदिषदोः। वेदिषदाम्। वेदिषदि। वेदिषदोः। वेदिषत्सु। एवमन्येष्वपि प्रातिपदिकमात्रेषूदाहार्यम्।

''सुपांकर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङामि'' त्युक्तया कारिकया सुपामर्था विज्ञेयाः॥ २॥

भाषार्थ—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिकों से 'सुँ' इत्यादि इक्कीस प्रत्यय होते हैं। 'सुँ' प्रत्यय में सानुनासिक उकार अनुबन्ध है और 'सौ च' (६।४।१३) इत्यादि सूत्रों में विशेषण के लिए है। इसी प्रकार प्रत्ययों में दूसरे अनुबन्ध भी यथायोग्य कार्यार्थ लगाये हैं और 'सुप्' में पकार 'सुप्' प्रत्याहार की सिद्धि के लिए है। जैसे—ङ्यन्त से—कर्त्री। गौरी। कापटवी। इनमें क्रम से ङीप्, ङीष् तथा ङीन् प्रत्यय होते हैं। 'ङी' शब्द से इन तीनों प्रत्ययों का ग्रहण है। कर्त्री आदि से परे 'सु' प्रत्यय का ''हल्ङ्याब्भ्यो०'' (६।१।६८) सूत्र से लोप हुआ है। आबन्त से—चटका। दामा। कारीषगन्ध्या। इनमें क्रमशः टाप्, डाप्, चाप् प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के सामान्य रूप का ही निर्देश सूत्र में 'आप्' शब्द से किया है। इनसे भी परे 'सु' प्रत्यय का ''हल् ङ्याब्भ्यो०'' (६।१।६८) सूत्र से लोप हुआ है। प्रातिपदिक से—वेदिषत्। वेदिषद्। यहाँ भी सु प्रत्यय का हलन्त से परे लोप हुआ है। इनके इक्कीस प्रत्ययों में उदाहरण संस्कृतभाष्य में देख लेवें।

'सु' आदि इक्कीस प्रत्यय हैं। प्रत्यय शब्द का अर्थ है—''प्रत्याययति प्रत्याय्यते वाऽसौ प्रत्ययः'', अर्थात् जो अर्थों का निश्चय करावे अथवा स्वार्थ में विहित स्वय ही प्रतीत हो। इन 'सु' आदि प्रत्ययों का यहाँ कोई अर्थ निर्देश नहीं किया है, अतः सन्देह की निवृत्ति करते हैं—'**सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्॥**' (महाभाष्य—१।४।२१)। व्याकरणशास्त्र में ''कर्मणि द्वितीया'' (२।३।२) इत्यादि प्रकरण की और ''बहुषु बहुवचनम्'' (१।४।२१) इत्यादि सूत्रों की इस ''स्वौजस्'' (४।१।२) के साथ एकवाक्यता है, अतः स्वादि प्रत्ययों के कर्मादि[1] तथा सख्या-एकवचन, द्विवचन, बहुवचन अर्थ हैं। इसी प्रकार तिङ् प्रत्ययों के भी अर्थ जानने चाहिएँ।

स्त्रियाम्॥ ३॥

स्त्रियाम् ७।१। अधिकारसूत्रमिदम्। अतोऽग्रे यद् विधास्यते स्त्रीलिङ्गे वर्तमानं यत् प्रातिपदिकं—वर्तते तस्मात्तद् वेदितव्यम्। उपेयुषी गृहं कन्या। स्त्रियामिति किम्—उपेयिवान् पुस्तकं छात्रः।

१ वैयाकरणनिकाय में—स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, कर्मादिलक्षण 'प्रातिपदिक के पाँच अर्थ हैं, यह एक पक्ष है। इस पक्ष में सुपादि प्रत्यय कर्मादि अर्थों के द्योतकमात्र ही रहते हैं, और जो स्वार्थ, द्रव्य तथा लिङ्ग, इन तीनों को ही प्रातिपदिक का अर्थ मानते हैं उनके पक्ष में सख्या और कर्मादि स्वादि प्रत्ययों के अर्थ हैं। इसी द्वितीय पक्ष को मानकर महाभाष्य में यह कारिका लिखी है। —अनुवादक

लिङ्गविषये किंचिद् विचार्यते—इदं कुतो ज्ञातव्यम्। इयं स्त्री। अयं पुमान्। इदं नपुंसकमिति। यद्येतल्लक्षणं स्यात्।

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नुपंसकम्॥ १॥

तर्हि जड़पदार्थेषु स्तनादयो न सन्ति।

भा०—तटे च खल्वपि सर्वाणि लिङ्गानि दृष्ट्वा—तटः। तटी। तटमिति कस्तदध्यवसातुमर्हति। इयं स्त्री। अयं पुमान्। इदं नपुंसकमिति। तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः। कोऽसौ स्वकृतान्तः? संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः। संस्त्यान-प्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ॥ किमिदं संस्त्यानप्रसवाविति। संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट्स्त्री। सूतेः सप् प्रसवे पुमान्। अधिकरण-साधना लोके स्त्री। स्त्यायत्यस्याङ् गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान्। इह पुनरुभयं भावसाधनम्। संस्त्यानं स्त्री। प्रवृत्तिश्च पुमान्। संस्त्यानं तिरोभावः प्रवृत्तिराविर्भावः। तत्र वैयाकरणानां मते शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां गुणानामल्पीयसी प्रवृत्तिः संस्त्यानं स्त्रीत्वम्। उक्तगुणानां प्रबलप्रवृत्तिः पुंस्त्वम्। नैतल्लोके प्रसिद्धम्।

परि०—लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य॥

अष्टाध्यायी-व्याकरणे लिङ्गानुशासनं यत् क्रियते तत्र कर्त्तव्यम्, अर्थात् पुंसीदं, नपुंसक इदं, स्त्रियामिदं च कार्यं भवतीति। तल्लोकतः सिद्धम्। अन्यथा लिङ्गव्यवस्थां निश्चेतुं न शक्नुवन्ति॥ ३॥

भावार्थ—यह अधिकारसूत्र है। इससे आगे जो प्रत्ययों का विधान करेंगे वे स्त्रीलिग में वर्तमान प्रातिपदिकों से जानने चाहिएँ। जैसे—उपेयुषी गृहं कन्या यहाँ 'स्त्रियाम्' का ग्रहण इसलिए है कि—उपेयिवान्[1] पुस्तकं छात्रः॥

यहाँ लिंग-विषय में विचार किया जाता है—यह स्त्रीलिंग है, यह पुल्लिंग है, और यह नपुसक है, इसका ज्ञान कैसे हो? यदि इन लिंगों के विषय में लौकिक इन चिह्नों का आश्रय किया जाए—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥ १॥

'स्तनकेशवती' तथा 'लोमश' शब्द में भूमा—बहुत्वादि अर्थों में मतुप् तथा श प्रत्यय हैं। लोक में स्तन और केशों को देखकर स्त्री का, अतिशय लोमों को देखकर पुल्लिग का ज्ञान होता है और जो दोनों के कुछ सदृश हो, किन्तु दोनों के विशेष चिह्नों का जिसमें अभाव हो, वह नपुंसकलिग होता है।

लिग-ज्ञान में इस लौकिक[2] लक्षण का आश्रय करना सम्भव नहीं है। इस

---

१ उपेयिवान्=उप+इण्+क्वसु+सु। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (३।२।१०९) सूत्रे निपातनाद् रूपसिद्धिः।

२ महाभाष्य में इस विषय में अनेक दोष दिखाये हैं 'लिंगात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रुकुंसे टाप् प्रसज्यते। नत्वं खरकुटीः पश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः॥ नापुंसक भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम्॥ तटे च सर्वलिंगानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति—तटः, तटी, तटमिति॥' अनु०

लक्षण से खट्वा, वृक्षादि जड़ पदार्थों में लिंग की व्यवस्था को समझना सम्भव नहीं है और तट शब्द का तीनों लिंगों में प्रयोग देखकर लिंग का निश्चय कौन कर सकता है। इसलिए वैयाकरण लौकिक लिंग लक्षण को स्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें कोई अपने शास्त्र में स्वसिद्धान्त मानना ही पड़ेगा। उनका अपना सिद्धान्त कौन-सा है?

संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूते सप् प्रसवे पुमान्॥

वैयाकरणों ने लिंगविषयक स्वसिद्धान्त में यह स्वीकार किया है स्त्रीलिंग और पुंल्लिग के क्रमशः संस्त्यान—प्रसव लिंग हैं। संस्त्यान और प्रसव का अभिप्राय क्या है? इसे कारिका के उत्तरार्द्ध में समझाया गया है। स्त्रीलिंग का लक्षण संस्त्यान संघातार्थक 'ष्ट्यै' धातु से अधिकरण कारक में 'ड्रट्' प्रत्यय करने से 'स्त्री' शब्द बना है। जिसका अर्थ है—**'स्त्यायत्यस्यां गर्भः'** अर्थात् जिसमें गर्भ संघातरूप होता है, उसे स्त्रीलिंग कहते हैं और प्रसव सन्तान उत्पन्न करने अर्थ में 'सू' धातु से कर्त्ता कारक में 'सप्' प्रत्यय करने से पुमान् शब्द बनता है— **''सूते अपत्यं जनयति स पुमान्''**। जो सन्तानोत्पत्ति करता है वह पुमान् है। स्त्री-पुमान् शब्द का यह अर्थ भी लोकप्रसिद्ध है। इससे भी व्याकरणशास्त्र में कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिए महाभाष्यकार कहते हैं—**'इह पुनरुभयं भावसाधनम्'** अर्थात् स्त्री और पुमान् शब्दों में ऊपर जो अधिकरण तथा कर्त्ता कारक में प्रत्यय स्वीकार किये हैं, उन्हें भाव में माना जाए। **'संस्त्यानं स्त्री'** अर्थात् वैयाकरणों के मत में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन गुणों का तिरोभाव—अल्परूप में प्रवृत्ति होना स्त्रीलिंग और इन्हीं गुणों की प्रबलरूप से प्रवृत्ति होना पुंल्लिग है और यह व्यवस्था वक्ता की विवक्षा के अधीन है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में गुणों का तिरोभाव अथवा प्रवृत्ति होना होता ही रहता है। कोई भी गुण मुहूर्त (थोड़े समय) के लिए भी अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहता है।

किन्तु यह व्यवस्था भी लोक में प्रसिद्ध न होने से लोकव्यवहार में ठीक नहीं है। लिङ्ग का ज्ञान तो लौकिक व्यवहार से ही हो सकता है, इसमें कोई निश्चित लक्षण नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं— **'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य'**, अर्थात् व्याकरणशास्त्र में लिंगानुशासन नहीं करना चाहिए। लिंग के ज्ञान में लौकिक व्यवहार ही परम प्रमाण है॥ ३॥

अजाद्यतष्टाप्॥ ४॥

अजाद्यतः ५।१। टाप् १।१। अजादयश्च अच्च। एषां समाहारस्तस्मात्। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्योऽजादिभ्योऽदन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यष्टाप् प्रत्ययो भवति। अजा। एडका। कोकिला। अदन्तात्—बालो हसति। बाला हसति। देवदत्ता। खट्वा। माला। अत इति तपरकरणं तत् कालार्थं तेनेह न भवति—सोमपाः। गोपाः। यद्यत्र दीर्घान्ताद् टाप् स्यात् तर्हि 'हल्ङ्याब्भ्य' इति सुलोपः प्रसज्येत। अजादिभ्यो विशेषविहितान् ङीबादीन् बाधित्वा टाप् भवति। स्त्रियामिति

किम्-अजो बर्करः।

वा० — शूद्रा चामहत्पूर्वा॥ १॥

अमहत्पूर्वात् केवलात् स्त्रियां वर्तमानाच्छूद्रशब्दात् टाप् प्रत्ययो भवति। शूद्रा। अमहत्पूर्वेति किमर्थम्। महाशूद्री।

वा० — जातिः॥ २॥

महत्पूर्वाच्छूद्रशब्दाज्जातावभिधेये टापः प्रतिषेधो वेद्यः। तत्र टापि प्रतिषिद्धे जातेरस्त्रीविषयादिति ङीष्। यदा तु महत्त्वविशिष्टा शूद्रा स्यात्तदा महाशूद्रा। इति टाप् भवत्येव।

अथाजादिगणः — अजा। एडका। कोकिला। चटका। अश्वा। मूषिका। बाला। होडा। पाका। वत्सा। मन्दा। विलाता। पूर्वापहरणा। अपरापहरणा। क्रुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा। मूलान्नञः — अमूला॥ इत्यजादयः॥ ४॥

भाषार्थ—स्त्रीलिंग में वर्तमान अजादि गणपठित प्रातिपदिकों तथा अदन्त प्रातिपदिकों से 'टाप्' प्रत्यय होता है। जैसे अजा। एडका। कोकिला। इत्यादि। अदन्त शब्दों से—बालो हसति बाला हसति। देवदत्ता। खट्वा। माला। इत्यादि।

यहाँ 'अतः' में तपरकरण तत्काल के लिए है, जिससे यहाँ अकार से आकार का ग्रहण न होने से आकारान्त शब्दों से टाप् प्रत्यय नहीं होता। जैसे—सोमपाः। गोपाः। यदि इन दीर्घान्तों से 'टाप्' हो जावे तो 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्०' (६।१।६८) सूत्र से सु प्रत्यय का लोप हो जावे।

अजादि शब्दों से जो विशेषविहित ङीप् आदि प्रत्यय प्राप्त होते हैं, उनका यह अपवाद है अतः 'टाप्' ही होता है। जैसे—प्रथम पाँच अजा आदिशब्दों से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त है। बाला आदि छह शब्दों से 'वयसि प्रथमे' (४।१।२०) सूत्र से प्रथम अवस्था वाचक होने से 'ङीप्' प्राप्त है और पूर्वापहरणा और अपरापहरणा शब्दों से टिड्ढलक्षण 'ङीप्' प्राप्त है। 'स्त्रियाम्' का ग्रहण इसलिए है कि—'**अजो बर्करः**' यहाँ टाप् न होवे।

वा० — शूद्रा चामहत्पूर्वा॥ १॥

स्त्रीलिंग में वर्तमान, 'महत्' शब्द जिसके पूर्व नहीं है, ऐसे केवल 'शूद्र' शब्द से 'टाप्' प्रत्यय होता है। जैसे—शूद्रा। यहाँ '**अमहत्पूर्वा**'[1] का ग्रहण इसलिए है कि '**महाशूद्री**' यहाँ 'टाप्' न होवे॥ १॥

---

१ शूद्र शब्द का अजादिगण में पाठ है। ('ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधि प्रतिषिध्यते') इस परिभाषा से यहाँ तदन्तविधि प्राप्त नहीं है, फिर 'अमहत्पूर्वा' कहने की आवश्यकता ही नहीं है किन्तु वार्त्तिक में [illegible] किया है। वह निरर्थक होकर इस बात का ज्ञापक है कि इस प्रकरण में तदन्तविधि होती है और तदन्तविधि मानकर महत्पूर्व से भी टाप् प्राप्त होता उसका प्रतिषेध करना आवश्यक है और अन्यत्र प्रयोजन यह है कि ('उगितश्च' ४।१।६) जैसे भवती, महती में ङीप् होता है वैसे अतिभवती अतिमहती में भी ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

—अनुवादक

वा०—जातिः॥ २॥

पूर्ववार्तिक में जो अमहत्पूर्वा कहकर महत्पूर्व 'शूद्र' शब्द से 'टाप्' का प्रतिषेध किया है, उसमें यह जानना चाहिए—यदि महत्पूर्व शूद्र शब्द जातिवाचक है, तब तो टाप् प्रत्यय का प्रतिषेध होता है और टाप् का प्रतिषेध होने पर जातिलक्षण **(जातेरस्त्रीविषयात्)** (४।१।६३) ङीष् प्रत्यय हो जाता है महाशूद्री। और यदि जातिवाचक न होकर **(महती शूद्रा महाशूद्रा)** महत्त्व विशिष्ट शूद्रा हो तो 'टाप्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—महाशूद्रा।

ऋन्नेभ्यो ङीप्॥ ५॥

स्त्रियामिति वर्त्तते। ऋन्नेभ्यः—५।३। ङीप्—१।१। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्य ऋकारान्त—नकारान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ङीप् प्रत्ययो भवति। कर्त्री। हर्त्री। सुपात्री। अध्येत्री। नकारान्तेभ्यः—उष्णभोजिनी। पण्डितमानिनी। उदरिणी कन्या। ङकारोऽनुबन्धो ङ्याबिति सामान्यग्रहणार्थः। पकारोऽनुदात्तार्थः। स्त्रियामिति किम्। कर्त्ता देवदत्तः। एवं सर्वत्र प्रत्युदाहार्य्यम्॥ ५॥

भावार्थ—यहाँ 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे ऋकारान्त—कर्त्री। हर्त्री। सुपात्री। अध्येत्री, इत्यादि। नकारान्त—उष्णभोजिनी। पण्डितमानिनी। उदरिणी कन्या। प्रत्यय में ङकारानुबन्ध 'ङ्याप्'—४।१।१ इत्यादि सूत्रों में सामान्य ग्रहण के लिए है और पकारानुबन्ध अनुदात्त स्वर के लिए है। ['अनुदात्तौ सुप्पितौ' —३।१।४] यहाँ 'स्त्रियाम्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि—**कर्त्ता देवदत्तः**, यहाँ ङीप् न हो। इसी प्रकार सब सूत्रों में प्रत्युदाहरण जानने चाहिएँ।५॥

उगितश्च॥ ६॥

ङीबित्यनुवर्त्तते। उगितः—५।१। [च अ०] उक् प्रत्याहार इत्संज्ञो यस्य स उगित् तस्मात्। उगिदन्तात् स्त्रियां वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो भवति। भवती। अतिभवती। बृहती। महती। पृषती। जगती। गोमती। यवमती।

वा०—धातोरुगितः प्रतिषेधः॥ १॥

उखास्रद् ब्राह्मणी। पर्णध्वद् ब्राह्मणी। अत्र स्रंसु-ध्वंसुधातुभ्यां क्विप्। उकारस्येत्त्वात् क्विबन्तात् ङीप् प्राप्तः। स न भवति।

वा०—अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्॥ २॥

अञ्चु गतिपूजनयोः। अस्मात् क्विन्नन्तात् पूर्ववार्त्तिकेन ङीपः प्रतिषेधः प्राप्तः स मा भूत्। किन्तु ङीप् स्यादेव। प्राची। प्रतीची॥ ६॥

भावार्थ—यहाँ ङीप् की अनुवृत्ति है। उक् प्रत्याहार (उ, ऋ, लृ) इत् संज्ञक है जिसका वह उगित् है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान उगिदन्त प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—भवती। अतिभवती। बृहती। महती। पृषती। जगती। गोमती। यवमती।

वा०—धातोरुगितः प्रतिषेधः॥ १॥

उक् जिसका इत् हो गया है, ऐसे क्विप् आदि सर्वापहारी प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीविषय में ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—उखास्रद् ब्राह्मणी। पर्णध्वद्। यहाँ धातु के उकार की इत् संज्ञा होने से ङीप् प्राप्त होता है। उसका इससे प्रतिषेध किया है।

वा०—अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्॥ २॥

क्विन् प्रत्ययान्त अञ्चु धातु से पहले वाले वार्त्तिक से ङीप् का निषेध प्राप्त था, वह निषेध न हो अर्थात् ङीप् प्रत्यय हो ही जाए। जैसे—प्राची। प्रतीची॥२॥

वनो र च ॥७॥

वनः—५।१। र—१।१। च —[अ०] स्त्रियां वर्त्तमानाद् वन्नन्तात् प्रातिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो भवति वन्नन्तस्य प्रातिपदिकस्य र इत्यादेशश्च। वन इति क्वनिब्-ङ्वनिब्-वनिपां सामान्येन ग्रहणम्। धीवरी। पीवरी। परलोकदृश्वरी। राजकृत्वरी। सहकृत्वरी। पूर्वसूत्रेण नकारान्तत्वात् ङीपि सिद्धे रेफविधानार्थ आरम्भः।

वा०—वनो न हशः॥ १॥

हशन्तात् परो यो वन्नन्तशब्दस्तस्मात् ङीप् न भवतीति। सहयुध्वा ब्राह्मणी। 'सहे चेति' क्वनिप्॥ ७॥

भावार्थ—स्त्रीलिंग में वर्त्तमान वन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय होता है और वन्नन्त प्रातिपदिक को रेफ आदेश होता है। सूत्र में वन् से क्वनिप्, ङ्वनिप् और वनिप् तीनों प्रत्ययों का सामान्यरूप से ग्रहण किया गया है। जैसे—वनिप्— धीवरी पीवरी। क्वनिप्—परलोकदृश्वरी। राजकृत्वरी। सहकृत्वरी। ङ्वनिप्— सुत्वरी। यज्वरी। यहाँ नकारान्त होने से पूर्व सूत्र से ही ङीप् प्राप्त है, यह रेफ विधानार्थ सूत्र बनाया है।

वा०—वनो न हशः॥ १॥

हश् प्रत्याहारान्तर्गत अक्षर जिसके अन्त में हो उससे परे जो वन्, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीविषय में ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—सहयुध्वा ब्राह्मणी। यहाँ ('सहे च' —३।२।९६) सूत्र से क्वनिप् हुआ है। और यहाँ ध अक्षर से परे वन् होने से ङीप् नहीं हुआ। ध् हश् प्रत्याहारान्तर्गत है॥ ७॥

पादोऽन्यतरस्याम्॥ ८॥

पादः—५।१। अन्यतरस्याम् [अ०] अप्राप्तविभाषेयम्। समासान्तस्य हलन्त पाद्शब्दस्य निर्देशः कृतः। स्त्रियां वर्त्तमानात् पादन्तात् प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति। द्विपदी। द्विपात्। चतुष्पदी। चतुष्पात्। अत्र 'पादः पदिति' ङीप्पक्षे भत्वात् पदादेशः॥ ८॥

भावार्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। सूत्र में समासान्त हलन्त पाद् शब्द का निर्देश किया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान पाद् शब्दान्त प्रातिपदिक से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—द्विपदी। द्विपात्। चतुष्पदी। चतुष्पात्। यहाँ (**'संख्यासु**

पूर्वस्य' —५।४।१४४) सूत्र से अकार लोप और "पादः पत्" (६।४।१३०) सूत्र से ङीप् पक्ष में भ संज्ञा होने से पदादेश हुआ है।

टाब् ऋचि ॥ ९ ॥

पाद इत्यनुवर्त्तते, न विकल्पः। टाप् —१।१। ऋचि —७।१। स्त्रियां वर्त्तमानात् पादन्तात् प्रातिपदिकाद् ऋच्यभिधेये टाप् प्रत्ययो भवति। द्विपदा ऋक्। त्रिपदा ऋक्। चतुष्पदा ऋक्। पूर्वसूत्रेण ङीप् प्राप्तस्तस्यापवादः। ऋचीति किम्। चतुष्पदी। चतुष्पात्॥ ९ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'पादः' की अनुवृत्ति है, विकल्प की नहीं। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान पादशब्दान्त प्रातिपदिकों से ऋग्वेदविषयक मन्त्रवाच्य हो तो 'टाप्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्विपदा ऋक्। त्रिपदा ऋक्। चतुष्पदा ऋक् पूर्वसूत्र से ङीप् प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। यहाँ 'ऋचि' इसलिए पढ़ा है कि जहाँ ऋक् मन्त्र अभिधेय न हो, वहाँ टाप् न हो। जैसे—चतुष्पदी। चतुष्पात्॥ ९ ॥

न षट् स्वस्रादिभ्यः ॥ १० ॥

न [अ०] षट्स्वस्रादिभ्यः —५।३। ऋन्नेभ्यो ङीबिति ङीप् प्राप्तः स प्रतिषिध्यते। षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ङीप् प्रत्ययो न भवति। षट्संज्ञा षकारान्तानामपि तेभ्यो यः कश्चित् प्राप्तः स प्रतिषिध्यते। पंच ब्राह्मण्यो गच्छन्ति। षट्। सप्त। अष्ट। नव। दश। स्वस्रादयो गणशब्दाः। स्वसा। दुहिता। ननान्दा। याता। माता। तिस्रः। चतस्रः। सर्वे ऋकारान्ताः।

का०— षट्संज्ञानामन्ते लुप्ते टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात्।
प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं दोषस्त्वित्वे तस्मान्नोभौ॥ १ ॥

सर्वगुरु विद्युन्माला छन्द इदम्। विद्युन्माला मौ गाविति लक्षणात्। षट्संज्ञकानां शब्दानां न लोपः प्रतिपदिकान्तस्येत्यन्त्यनकारे लुप्तेऽदन्तत्वाद् टाप् प्रत्ययः कस्मान्नोत्पद्यते। अर्थादजाद्यष्टाबिति टाप् प्राप्नोत्येव। यदि न लोपः सुप्स्वरेति सूत्रे सुब्विधौ प्रत्याहारग्रहणम् -प्रथमैकवचनात् सुशब्दादारभ्याचापः पकारात्। तदातु टाब्विधानं सुब्विधिस्तत्र न लोपस्यासिद्धत्वाद् टाप् न भविष्यति। परन्त्वस्मिन् पक्षेऽयं दोषः। दोषस्त्वित्वे / चापः पकारपर्य्यन्ते सुप् प्रत्याहारे कृते टापोऽपि सुब्ग्रहणेन ग्रहणात् प्रत्ययस्थात्कादिति सूत्रे सप्तमाध्यायस्य तृतीयपादे सुब्विधौ टापि परतो न लोपस्यासिद्धत्वाद् अनोऽभावाद् सहुचर्मिकेत्यत्रेत्त्वं न प्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् उभौ टाप्-ङीपौ न भवत इति विज्ञेयम्॥ १० ॥

भाषार्थ—नकारान्त और ऋकारान्त शब्दों से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४ १ ५) सूत्र से ङीप् प्राप्त है, इससे उसका प्रतिषेध किया गया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान षट्संज्ञक और गणपठित 'स्वसृ' आदि प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। "ष्णान्ता षट्' (१।१।२३) सूत्र से षट् संज्ञा षकारान्त शब्दों की भी है उनमे

स्त्रीविषय में जो कोई प्रत्यय प्राप्त होवे, उसका प्रतिषेध किया गया है जैसे—**पञ्च ब्राह्मण्यो गच्छन्ति**। षट्। सप्त। अष्ट। नव। दश। स्वसृ आदि गणोपदिष्ट शब्दों से—स्वसा। दुहिता। ननान्दा। याता। माता। तिस्रः। चतस्रः। ये सभी ऋकारान्त शब्द हैं।

का०— षट् संज्ञानामन्ते लुप्ते टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात्।
प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ॥ १॥

छन्दः शास्त्र के (विद्युन्माला मौ गौ) इस लक्षण के अनुसार कारिका में सर्वगुरु विद्युन्माला छन्द है।

प्रश्न—पञ्चादि षट्सञ्ज्ञक शब्दों में ''नलोपः प्रतिपदिकान्तस्य'' (८।२।७) सूत्र से अन्त्य नकार लोप करने पर पञ्चादिशब्दों के अदन्त होने से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय क्यों नहीं होता है? ''अजाद्यतष्टाप्'' (४।१।३) सूत्र से टाप् प्रत्यय प्राप्ति होती ही है।

उत्तर—उक्त सूत्र से अदन्त शब्दों से टाप् होता है किन्तु पञ्चादि शब्दों में नकार लोप स्त्री प्रत्यय करने के पूर्व कार्य के प्रति असिद्ध है, इसलिए अदन्तता न होने से टाप् नहीं होता। यहाँ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि नलोप की असिद्धता कुछ परिगणित कार्यों में होती है, उनमें टाप् विधि नहीं है। इसका उत्तर यह है—''**प्रत्याहाराच्चापा सिद्धम्**'' अर्थात् ''न लोपः सुप्०'' (८।२।२) सूत्र में 'सुप्' शब्द से प्रत्यय का ग्रहण न होकर प्रत्याहार का ग्रहण है। ''स्वौजस०'' (४।१।२) सूत्र के सु शब्द से लेकर ''यङश्चाप्'' (४।१।७४) सूत्रस्थ चाप् प्रत्यय के पकार से 'सुप्' प्रत्याहार मान लिया जायेगा और इस प्रत्याहार के अन्तर्गत होने से टाप् विधि भी सुप् विधि हो जायेगी तथा नलोप के असिद्ध होने से टाप् प्रत्यय नहीं होगा।

शङ्का—आपका उपर्युक्त समाधान ठीक नहीं है। यदि टाप् विधि को भी सुप् विधि मान लिया जायेगा तो आपको अन्यत्र भी ऐसा मानना पड़ेगा जिससे ''**दोषस्त्वित्त्वे**'' इत्वविधायक सूत्र में ''प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्य०'' (७।३।४४) 'टाप्' के भी 'सुप्' के ग्रहण से ग्रहण होने से 'टाप्' के परे इत्वविधि में नलोप के असिद्ध होने से 'बहुचर्मन्+कप्+टाप्=बहुचर्म+क+आ=बहुचर्मिका' प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार के न होने से इत्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगा और 'बहुचर्मिका' प्रयोग में दोष आयेगा। इसलिये प्रत्याहार मानना ठीक नहीं है, और प्रत्याहार न मानने से वही पूर्वोक्त दोष (पञ्च आदि में न लोप होने पर टाप् का) यथापूर्व बना रहता है।

इसका दूसरा समाधान देते हैं '**तस्मान्नोभौ**' अर्थात् इस 'न षट् स्वस्रा०' सूत्र से केवल 'ङीप्' प्रत्यय का ही निषेध नहीं है, प्रत्युत टाप् और ङीप् दोनों का निषेध है और इसके लिये सूत्र की व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिये यहाँ 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति आ रही है। स्त्री विषय में जो जो प्रत्यय प्राप्त होते हैं उन सभी का इस सूत्र से निषेध होता है॥ १०॥

मनः ॥ ११ ॥

नेत्यनुवर्त्तते। मनः —५।१। नकारान्तत्वान् ङीप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। स्त्रियां वर्त्तमानान् मन्नन्तात् प्रतिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो न भवति। दामा। दामानौ। दामानः। सीमा। सीमानौ। सीमानः। पामा। पामानौ। पामानः॥ ११॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'न' की अनुवृत्ति है। 'मन' प्रत्ययान्त शब्दों से नकारान्त होने से ङीप् प्राप्त है, उसका यह निषेध करता है। मन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—दामा।[1] दामानः। सीमा। सीमानौ। सीमानः। पामा। पामानौ। पामानः॥

अनो बहुव्रीहेः ॥ १२ ॥

नेत्यनुवर्त्तते। अनः। -५।१। बहुव्रीहेः। -५।१। स्त्रियां वर्त्तमानादन्नन्तात् कृतबहुव्रीहिसमासात् प्रातिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो न भवति। शोभनं शर्म स्थानं यस्याः सुशर्मा। सुशर्माणौ। सुशर्माणः। शोभना ग्रावाणोऽस्यां नगर्य्यां सुग्रावा। सुग्रावाणौ। सुग्रावाणः। बहुव्रीहेरिति किम्। अतिक्रान्ता ग्रावाणम् अतिग्राव्णी॥ १२॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'न' की अनुवृत्ति है। 'अन्' प्रत्ययान्त बहुव्रीहि समासवाले प्रतिपादकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—**शोभनं शर्मस्थानं यस्याः सा सुशर्मा।** सुशर्माणौ। सुशर्माणः। **शोभना ग्रावाणोऽस्यां नगर्य्यां सुग्रावा।** सुग्रावाणौ। सुग्रावाणः। 'शर्मन्' शब्द में मनिन् और ग्रावन् शब्द में वन् औणादिक प्रत्यय हैं। यहाँ ''बहुव्रीही'' ग्रहण इसलिए है कि यहाँ प्रतिषेध न हो—अतिक्रान्ता ग्रावाणम् अतिग्राव्णी। यहाँ एकविभक्ति समास है, बहुव्रीहि नहीं॥ १२॥

डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्॥ १३ ॥

डाप् —१।१। उभाभ्याम् —५।२। अन्यतरस्याम्। [अ०] प्राप्ताप्राप्त-विभाषेयम्। भसंज्ञायामुपधालोपिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राप्तविभाषा। अनुपधा-लोपिभ्योऽप्राप्ता। स्त्रियां वर्त्तमानाभ्यां मन्नन्त—अन्नन्ताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन डाप् प्रत्ययो भवति। पक्षे प्रतिषेधः। दामा। दामे। दामाः। पामा। पामे। पामाः। दामा। दामानौ। दामानः। बहुव्रीहौ—बहवो राजानोऽस्यां सभायां बहुराजा। बहुराजे। बहुराजाः। बहुराजानः सभाः। यान्युपधालोपीन्यन्नन्तानि प्रातिपदिकानि तेषां चत्वारि रूपाणि भवन्ति। विकल्पद्वयेन प्रतिषेधारम्भ-सामर्थ्याच्च। बहवो धीवानोऽस्यां नगर्य्याम्—बहुधीव्नी। अन उपधालोपि-नोऽन्यतरस्यामिति ङीप्। अनो बहुव्रीहेरिति प्रतिषेधारम्भसामर्थ्यात् प्रतिषेधः। बहुधीवानौ। बहुधीवानः। पश्चाद् विकल्पेन डाप्। बहुधीवे। बहुधीवाः। पुनरस्मिन् सूत्रेऽन्यतरस्यां ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं पक्षे वनो र चेति बहुव्रीहावपि ङीप्रौ यथा स्याताम्। बहुधीवरी बहुधीवर्य्यौ। बहुधीवर्य्यः॥ १३॥

---

१ दामा पामाशब्दयोः 'आतो मनिन्०' (३।२।७४) सूत्रेण मनिन्। 'सीमा' शब्दे तु औणादिको मनिन्। —अनुवादक.

भाषार्थ—यहाँ प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। भ संज्ञा में उपधालोपी प्रातिपदिकों से प्राप्तविभाषा और अनुपधालोपी प्रातिपदिकों से अप्राप्त विभाषा है। 'मन्' और 'अन्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान प्रातिपदिकों से विकल्प से 'डाप्' प्रत्यय होता है। पक्ष में प्रतिषेध होता है। जैसे डाप्—दामा। दामे। दामाः। पामा। पामे। पामाः। पक्ष में—दामा। दामानौ। दामानः। अन्नन्त बहुव्रीहि—बहवो राजानोऽस्यां सभायां बहुराजा। बहुराजे। बहुराजाः। पक्ष में—बहुराजा। बहुराजानौ। बहुराजानः सभाः। जो उपधालोपी अन्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक हैं, उनके चार रूप बनते हैं—दो बार विकल्प करने तथा प्रतिषेध का विधान करने से। जैसे—बहवो धीवानोऽस्यां नगर्यां बहुधीव्नी। यहाँ "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" (४।१।२८) सूत्र से ङीप्, "अनो बहुव्रीहेः" (४।१।१२) इस प्रतिषेध के करने से ङीप् का निषेध भी—बहुधीवा। बहुधीवानौ। बहुधीवानः। इसके बाद विकल्प से डाप्—बहुधीवा। बहुधीवे। बहुधीवाः। और इस सूत्र में पुनः विकल्प करने का प्रयोजन यह है कि पक्ष में "वनो र च" (४।१।७) सूत्र से बहुव्रीहि समास में भी ङीप् और रेफादेश हो जायें। जैसे—बहुधीवरी। बहुधीवर्य्यौ । बहुधीवर्य्यः॥१३॥

अनुपसर्जनात्॥ १४॥

अनुपसर्जनात्—५।१। अधिकारसूत्रमिदम्। अतोऽग्रेऽधिकारे यदनुक्रमिष्यतेऽ-नुपसर्जनात् तद् वेदितव्यम्। 'अप्रधानम् उपसर्जनम्' उपसर्जनान्न भवतीति। कथमुपसर्जनात् प्राप्तं प्रतिषिध्यते। तदन्तविधिना। अन्यपदार्थप्रधाने सति यस्माद् विधीयते तदप्रधानं भवति। 'टिड्ढाणञ्' ङीब् विधीयते कुम्भकारी। नगरकारी। अनुपसर्जनादिति किम्। बहवः कुम्भकारा अस्यां नगर्यां बहुकुम्भकारा। बहुनगरकारा। जातिवाचिभ्यो ङीब् विधीयते। कुक्कुटी। मयूरी। सूकरी। अनुपसर्जनादिति किम्। बहु कुक्कुटा नगरी॥१४॥

भाषार्थ—यह अधिकार सूत्र है। इससे आगे जिस-जिस प्रत्यय का विधान करेंगे, सो सो अनुपसर्जन अर्थात् स्वार्थ में मुख्य प्रातिपदिकों से ही होंगे, '**अप्रधानमुपसर्जनम्**' इस पूर्वाचार्य कृत परिभाषा से अप्रधान को उपसर्जन कहते हैं, उसका इससे निषेध किया है। उपसर्जन (अप्रधान) से प्रत्यय कैसे प्राप्त हो सकता है, जो आपको निषेध करने की आवश्यकता हुई? तदन्तविधि मानकर उपसर्जन से भी प्रत्यय प्राप्त होता है। अन्य पदार्थ की प्रधानता होने पर जिससे प्रत्यय विधान किया जाता है, वह अप्रधान होता है। जैसे—"टिड्ढाणञ्" (४।१।१५) सूत्र से ङीप् का विधान किया है—कुम्भकारी। नगरकारी। "अनुपसर्जनात्" का अधिकार किसलिये किया है—**बहवः कुम्भकारा अस्यां नगर्यां बहुकुम्भकारा नगरी। बहुनगरकारा सभा।** इसी प्रकार जातिवाचकों से ङीप् का विधान किया है—कुक्कुटी। मयूरी। सूकरी। 'अनुपसर्जन' का अधिकार करने से यहाँ ङीप् नहीं हुआ—बहुकुक्कुटा नगरी॥१४॥

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः॥ १५॥

अजाद्यतष्टाबिति सूत्रादत इत्यनुवर्त्तते। टित्....क्वरपः—१।३ टिदादयः

प्रत्यया निर्दिश्यन्ते। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यष्टिदादिप्रत्ययान्तेभ्योऽदन्तेभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ङीप् प्रत्ययो भवति। टित्—चरष्टः। कुरुचरी। मद्रचरी। श्राद्धकरी। तद्धिते—सनातनी विद्या। ढ—अत्रेरपत्यं कन्या आत्रेयी। वैनतेयी। यामुनेयी। अण्—कुम्भकारी। आसुरी माया। अञ्—औत्सी। औदपानी। वैनोदी। द्वयसच्—उरुद्वयसी। जानुद्वयसी। दघ्नच्—उरुदघ्नी। जानुदघ्नी। मात्रच्—उरुमात्री। नाभिमात्री। तयप्—पंचतयी। षट्तयी। ठक्—रैवतिकी। अश्वपालिकी। ठञ्—नैषाद कर्षुकी। वैदिकी। काशिकी। केवले ठकार ग्रहणे द्वयोर्ग्रहणं स्यात् पुनष्ठक्—ठञोः पृथग्ग्रहणं ठनो निवृत्त्यर्थम्। कञ्—यादृशी। तादृशी। एतादृशी। ईदृशी। कीदृशी। क्वरप्—इत्वरी। नश्वरी। जित्वरी। टिदादीनां केषाञ्चित् तद्धितानामेव ग्रहणं केषांचित् कृदन्तानामेव केषांचित् सामान्येन। अस्मिन् सूत्रे मात्रजिति प्रत्याहारग्रहणम्। मात्रशब्दात् प्रभृतिद्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वेति अयच् प्रत्ययस्य चकारपर्यन्तम्। तेन—उभयीत्यत्रापि ङीब् भवति। अत इति किम्। कति ब्राह्मण्यः। मात्रजिति प्रत्याहारग्रहणेनात्रापि ङीप् प्राप्तोऽत इत्यनुवर्त्तनान्न भवति। अनुपसर्जनादिति किम्—बहुकुरुचरा नगरी।

वा०—नञ्स्नञीकक्ख्युँस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्॥ १ ॥

नञ्। स्नञ्। ईकिक्। ख्युन्। इत्येते प्रत्यया एतदन्तेभ्यो ङीप्। तरुणतलुनौ शब्दौ ताभ्यांच। नञ्-स्त्रैणी। स्नञ्—पौंस्नी। ईकक्—शाक्तिकी याष्टिकी। ख्युन्—आढ्यंकरणी। सुभगंकरणी। तरुणी। तलुनी॥ १५॥

भावार्थ—यहाँ "अजाद्यतष्टाप्" (४।१।४) सूत्र से 'अतः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'टित्' आदि से प्रत्ययों का निर्देश किया गया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान टिदादि प्रत्ययान्त अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—टित् (चरेष्ट. ३।२।१६) कुरुचरी। मद्रचरी। (कृञो हेतुताच्छी० ३।२।२०) श्राद्धकरी। तद्धित टित्—सनातनीविद्या (सायचिरं . अव्ययेभ्यष्टुट्युलौ तुट् च ४।३।२३) ढ—अत्रेरपत्य कन्या आत्रेयी। वैनतेयी। यामुनेयी। (इतश्चानिञः ४।१।२२ स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०) अण्—कुम्भकारी। आसुरी माया। (कर्मण्यण् ३।२।१) मायायामण् ४।४।१२४) अञ्—औत्सी। औदपानी। वैनोदी। (उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६) द्वयसच्—उरुद्वयसी। जानुद्वयसी। दघ्नच्—उरुदघ्नी। जानुदघ्नी। मात्रच्—उरुमात्री। नाभिमात्री। (प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७) तयप्—पंचतयी। षट्तयी। (संख्याया अवयवे तयप् ५।२। ४२) ठक्—रैवतिकी/आश्वपालिकी (रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६)। ठञ्—नैषादकर्षुकी। वैदिकी। काशिकी। (ओर्देशेठञ् ४।२।११९) काश्यादिभ्यष्ठञ्—ञिठौ ४।२।११६) यहाँ सूत्र में केवल 'ठ' पढ़ने से भी ठक्; ठञ् प्रत्ययों का ग्रहण हो जाता, पुनः दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश ठन् प्रत्यय की निवृत्ति के लिये हैं। कञ्—यादृशी। तादृशी। एतादृशी। ईदृशी। कीदृशी (त्यदादिषु दृशेरनालोचने कञ् च ३।२।६०) क्वरप्—इत्वरी। नश्वरी। जित्वरी। (इण्नश्जिसर्तिभ्यः क्वरप् ३।२।१६३)।

टित् आदि प्रत्ययों में किन्हीं से तद्धितों का ही ग्रहण है, किन्हीं से कृदन्तों का ही और किन्हीं से सामान्यरूप से दोनो का ग्रहण है और इस सूत्र में 'मात्रच्' से प्रत्याहार का ग्रहण है—'मात्रच्' प्रत्यय के मात्र शब्द से लेकर 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (५।२।४३) सूत्र के 'अयच्' के चकार पर्यन्त। इससे 'उभयी' में भी ङीप् प्रत्यय होता है। यहाँ 'अतः' की अनुवृत्ति का प्रयोजन यह है कि कति ब्राह्मण्यः। यहाँ मात्रच् से प्रत्याहार के ग्रहण से ङीप् प्रत्यय प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति 'अतः' की अनुवृत्ति से होती है। और 'अनुसर्जनात्' का ग्रहण इसलिये है—बहुकुरुचरा नगरी, यहाँ ङीप् न होवे।

वा०—नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्॥ १॥

नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन् ये प्रत्यय जिन के अन्त में हैं उन शब्दों तथा तरुण, तलुन से स्त्रीविषय में ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—नञ्—स्त्रैणी। स्नञ्—पौंस्नी। ईकक्—शाक्तिकी। याष्टिकी। ख्युन्—आढ्यंकरणी। सुभगकरणी। तरुणी। तलुनी॥

यहाँ तदन्त प्रातिपदिकों से 'टाप्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। १५।

यञश्च॥ १६॥

ङीबित्यनुवर्त्तते। यञः —५।१। च-[अ०]। स्त्रियां वर्तमानाद् यञन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो भवति। गार्गी। वात्सी। शाकली। पृथग्योग उत्तरार्थः॥

वा०—अपत्यग्रहणं द्वीपाद् यञः प्रतिषेधार्थम्॥ १॥

अपत्याधिकारविहिताद् यञन्तान् ङीब् यथा स्यात्। इह मा भूत्। द्वीपे भवा द्वैप्याः॥ १६॥

भाषार्थ—यहाँ 'ङीप्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिंग में वर्तमान यञ् प्रत्ययान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—गार्गी। वात्सी शाकली। पृथक् सूत्र करने का प्रयोजन उत्तरार्थ है।

वा०—अपत्यग्रहणं द्वीपाद् यञः प्रतिषेधार्थम्॥ १॥

इस सूत्र में अपत्याधिकार के 'यञ्' का ग्रहण है, अतः तदन्त से ही ङीप् होता है। अपत्य से अन्यत्र (द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०) यञन्त से ङीप् नहीं होता। जैसे—द्वीपे भवा द्वैप्याः॥ १६॥

प्राचां ष्फस्तद्धितः॥ १७॥

यञ इत्यनुवर्त्तते। प्राचाम्—६।३। ष्फः १।१। तद्धितः १।१। स्त्रियां वर्तमानाद् यञन्तात् प्रातिपदिकात् प्राचामाचार्याणां मते ष्फः प्रत्ययो भवति स च तद्धितसंज्ञो भवति। तद्धितत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा, पुनः षिदन्तात् प्रतिपदिकान् ङीष्। गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी। अन्येषां मते—गार्गी। वात्सी। ष्फप्रत्यये षित्करणसामर्थ्यात्स्यादेव ङीष् पुनस्तद्धितग्रहणस्योत्तरत्र प्रयोजनम्। आसुरेरुपसंख्यानमिति वार्तिकेन ष्फछौ प्रत्ययौ विधास्येते, तत्र ष्फ छ

प्रत्यययोर्यदि तद्धितसञ्ज्ञा न स्यात्तर्हि आसुरि शब्दस्येकारलोपः कथं स्यात्॥ १७॥

भाषार्थ—यहाँ 'ङीप्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान 'यञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से प्राच्य आचार्यों के मत में 'ष्फ' प्रत्यय होता है और उसकी तद्धित संज्ञा होती है। तद्धित संज्ञा करने का प्रयोजन है कि 'ष्फ' प्रत्ययान्त की पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा होकर षिदन्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय हो जाता है। जैसे गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी। दूसरों के मत में—गार्गी। वात्सी।

'ष्फ' प्रत्यय में षित् करण का अन्य कोई प्रयोजन न होने से ही षित्करण सामर्थ्य से 'ङीष्' प्रत्यय हो जाता, पुनः तद्धित ग्रहण का प्रयोजन अगले सूत्र के लिये है। '**आसुरेरुपसंख्यानम्**' वार्तिक से ष्फ छ प्रत्ययों का विधान किया है। यहाँ यदि तद्धित संज्ञा न होवे तो 'आसुरि' शब्द के इकार का लोप कैसे होवे॥ १७॥

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः॥ १८॥

ष्फस्तद्धित इत्यनुवर्त्तते। सर्वत्र [अ०]। लोहितादिकतन्तेभ्यः। ५। ३। **स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यो गर्गाद्यन्तर्गतलोहितादिकतपर्यन्तेभ्यः** [यञन्तेभ्यः] **प्रातिपदिकेभ्यः सर्वेषां मते तद्धितसंज्ञकः ष्फः प्रत्ययो भवति। पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थप्रारम्भः। लौहित्यायनी। सांशित्यायनी। बाभ्रव्यायणी। ष्फन्तान् ङीष्। कपि शब्दादुत्तरः केवलो यः कतशब्दस्तत्पर्य्यन्तस्य ग्रहणं न तु यः समस्तः कुरुकतेति।**

प्राचामित्यनुवृत्तेरभावात् सर्वत्र ग्रहणमन्तरेणापि सर्वेषां मते स्यादेव पुनः सर्वत्रग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—अत्र यञन्तात् ष्फविधानप्रकरणस्य यः कश्चिद् बाधकस्तमपि बाधित्वा ष्फो यथा स्यात्। यथाऽवटशब्दो लोहितादेः पूर्वं गर्गादिषु पठ्यते तस्माद् यञन्तात् प्राचां मते ष्फो भवत्येव। परन्त्वन्येषां मते 'आवट्याच्चेति' चाप्प्राप्तस्तं बाधित्वा सर्वत्र ष्फो यथा स्यात्। आवट्यायनी॥

का०— कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥ १॥

अनया कारिकया गर्गादिगणस्य विचारः क्रियते। गर्गाद्यन्तर्गता एव शब्दा लोहितादिकतन्ताः कण्वादयश्च। तत्र कण्वशब्दात् परः शकल शब्दः पठितोऽस्ति। लोहितादिकतन्ताः कण्वशब्दात् पूर्वमेव समाप्ताः। शकलशब्दस्य कार्यद्वयमिष्यते। तत्रैकः शकलशब्दः कण्वादिषु स्यात्तदा तु शैषिकोऽण् स्यात्। यदि लोहितादिषु स्यात्तर्हि ष्फः स्यात्। इष्येते चोभौ। गर्गादिष्वेवं पठिताः कपि। कत। कुरुकत। अनडुह। कण्व। शकल। तत्रैवं व्यवस्था कर्त्तव्या—कुरुकत अनडुह शब्दावत उत्थाप्यान्यत्र गर्गादिषु पठितव्यौ। शकल शब्दस्तत उत्थाप्य कत—कण्वयोर्मध्ये पठितव्यः। तेनोभयत्र समासविशेषेण ग्रहणं करिष्यते। तद्यथा—कतस्यान्तः कतन्त इति तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—कतन्तोऽन्ते येषां तानि कतन्तानि। एवं समासे द्वयोः कतशब्दयोरेकशेषः। तेन कतशब्दात्परः शकलशब्दो लोहितादिकतन्तेष्वायाति।

तस्मात् ष्फः। शाकल्यायनी। तथा कण्वादिभ्यो गोत्र इत्यत्र कण्वस्यादिः कण्वादिरिति षष्ठी तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः। कण्वादिः शकलशब्द आदौ येषां ते कण्वादयोऽर्थाच्छकलादयः। अत्रापि द्वयोरादिशब्दयोरेकशेषः। तेन कण्वादित्वाच्छकलशब्दादण्। शाकल्यस्येमे छात्राः शाकलाः। कारिकायां 'तदन्तादी' इति शब्दात् समासोऽयं निस्सरति॥ १८॥

भाषार्थ -यहाँ पूर्वसूत्र से 'ष्फः—तद्धितः' पदों की अनुवृत्ति आती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान गर्गादिगण में पठित लोहितादि कतपर्यन्त यञन्त प्रातिपदिकों से सर्वत्र=सब आचार्यों के मत में तद्धित सञ्ज्ञक 'ष्फ' प्रत्यय होता है। पूर्व सूत्र से विकल्प से प्राप्ति में नित्य ङीप् करने के लिए यह सूत्र है। जैसे—लौहित्यायनी। सांशित्यायनी। बाभ्रव्यायणी। इनमें 'ष्फ' प्रत्ययान्त से ङीष् हुआ है।

यहाँ कत पर्यन्त से कपि शब्द से अगले गणपठित केवल 'कत' शब्द का ग्रहण है, समस्त 'कुरुकत' का नहीं। यहाँ 'प्राचाम्' की अनुवृत्ति न होने से 'सर्वत्र' शब्द के विना भी सब आचार्यों के मत में ही प्रत्यय हो जाता, पुनः 'सर्वत्र' ग्रहण करने का यह प्रयोजन है—इस यञ् प्रत्ययान्त से ष्फ विधान का जो कोई अन्य बाधक प्रत्यय हो, उसका भी बाधन होकर 'ष्फ' प्रत्यय ही होवे। जैसे—अवट् शब्द लोहितादि से पूर्व गर्गादि गण में पढ़ा है, उस यञ् प्रत्ययान्त से प्राच्याचार्यों के मत में 'ष्फ' होता ही है, परन्तु दूसरों के मत में "आवट्याच्च (४।१।७५) से 'चाप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, उसका भी बाधन होकर 'ष्फ' प्रत्यय ही होवे। जैसे—आवट्यायनी।

का०— कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥ १॥

इस कारिका के द्वारा गर्गादिगण के कतिपय शब्दों पर विचार किया गया है। गर्गादिगण के अन्तर्गत ही लोहितादिकतन्त और कण्वादिगण हैं। गर्गादिगण में कण्व शब्द से परे शकल शब्द का पाठ है और लोहितादिकतन्त कण्व शब्द से पूर्व ही समाप्त हो गये हैं। शकल शब्द से लोहितादिकतन्त तथा कण्वादिगण के दोनों कार्य करने अभीष्ट हैं। कण्वादि में शकल शब्द के पाठ से शैषिक 'अण्' प्रत्यय हो जावे और लोहितादि में पाठ करने से स्त्रीविषय में 'ष्फ' प्रत्यय होना चाहिये। किन्तु गर्गादिगण में यथापठित शब्दों के पाठ से दोनों कार्य सिद्ध नहीं होते। गर्गादिगण में शब्द-पाठ इस प्रकार है—कपि। कत। कुरुकत। अनडुह। कण्व। शकल। और यहाँ इस प्रकार व्यवस्था समझनी चाहिए—शब्दों के इस क्रमिक पाठ में से कुरुकत तथा अनडुह शब्दों को यहाँ से उठाकर अन्यत्र गर्गादि में पाठ करना चाहिये और शकल शब्द का पाठ कत कण्व शब्दों के मध्य में कर लेना चाहिये। इस प्रकार पाठ-परिवर्त्तन करने तथा समास विशेष मानने से दोनों कार्यों की सिद्धि हो जायेगी।

कारिका की प्रथम पंक्ति में गण पाठ में परिवर्त्तन का प्रकार बताया गया है और अब उत्तरार्द्ध में समास विशेष मानकर इष्टसिद्धि बताते हैं—'पूर्वोत्तरौतद—

न्तादी।' जैसे शकल शब्द से 'ष्फ' प्रत्यय करने के लिए—'कतस्यान्तः कतन्तः' (तत्पुरुषसमास) और तत्पश्चात् 'कतन्तोऽन्ते येषां तानि कतन्तानि' बहुव्रीहि समास करना चाहिये। और इस प्रकार समास में दोनों कत शब्दों का एक शेष किया जाये। ऐसा करने से 'कत' शब्द से परवर्ती 'शकल' शब्द लोहितादिकतन्त में गृहीत हो जाता है और शकल शब्द से 'ष्फ' प्रत्यय होकर 'शाकल्यानी' रूप सिद्ध हो जायेगा। और 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' सूत्र से शकल शब्द से शैषिक 'अण्' करने के लिये इस प्रकार समास किया जाये—'कण्वस्यादिः कण्वादिः' (षष्ठीतत्पुरुष) उसके बाद बहुव्रीहि समास किया जाये —'कण्वादिः शकलशब्द आदौ येषां ते कण्वादयः।' इस प्रकार समास करने से कण्वादि से शकलादि का ग्रहण हो जायेगा। यहाँ भी दोनों आदि शब्दों का एकशेष मानकर रूपसिद्धि जाननी चाहिए। इस प्रकार शकल शब्द से कण्वादि मानकर शैषिक 'अण्' प्रत्यय हो जायेगा। जैसे—शाकल्यस्येमे छात्राः शाकलाः। इस कारिका के 'तदन्तादी' शब्द से दोनों प्रकार का समास जानना चाहिए॥ १८॥

कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च॥ १९॥

ष्फस्तद्धित इत्यनुवर्त्तते। कौरव्य-माण्डूकाभ्याम्—५।२। च [अ०]। कुरुशब्दाण्ण्यो भवति तदन्ताद् टाप् प्राप्तो मण्डूकशब्दादण् विधीयते तदन्ताच्च ङीप्। तयोष्टाप्-ङीपोरपवादः। स्त्रियां वर्त्तमानाभ्यां कौरव्य-माण्डूकाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां तद्धितसंज्ञकः ष्फो भवति। कौरव्यायणी। मण्डूकायनी।

वा०—कौरव्य-माण्डूकयोरासुरेरुपसंख्यानम्॥ १॥

आसुरिशब्दादिञन्तादपि ष्फो यथा स्यात्। आसुरायणी।

वा०—छश्च॥ २॥

शैषिकेष्वर्थेषु छापवाद इञश्चेत्यण् प्राप्तः स आसुरिशब्दान्माभूत् छ एव यथा स्यात्। अस्मिन् वार्त्तिके शेषाधिकारे पठितव्येऽत्र पठनं लाघवार्थम्। तत्र पठने आसुरिशब्दस्योभयत्र पाठः स्यात्। अत्रानुवर्तिष्यते। आसुरिणा प्रोक्त आसुरीयः कल्पः॥ १९॥

भावार्थ—यहाँ 'ष्फः, तद्धितः' पदों की अनुवृत्ति है। यह सूत्र टाप् ङीप् प्रत्ययों का अपवाद है। कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय करने पर कौरव्य शब्द बना है, इससे अदन्त होने से टाप् प्राप्त है और मण्डूक शब्द से अण् प्रत्यय करने पर 'माण्डूक' शब्द बना है, इससे ''टिड्ढाणञ्'' (४।१।१५) सूत्र से ङीप् प्राप्त है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान कौरव्य, माण्डूक प्रातिपदिकों से तद्धित संज्ञक 'ष्फ' प्रत्यय होता है। जैसे—कौरव्यायणी। माण्डूकायनी।

वा०—कौरव्यमाण्डूकयोरासुरेरुपसंख्यानम्॥ १॥

इञ् प्रत्ययान्त आसुरि शब्द से भी स्त्रीविषय में तद्धित संज्ञक 'ष्फ' प्रत्यय होता है। जैसे—आसुरायणी।

वा०—छश्च॥ २॥

यह वार्त्तिक शेषाधिकार में पढ़ना चाहिए किन्तु यहाँ इसका पाठ लाघवार्थ है। शेषाधिकार में पाठ करने पर 'आसुरि' शब्द का पुनः पाठ करना पडता। यहाँ अनुवृत्ति से ही कार्यसिद्धि हो जाती है। 'इञ्' प्रत्ययान्त शब्दों से शेषाधिकार में छ प्रत्यय के अपवाद 'इञश्च' (४।२।११२) सूत्र से 'अण्' प्राप्त होता है। 'अण्' न होकर 'छ' ही हो, इसलिये वार्त्तिक बनाया है। जैसे—आसुरिणा प्रोक्तः आसुरीयः कल्पः॥ १९॥

वयसि प्रथमे॥ २०॥

ङीबनुवर्त्तते। वयसि —७।१। प्रथमे —७।१। प्रथमावस्थायां स्त्रीलिङ्गे यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते तस्माददन्तान् ङीप् प्रत्ययो भवति। कुमारी। किशोरी। कुमारीत्यत्र पुंसा सहासमागमसंबन्धाद् वयो गम्यते। कन्याशब्दात्तु 'कन्यायाः कनीन चेति' निपातनज्ञापकान्न भवति।

वा०—वयस्यचरम इति वक्तव्यम्॥ १॥

सूत्रे प्रथमशब्दाद् बाल्यावस्था गृह्यते। अचरमे=मध्ययौवनावस्थायामपि स्यात्—वधूटी। चिरण्टी। प्राप्तयौवनेत्यर्थः। अचरम इति किमर्थम्। वृद्धा। स्थविरा। अत्र टाबेव॥ २०॥

भावार्थ—यहाँ ङीप् की अनुवृत्ति है। प्रथमावस्था को बोध करानेवाला स्त्रीलिङ्ग में जो प्रातिपदिक है, उस अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—कुमारी। किशोरी।

'कुमारी' शब्द से पुरुष के साथ सम्बन्ध न होने से प्रथम वय का बोध होता है, और कन्या शब्द भी यद्यपि वय का बोधक है उससे 'ङीप्' इसलिये नहीं होता। क्योंकि पाणिनिमुनि ने 'कन्यायाः कनीन च' सूत्र में निपातन करके ङीप् प्रत्यय नहीं किया है।

वा०—वयस्यचरम इति वक्तव्यम्॥ १॥

सूत्र में प्रथम शब्द से बाल्यावस्था का ग्रहण किया है। यौवनावस्था में भी ङीप् हो जाये, एतदर्थ वार्त्तिक बनाया है। अचरमे=वृद्धावस्था को छोड़कर अन्य बाल्य तथा यौवनावस्था में ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—वधूटी। चिरण्टी। ये प्राप्तयौवन द्वितीयावस्था के नाम हैं। यहाँ 'अचरमे' का ग्रहण इसलिये है कि वृद्धा। स्थविरा। यहाँ ङीप् न हो, टाप् ही हो॥ २०॥

द्विगोः॥ २१॥

द्विगोः—५।१। अकारान्तो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति वार्तिकात् स्त्रीत्वम्। स्त्रियां वर्त्तमानाददन्ताद् [द्विगुसंज्ञकात्] प्रातिपदिकान् ङीप् प्रत्ययो भवति। अष्टाध्यायी। पंचपूली। दशपूली। त्रिफला शब्दोऽजादिषु पठ्यते। तस्मान् ङीप् न भवति। अत इति किम्—बह्वीनां कुमारीणां समाहारो बहुकुमारि। पंचकुमारि॥ २१॥

भावार्थ 'अकारान्त द्विगु समास स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है' ऐसा वार्त्तिक में कहा है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान द्विगुसंज्ञक अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—अष्टाध्यायी। पञ्चपूली। दशपूली। 'त्रिफला' शब्द में भी द्विगु समास है किन्तु इसका अजादिगण में पाठ है, अतः उससे 'टाप्' ही होता है 'ङीप्' नहीं। यहाँ 'अतः' ग्रहण का प्रयोजन है कि—**बह्वीनां कुमारीणां समाहारो बहुकुमारि। पञ्चकुमारि।** यहाँ अदन्त न होने से ङीप् नहीं हुआ॥ २१॥

अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि॥ २२॥

द्विगोरित्यनुवर्त्तते। पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्य ङीपोऽयं प्रतिषेधः। अपरि.........कम्बल्येभ्यः —५।३। न [अ०] तद्धितलुकि —७।१। परितो मानं परिमाणं निश्चितव्यवस्थेयत्ता। तत्प्रतिषेधः। बिस्तादीनां ग्रहणं परिमाणार्थम्। अपरिमाणान्ताद् द्विगोर्बिस्ताचितकम्बल्यन्ताच्च तद्धितलुकि सति स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति। अपरिमाणान्तात्—पंचभिरश्वैः क्रीता पंचाश्वा। दशाश्वा। तेन क्रीतमिति ठक्। अध्यर्द्धपूर्वाद् द्विगोरिति लुक्। द्विबिस्ता। त्रिबिस्ता। द्व्याचिता। त्र्याचिता। द्विकम्बल्या। त्रिकम्बल्या। अपरिमाणेति किम्। द्व्याढकी। त्र्याढकी। तद्धितलुकीति किम्। द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीता द्विकार्षापणिकी॥ २२॥

भावार्थ—यहाँ 'द्विगोः' पद की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से प्राप्त ङीप् का इससे प्रतिषेध किया गया है। परिमाण शब्द का अर्थ है—'**परितो मानं परिमाणम्**' अर्थात् तोलकर निश्चित व्यवस्था करने का साधन परिमाण कहलाता है। और परिमाण के प्रतिषेध से बिस्तादि का भी ग्रहण प्राप्त है, अतः इन परिमाण वाचियों से भी सूत्रकार्य हो जाये, अतः इनका पृथक् ग्रहण किया है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान अपरिमाणान्त, बिस्तान्त, आचितान्त और कम्बल्यान्त द्विगु संज्ञक अदन्त प्रातिपदिकों से तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे **पंचभिरश्वैः क्रीता पंचाश्वा। दशाश्वा।** यहाँ 'तेन क्रीतम्' (५।१।७) सूत्र से 'ठक्' और ''अध्यर्द्धपूर्वात्'' (५।१।२८) सूत्र से तद्धित का लुक् हुआ है।

द्विबिस्ता। त्रिबिस्ता। द्व्याचिता। त्र्याचिता। द्विकम्बल्या। त्रिकम्बल्या। यहाँ 'अपरिमाण' का ग्रहण इसलिये है—द्व्याढकी। त्र्याढकी। और 'तद्धितलुकि' का ग्रहण इसलिये है कि **द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीता द्विकार्षापणिकी**॥ २२॥

काण्डान्तात् क्षेत्रे॥ २३॥

द्विगोरिति प्राप्तस्यैव प्रतिषेधः। काण्डान्तात् —५।१। क्षेत्रे —७।१। स्त्रियां वर्त्तमानात् काण्डान्ताद् द्विगोः प्रतिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो न भवति [क्षेत्रेऽभिधेये] द्विकाण्डा। त्रिकाण्डा। क्षेत्र इति काण्डान्तात् प्रतिषेधो नियमार्थम्। तेनेह प्रतिषेधो न भवति। द्विकाण्डी रज्जुः। त्रिकाण्डी रज्जुः॥ २३॥

भावार्थ—'द्विगोः' सूत्र से प्राप्त 'ङीप्' का इससे निषेध किया है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान काण्ड शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय नहीं होता क्षेत्र

अभिधेय हो तो। जैसे—**द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः सा द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः।** क्षेत्रवाच्य हो तो काण्डान्त से यह प्रतिषेध नियमार्थ है। इसलिये क्षेत्र से अन्यत्र निषेध नहीं होता। जैसे—द्विकाण्डी रज्जुः। त्रिकाण्डी रज्जुः।

पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्॥ २४॥

अप्राप्तविभाषेयम्। पुरुषात् —५।१। प्रमाणे —७।१। अन्यतरस्याम् [अ०] प्रमाणेऽर्थे यः पुरुषशब्दस्तदन्ताद् द्विगोः प्रातिपदिकात् तद्धितलुकि सति स्त्रियां विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति। द्विपुरुषी परिखा। द्विपुरुषा परिखा। अपरिमाणान्तत्वान्नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थ आरम्भः। प्रमाण इति किम्। द्विपुरुषा। त्रिपुरुषा। तद्धितलुकीति किम्। समाहारे विकल्पः प्रतिषेधो वा मा भूत्। द्विपुरुषी। त्रिपुरुषी। ङीप् स्यादेव॥ २४॥

भाषार्थ—यह अप्राप्तविभाषा है। प्रमाण=नापने अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान पुरुष शब्दान्त द्विगु संज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—**द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः परिखायाः सा द्विपुरुषी परिखा। द्विपुरुषा परिखा।**

यहाँ अपरिमाण वाची होने से पुरुषान्त से नित्य निषेध प्राप्त है, इसलिये यह अप्राप्त विभाषा है। यहाँ 'प्रमाणे' का ग्रहण इसलिये है—द्विपुरुषा। त्रिपुरुषा। यहाँ विकल्प से ङीप् न हो। और 'तद्धितलुकि' इसलिये कहा है कि द्विपुरुषी। त्रिपुरुषी। यहाँ समाहार में विकल्प अथवा निषेध न होवे। ङीप् प्रत्यय ही हो जावे॥ २४॥

बहुव्रीहेरूधसो ङीष्॥ २५॥

ङीप्डाप्प्रतिषेधानामपवादः। बहुव्रीहेः —५।१। ऊधसः —५।१। ङीष् —१।१। बहुव्रीहिसमासे ऊधश्शब्दात् समासान्तोऽनङ् विधीयते। तेन अन उपधालोपित्वान् ङीप् प्राप्तः। पक्षेऽनो बहुव्रीहेरिति डाप्-प्रतिषेधौ। तेषां सर्वेषां बाधको ङीष् विधीयते। स्त्रियां वर्तमानाद् ऊधश्शब्दान्ताद् बहुव्रीहेर्ङीष् प्रत्ययो भवति। ऊधस् इति पश्वादीनां दुग्धस्थानमुच्यते। पीतमूधोऽस्याः पीतोध्नी। रक्तोध्नी। घट इव ऊधोऽस्या घटोध्नी। कुम्भोध्नी। समासान्तानङ् आदेशोऽपि स्त्रीलिङ्ग एव भवति। तेनेह न भवति। महोधाः पर्जन्यः। बहुव्रीहेरिति किम्। प्राप्ता ऊधः प्राप्तोधाः। समासान्तेऽपि बहुव्रीहेरनुवर्त्तनादत्रानङ् न भवति॥ २५॥

भाषार्थ—यह ङीप् और डाप् प्रत्ययों का तथा प्रतिषेधों का अपवाद है। बहुव्रीहि समास में 'ऊधस्' शब्द से समासान्त 'अनङ्' आदेश का विधान किया है। इससे अन उपधालोपिनो' (४।१।२८) सूत्र से ङीप् प्रत्यय विकल्प से प्राप्त है और पक्ष में 'अनो बहुव्रीहेः' (४।१।१२) सूत्र से 'डाप्' और प्रतिषेध प्राप्त हैं। यह 'ङीष्' उन सबका बाधक है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। गौ आदि पशुओं के दुग्धस्थान को ऊधस् कहते हैं। जैसे—**पीतमूधोऽस्याः पीतोध्नी। रक्तोध्नी। घट इव ऊधोऽस्याः सा घटोध्नी। कुम्भोध्नी।** समासान्त 'अनङ्' आदेश भी स्त्रीलिङ्ग में ही होता है।

इसलिए 'ङीष्' यहाँ नहीं होता—महोधाः पर्जन्यः। यहाँ 'बहुव्रीहि' का ग्रहण इसलिये है कि **प्राप्ता ऊधः प्राप्तोधाः**। यहाँ ङीष् नहीं हुआ। समासान्त 'अनङ्' आदेश में भी बहुव्रीहि की अनुवृत्ति होने से यहाँ अनङ् आदेश नहीं हुआ है। २५॥

संख्याव्ययादेर्ङीप्॥ २६॥

पूर्वसूत्रस्यायमपवादः। ङीष् प्राप्तौ ङीब् विधीयते। संख्याव्ययादेः-५।१। ङीप् —१।१। संख्यादेरव्ययादेश्चोधसन्ताद् बहुव्रीहेः प्रातिपदिकात् स्त्रियाँ ङीप् प्रत्ययो भवति। द्व्यूध्नी। त्र्यूध्नी। उपोध्नी। अत्यूध्नी। आदिग्रहणादिहापि सिद्धं भवति। द्विविधोध्नी॥ २६॥

भाषार्थ—यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। पूर्वसूत्र से 'ङीष्' की प्राप्ति में 'ङीप्' का विधान किया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान, संख्या और अव्यय जिसके आदि में हों, ऐसे ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है जैसे— संख्यादि—द्व्यूध्नी। त्र्यूध्नी। अव्ययादि—उपोध्नी। अत्यूध्नी। आदि ग्रहण से यहाँ भी ङीप् होता है—द्विविधोध्नी॥ २६॥

दामहायनान्ताच्च॥ २७॥

ऊधस इति निवृत्तम्। संख्यादेरित्यनुवर्त्तते। अव्ययादेरिति निवृत्तम्। क्वचिदेक देशोऽप्यनुवर्त्तत इति वचनात्। दामहायनान्तात् —५।१। च [अ०] दामान्ताद् हायनान्ताच्च संख्यादेर्बहुव्रीहेः प्रातिपदिकान् ङीप् प्रत्ययो भवति। द्वे दाम्नी अस्या द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी। द्विहायनी। त्रिहायणी। दामन्-शब्दादनोबहुव्रीहेरिति डाप्-प्रतिषेधौ प्राप्तौ। तयोरपवादः। हायनान्तादप्राप्ते ङीप् विधीयते। अथेह कस्मान्न भवति—द्वौ हायनावस्याः शालाया द्विहायना। त्रिहायना। 'हायनो वयसि स्मृत' इति महाभाष्य प्रामाण्याद् वयो वाची हायनशब्दो गृह्यते। स च चेतनावत्सु घटते, न च शालादिषु जडेषु॥ २७॥

भाषार्थ—यहाँ 'ऊधस्' पद की अनुवृत्ति नहीं है। 'संख्यादेः' पद की अनुवृत्ति है, 'अव्ययादेः' की नहीं। यद्यपि सूत्रस्थ पदों की एक साथ ही अनुवृत्ति या निवृत्ति होती है, किन्तु इस नियम का यह अपवाद है—कहीं एकावयव की भी अनुवृत्ति होती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान, संख्या जिसके आदि में हो उस दामन् शब्दान्त और हायन शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है। जैसे—**द्वे दाम्नी अस्या द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी। द्विहायनी। त्रिहायणी।**

यहाँ दामन् शब्दान्त से अनो 'बहुव्रीहेः' (४।१।१२) सूत्र से डाप् और प्रतिषेध प्राप्त हैं, यह उन दोनों का अपवाद है। और हायनान्त शब्द से अप्राप्त ङीप् का विधान किया है।

प्रश्न—यह ङीप् प्रत्यय यहाँ क्यों नहीं होता—**द्वौ हायनावस्याः शालाया द्विहायना। त्रिहायना।**

उत्तर—**'हायनो वयसि स्मृतः'**। इस महाभाष्य के वचन से यहाँ वयः अवस्थावाची हायन शब्द का ग्रहण है, और वह चेतनावानों में ही संगत होता

है जडशालादि में नहीं। अतः ङीप् नहीं होता है॥२७॥

अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्॥ २८॥

अप्राप्तविभाषेयम्। डाबुभाभ्यामिति डाप् प्रतिषेधौ प्राप्तौ न तु केनापि ङीप्। अनः —५।१। उपधालोपिनः —५।१। अन्यतरस्याम् [अ०]। उपधालोपिनोऽन्नन्तात् स्त्रियां वर्त्तमानाद् बहुव्रीहेर्ङीप् प्रत्ययो विकल्पेन भवति। पक्षे डाप्-प्रतिषेधौ। बहवो राजानोऽस्यां सभायां बहुराज्ञी। बहुराजा: सभा। बहुराजानः सभाः। अन इति किम्। बहुमत्स्या। अत्रापीकारे परत उपधासंज्ञस्य यकारस्य लोपो भवति। उपधालोपिन इति किम्। सुपर्वे। सुपर्वाणौ। चारुपर्वे। चारुपर्वाणौ। अत्र डाप्-प्रतिषेधौ भवतः॥२८॥

भाषार्थ यह अप्राप्तविभाषा है। 'डाबुभाभ्या' (४।१।१३) सूत्र से डाप् और प्रतिषेध प्राप्त हैं, किन्तु किसी से 'ङीप्' प्राप्त नहीं है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अन् जिसके अन्त मे है, उस उपधालोपी बहुव्रीहि प्रातिपदिक से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है। पक्ष में डाप् और स्त्री प्रत्यय का प्रतिषेध होता है। जैसे—**बहवो राजानोऽस्यां सभायां बहुराज्ञी। डाप्=बहुराजाः सभाः।** स्त्रीप्रत्यय प्रतिषेध **बहुराजानः सभाः।** यहाँ 'अन्नन्त' का ग्रहण इसलिये हैं कि—**बहुमत्स्या।** यहाँ ङीप् नहीं होता, यथाप्राप्त डाप् प्रतिषेध तो होते हैं॥२८॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः॥ २९॥

अन उपधालोपिन इत्यनुवर्त्तते। विकल्पस्यापवादः। नित्यम् —१।१। संज्ञाछन्दसोः —७।२। संज्ञायां विषये छन्दसि चोपधालोपिनोऽन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां नित्यं ङीप् प्रत्ययो भवति। संज्ञायाम्—सुराज्ञी। अतिराज्ञी। छन्दसि—गौः पञ्चदाम्नी। एकमूर्द्ध्नी। समानमूर्द्ध्नी॥२९॥

भाषार्थ—यहाँ 'अन उपधालोपिनः' पदों की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र के विकल्प का यह अपवाद है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहि प्रातिपदिक से संज्ञा और वेद विषय में 'ङीप्' प्रत्यय नित्य होता है। जैसे—संज्ञा में—सुराज्ञी। अतिराज्ञी। वेदविषय मे—गौः पञ्चदाम्नी। एकमूर्ध्नी। समानमूर्ध्नी॥२९॥

केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्य्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च॥ ३०॥

संज्ञाछन्दसोरित्यनुवर्त्तते। अन उपधालोपिनो बहुव्रीहेरिति निवृत्तम्। केवल........ भेषजात् —५।१। च [अ०]/केवलादीनां समाहारद्वन्द्वः। संज्ञायां विषये छन्दसि च स्त्रियां वर्तमानेभ्यः केवलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ङीप् प्रत्ययो भवति। टापोऽपवादः। केवली। मामकी तनू इति। मित्रावरुणयोर्भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्य्यकृती। सुमंगलीरियं वधूः। [भेषजी] संज्ञाछन्दसोरिति किम्। केवला। इत्येवान्यत्र। मामक शब्दात् त्वणन्तत्वान् ङीप् प्राप्तस्तन् नियमार्थं संज्ञा-छन्दसोरेव ङीप्। मामका इत्येवान्यत्र॥३०॥

भाषार्थ—यहाँ 'संज्ञा छन्दसोः' पद की अनुवृत्ति आती है और 'अन उपधालोपिनो बहुव्रीहेः' पदों की नहीं। सूत्र में केवलादि पदों का समाहार द्वन्द्व

समास है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमंगल और भेषज प्रातिपदिकों से संज्ञा और वेद विषय में ङीप् प्रत्यय होता है। यह 'टाप्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—केवली। मामकी तनू इति। मित्रावरुणयोर्भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्य्यकृती। सुमंगलीरियं वधूः। भेषजी। यहाँ 'संज्ञा-छन्दसोः' का ग्रहण इसलिये है—केवला। इत्यादि में 'टाप्' ही होवे, यद्यपि 'मामक' शब्द से अण् प्रत्ययान्त होने से 'ङीप्' प्राप्त है, पुनरपि 'ङीप्' का विधान नियमार्थ है। संज्ञा तथा वेदविषय से अन्यत्र ङीप् न हो। और 'टाप्' प्रत्यय होकर 'मामका' ही रूप बने॥ ३०॥

रात्रेश्चाजसौ॥ ३१॥

संज्ञा-छन्दसोरित्यनुवर्त्तते। रात्रेः —५।१। च [अ०] अजसौ —७।१। संज्ञायां छन्दसि च विषये जसोऽन्यत्र विभक्तौ परतो रात्रिशब्दान् ङीप् प्रत्ययो भवति। या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः। अजसाविति किम्। यास्ता रात्रयः॥

वा०— अजसादिष्विति वक्तव्यम्॥ १॥

इहापि यथा स्यात्—

रात्रिं रात्रिं स्मरिष्यन्तो रात्रिं रात्रिमजानन्तः।
सर्वां रात्रिं सहोषित्वा पत्या एकान्तरात्रिकाम्॥ १॥

अस्मिन् श्लोके रात्रिशब्दो द्वितीयैकवचनान्तस्तत्र ङीप् न भवति॥ ३१॥

भावार्थ—यहाँ 'संज्ञा छन्दसोः' पद की अनुवृत्ति है। संज्ञा और वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान रात्रि शब्द से 'जस्' विभक्ति से भिन्न विभक्ति में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। जैसे—**या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः।** यहाँ 'अजसौ' का ग्रहण इसलिये है कि यास्ता रात्रयः। यहाँ 'जस्' विभक्ति के परे ङीप् प्रत्यय न होवे।

वा०—अजसादिष्विति वक्तव्यम्॥ १॥

सूत्र में केवल जस् विभक्ति के परे ङीप् का निषेध किया है, वह जस् आदि के परे निषेध कहना चाहिये। जिससे यहाँ भी निषेध हो सके—**रात्रिं रात्रिं स्मरिष्यामोरात्रिं रात्रिमजानन्तः। सर्वां रात्रिं सहोषित्वा पत्या एकान्तरात्रिकाम्॥** इस श्लोक में रात्रि शब्द द्वितीय विभक्ति का एकवचनान्त है। इसमें भी ङीप् नहीं हुआ॥ ३१॥

अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्॥ ३२॥

अन्तर्वत्पतिवतोः —६।२। नुक् —१।१। स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानाभ्यां मत्वन्ताभ्याम् अन्तर्वत्—पतिवच्छब्दाभ्यां ङीप् प्रत्ययो भवति। ङीप् संनियोगेऽनयोर्नुगागमश्च। अन्तर्वत्नी। पतिवत्नी।

का०— अन्तर्वत् पतिवतोर्नुड्मतुब्वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वाच्छन्दसि नुग्भवेत्॥ १॥

अन्तःशब्दोऽधिकरणवाची। प्रथमासमानाधिकरणे च मतुब् विधीयते।

तत्रान्तर्शब्दे निपातनान्मतुप्। पतिशब्दान्मतुपो वत्वं निपात्यते। छन्दसि= वैदिकप्रयोगे गर्भिण्यामभिधेयायामन्तर्वच्छब्दाद् विकल्पेन नुक् ङीप् च नित्यमेव भवति। पतिवच्छब्दाच्च जीवपत्यामभिधेयायां पूर्ववन्ङीम्—नुकौ। जीवो विद्यमान पतिरस्या इति। अन्तर्वच्छब्दाद् गर्भिण्यां तावत्—सान्तर्वत्नी देवानुपैत्। सान्तर्वती देवान् उपैत्। पतिवच्छब्दाज्जीवपत्याम्। पतिवती तरुणवत्सा। पतिवत्नी तरुणवत्सा। जीवद्भर्तृका॥ ३२॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान मतुप् प्रत्ययान्त अन्तर्वत् और पतिवत् शब्दों से ङीप् प्रत्यय होता है और ङीप् के सनियोग से दोनों शब्दों को नुक् आगम होता है। जैसे—अन्तर्वत्नी। पतिवत्नी।

का०— अन्तर्वत्-पतिवतोर्नुङ् मतुब्-वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वा च छन्दसि नुग् भवेत्॥ १॥

अन्तर् शब्द अधिकरणवाची है और मतुप् प्रत्यय का प्रथमासमानाधिकरण में विधान किया है। इसलिये 'अन्तर्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय प्राप्त न होने से निपातन से 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है और पति शब्द से 'मतुप्' प्राप्त है, वकारादेश प्राप्त नहीं है, वह निपातन से हुआ है। क्या यह निपातन का कार्य सामान्यरूप से विधान किया गया है? नहीं। 'गर्भिण्यां जीवपत्यां च०' वैदिक प्रयोग विषय में 'अन्तर्वत्' से गर्भिणी अर्थ में विकल्प से 'नुक्' आगम और 'ङीप्' प्रत्यय नित्य होता है और 'पतिवत्' शब्द से जिसका पति जीवित हो उस अर्थ में पूर्ववत् ङीप् नुक् होते हैं अर्थात् विकल्प से 'नुक्' और 'ङीप्' प्रत्यय नित्य होता है। जैसे—'अन्तर्वत्' शब्द से गर्भिणी अर्थ में—**सान्तर्वत्नी देवानुपैत्। सान्तर्वती देवानुपैत्।** पतिवत् शब्द से जीवितपति अर्थ में—**पतिवत्नी तरुणवत्सा। पतिवती तरुणवत्सा॥ ३२॥**

पत्युर्नो यज्ञसंयोगे॥ ३३॥

पत्युः —६।१। नः —१।१। यज्ञसंयोगे —७।१। यज्ञेन संयोगो यज्ञसंयोगः। स्त्रियां वर्त्तमानात् पतिशब्दान् ङीप् प्रत्ययः पतिशब्दस्य नकारादेशश्च भवति। गृहस्थानां पंचमहायज्ञानुष्ठानं नैत्यकं कर्म, तत्र जायापत्योः सहाधिकारः। यजमानस्य पत्नी। इममस्य पत्नी। पत्नि! वाचं यच्छ। यज्ञसंयोग इति किम्—ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी॥ ३३॥

भाषार्थ— स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान 'पति' शब्द से यज्ञ से संयोग होने पर 'ङीप्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय सन्नियोग से पति शब्द को नकारादेश होता है। पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना गृहस्थ-पुरुषों का नित्य कर्म है। उनमें पति-पत्नी का एकसाथ अधिकार है; यज्ञों के कर्त्ता होने से दोनों ही यज्ञकृत फल से सम्बन्ध रखने के कारण यज्ञ से सम्बद्ध हैं। जैसे—यजमानस्य पत्नी। इयमस्य पत्नी। पत्नि! वाच यच्छ। यहाँ 'यज्ञसंयोगे' का ग्रहण इसलिये है कि ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी। यहाँ न हो॥ ३३॥

विभाषा सपूर्वस्य॥ ३४॥

पत्युर्नो इत्यनुवर्त्तते। विभाषा [अ०]। सपूर्वस्य —६।१। अप्राप्तविभाषेयम्। अयज्ञसंयोगार्थ आरम्भः। विद्यमानपूर्वात् पतिशब्दाद् विकल्पेन स्त्रियां ङीप् तत्संन्नियोगे पतिशब्दस्य नकारादेशश्च। निषेधपक्षे नकारादेशोऽपि न भवति। वृद्धपत्नी। वृद्धपतिः। बालपत्नी। बालपतिः। समानाधिकरणतत्पुरुषोऽयं समासः। सपूर्वस्येति किम्। ग्रामस्य पतिरियम्॥ ३४॥

भाषार्थ—यहाँ 'पत्युर्नः' पदों की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्त विभाषा है। यज्ञ संयोग से अन्यत्र यह विधान करता है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान सपूर्व=पूर्वपदसहित पति शब्द से विकल्प से ङीप् प्रत्यय और प्रत्यय सन्नियोग से पति शब्द को नकारादेश होता है। निषेध पक्ष में नकारादेश भी नहीं होता है। जैसे—वृद्धपत्नी। वृद्धपतिः। बालपत्नी। बालपतिः। यहाँ समानाधिकरण तत्पुरुष समास है। यहाँ 'सपूर्वस्य' का ग्रहण इसलिये किया है कि—**ग्रामस्य पतिरियम्**। यहाँ ङीप् नकारादेश न होवें॥ ३४॥

नित्यं सपत्न्यादिषु॥ ३५॥

पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थ आरम्भः। नित्यम्—१।१। सपत्न्यादिषु —७।३। सपत्न्यादिषु पतिशब्दान् ङीप् नकारादेशश्च नित्यं भवति। समानः पतिरस्याः सपत्नी। एकपत्नी। सपत्न्यादिष्विति पाठः समानशब्दस्य निपातनात् सकारादेशो यथास्यात्। अन्यथा समानादिभ्य इति वक्तव्यं स्यात्।

समानादिगणः—समान। एक। वीर। पिण्ड। श्व। भ्रातृ। भद्र। पुत्र। दासाच्छन्दसि॥ इति समानादिगणः॥ ३५॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से विकल्प की प्राप्ति में नित्यार्थ यह सूत्र बनाया है। सपत्नी आदि शब्दों में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान पति शब्द से नित्य 'ङीप्' प्रत्यय और नकारादेश होते हैं। जैसे—**समानः पतिरस्याः सपत्नी। एकपत्नी।** इत्यादि।

यहाँ सूत्र में 'सपत्न्यादिषु' ऐसा पाठ इसलिये किया है कि निपातन से समान शब्द को सकारादेश हो जाये। अन्यथा 'समानादिभ्यः' पाठ से भी कार्यसिद्धि हो सकती थी॥ ३५॥

पूतक्रतोरै च॥ ३६॥

ङीबनुवर्तते। पूतक्रतोः —६।१। ऐ १।१। च [अ०]। पूतः क्रतुर्येन स पूतक्रतुः। पुंयोगायां स्त्रियां वर्त्तमानात् पूतक्रतुशब्दात् ङीप् प्रत्ययो भवति प्रकृतेरैकारादेशश्च। पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी।

वा०—पूतक्रत्वादीनां पुंयोगप्रकरणे वचनम्॥ २॥

आदिशब्देनात्र त्रीणि सूत्राणि गृह्यन्ते मनोरौवेति पर्यन्तम्। त्रिषु योगेषु पुंयोगान् ङीब् यथा स्यात्। तथैवोदाहृतम्। तेनेह न भवति—यया हि पूता: क्रतवः पूतक्रतुः सा भवति।

परि०—संनियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः ॥

तद्यथा-देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्यं कर्त्तव्यम्। देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति। लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। इह व्याकरणेऽस्या एतत् प्रयोजनम्। पंचपूतक्रताय्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य। एवं विग्रहे देवतायां विहितस्याण् प्रत्ययस्य 'द्विगोर्लुगनपत्य' इति लुक्। ततो 'लुक् तद्धितलुकीति' स्त्री-प्रत्ययस्य लुक्। स्त्री प्रत्यय संनियुक्तस्यैकारादेशस्यानया परिभाषयाऽभावः। एवं पंचेन्द्राण्यो देवता अस्य पंचेन्द्रः। दशाग्नाय्यो देवता अस्य दशाग्निः। इत्यादिष्वागमादेशानामभावो भवति॥ ३६ ॥

भावार्थ—यहाँ ङीप् की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान पुंयोग-पुरुष के योग के कहने में 'पूतक्रतु' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय और प्रकृति को ऐकारादेश होता है। जैसे—पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी।

वा०—पूतक्रत्वादीनां पुंयोगप्रकरणे वचनम्॥

आदि शब्द से यहाँ तीन सूत्रों का ग्रहण किया गया है। 'पूतक्रतोरै च' सूत्र से 'मनोरौ वा' सूत्रपर्यन्त तीन सूत्र हैं। इन तीन सूत्रों में पुंयोगाख्या में ङीप् प्रत्यय होवे, एतदर्थ यह वार्तिक है। इनके उदाहरण यथायोग में कहे हैं। पुंयोग कहने से यहाँ ङीप् नहीं होता है—**यया हि पूताः क्रतवः पूतक्रतुः सा भवति।**

परि०—संनियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः॥

किसी सूत्र से एक साथ एक से अधिक कार्यों का जो विधान किया है, वह संनियोगशिष्ट कहलाता है। उन कार्यों में जब एक कार्य का अभाव जिस सूत्र से हो जाता है, तो दूसरे कार्य का भी अभाव उसी सूत्र से समझना चाहिए। जैसे यह लौकिक दृष्टान्त है—देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों मिलकर इस कार्य को करें। सो जो देवदत्त किसी कारणवश कार्य को न कर सके, तो यज्ञदत्त भी उस कार्य से स्वयं निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ व्याकरण में भी इस दृष्टान्त का प्रयोजन यह है कि—'पञ्च पूतक्रताय्यो देवता अस्यस्थालिपाकस्य' ऐसा विग्रह करने पर देवता अर्थ में विहित अण् प्रत्यय का द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) सूत्र से लुक् हुआ है। उसके बाद 'लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) सूत्र से स्त्री प्रत्यय के भी लुक् का विधान किया गया है। उपर्युक्त दृष्टान्त मूलक परिभाषा के आश्रय से स्त्रीप्रत्यय के संन्नियोग से विहित ऐकारादेश का भी अभाव स्त्री प्रत्यय के साथ ही हो जाता है।

इसी प्रकार—**पंचेन्द्राण्यो देवता अस्य पंचेन्द्रः। दशाग्नाय्यो देवता अस्य दशाग्निः।** इत्यादि प्रयोगों में भी प्रत्ययों के साथ आगम तथा आदेशों का भी अभाव समझना चाहिए॥ ३६ ॥

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः ॥ ३७ ॥

ऐकार ग्रहणमनुवर्त्तते। वृषाक —कुसीदानाम् -६।३। उदात्तः -१।१। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यो वृषाकप्यादि प्रातिपदिकेभ्यः पुंयोगे सति ङीप् प्रत्ययो

भवति। प्रकृतीनामैकारादेशो भवति स चोदात्तः। वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। अग्नेः स्त्री अग्नायी। कुसितस्य स्त्री कुसितायी। कुसीदस्य स्त्री कुसीदायी। पुंयोगवचन इति वार्त्तिकमत्रानुवर्त्तते। पुंयोग इति किमर्थम्। वृषाकपिर्ब्राह्मणी। अत्र माभूत्॥ ३७॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से ऐकारादेश की अनुवृत्ति है। पुरुष के योग के कहन में स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान वृषाकपि, अग्नि, कुसित और कुसीद शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय होता है और प्रकृतियों को उदात्त ऐकारादेश होता है। जैसे—**वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। अग्नेः स्त्री अग्नायी। कुसितस्य स्त्री कुसितायी। कुसीदस्य स्त्री कुसीदायी।** 'पुंयोगवचनः' वार्तिक की यहाँ भी अनुवृत्ति है। यहाँ 'पुंयोग' वचन इसलिये है कि—**वृषाकपिर्ब्राह्मणी।** यहाँ ङीप् न होवे॥ ३७॥

मनोरौ वा॥ ३८॥

ऐ उदात्त इत्यनुवर्त्तते। मनोः —५।१।औ —१।१।वा [अ०] अप्राप्तविभाषेयम्। स्त्रियां वर्त्तमानात् मनुशब्दाद् विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति। तत्संनियोगेन प्रकृतेरौकारादेशो भवति, चादैकारादेशोऽपि विकल्पेनैव स चोदात्तः। एवं द्वयोरादेशयोर्विकल्पत्वात् त्रीणि रूपाणि भवन्ति। मनोः स्त्री मनावी। मनायी। मनुः। 'पुंयोग' इत्यनुवर्त्तते तेनेह न भवति—मनुर्ब्राह्मणी॥ ३८॥

भाषार्थ—यहाँ 'ऐ, उदात्तः' पदों की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। पुरुष के योग के कथन में स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'मनु' प्रातिपदिक से विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय सन्नियोग से प्रकृति को औकारादेश तथा ऐकारादेश भी विकल्प से होते हैं और वे उदात्त होते हैं। इस प्रकार दोनों आदेशों के विकल्प होने से तीन रूप बनते हैं। जैसे—**मनोः स्त्री मनावी। मनायी। मनुः।** पुंयोग वचन से यहाँ ङीप् नहीं होता—मनुर्ब्राह्मणी॥ ३८॥

वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः॥ ३९॥

वेत्यनुवर्त्तते। वर्णात् –५।१। अनुदात्तात् —५।१। तोपधात् —५।१। तः —६।१। नः —१।१। त उपधायां यस्य तस्मात्। स्त्रियां वर्त्तमानाद् वर्णवाचिनोऽनुदात्तान्तात् तोपधात् प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति प्रकृतेस्तकारस्य नकारादेशश्च। पीता। पीनी। लोहिता। लोहिनी। हरिता। हरिणी। एता। एनी। वर्णादिति किम्। प्रकृता। प्रहृता। पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणानुदात्तान्तौ। अनुदात्तादिति किम्। श्वेता। तोपधादिति किम्। अन्योपधाद् वक्ष्यमाणसूत्रेण ङीष्।

वा०—असित-पलितयोः प्रतिषेधः॥ १॥

असिता। पलिता। वर्णवाचि—तोपधादनुदात्तान्तत्वात् प्राप्तं प्रतिषिध्यते॥ १॥

वा०—छन्दसि क्नमेके॥ २॥

छन्दसि=वैदिकप्रयोगविषयेऽनुदात्तवर्णवाचि—तोपधाभ्यामसितपलित शब्दाभ्यां ङीप् तकारस्य च क्नमित्यादेशो भवति, इति केषाञ्चिदाचार्य्याणां मतम्। असिक्न्यस्योषधे। पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति॥ २॥

वा०—वर्णान् ङीब्विधाने पिशङ्गादुपसंख्यानम्॥ ३॥

पिशङ्गी। परसूत्रेण ङीषि प्राप्ते ङीबर्थोऽस्य तृतीयवार्त्तिकस्यारम्भः। स्वरे विशेषः। रूपं तु समानमेव॥ ३॥ ३९॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान वर्णवाची, अनुदात्तान्त, तकारोपध प्रातिपदिकों से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है और प्रकृति के तकार को प्रत्ययसनियोग से नकारादेश होता है। जैसे—पीता। पीनी। लोहिता। लोहिनी। हरिता। हरिणी। एता। एनी।

यहाँ 'वर्णात्' इसलिए कहा है कि—प्रकृता। प्रहृता। यहां ङीप् तथा नकारादेश न होवें। ये शब्द पूर्वपद प्रकृति स्वर से अनुदात्तान्त हैं। 'अनुदात्तात्' का ग्रहण इसलिए है कि त से भिन्न उपधावालों से ङीप् न होवे, अगले सूत्र से ङीष् ही होवे।

वा०—असित-पलितयोः प्रतिषेधः॥ १॥

असित और पलित शब्दों से वर्णवाची, तकारोपध और अनुदात्तान्त होने से ङीप् नकारादेश प्राप्त थे, इससे उनका निषेध किया है। जैसे—असिता। पलिता॥ १॥

वा०—छन्दसि क्नमेके॥ २॥

वैदिक प्रयोग विषय में वर्णवाची, अनुदात्तान्त, तकारोपध असित-पलित शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय और तकार को क्नम् आदेश होता है। यह कुछ आचार्यों का मत है। जैसे—**असिक्न्यस्योषधे। पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति॥ २॥**

वा०—वर्णान् ङीब् विधाने पिशङ्गादुपसंख्यानम्॥ ३॥

पिशङ्ग शब्द वर्णवाची अनुदात्तान्त तो है, किन्तु तकारोपध न होने से ङीप् प्रत्यय प्राप्त नहीं है और अगले सूत्र से ङीष् की प्राप्ति में इस तृतीय वार्तिक से ङीप् का विधान किया है। जैसे—पिशङ्गी। यहाँ ङीप् और ङीष् में स्वर में ही भेद है, रूप तो दोनों में समान ही है॥ ३॥—॥ ३९॥

अन्यतो ङीष्॥ ४०॥

वेति निवृत्तम्। वर्णादनुदात्तादिति वर्तते। अन्यतः -५।१। ङीष् -१।१। स्त्रियां वर्त्तमानात् तोपधादन्यस्माद् वर्णवाचिनोऽनुदात्तान्तात् प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। सारङ्गी। कल्माषी। शबली। वर्णादिति किम्। लट्वा। अनुदात्तादिति किम्। कृशा। कपिला। अत्रोभयत्रादन्तत्वाद् टाप्॥ ४०॥

भाषार्थ—यहाँ 'वा' की अनुवृत्ति नहीं है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान तकारोपध से भिन्न वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—सारङ्गी। कल्माषी। शबली। सारङ्गी और कल्माषी शब्द 'लघावन्ते'' (फिट्० २।१९) सूत्र

से मध्योदात्त है और शबली शब्द औणादिक कल प्रत्ययान्त होने से मध्योदात्त है (उणा० १ १०५) यहाँ 'वर्णात्' इसलिए कहा है कि लट्वा। यहाँ ङीष् न होवे और 'अनुदात्तात्' का ग्रहण इसलिए है कृष्णा। कपिला*। यहाँ दोनों प्रत्युदाहरणों में अदन्त होने से टाप् प्रत्यय हुआ है॥४०॥

षिद् गौरादिभ्यश्च॥ ४१॥

ङीषनुवर्तते। षिद्गौरादिभ्यः —५।१। च [अ०] स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यः षित्प्रत्ययान्तेभ्यो गणपठितेभ्यो गौरादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो ङीष् प्रत्ययो भवति। शिल्पिनि ष्वुन्। नर्तकी। खनकी। षाकन्—वराकी। गौरी। मत्सीत्यत्र 'सूर्य्यतिष्येति' यकारलोप ईकारे परतः। अकारलोपस्तु 'यस्येति चेति' सर्वत्र।

अथ गौरादिगणः—गौर। मत्स्य। मनुष्य। शृङ्ग। पिङ्गल। हय। गवय। मुकय। ऋष्य। पुट। तूण। द्रुण। द्रोण। हरिण। कण। काकण। पटर। उणक। उकण। आमल। आमलक। कुवल। बिम्ब। बदर। कर्कार। तर्कार। शर्कार। पुष्कर। शिखण्ड। सलन्द। शंस्कण्ड। सनन्द। सुषम। सुषव। गडुज। आनन्द। स्वभ। अलिन्द। गडुल। षाण्डश। आढक। आत्थ। नन्दा। अश्व। सुपाट। सुगेठ। आच्चिक। शष्कुल। सूर्म। शूर्म। सुब। सूर्य्य। सूच। पूष। यूथ। सूप। पूप। मेथ। वल्लक। भल्लक। धातक। घातक। सकलूक। सल्लक। मालक। मालत। साल्वक। वेतस। वृस। अतस। पृस। उभय। भङ्ग। सह। मह। मठ। छेद। पेश। भेद। श्वन्। तक्षन्। अनडुही। अनड्वाही। एषण-करणे। ह्रद। देहल। देह। काकादन। गवादन। तेजन। रजन। लवण। पान। मेघ। गौतम। प्राप। स्थूल। भौरि। भौरिकि। भौलिकि। भोलिङ्गि। औद्वाहमानि। आलिङ्गि। आलम्बि। आलजि। आलब्धि। आलक्षि। आपिच्छक। केवाल प्रापक। आरट। टोट। नट। टोप। नोट। नाट। मूलाट। शातन। पोतन। पातन। पाटन। पाथन। आस्तरण। एत। अधिकरण। अधिकारण। अधिकार। आग्रहायणी। प्रत्यवरोहिणी। सेवन। सेपूत। सुमङ्गलात् संज्ञायाम्। अण्डर। सुन्दर। मण्डल। मन्थर। मङ्गल। पट। पिण्ड। षण्ड। ऊर्द। कुर्द। शम। शूद। आर्द्र। पाण्ट। लोफाण्ट। माण्डल। भाण्ड। लोहाण्ड। कन्दर। कन्दल। कदल। तरुण। तलुन। कल्माष। बृहत्। महत्। सोम। रोहिणी नक्षत्रे। रेवती नक्षत्रे। विकल। निष्कल। पुष्कल। कटाच्छ्रोणिवचने॥ पिप्पल्यादयश्च॥ पिप्पली। हरीतकी। कोशातकी। शमी। करीरी। वरी। शरी। पृथिवी। क्रोष्ट्री। मातामह। पितामह। इति गौरादयः॥४१॥

भाषार्थ यहाँ ङीष् की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान षित् और गण पठित गौर आदि प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—नर्तकी। खनकी। रजकी। यहाँ 'शिल्पिनि ष्वुन्' (३।१।१४५) सूत्र से षित् ष्वुन् प्रत्यय है। वराकी।

* कपिला शब्द में औणादिक (३।१।५४) इलच् प्रत्यय होने से चित् स्वर से अन्तोदात्त है और कृष्णा शब्द में (३।३।२८४) औणादिक नक् है। यह शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। —अनुवादक

इसमें षित् षाकन् प्रत्यय है। गौरादि से—गौरी। मत्सी। इत्यादि। 'मत्सी' प्रयोग में 'सूर्यतिष्य' (६।४।१४९) सूत्र से ईकार के परे होने पर यकार का लोप हुआ है। और सभी उदाहरणों में 'यस्येति च' (६।४।१४९) सूत्र से अकार का लोप हुआ है॥४१॥

जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनाऽयोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु॥ ४२॥

जानपद.........कबरात् —५।१। वृत्त्यमत्रा.........केशवेशेषु —७।३। जानपदाद्येकादशशब्दानां समाहारद्वन्द्वः। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यो जानपदाद्येकादशप्रातिपदिकेभ्यो वृत्याद्येकादशार्थेष्वभिधेयेषु यथासंख्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। जनपद शब्द उत्सादिषु पठ्यते तस्मादञन्तान् ङीपि प्राप्ते स्वरभेदार्थं ङीष्। जानपदाद् वृत्तौ—जानपदी वृत्तिः। अन्यत्र ङीप्, स्वरे भेदः। प्रयोगस्तु समान एव। कुण्डाद् अमत्रे-कुण्डी अमत्रं पात्रमित्यर्थः। गोणादावपने-गोणी आवपनम्। स्थलादकृत्रिमायाम्—स्थली। भाजाच्छ्रणायाम्—भाजी यवागूः। पक्वेत्यर्थः। नागात् स्थौल्ये—नागी। कालात् वर्णे—काली। नीलादनाच्छादने—नीली। कुशादयोविकारे—कुशी। कामुकान् मैथुनेच्छायाम्—कामुकी। सामान्येच्छायां कामुका। कबरात् केशवेशे—कबरी। कुण्डादिभ्योऽमत्रादीनामभावे टाबेव भवति।

वा०—नीलादोषधौ॥ १॥

नीली ओषधिः॥ १॥

वा०—प्राणिनि च॥ २॥

नीली गौः। नीली वडवा॥ २॥

वा०—वा संज्ञायाम्॥ ३॥

नीलादित्येव। नीली। नीला। अनाच्छादन इति सामान्ये निर्दिष्टे विशेषार्थप्रतिपादनाय वार्त्तिकानि॥ ३॥— ॥४२॥

भावार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान जानपद इत्यादि ग्यारह शब्दों से वृत्ति आदि ग्यारह अर्थों में यथाक्रम 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जनपद शब्द उत्सादि गण में पठित होने से 'अञ्' प्रत्ययान्त है, अतः जानपद शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्राप्त है। यहाँ स्वरभेद के लिए 'ङीष्' का विधान किया गया है। जैसे—जानपद से वृत्ति अर्थ में—जानपदी वृत्तिः। वृत्ति से अन्यत्र 'ङीप्' होता है। रूप समान होने पर भी स्वर में भेद होता है। कुण्ड शब्द से अमत्र=पात्र अर्थ में—कुण्डी अमत्रम्। गोण शब्द से आवपन (माप) अर्थ में—गोणी आवपनम्। स्थल शब्द से अकृत्रिम (प्राकृतिक) अर्थ में—स्थली भूमिः। भाज शब्द से श्राणा (पकी हुई) अर्थ में भाजी यवागूः (पकी हुई यवागू)। नाग शब्द से स्थौल्य (मोटापा) अर्थ में—नागी। काल शब्द से वर्ण अर्थ में काली। नील शब्द से अनाच्छादन

अर्थ में—नीली। कुश शब्द से अयोविकार (लोह का विकार) अर्थ में कुशी। कामुक शब्द से मैथुनेच्छा में—कामुकी। सामान्य इच्छा में—कामुका। कबर शब्द से केशवेश (केश सवारने) अर्थ में—कबरी। इन कुण्डादि शब्दों से अमत्रादिके अभाव में ङीप् ही होता है।

वा०—नीलादोषधौ॥ १॥

नील शब्द से ओषधि अर्थ में 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—नीली ओषधिः॥ १॥

वा०—प्राणिनि च॥ २॥

प्राणी अभिधेय हो तो नील शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—नीली गौः। नीली बडवा॥ २॥

वा०—वा संज्ञायाम्॥ ३॥

संज्ञा वाच्य हो तो नील शब्द से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—नीली। नीला। सूत्र में नील शब्द से अनाच्छादन अर्थ में सामान्यरूप से प्रत्यय का विधान किया है। इन वार्त्तिकों में उसी का विशेष कथन किया गया है॥ ४२॥

शोणात् प्राचाम्॥ ४३॥

शोणात्—५।१। प्राचाम्—६।३। स्त्रियां वर्त्तमानाच्छोण प्रातिपदिकात् प्राचामाचार्याणां मते ङीष् प्रत्ययो भवति। टापोऽपवादः। शोणी। अन्येषां मते शोणा॥ ४३॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान शोण प्रातिपदिक से प्राच्य आचार्यों के मत में 'ङीष्' प्रत्यय होता है। यह 'टाप्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—शोणी। दूसरे आचार्यों के मत में—शोणा॥ ४३॥

वोतो गुणवचनात्॥ ४४॥

वा [अ०] उतः—५।१। गुणवचनात्—५।१। गुणमुक्तवान् गुणवचनः, तस्मात्। उत इति तपरकरणं सवर्णग्रहण-निवारणार्थम्। स्त्रियां वर्त्तमानाद् गुणवचनादुकारान्तात् प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति। पट्वी। पटुः। मृद्वी, मृदुः। उत इति किम्। शुचिरियमङ्गना। गुणवचनादिति किम्। आखुः।

वा०—गुणवचनान् ङीबाद्युदात्तार्थः॥ १॥

यानि गुणवचनानि प्रातिपदिकान्याद्युदात्तानि तेभ्यो ङीषि सति प्रत्ययस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भवतीत्यन्तोदात्तान्येव स्युः। ङीपि सति तु प्रत्ययस्यानुदात्तत्वादाद्युदात्तान्येव। यानि चान्तोदात्तानि तेभ्यः परस्य ङीपोऽप्युदात्तत्वमेव तत्र नास्ति विशेषः। ङीप् स्यान् ङीष् वा। वस्वी, तन्वी। वसुतनु शब्दावौणादिकावाद्युदात्तौ ताभ्यां ङीब् विधीयते॥ १॥

वा०—खरुसंयोगोपधप्रतिषेधश्च॥ २॥

खरु प्रातिपदिकात् संयोगोपधाच्च ङीष् प्रतिषिध्यते। खरुरियं ब्राह्मणी।

पाण्डुरियं ब्राह्मणी॥ २॥

भा०—गुणवचनादित्युच्यते। को गुणो नाम?

का०— सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥ १॥

अपर आह— उपैत्यन्यजहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः॥ २॥

आभ्यां कारिकाभ्यां गुणलक्षणमुच्यते। सत्त्वे यस्मिन् द्रव्ये निविशते व्याप्तो भवति तस्मादपैति-पृथगपि भवति। कार्यपक्षेऽयं विचारः। अर्थाद् यानि द्रव्याणि नित्यानि तेषु ये गुणास्तेऽपि नित्या एव। भिन्नजातीयेषु द्रव्येषु गुणः पृथग् दृश्यते। अर्थाज्जातेर्गुणत्वं नास्ति। जातिः पृथग् गुणश्च पृथक्। क्रियया द्रव्यं निष्पद्यते न तु गुणः। तदा द्रव्ये निष्पन्ने गुणः प्रादुर्भवति। द्रव्यमाधारो गुण आधेयः। आधाराभाव आधेयस्य गुणस्यापि तिरोभावः। सः असत्व प्रकृतिः—तस्य गुणस्य सत्त्वं द्रव्यं प्रकृतिः कारणं नास्ति। अर्थात् कारणरूपेऽपि द्रव्ये गुणः पृथगेव तिष्ठति॥ १॥ द्वितीययापि कारिकयाऽयमेवाभिप्रायः। गुणः सर्वलिङ्गानां वाचको भवति। गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीति महाभाष्यप्रामाण्यात्॥ ४४॥

भाषार्थ—जो गुण को कहे उसे 'गुणवचन' कहते हैं। 'उत्' शब्द में तपरकरण सवर्ण ग्रहण के निवारण के लिए है, अर्थात् तपरकरण से तत्काल के वर्णों का ही ग्रहण होता है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान गुणवचन उकारान्त प्रातिपदिकों से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—पट्वी। पटुः। मृद्वी। मृदुः।

इस सूत्र में 'उतः' का ग्रहण इसलिये है कि—**शुचिरियमङ्गना**, यहाँ 'ङीष्' न हो और 'गुणवचनात्' का ग्रहण इसलिए है कि—**आखुः**, यहाँ 'ङीष्' न होवे

वा०—गुणवचनान् ङीबाद्युदात्तार्थः॥ १॥

जो गुणवचन प्रातिपदिक आद्युदात्त हैं, उनसे ङीष् प्रत्यय होने से 'प्रत्यय स्वर प्रकृतिस्वर का बाधक होता है' इस नियम से वे प्रातिपदिक अन्तोदात्त ही हो जाते, इसलिये उनसे यह वार्त्तिक ङीप् का विधान करता है, जिससे प्रत्यय के अनुदात्त होने से वे शब्द आद्युदात्त ही रहें और जो गुणवचन शब्द अन्तोदात्त हैं, उनसे परे 'ङीप्' होने पर 'उदात्त यणो हल्पूर्वात् (६।१।१७४) सूत्र से प्रत्यय का उदात्तत्व बना ही रहता है। अतः इन शब्दों से 'ङीप्' अथवा 'ङीष्' करने से कोई स्वरभेद नहीं होता है। जैसे—वस्वी। तन्वी। वसु और तनु शब्द औणादिक आद्युदात्त हैं, उनसे वार्त्तिक से 'ङीप्' होता है॥ १॥

वा०—खरुसंयोगोपधप्रतिषेधश्च॥ २॥

खरु प्रातिपदिक और संयोग जिसकी उपधा में हो, ऐसे गुणवचन उकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीविषय में ङीष् प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—**खरुरियं ब्राह्मणी। पाण्डुरियं ब्राह्मणी**॥ २॥

भा०—इस सूत्र में गुणवचन से प्रत्यय कहा है। गुण किसे कहते हैं—

का०— **सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।**
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥ १ ॥

अपर आह— **उपैत्यन्यज्जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।**
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ॥ २ ॥

इन दोनों कारिकाओं से वैयाकरणसम्मत गुण का लक्षण कहा गया है। वह इस प्रकार है—(सत्त्वे निविशते) सत्त्व (द्रव्य) के जो आश्रय से रहता है (अपैति) और उस द्रव्य से पृथक् भी हो जाता है। जैसे आम के फल में पहले श्यामता आश्रय करती है और पकने पर जब लालिमा आ जाती है, तब वह श्यामता उससे पृथक् हो जाती है। गुण के इस लक्षण में यह ध्यान रखना चाहिये कि जो कार्य (उत्पन्न होनेवाले) द्रव्य हैं, उनमें यह लक्षण संगत होता है और जो द्रव्य नित्य हैं, उनके गुण भी नित्य ही होते हैं। (पृथग् जातिषु दृश्यते) जाति भी द्रव्य के आश्रय से रहती है, अतः गुण का लक्षण जाति में अति व्याप्त न हो, इसके लिए यह लक्षण कहा है—गुण भिन्न-भिन्न घट पटादि जातियों में रहता है, जाति नहीं। जाति तो द्रव्य की उत्पत्ति से लेकर विनाश होने तक उसके आश्रय में रहती है और गोत्व जाति अश्वादि में और अश्वत्व जाति गौ आदि में नहीं दिखाई देती, किन्तु शुक्लत्वादि गुण गौ आदि विभिन्न जातियों में दिखाई देता है। इसलिए जाति गुण नहीं है। जाति पृथक् है और गुण पृथक् है।

(आधेयश्चाक्रियाजश्च) क्रिया भी द्रव्य के आश्रय से रहती है, द्रव्य से निवृत्त भी होती है और भिन्न भिन्न जातियों में दिखाई देती है, अतः गुण का लक्षण क्रिया में अतिव्याप्त न हो, एतदर्थ यह लक्षण कहा है—आधेय=गुण उत्पाद्य है। क्रिया से द्रव्य सिद्ध होता है, गुण नहीं। द्रव्य बनने पर गुण का प्रादुर्भाव होता है इसलिए द्रव्य आधार है और गुण आधेय है। आधारभूत द्रव्य के अभाव होने पर आधेय भूत गुण का भी तिरोभाव हो जाता है। जैसे—कुम्भकार ने घड़ा बनाया और उसमें अग्निपाक से भिन्न गुण का आविर्भाव होता है।

प्रश्न—क्रिया भी उत्पाद्य ही होती है, इससे गुण का लक्षण क्रिया में अति व्याप्त होगा, उसका निराकरण क्या है?

उत्तर—उस अतिव्याप्ति दोष के निराकरण के लिए ही कारिका में कहा है—अक्रियाजः। जो क्रिया से उत्पन्न होता है वह उत्पाद्य है। गुण उत्पाद्य अनुत्पाद्य दो प्रकार का है। आकाशादि द्रव्यों में महत्वादि गुण अनुत्पाद्य हैं और कार्य घटादि में उत्पाद्य हैं। किन्तु क्रिया तो उत्पाद्य ही होती है, नित्य नहीं। इसलिये क्रिया से गुण को पृथक् रखने के लिए कारिका में कहा है—अक्रियाजश्चेति।

(सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः) सत्त्व (द्रव्य) में गुण का लक्षण, अतिव्याप्त न हो, एतदर्थ गुण को असत्त्व प्रकृति कहा है। तद्यथा द्रव्य भी द्रव्य के आरम्भिक अवयवों के आश्रय से रहता है और उनसे पृथक् भी हो जाता है। जैसे शरीर

एक अवयवी द्रव्य है, वह शरीर के आरम्भक हस्तादि अवयवों के आश्रय से रहता है, और हस्तपादादि अवयवों के नाश से नष्ट हो जाता है और हाथी आदि भिन्न भिन्न जातियों में शरीर द्रव्य रहता है और यह अवयवी उत्पाद्य और आकाशादि अनुत्पाद्य द्विविध होने से गुण के लक्षण द्रव्य में भी घटते हैं। इसलिए कारिका में कहा है कि असत्वप्रकृति, जिस गुण की सत्व (द्रव्य) प्रकृति (कारण नहीं है। अर्थात् यद्यपि गुण का आश्रय होने से द्रव्य कारण है, पुनरपि गुण द्रव्य से पृथक् ही है॥ १॥

द्वितीयाकारिका के द्वारा भी गुण के लक्षण का पूर्वोक्त भाव ही प्रकारान्तर से समझाया गया है। (उपैत्यन्यत्) भिन्न-भिन्न द्रव्यों के आश्रय से रहता है और (जहात्यन्यत्) उनसे पृथक् भी हो जाता है। (दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि) भिन्न जातीय द्रव्यों में भी दिखाई देता है। (वाचकः सर्वलिङ्गानाम्) गुण सब लिङ्गों का वाचक है, जैसे शुक्लः कम्बलः। शुक्ला शाटी। शुक्लं वस्त्रम्। 'गुणवाचक शब्दों के लिङ्ग वचन द्रव्यों के आश्रय से होते हैं, इस महाभाष्य के प्रमाण से गुण जिस लिङ्गवाले द्रव्य का आश्रय करते हैं, उसी लिङ्ग के वे हो जाते हैं। और (द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः) पूर्वोक्त लक्षण द्रव्य में भी घटते हैं, अतः उससे भिन्न करने के लिए यह बात कही है॥ २॥—॥ ४४॥

बह्वादिभ्यश्च॥ ४५॥

वेत्यनुवर्त्तते। बह्वादिभ्यः —५।३ च [अ०]। गणोपदिष्टेभ्यः स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यो बह्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वी। बहुः। पद्धती। पद्धतिः। बहुशब्दो गुणवचनस्तस्य पाठ उत्तरसूत्रे नित्यार्थः।

अथ बह्वादिगणः—बहु। पद्धति। अङ्कति। अञ्चति। अंहति। वहति। शकटि। शक्ति शस्त्रे। शारि। वारि। राति। गति। अहि। कपि। यष्टि। मुनि॥ इतः प्राण्यङ्गात्॥ इकारान्तात् प्राण्यवयववाचिनः प्रातिपदिकात्। यथा— अङ्गुलिः॥ कृदिकारादक्तिनः॥ क्तिन्नन्तादन्यादिकारान्तात् कृदन्तप्रातिपदिकात्। यथा—ग्लानिः हानिः॥ सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके॥ केषाञ्चित् मते क्तिन्नर्थं विहाय सर्वस्मात् कृदन्ततद्धितान्तादिकारान्ताद् अनिकाराद्वा॥ चण्ड। अराल। कमल। कृपण। विकट। विमल। विशाल॥ विशङ्कट। भरुज। ध्वज। चन्द्रभागान्नद्याम्। कल्याण। उदार पुराण। अहन्॥ इति बह्वादयः॥ ४५॥

भावार्थ—यहाँ 'वा' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान गण-पठित बहु आदि प्रातिपदिकों से विकल्प करके ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—बह्वी। बहुः। पद्धती। पद्धतिः। बहु शब्द गुणवाची है, अतः पूर्वसूत्र से ही ङीष् का विकल्प सिद्ध है। फिर यहाँ पाठ करने का प्रयोजन अगले सूत्र में नित्यार्थ है॥ ४५।

नित्यं छन्दसि॥ ४६॥

विकल्पग्रहणं निवृत्तम्। नित्यम्—१।१। छन्दसि—७।१। स्त्रीलिङ्गे वर्त्तमानेभ्यो बह्वादिप्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि वेदविषये नित्यं ङीष् प्रत्ययो

भवति। बह्वी। पद्धती॥ ४६॥

भाषार्थ—यहाँ नित्य ग्रहण से विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है। वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान बहु आदि प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय नित्य होता है। जैसे—बह्वी। पद्धती॥ ४६॥

भुवश्च॥ ४७॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते। उत इति च। भुवः—५।१। च [अ०] सौत्रे निपातनादत्रोवङादेशः। स्त्रीलिङ्गार्थाद् उकारान्तभुशब्दाच्छन्दसि विषये ङीष् प्रत्ययो भवति। विभ्वी च। प्रभ्वी च। उत इत्यनुवर्त्तनादिह न भवति। स्वयम्भूः॥ ४७॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि, उतः' पदों की अनुवृत्ति है। दीर्घ ऊकारान्त भू शब्द से उवङ् आदेश होकर 'भुवः' रूप बनता है और यह इष्ट नहीं है। और उकारान्त 'भु' शब्द का 'भोः' रूप बनेगा 'भुवः' नहीं। इसलिए सौत्रनिर्देश मानकर यहाँ उवङ् आदेश है। वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान उकारान्त भु शब्द से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—विभ्वी च। प्रभ्वी च। 'उतः' की अनुवृत्ति होने से दीर्घान्त 'भू' शब्द से ङीष् नहीं होता—स्वयम्भूः॥ ४७॥

पुंयोगादाख्यायाम्॥ ४८॥

पुंयोगात्—५।१। आख्यायाम्—७।१। पुंसा योगः पुंयोगः। पुंयोगात् स्त्र्याख्यायां सत्यामदन्तात् प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। प्रष्ठस्य स्त्री प्रष्ठी। प्रचरी। महामात्री। गर्गस्य स्त्री गर्गी। पुंयोगादिति किम्? गोदा। कम्बलदा। आख्याग्रहणं स्त्रीविशेषणम्। पुंयोगात् पुंसा सह सम्बन्धात् स्त्रियमाचक्षते। अर्थात् कृतब्राह्मादिशिष्टविवाहया स्त्रिया सह नियतपुरुषस्य सम्बन्धो भवति। तस्येयमिति यत्राचक्षते तत्रैवास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः। तेनेह न भवति। राज्ञो वेष्याः। राज्ञो गणकाः।

वा०—गोपालिकादीनां प्रतिषेधः॥ १॥

गोपालकस्य स्त्री गोपालिका। पशुपालिका॥ १॥

वा०—सूर्याद् देवतायां चाब्वक्तव्यः॥ २॥

सूर्यस्य स्त्री सूर्या। देवतायामिति किमर्थम्? सूर्य्यस्य कस्यचिन् मनुष्यस्य स्त्री सूरी॥ २॥

परि०—गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासो भवतीत्येषा परिभाषा कर्त्तव्या। कानि पुनरस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि? प्रयोजनं क्तादल्पाख्यायाम्। अभ्रलिप्ती सूर्यविलिप्ती। सुबन्तानां समासः। तत्रान्तरंगत्वाट् टाप्। टापि कृते समासः। विलिप्ता शब्दः समस्येत। तत्र क्तादल्पाख्यायामकारान्तादिति ङीष् न प्राप्नोति। अस्या एतत् प्रयोजनम्। सूर्यविलिप्तीत्यत्र विशब्दो गतिसंज्ञः। तस्य क्तान्तेन लिप्तशब्देन सह यदि पृथक् समासः स्यात्, तदा करणपूर्वाभावाद् गतिपूर्वात् क्तादल्पाख्यायामिति ङीष् न प्राप्नोति। तदर्थोऽयं यत्नः। गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सहैव समासः स्यात्। अर्थाद् विशब्दस्य कृद्ग्रहणेन

ग्रहणाद् विलिप्तशब्दः क्तान्तो निष्पद्येत। एवमस्या अन्यान्यपि प्रयोजनानि॥ ४८॥

भाषार्थ— पुरुष के योग से स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान अदन्त प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—प्रष्ठस्य स्त्री प्रष्ठी। महामात्री। गर्गस्य स्त्री गर्गी। इत्यादि। यहाँ 'पुंयोगात्' का ग्रहण इसलिए है कि गोदा। कम्बलदा। सूत्र में 'आख्या' का ग्रहण स्त्री का विशेषण है। पुरुष के साथ सम्बन्ध से स्त्री का कहा जाता है, अर्थात् ब्राह्मादि शिष्ट चार विवाहों में किसी एक विधि से विवाहित स्त्री के साथ निश्चित पुरुष का सम्बन्ध होता है। उस पुरुष की यह स्त्री है, इस प्रकार जो कहा जाता है, उसी सम्बन्ध को बताने के लिए इस सूत्र की प्रवृत्ति है। इसलिए यहाँ 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता—राज्ञो वेश्याः। राज्ञो गणकाः। इनमें विवाहित सम्बन्ध नहीं है।

वा०—गोपालिकादीनां प्रतिषेधः॥ १॥

पुरुष के योग से स्त्रीलिङ्ग के कथन में गोपालिका इत्यादि शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—गोपालकस्य स्त्री गोपालिका। पशुपालिका, इत्यादि॥ १॥

वा०—सूर्याद् देवतायां चाब्वक्तव्यः॥ २॥

पुंयोग से स्त्रीलिङ्ग के कथन में देवता अर्थ में सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय होता है। जैसे—सूर्य्यस्य स्त्री देवता सूर्या। यहाँ 'देवतायाम्' का ग्रहण इसलिए है कि—किसी मनुष्य का नाम सूर्य है, तो उसकी स्त्री 'सूरी' कहलायेगी। उससे 'चाप्' प्रत्यय नहीं होगा॥ २॥

परि०—गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं [प्राक् सुबुत्पत्तेः]॥

गति, कारक और उपपद—इन तीनों का कृदन्त के साथ 'सु' आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति से पूर्व ही समास होता है। ऐसी परिभाषा बनानी चाहिए। इस परिभाषा के प्रयोजन क्या हैं? यद्यपि सर्वत्र सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है, किन्तु इस नियम का यह अपवाद है। इस नियम का प्रयोजन देखिए—

(१) क्तादल्पाख्यायाम् (४।१।५१) इस सूत्र में 'ङीष्' प्रत्यय होकर—अभ्रलिप्ती। सूर्यविलिप्ती, इत्यादि प्रयोग बनते हैं। यदि सामान्य नियम से सुबन्तों का यहाँ समास करते हैं तो अन्तरङ्ग कार्य होने से पहले स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होना चाहिए। और टाप् करने पर 'लिप्ता' शब्द का समास होगा, और 'क्तादल्पा०' (४।१।५१) सूत्र से अदन्त से होनेवाला 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त नहीं हो सकेगा और इस परिभाषा के नियम से सुबन्तता से पूर्व ही समास होने से स्त्री प्रत्यय 'टाप्' की अन्तरङ्गता न होने से टाप् से पूर्व ही समास हो जाता है। और फिर समस्त शब्द से 'टाप्' करें या 'ङीष्', पर विप्रतिषेध से ङीष् हो जाता है। इसी प्रकार 'सूर्यविलिप्ती' प्रयोग में गति सञ्ज्ञक 'वि' का लिप्त के साथ पृथक् समास हो जाये तो क्तान्त से पूर्व करणकारक के न होने से (मध्य में वि का व्यवधान है) 'क्तादल्पा०' (४।१।५१) सूत्र से 'ङीष्' प्राप्त नहीं होता। एतदर्थ यह यत्न किया गया है—गति आदि का कृदन्त के साथ एक साथ ही समास होता है।

अर्थात् गतिसंज्ञक 'वि' का कृद् के ग्रहण होने से 'विलिप्त' शब्द कृदन्त के ग्रहण से गृहीत हो जायेगा और पूर्वोक्त दोष का अवसर नहीं होगा। इसी प्रकार इस परिभाषा के महाभाष्य में अनेक प्रयोजन* दिखाये हैं॥ ४८॥

इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्य्याणामानुक्॥ ४९॥

पुंयोगादित्यनुवर्त्तते। इन्द्र......चार्य्याणाम् —६।३। आनुक् —१।१। पुंयोगात् स्त्र्याख्यायां सत्याम् इन्द्रादि प्रातिपदिकेभ्यो ङीष् प्रत्ययो भवत्येषामानुगागमश्च। इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।

वा०—हिमारण्ययोर्महत्वे॥ १॥

हिमारण्ययो: शब्दयो: ङीषानुकौ महत्त्वेऽभिधेये भवत:। अत्र पुंयोगादाख्या न संबध्यते। महद् हिमं हिमानी। महदरण्यम् अरण्यानी॥ १॥

वा०—यवाद् दोषे॥ २॥

अत्रापि पुंयोगेति न संबध्यते दोषाभिधेयत्वात्। दुष्टो यवो यवानी॥ २॥

वा०—यवनाल्लिप्याम्॥ ३॥

लेखनक्रियायामभिधेयायामिति। यवनानी लिपि:। अत्रापि पूर्ववत् पुंयोगाऽभाव:॥ ३॥

वा०—उपाध्यायमातुलाभ्यां वा॥ ४॥

अत्र तु पुंयोगादाख्यायामेव नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वार्त्तिकम्। उपाध्यायी। उपाध्यायानी। मातुली। मातुलानी। अनेन वार्त्तिकेनानुग् विकल्प्यते। पक्षे पूर्वसूत्रेण ङीष्॥ ४॥

वा०—आचार्यादणत्वं च॥ ५॥

आचार्यानी। णत्वप्रतिषेधार्थमिदम्। अन्यत्तु सर्वं सूत्रेणैव सिद्धम्॥ ५॥

वा०—मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च॥ ६॥

अपूर्वविधानमेतत्। लित्करणं स्वरार्थम्। मुद्गलशब्दान् ङीषानुकौछन्दसि विषये भवत:। रथीरभून् मुद्गलानी गविष्ठौ॥ ६॥

वा०—अर्य्यक्षत्रियाभ्यां वा॥ ७॥

अर्य्य क्षत्रियशब्दाभ्यां ङीषानुकौ विकल्पेन भवत:। अर्य्या। अर्य्याणी।

* इस परिभाषा का इस सूत्र पर दिखाने का प्रयोजन क्या है। ऐसी आशंका हो सकती है। इसका समाधान महाभाष्य से मिलता है। इस सूत्र का उदाहरण है—प्रष्ठस्य स्त्री प्रष्ठी। इसमें 'प्र' का कृदन्त 'ष्ठ' के साथ समास है। यदि इसमें सुबन्तों का समास करें तो अन्तरंग होने से सुबन्तता से पहले ही 'टाप्' प्रत्यय प्राप्त होगा। और फिर अदन्त न होने से इस सूत्र से 'ङीष' नहीं हो सकता और स्त्री प्रत्यय की अन्तरंगता लिङ्ग को प्रातिपदिकार्थ मानकर पूर्वोपस्थिति है। और कारक की उपस्थिति परवर्ती होने से बहिरंग है। सुबन्त से पूर्व ही समास होने से यह दोष नहीं आता है। —अनुवादक

क्षत्रिया। क्षत्रियाणी॥४९॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्व सूत्र से 'पुंयोगात्' की अनुवृत्ति है। पुरुष के योग से स्त्रीलिङ्ग के कथन में इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। और इन्द्रादि शब्दों को प्रत्ययसंनियोग से 'आनुक्' आगम होता है। जैसे—इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।

वा०—हिमारण्ययोर्महत्त्वे॥१॥

सूत्रविहित 'ङीष्' तथा 'आनुक्' हिम और अरण्य शब्दों से महत्त्व अर्थ मे होते हैं। यहाँ पुंयोगाख्या का सम्बन्ध नहीं है। जैसे—महद् हिम हिमानी। महदरण्यम् अरण्यानी॥१॥

वा०—यवाद् दोषे॥२॥

यहाँ पुंयोगाख्या का सम्बन्ध नहीं है दोष वाच्य कहने से। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'यव' शब्द से दोष अर्थ में 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होता है। जैसे—दुष्टो यवो यवानी॥२॥

वा०—यवनाल्लिप्याम्॥३॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'यवन' प्रातिपदिक से लिपि (लेखन क्रिया विशेष) अर्थ में 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं। जैसे—यवनानी लिपिः। यहाँ पुंयोगाख्या का पूर्ववत् सम्बन्ध नहीं है॥३॥

वा०—उपाध्याय-मातुलाभ्यां वा॥४॥

यहाँ पुंयोगाख्या में नित्य प्रत्यय प्राप्त होने पर विकल्प के लिए वार्त्तिक बनाया है। पुंयोग से स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'उपाध्याय' और 'मातुल' प्रातिपदिको से 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम विकल्प करके होवे। इस वार्त्तिक से आगम का ही विकल्प किया है। प्रत्यय तो पूर्वसूत्र से नित्य ही होता है। जैसे—उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायानी। उपाध्यायी। मातुलानी। मातुली॥४॥

वा०—आचार्यादणत्वं च॥५॥

यह वार्त्तिक केवल णत्व के निषेध के लिए है। प्रत्ययादि तो यथाप्राप्त सूत्र से ही होते हैं। पुंयोग से स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'आचार्य' प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं, और संहिता नियम से प्राप्त णत्व नहीं होता है। जैसे—आचार्यस्य स्त्री आचार्य्यानी॥५॥

वा०—मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च॥६॥

यह अपूर्वविधान किया है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान मुद्गल शब्द से वेद विषय में 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं, और ङीष् प्रत्यय लित् होता है। प्रत्यय का लित्करण स्वर के लिए है। जैसे—रथीरभून् मुद्गलानी गविष्ठौ॥६॥

वा०—अर्य्य-क्षत्रियाभ्यां वा॥७॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'अर्य्य' और 'क्षत्रिय' शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय और

'आनुक्' आगम विकल्प से होते हैं। जैसे—अर्य्याणी। अर्य्या। क्षत्रियाणी। क्षत्रिया॥ ७ ॥— ॥ ४९ ॥

क्रीतात् करणपूर्वात् ॥ ५० ॥

क्रीतात्—५ । १ । करणपूर्वात्—५ । १ । करणं पूर्वमस्य तस्मात्। स्त्रियां वर्त्तमानात् करणपूर्वात् क्रीतशब्दान् ङीष् प्रत्ययो भवति। वस्त्रेण क्रीयतेऽसौ वस्त्रक्रीती। वसनक्रीती। करणपूर्वादिति किम्। सुक्रीता। दुष्क्रीता॥ ५० ॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान करणकारकवाची जिसके पूर्वपद में हो, उस 'क्रीत' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—वस्त्रेण क्रीयतेऽसौ वस्त्रक्रीती वसनक्रीती। इत्यादि। यहाँ 'करणपूर्वात्' इसलिए है -सुक्रीता। दुष्क्रीता। यहाँ ङीष् न हो॥ ५० ॥

क्तादल्पाख्यायाम् ॥ ५१ ॥

करणपूर्वादित्यनुवर्त्तते। क्तात्—५ । १ । अल्पाख्यायाम्—७ । १ । अल्पाख्यायां करणपूर्वात् क्तान्तात् प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। अभ्रेण विलिप्ता अभ्रविलिप्ती द्यौः। सूर्यविलिप्ती। सूपविलिप्ती स्थाली। अल्पसूपेत्यर्थः। अल्पाख्यायामिति किम्। घृतविलिप्ता तनूः। अत्र टाबेव॥ ५१ ॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'करणपूर्वात्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान करण कारक जिसके पूर्व में हो उस क्तप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से अल्पाख्या अर्थ में 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—अभ्रेण विलिप्ता अभ्रविलिप्ती द्यौः। सूर्यविलिप्ती। सूपविलिप्ती स्थाली। यहां 'अल्पाख्यायाम्' इसलिए कहा है कि—घृतविलिप्ता तनूः। यहाँ अल्पाख्या न होने से 'ङीष्' न होवे॥ ५२ ॥

बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ॥ ५२ ॥

क्तादित्यनुवर्त्तते। बहुव्रीहेः —५ । १ । च [अ०]। अन्तोदात्तात्—५ । १ । स्त्रियां वर्त्तमानात् क्तान्तादन्तोदात्ताद् बहुव्रीहिप्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। केशा लूना यस्याः केशलूनी। नखछिन्नी। नासिका भिन्ना यस्याः सा नासिकाभिन्नी। केशसिती। बहुव्रीहेरिति किम्। पादाभ्यां याता पादयाता।

वा०—अन्तोदात्ताज्जातप्रतिषेधः॥ १ ॥

जाति-काल-सुखादिभ्यः परस्य जातान्तस्य बहुव्रीहेर्विकल्पेनान्तोदात्तत्वं विधीयते। यस्मिन् पक्षेऽन्तोदात्तत्वं तत्र प्राप्तस्य ङीषः प्रतिषेधः। दन्तजाता। स्तनजाता॥ १ ॥

वा०—पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे॥ २ ॥

पाणिगृहीत्यादिशब्देषु विशेषेऽर्थे वैदिकसंस्कारब्राह्मादिविवाहे गम्यमाने ङीष् प्रत्ययो विज्ञेयः। पाणिगृहीती भार्य्या चेत्। यस्या हि यथाकथंचिद् व्यभिचाराद्यर्थं पाणिर्गृह्यते पाणिगृहीता सा भवति॥ २ ॥

वा०—बहुलं [१]संज्ञाछन्दसोः प्रवृद्धविलूनाद्यर्थम्॥ ३ ॥

---

[१] महाभाष्य में 'बहुलं तणि प्रवृद्धविलूनाद्यर्थम्' ऐसा पाठ है। —सम्पादक

संज्ञायां विषये छन्दसि च बहुलं ङीष् प्रत्ययो भवति। प्रबद्धविलूनी प्रबद्धविलूना॥ ३॥

वा० अन्तोदात्तादबहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वात्॥ ४॥

बहु, नञ्, सु, काल, सुखादि। बह्वादिभ्यः परस्मादन्तोदात्ताद् बहुव्रीहेर्ङीष् प्रत्ययो न भवति। बहुकृता। अकृता। सुकृता। काल मासजाता। संवत्सरजाता। सुखादि सुखयाता। दुःखयाता। क्षिप्रयाता॥ ५२॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'क्तात्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्तप्रत्ययान्त अन्तोदात्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—केशा लूना यस्याः सा केशलूनी। नखच्छिन्नी। नासिका भिन्ना यस्याः सा नासिकाभिन्नी। केशसिती। इत्यादि। यहाँ 'बहुव्रीहेः' का ग्रहण इसलिए है कि—पादाभ्यां याता पादयाता। यहाँ बहुव्रीहि न होने से ङीष् नहीं होवे।

वा०—अन्तोदात्ताज् जात प्रतिषेधः॥ १॥

सूत्र से जो अन्तोदात्त बहुव्रीहि प्रातिपदिकों से ङीष् कहा है सो जात शब्दान्त से न होवे। ''जाति-काल-सुखादिभ्यः'' (६।२।१६९) इस सूत्र से जातान्त बहुव्रीहि को विकल्प से अन्तोदात्त विधान किया है। जिस पक्ष में अन्तोदात्त होता है, उसमें प्राप्त 'ङीप्' का यह निषेध है। जैसे—दन्तजाता। स्तनजाता॥ १॥

वा०—पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे॥ २॥

पाणिगृहीती इत्यादि शब्दों में विशेष वेदोक्तरीति से ब्राह्मादि शिष्ट विवाह अर्थ में 'ङीप्' प्रत्यय जानना चाहिये। जैसे—पाणिगृहीती भार्या। और जिसका जैसे तैसे अशिष्ट व्यवहार के लिए पाणिग्रहण किया हो, वहाँ 'पाणिगृहीता' प्रयोग बनेगा॥ २॥

वा०—बहुलं संज्ञा छन्दसोः प्रबद्ध विलूनाद्यर्थम्॥ ३॥

संज्ञा और वैदिक प्रयोग विषय में क्तान्त शब्दों से बहुल करके 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—प्रबद्धविलूनी। प्रबद्धविलूना। इत्यादि॥ ३॥

वा०—अन्तोदात्ताद् अबहुनञ्सुकाल सुखादिपूर्वात्॥ ४॥

बहु, नञ्, सु, काल और सुखादि से परे क्तान्त अन्तोदात्त बहुव्रीहि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग विषय में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—बहुकृता। अकृता। सुकृता। काल- मासजाता। संवत्सरजाता। सुखादि—सुखयाता। दुःखयाता। क्षिप्रयाता॥ ४ ५२॥

अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा॥ ५३॥

क्तान्तादन्तोदात्तादित्यनुवर्त्तते। अस्वाङ्गपूर्वपदात् —५।१। वा [अ०] प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः। स्त्रियां वर्त्तमानात् क्तान्तादन्तोदात्तादस्वाङ्गपूर्वपदाद् बहुव्रीहेः प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति। मांसं जग्धमनया। मांसजग्धी। मांसजग्धा। सुरापीती। सुरापीता। लशुनभक्षिती। लशुनभक्षिता। स्वाङ्गपूर्वपदात् पूर्वसूत्रेण नित्यं ङीष्। [दन्तभिन्नी] अन्तोदात्तादिति किम्। पर्णानि छिन्नानि यस्याः सा पर्णच्छिन्ना।

अत्रानाच्छादनादिति प्रतिषेधादन्तोदात्तो न भवति॥५३॥

भाषार्थ—यहाँ 'क्तात्, अन्तोदात्तात्' पदों की अनुवृत्ति है। यह प्राप्त विभाषा है। पूर्वसूत्र से नित्य प्राप्त होने पर यह विकल्प करता है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्तान्त अन्तोदात्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से, जिसके पूर्वपद में स्वाङ्गवाची न हो, उससे विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—मांसं जग्धमनया मांसजग्धी। मांसजग्धा। सुरापीती। सुरापीता। लशुनभक्षिती। लशुनभक्षिता*। जिसके पूर्वपद में स्वांगवाची हो, उससे पूर्वसूत्र से नित्य ङीष होता है। जैसे [दन्तभिन्नी] इत्यादि।

यहाँ 'अन्तोदात्तात्' इसलिये ग्रहण किया है—पर्णानि छिन्नानि यस्याः सा पर्णच्छिन्ना। यहाँ 'जातिकाल सुखादिभ्योऽनाच्छादनात्' (६।२।१६९) अनाच्छादन कहने से अन्तोदात्त नहीं हुआ है। इसलिये इस सूत्र से 'ङीष्' नहीं हुआ॥५३॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्॥५४॥

चेत्यनुवर्त्ततेऽन्यत्सर्वं निवृत्तम्। स्वाङ्गात् —५।१। च [अ०] उपसर्जनात् —५।१। असंयोगोपधात् —५।१। स्त्रियां वर्त्तमानात् स्वाङ्गादुपसर्जनान्ताद् असंयोगोपधात् प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति। चन्द्रवन्मुखमस्याः चन्द्रमुखी। चन्द्रमुखा। मृदुहस्ती। मृदुहस्ता। श्लक्ष्णमुखी। श्लक्ष्णमुखा। निष्क्रान्ता केशेभ्यो निष्केशी। निष्केशा वा यूका। अतिक्रान्ता केशान् अतिकेशी। अतिकेशा वा माला। अत्रैकविभक्तिसमासे बहुव्रीहेर्निवृत्तत्वात् सिद्धम्। स्वङ्गादिति किम्। बहुधना। शोभनाश्वा। उपसर्जनादिति किम्। न शिखा अशिखा। असंयोगोपधादिति किम्। शोभनगुल्फा। स्थूलपार्श्वा।

वा०—संयोगोपधप्रतिषेधेऽङ्गगात्रकण्ठेभ्योऽप्रतिषेधः॥१॥

अङ्ग-गात्र-कण्ठानि प्रातिपदिकानि संयोगोपधानि। तेभ्यः सूत्रेण प्रतिषिद्धो ङीष् विधीयते। अव्यङ्गाङ्गी। अव्यङ्गाङ्गा। मृद्वङ्गी। मृद्वङ्गा। दर्शनीयगात्री। दर्शनीयगात्रा। स्निग्धकण्ठी। स्निग्धकण्ठा।

का०— अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत्तत् तथायुतम्॥१॥

स्वस्य शरीराभिमानिन आत्मनः शरीरांशानां सामान्येन स्वाङ्गत्वं प्राप्तं तत्रानया कारिकया स्वाङ्गस्य विशेषलक्षणमुच्यते। (अद्रवम्) आर्द्रीभावाद् इतरं स्वाङ्गम्। यथा—बहुकफा। अत्र कफस्य प्राणिस्थत्वात् स्वाङ्गत्वं प्राप्तं तन् मा भूत्। (मूर्त्तिमत्) मूर्त्तिः स्थौल्यं विद्यतेऽस्मिन् तत्। मूर्त्तिमदिति किम्। बहुज्ञाना। ज्ञानस्यामूर्त्तत्वात् स्वाङ्गसंज्ञा न भवति। (प्राणिस्थम्) प्राणिनि शरीरे तिष्ठतीति। प्राणिस्थमिति किम्। श्लक्ष्णमुखा शाला। (अविकारजम्) विकाराद् वाय्वादेर्वैषम्याज्जातं विकारजं स्वाङ्गं न भवतीति। अविकारजमिति किम्। बहुव्रणा। बहुशोफा। (अतत्स्थं तत्र दृष्टं च) तस्मिन् प्राणिनि तिष्ठतीति तत्स्थं

---

* इन समस्त प्रयोगों में (जातिकालसुखादि अ० ६।२।१६९) सूत्र से उत्तरपद को अन्तोदात्त हुआ है। —अनुवादक

न तत्स्थम् अतत्स्थम्। अप्राणिस्थमपि स्वाङ्गं भवति। परन्तु पूर्वं तत्र प्राणिनि दृष्टं तद्भवेत्। यथा—दीर्घाः केशा अस्यां रथ्यायां दीर्घकेशी रथ्या। (तस्य चेत्तत् तथायुतम्) तस्याप्राणिनस्तदङ्गं यथा प्राणिनि युक्तं भवति तथा जडपदार्थेऽपियुक्ते स्वाङ्गसंज्ञं भवति। यथा—दीर्घनासिकी अर्च्चा। तुङ्गनासिकी अर्च्चा। एवमनया कारिकया स्वाङ्गस्य लक्षणमभिधीयते॥ ५४॥

भाषार्थ -यहाँ 'वा' की अनुवृत्ति है, अन्य क्तादि सब पदों की निवृत्ति हो गयी है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान, जिसके स्वाङ्गवाची संयोगोपध से भिन्न हों, उन उपसर्जन प्रातिपदिको से विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे—चन्द्रवन्मुखमस्याः चन्द्रमुखी। चन्द्रमुखा। मृदुहस्ती। मृदुहस्ता। श्लक्ष्णमुखी। श्लक्ष्णमुखा। निष्क्रान्ता केशेभ्यो निष्केशी। निष्केशा वा यूका। अतिक्रान्ता केशान् अतिकेशी। अतिकेशा वा माला। यहाँ एकविभक्ति समास में बहुव्रीहि पद की निवृत्ति होने से विकल्प से 'ङीष्' हुआ है। यहाँ 'स्वाङ्गात्' पद का ग्रहण इसलिए है—बहुधना। शोभनाश्वा यहाँ स्वांगवाची न होने से ङीष् नहीं हुआ। 'उपसर्जनात् का ग्रहण इसलिये है कि—न शिखा अशिखा। यहाँ उपसर्जन न होने से 'ङीष्' नहीं हुआ और 'असंयोगोपधात्' का ग्रहण इसलिये है कि शोभनगुल्फा। स्थूलपार्श्वा। यहाँ संयोगोपध होने से 'ङीष्' नहीं हुआ है।

वा०—संयोगोपधप्रतिषेधेऽङ्गगात्रकण्ठेभ्योऽप्रतिषेधः॥ १॥

सूत्र में संयोगोपधों से निषेध होने से ङीष् प्रत्यय अंगादि शब्दों से प्राप्त नहीं है, उसका यह अपवाद विधान करता है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान जो उपसर्जन स्वाङ्गवाची अंग, गात्र और कण्ठ प्रातिपदिक हैं, उनसे ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है। जैसे—अव्यङ्गागी। अव्यङ्गागा। मृद्वंगी। मृद्वंगा। दर्शनीयगात्री। दर्शनीयगात्रा। स्निग्धकण्ठी। स्निग्धकण्ठा। इत्यादि।

का०— अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत्तत् तथायुतम्॥ १॥

अपने शरीर के अभिमानी जीवात्मा से सम्बद्ध शरीर के अवयवों को सामान्यरूप से स्वाङ्ग संज्ञा प्राप्त है—स्वमङ्गं स्वाङ्गम् । किन्तु व्याकरणशास्त्र मे स्वाङ्ग शब्द का विशेष लक्षण है जो इस कारिका के द्वारा कहा गया है—(अद्रवम्) द्रव तरल पदार्थ को कहते हैं, उससे भिन्न अद्रव होता है। प्राणी में स्थित होने से कफ की भी स्वाङ्ग संज्ञा प्राप्त होती है। इसलिए अद्रव विशेषण देकर उसका निषेध किया है। इसलिए 'बहुकफा' प्रयोग में ङीष् नहीं होता है। (मूर्तिमत्) मूर्ति-स्थूलता को कहते हैं, जिसे स्पर्शादि किया जा सके। जिसमें मूर्तत्व हों, उसे स्वाङ्ग कहते हैं। प्राणिस्थ होने से ज्ञान की भी स्वाङ्ग संज्ञा प्राप्त होती है, उसका निराकरण इस दूसरे विशेषण से किया गया है। क्योंकि ज्ञान प्राणिस्थ तो है किन्तु मूर्त्त नहीं है। अतः उसकी स्वाङ्ग संज्ञा न होने से यहाँ 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है—बहुज्ञाना। (प्राणिस्थम्) प्राणवाले को प्राणी कहते हैं और प्राणी के शरीर में स्थित अवयव हैं, उन्हें स्वाङ्ग कहते हैं। इसलिए जो प्राणवाले नहीं

हैं उनकी स्वाङ्ग संज्ञा नहीं हैं। इस विशेषण के लगाने से यहाँ 'ङीष्' नहीं होता श्लक्ष्णमुखाशाला। शाला (घर) प्राणवान् नहीं है। (अविकारजम्) शरीर में वात, पित्त, कफ के विकृत होने से जो रोग उत्पन्न हो उसे विकारज कहते हैं। और जो विकारज फोड़ा, सूजनादि शरीर में हो जाते हैं, उनकी स्वाङ्ग संज्ञा न होवे, इसलिए यह विशेषण लगाया है। इससे यहाँ 'ङीष्' नहीं होता—बहुव्रणा। बहुशोफा।

(अतत्स्थं तत्र दृष्टं च) जो अवयव प्राणी के शरीर में स्थित हो उसे 'तत्स्थ' कहते हैं। और जो प्राणिस्थ न हो उसे 'अतत्स्थ' कहते हैं। व्याकरणशास्त्र में कहीं अप्राणिस्थ अवयवों की भी स्वाङ्ग संज्ञा होती है, किन्तु वे अवयव प्राणियों में पहले देखे गये हों तो स्वाङ्ग संज्ञा होती है। जैसे—दीर्घाः केशा अस्या रथ्यायाः सा दीर्घकेशी रथ्या। बड़े-बड़े बाल प्राणियों में देखे जाते हैं, वैसे ही बाल रथ्या गली में देखकर ऐसा प्रयोग किया जाता है। (तस्य चेत् तत् तथायुतम्) और जैसे प्राणी के शरीर में अंग युक्त होते हैं, यदि वैसे ही अचेतन (अप्राणी) पदार्थों में युक्त हों तो उनकी भी स्वाङ्ग संज्ञा होती है। जैसे—दीर्घनासिकी अर्च्चा। तुङ्गनासिकी अर्च्चा। ऐसी मूर्त्ति जिसकी नाक लम्बी है अथवा ऊँची हो, उसे इन शब्दों से कहा जाता है।

इस प्रकार व्याकरण शास्त्र में यह स्वाङ्ग का विशेष लक्षण किया गया है॥५४॥

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च॥५५॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्यनुवर्त्तते। नासिको.......शृंगात् —५।१।च [अ०] नासिकादीनां समाहारद्वन्द्वः। नासिकोदरयोर्बह्वच्त्वाद् ओष्ठादीनां संयोगोपधत्वाच्च प्रतिषेधः प्राप्तः सोऽनेन बाध्यते। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यः स्वाङ्गोपसर्जन-नासिकाद्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति। कल्याणनासिकी। कल्याणनासिका। उच्चनासिकी। उच्चनासिका। कृशोदरी। कृशोदरा। रक्तौष्ठी। रक्तौष्ठा। स्थूलजङ्घी। स्थूलजङ्घा। समदन्ती। समदन्ता। विशालकर्णी। विशालकर्णा। तीक्ष्णशृङ्गी गौः। तीक्ष्णशृङ्गा वा।

'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति' परिभाषया संनिकृष्टस्य बह्वज्लक्षणस्यैव प्रतिषेधस्य बाधनं भवति। 'सह-नञ्-विद्यमानपूर्वाच्चेति' प्रतिषेधो भवत्येव। सनासिका। अनासिका। विद्यमान-नासिका। तथा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्त' इति परिभाषया पूर्वस्य संयोगोपधलक्षणस्यैव प्रतिषेधो भवति, न तु सह नञ्-विद्यमान पूर्वाच्चेत्यस्य। सदन्ता। अदन्ता। विद्यमानदन्ता।

वा०—नासिकादीनां विभाषायां पुच्छाच्च॥१॥

पुच्छशब्दः संयोगोपधः स्वाङ्गं, तस्मात् पूर्वसूत्रेण प्रतिषेधः प्राप्तोऽनेन वार्त्तिकेन बाध्यते। कल्याणपुच्छी। कल्याणपुच्छा॥१॥

वा०—कबर-मणि-विष-शरेभ्यो नित्यम्॥२॥

कबरादिभ्यः परस्मात् पुच्छशब्दान् नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। कबरपुच्छी।

मणिपुच्छी। विषपुच्छी। शरपुच्छी॥ २॥

वा०—उपमानात् पक्षाच्च पुच्छाच्च॥ ३॥

उपमानवाचिनः पक्षान्तात् पुच्छान्ताच्च प्रातिपदिकान्नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। उलूकपक्षाविव पक्षौ यस्या उलूकपक्षीशाला। उलूकपुच्छी सेना॥ ३॥ ५५॥

भाषार्थ—यहाँ 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' पदों की अनुवृत्ति है। नासिकादि शब्दों में समाहारद्वन्द्व समास है। इस सूत्र में नासिका और उदर शब्दों से बह्वच् होने से 'न क्रोडादिबह्वचः' (४।१।५६) सूत्र से ङीष् का निषेध प्राप्त है और ओष्ठ आदि संयोगोपध हैं इसलिए पूर्वसूत्र से निषेध प्राप्त है। यह सूत्र दोनों का अपवाद है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान स्वाङ्गवाची और उपसर्जन (अप्रधानभूत) नासिका आदि शब्द जिनके अन्त में हों, उन प्रातिपदिकों से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—कल्याणनासिकी। कल्याणनासिका। उच्चनासिकी। उच्चनासिका। कृशोदरी। कृशोदरा। रक्तोष्ठी। रक्तोष्ठा। स्थूलजङ्घी। स्थूलजङ्घा। समदन्ती। समदन्ता। विशालकर्णी। विशालकर्णा। तीक्ष्णशृङ्गी गौः। तीक्ष्णशृङ्गा वा।

[ऊपर यह बात कही गई है कि यह सूत्र निषेधों का बाधक है किन्तु सब का नहीं है। किस का बाधक है किस का नहीं? इस का निर्णय इन परिभाषाओं से होता है—]

परि०—पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्॥ १॥

जो सामान्य सूत्र से पहले अपवाद सूत्र हैं, वे अपने समीपस्थ कार्यों के बाधक होते हैं, दूरस्थ (अपेक्षाकृत) विधियों के नहीं। इस परिभाषा के नियम से यह सूत्र समीपस्थ 'न क्रोडादि बह्वचः' (४।१।५६) सूत्र से विहित निषेध का तो बाधक है किन्तु 'सहनञ्विद्यमान पूर्वाच्च' (४।१।५७) सूत्र का नहीं, इसलिए नासिकादि से पूर्व सहादि शब्द हों तो 'ङीष्' का निषेध ही होता है। जैसे—सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका। इसी प्रकार दूसरी परिभाषा है—

परि०—मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्॥ २॥

जो पूर्व और पर सामान्य सूत्रों के मध्य में अपवाद सूत्र पढ़ा हो तो वह अपने से पूर्वविधि का बाधक होता है, उत्तरविधि का नहीं। इस परिभाषा से भी पूर्वोक्त दोष का समाधान होता है। अर्थात् यह 'नासिकोदर०' (४।१।५५) सूत्र पूर्ववर्ती संयोगोपध मानकर जो निषेध किया है, उस प्रतिषेध का यह बाधक है, परवर्ती 'सहनञ्विद्यमान०' (४।१।५७) इस निषेध का बाधक नहीं है। इसलिए यहाँ निषेध ही होता है—सदन्ता। अदन्ता। विद्यमानदन्ता।

वा०—नासिकादीनां विभाषायां पुच्छाच्च॥ १॥

पुच्छ शब्द संयोगोपध और स्वाङ्गवाची है, इस कारण पूर्वसूत्र से 'ङीष्' का निषेध प्राप्त हुआ, उसका यह वार्तिक बाधक है। पुच्छान्त स्वाङ्गवाची उपसर्जन स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान जो प्रातिपदिक है, उससे विकल्प करके 'ङीष्' प्रत्यय होता

है। जैसे—कल्याणपुच्छी। कल्याणपुच्छा॥ १॥

वा०—कबर मणि विष शरेभ्यो नित्यम्॥ २॥

कबर, मणि, विष और शर इन शब्दों से परे जो स्वाङ्गवाची उपसर्जन पुच्छ प्रातिपदिक है, उससे स्त्रीविषय मे नित्य 'ङीष्' प्रत्यय होता है, जैसे—कबरपुच्छी। मणिपुच्छी। विषपुच्छी। शरपुच्छी॥ २॥

वा० उपमानात् पक्षाच्च पुच्छाच्च॥ ३॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान उपमानवाची शब्दों से परे स्वाङ्गवाची पक्ष और पुच्छ प्रातिपदिक हों, उनसे नित्य ही 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—उलूकपक्षाविव पक्षौ यस्याः सा उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना॥ ३॥ ॥५५॥

न क्रोडादिबह्वचः॥ ५६॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्यस्य प्रतिषेधः। स्वाङ्गादित्यनुवर्त्तते। न [अ०] क्रोडादिबह्वचः ५।१। क्रोडादयश्च बह्वचश्चैषां समाहारः। क्रोडादि-स्वाङ्गान्ताद् बह्वच्स्वाङ्गान्ताच्च प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। कल्याणक्रोडा। कल्याणखुरा। पृथुजघना। स्निग्धकपोला। चारुललाटा।

अथ क्रोडादयः—क्रोड। नख। खुर। गोखा। उखा। शिखा। बाल। शफ। गुद। घोण। भग। गल। क्रोडादयः सर्वेऽबह्वचः॥ इति क्रोडादयः॥ ५६॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' (४।१।५४) सूत्र से प्राप्त 'ङीष्' का निषेध करता है। यहाँ 'स्वांगात्' पद की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान जो क्रोडा आदि प्रातिपदिक हैं और जिनमें बहुत अच् (स्वर) हों, वे स्वाङ्गवाची शब्द जिनके अन्त में हैं, उनसे 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—क्रोडादि—कल्याणक्रोडा कल्याणखुरा। बह्वच्—पृथुजघना। स्निग्धकपोला चारुललाटा॥ ५६॥

सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च॥ ५७॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्यनुवर्त्तते। सहनञ्विद्यमानपूर्वात् —५।१। च [अ०] स्वाङ्गोपसर्जनान्तात् सह-नञ्-विद्यमानपूर्वात् प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। सकेशा। अकेशा। विद्यमानकेशा। सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका॥ ५७॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' पदों की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान सह, नञ्, विद्यमान ये जिनके पूर्व हों उन स्वाङ्गान्त उपसर्जन प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—सकेशा। अकेशा। विद्यमानकेशा। सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका॥ ५७॥

नखमुखात् संज्ञायाम्॥ ५८॥

नेत्यनुवर्त्तते। नखमुखात् -५।१। संज्ञायाम् —७।१। नखस्वाङ्गान्तान् मुखस्वाङ्गान्ताच्च संज्ञायां विषये ङीष् प्रत्ययो न भवति। शूर्पणखा। वज्रणखा। गौरमुखा। कालमुखा। संज्ञायामिति किमर्थम्। कुनखी कन्या।

चन्द्रमुखी बाला। नखशब्दः क्रोडादिषु पठ्यते तेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थ आरम्भः। नखशब्दात् संज्ञायामेव प्रतिषेधः॥५८॥

भाषार्थ यहाँ भी 'न' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान स्वाङ्गवाची नख और मुख शब्द जिसके अन्त में हों, उन प्रातिपदिकों से संज्ञा विषय में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—शूर्पणखा। वज्रनखा। गौरमुखा। कालमुखा। यहाँ 'संज्ञायाम्' ग्रहण इसलिए है कि कुनखी कन्या। चन्द्रमुखी बाला। यहाँ 'ङीष्' का निषेध न हो। यद्यपि नख शब्द क्रोडादि गण में पठित है, उससे प्रतिषेध प्राप्त है, पुनरपि इस सूत्र में निषेध करना नियमार्थ है, नख शब्द से संज्ञा में ही प्रतिषेध होवे, अन्यत्र नहीं॥५८॥

दीर्घजिह्वी च छन्दसि॥५९॥

नेति नानुवर्त्तते। दीर्घजिह्वी—१।१। च [अ०] छन्दसि—७।१। जिह्वा-शब्दः संयोगोपधस्तस्मात् प्रतिषेधे प्राप्ते नियमार्थोऽयमारम्भः। इत्यर्थे चशब्दः। छन्दसि विषये दीर्घजिह्वीति शब्दो ङीष् प्रत्ययान्तो निपात्यते। दीर्घजिह्वी वै देवानां हव्यमलेट्॥५९॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'न' पद की अनुवृत्ति है। जिह्वा शब्द संयोगोपध है, उससे प्रतिषेध (स्वाङ्गाच्चोपसर्जन) प्राप्त होने पर यह सूत्र नियमार्थक है। सूत्र में 'च' शब्द 'इति' के अर्थ में है*। वेदविषय में 'दीर्घजिह्वी' शब्द ङीष्-प्रत्ययान्त निपातन किया है। जैसे—दीर्घजिह्वी वै देवानां हव्यमलेट्।

दिक्पूर्वपदान् ङीप्॥६०॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्यादिप्रकरणं सर्वमनुवर्त्तते। छन्दसीति च। दिक्-पूर्वपदात्—५।१। ङीप्—१।१। दिग्वाची शब्दः पूर्वपदं यस्य तस्मात्। स्त्रियां वर्त्तमानात् स्वाङ्गोपसर्जनादसंयोगोपधादक्रोडादेश्च बह्वचो दिक्पूर्व-पदात् प्रातिपदिकात् परस्य ङीष् स्थाने छन्दसि विषये ङीप् प्रत्ययो भवति। प्राङ्मुखी। प्राङ्मुखा। प्रत्यङ्मुखी। प्रत्यङ्मुखा। प्रत्ययस्यानुदात्तः स्वरो यथा स्यादिति ङीप्-विधानम्। प्रतिषिद्धानामप्यनुवर्तनादिह न भवति—प्राग्गुल्फा। प्राक्क्रोडा। प्रत्यग्ललाटा। अत्र बह्वज्लक्षणेन संयोगोपधलक्षणेन च प्रतिषेधो भवत्येव॥६०॥

भाषार्थ—यहाँ 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् इत्यादि और 'छन्दसि' पदों की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान दिशावाची पूर्वपद है जिनके, उन स्वाङ्गवाची, उपसर्जन असंयोगोपध प्रातिपदिकों से वेद विषय में 'ङीष्' के स्थान में 'ङीप्' प्रत्यय होता है, क्रोडादि तथा बह्वच् को छोड़कर। जैसे—प्राङ्मुखी। प्राङ्मुखा। प्रत्यङ्मुखी। प्रत्यङ्मुखा। प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्त स्वर हो जाये, इसलिए 'ङीप्' का विधान किया है। प्रतिषेध करनेवाले पदों व सूत्रों की भी अनुवृत्ति होने से यहाँ 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता—प्राग्गुल्फा। प्राक्क्रोडा। प्रत्यग्ललाटा। इनमें संयोगोपध

* जयादित्य ने 'चकारः संज्ञानुकर्षणार्थ' लिखा है। यह चिन्त्य है। —अनुवादक

तथा बह्वच् लक्षण से 'ङीष्' का निषेध होता ही है॥६०॥

वाहः॥६१॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते। वाहः —५।१। कृतवृद्धेर्वाहशब्दस्य ण्विप्रत्ययान्तस्य ग्रहणम्। वाहन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रीलिङ्गे ङीष् प्रत्ययोभवति। दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे। प्रष्ठौही च। वाह ऊठिति भत्वे सत्यूठ्संप्रसारणम्॥६१॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति है। सूत्र में 'वाहः' शब्द वह धातु से 'वहश्च' (३।२।६४।) सूत्र से ण्वि प्रत्ययान्त है। णित् होने से वृद्धि करके निर्देश किया है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान वाह्—शब्दान्त प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय होता है वैदिक प्रयोग विषय में। जैसे—दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे। प्रष्ठौही च। यहाँ ङीष के परे भ संज्ञा होने पर 'वाह ऊठ्' (६।४।१३२) सूत्र से ऊठ् संप्रसारण हुआ है॥६१॥

सख्यशिश्वीति भाषायाम्॥६२॥

छन्दसीति निवृत्तम्।[सख्यशिश्वी लुप्तविभक्तिको निर्देशः। इति-अ.प.] सखी, अशिश्वी, इत्येतौ शब्दौ ङीष्प्रत्ययान्तौ भाषायां लौकिकप्रयोगविषये निपात्येते। सखीयं मे ब्राह्मणी। न विद्यते शिशुरस्याः सा अशिश्वी। भाषायामिति किम्। सखे सप्तपदी भव। अशिशुरियम्॥६२॥

भाषार्थ—यहाँ 'भाषायाम्' कहने से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति नहीं है। लौकिक प्रयोग में सखी और अशिश्वी, ये दोनों शब्द स्त्रीविषय में ङीष् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं। जैसे—सखीयं मे ब्राह्मणी। न विद्यते शिशुरस्याः सा अशिश्वी। यहाँ 'भाषायाम्' का ग्रहण इसलिए है कि सखे सप्तपदी भव। अशिशुरियम्। यहाँ ङीष् न हो॥६२॥

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्॥६३॥

जातेः —५।१। अस्त्रीविषयात् -५।१। अयोपधात् -५।१। स्त्रीलिङ्गं नियतविषयोऽस्य न भवति तस्मात्। स्त्रियां वर्त्तमानाद् अस्त्रीविषयाद् यकारोपधात् इतरजातिवाचिनः प्रातिपदिकात् ङीष् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणी। वृषली। महिषी। वर्करी। मयूरी। कुक्कुटी। सूकरी। इत्यादि। अस्त्रीविषयादिति किम्। खट्वा। मक्षिका। जातेरिति किम्। मुण्डा। खल्वाटा। अयोपधादिति किम्। क्षत्रिया। वैश्या॥

वा०—योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमत्स्यमनुष्याणामप्रतिषेधः॥

एतेभ्यस्तु यकारोपधेभ्यो ङीष् प्रत्ययो भवत्येव। हयी। गवयी। मुकयी। मत्सी। मनुषी। जातेरित्युच्यते का जातिर्नाम?

का०— आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥१॥

अपर आहुः— प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद् गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥२॥

आभ्यां कारिकाभ्यां जातिलक्षणमुच्यते। (आकृतिग्रहणा जातिः) आकृतेर्ग्रहणं यया साऽऽकृतिग्रहणा। एकस्य शब्दस्योच्चारणे आकृतिमात्रस्य ग्रहणं भवति। यथा -मनुष्यः। अश्वः। गर्दभः। (लिङ्गानां च न सर्वभाक्) इति द्वितीयं जातिलक्षणम्। लिङ्गानामिति कर्मणि षष्ठी। सर्वंभजत इति सामान्य-सर्वोपपदाण् ण्विः। सर्वाणि लिङ्गानि यस्मिन्न भवन्ति साऽपि जातिः। पूर्वेण जातिलक्षणेन तत्त्वस्य मनुष्यत्वादेर्जातिसंज्ञा। अनेन त्वेकाकृतौ भिन्ना जातयः। यथा— ब्राह्मणः। क्षत्रियः। वैश्यः। वृषलः। इमे विशेषजातयः। (सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या) सकृदाख्या अनेन निरन्तरं गृह्यते। यथा—गौरित्युक्ते पिण्डान्तरेषु निश्चितं जातेर्ग्रहणं भवति। गोत्रस्य च जातिसंज्ञा भवति। यथा— गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः। गार्गी वा। तथा नडस्य गोत्रापत्यं कन्या नाडायनी। अत्र जातित्वादेव ङीष्। गोत्राणि मनुष्येष्वेव भवन्ति। तत्र सर्वे मनुष्या गोत्रेष्वेव। येषां चरणसंज्ञा ते गोत्रेषु न भवन्ति। प्राचीनानामध्येतृणां चरणसंज्ञा। तेषामपि जातिसंज्ञा भवति। यथा—कठी। पैप्पलादी। कौथुमी। अत्र जातित्वादेव ङीष्॥ १॥

जातिलक्षणे केषांचित् मतं भिन्नम्। सत्वस्य द्रव्यस्य प्रादुर्भावेन याऽऽविर्भावं प्राप्नोति विनाशेन च तिरोभावं सा जातिः। गुणैर्युगपद् द्रव्येण सह जातिः सम्बध्यते। असर्वलिङ्गां नियतलिङ्गां बह्वर्थां बहुविषयां कवयो दीर्घदर्शिनो जातिं विदुर्वदन्ति। पूर्वस्यां कारिकायामाकृतिग्रहणा जातिरिति विशेषः। तत्राकृतिग्रहणत्वात् कौमारं यौवनं जरेति तिसृणामवस्थानामपि जातिसंज्ञा भवति। येषां मतं पूर्वं जातिलक्षणं स्यादिति, तेषां मते कुमारी युवतिः। वृद्धा। इति शब्दत्रयस्य जातित्वाज् जातेश्चेति पुंवद्भावप्रतिषेधः। कुमारी भार्याऽस्य स कुमारीभार्यः। युवतिभार्यः। वृद्धाभार्यः। द्वितीयस्यां कारिकायां प्रादुर्भावविनाशाभ्यामिति विशेषः। तत्राकृतिग्रहणाभावाद् द्रव्येन सहावस्थायाः प्रादुर्भावतिरोभावौ न भवतः। तेन येषां मतमुत्तरं जातिलक्षणं स्यादिति तेषां मते कुमार्यादिशब्दत्रयस्य जातिसंज्ञा नास्ति। तत्र पुंवद्भावो भवत्येव। कुमारी भार्य्याऽस्य कुमारभार्य्यः। युवभार्य्यः। वृद्धभार्य्यः॥ २॥ ६३॥

भाषार्थ—स्त्रीलिंग में वर्त्तमान जो यकारोपध वर्जित जातिवाचक अदन्त और नियत स्त्रीलिंग न हों, उन प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय होता है। जैसे -ब्राह्मणी, वृषली, महिषी। चर्करी। मयूरी। कुक्कुटी। सूकरी। इत्यादि। यहाँ 'अस्त्रीविषयात्' इसलिए कहा है कि—बडवा। मक्षिका। यहाँ ङीष् न होवे। 'जातेः' का ग्रहण इसलिए है कि—मुण्डा। खल्वाटा और 'अयोपधात्' का ग्रहण इसिलिए है कि— क्षत्रिया। वैश्या।

वा० योपधप्रतिषेधे हय गवय-मुकय-मत्स्य-मनुष्याणामप्रतिषेधः॥ १॥

इस सूत्र से यकारोपध शब्दों से ङीष् का निषेध किया है, किन्तु यकारोपध शब्दों में हय, गवय, मुकय, मत्स्य और मनुष्य प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय का निषेध नहीं होता है। जैसे—हयी। गवयी। मुकयी। मत्सी। मनुषी।

इस सूत्र में जातिवाचक शब्दों से 'ङीष्' विधान किया है। जाति किसे कहते हैं? वैयाकरणों ने जाति का लक्षण क्या स्वीकार किया है? इसका उत्तर निम्नलिखित कारिकाओं में दिया गया है—

का०— आकृतिग्रहणाजातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥ १॥

अपर आहुः— प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः।
असर्वलिंगां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥ २॥

(आकृतिग्रहणा जातिः) आकृति (अवयवसनिवेशविशेष) का अर्थ है—विशेष प्रकार के अवयवों की रचना 'आक्रियते व्यज्यतेऽनयेत्याकृतिः' इस व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। और आकृति से जिस का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसे जाति कहते हैं। जैसे—गोत्व, अश्वत्वादि विभिन्न जातियाँ हैं। उनमें एक गौ में अवयवविशेष रचना देखकर समस्त गौओं का बोध हो जाता है, इसी प्रकार अश्वत्वादि का भी। इन जातिवाचक शब्दों में एक शब्द के उच्चारण करने से समस्त आकृतिमात्र का ग्रहण हो जाता है। जैसे अश्व कहने से अश्व जाति का मनुष्य कहने से मनुष्य जाति का इत्यादि। (लिङ्गाना च न सर्वभाक्) यह जाति का द्वितीय लक्षण है। वैयाकरण निकाय में ब्राह्मण-क्षत्रियादि शब्द भी जातिवाचक माने गये हैं। किन्तु पूर्व जाति के लक्षण से इन को जाति संज्ञा प्राप्त नहीं होती क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियादि के शरीरों की रचना में कोई अन्तर नहीं है। अतः द्वितीय लक्षण बनाया है—'सर्वाणि लिङ्गानि भजते इति सर्वलिंगभाक्। यहाँ कारिका में 'लिङ्गानाम्' पद में कर्म में षष्ठी है और 'सर्वभाक्' पद में सर्व उपपद होने पर भज् धातु से ण्वि प्रत्यय है। जिसमें सब लिंग नहीं होते वह भी जाति है। प्रथम जाति के लक्षण से तत्त्व (तस्य भावस्तत्वम्) मनुष्यत्वादि की जाति संज्ञा होती है और द्वितीय लक्षण से एकाकृति होने पर भी भिन्न भिन्न जातियाँ हो जाती हैं जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वृषलादि। ये विशेष* जातियाँ हैं ये ब्राह्मणादि

* इस विषय में महर्षि दयानन्द का अन्यत्र लेख भी द्रष्टव्य है—

प्रश्न—जातिभेद ईश्वर कृत है या मनुष्यकृत?

उत्तर—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जातिभेद हैं।

प्रश्न—कौन से ईश्वरकृत और कौन से मनुष्यकृत?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जल, जन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं। जैसे—पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियाँ, वृक्षों में पीपल, वट, आम्र आदि, पक्षियों में हंस, काक, बकादि, जलजन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं, परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं।"

(सत्यार्थप्रकाश—एकादश समुल्लास)

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि सामान्य मनुष्य जाति के अन्तर्गत विशेषजाति में आते हैं। न्यायदर्शन के (समानप्रसवात्मिका जातिः २।२।६८) सूत्र के अनुसार तो आकृति से जानने योग्य मनुष्य ही एक जाति है, ब्राह्मणादि नहीं। किन्तु शास्त्रीय कार्य सिद्धि के

शब्द स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में ही होने से सर्वलिङ्गभाक् नहीं हैं। (सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या) जाति नित्य और एक होकर भी अनेकों में रहती है। इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—सकृदाख्यात:। जैसे किसी व्यक्ति को एक बार किसी चार पैरवाले पशु के पास ले जाकर यह कहा कि–यह गौ है। वह इसी कथन से उसी के समान पिण्डान्तर (शरीरान्तर) में भी स्वयं गौ का ज्ञान कर लेता है। और जाति के नित्य होने से एक गौ के शरीर के नाश होने पर भी शरीरान्तर में गोत्व जाति रहती है। अत: पिण्डनाश से जाति का नाश नहीं होता है। (गोत्रं च चरणै: सह) इसमें जाति का तृतीय लक्षण बताया गया है। जैसे—गर्गस्यापत्यं गार्ग्य:। गार्गी वा। उसी प्रकार—नडस्य गोत्रापत्यं कन्या नाडायनी। यहाँ गोत्र को जाति संज्ञा होने से जाति लक्षण 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है। गोत्र संज्ञा मनुष्यों में ही होती है और सभी मनुष्य गोत्रों के अन्तर्गत हैं। यहाँ चरण शब्द से शाखाओं को पढ़नेवालों का ग्रहण है। (चरणशब्देन शाखाध्यायिनो गृह्यन्ते) और जिनकी चरणसंज्ञा है वे गोत्रों में नहीं होते। उन शाखाओं को पढ़नेवालों की भी जातिसंज्ञा होती है। जैसे—कठी। पैप्पलादी। कौथुमी। यहाँ जाति संज्ञा होने से ही 'ङीष्' होता है। १।

कुछ वैयाकरणों के मत में जाति का लक्षण पूर्वलक्षण से भिन्न है, उनका कथन दूसरी कारिका में किया गया है। किसी सत्त्व (द्रव्य) के प्रादुर्भाव से जिसका प्रादुर्भाव होता है और सत्त्व के विनाश से जिसका तिरोभाव होता है, उसे जाति कहते हैं। और (युगपद्गुणै:) जाति गुणों के साथ ही द्रव्य से सम्बद्ध हो जाती है। जैसे—गुणरहित द्रव्य नहीं होता, वैसे ही जातिरहित भी नहीं होता है और (असर्वलिङ्गां) कवि (क्रान्तदर्शी विद्वान्) लोग असर्वलिङ्गाम् जिसके सब लिङ्ग न हों, प्रत्युत नियतलिंग हों, उस बह्वर्थाम्=एक तरह की समस्त व्यक्तियों में व्यापकरूप से रहनेवाले तत्त्व को जाति कहते हैं॥ २॥

इन दोनों जातिलक्षणों में क्या अन्तर है? प्रथम कारिका में कथित (आकृतिग्रहणा जाति:) लक्षण के अनुसार कौमार, यौवन और जरा इन तीन अवस्थाओं के वाचक शब्दों की भी जाति संज्ञा हो जाती है और उनके अनुसार कुमारी, युवति और वृद्धा इन तीनों के जातिवाचक होने से (जातेश्च) सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध हो जाता है। जैसे—कुमारी भार्याऽस्य स कुमारीभार्य:। युवतिभार्य:। वृद्धाभार्य:। यहाँ पूर्वपद में पुंवद्भाव नहीं हुआ है और द्वितीयाकारिका में कथित जाति के लक्षण के अनुसार आकृतिग्रहण न होने से द्रव्य के प्रादुर्भाव तिरोभाव होने तक एक ही जाति रहती है, अवस्थाविशेषों में जात्यन्तर नहीं होता।

लिए ब्राह्मणादि को विशेष जाति में वैसे ही स्वीकार किया है, जैसे—शास्त्रीय कार्यों के लिए गोत्रवाची तथा चरणवाची शब्दों की भी जाति संज्ञा मानी है। महर्षि ने 'सामान्य विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्' (वै० १।२।३) सूत्र की व्याख्या में भी यही बात स्पष्ट कही है "सामान्य और विशेष, बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादि से विशेष तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व इनमें ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। ब्राह्मणादि व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियत्वादि से विशेष है।" (सत्यार्थप्रकाश— तृतीय समुल्लास)

इन्के अनुसार यौवनादि अवस्था वाचक शब्दों की जातिसंज्ञा न होने से (जातेश्च) सूत्र से पुवद्भाव का प्रतिषेध नहीं होता। पुंवद्भाव होता ही है। जैसे—कुमारीभार्याऽस्य स कुमारभार्यः। युवभार्य्यः। वृद्धभार्य्यः। इनमें पुंवद्भाव होने से स्त्रीप्रत्ययों की निवृत्ति हो जाती हैं॥ ६३॥

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तपदाच्च॥ ६४॥

जातेरयोपधादित्यनुवर्तत्ते। पाक.....पदात् —५। १। च [अ०] स्त्रियां वर्त्तमानात् पाकाद्युत्तरपदादयोपधाज्जातिवाचिनः प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। पायसपाकी। ओदनपाकी। श्वकर्णी। अश्वकर्णी। शालपर्णी। प्रश्नपर्णी। आम्रपुष्पी। बदर्य्या इव फलमस्या बदरीफली। दर्भस्येव मूलमस्या दर्भमूली। अश्ववाली। जातेरिति किम्। शोभनपाका। विशालपाका। अयोपधादिति किम्। धान्यपाका।

वा०—सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् प्रतिषेधः॥ १॥

सदादिभ्यः परस्मात् पुष्पशब्दान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा॥ १॥

वा०—संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् प्रतिषेधः॥ २॥

समादिभ्यः परस्मात् फलशब्दान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला॥ २॥

वा०—श्वेताच्च॥ ३॥

फलादित्यनुवर्त्तते। श्वेत शब्दात् परस्मात् फल शब्दान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। श्वेतफला॥ ३॥

वा०—त्रेश्च॥ ४॥

त्रिफला॥ ४॥

वा०—मूलान् नञः॥ ५॥

नञ्पूर्वान् मूलशब्दान् ङीष् प्रत्ययो न भवति। अमूला॥ ५॥ सर्वत्र ङीषि प्रतिषिद्धे टाबेव भवति॥ ६४॥

भावार्थ—यहाँ 'जातेरयोपधात्' पदों की अनुवृत्ति आती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान जिन प्रातिपदिकों के उत्तरपद में पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल तथा वाल शब्द हों उन यकारोपधवर्जित जातिवाची प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—पायसपाकी। ओदनपाकी। श्वकर्णी। अश्वकर्णी। शालपर्णी। प्रश्नपर्णी। आम्रपुष्पी। शङ्खपुष्पी। बदर्य्या इव फलमस्या बदरीफली। दर्भस्येव मूलमस्या दर्भमूली। अश्ववाली। यहाँ 'जातेः' का ग्रहण इसलिए है कि 'शोभनापाका। विशालपाका। यहाँ जातिवाचक न होने से 'ङीष्' नहीं हुआ और 'अयोपधात्' का ग्रहण इसलिए है कि धान्यपाका। यहाँ यकारोपध होने से 'ङीष्' नहीं हुआ।

वा०—सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् प्रतिषेधः॥ १॥

सत्, अञ्चु, काण्ड, प्रान्त, शत, एक इन प्रातिपदिकों से परे जो स्त्रीलिङ्ग

में वर्त्तमान पुष्प प्रातिपदिक हों, उससे 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। इस सूत्र से प्राप्त 'ङीष्' का निषेध किया है। जैसे—सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा॥ १॥

वा०—संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् प्रतिषेधः॥ २॥

सम्, भस्त्रा, अजिन्, शण, पिण्ड इन शब्दों से परे स्त्रीलिङ्ग मे वर्त्तमान फल प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला॥ २॥

वा०—श्वेताच्च॥ ३॥

पूर्ववार्तिक से 'फलात्प्रतिषेधः' की यहाँ भी अनुवृत्ति है। श्वेत शब्द से परे स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान फल प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय नही होता है। जैसे—श्वेतफला॥ ३॥

वा०—त्रेश्च॥ ४॥

त्रिशब्द से परे स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान फल शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—त्रिफला॥ ४॥

वा०—मूलान् नञः॥ ५॥

नञ् से परे मूल प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे अमूला। इन सभी वार्त्तिकों के उदाहरणों में 'ङीष्' का निषेध होने पर सामान्य 'टाप्' प्रत्यय होता है॥ ६४॥

इतो मनुष्यजातेः॥ ६५॥

इतः—५।१। मनुष्यजातेः—५।१। जातेरित्यनुवर्त्तमाने पुनर्जातिग्रहण-मयोपधादिति निवृत्त्यर्थम्। इकारान्तान् मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां वर्त्तमानात् प्रातिपदिकान् ङीष् प्रत्ययो भवति। अवन्ती। कुन्ती। दाक्षी। प्लाक्षी। औदमेयी।

वा०—इतो मनुष्यजातेरितीञ उपसंख्यानम्॥ १॥

इञ्प्रत्ययान्ताद् अमनुष्यजातिवाचिनोऽपि ङीष् यथा स्यात्। सुतङ्गमेन निवृत्ता सौतङ्गमी। मौनचित्ती। अत्र जातित्वमेव नास्त्यस्मादपूर्वो विधिः॥ १॥ ६५॥

भावार्थ—यहाँ जाति की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः 'जाति' पद का ग्रहण 'अयोपधात्' पद की निवृत्ति के लिये है। अन्यथा '**एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः**' (१७) इस परिभाषा से 'अयोपधात्' की भी अनुवृत्ति आ सकती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान मनुष्यजाति वाची इकारान्त प्रातिपदिकों से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। जैसे—अवन्ती। कुन्ती। दाक्षी। प्लाक्षी। औदमेयी। इत्यादि।

वा०—इतो मनुष्यजातेरितीञ उपसंख्यानम्॥ १॥

मनुष्य जाति से भिन्न इञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय कहना चाहिए। जैसे—सुतङ्गमेन निवृत्ता सौतङ्गमी। मौनिचित्ती। यहाँ चातुरर्थिक

इञ् प्रत्यय है, अतः जातिसंज्ञा न होने से यह अपूर्व विधान किया है॥६५॥

ऊङुतः॥६६॥

मनुष्यजातेरित्यनुवर्त्तते। ऊङ् —१।१। उतः —५।१। उकारान्तात् मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाद् ऊङ् प्रत्ययो भवति। ब्रह्मबन्धूः। वीरबन्धूः। कुरूः। ङकारो 'नोङ्धात्वोरिति' विशेषणार्थः।

वा०—ऊङ्प्रकरणेऽप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्॥१॥

मनुष्यजातेरित्यनुवर्त्तनात् सूत्रेणाप्राप्तो विधीयते। अप्राणिजातिवाचिनोऽप्यूङ्प्रत्ययो भवति रज्ज्वादीन् वर्जयित्वा। अलाबूः। कर्कन्धूः। अप्राणिजातेरिति किमर्थम्। कृकवाकुः। अरज्ज्वादीनामिति किमर्थम्। रज्जुः। हनुः। अत्र मण्डूकप्लुतगत्याऽयोपधादित्यनुवर्त्तते। तेनेह न भवति। अध्वर्युरियम्॥६६॥

भाषार्थ—यहाँ 'मनुष्यजातेः' पद की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान मनुष्य जातिवाची उकारान्त प्रातिपदिकों से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—ब्रह्मबन्धूः। वीरबन्धूः। कुरूः। प्रत्यय के ङकार का प्रयोजन 'नोङ्धात्वोः' (६।१।१७५) सूत्र में विशेषणार्थ है।

वा०—ऊङ् प्रकरणेऽप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्॥१॥

सूत्र में 'मनुष्यजातेः' पद की अनुवृत्ति होने से सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय की प्राप्ति न होने से यह विधान किया है। स्त्रीलिङ्ग मे वर्तमान अप्राणि जातिवाची उकारान्त प्रातिपदिकों से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है, रज्जुआदि प्रातिपदिकों को छोड़कर जैसे—अलाबूः। कर्कन्धूः। यहाँ 'अप्राणिजातेः' का ग्रहण इसलिए है कि कृकवाकुः। यहाँ प्रत्यय न हो और 'अरज्ज्वादीनाम्' पद इसलिए है कि रज्जुः। हनुः। इत्यादि में 'ऊङ्' न हो। यहाँ मण्डूकप्लुति से अयोपधात्' की अनुवृत्ति है। इसलिये 'अध्वर्युरियम्' में ऊङ् नहीं होता है॥६६॥

बाह्वन्तात् संज्ञायाम्॥६७॥

बाह्वन्तात् —५।१। संज्ञायाम् —७।१। बाह्वन्तात् स्त्रियां वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् संज्ञायामभिधेयायाम् ऊङ्प्रत्ययो भवति। भद्रबाहूः। जालबाहूः। संज्ञायामिति किम्। चारुबाहुः॥६७॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान बाहु शब्दान्त प्रातिपदिकों से संज्ञा विषय में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—भद्रबाहूः। जालबाहूः। यहाँ 'संज्ञायाम्' का ग्रहण इसलिए है कि चारुबाहुः। यहाँ असज्ञा में 'ऊङ्' प्रत्यय न होवे॥६७॥

पङ्गोश्च॥६८॥

संज्ञायामित्यनुवर्त्तते। पङ्गुशब्दात् संज्ञायां विषये ऊङ् प्रत्ययो भवति। पङ्गूः।

वा०—श्वसुरस्योकाराकारलोपश्च॥१॥

श्वशुरशब्दाद् ऊङ्प्रत्ययस्तस्मिन्नुकाराकारयोर्लोपः। श्वश्रूः॥६८॥

भावार्थ—यहाँ 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान 'पङ्गु' प्रातिपदिक से संज्ञाविषय में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—पङ्गूः।

वा० —श्वशुरस्योकाराकरलोपश्च॥ १ ॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान श्वशुर शब्द से 'ऊङ्' प्रत्यय और श्वशुर शब्द के उकार तथा अकार का लोप हो जाता है। जैसे—श्वश्रूः॥ ६८॥

ऊरूत्तरपदादौपम्ये॥ ६९॥

ऊरूत्तरपदात् —५।१। औपम्ये —७।१। ऊरूशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्।

औपम्ये गम्यमाने स्त्रियां वर्त्तमानाद् ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकाद् ऊङ् प्रत्ययो भवति। करभोरूः। कदम्बोरूः। करभ इव कदम्ब इवेत्यौपम्यम्। औपम्य इति किम्। स्थूलोरूः॥ ६९॥

भावार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान ऊरूशब्द उत्तरपद में है जिनके, उन प्रातिपदिकों से उपमान अर्थ में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—करभ इवोरू अस्याः स्त्रियाः सा करभोरूः। कदम्बोरूः। करभ की तरह अथवा कदम्ब की तरह ऊरू हैं जिसके, यह उपमान-भाव है। यहाँ 'औपम्ये' का ग्रहण इसलिए है कि—स्थूलोरुः। यहाँ 'ऊङ्' न होवे॥ ६९॥

संहितशफलक्षणवामादेश्च॥ ७०॥

ऊरूत्तरपदादित्यनुवर्त्तते। संहित.....वामादेः —५।१। च [अ०] संहित, शफ, लक्षण, वाम, इत्येतत्पूर्वाद् ऊरूत्तरपदात् स्त्रियां प्रातिपदिकाद् ऊङ् प्रत्ययो भवति। संहितोरूः। शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः।

वा०—सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्॥ १॥

सहितोरूः। सहोरूः॥ ७०॥

भावार्थ—यहाँ 'ऊरूत्तरपदात्' की अनुवृत्ति आती है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान संहित, शफ, लक्षण, वाम, ये शब्द जिनके आदि में हों, ऐसे ऊरूत्तरपद प्रातिपदिकों से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—संहितोरूः। शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः।

वा०—सहित सहाभ्यां चेति वक्तव्यम्॥ १॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान सहित और सह शब्दों से परे ऊरू प्रातिपदिक हों तो इनसे 'ऊङ्' प्रत्यय कहना चाहिये। जैसे—सहितोरूः। सहोरूः॥ ७०॥

कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि॥ ७१॥

कद्रु कमण्डल्वोः —६।२। छन्दसि —७।१। स्त्रियां वर्त्तमानाभ्यां कद्रु कमण्डलुशब्दाभ्यां छन्दसि विषये ऊङ् प्रत्ययो भवति। कद्रूः। कमण्डलूः। छन्दसीति किम्। कद्रुः। कमण्डलुः।

वा०—कद्रुकमण्डलुगुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्॥ १॥

कद्रूः। कमण्डलूः। गुग्गुलूः। मधूः। जतूः। पतयालूः। सूत्रेण द्वाभ्यां प्राप्तो

गुग्गुल्वादिभ्योऽपूर्वो विधिः॥७१॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान कद्रु कमण्डलु शब्दों से वैदिक प्रयोग विषय में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे कद्रूः। कमण्डलूः। यहाँ 'छन्दसि' का ग्रहण इसलिए है कि कद्रुः। कमण्डलुः। यहाँ भाषा में 'ऊङ्' न होवे

वा०—कद्रु कमण्डलु-गुग्गुलु-मधु-जतु पतयालूनामिति वक्तव्यम्॥ १॥

सूत्र से कद्रु और कमण्डलु शबदों से ऊङ् प्रत्यय होता है, वार्त्तिक से उनसे भिन्न स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान गुग्गुलादि प्रातिपदिकों से भी वैदिक प्रयोग विषय मे 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—गुग्गुलूः। मधूः। जतूः। पतयालूः॥७१॥

संज्ञायाम्॥७२॥

छन्दसीति नानुवर्त्तते। भाषार्थ आरम्भः। संज्ञायां विषये कद्रु कमण्डलुशब्दाभ्यां स्त्रीलिङ्ग ऊङ् प्रत्ययो भवति। कद्रूः। कमण्डलूः। संज्ञायामिति किम्। कद्रुः [कमण्डलुः]॥७२॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि' की अनुवृत्ति नहीं है। लौकिक भाषा के लिए सूत्र का आरम्भ है। स्त्रीलिंग में वर्त्तमान कद्रु कमण्डलु शब्दों से संज्ञा के विषय में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कद्रूः। कमण्डलूः। यहाँ 'सञ्ज्ञायाम्' का ग्रहण इसलिए है कि कद्रुः। कमण्डलुः। यहाँ ऊङ् न हो॥७२॥

शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्॥७३॥

जातिग्रहणमत्रानुवर्त्तते। शार्ङ्गरवाद्यञः —५।१। ङीन् —१।१। शार्ङ्गरवादिः प्रातिपदिकगणः। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यः शार्ङ्गरवादिभ्यो जातिवाचिभ्योऽञन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो ङीन् प्रत्ययो भवति। शार्ङ्गरवी। कापटवी। बैदी। औवी। टिड्ढाणञिति सूत्रेणाञन्तान् ङीप् विधीयते। तत्राजातिवाचिनां ग्रहणं भवति। तत्र जातिवाच्यञन्तेभ्यो ङीष् प्राप्तः सोऽनेन बाध्यते। अञन्तानां गोत्रत्वाज्जातित्वम्॥

अथ शार्ङ्गरवादयः—शार्ङ्गरव। कापटव। गौगुलव। ब्राह्मण। गौतम। कामण्डलेय। ब्राह्मणकृतेय। आनिचेय। आनिषेय। आनिधेय। आकोशेय। वात्स्यायन। मौञ्जायन। कैकसेय। काव्य। शैव्य। एहि। पर्येहि। आश्मरथ्य। औदपान। आराल। अराल। चण्डाल। वतण्ड॥ भोगवद् गौरिमतोः संज्ञायाम्॥ संज्ञायामिति नियमार्थं गणसूत्रमिदम्। भोगवती। गौरिमती॥ नृनरयोर्वृद्धिश्च॥ ङीनि परतोऽनयोर्वृद्धिः। नारी॥ इति शार्ङ्गरवादिगणः॥ यथाविहितेषु ङीषादिषु प्राप्तेषु ङीन् विधीयते॥७३॥

भाषार्थ—यहाँ 'जाति' पद की अनुवृत्ति है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान जातिवाचक शार्ङ्गरवादि गणपठित प्रातिपदिकों से और अञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से 'ङीन्' प्रत्यय होता है। जैसे—शार्ङ्गरवी। कापटवी। अञन्त—बैदी। औवी। 'टिड्ढाण्' (४।१।१५) सूत्र से अञ् प्रत्ययान्तों से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। उस सूत्र में जातिवाचकों से भिन्न अञन्तों का ग्रहण होता है। जातिवाचक अञन्तों से 'ङीष्'

प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह ङीन् बाधक है जो अञन्त प्रातिपदिक गोत्र संज्ञक हैं उनकी जातिसंज्ञा होती है। यथाविहित ङीप् आदि प्रत्ययों की प्राप्ति में यह 'ङीन्' का विधान किया है॥७३॥

यङश्चाप्॥ ७४॥

यङः—५।१। चाप्—१।१। ञ्यङ्-ष्यङोः सामान्येन ग्रहणम्। स्त्रियां वर्त्तमानाद् यङन्तात् प्रातिपदिकाच् चाप् प्रत्ययो भवति। चित्करणमन्तोदात्तार्थम्। ञ्यङ्—आम्बष्ठ्या। सौवीर्य्या। ष्यङ्—कारीषगन्ध्या। वाराह्या।

वा०—षाच्च यञश्चाप्॥ १॥

षकारान्तात् परो यो यञ् तदन्तादपि चाप् प्रत्ययः स्यात्। शार्कराक्ष्या। पौतिभाष्या। गौकक्ष्या। गर्गादिषु पाठादेते यञन्ताः शब्दाः॥ ७४॥

भाषार्थ—इस सूत्र में ञ्यङ् और ष्यङ् प्रत्ययों का सामान्यरूप से ग्रहण किया गया है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान यङन्त प्रातिपदिकों से 'चाप्' प्रत्यय होता है। 'चाप्' प्रत्यय में चकार अन्तोदात्त स्वर के लिए है। जैसे—ञ्यङ्—आम्बष्ठ्या। सौवीर्य्या। ष्यङ्-कारीषगन्ध्या। वाराह्या।

वा०—षाच्च यञश्चाप्॥ १॥

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान षकार से परे जो यञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिकों से 'चाप्' प्रत्यय होता है। जैसे—शार्कराक्ष्या। पौतिभाष्या। गौकक्ष्या। ये समस्त शब्द गर्गादि गण में पठित होने से यञन्त हैं॥७४॥

आवट्याच्च॥ ७५॥

आवट्यात्—५।१। च [अ०]। अवटशब्दो गर्गादिषु पठ्यते तस्माद् यञन्तः। तस्माद् यञश्चेति ङीपि प्राप्ते आरम्भः। स्त्रियां वर्त्तमानादावट्यशब्दाच् चाप् प्रत्ययो भवति। आवट्या॥ ७५॥

भावार्थ— अवट शब्द गर्गादि गण में पठित है, अतः यह 'यञ्' प्रत्ययान्त है। और 'यञश्च' सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय की प्राप्ति में यह अपवाद विधान किया है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान आवट्य शब्द से 'चाप्' प्रत्यय होता है। जैसे—आवट्या॥७५॥

तद्धिताः॥ ७६॥

प्रत्ययाधिकारस्तृतीयाध्यायस्यादौ कृतस्तस्य संज्ञया विशेषणमेतत्। तद्धित इत्यधिकारसूत्रमापंचमाध्यायपरिसमाप्तेः। इतोऽग्रे ये प्रत्यया वक्ष्यन्ते तद्धितसंज्ञा तेषां भवतीति वेद्यम्। बहुवचननिर्देशाद् वार्तिकोपदिष्टस्यापि प्रत्ययमात्रस्य तद्धितसंज्ञा भवति॥ ७६॥

भाषार्थ—तृतीय अध्याय के आरम्भ में 'प्रत्ययः' का अधिकार किया है, उसका तद्धित संज्ञा के रूप में विशेषण है। तद्धित संज्ञा का अधिकार पंचमाध्याय पर्यन्त है। इससे आगे जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उनकी तद्धित संज्ञा जाननी चाहिए। 'तद्धिताः' सूत्र में बहुवचन का निर्देश होने से वार्तिकोपदिष्ट प्रत्ययों

के भी तद्धितसंज्ञा होती है।*

यूनस्तिः॥७७॥

यूनः—५।१। तिः—१।१। स्त्रियां वर्त्तमानाद् 'युवन्' प्रातिपदिकात् तद्धितसंज्ञकस्तिः प्रत्ययो भवति। युवतिः। नकारान्तत्वान् ङीप् प्राप्तस्तस्यापवादः॥७७॥

भाषार्थ—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'युवन्' प्रातिपदिक से 'ति' प्रत्यय होता है और उसकी तद्धित संज्ञा होती है। जैसे—युवतिः। युवन् शब्द के नकारान्त होने से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह सूत्र अपवाद है॥७७॥

अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे॥७८॥

अणिञोः—६।२। अनार्षयोः—६।२। गुरूपोत्तमयोः—६।२। ष्यङ्—१।१। गोत्रे—७।१ ऋषेरपत्यमार्षौ, न आर्षौ, अनार्षौ। ऋषेरपत्यवाचिनौ न भवतः। उत्तमस्य तृतीयप्रभृतेरक्षरस्य समीपमुपोत्तमं गुरुरुपोत्तमं ययोस्तौ। गोत्रे विहितौ यावणिञौ तदन्तयोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्थाने ष्यङादेशो भवति। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'। इत्यणिञोः प्रत्यययोरेवादेशौ। करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः। तस्यापत्यमित्यण्। तस्याणोऽनेन ष्यङादेशः। कारीषगन्ध्या। कौमुदगन्ध्या। वराहस्यापत्यमित्यत इञ्। तस्येञः स्थाने ष्यङादेशः। वाराह्या। वालाक्या। अणिञोरिति किम्। ऋतभागस्यापत्यमिति विदादित्वादञ्। तस्य ष्यङ् न भवति। आर्त्तभागी। टिड्ढाणञिति ङीबेव भवति। अनार्षयोरिति किम्। वसिष्ठस्यापत्यं कन्या। इति-ऋष्यन्धकाण्। तस्य ष्यङ् न भवत्यार्षत्वात्। वासिष्ठी। वैश्वामित्री। अजीगर्त्तस्य गोत्रापत्यमिति बाह्वादित्वाद् इञ्। तस्य ष्यङ् न भवति। आजीगर्त्ती। इतो मनुष्यजातेरिति ङीष्। गुरूपोत्तमयोरिति किम्। उपगोरपत्यं कन्या औपगवी। अत्र गकारस्य ह्रस्वत्वात् ष्यङ् न भवति। गोत्रे इति किम्। कन्यकुब्जे जाता कान्यकुब्जी।

का०— प्रकर्षे चेत् तमं कृत्वा दाक्ष्या नोपोत्तमं गुरु।
आम्विधिः केन ते न स्यात् प्रकर्षे यद्ययं तमः॥१॥
उद्गतस्य प्रकर्षोऽयं गतशब्दोऽत्र लुप्यते।
नाव्ययार्थप्रकर्षोऽस्ति धात्वर्थोऽत्र प्रकृष्यते॥२॥
उद्गतोऽपेक्षते किंचित् त्रयाणां द्वौ किलोद्गतौ।
चतुष्प्रभृतिकर्त्तव्यो वाराह्यायां न सिध्यति॥३॥
भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चामो न लक्ष्यते।
शब्दान्तरमिदं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु॥४॥

उच्छब्दात् प्रकर्ष आतिशायने तमप् क्रियते चेद् दाक्षिशब्द उपोत्तमं गुरु

---

* तद्धितसंज्ञा का कार्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा करना है। (सं०)

नास्तीति ष्यङ् न भवति। प्रकर्षेऽर्थे यदि तमप् प्रत्ययो विधीयते तर्हि किमेत्तिङ व्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्ष इति तमबन्तादाम्प्रत्ययः कस्मात्कारणान्न भवति॥ १॥

उत्तम शब्द उदित्यव्ययम्। तदर्थस्याव्ययार्थस्यात्र प्रकर्षो नास्ति, किन्तु धातोर्गतशब्दस्यात्र प्रकर्षः स च द्रव्यप्रकर्षः। अद्रव्यप्रकर्षे चाम् विधीयतेऽतोऽत्राम् न भवति॥ २॥

उद्गतशब्दश्च सापेक्षः सोऽनुद्गतमपेक्षते। यत्र त्रयो वर्णाः तत्रैकोऽनुद्गतो द्वावुद्गतौ। द्वयोरुद्गतयोश्चैकस्य तृतीयस्य प्रकृष्टविभागे तमब्बाधकस्तरप् प्राप्नोति। यदि तरप् स्यात् तर्हि उत्तमशब्दाभावे वाराहिशब्दे ष्यङ् न प्राप्नोति। चतुष्प्रभृतिषु द्वयोरेकस्य विभागाभावात् तमब् भविष्यति चतुष्प्रभृतीनामभावाद् वाराहिशब्दे न प्राप्नोति॥ ३॥

अस्योत्तमशब्दस्य तमबन्तस्यानुदात्त इष्टस्तदन्य एव स्वरः स्यात्। अर्थादन्तोदात्त इष्यते तमबन्तत्वादाद्युदात्तः प्राप्नोति। आम्विधिस्तमबन्तादाम्-विधिर्न लक्ष्यते न दृश्यते। एवमुच्छब्दात् तमपि कृते बहवो दोषाः सन्ति। तस्मात् कारणादन्योऽयमुत्तमशब्दस्त्रिप्रभृतिषु रूढिर्वर्त्तते इति सिद्धान्तः॥ ४॥ ७८॥

भाषार्थ—ऋषि के अपत्य को आर्ष कहते हैं। अनार्ष शब्द से ऋषि के अपत्यों का निषेध किया है। तीन या तीन से अधिक अक्षरोंवाले शब्द के अन्तिम अक्षर को उत्तम कहते हैं। उत्तम के समीपवाले अक्षर को 'उपोत्तम' कहते हैं। गुरु अक्षर उपोत्तम है जिसमें उसे गुरूपोत्तम कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान गोत्र में विहित जो अण्-इञ् प्रत्यय, तदन्त अनार्ष गुरूपोत्तम प्रातिपदिकों के स्थान में ष्यङ् आदेश होता है। 'ङित् होने से अन्त्य अल् के स्थान में यह ष्यङ् आदेश होता है। अथवा **निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति**' (१२) इस नियम से अण् इञ् प्रत्ययों को ही यह आदेश होता है। जैसे—करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः, तस्यापत्य स्त्री कारीषगन्ध्या। यहाँ अपत्यार्थक 'अण्' के स्थान में 'ष्यङादेश' हुआ है। इसी प्रकार—कौमुदगन्ध्या। इञ् का उदाहरण वराहस्यापत्यं वाराह्या। यहाँ 'अत इञ्' (४।१।९५) 'इञ्' प्रत्यय और 'इञ्' के स्थान में 'ष्यङादेश' हुआ है। इसी प्रकार बालाक्या आदि प्रयोग जानने चाहिएँ।

इस सूत्र में 'अणिञोः' का ग्रहण इसलिए है कि ऋतभागस्यापत्यं स्त्री आर्त्तभागी। यहाँ विदादि से 'अञ्' प्रत्यय है, अतः उसको 'ष्यङ् आदेश' नहीं हुआ है। 'टिड्ढाण०' (४।१।१५) सूत्र से 'ङीप्' ही होता है। 'अनार्षयोः' का ग्रहण इसलिए है कि वसिष्ठस्यापत्यं कन्या वासिष्ठी। वैश्वामित्री। यहाँ ऋषिवाची होने से 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) से 'अण्' प्रत्यय है। उसको 'ष्यङ् आदेश नहीं होता है। इसी प्रकार—अजीगर्त्तस्य गोत्रापत्यं आजीगर्त्ती। यहाँ बाह्वादि से 'इञ्' होने से 'ष्यङ् आदेश' नहीं हुआ। 'इतो मनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है। और 'गुरूपोत्तमयोः' पद का ग्रहण इसलिए है कि—उपगोरपत्य कन्या औपगवी। यहाँ उपोत्तम अक्षर ह्रस्व होने से 'ष्यङ् आदेश' नहीं हुआ और

...त्र पद का ग्रहण इसलिए है कान्यकुब्जे जाता कान्यकुब्जी। यहाँ 'अण्' प्रत्यय ...र्थ मे है, गोत्र में नहीं है।

प्रश्न उत्तम शब्द को अव्युत्पन्न और अन्त्य के लिए मानकर यह शङ्का ...पन्न होती है—दक्षस्यापत्यं गोत्रं स्त्री दाक्षी, प्लाक्षी। यहाँ 'इञ्' के स्थान में ष्यङ् आदेश' क्यों नहीं होता?

उत्तर—यहाँ उत्तम शब्द अव्युत्पन्न नहीं है, किन्तु 'अतिशायने तमबिष्ठनौ सूत्र मे 'तमप्' प्रत्यय है। और यह तमप् तीन अथवा तीन से अधिक में प्रकृष्टता को बताता है। इसलिए 'दाक्षी, प्लाक्षी में तीन अक्षरों से कम होने से 'ष्यङ्' आदेश नहीं होता है।

प्रश्न— प्रकर्षे चेत्तमं कृत्वा दाक्ष्या नोपोत्तमं गुरु।
आम्विधिः केन ते न स्यात् प्रकर्षे यद्ययं तमः॥ १॥

यदि 'उत्तम' शब्द में 'उत्' शब्द से प्रकर्ष (अतिशायन) अर्थ मे 'तमप्' प्रत्यय मानकर 'दाक्षी' शब्द में उपोत्तम गुरु न होने से 'ष्यङ्' नहीं होता तो तमप् प्रत्ययान्त से 'किमेत्तिङव्ययघादामु०' (५।४।११) सूत्र से 'आमु' प्रत्यय क्यों नहीं होता?

उत्तर— उद्गतस्य प्रकर्षोऽयं गतशब्दोऽत्र लुप्यते।
नाव्ययार्थप्रकर्षोऽस्ति धात्वर्थोऽत्र प्रकृष्यते॥ २॥

उत्तम शब्द से 'आम्' प्रत्यय इसलिए नहीं होता, क्योंकि आम् प्रत्यय अद्रव्यप्रकर्ष में विहित है। और उत्तम शब्द में 'उत्' अव्यय है। 'अतिशयेनोद्गतम् उत्तमम्' यह उत्तम शब्द का अर्थ है। इसमें उत् अव्ययार्थ का प्रकर्ष न होकर 'गत' शब्द का प्रकर्ष होने से धात्वर्थ का प्रकर्ष है। इस 'गत' शब्द का यहाँ लोप है और इस 'गत' शब्द मे क्त प्रत्यय कर्म में होने से यहाँ द्रव्य का प्रकर्ष है और 'आमु' प्रत्यय अद्रव्यप्रकर्ष में होता है॥ २॥

प्रश्न— उद्गतोऽपेक्षते किञ्चित् त्रयाणां द्वौ किलोद्गतौ।
चतुष्प्रभृतिकर्त्तव्यो वाराह्यायां न सिध्यति॥ ३॥

'उत्तम' शब्द में आपने 'गत' शब्द को लोप मानकर 'आम्' प्रत्यय के न होने में जो युक्ति दी है, उसमें यह एक अन्य दोष आता है—'उद्गत' शब्द सापेक्ष होने से अनुद्गत की अपेक्षा करता है। जिस शब्द में तीन वर्ण हैं, उनमें एक अक्षर को अनुद्गत मानकर दो उद्गतों में अतिशयन अर्थ में तरप् प्रत्यय होना चाहिये। तमप् नहीं और यदि तरप् प्रत्यय माना जाए तो उत्तम शब्द का अभाव प्राप्त होता है अर्थात् 'उत्तर' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। और सूत्र में उत्तम शब्द का प्रयोग होने से कम से कम चार अक्षरोंवाले शब्द में 'ष्यङ्' प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि एक सापेक्ष अनुद्गत और तीन या तीन से अधिक उद्गतों के अतिशय अर्थ में 'तमप्' प्रत्यय होगा। अनुद्गत की अपेक्षा अन्य उद्गत यदि दो हैं अथवा एक है, उनमें 'तमप्' प्रत्यय सम्भव ही नहीं है और कम से कम

चार अथवा उससे अधिक अक्षरोंवाले शब्द में 'ष्यङ् आदेश होना चाहिए तो 'वाराहि' शब्द में तीन अक्षर ही होने से 'ष्यङ् आदेश' प्राप्त नहीं होता।

उत्तर— भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चामो न लक्ष्यते।
शब्दान्तरमिदं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु॥

पूर्वोक्त दोष का परिहार इस प्रकार है—'उत्तम' शब्द में आतिशायिक 'तमप्' प्रत्यय मानने से स्वर में दोष आता है। क्योंकि 'तमप्' प्रत्यय पित् है और 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) सूत्र से यह अनुदात्त है। प्रत्यय अनुदात्त होने से 'उत्तम' शब्द में आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है, यह भी कहीं प्रयोग में दिखाई नहीं देता (और जो ऊपर द्रव्यप्रकर्ष मानकर आम् प्रत्यय का अभाव दिखाया है, उसमें दोष होने से वह पक्ष निरस्त हो गया है) इसलिये 'उत्तम' शब्द में तमप् प्रत्ययान्त व्युत्पन्न मानने से अनेक दोष हैं। यह उत्तम शब्द तो आतिशायिक का समानार्थक अव्युत्पन्न है, उससे भिन्न ही है, जो लोक में तीन या तीन से अधिक अक्षरों में अन्त्याक्षर के लिए प्रसिद्ध है। इस पक्ष को मानने से कोई दोष नहीं आता है॥७८॥

गोत्रावयवात्॥७९॥

गोत्रावयवात्—५।१। अणिञोरनार्षयोरित्यनुवर्त्तते।

भा०—कुलाख्या लोके गोत्राभिमता गोत्रावयवा इत्युच्यन्ते॥

गोत्रे आदिपुरुषाः श्रुतिशीलसम्पन्नाः श्रेष्ठतमा यशस्विनो गोत्रस्यावयवा भवन्ति। पूर्वसूत्रे गुरूपोत्तमयोरित्युच्यते। अगुरूपोत्तमार्थोऽयमारम्भः। गोत्रावयवात् प्रातिपदिकाद् गोत्रे विहितयोरण्-इञोः स्थाने ष्यङादेशो भवति। पुणिकस्यगोत्रापत्यं स्त्री पौणिक्या। भौणिक्या। मुखरस्यापत्यं मौखर्य्या॥७९॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से 'अणिञोरनार्षयोः' पदों की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र में गुरूपोत्तम में ष्यङादेश कहा है। यह उससे भिन्न के लिए सूत्र बनाया है और इस सूत्र में 'अवयव' शब्द अप्रधान अर्थ में है। अवराध्यायादि में जो पढ़े हैं, वे मुख्य गोत्र हैं और जो गोत्र में आदि पुरुष वेदों के विद्वान्, धर्मात्मा, श्रेष्ठाचारवाले होने से यशस्वी पुरुष हुए हैं, वे गोत्र के अवयव कहलाते हैं। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान गोत्रावयव प्रातिपदिकों से गोत्र में विहित अण्-इञ् प्रत्ययों के स्थान में 'ष्यङ् आदेश' होता है। जैसे—पुणिकस्य गोत्रापत्यं स्त्री पौणिक्या। भौणिक्या। मुखरस्यापत्यं मौखर्य्या॥७९॥

क्रौड्यादिभ्यश्च॥८०॥

अगुरूपोत्तमार्थोऽयमपि योगः। क्रौड्यादिभ्यः—५।३। च।अ०। स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यः क्रौड्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः ष्यङ् प्रत्ययो भवति। क्रोडस्य गोत्रापत्यं स्त्री क्रौड्या। लाड्या। व्याड्या।

अथ क्रौड्यादयः—क्रौडि। लाडि। व्याडि। अपिशलि। आपक्षिति। चौपयत। चौटयत। शैकयत। बैल्वयत। वैकल्पयत। सौधातकि।

॥ सूत* युवत्याम्॥ सूतस्यापत्यं युवतिः सौत्या ॥ भोज* क्षत्रिये॥ भोजस्यापत्यं क्षत्रिया भौज्या। यौतकि। कौटि। भौरिकि। शाल्मलि। शालास्थलि। कपिस्थलि। गौकक्ष्य। गौलक्ष्य॥ इति क्रौड्यादयः। केषांचिन्मते रौड्यादिगणः॥८०॥

भाषार्थ—यह सूत्र भी गुरूपोत्तम से भिन्न के लिए है। स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्रौडि आदि प्रातिपदिकों से 'ष्यङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—क्रोडस्य गोत्रापत्यं स्त्री क्रौड्या। लाड्या। व्याड्या। इत्यादि॥८०॥

दैवयज्ञि-शौचिवृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम्॥८१॥

दैवयज्ञि—विद्धिभ्यः—५।३।अन्यतरस्याम्[अ०]प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। गोत्रग्रहणमत्र नानुवर्त्तते। गोत्रे पूर्वसूत्रेण प्राप्तः ष्यङ् अगोत्रेऽप्राप्त एव विकल्प्यते। दैवयज्ञ्यादयः सर्वे इञन्ताः। दैवयज्ञि, शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि, काण्ठेविद्धि, इत्येतेभ्य इञन्तेभ्यो विकल्पेन ष्यङ् प्रत्ययो भवति। पक्षे 'इतो मनुष्यजाते' रिति ङीष्। दैवयज्ञ्या। दैवयज्ञी। शौचिवृक्ष्या। शौचिवृक्षी। सात्यमुग्र्या। सात्यमुग्री। काण्ठेविद्ध्या। काण्ठेविद्धी॥८१॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति नहीं है। यह प्राप्ताप्राप्तविभाषा है। गोत्र में पूर्वसूत्र से 'ष्यङ्' प्राप्त है और अगोत्र में अप्राप्त है, दोनों में यह विकल्प करता है। दैवयज्ञि आदि सब शब्द इञ्-प्रत्ययान्त हैं। दैवयज्ञि, शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि, काण्ठेविद्धि, इन इञन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ष्यङ्' प्रत्यय होता है। पक्ष में 'इतो मनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र से 'ङीष्' होता है। जैसे—दैवयज्ञ्या। दैवयज्ञी। शौचिवृक्ष्या। शौचिवृक्षी। सात्यमुग्र्या। सात्यमुग्री। काण्ठेविद्ध्या। काण्ठेविद्धी॥८१॥

समर्थानां प्रथमाद्वा॥८२॥

समर्थानाम्—६।३।प्रथमात्—५।१।वा।अ०।समर्थानामिति निर्द्धारणे षष्ठी। समर्थानां मध्ये प्रथमं यत्समर्थम्। अभिधाने कार्यविधाने यच्छक्तं तत् समर्थम्। 'समर्थानां प्रथमाद्वेति' सर्वं सूत्रमधिक्रियते। आपंचमाध्यायपरिसमाप्तेरयमधिकारः।तस्यापत्यम्।उपगोरपत्यमौपगवः।समर्थानां प्रथमादिति किम्। कम्बल उपगोर्देवदत्तस्यापत्यम् अत्र देवदत्तादुत्पत्तिर्माभूत्। वेति किम्। वाक्यमपि यथास्यात्॥८२॥

भाषार्थ—'समर्थानाम्' पद में निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है। जो अर्थ के कहने में शक्त है, उसे समर्थ कहते हैं। 'समर्थानाम्, प्रथमात्, वा' इन तीन पदों का अधिकार किया जाता है और यह अधिकार पंचमाध्याय की समाप्ति तक जावेगा। इससे आगे जो जो प्रत्यय कहेंगे वे समर्थों की प्रथम प्रकृति से विकल्प करके होंगे। जैसे—'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) का उदाहरण है—उपगोरपत्यम् औपगवः।

* सूतात् युवत्याम्, इति गणपाठः (वैदिक यन्त्रालय अजमेर २०१३ वि०) —सम्पादक

यहाँ 'समर्थाना प्रथमात्' पद इसलिए पढ़े हैं कि—'कम्बल उपगोर्देवदत्तस्यापत्यम्' यहाँ असमर्थ देवदत्त से प्रत्यय न होवे। और 'वा' इसलिए हैं कि पक्ष में वाक्य भी बना रहे॥८२॥

प्रागदीव्यतोऽण्॥८३॥

प्रागदीव्यतः —५।१। अण् —१।१। तेन दीव्यति इति चुतर्थपादादौ सूत्रम्। तस्माद् 'दीव्यति' शब्दात्पूर्वं येभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कश्चित् प्रत्ययो न विधीयते तत्राण् उपतिष्ठते। तस्यापत्यम्। औपगवः। कापटवः। एवं सर्वत्र।

भा०—दीव्यतिशब्दे च दीव्यच्छब्दोऽस्ति तस्मादेषा पंचमी। किं पुनः कारणं विकृतनिर्देशः क्रियते। एतज् ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—एकदेश विकृतमनन्यवद् भवतीति। तद्यथा शुनः कर्णे पुच्छे वा छिन्ने श्वा श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभः। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। एकदेशविकृतेषूपसंख्यानं चोदितं तन्न वक्तव्यं भवति॥८३॥

भावार्थ—चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद के प्रारम्भ में 'तेन दीव्यति' (४।४।२) सूत्र है, उस दीव्यति शब्द से पूर्व जिन प्रातिपदिकों से किसी प्रत्यय का विधान नहीं किया, वहाँ अपवादों को छोड़कर 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) सूत्र से यथाविहित प्रत्यय विधान किया है, वहाँ 'अण्' प्रत्यय उपस्थित होता है। उपगोरपत्यम् औपगवः। कापटवः। इत्यादि। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

'तेन दीव्यति' सूत्र के 'दीव्यति' शब्द में 'दीव्यत्' शब्द से पचमी विभक्ति लगाकर सूत्रकार ने निर्देश किया है। यहाँ विकृतनिर्देश करने का कारण यह है कि सूत्ररचयिता आचार्य यह समझाना चाहते हैं—एक देश विकृत होने पर भी अनन्यभाव ही रहता है, भिन्नता नहीं होती। जैसे—कुत्ते का कान या पूँछ कट जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही रहता है, घोड़ा या गधा नहीं। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह है—'एकदेशविकृतेषूपसंख्यानम्' यह पृथक् से कहने की आवश्यकता नहीं है॥८३॥

अश्वपत्यादिभ्यश्च॥८४॥

अश्वपत्यादिभ्यः—५।३। च [अ०]॥ पत्युत्तरपदाण् ण्यः प्राप्तः तस्यायमपवादः। प्राग्दीव्यतो येऽर्थास्तेष्वश्वपत्यादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति। अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतिर्देवताऽस्य, अश्वपतीनां समूह इत्याद्यर्थेष्वण्। आश्वपतम्। शातपतम्।

अथाश्वपत्यादयः—अश्वपति। ज्ञानपति। शतपति। धनपति। गणपति। स्थानपति। यज्ञपति। राष्ट्रपति। कुलपति। गृहपति। पशुपति। धान्यपति। धर्मपति। धन्वपति। बन्धुपति। सभापति। प्राणपति। क्षेत्रपति। अधिपति। इत्यश्वपत्यादयः॥८४॥

भावार्थ—अगले सूत्र से पति जिनके उत्तरपद में हो, उन प्रातिपदिकों से

ण्य' प्रत्यय कहा है, उसका यह अपवाद है। 'तेन दीव्यति' (४।४।२) सूत्र में पहले जो जो अर्थ कहे हैं, वे प्राग्दीव्यतीय अर्थ हैं, उनमें अश्वपति आदि गण पठित प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतिर्देवताऽस्य, अश्वपतीनां समूहो वा आश्वपतम्। इसी प्रकार—शातपतम्, धानपतम्, गाणपतम्, इत्यादि जानने चाहिएँ॥८४॥

दित्यादित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः॥८५॥

प्राग्दीव्यत इत्यनुवर्त्तते। दित्य......पदात्—५।१। ण्यः—१।१। दिति, अदिति, आदित्य, पत्युत्तरपद, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः प्रत्ययो भवति। दितेरपत्यं दैत्यः। आदित्यः। आदित्यम्। पत्युत्तरपदात्—प्राजापत्यम्। सैनापत्यम्। वानस्पत्यम्। माहीपत्यम्।

वा०—ण्यप्रकरणे वाङ्मतिपितृमतां छन्दस्युपसंख्यानम्॥१॥

वाक्, मति, पितृमत्, इत्येभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः प्रत्ययो भवति। वाच्यम्। मात्यः। पैतृमत्यः॥१॥

वा०—पृथिव्या ञाञौ॥२॥

पृथिवीशब्दात् प्राग्दीव्यतीयेषु ञ-अञ्-प्रत्ययौ भवतः। पार्थिवा। पार्थिवी॥२॥

वा०—देवाद् यञञौ॥३॥

देवशब्दाद् यञ्-अञ्-प्रत्ययौ भवतः। दैव्यम्। दैवम्॥३॥

वा०—बहिषष्टिलोपो यञ् च॥४॥

बहिः शब्दोऽव्ययम्। बहिःशब्दाद् यञ् प्रत्ययस्तस्मिन् टिलोपश्च भवति। बहिर्भवो बाह्यः॥४॥

वा०—ईकक् च॥५॥

बहिःशब्दाद् ईकक् टिलोपश्च। बाहीकः॥५॥

वा०—इकञ् छन्दसि च वक्तव्यः॥६॥

बाहीकमस्तु भद्रं वः। लोकवेदयोः स्वरभेदः॥६॥

वा०—स्थाम्नोऽकारः॥७॥

स्थामन्शब्दान्तात् प्राग्दीव्यतीयेष्वकारप्रत्ययो भवति। अश्वस्येव स्थाम-बलं यस्येति बहुव्रीहिः। अश्वत्थामा। पृषोदरादित्वात् सकारस्य तकारः। तस्यापत्यम् अश्वत्थामः। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः॥७॥

वा०—लोम्नोऽपत्येषु बहुषु॥८॥

लोमन्शब्दान्ताद् बहुष्वपत्येषु अकारप्रत्ययो भवति। उडुलोमाः। शरलोमाः। बहुष्विति किमर्थम्? औडुलोमि। शारलोमिः। बाह्वादित्वाद् इञ्॥८॥

वा०—सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्॥९॥

पूर्ववार्त्तिकेऽपत्यग्रहणं कृतम्। तन्निवारणार्थं सर्वत्र ग्रहणं प्राग्दी-

व्यतीयेष्वेवेति। गोशब्दाद् अजादिप्रसंगे सर्वत्र प्राग्दीव्यतीयेषु यत् प्रत्ययो भवति। गवि भवं गव्यम्। गोः स्वं गव्यम्। गौर्देवता अस्य स्थालीपाकस्य गव्यः स्थालीपाकः॥ ८५॥

भाषार्थ यहाँ 'प्राग्दीव्यतः' पद की अनुवृत्ति है। दिति, अदिति, आदित्य और पत्युत्तर पद प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित संज्ञक 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—दितेरपत्यं दैत्यः। आदित्यः। आदित्यम्। पत्युत्तर पद—प्राजापत्यम्। सैनापत्यम्। वानस्पत्यम्। माहीपत्यम्। इत्यादि॥

वा०—ण्यप्रकरणे वाङ्मतिपितृमतां छन्दस्युपसंख्यानम्॥ १॥

वाक्, मति, पितृमत् इन प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में वैदिक प्रयोग विषय में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—वाच्यम्। मात्यम्। पैतृमत्यम्॥ १॥

वा०—पृथिव्या ञाञौ॥ २॥

पृथिवी प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ञ और अञ् प्रत्यय होते हैं जैसे—ञ-पार्थिवा। अञ् पार्थिवी। ञ और अञ् प्रत्ययों में यह भेद है कि ञ प्रत्ययान्त में ङीप् नहीं होता॥ २॥

वा०—देवाद् यञञौ॥ ३॥

देव प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—यञ्-दैव्यम्। अञ्—दैवम्॥ ३॥

वा०—बहिषष्टिलोपो यञ् च॥ ४॥

बहिष् शब्द अव्यय है। बहिष् प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'यञ्' प्रत्यय और प्रातिपदिक के टिभाग का लोप हो जाता है। जैसे—बहिर्भवो बाह्यः॥ ४॥

वा०—ईकक् च॥ ५॥

बहिष् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ईकक्' प्रत्यय और बहिष् के टिभाग का लोप होता है। जैसे—बाहीकः॥ ५॥

वा०—ईकञ् छन्दसि च वक्तव्यः॥ ६॥

बहिष् प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ईकञ्' प्रत्यय और बहिष् के टिभाग का लोप होता है। जैसे—बाहीकमस्तु भद्र वः। ईकक् और ईकञ् प्रत्ययों में स्वर का ही भेद है। लोक में अन्तोदात्त और वेद में आद्युदात्त स्वर होता है॥ ६॥

वा०—स्थाम्नोऽकारः॥ ७॥

स्थामन् शब्दान्त प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अकार प्रत्यय होता है। जैसे—अश्वस्येव स्थामबलं यस्येति बहुव्रीहिः। अश्वत्थामा। पृषोदरादि मानकर सकार के स्थान में तकारादेश हुआ है। तस्यापत्यम् अश्वत्थामः। 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से टिभाग का लोप हुआ है॥ ७॥

वा०—लोम्नोऽपत्येषु बहुषु॥ ८॥

लोमन् शब्दान्त प्रातिपदिकों से बहुत अपत्य वाच्य हों तो अकार प्रत्यय होता

हैं जैसे—उडुलोम्नोऽपत्यानि उडुलोमाः। शरलोमाः। यहाँ 'बहुषु' पद का ग्रहण इसलिए है कि—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः। शारलोमिः। यहाँ बाह्वादि सूत्र से 'इञ्' प्रत्यय हुआ है॥८॥

वा०—सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यत्॥९॥

पूर्ववार्त्तिक में 'अपत्य' अर्थ का ग्रहण है, उसी में 'यत्' प्रत्यय न हो, इसलिए 'सर्वत्र' शब्द का पाठ है। सर्वत्र=समस्त प्राग्दीव्यतीय अर्थों में गो प्रातिपदिक से अजादि (स्वरादि) प्रत्ययों की प्राप्ति में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—गवि भवं गव्यम्। गोः स्वं गव्यम्। गौर्देवता अस्य स्थालीपाकस्य गव्यः स्थालीपाकः॥८५॥

उत्सादिभ्योऽञ्॥८६॥

प्राग्दीव्यत इत्यनुवर्तते। उत्सादिभ्यः—५।१। अञ्—१।१। उत्सादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयार्थेष्वञ् प्रत्ययो भवति। अण्प्रत्ययस्य तदपवादानां च बाधकः। औत्सः। औदयानः।

अथोत्सादिगणः—उत्स। उदयान। विकर। विमद। विनोद। महानद। महानस। महाजन। महाप्राण। तरुण। तलुन॥ बष्कयाऽसे॥ बष्कय शब्दाद् असे=असमासेऽञ् प्रत्ययः। धेनुपृथिवी। पंक्ति। जगती। त्रिष्टुप्। अनुष्टुप्। जनपद। भरत। उशीनर। ग्रीष्म। पीलु। कुल। कुण। उदस्थान, देशे। पृष, दंशे। भल्लकीय। रथन्तर। मध्यन्दिन। बृहत्। महत्। सत्वन्। कुरु। पंचाल। इन्द्रावसान। उष्णिक्। ककुप्। सुवर्ण। सुपर्ण। देव॥ इत्युत्सादयः॥*

वा०—अञ्प्रकरणे ग्रीष्मादच्छन्दसि॥१॥

छन्दः शब्देनात्र वृत्तमुच्यते न तु वेदपर्यायः। गायत्र्यादिच्छन्दोऽभिधेयादन्यत्र ग्रीष्मशब्दात् प्राग्दीव्यतीयेष्वञ् प्रत्ययो भवति। ग्रैष्मम्। अच्छन्दसीति किमर्थम्। ग्रीष्मो देवताऽस्य ग्रैष्मी त्रिष्टुप्। अत्राणेव। उत्सादिभ्यो यदा गोत्राऽपत्येऽञ् तदा गोत्रस्य जातित्वादञन्तेभ्यः स्त्रियां ङीन्। यदाऽन्ये प्राग्दीव्यतीयास्तदा 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् प्रत्ययो भवति॥८६॥

भाषार्थ—यहाँ 'प्राग्दीव्यतः' पद की अनुवृत्ति है। उत्सादि गणपठित प्रातिपदिकों से प्रागदीव्यतीय अर्थों में तद्धित सञ्ज्ञक 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र सामान्य अण् प्रत्यय का और उसके अपवादों का बाधक है। जैसे—औत्सः, औदपानः।

वा०—अञ् प्रकरणे ग्रीष्मादच्छन्दसि॥१॥

यहाँ छन्दस् शब्द से वृत्त (गायत्र्यादि) का ग्रहण है वेद का नहीं। गायत्र्यादि छन्द वाच्य न हों तो ग्रीष्म प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—ग्रैष्मम्। यहाँ 'अच्छन्दसि' का ग्रहण इसलिए है—ग्रीष्मो देवताऽस्य ग्रैष्मी त्रिष्टुप्। यहाँ 'अण्' प्रत्यय ही होता है। उत्सादि शब्दों से जब गोत्रापत्य में अञ् प्रत्यय होगा, तब जातिसंज्ञा होने से अञ् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिंग में ङीन्

* ऋषिदयानन्द ने (ऋ० ९५।३) मन्त्र भाष्य में इस गण को आकृतिगण माना है सं०

होता है। और जब दूसरे प्राग्दीव्यतीय अर्थ होंगे, तब 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है॥८६॥

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ भवनात्॥ ८७॥

स्त्रीपुंसाभ्याम्—५।२। नञ् स्नञौ—१।२। भवनात्—५।१। **भवनादिति सापेक्षं तत्र प्रागित्यपेक्षते। 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' इति पंचमाध्यायस्य द्वितीयपादादौ सूत्रात् प्राग्येऽर्थास्तेषु स्त्रीपुंसाभ्यां शब्दाभ्यां यथासंख्यं नञ्स्नञौ प्रत्ययौ भवतः। स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। पुंसां समूहः पौंस्नम्। स्त्रियां जातः स्त्रैणः। पौंस्नः। स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्य आगतं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रिया प्रोक्तं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रिया पुंवदिति ज्ञापकाद् वतिः प्रत्ययस्तु भवत्येव। योगापेक्षं ज्ञापकं भवति। तेन स्त्रीवदित्यपि सिध्यति॥ ८७॥**

भावार्थ—सूत्र में 'भवनात्' पद सापेक्ष होने से 'प्राक्' शब्द की अपेक्षा रखता है। 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' इस पंचमाध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र से पूर्व जो अर्थ निर्देश किये हैं, उनमें स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'नञ्' और 'स्नञ्' प्रत्यय होते हैं। जैसे—स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। पुंसां समूहः पौंस्नम्। स्त्रियां जातः स्त्रैणः। पौंस्नः। स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्य आगतं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रिया प्रोक्तं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। 'स्त्रियाः पुंवत्०' (अ० ६।३।३३) इस सूत्रकार के ज्ञापक से 'वति' प्रत्यय तो होता है। और 'योगापेक्ष ज्ञापकम्' इस नियम से 'पुंवत्' की भाँति स्त्री शब्द से भी वति प्रत्यय होकर 'स्त्रीवत्' रूप सिद्ध होता है॥८७॥

द्विगोर्लुगनपत्ये॥ ८८॥

प्रागदीव्यत इत्यनुवर्त्तते। द्विगोः-६।१। लुक्-१।१। अनपत्ये-७।१। द्विगोरिति निमित्तनिमित्तिसम्बन्धे षष्ठी। द्विगुर्निमित्ती, प्राग्दीव्यतीय-स्तद्धित-प्रत्ययो निमित्तम्।

वा०—अजादिग्रहणं च कर्त्तव्यम्॥ १॥

अनेन वार्त्तिकेनाजादिग्रहणं तद्धितप्रत्ययविशेषणार्थम्। अपत्यादितरेषु प्राग्दीव्यतीयार्थेषु विहितस्य द्विगोर्निमित्तस्याजादि तद्धितप्रत्ययस्य लुग् भवति। पंच मनाय्यो देवता अस्य पंचमनुः। पंच वरुणान्यो देवता अस्य पंचवरुणः। पंचसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पंचकपालः। अत्र सर्वत्र देवतायां संस्कृते च विहितस्याणो लुक्। अनपत्य इति किम्। द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेवदत्तिः। प्राग्दीव्यत इति किम्। द्वावध्यायौ प्रयोजनमस्य द्वैयध्यायकः। अजादिग्रहणं किमर्थम्। पंचगर्गरूप्यम्। पंचगर्गमयम्। द्विगोर्निमित्तं तद्धितः क्व भवति। यत्र तद्धितार्थे द्विगुः। यत्र च समाहारे तत्राऽनेन लुङ् न भवति। पंचानां कपालानां समाहारः पंचकपालं तत्र भवः पांचकपालः॥ ८८॥

भावार्थ—यहाँ 'प्राग्दीव्यतः' पद की अनुवृत्ति है। सूत्र के 'द्विगोः' पद में

निमित्तनिमित्ती सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है। द्विगु निमित्ती है और प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्यय निमित्त है।

वा०—अजादिग्रहणं च कर्त्तव्यम्॥ १॥

इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि जिस तद्धितप्रत्यय का लुक् हो वह अजादि होना चाहिए। अपत्यार्थ से भिन्न प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित द्विगुसमास का निमित्त अर्थात् जिसको मानकर द्विगु समास हुआ हो, उस अजादि तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे पंच मनाय्यो देवता अस्य पंचमनुः। पंच वरुणान्यो देवता अस्य पंचवरुणः। पंचसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पंचकपालः। यहाँ इन सभी उदाहरणों में देवता और संस्कृत अर्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय का लुक् हुआ है। यहाँ 'अनपत्ये' का ग्रहण इसलिए है कि द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेवदत्तिः। यहाँ अपत्यार्थ 'इञ्' का लुक् न हो। 'प्राग्दीव्यतः' का प्रयोजन यह है कि द्वावध्यायौ प्रयोजनमस्य द्वैयध्यायकः। और 'अजादिग्रहण' इसलिए है कि -पंचगर्गरूप्यम्। पंचगर्गमयम्। यहाँ अजादि प्रत्यय न होने से लुक् नहीं हुआ। द्विगु समास का निमित्त तद्धित कहाँ होता है। जहाँ तद्धितार्थ में द्विगु समास हो और जहाँ समाहार में द्विगु समास होता है वहाँ इस सूत्र से लुक् नहीं होता। जैसे—पञ्चानां कपालानां समाहारः पंचकपालम्। तत्र भवः पांचकपालः॥ ८८॥

गोत्रेऽलुगचि॥ ८९॥

अनपत्ये प्राग्दीव्यत इत्यनुवर्त्तते। गोत्रे—७।१। अलुक्—१।१। अचि—७।१। 'यस्कादिभ्यो गोत्र' इत्यादिप्रकरणे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे विहितस्य लुकोऽयं प्रतिषेधः। अचीति विषयसप्तमी। अजादिप्राग्दीव्यतीयप्रत्ययोत्पत्तिविषये गोत्रे विहितानां प्रत्ययानां लुग् न भवति। गर्गाणां छात्रा गार्गीयाः। वात्सीयाः। अत्र गार्ग्य-वात्स्यशब्दाभ्यां छः। तस्मिन् यस्येति चेत्यकारलोपः। 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनातीति' यकारलोपः॥ ८९॥

भाषार्थ—यहाँ 'अनपत्ये, प्राग्दीव्यतः' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस सूत्र में 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (अ० २।४।६३) सूत्र से विहित लुक् का प्रतिषेध किया है। 'अचि' पद में विषयसप्तमी है। प्रागदीव्यतीय अजादि प्रत्यय की उत्पत्ति की विवक्षा में गोत्र में विहित प्रत्ययों का लुक् नहीं होता है। जैसे—गर्गाणां छात्रा गार्गीयाः। वात्सीयाः। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त गार्ग्य और वात्स्य शब्दों से 'छ' प्रत्यय हुआ है। 'छ' प्रत्यय के परे होने पर 'यस्येति च' (६।४।१४८) सूत्र से अकार लोप और 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (६।४।१५१) सूत्र से यकार का लोप हुआ है॥ ८९॥

यूनि लुक्॥ ९०॥

प्राग्दीव्यत इत्यनुवर्त्ततेऽचीति च। यूनि—७।१। लुक्—१।१। अजादिप्रागदीव्यतीयप्रत्ययविषये यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। फाण्टाहृतस्य गोत्रापत्यं फाण्टाहृतिः। तस्य युवापत्यम्। फाण्टाहृतिमिमताभ्यां

ण फिञाविति णः। फाण्टाहृतस्य छात्रा इति शैषिकप्रत्ययार्थे विवक्षिते बुद्धिस्थे यूनि विहितस्य णप्रत्ययस्य लुक्। तस्मिन् सति प्रकृतेरिञन्तत्वाद् इञश्चेत्यण्। फाण्टाहृताः। भागवित्तस्य गोत्रापत्यं भागवित्तिः। भागवित्तेर्युवापत्यं भागवित्तिकः। 'वृद्धाद् ठक् सौवीरेषु बहुल' मिति ठक्। शैषिकविवक्षायां यूनि विहितस्य ठको लुक्। तत इञन्तादण्। भागवित्तिकस्य यूनश्छात्रा भागवित्ताः। तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः। तैकायनेर्युवापत्यम्। फेश्छचेति छः। तैकायनीयः। तस्य यूनश्छात्रास्तैकायनीयाः। यूनि विहितस्य छप्रत्ययस्य लुक्। कपिंजलादस्यापत्यं कापिंजलादिः। तस्य युवापत्यम्। कुर्वादित्वाण् ण्यः। कापिंजलाद्यः। तस्य यूनश्छात्रा इति यूनि विहितस्य ण्यप्रत्ययस्य लुक्, तत इञन्तादण्। कापिंजलादाः। ग्लुचुकस्य गोत्रापत्यम्। प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलमिति फिन्। ग्लुचुकायनिः। तस्य युवापत्यमित्यण्। ग्लौचुकायनस्य यूनश्छात्रा इति यूनि विहितस्याणो लुक्। ततोऽवृद्धत्वादणेव ग्लौचुकायनाः। अचीति किम्। फाण्टाहृतादागतं फाण्टाहृतरूप्यम्। फाण्टाहृतमयम्। प्राग्दीव्यत इति किम्। भागवित्तिकाय हितम्। भागवित्तिकीयम्। अत्र युवप्रत्ययस्य लुङ् न भवति॥ ९०॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'प्राग्दीव्यतः, अचि' पदों की अनुवृत्ति आती है। जब प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा होवे, तब युवापत्य अर्थ में विहित तद्धित संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। और लुक् होने के पश्चात् जो भी प्रत्यय प्राप्त होगा, वही होगा। जैसे—फाण्टाहृतस्य गोत्रापत्यं फाण्टाहृतिः। तस्य युवापत्यम्, इस अर्थ में फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ (४।१।१५०) सूत्र से ण प्रत्यय होकर 'फाण्टाहृताः' प्रयोग बना। तत्पश्चात् 'फाण्टाहृतस्य यूनः छात्राः' उस शैषिक अर्थ की विवक्षा में (बुद्धिस्थ करने पर ही) युवापत्य अर्थ में विहित 'ण' प्रत्यय का लुक् इस सूत्र से हो जायेगा। और ण प्रत्यय के लुक् होने पर इञ्-प्रत्ययान्त फाण्टाहृति शब्द से 'इञश्च' (४।२।१११) सूत्र से 'अण्' होकर 'फाण्टाहृताः' प्रयोग बनेगा। इसी प्रकार भागवित्तस्य गोत्रापत्यं भागवित्तिः। भागवित्तेर्युवापत्यं भागवित्तिकः 'वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्' (४।१।१४८) सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय हुआ है। और फिर शैषिक प्रत्यय की विवक्षा में युवापत्य में विहित ठक् का लुक् होने पर इञन्त से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। भागवित्तिकस्य यूनश्छात्रा भागवित्ताः। तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः। तैकायनेर्युवापत्यं 'फेश्छ च' (४।१।१४९) सूत्र से 'छ' प्रत्यय होकर—तैकायनीयः। तस्य यूनश्छात्रास्तैकायनीयाः। यहाँ शैषिक प्रत्यय की विवक्षा में युवापत्य में विहित 'छ' प्रत्यय का लुक् होने पर 'वृद्धाच्छः' (४।२।११३) सूत्र से वृद्ध प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय हुआ है। कापिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः। तस्य युवापत्यं कापिञ्जलाद्यः। यहाँ कुर्वादि होने से ण्य प्रत्यय हुआ। तत्पश्चात् 'तस्य यूनश्छात्राः' शैषिक प्रत्यय की विवक्षा में ण्य प्रत्यय का लुक् होने पर इञन्त होने से 'अण्' प्रत्यय होकर 'कापिञ्जलादाः' रूप बनेगा। ग्लुचुकस्य गोत्रापत्य ग्लुचुकायनिः। यहाँ 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' (४।१।१६०)

सूत्र से 'फिन्' प्रत्यय हुआ। तस्य युवापत्यं ग्लौचुकायनः। यहाँ युवापत्य में 'अण्' प्रत्यय हुआ। तत्पश्चात् शैषिक प्रत्यय की विवक्षा में—ग्लौचुकायनस्य यूनश्छात्राः युवापत्य में विहित अण् का लुक् और वृद्धसञ्ज्ञा न होने से सामान्य 'अण्' प्रत्यय होकर 'ग्लौचुकायनाः' रूप बनेगा। यहाँ सूत्र में 'अचि' ग्रहण इसलिए है—फाण्टाहृतादागत फाण्टाहृतरूप्यम्। फाण्टाहृतमयम्। यहाँ अजादि प्रत्यय न होने से लुक् नहीं हुआ। और 'प्राग्दीव्यतः' का ग्रहण इसलिए है कि भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम्। यहाँ प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय न होने से युव प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ॥९०॥

फक्फिञोरन्यतरस्याम्॥९१॥

यूनि लुगित्यनुवर्त्तते। अचीति च। फक्फिञोः—६।२। अन्यतरस्याम् [अ०]। प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वसूत्रेण नित्ये प्राप्ते विभाषा। अजादि प्रागदीव्यतीयप्रत्ययविवक्षायां यूनि विहितयोः फक् फिञोर्विकल्पेन लुग् भवति। गार्ग्यस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। तस्य यूनश्छात्रा गार्गीयाः। गार्ग्यायणीयाः। वात्सीयाः। वात्स्यायनीयाः। अत्र यञन्ताद् यूनि विहितस्य फको लुक्। यस्कस्य गोत्रापत्यमिति शिवादित्वादण्। यास्कस्य युवापत्यमित्यणो द्व्यच इति फिञ् यास्कायनिः। तस्य यूनश्छात्रा यास्कीयाः। यास्कायनीयाः॥९१॥

भाषार्थ—यहाँ 'यूनि लुक्, अचि' पदों की अनुवृत्ति आती है। पूर्वसूत्र से नित्यलुक् प्राप्त होने से यह प्राप्तविभाषा सूत्र है। प्राग्दीव्यतीय अर्थ में अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युवापत्य में विहित फक् और फिञ् प्रत्ययों का विकल्प से लुक् होता है जैसे—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। तस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। तस्य यूनश्छात्रा गार्गीयाः। गार्ग्यायणीयाः। वात्सीयाः। वात्स्यायनीयाः। यहाँ यञन्त से युवापत्य में विहित 'फक्' प्रत्यय का शैषिक की विवक्षा में लुक् हो गया। फिञ्—यस्कस्य गोत्रापत्यं यास्कः। यहाँ शिवादि होने से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। यास्कस्य युवापत्यं यास्कायनिः। यहाँ 'अणो द्व्यचः' (४।१।१५६) सूत्र से फिञ्। तत्पश्चात् युवापत्य में तस्य यूनश्छात्रा यास्कीयाः। यास्कायनीयाः। यहाँ विकल्प से 'फिञ्' का लुक् हुआ है॥९१॥

तस्यापत्यम्॥९२॥

समर्थानां प्रथमाद्वेत्यनुवर्त्तते। तस्य —६।१। अपत्यम् —१।१। तस्येति प्रकृत्यर्थ-विशेषण सम्बन्धे षष्ठी। अपत्येन सह कार्यकारण-सम्बन्धः। अपत्यमित्युत्पन्नस्य कार्यस्य ग्रहणम्। न तु लिङ्गप्रधाननिर्देशस्त्रिलिङ्गस्य ग्रहणं भवति। अपत्यमत्र प्रत्ययार्थः। समर्थानां प्रथमासमर्थात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकादपत्ये प्रत्ययार्थे यस्माद् यः प्राप्नोति तस्मात् स प्रत्ययो भवति। अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतम्। दैव्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः। उपगोरपत्यमौपगवः।

का०— तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत्।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम्॥ १॥

तस्येदमिति सामान्यसम्बन्धेऽपत्येऽप्यण् भविष्यति। पुनरणप्रत्ययस्य ये बाधकास्तेषां बाधनार्थं सूत्रमिदम्। तस्येदमिति सामान्यसम्बन्धः शैषिकेषु वर्त्तते। तत्रापत्यसम्बन्धेऽपि वृद्धेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययः स्यात्तद् बाधनार्थं सूत्रमिदम्। भानोरपत्यं भानवः। श्यामगोरपत्यं श्यामगवः। यद्ययं संदेहः स्याद् अशैषिकोऽयं योगः शैषिकं कथं बाधेतेति। 'उत्सर्गः शेष एवासौ'। असौ तस्यापत्यमित्युत्सर्गः शेष एव वृद्धेभ्यश्छं बाधित्वाऽपत्येऽण् स्यादिति सूत्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ ९२॥

भाषार्थ—यहाँ ' समर्थानां प्रथमाद्वा' की अनुवृत्ति है। 'तस्य' पद में प्रकृत्यर्थ विशेषण सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है। प्रकृत्यर्थ का अपत्य के साथ कार्य कारण सम्बन्ध है। 'अपत्यम्' पद से यहाँ उत्पन्न कार्य का ग्रहण है।

'तस्य' पद में लिङ्ग का प्रधानता से निर्देश नहीं है, किन्तु तीनों लिङ्गों का ग्रहण होता है। 'अपत्यम्' इससे प्रत्ययार्थ का निर्देश किया गया है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में यथाविहित 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं। जैसे—अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतम्। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौस्नः। उपगोरपत्यम् औपगवः।

का०— तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत्।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम्॥ १॥

'तस्येदम्' (अ० ४।३।११९) सूत्र से सामान्य सम्बन्ध में प्रत्यय का विधान किया है। उसी सूत्र से अपत्यार्थ में भी 'अण्' प्रत्यय हो जायेगा, फिर इस सूत्र को किसलिए बनाया है? इसका उत्तर यह है—बाधनार्थं कृतं भवेत्। अर्थात् 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र सामान्य सम्बन्ध का बोधक होने से शैषिकाधिकार में भी प्रवृत्त होता है। और शैषिकाधिकार में जो जो सूत्र अण् प्रत्यय के अपवाद हैं, उनकी प्राप्ति में भी 'अण्' प्रत्यय ही हो, इसलिये यह सूत्र बनाया है। जैसे—भानोरपत्य भानवः। श्यामगोरपत्यं श्यामगवः। इन वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से 'छ' प्रत्यय न हो, 'अण्' ही हो, इसीलिये यह सूत्र बनाया है।

यदि यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि यह 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) शेषाधिकार में न होने से अशैषिक है, फिर यह शेषाधिकार के प्रत्ययों का बाधक कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि—'उत्सर्गः शेषः एवासौ', अर्थात् यह 'तस्यापत्यम्' सूत्र सामान्य सूत्र है। प्रकृतिविशेष से सम्बद्ध न होने से विशेष प्रकृतियों से विहित प्रत्ययों का सामान्यसूत्र शेष ही रहता है। और 'वृद्धान्यस्य प्रयोजनम्' अर्थात् जो वृद्ध संज्ञक भानु आदि प्रातिपदिक हैं, उन से 'छ' प्रत्यय का अपत्यार्थ में बाधन करके 'अण्' प्रत्यय करना ही इस सूत्र का प्रयोजन है॥ ९२॥

एको गोत्रे॥ ९३॥

पौत्रप्रभृतेरपत्यस्य गोत्रसंज्ञां वक्ष्यति। अपत्यं च प्रत्ययार्थः। गोत्रसंज्ञा च

समुदायस्य। तत्रैकैकस्य विवक्षायामेकैकोऽपत्येन युज्यते। एवं येषामसंख्यातानां गोत्रसंज्ञा सर्वे तेऽपत्ययुक्ता भवन्ति। तत्र सर्वेभ्य उत्पादयितृभ्यो गोत्रे प्रत्ययो मा भूदिति सूत्राशयः। एकः —१।१। गोत्रे —७।१। एकशब्दोऽत्र पुरुषविशेषणो मुख्यवाची। यत आरभ्य गोत्रस्य प्रवृत्तिस्तत्र गोत्रादौ यस्मात् पुरुषाद् गोत्रारम्भो भवति स गोत्र एकः प्रथमो वा। एकः प्रथमो मुख्यः श्रेष्ठतमः प्रथमादिपुरुषो गोत्रे प्रत्ययमुत्पादयेन्न तु यावन्तो गोत्रे भवन्ति तेभ्यः। यथा—वसिष्ठशब्दः परमप्रकृतिस्तस्मादेव गोत्रप्रत्ययः स्यात्। तेन वसिष्ठ-शब्देनासंख्यातान्यपत्यानि गृहीतानि भवन्ति। वसिष्ठकुले तस्य पौत्रादयो मुख्याः श्रेष्ठतमा अपि स्युस्तथापि गोत्रे प्रत्ययोत्पत्तिर्वसिष्ठादेव। अनन्तरापत्ये त्वन्येभ्योऽपि भवतीत्येको गोत्र इति सूत्रेण नियमः क्रियते। एवं प्रकृतिनियमे यदि प्रत्ययान्तेभ्यः पुनर्गोत्रे प्रत्ययः स्यात् तर्हि प्रकृतिनियमे प्रत्ययान्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वान्न भविष्यति। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गोत्रनियमः किमर्थः। गर्गस्यानन्तरापत्यं पुत्रो गार्गिः। अदन्तत्वाद् इञ् यथा स्यात्॥ ९३॥

भावार्थ—'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' (४।१ १६२) सूत्र से गोत्रसंज्ञा का विधान आगे किया है और अपत्य प्रत्यय का अर्थ है। अपत्य समुदाय की गोत्र संज्ञा की है। एक एक अपत्य की विवक्षा में पृथक् पृथक् प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जिन असंख्यातों की गोत्र संज्ञा होगी, वे सभी अपत्ययुक्त होते हैं, इसलिये सभी उत्पादकों से गोत्र में प्रत्यय न हो, एक मूलप्रकृति से ही गोत्र में प्रत्यय हो, यह सूत्र का प्रयोजन है। यहाँ सूत्र में एक शब्द मुख्यवाची है, अतः मुख्यपुरुष का विशेषण है। जिस पुरुष से सर्वप्रथम गोत्र का आरम्भ होता है, वह प्रथम मुख्य पुरुष है। गोत्र अर्थ में जो प्रथम मुख्य आदिपुरुष हो उसी से प्रत्यय हो, न कि गोत्र में जितने भी उत्पादक हों उन सब से। जैसे—वसिष्ठ शब्द प्रथम परम प्रकृति है, गोत्र अर्थ में उसी से प्रत्यय हो। उस वसिष्ठ शब्द से असंख्य अपत्यों का ग्रहण होता है। वसिष्ठ के कुल में पौत्रादि कितने भी श्रेष्ठतम अपत्य हों, फिर भी गोत्र में प्रत्ययोत्पत्ति वसिष्ठ से ही होगी। अनन्तरापत्य में तो दूसरी प्रकृतियों से भी प्रत्यय होते हैं। यह सूत्र इस नियम को बताता है।

यदि यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि आपने प्रथमप्रकृति का नियम बनाया है। क्या प्रत्यय करने के बाद प्रकृत्यन्तर होने से गोत्र में प्रत्यय हो सकता है? क्योंकि आपने भिन्न प्रकृति का निषेध तो नहीं किया है। इसका उत्तर यह है कि जो प्रत्ययान्त प्रकृत्यन्तर होगी, वह प्रथम प्रकृति न होने से गोत्र में प्रत्ययोत्पन्न नहीं कर सकती। जैसे—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गोत्र का नियम किसलिए किया है? गर्गस्यानन्तरापत्यं पुत्रो गार्गिः। यहाँ अदन्त होने से 'इञ्' प्रत्यय हुआ है॥ गोत्र में विहित यञ् नहीं॥ ९३॥

गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्॥ ९४॥

अयमपि नियामको योगः। गोत्रात् —५।१। यूनि ७।१। अस्त्रियाम् —७।१। प्रथमाप्रकृतिर्गोत्रे प्रत्ययमुत्पादयति। तस्माद् गोत्रप्रत्ययान्ताद्

द्वितीयस्याः प्रकृतेर्यूनि प्रत्ययान्तरं भवति। अस्त्रियाम्-स्त्रीलिंगे युवापत्ये गोत्रप्रत्ययान्ताद् यूनि प्रत्ययो न भवति। गार्ग्यस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। दाक्षायणः। औपगविः। अस्त्रियामिति किमर्थम्। गार्गी। वात्सी। दाक्षी। औपगवी। युवसंज्ञा च गोत्रान्तर्हिता भवति। अर्थात् सामान्येन गोत्रसञ्ज्ञा विशेषत्वेन युवसंज्ञा च। एतत् संज्ञाद्वयं वक्ष्यते, तत्र व्याख्यास्यामः॥ ९४॥

भावार्थ—यह सूत्र नियमार्थ है। गोत्र अर्थ में प्रथम मुख्य प्रकृति से प्रत्यय होता है। और गोत्र प्रत्ययान्त द्वितीय प्रकृति से ही युवापत्य में दूसरा प्रत्यय होवे, परन्तु स्त्रीलिंग युवापत्य में गोत्रप्रत्ययान्त से प्रत्यय न होवे। जैसे—गार्ग्यस्य युवापत्य गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। दाक्षायणः। औपगविः। यहाँ 'अस्त्रियाम्' का ग्रहण इसलिये किया है कि [गर्गस्यापत्य चतुर्थस्त्री] गार्गी। वात्सी। दाक्षी। औपगवी। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त से स्त्री प्रत्यय हुआ है। इनमें 'अत इञ्' (४।१।९५) सूत्र से 'इञ्' और 'इतो मनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ है। गोत्र और युव संज्ञाओं में गोत्र संज्ञा सामान्य रूप से है और युव सञ्ज्ञा विशेष रूप से है। अतः युव संज्ञा गोत्र संज्ञा के अन्तर्हित ही है। इन दोनों संज्ञाओं का व्याख्यान इसी पाद में आगे किया जाएगा॥ ९४॥

अत इञ्॥ ९५॥

तस्यापत्यमित्यनुवर्त्तते। अण् उत्सर्गस्तस्यायमपवादः। अतः —५।१। इञ्—१।१। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाददन्तात् प्रातिपदिकाद् अपत्यमात्रे इञ् प्रत्ययो विकल्पेन विधीयते। पक्षे विकल्पाधिकारेण सर्वत्र वाक्यमेवभवति। देवदत्तस्यापत्यं दैवदत्तिः। याज्ञदत्तिः। दाक्षिः। प्लाक्षिः। औपगविः। यथा-सम्भवमपत्यानि योजनीयानि। क्वचिदनन्तरापत्ये क्वचिद् गोत्रापत्ये क्वचिद् युवापत्येऽपीञ् भवत्येव। तपरकरणं किमर्थम्। कीलालपाः। सोमपाः। इत्यादिभ्यो मा भूत॥ ९५॥

भावार्थ—यहाँ 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) की अनुवृत्ति है। यह सूत्र सामान्य 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ अदन्त प्रातिपदिकों से अपत्य मात्र में विकल्प से 'इञ्' प्रत्यय होता है। पक्ष में विकल्प के अधिकार से सब सूत्रों में वाक्य ही रहता है, यह जानना चाहिए। जैसे—देवदत्तस्यापत्यं दैवदत्तिः। याज्ञदत्तिः। दाक्षिः। प्लाक्षिः। औपगविः। इन उदाहरणों में यथासम्भव गोत्र, युवापत्यादि अर्थ लगाने चाहिएँ। कहीं अनन्तरापत्य में, कहीं गोत्रापत्य में और कहीं युवापत्य में भी 'इञ्' प्रत्यय होता है। सूत्र में तपरकरण किसलिये किया है? कीलालपाः। सोमपाः। इत्यादि से 'इञ्' प्रत्यय न होवे॥ ९५॥

बाह्वादिभ्यश्च॥ ९६॥

बाह्वादिभ्यः —५।३। च [अ०] समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यो गणपठितेभ्यो बाह्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यमात्रे विकल्पेन इञ् प्रत्ययो भवति। बाहोरपत्यं बाहविः। औपबाहविः। बाह्वादिषु यानि प्रातिपदिकानि

नकारान्तानि पठ्यन्ते तेभ्यः पूर्वसूत्रेणाप्राप्त इञ् विधीयते। यानि ह्यकारान्तानि तेभ्य ऋष्यन्धकेत्यण् प्राप्तः स बाध्यते।

अथ बाह्वादिगणः—बाहु। उपबाहु।[1] उपवाकु। निवाकु। शिवाकु। वटाकु। उपबिन्दु। वृक। वृषली। चूडाला। बलाका। मूषिका। कुशला। भगला। छगला। ध्रुवका। ध्रुवका। सुमित्रा। दुर्मित्रा। पुष्करसत्। अनुहरत्। देवशर्म्मन्। अग्निशर्म्मन्। कुनामन्। सुनामन्। पंचन्। सप्तन्। अष्टन्। अमितौजसः सलोपश्च॥ सुधावत्। उदञ्चु। शिरस्। माष। शराविन्। मरीचि। क्षेमभद्रिन्। क्षेमवृद्धिन्। शङ्खलातोदिन्। खरनादिन्। नगरमर्दिन्। प्राकारमर्दिन्। लोमन्। अजीगर्त्त। कृष्ण। सलक। युधिष्ठिर। अर्जुन। साम्ब। गद। प्रद्युम्न। राम॥ उदङ्कः संज्ञायाम्॥ संभूयोऽम्भसोः सलोपश्च॥ निवाकु। अवाकु। चूडा। वृकला। भद्रशर्म्मन्। सुशर्म्मन्। सुधावन्। आकृतिगणोऽयं बाह्वादिः[1]। तेनान्येभ्योऽपीञ् दृश्यते। जाम्बिः। ऐन्द्रशर्मिः। आजधेनविः। आजबन्धविः। औडुलौमिः॥ इति बाह्वादिगणः॥

वा०— बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं गोत्रभावे लौकिके ततोऽन्यत्र तेषां प्रतिषेधः॥ १॥

इत आरभ्यापत्याधिकारे सर्वत्र वार्तिकस्यास्य प्रवृत्तिः। येभ्योऽपत्ये प्रत्यया विधीयन्ते तेषु बाह्वादिप्रभृतिषु प्रातिपदिकेषु येषां प्रातिपदिकानामादितो लोकप्रसिद्धे गोत्रभावे गोत्रे प्रथमप्रकृतौ प्रधानपुरुषे प्रत्यया विधीयन्ते। आदिप्रधानो बाहुशब्दस्तस्यापत्यं बाहविः। बाहविर्गोत्रेऽन्यस्य कस्यचिद् बाहुर्नाम स्यात् तस्मादणेव स्यादिति वार्तिकाशयः। बाहवः। एवं नडस्यापत्यं नाडायनः। यो हि नडो नाम तस्यापत्यं नाडिः॥ १॥

वा०—सम्बन्धिशब्दानां तत्सदृशात् प्रतिषेधः॥ २॥

इतोऽग्रे सम्बन्धिशब्देभ्यो ये प्रत्यया विधीयन्ते ते संबन्धिशब्दा यदि संज्ञावाचिनः स्युस्तर्हि तेभ्य औत्सर्गिकावेवाण्-इञौ प्रत्ययौ भवतः। यथा श्वशुरस्य सम्बन्धिनोऽपत्यं श्वशुर्य्यः। यो हि श्वशुरो नाम श्वाशुरिस्तस्य भवति। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। यो हि भ्राता नाम भ्रात्रस्तस्य भवति॥ ९६॥

भाषार्थ—समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ बाहु आदि गणपठित प्रातिपदिकों से अपत्यमात्र में विकल्प से 'इञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—बाहोरपत्यं बाहविः। औपबाहविः। बाह्वादिगण में जो नकारान्त प्रातिपदिक हैं उनसे पूर्वसूत्र से अप्राप्त में 'इञ्' प्रत्यय का विधान किया है। और जो अकारान्त शब्द पढ़े हैं, उनसे 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) सूत्र से जो 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है उसके बाधन के लिये 'इञ्' का विधान किया है।

वा०— बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं गोत्रभावे लौकिके ततोऽन्यत्र तेषां प्रतिषेधः॥ १॥

---

१ यह बाह्वादि आकृतिगण है। महर्षिदयानन्द ने (४।१।१५३) सूत्रभाष्य में और महाभाष्य के टीकाकार कैय्यट ने (उदीचामिञ्) सूत्रभाष्य में आकृतिगण माना है॥ (सं०

यहाँ से लेकर अपत्याधिकार के समस्त सूत्रों में इस वार्तिक की प्रवृत्ति होती है। इस वार्त्तिक का अभिप्राय यह है कि इस सूत्र से लेकर अपत्याधिकार में जिन प्रातिपदिकों से अपत्य विधान किये हैं, वे लोकप्रसिद्ध गोत्रों में प्रथम मुख्य प्रधानपुरुष मूल प्रकृति से ही होते हैं। जैसे—मूलप्रकृति 'बाहु' शब्द से प्रत्यय हुआ—बाहोरपत्यं बाहविः। और उस बाहविगोत्र में उत्पन्न कालान्तर में किसी व्यक्ति का यदि बाहुनाम है, तो उससे 'इञ्' प्रत्यय नहीं होगा, अण् ही होगा। जैसे—बाहवः। इसी प्रकार—नडस्यापत्यं नाडायनः। कालान्तर में उस गोत्र में यदि किसी का नाम नड है तो उससे सामान्य इञ् ही होगा—यो हि नडो नाम तस्यापत्यं नाडिः।

वा०—सम्बन्धि-शब्दानां तत्सदृशात् प्रतिषेधः॥ २॥

इससे आगे के सूत्रों में सम्बन्धी वाचक शब्दों से जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे सम्बन्धीवाचक शब्द यदि संज्ञावाची हों तो उनसे वे प्रत्यय न हों उनसे सामान्य अण् इञ् प्रत्यय ही हों जैसे—'राजश्वशुराद् यत्' (४।१।१३७) सूत्र से—श्वशुरस्य सम्बन्धिनोऽपत्यं श्वशुर्य्यः। यहाँ श्वशुर शब्द से 'यत्' प्रत्यय हुआ। किन्तु यदि किसी व्यक्ति का 'श्वशुर' नाम ही हो, उससे यत् नहीं होगा। जैसे—श्वशुरो नाम कश्चित्। तस्यापत्यं श्वाशुरिः। यहाँ सामान्य 'इञ्' प्रत्यय ही होवे। इसी प्रकार—'भ्रातुर्व्यच्च' (४।१।१४४) सूत्र से 'भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः' व्यत् प्रत्यय हो गया। और जिसका 'भ्राता' नाम ही हो, उससे 'अण्' प्रत्यय होकर 'भ्रातुरपत्य भ्रात्रः' ही रूप होगा॥ ९६॥

सुधातुरकङ् च॥ ९७॥

सुधातुः—६।१।अकङ्—१।१।च [अ०] सुधातृशब्दादपत्यसामान्ये इञ् प्रत्ययस्तत्संनियोगेन सुधातृशब्दस्याकङादेशश्च भवति। ङित्वाद् अन्त्यस्य ऋकारस्य स्थाने भवति। सुधातुरपत्यं सौधातकिः॥

वा०—व्यास-वरुड-निषाद-चण्डाल-बिम्बानामिति वक्तव्यम्॥ १॥

व्यासादिभ्य इञ् तस्मिंश्चैतेषामकङादेशः वैयासकिः शुकः। वारुडकिः। नैषादकिः। चाण्डालकिः। बैम्बकिः॥ ९७॥

भावार्थ—समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'सुधातृ' प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय-संनियोग से सुधातृ शब्द को 'अकङ्' आदेश होता है। आदेश के ङित् होने से 'ङिच्च' (१।१।५२) सूत्र से अन्त्य ऋकार के स्थान पर 'अकङ्' आदेश होता है। जैसे—सुधातुरपत्यं सौधातकिः।

वा०—व्यास वरुड-निषाद-चण्डाल-बिम्बानामिति वक्तव्यम्॥ १॥

व्यास आदि प्रातिपदिकों से अपत्यसामान्य में 'इञ्' प्रत्यय और 'अकङ्' आदेश होवे। जैसे—वैयासकिः शुकः। वारुडकिः। नैषादकिः। चाण्डालकिः। बैम्बकिः। इन शब्दों के अदन्त होने से ही इञ् प्रत्यय प्राप्त था, आदेश के लिए वार्त्तिक में पाठ किया है॥ ९७॥

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्॥ ९८॥

तस्यापत्यमित्यनुवर्त्तते। गोत्रे —७।१। कुञ्जादिभ्यः —५।३। च्फञ् —१।१। कृतसंज्ञो गोत्रशब्दोऽत्र गृह्यते। कुञ्जादीनामदन्तत्वादिञ् प्राप्तस्तस्यायमपवादः। कुञ्जादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रेऽभिधेये च्फञ् प्रत्ययो भवति। च्फञन्तात् स्वार्थे ञ्यप्रत्ययो विधीयते। तस्य च तद्राजसंज्ञा भवति। तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य बहुवचने लुक्। कुञ्जस्य गोत्रापत्यं कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। कौञ्जायनाः। ब्राध्नायन्यः। ब्राध्नायन्यौ। ब्राध्नायनाः। गोत्र इति किम्। कुञ्जस्यानन्तरापत्यं कौञ्जिः। पूर्वमुक्तं वार्त्तिकं चात्र प्रवर्त्तते। तेन कुञ्जादिभ्यः परमप्रकृतिभ्य आदिपुरुषेभ्य एव च्फञ् भवति। अन्यत्र सामान्यात् कुञ्जसंज्ञकाद् औत्सर्गिक एव। कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जिः। च्फञ्-प्रत्यये चकारः स्वरार्थः। ञकारोऽनुबन्धो वृद्ध्यर्थश्च।

अथ कुञ्जादयः—कुञ्ज। ब्रध्न। शङ्ख। भस्मन्। गण। लोमन्। शठ। शाक। शाकट। शुण्डा। शुभ। विपाश। स्कन्द। स्कम्भ। शुम्भ। शिव। शुभंया। इति कुञ्जादिगणः॥ ९८॥

भाषार्थ—यहाँ 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। कुञ्जादि शब्दों के अदन्त होने से यह सूत्र 'इञ्' का अपवाद है। यहाँ गोत्र शब्द से पारिभाषिक गोत्र का ग्रहण है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गणपठित कुञ्जादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में 'च्फञ्' प्रत्यय होता है। च्फञ् प्रत्ययान्तों से स्वार्थ में 'व्रातच्फञो०' (५।३।११३) सूत्र से 'ञ्य' प्रत्यय का विधान किया है। और तद्राज संज्ञा होने से उस 'ञ्य' प्रत्यय का बहुवचन में लुक् हो जाता है। जैसे—कुञ्जस्य गोत्रापत्यं कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। कौञ्जायनाः। ब्राध्नायन्यः। ब्राध्नायन्यौ। ब्राध्नायनाः। इत्यादि।

यहाँ 'गोत्रे' इसलिए कहा है कि कुञ्जस्यानन्तरापत्यं कौञ्जिः। यहाँ अनन्तरापत्यं में 'च्फञ्' प्रत्यय न हो। यहाँ पूर्वोक्त 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) सूत्र में कथित 'येषां दर्शनं गोत्रभावे०' वार्त्तिक की प्रवृत्ति होती है, इसलिए कुञ्जादि प्रथम प्रकृतियों=आदि पुरुषों से ही 'च्फञ्' प्रत्यय होता है। गोत्र प्रवर्त्तकों से अन्यत्र संज्ञावाचक कुञ्जादि से सामान्य प्रत्यय ही होता है। जैसे—कुञ्जस्यापत्य कौञ्जिः। 'च्फञ्' प्रत्यय में चकार स्वरार्थ है और ञकार अनुबन्ध वृद्धि के लिए है॥ ९८॥

नडादिभ्यः फक्॥ ९९॥

गोत्रग्रहणमनुवर्त्तते। नडादिभ्यः —५।३। फक् —१।१। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यो नडादिगणप्रातिपदिकेभ्यो गोत्रेऽभिधेये फक् प्रत्ययो भवति। नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः। चारायणः। गोत्र इति किम्। नडस्यानन्तरापत्यं नाडिः पुत्रः। चारिः पुत्रः॥

अथ नडादयः—नड। चर। बक। मुञ्ज। इतिक। उपक। एक। लमक॥

शलंकु शलंकञ्च॥ समल। सम्नल। वाजप्य। तिक॥ अग्निशर्म्मन् वृषगणे॥ प्राण। नर। सायक। दास। मित्र। द्वीप। पिङ्गर। पिङ्गल। किङ्कर। किङ्कल। कानूर। कातर। कातल। काश्य। काश्यप। काव्य। अज। अमुष्य॥ कृष्णारणौ ब्राह्मणवसिष्ठयोः॥ अमित्र। लिगु। चित्र। कुमार॥ क्रोष्टुः क्रोष्टं च॥ लोह। दुर्ग। स्तम्भ। शिंशपा। अग्र। तृण। शकट। सुमनस्। सुमत। मिमत। ऋक्। जत्। जलंधर। अध्वर। युगन्धर। हंसक। दण्डिन्। हस्तिन्। पिण्डि। पञ्चाल। चमसिन्। सुकृत्य। स्थिरक। ब्राह्मण। चटक। बदर। अश्वल। अश्वक। खरप। लङ्क। इन्ध। अस्त्र। कामुक। ब्रह्मदत्त। उदुम्बर। शोण। अलोह। दण्ड। मानव्य। शावक। नाप्य। अन्वजत्। अन्तजन। इत्वरा। अंशक॥ इति नडादयः॥ ९९॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गणपठित नडादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में 'फक्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र भी 'इञ्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—नडस्य गोत्रापत्य नाडायनः। चारायणः। इत्यादि। यहाँ 'गोत्रे' का ग्रहण इसलिए है कि—नडस्यानन्तरापत्यं नाडिः पुत्रः। चारिः पुत्रः यहाँ अनन्तरापत्य में 'फक्' प्रत्यय न होवे॥९९॥

हरितादिभ्योऽञः॥ १००॥

गोत्रग्रहणमनुवर्त्तते। तेनाञन्तं विशिष्यते। हरितादिभ्यः —५।३। अञः —५।१। विदाद्यन्तर्गता हरितादयः। तत्र विदादित्वाद् गोत्रेऽञ् प्रत्ययः। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठी समर्थेभ्यो गोत्रे विहितो योऽञ् प्रत्ययस्तदन्तेभ्यो हरितादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो युवापत्ये फक् प्रत्ययो भवति। अदन्तत्वादिञ् प्राप्तः स बाध्यते। हरितस्य युवापत्यं हारितायनः। कैन्दासस्यापत्यं कैन्दासायनः।

जयादित्येनात्र लिखितं गोत्रग्रहणमुत्तरार्थं तच्चिन्त्यम्॥ १००॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। और उससे अञन्त को विशेषित किया गया है। हरितादिगण विदादिगण के अन्तर्गत पठित है, इसलिए हरितादि शब्दों से विदादि में पाठ होने से गोत्र में अञ् प्रत्यय हुआ है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ हरितादि शब्दों से गोत्रापत्य में जो 'अञ्' प्रत्यय विहित किया है, तदन्त हरितादि प्रातिपदिकों से युवापत्य अर्थ में फक् प्रत्यय होता है। अदन्त होने से जो 'इञ्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। जैसे—हारितस्य युवापत्यं हारितायनः। किन्दासस्य युवापत्यं कैन्दासायनः। इत्यादि॥

इस सूत्र पर जयादित्य का यह लिखना कि 'गोत्र ग्रहण उत्तरार्थ है; चिन्त्य है॥ १००॥

यञिञोश्च॥ १०१॥

यञिञोः —६।२। च [अ०] गोत्रे विहितौ यौ यञ्-इञ्प्रत्ययौ तदन्तेभ्यः समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठी समर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो युवापत्ये फक् प्रत्ययो भवति। गार्ग्यस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। इञन्तात्—दाक्षायणः। प्लाक्षायणः। गोत्रग्रहणेन यञिञौ विशेष्येते तस्मादिह न भवति। द्वैप्यस्यापत्यं

द्वैप्यिः। सौतङ्गमेरपत्यं सौतङ्गमः॥ १०१॥

भाषार्थ—गोत्रापत्य अर्थ में जो यञ्-इञ् प्रत्ययों का विधान किया है, तदन्त समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से युवापत्य अर्थ में 'फक्' प्रत्यय होता है। जैसे—यञन्त से—गार्ग्यस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। इञन्त से—दाक्षायणः। प्लाक्षायणः। इत्यादि।

इस सूत्र में गोत्र शब्द से यञ् इञ् प्रत्ययों को इसलिए विशेषित किया है कि गोत्र में विहित यञन्त इञन्त शब्दों से ही 'फक्' प्रत्यय होवे, यहाँ न हो—द्वैप्यस्यापत्यं द्वैप्यिः। सौतङ्गमेरपत्यं सौतङ्गमः। यहाँ 'द्वैप्य' में यञ् और 'सौतङ्गमि' में इञ् प्रत्यय तो है, किन्तु गोत्रापत्य में नहीं है॥ १०१॥

शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु॥ १०२॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। शर.....दर्भात् ।५।१। भृगु.....ग्रायणेषु ।७।३। शरद्वत्-शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते तेन सामान्ये गोत्रापत्येऽञ् प्राप्तस्तस्यविशेषत्वेनापवादः। दर्भशब्दाच्चेञ् प्राप्तः स बाध्यते। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः शरद्वत्, शुनक, दर्भ, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भृगु, वत्स, आग्रायण, इत्येतेषु गोत्रापत्येष्वभिधेयेषु यथासंख्यं फक् प्रत्ययो भवति। शरद्वतो गोत्रापत्यं शारद्वतायनो भार्गवश्चेत्। शारद्वतोऽन्यत्र। शुनकस्य गोत्रापत्यं शौनकायनो वात्स्यः। शौनकोऽन्यत्र। दर्भस्य गोत्रापत्यं दार्भायणाग्रायणश्चेत्। दार्भिरित्यन्यत्र। उत्सर्गावञ्-इञावेव भवतः॥ १०२॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। सूत्रपठित शरद्वत् और शुनक शब्दों का विदादिगण में पाठ होने से सामान्य गोत्रापत्य में 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त है और दर्भ शब्द से अदन्त होने से इञ् प्रत्यय प्राप्त है, यह सूत्र दोनों का अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ शरद्वत्, शुनक और दर्भ प्रातिपदिको से क्रम से भृगु, वत्स, आग्रायण इन अपत्यविशेष अर्थ वाच्य हो तो 'फक्' प्रत्यय होता है। जैसे—शरद्वतो गोत्रापत्यं शारद्वतायनो भार्गवः। भृगु से अन्यत्र शारद्वतः। शुनकस्य गोत्रापत्यं शौनकायनो वात्स्यः। वत्स गोत्र से अन्यत्र शौनकः। दर्भस्य गोत्रापत्यं दार्भायण आग्रायणः। आग्रायण गोत्र से अन्यत्र—दार्भिः। यहाँ सामान्य 'अञ्' और इञ्' प्रत्यय ही होते हैं॥ १०२॥

द्रोण-पर्वत-जीवन्तादन्यतरस्याम्॥ १०३॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। द्रोण—जीवन्तात् —५।१। अन्यतरस्याम् [अ०] अप्राप्तविभाषेयम्। द्रोणादीनामदन्तत्वाद् इञ् प्राप्तः। फग् विकल्प्यते। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठी समर्थेभ्यो द्रोणादिप्रातिपदिकेभ्यो गोत्राऽपत्येऽभिधेये विकल्पेन फक् प्रत्ययो भवति। पक्षे इञ् भवति। महाविभाषाऽनुवर्त्तते तेन वाक्यमपि भविष्यति। द्रोणस्य गोत्रापत्यं द्रौणायनः। द्रौणिः। पार्वतायनः। पार्वतिः। जैवन्तायनः। जैवन्तिः। अस्मिन् प्रकरणे वार्त्तिकेन प्रतिपादनादादिपुरुषेभ्य एव द्रोणादिभ्यः फग् विधीयते। महाभारते यो द्रोणो बभूव तस्मान्न

भविष्यति॥ १०३॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृति है। इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है। द्रोणादि शब्दों से अदन्त होने से 'इञ्' प्रत्यय प्राप्त था, उसमें 'फक्' प्रत्यय का विकल्प किया है। समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ द्रोण, पर्वत और जीवन्त प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में विकल्प से 'फक्' प्रत्यय होता है। पक्ष में यथाप्राप्त 'इञ्' ही होता है। महाविभाषा का अधिकार होने से वाक्य भी होता है। जैसे—द्रोणस्य गोत्रापत्य द्रौणायनः। द्रौणिः। पार्वतायनः। पार्वतिः। जैवन्तायनः। जैवन्तिः।

इस प्रकरण में पूर्वोक्त (४।१।९६) वार्तिक के अनुसार गोत्र प्रवर्त्तक आदिपुरुष द्रोणादि से ही 'फक्' प्रत्यय का विधान किया है। महाभारत में जो 'द्रोण' हुए हैं, उससे फक् नहीं होता है॥ १०३॥

अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्॥ १०४॥

अनृष्यानन्तर्ये —७।१। विदादिभ्यः —५।३। अञ् —१।१। अनन्तरशब्दः समीपवाची तस्मात् स्वार्थे ष्यः प्रत्ययः। अनन्तरमेवानन्तर्य्यम्। अनृषीणामानन्तर्यमनृष्यानन्तर्यम्। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठी समर्थेभ्यो विदादिप्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽभिधेयेऽञ् प्रत्ययो भवति। विदस्य गोत्रापत्यं वैदः। और्वः। पौत्रप्रभृतेरपत्यस्य गोत्रसंज्ञा, तच्च गोत्रग्रहणमिहानुवर्त्तते। तेन ऋषिवाचिभ्यो विदादिभ्य आनन्तर्य्ये स्वयमेव न भविष्यति, पुनरनर्थकत्वादेतज्ज्ञाप्यते विदादिषु येऽनृषिवाचिनः शब्दाः पठ्यन्ते तेभ्योऽनन्तरापत्य एव प्रत्ययो भवति। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। पुत्रस्यानन्तरापत्यं पौत्रः। दौहित्रः। नानान्द्रः। गोत्र इति किम्। विदस्यानन्तरापत्यं वैदः। ऋष्यन्धकेत्यण्। स्वरे विशेषः।

अथ विदादयः—विद। उर्व। कश्यप। कुशिक। भरद्वाज। उपमन्यु। किलात। किलालप। किन्दर्भ। किदर्भ। विश्वानर। ऋषिषेण। ऋतभाग। हर्य्यश्व। प्रियक। आपस्तम्ब। कूचवार। शरद्वत्। शुनक। धेनु। गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। भोजक। भोगक। अश्वावतान। श्यामाक। श्य माक। शमिक। श्यावली। श्यापर्ण। हरित। किन्दास। वह्यस्क। अर्कलूष। वध्योष। वध्योग। विष्णुवृद्ध। प्रतिबोध। रथन्तर। रथीतर। गविष्ठिर। निषाद। मठर। शबर। अलस। मृडाकु। सृपाकु। मृद। पुनर्भू। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। परस्त्री परशुं च। शम्बक॥ इति विदादयः॥ १०४॥

भाषार्थ—'अनन्तर' शब्द समीपवाची है, उससे स्वार्थ में 'ष्य' प्रत्यय होने से 'अनन्तरमेवानन्तर्य्यम्' रूप बना है। और 'अनृषीणामानन्तर्यम् अनृष्यानन्तर्यम्' यह षष्ठी तत्पुरुष समास है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गणपठित विदादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है, परन्तु विदादिगण में अनृषिवाची=ऋषिवाची शब्दों से भिन्न पुत्रादि शब्द पठित हैं, उनसे अनन्तरापत्य अर्थ में ही 'अञ्' प्रत्यय होवे। जैसे—विदस्य गोत्रापत्यं वैदः। और्वः। इत्यादि।

पौत्रप्रभृति अपत्य की गोत्र संज्ञा ही है। और इस सूत्र में भी गोत्र शब्द की अनुवृत्ति होने से ऋषिवाची विदादि शब्दों से अनन्तरापत्य अर्थ में स्वयं ही प्रत्यय नहीं हो सकता, फिर 'अनृष्या:' इस निषेध करने से यह बताया गया है कि विदादिगण में जो अनृषिवाची शब्द पठित हैं, उनसे अनन्तरापत्य में ही प्रत्यय होता है। जैसे—पुत्रस्यानन्तरापत्यं पौत्र:। दौहित्र:। नानान्द्र:। यहाँ गोत्र ग्रहण इसलिए है कि विदस्यानन्तरापत्यं वैद:। यहाँ 'अञ्' न हो। यहाँ 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। प्रत्ययान्तर होने से स्वर में भेद हो गया है॥ १०४॥

गर्गादिभ्यो यञ्॥ १०५॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। गर्गादिभ्य: ।५।३। यञ् ।१।१। समर्थानां प्रथमेभ्य: षष्ठीसमर्थेभ्यो गणोपदिष्टगर्गादिप्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययो भवति। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्य:। वात्स्य:। गोत्र इति किम्। गार्गो, वात्स:। ऋष्यन्धकेत्यण्।

अथ गर्गादय:—गर्ग। वत्स॥ वाजाऽसे॥ असेऽसमासे। अर्थात्तदन्तविधि: प्रतिषिध्यते। तेनेह न भवति—सुवाजस्य गोत्रापत्यं सौवाजि:। संस्कृति। अज। व्याघ्रपात्। शत। विदभृत्। प्राचीनयोग। अगस्ति। पुलस्ति। चमस। रेभ। अग्निवेश। पाख। पट। शंख। शठ। शक। एक। धूम। अवट। मनस। धनञ्जय। वृक्ष। विश्वावसु। जनमान। जरमाण। लोहित। संशित। बभ्रु। वल्गु। मण्डु। गण्डु। शंकु। शंक। मक्षु। अलिंगु। लिंगु। गुहलु। गुलु। मन्तु। जिगीषु। मनु। तन्तु। मनायी। सूनु। भूत। कथक। कन्थक। ऋक्ष। तृक्ष। वरुक्ष। तलुक्ष। तनु। तण्ड। वतण्ड। कपि। कत। कुरुकत। अनडुह्। कण्व। शकल। गोकक्ष। अगस्त्य। कुण्डिनी। यज्ञवल्क। पर्णवल्क। उभय। जात। विरोहित। वृषगण। रहूगण। शण्डिल। वण। कचुलुक। मुद्गल। मुसल। जमदग्नि। पराशर। जतूकर्ण। मंत्रित। संहित। अश्मरथ। शर्कराक्ष। पूतिमाष। स्थूण। अररक। एराका। एलाका। पिङ्गल। कृश। गोलुन्द। उलूक। तितिक्ष। भिषज्। भडित। भण्डित। दल्भ। चिकित। चिकित्सित। देवहू। इन्द्रहू। एकलू। पिप्पलू। बृहदग्नि। वृदग्नि। सुलोभिन। सुलोहित। उकत्थ। कुटीपू। कुटीगु॥ इति गर्गादिगण:॥ १०५॥

भावार्थ—यहाँ भी 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गणपठित गर्गादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्य:। वात्स्य:। यहाँ गोत्रग्रहण इसलिए है कि—गर्गस्यानन्तरापत्यं गार्ग:, वात्स:। यहाँ 'यञ्' प्रत्यय न हो। यहाँ 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है॥ १०५॥

मधु-बभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयो:॥ १०६॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। मधु-बभ्र्वो: —६।२। ब्राह्मणकौशिकयो: —७।२।

बभ्रुशब्दो गर्गादिषु लोहितादिकतन्त्रेषु पठ्यते। तस्मान्नियमार्थं यञ् विधानम्। गणे पठनस्यैतत् प्रयोजनम्। गोत्रापत्ये स्त्रीलिङ्गे लोहितादिकतन्त्वात् ष्फप्रत्ययो यथा स्यात्। बाभ्रव्यायणी। समर्थानां प्रथमाभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां मधु बभ्रुशब्दाभ्यां ब्राह्मण-कौशिकयोर्गोत्रापत्याभिधेययोर्यञ् प्रत्ययो भवति। माधव्यो ब्राह्मणश्चेत्। माधव इत्यन्यत्र। बाभ्रव्यः कौशिकश्चेत्। बाभ्रव इत्यन्यत्र। गोत्र इति किम्। बाभ्रवः। माधवः॥ १०६॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। 'बभ्रु' शब्द गर्गादिगण के अन्तर्गत लोहितादि में पढा है। उससे 'यञ्' प्रत्यय प्राप्त हो था, पुनः 'यञ्' का विधान नियम करने के लिए है। और गर्गादि के अन्तर्गत लोहितादि में इस शब्द के पाठ का यह प्रयोजन है गोत्रप्रत्ययान्त इस शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्फ' प्रत्यय हो जाये। जैसे—बाभ्रव्यायणी।

समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ मधु और बभ्रु प्रातिपदिकों से क्रम से ब्राह्मण-कौशिक गोत्रापत्य वाच्य हों तो 'यञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—मधोर्गोत्रापत्य माधव्यो ब्राह्मणः जो ब्राह्मण न हो तो—माधवः। बाभ्रव्यः कौशिकः। कौशिक गोत्र से अन्यत्र—बाभ्रवः। यहाँ 'गोत्रे' का ग्रहण इसलिए है कि—बाभ्रवः। माधवः। गोत्रापत्य से अन्यत्र 'यञ्' न होवे॥ १०६॥

कपिबोधादाङ्गिरसे॥ १०७॥

कपिबोधात् —५।१।आङ्गिरसे —७।१।कपिशब्दो गर्गादिषु लोहिताद्यन्तर्गणे पठ्यते तस्मान्नियमार्थ आरम्भः। गणे पाठः पूर्ववल्लोहितादिकार्य्यार्थः। काप्यायनी। समर्थानां प्रथमाभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां कपिबोधप्रातिपदिकाभ्यामाङ्गिरसे गोत्रापत्येऽभिधेये यञ् प्रत्ययो भवति। काप्यः। बौध्यः। आङ्गिरस इति किम्। कापेयः। बौधिः॥ १०७॥

भाषार्थ—'कपि' शब्द गर्गादिगण के अन्तर्गत लोहितादिगण में पठित है, उससे यञ् सिद्ध होने पर भी यह नियमार्थ सूत्र बनाया है। और गर्गादिगण में पाठ करने का प्रयोजन पूर्वसूत्र की भाँति स्त्रीलिङ्ग में लोहितादि कार्य करने के लिए है। जैसे—काप्यायनी। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ कपि और बोध प्रातिपदिकों से आङ्गिरस गोत्रापत्य विशेष अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कपेर्गोत्रापत्यं काप्यः। बौध्यः। यहाँ 'आङ्गिरसे' का ग्रहण इसलिए है कि इससे अन्यत्र—कापेयः। बौधिः॥ १०७॥

वतण्डाच्च॥ १०८॥

आङ्गिरस इत्यनुवर्त्तते। वतण्डात् —५।१। च [अ०] वतण्डशब्दो गर्गादिषु शिवादिषु च पठ्यते। तस्मात् पुनर्यञ् विधानं स्त्रीलिङ्गे लुगर्थम्। वक्ष्यमाणसूत्रेण स्त्रीलिङ्गे आङ्गिरसगोत्रे लुग् यथा स्यात्। अस्य सूत्रस्य योगविभागः किमर्थः। वतण्डाल् लुक् स्त्रियामित्युच्यमाने शिवादिविशेषपाठादन्यस्मिन् गोत्रे शिवाद्यणेव स्यात्। कुतः। वतण्डस्य ऋषित्वादणि

सिद्धे पुनः शिवादिषु पाठस्य यञ्समुच्चयार्थत्वात्। तेनाङ्गिरसादन्ये सामान्यगोत्र यञ्-अणौ द्वावपि भवतः। वातण्ड्यः। वातण्डः। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाद् वतण्डप्रातिपदिकादाङ्गिरसे गोत्रापत्ये विकल्पेन यञ् प्रत्ययो भवति। वतण्डस्य गोत्रापत्यं वातण्ड्यः। आङ्गिरस इति किम्। वातण्ड्यः। वातण्डः। अन्यत्सर्वं पूर्वं लिखितमेव॥ १०८॥

भाषार्थ—यहाँ 'आङ्गिरसे' पद की अनुवृत्ति है। वतण्ड शब्द गर्गादि और शिवादिगण में पढ़ा है। उससे पुनः 'यञ्' का विधान स्त्रीलिङ्ग में लुक् करने के लिए है। इससे अग्रिम सूत्र से आङ्गिरस गोत्रापत्य में स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो तो लुक् का जो विधान किया है, यह फिर यञ् के विधान से सिद्ध होता है। यदि लुक् करना ही सूत्र बनाने का प्रयोजन है तो योगविभाग किसलिए किया है? 'वतण्डाल् लुक् स्त्रियाम्' ऐसा एक सूत्र ही क्यों नहीं बनाया? इस शङ्का का समाधान यह है—एक सूत्र बनाने पर आङ्गिरस गोत्र से अन्यत्र शिवादिगण में विशेष पाठ होने से 'अण्' प्रत्यय ही प्राप्त होता। क्योंकि 'वतण्ड' शब्द के ऋषिवाची होने से 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) सूत्र से ही अण् प्रत्यय प्राप्त था। फिर शिवादिगण में पाठ करने का प्रयोजन 'यञ्' प्रत्यय के समुच्चयार्थ है। इसलिए आङ्गिरस गोत्र से अन्यत्र सामान्य गोत्र में 'यञ्' और 'अण्' दोनों ही प्रत्यय हो जाते हैं—वातण्ड्यः। वातण्डः। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ वतण्ड प्रातिपदिक से आङ्गिरस गोत्रापत्य विशेष अर्थ में विकल्प से 'यञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—वतण्डस्य गोत्रापत्यं वातण्ड्यः। यहाँ आङ्गिरस गोत्रविशेष में प्रत्यय हुआ है। इससे अन्यत्र वातण्ड्यः। वातण्डः॥ १०८॥

लुक् स्त्रियाम्॥ १०९॥

आङ्गिरस इत्यनुवर्त्तते। लुक् ।१।१। स्त्रियाम् ।७।१। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपो भवन्तीति यञ्-प्रत्ययस्य लुग् भविष्यति। आङ्गिरस्यां गोत्रापत्यस्त्रियामभिधेयायां वतण्डप्रातिपदिकात् परस्य यञ्-प्रत्ययस्य लुग् भवति। वतण्डस्य गोत्रापत्यं कन्या वतण्डी। वतण्डशब्दस्य शार्ङ्गरवादिपाठान् ङीन् प्रत्ययः। आङ्गिरस इति किम्। वातण्ड्यायनी। वातण्डी॥ १०९॥

भाषार्थ—यहाँ भी 'आङ्गिरसे' पद की अनुवृत्ति है। 'प्रत्ययस्य लुक्०' (१।१।६०) सूत्र से प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा की है, इसलिए 'यञ्' प्रत्यय का ही लुक् होता है। गोत्रापत्य आङ्गिरसी स्त्रीवाच्य हो तो वतण्ड प्रातिपदिक से विहित 'यञ्' प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे— वतण्डस्य गोत्रापत्यं कन्या वतण्डी। यहाँ 'यञ्' प्रत्यय के लुक् होने पर शार्ङ्गरवादिगण में पाठ होने से 'ङीन्' प्रत्यय हुआ है। 'आङ्गिरस' गोत्र से अन्यत्र—वातण्ड्यायनी। वातण्डी। यहाँ लोहितादि में पाठ से 'ष्फ' और शिवादि में पाठ से 'अण्' प्रत्यय है॥ १०९॥

अश्वादिभ्यः फञ्॥ ११०॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। आङ्गिरस इति निवृत्तम्। अश्वादिभ्यः —५।३। फञ्

—१।१। अश्वादिषु यत् किंचित् प्रातिपदिकं प्रत्ययान्तं पठ्यते तस्माद् युवापत्ये प्रत्ययो विज्ञेयः पठनसामर्थ्यात्। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठी समर्थेभ्योऽश्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये विकल्पेन फञ् प्रत्ययो भवति। अश्वस्य गोत्रापत्यमाश्वायनः। आश्मायनः। गोत्र इति किम्। आश्विः।

अथाश्वादयः—अश्व। अश्मन्। शङ्ख। शूद्रक। विद। पुट। खर्जूर। खर्जूल। खर्जार। पिञ्जूर। पिञ्जूल। भडिल। भण्डिल। भडित। भण्डित। वस्त। प्रकृत। प्रहृत। रामोद। क्षत्र। क्षान्त ग्रीवा। काश। तीक्ष्ण। गोलाङ्क्य। अर्क। स्वन। ध्वन। स्फुट। पाद। चक्र। कुल। पूल। शुविष्ठ। पविन्द। पवित्र। गोमिन्। श्याम। धूम। धूम्र। वाग्मिन्। विश्वानर। कुट। शपाऽऽत्रेये॥ शपशब्दादात्रेये गोत्रापत्ये फञ्। जन। जड। खड। नत्त। तड। नड। ग्रीष्म। अर्ह। कित। विशम्प्य। विशाला। गिरि। चमल। चुप। घुनम। दासक। वैल्व। धर्म। प्राच्य। आनडुह्य। पुंसिजात। अर्जुन। सुमनस्। दुर्मनस्। मनस। काण। चुम्प। वीक्ष्य। आत्रेय भारद्वाजे। कुत्स। आतव। कितव। वद। धन्य। शिव। खदिर। दधिर। भरद्वाजात्रेये। पथ। कन्थु। श्रुव। सूनु। कर्कटक। रुक्ष। तरुक्ष। तलुक्ष। प्रचुल। बिलम्ब। विष्णुजा॥ इत्यश्वादिगणः॥ ११०॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। और 'आङ्गिरसे' पद निवृत्त हो गया है। इस अश्वादिगण में जो प्रत्ययान्त प्रातिपदिक पढ़े हैं, उनसे युवापत्य में और अन्यों से गोत्रापत्य में प्रत्यय होता है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ अश्वादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य अर्थ में विकल्प से 'फञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—अश्वस्य गोत्रापत्यम् आश्वायनः। आश्मायनः। इत्यादि॥ यहाँ 'गोत्रे' ग्रहण इसलिए है कि—अश्वस्यानन्तरापत्यम् आश्विः। यहाँ 'फञ्' न होवे।

यहाँ विकल्प से महाविभाषा का ग्रहण है। उससे पक्ष में वाक्य का भी प्रयोग होता है॥ ११०॥

भर्गात् त्रैगर्त्ते॥ १११॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। भर्गात् —५।१। त्रैगर्त्ते —७।१। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाद् भर्गप्रातिपदिकात् त्रैगर्त्ते गोत्रापत्ये विकल्पेन फञ् प्रत्ययो भवति। भर्गस्य गोत्रापत्यं भार्गायणस्त्रैगर्त्तश्चेत्। त्रैगर्त्त इति किमर्थम्। भार्गिः॥ १११॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' की अनुवृत्ति है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'भर्ग' प्रातिपदिक से त्रैगर्त्त गोत्रापत्य अर्थ में विकल्प से 'फञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—भर्गस्य गोत्रापत्यं भार्गायणस्त्रैगर्त्तः। 'त्रैगर्त्ते' का ग्रहण इसलिए है कि त्रिगर्त्त गोत्र से अन्यत्र 'फञ्' न हो—भार्गिः। यहाँ 'इञ्' प्रत्यय ही हो॥ १११॥

शिवादिभ्योऽण्॥ ११२॥

गोत्र इति निवृत्तम्। शिवादिभ्यः —५।३। अण् —१।१। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः शिवादिभ्यो गणप्रातिपदिकेभ्यः सामान्यापत्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। शिवस्यापत्यं शैवः। प्रौष्ठः। शिवादिभ्यः

प्रातिपदिकेभ्यो यथासम्भवं प्राप्ता इञादयः प्रत्यया बाध्यन्ते। यानि प्रातिपदिकानि शिवादिषु पठ्यन्तेऽन्यगणेऽपि तेभ्यो विधानसामर्थ्याद् द्वौ वा त्रयो वा प्रत्यया भवन्ति। यथा गङ्गाशब्दः शिवादिषु तिकादिषु च पठ्यते। विधानसामर्थ्यादुभौ भवतः। गाङ्गः। गाङ्गायनिः। प्राग्दीव्यतोऽणिति सूत्रेणाण एवाधिकारः कृतः शिवादिभ्य इत्युच्यमानेऽधिकारादणेव स्यात् पुनरण् ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—ऋषिषेणशब्दः शिवादिषु पठ्यते। तस्मात् सेनान्ताण्ण्यः प्राप्तः। उदीचामिञ् इतीञ् प्राप्तः। तौ द्वावपि बाधित्वाणेव यथा स्यात्। असत्यण्ग्रहणे पुरस्तादपवादन्यायेन ण्यप्रत्ययस्यैव बाधनं स्यात्। परत्वाद् विधानसामर्थ्याद् उदीचां मते इञ् स्यादेव। पुनरण् ग्रहणाद् उदीचां मतेऽप्यणेव भवति॥

अथ शिवादयः—शिव। प्रोष्ठ। प्रोष्ठिक। चणु। चण्ड। जम्भ। भण्डा। मुनि। सन्धि। भूरि। दण्ड। ककुभ। कुठार। भ्रम। अनभिम्लान। कोहित। सुख। ककुत्स्थ। कहोड। कोहड। कहूय। कहय। रोध। कुपिञ्जल। खंजन। वतण्ड। सृण। कर्ण। क्षीर। ह्रद। जलह्रद। परिल। पथिक। पार्षिका। पिष्ट। हेहय। खंजार। खंजाल। सुरोहिका। पर्ण। कहूष। परिषिक। जटिलिक। गोफिलिक। कपिलिक। बधिरिका। मंजीरक। वृष्णिक। खंजरि। कर्मार। रेख। लेख। आलेखन। विश्रवण। रवण। वर्त्तनाक्ष। ग्रीवाक्ष। विटप। पिटक। पिटाक। तृक्षाक। ऋक्षाक। नभाक। ऊर्णनाभ। जरत्कारु॥ पृथा उत्क्षेपे॥ पुरोहितिका। सरोहितिका। सुरोहितिका। उत्क्षिप। रोहितिक। आर्य्य। श्वेत। सुपिष्ट। खर्जूरकर्ण। मसूरकर्ण। तूनकर्ण। मयूरकर्ण। खडरक। तक्षन्। ऋषिषेण। गङ्गा। विपाशा। यस्क। लह्य। द्रुह्य। अयःस्थूण। तृणकर्ण। पर्ण। भलन्दन। विरूपाक्ष। भूमि। इला। सपत्नी। द्व्यचो नद्याः॥ नदीसंज्ञकाद् द्व्यच्प्रातिपदिकाड्ढक् प्राप्तः स बाध्यते॥ त्रिवेणी त्रिवणं च॥ त्रिवेणीशब्दो नदीनामकस्तस्मादण् प्राप्तः स बाध्यते। कम्बोध। परल। ग्रीवाक्ष। गोभिलिक। राजल। तक्षक। वडाक॥ इति शिवादयः॥ ११२॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्रे' की अनुवृत्ति नहीं है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गणपठित शिवादि प्रातिपदिकों से सामान्य अपत्य अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—शिवस्यापत्यं शैवः। प्रौष्ठः। शिवादि प्रातिपदिकों से जो इञादि प्रत्यय प्राप्त होते हैं, उनका यह अपवाद है, और जो शब्द शिवादिगण में तथा दूसरे गणों में भी पढ़े हैं, उनसे विधानसामर्थ्य से यथाप्राप्त दोनों अथवा तीनों प्रत्यय भी होते हैं। जैसे—गङ्गा शब्द शिवादि और तिकादिगण में पढ़ा है, अतः उससे दोनों प्रत्यय होते हैं—गाङ्गः। गाङ्गायनिः।

इस सूत्र में अण् का ग्रहण क्यों किया? जबकि 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) सूत्र से अण् का अधिकार किया है। यदि 'शिवादिभ्यः' इतना ही सूत्र बनाते तो अधिकार प्राप्त 'अण्' ही होता, फिर 'अण्' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है—यह बाधकों का भी बाधक है। जैसे शिवादिगण में ऋषिषेण शब्द पढ़ा है, उससे सेनान्त होने से 'ण्य' प्राप्त है। और 'उदीचामिञ्' (४।१।१५३) सूत्र से 'इञ्'

प्राप्त है। उन दोनों ही प्रत्ययों का बाधन होकर 'अण्' प्रत्यय ही हो, इसलिए सूत्र में 'अण्' का ग्रहण किया है। यदि 'अण्' का ग्रहण नहीं करते तो 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस न्याय से यह 'अण्' 'ण्य' का ही बाधक होता, उत्तरदेशीय आचार्यों के मत से प्राप्त 'इञ्' का नहीं। यहाँ फिर 'अण्' के ग्रहण करने से उनके मत में भी 'अण्' ही होता है॥ ११२॥

अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः॥ ११३॥

अण्ग्रहणमनुवर्त्तते। अवृद्धाभ्यः —५।३। नदीमानुषीभ्यः —५।३। तन्नामिकाभ्यः —५।३। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्। तस्माद् वृद्धादितराभ्यः। नदीशब्देनात्र संज्ञाया ग्रहणं नास्ति किन्तु तद्वाचिनामेव। समर्थानां प्रथमानि षष्ठीसमर्थानि नदीनां मानुषीणां मनुष्य-स्त्रीणां यानि नामधेयानि तेभ्योऽपत्यसामान्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। स्त्रीभ्यः सामान्येन ढक् प्राप्तस्तस्यायमपवादः। यमुनाया अपत्यं यामुनः। इरावत्या अपत्यमैरावतः। वीरणावत्या अपत्यं वैरणावतः। पौष्करावतः। मानुषीनामिकाभ्यः—देवदत्ताया अपत्यं दैवदत्तः। सात्यभामः। याशोदः। गौमतः। अवृद्धाभ्य इति किम्। भागीरथ्या अपत्यं भागीरथेयः। द्रौपद्या अपत्यं द्रौपदेयः। वासवदत्ता काचिन्मनुष्यस्त्री तस्या अपत्यं वासवदत्तेयः। नारायणेयः। नदीमानुषीभ्य इति किम्। सौपर्णेयः। वैनतेयः। तन्नामिकाभ्य इति किम्। सुलोचनाया अपत्यं सौलोचनेयः। अत्र यानि द्व्यच्कानि नदीमानुषीवाचीनि प्रातिपदिकानि तत्र 'द्व्यचः' इति ढकि प्राप्ते 'द्व्यचो नद्या' इति नदीवाचिभ्यस्तु ढकोऽपवादः शिवादित्वादणेव भवति। मानुषीवाचिभ्यो द्व्यच्केभ्यस्तन्नामिकाणां बाधित्वा ढग् भवत्येव॥ ११३॥

भावार्थ—यहाँ अण् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। वृद्ध संज्ञा 'वृद्धिर्यस्या०' (१।१।७३) सूत्र से ही है, उससे भिन्न अवृद्ध हैं। नदी शब्द से यहाँ नदी संज्ञा का ग्रहण नहीं है, किन्तु नदी के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ अवृद्ध=जो वृद्ध संज्ञक नहीं है, उन नदी नामों और मनुष्य स्त्री के नाम शब्दों से अपत्य सामान्य अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। स्त्रीवाचक शब्दों से 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्र से सामान्य 'ढक्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। जैसे— यमुनाया अपत्यं यामुनः। इरावत्या अपत्यमैरावतः। वीरणावत्या अपत्यं वैरणावतः। पौष्करावतः। मनुष्यस्त्री—देवदत्ताया अपत्यं दैवदत्तः। सात्यभामः। याशोदः। गौमतः। यहाँ 'अवृद्धाभ्यः' इसलिए ग्रहण किया है—भागीरथ्या अपत्यं भागीरथेयः। द्रौपद्या अपत्यं द्रौपदेयः। वासवदत्ता कोई मनुष्य-स्त्री है। वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तेयः। नारायणेयः। और 'नदीमानुषीभ्यः' का ग्रहण इसलिए है कि—सौपर्णेयः। वैनतेयः। यहाँ 'अण्' न हो। 'तन्नामिकाभ्यः' का ग्रहण इसलिए है कि सुलोचनाया अपत्यं सौलोचनेयः, यहाँ 'अण्' न हो। यहाँ यह भी ध्यान रखना है कि जो प्रातिपदिक दो अच् वाले हैं, और नदी नाम तथा मनुष्य-स्त्री वाचक भी हैं, उनसे 'द्व्यचः' (४।१।१२१) सूत्र पर विप्रतिषेध

से 'ढक्' प्रत्यय होना चाहिए। किन्तु शिवादिगण में 'द्व्यचो नद्याः' (४।१।११२) इस विशेष वचन से 'ढक्' का अपवाद अण् प्रत्यय ही होता है। और मानुष-स्त्रीवाची द्व्यच् शब्दों से तो परत्व से 'ढक्' ही होता है।

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ॥ ११४ ॥

अणित्यनुवर्त्तते। ऋष्य.....कुरुभ्यः —५।३। च। अ०। ऋष्यादयः शब्दाः सामान्यवाचिन एषां विशेषवाचिनां चात्रग्रहणम्। ऋषि, अन्धक, वृष्णि, कुरु, इत्येतद्वाचिभ्यः समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। ऋषिः—वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः। वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः—श्वफल्कस्यापत्यं श्वाफल्कः। चैत्रकः। रान्धसः। वृष्णिभ्यः—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः। बालदेवः। कुरुभ्यः—नकुलस्यापत्यं नाकुलः। साहदेवः। युधिष्ठिरार्जुनशब्दौ बाह्वादिषु पठितौ तत्राणबाधक इञ् प्रत्ययो भवति। जातसेनो नाम ऋषिः। उग्रसेन नामान्धकः। विष्वक्सेनो नाम वृष्णिः। भीमसेनो नाम कुरुः। इति चतुर्भ्यः सेनान्तप्रातिपदिकेभ्योऽनेन सूत्रेणाण् प्राप्नोति। विप्रतिषेधे परं कार्यमिति सेनान्तलक्षणो ण्य प्रत्ययो भवति विप्रतिषेधेन। जातसेन्यः। औग्रसेन्यः। वैष्वक्सेन्यः। भैमसेन्यः। सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्चेति ण्यः प्रत्ययः॥ ११४॥

भावार्थ—यहाँ 'अण्' की अनुवृत्ति है। सूत्रोक्त ऋषि आदि शब्द सामान्य वाची हैं, इस सूत्र में इनके विशेष वाचियों से प्रत्यय होता है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ ऋषि, अन्धक, वृष्णि, कुरु, इनके विशेषवाचि प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—ऋषिवाची—वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः। वैश्वामित्रः। अन्धक—श्वफल्कस्यापत्यं श्वाफल्कः। चैत्रकः। रान्धसः। वृष्णि—वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः। बालदेवः। कुरु—नकुलस्यापत्यं नाकुलः। साहदेवः।

युधिष्ठिर और अर्जुन शब्द बाह्वादिगण में पढ़े हैं, अतः 'अण्' का बाधक 'इञ्' प्रत्यय होता है। जातसेन नामक ऋषिवाची से, उग्रसेन नामक अन्धकवाची से, विष्वक्सेन नाम वृष्णिवाची से और भीमसेन नामक कुरुवाची से सेनान्त प्रातिपदिकों से इस सूत्र से 'अण्' तथा सेनान्त लक्षण 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त है। विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) इस नियम से सेनान्तलक्षण 'ण्य' प्रत्यय ही होता है। जैसे—जातसेन्यः। औग्रसेन्यः। वैष्वक्सेन्यः। भैमसेन्यः। इनमें 'सेनान्तलक्षण कारिभ्यश्च' (४।१।१५२) सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय हुआ है॥ ११४॥

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ॥ ११५ ॥

मातुः —५।१। उत् —१।१। संख्यासम्भद्रपूर्वायाः —५।१। मातृशब्दादौत्सर्गिकोऽण् सिद्ध एव पुनर्वचनमुकारादेशार्थं संख्यासंभद्रपूर्वादिति नियमार्थं च। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् संख्या, सम्, भद्र, इति शब्दत्रयपूर्वान् मातृशब्दादपत्यसामान्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति।

द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। सम्पूर्वात्—साम्मातुरः। भाद्रमातुरः। संख्या सम्भद्रपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गविशेषणत्वात् सम्बन्धशब्दस्यैव ग्रहणम्। तेनेह न भवति—धान्यसंमातुरपत्यं धान्यसंमात्रः। संख्यासम्भद्रपूर्वाया इति किम्। सौमात्रः॥ ११५॥

भाषार्थ—'मातृ' शब्द से सामान्य 'अण्' सिद्ध ही था, फिर यहाँ विधान उकारादेश करने और संख्या सभद्रपूर्वक प्रत्यय हों, इस नियम के लिए हैं। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ संख्यावाची, सम् और भद्र, ये तीन शब्द जिससे पूर्व हों, उस मातृ प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। सम्पूर्वक—साम्मातुरः। भद्रपूर्वक—भाद्रमातुरः। यहाँ 'सख्यासंभद्रपूर्वायाः' का स्त्रीलिङ्ग मातृशब्द का विशेषण होने से यहाँ सम्बन्धवाचक मातृ शब्द का ही ग्रहण है, इसलिए सम्बन्धवाचक न होने से यहाँ प्रत्यय नहीं होता—धान्यसंमातुरपत्यं धान्यसंमात्रः। 'संख्यासंभद्रपूर्वायाः' का ग्रहण इसलिए है कि—सौमात्रः। यहाँ केवल सामान्य 'अण्' ही हो॥ ११५॥

कन्यायाः कनीन च॥ ११६॥

कन्यायाः —५।१। कनीन —१।१। च [अ०]। भा०—या चेदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह सम्प्रयोगं गच्छति तस्यां कन्या शब्दो वर्त्तते। कन्यायाः कन्योक्तायाः कन्याभिमतायाः सुदर्शनाया यदपत्यं स कानीन इति।' प्रागभिसम्बन्धाद् विधिपूर्वकेण ब्राह्मादिविवाहेन विनैव पुरुषेण सह व्यभिचारं कृत्वा पुत्रमुत्पादयति तस्यां कन्या शब्दो वर्त्तते। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् कन्या प्रातिपदिकादपत्यसामान्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। अणि परतः कन्याशब्दस्य कनीनादेशश्च। कन्याया अपत्यं कानीनः॥ ११६॥

भाषार्थ—जिसका विवाह न हुआ हो, उसको कन्या कहते हैं, उसका अपत्य कैसे सम्भव है? इसका समाधान महाभाष्य में यह लिखा है—जो विवाह होने से पूर्व ही किसी पुरुष के साथ व्यभिचार से गर्भधारण कर लेवे, उसके अर्थ में यह कन्या शब्द है। उस कन्या शब्द से व्यवहृत विवाह से पूर्व किसी पुरुष से सम्पर्क करनेवाली सुदर्शना (जिसका भेद छिपा न रहा हो) का जो अपत्य है, वह कानीन कहलाता है। विधिपूर्वक ब्राह्मादि विवाह के बिना ही पुरुष के साथ व्यभिचार करके जो सन्तान उत्पन्न करती है, उसके लिए यहाँ कन्या शब्द का प्रयोग हुआ है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'कन्या' प्रातिपदिक से अपत्यसामान्य अर्थ में विकल्प से अण् प्रत्यय होता है। और प्रत्यय संनियोग से 'कन्या' शब्द को कनीन आदेश होता है। जैसे—कन्याया अपत्यं कानीनः॥ ११६॥

विकर्णशुङ्गच्छगलाद् वत्सभरद्वाजात्रिषु॥ ११७॥

विकर्ण.....गलात् —५।१। वत्स.....जात्रिषु —७।३। विकर्णादीना-मदन्तत्वादिञ् प्राप्तस्तस्यापवादः। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यो विकर्ण, शुङ्ग, छगल, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वत्स, भरद्वाज, अत्रि, इत्येतेषामपत्येषु

यथासंख्यं विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। विकर्णस्यापत्यं वैकर्णो वात्स्यः। वैकर्णिरित्यन्यत्र। शौङ्गो भारद्वाजश्चेत्। शौङ्गिरन्यत्र। छागल आत्रेयश्चेत्। छागलिरित्यन्यत्र॥ ११७॥

भाषार्थ—'विकर्ण' आदि शब्दों से अदन्त होने से 'इञ्' प्रत्यय होता है, यह उसका अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ विकर्ण, शुङ्ग, छगल, इन प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके वत्स, भरद्वाज, अत्रि, अपत्य अर्थों में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—विकर्णस्यापत्यं वैकर्णो वात्स्यः। वत्स से अन्यत्र वैकर्णिः। शौङ्गो भारद्वाजः। भरद्वाज से अन्यत्र शौङ्गिः। छागल आत्रेयः। अत्रि से अन्यत्र—छागलिः। यहाँ सर्वत्र पक्ष में 'इञ्' प्रत्यय हुआ है॥ ११७॥

पीलाया वा॥ ११८॥

पीलायाः —५।१।वा [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। पीलाशब्दो मानुषी-तन्नामकः। तस्मात्तन्नामिकाणोऽपवादो द्व्यच इति ढक् प्राप्तस्तस्यापवादोऽण् विकल्प्यते। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् पीलाशब्दादपत्यसामान्ये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। महाविभाषाऽनुवर्तते तया वाक्यमपि भवति। पीलाया अपत्यं पैलः। पैलेयः॥ ११८॥

भाषार्थ—यह अप्राप्तविभाषा है। पीला शब्द मनुष्य-स्त्री नाम होने से 'अण्' प्राप्त है और उसका अपवाद 'द्व्यचः' (४।१।१२१) सूत्र से 'ढक्' प्राप्त है, यह उसका अपवाद 'अण्' का वैकल्पिक विधान करता है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'पीला' प्रातिपदिक से अपत्यसामान्य अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। महाविभाषा का अधिकार है, उससे वाक्य भी होता है। जैसे—पीलाया अपत्य पैलः। पक्ष में ढक्—पैलेयः॥ ११८॥

ढक् च मण्डूकात्॥ ११९॥

अण् वेत्यनुवर्त्तते। ढक् —१।१। च [अ०]। मण्डूकात् —५।१। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थान् मण्डूकप्रातिपदिकाड् ढक् प्रत्ययश्चकारग्रहणाद् विकल्पेनाण् प्रत्ययः [अपत्यसामान्ये] पक्षेऽदन्तत्वादिञ् च भवति। महा-विभाषाऽनुवर्त्तते तया वाक्यमपि। मण्डूकस्यापत्यं माण्डूकेयः। माण्डूकः। माण्डूकिः। अनुवृत्त्याऽणो विकल्पत्वाद् रूपचतुष्टयम्॥ ११९॥

भाषार्थ—यहाँ 'अण् वा' पदों की अनुवृत्ति है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ मण्डूक प्रातिपदिक से अपत्यसामन्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है और चकार से विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। पक्ष में अदन्त होने से 'इञ्' प्रत्यय होता है महाविभाषा की अनुवृत्ति होने से वाक्य भी होता है। जैसे—मण्डूकस्यापत्य माण्डूकेयः। माण्डूकः। माण्डूकिः। अनुवृत्ति से 'अण्' का विकल्प होने से [वाक्यसहित] चार रूप होते हैं॥ ११९॥

स्त्रीभ्यो ढक्॥ १२०॥

स्त्रीभ्यः —५।३। ढक् —१।१। स्त्रीग्रहणेन स्त्र्यधिकारविहितानां

टाबादीनां ग्रहणम्। ढगित्यनुवर्त्तमाने पुनर्ढग्ग्रहणमण्निवृत्त्यर्थम्। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेनापत्यसामान्ये ढक् प्रत्ययो भवति। वासवदत्तेयः। नारायणेयः। जानकेयः। द्रौपदेयः। कैकेयः। गार्गेयः। वात्सेयः। स्त्रीप्रत्ययग्रहणं किम्। इह मा भूत्। उशिक्। औशिजः। दरद्। दारदः। इत्यादयोऽपि शब्दाः स्त्रीलिङ्गाः।

का०— वडवायावृषे वाच्येऽण् कुञ्चा कोकिलात् स्मृतः।
आरक् पुंसि ततोऽन्यत्र गोधाया ढ्रग् विधौ स्मृतः॥ १॥

वृषे बीजवति यूनि यौवनावस्थास्थितेऽश्वापत्येऽभिधेये वडवाशब्दाड् ढक् प्रत्ययो भवति। वाडवेयो बीजाश्वः। सामान्यापत्ये वडवाशब्दादणेव। वाडवः। कुञ्चा-कोकिलाशब्दाभ्यां स्त्रीभ्यां स्त्रीभ्यो ढक् प्राप्तस्तत्राण् विधीयते। क्रौञ्चः। कौकिलः। ततः कुञ्चाकोकिलाशब्दाभ्यामन्यत्र शब्दान्तरेभ्यः स्त्री प्रत्ययान्तेभ्यः पुंस्यभिधेये आरक् प्रत्ययो भवति। मूषिकाया अपत्यं पुमान् मौषिकारः। मृग्याः पुमान् मार्गारः । पुंसीति किम्। मौषिकेयी। मार्गेयी। गोधाशब्दाड् ढ्रक् प्रत्ययो विधावष्टाध्याय्यां स्मृतः। पुनः कथनं पुंस्यपत्ये यथा स्यात्। गोधायाः पुमान् गौधेरः। इह मा भूत्—गौधेयी॥ १॥ १२०॥

भाषार्थ—यहाँ 'स्त्री' शब्द से स्त्री-अधिकार में विहित 'टाप्' आदि प्रत्ययों का ग्रहण है और ढक् की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होने पर भी दुबारा 'ढक्' का ग्रहण 'अण्' प्रत्यय की निवृत्ति के लिए है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ स्त्री प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तेयः। नारायणेयः। जानकेयः। द्रौपदेयः। कैकेयः। गार्गेयः। वात्सेयः। स्त्री प्रत्यय का ग्रहण इसलिए किया है कि यहाँ 'ढक्' प्रत्यय न हो—उशिक्—औशिजः। दरद्—दारदः। इत्यादि शब्द स्त्रीलिंग हैं, स्त्री प्रत्ययान्त नहीं, उनसे सामान्य अण् ही होवे।

का०— वडवाया वृषे वाच्येऽण् कुञ्चा कोकिलात् स्मृतः।
आरक् पुंसि ततोऽन्यत्र गोधाया ढ्रग् विधौ स्मृतः॥ १॥

वडवा प्रातिपदिक से वृष=बीजवाले=गर्भधारण कराने में समर्थ युवावस्था में स्थित अश्वापत्य अर्थ वाच्य हो तो 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वडवाया अपत्यं वृषो वाडवेयो बीजाश्वः। सामान्यापत्य अर्थ में 'वडवा' से 'अण्' ही होता है—वाडवः। कुञ्चा, कोकिला शब्दों से 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्र से ढक् प्रत्यय प्राप्त है, उसके अपवाद 'अण्' का विधान किया है। जैसे—कुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः। कौकिलः। और अन्यत्र=कुञ्चा कोकिला शब्दों से भिन्न स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों से पुल्लिंग अपत्य अर्थ में 'आरक्' प्रत्यय होता है। जैसे—मूषिकाया अपत्यं पुमान् मौषिकारः। मृग्याः पुमान् मार्गारः। पुंसि इसलिए पढ़ा है जिससे यहाँ न हो—मौषिकेयी। मार्गेयी और गोधा शब्द से विधि अष्टाध्यायी में 'ढ्रक्' कहा है। यद्यपि 'गोधाया ढ्रक्' (४।१।१२९) पृथक् सूत्र ही है, पुनरपि

यहाँ कथन का प्रयोजन यह है कि पुल्लिंग में 'ढ्रक्' प्रत्यय हो—गोधायाः पुमान् गौधेरः, और यहाँ न हो—गौधेयी॥१२०॥

द्व्यचः॥१२१॥

स्त्रीभ्यो ढगित्यनुवर्त्तते। द्व्यचः —५।१। तन्नामिकाणोऽपवादार्थ आरम्भः। अन्यथा स्त्रीभ्यो ढगिति सिद्ध एव ढक्। स्त्री प्रत्ययान्तेभ्यः समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यो द्व्यच्कप्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेनापत्यसामान्ये ढक् प्रत्ययो भवति। दत्ताया अपत्यं दात्तेयः। गौपेयः दौर्गेयः। सीतेयः। कौन्तेयः। नदीनामिकाभ्यस्तु शिवादित्वादणेव तल्लिखितम्॥१२१॥

भावार्थ—यहाँ 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र की अनुवृत्ति है। नदी और मानुषी स्त्री नामों से जो 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। अन्यथा 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२८) से प्रत्यय सिद्ध था। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ स्त्री प्रत्ययान्त द्व्यच्वाले प्रातिपदिकों से अपत्यसामान्य अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—दत्ताया अपत्यं दात्तेयः। गौतेयः। दौर्गेयः। सीतेयः। कौन्तेयः। द्व्यच् नदी नामों से तो शिवादिगण में पाठ होने से 'अण्' ही होता है, यह पहले लिखा गया है॥१२१॥

इतश्चानिञः॥१२२॥

स्त्रीभ्य इति निवृत्तम्। द्व्यच् इत्यनुवर्त्तते। इतः —५।१। च [अ०] अनिञः —५।१। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थादनिञन्ताद् इकारान्तात् प्रातिपदिकादपत्यसामान्ये विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। दुलि—दुलेरपत्यं दौलेयः। बलि-बालेयः। अत्रि-आत्रेयः॥१२२॥

भावार्थ—यहाँ 'स्त्रीभ्यः' पद की अनुवृत्ति नहीं है, 'द्व्यचः' की है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ इञ् प्रत्यय से भिन्न इकारान्त प्रातिपदिकों से अपत्यसामान्य अर्थ में विकल्प से ढक् प्रत्यय होता है। जैसे—दुलि-दुलेरपत्यं दौलेयः। बलि बालेयः। अत्रि आत्रेयः॥१२२॥

शुभ्रादिभ्यश्च॥१२३॥

शुभ्रादिभ्यः —५।३। च [अ०] यथासंभवप्राप्ते इञादीनामपवादः। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः शुभ्रादिप्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः। वैष्टपुरेयः॥

अथ शुभ्रादयः—शुभ्र। विष्टपुर। ब्रह्मकृत। शतद्वार। शतावर। शलाथल। शलाका। शलाचल। शलाकाभ्रू। लेखाभ्रू। विमातृ। विधवा। विकसा। कृकसा। रोहिणी। रुक्मिणी। धर्मिणी। दिशा। शालूक। अजबस्ति। शकन्धि। शुक। विश। देव। तर। शकुनि। शुक्र। उग्र। शातल। बन्धकी। सृकण्डु। विश्रि। अतिथि। गोदन्त। कुशाम्ब। मकष्टु। शताहर। शान्ताहर। यवष्टुरिक। सुनामन्॥ लक्षण-श्यामयोर्वासिष्ठे॥ गोधा। कृकलास। अणीव। प्रवाहण। भरत। भारत। मोरम। मृकण्डु। मघष्टु। मकष्टु। कर्पूर। इतर। अन्यतर। आलीढ।

सुदत्त। सुदक्ष। सुचक्षस्। सुवक्षस्। सुदामन्। कद्रु। कद्रु। तुद। अकशाप। कुमारिका। कुठारिका। किशोरिका। अम्बिका। जिह्माशिन्। परिधि। वायुदत्त। शकल। ककल। शलाका। खद्दूर। कुबेरिका। कुणिका। अशोक। गन्धपिङ्गला। शुद्धपिङ्गला खडोन्मत्ता। अनुदृष्टि। जरतिन्। बलीवर्दिन्। विग्रज। बीज। जीव। श्वन्। अश्मन्। अश्व। अजिर। स्थूल। मकथु। यमष्टु। कष्टु। सृकण्ड। मृकण्ड। गुद। रुद। कुशेरिका। शबल। उग्र। अजिन॥ इति शुभ्रादयः॥ १२३॥

भावार्थ—यह सूत्र यथाप्राप्त इञादि प्रत्ययों का अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ शुभ्रादि प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—शुभ्रस्यापत्य शौभ्रेयः। वैष्टपुरेयः, इत्यादि ॥१२३॥

विकर्ण-कुषीतकात् काश्यपे॥ १२४॥

विकर्णकुषीतकात् —५।१। काश्यपे —७।१। समर्थानां प्रथमाभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां विकर्ण-कुषीतकप्रातिपदिकाभ्यां काश्यपेऽपत्यविशेषे विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। विकर्णस्यापत्यं वैकर्णेयः काश्यपः। कौषीतकेयः काश्यपः। काश्यप इति किमर्थम्। वैकर्णिः। कौषीतकिः। अदन्तत्वादिञ् भवति॥ १२४॥

भावार्थ—समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ विकर्ण, कुषीतक प्रातिपदिकों से काश्यप अपत्य विशेष अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—विकर्णस्यापत्य वैकर्णेयः काश्यपः। कौषीतकेयः काश्यपः। यहाँ 'काश्यपे' ग्रहण इसलिये है कि काश्यप से अन्यत्र 'ढक्' न होवे। जैसे—वैकर्णिः। कौषीतकिः। यहाँ अदन्त होने से 'इञ्' प्रत्यय होवे॥१२४॥

भ्रुवो वुक् च॥ १२५॥

ढगनुवर्त्तते। भ्रुवः —५।१। वुक् —१।१। च [अ०] समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाद् भ्रूप्रातिपदिकादपत्यसामान्ये विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। ढकि परतो भ्रूशब्दस्य वुगागमश्च। भ्रौवेयः। कस्याश्चित् स्त्रिया एतन्नाम न तु नेत्रावयवस्य॥ १२५॥

भावार्थ—यहाँ ढक् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ भ्रू प्रातिपदिक से अपत्यसामान्य अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है और 'ढक्' के सन्नियोग से 'भ्रू' शब्द को 'वुक्' का आगम होवे। जैसे—भ्रुवोऽपत्यं भ्रौवेयः। यह भ्रू किसी स्त्री का नाम है, नेत्र के अवयव का नहीं॥१२५॥

कल्याण्यादीनामिनङ्॥ १२६॥

कल्याण्यादीनाम् —६।३। इनङ् —१।१। समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः कल्याण्यादिप्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। [तत्संनियोगेन च इनङादेशः] कल्याण्यादीनि प्रातिपदिकानि स्त्रीप्रत्ययान्तानि तेभ्यो ढकि सिद्धे इनङादेशार्थ आरम्भः। ङित्करण मन्त्यादेशार्थम्। कल्याण्या अपत्यं काल्याणिनेयः। सौभागिनेयः। दौर्भागिनेयः।

हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य चेत्युभयपदवृद्धिः॥

अथ कल्याण्यादयः—कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। अनुदृष्टि। अनुसृष्टि। अनुसृति। जरती। बलीवर्दी। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा। परस्त्री॥ इति कल्याण्यादयः॥१२६॥

भाषार्थ—समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ कल्याणी आदि प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में विकल्प से 'ढक्' प्रत्यय होता है। और प्रत्यय संनियोग से कल्याणी आदि को 'इनङ्' आदेश होता है। ये गणपठित कल्याणी आदि शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त हैं, अतः 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्र से ही 'ढक्' प्रत्यय प्राप्त है, फिर यह सूत्र 'इनङ्' आदेश करने के लिए है। 'इनङ्' में ङित् करण अन्त्य अल् को आदेश करने के लिए है। जैसे—कल्याण्या अपत्य काल्याणिनेयः। सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः। यहाँ 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (७।३।१९) सूत्र से उभयपदवृद्धि हुई है॥१२६॥

कुलटाया वा॥१२७॥

इनङित्यनुवर्त्तते। कुलटायाः—५।१। वा [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। इनङ् आदेशो विभाष्यते। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् कुलटाप्रातिपदिकाङ् ढक् प्रत्ययो भवति। ढकि परतो विकल्पेनेनङादेशश्च भवति। कुलटाया अपत्यं कौलटिनेयः। कौलटेयः। कुलान्यटतीति कुलटा। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्॥१२७॥

भाषार्थ—यहाँ इनङ् आदेश की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। इस सूत्र से 'इनङ्' का विकल्प किया है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'कुलटा' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है और प्रत्ययसंनियोग से विकल्प से 'इनङ्' आदेश होता है। जैसे—कुलटाया अपत्यं कौलटिनेयः। कौलटेयः। 'कुलटा' का अर्थ है जो कुलों में घूमती फिरती है, ऐसी चरित्रहीन स्त्री। 'कुलटा' शब्द में शकन्ध्वादि मानकर पररूप है॥१२७॥

चटकाया ऐरक्॥१२८॥

चटकायाः—५।१। ऐरक्—१।१। स्त्रीभ्यो ढक् प्राप्तस्तस्यापवादः। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाच् चटका-शब्दाद् [अपत्यसामान्ये] ऐरक् प्रत्ययो भवति। चटकाया अपत्यं चाटकैरः॥

वा०—चटकायाः पुल्लिङ्गनिर्देशः॥१॥

चटकस्यापत्यं चाटकैरः। सूत्रे पुल्लिङ्गनिर्देशः कर्तव्य इति वार्त्तिकाशयः। तेन प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति स्त्रीलिङ्गस्यापि भविष्यति॥१॥

वा०—स्त्रियामपत्ये लुक्॥२॥

चटकस्यापत्यं स्त्री चटका॥१२८॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्र से प्राप्त 'ढक्' का

अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ चटका प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में 'ऐरक्' प्रत्यय होता है। जैसे—चटकाया अपत्यं चाटकैरः।

वा० चटकायाः पुल्लिङ्गनिर्देशः॥ १॥

इस सूत्र में पुल्लिंग का निर्देश करना चाहिए। इससे चटका की भाँति चटक शब्द से भी प्रत्यय होता है। जैसे—चटकस्यापत्यं चाटकैरः। और 'प्रातिपदिक के ग्रहण में लिंगविशिष्ट का भी, इस पारिभाषिक नियम से स्त्रीलिंग 'चटका' शब्द से भी प्रत्यय हो जायेगा॥ १॥

वा०—स्त्रियामपत्ये लुक्॥ २॥

और यदि स्त्रीलिंग अपत्य हो तो 'ऐरक्' प्रत्यय का लुक् हो जावे, जैसे—चटकाया अपत्यं स्त्री चटका॥ १२८॥

गोधाया ढ्रक॥ १२९॥

गोधायाः —५।१। ढ्रक् —१।१। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थाद् गोधा प्रातिपदिकादपत्यसामान्ये ढ्रक प्रत्ययो भवति। गोधाया अपत्यं गौधेरः। पुंसि ढ्रग् भवतीति कारिकायामुक्तम्। तत्र वचनं चतुर्थपादपूर्त्यर्थम्॥ १२९॥

भाषार्थ—यह भी 'ढक्' का अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'गोधा' प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में 'ढ्रक' प्रत्यय होता है। जैसे—गोधाया अपत्य गौधेरः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्रस्थ कारिका में 'पुंसि ढ्रक्' होता है, यह कहा है। वहाँ यह वचन कारिका के चतुर्थ पाद की पूर्ति के लिए है॥ १२९॥

आरग् उदीचाम्॥ १३०॥

गोधाया इत्यनुवर्त्तते। आरक् —१।१। उदीचाम् —६।३। उदीचामाचार्याणां मते गोधाशब्दादपत्यसामान्ये आरक् प्रत्ययो भवति। गोधाया अपत्यं गौधारः। गोधाशब्द आकारान्तस्तस्माद् रकिकृते गौधार इति सिद्ध एव पुनरारग् ग्रहणेनैतज्ज्ञाप्यतेऽन्येभ्योऽप्ययं भवतीति। जडस्यापत्यं जाडारः। पाण्डारः। इत्यादि सिद्ध भवति॥ १३०॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोधायाः' पद की अनुवृत्ति है। उदीच्य आचार्यों के मत में समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ गोधा प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में आरक् प्रत्यय होता है। जैसे—गोधाया अपत्यं गौधारः। गोधा शब्द आकारान्त है, उससे 'रक्' प्रत्यय करने से ''गौधारः'' प्रयोग सिद्धि हो जाती है, फिर आरक् प्रत्यय में गौरव होने से इस बात का ज्ञापक है कि यह 'गोधा' से भिन्न शब्दों से भी होता है। जैसे—जडस्यापत्यं जाडारः। पाण्डारः। इत्यादि॥ १३०॥

क्षुद्राभ्यो वा॥ १३१॥

ढ्रगनुवर्त्तते। आरङ् निवृत्तः। क्षुद्राभ्यः —५।३। वा [अ०]।

भा०—'का क्षुद्रा नाम। अनियतपुंस्का अङ्गविहीना वा॥'

अनियतपुंस्का वेश्याः। अङ्गहीना भिन्नावयवाः। चार्थे वा शब्दः। अनियतपुंस्का अङ्गहीना चेति। स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् प्राप्तस्तस्यापवादः।

समर्थानां प्रथमेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः क्षुद्राभ्यः स्त्रीलिङ्गप्रातिपदिकेभ्योऽपत्य-सामान्ये विकल्पेन ढ्रक प्रत्ययो भवति। नाटेरः। दासेरः। काणिकेरः। पौणिकेरः। मौद्गलिकेरः। नाटेयः। दासेयः। काणिकेयः। पौणिकेयः। मौद्गलिकेयः। पक्षे ढग् भवति। अत एव ढ्रक्यप्राप्तविभाषा॥ १३१॥

भाषार्थ—यहाँ 'ढ्रक्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है, आरक् की नहीं।

भा०—क्षुद्रा किसे कहते हैं? जिनके पुरुष निश्चित नहीं हैं वे चरित्रहीन वेष्या स्त्रियाँ और अङ्गहीन 'विकलाङ्ग' स्त्रियाँ क्षुद्रा कहलाती हैं। यहाँ 'वा' शब्द घार्थ में है। स्त्री प्रत्ययान्त होने से 'ढक्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ क्षुद्रावाची स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में 'ढ्रक्' प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में 'ढक्' होता है। जैसे—नाटेरः। दासेरः। काणिकेरः। पौणिकेरः। मौद्गलिकेरः। ढक्—नाटेयः। दासेयः। काणिकेयः। पौणिकेयः। मौद्गलिकेयः। इस सूत्र में ('ढ्रक्' प्रत्यय) अप्राप्तविभाषा है॥ १३१॥

पितृष्वसुश्छण्॥ १३२॥

पितृष्वसुः —५।१। छण् —१।१। अणोऽपवादः। पितुः स्वसा पितृष्वसा। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् पितृष्वसृप्रातिपदिकादपत्य-सामान्ये छण् प्रत्ययो भवति। पितृष्वसुरपत्यं पैतृष्वस्रीयः। सम्बन्धिशब्दस्यैवात्र ग्रहणम्॥ १३२॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का बाधक है। पिता की बहन को 'पितृष्वसा' कहते हैं। समर्थों में प्रथम षष्ठीसमर्थ 'पितृष्वसृ' प्रातिपदिक से अपत्य सामान्य अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है। जैसे—पितृष्वसुरपत्यं पैतृष्वस्रीयः। यहाँ 'पितृष्वसा शब्द से सम्बन्धी शब्द का ही ग्रहण होता है॥ १३२॥

ढकि लोपः॥ १३३॥

पितृष्वसुरित्यनुवर्त्तते। ढकि —७।१। लोपः —१।१। पितृष्वसृशब्दस्य ढकि परतो लोपो भवति। अलोऽन्त्यस्येति ऋकारो लुप्यते। पितृष्वसुरपत्यं पैतृष्वसेयः। केन विहिते ढकि लोप उच्यते। ढकि लोपवचनं ज्ञापकमनेनैव पितृष्वसृ शब्दाड्ढग्भवतीति॥ १३३॥

भाषार्थ यहाँ 'पितृष्वसुः' पद की अनुवृत्ति है। 'ढक्' प्रत्यय के परे होने पर 'पितृष्वसृ' शब्द के अन्त्याक्षर का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) सूत्र के नियम से अन्त्य ऋकार का लोप होता है। जैसे—पितृष्वसुरपत्यं पैतृष्वसेयः। यहाँ ढक् का किसी सूत्र से विधान न होने पर भी ढक् के परे लोप वचन ज्ञापक है कि 'पितृष्वसृ' शब्द से ढक् होता है॥ १३३॥

मातृष्वसुश्च॥ १३४॥

छण् ढकिलोपश्चानुवर्त्तते। मातृष्वसुः —५।१। च [अ०]। मातृष्वसृशब्दात् [अपत्यसामान्ये] छण्-ढकौ प्रत्ययौ भवतो ढकि परतो लोपश्च। मातृष्वसुरपत्यं मातृष्वस्रीयः। मातृष्वसेयः॥ १३४॥

भावार्थ— यहाँ 'छण् ढकिलोप:' पदों की अनुवृत्ति आती है। मातृष्वसृ शब्द से अपत्य सामान्य अर्थ में 'छण्' और 'ढक्' प्रत्यय होते है और 'ढक्' के परे होने पर अन्त्याक्षर का लोप होता है। जैसे—मातृष्वसु पत्यं मातृष्वस्रीय:। मातृष्वसेय:॥ १३४॥

चतुष्पाद्भ्यो ढञ्॥ १३५॥

चतुष्पाद्भ्य: —५।३। ढञ् —१।१। चतुष्पादर्थेभ्य: प्रातिपदिकेभ्यो ढञ् प्रत्ययो [अपत्यसामान्ये] भवति। कामण्डलेय:। हैरण्यवाहेय:। भाद्रवाहेय:। जाम्बेय:। अणादिनामपवाद:॥ १३५॥

भावार्थ— चतुष्पाद्वाची प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय होता है। जैसे— कामण्डलेय:। हैरण्यवाहेय:। भाद्रवाहेय:। जाम्बेय:। इत्यादि। यह सूत्र 'अण्' आदि का अपवाद है॥ १३५॥

गृष्ट्यादिभ्यश्च॥ १३६॥

ढञनुवर्त्तते। [गृष्ट्यादिभ्य—५।३। च—अ०प०।] गृष्ट्यादिभ्यो गण-प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये ढञ् प्रत्ययो भवति। यथाप्राप्तानामणादीनामपवाद:। गार्ष्टेय:। हार्ष्टेय:। हालेय:।

अथ गृष्ट्यादय: — गृष्टि। हृष्टि। हलि। वलि। विश्रि। कुद्रि। अजवस्ति। मित्रयु। फलि। अलि। दृष्टि॥ १३६॥

भावार्थ— यहाँ 'ढञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। गणपठित 'गृष्टि' आदि प्रातिपदिकों से अपत्यसामान्य अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—गृष्ट्या अपत्यं गार्ष्टेय:। हार्ष्टेय:। हालेय:। इत्यादि। यह यथाप्राप्त 'अण्' आदि का अपवाद है॥ १३६॥

राजश्वशुराद् यत्॥ १३७॥

राजश्वशुरात् —५।१। यत् —१।१। समर्थानां प्रथमाभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां राजन्-श्वसुरशब्दाभ्यामपत्यसामान्ये यत् प्रत्ययो भवति। राज्ञोऽपत्यं राजन्य:। श्वशुर्य्य:॥

वा०—राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्॥ १॥

राजन्शब्दात् क्षत्रियजातौ यत् प्रत्ययो भवति। राजन्यो नाम क्षत्रियश्चेत्। यदा च कस्यचिद् वाची राजन् शब्दस्तदाऽणेव भवति। राज्ञोऽपत्यं वैश्य: शूद्रो वा राजन:॥ १३७॥

भावार्थ —समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ राजन् और श्वशुर प्रातिपदिकों से अपत्य सामान्य अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—राज्ञोऽपत्यं राजन्य:। श्वशुर्य्य:।

वा०—राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्॥ १॥

सूत्र में जो 'राजन्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय का विधान है, सो क्षत्रिय जातिवाची 'राजन्' शब्द का ग्रहण समझना चाहिए। जैसे—राजन्यो नाम क्षत्रिय:। और जब क्षत्रिय जातिवाचक न होकर जाति से भिन्न किसी व्यक्ति का वाची 'राजन्' शब्द

हो, तब अण् प्रत्यय ही होता है। जैसे—राज्ञोऽपत्य वैश्यः शूद्रो वा राजनः॥ १३७॥

क्षत्राद् घः॥ १३८॥

क्षत्रात् ५।१। घः —१।१। क्षत्रप्रातिपदिकादपत्ये घः प्रत्ययो भवति। क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः। जातिग्रहणमत्राप्यनुवर्त्तते तेनेह न भवति। क्षात्रिः॥ १३८॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'इञ्' का बाधक है। 'क्षत्र' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। जैसे—क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः। यहाँ भी पूर्वसूत्रस्थ वार्त्तिक से जाति की अनुवृत्ति होती है। इसलिये जहाँ जाति न हो वहाँ 'घ' प्रत्यय नहीं होता, 'इञ्' ही होता है। जैसे—क्षात्रिः॥ १३८॥

कुलात् खः॥ १३९॥

उत्तरसूत्रे पूर्वपदप्रतिषेधादत्र कुलान्तादपि प्रत्ययो भवति केवलाच्च। [कुलत्—५।१। खः—१।१] कुलान्तात् प्रातिपदिकात् केवलाच्चापत्ये खः प्रत्ययो भवति। सम्पन्नकुलीनः। पण्डितकुलीनः। केवलात्कुलीनः॥ १३९॥

भाषार्थ—इससे अगले (उत्तर) सूत्र में अपूर्वपद=पूर्वपद का प्रतिषेध करने से इस सूत्र में पूर्वपदसहित और केवल कुल शब्द से प्रत्यय होता है। कुलान्त प्रातिपदिक तथा केवल कुल शब्द से अपत्य अर्थ में 'ख' अपत्य होता है। जैसे—सम्पन्नकुलस्यापत्यं सम्पन्नकुलीनः। पण्डितकुलीनः। केवल से—कुलीनः॥ १३९॥

अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ॥ १४०॥

कुलादित्यनुवर्त्तते। अपूर्वपदात् —५।१। अन्यतरस्याम्। यड्-ढकञौ —१।२। न विद्यते पूर्वपदं यस्य तस्मात्। अप्राप्तविभाषेयम्। पूर्वेण खः प्राप्तो यड्-ढकञौ विकल्प्येते। अपूर्वपदात् केवलात् कुलप्रातिपदिकादपत्यसामान्ये विकल्पेन यत्-ढकञौ प्रत्ययौ भवतः। पक्षे पूर्वेण ख एव। कुलस्यापत्यं कुल्यः। कौलेयकः। पक्षे-कुलीनः। पदग्रहणं किमर्थम्। बहुच्पूर्वादपि यथा स्यात्। बहुकुल्यः। बाहुकुलेयकः। बहुकुलीनः॥ १४०॥

भाषार्थ—यहाँ 'कुलात्' पद की अनुवृत्ति है। इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है। पूर्वसूत्र से 'ख' की प्राप्ति में 'यत्' और 'ढकञ्' का विकल्प से विधान किया है। पूर्वपदरहित केवल कुल प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में विकल्प करके यत् और 'ढकञ्' प्रत्यय होते हैं। पक्ष में पूर्वसूत्र से 'ख' ही होता है। जैसे—कुलस्यापत्यं कुल्यः। कौलेयकः। पक्ष में कुलीनः। इस सूत्र में 'पद' ग्रहण इसलिए है कि पूर्वपद का निषेध होवे और बहुच् प्रत्यय पूर्व हो तो प्रत्यय हो जायें। जैसे—बहुकुल्यः। बाहुकुलेयकः। बहुकुलीनः॥ १४०॥

महाकुलादञ्खञौ॥ १४१॥

अन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। महाकुलात् —५।१। अञ्-खञौ —१।२। महाकुलात् प्रातिपदिकाद् विकल्पेन [अपत्यसामान्ये अञ्-खञौ प्रत्ययौ भवतः। पक्षे ख एव। माहाकुलः। माहाकुलीनः। महाकुलीनः॥ १४१॥

भाषार्थ—यहाँ 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति है। महाकुल प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में विकल्प से अञ् और खञ् प्रत्यय होते हैं। पक्ष में 'ख' ही होता है। जैसे—माहाकुलः। माहाकुलीनः। महाकुलीनः॥ १४१॥

दुष्कुलाड्ढक्॥ १४२॥

अन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। दुष्कुलात् —५।१। ढक् —१।१। दुष्कुलप्रातिपदिकाद् अपत्यसामान्ये विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति। पक्षे ख एव। दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः। दुष्कुलीनः॥ १४२॥

भाषार्थ—यहाँ 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है। दुष्कुल प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में विकल्प करके 'ढक्' प्रत्यय होता है, पक्ष में 'ख' ही होता है। जैसे—दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः। दुष्कुलीनः॥ १४२॥

स्वसुश्छः॥ १४३॥

स्वसुः —५।१। छः —१।१। स्वसृशब्दादपत्ये छः प्रत्ययो भवति। स्वसुरपत्यं स्वस्रीयः॥ १४३॥

भाषार्थ—स्वसृ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—स्वसुरपत्यं स्वस्रीयः॥ १४३॥

भ्रातुर्व्यच्च॥ १४४॥

चकारग्रहणाच्छप्रत्ययोऽप्यनुवर्त्तते। भ्रातुः —५।१। व्यत् —१।१। च [अ०] अणोऽपवादः। भ्रातृप्रातिपदिकादपत्ये व्यत्-छौ प्रत्ययौ भवतः। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। भ्रात्रीयः॥ १४४॥

भाषार्थ—इस सूत्र में चकार से 'छ' प्रत्यय की भी अनुवृत्ति है। यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है। 'भ्रातृ' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'व्यत्' प्रत्यय होता है और चकार से 'छ' प्रत्यय भी होता है। जैसे—भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। भ्रात्रीयः॥ १४४॥

व्यन् सपत्ने॥ १४५॥

भ्रातुरित्यनुवर्त्तते। व्यन् —१।१। सपत्ने —७।१ सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः। तस्मिन्नभिधेयेऽपत्याधिकारेऽपत्यं न सम्भवति। अपत्याधिकारे सूत्रस्यास्यैतत् प्रयोजनं भ्रातृग्रहणमनुवर्त्तेत। अन्यत्रग्रहणे द्विभ्रातृग्रहणं स्यात्। भ्रातृशब्दात् सपत्नेऽभिधेये व्यन् प्रत्ययो भवति। नित्करणमाद्युदात्तार्थम्। भ्रातृव्यः शत्रुः पाप्मा॥ १४५॥

भाषार्थ—यहाँ 'भ्रातुः' पद की अनुवृत्ति है। 'सपत्न' शब्द शत्रु का पर्यायवाची है। सपत्न (शत्रु) वाच्य हो तो 'भ्रातृ' प्रातिपदिक से 'व्यन्' प्रत्यय होता है। जैसे—भ्रातृव्यः शत्रुः पाप्मा वा। नित्करण आद्युदात्तार्थ है। यहाँ अपत्य के अधिकार में भ्राता का अपत्य (पुत्र) शत्रु नहीं होता, इसलिए अपत्याधिकार में इस सूत्र का यही प्रयोजन है कि दुबारा भ्रातृ शब्द का पाठ न करना पड़े, पूर्वसूत्र से ही अनुवृत्ति

हो जाए। इस सूत्र का दूसरी जगह पाठ करने से द्वितीय वार 'भ्रातृ' शब्द पढ़ना पड़ता है। और इस सूत्र में 'भ्रातृ' शब्द का प्रकृत्यर्थ मुख्य नहीं है, किन्तु प्रत्ययार्थ जो शत्रु है, वही मुख्य है॥१४५॥

रेवत्यादिभ्यष्ठक्॥ १४६॥

रेवत्यादिभ्यः —५।३। ठक् —१।१। यथासम्भवं ढगादीनामपवादः। रेवत्यादिभ्यो गणप्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये ठक् प्रत्ययो भवति। रेवत्या अपत्यं रैवतिकः। आश्वपालिकः॥

अथ रेवत्यादयः—रेवती। अश्वपाली। मणिपाली। द्वारपाली। वृकवञ्चिन्। वृकबन्धु। वृकग्राह। कर्णग्राह। चामरग्राह। दण्डग्राह। कुक्कुटाक्ष। ककुदाक्ष॥ १४६॥

भावार्थ—यह सूत्र यथासम्भव 'ढक्' आदि का अपवाद है। रेवती आदि गणपठित प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—रेवत्या अपत्यं रैवतिकः। आश्वपालिकः, इत्यादि॥१४६॥

गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च॥ १४७॥

चकाराट् ठगनुवर्त्तते। गोत्रस्त्रियाः —५।१। कुत्सने —७।१। णः —१।१। च [अ०] कृत्रिमस्य गोत्रस्य ग्रहणम्। गोत्रं या स्त्री तद्वाचिनः प्रातिपदिकात् कुत्सितेऽपत्यमात्रेऽभिधेये णप्रत्ययो भवति। चाट् ठक् च। गार्ग्याः कुत्सितमपत्यं गार्गो जाल्मः। ग्लुचुकायन्याः कुत्सितमपत्यं ग्लौचुकायनः। गार्गिकः। ग्लौचुकायनिकः। गोत्रप्रत्ययान्ताद् युवापत्येऽत्र प्रत्ययविधानम्। णप्रत्यये णित्करणं 'ग्लौचुकायन' इत्यादिषु वृद्धिर्यथा स्यात्। गार्गा भार्याऽस्य गार्गभार्या। इति पुंवद्भाव प्रतिषेधार्थं च। गोत्रग्रहणं किमर्थम्। वधूट्या अपत्यं वाधूटेयो जाल्मः। स्त्रिया इति किम्। औपगवस्य युवापत्यम् औपगवि जाल्मः। कुत्सनग्रहणं किमर्थम्। गार्गेयो माणवकः। इदं सूत्रं स्त्रीभ्यो ढगित्यस्यापवादः। तस्मात् कुत्सनाऽभावे ढक् प्रत्यय एव भवति॥१४७॥

भावार्थ—यहाँ चकार से ठक् की अनुवृत्ति है। यहां कृत्रिम (पारिभाषिक) गोत्र का ग्रहण है। गोत्र सञ्ज्ञक स्त्रीवाची प्रातिपदिक से कुत्सित (निन्दित) युवापत्य अर्थ में 'ण' प्रत्यय और चकार से 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—गार्ग्याः कुत्सितमपत्य गार्गो जाल्मः। वात्सो जाल्मः। ग्लुचुकायन्याः कुत्सितमपत्यं ग्लौचुकायनः। ठक्—गार्गिकः। ग्लौचुकायनिकः। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त से युवापत्य में प्रत्यय का विधान किया है। 'ण' प्रत्यय में णित्करण इसलिये है कि 'ग्लौचुकायनः' इत्यादि में वृद्धि हो जावे और गार्गा भार्याऽस्येति गार्गभार्यः। यहाँ पुंवद्भाव का प्रतिषेध 'वृद्धिनिमित्तस्य०' (अ० ६।३।३८) इस सूत्र से करने के लिए णित् किया है।

यहाँ 'गोत्र' ग्रहण इसलिये है कि—वधूट्या अपत्यं वाधूटेयो जाल्मः। यहाँ वधूटी शब्द गोत्र प्रत्ययान्त नहीं है। 'स्त्रियाः' का ग्रहण इसलिये है कि—औपगवस्य

युवापत्यम् औपगविर्जाल्मः। यहाँ न हो। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त तो है, स्त्रीवाची नहीं। और 'कुत्सन' का ग्रहण इसलिए है कि गार्गेयो माणवकः। यहाँ निन्दा न होने से सामान्य 'ढक्' हो गया है। यह सूत्र 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) सूत्र का बाधक है। अतः निन्दा के न होने पर उससे 'ढक्' ही होता है।।१४७॥

वृद्धाद् ठक् सौवीरेषु बहुलम्॥ १४८ ॥

कुत्सन इत्यनुवर्त्तते। क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तते इति गोत्रग्रहणं च। वृद्धात् —५।१। ठक् —१।१। सौवीरेषु —७।३। बहुलम् —१।१। वृद्धसंज्ञकं सौवीरगोत्रे वर्त्तमानं यत् प्रातिपदिकं तस्मात् कुत्सने युवापत्येऽभिधेये बहुलं विकल्पेन ठक् प्रत्ययो भवति। पक्षे यस्माद् यः प्राप्तः स एव भवति। भागवित्तेरपत्यं भागवित्तिको जाल्मः। पक्षे-भागवित्तायनः। तार्णविन्दवस्यापत्यं तार्णविन्दविकः। पक्षे-तार्णविन्दविः। वृद्धग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थम्। सौवीरेष्विति किम्। गार्ग्यायणो जाल्मः। कुत्सन इति किम्। भागवित्तायनो माणवकः॥ १४८॥

भावार्थ—'यहाँ कुत्सने' पद की अनुवृत्ति है। व्याकरण शास्त्र में समस्त पद का कहीं एक भाग भी अनुवर्तित हो जाता है, इस नियम से यहाँ 'गोत्र' पद भी आता है। कुत्सन (निन्दा) अर्थ में युवापत्य वाच्य हो तो वृद्धसंज्ञक सौवीर गोत्रवाची प्रातिपदिक से बहुल (विकल्प) से ठक् प्रत्यय होता है। पक्ष में जिससे जो प्रत्यय प्राप्त होता है, वही हो जाता है। जैसे—भागवित्तेर्युवापत्यं भागवित्तिको जाल्मः। पक्ष में भागवित्तायनः। तार्णविन्दवस्यापत्यं तार्णविन्दविकः। पक्ष में—तार्णविन्दविः। यहाँ विकल्प से क्रमशः 'फक्' और 'इञ्' प्रत्यय हुए हैं। यहाँ 'वृद्ध' का ग्रहण स्त्री की निवृत्ति के लिये है। 'सौवीर' का ग्रहण इसलिये है कि—गार्ग्यायणो जाल्मः। यहाँ 'ठक्' न हो। 'कुत्सन' की अनुवृत्ति इसलिये की है कि भागवित्तायनो माणवकः। यहाँ 'ठक्' प्रत्यय न होवे।।१४८॥

फेश्छ च॥ १४९ ॥

कुत्सन इत्यनुवर्त्तते सौवीरेष्विति च। फेः —५।१। छ —१।१। च [अ०]। फेरिति फिञ्प्रत्ययस्यैव ग्रहणं वृद्धादित्यनुवर्त्तनात्। सौवीरगोत्रे वर्त्तमानात् फिञन्ताद् वृद्धप्रातिपदिकात् कुत्सने युवापत्येऽभिधेये छः प्रत्ययो भवति चकाराट्ठक्। तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः। तस्य युवापत्यं कुत्सितं तैकायनीयः। तैकायनिकः। यामुन्दायनेरपत्यं यामुन्दायनीयः। यामुन्दायनिकः। सौवीरेष्विति किम्। कैतवायनिः। कुत्सन इति किम्। कैतवायनिः। अत्र यूनि विहितस्याणप्रत्ययस्य 'ण्यक्षत्रियार्षेति' लुक्॥ १४९॥

भावार्थ—यहाँ 'कुत्सने' और 'सौवीरेषु' पदों की अनुवृत्ति है। 'फेः' से यहाँ फिञ् प्रत्यय का ही ग्रहण है 'फिन्' आदि का नहीं। क्योंकि यहाँ 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति आती है। फिञ् प्रत्ययान्त वृद्धसंज्ञक सौवीर गोत्रवाची प्रातिपदिक से कुत्सन युवापत्य अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है, और चकार से 'ठक्'। जैसे

तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः। 'तिकादिभ्यः फिञ्' (अ० ४।१।१५४) सूत्र से फिञ्। तस्य युवापत्यं तैकायनीयः। तैकायनिकः। यामुन्दायनेर्युवापत्यं यामुन्दायनीयः यामुन्दायनिकः। 'सौवीरेषु' का ग्रहण इसलिये है कि कैतवायनिः। यहाँ 'छ' प्रत्यय न होवे। कुत्सने का ग्रहण इसलिए है कि कैतवायनिः। यहाँ युवापत्य में विहित औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का 'ण्यक्षत्रियार्ष०' (अ० २।४।५८) से लुक् हुआ है॥१४९॥

फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ॥१५०॥

सौवीरेष्विति वर्त्तते। कुत्सन इति निवृत्तम्। फाण्टाहृतिमिमताभ्याम् —५।२। णफिञौ —१।२। फाण्टाहृतिशब्दो गोत्रप्रत्ययान्तस्तस्माद् यूनि प्रत्ययः। मिमतशब्दात्तु प्रथमः फिञ् गोत्र एव। मिमतशब्दस्याल्पच्तरत्वात् पूर्वनिपातः सूत्रेषु प्रातिपदिकनिर्देशत्वात् क्वचिन्न भवति। सौवीरगोत्रे वर्तमानात् फाण्टाहृतिशब्दाद् युवापत्ये णः प्रत्ययो भवति, मिमतप्रातिपदिकात् सौवीरगोत्रेऽभिधेये फिञ् च। फाण्टाहृतिशब्दात् फक् प्राप्तस्स बाध्यते। मिमतशब्दो नडादिषु पठ्यते तस्मात् फक् च। फाण्टाहृतेरपत्यं फाण्टाहृतः। मिमतस्यापत्यं मैमतायनिः। सौवीर इति किम्। फाण्टाहृतायनः। मैमतायनः।

अत्र जयादित्येन लिखितमल्पाच्तरस्य मिमतशब्दस्य पूर्वनिपातो न कृतस्तेन ज्ञायते यथासंख्यमिह न भवतीति। तदिदं महाभाष्याद् विरुद्धतरत्वाद्[1] अश्रमन्तव्यमेव। तद्यथा—

महा०—पुंवद्भावस्य प्रतिषेधार्थं णकारः कर्त्तव्यः। फाण्टाहृताभार्या अस्य फाण्टाहृताभार्यः। वृद्धिनिमित्तस्येति पुंवद्भावप्रतिषेधो यथा स्यात्। एतत्कथनस्यैतत् प्रयोजनं णप्रत्यये णित्करणं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थम्। यदि च यथासंख्यमनिष्टं स्यात्तर्हि मिमतशब्दादपि णप्रत्ययः स्यात्। महाभाष्यकारेणेदं तूक्तं 'णित्करणानर्थक्यं वृद्धत्वात् प्रातिपदिकस्य।' तेन ज्ञायते फाण्टाहृतशब्दो वृद्धसंज्ञकस्तस्मादेव णप्रत्ययो भवतीति॥१५०॥

भाषार्थ—यहाँ 'सौवीरेषु' पद की अनुवृत्ति है। 'कुत्सन' पद निवृत्त हो गया है। सूत्र में फाण्टाहृति शब्द गोत्र प्रत्ययान्त है उससे युवापत्य में प्रत्यय और मिमत शब्द से गोत्रापत्य में ही प्रत्यय का विधान है। 'मिमत' शब्द के अल्पाच्तर होने पर भी सूत्र में पूर्वनिपात नहीं किया है। सूत्रों में प्रातिपदिकों का निर्देश होने से कहीं यह नियम चरितार्थ नहीं होता है। सौवीरगोत्रवाची फाण्टाहृति और मिमत प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में यथासंख्य 'ण' और 'फिञ्' प्रत्यय होते हैं। 'फाण्टाहृति' शब्द से 'यञिञोश्च' (४।१।१०१) सूत्र से 'फक्' प्राप्त है और मिमत शब्द से नडादि[2] में पाठ होने से 'फक्' प्राप्त है। यह सूत्र दोनों का बाधक है। जैसे—फाण्टाहृतेर्युवापत्यं फाण्टाहृतः। मिमतस्य गोत्रापत्यं मैमतायनिः। 'सौवीरेषु'

---

१ अत्र कैय्यटोऽप्याह **'यथासंख्यं सम्बन्धस्येष्टत्वान् न मिमतशब्दार्थं णत्वम्।'—अ०**

२. **नडादिभ्यः फक्** (४।१।९९) सम्पादक।

का ग्रहण इसलिये है कि—फाण्टाहृतायन:। मैमतायन:। यहाँ यथाप्राप्त 'फक्' प्रत्यय हो गया है।

इस सूत्र पर जयादित्य ने लिखा है कि सूत्र में अल्पाच्तर मिमत शब्द का पूर्वनिपात न करने से यहां यह बात जाननी चाहिये कि यहाँ यथासंख्य प्रत्यय नहीं होते हैं। यह उसकी बात महाभाष्य से विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं है। महाभाष्य का प्रमाण संस्कृत मे द्रष्टव्य है। उस में यह स्पष्ट लिखा है—ण प्रत्यय में णित्करण निरर्थक है क्योंकि प्रातिपदिक मे पहले ही वृद्धि होने से वृद्ध संज्ञा है। इसलिए णित् का प्रयोजन पुंवद्भाव का प्रतिषेध करना माना है। यदि सूत्र में यथासंख्यता न हो तो मिमत शब्द मे वृद्धि करना भी प्रयोजन होने से महाभाष्य का प्रयोजनान्तर बताना असंगत रहता अथवा 'पुंवद्भाव प्रतिषेधार्थं तु' इसमें वार्तिक में 'तु' शब्द का प्रयोग न करके समुच्चयार्थक चकार का प्रयोग करना चाहिये था। और यथासंख्यता न मानने पर 'मिमत' शब्द मे वृद्धि करना भी प्रयोजन होने से महाभाष्यकार का यह लेख—'**णित्करणानर्थक्यं वृद्धत्वात् प्रातिपदिकस्य**' निरर्थक ही हो जायेगा॥ १५०॥

कुर्वादिभ्यो ण्य:॥ १५१॥

सौवीरेष्विति निवृत्तम्। कुर्वादिभ्य: —५।३। ण्य: —१।१। समर्थानां प्रथमेभ्य: षष्ठीसमर्थेभ्य: कुरु इत्येवमादिप्रातिपदिकेभ्योऽपत्यमात्रे ण्यप्रत्ययो भवति। कुरोरपत्यं कौरव्य:। माङ्गुष्य:।

अथ कुर्वादय:—कुरु। गर्ग। गर्गर। मङ्गुष। अजमारक। अजमारी। रथकार। वावदूक। सम्राज: क्षत्रिये॥ कवि। मति। वाक्। विमति। कापिंजलादि। वामरथ पितृमथ। पितृमत्। इन्द्रजालि। एचि। वातकि। दामोष्णीषि। गणकारि। कैशोरि। कुट। शलाका। मुर। पुर। एडका। एरक। अभ्र। शुभ्र। दर्भ। केशिनी। वेनाच्छन्दसि। शूर्पणाय। श्यावनाय। श्यावरथ। श्यावपुत्र। सत्यंकार। वडभीकार। पथिकारिन्। मूढ। शकन्धु। शंकु। शाक। शाकिन्। कर्त्तृ। हर्तृ। इनपिण्डी। तक्षन्॥ इति कुर्वादय:॥

वा०—वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जम्॥ १॥

वामरथशब्द: कुर्वादिषु पठ्यते तस्य कण्वादिवत् कार्य्यं भवति। कण्वादिभ्यो गोत्र इत्यण् यथा स्यात्। वामरथस्य छात्रा वामरथा:। अन्यथा वृद्धत्वाच्छ: प्राप्त:। कण्वादय: शब्दा गर्गाद्यन्तर्गतास्तेभ्यो गोत्रे यञ् विधीयते। तत्र ञित्वादाद्युदात्त: स्वरो भवति। सोऽत्र मा भूत्। अर्थात् ण्यप्रत्ययस्यैव स्वर इष्यते॥ १५१॥

भाषार्थ—यहाँ 'सौवीरेषु' पद की अनुवृत्ति नहीं है। समर्थों में प्रथम षष्ठी समर्थ 'कुरु' आदि प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—कुरोरपत्यं कौरव्य:। [मङ्गुषस्यापत्यं] माङ्गुष्य:। [गार्ग्य:। आजमारक्य:। इत्यादि।]

वा०—वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जम्॥ १॥

कुर्वादिगण में वामरथ शब्द का पाठ है। उससे स्वर को छोड़कर कण्वादि की भाँति कार्य करने चाहिएँ। जैसे—वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः। (यहाँ अपत्यार्थ में इस सूत्र से ण्य प्रत्यय हुआ)। वामरथ्यस्य छात्रा वामरथाः। यहाँ वृद्धसंज्ञक होने से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११३) सूत्र से 'छ' प्रत्यय प्राप्त है, उसका बाधक 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (४।२।११०) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करना वार्तिक का प्रयोजन है। किन्तु कण्वादि के समस्त कार्य प्राप्त होने पर स्वर का निषेध किया है। कण्वादि शब्द गर्गादिगण में पठित हैं। उनसे यञ् प्रत्यय के ञित् होने से आद्युदात्त भी प्राप्त होता है। वह न हो, ण्य प्रत्यय का ही स्वर हो, इसलिये वार्त्तिक में 'स्वरवर्जम्' कहा गया है॥ १५१॥

सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च॥ १५२॥

ण्य इत्यनुवर्त्तते। सेना......कारिभ्यः —५।३। च [अ०] सेनाशब्दोऽन्त उत्तरपदं येषां ते सेनान्ताः संज्ञाशब्दाः। लक्षणशब्दस्य एवं रूपं गृह्यते। कारिवाचिनः शिल्पिविशेषवाचिनः*। सेनान्त-लक्षण-कारिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये ण्यप्रत्ययो भवति। परिषेणस्यापत्यं पारिषेण्यः। वारिषेण्यः। औग्रसेन्यः। भैमसेन्यः। लाक्षण्यः। कुलालस्यापत्यं कौलाल्यः। तान्तुवाय्यः। कौम्भकार्य्यः॥ १५२॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से यहाँ 'ण्य' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। 'सेना' शब्द जिनके अन्त में हैं, वे सेनान्त संज्ञाशब्द हैं। 'लक्षण' शब्द से स्वरूप का ग्रहण है और 'कारि' शब्द शिल्पीविशेषों का वाचक है। सेनान्त, लक्षण और कारि (शिल्पीविशेषवाची) प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—सेनान्त—परिषेणस्यापत्यं पारिषेण्यः वारिषेण्यः। औग्रसेन्यः। भैमसेन्यः। लक्षण से—लाक्षण्यः। कारिवाची-कुलालस्यापत्यं कौलाल्यः। तान्तुवाय्यः। कौम्भकार्य्यः इत्यादि॥ १५२॥

उदीचामिञ्॥ १५३॥

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इत्यनुवर्त्तते। ण्यस्यापवादः। उदीचाम् —६।३। इञ् —१।१। सेनान्त-लक्षण-कारिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यसामान्ये उदीचामाचार्याणां-मतेन इञ् प्रत्ययो भवति। पारिषेणिः। वारिषेणिः। लाक्षणिः। कौम्भकारिः। काटकारिः॥

अत्र जयादित्येन लिखितं 'तक्षन्शब्दः शिवादिस्तेनाणाऽयमिञ् बाध्यते न तु ण्यः'। इदमपि महाभाष्याद् विरुद्धमेव। तद्यथा—वा०—उदीचां वा ण्यवचनम्॥ उदीचां मते सेनान्तलक्षणकारिभ्यो विकल्पेन ण्यप्रत्ययो भवतीति वार्त्तिकाशयः। ण्येन मुक्ते यो यतः प्राप्नोति स ततो भविष्यति। यथा तक्षन् शब्दाद् उदीचां मते विकल्पेन ण्यः पक्षे शिवादित्वादण्। एवं सेनान्तेभ्य उदीचां मते विकल्पेन ण्यः पक्षे ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्योऽपि बाह्वादेराकृतिगणत्वाद्

---

* कृञ उदीचां कारुषु (उ० ४।१२९) इस उणादिसूत्र से इन्प्रत्यय —सं०

इञ्। जयादित्य इदं प्रष्टव्यः—यदि पुरस्तादपवादा इति न्यायः प्रवर्त्तते तर्हि शिवादिविहितोऽण् ण्यं बाधेत कथमिञम्। जयादित्यकथनेन वार्त्तिकमन्तरा प्रयोजनं सिध्यति। यदि जयादित्य-कथनं तथ्यं स्यात्। यदि च वार्त्तिकमन्तरा कार्यसिद्धिः स्यात्तर्हि महाभाष्यकारो वार्तिक कदापि न ब्रूयात्॥ १५३॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। यह सूत्र 'ण्य' प्रत्यय का अपवाद है। उदीच् (उत्तरदेशीय) आचार्यों के मत में सेनान्त, लक्षण और कारिवाची प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है। जैसे पारिषेणस्यापत्यं पारिषेणि, वारिषेणिः। लाक्षणिः। कौम्भकारिः। काटकारिः। इत्यादि

इस सूत्र पर काशिकाकार जयादित्य ने लिखा है—

'तक्षन् शब्दः शिवादिस्तेनाणाऽयम् इञ् बाध्यते न तु ण्यः।'

अर्थात् 'तक्षन्' शब्द शिवादिगण में पठित है। उस सूत्र से विहित 'अण्' प्रत्यय इस सूत्र से विहित 'इञ्' प्रत्यय का बाधक है, 'ण्य' प्रत्यय का नहीं। जैसे—तक्ष्णोऽपत्यं ताक्ष्णः। ताक्ष्ण्यः।

यह जयादित्य का कथन महाभाष्य से विरुद्ध है। महाभाष्य में 'तक्षन्' शब्द से 'अण्' प्रत्ययान्त 'ताक्ष्ण' रूप बनाने के लिए 'सिद्धं तूदीचां वा ण्यवचनात्' वार्तिक स्वीकार किया है। इस वार्तिक से सेनान्तादि शब्दों से विकल्प मे 'ण्य' प्रत्यय होता है उदीचों के मत में। पक्ष में जो जिससे प्राप्त होता है वह उससे होता है। जैसे—तक्षन् शब्द से विकल्प से 'ण्य' प्रत्यय होता है, पक्ष में शिवादि मे पाठ होने से 'अण्' होता है। इसी प्रकार सेनान्तादि से विकल्प से 'ण्य' और पक्ष मे यथाप्राप्त इञ्। यहाँ जयादित्य के वचन मे यह दोष है कि यदि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते' इस न्याय से शिवादि गण में पठित तक्षन् शब्द से विहित 'अण्' प्रत्यय 'इञ्' की अपेक्षा अनन्तर ण्य का बाधक है तो 'इञ्' का बाधक कैसे होगा और इष्ट 'इञ्' का बाधन न करके 'ण्य' प्रत्यय करना है। और यदि जयादित्य का वचन यथार्थ होता तो वार्तिक के विना भी इष्ट सिद्ध होने से महाभाष्यकार वार्त्तिक का पाठ कदापि नहीं मानते। इसलिये जयादित्य का कथन महाभाष्य से विरुद्ध होने से माननीय नहीं है॥ १५३॥

तिकादिभ्यः फिञ्॥ १५४॥

तिकादिभ्यः ५।३। **फिञ्** १।१। **तिकादिभ्यो गणप्रातिपदिकेभ्यः फिञ् प्रत्ययो भवति [अपत्यसामान्ये]। तैकायनिः। कैतवायनिः॥**

अथ तिकादयः—तिक। कितव। संज्ञा। बाल। शिखा। उरस्। शाट्य। सैन्धव। यमुन्द। रूप्य। ग्राम्य। नील। अमित्र। गौकक्ष्य। कुरु। देवरथ। तैतिल। औरस। कौरव्य। भौरिकि। भौलिकि। मौलिकि। चौपायत। चैटयत। शीकयत। शैकयत। क्षैतयत। ध्वाजवत। वाजवत। चन्द्रमस्। शुभ। गङ्गा। वरेण्य। सुयामन्। आरद्ध। वह्यका। खल्य। वृष। लोभक। उदन्या। यज्ञ। ऋष्य। भीत। जाजल। रस। लावक। ध्वजवद। वसु। बन्धु। आबन्धका। सुपामन्॥ इति

तिकादयः ॥ १५४ ॥

भाषार्थ—तिकादि गणपठित प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—तिकस्यापत्यं तैकायनिः। कैतवायनिः इत्यादि ॥ १५४ ॥

कौसल्यकार्मार्य्याभ्यां च। १५५ ॥

कौसल्य कार्मार्य्याभ्याम् —५। २। च [अ०] फिञनुवर्त्तते। कोसल कर्मारशब्दयोः कौसल्य-कार्मार्य्यावादेशौ कृत्वाऽत्र पठितौ। अस्मिन् सूत्रे निपातननादेवादेशौ, तेन परमप्रकृतेरेव फिञ् विधीयते। कौसल्य-कार्मार्य्यप्रातिपदिकाभ्यां फिञ् प्रत्ययो भवति [अपत्यसामान्ये]। कोसलस्यापत्यं कौसल्यायनिः। कार्मार्य्यायणिः ॥

वा०—फिञ्प्रकरणे दगुकोसलकर्मारछागवृषाणां युट् च ॥ १ ॥

दागव्यायनिः। कौसल्यायनिः। कार्मार्य्यायणिः। छाग्यायनिः। वृषशब्दस्तिकादिषु पठ्यते तस्मात् फिञ् स्यादेव पुनर्वचनं युडागमार्थम्। वार्ष्यायणिः। परमप्रकृतेः फिञ् भवतीति यदुक्तं तदस्मादेव वार्त्तिकाल्लभ्यते ॥ १५५ ॥

भाषार्थ—इस सूत्र में फिञ् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। इस सूत्र में पाठ करने से ही कोसलकर्मार शब्दों के स्थान में कौसल्य-कार्मार्य्य आदेश यथासंख्य हुए हैं और यह फिञ् प्रत्यय परमप्रकृति अर्थात् कोसल तथा कर्मार शब्दों से ही होता है। कौसल्य और कार्मार्य्य प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। जैसे—कोसलस्यापत्यं कौसल्यायनिः। कार्मार्य्यायणिः।

वा०—फिञ्प्रकरणे दगुकोसलकर्मारछागवृषाणां युट् च ॥ १ ॥

सूत्र से भिन्न शब्दों से भी प्रत्यय करने के लिये वार्त्तिक का पाठ किया है। फिञ् प्रकरण में दगु, कोसल, कर्मार, छाग और वृष प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय को युट् आगम होता है। जैसे—दागव्यायनिः। कौसल्यायनिः। कार्मार्य्यायणिः। छाग्यायनिः। वार्ष्यायणिः। वृष शब्द का तिकादिगण में पाठ होने से ही फिञ् प्रत्यय हो जाता, फिर वार्त्तिक में पाठ 'युट्' आगम के लिये है और यह फिञ् प्रत्यय परमप्रकृति से होता है, यह भी इस वार्त्तिक सूत्र से ही स्पष्ट होता है ॥ १५५ ॥

अणो द्व्यचः ॥ १५६ ॥

अणः —५। १। द्व्यचः —५। १। अणन्ताद् द्व्यच्प्रातिपदिकात् फिञ् प्रत्ययो भवति [अपत्यसामान्ये]। अपत्यप्रत्ययान्तमणन्तं प्रातिपदिकं गृह्यते न तु कृदन्तम्। शैवायनिः। चाण्डायनिः। जाम्भायनिः। अण इति किम्। दाक्षायणः। द्व्यच इति किम्। आर्ष्टिषेणस्य युवापत्यम् आर्ष्टिषेणिः ॥

अत्र जयादित्येन निष्प्रयोजनं वार्त्तिकं ध्वन्यते। तद्यथा—त्यदादीनां वा फिञ् वक्तव्य इति। इदं वार्तिकं महाभाष्ये नास्ति। यद्यस्य प्रयोजनं स्यात्तदा महाभाष्यकारः पठेत्। त्यदादीनि चेति सूत्रेण त्यदादीनां वृद्धसंज्ञा। वृद्धत्वाद्

वक्ष्यमाणसूत्रेणोदीचां मते फिञ् भविष्यत्यन्येषां मते चाण्। पुनर्जयादित्यस्य वार्तिकं व्यर्थमेव॥ १५६ ॥

भाषार्थ—अण् प्रत्ययान्त द्व्यच् प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। यहाँ अण् प्रत्ययान्त अपत्यार्थक प्रातिपदिक का ही ग्रहण है, कृदन्त अणन्त का नहीं। जैसे-शिवस्यापत्यं शैवः। यहाँ शिवादि से अण् प्रत्यय हुआ है। शैवस्यापत्यं शैवायनिः। चाण्डायनिः। जाम्भायनिः। यहाँ अणन्त का ग्रहण इसलिए किया है कि—दाक्षायणः। यहाँ इञन्त से फिञ् न हो। और 'द्व्यचः' का ग्रहण इसलिये किया है कि आर्ष्टिषेणस्य युवापत्यम् आर्ष्टिषेणिः। यहाँ अणन्त तो है, परन्तु द्व्यच् न होने से 'फिञ्' नहीं हुआ।

इस सूत्र पर जयादित्य ने निष्प्रयोजन यह वार्तिक लिखा है—'त्यदादीनां वा फिञ् वक्तव्यः।' यह वार्तिक महाभाष्य में नहीं है और यदि इस वार्तिक की सार्थकता होती तो महाभाष्यकार अवश्य पाठ करते। वार्तिक की निरर्थकता इस प्रकार है। वार्त्तिक से विकल्प से 'फिञ्' प्रत्यय करके त्यदादिशब्दों की वृद्धसंज्ञा 'त्यदादीनि च' (१।१।७४) सूत्र से होती है और वृद्धसंज्ञक होने से वक्ष्यमाण सूत्र 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (४।१।१५७) सूत्र से उदीचों के मत में फिञ् प्रत्यय और दूसरों के मत में सामान्य 'अण्' प्रत्यय होने से इन पूर्वोक्त रूपों की सिद्धि हो जाती है। फिर इन प्रयोगों के लिए नवीन वार्त्तिकों की रचना करना निरर्थक ही है॥ १५६ ॥

उदीचां वृद्धादगोत्रात्॥ १५७॥

फिञ् ग्रहणमनुवर्त्तते। उदीचाम् —६।३। वृद्धात् —५।१। अगोत्रात् —५।१। अगोत्रादिति पर्य्युदासः प्रतिषेधः। गोत्रादितरस्माद् वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकादपत्ये उदीचां मतेन फिञ् प्रत्ययो भवति। अन्येषां मते यो यतः प्राप्नोति स ततो विज्ञेयः। तादायनिः। यादायनिः। कैमायनिः। भानोरपत्यं भानवायनिः। ज्ञानस्यापत्यं ज्ञानायनिः। अन्येषां मते-तादः। यादः। कैमः। भानवः। ज्ञानः। उदीचामिति किम्। आम्रगुप्तस्यापत्यमाम्रगुप्तिः। वृद्धादिति किम्। यज्ञदत्तस्यापत्यं याज्ञदत्तिः। अगोत्रादिति किम्। गार्ग्यायणः॥ १५७॥

भाषार्थ—यहाँ भी फिञ् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सूत्रस्थ 'अगोत्रात्' पद में पर्य्युदास प्रतिषेध है। गोत्र से भिन्न वृद्ध संज्ञक प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में उदीक् (उत्तरदेशीय) आचार्यों के मत में 'फिञ्' प्रत्यय होता है। दूसरे आचार्यों के मत में जो प्रत्यय जिस सूत्र से प्राप्त होता है, वह उससे हो जाता है। जैसे—तादायनिः। यादायनिः कैमायनिः। भानोरपत्यं भानवायनिः। ज्ञानस्यापत्यं ज्ञानायनिः। दूसरों के मत में—तादः। यादः। कैमः। भानवः। 'उदीचाम्' का ग्रहण इसलिए है—आम्रगुप्तस्यापत्यमाम्रगुप्तिः। यहाँ फिञ् नहीं हुआ। 'वृद्धात्' का ग्रहण इसलिए है—यज्ञदत्तस्यापत्य याज्ञदत्तिः। और गोत्र का निषेध इसलिये किया है कि गार्ग्यायणः। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त से 'फिञ्' प्रत्यय न होवे॥ १५७॥

वाकिनादीनां कुक् च॥ १५८॥

उदीचां वृद्धादित्यनुवर्त्तते। तत्र यानि प्रातिपदिकान्यवृद्धानि तेभ्य आरम्भसामर्थ्याद् भविष्यति। वाकिनादीनाम् —६।३। कुक् —१।१। च। अ०। वाकिन इत्यादि प्रातिपदिकेभ्य उदीचां मते फिञ् प्रत्ययो भवति [अपत्यसामान्ये] फिञि परतो वाकिनादीनां कुगागमश्च। वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः। गौधेरकायनिः। अन्येषां मते—वाकिनिः। ये शब्दा वाकिनादिष्वगोत्रा वृद्धसंज्ञकाः पठ्यन्ते तेषां ग्रहणं कुगागमार्थम्॥

अथ वाकिनादयः—वाकिन। गौधेर। कार्कट्य। काक। लङ्का॥ चर्मिवर्मिणोर्नलोपश्च॥ इति वाकिनादयः॥ १५८॥

भावार्थ—यहाँ 'उदीचां वृद्धात्' पदों की अनुवृत्ति आती है। इस वाकिनादिगण में जो वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक नहीं है, उनसे आरम्भसामर्थ्य से 'फिञ्' प्रत्यय और 'कुक्' आगम होता है और जो अगोत्र वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक हैं उनसे प्रत्यय पूर्वसूत्र से ही सिद्ध था, उनसे कुगागम इस सूत्र से होता है। उत्तरदेशीय आचार्यों के मत में वाकिन आदि गणपठित प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है और 'फिञ्' प्रत्यय के संयोग से वाकिनादि को 'कुक्' आगम होता है। जैसे—वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः। गौधेरकायनिः। दूसरों के मत में वाकिनिः गौधेरिः॥ १५८॥

पुत्रान्तादन्यतरस्याम्॥ १५९॥

उदीचां वृद्धादित्यनुवर्त्तते। पुत्रान्तात् —५।१। अन्यतरस्याम् [अ०] प्राप्तविभाषेयम्। कुगागमेन संबध्यते। पुत्रान्ताद् वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् फिञ् प्रत्ययः [अपत्यसामान्ये] तस्मिन् पुत्रान्तस्य कुगागमो विकल्पेन भवति। दाक्षी-पुत्रकायणिः। दाक्षीपुत्रायणिः। अन्येषां मतेन। दाक्षीपुत्रस्यापत्यं दाक्षीपुत्रिः। एवं सर्वत्र॥ १५९॥

भावार्थ—यहाँ भी 'उदीचां वृद्धात्' पदों की अनुवृत्ति है। यह प्राप्त विभाषा है। 'उदीचां वृद्धा' (४।१।१५७) सूत्र से 'फिञ्' प्रत्यय प्राप्त था, इस सूत्र से 'कुक्' आगम का विकल्प किया गया है। उत्तरदेशीय आचार्यों के मत में वृद्धसंज्ञक पुत्रान्त प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय होता है और इन पुत्रान्त शब्दों को प्रत्ययसंनियोग से विकल्प करके 'कुक्' आगम होता है। जैसे - दाक्षीपुत्रस्यापत्य दाक्षीपुत्रकायणिः। दाक्षीपुत्रायणिः। दूसरों के मत में— दाक्षीपुत्रस्यापत्य दाक्षीपुत्रिः। इसी प्रकार 'गार्गीपुत्रकायणिः आदि प्रयोग भी जानने चाहिएँ॥ १५९॥

प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्॥ १६०॥

उदीचामिति निवृत्तम्। प्राचाम् —६।३। फिन् —१।१। बहुलम् —१।१। उदीचां प्राचामेकेषां बहुलमन्यतरस्यामित्यादयः शब्दाः पर्य्यायवाचिनः। तत्र प्राचां बहुलमिति शब्दद्वयस्य ग्रहणमेतदर्थम्—प्राचामित्याचार्यग्रहणं पूजार्थम्। बहुलमिति विकल्पार्थम्। अवृद्धात् प्रातिपदिकात् प्राचामाचार्याणां

मते बहुलं फिन् प्रत्ययो भवति [अपत्यसामान्ये]। ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिः। अहिचुम्बकायनिः। प्राचामिति किम्। ग्लौचुकिः। अवृद्धादिति किम्। श्यामगोरपत्यं श्यामगवः। बहुलग्रहणं क्वचिदवृद्धादपि प्रातिपदिकात् प्राचा मते फिन्न भवति। यथा—दाक्षिः। प्लाक्षिः॥ १६०॥

भाषार्थ—'उदीचाम्' पद की यहाँ अनुवृत्ति नहीं है। व्याकरणशास्त्र में 'उदीचाम् प्राचाम् एकेषाम्, बहुलम् अन्यतरस्याम् इत्यादि शब्दों को पर्यायवाची समझना चाहिये। इस सूत्र में फिर 'प्राचाम्, बहुलम्' दोनों शब्दों का ग्रहण क्यों किया? यहाँ 'प्राचाम्' का ग्रहण सम्मान के लिये और 'बहुलम्' विकल्प के लिये है। प्राच्य आचार्यों के मत में 'अवृद्ध' प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में बहुल करके 'फिन्' प्रत्यय होता है। जैसे—ग्लुचुकस्यापत्य ग्लुचुकायनिः। अहिचुम्बकायनिः। यहाँ 'प्राचाम्' का ग्रहण इसलिये है कि —'ग्लौचुकिः' यहाँ 'फिन्' न हो। और 'वृद्ध' का निषेध इसलिये किया है कि श्यामगोरपत्यं श्यामगवः। बहुलग्रहण से कहीं अवृद्ध प्रातिपदिकों से भी प्राच्याचार्यों के मत में फिन् प्रत्यय नहीं होता जैसे—दाक्षिः। प्लाक्षिः॥ १६०॥

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च॥ १६१॥

मनोः —५।१। **जातौ** —७।१। **अञ्यतौ** —१।२। **षुक्** —१।१। **च**-[अ०]। जातिग्रहणादपत्यमिह नानुवर्त्तते। आकृतिग्रहणा जातिरिति जातिलक्षणम् उक्तं तदेव ग्राह्यम्। मनोः प्रातिपदिकाज्जाताव भिधेयेऽञ्-यतौ प्रत्ययौ भवतः। तत् प्रत्ययसंनियोगेन प्रातिपदिकस्य षुगागमश्च। मानुषः। मनुष्यः। जातिशब्दौ लोके प्रसिद्धावेतौ। अत्र सामान्यजातिग्रहणाद् 'यञञोश्चेति' गोत्रे विहितो लुगिह बहुवचने न भवति। मानुषाः॥

का०— अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥ १॥

जातावञ्यतौ विधीयेते। अपत्ये स्यादेवौत्सर्गिकोऽण् पश्चादर्थविशेषेण प्रयोगविशेषज्ञापनाय वचनम्। कुत्सितेऽधर्माचरणविषयलम्पटादिषु कुकर्मसु वर्त्तमाने मूढेऽनधीतविद्ये। अथवा—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥ १॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहुभाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥

अधीतविद्येऽप्येतादृशे मूढेऽपत्येऽभिधेये मनोः प्रातिपदिकादौत्सर्गिकोऽण् प्रत्ययो भवति। तत् सन्नियोगे नकारस्य मूर्धन्यादेशः। एवमर्थेऽण् प्रत्यये कृते 'माणव' इति प्रयोगः सिध्यति। सामान्यापत्येऽण् तु भवत्येव। मूर्धन्यादेशाभावान्मनोरपत्यं मानवः॥ १६१॥

भाषार्थ—यहाँ सूत्र में जाति पद के ग्रहण से अपत्यार्थ की विवक्षा नहीं

है। क्योंकि प्रकृति प्रत्यय के समुदाय से जाति का बोध होना चाहिये। जाति का लक्षण 'आकृतिग्रहणाजातिः'* इत्यादि पहले कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण समझना चाहिये। जाति अभिधेय हो तो 'मनु' प्रातिपदिक से 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं। और 'मनु' शब्द को प्रत्यय सनियोग से 'षुक्' का आगम होता है। जैसे—मानुषः। मनुष्यः। ये दोनों शब्द जाति अर्थ में प्रसिद्ध हैं इस सूत्र में सामान्य जाति का ग्रहण होने से 'यञञोश्च' (अ० २।४।६४) सूत्र से गोत्र में बहुवचन में जो लुक् का विधान किया है, वह नहीं होता। जैसे—मानुषाः.

का०— अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥ १॥

जाति अर्थ में इस सूत्र से 'अञ् और यत्' प्रत्ययों का विधान किया है। और अपत्य अर्थ में सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो ही जाता है। फिर इस कारिका का प्रयोजन अर्थविशेष मे विशिष्ट प्रयोग का बताना है। अधर्मादि कुकर्मों में रत कुत्सित और मूर्ख अपत्य अर्थ मे मनु प्रातिपदिक से सामान्य अण् प्रत्यय समझना चाहिये। अण् के सन्नियोग से मनु के नकार को मूर्धन्य णकारादेश होवे। जैसे— मनोरपत्यं कुत्सितो मूढो माणवः। कुत्सित मूढ अर्थ से अन्यत्र तो सामान्य अण् प्रत्यय होता ही है और मूर्धन्यादेश न होने से 'मनोरपत्यं मानवः' प्रयोग ही बनता है।'मूढ' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये संस्कृत में दो श्लोक महाभारतान्तर्गत उद्योगपर्व विदुर प्रजागर (अध्याय ३३ श्लोक ३५, ४१) के उद्धृत किये हैं। उनके अर्थ इस प्रकार हैं—

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण—

जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा, न सुना और जो अतीव घमण्डी दरिद्र होकर बड़े बड़े मनोरथ करने हारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग 'मूढ़' कहते हैं॥ १॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्च आसन पर बैठना चाहे, विना पूछे सभा में बहुत सा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही 'मूढ़' और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है'॥ २॥

—(सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्॥ १६२॥

अपत्यम् —१।१। पौत्रप्रभृति —१।१। गोत्रम् —१।१। अपत्यमिति शब्द उत्पाद्यसंबन्धे वर्त्तते। तेनापत्यशब्देन पुत्रादीनां ग्रहणं भवति। पौत्रप्रभृति पौत्रादि यदपत्यं तद् गोत्रसंज्ञं भवति। गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः। वात्स्यः। पौत्रप्रभृतीति किम्। अनन्तरस्य गोत्रसंज्ञा मा भूत्। कुञ्जस्यानन्तरापत्यं कौञ्जिः। समर्थानां प्रथमाद्वेत्यनुवर्त्तते तेन पौत्रप्रभृतेः सामान्येन गोत्रसंज्ञा न भवति। अर्थाद् यस्यापत्य विवक्षा तस्य पौत्रप्रभृति गोत्रसंज्ञं भवति। यदि च

* द्रष्टव्य—'जातरस्त्री विषया०' (४।१।६३)

सामान्येन गोत्रसंज्ञा स्यात्तर्हि गर्गोऽपि कंचित् प्रति पौत्रः। गर्गस्यापि गोत्रसंज्ञा स्यात् तर्हि गोत्रे प्रत्ययः कथं स्यात्। तस्मादयमर्थः। एकस्मिन् कुटुम्बे यावन्तो जना भवन्ति तेषु बहवः समर्था अपि। तत्र समर्थानां मध्ये यः प्रथम आदिसमर्थस्तस्य यदपत्यं पौत्रप्रभृति तद्गोत्रसंज्ञं भवति। तेन गर्गस्य गोत्रसंज्ञा न भवति। एवं सर्वत्र प्राप्ता गोत्रसंज्ञा प्रतिषिध्यते।

वा०—जीवद् वंश्यं च कुत्सितम्॥ १॥

जीवति तु वंश्ये युवेति वक्ष्यमाणसूत्रेण युवसंज्ञा प्राप्ता तस्या बाधनार्थं वार्तिकमिदम्। जीवति वंश्यं पित्रादि यस्य तज्जीवद्वंश्यमपत्यं कुत्सितं निन्दितं चेद् गोत्रसंज्ञमेव भवति। गार्ग्यस्त्वमसि जाल्म। वात्स्यस्त्वमसि जाल्म।

भा०—का पुनरिह कुत्सा। पितृतो लोके व्यपदेशवताऽस्वतन्त्रेण भवितव्यम्। य इदानीं पितृमान् स्वतन्त्रो भवति स उच्यते गार्ग्यस् त्वमसि जाल्म। वात्स्यस्त्वमसि जाल्म। न त्वं पितृतो व्यपदेशमर्हसीति। सर्वं स्पष्टमेव॥ १६२॥

भाषार्थ—'अपत्य' शब्द उत्पाद्य-सम्बन्ध को बताता है। इसलिये इस सूत्र में अपत्य शब्द से पुत्रादि का ग्रहण किया गया है। जो पौत्र प्रभृति (पोतादि से लेकर) अपत्य नाम सन्तान है, वह गोत्र संज्ञक होती है। जैसे—गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः। वात्स्यः। सूत्र में 'पौत्रप्रभृति' इसलिये कहा है कि अनन्तरापत्य (पुत्र) की गोत्र संज्ञा न होवे। जैसे—कुञ्जस्यानन्तरापत्यं कौञ्जिः। यहां गोत्र में विहित 'च्फञ्' प्रत्यय नहीं हुआ।

यहाँ 'समर्थानां प्रथमाद्वा' की अनुवृत्ति आती है। इसलिये पौत्रादि की सामान्यरूप में गोत्र संज्ञा नहीं होती। अर्थात् जिसके अपत्य को कहना चाहते हैं, उसके पौत्रादि की गोत्र संज्ञा होती है। यदि सामान्यरूप में गोत्र संज्ञा हो तो 'गर्ग' भी किसी का पौत्र है, अतः गर्ग की भी गोत्र संज्ञा होनी चाहिये। फिर गोत्र में प्रत्ययविधि की व्यवस्था कैसे हो? इस कारण से सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि एक कुटुम्ब में जितने मनुष्य हैं, उनमें बहुतों के समर्थ होते हुए भी जो प्रथम समर्थ हो, और उसका जो पौत्रादि अपत्य हैं, उसकी गोत्र संज्ञा होती है। इस परिभाषा से गर्ग की गोत्र संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार गोत्र संज्ञा की अतिव्याप्ति का प्रतिषेध किया गया है।

वा०—जीवद् वंश्यं च कुत्सितम्॥ १॥

इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४।१।१६३) इस अगले सूत्र से जो युवसंज्ञा प्राप्त होती है, उसका यह अपवाद विधान करता है। जिसके पितादि कुटुम्ब के वृद्ध पुरुष जीवित हों तो पौत्रादि सन्तानों के कुत्सित अपत्य की युवसंज्ञा न होकर गोत्रसंज्ञा ही होती है। जैसे—गार्ग्यस्त्वमसि जाल्म। वात्स्यस्त्वमसि जाल्म।

भा० उपर्युक्त वार्तिक के उदाहरण में निन्दा किस प्रकार हुई? इसका उत्तर

यह है कि कुटुम्ब में जो पितर (वृद्धपुरुष) हैं, उनकी सन्तान को उनके अधीन रहना चाहिये। अर्थात् उनके चलाये नियमों का पालन करते हुए व्यवस्था में रहना चाहिये। जो सन्तान वृद्धपुरुषों के अनुशासन में न चलकर स्वेच्छा से आचरण करती हैं, वे कुत्सित कहलाती हैं—गार्ग्यस्त्वमसि जाल्म। वात्स्यस्त्वमसि जाल्म। अर्थात् कुत्सित सन्तान पितृजनों के नाम का व्यवहार करने योग्य नहीं है॥१६२॥

जीवति तु वंश्ये युवा॥१६३॥

अपत्यं पौत्रप्रभृतीत्यनुवर्त्तते। जीवति -७।१। तु [अ०] वंश्ये -७।१। युवा —१।१। वंशशब्दो दिगादिषु पठ्यते तस्माद् भवार्थे यत्। पूर्वस्मिन् सूत्रेऽपत्यग्रहणस्य प्रयोजनं नोक्तम्। पौत्रप्रभृतीति कथनेनापत्यस्यैव ग्रहणं स्यात् पुनरपत्यग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्। पौत्रप्रभृतीति प्रातिपदिकनिर्देशस्तत्र विभक्तिविपरिणामेन षष्ठी। पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यमिति। वंश्ये पित्रादौ जीवति सति पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यं तद् युवसंज्ञं भवति। गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। पौत्रप्रभृतेरिति षष्ठी विपरिणामाच्चतुर्थादारभ्य युवसंज्ञा विधीयते। किन्तु गर्गस्य पौत्रस्य पित्रादौ जीवत्यपि युवसंज्ञा न भविष्यति। सामान्येन सर्वत्र गोत्रसंज्ञाविशेषत्वेन युवसंज्ञा च। गर्गस्य पौत्रस्य केवला गोत्रसंज्ञा। चतुर्थादारभ्य वंश्ये जीवति युवसंज्ञा,अन्यत्र गोत्रसंज्ञा। गोत्रसंज्ञायां युवसंज्ञाऽन्तर्हितैव भवति। अस्मिन् सूत्रे तु शब्द एवार्थे पठ्यते। तेन गोत्र-युवसंज्ञयोः समावेशो न भवति। अर्थाद् वंश्ये जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं युवसंज्ञमेव भवति न तु गोत्रसंज्ञम्॥

वा०—वृद्धस्य च पूजायाम्॥१॥

सत्कारयुक्तस्य वृद्धस्यापि युवसंज्ञा भवति। तत्रभवन्तो गार्ग्यायणाः। तत्रभवन्तो वात्स्यायनाः।

भा०—का पुनरिह पूजा। युवत्वं लोक ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते। तत्रभवन्तश्च युवत्वेनोपचर्य्यमाणाः पूजिता भवन्ति। गोत्रसंज्ञायां प्राप्तायां युवसंज्ञा विधीयते॥१६३॥

भाषार्थ—यहाँ 'अपत्य पौत्रप्रभृति' पदों की अनुवृत्ति है। अभिजनप्रबन्ध-जो उत्पादकों की परम्परा है, उसे वंश कहते हैं और जो उस वंश में होवे वह वंश्य कहाता है। पूर्वसूत्र में अपत्यग्रहण का प्रयोजन नहीं कहा है। यद्यपि पौत्रप्रभृति कहने से अपत्य का ही ग्रहण होता, पुनरपि अपत्य का ग्रहण इसलिए किया है—सूत्र में 'पौत्रप्रभृत्ति' यह प्रातिदपदिक का निर्देश किया है। और 'प्रातिपदिक-निर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति' इस महाभाष्य के वचनानुसार इस पद में विभक्ति विपरिणाम (परिवर्त्तन) करके षष्ठी विभक्ति मानकर यह अर्थ किया जाएगा—पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यम्=पौत्रादि जो अपत्य। इससे सूत्रार्थ यह होगा—वंश्य=उत्पादक परम्परा में पिता, पितामहादि वृद्ध पुरुषों के जीवित रहते हुए पौत्रादि के जो अपत्य (सन्तान) है, उसकी युवसंज्ञा होती है। जैसे—गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः। वात्स्य-स्यापत्यं वात्स्यायनः। 'पौत्रप्रभृत्ति' पद में विभक्ति विपरिणाम करके जो षष्ठी विभक्ति स्वीकार की है, उससे चतुर्थ सन्तान अर्थात् पौत्र की और उसके बाद

की सन्तान की युवसंज्ञा का विधान किया गया है। इस नियम से गर्ग के पौत्र को पितादि के जीवित रहते हुए भी युवसंज्ञा नहीं होगी। गोत्र संज्ञा का विधान सामान्यरूप से है और युवसंज्ञा उसका अपवाद वा विशेषरूप से विधान है। इससे पितादि के जीते हुए चतुर्थ सन्तान से लेकर युवसंज्ञा होती है अन्यत्र गोत्र सज्ञा। युवसज्ञा गोत्रसंज्ञा में ही अन्तर्हित है। इस सूत्र में 'तु' शब्द 'एव' के अर्थ में है। जिससे निर्धारण होने से गोत्र युवसज्ञाओं का एकसाथ समावेश नहीं होता। अर्थात् वंश्य में पितादि के जीवित रहते हुए पौत्रादि की सन्तान युवसंज्ञक ही होगी, गोत्र संज्ञक नहीं।

वा०—वृद्धस्य च पूजायाम्॥ १॥

पाणिनि से भिन्न कुछ आचार्य गोत्रसज्ञा को वृद्ध नाम से कहते हैं। पूजा (सत्कार) प्रकट करने में सम्मानित वृद्ध (गोत्रसंज्ञा) की भी युवसंज्ञा हो जाती है। जैसे—तत्रभवन्तो गार्ग्यायणाः। तत्रभवन्तो वात्स्यायनाः। गोत्र को युवसज्ञा करने में पूजा (सत्कार) कैसे प्रकट होता है? इसका उत्तर महाभाष्यकार देते हैं—लोक में युवत्व-जिस अवस्था में युवसंज्ञा हो जाये, वह ईप्सित होने से सम्मानजनक मानी जाती है। 'तत्रभवन्तो गार्ग्यायणाः' इस वाक्य में गोत्र सज्ञा में युवसंज्ञा का व्यवहार सम्मान जनक है और सम्मान को व्यक्त करनेवाला 'तत्रभवन्तः' शब्द है। यह गोत्र सज्ञा की प्राप्ति में युवसंज्ञा का विधान किया गया है।.१६३॥

भ्रातरि च ज्यायसि॥ १६४॥

अपत्यं पौत्रप्रभृत्तित्यनुवर्त्तते जीवतीति च। अवंश्यार्थोऽयमारम्भः। भ्रातरि—७।१। च [अ०]। ज्यायसि —७।१। ज्यायसि ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति सति पौत्र-प्रभृतेर्यदपत्यं तत् पित्रादौ वंश्ये मृतेऽपि युवसंज्ञमेव भवति। यथा—गार्ग्यस्य गर्गपौत्रस्य द्वौ पुत्रौ तत्र गर्गस्य पौत्रे मृतेऽपि पूर्वजो गार्ग्यो भवति कनीयान् भ्राता गार्ग्यायणः॥ १६४॥

भावार्थ—यहाँ 'अपत्यं पौत्रप्रभृति' तथा 'जीवति' पदों की अनुवृत्ति है। यह सूत्र वंश्य से भिन्न की युव संज्ञा करने के लिए है। पूर्वज वृद्ध पितृ आदि वंश्य कहलाते हैं, भ्राता की वंश्यसज्ञा न होने से पूर्वसूत्र से युवसंज्ञा प्राप्त नहीं थी जो बड़ा भाई जीवित हो और वंश्य पितादि की मृत्यु हो गई हो तो पौत्रादि की सन्तान की युवसंज्ञा होती है। यथा—गार्ग्यस्य= गर्गपौत्रस्य द्वौपुत्रौ= गर्ग के पौत्र के दो पुत्र हैं, गर्ग के पौत्र के मरने पर भी पौत्र के पुत्रों में बड़ा भाई 'गार्ग्य' तथा छोटा भाई 'गार्ग्यायण' कहलाएगा॥ १६४॥

वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति॥ १६५॥

ज्यायसीत्यनुवर्त्तते। वा। [अ०]। अन्यस्मिन् -७।१। सपिण्डे -७।१। स्थविरतरे —७।१। जीवति —७।१। अप्राप्तविभाषेयम्। अन्यस्मिन्निति भ्रातृनिवृत्त्यर्थम्। सपिण्डे समानपिण्डे। सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।

समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ १॥ (मनुस्मृतौ) सप्तमे पुरुषे

सपिण्डता निवर्त्तते। षट्स्वपत्येषु सपिण्डता भवतीति। द्वयोर्मध्येऽत्यन्तः स्थविरः स्थविरतरः। जीवतीत्यनुवर्त्तमाने पुनर्जीवतिग्रहणं संज्ञितोऽपत्यस्य विशेषणार्थम्। भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे ज्यायसि जीवति सति पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यं तज्जीवत् सद् विकल्पेन युवसंज्ञं भवति। गर्गस्यापत्यं गार्ग्यायणः गार्ग्यो वा। वात्स्यायनः। वात्स्यो वा। स्थविरतरग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं ज्यायसीत्यनुवर्त्तनाद् गुणैरवस्थया चोत्कृष्टे यथा स्यात्। जीवतीति किम्। संज्ञिसपिण्डयोरेकस्मिन् मृते मा भूत्। अर्थाद् उभयोर्जीवतोः सतोर्विकल्पेन युवसंज्ञा स्यात्।

इतः सूत्रादग्रे जयादित्येन द्वे सूत्रे व्याख्याते—वृद्धस्यच पूजायाम्॥ यूनश्च कुत्सायाम्॥ तत्रास्मात् सूत्राद् विकल्पानुवृत्तिरपि कृता, तदसम्मतमेव। महाभाष्ये वार्त्तिकयोर्व्याख्यानात्॥ १६५॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'ज्यायसि' पद की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्त विभाषा है। यहाँ 'अन्यस्मिन्' पद से भ्राता की निवृत्ति होती है अर्थात् भ्राता से भिन्न सपिण्ड=सात पीढियों में यह सूत्र युवसंज्ञा का विधान करता है। सूत्र में पिण्ड शब्द पीढी शब्द के लिए आया है। कुटुम्ब में यह सपिण्डता सातवीं पीढी तक रहती है। इस विषय में संस्कृत में मनुस्मृति (अ० ५, श्लोक ६०) का प्रमाण भी दिया गया है। 'स्थविरतर' शब्द में आतिशयिक 'तरप्' प्रत्यय है। दो जनों में जो अतिशय वृद्ध हों उसे स्थविरतर कहते हैं। ऊपर से 'जीवति' पद की अनुवृत्ति आती है, पुनः इस सूत्र में 'जीवति' पद का ग्रहण इसलिये किया है कि यह 'जीवति' पद की संज्ञी अपत्य का विशेषण हो सके। भ्राता से भिन्न सपिण्ड-सात पीढियों में चाचा दादा आदि अधिक अवस्थावाले पुरुष के जीवित रहते हुए पौत्रादि का जो अपत्य (सन्तान) है वह जीवित रहता हुआ विकल्प से युवसंज्ञक हो। जैसे—गर्गस्यापत्य गार्ग्यायणः। गार्ग्यः। वात्स्यायनः। वात्स्यः। 'ज्यायसि' पद की अनुवृत्ति होते हुए भी 'स्थविरतर' पद का ग्रहण इसलिए किया है कि गुणों तथा अवस्था में जो उत्कृष्ट (बड़ा) हो, उसके जीवित रहते हुए यह संज्ञा हो। 'जीवति' पद का ग्रहण इसलिये है कि संज्ञी और स्थविरतर सपिण्ड दोनों में से एक के मरने पर यह युवसंज्ञा न हो। अर्थात् दोनों के जीवित रहते हुए ही यह विकल्प से युवसंज्ञा होनी चाहिये।

इस सूत्र से आगे जयादित्य ने दो सूत्र लिखकर व्याख्या की है—(१) वृद्धस्य* च पूजायाम्। (२) यूनश्च कुत्सायाम्। और इन दोनों सूत्रों में इस सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति करके व्याख्या की है। यह महाभाष्य से विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं है। क्योंकि यदि ये दोनों सूत्र होते तो महाभाष्यकार वार्त्तिक मानकर व्याख्या नहीं करते। १६५॥

---

* महाभाष्य के टीकाकार कैय्यट ने भी इन्हें वार्त्तिक ही मानते हुए लिखा है 'यूनश्च कुत्सायामिति सूत्रमनार्षम्।' 'सूत्रेषु तु वृद्धस्य च पूजायामिति कैश्चिद् वार्त्तिकदर्शनात् प्रक्षिप्तम्।' —सं०

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्॥ १६६॥

तस्यापत्यमित्यनुवर्त्तते। जनपदशब्दात् —५।१। क्षत्रियात् —५।१। अञ् १।१। जनपदशब्दाद् देशवाचिनः। तत्र निवासार्थस्य प्रत्यस्य जनपदे लुबिति लुप्। लुपि कृते क्षत्रियवाचिनो भवन्ति। जनपदशब्दा यदा क्षत्रियवाचिनो भवन्तितदा तेभ्योऽपत्यसामान्येऽञ् प्रत्ययो भवति। पंचालस्यापत्यं पाञ्चालः। इक्ष्वाकोरपत्यमैक्ष्वाकः। वैदेहः। जनपदशब्दादिति किम्। दशरथस्यापत्यं दाशरथिः। क्षत्रियादिति किम्। विदेहो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं वैदेहिः।

वा०—क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत्॥ १॥

यथा पंचालादयः शब्दाः क्षत्रियवाचिनस्तथैव जनपददेशविशेष वाचिनश्च। यदा क्षत्रियतुल्याः शब्दा देशवाचिनो भवन्ति तेषां स्वामिनि राजन्यभिधेयेऽपत्यवत् प्रत्ययो भवति। पंचालानां राजा पांचालः। वैदेहः। मागधः। इदं वार्त्तिकमग्रेऽप्यनुवर्त्तिष्यते॥ १॥

वा०—पूरोरण् वक्तव्यः॥ २॥

पूरुशब्दो जनपदवाची। तस्मात् प्राग्दीव्यतोऽणित्यधिकाराद्‌ण् स्यादेव पुनस्तद्राजसंज्ञार्थं वचनम्। पूरुणां राजा पौरवः॥ २॥

वा०—पाण्डोर्ड्यण् वक्तव्यः॥ ३॥

युधिष्ठिरादीनां पितुः पाण्डोर्ग्रहणमत्र नास्ति। पाण्डुशब्दो द्व्यच् प्रातिपदिकं तस्माद् वक्ष्यमाणसूत्रेणाणि प्राप्ते वचनम्। पाण्डोरपत्यं पाण्डूनां राजा वा पाण्ड्यः। कथमेतज् ज्ञायते पाण्डुशब्देन युधिष्ठिरादिपितुर्ग्रहणं नास्ति। बाह्वादिभ्यश्चेत्यत्र वार्त्तिकमुक्तम्। बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं लौकिके गोत्रभाव इति। तदेतद् वार्त्तिकमिहाप्यनुवर्त्तते। तेन मुख्यस्यैव पाण्डोर्ग्रहणं भवति। अन्यस्य तु पाण्डव इत्येव॥ १६६॥

भाषार्थ—यहाँ 'तस्यापत्यम्' सूत्र की अनुवृत्ति आती है (जनपद शब्द देशवाची होते हैं और जनपदवाची शब्दों से निवासार्थ में जो प्रत्यय होता है, उसका (४।२।८१) 'जनपदे लुप्' सूत्र से अदर्शन होने से जनपद (देशविशेष) वाची पञ्चालादि शब्द क्षत्रियवाची हो जाते हैं। जनपदवाची शब्द जब क्षत्रियवाची हो जाते हैं, तब उनसे अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—पंचालस्यापत्यं पाचालः। इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः। वैदेहः। यहाँ 'जनपदशब्दात्' का ग्रहण इसलिये है कि -दशरथस्यापत्यं दाशरथिः। यहाँ 'अञ्' प्रत्यय न होवे और 'क्षत्रियात्' का ग्रहण इसलिये है कि—विदेहो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं वैदेहिः। यहाँ क्षत्रियवाची न होने से 'अञ्' न हो।

वा०—क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत्॥ १॥

जैसे पंचालादिशब्द क्षत्रियवाची हैं, वैसे ही जनपद देशविशेषवाची हैं। जो क्षत्रियवाची शब्दों के तुल्य शब्द देशवाची होते हैं, उनसे राजा के सम्बन्ध में अपत्य के समान प्रत्यय होते हैं। जैसे—पंचालानां राजा पांचालः। वैदेहः। मागधः।

इस वार्त्तिक की अगले सूत्रों में भी अनुवृत्ति जाती है॥१॥

वा०—पूरोरण् वक्तव्यः॥२॥

पूरु शब्द जनपदवाची है। उससे राजा के सम्बन्ध में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—पूरुणां राजा पौरवः। पूरु शब्द से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) इस अधिकार से ही 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है, पुनः अण् का विधान तद्राज संज्ञा करने के लिए है॥२॥

वा०—पाण्डोर्ड्यण् वक्तव्यः॥३॥

यहाँ पाण्डु शब्द से युधिष्ठिरादि के पिता का ग्रहण नहीं है। पाण्डु शब्द द्व्यच् है, अतः अगले 'द्व्यञ् मगध०' (४।१।१६८) सूत्र से 'अण्' की प्राप्ति में यह विधान किया है। पाण्डोरपत्यं पाण्डूनां राजा वा पाण्ड्यः। इस बात का कैसे बोध होता है कि यहाँ पाण्डुशब्द से युधिष्ठिरादि के पिता का ग्रहण नहीं है? इसका उत्तर इस प्रकार है—'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) सूत्र पर वार्त्तिक में यह बात स्पष्ट कही है कि 'बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं लौकिकगोत्रभाव इति।' इस वार्त्तिक की यहाँ भी अनुवृत्ति है। इसमें कहा गया है कि अपत्याधिकार में जिन शब्दों से प्रत्यय विधान किया है, वे आदिपुरुषों (प्रथम प्रकृति) के बोधक हैं, लोकरूढ संज्ञा शब्दों के बोधक नहीं हैं। अतः मुख्य आदि पुरुष पाण्डु का ही इसमें ग्रहण है। उस से भिन्न पाण्डु शब्द से ड्यण् प्रत्यय न होने से 'पाण्डव' रूप ही बनेगा॥१६६॥

साल्वेयगान्धारिभ्यां च॥१६७॥

अञनुवर्त्तते। साल्वेय-गान्धारिभ्याम् —५।२। च [अ०] वृद्धसंज्ञके इमे प्रातिपदिके ताभ्यां ञ्यङ्प्राप्तः स बाध्यते। साल्वेय-गान्धारिभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामपत्यसामान्ये तद्राजनि चाभिधेयेऽञ् प्रत्ययो भवति। साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः। गान्धारः। तस्य राजनीति पूर्वस्माद् वार्त्तिकादनुवर्त्तते। साल्वेयानां राजा साल्वेयः। गान्धारः॥१६७॥

भाषार्थ—यहाँ 'अञ्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रपठित दोनों शब्द वृद्ध संज्ञक हैं, उन से 'वृद्धे त्०' सूत्र से ञ्यङ् प्रत्यय की प्राप्ति में यह बाधक प्रत्यय का विधान किया है। साल्वेय, गान्धारि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में और तद्राज अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः। गान्धारः। 'तस्य राजनि' इस वार्त्तिक की यहाँ भी अनुवृत्ति है। साल्वेयानां राजा साल्वेयः। गान्धारः॥१६७॥

द्व्यञ्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण्॥१६८॥

द्व्यञ्...सूरमसात् —५।१। अण् —१।१। जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्यनुवर्त्तते। अञ्बाधनार्थमण्विधानम्। द्व्यच्प्रातिपदिकान् मगधादिभ्यश्चापत्ये तद्राजनि चाण् प्रत्ययो भवति। अङ्गस्यापत्यं तद्राजा वा आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। कालिङ्गः। सौरमसः। तद्राजनीति वार्त्तिकादेवानुवर्त्तते॥१६८॥

भाषार्थ—यहाँ 'जनपदशब्दात् क्षत्रियात्' पदों की अनुवृत्ति है। यह सूत्र अञ्

प्रत्यय का बाधक और 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है। जनपद क्षत्रियवाची द्व्यच्=दो स्वरवाले और मगध,कलिङ्ग,सूरमस, प्रातिपदिकों से अपत्य और तद्राज अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—अङ्गस्यापत्यं तद्राजा वा आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। कालिङ्गः। सौरमसः। 'तस्य राजनि' पद की वार्त्तिक सूत्र से ही अनुवृत्ति आती है॥१६८॥

वृद्धेत्कोसलाजादाञ् ञ्यङ्॥१६९॥

जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्यनुवर्त्तते। वृद्धेत्...दात् -५।१। ञ्यङ् -१।१। अञोऽपवादः। वृद्धसंज्ञकादिकारान्तात् कोसल-अजादाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां चापत्ये तद्राजे चाभिधेये ञ्यङ् प्रत्ययो भवति। सौवीरस्यापत्यं तद्राजो वा सौवीर्य्यः। दार्व्यः। अवन्तेरपत्यं तद्राजो वा आवन्त्यः। कौन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः। तपरकरणं तत्कालार्थम्॥१६९॥

भाषार्थ—यहाँ 'जनपद शब्दात् क्षत्रियात्' पदों की अनुवृत्ति है। यह सूत्र 'अञ्' का अपवाद है। जनपद-क्षत्रियवाची वृद्धसंज्ञक, इकारान्त शब्दों और कोसल, अजाद प्रातिपदिकों से अपत्य और तद्राज अर्थ में 'ञ्यङ्' प्रत्यय होता है। जैसे—वृद्धसज्ञक सौवीरस्यापत्यं तद्राजो वा सौवीर्य्यः। दार्व्यः। इकारान्त—अवन्तेरपत्यं तद्राजो वा आवन्त्यः। कौन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः। सूत्र में तपरकरण तत्काल ग्रहण के लिये है॥१६९॥

कुरुनादिभ्यो ण्यः॥१७०॥

जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्यनुवर्त्तते। कुरुनादिभ्यः -५।३। ण्यः -१।१। नकार आदौ येषां ते नादयः। कुरुश्च नादयश्च तेभ्यः। कुरुशब्दादञोऽपवादो द्व्यच्त्वादण् प्राप्तस्तस्यायमपवादः। कुरुशब्दान्नादिभ्यश्चापत्ये तद्राजे चाभिधेये ण्यः प्रत्ययो भवति। कुरोरपत्यं तद्राजो वा कौरव्यः। नादि—निचकाया अपत्यं तद्राजो वा नैचक्यः। नैषो नाम जनपदस्तस्य नैष्यः। नैषध्यः॥१७०॥

भाषार्थ—यहाँ 'जनपद शब्दात् क्षत्रियात्' पदों की अनुवृत्ति है 'कुरु' शब्द से सामान्य 'अञ्' प्रत्यय का अपवाद द्व्यच् होने से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है, यह 'ण्य' प्रत्यय उसका बाधक है। जनपद-क्षत्रियवाची कुरु शब्द और नकारादि प्रातिपदिकों से अपत्य और तद्राज अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—कुरोरपत्यं तद्राजो वा कौरव्यः। नकरादि निचकाया अपत्यं तद्राजो वा नैचक्यः। नैषो नाम जनपदस्तस्य अपत्यं तद्राजो वा नैष्यः। नैषध्यः॥१७०॥

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ्॥१७१॥

अञोऽपवादः। जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्यनुवर्त्तते। साल्व-कूटाश्मकात् —५।१। इञ् —१।१। साल्वा नाम क्षत्रियास्तेषां निवासो जनपद इति निवासार्थस्य प्रत्ययस्य लुप्। तस्य साल्वस्यावयववाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रत्यग्रथ, कलकूट, अश्मक, इत्येतेभ्यश्चापत्ये तद्राजे चेञ् प्रत्ययो भवति। बुध, अजकुन्द, अजमीढ, इत्यादयः साल्वावयवाः। बुधस्यापत्यं तद्राजो वा

बौधि॰।आजक्रन्दिः।आजमीढिः।प्रात्यग्रथिः।कालकूटिः।आश्मकिः॥ १७१॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अञ्' का अपवाद है। यहाँ 'जनपदशब्दात् क्षत्रियात्' पदों की अनुवृत्ति है। साल्व नामक क्षत्रिय हैं, उनसे निवासार्थ में प्रत्यय का 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) सूत्र से लुप् होता है। साल्व नामक देशविशेष के अवयववाची और प्रत्यग्रथ, कलकूट, अश्मक प्रातिपदिकों से अपत्य और तद्राज अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है। बुध, अजक्रन्द, अजमीढ, इत्यादि साल्व अवयव हैं जैसे—साल्वावयव—बुधस्यापत्यं तद्राजो वा बौधिः। आजक्रन्दिः आजमीढिः॥ प्रात्यग्रथिः। कालकूटिः। आश्मकिः॥ १७१॥

ते तद्राजाः॥ १७२॥

ते —१।३। तद्राजाः —१।३। त इतिशब्दः पूर्वोक्तं परामृशति। तत्रापत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रमिति मध्ये संज्ञाकरणस्यैतत् प्रयोजनम्—जनपदशब्दादित्यारभ्याञादिप्रत्ययानां तद्राजसंज्ञा यथा स्यात्। तेऽञादयः प्रत्ययास्तद्राजसंज्ञा भवन्ति। अस्याः फलमुक्तं द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इति॥ १७२॥

भाषार्थ—'ते' शब्द पूर्वोक्त 'जनपदशब्दात्०' (४।१।१६६) सूत्र से लेकर विहित समस्त प्रत्ययों का सूचक है। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' (४।१।१६२) सूत्र से बीच में संज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि उसके परवर्ती 'जनपदशब्दात्०' (४।१।१६६) सूत्र से लेकर जो अञादिप्रत्ययों का विधान किया है, उन्हीं की तद्राज संज्ञा होवे, अन्यों की नहीं। 'जनपदशब्दात्०' (४।१।१६६) सूत्र से लेकर यहाँ तक जो अञादि प्रत्यय कहे हैं, उनको 'तद्राज' संज्ञा होती है। इस संज्ञा का फल द्वितीयाध्याय के चतुर्थपाद में 'तद्राजस्य बहुषु०' (२।४।६२) सूत्र से बहुवचन में प्रत्यय का लुक् होता है॥ १७२॥

कम्बोजाल्लुक्॥ १७३॥

कम्बोजात् —५।१। लुक् —१।१। जनपदशब्दात् क्षत्रियवाचिनः कम्बोजप्रातिपदिकाद्विहितस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति। कम्बोजस्यापत्यं तद्राजो वा कम्बोजः।

वा०—कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम्॥ १॥

चोलः। शकः। केरलः। यवनः। इत्यादिभ्योऽपि विहितस्य प्रत्ययस्यानेनैव लुक्। कम्बोजाद्याकृतिगणः॥ १७३॥

भाषार्थ—जनपद क्षत्रियवाची कम्बोज प्रातिपदिक से अपत्य और तद्राज अर्थ में विहित 'अञ्' प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—कम्बोजस्यापत्यं तद्राजो वा कम्बोजः।

वा०—कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम्॥ १॥

इस सूत्र से जो 'कम्बोज' शब्द से लुक् कहा है, वह कम्बोजादि से कहना चाहिये। जैसे—चोलः। शकः। केरलः। यवनः। इत्यादि शब्दों से भी अपत्य और

तद्राज अर्थ में विहित प्रत्यय का इसी से लुक् होता है। कम्बोजादि आकृतिगण है॥ १७२॥

स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च ॥ १७४ ॥

स्त्रियाम् —७।१। अवन्तिकुन्तिकुरुभ्यः —५।३। च [अ०] अवन्तिकुन्तिकुरुभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विहितस्य तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य स्त्रियामभिधेयायां, लुग्भवति। अवन्तेरपत्यं कन्या तद्राजी वा अवन्ती। कुन्ती। कुरूः। अवन्ति-कुन्तिभ्यामितो मनुष्यजातेरिति ङीष्। कुरुशब्दाद् ऊङुत इत्यूङ्। स्त्रियामिति किम्। आवन्त्यः। कौन्त्यः। कौरव्यः॥ १७४॥

भाषार्थ—यदि स्त्री अपत्य अथवा राज्ञी अभिधेय हो तो अवन्ति, कुन्ति, कुरु शब्दों से विहित तद्राज संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—अवन्तेरपत्यं कन्या तद्राजी वा अवन्ती। कुन्ती। कुरूः। यहाँ अवन्ति कुन्ति शब्दों से 'इतो-मनुष्यजातेः' (४।१।६५) सूत्र से 'ङीष्' और कुरु शब्द से 'ऊङुतः' (४।१।६६) सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'स्त्रियाम्' का ग्रहण इसलिये है कि—आवन्त्य*। कौन्त्यः। कौरव्यः। यहाँ स्त्री अभिधेय न होने से लुक् नहीं हुआ॥ १७४॥

अतश्च ॥ १७५ ॥

स्त्रियामित्यनुवर्त्तते। अतः —५।१। च-[अ०] तद्राजसंज्ञकस्याकार-प्रत्ययस्य स्त्रियामभिधेयायां लुग्भवति। मद्राणां राज्ञी मद्री। शूरसेनी। जाति-लक्षणोऽत्र ङीष्। अत इति तदन्तविधिर्न भवति। कुतः। अवन्त्यादिभ्यो लुग्वचनस्य ज्ञापकत्वात्। यद्यवन्त्यादिभ्यो विहितस्य ञ्यङ्प्रत्ययस्य ण्यप्रत्ययस्य च तदन्तविधिना लुक् स्यात्तर्ह्यवन्त्यादिभ्यो लुग्वचनमनर्थकं स्यात्। तेन ज्ञापके नेह न भवति—आम्बष्ठ्या। सौवीर्य्या। अस्मिन् सूत्रे तद्राजसंज्ञामात्रस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। अर्थात् पंचमाध्यायस्य तृतीयपादान्ते विहितानां तद्राजसंज्ञानामकारप्रत्ययानां लुग् भवति। यथा पर्शोरपत्यं द्व्यञ्मगधेत्यण्। तस्यानेन स्त्रियां लुक् ततः पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञाविति पांचमिकेन स्वार्थेऽण्। तस्याप्यनेन लुक्। पर्शूः। रक्षाः आसुरी॥ १७५॥

भाषार्थ—यहाँ 'स्त्रियाम्' पद की अनुवृत्ति आती है। जो स्त्री अपत्य अथवा राज्ञी अभिधेय हो तो तद्राज संज्ञक अकार प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—मद्राणामपत्यं राज्ञी वा मद्री। शूरसेनी। इन में 'जातेरस्त्री०' (४।१।६३) सूत्र से जाति लक्षण ङीष् प्रत्यय हुआ है। इस सूत्र में 'अतः' पद में तदन्तविधि अर्थात् अकारान्त प्रत्यय का लुक् इसलिये नहीं होता कि 'स्त्रियामवन्ति०' (४।१।१७४) कि इससे पूर्वसूत्र में अवन्ति आदि शब्दों से जो लुक् कहा है, यही तदन्तविधि

---

* यहाँ अवन्ति और कुन्ति शब्दों से इकारान्त होने से 'वृद्धेत्०' (४।१।१६९) सूत्र से ञ्यङ् और कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय 'कुरुनादि०' (४।१।१७०) इस सूत्र से होता है।
—सम्पादक

न होने में ज्ञापक है। यदि अवन्ति आदि से विहित 'ञ्यङ्' प्रत्यय का और 'ण्य' प्रत्यय का तदन्तविधि मानकर लुक् हो जावे, तो अवन्ति आदि से लुक् करना निरर्थक ही हो जाये। इस ज्ञापक से यहाँ लुक् नहीं होता— आम्बष्ठ्या*। सौवीर्या। इस सूत्र में तद्राजसंज्ञक प्रत्यय मात्र का लुक् होता है। अर्थात् पंचमाध्याय के तृतीयपाद के अन्त में विहित तद्राज संज्ञक अकार प्रत्ययों का भी इससे लुक् होता है। जैसे 'पर्शोरपत्यं' इसमें 'द्व्यञ्मगध०' (४।१।१६८) सूत्र से अण्, उसका इससे लुक्। तत्पश्चात् 'पार्श्वादियौधेयादि०' (५।३।११७) सूत्र से (पंचमाध्याय में) स्वार्थ में अण्। उसका भी इससे लुक्। पर्शुः। रक्षाः। आसुरी॥ १७५॥

न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः॥ १७६॥

स्त्रियामित्यनुवर्त्तते। न [अ०]। प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः —५।३। प्रागभवाः प्राच्याः क्षत्रियाः। भर्गादयो यौधेयादयश्च गणशब्दाः। प्राच्यभर्गादि-यौधेयादिभ्यो विहितस्य तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य स्त्रियामभिधेयायां लुङ् न भवति। प्राच्याः—अङ्गस्यापत्यं तद्राजी वा आङ्गी। वाङ्गी। मागधी। भार्गी। कारुषी। यौधेयी। शौभ्रेयी। युधाया अपत्यं द्व्यच इति ढक्। तस्माद् वृद्धत्वाद् ञ्यङ् प्राप्तस्तस्य तु लुक् प्राप्नोत्येव न पश्चाद् यौधयादिभ्यः स्वार्थे तद्राजसंज्ञः पाञ्चमिकेनाञ् विधीयते तस्यापि लुग्भवतीत्युक्तं तदनेन प्रतिषिध्यते। यौधेयशब्दाड् ढगन्तान् ङीप् प्राप्नोति लुकि प्रतिषिद्धेऽअन्ताज् जातिलक्षणो ङीन् भवति। तत्र स्वरे विशेषः। यदि ङीप् स्यात्तर्हि उदात्तनिवृत्तिस्वरो ङीप उदात्तत्वं स्यात्। ङीनि सत्याद्युदात्तत्वम्। अनेनैव ज्ञापकेन पांचमिकस्य तद्राजसंज्ञस्यातश्चेति लुग् भवति। यदि पाञ्चमिकस्य न स्याद् यौधेयादिभ्यो लुक् प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्।

अथ भर्गादयः—भर्ग। करूष। केकय। कश्मीर। साल्व। सुस्थाल। उरश। उरस। कौरव्य॥ इति भर्गादिः॥ अथ यौधेयादयः यौधेय। शौभ्रेय। शौकेय। शौक्नेय। ग्रावाणेय। वार्त्तेय। धार्त्तेय। धौर्त्तेय। त्रिगर्त्त। भरत। उशीनर॥ इति यौधेयादिः॥ १७६॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः॥

भाषार्थ यहाँ 'स्त्रियाम्' पद की अनुवृत्ति है। प्राच्य=पूर्वदेश के क्षत्रियों के विशिष्ट नामों और भर्गादि, यौधेयादि गणों में पठित प्रातिपदिकों से विहित तद्राज संज्ञक प्रत्यय का स्त्री अपत्य अथवा राज्ञी अभिधेय हो तो लुक् नहीं होता है। जैसे—प्राच्य—अङ्गस्यापत्यं तद्राजी वा आङ्गी। वाङ्गी। मागधी भर्गादि भार्गी कारूषी। यौधेयादि-यौधेयी। शौभ्रेयी। इत्यादि।

'यौधेयी' प्रयोग में—'युधाया अपत्यम्' विग्रह करके 'द्व्यचः' (४।१।१२१)

---

* अत्र आम्बष्ठ सौवीर शब्दाभ्यामपत्यार्थे 'वृद्धेत्' (४।१।१६९) सूत्रेण ञ्यङ् प्रत्ययः, तदन्ताच् चाप् प्रत्ययः। —अनुवादक

सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय करके वृद्ध संज्ञक होने से 'वृद्धेत्०' (४।१।१६९) सूत्र से 'ञ्यङ्' प्रत्यय होता है, उसका तो लुक् हो जाता है। तत्पश्चात् 'यौधेय' शब्द से 'पार्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ' (५।३।११७) सूत्र से जो स्वार्थ में तद्राजसंज्ञक 'अञ्' प्रत्यय होता है, उसका जो लुक् प्राप्त है, उसका इससे प्रतिषेध किया गया है। ढक् प्रत्ययान्त 'यौधेय' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्राप्त होता है और लुक् का प्रतिषेध होने से अञ् प्रत्ययान्त से जातिलक्षण 'ङीन्' प्रत्यय होता है। 'ङीप्' और 'ङीन्' प्रत्ययों में स्वर का भेद है। यदि लुक् होने पर 'ङीप्' होता है तो उदात्तनिवृत्ति स्वर से 'ङीप्' उदात्त होता है और लुक् न होने से 'ङीन्' प्रत्यय होने पर प्रत्यय के 'नित्' होने से आद्युदात्त स्वर होता है।

इसी लुक् निषेध करनेवाले सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि पंचमाध्याय के तद्राजसंज्ञक अकार प्रत्यय का 'अतश्च' (४।१।१७५) सूत्र से लुक् होता है। यदि पाञ्चमिक तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् नहीं होवे, तो यौधेयादि शब्दों से लुक् का प्रतिषेध करना निरर्थक हो जाता है॥ १७६॥

यह चतुर्थ अध्याय का प्रथम पाद समाप्त हुआ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः

तेन रक्तं रागात् ॥ १ ॥

समर्थानां प्रथमाद्वेति प्राग्दीव्यतोऽणिति च सर्वमनुवर्त्तते। तेन—३।१। रक्तम्—१।१। रागात्—५।१। रागात्=रक्तवाचिनस्तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। कुसुम्भेन रक्तं वस्त्रं कौसुम्भम्। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। मांजिष्ठम्। रागादिति किम्। इह मा भूत्—देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्। हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादावित्यादिप्रयोगेषूपमानात्प्रत्ययो भवति—हरिद्रया रक्ताविव॥ १ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (४।१।८२) और 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) इन सूत्रों की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ राग (रङ्ग) वाची प्रातिपदिकों से रक्त=रगने अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—कुसुम्भेन रक्तं वस्त्रं कौसुम्भम्। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। माञ्जिष्ठम्, इत्यादि। 'यहाँ 'रागात्' का ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्। यहाँ रागवाची न होने से देवदत्त से प्रत्यय नहीं हुआ। इस सूत्र से रागवाची शब्दों से रक्त अर्थ में प्रत्यय का विधान किया है, इसलिये 'हारिद्रौ कुकुटस्य पादौ' इत्यादि में प्रत्यय प्राप्त नहीं है, क्योंकि वे रंगे हुए नहीं हैं। इसका उत्तर यह है, यहाँ 'हरिद्रया रक्ताविव' उपमानवाची मानकर प्रत्यय हुआ है।

लाक्षारोचनाट् ठक् ॥ २ ॥

तेन रक्तमित्यनुवर्त्तते। लाक्षारोचनात्—५।१। ठक्—१।१। तृतीयासमर्थाभ्यां लाक्षारोचनाप्रातिपदिकाभ्यां रक्तार्थे ठक् प्रत्ययो भवति। लाक्षया रक्तं वस्त्रं लाक्षिकम्। रौचनिकम्। अधिकारादण् प्राप्तः स बाध्यते।

वा०—ठक् प्रकरणे शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्॥ १ ॥

शाकलिकम्। कार्दमिकम्॥ १ ॥

वा०—नील्या अन्॥ २ ॥

नील्या रक्तं वस्त्रं नीलम्॥ २ ॥

वा०—पीतात् कन्॥ ३ ॥

पीतेन रक्तं वस्त्रं पीतकम्॥ ३ ॥

वा०—हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्॥ ४ ॥

हारिद्रम्। माहाराजनम्॥ ४ ॥ सर्वं स्पष्टतरमेव॥

अस्मिन् सूत्रे शकल कर्दमशब्दौ जयादित्येन सूत्रे पठित्वा व्याख्यातौ, तद्भ्रान्तिमूलकमस्ति, वार्त्तिके तयोः पठितत्वात्। तत्र जयादित्येनेदमप्युक्तं

शकल-कर्दमाभ्यामणपीष्यते तत्सर्वं त्याज्यमेव प्रमाणाऽभावात्। अत्र कैय्यटेनाप्युक्तं 'शकल कर्दमयोः पाठोऽनार्ष इति'। तेन ज्ञायते बहुकालादारभ्य केनचिद् देवानां प्रियेण वार्त्तिकस्थौ शब्दौ भ्रमात् सूत्रे लिखितौ॥ २॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन रक्तम्' पदों की अनुवृत्ति है। यह पूर्वसूत्र का अपवादसूत्र है। तृतीयासमर्थ लाक्षा और रोचन प्रातिपदिकों से रक्त (रंगने) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—लाक्षया रक्तं वस्त्रं लाक्षिकम्। रौचनिकम्। अधिकार होने से यहाँ 'अण्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका बाधक इस सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय हो गया है।

वा०—ठक्प्रकरणे शकल-कर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्॥ १॥

यह वार्त्तिक भी 'अण्' प्रत्यय के बाधक 'ठक्' का विधान करता है। तृतीयासमर्थ शकल कर्दम प्रातिपदिकों से रक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—शकलेन रक्तं शार्कलिकम्। कार्दमिकम्॥ १॥

वा०—नील्या अन्॥ २॥

तृतीया समर्थ 'नीली' प्रातिपदिक से रक्त अर्थ में 'अन्' प्रत्यय होता है। जैसे—नील्या रक्तं वस्त्रं नीलम्॥ २॥

वा०—पीतात् कन्॥ ३॥

तृतीया समर्थ 'पीत' प्रातिपदिक से रक्त अर्थ में 'अन्' प्रत्यय होता है। जैसे—पीतेन रक्त वस्त्रं पीतकम्॥ ३॥

वा०—हरिद्रा महारजनाभ्यामञ्॥ ४॥

तृतीयासमर्थ हरिद्रा-महारजन प्रातिपदिकों से रक्त अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—हरिद्रया रक्तं वस्त्रं हारिद्रम्। माहारजनम्।

इस सूत्र में काशिकाकार जयादित्य ने शकल और कर्दम शब्दों को सूत्र में पढ़कर व्याख्या की है। यह उनकी भ्रान्ति ही है। क्योंकि इन शब्दों का वार्तिक में पाठ है, और जयादित्य का यह कथन भी भ्रान्तिमूलक है कि शकल कर्दम शब्दों से 'अण्' प्रत्यय भी इष्ट है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है। महाभाष्य के टीकाकार कैय्यट ने भी 'शकल-कर्दमयोः सूत्रे पाठोऽनार्षः' कहकर इस बात की पुष्टि की है। कैय्यट के इस पाठ से स्पष्ट है कि सूत्र में यह अनार्ष पाठ बहुत पहले से चला आ रहा है, और किसी भ्रान्त व्यक्ति ने भ्रमवश वार्तिक के शब्दों को सूत्र में लिखा है॥ २॥

नक्षत्रेण युक्तः कालः॥ ३॥

तेनेति तृतीयासमर्थमनुवर्त्तते। नक्षत्रेण —३।१। युक्तः —१।१। कालः —१।१। नक्षत्रशब्देन विशेषवाचिनां ग्रहणम्। युक्त इति विशेष्यतयार्थनिर्देशः, कालस्तस्य विशेषणम्। तृतीयासमर्थात् नक्षत्रवाचिनः प्रातिपदिकाद् युक्तः-काल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। नक्षत्रेण युक्ते चन्द्रमसि नक्षत्रशब्दो वर्त्तते। तेन नक्षत्रयुक्तेन पुष्येण चन्द्रमसा युक्तः कालः पौषी रात्रिः। पौषमहः। सामान्येनाधिकारादणेव भवति। विशेषत्वेन यो यतः प्राप्नोति स ततो

भविष्यति। नक्षत्रेणेति किम्-चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः। काल इति किम्-पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः॥ ३॥

भावार्थ—यहाँ 'तेन' तृतीया समर्थविभक्ति की अनुवृत्ति है। 'नक्षत्र' शब्द में नक्षत्रविशेषवाची शब्दों का ग्रहण है, स्वरूप ग्रहण नहीं है। 'युक्तः' पद से विशेष्य होने से प्रत्ययार्थ का निर्देश किया गया है और 'कालः' पद उसका विशेषण है। तृतीयासमर्थ नक्षत्र विशेषवाची प्रातिपदिकों से 'युक्तःकालः' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। 'अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिर्योगः' इस नियम के अनुसार काल नक्षत्र का योग नहीं हो सकता। क्योंकि नित्य वर्त्तमान होने से उनका सन्निकर्ष विप्रकर्ष नहीं होता है। इसलिये इस सूत्र में ऐसा समझना चाहिये कि यहाँ 'नक्षत्र' शब्द नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा का बोधक है, इसलिये चन्द्रमा के साथ पुष्यादि नक्षत्रों का संयोगकाल कहना अभीष्ट है। जैसे—नक्षत्रयुक्तेन पुष्येण चन्द्रमसा युक्तः कालः—पौषी रात्रिः। पौषमहः। यहाँ सामान्य अधिकार से 'अण्' प्रत्यय होता है और जिस नक्षत्रवाची से विशेष विधान किया जायेगा, वह उससे हो जायेगा। सूत्र में 'नक्षत्रेण' पद इसलिये पढ़ा है—'चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः' यहाँ प्रत्यय न हो। और 'कालः' पद का ग्रहण इसलिये है—'पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः' यहाँ प्रत्यय न हो॥ ३॥

लुबविशेषे॥ ४॥

लुप् —१।१। अविशेषे —७।१। पूर्वसूत्रेण विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् विधीयते। अहोरात्रः कालो नक्षत्रेण युज्यते, तस्याहोरात्रस्य सामान्यवचने विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति। पुष्येण युक्तः कालोऽद्य पुष्यः। अद्य कृत्तिका। अद्य रोहिणी। अविशेष इति किम्। पौषो मुहूर्त्तः॥ ४॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से विहित प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) विधान किया जाता है। अविशेषे-जहाँ काल का अवयवरूप कोई विषेश अर्थ विवक्षित न हो, वहाँ अहोरात्र रूप काल के नक्षत्र से योग हो तो सामान्यवचन=पूर्वसूत्र से विहित प्रत्यय का लुप् हो जाता है। जैसे—पुष्येण युक्तः कालोऽद्य पुष्यः। अद्य कृत्तिका। अद्य रोहिणी।

सूत्र में 'अविशेष' इसलिये कहा है कि—'पौषो मुहूर्त्तः। यहाँ विशेष विवक्षा में प्रत्यय का लुप् न हो॥ ४॥

संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम्॥ ५॥

अविशेषेण पूर्वेण लुब् विहितो विशेषार्थमिदमुच्यते। संज्ञायाम् —७।१। श्रवणाश्वत्थाभ्याम् —५।२। तृतीयासमर्थाभ्यां श्रवण-अश्वत्थनक्षत्राभ्यां विहितस्य प्रत्ययस्य संज्ञायां विषये लुब् भवति। श्रवणेन युक्ता रात्रिः श्रवणा। अश्वत्थो मुहूर्त्तः। ''विभाषा फाल्गुनीश्रवणे' ति निपातनाच्छ्रवणा रात्रिरिति, युक्तवद्भावो न भवति। संज्ञायामिति किम्—श्रावणी रात्रिः॥ ५॥

भावार्थ— पूर्वसूत्र से अविशेष अर्थ में प्रत्यय का लुप् विधान किया है। विशेष

अर्थ में इस सूत्र से विधान किया जाता है। तृतीया समर्थ नक्षत्रवाची श्रवण और अश्वत्थ प्रातिपदिकों से सञ्ज्ञा विषय में विहित प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) होता है। जैसे—श्रवणेन युक्ता रात्रिः श्रवणा। अश्वत्थो मुहूर्त्तः। 'श्रवणा रात्रिः' प्रयोग में प्रत्यय का लुप् होने पर 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (अ० १।२।५१) सूत्र से युक्तवद् भाव=पूर्ववद् लिङ्गवचन इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि सूत्रकार ने 'विभाषा फाल्गुनी श्रवणा०' (अ० ४।२।२२) सूत्र में ऐसा ही निपातन किया है।

सूत्र में 'सञ्ज्ञायाम्' पद इसलिए पढ़ा है कि संज्ञा से अन्यत्र 'श्रावणी रात्रिः' प्रयोग में प्रत्यय का लुप् न हो॥५॥

द्वन्द्वाच्छः॥ ६॥

द्वन्द्वात्—५।१। छः—१।१। तृतीयासमर्थात् नक्षत्र-द्वन्द्वप्रातिपदिकात् सर्वापवादश्छः प्रत्ययो भवति। तिष्यपुनर्वसुभिर्युक्तः कालस्तिष्यपुनर्वसवीयम्। कृत्तिकारोहिणीयम्॥ ६॥

भाषार्थ—तृतीयासमर्थ नक्षत्रवाची शब्दों के द्वन्द्व प्रातिपदिकों से 'युक्तः कालः' अर्थ में सबका अपवाद=अविशेष और विशेष में विहित प्रत्ययों का अपवाद 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—तिष्य पुनर्वसुभिर्युक्तः कालः=तिष्य पुनर्वसवीयमहः। कृत्तिकारोहिणीयमहः। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी ज्ञेय हैं—तिष्यपुनर्वसवीया रात्रिः। कृत्तिकारोहिणीया रात्रिः। अविशेषार्थ में—अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम्। अद्य कृत्तिकारोहिणीयम्॥ ६॥

दृष्टं साम॥ ७॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। दृष्टम्-१।१। साम-१।१। दृष्टमित्यर्थनिर्देशः। सामेत्येतद् विशेषणम्। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वसिष्ठेन दृष्टं साम वासिष्ठम्। वैश्वामित्रम्। देवेन दृष्टं साम दैव्यम्। दैवम्।

वा०—सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्॥ १॥

सर्वत्रातोऽग्रे प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वग्निकलिभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति। अग्निना दृष्टं साम आग्नेयम्। अग्नौ भवमाग्नेयम्। अग्नेरागतम् आग्नेयम्। अग्नेः स्वमाग्नेयम्। अग्निर्देवतास्य आग्नेयम्। एवं कलिना दृष्टं साम कालेयम्।

अत्रापि जयादित्येन 'कलेर्ढगिति' सूत्रं व्याख्यातं, तच्च भ्रान्तिमूलं वार्त्तिकारम्भात्।

का०— दृष्टे सामनि जाते च द्विरण् डिद् वा विधीयते।
तीयादीकङ् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते॥ १॥

दृष्टे सामनीत्यर्थेऽण् प्रत्ययो विकल्पेन डिद् भवति। उशनसा दृष्टं साम औशनसम्। औशनम्। डित्त्वाट्टिलोपः। जाते च='तत्र जातः' इति प्रकरणे द्विरण्=स्वबाधकं बाधित्वा पुनर्विधीयमानोऽण् प्रत्ययो विकल्पेन डिद् भवति। शतभिषजि जातः शातभिषजः। शातभिषः। डित्कार्यं पूर्ववत् शतभिषगिति

नक्षत्रवाचिनः प्रातिपदिकाद् युक्तः काल इत्यर्थेऽण्। शतभिषजा युक्तः कालः शतभिषक्। 'लुबविशेष इति' लुप्। ततः शैषिके जातार्थे प्राग्दीव्यतोऽण् इत्यणि प्राप्ते 'कालाट्ठञ्' प्रत्ययेन बाध्यते। पुनष्ठञं बाधित्वा 'सन्धिवेलाद्यृतु नक्षत्रेभ्यः' इत्यण् विधीयते। तीयादीकक्=तीयप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकादीकक् प्रत्ययो भवति। अर्थनिर्देशाभावात् स्वार्थे विधानम्। द्वैतीयीकः तार्त्तीयीकः। न विद्यायाः=विद्यावाचिनस्तीयप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकादीकङ् न भवतीत्यर्थः। द्वितीया विद्या तृतीया वा। गोत्रादङ्कवदिष्यते=गोत्र प्रत्ययान्ताद् दृष्टे सामनी-त्यर्थेऽङ्कवत् प्रत्ययो भवति। अङ्के इवेत्यङ्कवत्। सप्तम्यर्थे वतिः। अङ्कार्थे यः प्रत्ययो विधीयते स भवतीत्यर्थः। यथा—'गोत्रचरणाद् वुञ्'। सघाङ्क-लक्षणेष्विति। गार्ग्येण दृष्टं साम गार्ग्यकम्। वात्स्यकम्। औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्। कापटवकम्। अत्रापि वुञ् प्रत्ययो भवति॥७॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। 'दृष्टम्' इससे अर्थ का निर्देश किया गया है और 'साम' यह उसका विशेषण है। तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से दृष्ट साम=सामवेद के देखने=अर्थसाक्षात्कार करने अथवा विचार करने के अर्थ में अणादि यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठम्। वैश्वामित्रम्। देवेन दृष्टं साम दैव्यम्, दैवं वा।

वा०—सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्॥१॥

सर्वत्र=यहाँ से आगे जितने प्राग्दीव्यतीय अर्थ हैं, उनमें अग्नि और कलि: प्रातिपदिकों से 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—अग्निना दृष्टं साम आग्नेयम्। अग्नौ भवमाग्नेयम्। अग्नेरागतम् आग्नेयम्। अग्नेः स्वम् आग्नेयम्। अग्निर्देवताऽस्याग्नेयम्। इसी प्रकार कलिना दृष्टं साम कालेयम्। इत्यादि भी जानने चाहिएँ।

इस वार्तिक को जयादित्य ने काशिका में 'कलेर्ढक्' सूत्र मानकर व्याख्या की है। यह उनकी भ्रान्ति ही है। और फिर वार्तिक भी ऐसा ही लिखा है। अतः महाभाष्य एवं सूत्रकार के विरुद्ध होने से जयादित्य की नवीन सूत्ररचना भ्रान्ति ही है।

का०— दृष्टे सामनि जाते च द्विरण् डिद्वा विधीयते।
तीयादीकङ् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते॥१॥

सामवेद के दृष्ट=विशिष्ट ज्ञान करने अर्थ में अण् प्रत्यय विकल्प से डित् होता है। जैसे—उशनसा दृष्टं साम औशनसम्। औशनम्। विकल्प से डित् होने से पक्ष में टिभाग का लोप हो गया। और 'तत्र जातः' (४।३।२५) इस आगामी प्रकरण में अपने अपवाद का अपवाद होके फिर विधान किया 'अण्' प्रत्यय विकल्प से डित् होता है। जैसे—शतभिषजि जातः शातभिषजः। शातभिषः। डित् का प्रयोजन यहाँ पूर्ववत् पक्ष में टि लोप करना है। यहाँ नक्षत्र वाची 'शतभिषक्' प्रातिपदिक से 'युक्तः कालः' अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ। शतभिषजा युक्तः काल शतभिषक्। 'अण्' प्रत्यय का 'लुबविशेषे' सूत्र से लुप् (अदर्शन) हो गया उसके पश्चात् शैषिक जात अर्थ में प्राग्दीव्यतीय 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'कालाट्

ठञ्' प्रत्यय के बाधक 'सन्धिवेलाद्यृतु०' (४।३।१६) सूत्र से विहित अण् प्रत्यय को विकल्प से ङित् किया है।

और तीय-प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'ईकक्' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय अर्थनिर्देश न होने से स्वार्थ में होता है। जैसे द्वितीय शब्द से—द्वैतीयीकम्। तृतीय से -तार्तीयीकम्। परन्तु विद्यावाची तीयप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से 'ईकक्' प्रत्यय नहीं होता। जैसे—द्वितीया विद्या। तृतीया विद्या।

और गोत्र प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से सामवेद के दृष्ट=विशेष ज्ञान करने अर्थ में अङ्कवत् प्रत्यय होते हैं, अर्थात् अङ्कः अर्थ में जो प्रत्यय होता है, वह यहाँ भी होता है। 'अङ्कवत्' शब्द मे वति प्रत्यय सप्तम्यर्थ में है—अङ्के इव अङ्कवत्। जैसे—'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२५) 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्व०' (४।३।१२६)—'गार्ग्येण दृष्टं साम गार्ग्यकम्। वात्स्यकम्। औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्। कापटवकम्। इनमें गोत्रवाचियों से भी दृष्ट साम अर्थ में संघादि अर्थों की भाँति वुञ् प्रत्यय का अतिदेश हो गया है॥७॥

वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ॥८॥

वामदेवात्—५।१। ड्यड्ड्यौ—१।२ तृतीयासमर्थाद् वामदेवप्रातिपदिकाद् दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थे ड्यत्—ड्यौ प्रत्ययौ भवतः। अधिकारादण् प्राप्तः बाध्यते। वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्। तित्करणं स्वरार्थम्।

का०— सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं यन्यतौ डितौ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥१॥

अनया कारिकया डित्करणस्य प्रयोजनमुच्यते। 'यस्येति चे' ति सूत्रेण वामदेव शब्दस्यान्त्यलोपः स्यादेव, पुनष्टिलोपार्थं तु डित्करणं न कर्त्तव्यम्। तत्रैतत्प्रयोजनं य-यतोर्ग्रहणे ड्य-ड्यतोर्ग्रहणं मा भूत्। अस्मादेव डित्करणज्ञापकादेते परिभाषे निस्सृते—

परि०—अननुबन्धकग्रहणेन न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्॥१॥
परि०—तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्॥२॥

तस्य ज्ञापनस्यैतत् प्रयोजनम्—वामदेवस्य नञ्स्वरेऽतदर्थे यन्यतोरर्थे ड्य-ड्यतोर्ग्रहणं मा भूत्। अवामदेव्यम्। अत्र ''ययोतश्चातदर्थे'' इत्यन्तोदात्तत्वं प्राप्तं तन्मा भूत्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तस्वरो यथा स्यात्॥८॥

भाषार्थ—तृतीयसमर्थ 'वामदेव' प्रातिपदिक से सामवेद के दृष्ट=अर्थ जानने अर्थ में ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्। प्रत्ययस्थ तित्करण स्वर के लिये है।

का०— सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं य-यतौ डितौ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ् स्वरे॥१॥

इस कारिका से प्रत्ययों में डित्करण का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है. 'वामदेव्यम्' प्रयोग में 'यस्येति च' (६।४।१४८)सूत्र से ही अन्त्य अकार

का लोप हो जाता फिर टिलोप करने के लिये डित्करण हो जाने से यह ज्ञापक हो जाता है कि सूत्रों में य-यत् प्रत्ययों के ग्रहण से ड्य ड्यत् प्रत्ययों का ग्रहण न होवे। और यह डित्करण इन परिभाषाओं का ज्ञापक है—

परि०—अननुबन्धकग्रहणेन न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्॥ १॥

परि०—तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्॥ २॥

अर्थात् व्याकरण शास्त्र में अनुबन्धरहित के पाठ से अनुबन्धसहित प्रत्ययों का ग्रहण नहीं होता है। अथवा जिस अनुबन्धसहित का सूत्र में पाठ है, उसी का ग्रहण होता है। उससे भिन्न अनुबन्धवाले प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता। इसलिये 'य यतोश्चाऽतदर्थे' (६।२।१५५) सूत्र से अन्तोदात्त का विधान किया गया है, वह ड्य ड्यत् प्रत्ययान्त शब्दों में नहीं होगा। इसलिये (अवामदेव्यम्) प्रयोग में उत्तरपद अन्तोदात्त न होकर अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर से आद्युदात्त स्वर हो गया है॥ ८॥

परिवृतो रथः॥ ९॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। परिवृतः—१।१। रथः—१।१। परितः सर्वत आच्छादित इत्यर्थनिर्देशः। रथशब्दः प्रत्ययार्थविशेषणम्। तृतीयसमर्थात् प्रातिपदिकात् परिवृतो रथ इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

कम्बलेन परिवृतो रथः काम्बलः। वास्त्रः। वासनः। रथशब्दो यानवाची। रथ इति किम्। वस्त्रेण परिवृत्तं शरीरम्। पुत्रैः परिवृतो रथ इत्यनभिधानान्न भवति। अर्थात् पौत्रशब्देन नैषोऽर्थोऽभिधीयते पुत्रैः परिवृतो रथ इति॥ ९॥

भावार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। 'परिवृत' शब्द का अर्थ है सब ओर से अच्छादित करना। 'रथ' शब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से परिवृत (सब ओर से ढकने) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, जिसे परिवृत किया जाये वह रथ (यान) होना चाहिये। जैसे—कम्बलेन परिवृतो रथः काम्बलो रथः। वास्त्रः। वासनः। यहाँ 'रथ' का ग्रहण इसलिये किया है कि 'वस्त्रेण परिवृतं शरीरम्' यह रथ से भिन्न वाच्य में प्रत्यय न हो। 'पुत्रैः परिवृतो रथः' में प्रत्यय अनभिधान से नहीं होता, क्योंकि प्रत्यय करने पर 'पौत्र' शब्द से उस वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती॥ ९॥

पाण्डुकम्बलादिनिः॥ १०॥

परिवृतो रथ इत्यनुवर्त्तते। पाण्डुकम्बलात्—५।१। इनिः—१।१। पाण्डुकम्बलो वर्णविशेषवाची। पाण्डुकम्बलात्तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् परिवृतो रथ इत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। अण् प्राप्तः स बाध्यते। पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथ इति पाण्डुकम्बली रथः॥ १०॥

भावार्थ—यहाँ 'परिवृतो रथः'। सूत्र की अनुवृत्ति है। 'पाण्डुकम्बल' शब्द वर्ण विशेषवाची है। तृतीयासमर्थ 'पाण्डुकम्बल' प्रातिपदिक से परिवृत रथ अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' प्रत्यय का बाधक है। जैसे—पाण्डुकम्बलेन

परिवृतो रथः पाण्डुकम्बली रथः॥ १०॥

द्वैपवैयाघ्रादञ्॥ ११॥

द्वैपवैयाघ्रात् —५।१। अञ् —१।१। द्वीप व्याघ्रयोर्विकारश्चर्म तस्माद् अण्बाधनार्थमञ्विधानम्। द्वैपेन परिवृतो रथो द्वैपः। वैयाघ्रः। प्रयोगस्तु स एव। स्वरे भेदः॥ ११॥

भाषार्थ द्वैप वैयाघ्र शब्दों में विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय है और यहाँ दोनों शब्द विवक्षा से चर्म के लिये पठित हैं। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद अञ् का विधान किया है। तृतीया समर्थ द्वैप-वैयाघ्र प्रातिपदिकों से परिवृत रथ अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्वैपेन परिवृतो रथो द्वैपः। वैयाघ्रः। अण् और अञ् प्रत्ययों में स्वर में भेद होता है रूप में नहीं॥ ११॥

कौमाराऽपूर्ववचने॥ १२॥

कौमार इति लुप्तविभक्तिको निर्देशः। अपूर्ववचने —७।१। यस्याः पाणिग्रहणस्य पूर्वकथनमपि न जातम्।

वा०—कौमारापूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रिया अपूर्वत्वे॥ १॥

उभयतः स्त्रीलिङ्गे पुंल्लिङ्गे च स्त्रिया अपूर्ववचने कौमारशब्दो निपात्यते। अपूर्वपतिं कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्त्ता। अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्य्या।

का०— कौमाराऽपूर्ववचने कुमार्य्या अण् विधीयते।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्य्यां भवतीति वा॥ १॥

'कौमाराऽपूर्ववचने' इत्यस्मिन् सूत्रे कुमारी शब्दादण् प्रत्ययो विधीयते। यदा तस्याः कुमार्य्या अपूर्वत्वं भवति। अथवा सामान्ये भवार्थे-कुमार्य्यां भवः कौमार इत्यण्॥ १२॥

भाषार्थ—जिसका किसी के साथ पूर्व=पहले पाणिग्रहण विषयक कथन (वाग्दान) भी न हुआ हो, उस अपूर्ववचन अर्थ में कुमारी शब्द से अण् प्रत्ययान्त 'कौमार' शब्द का निपातन किया है।

वा० -कौमाराऽपूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रिया अपूर्वत्वे॥ १॥

यह कुमारी शब्द से अण् प्रत्ययान्त 'कौमार' शब्द का निपातन स्त्रीलिंग और पुल्लिग में अर्थात् यदि 'कौमारी' स्त्रीलिंग में प्रयोग हो, अथवा 'कौमारः पतिः' ऐसा पुल्लिग में प्रयोग हो, दोनों तरह के प्रयोगों में स्त्री (कुमारी) के विवाह विषयक अपूर्वकथन में हो। जैसे—अपूर्वपतिं कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्ता। अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या। अभिप्राय यह है कि निपातन से प्रत्यय का विधान कुमारी शब्द से हो, परन्तु प्रत्ययार्थ दोनों लिङ्गों में रहे। और 'अपूर्ववचन अर्थ का सम्बन्ध कुमारी के साथ ही रहे।

का०— कौमाराऽपूर्ववचन कुमार्य्या अण् विधीयते।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्यां भवतीतिवा॥ १॥

पूर्व वार्तिकोक्त निपातन लभ्य अर्थ को ही कारिका से कहा गया है। अर्थात् इस सूत्र से कुमारी शब्द से 'अण्' प्रत्यय करके 'कौमार' शब्द का निपातन अपूर्ववचन अर्थ में (जब कुमारी का अपूर्ववचन कहना अभीष्ट हो) किया है। अथवा कुमारी शब्द से सामान्य 'भव' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय से भी यह रूप बन जाता है। जैसे—कुमार्यां भवः कौमारः। इस दूसरे पक्ष में 'कौमारीभार्या' प्रयोग कैसे बनेगा? इसका समाधान महाभाष्य में "पुंयोगात् स्त्र्यभिधानम्" कहकर किया है, अर्थात् पुयोग से "कौमारस्य भार्या कौमारी" प्रयोग होगा॥१२॥

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः॥१३॥

तत्र—[अ०प०]। उद्धृतम्—१।१। अमत्रेभ्यः—५।३। उद्धृतमिति प्रत्ययार्थनिर्देशः। अमत्रशब्दः पात्रपर्यायः। सप्तमीसमर्थेभ्योऽमत्रवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति [उद्धृतमित्यस्मिन्नर्थे] पंचकपालेषूद्धृत ओदनः पंचकपालः। 'द्विगोर्लुगनपत्य' इति लुक्। शरावेषूद्धृतः शारावः। अमत्रेभ्य इति किमर्थम्। पाणावुद्धृत ओदनः॥१३॥

भावार्थ—यहाँ 'उद्धृतम्' पद से प्रत्ययार्थ का निर्देश है। 'अमत्र' शब्द पात्र का पर्यायवाची है। सप्तमी समर्थ अमत्र (पात्र) वाची प्रातिपदिकों से उद्धृतम्=रखने अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—पञ्चकपालेषूद्धृत ओदनः पञ्च-कपालः। यहाँ प्राग्दीव्यतीय अनपत्य प्रत्यय का द्विगुसंज्ञा होने से 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) सूत्र से लुक् हुआ है। शरावेषूद्धृतः, शारावः, इत्यादि। यहाँ 'अमत्रेभ्यः' का ग्रहण इसलिये है कि 'पाणावुद्धृत ओदनः' यहाँ प्रत्यय न होवे॥१३॥

स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते॥१४॥

तत्रेति सप्तमीसमर्थमनुवर्त्तते। स्थण्डिलात् —५।१। शयितरि —७।१। व्रते-७।१। सप्तमीसमर्थात् स्थण्डिलप्रातिपदिकाच्छयितरि शयनकर्त्तर्य्यभिधेये प्रकृतिप्रत्ययार्थेन व्रते गम्यमानेऽण् प्रत्ययो भवति। स्थण्डिले शयिता स्थाण्डिलो यतिः। स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी। व्रतशब्देन शास्त्रकृतो नियम उच्यते। व्रत इति किम्। स्थण्डिले शयिता देवदत्तः॥१४॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से यहाँ 'तत्र' पद से सप्तमी विभक्ति की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ स्थण्डिल प्रातिपदिक से शयनकर्त्ता के वाच्य में अण् प्रत्यय होता है। यदि प्रकृति-प्रत्ययार्थ से व्रत का बोध होवे। जैसे—स्थण्डिले शयिता स्थाण्डिलो यतिः। स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी। सूत्र में 'व्रत' शब्द से शास्त्रविहितनियम कहा गया है। यहाँ 'व्रत' का ग्रहण इसलिये है कि व्रत से अन्यत्र 'स्थण्डिले शयिता देवदत्तः' यहाँ प्रत्यय न होवे॥१४॥

संस्कृतं भक्षाः॥१५॥

संस्कृतम् —१।१। भक्षाः —१।३। संस्कृतं भक्षा इत्यर्थनिर्देश भक्षणार्थं यत्संस्कृतं तस्मिन् प्रत्ययार्थेऽभिधेये सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद

यथाविहितं प्रत्ययो भवति। घृते संस्कृतं घार्तम्। तक्रे संस्कृतं ताक्रम्। भ्राष्ट्रे संस्कृता अपूपा भ्राष्ट्राः। भक्षा इति किम्। सूत्रे संस्कृता माला। अत्र मा भूत्॥ १५॥

भाषार्थ -'संस्कृतं भक्षाः' यह प्रत्ययार्थ का निर्देश है। खाने के लिये जो संस्कृत संस्कार किया हुआ हो, उस प्रत्ययार्थ के वाच्य में सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—घृते संस्कृतं घार्तम्। तक्रे संस्कृत ताक्रम्। भ्राष्ट्रे सस्कृता अपूपा भ्राष्ट्राः। यहाँ 'भक्षाः' पद का ग्रहण इसलिये है कि—'सूत्रे सस्कृता माला' यहाँ भक्षण विषय न होने से प्रत्यय न होवे॥ १५॥

शूलोखाद् यत्॥ १६॥

संस्कृतमित्यनुवर्त्तते। शूलोखात् —५।१। यत् —१।१। अणोऽपवादः। शूल-उखाभ्यां सप्तमीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। शूले संस्कृतं शूल्यम्। उखायां संस्कृतम् उख्यम्। शूलोखयोः समाहारद्वन्द्वः॥ १६॥

भाषार्थ—'संस्कृतम्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। सप्तमी-समर्थ शूल-उखा प्रातिपदिकों से संस्कृत अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—शूले संस्कृत शूल्यम्। उखायां संस्कृतम् उख्यम्। 'शूलोखाद्' पद में समाहार द्वन्द्व समास है॥ १६॥

दध्नष्ठक्॥ १७॥

दध्नः —५।१। ठक् —१।१। सप्तमीसमर्थाद् दधिप्रातिपदिकात् संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। दधनि संस्कृतं दाधिकम्॥ १७॥

भाषार्थ—सप्तमीसमर्थ 'दधि' प्रातिपदिक से संस्कृत अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' का अपवाद है। जैसे—दधनि संस्कृतं दाधिकम्॥ १७॥

उदश्वितोऽन्यतरस्याम्॥ १८॥

उदश्वितः —५।१। अन्यतरस्याम्। [अ०] अप्राप्तविभाषायेम्। सप्तमी-समर्थाद् उदश्वित्प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे विकल्पेन ठक् प्रत्ययो भवति। पक्षेऽण्। उदश्विता संस्कृतम् औदश्वितम्। औदश्वित्कम्॥ १८॥

भाषार्थ—इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है। सप्तमी समर्थ 'उदश्वित्' प्रातिपदिक से संस्कृत अर्थ में विकल्प से 'ठक्' प्रत्यय होता है। पक्ष में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—उदश्विता संस्कृतम् औदश्वितम्। औदश्वित्कम्। यहाँ 'ठक्' प्रत्ययान्त में 'इसुसुक्तान्तात् कः' (अ० ७।३।५१) सूत्र से इक् का अपवाद क- आदेश हुआ है॥ १८॥

क्षीराड् ढञ्॥ १९॥

क्षीरात् —५।१। ढञ् —१।१। सप्तमीसमर्थात् क्षीरप्रातिपदिकात् संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे ढञ्प्रत्ययो भवति। क्षीरे संस्कृतं क्षैरेयम्॥ १९॥

भाषार्थ— सप्तमी समर्थ 'क्षीर' प्रातिपदिक से संस्कृत अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय होता है। जैसे क्षीरे संस्कृतं क्षैरेयम्॥१९॥

साऽस्मिन् पौर्णमासीति॥ २०॥

तत्रेति सप्तमीसमर्थं निवृत्तं संस्कृतमिति च। सा —१।१। अस्मिन् — ७।१। पौर्णमासी —१।१। इति [अ० प०] पौर्णमासीशब्दादग्रे इतिकरणः पठ्यते तेन मासार्द्धमासयोः प्रत्ययः। सेति प्रथमासमर्थात् पौर्णमासीविशेषवाचिनः प्रातिपदिकाद् अस्मिन्नित्यधिकरणेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। पुष्येण युक्ता पौर्णमासी पौषी। पौषी पौर्णमासी अस्मिन् मासे पौषो मासः। पौषोऽर्द्धमासः। पौषः संवत्सरः। एवं माघी पौर्णमासी अस्मिन् माघो मासः। फाल्गुनः।

वा० — सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञाग्रहणम्॥ १॥

संज्ञायां प्रत्ययो यथा स्याद्। इह मा भूत्—पौषी पौर्णमास्यस्मिन् पंचदशरात्रे। सूत्रकारेणैतत् प्रयोजनमितिकरणाज् ज्ञात्वा न कृतम्। वार्त्तिककारेण स्पष्टार्थं संज्ञाग्रहणं कृतम्।

जयादित्येनात्र संज्ञाग्रहणं सूत्रे व्याख्यातं तद्वृथैवास्तीति विज्ञेयम्। वार्त्तिकारम्भात्। अत्र कैयटेनाप्युक्तं संज्ञाग्रहणं सूत्रेऽनार्षमिति वार्त्तिकमारब्धम्। अनेन ज्ञायते कैयट-समयात्पूर्वमेव केनचिद् भ्रान्त्या मेलितम्॥ २०॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' तथा 'संस्कृतम्' पदों की अनुवृत्ति नहीं है। 'पौर्णमासी' शब्द के बाद 'इति' शब्द का पाठ होने से मास और अर्द्धमास आदि की विवक्षा में यह प्रत्यय का विधान है। सा=प्रथमासमर्थ पौर्णमासी विशेषवाची प्रातिपदिकों से अधिकरण अर्थ वाच्य होवे तो यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे पुष्येण युक्ता पौर्णमासी पौषी। पौषी पौर्णमासी अस्मिन् मासे स पौषो मासः। पौषोऽर्धमासः। पौषः संवत्सरः। इसी प्रकार मघानक्षत्रेण युक्ता माघी पौर्णमासी अस्मिन् मासे स माघो मासः। फाल्गुनः, इत्यादि।

वा० — साऽस्मिन् पौर्णमासिति संज्ञाग्रहणम्॥ १॥

'साऽस्मिन्' इस सूत्र में संज्ञा का ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जहाँ प्रकृति प्रत्यय के समुदाय से मासों की संज्ञा प्रकट हो, वहीं यह प्रत्यय होवे। यहाँ प्रत्यय न हो—पौषी पौर्णमास्यस्मिन् पंचदशरात्रे। सूत्रकार ने यह प्रयोजन 'इति' करण से जानकर संज्ञा का ग्रहण नहीं किया और वार्त्तिककार ने उसे स्पष्ट करने के लिये ही 'संज्ञायाम्' का पाठ माना है।

काशिकाकार जयादित्य ने इस सूत्र में ही 'संज्ञायाम्' पाठ मानकर व्याख्या की है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि यदि यह पाठ आर्ष होता तो वार्त्तिककार के पढ़ने का क्या प्रयोजन रह जाता है। यहाँ कैय्यट ने भी कहा है—सूत्र में संज्ञा का पाठ अनार्ष है, इसलिये वार्त्तिक बनाया है। इससे यह स्पष्ट है कि यह 'संज्ञायाम्' का पाठ कैयट से भी पहले किसी ने भ्रान्ति से मिलाया है॥ २०॥

आग्रहायण्यश्वत्थाद् ठक्॥ २१॥

सास्मिन्पौर्णमासीत्यनुवर्तते। आग्रहायण्यश्वत्थात् —५।१।ठक्—१।१। अणोऽपवादः। प्रथमासमर्थाभ्यां पौर्णमासीसमानाधिकरणाभ्याम् आग्रहायण्य श्वत्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामस्मिन्नित्यधिकरणे ठक् प्रत्ययो भवति। आग्रहायणी पौर्णमास्यस्मिन् मासे आग्रहायणिको मासः। अर्द्धमासो वा। एवम्-आश्वत्थिकः॥ २१॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। यह पूर्वसूत्र से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। प्रथमा समर्थ पौर्णमासी समानाधिकरण आग्रहायणी-अश्वत्थ प्रातिपदिकों से अधिकरण अर्थ वाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन् मासे स आग्रहायणिको मासः। अर्धमासो वा। इसी प्रकार—आश्वत्थिको मासः॥ २१॥

विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः॥ २२॥

विभाषा [अ०]। फाल्गुनी......चैत्रीभ्यः-५।३। अप्राप्तविभाषेयम्। सास्मिन् पौर्णमासीत्यणि प्राप्ते ठग्विकल्प्यते। प्रथमासमर्थेभ्यः पौर्णमासीसमानाधि-करणेभ्यः फाल्गुन्यादिप्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेनास्मिन्नित्यधिकरणे ठक् प्रत्ययो भवति। पक्षेऽण्। फाल्गुनी पौर्णमास्यस्मिन् मासे फाल्गुनो मासः। फाल्गुनिको मासः। श्रावणिकः। श्रावणः। कार्त्तिकिकः। कार्त्तिकः। चैत्रिकः। चैत्रः॥ २२॥

भाषार्थ--यह अप्राप्त विभाषा है। 'साऽस्मिन्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति में 'ठक्' प्रत्यय का विकल्प किया है। प्रथमा समर्थ पौर्णमासी समानाधिकरण फल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी और चैत्री प्रातिपदिकों से अधिकरण अर्थ में विकल्प से ठक् प्रत्यय होता है। पक्ष में 'अण्' होता है। जैसे—फाल्गुनी पौर्णमास्यस्मिन् मासे स फाल्गुनिको मासः। फाल्गुनो मासः। श्रावणिको मासः श्रावणो मासः। यहाँ श्रवणा नक्षत्र से युक्त काल अर्थ में 'संज्ञायां श्रवणा' (अ० ४।२।५) सूत्र से प्रत्यय का लुप् हुआ है। इसलिये प्रत्ययार्थ के होने से पौर्णमासी का विशेषण बना रहता है। कार्त्तिकिकः। कार्त्तिकः। चैत्रिकः। चैत्रः॥ २२॥

साऽस्य देवता॥ २३॥

सा —१।१। अस्य —६।१। देवता —१।१। सेति प्रथमासमर्थाद् देवताविशेषवाचिनः प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः। ऐन्द्रो मन्त्रः। ऐन्द्री ऋक्। एवं सर्वत्र। बृहस्पतिर्देवताऽस्य बार्हस्पत्यं हविः। अधिकारसूत्रं चेदम्॥ २३॥

भाषार्थ—सा=प्रथमासमर्थ देवता विशेषवाची प्रातिपदिकों से अस्य=षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः। ऐन्द्रो मन्त्रः। ऐन्द्री ऋक्। इसी प्रकार बृहस्पतिर्देवताऽस्य बार्हस्पत्यं हविः। यहाँ 'दित्यदित्या०' (४।१।८५) सूत्र से पत्युत्तरपद होने से 'ण्य' प्रत्यय हुआ है। यह अधिकार सूत्र है॥ २३॥

कस्येत्॥ २४॥

कस्य —६।१। इत् —१।१। पूर्वेणैवाण् प्रत्यये सिद्धे इकारादेशार्थ आरम्भः। प्रथमासमर्थाद् देवतासमानाधिकरणात् कप्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति। प्रत्ययसंनियोगेन इकारादेशश्च। को देवताऽस्य कायं हविः। कायो मन्त्रः। कायी ऋक्॥ २४॥

भावार्थ—इस सूत्र का आरम्भ पूर्व सूत्र से अण् प्रत्यय प्राप्त होने पर भी इकारादेश के लिये किया है। प्रथमा समर्थ देवता समानाधिकरणवाले 'क' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'अण्' प्रत्यय और प्रकृति को इकारादेश प्रत्यय सन्नियोग से होता है। जैसे—को देवताऽस्य कायं हविः। कायो मन्त्रः। कायी ऋक्॥ २४॥

शुक्राद् घन्॥ २५॥

शुक्रात् —५।१। घन् —१।१। अणोऽपवादः। प्रथमासमर्थाद् देवता-समानाधिकरणाच्छुक्रप्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे घन् प्रत्ययो भवति। शुक्रो देवताऽस्य शुक्रियं हविः। शुक्रियो मन्त्रः। शुक्रिया ऋक्॥ २५॥

भावार्थ—यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। प्रथमासमर्थ देवता समाना धिकरणवाले शुक्र प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में घन् प्रत्यय होता है। जैसे—शुक्रो देवताऽस्य शुक्रियं हविः। शुक्रियो मन्त्रः। शुक्रिया ऋक्॥ २५॥

अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घः॥ २६॥

अपोनप्त्रपांनप्तृभ्याम् —५।२। घः —१।१। अपोनपाद्-अपांनपाच्छब्दौ देवतावाचिनौ। तयोः प्रत्ययसंनियोगेन ऋकारान्तत्वं निपात्यते। असति प्रत्यये तकारान्तावेव दृश्येते। प्रथमासमर्थाभ्यां देवतासमानाधिकरणाभ्याम् अपोनप्तृ-अपांनप्तृप्रातिपदिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे घः प्रत्ययो भवति। अपोनपाद्, अपांनपाद्वा देवताऽस्य अपोनप्त्रियं हविः। अपांनप्त्रियं हविः। अन्यत्र-अपोनपाते अनुब्रूहि। अपांनपाते अनुब्रूहि। नादेशः॥ २६॥

भावार्थ -'अपोनपात्' और 'अपांनपात्' शब्द देवता वाची हैं। प्रत्यय सन्नियोग से उनका ऋकारान्तत्व निपातन सूत्र से किया है। प्रत्यय के अभाव में ये दोनों शब्द तकारान्त ही प्रयुक्त होते हैं। प्रथमा समर्थ देवतासमानाधिकरणवाले अपोनप्तृ और अपानप्तृ प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। जैसे—अपोनपाद् देवताऽस्य अपोनप्त्रिय हविः। अपांनपाद् देवताऽस्य अपांनप्त्रिय हविः। अन्यत्र—'अपोनपाते अनुब्रूहि, अपांनपाते अनुब्रूहि। प्रयोग होते हैं। यहाँ प्रत्यय के अभाव में ऋकारान्तादेश भी नहीं हुआ॥ २६॥

छ च॥ २७॥

अपोनप्त्रपांनप्तृभ्यामित्यनुवर्त्तते। छ —१।१। च —[अ०प०]। योग-विभागकरणं यथासंख्यनिवृत्यर्थम्, उत्तरार्थं च। प्रथमासमर्थाभ्यां देवता समानाधिकरणाभ्याम् अपोनप्तृ अपांनप्तृप्रातिपदिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे छ प्रत्ययो भवति। अपोनपाद्-अपांनपाद्वा देवताऽस्य अपोनप्त्रीयम्। अपांनप्त्रीयं

हविः।

वा०—छप्रकरणे पैङ्गाक्षी पुत्रादिभ्य उपसंख्यानम्॥ १॥

पैङ्गाक्षी पुत्रो देवताऽस्य पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्। तार्णविन्दवीयम्॥ १॥

वा०—शतरुद्राद् घ च॥ २॥

शतरुद्रशब्दाद् घ छौ प्रत्ययौ भवतः। शतरुद्रो देवताऽस्य शतरुद्रियम्। शतरुद्रीयम्॥ २७॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। योग विभाग यथासंख्य निवृत्ति के लिये किया है और छ प्रत्यय की अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये भी है। प्रथमा समर्थ देवता समानाधिकरणवाले अपोनपृ अपांनपृ प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—अपोनपाद्, अपांनपाद्वा देवताऽस्य अपोनप्त्रीयम्। अपांनप्त्रीय हविः।

वा०—छप्रकरणे पैङ्गाक्षी-पुत्रादिभ्य उपसंख्यानम्॥ १॥

छ प्रत्यय के प्रकरण में प्रथमासमर्थ देवता समानाधिकरणवाले पैङ्गाक्षीपुत्र आदि प्रातिपदिकों से भी षष्ठ्यर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—पैङ्गाक्षीपुत्रो देवताऽस्य पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्। तार्णविन्दवीयम्।

वा०—शतरुद्राद् घ च॥ २॥

देवता समानाधिकरण शतरुद्र से 'घ' और 'छ' प्रत्यय होते हैं। जैसे—शतरुद्रो देवताऽस्य शतरुद्रियम्। शतरुद्रीयम्॥ २७॥

महेन्द्राद् घाणौ च॥ २८॥

छप्रत्ययोऽप्यनुवर्त्तते। महेन्द्रात् —५।१। घाणौ —१।२। च [अ०]। प्रथमासमर्थाद् देवतासमानाधिकरणान्महेन्द्रशब्दाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे घ-अणौ प्रत्ययौ भवतश्चकाराच्छ च। महेन्द्रो देवताऽस्य महेन्द्रियं हविः। माहेन्द्रम्। महेन्द्रीयम्॥ २८॥

भाषार्थ—यहाँ छ प्रत्यय की भी अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ देवतासमानाधिकरणवाले महेन्द्र प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में घ, अण् और चकार से छ प्रत्यय होते हैं। जैसे—महेन्द्रो देवताऽस्य महेन्द्रियं हविः। माहेन्द्रम्। महेन्द्रीयम्॥ २८॥

सोमाद् ट्यण्॥ २९॥

सोमात् —५।१। ट्यण् —१।१। अण् बाध्यते। प्रथमासमर्थाद् देवता-समानाधिकरणात् सोमप्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति। सोमो देवताऽस्य सौम्यं हविः। सौम्यो मन्त्रः। सौमी ऋक्। टित्करणं ङीबर्थं णकारो वृद्ध्यर्थः॥ २९॥

भाषार्थ—यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। प्रथमासमर्थ देवता समानाधिकरणवाले 'सोम' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ट्यण्' प्रत्यय होता है। जैसे सोमो देवताऽस्य सौम्यं हविः। सौम्यो मन्त्रः। सौमी ऋक्। प्रत्यय में टकार स्त्रीलिंग में 'ङीप्' के लिये तथा णकार-वृद्धि के लिये अनुबन्ध लगाये हैं॥ २९॥

वाय्वृतुपित्रुषसो यत्॥ ३०॥

वाय्वृतुपित्रुषसः —५।१।यत् —१।१। प्रथमासमर्थेभ्यो देवतासमानाधिकरणेभ्यो वाय्वादिप्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। वायुर्देवताऽस्य वायव्यम्। ऋतव्यम्। पित्र्यम्। उषस्यम्॥ ३०॥

भावार्थ—प्रथमासमर्थ देवतासमानाधिकरणवाले वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—वायुर्देवताऽस्य वायव्यम्। ऋतव्यम्। पित्र्यम्। उषस्यम्। यहाँ उकारान्त वायु ऋतु शब्दों में 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से गुण 'वान्तो यि प्रत्यये' (६।१।७७) से अवादेश हुआ है और 'पित्र्यम्' प्रयोग में 'रीङ् ऋतः' (७।४।२७) से रीङ्, 'यस्येति च' (६।४।१४८) से ईकारलोप हुआ है॥ ३०॥

द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च॥ ३१॥

यच्चानुवर्त्तते। वास्तोष्पतिशब्दात् पत्युत्तरपदत्वाण् ण्यः प्राप्त इतरेभ्यश्चाण् तयोरपवादः। द्यावापृथिवी...गृहमेधात् —५।१।छ —१।१।च —अ०प०। प्रथमासमर्थेभ्यो देवतासमानाधिकरणेभ्यो द्यावापृथिव्यादिप्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे छ-यतौ प्रत्ययौ भवतः। द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम्। द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्। शुनासीर्यम्। मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयम्। मरुत्वत्यम्। अग्नीषोमीयम्। अग्नीषोम्यम्। वास्तोष्पतीयम्। वास्तोष्पत्यम्। गृहमेधीयम्। गृहमेध्यम्॥ ३१॥

भावार्थ—यहाँ यत् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। 'वास्तोष्पति' शब्द से पत्युत्तरपद होने से ण्य प्रत्यय तथा दूसरे शब्दों से 'अण्' प्राप्त है। यह सूत्र उन दोनों का अपवाद है। प्रथमासमर्थ देवता समानाधिकरणवाले द्यावापृथिवी, शुनाशीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति और गृहमेध, प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में छ और यत् प्रत्यय होते हैं। जैसे—द्यावपृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम्। द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्। शुनासीर्य्यम्। मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयम्। मरुत्वत्यम्। अग्नीषोमीयम्। अग्नीषोम्यम्। वास्तोष्पतीयम्। वास्तोष्पत्यम्। गृहमेधीयम्। गृहमेध्यम्॥ ३१॥

अग्नेर्ढक्॥ ३२॥

अग्नेः —५।१।ढक् —१।१। प्रथमासमर्थाद् देवतासमानाधिकरणाद् अग्निप्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ढक् प्रत्ययो भवति। अग्निर्देवताऽस्य आग्नेयो मन्त्रः। सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढगिति वार्त्तिकमुक्तम्। तेन प्राग्दीव्यतीयेषु सामान्येन ढग् भवति॥ ३२॥

भावार्थ—प्रथमासमर्थ देवता समानाधिकरणवाले 'अग्नि' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—अग्निर्देवताऽस्य आग्नेयो मन्त्रः। 'दृष्टं साम' (४।२।७) सूत्र पर 'सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्' वार्त्तिक कहा है। उससे प्राग्दीव्यतीय

अर्थों में सामान्यता से ढक् का विधान किया है।

कालेभ्यो भववत्॥ ३३॥

कालेभ्यः —५।३। भववत् ।अ० प०। भव इव भववत्। सप्तमी-समर्थाद् वतिः। यथा भवाधिकारे याभ्यः कालवाचिभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन प्रत्यया विधीयन्ते तथैव सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये यथा स्युः। यथा सामान्येन कालवाचिभ्यष्ठञ्। प्रावृट् शब्दाण् ण्यः।

एवं सर्वत्र। मासो देवताऽस्य मासिकः। संवत्सरो देवताऽस्य सांवत्सरिकः। प्रावृड् देवताऽस्य प्रावृषेण्यः। शिशिरो देवताऽस्य शैशिरः। ग्रीष्मो देवताऽस्य ग्रैष्मम्। उत्सादित्वादञ्॥ ३३॥

भाषार्थ—'भव इव भववत्' यहाँ सप्तमी समर्थ से वति प्रत्यय है। जैसे 'तत्र भवः' (४।३।५३) में जिन कालवाची प्रकृतियों से जिस विशेषण के साथ प्रत्ययों का विधान किया है, वैसे ही 'सास्य देवता' (४।२।२३) इस देवता समानाधिकरणवाले काल विशेषवाची प्रातिपदिकों से प्रत्यय होवें। जैसे—वहाँ सामान्यरूप में काल वाचियों से 'ठञ्' प्रत्यय का विधान किया है वैसे यहाँ भी—मासो देवताऽस्य मासिकः। संवत्सरो देवताऽस्य सांवत्सरिकः। इसी प्रकार प्रावृड् देवताऽस्य प्रावृषेण्यः। शिशिरो देवताऽस्य शैशिरः। ग्रीष्मो देवताऽस्य ग्रैष्मम्। 'ग्रीष्म' शब्द का 'उत्सादि' गण में पाठ होने से 'अञ्' प्रत्यय होता है॥ ३३॥

महाराजप्रोष्ठपदाट् ठञ्॥ ३४॥

महाराज-प्रोष्ठपदात् —५।१। ठञ् —१।१। प्रथमासमर्थाभ्यां देवता-समानाधिकरणाभ्यां महाराज-प्रोष्ठपदप्रातिपदिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्।

वा०—ठञ्प्रकरणे तदस्मिन् वर्त्तत इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्॥ १॥

नवयज्ञोऽस्मिन् काले वर्त्तते नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः॥

वा०—पूर्णमासादण्॥ २॥

पूर्णमासोऽस्मिन् काले वर्त्तते पौर्णमासी तिथिः॥ ३४॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ देवतासमानाधिकरणवाले महाराज और प्रोष्ठपद प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्।

वा०—ठञ् प्रकरणे तदस्मिन् वर्त्तत इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्॥ १॥

तदस्मिन् काल अधिकरण अभिधेय होवे, तो प्रथमासमर्थ नवयज्ञादि प्रातिपदिकों से 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—नवयज्ञोऽस्मिन् काले वर्त्तते नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः इत्यादि।

वा०—पूर्णमासादण्॥ २॥

कालाधिकरण में पूर्णमास प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे पूर्णमासोऽस्मिन् काले वर्त्तते इति पौर्णमासी तिथिः। 'ठञ्' का बाधक यह

'अण्' हुआ है॥३४॥

पितृव्य मातुल-मातामह-पितामहाः॥ ३५॥

सास्य देवतेति निवृत्तम्। पितृव्य....पितामहाः —१।३। पितृव्यादयः शब्दा विशिष्टेऽर्थे निपात्यन्ते।

भा० पितृव्यमातुलेति किं निपात्यते?

वा०—पितृमातृभ्यां भ्रातरि व्यड्डुलचौ॥१॥

पितृ-मातृशब्दाभ्यां भ्रातरि प्रत्ययार्थेऽभिधेये व्यत्, डुलच् इत्येतौ प्रत्ययौ निपात्येते। पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः।

अथ मातामह-पितामहेति किं निपात्यते?

वा०—मातृ पितृभ्यां पितरि डामहच्॥२॥

मातृ पितृ प्रातिपदिकाभ्यां पितरि प्रत्ययार्थेऽभिधेये डामहच् प्रत्ययो निपात्यते। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः।

वा०—मातरि षिच्च॥३॥

मातर्यभिधेये डामहच् प्रत्ययः षिद्भवति। तच्च ङीषर्थम्। मातुर्माता मातामही। पितुर्माता पितामही।

वा०—अवेर्दुग्धे सोढ-दूस-मरीसचः॥४॥

अविशब्दाद् दुग्धेऽभिधेये सोढ, दूस, मरीसच्, इत्येते प्रत्यया भवन्ति। अवेर्दुग्धम् अविसोढम्। अविदूसम्। अविमरीसम्।

वा०—तिलान्निष्फलात् पिंज-पेजौ॥५॥

तिलशब्दान् निष्फलेऽर्थे पिंज-पेजौ प्रत्ययौ भवतः। निष्फलस्तिलः तिलपिंजः। तिलपेजः।

वा०—पिंजः छन्दसि डिच्च॥६॥

डित्करणं लोपार्थम्। तिलपिंजं दण्डनतम्॥३५॥

भाषार्थ—'सास्यदेवता' सूत्र की यहां अनुवृत्ति नहीं है। पितृव्यादि शब्दों का विशिष्टार्थ में निपातन किया गया है। विशिष्टार्थ में महाभाष्य का यह प्रमाण है— 'पितृव्य और मातुल शब्दों में क्या निपातन किया है?'

वा०—पितृ-मातृभ्यां भ्रातरि व्यड्-डुलचौ॥१॥

पितृ और मातृ शब्दों से भ्राता अर्थ वाच्य में यथासंख्य व्यत् और डुलच् प्रत्यय निपातन किये हैं। जैसे—पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः॥१। और मातामह तथा पितामह शब्दों में क्या निपातन किया है?

वा०—मातृ-पितृभ्यां पितरि डामहच्॥२॥

मातृ और पितृ प्रातिपदिकों से पितृ अर्थ वाच्य में 'डामहच्' प्रत्यय निपातन किया है। जैसे मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः॥२॥

वा०—मातरि षिच्च॥३॥

माता अर्थ वाच्य हो तो मातृ और पितृ शब्दों से 'डामहच्' प्रत्यय पित् होता है। षित्करण 'ङीष्' प्रत्यय के लिये है। जैसे—मातुर्माता मातामही। पितुर्माता पितामही॥ ३॥

वा० -अवेर्दुग्धे सोढ दूस मरीसचः॥ ४॥

अवि प्रातिपदिक से दुग्ध अर्थ में सोढ, दूस तथा मरीसच् प्रत्यय होते हैं। जैसे अवेर्दुग्धम् अविसोढम्। अविदूसम्। अविमरीसम्॥ ४॥

वा० —तिलान्निष्फलात् पिंज पेजौ॥ ५॥

निष्फल (फलरहित) समानाधिकरणवाले 'तिल' प्रातिपदिक से पिञ्ज और पेज प्रत्यय प्रत्यय होते हैं। जैसे—निष्फलं तिलं तिलपिञ्जः। तिलपेजम्॥ ५॥

वा०—पिञ्जः छन्दसि डिच्च॥ ६॥

वैदिकप्रयोग विषय में पूर्वोक्त 'पिञ्ज' प्रत्यय डित् होवे। जैसे—तिल्पिञ्ज दण्डानतम्। यहाँ डित्करण से टिसंज्ञक अकार का लोप हो गया है॥ ६। ३५॥

तस्य समूहः॥ ३६॥

समर्थानां प्रथमाद्वेति प्राग्दीव्यतोऽणिति चानुवर्त्तते। तस्य —६।१। समूहः —१।१। अधिकारसूत्रमिदम् 'इनित्रकट्यचश्चेति' पर्य्यन्तम्। तत्र बाधकविषयं वर्जयित्वाऽस्य प्रवृत्तिः। समर्थानां प्रथमात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् समूह इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। मानुषाणां समूहो मानुषम्। औत्सीनां समूह औत्सम्। अश्वपतीनां समूह आश्वपतम्। अश्वपत्यादिभ्यश्चेत्यण्। वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्। स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। पौंस्नम्। एवं सर्वत्र योजनीयम्।

अत्र जयादित्येन स्वबुद्ध्या वार्त्तिकं सृष्टं तत् मिथ्यैवास्ति प्रमाणाभावात्। वार्त्तिकानि महाभाष्यमूलकानि सन्ति। तत्र नास्त्यतश्च॥ ३६॥

भाषार्थ—यहाँ 'समर्थानां प्रथमाद्वा' (४।१।८२) तथा 'प्राग्दीव्यतोऽण' (४।१।८३) सूत्रों की अनुवृत्ति है। यह अधिकारसूत्र है। इस सूत्र का अधिकार 'इनि त्र कट्यचश्च' (४।२।५०) सूत्र तक है। अपवाद विषय को छोडकर इस सामान्य सूत्र की प्रवृत्ति होती है। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से समूहार्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—मानुषाणां समूहो मानुषम्। औत्सीनां समूह औत्सम्। अश्वपतीना समूह आश्वपतम्। यहाँ 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' (४।१।८४) सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। वानस्पतीना समूहो वानस्पत्यम्। स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। पौंस्नम्। इत्यादि प्रयोगों में समूहार्थ में यथाविहित प्रत्यय समझने चाहिएँ।

इस सूत्र पर जयादित्य ने स्वेच्छा से 'गुणादिभ्यो ग्रामज्वक्तव्यः' इस वार्त्तिक की रचना की है। वह प्रमाण रहित होने से मिथ्या ही है। समस्त वार्त्तिकों का मूल महाभाष्य में है। क्योंकि यह वार्त्तिक महाभाष्य में नहीं है, अतः मिथ्या है। ३६।

भिक्षादिभ्योऽण्॥ ३७॥

भिक्षादिभ्यः —५।३। अण् —१।१। भिक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण्

प्रत्ययो भवति समूहार्थे। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्। भिक्षादिभ्योऽचित्तवत्त्वाद् ठक् प्राप्तः स बाध्यते। भिक्षादिषु युवतिशब्दः पठ्यते। स चानुदात्तादिस्तस्मादञ्बाधनार्थः पाठः।

अथ भिक्षादयः—भिक्षा। गर्भिणी। क्षेत्र। करीष। अङ्गार। चर्मिन्। धर्मिन्। चर्मन्। धर्मन्। सहस्र। युवति। पदाति। पद्धति। अथर्वन्। दक्षिणा। भूत। विषय। श्रोत्र। इति भिक्षादयः॥ ३७॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ भिक्षादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्। भिक्षादि शब्द अचित्तवान् होने से 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' (४।२।४६) सूत्र से ठक् प्राप्त है उसका यह बाधक है। और भिक्षादि गण में 'युवति' शब्द का पाठ है, उसके अनुदात्तादि होने से 'अनुदात्तादेरञ्' (४।२।४३) सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त है, उसके बाधन के लिये भिक्षादिगण में इसका पाठ किया है॥ ३७॥

गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ्॥ ३८॥

इत आरभ्याणादीनामपवादः। गोत्रो...मनुष्याजात्—५।१। वुञ्—१।१। गोत्रशब्देन लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणम्। युवानमपि लोके गोत्रमुपाचरन्ति। तच्च राजन्यमनुष्यग्रहणाज् ज्ञायते। षष्ठीसमर्थेभ्यो गोत्रादिप्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति समूह इत्यस्मिन्नर्थे। ग्लुचुकायनीनां समूहो ग्लौचुकायनम्। गार्ग्यकम्। वात्स्यकम्। गार्ग्यायणकम्। वात्स्यायनकम्। उक्षन्-औक्षकम्। उष्ट्र-औष्ट्रकम्। उरभ्र-औरभ्रकम्। राजकम्। राजन्यकम्। राजपुत्रकम्। वात्सकम्। मानुष्यकम्। आजकम्। अत्रापत्यस्य राजन्य-मनुष्य-यकारस्य लोपः प्राप्नोति। 'प्रकृत्याऽके राजन्य-मनुष्य युवानः' इति वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते।

वा०—वृद्धाच्च॥ १॥

वृद्धशब्दादपि समूहे वुञ् भवतीति। वार्द्धकम् ॥ १ ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—यहाँ से लेकर अणादि के अपवाद प्रत्ययों का विधान किया है। इस सूत्र मे गोत्र शब्द से लौकिक गोत्र का ग्रहण है। लोक में युवा सञ्ज्ञक को भी गोत्र ही कहते हैं। (जब कि व्याकरणशास्त्र में 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४।१।१६३) सूत्र से गोत्र से भिन्न युवा सञ्ज्ञा की है।) इस बात में ज्ञापक सूत्रकार का राजन्य और मनुष्य शब्दों का पाठ करना है। षष्ठी समर्थ जो गोत्रवाची, तथा उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राज, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य और अज प्रातिपदिक हैं उनसे समूह अर्थ में 'अण्' का बाधक 'वुञ्' प्रत्यय होता है जैसे—गोत्र—ग्लुचुकायनीनां समूहो ग्लौचुकायनकम्। गार्ग्यकम्। वात्सकम्। गार्ग्यायणकम् वात्स्यायनकम् इत्यादि। उक्षन् उक्ष्णां समूह औक्षकम्। उष्ट्र औष्ट्रकम्। उरभ्र औरभ्रकम्। राजन् राजकम्। राजन्य राजन्यकम्। राजपुत्र राजपुत्रकम्। वत्स वात्सकम् मनुष्य मानुष्यकम्। अज आजकम्। यहाँ 'राजन्य तथा मनुष्य' शब्दों में यकार का लोप (आपत्यस्य तद्धितेऽनाति' (६।४।१५१) सूत्र से प्राप्त है,

किन्तु 'प्रकृत्याऽके राजन्य मनुष्य-युवान:) वार्त्तिक से प्रकृतिभाव होने से लोप नहीं हुआ है।

वा०—वृद्धाच्च॥ १॥

षष्ठीसमर्थ 'वृद्ध' प्रातिपदिक से भी समूह अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होवे, जैसे—वृद्धानां समूहो वार्द्धकम्॥ १॥ ३८॥

केदाराद् यञ् च॥ ३९॥

चकारग्रहणाद् वुञ् अनुवर्त्तते। केदारात्—५। १। यञ्—१। १। च—[अ०प०] केदारशब्दादचित्तवत्त्वाद् ठक् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठीसमर्थात् केदारप्रातिपदिकात् समूह इत्यस्मिन्नर्थे यञ् प्रत्ययो भवति, चकाराद् वुञ् च। केदाराणां समूहः कैदार्य्यम्। कैदारकम्।

वा०—गणिकायाश्च॥ १॥

गणिकाशब्दाद् यञ् प्रत्ययः समूहार्थे भवति। गणिकानां समूहो गाणिक्यम्॥ १॥ ३९॥

भाषार्थ—सूत्र में चकार के पाठ से 'वुञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। केदार शब्द के अचित्तवान् होने से 'ठक्' प्रत्यय प्राप्त है, इसमें उसका बाधन हुआ है षष्ठी समर्थ 'केदार' प्रातिपदिक से समूह अर्थ में 'यञ्' और चकार से 'वुञ्' प्रत्यय होते हैं। जैसे—केदाराणां समूहः कैदार्य्यम्। कैदारकम्।

वा०—गणिकायाश्च॥ १॥

षष्ठीसमर्थ गणिका प्रातिपदिक से भी समूह अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है। जैसे—गणिकानां समूहो गाणिक्यम्॥ १॥ ३९॥

ठञ् कवचिनश्च॥ ४०॥

अनुदात्तादेरञ् बाध्यते। ठञ्—१। १। कवचिनः—५। १। च—[अ०प०]। षष्ठीसमर्थात् कवचिन्प्रातिपदिकात् समूहार्थे ठञ् प्रत्ययो भवति केदाराच्च। कवचिनां समूहः कावचिकम्। कैदारिकम्॥ ४०॥

भाषार्थ—'अनुदात्तादेरञ्' (४। २। ४३) सूत्र का यह बाधक है। सूत्रस्थ चकार से 'केदारात्' पद की अनुवृत्ति है। षष्ठीसमर्थ कवचिन् और केदार प्रातिपदिकों से समूहार्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—कवचिनां समूहः कावचिकम्। कैदारिकम्॥ ४०॥

ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन्॥ ४१॥

अनुदात्तादेरञोऽपवादः। ब्राह्मणमाणववाडवात् –५। १। यन् –१। १। षष्ठीसमर्थेभ्यो ब्राह्मणादिप्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थे यन् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्।

वा०—यन्प्रकरणे पृष्ठादुपसंख्यानम्॥ १॥

पृष्ठानां समूहः पृष्ठ्यः। वक्ष्यमाणसूत्रस्थानि वार्त्तिकानि जयादित्येनात्रैव

लिखितानि भ्रमात्॥ ४१॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अनुदात्तादेरञ्' (४।२।४३) का अपवाद है। षष्ठी समर्थ ब्राह्मण, मानव, और वाडव प्रातिपदिकों से समूहार्थ में यन् प्रत्यय होता है जैसे ब्राह्मणाना समूहो ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्।

वा० — यन्प्रकरणे पृष्ठादुपसंख्यानम्॥ १॥

षष्ठीसमर्थ पृष्ठ शब्द से समूहार्थ में 'यन्' प्रत्यय होता है। जैसे—पृष्ठाना समूहः पृष्ठ्यः

काशिका में जयादित्य ने इस सूत्र पर अगले सूत्र के वार्त्तिक भी लिखे हैं यह उनका भ्रम ही है क्योकि महाभाष्य में इन का पाठ अगले सूत्र पर ही है॥ ४१॥

ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्॥ ४२॥

अनुदात्तादेरञ् बाध्यते। ग्रामजनबन्धुभ्यः —५।३। तल् —१।१। षष्ठीसमर्थेभ्यो ग्रामादिप्रातिपदिकेभ्यः समूह इत्यस्मिन्नर्थे तल् प्रत्ययो भवति। ग्रामाणां समूहो ग्रामता। जनता। बन्धुता।

वा०—गजसहायाभ्यां च॥ १॥

तल् भवतीत्यर्थः। गजता। सहायता॥ १॥

अत्र जयादित्येन सहाय शब्दः सूत्रे व्याख्यातः। गजार्थं तु वार्त्तिकं पठितम्। तदग्राह्यं वार्त्तिके पठितत्वात्।

वा०—अह्नः खः क्रतौ॥ २॥

क्रतौ यज्ञेऽभिधेयेऽहन्शब्दात् समूहार्थे खः प्रत्ययो भवति। अह्नां समूहोऽह्नीनः क्रतुः। क्रताविति किम्? इह मा भूत्-आह्नय धूतपाप्मानो भास्कराजितभृत्यवः। अत्र खण्डिकादिषु पाठादञ्॥ २॥

वा०—पर्श्वा णस् वक्तव्यः॥ ३॥

पर्शूनां समूहः पार्श्वम्। णसि प्रत्यये णित्करणं वृद्ध्यर्थम्। सित्करणं पदसंज्ञार्थं पदत्वाद् भसंज्ञाकार्यम्, ओर्गुणो न भवति॥ ३॥ ४२॥

भाषार्थ—यह सूत्र भी (अनुदात्तादेरञ्) (४।२।४३) सूत्र का अपवाद है। षष्ठी समर्थ ग्राम, जन तथा बन्धु प्रातिपदिकों से समूहार्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है। जैसे—ग्रामाणां समूहो ग्रामता। जनाना समूहो जनता। बन्धुता।

वा०—गजसहायाभ्यां च॥ १॥

षष्ठीसमर्थ गज, सहाय शब्दों से भी समूहार्थ में तल् प्रत्यय होवे। जैसे - गजानां समूहो गजता। सहायता।

इस सूत्र में जयादित्य ने वार्त्तिकस्थ सहाय शब्द का पाठ करके व्याख्या की है। और वार्त्तिक 'गजाच्च' बनाया है। यह उनका महाभाष्य के विरुद्ध होने से प्रमाद का ही कार्य है। क्योंकि महाभाष्य में 'सहाय' शब्द का पाठ वार्त्तिक में है।

वा०—अह्नः खः क्रतौ॥ २॥

यज्ञ अर्थ वाच्य हो तो षष्ठी समर्थ 'अहन्' शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। जैसे—अह्म समूहोऽहीन: क्रतु:। यहाँ 'क्रतौ' का पाठ इसलिये है, कि यज्ञ से अन्यत्र न हो—आह्नाय धूतपाप्मानो भास्कराजितभृत्यव:।

यहाँ खण्डिकादि गण में 'अहन्' शब्द का पाठ होने से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है।

वा०— पर्श्वा णस् वक्तव्य:॥ ३॥

षष्ठीसमर्थ पर्शु प्रातिपदिक से समूह अर्थ में णस् प्रत्यय होता है। जैसे पशूनां समूह: पार्श्वम्। यहाँ 'णस्' प्रत्यय में णित्करण वृद्धि के लिये है और सित्करण पद संज्ञा के लिये है। जिससे पद संज्ञा होने से भसंज्ञा का बाध हो जाये और 'ओर्गुण:' (६।४।१४६) सूत्र से भसंज्ञा का कार्य गुण न होवे॥ ४२॥

अनुदात्तादेरञ्॥ ४३॥

अधिकारादण् प्राप्त: स बाध्यते। अनुदात्तादे: —५।१। अञ् —१।१। षष्ठीसमर्थाद् अनुदात्तादे: प्रातिपदिकात् समूहार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। कपोतानां समूह: कापोतम्। मायूरम्। कुमारीणां समूह: कौमारम्। कैशोरम्। बाधूटम्॥ ४३॥

भावार्थ—यह सूत्र अधिकार से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। षष्ठी समर्थ अनुदात्तादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कपोतानां समूह: कापोतम्। मायूरम्। कुमारीणां समूह: कौमारम्। कैशोरम्। बाधूटम् इत्यादि॥ ४३॥

खण्डिकादिभ्यश्च॥ ४४॥

अचित्तवद्भ्यष्ठग्बाधनार्थमुदात्तादिभ्योऽण् बाधनार्थं च वचनम्। खण्डिकादिभ्य: —५।३। च —[अ०प०] षष्ठीसमर्थेभ्य: खण्डिकादिप्रातिपदिकेभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति समूहार्थे। खण्डिकानां समूह: खाण्डिकम्। वाडवम्।

वा०—अञ्प्रकरणे क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्॥ १॥

क्षुद्रक मालवशब्दौ जनपदक्षत्रियौ, ताभ्यां विहितस्य तद्राजप्रत्ययस्य लुक्। ततस्समास:। क्षुद्रकश्च मालवश्चानयो: समाहार:। समासस्यान्तोदात्तत्वम्। तत्रानुदात्तादित्वादञ् सिद्ध एव। पुनर्विधानं गोत्राश्रयो वुञ् प्राप्तस्तद्बाधनार्थं नियमार्थं च। क्षुद्रक मालवशब्दात् सेनासंज्ञायामेव अञ् प्रत्ययो भवति। क्षौद्रक मालवी सेना। क्व मा भूत्? क्षौद्रकमालवकमिति गोत्राश्रयो वुञ्।

अथ खण्डिकादय:। खण्डिका। वडवा। क्षुद्रकमालव। भिक्षुक। शुक। उलूक। श्वन्। युग। अहन्। वरत्रा। हलबन्ध। इति खण्डिकादय:॥ ४४॥

भावार्थ—यह सूत्र अचित्तवान् शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय का और उदात्तादि शब्दों से 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है।

षष्ठी समर्थ खण्डिकादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है जैसे खण्डिकानां समूहः खाण्डिकम्। वाडवम्। इत्यादि

वा०—अञ्प्रकरणे क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम् ॥ १ ॥

क्षुद्रक और मालव दोनों शब्द जनपद क्षत्रियवाची हैं। उनसे विहित तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाता है। फिर दोनों शब्दों का समाहारद्वन्द्व समास होके 'समासस्य' (६ । १ । २१७) सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होकर अनुदात्तादि होने से अञ् प्रत्यय 'अनुदात्तादेरञ्' (४ । २ । ४३) सूत्र से सिद्ध ही था, फिर अञ् प्रत्यय का इससे विधान गोत्राश्रय 'गोत्रोक्षो०' (४ । २ । ३८) सूत्र से जो वुञ् प्रत्यय प्राप्त हुआ उसके अपवाद के लिये है। और यह वार्त्तिक नियम के लिये भी है। अर्थात् 'क्षुद्रक मालव' शब्द से सेना संज्ञा अर्थ में ही 'अञ्' प्रत्यय होवे। अन्यत्र नहीं। जैसे—क्षौद्रकमालवी सेना और जहां सेना संज्ञा न हो, वहाँ गोत्राश्रय 'वुञ्' प्रत्यय होकर 'क्षौद्रकमालवकम्' प्रयोग ही होगा ॥ ४४ ॥

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥ ४५ ॥

चरणेभ्यः —५ । ३ । धर्मवत् [अ०]। अतिदेशोऽयम्। धर्म इव, सप्तमी समर्थाद्वतिः। चरणशब्दाः कठकलापादयः। षष्ठीसमर्थेभ्यश्चरणवाचिप्रातिपदिकेभ्यः समूह इत्यस्मिन्नर्थे धर्मवत् प्रत्यया भवन्ति। 'गोत्रचरणाद्वुञ्' इत्यत्र 'चरणाद् धर्माम्नाययोरिति' वार्त्तिकेन तस्मिन् चरणवाचिभ्यो यथा प्रत्यया विधीयन्ते तथैव सामूहिके भवन्तीत्यर्थः। यथा कठानां धर्मः काठकम्। कालापकम्। छन्दोगानां समूहः छान्दोग्यम्। आथर्वणिकानां समूह आथर्वणम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—यह अतिदेशसूत्र है। 'धर्मवत्' पद में 'धर्म इव' सप्तमी समर्थ से वति प्रत्यय है। चरण शब्द से कठ, कलापादि का ग्रहण है। षष्ठी समर्थ चरणवाची (कठादि) प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में धर्म अर्थ में विहित प्रत्ययों की भाँति प्रत्यय होते हैं। 'गोत्र चरणाद् वुञ्' (४ । ३ । १२५) सूत्र पर 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' वार्त्तिक से चरणवाची शब्दों से जैसे धर्म अर्थ में प्रत्यय होते हैं, वैसे ही समूह अर्थ में भी होते हैं। जैसे—कठानां धर्मः काठकम्। कालापकम्। छान्दोगानां धर्मश्छान्दोग्यम्। इसी प्रकार समूह अर्थ में भी—कठानां समूहः काठकम् कालापकम्। छन्दोगानां समूहः छान्दोग्यम्। आथर्वणिकानां समूह आथर्वणम्। ४५ ॥

अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ॥ ४६ ॥

अण् अञोरपवादः। अचित्तहस्तिधेनोः —५ । १ । ठक् —१ । १ । षष्ठीसमर्थेभ्योऽचित्तार्थकप्रातिपदिकेभ्यो हस्तिधेनुभ्यां च समूहेऽर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। ये चाचित्तवन्तोऽनुदात्तादयः शब्दास्तेभ्योऽपि परविप्रतिषेधाद् ठगेव भवति। सक्तूनां समूहः साक्तुकम्। अपूप शाष्कुल्यौ शब्दावनुदात्तादी। अपूपानां समूह आपूपिकम्। शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम्। हस्तिनां समूहो हास्तिकम्। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापीति हस्तिनीशब्दादपि प्रत्ययः। हस्तिनीनां

समूहो हास्तिकम्। 'भस्याढे तद्धिते' इति वक्ष्यमाणवार्त्तिकेन पुंवद्भावः। धेनूनां समूहो धैनुकम्॥ ४६॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' और 'अञ्' का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ अचित्तार्थक= अचेतन प्रातिपदिकों से और हस्तिन्, धेनु शब्दों से समूह अर्थ मे 'ठक्' प्रत्यय होता है। जो अचितार्थक अनुदात्तादि शब्द हैं, उनसे पर विप्रतिषेध से 'ठक्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—सक्तूनां समूहः साक्तुकम्। अपूप और शष्कुली शब्द अनुदात्तादि हैं। अपूपाना समूह आपूपिकम्। शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम्। हस्तिनां समूहो हास्तिकम्। प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण हो जाता है। इस परिभाषा के नियम से 'हस्तिनी' शब्द में भी प्रत्यय होता है। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। 'भस्याढे तद्धिते' इस वार्तिक से यहाँ पुवद्भाव होता है। धेनूना समूहो धैनुकम्॥ ४६॥

केशाश्वाभ्यां यञ्-छावन्यतरस्याम्॥ ४७॥

केशाश्वाभ्याम् —५।२। यञ्-छौ —१।२। अन्यतरस्याम् [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। केशशब्दादचित्तत्वाद् ठक् प्राप्त उदात्तादेरश्व शब्दादण्, पक्षे तावेव भवतः। षष्ठीसमर्थाभ्यां केश-अश्वप्रातिपदिकाभ्यां समूह इत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं यञ्-छौ प्रत्ययौ भवतः। केशानां समूहः कैश्यम्। कैशिकम्। अश्वानां समूहोऽश्वीयम्। आश्वम्॥ ४७॥

भाषार्थ—इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है। केश शब्द से अचित्तवान् होने से 'ठक्' प्राप्त है और अश्व शब्द से उदात्तादि होने से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है। विकल्प से ये दोनों प्रत्यय भी होते हैं। षष्ठी समर्थ केश, अश्व प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में यथासंख्य 'यञ्' और 'छ' प्रत्यय होते हैं। जैसे—केशानां समूहः कैश्यम्। कैशिकम्। अश्वानां समूहोऽश्वीयम्। आश्वम्॥ ४७॥

पाशादिभ्यो यः॥ ४८॥

पाशादीनामचित्तवत्त्वाद् ठक् प्राप्तस्तद् बाधनार्थं यविधानम्। पाशादिभ्यः —५।३। यः —१।१। षष्ठीसमर्थेभ्यः पाशादिप्रातिपदिकेभ्यो यः प्रत्ययो भवति समूहार्थे। पाशानां समूहः पाश्या। तृण्या।

वातशब्दोऽत्र पठ्यते, तस्मात् सामूहिके कथं प्रत्ययः स्यात्। वातानामेकीभावात्। तत्र पूर्वो वात उत्तरो वात इत्यादिभेदाददोषः।

अथ पाशादयः—पाश। तृण। धूम। वात। अङ्गार। पाटल। पोत। गल। पिटक। पिटाक। बाधक। शकट। हल। नडवन॥ ४८॥

भाषार्थ—पाशादि गण पठित शब्दों के अचित्तवान् होने से 'ठक्' प्रत्यय प्राप्त है, उसका अपवाद 'य' प्रत्यय है। षष्ठी समर्थ गणपठित पाशादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। जैसे—पाशानां समूहः पाश्या। तृण्या इत्यादि।

पाशादिगण में 'वात' शब्द का पाठ है, उससे समूह अर्थ की संगति न होने से प्रत्यय कैसे होगा? क्योंकि वात संज्ञक अवयवी के एक होने से

अनेकता-पृथक्‌भाववाले समूह अर्थ की अनुपपत्ति है। इसका उत्तर यह है -पूर्व वात, उत्तरवात, इत्यादि भेद होने से वात में भी अनेकता का व्यवहार होता है। अत: समूह अर्थ में प्रत्ययविधान में दोष नहीं आता॥४८॥

खलगोरथात्॥४९॥

य इत्यनुवर्त्तते। खलगोरथात् —५।१। समाहारद्वन्द्वः। षष्ठीसमर्थेभ्यः खल, गो, रथ, इत्येतभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यः प्रत्ययो भवति समूहार्थे। अण्-ठकोरपवादः। खलानां समूहः खल्या। गव्या। रथ्या। पाशादिषु पाठ उत्तरार्थो न कृतः॥४९॥

भाषार्थ—यहाँ 'य' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। 'खल गो-रथात्' पद में समाहारद्वन्द्व समास है। षष्ठीसमर्थ खल, गो और रथ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' तथा ठक् प्रत्ययों का अपवाद है। जैसे—खलाना समूह: खल्या। गव्या। रथ्या। इन शब्दो का पाशादि गण में ही पाठ इसलिये नहीं किया कि इन शब्दों की उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति है।

इनित्रकट्यचश्च॥५०॥

खलगोरथादित्यनुवर्त्तते। इनि-त्र-कट्यचः —१।३। च —अ०प०। षष्ठीसमर्थेभ्यः खल, गो, रथ इति त्रिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूह इत्यस्मिन्नर्थे इनि, त्र, कट्यच्, इत्येते प्रत्यया यथासंख्यं भवन्ति। खलानां समूहः खलिनी। गवां समूहो गोत्रा। रथानां समूहो रथकट्या।

वा०—खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः॥१॥

खलिनी। डाकानां समूहो डाकिनी। कुटुम्बिनी। अत्र समूहाधिकारो निवृत्तः।

जयादित्येनात्र 'कमलादिभ्यः खण्डज्' इत्यादि वार्त्तिकत्रयंस्वबुद्ध्या सृष्टं तन्मिथ्यैवास्ति, महाभाष्ये पठनाऽभावात्॥५०॥

भाषार्थ—यहाँ 'खल गो रथात्' पद की अनुवृत्ति है। षष्ठी समर्थ खल, गो, रथ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में यथासंख्य इनि, त्र और कट्यच् प्रत्यय होते हैं। जैसे—खलानां समूह: खलिनी। गवां समूहो गोत्रा। रथानां समूहो रथकट्या।

वा०—खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः॥१॥

षष्ठीसमर्थ खलादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। जैसे—खलानां समूह: खलिनी। डाकाना समूहो डाकिनी। कुटुम्बिनी। यहाँ 'समूह' का अधिकार समाप्त हुआ।

काशिकाकार जयादित्य ने इस सूत्र पर 'कमलादिभ्यः खण्डच्' इत्यादि तीन नवीन वार्त्तिक अपनी बुद्धि से लिखे हैं, वे महाभाष्य में न होने से मिथ्या ही समझने चाहिएँ॥५०॥

विषयो देशे॥५१॥

तस्येति षष्ठीसमर्थमनुवर्त्तते। समूह इति निवृत्तम्। विषयः —१।१। देशे

—७।१। षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् विषयो देश इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वृषलानां विषयो देशो वार्षलम्। यवनानां विषयो देशो यावनः।

वा०—विषयाभिधाने जनपदे लुब् बहुवचनविषयात्॥ १॥

जनपदक्षत्रियशब्देभ्यो बहुवचनविषयेभ्य उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप्। अङ्गानां विषयो देशः अङ्गाः। वङ्गाः। सुह्माः। पुण्ड्राः॥ १॥

वा०—गान्धार्य्यादिभ्यो वा॥ २॥

गान्धार्य्यादिजनपदविषयबहुवचनान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन लुब् भवति। लुप्पक्षे व्यक्तिवचने युक्तवद् भवतः। गान्धारीणां विषयो देशो गान्धारः। गान्धारयः। वासातः। वासातयः। शैवः। शिवयः॥ १॥

वा०—राजन्यादिभ्यो वा वुञ्॥ ३॥

सूत्रेण नित्ये विधीयमाने विकल्पः क्रियते, पक्षेऽण् भवति। तस्यैव लुप्। वुञस्तु विधानसामर्थ्यादेव [लुब्] न भवति। राजन्यानां विषयो देश, राजन्याः। राजन्यकः। दैवयातवः। दैवयातवकः॥ ३॥

वा०—बैल्ववनादिभ्यो नित्यम्॥ ४॥

राजन्याद्यन्तर्गतेभ्यो बैल्ववनादिभ्यो नित्यं वुञ् प्रत्ययो भवति। बैल्ववनानां विषयो देशः। बैल्ववनकः। आम्बरीषपुत्रकः। आत्मकामेयकः॥ ५१॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तस्य' पद की अनुवृत्ति है। समूह अर्थ निवृत्त हो गया है। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से विषय अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि विषय देश* अर्थ में हो। जैसे—वृषलानां विषयो देशो वार्षलम्। यवनानां विषयो देशो यावनः। इत्यादि।

वा०—विषयाभिधाने जनपदे लुब् बहुवचनविषयात्॥ १॥

इस 'विषय' अर्थ में जनपद-क्षत्रियवाची बहुवचनान्त शब्दों से उत्पन्न प्रत्यय का लुप् होवे। जैसे—अंगानां विषयो देशः अङ्गाः। वङ्गाः। सुह्माः। पुण्ड्राः। यद्यपि 'जनपदे लुप्' सूत्र से चातुर्थिक प्रत्ययों का लुप् कहा है पुनरपि 'अङ्गाना विषयः' इससे जो स्व स्थानिवद् भाव प्राप्त होता है, उसका निवासादि अर्थों से बोध न होने से पृथक् से लुप् विधान किया है।

वा०—गान्धार्य्यादिभ्यो वा॥ २॥

जनपद-क्षत्रिय विषयक बहुवचनान्त गान्धारि आदि शब्दों से विषय अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का विकल्प से लुप् होवे। जैसे—गान्धारीणां विषयो देशो गान्धारः। गान्धारयः। वासातः। वासातयः। शैवः। शिवयः। जहाँ प्रत्यय का लुप् होता है, वहाँ व्यक्ति वचन पूर्ववत् ही रहते हैं।

---

* विषय शब्द अनेकार्थ है, जैसे—ग्रामसमुदाय अर्थ में, विषयो लब्धः। इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य रूपादि विषय अर्थ में, जैसे—चक्षुर्विषयो रूपम्। अत्यधिक अभ्यास अर्थ में, जैसे—देवदत्तस्य विषयोऽनुवाकः। अतः इस सूत्र में ग्राम समुदाय अर्थ का ग्रहण करने के लिये 'देशे' शब्द का ग्रहण किया है। (अनुवादक)

वा०—राजन्यादिभ्यो वा वुञ्॥ ३॥

राजन्यादि शब्दों से सूत्र से नित्य प्रत्यय की प्राप्ति में विकल्प से 'वुञ्' का विधान किया है॥

पक्ष में यथाप्राप्त 'अण्' होता है। और उसी 'अण्' का लुप् होता है। विधानसामर्थ्य से वुञ् का लुप् नहीं होता। जैसे—राजन्यानां विषयो देशः राजन्याः। राजन्यकः। दैवयातवः। दैवयातवकः।

वा०—बैल्ववनादिभ्यो नित्यम्॥ ४॥

राजन्यादि के अन्तर्गत बैल्ववनादि प्रातिपदिकों से विषय अर्थ में नित्य वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे बैल्ववनानां विषयो देशः। बैल्ववनकः। आम्बरीषपुत्रकः। आत्मकामेयकः॥ ५१॥

राजन्यादिभ्यो वुञ्॥ ५२॥

राजन्यादिभ्यः —५।३। वुञ् —१।१। उक्त वार्त्तिकेन वा ग्रहणमत्र सम्बध्यते। षष्ठीसमर्थेभ्यो राजन्यादिप्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन विषयो देश इत्यर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। राजन्यानां विषयो देशः। राजन्यकः। राजन्याः। वुञ्विकल्पे पक्षेऽण् भवति। तस्य लुप्। तत्र व्यक्तिवचने युक्तवद् भवतः।

अथ राजन्यादयः—राजन्य। देवयातव। अमृत। बाभ्रव्य। शालङ्कायन। जालन्धरायण। तैल। बैल्ववन। आत्मकामेय। अम्बरीषपुत्र। वसाति। शैलूष। उदुम्बर। तीव्र। बैल्वल। आर्जुनायन। संप्रिय। दाक्षि। ऊर्णनाभ। आप्रीत। आक्रीड। वैतिल। वावक्र। इति राजन्यादयः।

भाषार्थ—पूर्व सूत्रोक्त "राजन्यादिभ्यो वा वुञ्" इस वार्त्तिक से वा (विकल्प) का इस सूत्र से भी सबन्ध होता है। षष्ठी समर्थ राजन्यादि गणपठित प्रातिपदिकों से देश वाच्य विषय अर्थ में विकल्प से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—राजन्यानां विषयो देशो राजन्यकः। राजन्याः। 'वुञ्' के विकल्प में पक्ष में अण् होता है और उसका लुप् वार्तिक से होता है। प्रत्यय के लुप् होने पर 'लुपि युक्तवद्०' (१।२।५१) सूत्र से लिङ्ग और संख्या पूर्ववत् ही रहते हैं॥ ५२।

भौरिक्याद्यैषुकार्य्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ॥ ५३॥

विषयो देश इत्यनुवर्त्तते। भौरि—दिभ्यः -५।३। विधल्भक्तलौ -१।२। षष्ठीसमर्थेभ्यो भौरिक्यादिभ्य ऐषुकार्यादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो यथासंख्यं विधल्भक्तलौ प्रत्ययौ भवतः। भौरिकीणां विषयो देशः। भौरिकिविधः। भौलिकिविधः। ऐषुकारिभक्तः। सारस्यायनभक्तः।

अथ भौरिक्यादयः—भौरिकि। वैपेय। भौलिकि। चौपयत। चौट्यत। काणेय। वाणिजक। वालिज। वालिज्यक। शैकयत। वैकयत। इति भौरिक्यादयः।

अथैषुकार्य्यादयः—ऐषुकारि। सारस्यायन। चान्द्रायण। द्व्याक्षायण। आक्षायण। त्रायण। औडायन। जौलायन। सौवीर। दासमित्रि। दासमित्रायण।

शौद्रायण। दाक्षायण। शयण्ड। तार्क्ष्यायण। शौभ्रायण। सौवीरायण। सायण्डि। शौण्डि। वैश्वमाणव। वैश्वधेनव। नद। नड। तुण्डदेव। विश्वदेव। विशदेव। अलायत। औलालायत। शौण्ड। शयाण्ड। वैश्वदेव। इत्यैषुकार्य्यादयः॥ ५३॥

भाषार्थ—यहाँ 'विषयो देशे' पदों की अनुवृत्ति है। षष्ठी समर्थ गणपठित भौरिकि आदि और एषुकारि आदि प्रातिपदिकों से यथासंख्य विधल् और भक्तल् प्रत्यय होते हैं। जैसे—भौरिकीणां विषयो देशो भौरिकिविधः। भौलिकिविधः। ऐषुकारिभक्तः। सारस्यायनभक्तः, इत्यादि॥५३॥

सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु॥ ५४॥

तस्येत्यपि निवृत्तम्। सः —१।१। अस्य —६।१। आदिः —१।१। इति [अ०]। छन्दसः —५।१। प्रगाथेषु —७।३। स इति प्रथमासमर्थनिर्देशः। आदिरिति प्रकृतिविशेषणम्। प्रगाथेष्विति प्रत्ययार्थः। छन्दः शब्देन गायत्र्यादिछन्दसां ग्रहणम्। [स इति प्रथमासमर्थाद् आदिसमानाधिकरणाच् छन्दःवाचि प्रतिपादिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे प्रगाथेष्वभिधेयेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति] गायत्र्यादिरस्य प्रगाथस्य गायत्रः प्रगाथः। पाङ्क्तः। त्रैष्टुभः। आनुष्टुभः। बार्हतः। पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्। जगती, इति चत्वारः शब्दा उत्सादिषु पठ्यन्ते तेभ्योऽञ् प्रत्ययः। अन्येभ्यस्त्वण्।

वा०—छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम्॥ १॥

नपुंसकादिति प्रातिपदिकनिर्देशः, प्रत्ययार्थविशेषणम्। प्रत्ययान्तं रूपं नपुंसकं भवतीत्यर्थः। त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्। अनुष्टुबेवानुष्टुभम्। जगत्येव जागतम्। स्वार्थे नपुंसकत्वम्। प्रगाथेऽभिधेये पुंस्त्वमेव॥ ५४॥

भाषार्थ—यहाँ 'तस्य' पद की अनुवृत्ति नहीं है। 'सः' शब्द से प्रथमा समर्थ विभक्ति का निर्देश है। 'आदि' शब्द प्रकृति का विशेषण है। 'प्रगाथेषु' पद प्रत्ययार्थ का बोधक है। और 'छन्दस्' शब्द से अक्षरपरिमाण गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण है। प्रथमासमर्थ आदि समानाधिकरण छन्दस्-वाची प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ मे प्रगाथ* अभिधेय हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—गायत्री आदिरस्य प्रगाथस्य गायत्रः प्रगाथः। पाङ्क्तः। त्रैष्टुभः। आनुष्टुभः। जागतः। बार्हतः। पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती, ये चार शब्द उत्सादिगण में पठित हैं, उनसे 'अञ्' प्रत्यय हुआ है और दूसरे शब्दों से तो 'अण्' प्रत्यय हुआ है।

वा०—छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम्॥ १॥

'नपुंसकात्' शब्द से नपुंसकप्रातिपदिक का निर्देश है और प्रत्ययार्थ का विशेषण है, अर्थात् प्रत्ययान्त जो रूप बनता है, वह नपुंसक होता है। छन्दस्-वाची शब्दों से स्वार्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्।

---

* प्र+गाथा=प्रगाथा। गीयते या सा गाथा (उणादि० २।४), अत्रानुक्तं गाथा (छन्द० ८।१) शास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्तं छन्दः, प्रयोगे च दृश्यते तत्-छन्दः गाथेत्यभिधीयते।

—सम्पादक

अनुष्टुबेवानुष्टुभम्। जगत्येव जागतम्। यहाँ स्वार्थ में प्रत्ययान्त शब्द नपुंसक होता है, और प्रगाथ अभिधेय में पुल्लिंग ही रहता है॥५४॥

संग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः॥५५॥

संग्रामे —७।१। प्रयो०.....धृभ्यः —५।३। सोऽस्येत्यनुवर्त्तते। संग्राम इति प्रत्ययार्थः। प्रथमासमर्थेभ्य प्रयोजनयोद्धृसमानाधिकरणप्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति संग्रामेऽभिधेये। स्त्री प्रयोजनमस्य संग्रामस्य स्त्रैणः। कल्याणं प्रयोजनमस्य संग्रामस्य काल्याणः। पृथिवी प्रयोजनमस्य संग्रामस्य पार्थिवः संग्रामः। 'पृथिव्या ञाञौ' इति वार्त्तिकेन ञाञौ। भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य भारतः संग्रामः। कुरवो योद्धारोऽस्य संग्रामस्य कौरवः संग्रामः। कुरु-भरत शब्दाभ्यामुत्सादिपाठादञ्। संग्राम इति किम्। स्त्री प्रयोजनमस्य कामुकस्य। प्रयोजनयोद्धृभ्य इति किम्। स्त्री प्रयोजनमस्य कामुकस्य। प्रयोजन योद्धृभ्य इति किम्। सुभद्रा प्रेक्षिकाऽस्य संग्रामस्य अत्र मा भूत्॥५५॥

भाषार्थ—यहाँ 'सोऽस्य' पदों की अनुवृत्ति है। संग्रामे' शब्द से प्रत्ययार्थ का निर्देश है। प्रथमा समर्थ प्रयोजन और योद्धृ समानाधिकरण प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं, यदि प्रकृति-प्रत्यय समुदाय से संग्राम का बोध होवे। जैसे—स्त्री प्रयोजनमस्य संग्रामस्य स्त्रैणः संग्रामः। कल्याण प्रयोजनमस्य संग्रामस्य काल्याणः। पृथिवी प्रयोजनमस्य संग्रामस्य पार्थिवः संग्रामः। 'पार्थिवः' शब्द में 'पृथिव्या ञाञौ' वार्त्तिक से ञ् और अञ् प्रत्यय हैं। योद्धृसमानाधिकरण—भरता योद्धारोऽस्य संग्रामस्य भारतः संग्रामः। कुरवो योद्धारोऽस्य संग्रामस्य कौरवः संग्रामः। कुरु और भरत शब्दों से उत्सादि में पाठ होने से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'संग्रामे' शब्द का ग्रहण इसलिये है कि स्त्री प्रयोजनमस्य कामुकस्य, यहाँ प्रत्यय न होवे और प्रयोजनयोद्धृभ्यः' का ग्रहण इसलिये है कि 'सुभद्रा प्रेक्षिकाऽस्य संग्रामस्य' यहाँ भी न हो॥५५॥

तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः॥५६॥

स इत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तद् ग्रहणमस्येति निवृत्त्यर्थम्। तत् —१।१। अस्याम्—७।१। प्रहरणम्—१।१। इति [अ०] क्रीडायाम्—७।१। णः —१।१। अस्यां क्रीडायामिति प्रत्ययार्थः। प्रहरणमिति प्रकृत्यर्थविशेषणम्। प्रथमा-समर्थात् प्रहरणसमानाधिकरणाद् अस्यां क्रीडायामित्यधिकरणे णः प्रत्ययो भवति। दण्डाः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा क्रीडा। मौष्टा। पुष्पाणि प्रहरणमस्यां क्रीडायां पौष्पा। प्रहरणमिति किम्। मालाभूषणमस्यां क्रीडायाम्। क्रीडायामिति किम्। असिः प्रहरणमस्यां सेनायामित्यत्र माभूत्॥५६॥

भाषार्थ—यहाँ 'सः' की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'तद्' का ग्रहण 'सः' से सम्बद्ध 'अस्य' पद की निवृत्ति के लिये है। 'अस्यां क्रीडायाम्' पद प्रत्ययार्थ के निर्देशक और 'प्रहरणम्' शब्द प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। प्रथमासमर्थ प्रहरण

समानाधिकरण प्रातिपदिकों से सप्तम्यर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है, यदि प्रकृति-प्रत्यय समुदाय से क्रीडा का बोध होवे। जैसे—दण्डाः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा क्रीडा। मौष्टा। पुष्पाणि प्रहरणमस्यां क्रीडायां पौष्पा क्रीडा। यहाँ 'प्रहरणम्' का ग्रहण इसलिये है कि—मालाभूषणमस्यां क्रीडायाम्। यहाँ प्रत्यय न हो। और 'क्रीडायाम्' पद का ग्रहण इसलिये है कि—असिः प्रहरणमस्यां सेनायाम्। यहाँ भी क्रीडा अभिधेय न होने से प्रत्यय न होवे॥५६॥

घञः सास्यां क्रियेति ञः॥५७॥

घञः —५।१। सा —१।१। अस्याम् —७।१। क्रिया —१।१। इति। ञः —१।१। घञ् इति प्रकृतिनिर्देशः। सेति समर्थविभक्तिः। क्रियेति प्रकृतिविशेषणम्। प्रथमासमर्थात् क्रियावाचिनो घञन्तात् प्रातिपदिकाद् अस्यामित्यधिकरणे ञः प्रत्ययो भवति। श्येनपातोऽस्यां वर्त्तते श्यैनंपाता। तिलपातोऽस्यां वर्त्तते तैलंपाता। 'श्येनतिलस्य पाते ञे' इति मुमागमः। घञ इत किम्। श्येनपतनमस्यां वर्त्तते। क्रियेति किम्। उपाध्यायोऽस्यां वर्त्तते। साऽस्यामिति पुनर्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं क्रीडायामिति न संबध्येत। अर्थात् सामान्येन स्त्रीलिङ्गेऽभिधेये स्यात्। इहापि यथा स्यात्। दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्त्तते दाण्डपाता। मौसलपाता॥५७॥

भाषार्थ—यहाँ सूत्र में 'घञः' पद से प्रकृति का 'सा' पद से समर्थ विभक्ति का और 'क्रिया' पद से प्रकृतिविशेषण का निर्देश है। प्रथमा समर्थ क्रियावाची घञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से सप्तम्यर्थ स्त्रीलिंग में 'ञ' प्रत्यय होता है। जैसे—श्येनपातोऽस्यां वर्त्तते श्यैनंपाता। तिलपातोऽस्या वर्त्तते तैलंपाता। 'श्येनतिलस्य पाते ञे' (अ० ६।३।७०) सूत्र से पूर्वपद को 'मुम्' आगम हुआ है। यहाँ 'घञ्' का ग्रहण इसलिये है कि—श्येनपतनमस्यां वर्त्तते। यहाँ घञन्त न होने से प्रत्यय न होवे। 'क्रिया' का ग्रहण इसलिये हैं कि उपाध्यायोऽस्यां वर्त्तते। यहाँ क्रिया न होने से प्रत्यय न होवे और 'साऽस्याम्' पदों के पुनर्ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'क्रीडायाम्' का सम्बन्ध यहाँ न होवे। अर्थात् सामान्यरूप में स्त्रीलिंग अभिधेय में प्रत्यय होने से यहाँ भी प्रत्यय हो जावे—दण्डपातोऽस्या तिथौ वर्त्तते दाण्डपाता तिथिः। मौसलपाता तिथिः॥५७॥

तदधीते तद् वेद॥५८॥

तत् —२।१। अधीते [क्रि.प.] । तद् —२।१। वेद [क्रि.प.] अत्र द्विस्तद्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं यः केवलमध्ययनमात्रं करोति, यश्च केवलं वेत्ति नाऽधीते, तयोः पृथक् पृथगपि ग्रहणं यथा स्यात्। अन्यथा योऽधीते स एव वेद तत्रैव प्राप्नोति। अध्ययनं केवलं पाठमात्रस्याभ्यासः। वेदनं तत्त्वज्ञानम्। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकादध्ययनकर्त्तर्य्यभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। एवं द्वितीयासमर्थाद् वेदनकर्त्तर्य्यपि। व्याकरणमधीतेऽसौ वैयाकरणः। व्याकरणं वेद सोऽपि वैयाकरणः। निरुक्तमधीते वेद वा नैरुक्तः। गणितमधीते गाणितः। मुहूर्त्तं वेत्ति मौहूर्त्तः। औत्पातः॥५८॥

भाषार्थ—सूत्र में दो बार तद् (समर्थ विभक्ति) के ग्रहण करने का प्रयोजन* यह है कि जो केवल शास्त्र को पढ़ रहा है और जो शास्त्र का वेत्ता (विद्वान्) है, पढ़ता नहीं है, उन दोनों का पृथक् पृथक् ग्रहण हो सके। अन्यथा जो पढ़ रहा है, वही वेत्ता भी हो, उस का ही ग्रहण प्राप्त होता। अध्ययन (पढ़ना) केवल पाठ के अभ्यास को और वेदन=जानना तत्त्वज्ञान को कहते हैं।

द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से अध्ययन करने और जाननेवाला कर्त्ता वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—व्याकरणमधीतेऽसौ वैयाकरणः। व्याकरणं वेद सोऽपि वैयाकरणः। निरुक्तमधीते वेद वा नैरुक्तः। गणितमधीते गाणितः। मुहूर्त्तं वेत्ति मौहूर्त्तः। औत्पातः, इत्यादि॥५८॥

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट् ठक्॥५९॥

पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। क्रतूक्थादिसूत्रान्तात्—५।१। ठक्—१।१। क्रतवः=यज्ञ-विशेषवाचिनः। उक्थादयो गणशब्दाः। अण् प्राप्तः बाध्यते। द्वितीयासमर्थेभ्यः क्रतूक्थादिसूत्रान्तप्रातिपदिकेभ्योऽध्ययनवेदनयोः कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। क्रतु—अश्वमेधमधीते आश्वमेधिकः। राजसूयिकः। वाजपेयिकः। उक्थादि—औक्थिकः। लौकायतिकः। उक्थानि सामगानमधीत इति विग्रहः। सूत्रान्त—योगसूत्रमधीते यौगसूत्रिकः। गौभिलीयसूत्रिकः। श्रौतसूत्रिकः।

वा०—विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्पादेरिकक् स्मृतः॥१॥

विद्यादयश्चत्वारः शब्दा अन्ते यस्मादकल्पादेः प्रातिपदिकाद्-इकक् प्रत्ययो भवति। वायसविद्यामधीते वेत्ति वा वायसविद्यिकः। सार्पविद्यिकः। लक्षण-गोलक्षणमधीते वेद वा गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। कल्प-पराशरकल्पमधीते वेद वा पाराशरकल्पिकः। मातृकल्पिकः। सूत्र-वार्त्तिकसूत्रमधीते वेद वा वार्त्तिकसूत्रिकः। सांग्रहसूत्रिकः। अकल्पादेरिति किमर्थम्? कल्पसूत्रमधीते काल्पसूत्रः। अणेव भवति॥१॥

वा०—विद्या चानङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वा॥२॥

अङ्ग, क्षत्र, धर्म, त्रि, इति शब्दचतुष्टयपूर्वाद् विद्याशब्दाद् ठक् प्रत्ययो न भवतीत्यर्थः। किन्त्वणेव। अन्यपूर्वाद् विद्याशब्दात्तु ठगेव भवतीति नियमः। अङ्ग-विद्यामधीते वेद वा आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रैविद्यः॥२॥

वा०—आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च॥३॥

आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहणम्। इतिहास-पुराणयोः स्वरूपमेव। आख्यानादिप्रातिपदिकेभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति। आख्यान यवक्रीतमधीते यावक्रीतिकः। प्रैयङ्गविकः। यायातिकः। आख्यायिका—वासवदत्तामधीते

* 'किमर्थमिमावुभावर्थौ निर्दिश्येते, न योऽधीते वेत्त्यप्यसौ यश्च वेत्ति अधीतेऽप्यसौ। नैतयोरावश्यकः समावेशः। भवति हि कश्चित् सपाठं पठति न च वेत्ति, कश्चिच्च वेत्ति न च सपाठं पठति।'
—अनुवादकः

वेद वा वासवदत्तिकः। सौमनोत्तरिकः। इतिहासमधीते ऐतिहासिकः। पौराणिकः॥ ३॥

वा०—सर्वसादेर्द्विगोश्च लः॥ ४॥

सर्वशब्दः सशब्दश्चादौ यस्य तस्माद् द्विगुसंज्ञकाच्च प्रातिपदिकाद् विहितस्य प्रत्ययस्य लः=लुग् भवतीति। सर्ववेदमधीते वेद वा सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सवार्तिकमधीते वेद वा सवार्त्तिकः। ससंग्रहः। द्विगु—पंचकल्पानधीते वेद वा पंचकल्पः। द्विवेदः। द्वितन्त्रः॥ ४॥

का०— अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।
इकन्पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः॥ १॥

अनुसू, लक्ष्य, लक्षण, इति त्रयः शब्दा ग्रन्थविशेषवाचिनः। तेभ्यष्ठक्। अनुस्वमधीते आनुसुकः। 'इसुसुक्तान्तात्कः' ति कादेशः। 'केऽणः' इति ह्रस्वः। लक्ष्यमधीते लाक्षियकः। लाक्षणिकः। सर्वसादेर्द्विगोश्च ल इति व्याख्यातम्। पदशब्द उत्तरपदमस्य तस्मात् पदोत्तरपदाद् इकन् प्रत्ययो भवति। पूर्वपदमधीते पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः। शतषष्टेः षिकन् पथः=पथान्ताभ्यां शत-षष्टिप्रातिपदिकाभ्यां षिकन् प्रत्ययो भवति। षित्करणं स्त्रियां ङीषर्थम्। शतपथमधीते शतपथिकः। शतपथिकी। षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकी॥ १॥

अथोक्थादयः -उक्थ। लोकायत। न्याय। न्यास। निमित्त। पुनरुक्त। निरुक्त। द्विपद। ज्योतिष। अनुपद। अनुकल्प। यज्ञ। चर्चा। धर्म। क्रमेतर। श्लक्ष्ण। सहिता। सङ्घात। सङ्घाट। वृत्ति। परिषत्। संग्रह। गुणागुण। आयुर्वेद। इत्युक्थादयः॥ ५९॥

भाषार्थ—यहाँ समस्त पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। यह सूत्र अण् का अपवाद है द्वितीया समर्थ क्रतु (यज्ञ विशेष वाची) गणपठित उक्थादि और सूत्रान्त प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—क्रतु वाची— अश्वमेधमधीते आश्वमेधिकः। राजसूयिकः। वाजपेयिकः। उक्थादि उक्थानि सामगानमधीते औक्थिकः। लौकायतिकः, सूत्रान्त योगसूत्रमधीते वेद वा यौगसूत्रिकः। गौभिलीयसूत्रिकः। श्रौतसूत्रिकः।

वा० —विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्पादेरिकक् स्मृतः॥ १॥

विद्या लक्षण, कल्प, सूत्र, ये चार शब्द जिनके अन्त में हो और कल्प शब्द आदि में न होवे, ऐसे प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में इकक् (ठक्) प्रत्यय होता है। जैसे वायसविद्यामधीते वेत्ति वा वायसविद्यिकः। सार्पविद्यिकः। लक्षणान्त गोलक्षणमधीते वेद वा गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। कल्पान्त-पराशरकल्पमधीते वेद वा पाराशरकल्पिकः। मातृकल्पिकः। सूत्रान्त-वार्तिकसूत्र-मधीते वेद वा वार्तिकसूत्रिकः। सांग्रहसूत्रिकः।

'अकल्पादेः' का ग्रहण इसलिये है कि —कल्पसूत्रमधीते काल्पसूत्रः। यहाँ 'ठक्' न हो किन्तु 'अण्' ही हो॥ १॥

वा०—विद्या चानङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वा॥ २॥

[illegible]वार्त्तिक से विद्यान्त शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय विहित है। यह उसका अपवाद [illegible] [illegible] क्षत्र धर्म त्रि, ये चार शब्द जिससे पूर्व हों ऐसे विद्यान्त प्रातिपदिकों [illegible] [illegible]ध्ययन और वेदन अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय नहीं होता है। किन्तु 'अण्' ही [illegible] [illegible] इन शब्दों से अन्य कोई शब्द पूर्व हो तो विद्या शब्द से 'ठक्' ही होता [illegible] [illegible] नियम इस वार्त्तिक से समझना चाहिये। जैसे अङ्ग विद्यामधीते वेद वा [illegible]: क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रैविद्यः॥ २॥

वा०—आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च॥ ३॥

यहाँ आख्यान-आख्यायिका शब्दों के अर्थ का ग्रहण है और इतिहास, पुराण [illegible] के स्वरूप का ग्रहण है। आख्यान तथा आख्यायिका वाचक शब्दों से और [illegible] तथा पुराण शब्दों से अध्ययन और वेदन अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता [illegible] [illegible] [illegible]ख्यानवाचक-यवक्रीतिमधीते यावक्रीतिकः। प्रैयङ्गविकः। यायातिकः। [illegible]यिकावाचक—वासवदत्तामधीते वेद वा वासवदत्तिकः सौमनोत्तरिकः [illegible] वेद वा ऐतिहासिकः। पौराणिकः, इत्यादि॥ ३॥

वा०—सर्वसादेर्द्विगोश्च लः॥ ४॥

[illegible]' शब्द और 'स' शब्द जिनके आदि में हो, उन प्रातिपदिकों से और [illegible] [illegible] से अध्ययन और वेदन अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् [illegible] है [illegible]—[illegible]-[illegible]धीते वेद वा सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सादि—[illegible]निकमधीते वेद वा [illegible]: [illegible]। द्विगु—पञ्चकल्पान् अधीते वेद वा [illegible]कल्पः। द्विवेदः। द्वितन्त्रः॥ ४॥

का०— अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टे पिकन् पथः॥ १॥

अनुसू, लक्ष्य, लक्षण, ये तीनों शब्द ग्रन्थविशेषों के वाचक हैं। इन प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—अनुस्वमधीते आनुसुकः। यहाँ 'इसुसुक्तान्तात्कः' (७।३।५१) सूत्र से 'ठ' को क आदेश हुआ है और 'केऽणः' (७।४।१३) सूत्र से ह्रस्व हुआ है। लक्ष्यमधीते लाक्ष्यिकः। लाक्षणिकः। 'सर्वसादेर्द्विगोश्च लः' कारिका के इस भाग की व्याख्या वार्त्तिक में की गई है वहीं द्रष्टव्य है और पद शब्द जिनके अन्त मे हो, ऐसे प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों मे 'इकन्' प्रत्यय होता है। जैसे पूर्वपदमधीते वेद वा पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः। 'पथिन्' शब्द जिनके अन्त में हों ऐसे शत और षष्टि प्रातिपदिकों से 'पिकन्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय में पित्करण स्त्रीलिंग में 'ङीष्' प्रत्यय के लिये है। जैसे—शतपथमधीते वेद वा शतपथिकः। शतपथिकी। षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकी॥ ५९॥

क्रमादिभ्यो वुन्॥ ६०॥

क्रमादिभ्यः —५।३। वुन् —१।१। द्वितीयासमर्थेभ्यः क्रमादिप्राति

पदिकेभ्योऽध्ययनवेदनकर्त्तरि वुन् प्रत्ययो भवति। क्रममधीते वेद वा क्रमकः। पदकः।

अथ क्रमादयः—क्रम। पद। शिक्षा। मीमांसा। सामन्। इति क्रमादयः॥ ६०॥

भाषार्थ—द्वितीयासमर्थ गणपठित क्रम आदि प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में 'वुन्' प्रत्यय होता है। जैसे—क्रममधीते वेद वा क्रमकः। पदकः इत्यादि॥ ६०॥

अनुब्राह्मणादिनिः॥ ६१॥

अनुब्राह्मणात् —५।१।इनिः —१।१। ब्राह्मणसदृशमनुब्राह्मणं ग्रन्थः। द्वितीयासमर्थाद् अनुब्राह्मणशब्दाद् अध्येतृ-वेदित्रोरिनिः प्रत्ययो भवति। अनुब्राह्मणमधीते वेद वा अनुब्राह्मणी। अनुब्राह्मणिनौ। अनुब्राह्मणिनः अण्-बाधनार्थ आरम्भः॥ ६१॥

भाषार्थ—ब्राह्मण के सदृश ग्रन्थ को 'अनुब्राह्मण' कहते हैं। द्वितीयासमर्थ अनुब्राह्मण शब्द से अध्ययन और वेदन अर्थों में 'इनि' प्रत्य होता है। जैसे—अनुब्राह्मणमधीते वेद वा अनुब्राह्मणी। अनुब्राह्मणिनौ। अनुब्राह्मणिनः। यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है॥ ६१॥

वसन्तादिभ्यष्ठक्॥ ६२॥

वसन्तादिभ्यः —५।३।ठक् —१।१। वसन्तादयः शब्दा ऋतुविशेष-वाचिनस्तेभ्योऽध्ययने वेदने च प्रत्ययस्यासम्भवात् सहचारोपाधिर्गृह्यते। द्वितीयासमर्थेभ्यो वसन्तादिप्रातिपदिकेभ्योऽध्येतृ-वेदित्रोष्ठक् प्रत्ययो भवति। वसन्तसह चरितं ग्रन्थमधीते वासन्तिकः। वार्षिकः।

भा०—साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति॥

वसन्तसहचरितेऽध्ययने वसन्तशब्दः। तथैव व्याख्यातम्।

अथ वसन्तादयः—वसन्त। ग्रीष्म। वर्षा। शरद्। हेमन्त। प्रथम। गुण। चरम। अनुगुण। अपर्वन्। अथर्वन्। आथर्वण। इति वसन्तादयः॥ ६२॥

भाषार्थ—वसन्तादि शब्द ऋतुविशेष के वाचक हैं। 'साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति' इस महाभाष्य के वचन से वसन्तादि ऋतु विषयक ग्रन्थों का यहाँ ग्रहण है। द्वितीयासमर्थ गणपठित वसन्तादि प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वसन्तसहचरितं ग्रन्थमधीते वेद वा वासन्तिकः। वार्षिकः। इत्यादि॥ ६२॥

प्रोक्ताल्लुक्॥ ६३॥

प्रोक्तात् —५।१। लुक् —१।१। प्रोक्तशब्देन 'तेन प्रोक्तम्' इति प्रोक्तार्थविहितः प्रत्ययो गृह्यते। द्वितीयासमर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाद् अध्येतृवेदित्रोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीं मीमांसामधीते ब्राह्मणी काशकृत्स्ना। अत्रानुप-

मर्जनाभावात् पुनर्ङीम् न भवति। एवं पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं, पाणिनीयमधीते कन्या पाणिनीया। अध्येत्र्यामपि लुप्ते ङीम्न भवति। स्वरे च विशेषः। अण्यन्तोदात्तः। छप्रत्यये प्रत्ययस्याद्युदात्तस्वरः॥६३॥

भाषार्थ—यहाँ 'प्रोक्त' शब्द से 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) सूत्र से प्रोक्तार्थ में विहित प्रत्यय का ग्रहण है। द्वितीयासमर्थ प्रोक्त प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीं मीमासामधीते ब्राह्मणी काशकृत्स्ना। यहाँ प्रत्यय के लुक् होने पर अध्ययन और वेदन अर्थ मुख्य है और प्रोक्तार्थ अण् प्रत्यय अनुपसर्जन (प्रधान) न होने से पुनः 'ङीप्' नहीं होता है। इसी प्रकार—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं, पाणिनीयमधीते कन्या पाणिनीया। अध्ययन अर्थ में 'अण्' के लुक् होने पर 'ङीप्' नहीं होता है। 'अण्' प्रत्यय में अन्तोदात्त और छ प्रत्यय में आद्युदात्त स्वर का भेद है॥६३॥

सूत्राच्च कोपधात्॥६४॥

लुगनुवर्त्तते। सूत्रात् —५।१। च —[अ०प०]। कोपधात् —५।१। द्वितीयासमर्थात् सूत्रवाचिनः कोपधात् प्रातिपदिकादध्येतृ-वेदित्रोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। अप्रोक्तार्थोऽयमारम्भः। पाणिनीयमष्टकं सूत्रमधीते वेद वा अष्टकाः पाणिनीयाः। पञ्चकं गौतमसूत्रमधीते पञ्चका गौतमाः। त्रिकाः काशकृत्स्नाः। कोपधादिति किम्। चतुष्टयमधीते चातुष्टयः।

वा०—संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्॥१॥

संख्याप्रकृतेर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुग्भवतीत्यर्थः। इह मा भूत्—माहावार्त्तिकः। चान्दनगन्धिकः। कालापकः॥६४॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से लुक् की अनुवृत्ति है। द्वितीयासमर्थ सूत्रवाची ककारोपध प्रातिपदिकों से अध्ययन और वेदन अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। प्रोक्तार्थ से भिन्न शब्दों से लुक् करने के लिये यह सूत्र बनाया है। जैसे—पाणिनीयमष्टकं सूत्रमधीते वेद वा अष्टकाः पाणिनीयाः। पंचकं गौतमसूत्रमधीते पंचका गौतमाः। त्रिकाः काशकृत्स्नाः। यहाँ 'कोपधात्' का ग्रहण इसलिये है कि—चतुष्टयमधीते चातुष्टयः। यहाँ लुक् न होवे।

वा०—संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्॥१॥

सूत्रवाची ककारोपध शब्द संख्यावाची हो तो विहित प्रत्यय का लुक् होवे अन्यथा नहीं। इससे संख्यावाची प्रकृति न होने से यहाँ प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ—माहावार्त्तिकः। चान्दनगन्धिकः। कालापकः॥६४॥

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥६५॥

प्रोक्तग्रहणमनुवर्त्तते। छन्दोब्राह्मणानि —१।३। च—[अ०]। तद्विषयाणि —१।३। प्रोक्तशब्दे विभक्तिर्विपरिणम्यते। प्रोक्तप्रत्ययान्तानि छन्दांसि ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि भवन्ति। अर्थादध्येतृवेदितृविषयाणि। अध्येतृवेदितृभ्यां विना

छन्दःसु ब्राह्मणेषु च प्रत्ययो न भवति। यथा—तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते ते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। ब्राह्मणानि—शाट्यायनेन प्रोक्तमधीयते शाट्यायनिनः। ताण्डिनः। भाल्लविनः। छन्दो ब्राह्मणानीति किम्। पाणिनीयं व्याकरणम्। काशकृत्स्नी मीमांसा॥ ६५॥

भाषार्थ—यहाँ 'प्रोक्तात्' पद की अनुवृत्ति है और उसमें 'अर्थाद् विभक्तिर्विपरिणम्यते'' इस नियम से विभक्ति विपरिणाम होकर प्रथमान्त हो जाती है। छन्दस् वाची और ब्राह्मणवाची, ये दोनों प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द तद्विषय=अध्येतृ वेदितृ प्रत्ययार्थ विषयक होते हैं। अर्थात् प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण शब्दों का अध्ययन और वेदन अर्थों के विना प्रयोग न होवे। जैसे—तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते ते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। ब्राह्मणवाची—शाट्यायनेन प्रोक्तमधीयते शाट्यायनिनः। ताण्डिनः। भाल्लविनः। यहाँ 'छन्दोब्राह्मणानि' ग्रहण इसलिए है कि—पाणिनीय व्याकरणम्। काशकृत्स्नी मीमांसा। यहाँ प्रोक्तार्थ में विहित प्रत्यय की तद्विषयता न होवे॥ ६५॥

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि॥ ६६॥

तत्-१।१। अस्मिन्-७।१। अस्ति [क्रि.प.]। इति -[अ०]। देशे-७।१। तन्नाम्नि —७।१। तन्नामशब्दो देशविशेषणम्। प्रकृति-प्रत्ययसमुदायेन देशस्य लौकिकं नाम यदि स्यात्। अस्ति समानाधिकरणात् प्रथमासमर्थादस्मिन् तन्नाम्नि देशेऽधिकरणे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। शिरीषाः सन्त्यस्मिन् देशे शैरीषः। बल्वजाः सन्त्यस्मिन् देशे बाल्वजः। औदुम्बरः। बार्बुरः खादिरः। पालाशः। तन्नाम्नीति किम्—गोधूमाः सन्त्यस्मिन् देशे॥ ६६॥

भाषार्थ—[यह सूत्र मत्वर्थीय प्रत्ययों का अपवाद है।] 'तन्नाम' शब्द देश का विशेषण है। यदि प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय से देश के लौकिक नाम का बोध होवे, तो अस्ति—समानाधिकरण, प्रथमा समर्थ प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—शिरीषाः सन्त्यस्मिन् देशे शैरीषः। बल्वजाः सन्त्यस्मिन् देशे बाल्वजः। औदुम्बरः। बार्बुरः। खादिरः। पालाशः यहाँ—'तन्नाम्नि' शब्द का ग्रहण इसलिये है कि—गोधूमाः सन्त्यस्मिन् देशे। यहाँ देश नाम का बोध न होने से प्रत्यय न होवे॥ ६६॥

तेन निर्वृत्तम्॥ ६७॥

तेन —३।१। निर्वृत्तम् —१।१। तृतीयासमर्थात् प्रातिकान्निर्वृत्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी। भरतेन निर्वृत्तं भारतम्। सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा॥ ६७॥

भाषार्थ—तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से निर्वृत्त (बनाने) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी। भरतेन निर्वृत्त भारतम्। सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा॥ ६७॥

तस्य निवासः॥ ६८॥

तस्य —६।१। निवासः —१।१। देश इत्यनुवर्त्तते। निवासो देश-विशेषणम्। निवसन्त्यस्मिन् सोऽयं निवासो देशः। अधिकरणे घञ्। षष्ठी-समर्थात् प्रातिपदिकान् निवासार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। उत्सस्य निवासो देश औत्सः। कुरूणां निवासो देशः कौरवः। अम्बष्ठानां निवासो देश आम्बष्ठः॥ ६८॥

भाषार्थ—यहाँ 'देशे' पद की अनुवृत्ति है। निवास शब्द देश का विशेषण है। निवास शब्द मे 'निवसन्त्यस्मिन्' अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय है। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से निवास देश अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—उत्सस्य निवासो देश औत्सः। कुरूणां निवासो देशः कौरवः। अम्बष्ठानां निवासो देश आम्बष्ठः, इत्यादि॥ ६८॥

अदूरभवश्च॥ ६९॥

तस्येत्यनुवर्त्तते। अदूरभवः —१।१। च —[अ.प.] चकार इत्यर्थे। इत चत्वारो योगा अधिकारार्थाः। उत्तरसूत्रेषु चत्वारोऽपि सम्बध्यन्ते। षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अदूरभव इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। आम्राणामदूरभवो ग्राम आम्रः। हिमवत अदूरभवो ग्रामो हैमवतः। हैमालयः॥ ६९॥

भाषार्थ—यहाँ 'तस्य' पद की अनुवृत्ति है। चकार शब्द 'इति' के अर्थ में है अर्थात् ये चार सूत्र अधिकार के लिये हैं। इस सूत्र से आगे चारों सूत्रों का सम्बन्ध है। षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से अदूरभव (समीप) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—आम्राणाम् अदूरभवो ग्राम आम्रः। हिमवत अदूरभवो ग्रामो हैमवतः। हैमालयः, इत्यादि॥ ६९॥

ओरञ्॥ ७०॥

चत्वारोऽर्था अनुवर्त्तन्ते। ओः —५।१। अञ् —१।१। प्रथमा तृतीया-षष्ठीसमर्थात् [उवर्णान्तात्] प्रातिपदिकाच् चतुर्ष्वर्थेषु अञ् प्रत्ययो भवति। परशुना निर्वृत्तं पारशवम्। पर्शूनां निवासो देशः पार्शवः। रुरवः सन्त्यस्मिन् देशे रौरवः॥ ७०॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वोक्त चारों अर्थों की अनुवृत्ति है। प्रथमा, तृतीया तथा षष्ठी समर्थ उवर्णान्त प्रातिपदिकों से उक्त चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे परशुना निर्वृत्तं पारशवम्। पर्शूना निवासो देशः पार्शवः। रुरवः सन्त्यस्मिन् देशे रौरवः॥ ७०॥

मतोश्च बह्वजङ्गात्॥ ७१॥

मतोः ५।१। च-[अ.प.]। बह्वजङ्गात् ५।१। मतौ परतो यद्बह्वजङ्गं प्रातिपदिकं तस्मान् मत्वन्तात् प्रातिपदिकाच् चातुरर्थिकेऽञ् प्रत्ययो भवति। गवयवान् अस्त्यस्मिन् देशे गावयवतो देशः। गार्दभवतः। बह्वज्ग्रहण-मङ्गविशेषणम्। मत्वन्तविशेषणे इह दोषः स्यात्—मालावतां निवासो मालावतम्। अत्राणेव भवति॥ ७१॥

भाषार्थ—मतुप् प्रत्यय के परे होने पर जो बह्वच् (बहुत स्वरोंवाला) अंग प्रातिपदिक है, उस मतुप् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—गवयवान् अस्त्यस्मिन् देशे गावयवतो देशः। गार्दभवतः। यहाँ बह्वच् शब्द अङ्ग का विशेषण है। मतुबन्त का विशेषण मानने पर यहाँ दोष हो जाये—मालावता निवासो मालावतम्। यहाँ अण् ही होता है॥ ७१॥

बह्वचः कूपेषु॥ ७२॥

बह्वचः —५।१। कूपेषु —७।३। बह्वच्प्रातिपदिकात् कूपेष्वभिधेयेषु चातुरर्थिकेऽञ् प्रत्ययो भवति। दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपो दैर्घवरत्रः। कापिलवरत्रः॥ ७२॥

भाषार्थ—बह्वच् (अनेक स्वरोंवाले) प्रातिपदिकों से कूप (कुआँ) अर्थ अभिधेय हो तो पूर्वोक्त चारों अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपो दैर्घवरत्रः कापिलवरत्रः, इत्यादि॥ ७२॥

उदक् च विपाशः॥ ७३॥

अबह्वजर्थ आरम्भः। उदक्-१।१। च-[अ०]। विपाशः-५।१। विपाशो नद्या उत्तरदेशे ये कूपास्तेष्वभिधेयेष्वञ् प्रत्ययो भवति। दत्तेन निर्वृत्तः कूपोदात्तः। गौप्तः। विपाशोऽन्यदेशे त्वणेव भवति। प्रयोगस्तु स एव, स्वरे विशेषः॥ ७३॥

भाषार्थ—यह सूत्र बह्वच् से अन्यत्र विधान के लिये है। विपाश् (व्यास नदी) के उत्तरदेश में जो कूप (कुएँ) हैं, उनके वाच्य होने पर अबह्वच् प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः। गौप्तः। विपाश् नदी से भिन्नदेश में तो 'अण्' ही होता है। अण् और अञ् प्रत्ययों में प्रयोग की समानता होने पर भी स्वर में भेद होता है॥ ७३॥

संकलादिभ्यश्च॥ ७४॥

कूपेष्विति नानुवर्त्तते। संकलादिभ्यः —५।३। च [अ०] संकलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकेऽर्थे। संकलेन निर्वृत्तः सांकलः। पौष्कलः।

अथ संकलादयः —संकल। पुष्कल। उत्तम। उद्वप। उडुप। उद्वेय। उत्पुट। विधान। निधान। सुदक्ष। सुदत्त। सुभूत। सुपूत। सुनेत्र। सुमङ्गल। सुपिङ्गल। सिकता। पूतिकी। पूतीक। पूलास। कूलास। निवेश। गवेष। गम्भीर। इतर। शर्मन्। आन। अहन्। आहन्। लोमन्। वेमन्। वरुण। बहुल। सद्योज। अभिषिक्त। गोभृत। राजभृत्। गृह। भृत। भल्ल। मल्ल। माल। इति सकलादयः॥ ७४॥

भाषार्थ—यहाँ 'कूपेषु' पद की अनुवृत्ति नहीं है। सकल आदि प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—सकलेन निर्वृत्तः सांकलः पौष्कलः इत्यादि॥ ७४॥

स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु॥ ७५ ॥

स्त्रीषु —७।३। सौवीरसाल्वप्राक्षु —७।३। स्त्रीग्रहणेन प्रत्ययार्थो विशेष्यते। सौवीरसाल्वप्राक्ष्विति स्त्रीविशेषणम्। सौवीरसाल्वप्राक्षु देशाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे प्रत्ययार्थे प्रथमादिसमर्थात् प्रातिपदिकाच्चातुरर्थिकेऽञ् प्रत्ययो भवति। दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी दात्तामित्री। साल्वे—विधूमाग्निना निर्वृत्ता वैधूमाग्नी। प्राचि—मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी। माणिचरी॥ ७५ ॥

भाषार्थ यहाँ स्त्री शब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है और 'सौवीरसाल्वप्राक्षु' शब्द स्त्री का विशेषण है। सौवीर, साल्व तथा प्राच्यदेशाधिकरण स्त्रीलिंग अभिधेय हो तो प्रथमा समर्थ प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे सौवीर में—दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी दात्तामित्री। साल्व में—विधूमाग्निना निर्वृत्ता वैधूमाग्नी। प्राच्य में—मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी। माणिचरी, इत्यादि॥ ७५ ॥

सुवास्त्वादिभ्योऽण्॥ ७६ ॥

सुवास्त्वादिभ्यः —५।३। अण् —१।१। उवर्णान्तत्वाद्, 'उदक् च विपाशः' इत्यनेन चाञ् प्राप्तः स बाध्यते। अणित्यनुवर्तमाने पुनरण् ग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। 'नद्यां मतुपं बाधित्वाऽणेव यथास्यात्। सुवास्त्वादि-प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति। सुवास्तोरदूरभवं नगरं सौवास्तवम्। वार्णवम्। सुवास्तोरदूरभवा नदी सौवास्तवी।

अथ सुवास्त्वादयः—सुवास्तु। वर्णु। भण्डु। खण्डु। कण्डु। सेवालिन्। सेचालिन्। कर्पूरिन्। गर्त्त। कर्कश। शकटी। कर्ण। शटीकर्ण। कृशकरण। कर्क। कर्कन्धुमती। गोह। गोह्य। अहिरुक्थ। इति सुवास्त्वादयः॥ ७६ ॥

भाषार्थ—'सुवास्तु' इत्यादि शब्दों से उवर्णान्त होने से 'ओरञ्' (४।२।७०) सूत्र से और 'उदक् च विपाशः' (४।२।७३) सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। 'अण्' प्रत्यय का अधिकार होने से ही अनुवृत्ति होने पर पुनः यहाँ 'अण्' का ग्रहण बाधक प्रत्यय के भी बाधन के लिये है। 'नद्यां मतुप्' (४।२।८४) सूत्र से विहित नदी अभिधेय में 'मतुप्' का बाधक यह 'अण्' ही होता है। सुवास्तु आदि गणपठित प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—सुवास्तोरदूरभवं नगरं सौवास्तवम्। वार्णवम्। सुवास्तोरदूरभवा नदी सौवस्तवी॥ ७६ ॥

रोणी॥ ७७ ॥

रोणी —१।१। 'उदक् च विपाश' इति कूपेऽभिधेयेऽञ् प्राप्तः स बाध्यते। रोणीप्रातिपदिकाच्चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति। रौण्या निर्वृत्तः कूपः रौणः। अजकरोणेन निर्वृत्तः कूपः, आजकरौणः। सिंहिकरोण्या निर्वृत्तः सैंहिकरौणः॥ ७७ ॥

भाषार्थ—रोणी शब्द से 'उदक् च विपाशः (४।२।७३) सूत्र से कूप अभिधेय में 'अञ्' प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। रोणी प्रातिपदिक से चातुरर्थिक

अण् प्रत्यय होता है। जैसे—रोण्या निर्वृत्तः कूप; रौणः। अजकरोणेन निर्वृत्तः कूपः आजकरौणः। सिंहिकरोण्या निर्वृत्तः सैंहिकरोणः। 'रोणी' शब्द से केवल और तदन्त से भी प्रत्यय होता है, यह सूत्र में पञ्चम्यन्तनिर्देश न करके प्रथमान्त निर्देश करने से स्पष्ट होता है॥७७॥

कोपधाच्च॥७८॥

कोपधात् —५।१। च [अ०]। अञोऽपवादः। कोपध-प्रातिपदिकाच् चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति। कर्णवेष्टकेन निर्वृत्तः कूपः कार्णवेष्टकः। कृकवाकुना निर्वृत्तः कार्कवाकवः। त्रैशङ्कवः॥७८॥

भाषार्थ—यह सूत्र कूपलक्षण और उवर्णलक्षण से प्राप्त 'अञ्' का अपवाद है ककारोपध प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे कर्णवेष्टकेन निर्वृत्तः कूपः कार्णवेष्टकः। कृकवाकुना निर्वृत्तः कार्कवाकवः। त्रैशंकवः। इत्यादि॥७८॥

वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञ्-इञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशबल-वक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः॥७९॥

वुञ्......ठकः —१।३।अरीहण............कुमुदादिभ्यः —५।३।वुञादयः सप्तदश प्रत्ययाः। अरीहणादीनि सप्तदश प्रातिपदिकानि। अन्त्ये पठित आदि-शब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते। तेनारीहणादयः सप्तदश गणाः सम्पद्यन्ते। अरीहणा-द्यादिसप्तदश-गणप्रातिपदिकेभ्यो वुञादयः सप्तदश चातुरर्थिकाः प्रत्यया यथासंख्यं भवन्ति। तद्यथा—अरीहणादिभ्यो वुञ्—आरीहणकम्। द्रौघणकम्। गणः—अरीहण। द्रुघण। द्रुहण। खदिर। सार। भगल। उलन्द। किरण। सांपरायण। क्रौष्ट्रायन। औष्ट्रायन। त्रैगर्त्तायन। मैत्रायण। भास्त्रायण। वैमतायन। गौमतायन। सौमतायन। सौसायन। धौमतायन। सौमायन। ऐन्द्रायण। कैन्द्रायण। खाण्डायन। शाण्डिल्यायन। रायस्पोष। विपथ। विपाश। उद्दण्ड। उदंचन। खण्ड। वीरण। काशकृत्स्न। जाम्बवन्त। शिंशपा। रैवत। बैल्व। सुयज्ञ। शिरीष। बधिर। जम्बू। सुशर्मन्। दलतृ। भलन्दन। कण्ड। कनल। यज्ञदत्त। इत्यरीहणादयः॥१॥

कृशाश्वादिभ्यश्छण् प्रत्ययो भवति। कृशाश्वेन निर्वृत्तं कार्शाश्वीयम्। आरिष्टीयम्। गणः—कृशाश्व। अरिष्ट। आरिरमन्। वेश्मन्। विशाल। रोमश। अरीश्व। रोमक। लोमक। रोमन्। शवल। कूट। बर्बर। वर्चल। सुवर्चल। सुकर। सूकर। प्रतर। प्रातर। सदृश। पुरग। पुराग। सुख। धूम। अजिन। विनता। वनिता। अवनता। विकुधास। पराशर। अरुस्। अहस्। अयस्। अयावस्। मौद्गल्य। इति कृशाश्वादयः॥२॥

ऋश्यादिभ्यः कः प्रत्ययो भवति। ऋश्यकः। न्यग्रोधकः। गणः—ऋश्य। न्यग्रोध। शर। शिरा। निलीन। निवास। निधान। निवात। निबद्ध। निबन्धन।

परिगूढ। असनि। सित। मत। वेश्मन्। उत्तराश्मन्। स्थूलबाहु। खदिर। शर्क्करा। अनडुह। अद्गुह। परिवंश। वेणु। वीणा। खण्ड। दण्ड। परिवृत्त। कर्दम। अंशु। इति ऋश्यादयः॥ ३॥

कुमुदादिभ्यष्ठच् प्रत्ययो भवति। कुमुदिकम्। शर्क्करिकम्। गणः—कुमुद। शर्क्करा। न्यग्रोध। इत्कट। उत्कट। इक्कट। संकट। कंकट। गर्त्त। अश्व। अश्वत्थ। बल्वज। बीज। परिवाप। निर्य्यास। शकट। कच। मधु। शिरीष। यवाष। कूप। विकङ्कत। कण्टक। पलाश। त्रिक। कत। दशग्राम॥ इति कुमुदादयः॥ ४॥

काशादिभ्य इलः प्रत्ययो भवति। काशिलम्। वाशिलम्। पाशिलम्। गणः—काश। वास। पाश। अश्वत्थ। पलाश। पीयूष। पीयूक्षा। लिश। विस। तृण। नर। चरण। नड। वन। कर्द्दम। कर्पूर। कण्टक। आवास। बधूल। बर्बर। गुहा। कपित्थ। मधुर। गृह। जतु। सीपाल॥ इति काशादयः॥ ५॥

तृणादिभ्यः शः प्रत्ययो भवति। तृणशः। नडशः। गणः—तृण। नड। वन। बुस। पर्ण। वर्ण। बिल। पुल। फल। अर्जुन। चरण। अर्ण। जन। सुवर्ण। बल। लव॥ इति तृणादिः॥ ६॥

प्रेक्षादिभ्य इनिः प्रत्ययो भवति। प्रेक्षी। हलकी। गणः—प्रेक्षा। हलका। फलका। बन्धुका। ध्रुवका। क्षिपका। न्यग्रोध। इर्कुट। इक्कट। बुधका। संकट। कूपका। कर्कटा। सुकटा। मंकट। सुक। महा। परिवाप। यवाष। गर्त्त। हिरण्य॥ इति प्रेक्षादिः॥ ७॥

अश्मादिभ्यो रः प्रत्ययो भवति। अश्मरः यूथरः। गणः—अश्मन्। यूथ। यूष। रूष। मीन। दर्भ। वृन्द। गुद। खण्ड। नद। गुड। नग। शिखा। नख। काट। पाम। कोट। कन्द। काण्ड। कुल। गड्डु। कुण्डल। पीन। गुह॥ इत्यश्मादिः॥ ८॥

सख्यादिभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति। साखेयम्। साखिदत्तेयम्। गणः—सखि। अग्निदत्त। वायुदत्त। सखिदत्त। गोहित। गोहिल। गोपिल। भल्ल। पाल। वक्र। चक्रवाल। चक्रपाल। चक्रवाक। छगल। अशोक। करवीर। अवीर। सीकर। सकर। सरस। सलम। बासव। वीरपुर। बन्वा। सुरस। रोह। तमाल। कदल। समल॥ इति सख्यादिः॥ ९॥

संकाशादिभ्यो ण्यः प्रत्ययो भवति। सांकाश्यम्। काम्पिल्यम्। गणः—संकाश। कम्पिल। कश्मीर। समीर। कश्मर। शूरसेन। सरक। सूर। सुपथिन्। सक्थच। यूप। यूथ। अंश। राग। अंगनाशा। पलित। अनुनाश। अश्मन्। कूट। मलिन। दस। कुम्भ। शीर्षविरत। समल। पंजर। मन्थानल। रोमन्। लोमन्। पुलिन्। सुपरि। कटिप। सकर्णक। वृष्टि। तीर्थ। अगस्ति। विरत। विकार। विरह। नासिका॥ इति संकाशादिः॥ १०॥

बलादिप्रातिपदिकेभ्यो यः प्रत्ययो भवति। बल्यम्। कुल्यम्। गणः—बल। बुल। चुल। नल। दल। बटन। कुल। उल। तुल। पुल। मूल। डुल। ढुल।

कवल। वन॥ इति बलादिः॥ ११॥

पक्षादिभ्यः फक् प्रत्ययो भवति। पाक्षायणः। तौषायणः। गणः—पक्ष। तुक्ष। तुष। अण्ड। अणु। कुण्ड। कम्बलिक। चित्र। अश्मन्। अतिस्वन्। अस्ति। पथिन् पथं च॥ कुम्भ। सीरज। सीरक। सरक। सकल। सलक। सरस। समल। अतिश्वन्। रोमन्। लोमन्। हस्तिन्। हंसका। मकर। लोमक। शीर्ष। निवात। पाक। सिंहक। अङ्कुश। सुवर्ण। हिंसक। कुत्स। बिल। खिल। यमल। हस्त। कला। अस्तिबल। सकर्णक। सत्कण्डक॥ इति पक्षादिः॥ १२॥

कर्णादिभ्यः फिञ् प्रत्ययो भवति। कार्णायनिः। वासिष्ठायनिः। गणः—कर्ण। वसिष्ठ। अर्क। अलुष। शल। डुपद। दुपद। अनडुह्य। पांचजन्य। स्थिरा। कुलिश। कुम्भी। जीवन्ती। जीत्व। आण्डीवत्। अर्क। लूष। स्फिक्। ज्ञावत्। इति कर्णादिः॥ १३॥

सुतंगमादिभ्य इञ् प्रत्ययो भवति। सौतङ्गमिः। मौनिचित्तिः। गणः—सुतङ्गम। मुनिचित्त। विप्रचित्त। महाचित्त। महापुत्र। स्वन। श्वेत। गडिक। खडिक। शुक्र। विग्र। बीजवापिन्। श्वन्। अर्जुन। अजिर। जीव। खण्डित। कर्ण। विग्रह॥ इति सुतङ्गमादिः॥ १४॥

प्रगदिन्नादिभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति। प्रागद्यम्। मागद्यम्। गणः—प्रगदिन्। मगदिन्। शरदिन्। कलिव। खडिव। गडिव। चूडार। मदार। मडार। मन्दार। कोविदार॥ इति प्रगदिन्नादयः॥ १५॥

वराहादिभ्यः कक् प्रत्ययो भवति। वाराहकम्। पालाशकम्। गणः—वाराह। पलाश। शिरीष। पिनद्ध। निबद्ध। स्थूण। स्थूल। विदग्ध। विजग्ध। विभग्न। विमग्न। बाहु। खदिरा। शर्करा। निबद्ध। विरुद्ध। मूल॥ इति वराहादिः॥ १६॥

कुमुदादिभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति। कौमुदिकम्। गौमथिकम्। गणः—कुमुद। गोमथ। रथकार। दशग्राम। अश्वत्थ। शाल्मली। शिरीष। मुनिस्थल। कुण्डल। कूट। मुचुकर्ण। कुन्द। मधुकर्ण। घास। शुचिकर्ण॥ इति कुमुदादयः॥ सूत्रं च समासम्॥ १७॥ ७९॥

भाषार्थ—वुञ् आदि सप्तदश (१७) प्रत्यय हैं और अरीहणादि सप्तदश प्रातिपदिकों के गण हैं। अन्त में पठित आदि शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक सूत्रस्थ शब्द के साथ है। उस आदि शब्द के योग से अरीहणादि सप्तदश (सत्रह) गण बन जाते हैं। अरीहणादि इत्यादि सत्रह गणपठित प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चार अर्थों में 'वुञ्' आदि सत्रह प्रत्यय यथासंख्य होते हैं। जैसे—

(१)	अरीहणादिकों से	वुञ्	—	आरीहणकम्। द्रौघणकम्, इत्यादि।
(२)	कृशाश्वादिकों से	छण्	—	कृशाश्वेन निर्वृत्तं कार्शाश्वीयम्। आरिष्टीयम्। इत्यादि।
(३)	ऋष्यादिकों से	क	—	ऋष्यकः। न्यग्रोधकः, इत्यादि।

(४)	कुमुद आदि से	ठच्	—	कुमुदिकम्। शर्क्करिकम्, इत्यादि।
(५)	काश आदि से	इल	—	काशिलम्। वाशिलम्। पाशिलम्, इत्यादि।
(६)	तृण आदि से	श	—	तृणशः। नडशः, इत्यादि।
(७)	प्रेक्षा आदि से	इनि	—	प्रेक्षी। हलकी, इत्यादि।
(८)	अश्मन् आदि से	र	—	अश्मरः। यूथरः, इत्यादि।
(९)	सखि आदि से	ढञ्	—	साखेयम्। साखिदत्तेयम्, इत्यादि।
(१०)	संकाशादि से	ण्य	—	सांकाश्यम्। काम्पिल्यम्, इत्यादि।
(११)	बल आदि से	य	—	बल्यम्। कुल्यम्, इत्यादि
(१२)	पक्ष आदि से	फक्	—	पाक्षायणः। तौषायणः, इत्यादि।
(१३)	कर्ण आदि से	फिञ्	—	कार्णायनिः। वासिष्ठायनिः, इत्यादि।
(१४)	सुतङ्गम आदि से	इञ्	—	सौतङ्गमिः। मौनचित्तिः, इत्यादि।
(१५)	प्रगदिन् आदि से	ञ्य	—	प्रागद्यम्। मागद्यम्, इत्यादि।
(१६)	वराह आदि से	कक्	—	वाराहकम्। पालाशकम्, इत्यादि।
(१७)	कुमुद आदि से	ठक्	—	कौमुदिकम्। गौमथिकम्, इत्यादि॥७९॥

जनपदे लुप्॥८०॥

जनपदे —७।१। लुप् —१।१। प्रथमासमर्थाद् देशसामान्ये यः प्रत्ययो विधीयते तस्य विशेषेजनपदे लुब् भवति। तत्र 'लुपि युक्तिवद् व्यक्तिवचने' इति युक्तवद्भावः। पंचालानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदः पञ्चालाः। मत्स्याः। अङ्गाः। वङ्गाः॥८०॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से 'तदस्मिन्नस्तीति' (४।२।६६) सूत्र से देश सामान्य अर्थ में जो प्रत्यय का विधान किया है उसका विशेष जनपद अभिधेय मे लुप् (अदर्शन) हो जाता है। और प्रत्यय के लुप् होने पर 'लुपि युक्तिवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र से लिंग और संख्यापूर्ववत् होते है। जैसे—पञ्चालानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदः पञ्चालाः। मत्स्याः। अङ्गाः। वङ्गाः॥८०॥

वरणादिभ्यश्च॥८१॥

अजनपदार्थारम्भः। वरणादिभ्यः —५।३। च [अ०]। वरणादि-प्रातिपदिकेभ्यो विहितस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति। वरणानामदूर भवं नगरं वरणाः। शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः।

अथ वरणादयः—वरण। शृङ्गी। शाल्मलि। कटुबदरी। शुण्डी। शयाजी। शिरीष। कांची। आलिङ्ग्यायन। पर्णी। ताम्रपर्णी। गोद। जानपदी। जम्बू। पुष्प। चम्पा। पम्पा। वल्गु। सदाण्वी। वणिकि। वणिक्। जानपद। उज्जयिनी। गया। मथुरा। तक्षशिला। उरशा। गोमती। बलभी॥ इति वरणादयः॥८१॥

भाषार्थ—यह सूत्र जनपद से भिन्न अभिधेय में लुप् करने के लिये है। गणोपदिष्ट वरण आदि प्रातिपदिकों से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है, जैसे—वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः। शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः॥ ८१॥

शर्कराया वा॥ ८२॥

शर्करायाः —५।१।वा [अ०]।अप्राप्तविभाषेयम्।शर्कराप्रातिपदिकाद् विहितस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य विकल्पेन लुब् भवति। पक्षे श्रवणमेव। शर्करया निर्वृत्तं शर्करा। शार्करम्॥ ८२॥

भाषार्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। शर्करा प्रातिपदिक से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है। पक्ष में प्रत्यय का श्रवण भी रहता है। जैसे—शर्करया निर्वृत्तं शर्करा। शार्करम्॥ ८२॥

ठक्छौ च॥ ८३॥

शर्कराया इत्यनुवर्त्तते। ठक्-छौ —१।२।च [अ०]।शर्कराप्रातिपदिकाच् चातुरर्थिकौ ठक्-छौ प्रत्ययौ भवतः। शर्करया निर्वृत्तं शार्करिकम्। शर्करीयम्॥ ८३॥

भाषार्थ—यहाँ 'शर्करायाः' पद की अनुवृत्ति है। शर्करा प्रातिपदिक से चातुरर्थिक ठक् और छ प्रत्यय होते हैं। शर्करया निर्वृत्तं शार्करिकम्। छ—शर्करीयम्।

नद्यां मतुप्॥ ८४॥

नद्याम् —७।१। मतुप् —१।१। सर्वेषामणादीनामपवादः। तन्नाम्नो देशस्य विशेषणं नदी। प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकान्नद्यामभिधेयायां चातुरर्थिको मतुप् प्रत्ययो भवति। उदुम्बराः सन्ति यस्यां नद्याम् उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। वेत्रवती। इक्षुमती। तन्नाम्नीत्यनुवर्त्तनात्—भागीरथी, इह मतुम्न भवति॥ ८४॥

भाषार्थ—यह सूत्र सब अणादि प्रत्ययों का अपवाद है। तन्नाम देश का नदी विशेषण है। प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से नदी अभिधेय में चातुरर्थिक 'मतुप्' प्रत्यय होता है। जैसे—उदुम्बराः सन्ति यस्यां नद्याम् उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। वेत्रवती। इक्षुमती। इस सूत्र में 'तन्नाम्नि' पद की अनुवृत्ति होने से यहाँ मतुप् नहीं होता—भागीरथी॥ ८४॥

मध्वादिभ्यश्च॥ ८५॥

मध्वादिभ्यः —५।३।च [अ०]।अनद्यर्थोऽयमारम्भः।प्रथमासमर्थेभ्यो मध्वादिप्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिको मतुप् प्रत्ययो भवति। मध्वस्त्यस्मिन् देशे मधुमान् देशः। विसवान्।

अथ मध्वादयः—मधु। विस। स्थाणु। वेणु। मुष्टि। दृष्टि। इक्षु। रम्य। ऋक्षु। कर्कन्धु। शमी। करीर। किरीर। हिम। किशरा। शर्य्याण। मरुत्। वर्दाली। दार्वाघाट। शर। इष्टका। तक्षशिला। आसुति। शक्ति। आसन्दी। शकल। शलाका। आमिषी। आमिधी। खडा। वेटा। रोमन्। ऋष्टि। ऋष्य। इति

मध्वादयः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—नदी अभिधेय से भिन्न अर्थ में विधान के लिये यह सूत्र बनाया है। प्रथमासमर्थ मधु आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'मतुप्' प्रत्यय होता है। जैसे—मध्वस्त्यस्मिन् देशे मधुमान् देशः। विसवान् ॥ ८५ ॥

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ॥ ८६ ॥

कुमुदनडवेतसेभ्यः —५।३। ड्मतुप् —१।१। **कुमुदादिभ्यस्त्रिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिको ड्मतुप् प्रत्ययो भवति। कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्।**

वा०—महिषाच्च ॥ १ ॥

महिषशब्दादपि चातुरर्थिको ड्मतुप् प्रत्ययो भवति। महिष्मान् ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—कुमुद, नड, वेतस, इन तीन प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक ड्मतुप् प्रत्यय होता है। जैसे—कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्।

वा०—महिषाच्च ॥ १ ॥

महिष प्रातिपदिक से भी चातुरर्थिक ड्मतुप् प्रत्यय होता है। जैसे—महिष्मान् ॥ ८६ ॥

नडशादाड् ड्वलच् ॥ ८७ ॥

नड-शादात् —५।१। ड्वलच् —१।१। **नड-शादशब्दाभ्यां चातुरर्थिको ड्वलच् प्रत्ययो भवति। नड्वलम्। शाद्वलम् ॥ ८७ ॥**

भाषार्थ—नड और शाद शब्दों से चातुरर्थिक ड्वलच प्रत्यय होता है। जैसे नड्वलम्। शाद्वलम् ॥ ८७ ॥

शिखाया वलच् ॥ ८८ ॥

शिखायाः-५।१। वलच्-१।१। **शिखाप्रातिपदिकाच्चातुरर्थिको वलच् प्रत्ययो भवति। शिखा=कश्चिन्मनुष्यस्तेन निर्वृत्तं नगरं शिखावलम् ॥ ८८ ॥**

भाषार्थ—'शिखा' प्रातिपदिक से चातुरर्थिक 'वलच्' प्रत्यय होता है। जैसे—शिखा नामक कोई मनुष्य है। उससे बनाया हुआ नगर 'शिखावलम्' कहलाता है ॥ ८८ ॥

उत्करादिभ्यश्छः ॥ ८९ ॥

उत्करादिभ्यः —५।३।छः —१।१।**उत्करादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिकश्छः प्रत्ययो भवति। उत्करीयम्। संफलीयम्।**

अथोत्करादयः—उत्कर। संफल। संकर। शफर। पिप्पल। पिप्पलीमूल। अश्मन्। अर्क। पर्ण। सुपर्ण। सुवर्ण। खलाजिन। इडा। अग्नि। तिक। कितव। आतप। अनेक। पलाश। तृणव। पिचुक। अश्वत्थ। शकाक्षुद्र। भस्त्रा। विशाला। अवरोहित। गर्त्त। शाल। अन्यजन्या। अजिन। मंच। चर्मन्। उत्क्रोश। शान्त। खदिर। शूर्पणाय। श्यावनाय। नैव। बक। तृण। नितान्त। वृक्ष। विजिगीषा। फल। सम्बर। अर्क। वैराणक। अरण्य। निशान्त। पर्ण।

नीचायक। शंकर। अवरोहित। क्षार। विशाल। वेत्र। अरीहण। खण्ड। वातागर। मन्त्रणार्ह। इन्द्रवृक्ष। नितान्तवृक्ष। आर्द्रवृक्ष। अर्जुनवृक्ष। इत्युत्करादयः॥८९॥

भाषार्थ—उत्करादि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—उत्करीयम्। सम्फलीयम्॥८९॥

नडादीनां कुक् च॥९०॥

नडादीनाम् —६।३। कुक् —१।१। च [अ०]। नडादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विहिते चातुरर्थिके प्रत्यये परतो नडादीनां कुगागमो भवति। नडकीयम्। प्लक्षकीयम्।

अथ नडादयः—नड। प्लक्ष। बिल्व। वेणु। वेत्र। वेतस। तृण। इक्षु। काष्ठ। कपोत। कुंचाया ह्रस्वत्वं च। तक्षन्नलोपश्च॥ इति नडादयः॥९०॥

भाषार्थ—नडादि गणपठित प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है और नडादि शब्दों को 'कुक्' आगम होता है। जैसे—नडकीयम्। प्लक्षकीयम्, इत्यादि॥९०॥

शेषे॥९१॥

शेषे —७।१। भा०—'कः शेषो नाम। अपत्यादिभ्यश्चातुरर्थपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेषः।' 'तस्य विकार' इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यकारेणोक्तं तस्येत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शेषाधिकारनिवृत्त्यर्थम्। अतो ज्ञायते तस्य विकार इत्यस्मात् पूर्वं पूर्वं शेषाधिकारः। अधिकारसूत्रमिदम्। अतोऽग्रे ये घादयः प्रत्यया विधास्यन्ते ते जातादिशेषेऽर्थे भवन्तीति वेदितव्यम्॥९१॥

भाषार्थ—'शेष' किसे कहते हैं? इसका उत्तर महाभाष्य में यह दिया है—'तस्यापत्यम्' (४।१।१३४) इस अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिक पर्यन्त अर्थों से भिन्न जो अर्थ हैं, वे शेष हैं और शेष का अधिकार कहाँ तक है? इसका उत्तर भी महाभाष्य के अनुसार 'तस्य विकारः' (४।३।१३४) सूत्र से पहले शेष का अधिकार है। क्योंकि इस सूत्र में 'तस्य' शब्द की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः 'तस्य' शब्द का ग्रहण शेषाधिकार की निवृत्ति के लिये है।

यह अधिकार सूत्र है। इस सूत्र से आगे जो जो प्रत्यय विधान किये जायेंगे। वे सब जातादि शेष अर्थों में होते हैं, ऐसा जानना चाहिये॥९१॥

राष्ट्रावारपाराद् घखौ॥९२॥

राष्ट्रावारपारात् —५।१। घ-खौ —१।२। समर्थविभक्तिनिर्देशोऽर्थनिर्देशश्च जातादिशेषे विधीयते। तत्र यथासम्भवं जातादिष्वर्थेषु राष्ट्र, अवारपार इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां घ-खौ प्रत्ययौ यथासंख्यं भवतः। राष्ट्रे जातः। राष्ट्रे भवः। राष्ट्रादागतः। राष्ट्रं भक्तिरस्येत्यादि विगृह्य राष्ट्रियः। अवारपारीणः।

वा०—आवारपाराद् विगृहीतादपि॥१॥

अवार पार शब्दाभ्यां पृथक् पृथगपि खः प्रत्ययो भवति। पारीणः। अवारीणः।

वा०—विपरीताच्च॥ २॥

यदि पारशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदापि यथा स्यात्। पारावारीणः॥ ९२॥

भाषार्थ—समर्थ विभक्ति और अर्थ का निर्देश जातादि शेषाधिकार के सूत्रों में किया गया है। राष्ट्र और अवारपार प्रातिपदिकों से यथासम्भव शेष जातादि अर्थों में क्रम से घ और ख प्रत्यय होते हैं। जैसे राष्ट्रे जातः, राष्ट्रे भवः राष्ट्रादागतः, राष्ट्रं भक्तिरस्य, (इत्यादि विग्रह करके) वा राष्ट्रियः। अवारपारीणः।

वा०—अवारपाराद् विगृहीतादपि॥ १॥

विगृहीत शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न है। अवारपार शब्दों से पृथक् पृथक् भी ख प्रत्यय होता है। जैसे—अवारीणः। पारीणः॥ १॥

वा०—विपरीताच्च॥ २॥

यदि 'अवारपार' शब्दों में 'पार' शब्द को पहिले और 'अवार' शब्द का परनिपात हो तो भी समस्त शब्द से ख प्रत्यय होता है। जैसे—पारावारीणः। २। ९२।

ग्रामाद् यखञौ॥ ९३॥

ग्रामात् —५।१। य-खञौ —१।१। ग्रामप्रातिपदिकाच् छैषिकेष्वर्थेषु य-खञौ प्रत्ययौ भवतः। ग्रामे जातो भवो वेत्यादि विगृह्य ग्राम्यः। ग्रामीणः। वृद्धाच्छं बाधते॥ ९३॥

भाषार्थ—'ग्राम' प्रातिपदिक से शैषिक जातादि अर्थों में य और खञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—ग्रामे जातो भवो वा (इत्यादि विग्रह करके) ग्राम्यः। ग्रामीणः ग्राम शब्द वृद्धसंज्ञक है, अतः यह सूत्र 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) सूत्र का अपवाद है॥ ९३॥

कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ्॥ ९४॥

कत्त्र्यादिभ्यः —५।३। ढकञ् —१।१। कत्त्र्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ढकञ् प्रत्ययो भवति शैषिकेष्वर्थेषु। कात्त्रेयकः। औम्भेयकः।

इदानींतनेषु गणपाठपुस्तकेषु काशिकायां च कत्त्र्यादिषु ग्रामशब्दः पठितो दृश्यते। स केनचिद् भ्रान्त्या लिखितः। यदि कत्त्र्यादिषु ग्रामशब्दः स्यात् तर्हि वार्त्तिकारम्भोऽनर्थकः स्यात्।

वा०—ग्रामाच्च॥ १॥

ग्रामशब्दादपि ढकञ् प्रत्ययो भवति। ग्रामेयकः।

अथ कत्त्र्यादयः—कत्त्रि। उम्भि। पुष्कर। पुष्कल। मोदनकुम्भी। कुण्डिन्। नगरी। वञ्जी। भक्ति। महिष्मती। वर्मवती। चर्मण्वती। उख्या। कुल्याया यलोपश्च॥ इति कत्त्र्यादयः॥

अत्र जयादित्येन कुल्याया यलोपश्चेति गणसूत्रं पठितं तत्र वक्ष्यमाणसूत्रेण 'कौलेयक' इति सिद्ध एव पुनरनर्थकमेव॥ ९४॥

भाषार्थ—गणपठित 'कत्त्रि' आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'ढकञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कात्त्रेयकः। औम्भेयकः। इत्यादि।

वा०—ग्रामाच्च ॥ १ ॥

ग्राम शब्द से भी शैषिक अर्थों में 'ढकञ्' प्रत्यय होता है। जैसे ग्रामेयकः ॥ १ ॥

वर्त्तमान में उपलब्ध गणपाठ की पुस्तकों तथा काशिका में कत्र्यादि गण में 'ग्राम' शब्द का पाठ मिलता है। वह किसी ने भ्रान्ति से लिखा है। क्योंकि यदि इस गण में 'ग्राम' शब्द का पाठ होता तो वार्त्तिक बनाना निरर्थक ही होगा और इस गण में जयादित्य ने 'कुल्याया यलोपश्च' ऐसा गण सूत्र माना है। यह भी भ्रान्तिवश ही है। क्योंकि इस गणसूत्र से 'कौलेयकः' रूप बनता है, और इस रूप की सिद्धि अगले 'कुलकुक्षि०' (४।२।९५) सूत्र से हो जाती है॥ ९४॥

कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु ॥ ९५ ॥

ढकञ् अनुवर्त्तते। कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः -५।३। श्वास्यलंकारेषु -७।३। श्वास्यलङ्काराः शेषविशेषणानि। नियमार्थश्चारम्भः। कुल, कुक्षि, ग्रीवा, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः श्वास्यलंकारेष्वेव भवेषु ढकञ् प्रत्ययो भवति। कुले भवः कौलेयकः श्वा चेत्। कुक्षौ भवः कौक्षेयकोऽसिः। ग्रीवायां भवोऽलंकारो ग्रैवेयकः। श्वास्यलंकारेष्विति किम्—कौलः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से यहाँ 'ढकञ्' की अनुवृत्ति है। श्वा, असि और अलंकार ये शेष के विशेषण हैं। यह सूत्र नियमार्थक है। कुल, कुक्षि और ग्रीवा प्रातिपदिकों से श्वा, असि और अलकार अभिधेय हो तो यथासख्य करके शैषिक 'ढकञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कुले भवः कौलेयकः श्वा। कुक्षौ भवः कौक्षेयकोऽसिः। ग्रीवायां भवोऽलंकारो ग्रैवेयकः। यहाँ 'श्वास्यलकारेषु' इसलिये ग्रहण किया है कि--कौलः। [कौक्षः। ग्रैवः, यहाँ 'ढकञ्' न हो] ॥ ९५ ॥

नद्यादिभ्यो ढक् ॥ ९६ ॥

नद्यादिभ्यः —५।३। ढक् —१।१। नद्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकेषु ढक् प्रत्ययो भवति। नद्यां भवं नादेयम्। माहेयम्।

अथ नद्यादयः—नदी। मही। वाराणसी। श्रावस्ती। श्रावणी। कौशाम्बी। नवकौशाम्बी। काशफरी। काशपरी। खादिरी। पूर्वनगरी। पावा। मावा। साल्वा। दार्वा। दाल्वा। सेतकी। वासेनकी। बडवाया वृषे॥ इति नद्यादयः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—गण पठित नदी आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय होता है। जैसे—नद्या भवं नादेयम्। माहेयम्। इत्यादि ॥ ९६ ॥

दक्षिणापश्चात्पुरस्तात्* त्यक् ॥ ९७ ॥

दक्षिणा, पश्चात्, पुरस्तात्, अव्ययशब्दा एते। तत्र त्यप् प्रत्ययः प्राप्तस्तद् बाधनार्थ आरम्भः। दक्षिणादिप्रातिपदिकेभ्यस्त्यक् प्रत्ययः शैषिकेषु भवति। दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ—दक्षिणा, पश्चात्, पुरस्तात्, ये तीनों शब्द अव्यय हैं, अतः इनसे 'त्यप्' प्रत्यय (अ० ४।२।१०३) सूत्र से प्राप्त है। यह उसका अपवाद है। दक्षिणा

* उपलब्धपुस्तकेषु ''दक्षिणा. पुरसस्त्यक्'' इति पाठ उपलभ्यते। —सम्पादकः

आदि प्रातिपदिकों से शैषिक 'त्यक्' प्रत्यय होता है। जैसे—दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः॥ ९७॥

कापिश्याः ष्फक्॥ ९८॥

कापिश्याः —५।१। ष्फक् —१।१। कापिशीशब्दाद् वृद्धाच्छः प्राप्तः स बाध्यते। कापिशीप्रातिपदिकाच्छैषिकः ष्फक् प्रत्ययो भवति। कापिश्यां भवं कापिशायनं मधु। कापिशायनी द्राक्षा। कापिशीशब्दो देशविशेषस्य संज्ञा। प्राकृतभाषायां काबिल इत्यपभ्रंशः॥

वा०—बाह्ल्युर्दिपर्दिभ्यश्च॥ १॥

बाह्लि, उर्दि, पर्दि, इत्येतेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः ष्फक् प्रत्ययो भवति। बाह्लायनी। और्दायनी। पार्दायनी॥ ९८॥

भावार्थ—कापिशी शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। 'कापिशी' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'ष्फक्' प्रत्यय होता है। जैसे—कापिश्यां भवं कापिशायनं मधु। कापिशायनी द्राक्षा। कापिशी शब्द देश विशेष का नाम है। भाषा में इसी शब्द का अपभ्रंश 'काबिल' [काबुल] शब्द है।

वा०—बाह्ल्युर्दिपर्दिभ्यश्च॥ १॥

बाह्लि, उर्दि, पर्दि प्रातिपदिकों से शैषिक 'ष्फक्' प्रत्यय होता है, जैसे—बाह्लायनी। और्दायनी। पार्दायनी॥ १॥ ९८॥

रङ्कोरमनुष्येऽण् च॥ ९९॥

ष्फगप्यनुवर्त्तते। रङ्कोः —५।१। अमनुष्ये —७।१। अण् —१।१। च [अ०]। [अमनुष्येऽभिधेये] रङ्कुप्रातिपदिकात् शैषिकेषु ष्फक्-अणौ प्रत्ययौ भवतः। राङ्कवो मृगः। राङ्कवायणो मृगः। अमनुष्य इति किम्। राङ्कवको मनुष्यः। अण्ग्रहणममनुष्ये ष्फग्-अणावुभावपि स्याताम्। अन्यथा रङ्कोर-मनुष्ये चेत्युक्ते ष्फगणो बाधकः स्यात्॥ ९९॥

भावार्थ—यहाँ 'ष्फक्' प्रत्यय की भी अनुवृत्ति है। मनुष्य से भिन्न अभिधेय में 'रङ्कु' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में ष्फक् और अण् प्रत्यय होते हैं। जैसे अण्—राङ्कवो मृगः। ष्फक्—राङ्कवायणो मृगः। यहाँ 'अमनुष्ये' इसलिये ग्रहण किया है कि राङ्कवको मनुष्यः। यहाँ 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' (४।२।१३३) सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय है, ष्फक् अण् न होवें।

यहाँ यद्यपि सामान्य अण् का अधिकार है, पुनरपि अण् का यहाँ ग्रहण इस लिये किया है कि ष्फक् अण् का बाधक न हो जाये और अमनुष्यवाची से ष्फक् तथा अण् दोनों प्रत्यय होवें॥ ९९॥

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्॥ १००॥

द्यु.......प्रतीचः —५।१। यत् —१।१। दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रत्यच्, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकेषु यत् प्रत्ययो भवति। दिव्यम्।

प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्। प्रागादीनामव्ययानां ग्रहणमत्र नास्ति किन्तु यौगिकानां शब्दानाम्। अव्ययेभ्यस्तु ट्यु ट्युलौ भवतः—प्राक्तनम्। अणोऽपवादः॥ १००॥

भाषार्थ—दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच् और प्रत्यच् प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्। यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। इस सूत्र में प्राच् इत्यादि अव्ययों का ग्रहण नहीं है, प्रत्युत यौगिक शब्दों का ग्रहण है। 'दिव' आदि अव्यय शब्दों से तो ट्यु और ट्युल् प्रत्यय ही होते हैं। जैसे—प्राक्तनम्। प्रत्यक्तनम्, इत्यादि।१००।

कन्थायाष्ठक्॥ १०१॥

कन्थायाः -५।१। ठक् -१।१। कन्थाप्रातिपदिकाच्छैषिकष्ठक् प्रत्ययो भवति। कान्थिकः॥ १०१॥

भाषार्थ—कन्था प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—कान्थिकः॥ १०१॥

वर्णौ वुक्॥ १०२॥

कन्थाया इत्यनुवर्त्तते। वर्णौ —७।१। वुक् —१।१। वर्णुनामदेशस्तद्-विषयकात् कन्थाप्रातिपदिकाद् वुक् प्रत्ययो भवति। ठकोऽपवादः। वर्णौ या कन्था तत्र जाता यूकाः कान्थकाः॥ १०२॥

भाषार्थ—यहाँ 'कन्थाया' पद की अनुवृत्ति है। 'वर्णु' नाम का देश है, उसके अभिधेय होने पर 'कन्था' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'वुक्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'ठक्' का अपवाद है। जैसे—वर्णौ या कन्था तत्र जाता यूकाः कान्थकाः॥ १०२॥

अव्ययात् त्यप्॥ १०३॥

अव्ययात् —५।१। त्यप् —१।१। अव्ययप्रातिपदिकाच्छैषिकस्त्यप् प्रत्ययो भवति।

भा०— परिगणनं कर्त्तव्यम्। अमेहक्वतसित्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः॥

अमा, इह, क्व, तसिल्-त्रल्प्रत्ययान्ताश्च, इत्येतेभ्योऽव्ययेभ्यस्त्यब् विधेयः। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्य। यतस्त्यः। तत्रत्यः। यत्रत्यः। परिगणनस्यैतत् प्रयोजनम्—औपरिष्टः। पौरस्तः। पारस्तः।

वा०—त्यब् नेर्ध्रुवे॥ १॥

नि-प्रातिपदिकाद् ध्रुवे त्यप् प्रत्ययो भवति। नियतभावो नित्यम्॥ १॥

वा०—निसो गते॥ २॥

निस्शब्दाद् गतार्थे त्यप् प्रत्ययो भवति। निर्गतो निष्ट्यः॥ २॥

वा०—अरण्याण् णः॥ ३॥

अरण्यशब्दाण् णः प्रत्ययो भवति। आरण्याः सुमनसः॥ ३॥

वा०—दूरादेत्यः॥ ४॥

दूर प्रातिपदिकाद् एत्यः प्रत्ययो भवति। दूरेत्यः॥ ४॥

वा०—उत्तराद् आहञ्॥ ५॥

उत्तरप्रातिपदिकाद् आहञ् प्रत्ययो भवति। औत्तराहः॥ ५॥

वा०—अव्ययात् त्यप्याविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि॥ ६॥

छन्दसि=वेदविषये आविम्शब्दात् त्यप् प्रत्ययो भवति। आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु॥ १०३॥

भाषार्थ—अव्यय संज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'त्यप्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र भी 'अण्' आदि प्रत्ययों का अपवाद है। उस सूत्र पर इष्ट प्रयोग साधनार्थ महाभाष्यकार ने परिगणन किया है कि—अमा, इह, क्व तथा तसिल् और त्रल् प्रत्ययान्त अव्ययों से ही 'त्यप्' प्रत्यय होवे। जैसे—अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। यतस्त्यः। तत्रत्यः। यत्रत्यः। इत्यादि। इस परिगणन करने का प्रयोजन यह है कि इनसे भिन्न अव्ययों से त्यप् प्रत्यय न होवे। जैसे—उपरिष्टात्= औपरिष्टः। पौरस्तः। पारस्तः। इत्यादि।

वा०—त्यब् नेर्ध्रुवे॥ १॥

नि अव्यय प्रातिपदिक से ध्रुव अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है। जैसे—नियत भावो नित्यम्॥ १॥

वा०—निसो गते॥ २॥

'निस्' अव्यय से गत अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है। जैसे—निर्गतो निष्ट्यः॥ २॥

वा०—अरण्याण् णः॥ ३॥

'अरण्य' शब्द से शैषिक अर्थों में 'ण' प्रत्यय होता है। जैसे—अरण्ये भवा आरण्याः सुमनसः॥ ३॥

वा०—दूराद् एत्यः॥ ४॥

'दूर' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'एत्य' प्रत्यय होता है। जैसे [दूरे लब्धो] दूरेत्यः॥ ४॥

वा०—उत्तराद् आहञ्॥ ५॥

'उत्तर' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों मे 'आहञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—उत्तरे जात औत्तराहः॥ ५॥

वा०—अव्ययात् त्यप्याविष्ट्यस्योपसंख्यानं छन्दसि॥ ६॥

वेदविषय में आविस् शब्द से शैषिक 'त्यप्' प्रत्यय होता है जैसे—आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु॥ १०३॥

एषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्॥ १०४॥

त्यबनुवर्त्तते। ऐषमोह्यःश्वसः —५।१। अन्यतरस्याम्। [अ.प.]। अप्राप्तविभाषेयम्। ऐषम आद्यव्ययप्रातिपदिकेभ्यस्त्यप् प्रत्ययो विकल्पेन भवति। पक्षे ट्यु ट्युलौ प्रत्ययौ भवतः। श्वसप्रातिपदिकात्तु 'श्वसस्तुट् चे' ति विकल्पेन ठञ् तत्पक्षे च ट्यु ट्युलौ। एवं त्रीणि रूपाणि (श्वसो) भवन्ति। ऐषमस्त्यः। ऐषमस्तनः। ह्यस्त्यः। ह्यस्तनः। श्वस्त्यः। शौवस्तिकः। श्वस्तनः। 'अव्ययात् त्यबि' ति तु परिगणनात् त्यम्न प्राप्तोऽतोऽप्राप्तविभाषा॥ १०४॥

भाषार्थ यहाँ 'त्यप्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। ऐषमस्, ह्यस्, श्वस्, इन अव्यय प्रातिपदिकों से शैपिक अर्थों में विकल्प से 'त्यप्' प्रत्यय होता है। पक्ष में यथाप्राप्त ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं। श्वस् प्रातिपदिक से तो 'श्वसस्तुट् च' (४।३।१५) सूत्र से विकल्प से ठञ् और पक्ष में ट्यु और ट्युल् होने से तीन रूप सिद्ध होते हैं। जैसे—ऐषमस्त्यः। ऐषमस्तनः। ह्यस्त्यः ह्यस्तनः। श्वस्त्यः। ठञ्—शौवस्तिकः। ट्यु ट्युल्=श्वस्तनः। 'अव्ययात्त्यप्' सूत्र में परिगणन करने से 'त्यप्' प्रत्यय प्राप्त नहीं है, अतः यह अप्राप्त विभाषा है॥ १०४।

तीररूप्योत्तरपदादञ्ञ्यौ॥ १०५॥

तीररूप्योत्तरपदात् —५।१। अञ्-ञ्यौ —१।२। अणोऽपवादः। तीररूप्यशब्दावुत्तरपदे यस्य तस्मात् तीररूप्योत्तरपदात् प्रातिपदिकाद् यथा-संख्यम् अञ्-ञ्यौ प्रत्ययौ शैषिकेषु भवतः। करवतीरे भवं कारवतीरम्। चणाररूप्ये भवं चाणाररूप्यम्॥ १०५॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। तीर और रूप्य शब्द उत्तरपद में है जिनके, उन प्रातिपदिकों से शैपिक अर्थों में यथाक्रम 'अञ्' और 'ञ्य' प्रत्यय होते हैं। जैसे—करवतीरे भव कारवतीरम्। चणाररूप्ये भवं चाणार-रूप्यम॥ १०५॥

दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः॥ १०६॥

दिक्पूर्वपदात् —५।१। असंज्ञायाम् —७।१। ञः —१।१। दिग्वाचि-शब्दः पूर्वपदं यस्य तस्मात्। दिक्पूर्वपदस्य संज्ञायां समासो विधीयतेऽ-तोऽसंज्ञायामिति प्रतिषिध्यते। असंज्ञायां वर्त्तमानाद् दिक्पूर्वपदान् प्रातिपदिकाद् ञः प्रत्ययः शैषिकेषु भवति। पौर्वशालो ग्रामः। आपरशालः। असंज्ञायामिति किम्—पूर्वैषुकामशम्यां भवः पूर्वैषुकामशमः। अपरैषुकामशमः। अत्राणेव भवति। स्वरे विशेषः॥ १०६॥

भाषार्थ—दिक्पूर्वपद का 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (२।१।४९) सूत्र से संज्ञा में समास का विधान किया है। संज्ञा विषय से अन्यत्र दिशावाची शब्द पूर्वपद मे है, जिनके उन प्रातिपदिकों से शैपिक अर्थों में 'ञ' प्रत्यय होता है जैसे—पौर्वशालो ग्रामः। आपरशालः। यहाँ 'असंज्ञायाम्' का ग्रहण इसलिये किया है कि पूर्वैषुकामशम्यां भवः पूर्वैषुकामशमः। अपरैषुकामशमः। यहाँ संज्ञा होने से 'ञ' न होकर सामान्य 'अण्' प्रत्यय ही होता है। ञ और अण् में रूपों में भेद न

होने पर भी स्वर में भेद होता है॥१०६॥

मद्रेभ्योऽञ्॥१०७॥

मद्रेभ्यः —५।३।अञ् —१।१।दिक्पूर्वपदादित्यनुवर्त्तते। दिक्पूर्वपदान् मद्रान्तात् प्रातिपदिकाद् अञ् प्रत्ययो शैषिकेषु भवति। स्त्रियां विशेषः। पौर्वमद्री। आपरमद्री॥१०७॥

भाषार्थ—यहाँ 'दिक्पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति है। दिशावाची जिसके पूर्वपद में हो, उस मद्रान्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। अञ् और ञ प्रत्ययान्त रूपों में स्त्रीलिंग में ही भेद है। जैसे—पौर्वमद्री। आपरमद्री॥१०७।

उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्॥१०८॥

उदीच्यग्रामात् -५।१।[अ०] बह्वचः ५।१। अन्तोदात्तात् -५।१। उदीचि भव उदीच्यः। स चासौ ग्राम उदीच्यग्रामस्तस्मात्। अन्तोदात्ताद् बह्वच उदीच्यग्रामात् प्रातिपदिकाच्छैषिकोऽञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। शिवस्य पुरं शिवपुरम्। षष्ठीसमासे कृते समासस्येत्यन्तोदात्तत्वम्। शिवपुरे भवं शैवपुरम्। उदीच्यग्रामादिति किम्—पाटलिपुत्रीयम्। बह्वच इति किम्—ध्वाजम्। ध्वजिन् शब्दादण्। अन्तोदात्तादिति किमर्थम्—अरिष्टपुरम्। गौडपुरम्। 'अरिष्टगौडपूर्वे चे' ति पूर्वपदस्यान्तोदात्तम्॥१०८॥

भाषार्थ—उदीच्यग्रामवाची=उत्तरदेशवर्ती जो ग्रामवाची, बह्वच्=अनेक स्वर-वाले और अन्तोदात्त शब्द हैं, उनसे शैषिक अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—शिवस्य पुरं शिवपुरम्। शिवपुरे भवं शैवपुरम्। यहाँ शिवपुर शब्द में षष्ठी समास होने से 'समासस्य' (६।१।२१७) सूत्र से अन्तोदात्त है। इसी प्रकार 'माण्डवपुरम्' इत्यादि प्रयोग भी जानने चाहियें। यहाँ 'उदीच्यग्रामात्' का ग्रहण इसलिये है कि—पाटलिपुत्रीयम्। 'बह्वच्' का ग्रहण इसलिये है कि ध्वाजम्। यहाँ ध्वजिन् शब्द से अण् प्रत्यय है। और 'अन्तोदात्तात्' का ग्रहण इसलिये है कि अरिष्टपुरम्। गौडपुरम्। यहाँ 'अरिष्टगौडपूर्वे च' (अ० ६।२।१००) सूत्र से पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर हुआ है॥१०८।

प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्॥१०९॥

प्रस्थो.....कोपधात् —५।१। अण् —१।१। प्रस्थशब्द उत्तरपद यस्य तस्मात्। पलद्यादयो गणशब्दाः। ककार उपधायां यस्य तस्मात्। प्रस्थोत्तर-पदात् पलद्यादिभ्यः कोपधाच्च प्रातिपदिकाद् अण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। माद्रीप्रस्थः। कौन्तीप्रस्थः। पालदः। पारिषदः। निलीनके भवो नैलीनकः। प्रस्थान्तस्य पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति कर्क्यादीन् वर्जयित्वा। कर्क्यादिप्रस्थान्त-स्योत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। तत्रपूर्वसूत्रेणाञि प्राप्तेऽण् विधीयते। ये च पूर्वपदमाद्युदात्ताः प्रस्थान्तास्तेभ्यस्त्वधिकारेणैव सिद्धोऽण्। पलद्यादिषु कानिचिद् वृद्धानि तेभ्यश्छः प्राप्तः। ये वाहिकग्रामास्तेभ्यष्ठञ् ञिठौ। य इकारान्तास्तेभ्यो वुञ्। एवं कोपधादिभ्योऽपि छादयः प्राप्तास्तद्बाधनार्थं

पुनरण्विधानम्। अथ पलद्यादयः—पलदी। परिषद्। यकृल्लोमन्। रोमक। कालकूट। वाहीक। कलकीट। बहुकीट। जालकीट। मलकीट। कमलकीट। कमलभिदा। कमलकीर। गोष्ठी। परिखा। शूरसेन। नैरवती। नैतकी। गोमती। उद्पान। पक्ष। कललकीट। कललकीकटा। नैधिकी। नैकेती। इति पलद्यादिः॥ १०९॥

भाषार्थ— प्रस्थ शब्द जिसके उत्तरपद मे है, वह प्रस्थोत्तरपद है। पलदी आदि गणपठित शब्द हैं। और ककार उपधामे है जिसके वह कोपध है। प्रस्थोत्तरपद, पलदी इत्यादि गणपठित शब्दों और ककारोपध प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे प्रस्थोत्तरपद— माद्रीप्रस्थः। कौन्तीप्रस्थः पलद्यादि— पालदः। पारिषदः। कोपध— निलीनके भवो नैलीनकः। इत्यादि॥

प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम्' (अ० ६।२।८७) सूत्र से प्रस्थ शब्दान्तों मे पूर्वपद आद्युदात्त होता है, कर्की आदि शब्दो को छोड़कर। और कर्की आदि शब्द पूर्वपद मे हो तो प्रस्थान्त शब्दो में समास के सामान्य स्वर से उत्तरपद अन्तोदात्त होता है। इसलिये 'माद्रीप्रस्थ' आदि शब्दों में 'उदीच्यग्रामाच्च' (४।२।१०८) इस पूर्वसूत्र से अन्तोदात्त होने से 'अञ्' प्रत्यय के प्राप्त होने पर यह 'अण्' का विधान किया है। और जो प्रस्थान्त शब्द पूर्वपद आद्युदात्त हैं, उनसे तो सामान्याधिकार से ही 'अण्' सिद्ध है। और पलद्यादि गण में जो कुछ शब्द वृद्ध संज्ञक हैं उनमे 'छ' का अपवाद 'अण्' है। और जो वाहीकग्रामवाची हैं उनसे ठञ् और ञिठ् का अपवाद 'अण्' है। तथा जो इस गण में गोमती आदि इकारान्त शब्द हैं, उनसे 'रोपधेतोः' (४।२।१२२) सूत्र से प्राप्त वुञ् का अपवाद अण् है। इसी प्रकार कोपधादि शब्दों से छादि प्रत्ययों का अण् अपवाद विधान किया है॥ १०९॥

कण्वादिभ्यो गोत्रे॥ ११०॥

अणित्यनुवर्त्तते। कण्वादिभ्यः —५।३। गोत्रे —७।१। कण्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रे यो विहितः प्रत्ययस्तदन्तात् प्रातिपदिकाद् अण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। कण्वादयो गर्गाद्यन्तर्गतास्तेभ्यश्छः प्राप्तः स बाध्यते। काण्वस्य छात्राः काण्वाः॥ ११०॥

भाषार्थ— यहाँ 'अण्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। कण्वादि शब्द गर्गादिगण के अन्तर्गत हैं, उनसे 'वृद्धाच्छः' (४।२।११३) सूत्र से 'छ' प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह सूत्र बाधक है। कण्वादि प्रातिपदिकों से गोत्र में जो प्रत्यय विधान किया है, तदन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अण् प्रत्यय होता है। जैसे—काण्व्यस्य छात्राः काण्वाः॥ इत्यादि॥ ११०॥

इञश्च॥ १११॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। इञः —५।१। च [अ०]। गोत्र प्रत्ययान्ताद् इञन्तात् प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छस्यापवादः। दाक्षाः। प्लाक्षाः। गोत्र इति किम्- आर्ष्टिषेणीयाः॥ १११॥

भावार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। गोत्र में जो 'इञ्' प्रत्यय का विधान किया है, तदन्त प्रातिपदिकों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—दाक्षाः। प्लाक्षाः। यहाँ 'गोत्रे' इसलिये ग्रहण किया है कि आर्ष्टिषेणीयाः। यहाँ गोत्र में 'इञ्' न होने से 'अण्' नहीं हुआ॥ १११॥

न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु॥ ११२॥

न [अ०] द्व्यचः —५।१। प्राच्यभरतेषु —७।३। प्राच्यभरतगोत्राद् इञन्ताद् द्व्यचः प्रातिपदिकाद् अण् प्रत्ययो न भवति। चैदीयाः पौष्कीयाः। द्व्यच इति किम्—पन्नागारेश्छात्राः पान्नागाराः। प्राच्यभरत इति किमर्थम् दाक्षाः। प्लाक्षाः॥ ११२॥

भावार्थ—प्राच्य-भरत गोत्र में जो 'इञ्' प्रत्यय, तदन्त द्व्यच् प्रातिपदिकों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय नहीं होता है। यह पूर्वसूत्र से प्राप्त 'अण्' का निषेध करता है। जैसे—चैदीयाः। पौष्कीयाः। यहाँ 'द्व्यचः' इसलिये पढ़ा है कि—पन्नागारेश्छात्राः पान्नागाराः। यहाँ द्व्यच् न होने से इञन्त से 'अण्' प्रत्यय ही हुआ है। और 'प्राच्य-भरत' का ग्रहण इसलिये है कि दाक्षाः। प्लाक्षाः। यहाँ 'अण्' का निषेध न हो॥ ११२॥

वृद्धाच्छः॥ ११३॥

गोत्र इत्यनुवर्त्तते। वृद्धात् —५।१। छः —१।१। वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकाच्छैषिकश्छः प्रत्ययो भवति। गार्गीयाः। वात्सीयाः शालीयः। मालीयः।

'अव्ययात् त्यप्। 'तीररूप्योत्तरपदादञ्ञ्यौ।' उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्। प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्। आराच्छब्दोऽव्ययं तस्माच्छः। आरातीयः। वायसतीरप्रातिपदिकं तीरोत्तरपदं तस्मात् परविप्रतिषेधाच्छः। वायसतीरीयः। माणिरूप्यशब्दाद् रूप्योत्तरपदादपवादेन छः प्राप्तस्तमपि यकारोपधलक्षणो वुञ् बाधते। माणिरूप्यकः। वाडवकर्ष उदीच्यग्रामोऽन्तोदात्तो वृद्धं प्रातिपदिकं तस्मात् परत्वाच्छः। वाडवकर्षीयः। औलूकं वृद्धं कोपधं प्रातिपदिकं तस्माद् वृद्धलक्षणश्छः। औलूकीयम्॥ ११३॥

भावार्थ—यहाँ 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। गोत्रप्रत्ययान्त वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—गार्गीयाः। वात्सीयाः। शालीयः। मालीयः।

इस प्रकरण में यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि—'अव्ययात् त्यप्' (४।२।१०३) 'तीररूप्योत्तरपदादञ्-ञौ' (४।२।१०५) 'उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्' (४।२।१०८) प्रस्थोत्तपदपलद्यादिकोपधादण् (४।२।१०९) इन सूत्रों से जहाँ प्रत्यय प्राप्त हों, और उन्हीं शब्दों की वृद्धसंज्ञा होने से 'छ' प्रत्यय भी प्राप्त हो, वहाँ इन सूत्रों का बाधन करके पर विप्रतिषेध से 'छ' प्रत्यय ही होता है—आरातीयः। इसी प्रकार 'वीयसतीर' शब्द तीरोत्तरपद है, उससे 'अञ्' न होकर 'छ' प्रत्यय होता है—वायसतीरीयम्। और रूप्योत्तरपद माणिरूप्य शब्द से 'छ'

प्रत्यय प्राप्त है और यकारोपध होने से वुञ् भी प्राप्त है, पर विप्रतिषेध से 'वुञ्' होता है। जैसे—माणिरूप्यकः। 'वाडवकर्ष' एक उदीच्य ग्राम है, और यह अन्तोदात्त वृद्ध प्रातिपदिक है, इससे परत्व से 'छ' प्रत्यय होता है—वाडवकर्षीयः। इसी तरह औलूक शब्द वृद्ध संज्ञक ककारोपध प्रातिपदिक है, उससे भी परत्व से 'छ' प्रत्यय होता है—औलूकीयम्॥११३॥

भवतष्ठक्छसौ॥११४॥

वृद्धादिति वर्त्तते। भवतः —५।१। ठक्-छसौ —१।२। भवच्छब्दस्य त्यदादित्वाद् वृद्धत्वम्। तस्माच्छः प्राप्तः स बाध्यते। वृद्धसंज्ञकाद् भवत्प्रातिपदिकाच्छैषिकौ ठक् छसौ प्रत्ययौ भवतः। भवतश्छात्रो भावत्कः। भवदीयः। सित्करणं पदसंज्ञार्थम्। तेन 'झलां जसोऽन्ते' इति पदान्तस्य जश्त्वं सिद्धं भवति॥११४॥

भाषार्थ—भवत् शब्द की त्यदादि गण में पाठ होने से वृद्ध संज्ञा है, उससे 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति है, उसका यह अपवाद है। वृद्धसंज्ञक भवत् प्रातिपदिक से शैषिक ठक् और छस् प्रत्यय होते हैं। जैसे—भवतश्छात्रो भावत्कः। भवदीयः। छस् प्रत्यय में सकारानुबन्ध 'सिति च' (१।४।१६) सूत्र से पदसंज्ञार्थ है और पद संज्ञा होने से 'झलां-जशोऽन्ते' (८।२।३९) सूत्र से पदान्त को जश्त्व हो जाता है॥११४॥

काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ॥११५॥

वृद्धादित्यनुवर्त्तते, तदत्र नैव संबध्यते। कुतः। यादृशाः काश्यादयः शब्दा गणे पठितास्तादृशेभ्य एव पठनसामर्थ्यात् प्रत्ययो भविष्यतीत्यतः। काश्यादिभ्यः —५।३। ठञ्-ञिठौ —१।२। काश्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यष्ठञ्-ञिठौ शैषिकौ प्रत्ययौ भवतः। प्रयोगस्तु स एवैकश्चैव स्वरः। स्त्रीलिङ्गे रूपभेदः। काशिकी। काशिका। चैदिकी। चैदिका। ञकारोऽनुबन्ध उभयत्र वृद्ध्यर्थः स्वरार्थश्च। ठञ् प्रत्ययान्तात् स्त्रीलिङ्गे 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप्। ञिठ्प्रत्ययान्ताद् टाप्।

अथ काश्यादयः—काशि। चेदि। वेदि। संज्ञा। सांयाति। संवाह। अच्युत। मोहमान। मोदमान। शकुलाद। हस्तिकर्षू। कुदामन्। कुनामन्। हिरण्य। करण। गोवासन। गोधाशन। भारङ्गि। भौरिकि। भौलिङ्गि। अरिन्दम। अरित्र। सर्वमित्र। देवदत्त। साधुमित्र। दासमित्र। दासग्राम। सिन्धुमित्र। सुधामित्र। सोममित्र। छागमित्र। दशग्राम। सौधावतान। शौवावतान। युवराज। उपराज। देवराज। मोहन। आपदादि पूर्वपदात् कालान्तात्। आपदादयः शब्दाः पूर्वपदानि यस्य तस्मात् कालान्तात् प्रातिपदिकाद् ठञ्-ञिठौ प्रत्ययौ भवतः। आपत्कालिकी। आपत्कालिका। और्ध्वकालिकी। और्ध्वकालिका। तात्कालिकी। तात्कालिका॥ इति काश्यादयः सम्पूर्णाः॥११५॥

भाषार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति है किन्तु उसका सूत्र में सम्बन्ध

नहीं है। क्योंकि काशि आदि शब्दों का जैसा गण में पाठ किया है, उनमें अवृद्धसंज्ञक शब्द भी हैं, उनसे पाठ-सामर्थ्य से प्रत्यय होते हैं। काशि इत्यादि गण पठित प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में ठञ् और ञिठ प्रत्यय होते हैं। ठञ् और ञिठ प्रत्ययान्त रूपों में प्रयोग और स्वर समान ही है, केवल स्त्रीलिंग में भेद होता है। जैसे—काशिकी। काशिका। चैदिकी। चैदिका। दोनों प्रत्ययों में ञकारानुबन्ध वृद्धि और स्वर के लिये है। ठञ् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिंग में 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है और ञिठ् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय होता है।

वाहीकग्रामेभ्यश्च॥ ११६॥

वृद्धादित्यनुवर्त्तते। वाहीकग्रामेभ्यः —५।३। च [अ०]। वाहीकग्राम-वाचिभ्यो वृद्धसंज्ञकेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छादीन् बाधित्वा शैषिकौ ठञ्ञिठौ प्रत्ययौ भवतः। कारतान्तविकी। कारतन्तविका। शाकलिकी। शाकलिका। आराच्छब्दोऽव्ययं वाहीकग्रामः प्रातिपदिकं तस्मात् परत्वाद् ठञ्-ञिठौ भवतः। आरात्की। आरात्का। एवमन्येभ्योऽपि॥ ११६॥

भावार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति है। वृद्धसंज्ञक वाहीक ग्रामवाची प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में छ आदि प्रत्ययों के बाधक ठञ् और ञिठ प्रत्यय होते हैं। जैसे—कारतन्तविकी। कारतन्तविका। शाकलिकी। शाकलिका।

'आरात्' शब्द अव्यय है और वाहीकग्राम है, उससे परत्व से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—आरात्की। आरात्का। इसी प्रकार दूसरे शब्दों से भी समझने चाहिएँ॥ ११६॥

विभाषोशीनरेषु॥ ११७॥

वृद्धादित्यनुवर्त्तते। विभाषा —१।१। उशीनरेषु —७।३। प्राप्तविभाषेयम्। वाहीकग्रामेभ्य इति वर्त्तते। उशीनरदेशे ये वाहीकग्रामास्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन ठञ्-ञिठौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। आह्वजालिकी। आह्वजालिका। आह्वजालीयाः॥ ११७॥

भावार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति है। यह प्राप्तविभाषा है। और 'वाहीकग्रामेभ्यः' पद की भी अनुवृत्ति है। उशीनर नामक देश में जो वाहीक ग्राम हैं, उन प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में विकल्प से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—आह्वजालिकी आह्वजालिका। आह्वजालीयाः॥ ११७॥

ओर्देशे ठञ्॥ ११८॥

वृद्धादिति निवृत्तम्। ओः —५।१। देशे —७।१। ठञ् —१।१। देश इति प्रकृतिविशेषणं नैव प्रत्ययार्थः। उवर्णान्ताद् देशे वर्त्तमानात् प्राति-पदिकाच्छैषिकष्ठञ् प्रत्ययो भवति। निषादकर्षूर्नाम देशः। नैषादकर्षुकः। दाक्षिकर्षुकः॥ ११८॥

भावार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति नहीं है। और 'देशे' शब्द प्रकृति

का विशेषण है प्रत्ययार्थ नहीं। देश अर्थ में वर्त्तमान उवर्णान्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—निषादकर्षू नाम का देश है। नैषादकर्षुकः। दाक्षिकर्षुकः, इत्यादि॥ ११८॥

वृद्धात् प्राचाम्॥ ११९॥

अस्मिन् सूत्रे वृद्धग्रहणाज् ज्ञायते पूर्वत्र वृद्धादिति नानुवर्त्तते। वृद्धात् —५।१। प्राचाम् —६।३॥ देशे वर्त्तमानादुवर्णान्ताद् वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् प्राचामाचार्याणां मते शैषिकष्ठञ् प्रत्ययो भवति। नापितवास्तुर्नाम देशः, तस्माट्ठञ्। नापितवास्तुकः। वृद्धादिति नियमार्थ आरम्भः॥ ११९॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'वृद्धात्' का पुनः ग्रहण करने से स्पष्ट होता है कि पूर्वसूत्र में 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। देश अर्थ में वर्त्तमान वृद्धसज्ञक उवर्णान्त प्रातिपदिकों से प्राच्य आचार्यों के मत में शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—नापितवास्तु नामक देश है उससे ठञ् प्रत्यय करने पर—नापितवास्तुकः। सूत्र में 'वृद्धात्' पद नियमार्थक है॥ ११९॥

धन्वयोपधाद् वुञ्॥ १२०॥

'देशे' इति 'वृद्धादि' ति चानुवर्त्तते। धन्वयोपधात् —५।१। वुञ् —१।१। देशे वर्त्तमानाद् धन्वयोपधान्ताद् वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। पारेधन्वकः। योपधात्—सांकाश्यकः। कांपिल्यकः। दाशरूप्यकः॥ १२०॥

भाषार्थ—यहाँ 'देशे' और 'वृद्धात्' पदों की अनुवृत्ति है। देश अर्थ में वर्त्तमान वृद्धसंज्ञक धन्व-शब्दान्त और यकारोपध-शब्दान्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे धन्वान्त—पारेधन्वकः। योपध सांकाश्यकः। कांपिल्यकः। दाशरूप्यकः। इत्यादि॥ १२०॥

प्रस्थपुरवहान्ताच्च॥ १२१॥

प्रस्थपुरवहान्तात् —५।१। च [अ०]। प्रस्थ, पुर, वह, इत्येते शब्दा अन्ते यस्य तस्मात्। प्रस्थपुरवहान्ताद् वृद्धसंज्ञकाद् देशे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। मालाप्रस्थकः। पातालप्रस्थं नाम वाहीकग्रामस्तस्माद् वुञेव भवति। पातालप्रस्थकः। पुरान्तात्-कांचीपुरकः। नान्दीपुरकः। वहान्तात्—वातवहकः। कौक्कुर्यवहकः॥ १२१॥

भाषार्थ—प्रस्थ, पुर और वह ये शब्द जिनके अन्त में हैं, उन वृद्धसज्ञक और देश अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—प्रस्थान्त—मालाप्रस्थकः। पातालप्रस्थकः। यह पातालप्रस्थ नामक वाहीकग्राम है, उससे परत्व से 'वुञ्' ही होता है। पुरान्त—काञ्चीपुरकः। नान्दीपुरकः। वहान्त—वातवहकः। कौक्कुर्यवहकः॥ १२१॥

रोपधेतोः प्राचाम्॥ १२२॥

रोपधेतोः —६।२। प्राचाम् —६।३। र-उपधायां यस्य तस्मात्।

रोपधादी कारान्ताच्च [प्राचां] देशे वर्तमानाद् वृद्धात् प्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। पाटलिपुत्रकाः। ईकारन्तात्-काकन्दी। माकन्दी। काकन्दकः। माकन्दकः। प्राचामिति किम्—दत्तामित्रशब्दो रोपधस्तस्मान्न भवति। दात्तामित्रीयः॥ १२२॥

भाषार्थ—रेफ जिसकी उपधा में है, उससे और जो ईकारान्त शब्द है, उन वृद्ध संज्ञक और प्राच्य देश अर्थ मे वर्तमान प्रतिपादकों से शैषिक-अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—रोपध पाटलिपुत्रकाः। ईकारान्त—काकन्दी काकन्दकः। माकन्दी-माकन्दकः। यहाँ 'प्राचाम्' का ग्रहण इसलिये है कि दतामित्र शब्द रोपध तो है, प्राच्य देश वाची नहीं है। अतः वुञ् नही हुआ—दात्तामित्रीयः॥ १२२॥

जनपदतदवध्योश्च॥ १२३॥

जनपदतदवध्योः —६।२। च [अ०]। वृद्धादिति देश इति चानुवर्तते। वृद्धाज्जनपदवाचिनो जनपदावधिवाचिनश्च प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति। चैद्यकः। कौशल्यकः। जनपदावधेः—आपुष्ठकः। श्यामायानकः। त्रैगर्त्तकः॥ १२३॥

भाषार्थ—यहाँ 'वृद्धात्, देशे' पदों की अनुवृत्ति है। देश अर्थ में वर्त्तमान वृद्धसंज्ञक जनपदवाची और जनपद की अवधि वाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—चैद्यकः। कौशल्यकः। जनपदावधि—आपुष्टकः। श्यामायनकः। त्रैगर्त्तकः। इत्यादि॥ १२३॥

अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्॥ १२४॥

अवृद्धात् —५।१।अपि[अ०] बहुवचनविषयात् —५।१।बहुवचन-विषयाज्जनपदवाचिनस्तदवधिवाचिनोऽवृद्धादपि प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः।अङ्गाः।बङ्गाः।आङ्गकः।वाङ्गकः।अवृद्धाज् जनपदावधेः—अजमीढाः। अजक्रन्दाः। आजमीढकः। आजक्रन्दकः। वृद्धाज्जनपदात्—दार्वाः।दार्वकः।वृद्धाज्जनपदावधेः—कालंजराः।कालंजरकः।विषयग्रहण-मवयवनिवृत्त्यर्थम्॥ १२४॥

भाषार्थ—बहुवचन विषयक वृद्ध संज्ञक और अवृद्ध संज्ञक जनपदवाची और जनपदावधिवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—अवृद्ध जनपद अङ्गाः। वङ्गाः। आङ्गकः। वाङ्गकः। अवृद्ध जनपदावधि—अजमीढाः। अजक्रन्दाः। आजमीढकः। आजक्रन्दकः। वृद्ध जनपद दार्वाः। दार्वकः। वृद्धजनपदावधि—कालंजराः। कालंजरकः। यहाँ 'विषय' शब्द का ग्रहण अवयव में प्रत्यय की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् जब जनपदवाचियों का एकशेष किया जाता है जैसे—वर्त्तनी च वर्त्तनी चेति वर्त्तन्यः। यहाँ एकशेष शब्द सह विवक्षा में बहुवचन हो जाता है। यहाँ 'वर्त्तनीषु भव' वुञ् प्रत्यय नहीं होता है॥ १२४॥

कच्छाग्निवक्त्रवर्त्तोत्तरपदात्॥ १२५॥

देश इत्यनुवर्त्तते। कच्छाग्नि.......पदात् —५।१। उत्तरपदशब्दः प्रत्येकं

सम्बध्यते। कच्छादयः शब्दा उत्तरपदानि यस्य तस्मात्। देशे वर्त्तमानात् कच्छाद्युत्तरपदात् प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। दारुकच्छ, काण्डाग्नि, सिन्धुवक्त्र, बाहुवर्त्त, इत्येते शब्दा देशवाचिनः। दारुकच्छकः। काण्डाग्नकः। सैन्धुवक्त्रकः। बाहुवर्त्तकः।

अस्मिन् सूत्रे जयादित्येन गर्त्तोत्तरपदशब्दो व्याख्यातस्तदशुद्धमेव। गर्त्तोत्तरपदाच्छविधानात्। यच्च जनपदवाचि गर्त्तोत्तरपदं प्रातिपदिकं तस्मात्तदवधिग्रहणज्ञापकाद् वुञ् एव भवतीत्युक्तं महाभाष्ये। यद्यनेन गर्त्तोत्तरपदाद् वुञ् स्यात्तर्हि जनपदादपि स्यादेव॥ १२५॥

भावार्थ—उत्तरपद का सम्बन्ध सूत्रस्थ प्रत्येक शब्द के साथ है। कच्छ, अग्नि, वक्त्र और वर्त शब्द जिनके उत्तरपद में हों, उन देश अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे—दारुकच्छ, काण्डाग्नि, सिन्धुवक्त्र और बाहुवर्त्त, ये शब्द देशवाची है। दारुकच्छकः। काण्डाग्नकः। सैन्धुवक्त्रकः। बाहुवर्त्तकः।

इस सूत्र पर जयादित्य ने 'वर्त्तोत्तर' शब्द के स्थान पर 'गर्त्तोत्तरपद' मानकर व्याख्या की है। वह अशुद्ध ही है। क्योंकि 'गर्त्तोत्तरपदाच्छः' (अ० ४।२।१३६) सूत्र से गर्त्तोत्तरपद शब्दों से 'छ' प्रत्यय का विधान किया है। और जो गर्त्तोत्तरपद शब्द जनपदवाची है, उससे 'जनपदतदवध्योश्च' (४।२।१२३) सूत्र में तदवधि ग्रहण के ज्ञापक से ही 'वुञ्' प्रत्यय होता है, यह महाभाष्य में स्पष्ट कहा है। यदि इस सूत्र में 'गर्त्तोत्तर' पाठ मानकर 'वुञ्' प्रत्यय होता तो जनपदवाची से भी होता ही। फिर (अ० ४।२।१२३) में तदवधि का प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता। अतः काशिका की पाठान्तर मानकर व्याख्या सर्वथा अशुद्ध है॥ १२५॥

धूमादिभ्यश्च॥ १२६॥

धूमादिभ्यः —५।१। च [अ०]। धूमादिभ्यो गणपठितेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। धौमकः। खाण्डकः।

अथ धूमादयः—धूम। खण्ड। खडण्ड। शशादन। अर्जुनाद। आर्जुनाद। माहकस्थली। आनकस्थली। घोषस्थली। माषस्थली। माहिषस्थली। मानस्थली। अट्टस्थली। मद्रुस्थली। चन्द्रकस्थली। समुद्रस्थली। दाण्डायनस्थली। राजस्थली। भक्षास्थली। विदेह। राजगृह। सत्रासाह। मद्रकूल। गर्त्तकूल। आञ्जीकूल। द्व्याहाव। त्र्याहाव। संस्फीय। संहीय। बर्बर। वर्चगर्त्त। आनर्त्त। माठर। पाथेय। घोष। शिष्य। मित्र। बल। वर्ध। पल्ली। आराज्ञी। धार्त्तराज्ञी। अवयात। तीर्थ। कुलात् सौवीरेषु। समुद्रान्नावि मनुष्ये च। कुक्षि। अन्तरीप। द्वीप। अरुण। उज्जयनी। पटण। दक्षिणापथ। साकेत। मानवल्ली। वल्ली। सुराज्ञी॥ इति धूमादयः॥ १२६॥

भावार्थ—गणपठित धूमादि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—धौमकः। खाण्डकः। इत्यादि॥ १२६॥

नगरात् कुत्सनप्रावीण्ययोः॥ १२७॥

नगरात् —५।१। कुत्सनप्रावीण्ययोः —७।२। कुत्सनप्रावीण्ययोरिति प्रत्ययार्थविशेषणम्। कुत्सनप्रावीण्ययोरभिधेययोर्नगरप्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। नागरकः कुत्सितः प्रवीणो वा। कुत्सन-प्रावीण्ययोरिति किमर्थम्—नागरेयकः पशुः। नगरशब्दः कत्र्यादिषु पठ्यते तस्माद् ढकञ्॥ १२७॥

भाषार्थ—सूत्र में 'कुत्सनप्रावीण्ययोः' पद प्रत्ययार्थ विशेषण है। नगर प्रातिपदिक से कुत्सन (निन्दा) और प्रावीण्य (निपुणता) अर्थ में शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—नागरकः। इसके कुत्सित और प्रवीण दोनों अर्थ हैं। यहाँ 'कुत्सन प्रावीण्ययोः' पद का ग्रहण इसलिये है कि—नागरेयकः पशुः। यहाँ कुत्सन तथा प्रावीण्य की विवक्षा न होने से वुञ् नहीं हुआ और नगर शब्द के कत्र्यादिगण (अ० ४।२।९४) में पाठ होने से 'ढकञ्' प्रत्यय हुआ है॥ १२७॥

अरण्यान्मनुष्ये॥ १२८॥

अरण्यात् —५।१। मनुष्ये —७।१। मनुष्य इति प्रत्ययार्थविशेषणम्। अरण्यप्रातिपदिकान् मनुष्येऽभिधेये वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। आरण्यको विहारः। आरण्यको मनुष्यः॥ १॥

वा०—पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्॥ १॥

पथ्यादिष्वभिधेयेषु वुञ् प्रत्ययो भवतीति विशेषविधानम्। आरण्यकः पन्थाः। आरण्यको न्यायः। आरण्यको विहारः। आरण्यको मनुष्यः। आरण्यको हस्ती॥ १॥

वा०—वा गोमयेषु॥ २॥

गोमयेष्वाभिधेयेषु विकल्पेन वुञ्। आरण्यका गोमयाः। आरण्या गोमयाः॥ २॥ एतेष्विति किमर्थम्—आरण्याः पशव इत्यादिष्वणेव॥ १२८॥

भाषार्थ—सूत्र में 'मनुष्ये' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण है। 'अरण्य' प्रातिपदिक से मनुष्य अभिधेय में शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—आरण्यको मनुष्यः।

वा०—पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्॥ १॥

सूत्र में केवल मनुष्य अभिधेय में प्रत्यय विधान किया है, वार्त्तिक से पथ्यादि अर्थों में भी अरण्य शब्द से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय का विधान किया है। जैसे—आरण्यकः पन्थाः। आरण्यकोऽध्यायः। आरण्यको न्यायः। आरण्यको विहारः। आरण्यको मनुष्यः। आरण्यको हस्ती॥ १॥

वा०—वा गोमयेषु॥ २॥

अरण्य प्रातिपदिक से गोमय अभिधेय में विकल्प से शैषिक 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—आरण्यका गोमयाः। आरण्या गोमयाः॥ २॥

यह वार्त्तिक सूत्र में पथ्यादि का ग्रहण इसलिये है कि—आरण्याः पशवः। इत्यादि में वुञ् न होवे। यहाँ सामान्य अण् ही होता है॥ १२८॥

विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम्॥ १२९॥

विभाषा [अ०]। कुरुयुगन्धराभ्याम् —५।२। प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। कुरुयुगन्धरौ जनपदशब्दौ, ताभ्यामवृद्धादपि बहुवचनविषयादिति वुञि प्राप्ते, कुरुशब्दः कच्छादिषु पठ्यते, तस्माद् वुञ् बाधकोऽण् विधीयते। तत्राप्राप्तविभाषा, युगन्धर-शब्दात्तु प्राप्तविभाषा। कुरुयुगन्धरप्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। कौरवकः। कौरवः। यौगन्धरकः। यौगन्धरः॥ १२९॥

भाषार्थ—यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। कुरु और युगन्धर शब्द जनपदवाची हैं, उनसे 'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्' (४।२।१२४) सूत्र से सामान्य वुञ् प्रत्यय की प्राप्ति में और कुरु शब्द का कच्छादि गण में पाठ होने से 'वुञ्' का बाधक अण् प्रत्यय प्राप्त है, अतः वुञ् की अप्राप्ति में अप्राप्त विभाषा है और युगन्धर शब्द से तो प्राप्त विभाषा है। कुरु और युगन्धर प्रातिपदिकों से विकल्प से शेष अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे—कौरवकः। कौरवः। यौगन्धरकः। यौगन्धरः॥ १२९॥

मद्रवृज्योः कन्॥ १३०॥

मद्रवृज्योः—६।२। कन् —१।१। मद्रवृजी जनपदशब्दौ। ताभ्यां वुञ् प्राप्तः स बाध्यते। मद्रवृजिप्रातिपदिकाभ्यां शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। मद्रकः। वृजिकः॥ १३०॥

भाषार्थ—मद्र और वृजि शब्द जनपदवाची हैं, उनसे वुञ् की प्राप्ति में यह उसका बाधक 'कन्' का विधान किया है। मद्र और वृजि प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—मद्रकः। वृजिकः॥ १३०॥

कोपधादण्॥ १३१॥

कोपधात् —५।१।अण् —१।१।अधिकारादण् स्यादेव, पुनर्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनमुवर्णान्तादपि कोपधाद् वुञं बाधित्वाऽणेव स्यात्। कोपधात् प्राति-पदिकाच्छैषिकोऽण् प्रत्ययो भवति। ऋषिकेषु जात आर्षिकः। ऐक्ष्वाकः। निपातनाट्टिलोपः॥ १३१॥

भाषार्थ—महाधिकार से 'अण्' प्रत्यय स्वयं ही हो जाता, पुनः यहाँ 'अण्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि ककारोपध उवर्णान्त शब्दों से भी 'वुञ्' का बाधक 'अण्' प्रत्यय ही हो। ककारोपध प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—ऋषिकेषु जातः आर्षिकः। इक्ष्वाकुषु जातः ऐक्ष्वाकः। यहाँ 'दाण्डिनायनहास्तिनायना०' (६।४।१७४) सूत्र में निपातन से टिलोप हुआ है॥ १३१॥

कच्छादिभ्यश्च॥ १३२॥

अण् अनुवर्त्तते। कच्छादिभ्यः ५।३। च—[अ०प०]। कच्छादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः। शैषिकोऽण् प्रत्ययो भवति। काच्छः। सैन्धवः। वार्णवः।

अथ कच्छादिः—कच्छ। सिन्धु। वर्ण। गन्धार। मधुमत्। कश्मीर। साल्व। कुरु। रङ्कु। अणु। खण्ड। द्वीप। अनूप। अजवाह। विजापक। कुलूतर।

कुलून॥ इति कच्छादयः॥ विजापकशब्दोऽत्र पठ्यते, तस्य कोपधादणि सिद्धे उत्तरार्थः पाठः॥ १३२॥

भाषार्थ—यहाँ अण् की अनुवृत्ति है। कच्छ इत्यादि गणपठित देशवाची प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। यह जनपदवाची होने से वुञादि प्रत्ययों का अपवाद है। जैसे—काच्छः। सैन्धवः। वार्णवः। कच्छादि गण में विजापक शब्द का पाठ उत्तरार्थ है, अन्यथा ककारोपध होने से ही 'अण्' प्रत्यय सिद्ध है॥ १३२॥

मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्॥ १३३॥

मनुष्यतत्स्थयोः—७।२। वुञ् —१।१। अणोऽपवादः। कच्छादिभ्य इत्यनुवर्त्तते। तत्स्थं मनुष्यस्थं कर्मादि। मनुष्ये तत्स्थे चाभिधेये कच्छादिप्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति। मनुष्यतत्स्थयोरिति प्रत्ययार्थः। काच्छको मनुष्यः। काच्छकमस्य हसितम्। जल्पितं ज्ञानम्। काच्छिकाऽस्य बुद्धिः। सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धवकमस्य हसितम्॥ १३३॥

भाषार्थ—यह पूर्वसूत्र से प्राप्त अण् का अपवाद है। यहाँ 'कच्छादिभ्यः' पद की अनुवृत्ति है। 'तत्स्थ' शब्द से (तस्मिन् तिष्ठति यत्) मनुष्यस्थ कर्मादि का ग्रहण है। मनुष्य और मनुष्यस्थ शेष अर्थों की विवक्षा में कच्छादि प्रातिपदिकों से वुञ् प्रत्यय होता है। 'मनुष्य-तत्स्थयोः' पद से प्रत्ययार्थ का कथन किया है। जैसे—काच्छको-मनुष्यः। काच्छकमस्य हसितं जल्पितं ज्ञानं वा। काच्छिकाऽस्य बुद्धिः। सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धवकमस्य हसितम्॥ १३३॥

अपदातौ साल्वात्॥ १३४॥

अपदातौ —७।१। साल्वात् —५।१। पादाभ्यामाति निरन्तरं गमनं पदातिः। पादस्य पदादेशः। साल्वशब्दः कच्छादिषु पठ्यते तस्य पुनर्ग्रहणं नियमार्थम्। अपदातौ मनुष्ये तत्स्थे चाभिधेये साल्वप्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति। साल्वको मनुष्यः। साल्वकमस्येप्सितम्। हसितम्। जल्पितम्। स्मितम्। अपदाताविति किम्—साल्वः पदातिः॥ १३४॥

भाषार्थ—पैरों से निरन्तर गमन को 'पदाति' कहते हैं। 'पादाभ्याति: पदातिः' यहाँ पाद शब्द को पदादेश 'पादस्य पद०' (६।३।५१) सूत्र से हुआ है। साल्व शब्द का पाठ कच्छादि गण में है, उसका पुनर्ग्रहण 'अपदाति' अर्थ में ही नियम करने के लिये है। निरन्तर गमन अर्थ का वाच्य न हो तो मनुष्य और मनुष्यस्थ शेष अर्थों में साल्व प्रातिपदिक से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—साल्वको मनुष्यः। साल्वकमस्येप्सितं हसितं जल्पितं स्मितं वा। यहाँ 'अपदातौ' का ग्रहण इसलिये है कि—साल्वः पदातिः, यहाँ न हो॥ १३४॥

गोयवाग्वोश्च॥ १३५॥

साल्वादित्यनुवर्त्तते। गोयवाग्वोः —७।२। च [अ०]। गोयवाग्वोरिति प्रत्ययार्थः। गवि यवाग्वां चाभिधेयायां साल्वप्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो

भवति। साल्वको गौः। साल्वका यवागूः। गोयवाग्वोरिति किमर्थम्— साल्वम्। अन्यत्राणेव भवति॥ १३५॥

भाषार्थ—यहाँ 'साल्वात्' पद की अनुवृत्ति है। शब्द से प्रत्ययार्थ का कथन है। गो और यवागू वाच्य शेष अर्थों में साल्व प्रातिपदिक से वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे साल्वको गौः। साल्वका यवागूः। यहाँ 'गो-यवाग्वोः' का ग्रहण इसलिये है कि साल्वम्। गौ और यवागू से अन्यत्र कच्छादि में पाठ होने से 'अण्' प्रत्यय ही होवे॥ १३५॥

गर्त्तोत्तरपदाच्छः॥ १३६॥

गर्त्तोत्तरपदात् —५।१। छः —१।१। गर्त्तशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्। देशवाचिनो गर्तोत्तरपदात् प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो शैषिको भवति। अणोऽपवादः। श्वाविद् गर्त्तीयम्। वृकगर्त्तीयम्। शृगालगर्त्तीयम्। त्रिगर्त्ताज्जनपदशब्दाद् वुञेव भवति॥ १३६॥

भाषार्थ—जिन शब्दों में उत्तरपद गर्त्त शब्द हो, उन्हें गर्त्तोत्तरपद कहते हैं। देशवाची गर्त्तोत्तरपद प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' का अपवाद है। जैसे—श्वाविद् गर्त्तीयम्। वृकगर्त्तीयम्। शृगालगर्त्तीयम्। जनपदवाची त्रिगर्त्त शब्द से पूर्व विप्रतिषेध* से (गर्त्तोत्तरपद होने पर भी) वुञ् ही होता है। जैसे—त्रैगर्त्तकः॥ १३६॥

गहादिभ्यश्च॥ १३७॥

छ इत्यनुवर्त्तते। गहादिभ्यः —५।३। च [अ०]। गहादिभ्यो गणोपदिष्टेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकश्छःप्रत्ययो भवति। गहीयः। अन्तःस्थीयः। देशाधिकारो वर्त्तते, परन्त्वत्र यथोपदिष्टेभ्यः प्रत्ययो विधीयते।

वा०—गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावः॥ १॥

'मध्यो मध्यमं चाण् चरणे' इति गहादिषु सामान्येन वार्त्तिकम्। तत्र विशेषार्थं वार्त्तिकम्। पृथिवी मध्यशब्दस्य स्थाने मध्यमभावश्छप्रत्ययसंनियोगेन भवति। पृथिवीमध्ये भवो मध्यमीयः। चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण्। पृथिवीमध्ये निवास एषामित्यस्मिन्नर्थे पृथिवीमध्यशब्दादण्, तस्मिंश्च मध्यमभावः। माध्यमाश्चरणाः कठादय इत्यर्थः॥ १॥

अथ गहादयः—गह। अन्तःस्थ। सम। विषम। मध्यो मध्यमं चाण् चरणे। मध्यशब्दो मध्यम भावमापद्यते तच्च विशेषत्वेन व्याख्यातम्। उत्तम। अङ्ग। वङ्ग। मगध। पूर्वपक्ष। अपरपक्ष। अधमशाख। उत्तमशाख। एकशाख। समानशाख। एकग्राम। एकवृक्ष। एकपलाश। इष्वग्र। इष्वनी। इष्वनीक। अवस्यन्दी। अवस्यन्दन। कामप्रस्थ। शालि। खाडायनि। खाण्डायनी। कावेरणि।

---

* यहाँ महाभाष्य का पाठ द्रष्टव्य है—'गर्त्तोत्तरपदाच्छविधेर्जनपदाद्वुञ् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन' स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधेन वक्तव्य.? न वक्तव्यः। उक्तमेवाऽवधिग्रहणस्य प्रयोजनम्- जनपदाज्जनपदाऽवधेर्वुञेव भवति स्याद् यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूत् - **अनुवादकः**

काठेरणि। कामवेरणि। लावेरणि। सौमित्रि। शौशिरि। आसुत्। आसुरि। शौङ्गि। आहिंसि। आमित्रि। व्याडि। वैदजि। वैजिग। आध्यश्वि। आनृशंसि। आग्निशर्मि। भौजि। पारकि। वाराटकि। अग्निशर्मन्। देवशर्मन्। श्रौति। आरटकि। वाल्मीकि। क्षेमवृद्धिन्। आश्वत्थि। औदगाहमानि। ऐकि। बिन्दवि। दन्ताग्र। हंस। तंत्वग्र। उत्तर। अनन्तर। अन्तर। वेणुकादिभ्यश्छण्। वेणुकाद्याकृतिगणाच्छैषिकश्छण् प्रत्ययः। वैणुकीयम्। वैत्रकीयम्। इत्यादि॥ इति गहादयः॥

अत्र गणपाठे त्रीणि सूत्राणि लिखितानि सन्ति। 'मुखपार्श्वतसोर्लोपः'। जनपरयोः कुक् च। देवस्य च। तथैवेमानि जयादित्येनापि व्याख्यातानि। नैतद् विचारितम्। कथमेतानि संभवन्ति। भवाधिकारेऽन्तः पूर्वपदाद् ठञ् इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यकारेण साधितानि। यद्यत्र सूत्राणि स्युस् तर्हि कारिका व्यर्था स्यात्। देवशब्दात्तु कोपधाद् वक्ष्यमाणवार्त्तिकेन छो भविष्यति॥ १३७॥

भाषार्थ—यहाँ 'छ' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। गण पठित गहादि प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—गहीयः। अन्तःस्थीयः। यहाँ 'देशे' शब्द का अधिकार है, परन्तु यथासंभव ही उसका विशेषण-भाव है, सबके साथ नहीं।

वा०—गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावः॥ १॥

गहादिगण में (मध्यो मध्यमं चाण् चरणे) यह गण वार्त्तिक सामान्यरूप में पठित है। उसका विशेष कथन इस वार्त्तिक में किया है। पृथिवीमध्य शब्द से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होवे और प्रत्यय संनियोग से पृथिवीमध्य को मध्यम आदेश होवे। जैसे—पृथिवीमध्ये भवो मध्यमीयः। और पृथिवीमध्य शब्द से चरण=शाखा सम्बन्ध हो तो निवास लक्षण 'अण्' प्रत्यय होता है और पृथिवीमध्य को मध्यम आदेश होता है। जैसे—पृथिवी मध्ये निवास एषामिति माध्यमाश्चरणाः कठादयः॥ १॥

यहाँ गणपाठादि ग्रन्थों में तीन वार्त्तिकसूत्र लिखे हैं—१. मुख-पार्श्वतसोर्लोपः २. जनपरयोः कुक् च। ३ देवस्य च। जयादित्य ने भी काशिका में वैसे ही उनकी व्याख्या की है। यहाँ उसने कुछ भी विचार नहीं किया कि इन वार्त्तिकों की क्या आवश्यकता है? जबकि महाभाष्यकार ने 'अन्तः पूर्वपदाद् ठञ्' (४।३।६०) इस भवाधिकार सूत्र पर इन वार्त्तिकों की व्याख्या की है। यदि इस गण में इन वार्त्तिकों का पाठ उचित होता तो कारिका में पाठ व्यर्थ मानना होगा। और देव शब्द से 'कुक्' आगम होने पर कोपधलक्षण[१] वाले वार्त्तिक से ही 'छ' प्रत्यय हो जायेगा॥ १३७॥

प्राचां कटादेः॥ १३८॥

---

१ कोपधलक्षण वार्त्तिक (अ० ४।२।१४०) सूत्र पर है, उससे छ प्रत्यय होता है। (सम्पादक)

देश इत्यनुवर्त्तते। प्राचाम् —६।३। कटादेः —५।१। कट शब्द आदौ यस्य तस्मात्। कटादेः प्राग्देशवाचिनः प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। कटघोषीयम्। कटपल्वलीयम्॥ १३८॥

भावार्थ—यहाँ 'देश' की अनुवृत्ति है। 'कट' शब्द जिनके आदि में है, उन प्राग्देशवाची प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—कटघोषीयम्। कटपल्वलीयम्॥ १३८॥

राज्ञः क च॥ १३९॥

राज्ञः —५।१।क —१।१।च—[अ०प०]।राजन्शब्दस्य वृद्धत्वाच्छः सिद्ध एव, पुनरारम्भ आदेशार्थः। राजन्शब्दाच्छः प्रत्ययः शैषिकस्तत्संनियोगे ककारादेशश्च। राजकीयम्॥ १३९॥

भावार्थ—'राजन्' शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से छ प्रत्यय तो प्राप्त ही था, यहाँ सूत्र में पाठ आदेश करने के लिए है। 'राजन्' शब्द से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है और प्रत्यय के संनियोग से 'राजन्' शब्द को ककारादेश होता है। जैसे—राजकीयम्॥ १३९॥

वृद्धादकेकान्तखोपधात्॥ १४०॥

वृद्धात् —५।१।अकेकान्तखोपधात् —५।१।अक, इक, इत्येवमन्तात् खोपधाच्च वृद्धप्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। कोपधादणः; वाहीकग्रामाद् ठञ्ञिठोः; रोपधेतोः प्राचामिति वुञश्चापवादः। अकान्तात् आरीहणकीयम्। ब्राह्मणकीयम्। इकान्तात्—आश्वपथिकीयम्। शाल्मलिकीयम्। खोपधात्—पारिखीयः। आयोमुखीयम्।

वा०—अकेकान्त ग्रहणे कोपधग्रहणं सौसुकाद्यर्थम्॥ १॥

अर्थात् अकेकान्तेत्यस्य स्थाने कोपधेति वक्तव्यम्। सौसुकीयम्। सौसुकाद्यर्थामिति वचनादन्यत्रापि॥ १॥ १४०॥

भावार्थ—अक और इक जिनके अन्त में है और खकारोपध वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शेष अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है। यह सूत्र कोपध लक्षण (४।२।१३१) से प्राप्त अण् का, वाहीकग्रामवाची से (४।२।११६) ठञ्-ञिठ् प्रत्ययों का और 'रोपधेतोः प्राचाम्' (४।२।१२२) सूत्र से प्राप्त वुञ् का अपवाद है। जैसे—अकान्त=आरीहणकीयम्। ब्राह्मणकीयम्। इकान्त=आश्वपथिकीयम्। शाल्मलिकीयम्। खोपध—पारिखीयः। आयोमुखीयम्।

वा०—अकेकान्तग्रहणे कोधग्रहणं सौसुकाद्यर्थम्॥ १॥

यहाँ सूत्र में 'अक—इकान्त' के स्थान पर 'कोपध शब्द का ग्रहण करना चाहिए। जिससे सौसुक आदि शब्दों से भी छ प्रत्यय हो जावे। जैसे—सौसुकीयम्। आदि शब्द से इस प्रकार के अन्य शब्दों से भी 'छ' प्रत्यय हो जायेगा॥ १४०॥

कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात्॥ १४१॥

वृद्धादित्यनुवर्त्तते। कन्था.......पदात् —५।१। कन्थाद्युत्तरपदाद्

देशवाचिनो वृद्धात् प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। दाक्षिकन्थीयम्। सौसुमिकन्थीयम्। शैवपलदीयम्। वासिष्ठनगरीयम्। भारद्वाजग्रामीयम्। कौशिकह्रदीयम्॥ १४१॥

भाषार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' पद की अनुवृत्ति है। कन्थ, पलद, नगर, ग्राम तथा ह्रद शब्द जिनके उत्तर पद में हों, उन देशवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक छ प्रत्यय होता है। जैसे—दाक्षिकन्थीयम्। सौसुमिकन्थीयम्। शैवपलदीयम्। वासिष्ठनगरीयम्। भारद्वाजग्रामीयम्। कौशिकह्रदीयम्॥ १४१॥

पर्वताच्च॥ १४२॥

पर्वतात् —५।१। च [अ०]। वृद्धादिति नानुवर्त्तते देश इति च। पर्वतप्रातिपदिकाच्छैषिकश्छप्रत्ययो भवति। पर्वतीयो मनुष्यः। पर्वतीयो ब्राह्मणः॥ १४२॥

भाषार्थ—यहाँ 'वृद्धात्' और 'देशे' पदों की अनुवृत्ति नहीं है। पर्वत प्रातिपदिक से शैषिक छ प्रत्यय होता है। जैसे—पर्वतीयो मनुष्यः। पर्वतीयो ब्राह्मणः॥ १४२॥

विभाषाऽमनुष्ये॥ १४३॥

विभाषा [अ०]। अमनुष्ये —७।१। पर्वतादित्यनुवर्त्तते। प्राप्तविभाषेयम्। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। अमनुष्ये प्रत्ययार्थे पर्वतप्रातिपदिकाद् विकल्पेन छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। पक्षेऽण्। पर्वतीयानि फलानि। पार्वतानि फलानि। मनुष्ये तु केवलश्छः॥ १४३॥

भाषार्थ—यहाँ 'पर्वतात्' पद की अनुवृत्ति है। यह प्राप्त विभाषा है। पर्वसूत्र से नित्य प्रत्यय की प्राप्ति में विकल्प किया गया है। मनुष्य से भिन्न प्रत्ययार्थ वाच्य हो तो पर्वतप्रातिपदिक से विकल्प से शैषिक छ प्रत्यय होता है। पक्ष में अण् होता है। जैसे—पर्वतीयानि फलानि। पार्वतानि फलानि। मनुष्य अभिधेय में तो केवल 'छ' प्रत्यय होता है॥ १४३॥

कृकणपर्णाद् भरद्वाजे॥ १४४॥

देश इत्यनुवर्त्तते। कृकण-पर्णात् —५।१। भरद्वाजे —७।१। भरद्वाज-शब्दोऽत्र देशविशेषणम्। भरद्वाजदेशवाचिभ्यां कृकणपर्णाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां शैषिकश्छः प्रत्ययो भवति। कृकणीयम्। पर्णीयम्। भरद्वाज इति किम्—कार्कणम्। पार्णम्॥ १४४॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः सम्पूर्णः॥

भाषार्थ—यहाँ 'देशे' पद की अनुवृत्ति है। सूत्र में 'भारद्वाजे' शब्द देश का विशेषण है। भरद्वाज देश वाची कृकण और पर्ण प्रातिपदिकों से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—कृकणीयम्। पर्णीयम्। यहाँ 'भरद्वाजे' का ग्रहण इसलिए है कि—कार्कणम्। पार्णम्॥ १४४॥

यह चतुर्थ अध्याय का द्वितीयपाद समाप्त हुआ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च॥ १॥

देशाधिकारो निवृत्तः। युष्मदस्मदोः —६।२। अन्यतरस्याम् [अ०]। खञ् —१।१। च (अ०प०)। चकारग्रहणं छप्रत्ययस्यानुकर्षणार्थम्। प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। युष्मदस्मदोस्त्यदादित्वाद् वृद्ध संज्ञा, वृद्धत्वाच्छप्रत्यये प्राप्ते प्राप्तविभाषा। खञ् प्रत्ययेऽप्राप्तविभाषा। युष्मदस्मद्भ्यां प्रातिपदिकाभ्यां खञ्-छौ प्रत्ययौ विकल्पेन भवतः पक्षेऽण्। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। युष्मदीयः। अस्मदीयः। अणि—यौष्माकः। आस्माकः। वक्ष्यमाणसूत्रेणादेशौ।

अत्र महाभाष्यकारेण योगविभागः कृतः संख्यातानुदेशनिवृत्त्यर्थ इति स्मर्यताम्॥ १॥

भावार्थ—'देश' का अधिकार निवृत्त हो गया है। चकार से 'छ' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। युष्मद् और अस्मद् शब्द त्यदादि गणीय होने से 'त्यदादीनि च' सूत्र से वृद्ध संज्ञक हैं। अतः वृद्धसंज्ञक होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त है और खञ् प्रत्यय अप्राप्त होने से यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। युष्मद् अस्मद् प्रातिपदिकों से शैषिक खञ् और छ प्रत्यय विकल्प से होते हैं, पक्ष में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—यौष्माकीणः। आस्माकीनः। छ प्रत्यय में—युष्मदीयः। अस्मदीयः। अण् प्रत्यय में यौष्माकः। आस्माकः। अण् और खञ् प्रत्ययान्तों में अगले सूत्र से आदेश हुए हैं। इस सूत्र का महाभाष्य में योग विभाग किया है। अतः यथासंख्य प्रत्यय विधि नहीं होती॥ १॥

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ॥ २॥

तस्मिन् -७।१। अणि -७।१। च [अ.प.]। युष्माकास्माकौ -१।२। तस्मिन्निति पूर्वविहितः खञ् निर्दिश्यते। युष्मदस्मदोरित्यनुवर्त्तते नैव छः। तस्मिन् खञि परतोऽणि च [युष्मदस्मदोः स्थाने यथासंख्यम्] युष्माकास्माकावादेशौ भवतः। युष्माकं छात्रा यौष्माकीणाः। आस्माकीनाः। अणि— यौष्माकाः। आस्माकाः।

महाभाष्यकारेणात्रापि योगविभागेन संख्यातानुदेशो निवारितः। योग-विभागमन्तरा खञि युष्माकोऽण्यस्माक आदेशः स्यात्॥ २॥

भावार्थ—यहाँ 'तस्मिन्' पद से पूर्वसूत्र विहित खञ् का निर्देश है। 'युष्मद-स्मदोः' पद की यहाँ अनुवृत्ति है, छ की नहीं। उस खञ् और अण् प्रत्यय के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर यथासंख्य युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं। जैसे—युष्माकं छात्रा यौष्माकीणाः। आस्माकीनाः। अण् प्रत्यय

में—यौष्माकाः। आस्माकाः।

इस सूत्र पर भी महाभाष्य में प्रत्ययों का योग विभाग किया है, जिससे निमित्तभूत प्रत्ययों में संख्यातानुदेश नहीं हुआ। अन्यथा=योगविभाग के बिना 'खञ्' प्रत्यय में युष्माकादेश और अण् प्रत्यय में अस्माकादेश हो जाना चाहिये॥ २॥

तवकममकावेकवचने॥ ३॥

युष्मदस्मदोरिति तस्मिन्नणि चेत्यनुवर्त्तते। तवकममकौ —१। २। एकवचने —७। १। पारिभाषिकस्य वचनशब्दस्यात्र ग्रहणं नास्ति। किन्तु-उच्यते तद्वचनम्। एकस्य वचनमेकवचनं तस्मिन्। तस्मिन् खञि परतोऽणि चैकवचनान्तात् प्रत्ययविधाने युष्मदस्मच्छब्दयोस्तवक-ममकावादेशौ भवतः। तवेमे छात्रास्तावकीनाः। मामकीनाः। अणि-तावकाः। मामकाः॥ ३॥

भाषार्थ—यहाँ 'युष्मदस्मदोः, तस्मिन्नणि च' पदों की अनुवृत्ति है। यहां पारिभाषिक वचन शब्द का ग्रहण नहीं है, किन्तु 'उच्यते तद वचनम् एकस्य वचनमेकवचनम्' अन्वर्थक* का ग्रहण है। खञ् और अण् प्रत्यय के परे होने पर एकार्थ के वाचक युष्मद और अस्मद् शब्दों को क्रमशः तवक और ममक आदेश होते हैं। जैसे—तवेमे छात्रास्तावकीनाः। मामकीनाः। तावकाः। मामकाः॥ ३॥

अर्द्धाद् यत्॥ ४॥

अर्धात् —५। १। यत् —१। १। अणोऽपवादः। अर्द्ध-प्रातिपदिका-च्छैषिको यत् प्रत्ययो भवति। अर्द्ध्यम्।

वा०—अर्द्धाद् यद्विधाने सपूर्वपदाद् ठञ्॥ १॥

विद्यमानपूर्वादर्द्धशब्दादित्यर्थः। वालेयार्द्धिकः। गौतमार्द्धिकः॥ ४॥

भाषार्थ—यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। 'अर्द्ध' प्रातिपदिक से शैषिक 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—अर्द्ध्यम्।

वा०—अर्द्धाद् यद्विधाने सपूर्वपदाद् ठञ्॥ १॥

जिस अर्द्ध शब्द से पूर्व अन्य शब्द हो उससे शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—वालेयार्द्धिकः। गौतमार्द्धिकः॥ ४॥

परावराधमोत्तमपूर्वाच्च॥ ५॥

अर्द्धादित्यनुवर्त्तते। परावराधमोत्तमपूर्वात् —५। १। च [अ.प.]। पर, अवर, अधम, उत्तम, इत्येवं पूर्वादर्द्धप्रातिपदिकात् यत् प्रत्ययो भवति। परार्द्ध्यः। अवरार्द्ध्यः। अधमार्द्ध्यः। उत्तमार्द्ध्यः। पूर्वग्रहणमर्द्धपूर्वात् प्रतिषे-धार्थम्॥ ५॥

---

* युष्मद + ङसि-खञ् और अस्मद्+ङसि+खञ् उस अवस्था में 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) सूत्र से विभक्ति के लुक् होने पर 'न लुमताङ्गस्य' (१।१।६३) प्रत्यय लक्षण का प्रतिषेध होने से एकवचनपरता सम्भव नहीं है। अतः अन्वर्थग्रहण मानकर सूत्रार्थ किया गया है —अनुवादक

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'अर्द्धात्' पद की अनुवृत्ति है। पर, अवर, अधम तथा उत्तम शब्द जिसके पूर्व में हैं, ऐसे अर्द्ध प्रातिपदिक से शैषिक 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे -परार्द्ध्यः। अवरार्द्ध्यः। अधमार्द्ध्यः। उत्तमार्द्ध्यः। यहाँ सूत्र में पूर्व ग्रहण इसलिये है कि सूत्रपठित शब्द पूर्व में हो तो यत् प्रत्यय हो। इनसे भिन्न अर्द्ध शब्द पूर्व में हो तो न हो॥५॥

दिक्पूर्वपदाद् ठञ्॥६॥

अर्द्धाद् यदित्यनुवर्त्तते। [दिक् पूर्वपदात् —५।१। ठञ् —१।१।] दिक्पूर्वपदाद् अर्द्धप्रातिपदिकाद् ठञ्-यतौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। पूर्वार्द्ध्यः। पौर्वार्द्धिकः। दक्षिणार्द्ध्यः। दाक्षिणार्द्धिकः॥६॥

भाषार्थ -यहाँ 'अर्द्धात्', 'यत्' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति है। दिशावाची पूर्व पद जिससे पहले है, उस अर्द्ध प्रातिपदिक से शैषिक ठञ् और यत् प्रत्यय होते हैं। जैसे—पूर्वार्द्ध्यः। पौर्वार्द्धिकः। दक्षिणार्द्ध्यः। दाक्षिणार्द्धिकः।६॥

ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ॥७॥

ग्रामजनपदैकदेशात् —५।१। अञ् ठञौ —१।२। एकदेशशब्दोऽवयववाची, स च ग्राम-जनपदाभ्यामुभाभ्यां संबध्यते। दिक् पूर्वाद् अर्द्धान्ताद् ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च प्रातिपदिकाद् अञ्-ठञौ प्रत्ययौ भवतः। यत्प्राप्तः स बाध्यते। ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्द्धाः। पौर्वार्द्धिकाः। दाक्षिणार्द्धाः। दाक्षिणार्द्धिकाः॥७॥

भाषार्थ—सूत्र में एकदेश शब्द अवयव वाची है, और उसका सम्बन्ध ग्राम तथा जनपद दोनों शब्दों से है। दिशावाची शब्द जिसके पूर्व हों उन ग्रामैकदेशवाची तथा जनपदैकदेशवाची प्रातिपदिकों से अञ् और ठञ् प्रत्यय होते हैं। यह 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्द्धाः। पौर्वार्द्धिकाः। दाक्षिणार्द्धाः। दाक्षिणार्द्धिकाः॥७॥

मध्यान्मः॥८॥

मध्यात्—५।१।मः—१।१। अण्बाधनार्थ आरम्भः। मध्यप्रातिपदिकाच्छैषिको मः प्रत्ययो भवति। मध्यमः।

जयादित्येनात्र द्वौ वर्त्तिकौ प्रतिपादितौ, तत्रादिशब्दात् सायंचिरमित्यत्र डिमच् प्रत्ययो विधास्यते। अवोऽधसोर्लोपश्चेतीदं वार्तिकं क्वापि महाभाष्ये नास्ति। अतस्तस्य वार्त्तिकप्रातिपादनं व्यर्थमेव॥८॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है। 'मध्य' प्रातिपदिक से शैषिक 'म' प्रत्यय होता है। जैसे—मध्यमः।

जयादित्य ने इस सूत्र पर दो वार्त्तिक लिखे हैं 'आदेश्चेति वक्तव्यम्' और 'अवोऽधसोर्लोपश्च'। इनमें प्रथम वार्त्तिक तो इसलिये व्यर्थ है कि 'साय चिर०' (४।३।२३) इस सूत्र पर वार्तिक से 'आदि' शब्द से 'डिमच्' प्रत्यय का विधान किया गया है और दूसरा वार्त्तिक महाभाष्य में कहीं भी नहीं है। अतः उसका

प्रतिपादन करना निरर्थक है॥८॥

अ सांप्रतिके॥ ९॥

[अ—लुप्तप्रथमाविभक्तिनिर्देशः। साम्प्रतिके—७।१] मध्यादित्यनुवर्त्तते। पूर्वेण मप्रत्यये प्राप्ते वचनम्। नातिनीचं नात्युच्चं समं साम्प्रतिकमुच्यते। साम्प्रतिके शेषेऽभिधेये मध्यप्रातिपदिकाद् अ-प्रत्ययो भवति। नातिन्यूनो नात्युत्कृष्टो मध्यो वैयाकरणः। मध्यं काष्ठम्। मध्यमशब्दस्तु न्यूनार्थे वर्त्तते॥ ९॥

भावार्थ—'मध्यात्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से 'म' प्रत्यय को प्राप्ति में यह प्रत्ययान्तर विधान किया है। साम्प्रतिक शब्द का अर्थ है, जो न तो बहुत न्यून हो और नहीं बहुत अधिक हो। साम्प्रतिक अभिधेय हो तो 'मध्य' प्रातिपदिक से शैषिक 'अ' प्रत्यय होता है। जैसे—नातिन्यूनो नात्युत्कृष्टो मध्यो वैय्याकरणः। मध्यं काष्ठम्। मध्यम शब्द तो न्यून अर्थ में प्रयुक्त होता है॥ ९॥

द्वीपादनुसमुद्रं यञ्॥ १०॥

द्वीपात् —५।१। अनुसमुद्रम् [अ.प.]। यञ् —१।१। समुद्रस्य समीपमनु-समुद्रं तस्मिन्। अव्ययीभावसमासस्याव्ययसंज्ञा। ततस्तृतीया-सप्तम्योर्बहुलमिति सप्तम्याः स्थानेऽमादेशः। अनुसमुद्रम्=समुद्रसमीपे वर्त्तमानाद् द्वीपप्रातिपदिकाच्छैषिको यञ् प्रत्ययो भवति। द्वैप्यं मधु। द्वैप्या कन्या। अनुसमुद्रमिति किम्—द्वैपकम्। द्वैपम्। कच्छादिषु पाठान्मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्, अन्यत्राण्॥ १०॥

भावार्थ—सूत्र में 'अनुसमुद्रम् (समुद्रस्य समीपम्) पद में अव्ययीभाव समास है। अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है और अव्यय संज्ञक इस समास में 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (२।४।८४) इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति को अमादेश हुआ है। समुद्र के समीप अर्थ में वर्त्तमान द्वीप प्रातिपदिक से शैषिक 'यञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्वैप्यं मधु। द्वैप्या कन्या। अनुसमुद्रादिति किम्—द्वैपकम्। द्वैपम्। यहां कच्छादिगण में पाठ होने से 'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' (४।२।१३३) सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय और अन्यत्र 'अण्' हुआ है॥ १०॥

कालाट्ठञ् ॥ ११॥

कालात् —५।१। ठञ् —१।१। अधिकारसूत्रमिदं 'तत्र जात' इत्यतः प्राक्। कालविशेषवाचिनः प्रातिपदिकाच्छैषिकष्ठञ् प्रत्ययो भवति। आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः। वृद्धादपि कालवाचिनः परविप्रतिषेधाट् ठञेव भवति। मासिकः। पौर्णमासिकः॥ ११॥

भावार्थ—यह 'तत्र जातः' (४।३।२५) सूत्र तक अधिकार सूत्र है। काल विशेषवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः। वृद्धसंज्ञक कालवाची प्रातिपदिक से पर विप्रतिषेध से 'छ' को बाधकर 'ठञ्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—मासिकः। पौर्णमासिकः॥ ११॥

श्राद्धे शरदः॥ १२॥

ऋतुवाचिभ्योऽण् प्राप्तस्तस्यापवादः। श्राद्धे —७।१। शरदः —५।१। ऋतु-वाचिनः शरत्प्रातिपदिकाच्छ्राद्धेऽभिधेये ठञ् प्रत्ययो भवति। शरदि भवं शारदिकं श्राद्धं कर्म। शारदमित्यन्यत्र॥ १२॥

भाषार्थ—शरद् शब्द ऋतुवाची होने से 'सन्धिवेला०' (अ० ४।३।१६) से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है। यह उसका अपवाद है। ऋतुवाची शरद् प्रातिपदिक से श्राद्ध अभिधेय में शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—शारदि भवं शारदिकं श्राद्धं कर्म। श्राद्धकर्म से अन्यत्र 'अण्' ही होता है—शारदम्॥ १२॥

विभाषा रोगातपयोः॥ १३॥

शरद इत्यनुवर्त्तते। विभाषा [अ.प.]। रोगातपयोः —७।२। अप्राप्त-विभाषेयम्। ऋत्वणि प्राप्ते ठग् विकल्प्यते। रोगातपयोः प्रत्ययार्थयोः सतोः शरत्प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ठञ् प्रत्ययो भवति पक्षेऽण्। शारदिको रोगः। शारदिक आतपः। शारदो रोगः। शारद आतपः। रोगातपयोरिति किमर्थम्—शारदं तक्रम्॥ १३॥

भाषार्थ—यहाँ 'शरदः' पद की अनुवृत्ति है। और यह अप्राप्त विभाषा है। ऋतुवाची शब्द से 'अण्' की प्राप्ति में यह 'ठक्' का विकल्प करता है। 'शरद्' प्रातिपदिक से रोग और आतप प्रत्ययार्थ में विकल्प से शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है और पक्ष में 'अण्' होता है जैसे—शारदिको रोगः। शारदिक आतपः। शारदो रोगः। शारद आतपः। रोगातपयोरिति किमर्थम्—शारदं तक्रम् यहाँ 'अण्' होता है॥ १३॥

निशाप्रदोषाभ्यां च॥ १४॥

विभाषेत्यनुवर्त्तते। निशा-प्रदोषाभ्याम्—५।२। च [अ.प.]। प्राप्त-विभाषाऽत्र। कालाद् ठञ् इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः। पक्षेऽधिकारादण्। कालवाचिभ्यां निशाप्रदोषाप्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन ठञ् प्रत्ययो भवति। नैशिकम्। नैशम्। प्रादोषिकम्। प्रादोषम्॥ १४॥

भाषार्थ—यहां 'विभाषा' पद की अनुवृति है। और यह प्राप्तविभाषा है। 'कालाट् ठञ्' (४।३।११) सूत्र से नित्य प्राप्ति में यह विकल्प किया है। पक्ष में अधिकार से 'अण्' होता है। कालवाची निशा और प्रदोषा प्रातिपदिक से विकल्प से 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—नैशिकम्। नैशम्। प्रादोषिकम्। प्रादोषम्॥ १४॥

श्वसस्तुट् च॥ १५॥

विभाषेत्यनुवर्त्तते। श्वसः —५।१। तुट् —१।१। च [अ.प.]। कालवाचिनोऽव्ययात् श्वस्प्रातिपदिकाद् विकल्पेन ठञ् प्रत्ययो भवति [तस्य च तुडागमः] पक्षे ट्यु ट्युलौ भवतः। त्यबस्माद् विभाषा विहितो विकल्पद्वयात् त्रयः प्रयोगाः। शौवस्तिकः। श्वस्तनः। श्वस्त्यः॥ १५॥

भाषार्थ—यहाँ 'विभाषा' पद की अनुवृति है। कालवाची श्वस् अव्यय प्रातिपदिक से विकल्प से ठञ् प्रत्यय होता है और उसको तुट् आगम। पक्ष में

यथाप्राप्त 'सायं चिर०' (अ० ४।३।२३) सूत्र से ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं। श्वस् से (अव्ययात् त्यप् ४।२।१०३) सूत्र से विकल्प से 'त्यप्' भी होता है। जैसे—शौवस्तिकः। श्वस्तनः। श्वस्त्यः॥ इस प्रकार दो विकल्प होने से तीन प्रयोग बनते हैं॥ १५॥

सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्॥ १६॥

कालादित्यनुवर्त्तते नान्यत् किमपि। सन्धि..........नक्षत्रेभ्यः—५।३। अण्—१।१। कालाट् ठञ् प्राप्तस्तस्यापवादः। अधिकारादण् स्यादेव पुनरण्-ग्रहणं वृद्धाच्छमपि बाधित्वाऽणेव यथा स्यात्। कालवाचिभ्यः सन्धिवेलादिभ्य ऋतु-नक्षत्रवाचिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति। सांधिवेलम्। सांध्यम्। ऋतुभ्यः ग्रैष्मम्। शैशिरम्। नक्षत्रेभ्यः—तैषः। पौषः। वृद्धादपि नक्षत्राद् अणेव। यथा-स्वातौ जातः सौवातो बालः। अथ सन्धिवेलादिगणः—संधिवेला। संध्या। अमावस्या। त्रयोदशी। चतुर्दशी। पंचदशी। पौर्णमासी। प्रतिपत्। संवत्सरात् फलपर्वणोः। सांवत्सरं फलम्। सावंत्सरं पर्व। इति सन्धिवेलादिः॥ १६॥

भाषार्थ—यहाँ 'कालात्' पद की अनुवृत्ति है, अन्य पदों की नहीं। यह 'कालाट् ठञ्' (४।३।११) सूत्र का अपवाद है। अधिकार होने से ही 'अण्' प्रत्यय हो जाता है, फिर 'अण्' का प्रयोजन यह है कि वृद्धसञ्ज्ञक कालवाची शब्दों से भी 'अण्' प्रत्यय ही हो 'छ' नहीं। कालवाची सन्धिवेलादि गणपठित शब्दों से, ऋतुवाची तथा नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—सन्धिवेलायां लब्धं सान्धिवेलम्। सांध्यम्। ऋतुवाचियों से—ग्रैष्मम्। शैशिरम्। नक्षत्रवाचियों से—तैषः। पौषः। वृद्धसंज्ञक नक्षत्रवाची से भी 'अण्' ही होता है—स्वातौ जातः सौवातो बालः॥ १६॥

प्रावृष एण्यः॥ १७॥

प्रावृषः —५।१। एण्यः —१।१। प्रावृट् शब्द ऋतुवाची, तस्माद-णोऽपवादः। ऋतुवाचिनः प्रावृट् प्रातिपदिकाद् एण्यः प्रत्ययो भवति। प्रावृषेण्यो मेघः॥ १७॥

भाषार्थ—प्रावृष् शब्द के ऋतुवाची होने से उसे पूर्वसूत्र से 'अण्' प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। ऋतुवाची प्रावृष प्रातिपदिक से शैषिक 'एण्य' प्रत्यय होता है। जैसे—प्रावृषेण्यो मेघः॥ १७॥

वर्षाभ्यष्ठक्॥ १८॥

वर्षाभ्यः —५।३। ठक् —१।१। ऋतुवाचिनो वर्षाप्रातिपदिकाद् ठक् प्रत्ययो भवति। ऋत्वणोऽपवादः। वर्षासु क्रीतं वस्त्रं वार्षिकम्। वार्षिका गोमयाः॥ १८॥

भाषार्थ—वर्षा शब्द से ऋतुवाची होने से 'अण्' प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। ऋतुवाची वर्षा प्रातिपदिक से शैषिक 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वर्षासु

क्रीतं वस्त्रं वार्षिकम्। वार्षिका गोमयाः॥ १८॥

छन्दसि ठञ्॥ १९॥

वर्षाभ्य इत्यनुवर्त्तते। छन्दसि —७।१।ठञ् —१।१। वर्षाप्रातिपदिकाच् छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति। स्वरे विशेषः। नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू॥ १९॥

भाषार्थ—यहाँ 'वर्षाभ्यः' पद की अनुवृत्ति है। ऋतुवाची वर्षा प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है। ठक् और ठञ् प्रत्ययों में स्वर का ही भेद है। जैसे—नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू॥ १९॥

वसन्ताच्च॥ २०॥

छन्दसि ठञ् इत्यनुवर्त्तते। वसन्तात् —५।१। च [अ.प.]। वसन्त-प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति। मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू॥ २०॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि, ठञ्' पदों की अनुवृत्ति है। ऋतुवाची वसन्त प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू॥ २०॥

हेमन्ताच्च॥ २१॥

छन्दसि ठञ् इत्यनुवर्त्तते। हेमन्तात् —५।१। च [अ.प.]। योगविभाग उत्तरार्थः। अन्यथा वसन्त-हेमन्ताभ्यां चेति ब्रूयात्। ऋत्वणोऽपवादः। ऋतु-वाचिनो हेमन्तप्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति। सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू॥ २१॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि, ठञ्' पदों की अनुवृति है। योग विभाग अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है। अन्यथा 'वसन्त-हेमन्ताभ्यां च' एक सूत्र बनाने से 'वसन्त' शब्द की भी उत्तरत्र अनुवृत्ति हो जायेगी। यह ऋतुवाची अण् का अपवाद है। ऋतुवाची हेमन्त प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू॥ २१॥

सर्वत्राण् च तलोपश्च॥ २२॥

ठञ् अनुवर्त्तते हेमन्तादिति च। सर्वत्र [अ.प.]। अण् —१।१। च (अ०प०)। तलोपः —१।१। च [अ.प.]। सर्वत्रेति छन्दोऽधिकार-निवृत्त्यर्थम्। हेमन्तप्रातिपदिकात् सर्वत्र लोके वेदे चाण्-ठञौ प्रत्ययौ भवतः। अणि परतः प्रकृतेस्तकारलोपश्च। हैमनः पवनः। हैमन्तिको वा। द्वौ चकारौ समुच्चयार्थौ। एकश्चअनुकर्षणार्थो द्वितीयो लोपसमुच्चयार्थः॥ २२॥

भाषार्थ—यहाँ 'हेम्तात्, ठञ्' पदों की अनुवृत्ति है। सर्वत्र शब्द 'छन्दसि' के अधिकार की निवृत्ति के लिये हैं। ऋतुवाची हेमन्त प्रातिपदिक से लोक और वेद में शैषिक अण् और ठञ् प्रत्यय होते हैं और अण् प्रत्यय के सयोग सें हेमन्त के तकार का लोप होता है। जैसे—हेमनः पवनः। हैमन्तिको वा। सूत्र में दो चकारों

का पाठ समुच्चयार्थ है। एक चकार ठञ् की अनुवृत्ति के लिये है और दूसरा तलोप के समुच्चय के लिये है॥ २२॥

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च॥ २३॥

सायं.....अव्ययेभ्यः—५।३। ट्यु-ट्युलौ—१।२। तुट्—१।१। च [अ.प.]। सायं, चिरं, प्राह्णे, प्रगे, इत्येतेभ्योऽव्ययप्रातिपदिकेभ्यश्च ट्यु ट्युलौ प्रत्ययौ भवतस्तयोस्तुडागमश्च। षोऽन्तःकर्मणीत्यस्य घञन्तः साय-शब्दः। चिधातोरौणादिको रप्रत्ययः। तयोः साय चिरयोः प्रत्ययसंनियोगेन मकारान्तत्वं निपात्यते। यद्यव्ययशब्दौ स्यातां पुनर्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। एवं प्राह्ण-प्रगयोः प्रत्यय-संनियोगेनैकारान्तत्वं निपात्यते। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। अव्ययेभ्यः—दिवातनम्। दोषातनम्। प्रातःशब्दाद् वृद्धसंज्ञकादपि परत्वाद् ट्यु-ट्युलौ भवतः। प्रातस्तनम्।

वा०—चिर-परुत्-परारिभ्यस्त्नः॥ १॥

चिराद्यव्ययेभ्यस्त्नः प्रत्ययो भवति। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्।

वा०—प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च॥ २॥

त्नप्रत्ययश्चानुवृत्त्या। प्रत्नमात्मानम्।

वा०—अग्रादिपश्चाड् डिमच्॥ ३॥

अग्र, आदि, पश्चात् इत्येतेभ्यो डिमच् प्रत्ययो भवति। अग्रिमम्। आदिमम्। पश्चिमम्।

वा०—अन्ताच्च॥ ४॥

अन्तशब्दादपि डिमच्। अन्तिमम्॥ २३॥

भाषार्थ—सायं, चिरं, प्राह्णे, प्रगे इन तथा अव्यय संज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं और प्रत्ययों को तुट् आगम होता है।

यहाँ सायं तथा चिरं अव्ययों का ग्रहण नहीं है। 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से घञ् प्रत्ययान्त साय शब्द और 'चि' धातु से औणादिक र प्रत्यय करने से 'चिर' शब्द बना है और इन शब्दों को प्रत्यय के सन्नियोग से मकारान्तत्व निपातन से है। अन्यथा अव्यय होने से ही प्रत्ययविधि होने से पृथक् पाठ करना निरर्थक ही होता। इसी प्रकार प्राह्णे तथा प्रगे शब्दों में प्रत्यय के सन्नियोग से एकारान्तत्व निपातन से हुआ है। जैसे—सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। अव्ययों से दिवातनम्। दोषातनम्। 'प्रातर्' अव्यय के वृद्धसंज्ञक होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त है, किन्तु परविप्रतिषेध से ट्यु और ट्युल् ही होते हैं। जैसे—प्रातस्तनम्।

वा०—चिर-परुत्-परारिभ्यस्त्नः॥ १॥

चिर, परुत्, परारि, इन अव्ययों से शैषिक त्न प्रत्यय होता है। यह सूत्र से प्राप्त ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों का अपवाद है। जैसे—चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्।

वा०—प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च॥ २॥

वैदिक प्रयोग विषय में 'प्रग' प्रातिपदिक से शैषिक 'त्न' प्रत्यय होता है और

प्रत्ययसंनियोग से गकार का लोप होता है। जैसे—प्रत्नमात्मानम्।

वा०—अग्रादिपश्चाड् डिमच्॥ ३॥

अग्र, आदि, पश्चात्, इन प्रातिपदिकों से शैषिक 'डिमच्' प्रत्यय होता है। जैसे—अग्रिमम्। आदिमम्। पश्चिमम्॥

वा०—अन्ताच्च॥ ४॥

'अन्त' प्रातिपदिक से भी शैषिक 'डिमच्' प्रत्यय होता है। जैसे—अन्तिमम्॥ २३॥

विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्॥ २४॥

विभाषा [अ०]। पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् —५।२। ट्यु-ट्युलावनुवर्त्तेते। अप्राप्तविभाषेयम्। कालाद् ठञिति ठञि प्राप्ते विकल्पः। कालवाचिभ्यां पूर्वाह्णापराह्णाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन ट्यु-ट्युलौ प्रत्ययौ भवतः। पक्षे ठञ्। पूर्वाह्णेतनम्। पौर्वाह्णिकम्। अपराह्णेतनम्। आपराह्णिकम्। 'घकालतनेष्विति' सप्तम्या अलुक्॥ २४॥

भाषार्थ—यहाँ 'ट्यु-ट्युलौ' की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। 'कालाट् ठञ्' (४।३।११) इससे ठञ् की प्राप्ति में यह विकल्प से शैषिक ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं, पक्ष में यथाप्राप्त 'ठञ्' होता है। जैसे—पूर्वाह्णेतनम्। पौर्वाह्णिकम्। अपराह्णेतनम्। आपराह्णिकम्। यहाँ ट्यु और ट्युल् प्रत्ययान्तों में 'घकालतनेषु०' (अ० ६।३।१६) सूत्र से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है॥ २४॥

तत्र जातः॥ २५॥

घादयः प्रत्यया विहितास्तेषामर्थनिर्देशः समर्थनिर्देशश्चारभ्यते। तत्र [अ.प.]। जातः —१।१। तत्रेति सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाज् जात इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः। अवारपारीणः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। कात्त्रेयकः॥ २५॥

भाषार्थ—'घ' आदि प्रत्यय जो सामान्यरूप से शेष अर्थों में विधान किये हैं, उनके जातादि अर्थों तथा समर्थ विभक्तियों का निर्देश किया जाता है। सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिकों से 'जात' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः। अवारपारीणः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। कात्त्रेयकः, इत्यादि॥ २५॥

प्रावृषष्ठप्॥ २६॥

प्रावृषः —५।१। ठप् —१।१। सप्तमीसमर्थात् प्रावृट्प्रातिपदिकाज् जातार्थे ठप् प्रत्ययो भवति। सामान्येनैण्यः प्राप्तस्तस्यापवादः। भवादावेण्य एव भवति। प्रावृषि जातः प्रावृषिकः। पित्करणमनुदात्तस्वरार्थम्॥ २६॥

भाषार्थ—सप्तमीसमर्थ प्रावृष् प्रातिपदिक से जात अर्थ में ठप् प्रत्यय होता है। प्रावृष् प्रातिपदिक से सामान्यरूप में 'प्रावृष एण्यः' (अ० ४।३।१७) सूत्र से एण्य प्रत्यय का विधान किया है, यह उसका अपवाद सूत्र है। जातार्थ से भिन्न भवादि अर्थों में एण्य प्रत्यय ही होता है। जैसे—प्रावृषि जातः प्रावृषिकः।

प्रत्यय में पितकरण अनुदात्त स्वर के लिये है॥ २६॥

संज्ञायां शरदो वुञ्॥ २७॥

संज्ञायम् —७।१।शरदः —५।१।वुञ् —१।१।ऋत्वणोऽपवादः। सप्तमीसमर्थाच्छरत्प्रातिपदिकात् संज्ञायामभिधेयायां [जातार्थे] वुञ् प्रत्ययो भवति। शारदका दर्भाः। शारदकानि कवकानि। संज्ञायामिति किम्—शारदं सस्यम्॥ २७॥

भाषार्थ—यह सूत्र ऋतुवाची शब्दों से विहित 'अण्' का अपवाद है। सप्तमी समर्थ 'शरद्' प्रातिपदिक से संज्ञा अभिधेय में जात अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है। जैसे—शारदकाः दर्भाः। शारदकानि कवकानि। यहाँ संज्ञायाम् का ग्रहण इसलिये है कि शारदं सस्यम्। यहाँ वुञ् न होवे॥ २७॥

पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद् वुन्॥ २८॥

पूर्वाह्ण............वस्करात् —५।१। वुन् —१।१। पूर्वाह्णापराह्णाभ्यां ट्यु-ट्युलोरपवादः। आर्द्रामूलाभ्यां नक्षत्रादणोऽपवादः। प्रदोषाशब्दाद् ठञोऽपवादः। अवस्करादौत्सर्गिकस्याणः। सप्तमीसमर्थेभ्यः पूर्वाह्णादिप्रातिपदिकेभ्यो जातार्थे वुन् प्रत्ययो भवति। पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। आर्द्रकः। मूलकः। प्रदोषकः। अवस्करकः। भवादौ तु यथाविहितं प्रत्ययाः॥ २८॥

पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्दों से 'विभाषा पूर्वाह्ण०' (अ० ४।३।२४) से प्राप्त ट्यु और ट्युल् का यह अपवाद है। आर्द्रा और मूल शब्दों से नक्षत्रवाची होने से 'सन्धिवेला०' (अ० ४।३।१६) से प्राप्त अण् का अपवाद है। प्रदोष शब्द से निशा० (अ० ४।३।१४) से प्राप्त 'ठञ्' का अपवाद है। और अवस्कर शब्द से सामान्यविहित 'अण्' अपवाद है। सप्तमी समर्थ पूर्वाह्णादि प्रातिपदिकों से जात अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'जात' से भिन्न 'भव' आदि अर्थों में यथाविहित प्रत्यय ही होते हैं। जैसे—पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। आर्द्रकः। मूलकः। प्रदोषकः। अवस्करकः॥ २८॥

पथः पन्थ च॥ २९॥

वुन् प्रत्ययोऽनुवर्त्तते। पथः —५।१। पन्थ —१।१। च [अ.प.]। सप्तमीसमर्थात् पथिन्प्रातिपदिकाद् जातार्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। प्रत्यय-संनियोगेन च पथिन्शब्दस्य पन्थ इत्ययमादेशः। पथि जातः पन्थकः। भवादावणेव॥ २९॥

यहाँ 'वुन्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ पथिन् प्रातिपदिक से जातार्थ में वुन् प्रत्यय होता है। और प्रत्यय संनियोग से पथिन् शब्द को 'पन्थ' आदेश होता है। जैसे—पथि जातः पन्थकः। भव आदि अर्थों में 'अण्' ही होता है॥ २९॥

अमावास्याया वा॥ ३०॥

अमावास्यायाः —५।१।वा [अ.प.]।अप्राप्तविभाषेयम्।अमावास्या शब्दः सन्धिवेलादिषु पठ्यते, तस्मादणि प्राप्ते वुन् विकल्प्यते। सप्तमीसमर्थाद्

अमावास्या प्रातिपदिकाज्जातार्थे विकल्पेन वुन् प्रत्ययो भवति। पक्षेऽण्। अमावास्यकः। आमावास्यः। एकदेशविकृतमनन्यवद् भवतीत्यमावस्याशब्द स्यापि ग्रहणम्। अमावस्यकः। आमावस्यः॥ ३०॥

भाषार्थ— इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है। अमावास्या शब्द सन्धिवेलादि मे पठित है, उस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति में यह 'वुन्' का विकल्प किया गया है। सप्तमी समर्थ 'अमावस्या' प्रातिपदिक से जात अर्थ में विकल्प से 'वुन्' प्रत्यय होता है और पक्ष में अण्। जैसे—अमावास्यकः। आमावास्यः। एकदेशविकृत होने पर भिन्नता नहीं मानी जाती है, इस न्याय* से अमावस्या शब्द से भी यह प्रत्यय हो जाता है। जैसे—अमावस्यकः। आमावस्यः॥ ३०॥

अ च॥ ३१॥

अमावास्याया इत्यनुवर्तते। अ —१।१। च [अ.प.]। सप्तमीसमर्थाद् अमावास्याप्रातिपदिकाज् जातार्थेऽकारप्रत्ययो भवति। अमावास्यायां जातः अमावास्यः। अमावस्यः॥ ३१॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'अमावस्यायाः' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ अमावास्या प्रातिपदिक से जात अर्थ में अकार प्रत्यय होता है। जैसे—अमावास्यायां जातः अमावास्यः। अमावस्यः॥ ३१॥

सिन्ध्वपकराभ्यां कन्॥ ३२॥

सिन्ध्वपकराभ्याम् —५।२। कन् —१।१। सिन्धुशब्दः कच्छादिषु पठितस्तस्मादण्वुञोरपवादः। अपकरशब्दाद् औत्सर्गिकेऽणि प्राप्तेऽपवादः। सप्तमीसमर्थाभ्यां सिन्धु-अपकराभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां जातार्थे कन् प्रत्ययो भवति। सिन्धुकः। अपकरकः॥ ३२॥

भाषार्थ—सिन्धु शब्द कच्छादि गण में पठित होने से अ० ४।२ १३१ १३२ सूत्रों से प्राप्त अण् और वुञ् का अपवाद यह विधान किया है। और अपकर शब्द से सामान्य अण् का यह बाधक है। सप्तमी समर्थ सिन्धु और अपकर प्रातिपदिकों से जात अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है। जैसे—सिन्धुकः। अपकरकः॥ ३२॥

अणञौ च॥ ३३॥

सिन्ध्वपकराभ्यामित्यनुवर्त्तते। अण्-अञौ —१।२। च [अ.प.]। पृथग्योगकरणं यथासंख्यार्थम्। अन्यथा द्वाभ्यामपि त्रयः स्युः। सप्तमी-समर्थाभ्यां सिन्धु-अपकरप्रातिपदिकाभ्यां यथासंख्यम् अण्-अञौ प्रत्ययौ जातार्थे भवतः। सैन्धवः। आपकरः॥ ३३॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'सिन्ध्वपकराभ्याम्' पद की अनुवृत्ति है। पृथक् सूत्र बनाने का प्रयोजन यथासंख्य प्रत्यय विधान करना है। अन्यथा दोनों शब्दों से तीनों प्रत्यय प्राप्त होते। सप्तमी समर्थ सिन्धु और अपकर प्रातिपदिकों से 'जात'

---

* एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति। यथा शुनः कर्णे पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभः। महाभाष्ये प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) इति सूत्रे पाठोऽयं दृश्यते क्वचित्। —सम्पादकः

अर्थ में यथासंख्य अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—सैन्धवः। आपकरः॥ ३३॥

श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढा-बहुलाल्लुक्॥ ३४॥

श्रविष्ठा........बहुलात् —५।१।लुक् —१।१।नक्षत्रवाचिभ्यः श्रविष्ठादि-प्रातिपदिकेभ्यो विहितस्य प्रत्ययस्य जातार्थे लुक् भवति। तस्मिन् सति 'लुक् तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक्। श्रविष्ठायां जातः श्रविष्ठः। फल्गुनः। अनुराधः। स्वातिः। तिष्यः। पुनर्वसुः। हस्तः। विशाखः। अषाढः। बहुलः।

वा०—लुक्प्रकरणे चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्॥ १॥

चित्रायां जाता चित्रा स्त्री। रेवती। रोहिणी। 'लुक् तद्धितलुकी' ति स्त्रीप्रत्ययस्य लुकि कृते गौरादित्वान् ङीष्॥ १॥

वा०—फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ॥ २॥

फल्गुनी-अषाढाभ्यां टानौ प्रत्ययौ भवतः। फल्गुन्यां जाता स्त्री फल्गुनी। प्रत्ययस्य टित्वान् ङीष्। अषाढा। अत्र अन् प्रत्ययान्तात् स्त्रियां टाप्॥ २॥

वा०—श्रविष्ठाषाढाभ्यां छण्॥ ३॥

श्रविष्ठायां जाताः श्राविष्ठीयाः। आषाढीयाः॥ ३॥ ३४॥

भाषार्थ—नक्षत्रवाची श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढा, बहुल, इन प्रातिपदिकों से विहित प्रत्यय का लुक् होता है। और तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर 'लुक् तद्धितलुकि' (अ० १।२।४९) सूत्र से स्त्री प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। जैसे—श्रविष्ठायां जातः श्रविष्ठः। फल्गुनः। अनुराधः। स्वातिः। तिष्यः। पुनर्वसुः। हस्तः। विशाखः। अषाढः बहुलः।

वा०—लुक्प्रकरणे चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्॥ १॥

जातार्थ प्रकरण में नक्षत्रवाचियों से प्रत्यय के लुक् विधान में चित्रा, रेवती, रोहिणी शब्दों से विहित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—चित्रायां जाता चित्रा स्त्री। रेवती। रोहिणी। यहाँ सूत्रोक्त शब्दों की भाँति तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर स्त्री प्रत्ययों का भी लुक् हो जाता है। तत्पश्चात् स्त्रीत्व विवक्षा में चित्रा में टाप् तथा रेवती, रोहिणी में गौरादिगण में पाठ होने से 'ङीष्' प्रत्यय होता है॥ १॥

वा०—फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ॥ २॥

पूर्व वार्त्तिक से 'स्त्रियाम्' की यहाँ अनुवृत्ति है। फल्गुनी और अषाढा नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से यथासंख्य ट और अन् प्रत्यय होते हैं। जैसे—फल्गुन्यां जाता स्त्री फल्गुनी। यहाँ प्रत्यय के टित् से ङीष् हुआ है। अषाढा। यहाँ अन् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय है।

वा०—श्रविष्ठाषाढाभ्यां छण्॥ ३॥

श्रविष्ठा और अषाढा प्रातिपदिकों से जातार्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है जैसे—श्राविष्ठीयाः। आषाढीयाः॥ ३॥ ३४॥

स्थानान्तगोशालखरशालाच्च॥ ३५॥

स्थानान्त........खरशालात् —५।१।च [अ.पं.]। स्थानान्तात् प्रातिपदिकाद् गोशालात् खरशालाच्च प्रातिपदिकाज्जातार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति। अश्वस्थाने जातः अश्वस्थानः। हस्तिस्थानः। गोशाले जातो गोशालः। खरशालः॥ ३५॥

भाषार्थ—स्थान शब्द जिसके अन्त में है, उन प्रातिपदिकों से और गोशाल तथा खरशाल प्रातिपदिकों से जात अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—अश्वस्थाने जातः अश्वस्थानः। हस्तिस्थानः। गोशाले जातो गोशालः। खरशालः। यहाँ जातार्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय का लुक् हुआ है। 'गोशाल' शब्द में 'विभाषा सेनासुरा०' (अ० २।४।२५) सूत्र से नपुंसक लिङ्ग होने से ह्रस्व हुआ है॥ ३५॥

वत्सशालाऽभिजिदश्वयुक्छतभिषजो वा॥ ३६॥

वत्सशाला........भिषजः —५।१।वा—[अ०प०]। प्राप्ताप्राप्त विभाषेयम्। वत्सशालाद् अप्राप्तोऽभिजिदादिभ्यश्च बहुलं प्राप्तो लुक् विकल्प्यते। वत्सशालादिभ्यो विहितस्य जातार्थप्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति। वत्सशालायां जातो वत्सशालः। वात्सशालः। अभिजित्। आभिजितः। अश्वयुक्। आश्वयुजः। शतभिषक्। शातभिषजः॥ ३६॥

भाषार्थ—यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। वत्सशाला शब्द से अप्राप्त लुक् तथा अभिजिदादि शब्दों के नक्षत्रवाची होने से 'नक्षत्रेभ्यो०' (अ० ४।३।३७) से बहुल करके लुक् प्राप्त है, उसका इससे विकल्प किया गया है। वत्सशालादि प्रातिपदिकों से जातार्थ में विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। जैसे—वत्सशालायां जातो वत्सशालः। वात्सशालः। अभिजित्। आभिजित। अश्वयुक्। आश्वयुजः। शतभिषक्। शातभिषजः॥ ३६॥

नक्षत्रेभ्यो बहुलम्॥ ३७॥

नक्षत्रेभ्यः —५।३।बहुलम् —१।१।नक्षत्रवाचिभ्यः शब्देभ्यो विहितस्य जातार्थस्य प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति। भरण्यां जातो भरणी। कृत्तिकः। तैषः, पौषः, इत्यत्र लुक् न भवति। मृगशिराः। मार्गशीर्षः। क्वचिद् भवति क्वचिन्नापि॥ ३७॥

भाषार्थ—नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से जातार्थ में विहित प्रत्यय का बहुल करके लुक् होता है। जैसे—भरण्यां जातो भरण्यः। कृत्तिकः। इनमें नित्यलुक् हुआ है। तैषः। पौषः। इनमें लुक् नहीं हुआ। मृगशिराः। मार्गशीर्षः। यहाँ विकल्प से लुक् हुआ है, यह सब बहुल का प्रपञ्च है। 'मार्गशीर्षः' में शिरस् के स्थान पर शीर्षादेश 'अचि शीर्षः' (अ० ६।१।६१ वा०) से हुआ है॥ ३७॥

कृतलब्धक्रीतकुशलाः॥ ३८॥

लुक्प्रकरणं निवृत्तम्। तत्रेत्यनुवर्त्तते। कृतलब्धक्रीतकुशलाः —१।३।

कृतादयः प्रत्ययार्था निर्दिश्यन्ते। सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् कृताद्यर्थेषु यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। राष्ट्रे कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। स्रौघ्नः। माथुरः। एवं सर्वे घादयः॥ ३८॥

भाषार्थ—लुक् का प्रकरण यहां निवृत्त हुआ। 'तत्र' पद की अनुवृत्ति है। कृतादि से प्रत्ययार्थों का निर्देश किया गया है। सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से कृतादि अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—राष्ट्रे कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। स्रौघ्नः। माथुरः। इस प्रकार सब घादि के उदाहरण समझने चाहियें॥ ३८॥

प्रायभवः॥ ३९॥

तत्रेत्यनुवर्तते। प्रायभवः —१।१। प्रायेण बाहुल्येन भवतीति प्रायभवः।

भा०—अनित्यभवः प्रायभवः। नित्यभवस्तत्र भवः। अर्थाद् बहुधा यत्र भवति, न्यूनतया यत्र न भवति स प्रायभव इत्युच्यते। सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रायभव इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्ने प्रायभवः स्रौघ्नः। माथुरः। स्रौघ्नाः प्राकारा इति नित्यभवाः। अत्र तु विशेषो नास्ति, परन्तु तत्र भवाधिकारे याभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रत्यया विधीयन्ते प्रायभवे ताभ्योऽन्य एव प्रत्यया भवन्ति॥ ३९॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' पद की अनुवृत्ति है। 'प्रायभव' का अर्थ है जो बाहुल्य से होता है। इसमें महाभाष्य का प्रमाण भी द्रष्टव्य है। जो बाहुल्य से होता है, न्यूनता से नहीं, वह प्रायभव कहलाता है। सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से प्रायभव अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। माथुरः। स्रौघ्नाः प्राकाराः। यह नित्यभव का उदाहरण है। यद्यपि इन उदाहरणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु 'तत्र भवः' के अधिकार में जिन प्रकृतियों से प्रत्ययों का विधान किया है, उनसे प्रायभव अर्थ में दूसरे प्रत्यय ही होते हैं। ३९॥

उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्॥ ४०॥

प्रायभव इत्यनुवर्त्तते। उपजानूपकर्णोपनीवेः —५।१। ठक् —१।१। जानुनः समीपम् उपजानु। समीपार्थे उप जान्वादीनामव्ययीभावः। सप्तमी-समर्थेभ्यः उपजान्वादिभ्यः प्रायभव इत्यस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। उपजानु प्रायभवः औपजानुकः। औपकर्णिकः। औपनीविकः॥ ४०॥

भाषार्थ—यहाँ 'प्रायभवः' पद की अनुवृत्ति है। उपजानु आदि शब्दों में समीपार्थ में अव्ययीभाव समास है। सप्तमी समर्थ उपजानु, उपकर्ण, उपनीवि, प्रातिपदिकों से प्रायभव अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—उपजानु प्रायभवः औपजानुकः। 'इसुसुक्तान्तात् कः' (७।३।५१) सूत्र से 'ठ' को क आदेश हुआ है। औपकर्णिकः। औपनीविकः॥ ४०॥

सम्भूते॥ ४१॥

तत्रेत्यनुवर्त्तते, प्रायभव इति निवृत्तम्। [सम्भूते—७।१] सम्भूतः

सम्भवः। प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धो गृह्यते। सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् सम्भूत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। राष्ट्रे सम्भूतो राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। शालीयः। मालीयः॥ ४१ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' पद की अनुवृत्ति है। प्रायभव अर्थ निवृत्त हो गया है [अर्थान्तर के कहने में] 'सम्भूत' शब्द का अर्थ सम्भव होना है। और वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है। सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से सम्भूत (सम्भव) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—राष्ट्रे सम्भूतः (सम्भवति) राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। शालीयः। मालीयः। इत्यादि॥ ४१ ॥

कोशाड् ढञ्॥ ४२ ॥

सम्भूत इत्यनुवर्तते। कोशात् —५। १। ढञ् —१। १। धनादिसमुदायवाची कोशशब्दोऽत्र न गृह्यते, किन्तु प्रकृतिकारणवाची कोशशब्दः। तत्रापि सूत्रवस्त्रयोः कारणविशेषस्य संज्ञेयम्। प्राकृतभाषायां 'रेशम' इत्युच्यते, तस्य यत्कारणं तत्कोशशब्देनोच्यते। सप्तमीसमर्थात् कोशप्रातिपदिकात् सम्भूतेऽर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति। कोशे सम्भवति वस्त्रं सूत्रं वा कौशेयम्। अन्यद् यत् किमपि तस्मात्कारणाद् भस्म, क्रिमिश्च, तत्र न भवति। कुतः। लोकप्रामाण्यात्। लौकिकमर्थं प्रत्याय्य शब्दाः प्रयुज्यन्ते। कौशेय-शब्दः सूत्रे वस्त्रे च प्रयुज्यते॥ ४२ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'सम्भूते' पद की अनुवृत्ति है। यहाँ कोश शब्द से धनादि-समुदायवाची का ग्रहण नहीं है, किन्तु प्रकृति या कारणवाची कोश शब्द का ग्रहण है और कारण अर्थ में भी सूत्र-वस्त्र रूप विकार के कारणविशेष की कोश संज्ञा है प्राकृतभाषा में जिसे रेशम कहते हैं, उसके कारण को कोश शब्द से यहाँ कहा गया है। सप्तमीसमर्थ कोश प्रातिपदिक से सम्भूत अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। कोशे सम्भवति वस्त्रं सूत्रं वा कौशेयम्। और उस कारण से वस्त्र या सूत्र से भिन्न जो क्रिमि—रेशम का कीडादि होता है, उसके लिये इस शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं होता, क्योंकि शब्द प्रयोग में लोक प्रामाण्य* होता है। लोक में क्रिमि आदि के लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। लौकिक अर्थों को बताने के लिये ही शब्दों का प्रयोग होता है और यह 'कौशेय' शब्द सूत्र=रेशम के धागे अथवा रेशमी वस्त्र के लिये ही प्रयुक्त होता है॥ ४२ ॥

कालात् साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु॥ ४३ ॥

कालात् —५। १। साधुपुष्प्यत् पच्यमानेषु —७। ३। पुष्प्यदिति पुष्प विकसने इति दैवादिकस्य शत्रन्तः प्रयोगः। कालविशेषवाचिनः सप्तमी-

---

* इस विषय में महाभाष्य का प्रमाण द्रष्टव्य है 'विकारे कोशाद् ढञ् वक्तव्यः। सम्भूत इत्युच्यमानेऽर्थस्यानुपपत्तिः स्यात्। न ह्यदः कोशे सम्भवति। किन्तर्हि? कोशस्यादो विकार यदि विकार इत्युच्यते भस्मन्यपि प्राप्नोति। भस्मापि कोशस्य विकारः। अथ सम्भूत इति ह्युच्यमाने क्रिमौ कस्मान्न भवति। क्रिमिरपि कोशे सम्भवति। अनभिधानात्। यथैव तर्हि-अनभिधानात् क्रिमौ न भवत्येवं भस्मन्यपि न भविष्यति।' —अनुवादक

समर्थात् प्रातिपदिकात् साध्वादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। हेमन्ते साधूनि हैमन्तानि वासांसि। वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्ताः पलाशाः। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः॥ ४३॥

भाषार्थ—सूत्र से 'पुष्प्यत्' प्रयोग 'पुष्पविकसने' दिवादिगणीय धातु से शतृ प्रत्ययान्त का है। कालविशेषवाची सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से साधु आदि अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे हेमन्ते साधूनि हैमन्तानि वासांसि। वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्ताः पलाशाः। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः॥ ४३॥

उप्ते च॥ ४४॥

तत्रेत्यनुवर्तते कालादिति च। उप्ते—७।१। च [अ०प०]। सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् उप्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। संधिवेलाया मुप्यन्ते सान्धिवेलाः। त्रयोदश्यामुप्ता गोधूमास् त्रायोदशाः। चातुर्दशाः। शिशिरे उप्यन्त इक्षवः शैशिराः। पृथग्योग उत्तरार्थः॥ ४४॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' और 'कालात्' पदों की अनुवृत्ति है। सप्तमीसमर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से उप्त (बोने) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—संधिवेलायामुप्यन्ते सान्धिवेलाः। त्रयोदश्यामुप्ता गोधूमा त्रायोदशाः। चातुर्दशाः। शिशिरे उप्यन्त इक्षवः शैशिराः। पृथक् योग बनाने का प्रयोजन उत्तरार्थ है॥ ४४॥

आश्वयुज्या वुञ्॥ ४५॥

आश्वयुज्याः—५।१। वुञ्—१।१। अणोऽपवादः। अश्वयुजाऽश्विनी-नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी। सप्तमीसमर्थाद् आश्वयुजीप्रातिपदिकाद् उप्तेऽर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। आश्वयुज्यामुप्यन्त आश्वयुजका यवाः॥ ४५॥

भाषार्थ—यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। अश्वयुक् अश्विनी नक्षत्र का पर्यायवाची है, उससे युक्तपौर्णमासी को आश्वयुजी कहते हैं। सप्तमी समर्थ आश्वयुजी प्रातिपदिक से उप्त (बोने) अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—आश्वयुज्यामुप्यन्ते आश्वयुजका यवाः॥ ४५॥

ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्॥ ४६॥

वुञ् अनुवर्त्तते। ग्रीष्मवसन्तात्—५।१। अन्यतरस्याम् [अ०]। अप्राप्त विभाषेयम् ऋत्वणि प्राप्ते वुञ् विकल्प्यते। सप्तमीसमर्थाभ्यां ग्रीष्मवसन्ताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन वुञ् प्रत्ययो भवति। पक्षे चाण्। ग्रीष्मे उप्ता ग्रैष्मका ग्रैष्मा वा माषाः। वासन्तका वासन्ता वेक्षवः। उप्ताधिकारोऽत्र निवृत्तः॥ ४६॥

भाषार्थ—यहाँ वुञ्' की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। ऋतुवाची होने से 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति में 'वुञ् प्रत्यय का विकल्प किया है। सप्तमीसमर्थ ग्रीष्म वसन्त प्रातिपदिकों से विकल्प से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। पक्ष में यथाप्राप्त अण् होता है जैसे—ग्रीष्मे उप्ता ग्रैष्मका ग्रैष्मा वा माषाः। वासन्तका वासन्ता वा इक्षवः 'उप्ते' का अधिकार यहीं समाप्त है॥ ४६॥

देयमृणे॥ ४७॥

तत्रेत्यनुवर्त्तते। देयम् —१।१। ऋणे —७।१। सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् देयमित्यर्थे ऋणेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वैशाखे देयमृणं वैशाखम्। मासे देयं मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। प्रावृषि देयमृणं प्रावृषेण्यम्। ऋण इति किम्—मुहूर्त्ते देयं भोजनम्॥ ४७॥

भाषार्थ-यहाँ 'तत्र' पद की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से देयमृणे=देय ऋण के अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—वैशाखे देयमृणं वैशाखम्। मासे देयमृणं मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। प्रावृषि देयमृण प्रावृषेण्यम्। सूत्र में 'ऋणे' पद इस लिये है कि ऋण से भिन्न देय अर्थ में प्रत्यय न हो। जैसे—मुहूर्त्ते देयं भोजनम्॥ ४७॥

कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन्॥ ४८॥

कलाप्यश्वत्थयवबुसात् —५।१। वुन् —१।१। कलापिशब्दो मयूरपर्यायः। अश्वत्थशब्दो वृक्षवाची। यवानां बुसं यवबुसम्। तत्र कालवाचिनोऽसम्भवात् कलाप्यादिसंचरितः कालो गृह्यते। कलापि, अश्वत्थ, यवबुस, इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तमी समर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो [देयमृणे इत्यस्मिन्नर्थे] वुन् प्रत्ययो भवति। बहुधा कलापिनो भवन्त्यस्मिन् काले स कलापी तस्मिन् कलापिनि देयमृणं कलापकम्। अश्वत्थाः फलन्त्यस्मिन् काले सोऽश्वत्थस्तस्मिन् देयमृणम् अश्वत्थकम्। यवबुसं सम्पद्यतेऽस्मिन्काले तत्र देयमृणं यवबुसकम्। अप्राप्तोऽत्र वुन् विधीयते॥ ४८॥

भाषार्थ—कलापी शब्द मयूर का पर्यायवाची है। अश्वत्थ शब्द वृक्ष (पीपल) वाची है। और यवबुस जौ का भुस्सा (भूसा) होता है। ये शब्द कालवाची न होने से यहाँ साहचर्य वृत्ति से सम्बद्ध काल का ग्रहण किया गया है। साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति (महा०) यह महाभाष्य का वचन इस अर्थ की पुष्टि करता है। सप्तमी समर्थ कालवाची कलापी अश्वत्थ, यवबुस, प्रातिपदिकों से देय ऋण अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है। जिस समय मोर अधिकता से होते हैं वह कालापी अर्थात् मयूर के पुच्छस्थ चन्दे बढ़ते हैं, उस काल को कलापी कहते हैं। जिस समय अश्वत्थ=पीपल पर फल आता है, उसको अश्वत्थ काल और जब यवों का भुस्सा तैयार होता है उसको यवबुसकाल कहते हैं। जैसे—कलापिनि देयमृणं कलापकम्। अश्वत्थे देयमृणम्=अश्वत्थकम्। यवबुसे देयमृणं यवबुसकम्। यहाँ अप्राप्त 'वुन्' प्रत्यय का विधान किया गया है॥ ४८॥

ग्रीष्मावरसमाद् वुञ्॥ ४९॥

ग्रीष्मावरसमात् —५।१। वुञ् —१।१। समायाः=वर्षस्यावरभागोऽवरसमम्। सप्तमीसमर्थाभ्यां कालवाचिभ्यां ग्रीष्म-अवरसमाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां देयमृणेऽर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्। आवरसमकम्॥ ४९॥

भाषार्थ—वर्ष के पिछले (अन्तिम भाग) को 'अवरसमम्' कहते हैं। सप्तमीसमर्थ कालवाची ग्रीष्म और अवरसम प्रातिपदिकों से देय ऋण अर्थ में

'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्। आवरसमकम्॥ ४९॥

संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च॥ ५०॥

वुञ् चादनुवर्त्तते। संवत्सर-आग्रहायणीभ्याम् —५।२। ठञ् —१।१। च [अ०प०]। सप्तमीसमर्थाभ्यां संवत्सर-आग्रहायणीभ्यां कालवाचिप्रातिपदिकाभ्यां देयमृणे इत्यस्मिन्नर्थे ठञ्-वुञौ प्रत्ययौ भवतः। संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम्। साम्वत्सरकम्। आग्रहायणिकम् आग्रहायणकम्। अण् प्राप्तः स बाध्यते॥ ५०॥

भाषार्थ—यहाँ चकार से वुञ् की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ कालवाची संवत्सर और आग्रहायणी प्रातिपदिकों से ऋण देने अर्थ में ठञ् और वुञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम्। सांवत्सरकम्। आग्रहायणिकम्। आग्रहायणकम्। यह 'सन्धिवेलादि०' (४।३।१६) सूत्र से प्राप्त 'अण्' का बाधक है॥ ५०॥

व्याहरति मृगः॥ ५१॥

[व्याहरति—क्रि०प०।] मृगः —१।१। प्रत्ययार्थनिर्देशोऽयम्। सप्तमी-समर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् व्याहरति क्रियायां मृगे कर्त्तर्यभिधेये यथा विहितं प्रत्ययो भवति। निशायां व्याहरति मृगः नैशिकः। नैशः। प्रादोषिकः। प्रादोषः। 'निशाप्रदोषाभ्यां च' ति वा ठञ्। प्रावृषि व्याहरति मृगः प्रावृषेण्यः। कार्त्तिकः॥ ५१॥

भाषार्थ—इस सूत्र में प्रत्ययार्थ का निर्देश है। सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से व्याहरति क्रिया का मृग कर्त्ता वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—निशायां व्याहरति मृगः नैशिकः। नैशः। प्रादोषिकः। प्रादोषः। यहाँ 'निशाप्रदोषाभ्यां च' (४।३।१४) सूत्र से विकल्प से ठञ् प्रत्यय हुआ है। प्रावृषि व्याहरति मृगः प्रावृषेण्यः। कार्त्तिकः॥ ५१॥

तदस्य सोढम्॥ ५२॥

कालादित्यनुवर्त्तते तत्रेति निवृत्तम्। तत् —१।१। अस्य —६।१। सोढम् —१।१। तदिति प्रथमासमर्थात् कालवाचिनः सोढसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अत्रापि सहचारोपाधिना कालवाचि सोढसमानाधिकरणं प्रातिपदिकं प्रतिपद्यते। निशा सहचरितमध्ययनं निशा, तत्सोढमस्य नैशिको नैशो वा छात्रः। ग्रीष्मः सोढमस्य ग्रैष्मः। वासन्तः। हेमन्तसहचरितं शीतं सोढमस्य हैमन्तः॥ ५२॥

भाषार्थ—यहाँ 'कालात्' पद की अनुवृत्ति तथा 'तत्र' पद की निवृत्ति समझनी चाहिये। प्रथमासमर्थ कालवाची सोढ (अभ्यस्तं जितं वा) समानाधिकरण प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। यहाँ भी साहचर्यवृत्ति से सोढ समानाधिकरण प्रातिपदिक कालवाची माना गया है। जैसे—निशा सहचरित मध्ययनं निशा, तत्सोढमस्य नैशिको नैशो वा छात्रः। ग्रीष्मः सोढमस्य ग्रैष्मः।

वासन्तः। हेमन्तसहचरितं शीत सोढमस्य हैमन्तः, इत्यादि॥५२॥

तत्र भवः॥५३॥

तत्र [अ.प.]। भवः १।१। तत्रेत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तत्रग्रहणं कालाधिकारनिवृत्यर्थम्। सप्तमीसमर्थात् ङ्याप्प्रातिपदिकाद् भवार्थे यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। अश्वपतौ भव आश्वपतः। औत्सः। दैत्यः। आदित्यः। पृथिव्यां भवः पार्थिवः। वानस्पत्यः। स्त्रैणः। पौंस्नः। राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। ग्रामेयकः॥५३॥

भाषार्थ यहाँ पूर्वसूत्रों की भाँति ही 'तत्र' पद की अनुवृत्ति आ रही है, फिर दुबारा 'तत्र' का ग्रहण उससे सम्बद्ध कालाधिकार की निवृत्ति के लिये किया है। सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से भव=(होने) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—अश्वपतौ भवः आश्वपतः। औत्सः। दैत्यः। आदित्यः। पृथिव्यां भवः पार्थिवः। वानस्पत्यः। स्त्रैणः। पौंस्नः। राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। ग्रामेयकः। इत्यादि॥५३॥

दिगादिभ्यो यत्॥५४॥

दिगादिभ्यः —५।३। यत् —१।१। सप्तमीसमर्थेभ्यो दिगादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवार्थे यत् प्रत्ययो भवति। दिशि भवं दिश्यम्। वर्ग्यम्। अणोऽपवादः। अथ दिगादिगणः—दिश्। वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाय्या। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। देश। आदि। अन्त। मुख। जघन। मेघ। यूथ। उदकात् संज्ञायाम्। उदक्या रजस्वला स्त्री। संज्ञायामिति किम्—औदको मत्स्यः। न्याय। वंश। अनुवंश। विश। काल। अप्। आकाश। इति दिगादिगणः॥५४॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ दिगादि प्रातिपदिकों से भवार्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—दिशि भवं दिश्यम्। वर्ग्यम् इत्यादि। यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है॥५४॥

शरीरावयवाच्च॥५५॥

शरीरावयवात् —५।१।च [अ.प.]।'यत्' अनुवर्त्तते।शरीरस्यावयवा इन्द्रियादयः। सप्तमीसमर्थाच्छरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकाद् भवार्थे यत् प्रत्ययो भवति।दन्तेषु भवं दन्त्यम्।ओष्ठ्यम्।हनव्यम्।हृद्यम्।नाभ्यम्॥५५॥

भाषार्थ—'यत्' प्रत्यय की यहाँ अनुवृत्ति है। शरीर के अवयव इन्द्रियादि है। सप्तमीसमर्थ शरीरावयववाची प्रातिपदिकों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे दन्तेषु भवं दन्त्यम्। ओष्ठ्यम्। हनव्यम्। हृद्यम्। नाभ्यम् इत्यादि॥५५॥

दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्॥५६॥

दृति.......स्त्यहेः —५।१।ढञ् —१।१।कुक्षि शब्दः शरीरावयववाची, तस्माद् यतोऽपवादः। अन्येभ्योऽणादीनाम्। सप्तमी समर्थेभ्यो दृत्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवार्थे ढञ् प्रत्ययो भवति। दृतौ भवं दार्त्तेयम्। कौक्षेयम्।

कालशेयम्। वास्तेयम्। आस्तेयम्। आहेयम्। अस्ति शब्दः प्रातिपदिकं गृह्यते न तु तिङन्तम्॥५६॥

भाषार्थ—यहाँ सूत्र में 'कुक्षि' शब्द शरीर अवयव वाची है, उससे यत् प्राप्त था, उसका ढञ् अपवाद विधान किया है और दूसरे शब्दों से अणादि प्रत्ययों का अपवाद है। सप्तमी समर्थ दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि, इन प्रातिपदिकों से भवार्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। जैसे—दृतौ भवं दार्तेयम्। कौक्षेयम् कालशेयम्। वास्तेयम्। आस्तेयम्। आहेयम्। यहाँ अस्ति शब्द प्रातिपदिक है, तिङन्तरूप नहीं॥५६॥

ग्रीवाभ्योऽण् च॥५७॥

चकाराड् ढञ् अनुवर्त्तते। ग्रीवाभ्यः —५।३। अण् —१।१। च [अ.प.] । ग्रीवाभ्य इति जात्याख्यायां बहुवचनम्। शरीरावयवाद् यत् प्राप्तः स बाध्यते। सप्तमीसमर्थाद् ग्रीवाप्रातिपदिकाद् भवार्थेऽण्-ढञौ प्रत्ययौ भवतः। ग्रीवासु भवं ग्रैवम्। ग्रैवेयम्॥५७॥

भाषार्थ—यहाँ चकार पद से 'ढञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है, ग्रीवा शब्द से जात्याख्या में बहुवचन है। ग्रीवा शब्द से शरीरावयव वाची होने से यत् प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह बाधक है। सप्तमी समर्थ ग्रीवा प्रातिपदिक से भवार्थ मे अण् और ढञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—ग्रीवासु भवं ग्रैवम्। ग्रैवेयम्॥५७॥

गम्भीराञ्ज्यः॥५८॥

गम्भीरात् —५।१।ञ्यः —१।१।सप्तमीसमर्थाद् गम्भीर-प्रातिपदिकाद् भवार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति। गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्॥५८॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ 'गम्भीर' प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। जैसे—गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्॥५८॥

अव्ययीभावाच्च॥५९॥

ञ्य इत्यनुवर्त्तते। अव्ययीभावात् —५।१।च [अ.प.] ।सप्तमीसमर्थाद् अव्ययीभावसंज्ञकात् प्रातिपदिकाद् भवार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति।

वा०—ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्॥१॥

सूत्रेण सामान्येन विहितस्य प्रत्ययस्य वार्त्तिकेन नियमः क्रियते। अव्ययीभावसंज्ञकेभ्यः परिमुखादिभ्य एव ञ्यः प्रत्ययो भवति। परिमुखे भवं परिमुख्यम्। पार्य्योष्ठ्यम्। परिहनव्यम्। परिमुखादिभ्य इति किमर्थम्—उपकूलादिभ्यो मा भूत्। औपकूलः। औपशालः। वार्त्तिकानां सूत्रकालावच्छेदित्वात् सूत्रगणे वार्तिकगणः। अथ परिमुखादयः—परिमुख। पर्योष्ठ। परिहनु। पर्य्युलू। खल। परिसीर। अनुसीर। उपसीर। उपस्थल। उपकलाप। अनुपथ। अनुखड्ग। अनुतिल। अनुशीत। अनुमाज। अनुयव। अनुयूप। अनुवंश। प्रतिशाख। इति परिमुखादयः॥५९॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से 'ञ्य' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ अव्ययीभाव

संज्ञक प्रातिपदिकों से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है।

वा०—ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्॥ १॥

सूत्र से अव्ययीभावों से सामान्यरूप से विहित प्रत्यय का वार्त्तिक से नियम किया गया है। अव्ययीभाव संज्ञकों में परिमुखादि प्रातिपदिकों से ही 'ञ्य' प्रत्यय होता है, अन्यों से नहीं। जैसे—परिमुखं भवं पारिमुख्यम्। पार्य्योष्ठ्यम्। पारिहनव्यम्। यहाँ परिमुखादि का परिगणन इसलिये है कि—उपकूलादि से 'ञ्य' प्रत्यय न हो—औपकूल:। औपशाल:। वार्त्तिक सूत्रों के सूत्रकालीन होने से सूत्रगण में वार्त्तिकगण आ जाता है॥ ५९॥

अन्त:पूर्वपदाट् ठञ्॥ ६०॥

अव्ययीभावादित्यनुवर्त्तते। अन्त:पूर्वपदात् —५।१। ठञ् —१।१। परिमुखादिभ्य नियमादन्त:पूर्वपदाद् अण् प्राप्त: स बाध्यते। सप्तमीसमर्थाद् अन्त:पूर्वपदादव्ययीभाव-संज्ञक-प्रातिपदिकाद् ठञ् प्रत्ययो भवार्थे भवति। आन्तर्वेश्मिकम्। आन्त:सद्मिकम्। आन्तर्गेहिकम्।

का०— समानस्य तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते।
ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च॥ १॥
मुखपार्श्वतसोरीय: कुग्जनस्य परस्य च।
ईय: कार्योऽथ मध्यस्य मणमीयौ प्रत्ययौ तथा॥ २॥
मध्यो मध्यं दिनण्चास्मात्स्थाम्नो लुगजिनात्तथा।
बाह्यो दैव्य: पांचजन्योऽथ गम्भीराञ्ञ्य इष्यते॥ ३॥

समानात् समानादेश्च प्रातिपदिकाद् ठञ् प्रत्ययो भवति। समाने भव: सामानिक:। तदादे:—सामानग्रामिक:। सामानदेशिक:। अध्यात्मादिप्रातिपदिकेभ्यश्च ठञ् प्रत्यय इष्यते। आध्यात्मिकम्। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऊर्ध्वं पूर्वपदाभ्यां दम-देहाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां ठञ् प्रत्यय:। और्ध्वदमिकम्। और्ध्वदेहिकम्। लोकोत्तरपदात् प्रातिपदिकाद् ठञ् प्रत्यय:। इह लोके भवम् ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। अत्रानुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धि:॥ १॥

मुखपार्श्वाभ्यां तसन्ताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामीय: प्रत्ययो भवति। छे कर्त्तव्ये छन्द: पूर्त्यर्थमीय: प्रत्यय:। मुखतीयम्। पार्श्वतीयम्। अव्ययानां सायं प्रातिकाद्यर्थमिति वार्तिकेन (६।४।१४४) टिलोप:। जनपरप्रातिपदिकाभ्यामीय: प्रत्ययस्तयो: कुगागमश्च। जनकीय:। परकीय:। मध्यप्रातिपदिकादीय: प्रत्यय: कार्य:। मध्ये भवो मध्यीय:। तथा मध्यप्रातिपदिकान् मणमीयौ भवत:। माध्यम:। मध्यमीय:। गहादिषु मध्यमीय इति साधितं तत्र पृथिवीमध्यस्य मध्यमादेश:। अत्र तु केवलान्मध्यशब्दान्मीयप्रत्यय:॥ २॥

मध्यशब्दो मध्यमिति मकारान्तभावमापद्यते, तस्मान्मान्ताद् दिनण् प्रत्ययश्च भवति। मध्ये भवो माध्यन्दिन उपगायति। स्थामन्शब्दान्तात् प्रातिपदिकाद् विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। अश्वत्थामनि भवोऽश्वत्थामा। अत्र

पृषोदरादित्वात् सकारस्य तकारादेशः। तथा अजिनान्तात् प्रातिपदिकाद् विहितस्य भवार्थस्य प्रत्ययस्य लुक्। कृष्णाजिने भवः कृष्णाजिनः। उष्ट्राजिनः। सिंहाजिनः। व्याघ्राजिनः। गम्भीर शब्दाद् यथा ञ्यः प्रत्ययो भवति तथाऽस्मिन् भवार्थे-बाह्यः, दैव्यः, पांचजन्यः। इति शब्दत्रये * ञ्यः प्रत्यय इष्यते। बहिः शब्दाञ्ञ्यप्रत्ययस्तस्य टिलोपश्च। देवपञ्चजनाभ्यां च ञ्यः॥ ६०॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'अव्ययीभावात्' की यहाँ अनुवृत्ति है। 'परिमुखादिभ्यः' इस नियम से गणपठित शब्दों से भिन्न अन्तः पूर्वपद अव्ययीभाव प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय ही प्राप्त होता है। यह सूत्र उस अण् का अपवाद है। सप्तमीसमर्थ अव्ययीभाव संज्ञक अन्तः पूर्वपद प्रातिपदिकों से भवार्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—अन्तर्वेश्मनि भवम् आन्तर्वेश्मिकम्। आन्तःसद्मिकम्। आन्तर्गेहिकम्। इस सूत्र पर तीन कारिकाएँ भी दी हैं, उनका अर्थ इस प्रकार है—

१. समान शब्द से और समान शब्द जिनके आदि में हों, उन प्रातिपदिकों से भवार्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—समाने भवः सामानिकः। तदादि से—समानग्रामिकः। समानदेशिकः इत्यादि। तथा अध्यात्मादि प्रातिपदिकों से भवार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—अध्यात्मनि भवमाध्यात्मिकम्। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। और मकारान्त 'ऊर्ध्वम्' शब्द जिसके पूर्व हो, ऐसे दम और देह प्रातिपदिकों से ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—उर्ध्व दमे भवम्-और्ध्वदमिकम्। और्ध्वदेहिकम्। और लोक शब्द जिनके उत्तर पद में हो उन प्रातिपदिकों से भी 'ठञ्' प्रत्यय हो। जैसे—इह लोके भवम्—ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। इन अधिदेवादि शब्दों के अनुशतिकादिगण में पाठ होने से उभयपद वृद्धि हुई है॥ १॥

२. तसि प्रत्ययान्त मुख और पार्श्व प्रातिपदिकों से भवार्थ में 'ईय' प्रत्यय होता है। 'छ' के स्थान पर ईयादेश हो जाता है, फिर 'ईय' का निर्देश कारिका में छन्दः पूर्ति के लिये ही किया गया है। जैसे—मुखतो भवं मुखतीयम्। पार्श्वतीयम्। यहाँ भसंज्ञा होने से 'अव्ययानां (६।४।१४४ वा०) से तसन्त अव्यय के टिभाग का लोप हुआ है। और जन तथा पर प्रातिपदिकों से ईय प्रत्यय और इन प्रातपदिकों को कुगागम भी होवे। जैसे—जने भवो जनकीयः। परकीयः। और मध्य प्रातिपदिक से ईय, मण, मीय प्रत्यय होते हैं। जैसे—मध्ये भवो मध्यीयः। माध्यमः। मध्यमीयः। यह मध्यमीय प्रयोग गहादि गण में भी सिद्ध किया है। वहाँ पृथिवीमध्य के स्थान पर मध्यमादेश हुआ है और यहाँ केवल 'मध्य' शब्द से 'मीय' प्रत्यय करके रूप बना है। इनमें यद्यपि शब्दभेद नहीं है, किन्तु दोनों में अर्थों का भेद है॥ २॥

३. और मध्य शब्द से भवार्थ में दिनण् प्रत्यय हो और 'मध्यम्' यह मकारान्त आदेश हो। जैसे –मध्ये भवो माध्यन्दिन उपगायति। और स्थामन् तथा अजिन शब्द जिनके अन्त में हों, उन प्रातिपदिकों से भवार्थ में विहित प्रत्यय का लुक्

* अत्र जयादित्येनैतत्त्रयप्रयोगसाधनाय 'गम्भीराञ्ञ्यः' (अ० ४।३।५८) सूत्रे वार्त्तिकमिदमुपन्यस्तम्—'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्।' एतच्चिन्त्यमेव। महाभाष्ये कारिकयैव प्रयोगानां साधनात्।

—अनुवादकः

होता है। जैसे—अश्वत्थामनि भवोऽश्वत्थामा। इस शब्द में पृषोदरादि से सकार को तकारादेश हुआ है। अजिनान्त से कृष्णाजिने भवः कृष्णाजिनः, उष्ट्राजिनः। सिंहाजिनः। व्याघ्राजिनः। और जैसे गम्भीर शब्द से भवार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है, वैसे ही 'बाह्यः, दैव्यः, पांचजन्यः' प्रयोगों में भी 'ञ्य' प्रत्यय इष्ट है। बहिः शब्द में 'ञ्य' प्रत्ययसन्नियोग से टिभाग का लोप होता है। और देव, पचजन शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय ही होता है॥ ६०॥

ग्रामात् पर्यनुपूर्वात्॥ ६१॥

ठञ् अनुवर्त्तते, अव्ययीभावादिति च। ग्रामात् —५।१। पर्यनुपूर्वात् —५।१। सप्तमीसमर्थात् पर्यनुपूर्वादव्ययीभावसंज्ञकाद् ग्रामात् प्रातिपदिकाद् भवार्थे 'ठञ्' प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। परिग्रामं भवः पारिग्रामिकः। अनुग्रामं भव आनुग्रामिकः॥ ६१॥

यहाँ ठञ् और 'अव्ययीभावात्' की अनुवृत्ति है। सप्तमीसमर्थ परि तथा अनु जिसके पूर्व में हो, उस ग्रामान्त अव्ययीभावसंज्ञक प्रातिपदिक से भवार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' का अपवाद है। जैसे परिग्रामं भवः पारिग्रामिकः। अनुग्रामं भव आनुग्रामिकः॥ ६१॥

जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः॥ ६२॥

अव्ययीभावादिति निवृत्तम्। जिह्वामूलाङ्गुलेः —५।१। छः —१।१। जिह्वामूलाङ्गुली शरीरावयवौ, ताभ्यां यतोऽपवादः। सप्तमी समर्थाभ्यां जिह्वामूलाङ्गुलिप्रातिपदिकाभ्यां भवार्थे छः प्रत्ययो भवति। जिह्वामूले भवं जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्॥ ६२॥

भाषार्थ—यहाँ 'अव्ययीभावात्' पद निवृत्त हो गया है। जिह्वामूल तथा अङ्गुलि दोनों शरीरावयव हैं, उनसे 'यत्' प्रत्यय की प्राप्ति में यह अपवाद विधान किया है। सप्तमी समर्थ जिह्वामूल और अङ्गुलि प्रातिपदिकों से भवार्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। जैसे—जिह्वामूले भवं जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्॥ ६२॥

वर्गान्ताच्च॥ ६३॥

छ इत्यनुवर्त्तते। वर्गान्तात् —५।१। च [अ.प.]। वर्गान्तात् सप्तमी-समर्थात् प्रातिपदिकाद् भवार्थे छः प्रत्ययो भवति। कवर्गीयम्। चवर्गीयम्। टवर्गीयम्॥ ६३॥

भाषार्थ—यहाँ 'छ' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ वर्गान्त प्रातिपदिकों से भवार्थ में छ प्रत्यय होता है। जैसे—कवर्गे भवं कवर्गीयम्। चवर्गीयम्। टवर्गीयम्॥ ६३॥

अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम्॥ ६४॥

वर्गान्तादित्यनुवर्त्तते। अशब्दे —७।१। यत्खौ —१।२। अन्यतरस्याम् [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। पूर्वेण वर्गान्ताच्छः प्राप्तो यत्खौ विकल्प्येते। अशब्द इति प्रत्ययार्थप्रतिषेधः। सप्तमीसमर्थाद् वर्गान्तात् प्रातिपदिकाद् अशब्दे

प्रत्ययार्थेऽभिधेये विकल्पेन यत्खौ प्रत्ययौ भवतः। पक्षे छः। अक्रूरवर्गे भवोऽक्रूरवर्ग्यः। अक्रूरवर्गीणः। अक्रूरवर्गीयः। वर्गान्ताद् वृद्धादपि परविप्रतिषेधाद् यत्खावेव भवतः। वासुदेववर्ग्यः। वासुदेववर्गीणः। वासुदेववर्गीयः। अशब्द इति किम्—कवर्गीयो वर्णः॥ ६४॥

भाषार्थ—यहाँ 'वर्गान्तात्' पद की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्त विभाषा है। पूर्वसूत्र से वर्गान्त प्रातिपदिक से छ प्रत्यय प्राप्त है, इससे यत् ख प्रत्ययों का विकल्प किया गया है। पक्ष में 'छ' भी होता है। 'अशब्दे' इस पद से प्रत्ययार्थ का निषेध है। सप्तमीसमर्थ वर्गान्त प्रातिपदिकों से, शब्द से भिन्न प्रत्ययार्थ अभिधेय हो तो विकल्प से 'यत्' और ख प्रत्यय होते हैं। पक्ष में 'छ' होता है। जैसे—अक्रूरवर्गे भवोऽक्रूरवर्ग्यः। अक्रूरवर्गीणः। अक्रूरवर्गीयः। वृद्धसंज्ञक वर्गान्त प्रातिपदिक से परविप्रतिषेध से यत् ख प्रत्यय ही होते हैं। जैसे—वासुदेववर्ग्यः। वासुदेववर्गीणः। वासुदेववर्गीयः। 'अशब्दे' का ग्रहण इसलिये है कि—कवर्गीयो वर्णः॥ यहाँ यत्, ख न होवें॥ ६४॥

कर्णललाटात् कनलङ्कारे॥ ६५॥

कर्णललाटात्—५।१। कन्—१।१। अलङ्कारे—७।१। शरीरावयवाद् यतोऽपवादः। सप्तमीसमर्थाभ्यां कर्ण-ललाटशब्दाभ्यां भवार्थेऽलङ्कारेऽभिधेये कन् प्रत्ययो भवति। कर्णिका। ललाटिका। अलङ्कार इति किम्। कर्ण्यम्। ललाट्यम्॥ ६५॥

भाषार्थ—यह सूत्र कर्ण ललाट शब्दों के शरीरावयव होने से यत् प्रत्यय का अपवाद है। सप्तमी-समर्थ कर्ण और ललाट शब्दों से भवार्थ में अलङ्कार अभिधेय में कन् प्रत्यय होता है। जैसे—कर्णिका। ललाटिका। यहाँ 'अलङ्कार' का ग्रहण इसलिये है कि कर्ण्यम्। ललाट्यम्। यहाँ कन् न होवे॥ ६५॥

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः॥ ६६॥

तत्र भव इत्यनुवर्त्तते। तस्य —६।१। व्याख्याने —७।१। इति [अ.प.]। च [अ.प.]। व्याख्यातव्यनाम्नः —५।१। चकारग्रहणाद् भवाधिकारः समुच्चीयते। व्याख्यातव्यस्य नाम व्याख्यातव्यनाम तस्मात्। व्याख्यायतेऽदो व्याख्यानम्। तस्येति षष्ठीसमर्थाद् व्याख्यातव्यनामवाचिनः प्रातिपदिकाद् व्याख्यान इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। व्याख्यातव्यनाम्नः सप्तमीसमर्थाद् भवार्थे च। सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः सौपः। तैङः। कार्त्तः। सुप्सु भवोऽनुबन्धः सौपः। तैङः। कार्त्तः। व्याख्यातव्यनाम्न इति किम्—पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानम्, अत्र न भवति। शब्दग्रन्थयोरेव व्याख्यानं विस्तरेण भवति॥ ६६॥

भाषार्थ—'तत्र भव' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। चकार से भवाधिकार का समुच्चय किया गया है। जिसकी व्याख्या करनी है, उसको 'व्याख्यातव्य' कहते हैं। और जो व्याख्या की जाती है वह व्याख्यान कहलाता है। षष्ठी समर्थ व्याख्या

तव्यनाम वाची प्रातिपदिकों से व्याख्यान अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। और सप्तमीसमर्थ व्याख्यातव्यनाम शब्दों से भवार्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे— सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः सौपः। तैङः। कृतां व्याख्यानो ग्रन्थः कार्तः। सुप्सु भवोऽनुबन्धः सौपः। तैङः। कार्तः। यहाँ 'व्याख्यातव्यनाम्नः' का ग्रहण इसलिये है कि—पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानम्। यहाँ प्रत्यय नहीं होता है। क्योंकि शब्द और ग्रन्थ का ही विस्तर से व्याख्यान होता है॥६६॥

बह्वचोऽन्तोदात्ताद् ठञ्॥६७॥

उभावप्यधिकारावनुवर्त्तेते। बह्वचः —५।१। अन्तोदात्तात् —५।१। ठञ् —१।१। षष्ठीसमर्थात् सप्तमीसमर्थाच्च बह्वचोऽन्तोदात्ताद् व्याख्यातव्यनाम्नः प्रातिपदिकाद् भव-व्याख्यानयोरर्थयोष्ठञ् प्रत्ययो भवति। षत्वणत्वयोर्व्याख्यानं षात्वणत्विकम्। षत्वणत्वयोर्भवं षात्वणत्विकम्। वार्तिकानां व्याख्यानं वार्त्तिकिकम्। षत्व-णत्व शब्दे समासस्यान्तोदात्तः। वार्त्तिकशब्दष्ठगन्तोऽन्तोदात्तः। बह्वच इति किम्—सौपम्। अन्तोदात्तादिति किम् संहितायाः व्याख्यानं सांहितम्। संहिताशब्दे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥६७॥

भाषार्थ—यहाँ भव, व्याख्यान दोनों अर्थों की अनुवृत्ति है। षष्ठी और सप्तमी - समर्थ बह्वच् अन्तोदात्त व्याख्यातव्यनाम प्रातिपदिकों से भव और व्याख्यान अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—षत्व-णत्वयोर्व्याख्यानं षात्वणत्विकम्। षत्व-णत्वयोर्भवं षात्वणत्विकम्। वार्तिकानां व्याख्यानं वार्त्तिकिकम्। इनमें षत्व णत्व शब्द में समासस्य (६।१।२१७) सूत्र से अन्तोदात्त है और वार्तिक शब्द ठक् - प्रत्ययान्त कित् होने से अन्तोदात्त है। यहाँ 'बह्वचः' का ग्रहण इसलिये है कि— सौपम्। यहां बह्वच् न होने से 'ठक्' नहीं हुआ। 'अन्तोदात्त' का ग्रहण इसलिये है कि—संहितायाः व्याख्यानं सांहितम्। संहिता शब्द में गति स्वर से पूर्वपद प्रकृति स्वर होने से शेषानुदात्त है, अतः अन्तोदात्त नहीं है॥६७॥

क्रतुयज्ञेभ्यश्च॥६८॥

क्रतुयज्ञेभ्यः —५।३। च [अ.प.]। ठञ् अनुवर्त्तते। अणोऽपवादः। क्रतुवाचिभ्यो यज्ञवाचिभ्यश्च षष्ठी-सप्तमीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामप्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोष्ठञ् प्रत्ययो भवति। क्रतुभ्यः—अग्निष्टोमस्य व्याख्यानो ग्रन्थः, आग्निष्टोमिकः। राजसूयिकः। वाजपेयिकः। यज्ञेभ्यः— नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः। क्रतुभ्यो यज्ञेभ्यो वेत्येकस्मादुच्यमाने येषां क्रतुसंज्ञा यज्ञसंज्ञा वा तेभ्य एव स्याद्। द्वयोर्ग्रहणादिहापि सिद्धम्—पाञ्चौदनिकः। साप्तौदनिकः। दाशौदनिकः। शातौदनिक इत्यादि॥६८॥

भाषार्थ—यहाँ 'ठञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। और अन्तोदात्त न होने से सामान्य अण् प्रत्यय ही प्राप्त है, यह उसका बाधक है। क्रतुवाची और यज्ञवाची षष्ठी और सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम प्रातिपदिकों से व्याख्यान और भव अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—क्रतुवाची से—अग्निष्टोमस्य व्याख्यानो ग्रन्थः, आग्निष्टोमिकः।

राजसूयिकः। वाजपेयिकः। यज्ञवाची से—नावयज्ञिकः। पाकयज्ञिकः। क्रतु तथा यज्ञ शब्द दोनों पर्यायवाची होने से दोनों का ग्रहण इसलिये है—जिनकी क्रतुसंज्ञा अथवा यज्ञसंज्ञा प्रसिद्ध हैं, उनमें दोनों से तथा सोमपानादि के न होने से गौण पंचौदनादि से भी प्रत्यय विधि हो जाये। इससे गौण मुख्य समस्त यज्ञार्थ प्रयुक्त शब्दों से प्रत्यय हो जाता है। जैसे—पांचौदनिकः। सातौदनिकः। दाशौदनिकः। शातौदनिकः, इत्यादि॥ ६८॥

अध्यायेष्वेवर्षे॥ ६९॥

अध्यायेषु —७।३। एव [अ.प.]। ऋषेः —५।१। ऋषिशब्दोऽत्र प्रकरणाद् ग्रन्थसहचरितो गृह्यते। अध्यायेष्वेवेति प्रत्ययार्थविशेषणम्। षष्ठी-सप्तमीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामभ्य ऋषिप्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानेष्व-ध्यायेष्वेव ठञ् प्रत्ययो भवति। वसिष्ठसहचरितो ग्रन्थो वसिष्ठः। विश्वामित्रः। वसिष्ठस्य व्याख्यानस्तत्रभवो वा वासिष्ठिकोऽध्यायः। वैश्वामित्रिकः। अध्यायेष्वेवेति किम्—वासिष्ठी ऋक्॥ ६९॥

भावार्थ—इस व्याख्यातव्यनाम प्रकरण में ऋषि शब्द से, साहचर्य से, ऋषिसम्बद्ध ग्रन्थ का ग्रहण किया गया है। 'अध्यायेष्वेव' शब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है। षष्ठी और सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम ऋषि सहचरित ग्रन्थवाची प्रातिपदिकों से भव और व्याख्यान अर्थों में अध्याय अभिधेय हो तो 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—वसिष्ठ से सहचरित (वसिष्ठ मुनि ने जिनका प्रथम अर्थ दर्शन किया हो) ग्रन्थ वसिष्ठ कहलाता है। वसिष्ठस्य व्याख्यानस्तत्रभवो वा वासिष्ठि-कोऽध्यायः। वैश्वामित्रिकोऽध्यायः। यहाँ 'अध्यायेषु' का ग्रहण इसलिये किया है कि—अध्याय अभिधेय में ही यह प्रत्यय हो अन्यत्र नहीं। जैसे—वासिष्ठी ऋक्॥ ६९॥

पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन्॥ ७०॥

पौरोडाश-पुरोडाशात् —५।१। ष्ठन् —१।१। पुरोडाशो देवताऽस्य पौरोडाशो मन्त्रः। पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः पुरोडाशः। सप्तमी-षष्ठीसमर्थाभ्यां व्याख्यातव्यनामभ्यां पौरोडाश-पुरोडाशप्रातिपदिकाभ्यां भवव्याख्यानयोः ष्ठन् प्रत्ययो भवति। पौरोडाशस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः। पौरोडाशिकी। पुरोडाशिकः। पुरोडाशिकी। षित्करणं ङीषर्थम्। अस्मिन् प्रकरणे भव-व्याख्यानयोर्युगपदाधिकारष्ठञादिभिरणादिबाधनार्थः॥ ७०॥

भावार्थ—पुरोडाश शब्द हवि विशेष के लिए रूढ है। वह देवता जिसका हो वह मन्त्र पौरोडाश कहलाता है। और पुरोडाशसहचरित ग्रन्थ पुरोडाश कहलाता है। षष्ठी और सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम पौरोडाश और पुरोडाश प्रातिपदिकों से व्याख्यान और भव अर्थों में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। पौरोडाशस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः। पौरोडाशिकी। पुरोडाशिकः। पुरोडाशिकी। षित्करण स्त्रीलिंग में 'ङीष्' प्रत्यय के लिये है। इस प्रकरण में भव और व्याख्यान का एक साथ

अधिकार इसलिये किया है कि ये ठञादि प्रत्यय सामान्य अणादि के अपवाद हो सकें॥७०॥

छन्दसो यदणौ॥७१॥

छन्दसः —५।१। यदणौ —१।२। सप्तमी षष्ठीसमर्थाद् व्याख्यातव्य-नाम्नः छन्दसः प्रातिपदिकाद् यत् अणौ प्रत्ययौ [भव-व्याख्यानयोरर्थयोः] भवतः। छन्दसि भवश्छन्दसो व्याख्यानं वा छन्दस्यः। छान्दसः। वक्ष्यमाणसूत्रेण द्व्यच् इति ठकि प्राप्ते वचनम्॥७१॥

भाषार्थ—सप्तमी और षष्ठी समर्थ व्याख्यातव्यनाम छन्दस् प्रातिपदिक से भव और व्याख्यान अर्थों में यत् तथा अण् प्रत्यय होते हैं। जैसे—छन्दसि भवश्छन्दसो व्याख्यानं वा छन्दस्यः। छान्दसः। इससे अगले सूत्र से छन्दस् शब्द के द्व्यच्क होने से 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति में यह विधान किया है॥७१॥

द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताद् ठक्॥७२॥

द्व्यजृद्......नामाख्यातात् —५।१। ठक् —१।१। सप्तमी-षष्ठीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामद्व्यजादि-प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोष्ठक् प्रत्ययो भवति। द्व्यच्—वेदस्य व्याख्यानो ग्रन्थो वैदिकः। इष्टेर्व्याख्या ऐष्टिकः। ऋत्—प्रशासितुर्व्याख्यानं तत्रभवो वा प्रशासितृकः। पांचहोतृकः। ब्राह्मणिकः। आर्चिकः। प्राथमिकः। आध्वरिकः। पौरश्चरणिकः।

वा०—नामाख्यातग्रहणं संघात-विगृहीतार्थम्॥ १॥

समस्तान्नामाख्यातशब्दात् पृथक् पृथगपि ठक् स्यादित्यर्थः। नामिकः। आख्यातिकः। नामाख्यातिकः। अन्यथा नामशब्दाद् द्व्यच् इत्येव सिद्धम्। पुनर्वचनं संघातादपि यथास्यात्॥७२॥

भाषार्थ—सप्तमी और षष्ठी समर्थ व्याख्यातव्यनाम द्व्यच्, ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋच्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नामाख्यात, इन प्रातिपदिकों से भव और व्याख्यान अर्थों में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्व्यच्—वेदस्य व्याख्यानो ग्रन्थो वैदिकः ऐष्टिकः। ऋकारान्त—प्रशासितुर्व्याख्यानं तत्र भवो वा प्रशासितृकः। पाचहोतृकः। ब्राह्मणिकः। आर्चिकः। प्राथमिकः। आध्वरिकः। पौरश्चरणिकः।

वा०—नामाख्यातग्रहणं संघात-विगृहीतार्थम्॥

यहाँ 'नामाख्यात' समस्त शब्द से तथा पृथक् पृथक् नाम और आख्यात शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—नामिकः। आख्यातिकः। नामाख्यातिकः। इसका ज्ञापक यह है कि नाम शब्द द्व्यच् है, अतः ठक् प्रत्यय प्राप्त ही था, पुनः नाम शब्द का पाठ समस्त शब्द से भी प्रत्यय विधानार्थ है॥७२॥

अण् ऋगयनादिभ्यः॥७३॥

अण् —१।१। ऋगयनादिभ्यः —५।३। अणित्यधिकारादेव स्यात्, पुनर्ग्रहणं बाधकानां ठञादीनां बाधनार्थम्। सप्तमी षष्ठीसमर्थेभ्यो व्याख्या-तव्यनाम-ऋगयनादिप्रातिपदिकेभ्यो भव-व्याख्यानयोरण् प्रत्ययो भवति।

ऋगयनस्य व्याख्यानं तत्र भवो वा आर्गयनः। पादव्याख्यानः। केचिदत्र द्व्यचस्तेभ्यष्ठक् प्राप्तः, ये च बह्वचोऽन्तोदात्तास्तेभ्यष्ठञ्, तयोर्बाधकोऽयं योगः। अथ ऋगयनादयः—ऋगयन। पदव्याख्यान। छन्दोमान। छन्दोभाषा। छन्दोविचिति। न्याय। पुनरुक्त। निरुक्त। व्याकरण। निगम। वास्तुविद्या। अङ्गविद्या। क्षत्रविद्या। विद्या। उत्पात। उत्पाद। उद्याव। संवत्सर। मुहूर्त्त। निमित्त। उपनिषद्। शिक्षा। भिक्षा। इति ऋगयनादिगणः॥७३॥

भाषार्थ—अण् प्रत्यय अधिकार होने से प्राप्त था, उसका पुनर्ग्रहण इसलिये है कि 'अण्' प्रत्यय के बाधक ठञादि प्रत्ययों का बाधन इससे हो जावे। सप्तमी और षष्ठी समर्थ व्याख्यातव्यनाम ऋगयनादि प्रातिपदिकों से भव और व्याख्यान अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—ऋगयनस्य व्याख्यान तत्र भवो वा आर्गयन,। पादव्याख्यानः इत्यादि। इस गण में जो द्व्यच् शब्द हैं, उनसे 'ठक्' प्रत्यय प्राप्त था और जो बह्वच् अन्तोदात्त शब्द हैं, उनसे ठञ् प्रत्यय। यह अण् दोनों प्रत्ययों का बाधक है॥७३॥

तत आगतः॥७४॥

भव-व्याख्यानावधिकारौ निवृत्तौ। ततः —५।१। आगतः —१।१। तत इति पंचमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। उत्सेभ्य आगत औत्सः। दैत्यः। आदित्यः। स्त्रैणः। पौंस्नः। राष्ट्रादागतो राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः॥७४॥

भाषार्थ—[अर्थान्तर का निर्देश होने से] भव और व्याख्यान के अधिकार यहाँ निवृत्त हो गये हैं। पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिकों से आगत=आगमन कर्त्तृक अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—उत्सेभ्य आगत औत्सः। दैत्यः। आदित्यः। स्त्रैणः। पौंस्नः। राष्ट्रादागतो राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। इत्यादि॥७४॥

ठगायस्थानेभ्यः॥७५॥

ठक् —१।१। आयस्थानेभ्यः —५।३। बहुवचननिर्देशः स्वरूपविधि-निवृत्त्यर्थः। आयस्य लाभस्य स्थानानि=आयस्थानानि, तेभ्यः। पञ्चमीसमर्थेभ्य आयस्थानेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य आगत इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। शुल्कशालाया आगतं धनम्, शौल्कशालिकम्। विपणेरागतं वैपणिकम्। आयस्थानेभ्यो वृद्धेभ्योऽपि छं बाधित्वा ठगेव भवति। आपणादागतं धनमापणिकम्। हाटकादागतं हाटकिकम्॥७५॥

भाषार्थ—सूत्र में बहुवचन का निर्देश स्वरूपविधि निरास के लिये है। आयस्थान से अभिप्राय है जिन स्थानों से लाभ स्वामिग्राह्यभाग आमदनी होती है। पंचमी समर्थ आयस्थानवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—शुल्कशालाया आगतं धनं शौल्कशालिकम्। विपणेरागतं वैपणिकम्। वृद्धसंज्ञक और आयस्थानवाची शब्दों से पर विप्रतिषेध से 'छ' प्रत्यय का अपवाद 'ठक्' ही होता है। जैसे—आपणादागतं धनम् आपणिकम्। हाटकादागतं हाटकिकम्

इत्यादि ॥ ७५ ॥

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥ ७६ ॥

शुण्डिकादिभ्यः —५ । ३ । अण् —१ । १ । आयस्थानेभ्यष्ठकोऽपवादः अण् ग्रहणं बाधक-बाधनार्थम्। पंचमीसमर्थेभ्यः शुण्डिकादिप्रातिपदिकेभ्य आगतार्थेऽण् प्रत्ययो भवति। शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः। अथ शुण्डिकादयः —शुण्डिक। कृकण। कृपण। स्थण्डिल। उदपान। उपल। तीर्थ। भूमि। तृण। पर्ण। इति शुण्डिकादिः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—शुण्डिकादि से आयस्थान होने से ठक् प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। अण् का अधिकार होने पर भी पुनर्ग्रहण बाधकों के बाधनार्थ है। पंचमी समर्थ गणपठित शुण्डिकादि प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः इत्यादि ॥ ७६ ॥

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ॥ ७७ ॥

विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः —५ । ३ । वुञ् —१ । १ । विद्यायोन्योः सम्बन्धो येषु तेभ्यः। सहसुपेति समासः। पंचमीसमर्थेभ्यो विद्याकृतसम्बन्धेभ्यो योनिकृतसम्बन्धेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य आगतार्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। उपाध्यायादागतम्=औपाध्यायकम्। वृद्धादपि परत्वाद् वुञ्। आचार्यकम्। योनिसम्बन्धेभ्यः—पैतामहकम्। मातुलकम्। मातामहकम्। श्वाशुरकम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—"विद्यायोन्योः सम्बन्धो येषु तेभ्यः" यहाँ 'सहसुपा' (२ । १ । ४) सूत्र से समास हुआ है। पंचमी समर्थ विद्याकृत सम्बन्धवाची तथा योनिकृत सम्बन्धवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—उपाध्यायादागतम् औपाध्यायकम्। वृद्ध संज्ञक विद्या-योनिसम्बन्धवाची शब्दों से पर विप्रतिषेध से 'छ' न होकर 'वुञ्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—आचार्यकम्। योनिकृतसम्बन्धवाची—पैतामहकम्। मातुलकम्। मातामहकम्। श्वाशुरकम् इत्यादि ॥ ७७ ॥

ऋतष्ठञ् ॥ ७८ ॥

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य इत्यनुवर्त्तते। ऋतः —५ । १ । ठञ् —१ । १ । पूर्वेण वुञ् प्राप्तस्तस्यापवादः। विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यः पंचमीसमर्थेभ्य ऋकारान्तप्रातिपदिकेभ्य आगतार्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। छप्रत्ययादपि विप्रतिषेधाद् ठञ्। होतुरागतं हौतृकम्। शास्तृकम्। योनिसम्बन्धेभ्यः—स्वसुरागतं स्वासृकम्। भ्रातृकम्। मातृकम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' पद की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से प्राप्त 'वुञ्' का यह अपवाद है। पंचमी समर्थ विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋकारान्त प्रातिपदिकों से आगतार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। वृद्ध संज्ञकों से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का भी यह पर विप्रतिषेध से अपवाद है। जैसे—होतुरागतं हौतृकम्। [शास्तुरागतं] शास्तृकम्। योनिसम्बन्धवाची—स्वसुरागतं स्वासृकम्। भ्रातृकम्

मातृकम् इत्यादि॥७८॥

पितुर्यच्च॥७९॥

ठञ् चादनुवर्त्तते। पितुः —५।१। यत् —१।१। च [अ.प.]। ठञोऽपवादः। पंचमी-समर्थात् पितृप्रातिपदिकाद् यत् ठञौ प्रत्ययौ भवत आगत इत्यस्मिन्नर्थे। पितुरागतं पित्र्यम्। पैतृकम्॥७९॥

भाषार्थ—यहाँ चकार से 'ठञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से ठञ् की प्राप्ति में यह विधान किया है। पंचमीसमर्थ 'पितृ' प्रातिपदिक से आगत अर्थ में यत् और ठञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—पितुरागतं पित्र्यम्*। पैतृकम्॥७९॥

गोत्रादङ्कवत्॥८०॥

गोत्रात् —५।१। अङ्कवत् [अ.प.]। अतिदेशोऽयम्। अङ्क इवाङ्कवत्। सप्तमीसमर्थाद् वतिः। गोत्रप्रत्ययान्तात् पंचमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् आगतार्थेऽङ्कवद् वुञ् प्रत्ययो भवति। यथा औपगवानामङ्क इति विगृह्य औपगवकः। कापटवकः। नाडायनकः, इत्येतद् भवति। तथैव औपगवादागतम्। औपगवकम्। कापटवकम्। नाडायनकम्॥८०॥

भाषार्थ—यह अतिदेश सूत्र है। अङ्क इव=अङ्कवत्, इसमें सप्तमी समर्थ से वति प्रत्यय है। पंचमीसमर्थ गोत्रप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में अङ्क** अर्थ की भाँति 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—'औपगवानामङ्क—यह विग्रह करके औपगवकः, कापटवकः, नाडायनकः आदि प्रयोग बनते हैं, वैसे ही औपगवादागतम्—औपगवकम्, कापटवकम्, नाडायनकम् [इत्यादि प्रयोग वुञ्—प्रत्ययान्त सिद्ध होते हैं।]॥८०॥

हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः॥८१॥

हेतु-मनुष्येभ्यः —५।३। अन्यतरस्याम् [अ०]। रूप्यः —१।१। अप्राप्तविभाषेयम्। नैव हेतु-मनुष्येभ्यो रूप्यः केनापि प्राप्तः। हेतुवाचिभ्यो मनुष्यवाचिभ्यश्च पंचमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन रूप्यः प्रत्ययो भवति, आगत इत्यर्थे। समादागतं समरूप्यम्। विषमरूप्यम्। पक्षे गहादित्वाच्छः। समीयम्। विषमीयम्। देवदत्तरूप्यम्। देवदत्तीयम्। दैवदत्तम्। पक्षे वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा, तेन-छस्य विकल्पः। परविप्रतिषेधाद् वृद्धादपि मनुष्याद्

---

* पित्र्यम्=पितृ+यत्। 'रीङ् ऋतः' (अ० ७।४।२७) सूत्र से रीङ्। 'यस्येति च' (अ० ६।४।१४८) सूत्र से ईकार लोप हुआ है।

** 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र के अधिकार में 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (अ० ४।३।१२५) तथा 'संघाकलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' (अ० ४।३।१२६) क्रमशः सूत्र पाठ है। इनमें अंक अर्थ में अण् प्रत्यय का विधान होने से अण् का ही अतिदेश प्राप्त होता है। इसका समाधान यह समझना चाहिये। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में काक शब्द दधि के उपघातक बिल्ली आदि का भी उपलक्षण है वैसे ही यहाँ 'अङ्क' शब्द 'तस्येदम्' अधिकार का उपलक्षण है। इससे 'गोत्रचरणाद् (४।३।१२५) सूत्र का भी अतिदेश होता है। —अनुवादक

रूप्य एव भवति। वायुदत्तरूप्यम्। वायुदत्तीयम्॥८१॥

भाषार्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। क्योंकि हेतुवाची और मनुष्यवाचियों से किसी सूत्र से भी 'रूप्य' प्रत्यय प्राप्त नहीं है। पंचमीसमर्थ हेतुवाची और मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में विकल्प से रूप्य प्रत्यय होता है। जैसे—समादागतं समरूप्यम्। विषमरूप्यम्। पक्ष में गहादिगण में इन शब्दों का पाठ होने से 'छ' प्रत्यय होता है। समीयम्। विषमीयम्। मनुष्यवाची देवदत्तरूप्यम्। देवदत्तीयम् दैवदत्तम्। मनुष्यवाची शब्दों में ''वा नामधेयस्य'' वार्त्तिक से विकल्प से वृद्धसञ्ज्ञा होने से 'छ' प्रत्यय तथा वृद्ध संज्ञा के अभाव में 'अण्' प्रत्यय होता है। परविप्रतिषेध से वृद्धसंज्ञक मनुष्यवाची शब्दों से 'रूप्य' प्रत्यय ही विकल्प से होता है। जैसे—वायुदत्तरूप्यम्। वायुदत्तीयम्॥८१॥

मयट् च॥८२॥

हेतुमनुष्येभ्य इत्यनुवर्त्तते। मयट् —१।१। च [अ०प०]। पृथग्योगः संख्यातानुदेशनिवृत्त्यर्थः। पंचमीसमर्थेभ्यो हेतु-मनुष्यवाचिप्रातिपदिकेभ्य आगतार्थे मयट् प्रत्ययो भवति। सममयम्। विषममयम्। देवदत्तमयम्। वायुदत्तमयम्। टित्करणं ङीबर्थम्॥८२॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'हेतुमनुष्येभ्यः' पद की अनुवृत्ति है। पृथक् सूत्र बनाने का प्रयोजन संख्यातानुदेश की निवृत्ति करना है। पचमी समर्थ हेतुवाची और मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से आगतार्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है। जैसे—सममयम्। विषममयम्। देवदत्तमयम्। वायुदत्तमयम् इत्यादि। प्रत्यय में टित्करण स्त्रीलिंग में ङीप् के लिये है। सममयी इत्यादि॥८२॥

प्रभवति॥८३॥

तत इत्यनुवर्त्तते। आगत इति निवृत्तम्। प्रभवति [क्रि०प०]। पंचमीसमर्थान् ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रभवतीत्यस्याः क्रियायाः कर्त्तरि यथाविहितं प्रत्ययो भवति। हिमालयात् प्रभवति हैमालयी गङ्गा। सुमेरोः प्रभवति सौमेरवी। राष्ट्रात् प्रभवति राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः॥८३॥

भाषार्थ—यहाँ 'ततः' पद की अनुवृत्ति है। यहाँ 'आगतः' पद 'प्रभवति' पद अर्थान्तर का निर्देश होने से निवृत्त हो गया है। पंचमी समर्थ ङ्याप् प्रातिपदिकों से प्रभवति=उत्पन्न होनेवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में यथाविहित प्रत्यय होता है जैसे—हिमालयात् प्रभवति हैमालयी गङ्गा। सुमेरोः प्रभवति सौमेरवी। राष्ट्रात् प्रभवति राष्ट्रियः। ग्राम्यः। ग्रामीणः इत्यादि॥८३॥

विदूराञ् ञ्यः॥८४॥

विदूरात् —५।१। ञ्यः —१।१। पंचमीसमर्थाद् विदूरप्रातिपदिकात् प्रभवतीत्यस्याः क्रियायाः कर्त्तरि ञ्यः प्रत्ययो भवति। विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः।

का०— वालवायो विदूरं वा प्रकृत्यन्तरमेव वा।
न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज् जित्वरीवदुपाचरेत्॥१॥

लौकिके प्रयोगे वैदूर्य्यं यस्य मणेर्नाम, स वालवाय-नामकात् पर्वतात् प्रभवति। विदूरशब्दो नगरवाची पर्वतवाची च। विदूर-नगरे च तस्य मणेः संस्कारो भवति। अत इदं विचार्य्यते कथं विदूर-शब्दात् प्रभवे प्रत्ययः स्यादिति। समाधीयते। वेति निश्चयेन वालवाय शब्दस्य स्थाने विदूर आदेशो भवति अथवा वालवायस्य पर्य्यायः प्रकृत्यन्तरं विदूर शब्दः। (न वै तत्रेति चे०) तत्रायं सन्देहः। वालवायसंनिहिता वालवायं विदूर इति नैव कथयन्ति। पुनः कथं समाधानं स्यात्? (जित्वरीवदुपाचरेत्) यथा वणिजो वाराणसीं जित्वरीमुपाचरन्ति। एवं वैयाकरणा वालवायं विदूर इत्युपाचरन्ति॥ ८४॥

भाषार्थ—पंचमी समर्थ विदूर प्रातिपदिक से प्रभवति=उत्पन्न होनेवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। जैसे—विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः।

का०— वालवायो विदूरं वा प्रकृत्यन्तरमेव वा।
न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज् जित्वरीवदुपाचरेत्॥ १॥

लोक में जिस मणि को वैदूर्य्य कहते हैं, वह वालवाय नामक पर्वत से उत्पन्न होती है। विदूर शब्द नगरवाची तथा पर्वतवाची है। परन्तु विदूरनगर में उस मणि का संस्कार किया जाता है। इसलिये यह विचारणीय है कि विदूर शब्द से प्रभव अर्थ में प्रत्यय कैसे हो? क्योंकि वैदूर्य्यमणि की उत्पत्ति तो वालवाय पर्वत से होती है।

इसका समाधान यह है कि निश्चय से वालवाय शब्द के स्थान में विदूर आदेश होता है अथवा वालवाय का विदूरशब्द पर्यायवाची है। (न वै तत्रेति चे०) इसमें यह सन्देह अवश्य होता है कि वालवाय पर्वत के आस पास रहनेवाले लोग वालवाय को विदूर नहीं कहते। फिर पर्यायवाची कैसे माना जा सकता है। (जित्वरीवदुपाचरेत्) यद्यपि यह ठीक है कि व्यवहार में लोग पर्यायवाची मानकर व्यवहार नहीं करते। किन्तु जैसे वाराणसी को केवल व्यापारीवर्ग ही जित्वरी शब्द से व्यवहार करता है, दूसरे नहीं। इसी प्रकार वैयाकरण सम्प्रदाय में परम्परा से 'वालवाय' को 'विदूर' शब्द से कहते चले आये हैं॥ ८४॥

तद् गच्छति पथिदूतयोः॥ ८५॥

तत इति निवृत्तं प्रभवतीति च। तत् —२।१। गच्छति [क्रि०प०]। पथिदूतयोः —७।२। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् गच्छतीति क्रियायाः पथिदूतयोः कर्त्रोरभिधेययोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति। पाठशालां गच्छति पन्था दूतो वा पाठशालीयः। वाराणसीं गच्छति पन्था दूतो वा वाराणसेयः। नद्यादित्वाड् ढक्। ऐन्द्रप्रस्थः॥ ८५॥

भाषार्थ—'ततः' तथा 'प्रभवति' पदों की यहाँ अनुवृत्ति नहीं है। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से गच्छति जानेवाली क्रिया का पन्था और दूत कर्ता वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—पाठशालां गच्छति पन्था दूतो वा पाठशालीयः। वाराणसीं गच्छति पन्था दूतो वा वाराणसेयः। यहाँ नद्यादि में पाठ

होने से 'ढक्' प्रत्यय हुआ है। ऐन्द्रप्रस्थः इत्यादि॥८५॥

अभिनिष्क्रामति द्वारम्॥८६॥

तदित्यनुवर्त्तते। अभिनिष्क्रामति [क्रि.प.]। द्वारम् —१।१। अभिनिष्क्रमणं चेतनस्य भवति। अत्राचेतने चेतनवदुपचाराद् द्वारेण सम्बन्ध्यते। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अभिनिष्क्रामति क्रियायाः कर्त्तरि द्वारेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वाराणसीमभिनिष्क्रामति द्वारम् वाराणसेयं द्वारम्। इन्द्रप्रस्थमभिनिष्क्रामति ऐन्द्रप्रस्थम्। लावपुरम्। अभिशब्द आभिमुख्ये वर्त्तते। निष्क्रामति निस्सरतीत्यर्थः॥८६॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'तत्' पद की अनुवृत्ति है। निकलना, जानादि व्यवहार चेतनों में होता है। यहाँ अचेतन 'द्वार' में चेतन की भाँति जो निर्देश है यह औपचारिक (गौण) प्रयोग है। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से अभिनिष्क्रमण क्रिया का 'द्वार' कर्त्ता वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—वाराणसीमभिनिष्क्रामति द्वारं वाराणसेयं द्वारम्। इन्द्रप्रस्थमभि निष्क्रामति ऐन्द्रप्रस्थम्। लावपुरम् इत्यादि। 'अभि' शब्द आभिमुख्य अर्थ मे है। 'निष्क्रामति' का अर्थ निकलना है॥८६॥

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे॥८७॥

तदित्यनुवर्त्तते। अधिकृत्य [अ.प.]। कृते —७।१। ग्रन्थे —७।१। अधिकृत्य क्रियायाः कर्मणो द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् कृते ग्रन्थ इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वर्णाश्रममधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वार्णाश्रमः। वेदान्तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वैदान्तः। सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः॥८७॥

द्वितीया समर्थ अधिकृत्य (विषय बनाकर) क्रिया के कर्मभूत प्रातिपदिकों से कृते ग्रन्थे ग्रन्थ बनाने अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—वर्णाश्रममधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वार्णाश्रमः। वेदान्तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वैदान्तः सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः इत्यादि॥८७॥

शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः॥८८॥

तदित्यनुवर्त्तते। शिशु.....जननादिभ्यः —५।३। छः —१।१। द्वितीया समर्थेभ्यः शिशुक्रन्दादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽधिकृत्य कृते ग्रन्थ इत्येतस्मिन् विषये छ. प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। शिशूनां बालानां क्रन्दनं शिशुक्रन्दः। शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा यमसभम्। 'सभा राजामनुष्य पूर्वेति' नपुंसकत्वम्। यमसभमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो यमसभीयः। द्वन्द्वः अष्टाध्यायी-महाभाष्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थोऽष्टाध्यायीमहाभाष्यीयः। शब्दार्थसम्बन्धीयः। इन्द्रजननादिभ्यः—इन्द्रजननमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इन्द्रजननीयः। सीतान्वेषणीयः। प्रद्युम्नागमनीयः। इन्द्रजननाद्याकृतिगणः। दृष्टप्रयोगेषु छः कर्त्तव्यः।

वा०—द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः॥ १॥

देवासुरादिभ्यः कृतद्वन्द्वेभ्यश्छः प्रतिषिध्यतेऽधिकारादण् भवत्येव। देवाश्चासुराश्च दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्। दैवासुरी। राक्षोऽसुरी॥ ८८॥

भाषार्थ—'तत्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। द्वितीयासमर्थ शिशुक्रन्दादि प्रातिपदिकों से अधिकृत्य कृते ग्रन्थे=जिस विषय को लेकर ग्रन्थ रचा जाये, उस अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा यमसभम्। यहाँ 'सभा राजा मनुष्यपूर्वा' (अ० २।४।२३) सूत्र से नपुंसक होकर ह्रस्व हुआ है। यमसभमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो यमसभीयः। द्वन्द्व अष्टाध्यायीमहाभाष्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थोऽष्टाध्यायीमहाभाष्यीयः। शब्दार्थसम्बन्धीयः। इन्द्रजननादिभ्यः—इन्द्रजननमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इन्द्रजननीयः। सीतान्वेषणीयः। प्रद्युम्नागमनीयः। यह इन्द्रजननादि आकृतिगण है। लोक में ऐसे प्रयोगों में यथादृष्ट 'छ' प्रत्यय करना चाहिये

वा०—द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः॥ २॥

यह देवासुरादि द्वन्द्व समासों से सूत्र से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का निषेध है इनमें सामान्य अधिकार प्राप्त 'अण्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—देवाश्चासुराश्च दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्। दैवासुरी। राक्षोऽसुरी। इत्यादि॥ ८८॥

सोऽस्य निवासः॥ ८९॥

सः —१।१। अस्य —६।१। निवासः —१।१। निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः। स इति प्रथमासमर्थाद् अस्येति षष्ठीसमानाधिकरणप्रातिपदिकान् निवासार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः। माथुरः। ग्रामो निवासोऽस्य ग्राम्यः। ग्रामीणः। ग्रामेयकः। वाराणसेयः॥ ८९॥

भाषार्थ—'निवास' शब्द में अधिकरण में घञ् प्रत्यय है—'निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः' प्रथमासमर्थ से 'अस्य' इस षष्ठी समानाधिकरण प्रातिपदिकों से निवास अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः। माथुरः। ग्रामो निवासोऽस्य ग्राम्यः। ग्रामीणः। ग्रामेयकः। वाराणसेयः इत्यादि॥ ८९॥

अभिजनश्च॥ ९०॥

सोऽस्येत्यनुवर्त्तते। अभिजनः —१।१। च [अ.प.]। पूर्वस्मात् कुलनिवास उच्यते। प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठीसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकाद् अभिजन इत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। इन्द्रप्रस्थोऽभिजनोऽस्य ऐन्द्रप्रस्थः। लावपुरः। स्रौघ्नः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। ग्रामेयकः। वाराणस्यभिजनोऽस्य वाराणसेयः। नद्यादित्वाद् ढक्।

भा०—'अथ निवासाभिजनयोः को विशेषः। निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्॥'

अयमेव विशेष उक्तः। स्पष्टम्। योगविभाग उत्तरार्थः॥ ९०॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'सोऽस्य' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। जहाँ पहले से

कुल का निवास हो उसे अभिजन कहते हैं। प्रथमासमर्थ 'अस्य' इस षष्ठीसमानाधिकरण प्रातिपदिकों से अभिजन अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे इन्द्रप्रस्थोऽभिजनोऽस्य ऐन्द्रप्रस्थः। लावपुरः। स्रौघ्नः। ग्राम्यः। ग्रामीण.। ग्रामेयक.। वाराणसी अभिजनोऽस्य वाराणसेयः। यह नद्यादि गणीय होने से ढक् प्रत्यय हुआ है।

निवास और अभिजन में क्या भेद है? इसका उत्तर महाभाष्यकार ने दिया है (अथ निवासा०) निवास उसे कहते हैं, जहाँ वर्त्तमान समय में रहते हैं। और अभिजन उसे कहते हैं जहाँ पूर्वज रहे हैं। योग का पृथक्करण उत्तरार्थ किया है। ९०।

आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते॥ ९१॥

सोऽस्याभिजन इत्यनुवर्त्तते। आयुधजीविभ्यः—४।३। छः—१।१। पर्वते—७।१। आयुधैर्जीवितुं शीलमेषां त आयुधजीविनस्तेभ्यस्तादर्थ्ये चतुर्थी। आयुधजीव्यर्थमायुधजीविभ्यः। पर्वत इति प्रकृतिविशेषणम्। तत्रार्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः क्रियते। पर्वतवाचिनः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् आयुधजीव्यर्थमस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये छः प्रत्ययो भवति। हृद्गोलः पर्वतोऽभिजनो एषां हृद्गोलीया आयुधजीविनः। रैवतकः पर्वतोऽभिजन एषां रैवतकीया आयुधजीविनः। वालवायीयाः। आयुधजीविभ्य इति किम्—ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजन एषाम्-आर्क्षोदा ब्राह्मणाः। पर्वत इति किम्—सांकाश्यमभिजन एषां सांकाश्यका आयुधजीविनः। 'धन्वयोपधाद् वुञ्' प्रत्ययः॥ ९१॥

भावार्थ—यहाँ 'सोऽस्याभिजन' पदों की अनुवृत्ति है। आयुध= शस्त्रास्त्रों की शिल्प विद्या से जीविका करने का जिनका स्वभाव है, वे आयुधजीवी कहलाते हैं 'पर्वते' पद प्रकृति का विशेषण है, अतः अर्थ से विभक्ति का परिवर्त्तन हो जाता है। प्रथमासमर्थ पर्वतवाची प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ अभिजन विषय में आयुधजीवी वाच्य हो तो छ प्रत्यय होता है। जैसे—हृद्गोलः पर्वतोऽभिजन एषां हृद्गोलीया आयुधजीविनः। रैवतकः पर्वतोऽभिजन एषां रैवतकीया आयुधजीविनः। वालवायीयाः। इत्यादि।

यहाँ 'आयुधजीविभ्यः' का ग्रहण इसलिये है—ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजन एषाम् आर्क्षोदा ब्राह्मणाः। इसमें 'छ' प्रत्यय न हो। और 'पर्वते' ग्रहण इसलिये है सांकाश्यमभिजन एषां सांकाश्यका आयुधजीविनः। यहाँ 'छ' प्रत्यय न होकर 'धन्वयोपधाद् वुञ्' (४।२।१२१) से 'वुञ्' प्रत्यय हुआ है॥ ९१॥

शण्डिकादिभ्यो ञ्यः॥ ९२॥

'सोऽस्याभिजन' इत्यनुवर्त्तते। शण्डिकादिभ्यः-५।३। ञ्यः १।१। **प्रथमासमर्थेभ्यः शण्डिकादिप्रातिपदिकेभ्योऽस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये ञ्यः प्रत्ययो भवति। शण्डिकोऽभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः। सार्वकेश्यः। अथ**

शण्डिकादयः। शण्डिक। सर्वसेन। सर्वकेश। शक। सट। शर। रक। शंख। बोध। इति शण्डिकादिः॥ ९२॥

भाषार्थ—'सोऽस्याभिजनः' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ गणपठित शण्डिकादि प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ अभिजन विषय में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। जैसे—शण्डिकोऽभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः। सार्वकेश्यः॥ ९२॥

सिन्धु-तक्षशिलादिभ्योऽणञौ॥ ९३॥

सिन्धु-तक्षशिलादिभ्यः —५।३। अण् अञौ —१।१। आदिशब्द उभाभ्यां सम्बध्यते। प्रथमासमर्थेभ्यः सिन्ध्वादिभ्यः तक्षशिलादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो यथासंख्यम् अण् अञौ प्रत्ययौ भवतोस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये। सिन्धुरभिजनोऽस्य सैन्धवः। वार्णवः। ताक्षशिलः॥ अथ सिन्ध्वादयः॥ सिन्धु। वर्णु। गन्धार। मधुमत्। काम्बोज। साल्व। उरस्। कश्मीर। गब्दिका। किष्किन्धा। दरद्। इति सिन्ध्वादयः। अथ तक्षशिलादयः। तक्षशिला। वत्सोद्धरण। कौमेदुर। काण्डवारण। ग्रामणी। सरालक। छागल। कंस। किन्नर। संकुचित। सिंहकोष्ठ। कर्णकोष्ठ। बर्बर। अवसान। कोष्टुकर्ण। काण्डधारा। पर्वत। इति तक्षशिलादयः॥ ९३॥

भाषार्थ—सूत्र में आदि शब्द सिन्धु और तक्षशिला दोनों से सम्बद्ध है। प्रथमासमर्थ सिन्ध्वादि और तक्षशिलादि गणपठित प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ अभिजन विषय में यथासंख्य अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं। जैसे—सिन्धुरभिजनोऽस्य सैन्धवः। वार्णवः। ताक्षशिलः। वात्सोद्धरणः इत्यादि॥ ९३॥

तूदी-शलातुर-वर्मती-कूचवाराड् ढक्छण्ढञ्यकः॥ ९४॥

तूदी......कूचवारात् —५।१। ढक्-छण्-ढञ्-यकः —१।३। प्रथमासमर्थेभ्यः तूदी-आदिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये [ढक्-छण्-ढञ्-यक] चत्वारः प्रत्यया यथासंख्येन भवन्ति। तूदी अभिजनोऽस्य तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः। कौचवार्यः॥ ९४॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ तूदी, शलातुर, वर्मती, कूचवार, इन प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ अभिजन विषय में यथासंख्य ढक्, छण्, ढञ् और यक् ये चार प्रत्यय होते हैं। जैसे—तूदी अभिजनोऽस्य तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः कौचवार्यः॥ ९४॥

भक्तिः॥ ९५॥

सोऽस्येत्यनुवर्त्तते। अभिजन इति निवृत्तम्। भक्तिः —१।१। प्रथमासमर्थाद् भक्तिसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकादस्येत्यन्यपदार्थे यथा विहितं प्रत्ययो भवति। ग्रामो भक्तिरस्य ग्रामेयकः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। राष्ट्रियः। माथुरः॥ ९५॥

भाषार्थ—यहाँ 'सोऽस्य' पदों की अनुवृत्ति है। 'अभिजन' पद निवृत्त हो गया है। प्रथमासमर्थ भक्ति समानाधिकरण प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—ग्रामो भक्तिरस्य ग्रामेयकः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। राष्ट्रियः।

माथुरः। ['भक्ति' शब्द में 'भज् सेवायाम्' धातु से कर्म में क्तिन् प्रत्यय है, भज्यते सेव्यत इति भक्तिः। अर्थात् सेवनीय अर्थ को बताता है]॥९५॥

अचित्तादेशकालाट्ठक्॥ ९६॥

सोऽस्य भक्तिरित्यनुवर्त्तते। अचित्तात् -५।१। अदेशकालात् -५।१। ठक् —१।१। देशकालावपि चेतनारहितौ तस्मात् प्रतिषेधः। भक्तिसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थाद् अदेशकालाद् अचित्ताज्=जडात् प्रातिपदिकाद् अस्य भक्तिरित्यस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति। अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः। शाष्कुलिकः। वृद्धादपि—पायसिकः। अचित्तादिति किम् देवदत्तो भक्तिरस्य दैवदत्तः। अदेशकालादिति किम्-स्रौघ्नः। ग्रैष्मः॥ ९६॥

भाषार्थ—यहाँ 'सोऽस्य भक्तिः' पदों की अनुवृत्ति है। देश, काल भी अचित्त अचेतन वाची हैं, इसलिये इनका प्रतिषेध किया है। प्रथमासमर्थ, भक्ति समानाधिकरण, देश और काल से भिन्न अचेतन (जड़) वाची प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः। शाष्कुलिकः। वृद्धसंज्ञकों से भी परविप्रतिषेध से 'ठक्' ही होता है। जैसे—पायसिकः। यहाँ 'अचित्त' ग्रहण इसलिए है—देवदत्तो भक्तिरस्य दैवदत्तः। यहाँ 'ठक्' न होवे। और 'अदेशकालात्' ग्रहण इसलिये है कि स्रौघ्नः। ग्रैष्मः। इत्यादि में 'ठक्' न हो॥ ९६॥

महाराजाट्ठञ्॥ ९७॥

महाराजात् —५।१। ठञ् —१।१। ठगित्यनुवर्त्तमाने ठञ् ग्रहणं स्वरार्थम्। प्रथमासमर्थाद् भक्तिसमानाधिकरणात् महाराजप्रातिपदिकाद् अस्येत्यन्यपदार्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः॥ ९७॥

भाषार्थ—यहाँ 'ठक्' प्रत्यय की अनुवृत्ति करके ही रूप सिद्धि हो जाती, फिर 'ठञ्' प्रत्ययान्तर करना स्वरविशेष के लिये है। प्रथमासमर्थ भक्तिसमानाधिकरण 'महाराज' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः॥ ९७॥

वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्॥ ९८॥

वासुदेवार्जुनाभ्याम् —५।२। वुन् —१।१। वासुदेवशब्दो गोत्रक्षत्रियाख्यो नैवात्र गृह्यते। किन्तु सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परमात्मनः संज्ञा, न तु वसुदेवस्यापत्यं गृह्यते। तदेतत् पूर्वनिपातकरणादेव ज्ञायते। अल्पाच्तरस्यार्जुनशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वार्त्तिकेन पूज्येभ्योऽपि पूज्यतमस्य परमात्मनो वासुदेवस्य पूर्वनिपातः। यदि गोत्रक्षत्रियाख्यो वासुदेवः स्यात् तर्हि वक्ष्यमाणसूत्रेण वुञ् स्यादेव, पुना रूपस्वरयोर्विशेषाभावाद् वुन् विधानमनर्थकं स्यात्। प्रथमासमर्थाभ्यां भक्तिसमानाधिकरणाभ्यां वासुदेवअर्जुन प्रातिपदिकाभ्यामस्येत्यन्यपदार्थे वुन् प्रत्ययो भवति। वासुदेवो भक्तिरस्य वासुदेवकः। अर्जुनकः॥ ९८॥

भावार्थ—इस सूत्र में वासुदेव शब्द से गोत्रक्षत्रियाख्या का ग्रहण नहीं है। किन्तु सच्चिदानन्द लक्षणवाले परमात्मा का नाम है। वासुदेव नाम व्यक्ति के अपत्य का ग्रहण नहीं है। इस रहस्य का बोध सूत्र में वासुदेव शब्द के पूर्व निपातन करने से होता है। क्योंकि अर्जुन शब्द वासुदेव की अपेक्षा अल्पाच्तर है, अतः व्याकरण नियम से अर्जुन शब्द का पूर्वप्रयोग* होना चाहिये। किन्तु यहाँ पाणिनि मुनि ने जो ऐसा नहीं किया है, उससे स्पष्ट है कि जो सबसे अधिक पूज्य होता है, उसका अल्पाच्तर न होने पर भी पूर्वनिपात होता है। 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति'' इस वार्त्तिकोक्त नियम से जो पूज्यों से भी पूजनीय है, उस परमात्मा के वाचक वासुदेव शब्द का यहाँ ग्रहण होता है। यदि गोत्रक्षत्रियवाची वासुदेव शब्द का यहाँ ग्रहण करें तो वासुदेव शब्द पढ़ना निरर्थक हो जाता, क्योंकि उससे तो अगले सूत्र 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यः' (४।३।९९) से वुञ् प्रत्यय होने से रूप सिद्धि हो ही जाती। और वुन् करने से स्वरभेद भी नहीं होता। अतः गोत्रक्षत्रियाख्य वासुदेव से यहाँ विधान करना अनर्थक ही होता।

प्रथमासमर्थ भक्ति समानाधिकरण वासुदेव-अर्जुन प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है। जैसे—वासुदेव भक्तिरस्य वासुदेवकः। अर्जुनकः॥९८॥

गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्॥९९॥

गोत्र-क्षत्रियाख्येभ्यः —५।३। बहुलम् —१।१। वुञ् —१।१। प्रथमासमर्थेभ्यो भक्तिसमानाधिकरणेभ्यो गोत्राख्येभ्य क्षत्रियाख्येभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽस्येत्यन्यपदार्थे बहुलं वुञ् प्रत्ययो भवति। ग्लुचुकायनो भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः। त्रैगर्त्तकः। वृद्धादपि परत्वाद् वुञेव। गार्गकः। वात्सकः। मालवकः। बहुलग्रहणात् क्वचिन्न भवति—पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः॥९९॥

भावार्थ—प्रथमा समर्थ भक्ति समानाधिकरण प्रसिद्ध गोत्रवाचक तथा प्रसिद्ध क्षत्रिय वाचक प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में बहुल करके 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—ग्लुचुकायनो भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः। त्रैगर्त्तकः। वृद्धसंज्ञकों से भी परत्व से 'वुञ्' ही होता है। जैसे—गार्गकः। वात्सकः। मालवकः। बहुलग्रहण से कहीं नहीं भी होता है। जैसे—पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः॥९९॥

जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने॥१००॥

जनपदिनाम् —६।३। जनपदवत् [अ.प.]। सर्वम् —१।१। जनपदेन—३।१। समानशब्दानाम् —६।३। बहुवचने —७।१। जनपदशब्दो देशवाची, स एषामस्तीति स्व-स्वामिसम्बन्ध इनिः प्रत्ययः। जनपदिनो जनपदस्वामिनः क्षत्रियाः जनपदवदित्यतिदेशः। बहुवचने जनपदेन समानशब्दानां जनपदिनां सर्वं जनपदवत् कार्यं भवति, सोऽस्य भक्तिरित्यस्मिन्नर्थे।

---

* अल्पाचतरम् (२।२।३४) —**सम्पादक**

'जनपदतदवध्योश्च' इत्यादि शेषसामान्ये देशवाचिनां जनपदानां यत्कार्यं विधीयते तद् भक्तिसमानाधिकरणानां जनपदिनामतिदिश्यत इत्यर्थः यथा अङ्गेषु देशेषु भवम्-आङ्गकम्। वाङ्गकम्-इत्यादि भवति। एवमङ्गानां राजा-आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। आङ्गो भक्तिरस्येति विगृह्य जनपदवद् वुञ्—आङ्गकः। वाङ्गकः। मागधकः। कालिङ्गकः।

जनपदिनामिति किमर्थम्—पंचाला वैश्या भक्तिरस्य पांचालः। जनपदवदित्येव सिद्धे सर्वग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं प्रकृतिरपि जनपदवत् स्यात्। यथा-मद्रवृज्योः कन्निति मद्र-वृजिजनपदशब्दाभ्यां शेषसामान्ये कन् विधीयते। एवं मद्राणां राजा माद्रः। द्व्यञ्-मगधेत्यण्। वृजीनां राजा वार्ज्यः। वार्ज्यौ। वृद्धेत्कोशलेति ञ्यङ्। भक्तिसमानाधिकरणाभ्यां माद्र-वार्ज्यप्रातिपदिकाभ्यां कृतवृद्ध्यभावाभ्यां कन् यथा स्यात्। अर्थात् माद्र-वार्ज्ययोः स्थाने मद्र-वृजी प्रकृती स्याताम्। तदेव मद्र-वृज्योः कनित्युपपन्नो भवति। माद्रो माद्रौ वा भक्तिरस्य मद्रकः। वार्ज्यो वार्ज्यौ—भक्तिरस्य वृजिकः। अङ्गादयो जनपदशब्दा बहुवचने जनपदिभिः क्षत्रियसमाना एव भवन्ति। तद्राजप्रत्ययस्य बहुवचने च लुग्वचनप्रामाण्यात्॥ १००॥

भाषार्थ—जनपद शब्द देशवाची है, उससे स्व स्वामी सम्बन्ध में 'इनि' प्रत्यय करने से 'जनपदी' शब्द बना है। अर्थात् जनपदिनः=जनपदस्वामिनः क्षत्रियाः। 'जनपदवत्' यह अतिदेश=तुल्यतया विधान का सूचक है। बहुवचन में जनपद=देशवाची शब्दों के समान जो जनपदी अर्थात् देश के स्वामी क्षत्रियवाची शब्द हैं, उन को जनपदवत् कार्य षष्ठ्यर्थ भक्ति विषय में होता है। अर्थात् 'जनपद तदवध्योश्च' (४।२।१२४) इस शेष प्रकरण में देशवाची जनपद शब्दों को जो प्रत्ययविधीरूप कार्य किया गया है, वह भक्ति समानाधिकरण जनपदी=जनपद स्वामी क्षत्रियवाची शब्दों से होवे। जैसे—अङ्गेषु देशेषु भवम् आङ्गकम्। वाङ्गकम् इत्यादि उदाहरण बनते हैं, इसी प्रकार अङ्गानां राजा आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। 'आंगो भक्तिरस्येति विगृह्य' जनपदवाचियों की भाँत वुञ् प्रत्यय होता है आंगकः। वांगकः। मागधकः। कालिङ्गकः।

यहाँ 'जनपदिनाम्' का ग्रहण इसलिये है—पञ्चाला वैश्या भक्तिरस्य पाञ्चालः। यहाँ जनपदवत् 'वुञ्' न हो। 'जनपदवत्' इतने कहने से कार्य सिद्धि होने पर 'सर्वम्' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि प्रकृति भी जनपद के समान हो जावे। जैसे—'मद्र वृज्योः (४।२।१३१) कन्' इस सूत्र से मद्रवृजि जनपदवाची शब्दों से शेष सामान्य में कन् विधान किया है। इसी प्रकार 'मद्राणां राजा माद्रः' यहाँ 'द्व्यञ्-मगधः' (४।२।१७०) सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। और वृजीनां राजा वार्ज्यः। वार्ज्यौ। यहाँ 'वृद्धेत्कोसल०' (४।१।१७०) सूत्र से 'ञ्यङ्' प्रत्यय हुआ है। इन भक्ति समानाधिकरण माद्र-वार्ज्य प्रातिपदिकों से वृद्धि रहित दशा में 'कन्' प्रत्यय करना 'सर्वम्' शब्द का प्रयोजन है। अर्थात् भक्ति समानाधकरण में माद्र और वार्ज्य शब्दों की प्रकृति मद्र-वृजि हो होवे। जैसे—

माद्रा माद्री वा भक्तिरस्य मद्रक:। वार्ज्यो वार्ज्यो वा भक्तिरस्य वृजिक:। अंगादि जनपदवाची शब्द बहुवचन में जनपद देश के स्वामी क्षत्रियवाची शब्दों के समान ही हो जाते है, क्योंकि 'तद्राजस्य बहुषु०' (२।४।६२) इत्यादि प्रमाण से बहुवचन में तद्राजसञ्ज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाता है॥१००॥

तेन प्रोक्तम्॥ १०१॥

भक्त्यधिकारो निवृत्त:। तेन —३।१। प्रोक्तम् —१।१। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रोक्तमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। उत्सेन प्रोक्तम् औत्सम्। दैत्यम्। आदित्यम्। स्त्रिया प्रोक्तं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। पाणिनीयम्। आपिशलम्। प्रोक्ताधिकारो ग्रन्थेष्वेव संपद्यते। रचना तु पदार्थान्तराणामपि भवति। द्विविधं चेह प्रोक्तं गृह्यते-स्वकृतं परकृतं च। स्वयमेव यत् सृज्यते परसृष्टं च यद् व्याख्यानेन प्रकाश्यते। स्वसृष्टं यथा-पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयमष्टकम्। अन्यकृतस्येश्वरकृतस्य वेदस्य ऋषिभि: प्रकाशनस्य शाखानामानि सम्पद्यन्ते। यथा-तित्तिरिणा प्रोक्तां शाखामधीयते ते तैत्तिरीया:। एवं च कृत्वा वेदानां नित्यत्वमेव सम्पद्यते, ऋषिकृत्यं प्रोक्तविषय:। छन्दोब्राह्मणान्यध्येतृ-वेदितृ-विषयेष्वेव भवन्ति। इदं सामान्येनाधिकारसूत्रमेव। पाणिनिना प्रोक्तं व्याकरणं पाणिनीयम्। काणादम्। गौतमम्॥ १०१॥

भाषार्थ—यहाँ से 'भक्ति' का अधिकार निवृत्त हो गया है। तृतीया समर्थ प्रातिपदिको स प्रोक्त अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—उत्सेन प्रोक्तम् औत्सम्। दैत्यम्। आदित्यम्। स्त्रिया प्रोक्तम्=स्त्रैणम्। पौंस्नम्। पाणिनीयम्। आपिशलम्। इत्यादि।

प्रोक्ताधिकार ग्रन्थों में ही सगत होता है। रचना तो दूसरे पदार्थों की भी होती है। प्रोक्त शब्द से यहाँ दो प्रकार के ग्रन्थों का ग्रहण है—स्वयं बनाये हुए और दूसरे के बनाये हुए व्याख्यात ग्रन्थ। जो ग्रन्थ स्वयं बनाया गया है अथवा दूसरे के द्वारा बनाया गया हो और उसकी व्याख्या के द्वारा प्रकाश किया गया हो, दोनों का ही प्रोक्त से ग्रहण है; जैसे—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयमष्टकम्। और दूसरे ईश्वर के ज्ञानस्वरूप वेद का ऋषियों के द्वारा जो व्याख्यान किया गया है, उन ग्रन्थों को शाखा कहते हैं। जैसे तित्तिरिणा प्रोक्तां शाखामधीयते ते तैत्तिरीया:। इस प्रकार वेदो का नियत्व ही सिद्ध होता है। और ऋषियों के ग्रन्थ प्रोक्त विषयक हैं। छन्द और ब्राह्मण वाचक प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द अध्येता (पढ़नेवाले) और वेदिता (जाननेवाले) प्रत्ययार्थ विषयक ही होते हैं। अर्थात् प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण के वाचक शब्दों का अध्ययन और वेदन प्रत्ययार्थ के बिना पृथक् प्रयोग नहीं होता है। यह सामान्य अधिकार सूत्र है। जैसे—पाणिनिना प्रोक्तं व्याकरण पाणिनीयम्। काणादम्। गौतमम्॥१०१॥

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्॥ १०२॥

तित्तिरि-कोखात् —५।१। छण् —१।१। तृतीयासमर्थेभ्यस् तित्तिरि-

आदिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रोक्ते छन्दसि छण् प्रत्ययो भवति। छन्दो ब्राह्मणानि चेति तद्विषयता। तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। छन्द इति किम् तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः। अत्र मा भूत्॥ १०२॥

भावार्थ—तृतीया समर्थ तित्तिरि, आदि प्रातिपदिकों से प्रोक्त छन्द विषय में 'छण्' प्रत्यय होता है। छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थों की तद्विषयता है अर्थात् पढने और जानने अर्थ के विना प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मणों का पृथक् प्रयोग नहीं होता। जैसे—तितिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। इस सूत्र में 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (अ० ४।३।१०६) सूत्र से सिंहावलोकनन्याय से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति है। 'छन्दसि' का ग्रहण इसलिये है—तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः। यहाँ छन्द (वेदशास्त्र) न होने से प्रत्यय नहीं हुआ है॥ १०२॥

काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः॥ १०३॥

काश्यप-कौशिकाभ्याम् —५।२। ऋषिभ्याम् —५।२। णिनिः —१।१। वृद्धाच्छः प्राप्तस्तद् बाधनार्थ आरम्भः। काश्यप-कौशिकाभ्याम् ऋषिवाचिभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रोक्तार्थे णिनिः प्रत्ययो भवति। आभ्यामृषिभ्यां कल्पशास्त्रं प्रोक्तं तेन छन्दो ग्रहणं नात्र सम्बध्यते। परन्तु छन्दोऽधिकारे पठनात् तद्विषयता भवत्येव। काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः। कौशिकिनः। ऋषिभ्यामिति किम्-इदानीन्तनः कश्चित् काश्यपः कौशिको वा स्यात् तस्माच्छ एव भवति॥ १०३॥

भावार्थ—सूत्र पठित दोनों शब्दों के वृद्ध संज्ञक होने से छ प्रत्यय प्राप्त था, यह सूत्र उसका बाधक है। तृतीया समर्थ ऋषिवाची काश्यप और कौशिक प्रातिपदिकों से प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है। इन दोनों ऋषियों ने कल्पशास्त्र का प्रवचन किया है, इसलिये 'छन्दसि' पद की यहाँ अनुवृत्ति नहीं की गई है। परन्तु 'छन्दसि' के अधिकार में सूत्र पाठ होने से छन्दोविषयता है। जैसे—काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः। कौशिकिनः। सूत्र में 'ऋषिभ्याम्' पद का ग्रहण इसलिये है कि वर्तमान में किसी व्यक्ति का काश्यप अथवा कौशिक नाम यदि है, तो उससे 'णिनि' प्रत्यय न हो 'छ' प्रत्यय ही होवे। [काश्यपीयम्]॥ १०३॥

कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च॥ १०४॥

कलापि.......वासिभ्यः —५।३। च [अ.प.]। णिनिग्रहणमनुवर्त्तते। अन्तेवासिशब्दः शिष्यपर्यायः, स चोभाभ्यां संबध्यते। कालाप्यन्तेवासिनः। वैशम्पायनान्तेवासिनश्च। अन्तेवासिनां येऽन्तेवासिनस्तेभ्यस्तु नैव भवति ज्ञापकात्। कलापिन्शब्दो वैशम्पायनान्तेवासिषु वर्त्तते। यद्यन्तेवासिनामन्तेवासिभ्योऽपि स्यात् तर्हि कलाप्यन्तेवासिभ्योऽपि स्यादेव। पुनर्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। तेन ज्ञायते विद्यमानस्य कलापिनो वैशम्पायनस्य च येऽन्तेवासिनस्तेभ्य

एव भवतीति। तृतीयासमर्थेभ्यः कलाप्यन्तेवासिभ्यो वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्रोक्तार्थे णिनिः प्रत्ययो भवति। कलाप्यन्तेवासिनश्चत्वारः— हरिद्रुः तुम्बुरुः। छगलिन्। उलपः। हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः। तौम्बुरविणः। औलपिनः। छगलिन्शब्दाद् ढिनुग्विधास्यते। वैशम्पायनान्तेवासिनो नव-आलम्बि। पलङ्ग। कमल। ऋचाभ। आरुणि। ताण्ड्य। श्यामायन। कठ। कलापी। आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। कलापिशब्दादण् विधास्यते। कठशब्दाच्च लुक्। तावस्यैवापवादौ॥ १०४॥

भाषार्थ—यहाँ 'णिनि' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। अन्तेवासी शब्द शिष्य का पर्यायवाची है। और अन्तेवासी का सम्बन्ध सूत्र पठित दोनों शब्दों से हैं अर्थात् जो कलापी के अन्तेवासी है, तथा वैशम्पायन के अन्तेवासी हैं, दोनों से यह प्रत्यय होता है। और जो इनके शिष्यों के शिष्य हैं, उनसे यह प्रत्यय नहीं होता। इसमें यह ज्ञापक है—कलापी शब्द वैशम्पायन के शिष्यों में पठित है, यदि शिष्यों के शिष्यों से भी प्रत्यय हो जाता, तब कलापी के शिष्यों से भी प्रत्यय सिद्ध ही था, पुनः इस सूत्र में 'कलापी' का पृथक् पाठ अनर्थक ही हो जाता। इससे स्पष्ट है कि कलापी तथा वैशम्पायन के अन्तेवासियों से ही प्रत्यय होता है। अर्थात् वैशम्पायन के अन्तेवासियों में से केवल कलापी के अन्तेवासियों से यह प्रत्यय इष्ट है, अन्यों के शिष्यों से नहीं।

तृतीयासमर्थ कलापी के अन्तेवासी तथा वैशम्पायन के अन्तेवासी प्रातिपदिकों से प्रोक्त अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है। जैसे कलापी के अन्तेवासी चार हैं— हरिद्रु। तम्बुरु। छगलिन्। उलप। हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः। तौम्बुरविणः। औलपिनः। छगलिन् शब्द से ढिनुक् प्रत्यय का विधान आगे किया गया है। वैशम्पायन के शिष्य नौ हैं—औलम्बि। पलङ्ग। कमल। ऋचाभ। आरुणि। ताण्ड्य। श्यामायन। कठ। कलापी। आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। इनमें कलापी शब्द से अण् तथा कठ शब्द से प्रत्यय का लुक् आगे विधान किया गया है। वे दोनों सूत्र इसी के अपवाद हैं॥ १०४॥

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु॥ १०५॥

अत्र छन्दो ग्रहणं नानुवर्त्तते। पुराणप्रोक्तेषु-७। ३। ब्राह्मणकल्पेषु-७। ३। पुराणैः प्राचीनैर्ऋषिभिः प्रोक्ताः पुराणप्रोक्ताः। ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ते ब्राह्मणकल्पाः। ब्राह्मणस्याभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः। ब्राह्मणकल्पानां पुराण-प्रोक्तेष्विति विशेषणम्। तत्सर्वं प्रत्ययार्थेन सह सम्बन्ध्यते। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेष्वभिधेयेषु णिनिः प्रत्ययो भवति। शाट्यायनेन प्रोक्तानि ब्राह्मणान्यधीयते शाट्यायनिनः। भाल्लविनः। ऐतरेयिणः।

कल्पेषु—पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गीकल्पः। आरुणपराजीकल्पः। छन्दो-ब्राह्मणानि चेत्युक्तत्वात् कल्पेषु तद्विषयता न भवति।

वा०—पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः॥ १॥

याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्कानि। सौलभानि। यज्ञवल्क-

शब्दः कण्वादिषु पठ्यते, तस्मादण्। णिनिः प्रतिषिध्यते।

जयादित्येनात्रोक्तम्—याज्ञवल्कादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्त्ता। एवं हि मत्वा याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानीति प्रत्युदाहृतम्। तदिदं महाभाष्याद् विरुद्धतरम्। महाभाष्यकारेणोक्तम्—"एतान्यपि तुल्यकालानि।' शाट्यायनादिप्रोक्तैरेक कालवच्छेदकानि याज्ञवल्क्यादिब्राह्मणानि सन्तीत्यर्थः। जयादित्यो जानाति याज्ञवल्कानि पुराणप्रोक्तानि न सन्ति। तदिदं को मर्षयेत्। यदा याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि तदैव शाट्यायनादिभिरपि॥ १०५॥

इस सूत्र में 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति नहीं है। 'पुराण' शब्द प्राचीन अर्थ में विशेषण है, नवीन काल्पनिक ग्रन्थों का वाचक नहीं है। पुराणैः-प्राचीनैर्ऋषिभिः प्रोक्ताः पुराणप्रोक्ताः। 'ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ते ब्राह्मणकल्पाः। इसमें 'ब्राह्मण' शब्द का अभ्यर्हित होने से पूर्वप्रयोग हुआ है। 'पुराणप्रोक्तेषु' पद 'ब्राह्मण-कल्प' शब्द का विशेषण है। और सूत्रोक्त सब पद प्रत्ययार्थ के साथ सम्बद्ध हैं। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से प्राचीन ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थों के अभिधेय में 'णिनि' प्रत्यय होता है। जैसे—शाट्यायनेन प्रोक्तानि ब्राह्मणान्यधीयते शाट्यायनिनः। भाल्लविनः। ऐतरेयिणः। कल्प वाच्य में—पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गीकल्पः। आरुणपराजीकल्पः। 'छन्दो ब्राह्मणानि च०' (४।२।६५) सूत्र में कहने से कल्पों में तद्विषयता नहीं होती। अर्थात् कल्पवाचियों से प्रोक्तार्थ में विहित प्रत्यय अध्ययन और वेदन अर्थों में नहीं होता है।

वा०—पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः॥ १॥

पुराण-प्रोक्त होने से सूत्र से याज्ञवल्क्यादि से प्रत्यय प्राप्त है, इसलिये वार्त्तिक से 'णिनि' प्रत्यय का निषेध किया है। जैसे—याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि। सौलभानि इत्यादि। 'यज्ञवल्क' शब्द के कण्वादि गण में पढा होने से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। और णिनि का निषेध हुआ है।

यहाँ जयादित्य ने लिखा है—याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण पुराण-प्रोक्त नहीं हैं, किन्तु वे पीछे बने हैं, ऐसी आख्यानों में प्रसिद्धि है। इसलिये उसने 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' यह प्रत्युदाहरण लिखा है। यह महाभाष्य से विरुद्ध होने से मिथ्या है। महाभाष्य में—'तुल्यकालानि' लिखकर याज्ञवल्क्यादि को भी प्राचीन स्वीकार किया है। जिससे स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मणग्रन्थ भी शाट्यायनादि ऋषियों के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन हैं। जयादित्य का यह विचार कौन स्वीकार करेगा कि याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ प्राचीन नहीं है। जब कि जिस समय में याज्ञवल्क्यादि ने ब्राह्मणग्रन्थ का प्रवचन किया, उसी समय शाट्यायनादि ऋषियों ने भी प्रवचन किया था॥ १०५॥

शौनकादिभ्यश्छन्दसि॥ १०६॥

शौनकादिभ्यः —५।३। छन्दसि —७।१। वृद्धेभ्यश्छः प्राप्तोऽवृद्धेभ्य श्चाण्। तयोरपवादः। छन्दोग्रहणं ब्राह्मणकल्पनिवृत्त्यर्थम्। तृतीयासमर्थेभ्यः

शौनकादिप्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि प्रोक्तेऽभिधेये णिनिः प्रत्ययो भवति। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः। छन्दसीति किम्-शौनकेन प्रोक्ता शिक्षा शौनकीया। वृद्धत्वाच्छो भवति। अथ शौनकादिगणः—शौनक। वाजसनेय। साङ्गरव। शार्ङ्गरव। सापेय। शापेय। शाष्पेय। शाखेय। खाडायन। स्तम्भ। स्कन्ध। स्कन्द। देवदर्शन। देवदत्त शठ। रज्जुभार। रज्जुकण्ठ। कठशाठ। कशाय। तलवकार। दण्ड। पुरुषासक। अश्वपेय। इति शौनकादयः॥ १०६॥

भाषार्थ—शौनकादि गण में जो वृद्धसंज्ञक शब्द हैं, उनसे 'छ' प्रत्यय और अवृद्ध संज्ञकों से 'अण्' प्राप्त है। यह सूत्र दोनों का अपवाद है। यहाँ 'छन्दसि' का ग्रहण ब्राह्मण कल्प की निवृत्ति के लिये है। तृतीयासमर्थ गणपठित शौनकादि शब्दों से छन्दस् वाच्य हो तो प्रोक्त अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है। जैसे—शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः वाजसनेयिनः। यहाँ 'छन्दसि' का ग्रहण इसलिये है कि—शौनकेन प्रोक्ता शिक्षा शौनकीया। यहाँ णिनि न हो। वृद्धसंज्ञक होने से यथाप्राप्त 'छ' प्रत्यय यहाँ हुआ है॥ १०६॥

कठचरकाल्लुक्॥ १०७॥

छन्दसीत्यनुवर्त्तते। कठचरकात् —५।१।लुक् —१।१।तृतीयासमर्थाभ्यां कठ-चरकप्रातिपदिकाभ्यां विहितस्य प्रोक्तप्रत्ययस्य लुग्भवति। कठशब्दो वैशंपायनान्तेवासिषु वर्त्तते, तस्माण्णिनेः। चरकशब्दाच्चाणः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। चरकाः। छन्दसीति किमर्थम्। काठाः श्लोकाः। चारकाः श्लोकाः॥ १०७॥

भाषार्थ—यहाँ 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ कठ और चरक प्रातिपदिकों से प्रोक्तार्थ में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। कठ शब्द से वैशम्पायनान्तेवासियों में पाठ होने से 'णिनि' प्रत्यय का और चरक शब्द से अण् का [लुक् होता है]। जैसे—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। चरकाः। यहाँ 'छन्दसि' का ग्रहण इसलिये है कि—काठाः श्लोकाः। चारकाः श्लोकाः। यहाँ वेद से भिन्न होने से प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् न होवे॥ १०७॥

कलापिनोऽण्॥ १०८॥

कलापिनः—५।१।अण्—१।१। कलापिशब्दो वैशम्पायनान्तेवासिषु पठ्यते, तस्माण्णिनेरपवादः। तृतीयासमर्थात् कलापि-प्रातिपदिकाच्छन्दसि प्रोक्तेऽण् प्रत्ययो भवते। कलापिना प्रोक्तमधीयते कलापाः। 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावे प्राप्ते' नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारीति' वार्तिकेन प्रतिषिध्यते॥ १०८॥

भाषार्थ—'कलापिन्' शब्द भी वैशम्पायनान्तवासियों में पठित है अतः यह सूत्र 'णिनि' प्रत्यय का अपवाद है। तृतीया समर्थ 'कलापिन्' प्रातिपदिक से छन्दस् अभिधेय हो तो प्रोक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—कलापिना प्रोक्तमधीयते

कालापाः। 'कलापिन्+अण्' यहाँ 'इनण्यनपत्ये' (६।४।१६४) सूत्र से टिलोप के अपवाद प्रकृतिभाव के प्राप्त होने पर 'नान्तस्य टिलोप सब्रह्मचारि०' (६।४।१४४ वार्त्तिक) वार्त्तिक से उपसंख्यान होने से प्रकृतिभाव का निषेध होने से टिलोप हुआ है॥१०८॥

छगलिनो ढिनुक्॥१०९॥

छगलिनः —५।१। ढिनुक् —१।१। कलाप्यन्तेवासी छगलिन् शब्दस्तस्माण्णिनेरपवादः। तृतीयासमर्थाच्छगलिन्प्रातिपदिकाच्छन्दसि प्रोक्ते ढिनुक् प्रत्ययो भवति। छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः। उकारोऽनुबन्धो नकाररक्षणार्थः। ककारोऽनुबन्धो वृद्ध्यर्थः स्वरार्थश्च॥१०९॥

भाषार्थ—'छगलिन्' शब्द से कलापि का अन्तेवासी होने से 'कलापी' (४।३।१०४) सूत्र से प्रोक्तार्थ में 'णिनि' प्राप्त है। यह उसका अपवाद है। तृतीयासमर्थ छगलिन् प्रातिपदिक से छन्दस् अभिधेय में प्रोक्त अर्थ में 'ढिनुक्' प्रत्यय होता है। जैसे—छगलिप्रोक्तमधीयते छागलेयिनः। यहाँ प्रत्यय में उकारानुबन्ध नकार की रक्षा के लिये है, और ककारानुबन्ध वृद्धि तथा स्वर के लिये है॥१०९॥

पाराशर्य्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः॥११०॥

णिनिग्रहणमनुवर्त्तते, न ढिनुक्। पाराशर्य्यशिलालिभ्याम् —५।२। भिक्षुनटसूत्रयोः —७।२। सूत्रशब्द उभाभ्यां सम्बध्यते। तृतीयासमर्थाभ्यां पाराशर्य्यशिलालिप्रातिपदिकाभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः प्रोक्तयोर्णिनिः प्रत्ययो भवति। भिक्षुसूत्रं नट-सूत्रं च छन्दोवन्मत्वा तद्विषयता भवत्येव। पाराशर्य्येण प्रोक्तमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः। भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम्-पाराशरम्। शैलालम्॥११०॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'णिनि' प्रत्यय की अनुवृत्ति है, 'ढिनुक्' की नहीं। सूत्र का सम्बन्ध भिक्षु और नट दोनों के साथ है। तृतीयासमर्थ पाराशर्य्य और शिलालिन् प्रातिपदिकों से यथासंख्य भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र अभिधेय हों तो प्रोक्तार्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है। भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र को छन्दोवत् मानकर तद्विषयता अर्थात् अध्ययन वेदन विषयता होती ही है। जैसे—पाराशर्य्येण प्रोक्तमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः। यहाँ 'भिक्षुनटसूत्रयोः' का ग्रहण इसलिये किया है कि पाराशरम्। शैलालम्। यहाँ णिनि न होवे॥११०॥

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः॥१११॥

भिक्षुनटसूत्रयोरित्यनुवर्त्तते। कर्मन्द-कृशाश्वात् —५।१। इनिः —१।१। तृतीयासमर्थाभ्यां कर्मन्दकृशाश्वाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः प्रोक्तयोरिनिः प्रत्ययो भवति। कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः। कृशाश्विनः। इति प्रोक्ताधिकारः॥१११॥

भाषार्थ—यहाँ भिक्षुनटसूत्रयोः पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ कर्मन्द और कृशाश्व प्रातिपदिकों से प्रोक्त भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र अभिधेय हो तो 'इनि'

प्रत्यय होता है। जैसे—कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो [भिक्षवः]। कृशाश्विनो [नटाः]। प्रोक्त का अधिकार यहाँ समाप्त हो गया है॥ १११॥

तेनैकदिक्॥ ११२॥

तेन —३।१। एकदिक् —१।१। तेनेत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तेन ग्रहणं छन्दोधिकारनिवृत्त्यर्थम्। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति। एकदिक् समानदिगित्यर्थः। इन्द्रप्रस्थेनैकदिक् ऐन्द्रप्रस्थो ग्रामः। वाराणस्या एकदिक् वाराणसेयो ग्रामः॥ ११२॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) सूत्र से 'तेन' पद की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'तेन' का ग्रहण 'छन्दसि' की निवृत्ति के लिये है। तृतीया-समर्थ प्रातिपदिकों से एक दिक्=समानदिशा अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—इन्द्रप्रस्थेनैकदिक् ऐन्द्रप्रस्थो ग्रामः। वाराणस्या एकदिक् वाराणसेयो ग्रामः॥ ११२॥

तसिश्च॥ ११३॥

पूर्वं सूत्रमनुवर्त्तते। तसिः —१।१। च। अणादेः प्रत्ययस्यापवादः। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तसिः प्रत्ययो भवति। नासिकया एकदिक् नासिकातः। अङ्गुल्या एकदिक् अङ्गुलितः। वाराणसीतः। हिमवतः॥ १०३॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। यह यथाप्राप्त अणादि प्रत्ययों का अपवाद है। तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से एकदिक्=समान दिशा अर्थ में 'तसि' प्रत्यय होता है। जैसे—नासिकया एकदिक् नासिकातः। अङ्गुल्या एकदिक् अङ्गुलितः। वाराणसीतः। हिमवतः॥ ११३॥

[उरसो यच्च*॥ ११४॥

उरसः —५।१। यत् —१।१। च —अ०प०। अणोऽपवादः। तृतीया-समर्थात् उरस्प्रातिपदिकात् एकदिग्विषये यत् प्रत्ययो भवति चकारात् तसिश्च। उरसा एकदिक् उरस्यः। उरस्तः॥ ११४॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। तृतीयासमर्थ उरस् प्रातिपदिक से एकदिक् विषय में यत् और तसि प्रत्यय होते हैं। जैसे—उरसा एकदिक् उरस्यः। उरस्तः॥ ११४॥]

उपज्ञाते॥ ११५॥

उपज्ञाते —७।१। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् उपज्ञात इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। सृष्ट्यादौ वेदान् दृष्ट्वा स्वबुद्ध्युत्कृष्टं त्वाद्यं ग्रन्थं यः प्रकाशयति स ग्रन्थस्तेनोपज्ञातो भवति। पाणिनिणोपज्ञातं व्याकरणं पाणिनीयम्। पातञ्जलं योगशास्त्रम्। आपिशलम्॥ ११५॥

भाषार्थ—तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से उपज्ञात (प्रथम प्रकाशित) अर्थ में

---

* महर्षिदयानन्दकृतभाष्ये सूत्रमिदं नोपलभ्यते। —अनुवादकः

यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वरोपदिष्ट वेदों को समझकर अपनी बुद्धि से जो प्रथम एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ को प्रकाशित करता है वह ग्रन्थ उससे उपज्ञात कहलाता है। जैसे –पाणिनिनोपज्ञातं व्याकरणं पाणिनीयम्। पातञ्जलं योगशास्त्रम्। आपिशलम्॥ ११५॥

कृते ग्रन्थे॥ ११६॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। कृते —७।१। ग्रन्थे —७।१। तृतीयसमर्थात् प्रातिपदिकात् कृते ग्रन्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वररुचिना कृतं वाररुचं काव्यम्। जालूको ग्रन्थः। अथ कृतोपज्ञातयोः को विशेषः। नित्याया विद्याया आविर्भाव उपज्ञानम्। करणमभूतपूर्वस्यापि भवति। वररुचिनाऽभूतपूर्वाः श्लोकाः कृता इत्यर्थः। यथा च तक्षकृताः प्रासादाः। कुलालकृतो घटः। तन्तुवायकृतः पट इत्यादि॥ ११६॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से जो किया हो वह ग्रन्थ हो तो इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। जैसे—वररुचिना कृतं वाररुचं काव्यम्। जालूको ग्रन्थः, इत्यादि।

कृत और उपज्ञात अर्थों में क्या अन्तर है? नित्य विद्या का आविर्भाव (प्रकट करना) उपज्ञात कहलाता है और जो पहले न हो उसको बनाना कृत कहलाता है। वररुचि के अभूतपूर्व श्लोक कृत कहलाते है। जैसे तक्षा (शिल्पी) द्वारा बनाया प्रासाद (भवन) कुम्भकार द्वारा बनाया घट और तन्तुवाय (जुलाहा) के द्वारा बनाया वस्त्र कृत कहलाते हैं*॥ ११६॥

संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुञ्॥ ११७॥

संज्ञायाम् —७।१। कुलालादिभ्यः —५।३। वुञ् —१।१। तृतीयासमर्थेभ्यः कुलालादिभ्यःप्रातिपदिकेभ्यः संज्ञायां सत्यां कृते इत्यस्मिन्नर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति। कुलालेन कृतं कौलालकम्। वारुडकम्।

अत्र महाभाष्यकारेण 'संज्ञायाम्' इति योग विभागः कृतः। तेन यथाविहितं प्रत्ययः साध्यते। मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम्। सरघाभिः कृतं सारघम्। गार्मुतम्। पौत्तिकम्। प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन संज्ञा गम्यते।

जयादित्येनात्र योगविभागो नैव ज्ञातः। किन्तु संज्ञायामिति सूत्रं पृथग् व्याख्यातम्। परन्तु योगविभागकरणेन ज्ञायते पृथङ् नास्तीति। यदि पृथगेव स्याद् योगविभागोऽनर्थकः स्यात्।

अथ कुलालादयः—कुलाल॥ वरुड। चण्डाल। निषाद। कर्मार। सेना। सिरिध्र। सेन्द्रिय। देवराज। परिषत्। वधू। रुरु। मधु। ध्रुव। रुद्र। अनडुह।

---

* 'विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञातम्' यह काशिका का वचन चिन्त्य ही है। क्योंकि ज्ञान के लिये गुरु का होना आवश्यक है। सृष्टि के आदि में भी परमेश्वर ने वेद का ज्ञान दिया तभी मानव का बौद्धिक विकास हो सका और ऐसे अनेक परीक्षण किये गये हैं कि अब भी बिना गुरु के मानव को ज्ञान नहीं हो सकता है।

—**अनुवादक**

ब्रह्मन्। कुम्भकार। श्वपाक॥ इति कुलालादिः॥ ११७॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ गणोपदिष्ट कुलालादि प्रातिपदिकों से संज्ञा विषय में और कृत अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—कुलालेन कृतं कौलालकम्। वारुडकम्, इत्यादि।

इस सूत्र पर महाभाष्य में योग विभाग किया है। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से कृत अर्थ में यथाविहित प्रत्यय संज्ञाविषय में होते हैं। जैसे—मक्षिकाभिः कृत माक्षिकम्। सरघाभिः कृतं सारघम्। गार्मुतम्। पौत्तिकम्। यहाँ प्रकृति प्रत्यय के समुदाय से [मधु=शहद] संज्ञा का बोध होता है।

जयादित्य ने इस योगविभाग को नहीं समझा और 'सञ्ज्ञायाम्' एक पृथक् सूत्र मानकर व्याख्या की है, किन्तु महाभाष्य में योगविभाग करने से यह नितान्त स्पष्ट है कि यह पृथक् सूत्र नहीं है। यदि सूत्र पृथक् पृथक् ही होते तो योगविभाग करना निरर्थक ही हो जाता है॥ ११७॥

क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्॥ ११८॥

तेन कृते संज्ञायामिति सर्वमनुवर्त्तते। क्षुद्रा...पादपात्-५।१। अञ्-१।१। क्षुद्रादिभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कृत इत्यस्मिन्नर्थे संज्ञायां गम्यमानायाम् अञ् प्रत्ययो भवति। क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम्। भ्रामरम्। वाटरम्। पादपम्॥ ११८॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन, कृते, संज्ञायाम्' पदों की अनुवृत्ति आती है। तृतीया समर्थ क्षुद्रा, भ्रमर, वटर और पादप प्रातिपदिकों से कृत अर्थ में संज्ञा विषय में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम्। भ्रामरम्। वाटरम्। पादपम्। यह 'अण्' का अपवाद है। अण् और अञ् में स्वर में भेद होता है॥ ११८।

तस्येदम्॥ ११९॥

तस्य —६।१। इदम् —१।१। इदंशब्दः प्रत्यक्षे वर्त्तते। तत्र सामान्येन त्यादादीनामेकशेषनिर्देशः कृतोऽस्ति तेन प्रत्यक्षपरोक्षषष्ठ्यर्थमात्रस्येह ग्रहणं भवति। तच्च, अदश्च, इदं च, इदमित्येकशेषः। यद्येकशेषो न मन्येत तर्हि परोक्षस्य षष्ठ्यर्थस्य ग्रहणं कथं स्यात्। षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् इदमिति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वनस्पतेरयं दण्डो वानस्पत्यः। राज्ञः कुमारी राजकीया। राज्ञो भृत्यो राजकीयः। 'राज्ञः क चेति ककारादेशः। असंख्याताः षष्ठ्यर्थास्तेषु प्रत्ययो विधीयते। उपगोरिदमौपगवम्। अनन्तरादयोऽपि षष्ठ्यर्था-स्तेष्वनभिधानात् प्रत्ययो नोत्पद्यते। राष्ट्रस्यानन्तरं राष्ट्रस्य समीपमित्यर्थो राष्ट्रियशब्देन नाभिधीयते।

वा०—वहेस्तुरण् इट् च॥ १॥

तृच्प्रत्ययान्ताद् वहधातोरण् प्रत्ययो भवति, तृच्प्रत्ययस्येडागमश्च भवति। संवोढुः स्वं सांवहित्रम्॥ १॥

वा०—अग्नीधः शरणे रञ् भं च॥ २॥

षष्ठीसमर्थादग्नीत्प्रातिपदिकाच्छरणे षष्ठ्यर्थेऽभिधेये रञ् प्रत्ययो भवति। प्रत्यये परतः पूर्वस्य भसंज्ञा च। होता अग्नीदित्युच्यते। पदसंज्ञाया बाधिका भसंज्ञा विधीयते। पदसंज्ञायां जश्त्वं स्यात्तन्मा भूत्। अग्नीधा=होतुः शरणम्=गृहम् आग्नीध्रम्॥ २॥

वा०—समिधामाधाने षेण्यण्॥ ३॥

समित्प्रातिपदिकादाधाने षष्ठ्यर्थे षेण्यण् प्रत्ययो भवति। षित्करणं स्त्रियां ङीषर्थम्। समिधामाधानो मन्त्रः सामिधेन्यो मन्त्रः। सामिधेनी ऋक्॥ ११९॥

भाषार्थ—'इदम्' शब्द सर्वनाम है और प्रत्यक्ष संनिहित यह है, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु इस सूत्र में (तच्च, अदश्च, इदं चेतीदम्) यह 'त्यदादीनि च' (१।२।७२) सूत्र से एकशेष* करके निर्देश किया है। इससे प्रत्यक्ष और परोक्ष षष्ठ्यर्थ मात्र का यहाँ ग्रहण होता है। यदि एक शेष निर्देश स्वीकार नहीं किया जाये तो परोक्ष षष्ठ्यर्थ का ग्रहण कैसे हो सकता है? षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से इदम्=प्रत्यक्ष और परोक्ष (यह और वह) षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—वनस्पतेरयं दण्डो वानस्पत्यः। राज्ञः कुमारी राजकीया। राज्ञो भृत्यो राजकीयः। यह 'राज्ञः क च' (४।२।१३९) सूत्र से यहाँ ककारादेश हुआ है। षष्ठी के सम्बन्धवाचक असंख्य अर्थ होते हैं, उन सभी अर्थों में यह प्रत्यय विधान किया है। जैसे—उपगोरिदमौपगवम्। किन्तु षष्ठी के अनन्तरादि अर्थों में अनभिधान होने से प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—राष्ट्रस्यानन्तरं, राष्ट्रस्य समीपम्, इत्यादि अर्थों की प्रतीति राष्ट्रिय शब्द से नहीं होती।

वा०—वहेस्तुरण् इट् च॥ १॥

तृच् प्रत्ययान्त वह् धातु से इदम् अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और तृच् प्रत्यय को 'इट्' का आगम होता है। प्रत्यय तो सूत्र से ही प्राप्त है, इडागम के लिये वार्तिक बनाया है। जैसे—संवोढुः स्वं सांवहित्रम्॥ १॥

वा०—अग्नीधः शरणे रञ् भं च॥ २॥

षष्ठी समर्थ 'अग्नीध्' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ शरण (गृह) अर्थ में 'रञ्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय से पूर्व की भसंज्ञा होती है। अग्नीध् 'होता' कहलाता है। यहाँ पद संज्ञा की बाधिका भसंज्ञा का विधान किया है। पद संज्ञा में जश्त्व दकारादेश प्राप्त होता, वह न हो, इसलिये भसंज्ञा का विधान किया है। जैसे—अग्नीधः (होतुः) शरणम् (गृहम्) आग्नीध्रम्॥ २॥

वा०—समिधामाधाने षेण्यण्॥ ३॥

षष्ठीसमर्थ 'समिध' प्रातिपदिक से आधान षष्ठ्यर्थ में षेण्यण् प्रत्यय होता है। षित्करण स्त्रीलिंग में ङीष् के लिये है। जैसे—समिधामाधानो मन्त्रः सामिधेन्यो मन्त्रः। सामिधेनी ऋक्॥ ११९॥

---

* 'इहापि तर्ह्येकशेषनिर्देशो भविष्यति—तच्च अदश्च इदं च—इदमित्येव' (महाभाष्ये)।
—अनुवादक

रथाद् यत्॥ १२०॥

रथात् —५।१। यत् —१।१। अणोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् रथप्रातिपदिकाद् इदम् इति षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। षष्ठ्यर्थश्चात्रावयव इष्यते। रथ्यशब्देन यस्याभिधानं न दृश्यतेऽतो नोत्पद्यते प्रत्ययः। रथस्य चक्रं युगं वा रथ्यम्। वक्ष्यमाणसूत्रेण ज्ञायते तदन्तादपि यद् भवतीति। शोभनरथ्यम्। दर्शनीयरथ्यम्॥ १२०॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ रथ प्रातिपदिक से इदम्=षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यहाँ अवयव षष्ठ्यर्थ का ग्रहण इष्ट है। 'रथ्य' शब्द से जिसका अभिधान नहीं होता, वहाँ प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—रथस्य चक्रं युगं वा रथ्यम्। इससे अगले सूत्र 'पत्रपूर्वादञ्' (४।३।१२१) से ज्ञात होता है कि यहाँ तदन्त विधि भी होती है। इससे शोभनरथ्यम्। दर्शनीयरथ्यम्, इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं॥ १२०॥

पत्रपूर्वादञ्॥ १२१॥

रथादित्यनुवर्त्तते। पत्रपूर्वात् —५।१। अञ् —१।१। यौगिकः पत्रशब्दोऽत्र गृह्यते। पतन्ति गच्छन्त्यनेनेति पत्रम् अश्वादिवाहनमुच्यते। पत्रं पूर्वं यस्मादिति। पत्रपूर्वात् षष्ठीसमर्थाद्रथप्रातिपदिकाद् इदमर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। पूर्वेण तदन्तविधिना यत् प्राप्तः स बाध्यते। उष्ट्ररथस्येदं चक्रम् औष्ट्ररथम्। आश्वरथम्। वृद्धादपि प्रातिपदिकात् परत्वादञ्। वामीरथम्। रासभरथम्॥ १२१॥

भाषार्थ—यहाँ 'रथात्' पद की अनुवृत्ति है। 'पतन्ति गच्छन्त्यनेनेति पत्रम् अश्वादिवाहनम्' इस निर्वचन के अनुसार यहाँ यौगिक 'पत्र' शब्द का ग्रहण है। पत्र=वाहनवाची शब्द जिससे पूर्व हो, उस षष्ठी समर्थ रथ प्रातिपदिक से इदम् अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। पूर्वसूत्र से तदन्त विधि मानकर 'यत्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। जैसे उष्ट्ररथस्येदं चक्रम् औष्ट्ररथम्। आश्वरथम्। वृद्ध संज्ञक प्रातिपदिकों से भी पर विप्रतिषेध से 'अञ्' प्रत्यय ही होता है। जैसे—वामीरथस्येदं वामीरथम्। रासभरथम्, इत्यादि॥ १२१॥

पत्राध्वर्युपरिषदश्च॥ १२२॥

अञनुवर्त्तते पत्रा......षदः —५।१। च [अ०] पत्रशब्देन पूर्ववद् वाहनमुच्यते। षष्ठीसमर्थेभ्यः पत्राध्वर्युपरिषद्भ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽञ् प्रत्यय इदमर्थे भवति। गर्दभस्येदं गार्दभम्। आश्वम्। औष्ट्रम्। अध्वर्योरिदम् आध्वर्य्यवम्। पारिषदम्॥ १२२॥

भाषार्थ—यहाँ 'अञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। 'पत्र' शब्द से पूर्वसूत्र की भाँति यौगिकार्थ वाहन का ग्रहण है। षष्ठीसमर्थ पत्रवाचक और अध्वर्यु तथा परिषद् प्रातिपदिकों से इदम् षष्ठ्यर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे—गर्दभस्येदं गार्दभम्। आश्वम्। औष्ट्रम्। अध्वर्योरिदम् आध्वर्यम्। पारिषदम्॥ १२२॥

हलसीराद् ठक्॥ १२३॥

हलसीरात् —५।१।ठक् —१।१।अणोऽपवादः।सीरशब्दो हलावयवः। **षष्ठीसमर्थाभ्यां हल-सीरप्रातिपदिकाभ्यामिदमर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। हालिकम्। सैरिकम्॥ १२३॥**

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' का अपवाद है। सीर शब्द हल के अवयव का वाचक है। षष्ठीसमर्थ हल और सीर प्रातिपदिकों से इदम् षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे –हलस्येद हालिकम्। सैरिकम्॥ १२३॥

द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः॥ १२४॥

द्वन्द्वात् —५।१।वुन् —१।१।वैरमैथुनिकयोः —७।२।वैरमैथुनिके प्रकृत्यर्थविशेषणे। वैरमैथुनिकात् षष्ठीसमर्थाद् द्वन्द्वप्रातिपदिकाद् वुन् प्रत्ययो भवति। वैरद्वन्द्वात्तावत्—अहिनकुलिका। वृद्धादपि परविप्रतिषेधाद् वुनेव भवति। काकोलूकिका। श्वावराहिका। मैथुनिकद्वन्द्वात्— गर्गकुशिकिका। अत्रिभरद्वाजिका। अत्र लोकाश्रयत्वाल् लिङ्गस्य स्त्रीत्वमेव भवति।

जयादित्येनात्रोक्तं वैरमैथुनिकयोः प्रत्ययार्थविशेषणयोः।तदसंगतमेवास्ति। कुतः। अहिनकुलम्। मूषकमार्जारम्। इत्यादि प्रयोगेषु तथा अत्रिभारद्वाजौ। गर्गकुशिकावित्यादिषु च वुन् प्रत्ययमन्तरैव वैरमैथुनिकयोर्विद्यमानत्वात्। अतो ज्ञायते कृतद्वन्द्वं प्रातिपदिकं वैरमैथुनिकयोर्वर्त्तते।सम्बन्धश्चात्र प्रत्ययार्थोऽस्त्येव।

वा०—वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः॥

वुन् प्रतिषिध्यते। अधिकारादण् तु भवत्येव। दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्॥ १२४॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'वैरमैथुनिकयोः' पद प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। जिन-जिन का परस्पर स्वाभाविक वैर हो और योनिसम्बन्ध हो, उनके वाची षष्ठी समर्थ द्वन्द्व समास किये प्रातिपदिकों से इदम् षष्ठ्यर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है। जैसे—वैर द्वन्द्व से—अहिनकुलिका। वृद्धसंज्ञक वैरद्वन्द्व से भी पर विप्रतिषेध से वुन् ही होता है। जैसे—काकोलूकिका। श्वावराहिका। मैथुनिक द्वन्द्व से गर्गकुशिकिका। अत्रिभरद्वाजिका, इत्यादि। यहाँ लिङ्गप्रयोग में लोकाश्रय ही मुख्य होता है, अतः इन शब्दों में स्त्रीत्व का प्रयोग है।

इस सूत्र पर जयादित्य ने लिखा है —'वैरमैथुनिकयोः प्रत्ययार्थविशेषणयोरिति।' अर्थात् 'वैरमैथुनिकयोः' शब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है। यह असंगत ही जानना चाहिये। क्योंकि—'अहिनकुलम्, मूषकमार्जारम्' इत्यादि प्रयोगों में वैरभाव और 'अत्रिभरद्वाजौ, गर्गकुशिकौ' इत्यादि में मैथुनिकभाव वुन् प्रत्यय के विना भी विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि ये कृतद्वन्द्व प्रातिपदिक ही वैरमैथुनिक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। और षष्ठी सम्बन्ध अर्थ को प्रत्यय बताता है।

वा०—वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः॥ १॥

वैर अर्थ में देवासुर इत्यादि द्वन्द्वसमासों से इदम् अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय नहीं होता है। किन्तु सामान्य अधिकार से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय तो होता ही है। जैसे –

दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्, इत्यादि॥१॥१२४॥

गोत्रचरणाद् वुञ्॥१२५॥

गोत्रचरणात् —५।१। वुञ् —१।१।

वा०—चरणाद् धर्माम्नाययोः॥१॥

सूत्रे विशेषं सम्पादयति। गोत्रवाचिभ्यश्चरणवाचिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति। गोत्रवाचिभ्यस्तु सामान्येन षष्ठ्यर्थे चरणवाचिभ्यश्च धर्माम्नाययोरिति विशेषः। ग्लुचुकायनेरिदं ग्लौचुकायनकम्। आहिचुम्ब-कायनकम्। वृद्धादपि परत्वाद् वुञ्। गार्गकम्। वात्सकम्। चरणवाचिभ्यः—कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम्। कालापकम्। मौदकम्। पैप्पलादकम्। अधिकारादण् प्राप्तः स बाध्यते॥१२५॥

भाषार्थ—वा०—चरणाद् धर्माम्नाययोः॥१॥

इस वार्त्तिक से सूत्र में यह विशेषता बताई गई है—षष्ठीसमर्थ गोत्रवाची शब्दों से और चरण (शाखावाची) शब्दों से इदम् अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्रार्थ में गोत्रवाचियों से सामान्य षष्ठी के अर्थ में और चरण-शाखावाचियों से धर्म तथा आम्नाय विशेष षष्ठ्यर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय समझना चाहिये। जैसे-गोत्रवाची से ग्लुचुकायनेरिदं ग्लौचुकायनकम्। आहिचुम्बकायनकम्। वृद्धसंज्ञक गोत्रवाचियों से भी परत्व से 'वुञ्' ही होता है। जैसे—गार्गकम्। वात्सकम्, इत्यादि। चरण-वाचियों से—कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम्। कालापकम्। मौदकम्। पैप्पलादकम्। यह सूत्र सामान्य अधिकार से प्राप्त 'अण्' का बाधक है॥१२५॥

संघाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्॥१२६॥

संघाङ्कलक्षणेषु —७।३। अञयञिञाम् —६।३। अण् —१।१।

पूर्वसूत्रेण वुञ् प्राप्तः स बाध्यते। अञन्ताद् यञन्ताद् इञन्ताच्च गोत्रप्रत्ययान्तात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकादिदमर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। [संघांकलक्षणेषु प्रत्य-यार्थेषु] यथासंख्यमत्र न भवति। वार्त्तिकेन घोषग्रहणे वैषम्यात्। अञन्तात्—बिदानां संघोऽङ्को लक्षणं वा बैदः। यञन्तात्—गार्गः संघोऽङ्को लक्षणं वा। वात्सः। इञन्तात्—दाक्षः संघोऽङ्को लक्षणं वा।

वा०—संघादिषु घोषग्रहणं कर्त्तव्यम्॥

गार्गो घोषः। वात्सो घोषः॥१२६॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। अञन्त, यञन्त और इञन्त षष्ठी समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिकों से संघ, अंक और लक्षण षष्ठ्यर्थ विशेष अभिधेय हो तो इदम् अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। संघादि प्रत्ययार्थ तथा अञन्तादि भी तीन-तीन हैं, अतः यथासंख्य होने से यथासंख्य कार्य होने चाहिएँ, किन्तु वार्त्तिक में 'घोष' अर्थ का ग्रहण करने से विषमता होने से यथा संख्यता नहीं होती है। जैसे—अञन्त से—बिदानां संघोऽङ्को लक्षणं वा बैदः। यञन्त से—गार्गः संघोऽङ्को लक्षणं वा। वात्सः। इञन्त से दाक्षः संघोऽङ्को लक्षणं वा।

वा०—संघादिषु घोषग्रहणं कर्त्तव्यम्॥ १॥

अञन्तादि शब्दों से संघादि अर्थों में जो प्रत्यय विधान किया है, वह घोष अर्थ में भी उन्हीं प्रातिपदिकों से होवे। जैसे—गार्गो घोषः। वात्सो घोषः। दाक्षो प्लाक्षो वा घोषः, इत्यादि॥ १२६॥

शकलाद्वा॥ १२७॥

शकलात् —५।१।वा [अ०]।प्राप्तविभाषेयम्। शकलाशब्दो गर्गादिषु पठ्यते। तस्माद् यञन्तान्नित्येऽणि प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते। षष्ठीसमर्थाद् गोत्र-प्रत्ययान्ताच्छकलप्रातिपदिकाद् विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति [इदमर्थे] पक्षे गोत्रचरणादिति वुञ्। शाकल्यस्य संघोऽङ्को लक्षणं घोषो वेति शाकलः। शाकलकः।

अस्मिन् सूत्रे जयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयः कौमुदीकारास्तत् पाठिनश्च वदन्ति। 'शाकलाद्वा' ईदृशं सूत्रं लिखित्वा व्याख्यां कुर्वन्ति। शकलशब्दात् प्रोक्तेऽर्थेऽण्। शकले प्रोक्तमधीयते ते शाकलाः। तेषां संघोऽङ्को लक्षणं घोषो वा शाकलः। शाकलकः। पक्षे चरणत्वाद् वुञ्। लक्षणे क्लीबता-इति, तदेतत् सर्वमसंगतमेवास्ति। कथम्। यदि 'शाकलाद्वा' इति सूत्रं न्याय्यं तर्हि तेषां मते शाकलं प्रातिपदिकं चरणवाचकं, पक्षेचरणत्वाद् वुञ् इत्युक्तत्वात्। 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' इति वार्तिकनियमात् संघादिषु तद्धितोत्पत्तिः कथं स्यात्। एतत् तु तेषां कथनं पूर्वापरं विरुध्यते। यदि ते शाकलशब्दं चरणवाचकं न मन्येरन् तर्हि प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यागोत्रत्वाद् तद्धितोत्पत्तिः स्यादेव न गोत्रचरणादित्य-धिकारात्। अथास्मिन् विषये महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिमुनिः— 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यादि सूत्रव्याख्यानावसरे शाकल्यस्येमानि लक्षणानि सूत्राणि शाकलानीति मत्वा शाकलं न प्रसज्यते, इत्यादि कथनं बहुषु स्थलेषु करोति, तेन ज्ञायते 'शाकलाद्वे' ति सूत्रं नास्ति। यदि शाकलशब्दश्चरणवाची स्यात्तर्हि शाकलशब्दाद् धर्माम्नाययोरेवाण् प्रत्ययः स्यात्, पुनस्तेषां मते शाकलं सूत्रस्य नाम कथं स्यात्। तस्मात्तेषां शाकलाद्वेत्यस्य व्याख्यानं सद्भिर्वैय्याकरणैर्नाद-रणीयम्। स्त्रीलिङ्गप्रकरणे 'सर्वत्रलोहितादिकतन्तेभ्य' इत्यत्रोक्तम्।

कण्वात्तु शकलः पूर्वः कण्वादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम्॥ १॥
अस्य व्याख्यानमपि तत्र कृतमेवम्॥ १२७॥

भावार्थ—इस सूत्र में प्राप्तविभाषा इसलिये है कि शकल शब्द का गर्गादिगण में पाठ है। और गोत्रवाची यञन्त शब्द से पूर्वसूत्र से नित्य 'अण्' प्राप्त है, उसका यह विकल्प करता है। षष्ठीसमर्थ गोत्र प्रत्ययान्त 'शकल' प्रातिपदिक से इदम् अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है और पक्ष में 'गोत्रचरणाद्वुञ्' (४।३।१२५) सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—शाकल्यस्य संघोऽङ्को लक्षणं

घोषो वेति शाकलः। शाकलकः।

इस सूत्र पर [काशिकाकार] जयादित्य और सिद्धान्त कौमुदी बनानेवाले भट्टोजिदीक्षितादि तथा उसको पढ़नेवाले लोग कहते हैं कि 'शाकलाद्वा' ऐसा सूत्र समझना चाहिये। इसलिये वे ऐसा सूत्र ही लिखकर व्याख्या करते हैं। वे लोग 'शकल' शब्द से प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय करके "शकलेन प्रोक्तमधीयते ते शाकलाः। तेषां संघोऽङ्को लक्षणं घोषो वा शाकलः। शाकलकः। पक्षे चरणत्वाद् वुञ्" इस 'शाकल' शब्द को चरणवाची मानकर संघादि अर्थों में निर्वचन करके प्रत्यय करते हैं। यह उनका अर्थ असंगत (मिथ्या) ही है। क्योंकि यदि 'शाकलाद्वा' ऐसा सूत्र मानें तो शाकल शब्द चरणवाची हुआ, और चरणवाची मानकर पक्ष में 'वुञ्' प्रत्यय होगा, गोत्रवाची मानकर नहीं। किन्तु 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' इस वार्त्तिक नियम से चरणवाची से संघादि अर्थों में प्रत्यय कैसे होगा? और इसलिये उनकी यह व्याख्या पूर्वापर विरुद्ध तथा महाभाष्य के भी विरुद्ध है। और यदि ये ऐसा कहें कि हम शाकल शब्द को चरणवाची नहीं मानते हैं, तो यह दोष आयेगा कि प्रोक्त प्रत्ययान्त शाकल शब्द को चरणवाची तो आप मानते नहीं हैं, और गोत्र प्रत्ययान्त भी नहीं है, फिर 'गोत्रचरणात्०' (४।३।१२५) के अधिकार में तद्धितोत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

और इस विषय में महाभाष्यकार के अन्यवचन भी विचारणीय हैं— 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२४) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१।१।१६) लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) इत्यादि सूत्रों के व्याख्याप्रसंग में 'शाकल्यस्येमानि लक्षणानि सूत्राणि शाकलानि" ऐसा मानकर "शाकलं न प्रसज्यते" इत्यादि वचन महाभाष्यकार ने अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किये हैं, इनसे भी स्पष्ट होता है कि "शाकलाद्वा" सूत्र नहीं है। क्योंकि भाष्यकार शाकल्याचार्य के सूत्रों को 'शाकल' लिखते हैं। और यदि शाकल शब्द चरणवाची होता तो उससे धर्माम्नाय अर्थों में ही प्रत्यय होता, लक्षण अर्थ में नहीं, तो शाकल्य के सूत्रों का नाम 'शाकल' कैसे होता? इसलिये सभी सज्जन वैयाकरणों को—

महाभाष्य से विरोध और परास्परिक विरोध को ध्यान में रखकर इन कौमुदीकारादि की मान्यता का आदर नहीं करना चाहिये और 'शकलाद्वा' ऐसा ही सूत्र मानना चाहिये। इस विषय में स्त्रीलिंग प्रकरण में 'सर्वत्रलोहितादिकतन्तेभ्यः' (४।१।१८) सूत्रस्थ 'कण्वात्तु शकलः पूर्वः' कारिका पर भी ध्यान देना चाहिये, जो 'शाकलाद्वा' सूत्र का विरोध कर रही है। इस कारिका में शकल शब्द के गर्गादिगण में किये पाठ पर विचार किया है और यह निर्णय किया है कि कुछ पाठ परिवर्त्तन करने से यञ् प्रत्ययान्त 'शाकल्य' शब्द से स्त्रीलिंग में 'ष्फ' प्रत्यय और 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (४।२।११०) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं। और 'शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः' इस शैषिक अण्-प्रत्ययान्त 'शाकल' शब्द की सिद्धि से 'शाकल' शब्द का चरणवाचित्व सन्दिग्ध हो जाता है॥१२७॥

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ् ञ्यः॥१२८॥

छन्दोगौ...नटात् —५।१। ञ्यः —१।१। छन्दोगादयः शब्दाश्चरण-वाचिनः। तेषु संघादयोऽर्था न सम्बध्यते। चरणाद् धर्माम्नाययोरिति नियमात्। षष्ठीसमर्थेभ्यश्छन्दोगादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति धर्माम्नाययो-रभिधेययोः। छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। याज्ञिक्यम्। बाह्वृच्यम्। नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्। धर्माम्नाययोरिति किम् – छान्दोगं कुलमित्यादि॥ १२८॥

भाषार्थ—छन्दोगादि शब्द चरण (शाखा) वाची हैं, अतः ''चरणाद् धर्माम्नाययोः'' इस नियम के अनुसार उन से संघादि अर्थों का सम्बन्ध नहीं है। षष्ठी समर्थ छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच और नट प्रातिपदिकों से धर्म और आम्नाय अर्थों में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। जैसे—छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। याज्ञिक्यम्। बाह्वृच्यम्। नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्। यहाँ 'धर्माम्नाययोः' अर्थों के कथन से इनसे अन्यत्र 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होता जैसे—छान्दोगं कुलम्, इत्यादि॥ १२८॥

न दण्डमाणवान्तेवासिषु॥ १२९॥

न [अ०]। दण्डमाणवान्तेवासिषु —७।३। दण्डमाणवशब्द उत्तरपदलोपी समासः। दण्डः प्रधानं येषां ते दण्डप्रधानाः। दण्डप्रधानाश्च ते माणवा दण्डमाणवाः। दण्डमाणवान्तेवासिष्विति प्रत्ययार्थविशेषणमेतत्। दण्डमाण-वान्तेवासिष्वभिधेयेषु गोत्रवाचिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो प्राप्तः स न भवतीति। किन्त्वधिकारादण् भवत्येव। वैशम्पायनस्य दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वैशम्पायनाः। कौत्सायनाः। ग्लौचुकायनाः। गोत्रग्रहणमत्रानु-वर्त्तते॥ १२९॥

भाषार्थ—यहाँ 'गोत्र' की अनुवृत्ति है। 'दण्डमाणव' शब्द में उत्तरपद का लोप हुआ है—''दण्डः प्रधानं येषां ते दण्डप्रधानाः। दण्डप्रधानाश्च ते माणवा दण्डमाणवाः। और ''दण्डमाणवान्तेवासिषु'' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण है। षष्ठी समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिकों से दण्डमाणवा अन्तेवासी अभिधेय में 'वुञ्' प्रत्यय नहीं होता है। किन्तु सामान्य 'अण्' ही होता है। जैसे—वैशम्पायनस्य दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वैशम्पायनाः। कौत्सायनाः। ग्लौचुकायनाः, इत्यादि॥ १२९॥

रैवतिकादिभ्यश्छः॥ १३०॥

रैवतिकादिभ्यः —५।३। छः —१।१। रेवत्यादिभ्यष्ठगिति रेवतीशब्दाद् ठक्। सर्वे रैवतिकादयो गोत्रप्रत्ययान्ताः। रैवतिकादिभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इदमर्थे छः प्रत्ययो भवति। वुञोऽपवादः। रैवतिकानां संघो रैवतिकीयः। स्वापिशीयः। अङ्को लक्षणं घोषो वा।

अथ रैवतिकादिगणः—रैवतिक। स्वापिशि। क्षैमवृद्धि। गौरग्रीवि। औदमेघि। औदमेयि। औदवापि। औदवाहि। वैजवापि। इति रैवतिकादिगणः॥

वा०—कौपिंजलहास्तिपदादण्॥ १॥

कौपिंजल-हास्तिपदगोत्रप्रत्ययान्तप्रातिपदिकाभ्यां वुञ् प्राप्तः स बाध्यते। कौपिंजलस्य संघः कौपिंजलः। हास्तिपदः॥ १॥

वा०—आथर्वणिकस्येकलोपश्च॥ २॥

चकारग्रहणादण् अनुवर्त्तते। अथर्वाणमधीतेऽसावाथर्वणिकः। वसन्तादि-पाठाट्ठक्। आथर्वणिकशब्दश्चरणवाचकस्तस्माद् वुञ् बाधकोऽण् विधीयते।

आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वाऽऽथर्वणः। अणि परतः इकलोपश्च भवति। 'कौपिंजलहास्तिपदादण्' 'आथर्वणिकस्येकलोपश्च' इमे द्वे वार्त्तिके जयादित्येन सूत्रे कृत्वा व्याख्याते। इदानीन्तनेषु लिखितमुद्रितपुस्तकेष्वपि सूत्र-पाठे दृश्येते। परन्तु महाभाष्ये वार्तिकयोः प्रतिपादनाज् ज्ञायते सूत्रे न स्त इति। कैय्यटेनापि लिखितम् अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठ इति। तेन ज्ञायते बहुकालात् केनचित् सूत्रेषु मेलिते। अतो जयादित्यादीनां व्याख्यानमसंगतम्॥ १३०॥

भाषार्थ—'रेवत्यादिभ्यष्ठक्' (४।१।१४६) सूत्र से 'रेवती' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय करके 'रैवतिक' शब्द बना है। सभी रैवतिकादि शब्द गोत्र प्रत्ययान्त हैं। षष्ठी समर्थ गोत्र प्रत्ययान्त रैवतिकादि गण-पठित प्रातिपदिकों से इदम् अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'वुञ्' का अपवाद है। जैसे—रैवतिकानामङ्कः संघो लक्षणं घोषो वा रैवतिकीयः। स्वापिशीयः, इत्यादि।

वा०—कौपिंजलहास्तिपदादण्॥ १॥

गोत्रप्रत्ययान्तों से 'वुञ्' की प्राप्ति में यह 'अण्' का विधान किया है। षष्ठी समर्थ गोत्र प्रत्ययान्त कौपिंजल और हास्तिपद प्रातिपदिकों से इदम् अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—कौपिंजलस्य सङ्घः कौपिञ्जलः। हास्तिपदः॥ १॥

वा०—आथर्वणिकस्येकलोपश्च॥ २॥

यहाँ चकार से अण् की अनुवृत्ति है। अथर्वन् शब्द वसन्तादि गण में पठित हैं, उससे अध्ययन अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है—अथर्वाणमधीतेऽसावाथर्वणिकः। आथर्वणिक शब्द चरणवाची होने से 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२५) सूत्र से 'वुञ्' प्राप्त है, उसका बाधक यह 'अण्' विधान किया है। आथर्वणिक शब्द से धर्म और आम्नाय अर्थों में अण् प्रत्यय और प्रकृति के इकभाग का लोप होता है। जैसे—आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः।

जयादित्य ने (कौपिंजल०) और (आथर्वणिक०) इन दोनों वार्त्तिकों को सूत्र मानकर व्याख्या की है। और वर्त्तमान में उपलब्ध लिखित और मुद्रित सूत्रपाठ की पुस्तकों में भी ये सूत्ररूप में मिलते हैं। परन्तु महाभाष्य में इनको वार्त्तिक मानकर व्याख्या की है, इससे स्पष्ट है कि ये दोनों सूत्र नहीं हैं। कैय्यट ने भी इस बात की पुष्टि की है—'अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठ इति'। इससे ज्ञात होता है कि इनको किसी ने सूत्रों में कैय्यट से भी पहले ही मिला दिया था। इसलिये सूत्र मानकर जयादित्यादि की व्याख्या मिथ्या ही है॥ १३०॥

तस्य विकारः॥ १३१॥

तस्य —६।१। विकार: —१।१। तस्येत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकनिवृत्त्यर्थम्। अर्थात् विकारावयवयोर्घादय: प्रत्यया मा भूवन्निति। षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् विकारेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। मृत्तिकाया विकारो घटो मार्त्तिक:। आश्म:। विकारावयवप्रकरणं तस्येदमित्यस्यैव बाधकम्॥ १३१॥

भाषार्थ-इस सूत्र में 'तस्य' पद की अनुवृत्ति 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र से होने पर भी पुन: 'तस्य' शेषाधिकार की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् विकार, अवयव अर्थों में शैषिक घादि प्रत्यय नहीं होते हैं। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से विकार अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। जैसे—मृत्तिकाया विकारो घटो मार्त्तिक:। आश्म:। यह विकार अवयव अर्थों का प्रकरण 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र का ही बाधक है॥ १३१॥

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य:॥ १३२॥

अवयवे —७।१। च [अ०]। प्राण्योषधिवृक्षेभ्य: —५।३। विकार इत्यनुवर्त्तते। नियमार्थोऽयं पृथङ्निर्देश:। प्राण्यादिभ्य इतराणि प्रातिपदिकानि तेभ्यो विकार एव प्रत्यय उत्पत्स्यते। प्राण्यादिभ्यस्तु विकारावयवयोरेव। तस्येदमिति षष्ठ्यर्थे सामान्येन घादय: शैषिका: प्रत्यया विधीयन्ते तेषामपवादौ विकारावयवौ। प्राण्योषधिवृक्षवाचिभ्य: षष्ठीसमर्थेभ्य: प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरभिधेययोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्राणिवाचिभ्यस्तावदञ् विधास्यते। [ओषधिवाचिभ्य:] लवङ्गस्य विकारोऽवयवो वा लावङ्गम्। दैवदारवम्। निर्वश्या विकारोऽवयवो वा नैर्वशम्। वृक्षेभ्य:—खदिरस्य विकारोऽवयवो वा खादिरम्। बार्बुरम्। कारीरम्। एतत् सूत्रद्वयमधिकाराय क्रियते। इत उत्तरं प्राण्योषधिवृक्षेभ्यो ये प्रत्यया विधास्यन्ते ते विकारावयवयोर्भविष्यन्ति। इतरेभ्यो विधीयमानास्तु विकार एवेति विज्ञातव्यम्॥ १३२॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'विकार:' पद की अनुवृत्ति है। यह सूत्र नियमार्थ होने के लिये पृथक् किया है। नियम यह है कि इस प्रकरण में प्राणी, ओषधि और वृक्षवाची शब्दों से विकार अवयव दोनों अर्थों में प्रत्यय होते हैं और प्राणी आदि से भिन्न शब्दों से विकार अर्थ में ही प्रत्यय होते हैं। 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र से षष्ठ्यर्थ में सामान्यरूप से घादि शैषिक प्रत्ययों का विधान किया है। यह विकार और अवयव उसका अपवाद हैं। षष्ठी समर्थ प्राणी, ओषधि और वृक्षवाची प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। प्राणीवाचियों से तो इसी प्रकरण में आगे 'अञ्' प्रत्यय का विधान किया जायेगा, अत: उदाहरण भी वहीं द्रष्टव्य है। ओषधीवाची—लवङ्गस्य विकारोऽवयवो वा लावङ्गम्। दैवदारवम्। निर्वश्या विकारोऽवयवो वा नैर्वशम्। वृक्षवाची—खदिरस्य विकारोऽवयवो वा खादिरम्। बार्बुरम्। कारीरम्। ये दोनों सूत्र 'तस्य विकार:' (४।३।१३१) और 'अवयवे च' (४।३।१३२) अधिकार के लिये हैं। इससे आगे प्राणी, ओषधि और वृक्षवाची शब्दों से जो प्रत्यय विधान करेंगे,

वे विकार और अवयव अर्थों में होंगे, और प्राणी आदि से भिन्न शब्दों से विकार अर्थ में ही, यह सर्वत्र जानना चाहिये॥ १३२॥

बिल्वादिभ्योऽण्॥ १३३॥

बिल्वादिभ्यः— ५।३। अण्— १।१। विकारावयवावनुवर्त्तेते। षष्ठीसमर्थेभ्यो बिल्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरभिधेययोरण् प्रत्ययो भवति। बिल्वस्य विकारोऽवयवो वा बैल्वम्। व्रैहम्। गवेधुकाशब्दो बिल्वादिषु पठ्यते, तस्माद् वक्ष्यमाणसूत्रेण कोपधत्वादणि सिद्धे पुनः पाठो मयड् बाधनार्थः। अन्येभ्यो बिल्वादिभ्यस्तुविभाषा मयट्, पक्षेऽण् भवत्येव। गवेधुकाया विकारोऽवयवो वा गावेधुकम्।

अथ बिल्वादिगणः— बिल्व। व्रीहि। काण्ड। मुद्ग। मसूर। गोधूम। इक्षु। वेणु। गवेधुका। कर्पासी। पाटली। कर्कन्धू। कुटीर॥ इति बिल्वादयः॥ १३३॥

भाषार्थ—यहाँ 'विकार और अवयव' अर्थों की अनुवृत्ति है। षष्ठी समर्थ बिल्वादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—बिल्वस्य विकारोऽवयवो वा बैल्वम्। व्रैहम्। बिल्वादि गण में ककारोपध गवेधुका शब्द का पाठ है, उससे 'कोपधाच्च' (४।३।१३४) सूत्र से ही 'अण्' प्राप्त है, पुनः यहाँ पाठ 'मयट्' के बाधनार्थ किया है। गवेधुका से भिन्न बिल्वादि शब्दों से 'मयट्' विकल्प से होता है, पक्ष में 'अण्' ही होता है। जैसे—गवेधुकाया विकारोऽवयवो वा गावेधुकम्। महाभाष्य में 'गवीधुका' पाठ है॥ १३३॥

कोपधाच्च॥ १४॥

अणित्यनुवर्त्तते। कोपधात् —५।१। च [अ०प०] षष्ठीसमर्थात् कोपधात् प्रातिपदिकाद् विकार-अवयवयोरण् प्रत्ययो भवति। ऋश्यकस्य विकारोऽवयवो वा आर्श्यकम्। तित्तिडीक—तैत्तिडीकम्। तर्कु-तार्कवम्। उवर्णान्तादनुदात्तादेश्चाञ् प्राप्तः स बाध्यते॥ १३४॥

भाषार्थ—यहाँ 'अण्' की अनुवृत्ति है। षष्ठीसमर्थ ककारोपध प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—ऋश्यकस्य विकारोऽवयवो वा आर्श्यकम्। तित्तिडिक—तैत्तिडीकम्। तर्कु-तार्कवम्। उकारान्त तर्कु शब्द से 'अनुदात्तादेश्च' (४।३।१३७) सूत्र से 'अञ्' प्राप्त है, उसका यह अपवाद है॥ १३४॥

त्रपुजतुनोः षुक्॥ १३५॥

त्रपुजतुनोः —६।२। षुक् —१।१। वक्ष्यमाणसूत्रेणोवर्णान्तत्वादञ् प्राप्तो बाध्यते। षष्ठीसमर्थाभ्यां त्रपुजतुप्रातिपदिकाभ्यां विकारावयवयोरण् प्रत्ययो भवति। षुगागमश्च। त्रपुणो विकारस्त्रापुषम्। जातुषम्। प्राण्यादिनियमाद् अवयवे न भवति॥ १३५॥

भाषार्थ—त्रपु और जतु उकारान्त शब्दों से अगले सूत्र से 'अञ्' प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। षष्ठी समर्थ त्रपु और जतु प्रातिपदिकों से विकार और

अवयव अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है और प्रत्यय संनियोग से 'षुक्' आगम होता है। जैसे—त्रपुणो विकारस्। त्रापुषम्। जातुषम्। यहाँ पूर्वोक्त प्राण्यादि नियम से अवयव अर्थ में प्रत्यय नहीं होता है॥१३५॥

ओरञ्॥१३६॥

ओः —५।१। अञ् —१।१। अधिकारादण् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठी-समर्थादुवर्णान्तात् प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति [विकारावयवयोः]। देवदारोर्विकारोऽवयवो वा दैवदारवम्। तरोर्विकारोऽवयवो वा तारवम्। धैनवम्॥१३६॥

भाषार्थ—यह अधिकार से प्राप्त 'अण्' का अपवाद है। षष्ठी समर्थ उकारान्त प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है जैसे—देवदारोर्विकारोऽवयवो या दैवदारवम्। तरोर्विकारोऽवयवो वा तारवम्। धैनवम्, इत्यादि॥१३६॥

अनुदात्तादेश्च॥१३७॥

अञनुवर्त्तते। अनुदात्तादेः —५।१। च [अ०]। अधिकृतस्याणोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् अनुदात्तादेः प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति [विकारावयवयोरर्थयोः]। ताण्डुलानां विकारस्ताण्डुलम्। वायोर्विकारो वायवम्। कापित्थम्॥१३७॥

भाषार्थ—यहाँ 'अञ्' की अनुवृत्ति है। यह अधिकार से प्राप्त 'अण्' का अपवाद है। षष्ठी समर्थ अनुदात्तादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—तण्डुलानां विकारस्ताण्डुलम्। वायोर्विकारो वायवम्। कापित्थम्*॥१३७॥

पलाशादिभ्यो वा॥१३८॥

पालाशादिभ्यः —५।३। वा [अ०]। प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्। पलाशादिषु येऽनुदात्तादयस्तेभ्यः प्राप्तविभाषा, ये चान्ये शब्दास्तेभ्योऽप्राप्ता। षष्ठीसमर्थेभ्यः पलाशादिप्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेनाञ् प्रत्ययो-[विकारावयवयोरर्थयो]-र्भवति। पालाशम्। खादिरम्। पक्षेऽण् भवति। रूपं तदेव स्वरे विशेषः।

अथ पलाशादिगणः—पलाश। खदिर। शिंशपा। स्यन्दन। पूलास। करीर। यवास। विकङ्कत। इति पलाशादयः॥१३८॥

भाषार्थ—यह प्राप्ताप्राप्तविभाषा है। पलाशादिगण में जो अनुदात्तादि शब्द हैं, उनसे प्राप्तविभाषा है और दूसरे शब्दों से अप्राप्तविभाषा है। षष्ठीसमर्थ गणपठित पलाशादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प से 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—पालाशम्। खादिरम्। पक्ष में 'अण्' प्रत्यय होता है। अञ् और

---

* तण्डुलशब्दः (तडिधातोरौणादिक उलच्) चित्स्वरेणान्तोदात्तः। वायुशब्दः (वाधातोरौणादिक उण्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। कपित्थशब्दश्च (कपौ तिष्ठतीति उपपदसमासः) समास स्वरेणान्तोदात्तः।

—अनुवादक;

अण् के रूप में भेद नहीं है, स्वर में भेद होता है॥१३८॥

शम्याष् ष्लञ्॥।१३९॥

शम्याः —५।१। ष्लञ् —१।१। शमीशब्दस्यानुदात्तादित्वादञ् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठीसमर्थात् शमीप्रातिपदिकात् ष्लञ् प्रत्ययो भवति। विकारावयवयोरभिधेययोः। शम्या विकारः शामीलं भस्म। शामीली यष्टिका॥१३९॥

भाषार्थ—शमी शब्द गौरादिगणपठित होने से ङीष् प्रत्ययान्त है और प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। उससे अनुदात्तादि होने से 'अञ्' प्राप्त है। यह उसका अपवाद है। षष्ठीसमर्थ शमी प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में 'ष्लञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—शम्या विकारः शामीलं भस्म। शामिली यष्टिका॥१३९॥

मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः॥१४०॥

मयट् —१।१। वा [अ०]। एतयोः —७।२। भाषायाम् —७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः —७।२। अप्राप्तविभाषेयम्। एतयोरिति विकारावयवौ निर्दिश्येते। अभक्ष्याच्छादनयोरिति प्रत्ययार्थविशेषणम्। भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरभिधेययोः षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकमात्राद् भाषायां लौकिकप्रयोगविषये विकल्पेन मयट् प्रत्ययो भवति। अश्मनो विकारोऽश्ममयम्। आश्मनम्। वनस्पतेर्विकारो वानस्पत्यम्। वनस्पतिमयम्। भाषायामिति किमर्थम्—बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्। अभक्ष्याच्छादनयोरिति किमर्थम्—मुद्गस्य विकारो मौद्गः सूपः ऊर्णाया विकार और्ण आच्छादनम्। एतयोरिति विकारावयवविशेषणम्॥१४०॥

भाषार्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। 'एतयोः' सर्वनामपद से विकार और अवयव अर्थों का निर्देश है। और 'अभक्ष्याच्छादनयोः' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण है। भक्ष्य और आच्छादन से अन्यत्र विकार और अवयव अर्थों में षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक मात्र से भाषा (लौकिक प्रयोगविषय) में विकल्प से मयट् प्रत्यय होता है। जैसे—अश्मनो विकारोऽश्ममयम्। आश्मनम्। वनस्पतेर्विकारो वानस्पत्यम्। वनस्पतिमयम्। यहाँ 'भाषायाम्' का ग्रहण इसलिये है कि बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्। यहाँ मयट् न हो। और 'अभक्ष्याच्छादनयोः' का ग्रहण इसलिये है कि—मुद्गस्य विकारो मौद्गः सूपः। ऊर्णाया विकार और्णाच्छादनम्। यहाँ भक्ष्य और आच्छादन में मयट् न होवे॥१४०॥

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः॥१४१॥

नित्यम् —१।१। वृद्धशरादिभ्यः —५।३। भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरित्यनुवर्त्तते। नित्यग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम्। भक्ष्याच्छादनवर्जितविकारावयवयोरभिधेययोः षष्ठीसमर्थेभ्यो वृद्धेभ्यः शरादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो भाषायां लौकिकप्रयोगविषये नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति। नित्यार्थोऽयमारम्भः। आम्रस्य विकार आम्रमयम्। शालमयम्। शाकमयम्। शरमयम्। दर्भमयम्।

अथ शरादिगणः—शर। दर्भ। मृत। कुटी। तृण। सोम। वल्वज। इति

शरादिगणः॥ १४१॥

भाषार्थ यहाँ 'भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' पदों की अनुवृत्ति आती है। नित्य का ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है। भक्ष्य और अच्छादन से अन्यत्र विकार-अवयव अर्थों में षष्ठीसमर्थ वृद्धसंज्ञक तथा गणोपदिष्ट शरादि प्रातिपदिकों से लौकिक प्रयोग विषय में नित्य 'मयट्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र नित्य प्रत्यय के लिये हैं। जैसे—वृद्धसंज्ञक आम्रस्य विकार आम्रमयम्। शालमयम्। शाकमयम्। शरादि—शरमयम्। दर्भमयम्, इत्यादि॥ १४१॥

गोश्च पुरीषे॥ १४२॥

गोः —५।१।पुरीषे —७।१।मयडनुवर्त्तते। षष्ठीसमर्थाद् गोप्रातिपदिकात् पुरीषेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति। गोः पुरीषं गोमयः। पुरीष इति किम्—गव्यं पयः॥ १४२॥

भाषार्थ—यहाँ मयट् की अनुवृत्ति है। षष्ठीसमर्थ गो-प्रातिपदिक से पुरीष अभिधेय में विकार और अवयव अर्थों में 'मयट्' प्रत्यय होता है। जैसे—गोः पुरीषं गोमयः। 'पुरीष' का ग्रहण इसलिये है कि गव्यं पयः। पुरीष से अन्यत्र 'गोपयसोर्यत्' (४।३।१५७) सूत्र से यत् होता है॥ १४२॥

पिष्टाच्च॥ १४३॥

पिष्टात् —५।१। च [अ०]। षष्ठीसमर्थात् पिष्टप्रातिपदिकान्नित्यं विकारेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति। पिष्टस्य विकारः पिष्टमयम्॥ १४३॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ पिष्ट प्रातिपदिक से विकार अर्थ में नित्य मयट् प्रत्यय होता है। जैसे—पिष्टस्य विकारः पिष्टमयम्॥ १४३॥

संज्ञायां कन्॥ १४४॥

पिष्टादित्यनुवर्त्तते। संज्ञायाम् —७।१।कन् —१।१।पूर्वेण मयट् प्राप्तः स बाध्यते। संज्ञायामभिधेयायां षष्ठीसमर्थात् पिष्टप्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति [विकारे]। पिष्टस्य विकारः पिष्टकः। असंज्ञायां मयडेव॥ १४४॥

भाषार्थ—यहाँ 'पिष्टात्' पद की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से 'मयट्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। संज्ञा अभिधेय में षष्ठी समर्थ पिष्ट प्रातिपदिक से विकार अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है। जैसे—पिष्टस्य विकारः पिष्टकः। संज्ञा से अन्यत्र 'मयट्' ही होता है॥ १४४॥

व्रीहेः पुरोडाशे॥ १४५॥

व्रीहेः —५।१। पुरोडाशे —७।१। व्रीहिशब्दो बिल्वादिषु पठ्यते, तस्मादणोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् व्रीहिप्रातिपदिकात् पुरोडाशे विकारेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति। व्रीहेर्विकारः पुरोडाशो व्रीहिमयः। अन्यत्र बिल्वादित्वादण्॥ १४५॥

भाषार्थ—व्रीहि 'शब्द का पाठ बिल्वादि गण में है, इसलिये यह 'अण्' का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ 'व्रीहि' प्रातिपदिक से पुरोडाश अभिधेय में विकार

अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है। जैसे—व्रीहेर्विकारः पुरोडाशो व्रीहिमयः। पुरोडाश से अन्यत्र बिल्वादि से 'अण्' ही होता है॥ १४५॥

असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्॥ १४६॥

असंज्ञायाम् —७।१। तिलयवाभ्याम् —५।२। षष्ठीसमर्थाभ्यां तिलयवप्रातिपदिकाभ्यां विकारावयवयोरभिधेययोर्मयट् प्रत्ययो भवति [असंज्ञायाम्]। तिलमयम्। यवमयम्। असंज्ञायामिति किमर्थम्—तैलम्। यावकः। अत्राधिकारत्वादण्। यावादिभ्यः कन्निति स्वार्थे कन् च॥ १४६॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ तिल और यव प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में संज्ञा अभिधेय न हो तो 'मयट्' प्रत्यय होता है। जैसे—तिलमयम्। यवमयम्। यहाँ 'असंज्ञायाम्' का ग्रहण इसलिये है कि—तैलम्। यावकः। यहाँ सज्ञा में मयट् न होवे। यहाँ अधिकार होने से 'तैलम्' में अण् और 'यावकः' में 'यावादिभ्यः कन्' (५।४।२९) सूत्र से 'कन्' स्वार्थ में हुआ है॥ १४६॥

द्व्यचश्छन्दसि॥ १४७॥

द्व्यचः —५।१। छन्दसि —७।१। भाषायां मयड् विहितश्छन्दस्यप्राप्तो विधीयते। षष्ठीसमर्थाद् द्व्यच्प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये विकारावयवयोरभिधेययोर्मयट् प्रत्ययो भवति। दर्भमयं वासः। शरमयं बर्हिः॥ १४७॥

भाषार्थ—लौकिक प्रयोगविषय में 'मयट्' का विधान पहले किया है, अब छन्द (वैदिकप्रयोगविषय) में अप्राप्त 'मयट्' का विधान किया है। षष्ठी समर्थ द्व्यच् (जिसमें दो स्वर हों) प्रातिपदिकों से वैदिक प्रयोगविषय में विकार और अवयव अर्थों में 'मयट्' प्रत्यय होता है। जैसे—दर्भमयं वासः। शरमयं बर्हिः॥ १४७॥

नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात्॥ १४८॥

न [अ०] उत्वद् वर्ध्रबिल्वात् —५।१। उकारो विद्यतेऽस्मिन् तदुकारवत् प्रातिपदिकम्। द्व्यच् इत्यनुवर्त्तनीयम्। पूर्वसूत्रेण प्राप्तस्य मयटः प्रतिषेधः। षष्ठीसमर्थाद् उकारवतः प्रातिपदिकाद् वर्ध्र बिल्वाभ्यां च छन्दसि विषये मयट् प्रत्ययो न भवति। मुञ्जस्य विकारो मौञ्जम्। गार्मुतम्। वार्ध्रम्। बैल्वम्। मयटि प्रतिषिद्धेऽधिकारादण् प्रत्ययः। तपरकरणं तत्कालार्थम्॥ १४८॥

भाषार्थ—उकार जिसमें हो वह प्रातिपदिक 'उत्वत्' कहलाता है। उकारान्त से ही निषेध न हो, इसलिये मतुबन्त निर्देश किया है। पूर्वसूत्र से 'द्व्यचः' पद की अनुवृत्ति है, इससे उकारवान् द्व्यच् से प्रत्यय होगा। पूर्वसूत्र से प्राप्त 'मयट्' का यह प्रतिषेध करता है।

षष्ठीसमर्थ उकारवान् द्व्यच् प्रातिपदिकों से और वर्ध्र-बिल्व प्रातिपदिकों से वैदिक प्रयोग विषय में विकार और अवयव अर्थों में 'मयट्' प्रत्यय नहीं होता है। जैसे—मुञ्जस्य विकारो मौञ्जम्। गार्मुतम्। वर्ध्र—वार्ध्रम्। बैल्वम्। मयट् के प्रतिषेध होने पर सामान्याधिकार होने से अण् होता है। 'उत्वत्' में तपरकरण

तत्काल के लिये है॥१४८॥

तालादिभ्योऽण्॥१४९॥

तालादिभ्यः —५।३। अण् —१।१। मयडादीनामपवादोऽयम्। षष्ठीसमर्थेभ्य-स्तालादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति। तालशब्दाद् गणपाठोपदिष्टाद् विशेषेऽर्थे धनुषि प्रत्ययः। अन्येभ्यस्तु सामान्येन। तालं धनुः। तालमयमित्यन्यत्र। ऐन्द्रालिशम्।

अथ तालादिः—तालाद् धनुषि। बार्हिण। इन्द्रालिश। इन्द्रादृश। इन्द्रायुध। इन्द्रायुष। चाप। श्यामक। पीयुक्षा॥ इति तालादिगणः॥१४९॥

भाषार्थ— यह सूत्र मयट आदि का अपवाद है। षष्ठी समर्थ गणपठित तालादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। गणपाठ में पठित ताल शब्द से धनुष् अभिधेय में प्रत्यय होता है और दूसरे शब्दो से सामान्य रूप से। जैसे—तालं धनुः। (धनुष् से अन्यत्र 'तालमयम्' रूप बनता है। ऐन्द्रालिशम् इत्यादि॥१४९॥

जातरूपेभ्यः परिमाणे॥१५०॥

जातरूपेभ्यः—५।३। परिमाणे—७।१। जातरूपशब्दः सुवर्णपर्यायः। बहुवचननिर्देशाद् तद्वाचिनो गृह्यन्ते। परिमाणम्-इयत्ताविकारस्य विशेषणम्। षष्ठीसमर्थेभ्यो जातरूपवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारे परिमाणेऽण् प्रत्ययो भवति। अष्टापदस्य विकार आष्टापदम्। जातरूपम्। सौवर्णम्। रौक्मम्। परिमाण इति किम्—सुवर्णमयः प्रासादः। मयटोऽपवादः॥१५०॥

भाषार्थ—'जातरूप' शब्द सुवर्ण का पर्यायवाची है। सूत्र में बहुवचननिर्देश से जातरूप अर्थात् सुवर्ण के वाचक शब्दों से भी प्रत्यय होता है परिमाण (इयत्ता निश्चित नाप तोल करना) शब्द विकार अर्थ का विशेषण है।

शेष विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। जैसे—अष्टापदस्य विकार आष्टापदम्। जातरूपम्। सौवर्णम्। रौक्मम्। यहाँ 'परिमाणे' का ग्रहण इसलिये है कि—सुवर्णमयः प्रासादः। यहाँ अण् न होवे। यह सूत्र 'मयट्' का अपवाद है॥१५०॥

प्राणिरजतादिभ्योऽञ्॥१५१॥

प्राणि-रजतादिभ्यः —५।३। अञ् —१।१। अणादेरपवादः। षष्ठीसमर्थेभ्यः प्राणिवाचिभ्यो रजतादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरञ् प्रत्ययो भवति। प्राणिभ्यस्तावत्—कपोतस्य विकारः कापोतम्। मायूरम्। तैत्तिरम्। अनुदात्तादेरञ् विधीयते। विभाषा मयट् प्राप्तः सोऽप्यनेन बाध्यते। रजतादिभ्यः—राजतम्। सैसम्। रजतादिषु यानि कानिचिदनुदात्तादीनि प्रातिपदिकानि तेषां पुनर्वचनं मयड् बाधनार्थम्।

अथ रजतादिगणः—रजत। सीस। लोह। उदुम्बर। नीच। नीप। दारु। रोहितक। बिभीतक। पीतदारु। तीव्रदारु। त्रिकण्टक। कण्टकार॥ इति रजतादिगणः॥१५१॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'अण्' आदि का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ प्राणीवाची शब्दों और गणोपदिष्ट रजत आदि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है, जैसे—प्राणीवाची—कपोतस्य विकारः कापोतम्। मायूरम्। तैत्तिरम्। अनुदात्तादिशब्दों से 'अनुदात्तादेरञ्' (४।२।४३) सूत्र से अञ् का विधान पहले किया गया है। उससे भिन्न उदाहरण जो अनुदात्तादि नहीं है यहाँ समझने चाहिये। 'मयड्वा०' (४।३।१४०) सूत्र से जो विकल्प से 'मयट्' प्राप्त होता है, उसका भी यह अपवाद है। रजतादि—राजतम्। सैसम्। रजतादि गण में जो अनुदात्तादि शब्द (रजत,* कण्टकारादि) पढ़े हैं, उनसे पुनः 'अञ्' का विधान 'मयट्' के बाधनार्थ है॥ १५१॥

ञितश्च तत्प्रत्ययात्॥ १५२॥

ञितः —५।१। तत्प्रत्ययात् —५।१। अञ् अनुवर्त्तते। ञ् इद् यस्य प्रत्ययस्य तस्मात्। तत्-ग्रहणेन विकारवयव प्रत्ययो विशेष्यते। विकारावयवयोर्विहितो यो ञित्प्रत्ययस्तदन्तात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अञ् प्रत्ययो भवति। मयट् प्राप्तः स बाध्यते। शामीलस्य विकारः शामीलम्। कापोतस्य विकारः कापोतम्। कापित्थो रसः। ञित इति किम्—बैल्वमयम्। तत्प्रत्ययादिति किम्—गार्ग्यमयम्। गोत्रान्तान्मा भूत्॥ १५२॥

भाषार्थ—यहाँ 'अञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। 'ञ्' जिस का इत् संज्ञक हो, उस प्रत्यय को ञित् कहते हैं। 'तत्प्रत्ययात्' पद में 'तत्' शब्द से विकारावयव अर्थों का निर्देश किया है। विकार और अवयव अर्थों में जो ञित् प्रत्यय विहित है, तदन्त षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से विकार-अवयव अर्थों में ही 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह 'मयट्' का अपवाद है। जैसे 'शम्याष्ट्लञ्' (४।३।१३९) शामीलस्य विकारः शामीलम्। 'प्राणि... .अञ्' (४।३।१५१) कापोतस्य विकारः कापोतम्। 'अनुदात्तादेश्च' (४।३।१३७) कापित्थो रसः। इत्यादि। यहाँ 'त्रितः' का ग्रहण इसलिये है कि बैल्वस्य विकारो बैल्वमयम्। यहाँ अण् प्रत्यय त्रित् नहीं है। 'तत्प्रत्ययात्' का ग्रहण इसलिये है कि—गार्ग्यमयम्। यहाँ गोत्रापत्य में यञ् है इससे अञ् नहीं हुआ॥ १५२॥

क्रीतवत् परिमाणात्॥ १५३॥

क्रीतवत्[अ०] परिमाणात् —५।१। क्रीत इव क्रीतवत्। सप्तमीसमर्थाद् वतिः। षष्ठीसमर्थात् परिमाणवाचिनः प्रातिपदिकाद् यथा क्रीते प्रत्यया भवन्ति तथैव विकारवयवयोरपि यथा स्युः। यथा निष्केण क्रीतं नैष्किकम्। एवं निष्कस्य विकारो नैष्किकः। शत्यः। शतिकः। क्रीतस्थं परिमाणात् सर्वं कार्यमतिदिश्यते। अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायामित्यपि यथा स्यात् द्विनिष्कः। द्विनैष्किकः॥ १५३॥

भाषार्थ—'क्रीतवत्' शब्द में (क्रीत इव) सप्तमीसमर्थ से वति प्रत्यय है,

---

* रजतशब्दो घृतादिपाठादन्तोदात्तः। कण्टं करोतीति कण्टकारः। —अनुवादकः

षष्ठी समर्थ परिमाण (इयत्ता) वाची प्रातिपदिकों से जैसे क्रीत अर्थ में प्रत्यय होते हैं, वैसे ही विकार अवयव अर्थों में भी होवें। अर्थात् जिस जिस परिमाण वाचक प्रातिपदिक से क्रीत अर्थ में जो जो प्रत्यय विधान किया है, उस उस प्रातिपदिक से वही वही प्रत्यय विकार और अवयव अर्थ में भी होवे। जैसे—निष्केण क्रीतं नैष्किकम्। इसी प्रकार निष्कस्य विकारो नैष्किकः। इसी प्रकार शत्यः। शतिकः, इत्यादि उदाहरण भी जानने चाहिएँ। यहाँ क्रीत अर्थ में विहित सब कार्य परिमाणवाची शब्दों से अतिदेश किया है। इससे 'अध्यर्द्धपूर्वाद् द्विगोर्लुग्' (५।१।२८) सूत्र से विहित लुक् भी होता है। जैसे—द्विनिष्कः। द्विनैष्किकः॥ १५३॥

उष्ट्राद् वुञ्॥ १५४॥

उष्ट्रात् —५।१। वुञ् —१।१। प्राण्यञोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् उष्ट्र-प्रातिपदिकाद् विकारावयवयोर्वुञ् प्रत्ययो भवति। उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः॥ १५४॥

भाषार्थ—यह सूत्र प्राणीवाचियों से 'अञ्' प्रत्यय का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ 'उष्ट्र' प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः॥ १५४॥

उमोर्णयोर्वा॥ १५५॥

उमोर्णयोः —६।२। वा [अ०]। वुञनुवर्त्तते। अप्राप्तविभाषेयम्। उमा-ऊर्णाप्रातिपदिकाभ्यां विकारावयवयोरर्थयोर्वा वुञ् प्रत्ययो भवति। पक्षेऽधिकाराद् अण्। उमाया विकार औमकम्। औमम्। और्णकम्। और्णम्॥ १५५॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्तविभाषा है। उमा और ऊर्णा प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प से वुञ् प्रत्यय होता है। अण् का अधिकार होने से पक्ष में अण् प्रत्यय होता है। उमाया विकार औमकम्। औमम्। ऊर्णाया विकारोऽवयवो वा और्णकम्। और्णम्॥ १५५॥

एण्या ढञ्॥ १५६॥

एण्याः—५।१। ढञ्—१।१। प्राणिवाचिनोऽञ् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठीसमर्थाद् एणीप्रातिपदिकाद् ढञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। एण्या विकार ऐणेयं मांसम्। ऐणेयं चर्म। पुल्लिंगात्त्वञेव—एणस्य मांसम् ऐणम्॥ १५६॥

भाषार्थ—प्राणीवाचियों से 'अञ्' प्राप्त था, उसका यह बाधक है। षष्ठीसमर्थ 'एणी' प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में ढञ् प्रत्यय होता है। जैसे—एण्या विकार ऐणेयं मांसम्। ऐणेयं चर्म। पुल्लिंग 'एण' शब्द से तो अञ् प्रत्यय ही होता है। जैसे—एणस्य मांसम् ऐणम्॥ १५६॥

गोपयसोर्यत्॥ १५७॥

गोपयसोः —६।२। यत् —१।१। षष्ठीसमर्थाभ्यां गो-पयस्प्राति-पदिकाभ्यां विकारावयवयोरभिधेययोर्यत् प्रत्ययो भवति। गोर्विकारो गव्यं

पयः। पयस्यम्। 'सर्वत्र गोरजादिप्रसंगे यद्' इति वार्त्तिकेन सामान्य-विधानम्॥ १५७॥

भाषार्थ—षष्ठीसमर्थ गो और पयस् प्रातिपदिकों विकार और अवयव अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—गोर्विकारो गव्यं पयः। पयस्यम्। ''सर्वत्र गोरजादिप्रसंगे यत्'' (४।१।८५) वार्त्तिक से गो शब्द से सामान्यरूप में 'यत्' प्रत्यय का विधान किया है॥ १५७॥

द्रोश्च॥ १५८॥

यदनुवर्त्तते। द्रोः—५।१।च [अ०]। ओरञोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् द्रु-प्रातिपदिकाद् विकारावयवयोरर्थयोर्यत् प्रत्ययो भवति। द्रोर्विकारो द्रव्यम्॥ १५८॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'यत्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। यह 'ओरञ्' (४।३।१३६) सूत्र का अपवाद है। षष्ठी समर्थ द्रु प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—द्रोर्विकारो द्रव्यम्॥ १५८॥

माने वयः॥ १५९॥

माने —७।१।वयः —१।१।द्रोरित्यनुवर्त्तते। मानेऽभिधेये षष्ठीसमर्थाद् द्रु-प्रातिपदिकाद् वयः प्रत्ययो भवति। पूर्वेण यत् प्राप्तः स बाध्यते। द्रोर्विकारो मानं द्रुवयम्॥ १५९॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'द्रोः' की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से प्राप्त 'यत्' का यह अपवाद है। षष्ठीसमर्थ 'द्रु' प्रातिपदिक से मान अभिधेय में 'वय' प्रत्यय होता है। जैसे—द्रोर्विकारो मानं द्रुवयम्॥ १५९॥

फले लुक्॥ १६०॥

फले —७।१।लुक् —१।१।विकारावयवयोरित्यनुवर्त्तते। फलेऽभिधेये विकारावयवविहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। आमलक्याः फलं विकारोऽवयवो वा आमलकम्। बदर्य्याः फलानि बदराणि। कुवलम्। बिम्बम्। लुक् तद्धित-लुकीति स्त्रीप्रत्ययस्य लुक्। फलशब्दस्य विशेषवाचिनो गृह्यन्ते न तु स्वरूपम्॥ १६०॥

भाषार्थ—यहाँ विकार और अवयव अर्थों की अनुवृत्ति है। फल अर्थ अभिधेय हो तो विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे - आमलक्याः फल विकारोऽवयवो वा आमलकम्। बदर्य्याः फलानि बदराणि। कुवलकम्। बिम्बम्। यहाँ सर्वत्र तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर 'लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) सूत्र से स्त्री प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। यहाँ फल शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होकर फल विशेषवाची शब्दों का ग्रहण है॥ १६०॥

प्लक्षादिभ्योऽण्॥ १६१॥

फल इत्यनुवर्त्तते। पूर्वेण लुकि प्राप्त आरम्भः। प्लक्षादिभ्यः —५।३। अण् —१।१।षष्ठीसमर्थेभ्यः प्लक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरण्

प्रत्ययो भवति। विधानसामर्थ्याल्लुङ् न भवति। प्लक्षस्य विकारः प्लाक्षम्। नैयग्रोधम्।

अथ प्लक्षादिगणः—प्लक्ष। न्यग्रोध। अश्वत्थ। इङ्गुदी। शिग्रु। कर्कन्धु। रुरु। कक्षतु। बृहती। ऋक्रतु। कर्कन्तु। काक्ष। ह्रुःरु॥ इति प्लक्षादि-गणः॥ १६१॥

भाषार्थ—यहाँ 'फले' पद की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से लुक् की प्राप्ति में इस सूत्र को बनाया है। फल अभिधेय में षष्ठीसमर्थ गणपठित प्लक्ष आदि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। विधान सामर्थ्य से इस 'अण्' का लुक् नहीं होता है। जैसे—प्लक्षस्य विकारः प्लाक्षम्। नैयग्रोधम्, इत्यादि॥ १६१॥

जम्ब्वा वा॥ १६२॥

लुग् इत्यनुवर्त्तते। जम्ब्वाः —५।१। वा [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। षष्ठीसमर्थाज्जम्बूप्रातिपदिकाद् विकारावयवयोर्विकल्पेनाण् प्रत्ययः पक्षे विकारावयवविहितस्य प्रत्ययस्य लुक्। जम्ब्वाः फलानि जाम्बवानि। जम्बूनि वा॥ १६२॥

भाषार्थ—यहाँ लुक् की अनुवृत्ति है। यह अप्राप्त विभाषा है। फल अभिधेय में षष्ठी समर्थ 'जम्बू' प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। पक्ष में विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—जम्ब्वाः फलानि जाम्बवानि। जम्बूनि वा॥ १६२॥

लुप् च॥ १६३॥

वेत्यनुवर्त्तते फल इति च। लुप् —१।१। च [अ०]। षष्ठी-समर्थाज्जम्बूप्रातिपदिकाद् विहितस्य विकारवयवप्रत्ययस्य विकल्पेन लुब्भवति। पूर्वेण लुका सिद्धे लुब् ग्रहणं युक्तवद् भावार्थम्। जम्ब्वा विकारः फलं जम्बूः फलम्। 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचन' इति युक्तवद्भावः। लुकि सति तु जम्ब्वाः फलं जम्बुफलम्। इत्येव यथा स्यात्।

वा० —फलपाकशुषामुपसंख्यानम्॥ १॥

फलानां पाक इति कर्मणि समासः। फलपाकसमये ये वृक्षाः शुष्यन्ति तेभ्यो विहितस्यापि विकारावयवप्रत्ययस्य नित्यं लुब् भवति। व्रीहीणां फलानि व्रीहयः। यवाः। माषाः। तिलाः। मुद्गाः। मसूराः॥ १॥

वा० —पुष्पमूलेषु बहुलम्॥ २॥

पुष्पाणि च मूलानि च तेषु। विकारवयव विशिष्टेषु पुष्पमूलेषु बहुलं प्रत्ययस्य लुब् भवति। मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका। मूलं वा मल्लिका। करवीरम्। बिसम्। मृणालस्य पुष्पं मूलं वा मृणालम्। न च भवति पाटलानि पुष्पाणि मूलानि वा। बहुलवचनाद् विविधा व्यवस्था दृश्यते। बैल्वानि फलानीति॥ २॥ १६३॥

भावार्थ—यहाँ 'वा, फले' पदों की अनुवृत्ति है। फल अभिधेय में षष्ठीसमर्थ 'जम्बू' प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है। पूर्वसूत्र से लुक् प्राप्त होने पर लुप् का विधान इसलिये है कि 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र से लिंग और वचन भी युक्तवत् (पूर्ववत्) हो जायें। जैसे लुप्—जम्ब्वाः फलं जम्बूफलम्। और लुक् होने पर—जम्ब्वाः फलं जम्बुफलम् होने पर फल अभिधेय का नपुंसकलिंग होता है और 'ह्रस्वो नपुंसके' (१।२।४७) सूत्र से ह्रस्व हो जाता है।

वा०—फलपाकशुषामुपसंख्यानम्॥ १॥

फलानां पाकः फल पाकः। (कर्म में षष्ठ्यन्त का समास) फलपाकेन शुष्यन्ति तेषाम् अर्थात् जो वृक्ष फलों के पकने के समय सूख जाते हैं, उन गेहूँ, धानादि के वाचक शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का नित्य लुप् होता है। जैसे—व्रीहीणां फलानि व्रीहयः। यवाः। माषाः। तिलाः। मुद्गाः। मसूराः॥ १॥

वा०—पुष्पमूलेषु बहुलम्॥ २॥

पुष्प और मूलरूप विकार और अवयव अर्थ में विहित प्रत्यय का बहुल करके लुप् होता है। जैसे—मल्लिकायाः पुष्पं मूलं वा मल्लिका। करवीरम्। बिसम्। मृणालस्य पुष्पं मूलं वा मृणालम्। यहाँ बहुलवचन से कहीं नहीं भी होता है। जैसे—पाटलानि पुष्पाणि मूलानि वा। बैल्वानि फलानि। बहुलवचन से यह विविध व्यवस्था दिखायी देती है॥ २॥ १६३॥

हरीतक्यादिभ्यश्च॥ १६४॥

फले लुबित्यनुवर्त्तते। हरीतक्यादिभ्यः —५।३। च। [अ०प०]। षष्ठी-समर्थेभ्यो हरीतक्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति। लुकि प्राप्ते युक्तवद्भावार्थं लुब्विधानम्। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः फलानि। कोशातक्याः फलानि कोशातक्यः फलानि। नखरजनी फलम्। हरीतक्यादिषु व्यक्तिर्भवति युक्तवद्भावेनेत्युक्तं वार्त्तिकेन। स्त्रीत्वमेव भवति युक्तवदभावेन् न त्वेकवचनेन विग्रह एकवचनम्। अथ हरीतक्यादिगणः—हरीतकी। कोशातकी। नखरजनी। शष्कण्डी। शाकण्डी। दण्डी। दोडी दडी। श्वेतपाकी। अर्जुनपाकी। काला। द्राक्षा। ध्वाङ्क्षा। गर्मीका। गर्गरिका। कण्टकारिका। पिप्पली। चिंचा। शेफालिका॥ इति हरीतक्यादिगणः॥ १६४॥

भावार्थ—यहाँ 'फले, लुप्' पदों की अनुवृत्ति है। षष्ठीसमर्थ हरीतकी आदि गणपठित प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुप् होता है। लुक् की प्राप्ति में लुप् का विधान युक्तवद् (पूर्ववत् लिंग) के लिये किया है। जैसे—हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः फलानि। कोशातक्याः फलानि कोशातक्यः फलानि। नखरजनी फलम्। हरीतकी आदि से प्रत्यय का लुप् होने पर भी लुप् का कार्य व्यक्ति-लिंग ही 'हीरतक्यादिषु व्यक्तिः' इस वार्त्तिक वचन

से पूर्ववत् होता है, वचन नहीं। इसलिये लुप् होने पर अभिधेय फल के अनुसार बहुवचन हुआ है, विग्रह के अनुसार एकवचन नहीं॥१६४॥

कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च॥ १६५ ॥

कंसीय-परशव्ययोः —६।२। यञ्-अञौ —१।२। लुक् —१।१। च [अ०]॥ कंसशब्दाद्धितार्थे छः कंसाय हितः कंसीयः। परशुशब्दाद् गवादिभ्यो यदिति यत्। परशवे हितः परशव्यः। लुम्निवृत्त्यर्थं लुग्ग्रहणम्। षष्ठीसमर्थाभ्यां कंसीयपरशव्यप्रातिपदिकाभ्यां विकारावयवयोरर्थयोर्यञ्-अञौ प्रत्ययौ संख्यातानुदिष्टौ भवतः। तयोः संनियोगेन कंसीय-परशव्ययोः प्रातिपदिकयोर्लुक्। 'प्रत्ययस्य लुक् श्लुलुप इति नियमाच्छयतोः प्रत्यययोरेव लुग् विधीयते। कंसीयस्य विकारः कांस्यः। परशव्यस्य विकार; पारशवः॥ १६५ ॥

इति चुतर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः॥

भाषार्थ—''कंसाय हितः कंसीयः'' यहाँ कंस शब्द से हित अर्थ में छ प्रत्यय है। और ''परशवे हितः परशव्यः'' यहाँ परशु शब्द से 'उगवादिभ्यो यत्' (५।१।२) सूत्र से हितार्थ में 'यत्' है। यह लुक् का विधान लुप् की निवृत्ति के लिये है। षष्ठीसमर्थ कंसीय और परशव्य प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में यञ् और अञ् प्रत्यय यथासंख्य होते हैं और प्रत्यय संनियोग से कंसीय और परशव्य प्रातिपदिकों से प्रत्ययों का लुक् होता है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१।१।६१) इस सूत्रनियम से लुक् संज्ञा प्रत्यय के अदर्शन की है, इसलिये छ और यत् प्रत्ययों का ही लुक् होता है। जैसे—कंसीयस्य विकारः कांस्यः। परशव्यस्य विकारः पराशवः॥ १६५ ॥

यह चतुर्थ अध्याय का तृतीयपाद समाप्त हुआ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः

प्रागृवहतेष्ठक् ॥ १ ॥

प्राक् [अ०]। **वहतेः** — ५। १। **ठक्** — १। १। तद्वहतीत्यतः पूर्वं पूर्वं येऽर्था निर्दिश्यन्ते तेषु सामान्येन ठगधिकारो वेदितव्यः। यथा-अक्षैर्दीव्यति= आक्षिकः। एवमन्यत्र। प्राग्दीव्यतोऽणिति प्रथमपादेऽधिकारः कृतः। स इदानीं निवर्त्तते। अतः परस्मिन् सूत्रे दीव्यतिशब्दोऽस्ति। तस्मात्पूर्वमेव द्वितीयोऽधिकारः स्थापितः। तत्र लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। राज्यव्यवस्थायां पितरि जीवति पुत्रोऽभिषिच्यते। एवमत्राप्यधिकारनिवृत्तेः पूर्वमेव ठगधिकृतः।

वा०—ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ १ ॥

तदित्याहधातोः कर्म निर्दिश्यते न तु द्वितीयासमर्थम्। माशब्द इत्याह= माशब्दिकः। नित्याः शब्दा इत्याह=नैत्यशब्दिकः। कार्यशब्दिकः ॥ १ ॥

वा०—आहौ प्रभूतादिभ्यः ॥ २ ॥

आहविति पुनः क्रियाग्रहणं तदिति द्वितीयासमर्थार्थम्। प्रभूतमाह प्राभूतिकः। पार्याप्तिकः ॥ २ ॥

वा०—पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः ॥ ३ ॥

तदित्यनुवर्त्तते। द्वितीयासमर्थेभ्यः सुस्नातादिभ्यः पृच्छतावभिधेये ठक्। सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सुखरात्रिं पृच्छति सौखरात्रिकः। सुखशयनं पृच्छति सौखशयनिकः ॥ ३ ॥

वा०—गच्छतौ परदारादिभ्यः ॥ ४ ॥

तदित्येव। परदारान् गच्छति पारदारिकः। गौरुतल्पिकः ॥ ४ ॥ १ ॥

भाषार्थ—यह अधिकार सूत्र है। 'तद्वहति०' (४। ४। ७६) इस सूत्रपर्यन्त जो जो अर्थ कहे हैं, उन सब में सामान्य रूप से 'ठक्' प्रत्यय होगा। जैसे— अक्षैर्दीव्यति=आक्षिकः। इसी प्रकार अन्य अर्थों में भी 'ठक्' प्रत्यय होगा। इस चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४। १। ८३) यह अधिकार किया गया है, उसकी यहाँ से निवृत्ति समझो, क्योंकि अगले सूत्र में 'दीव्यति' शब्द पढ़ा है, अण् के अधिकार की समाप्ति होने से प्रथम ही दूसरे ठक् प्रत्यय का अधिकार कर दिया है। इस विषय में लौकिक दृष्टान्त है कि राज्य की प्रशासन व्यवस्था में पिता के जीवित रहते हुए ही पुत्र का राजतिलक कर दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'अण्' के अधिकार की निवृत्ति से पूर्व ही 'ठक्' का अधिकार कर दिया गया है।

वा०—ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ १ ॥

माशब्दादि प्रातिपदिकों से 'तदाह' (ऐसा वह कहता है) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होवे। जैसे—माशब्द इत्याह=माशब्दिकः। नित्याः शब्दा इत्याह=नैत्यशब्दिकः। कार्यशब्दिकः, इत्यादि।

वा०—आहौ प्रभूतादिभ्यः॥ २॥

द्वितीयासमर्थ प्रभूतादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होवे, 'आह कहता है' इस अर्थ में। जैसे—प्रभूतमाह प्राभूतिकः। पर्यासमाह=पार्य्यासिकः॥

वा०—पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः॥ ३॥

द्वितीया समर्थ सुस्नातादि प्रातिपदिकों से 'पृच्छति=पूछता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होवे। जैसे—सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सौखरात्रिकः। सौखशयनिकः, इत्यादि।

वा०—गच्छतौ परदारादिभ्यः॥ ४॥

द्वितीया समर्थ परदारादि प्रातिपदिकों से 'गच्छति=जाता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होवे। जैसे—परदारान् गच्छति-पारदारिकः। गुरुतल्पं गच्छति-गौरुतल्पिकः, इत्यादि॥ ४॥ १॥

तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्॥ २॥

तेन —३।१। दीव्यति........जितम् —१।१। तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपादिकाद् दीव्यत्यादीनां कर्त्तर्य्यभिधेये जितमिति कर्मणि क्तः, तत्र च कर्मण्यभिधेये ठक् प्रत्ययो भवति। अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः। परशुना खनति पारशविकः। कौद्दालिकः। शलाकाभिर्जयति शालाकिकः। शलाकाभिर्जितम् शालाकिकं धनम्। अत्र जिधातोः कर्मण्यपि ठगेव यथा स्यादित्यर्थं जितमिति पृथगुपात्तम्॥ २॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से 'दीव्यति' आदि क्रियाओं के कर्तृवाच्य में तथा 'जितम्' क्रिया के कर्मवाच में भी ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः। परशुना खनति पारशविकः। कौद्दालिकः। शलाकाभिर्जयति शालाकिकः। शलाकाभिर्जितं शालाकिकं धनम्, इत्यादि। सूत्र में 'जयति' क्रिया के पाठ होने पर भी 'जितम्' पद का पृथक् निर्देश इसलिए किया है कि 'जि' धातु के प्रयोग में कर्मवाच्य में भी ठक् प्रत्यय ही होवे॥ २॥

संस्कृतम्॥ ३॥

तेनेति तृतीयासमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। संस्कृतम् —१।१। संस्कृतमिति प्रत्ययार्थो निर्दिश्यते। तच्चाधिकारार्थं वेदितव्यम्। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। घृतेन संस्कृतं घार्त्तिकम्। दाधिकम्। तैलिकम्॥ ३॥

भाषार्थ—यहाँ पहले सूत्र से 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से संस्कृतम्=संस्कार (गुणाधान) करने अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—घृतेन संस्कृतं घार्त्तिकम्। दध्ना संस्कृतं दाधिकम्। तैलेन संस्कृतं

तैलिकम्, इत्यादि॥३॥

कुलत्थकोपधादण्॥४॥

कुलत्थ-कोपधात् —५।१।अण् —१।१।तृतीयासमर्थाभ्यां कुलत्थ-कोपध-प्रातिपदिकाभ्याम् अण् प्रत्ययो भवति संस्कृतमित्यस्मिन्नर्थे। पूर्वेण ठक् प्राप्तस्तस्यापवादः। कुलत्थेन संस्कृतम्=कौलत्थम्। तित्तिडीकैः संस्कृतं तैत्तिडीकम्। यावकेन संस्कृतं यावकम्॥४॥

भावार्थ—इससे पूर्व सूत्र से प्रातिपदिक मात्र से 'संस्कृतम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय प्राप्त था, यह उसका अपवाद सूत्र है। तृतीय समर्थ कुलत्थ और ककारोपध प्रातिपदिकों से संस्कृत=संस्कार अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—कुलत्थेन संस्कृतं कौलत्थम्। ककारोपध का—तित्तिडीकैः संस्कृतं तैत्तिडीकम्। यावकेन संस्कृतं यावकम्॥४॥

तरति॥५॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। तरतीत्यस्य कर्ता प्रत्ययार्थः। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तरतीत्यस्य कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। वृषभेण तरति वार्षभिकः। माहिषिकः॥५॥

भावार्थ—यहाँ पूर्व सूत्र से 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से तरति=तैरने अर्थ वाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वृषभेण तरति वार्षभिकः। माहिषिकः, इत्यादि॥५॥

गोपुच्छाट्ठञ्॥६॥

गोपुच्छात् —५।१। ठञ् —१।१ पूर्वेणाधिकाराट्ठकि प्राप्ते ठञ् विधीयते। तृतीयासमर्थाद् गोपुच्छप्रातिपदिकात् तरतीत्यस्य कर्त्तरि ठञ् प्रत्ययो भवति। स्वरविशेषार्थं प्रत्ययान्तरविधिः। गोपुच्छेन तरति गौपुच्छिकः॥६॥

भावार्थ—इससे पूर्वसूत्र से अधिकार होने से 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति में 'ठञ्' प्रत्ययान्तर का विधान स्वरविशेष के लिए किया गया है। तृतीयासमर्थ 'गोपुच्छ' प्रातिपदिक से 'तरति=तैरने अर्थ वाली' क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—गोपुच्छेन तरति गौपुच्छिकः॥६॥

नौ द्व्यचष्ठन्॥७॥

तरतीत्येव। नौद्व्यचः —५।१। ठन् —१।१ तृतीयासमर्थान् नौप्राति-पदिकाद् द्व्यचश्च ठञ् प्रत्ययो भवति तरतीत्यस्य कर्त्तरि। नावा तरति नाविकः। घटेन तरति घटिकः। बाहुभ्यां तरति बाहुकः॥७॥

भावार्थ—इस सूत्र में 'तरति' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ नौ और द्व्यच् (दो अच् वाले) प्रातिपदिकों से तरति=तैरना क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठन्' प्रत्यय होता है। जैसे—नावा तरति नाविकः। द्व्यच् का—घटेन तरति घटिकः। बाहुभ्यां तरति बाहुकः, इत्यादि॥७॥

चरति ॥ ८ ॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। चरतीत्यस्य गतिकर्म्मणः कर्त्ता प्रत्ययार्थः। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकाच् चरतीत्यस्य कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। शकटेन चरति शाकटिकः। हस्तिना चरति हास्तिकः॥ ८॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से 'चरति=गति करना' अर्थ वाली क्रिया के कर्तृवाच्य में ठक् प्रत्य होता है। जैसे—शकटेन चरति=शाकटिकः। हस्तिना चरति=हास्तिकः, इत्यादि॥ ८॥

आकर्षात् ष्ठल्॥ ९॥

चरतीत्यनुवर्त्तते। आकर्षात् —५।१। ष्ठल् —१।१ पूर्वं सूत्रेण ठक् प्रत्ययः प्राप्तस्स बाध्यते। तृतीयासमर्थाद् आकर्षप्रातिपदिकाच् चरतीत्यर्थे ष्ठल् प्रत्ययो भवति। आकर्षेण चरतीति आकर्षिकः। आकर्षिकी। षित्करणं ङीषर्थम्। लित्करणं—स्वरार्थम्।

भा०—इह केषांचित् सांहितिकं षत्वं केषांचित् षिदर्थम्। तत्र न ज्ञायते केषां सांहितिकं केषां षिदर्थमिति। इह ठगधिकारे केषांचित् प्रत्ययानां सांहितिकं विभक्तेः सकारस्य षत्वं, केषांचित् स्त्रीप्रत्ययार्थं षत्वम्। तत्र सन्देहनिवृत्त्यर्थो यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः।

का०— आकर्षात् पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात् किशरादेः षितः षडेते ठगधिकारे॥ १॥

आर्याछन्दः। पूर्वोक्तसन्देहोऽनया कारिकया निवर्त्यते। आकर्षात् ष्ठल्। पर्पादिभ्यः ष्ठन्। भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्। कुसीददशैकदेशात् ष्ठन्ष्ठचौ। आवसथात् ष्ठल्। किशरादिभ्यः ष्ठन्। इति ठगधिकारे षट्स्वेव सूत्रेषु विहिताः प्रत्ययाः षितः। स्त्रीप्रत्ययार्थस्तेषु षकारो वेद्यः॥ ९॥

भाषार्थ—यहाँ 'चरति' पद की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति में ष्ठल् प्रत्ययान्तर का विधान किया है। प्रत्ययस्थ षकार ङीष् प्रत्यय के लिए और लित् करण स्वर के लिये है। तृतीयासमर्थ *आकर्ष प्रातिपदिक से 'चरति=गति करना' अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ष्ठल्' प्रत्यय होता है। जैसे—आकर्षेण चरति=आकर्षिकः। आकर्षिकी।

इस सूत्र पर महाभाष्य में यह विशेष कहा है—यहाँ ठक् प्रत्यय के अधिकार में किन्हीं प्रातिपदिकों में विभक्ति के सकार को संहिता=सन्धि में षत्व हो जाता है और किन्हीं प्रत्ययों में ङीष् होने के लिए षित् किया है। इससे सन्देह होता है कि किन प्रत्ययों में औपदेशिक षत्व है और किनमें संहिता के कारण विभक्ति का है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कारिका द्वारा परिगणन किया गया है। अर्थात् इस ठक् प्रत्यय के अधिकार में छः सूत्रों से विहित प्रत्ययों में औपदेशिक षत्व है (यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है यहाँ विधि-सूत्रों की अपेक्षा

---

* आकर्ष इति सुवर्ण-परीक्षार्थो निकषोत्पल उच्यते। लोकेभाषायां च 'कसौटी' इति नाम्ना प्रसिद्धः। —सम्पादकः

छः संख्या बतायी गई है, वैसे प्रत्यय सात हैं।) अर्थात् (१) आकर्षात् ष्ठल् (४।४।९), (२) पर्पादिभ्यष्ठन् (४।४।१०), (३) भस्त्रादिभ्यष्ठन् (४।४।१६), (४) कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ (४।४।३१), (५) आवसथात् ष्ठल् (४।४।७४), (६) किशरादिभ्यष्ठन् (४।४।५३) इन छः सूत्रों से विहित प्रत्यय औपदेशिक षित्ववाले हैं। इनमें षकार स्त्रीप्रत्यय करने के लिए हैं।

पर्पादिभ्यः ष्ठन्॥ १०॥

पर्पादिभ्यः —५।३।ष्ठन् —१।१।तृतीयासमर्थेभ्यः पर्पादिप्रातिपदिकेभ्यश्चरतीत्यर्थे ष्ठन् प्रत्ययो भवति। ठकोऽपवादः। पर्पाभ्यां चरति पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी। षित्वं ङीषर्थम्। नित्त्वं स्वरार्थम्।

अथ पर्पादिगणः। पर्प। अश्व। अश्वत्थ। रथ। जाल। न्यास। व्याल। पादः पञ्च। इति पर्पादिः॥ १०॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ पर्पादि प्रातिपदिकों से 'चरति=गति करना' अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। अधिकार होने से ठक् प्रत्यय की प्राप्ति में 'ष्ठन्' का विधान किया है। प्रत्ययस्थ षकार ङीष् प्रत्यय के लिए है और नित्व स्वर के लिए है। जैसे—पर्पाभ्यां चरति=पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी, इत्यादि॥ १०॥

श्वगणाद् ठञ् च॥ ११॥

ष्ठन्नित्यनुवर्त्तते। श्वगणात् —५।१।ठञ् —१।१।च —[अ०प०]। तृतीया-समर्थात् श्वगणप्रातिपदिकात् [चरतीत्यस्मिन्नर्थे] ठञ्-ष्ठनौ प्रत्ययौ भवतः। श्वगणेन चरति श्वागणिकः। श्वागणिकी। ष्ठन् प्रत्यये—श्वगणिकः। श्वगणिकी।

जयादित्येनात्र चकाराद् ठन् प्रत्ययं कृत्वा श्वगणिकेत्युदाहृतम्। ष्ठनि प्रकृते षित्वं न जाने तेन कथं नाश्रितम्॥ ११॥

भाषार्थ—पूर्व सूत्र से 'ष्ठन् प्रत्यय की यहाँ अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ 'श्वगण' प्रातिपदिक से 'चरति=गति करना' अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में ठञ् तथा ष्ठन् प्रत्यय होते हैं। जैसे ठञ्—श्वगणेन चरति=श्वागणिकः। श्वागणिकी। ष्ठन् श्वगणिकः। श्वगणिकी।

इस सूत्र में जयादित्य ने चकार से 'ठन्' प्रत्यय करके 'श्वगणिका' उदाहरण दिया है। यह उसकी भूल है, क्योंकि ष्ठन् प्रत्यय की अनुवृत्ति में षित्व को उसने पता नहीं क्यों नहीं समझा? [प्रत्ययस्थ षित्व को मानकर तो 'श्वगणिकी' प्रयोग बनता है 'श्वगणिका' नहीं]॥ ११॥

वेतनादिभ्यो जीवति॥ १२॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। चरतीति निवृत्तम्। वेतनादिभ्यः—५।३। जीवति—[क्रि०प०]। जीवतीत्यस्य कर्त्ता प्रत्ययार्थः। तृतीयासमर्थेभ्यो वेतनादिप्रातिपदिकेभ्यो जीवतीत्यस्य कर्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। वेतनेन

जीवति वैतनिकः। जालेन जीवति जालिकः।

वेतनादिगणः—वेतन। वाह। अर्धवाह। धनुर्दण्ड। जाल। वेश। उपवेश। प्रेषण। उपस्ति। सुख। शय्या। शक्ति। उपनिषत्। उपदेश। उपनेष। स्फिज। स्त्रक्। पाद। उपस्थ। उपस्थान। उपहस्त। इति वेतनादिगणः॥ १२॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है और 'चरति' पद की निवृत्ति है, यह जीवति क्रियान्तर का पाठ करने से जाना जाता है। तृतीया समर्थ वेतनादि प्रातिपदिकों से जीवतिः=जीवन निर्वाह वाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—वेतनेन जीवति=वैतनिकः। जालेन जीवति जालिकः, इत्यादि॥ १२॥

वस्त्रक्रयविक्रयाद् ठन्॥ १३॥

वस्त्रक्रयविक्रयात् —५।१। ठन् —१।१। वस्त्रश्च क्रयविक्रयौ चैषां समाहारः। संघातात् क्रयविक्रयशब्दात् प्रत्यय उत्पद्यते। तृतीयासमर्थाभ्यां वस्त्रक्रयविक्रयप्रातिपदिकाभ्यां जीवतीत्यर्थे ठन् प्रत्ययो भवति। ठकोऽपवादः। वस्त्रेन जीवति वस्त्रिकः। क्रयविक्रयेण जीवति क्रयविक्रयिकः॥ १३॥

भाषार्थ—सूत्र में वस्त्र और क्रय विक्रय शब्दों का समाहारद्वन्द्व समास है। 'क्रयविक्रय' समस्त शब्द से प्रत्यय होता है। तृतीयासमर्थ वस्त्र और क्रयविक्रय प्रातिपदिकों से जीवति=जीवन निर्वाहवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ठन्' प्रत्यय होता है। यह 'ठक्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—वस्त्रेन जीवति=वस्त्रिकः। क्रय-विक्रयेण जीवति=क्रयविक्रयिकः॥ १३॥

आयुधाच्छ च॥ १४॥

ठन्नित्यनुवर्त्तते। आयुधात्—५।१। छ—१।१। च—[अ०प०]। तृतीयासमर्थाद् आयुधप्रातिपदिकाज् जीवतीत्यर्थे छ-ठनौ प्रत्ययौ भवतः। आयुधेन जीवति आयुधीयः। आयुधिकः। इत्यर्थे वा चकारः। जीवतीत्य-स्याधिकारः समाप्तः॥ १४॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'ठन्' की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ आयुध प्रातिपदिक से जीवति=जीवन निर्वाहवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में छ और ठन् प्रत्यय होते हैं। जैसे—आयुधेन जीवति=आयुधीयः। आयुधिकः। यहाँ चकार का पाठ इति=समाप्ति अर्थ में है। जिससे 'जीवति' का अधिकार यहाँ समाप्त हो जाता है॥ १४॥

हरत्युत्सङ्गादिभ्यः॥ १५॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। जीवतीति निवृत्तम्। हरति —[क्रि०प०]। उत्सङ्गादिभ्यः —५।३। तृतीयासमर्थेभ्य उत्सङ्गादिगणप्रातिपदिकेभ्यो हरतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः। औडुपिकः।

अथोत्संगादिः उत्सङ्ग। उडुप। उत्पत। उत्सन्न। उत्पुट। पिटक। इत्युत्सङ्गादिगणः समाप्तः॥ १५॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ उत्सङ्गादि प्रातिपदिकों से हरतिः=हरने अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—

उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः। औडुपिकः। इत्यादि॥ १५॥

भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्॥ १६॥

हरतीत्यनुवर्त्तते। भस्त्रादिभ्यः —५।३।ष्ठन् —१।१।तृतीयासमर्थेभ्यो भस्त्रादिप्रातिपदिकेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ष्ठन् प्रत्ययो भवति। भस्त्रेण हरति भस्त्रिकः। भस्त्रिकी। भरटिकः। भरटिकी। षित्करणं ङीषर्थम्।

[अथ भस्त्रादिः] भस्त्र। भरट। भरण। भारण। शीर्षभार। शीर्षेभार। अंसभार। अंसेभार। इति भस्त्रादिगणः॥ १६॥

भाषार्थ –पूर्वसूत्र से 'हरति' पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ भस्त्रादि प्रातिपदिकों से हरति=हरने अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। जैसे—भस्त्रेण हरति=भस्त्रिकः। भस्त्रिकी। भरटिकः। भरटिकी प्रत्यय में षित्करण 'ङीष्' के लिये है॥ १६॥

विभाषा विवधात्॥ १७॥

विभाषा [अ०]।विवधात् —५।१।अप्राप्तविभाषेयम्।ष्ठन्नित्यनुवर्त्तते। तृतीयासमर्थाद् विवधप्रातिपदिकाद् हरतीत्यर्थे विकल्पेन ष्ठन् प्रत्ययो भवति। पक्षेऽधिकाराद् ठक्।विवधेन हरति विवधिकः।विवधिकी।ठक्—वैवधिकः। वैवधिकी।

वा०—वीवधाच्चेति वक्तव्यम्॥ १॥

विवध-वीवध शब्दौ समानार्थौ, स्वं रूपं शब्दस्येति ग्रहणादप्राप्तो विधिः। वीवधेन हरति वीवधिकः वीवधिकी। वैवधिकः। वैवधिकी। इदं वार्त्तिकं जयादित्येन सूत्रे मेलितमिदानींतनेषु पुस्तकेष्वपि तथैव दृश्यते। तद् भ्रमात् केनापि लिखितं जयादित्येन व्याख्यातं च। कुतः। पाणिनीयपाठे सति वार्त्तिक-स्यानर्थकत्त्वात्॥ १७॥

भाषार्थ—इस सूत्र में अप्राप्तविभाषा है। ष्ठन् प्रत्यय की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ विवध प्रातिपदिक से हरति हरण करनेवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में विकल्प करके 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। पक्ष में 'ठक्' प्रत्यय होता है जैसे –विवधेन हरति=विवधिकः। विवधिकी। ठक् वैवधिकः। वैवधिकी।

वा०—वीवधाच्च॥ १॥

विवध और वीवध शब्द समानार्थक हैं, शब्द के स्वरूप का ही व्याकरण शास्त्र में ग्रहण होता है, इस नियम से 'वीवध' शब्द से प्रत्यय की प्राप्ति नहीं थी, अतः वार्त्तिक से विधान किया गया है। तृतीयासमर्थ 'वीवध' प्रातिपदिक से हरने अर्थ में विकल्प से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है पक्ष में ठक्। जैसे वीवधेन हरति=वीवधिकः। वीवधिकी। ठक् वैवधिकः। वैवधिकी।

काशिका में जयादित्य ने इस वार्त्तिक को सूत्र मे मिला दिया है। और वर्तमान में उपलब्ध पुस्तकों में भी वैसा ही पाठ मिलता है। वह किसी के द्वारा भ्रान्ति से ही लिखा गया है, और जयादित्य ने भी वैसे ही व्याख्या की है यदि यह

सूत्र का भाग होता तो वार्तिक बनाना निरर्थक ही था॥१७।

अण् कुटिलिकायाः॥१८॥

अण्—१।१। कुटिलिकायाः ५।१। तृतीयासमर्थात् कुटिलिका प्रातिपदिकाद् हरतीत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। अयोमय=शस्त्रविशेषस्य अयस्कार-साधनस्य कुटिलिका नाम। कुटिलिकया हरति कौटिलिकोऽयस्कारः॥१८॥

भावार्थ—तृतीयासमर्थ कुटिलिका प्रातिपदिक से हरति=हरण के अर्थ वाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'अण्' प्रत्यय होता है। कुटिलिका अयस्कार=लुहार की लोहे की एक छडी होती है। जैसे—कुटिलिकया हरति=कौटिलिकोऽयस्कारः॥१८॥

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः॥१९॥

तेनेत्यनुवर्त्तते। निर्वृत्ते। अक्षद्यूतादिभ्यः—५।३। तृतीयासमर्थेभ्योऽ-क्षद्यूतादिगणप्रातिपदिकेभ्यो निर्वृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्-आक्षद्यूतिकं वैरम्। जानुप्रहृतिकम्।

अथ अक्षाद्यूतादिः—अक्षद्यूत। जानुप्रहृत। जङ्घाप्रहृत। पादस्वेन। कण्टकमर्दन। गतागत। यातोपयात। अनुगत। इत्यक्षद्यूतादिगणः॥१९॥

भावार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ गण पठित अक्ष-द्यूतादि प्रातिपदिकों से निर्वृत्त=सिद्ध होने अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्=आक्षद्यूतिकं वैरम्। जानुप्रहृतिकम्, इत्यादि॥१९॥

त्रेर्मम्नित्यम्*॥२०॥

निर्वृत्त इत्यनुवर्त्तते। त्रेः—५।१। मप्—१।१। नित्यम्—१।१। 'ड्वितः क्त्रिः' इत्यस्य क्त्रिप्रत्ययान्तस्य ग्रहणम्। त्रिप्रत्ययान्तात् तृतीया-समर्थात् प्रातिपदिकान् निर्वृत्त इत्यर्थे नित्यं मप् प्रत्ययो भवति। नित्यग्रहणं वाक्यनिर्वृत्त्यर्थम् त्रिप्रत्ययान्तं मब्विषयमेव यथा स्यात्। पक्त्रिमा यवागूः। उप्त्रिमं बीजम्। कृत्रिमः संसारः।

वा०—भाव इति प्रकृत्य इमब्वक्तव्यः॥१॥

कुट्टिमा भूमिः। सेकिमोऽसिरित्येवमर्थम्। भाववाचिनः प्रातिपदिकाद् इमप् प्रत्ययः कर्त्तव्य इति सूत्रेणापि नार्थः॥२०॥

भावार्थ—यहाँ 'निर्वृत्ते' पद की अनुवृत्ति है। 'ड्वितः क्त्रिः (अ० ३।३।८८) इस क्त्रि प्रत्ययान्त का 'त्रेः' पद से ग्रहण किया गया है। तृतीया समर्थ त्रि-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से निर्वृत्त=सिद्ध होने अर्थ में नित्य मप्-प्रत्यय होता है। सूत्र में नित्य का ग्रहण महाविभाषा से प्राप्त वाक्य की निवृत्ति के लिये है। त्रि-प्रत्ययान्त का नित्य मप्-प्रत्ययान्त का ही प्रयोग होना चाहिये। केवल त्रि प्रत्ययान्त का प्रयोग न हो। जैसे—पक्त्रिमा यवागूः। उप्त्रिमं बीजम्। कृत्रिमः संसारः।

---

* क्त्रेरिति पाठेऽनार्ष एव —सम्पादकः।

वा०—भाव इति प्रकृत्य इमब् वक्तव्यः ॥ १ ॥

भाववाची (भाव-विहित प्रत्ययान्त) प्रातिपदिकों से इमप् प्रत्यय कहना चाहिये। ऐसा वार्त्तिक बनाने से सूत्र से सिद्ध होनेवाले शब्द तथा अन्य शब्द भी सिद्ध हो जायेंगे। जैसे—कुट्टिमा भूमिः। सेकिमोऽसिः॥ २० ॥

अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ ॥ २१ ॥

निर्वृत्त इत्यनुवर्त्तते। अपमित्य याचिताभ्याम् —५।२। कक्कनौ —१।२। तृतीयासमर्थाभ्याम् अपमित्य-याचितप्रातिपदिकाभ्यां निर्वृत्त इत्यर्थे यथासंख्यं कक्कनौ प्रत्ययौ भवतः। आपमित्यकम्। याचितकम्॥ २१ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'निर्वृत्ते पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ अपमित्य और यचित प्रातिपदिकों से निर्वृत्त=सिद्ध होने अर्थ में यथासंख्य कक्, कन् प्रत्यय होते हैं। 'अपमित्य' शब्द क्त्वा प्रत्ययान्त होने से अव्यय है। अतः तृतीयासमर्थ के अधिकार होने पर भी इस शब्द से तृतीया समर्थ की संगति नहीं है। जैसे—आपमित्यकम्। याचितकम्॥ २१ ॥

संसृष्टे ॥ २२ ॥

तेनेति तृतीयासमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। संसृष्टे —७।१। संसृष्टं मेलनमुच्यते। तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संसृष्ट इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। दध्ना संसृष्टं शाकं दाधिकम्। तक्रेण संसृष्टं ताक्रिकम्। दौग्धिकी यवागूः। गौडिका गोधूमाः॥ २२ ॥

भाषार्थ—यहाँ 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से संसृष्ट=मिश्रित मिलाने अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—दध्ना संसृष्टं शाकम्=दाधिकम्। तक्रेण संसृष्टं ताक्रिकम्। दौग्धिकी यवागूः। गौडिका गोधूमाः, इत्यादि॥ २२ ॥

चूर्णादिनिः ॥ २३ ॥

चूर्णात् —५।१। इनिः —१।१। तृतीयासमर्थाच्चूर्णप्रातिपदिकात् संसृष्टेऽर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। चूर्णेन संसृष्टाश्चूर्णिनो धानाः॥ २३ ॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ चूर्ण प्रातिपदिक से संसृष्ट=मिलाने अर्थ में इनि प्रत्यय होता है। जैसे—चूर्णेन संसृष्टा=चूर्णिनो धानाः॥ २३ ॥

लवणाल्लुक् ॥ २४ ॥

लवणात् —५।१। लुक् —१।१। तृतीयासमर्थात् लवणप्रातिपदिकाद् उत्पन्नस्य संसृष्टार्थस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। लवणं शाकम्। लवणा यवागूः। प्रत्ययार्थस्य प्रधानतया त्रिलिङ्गता॥ २४ ॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ 'लवण' प्रातिपदिक से संसृष्टार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है। जैसे—लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः। लवण शाकम्। लवणा यवागूः। यहाँ प्रत्यय के लुक् होने पर भी प्रत्ययार्थ की मुख्यता होने से 'लवण'

शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग हुआ है॥ २४॥

मुद्गादण्॥ २५॥

मुद्गात् —५।१। अण् —१।१। तृतीयासमर्थाद् मुद्गप्रातिपदिकात् संसृष्टेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। ठकोऽपवादः। मुद्गेन संसृष्टा मौद्गा ओदनाः। मौद्गी यवागूः॥ २५॥

भाषार्थ—यह सूत्र 'ठक्' प्रत्यय का अपवाद है। तृतीया समर्थ 'मुद्ग' प्रातिपदिक से संसृष्ट=मिलाने अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—मुद्गेन संसृष्टा=मौद्गा ओदनाः। मौद्गी यवागूः॥ २५॥

व्यञ्जनैरुपसिक्ते॥ २६॥

संसृष्ट इति निवृत्तम्। तेनेत्यनुवर्त्तते। व्यञ्जनैः —३।३। उपसिक्ते —७।१। तृतीयासमर्थेभ्यो व्यञ्जनवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य उपसिक्त इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। दध्ना उपसिक्तं दाधिकम्। ताक्रिकम्। गौडिकम्। व्यञ्जनैरिति किम्—अद्भिरुपसिक्तं शाकम्। अत्र मा भूत्॥ २६॥

भाषार्थ—यहाँ 'संसृष्टे' पद निवृत्त हो गया है और 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। [सूत्र में 'व्यञ्जनैः' पद में बहुवचन स्वरूप विधि के निरास के लिये है, अतः व्यञ्जनवाची प्रातिपदिकों से प्रत्यय होता है] तृतीया समर्थ व्यञ्जनवाची प्रातिपदिकों से उपसिक्त=सींचने अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—दध्ना उपसिक्तम्=दाधिकम्। ताक्रिकम्। गौडिकम्। सूत्र में 'व्यञ्जनैः' पद होने से व्यञ्जनवाचियों से ही प्रत्यय होता है। जो व्यञ्जनवाची नहीं हैं, उनसे नहीं होता। जैसे—अद्भिरूपसिक्तं शाकम्। यहाँ 'अप्' (जल) शब्द से प्रत्यय नहीं हुआ॥ २६॥

ओजःसहोऽम्भसा वर्त्तते॥ २७॥

उपसिक्त इति निवृत्तम्। तेनेत्यनुवर्त्तते। ओजःसहोऽम्भसा —३।१। वर्त्तते-[क्रिया०]। ओजस्, सहस्, अम्भस्, इत्येतेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वर्त्तत इत्यस्य कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। ओजसा वर्त्तते इत्यौजसिकः क्षत्रियः। सहसा वर्तते साहसिकश्चौरः। अम्भसा वर्त्तते आम्भसिको नक्रः॥ २७॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'उपसिक्ते' पद की निवृत्ति तथा 'तेन' पद की अनुवृत्ति है। तृतीयासमर्थ ओजस्, सहस्, अम्भस् प्रातिपदिकों से वर्त्तते=वर्त्तमान होनेवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—ओजसा वर्त्तते= औजसिकः क्षत्रियः। सहसा वर्त्तते=साहसिकश्चौरः। अम्भसा वर्त्तते आम्भसिको नक्रः॥ २७॥

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्॥ २८॥

तेनेति निवृत्तम्। वर्त्तत इत्यनुवर्त्तते। तत् —२।१। प्रत्यनुपूर्वम् —२।१। ईपलोमकूलम् —२।१। वृतुधातुरकर्मकः। वर्तनक्रियाविशेषणं द्वितीया-समर्थग्रहणम्। द्वितीया-समर्थेभ्यः प्रत्यनुपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलेभ्यः प्राति-पदिकेभ्यो वर्त्तत इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। प्रतीपं वर्त्तते प्रातीपिकः।

आन्वीपिकः। प्रतिलोमं वर्त्तते प्रातिलोमिकः। आनुलोमिकः। प्रतिकूलं वर्त्तते प्रातिकूलिकः। आनुकूलिकः॥ २८॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तेन' पद की निवृति तथा 'वर्त्तते' पद की अनुवृत्ति है। 'वृतु' धातु अकर्मक है। अतः द्वितीया समर्थ विभक्ति वर्त्तन क्रिया का विशेषण है। द्वितीया समर्थ प्रति तथा अनु जिनके पूर्व हों, ऐसे ईप, लोम और कूल प्रातिपदिकों से वर्त्तते=वर्त्तन अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—प्रतीपं* वर्त्तते=प्रातीपिकः। आन्वीपिकः। प्रतिलोमं§ वर्त्तते=प्रातिलोमिकः। आनुलोमिकः¶। प्रतिकूलं वर्त्तते=प्रातिकूलिकः। आनुकूलिकः॥ २८॥

परिमुखञ्च॥ २९॥

तदित्यनुवर्त्तते वर्त्तत इति च। परिमुखम् —२।१। च —[अ०प०]। द्वितीयासमर्थात् परिमुखप्रातिपदिकाद् वर्त्तत इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। परिमुखं वर्त्तते पारिमुखिकः॥ २९॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तद्' तथा 'वर्त्तते' पदों की अनवृत्ति है। द्वितीया समर्थ परिमुख प्रातिपदिक से वर्त्तते=वर्त्तन अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—परिमुख वर्त्तते=पारिमुखिकः॥ २९॥

प्रयच्छति गर्ह्यम्॥ ३०॥

प्रयच्छति —[क्रि०प०]। गर्ह्यम् —१।१। तदित्यनुवर्त्तते, वर्त्तत इति निवृत्तम्। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रयच्छतीत्यस्य गर्ह्ये प्रत्ययार्थे ठक् प्रत्ययो भवति।

भा०— यदसावल्पं दत्त्वा बहु गृह्णाति तद् गर्ह्यम्।
प्रयच्छति दानकर्माऽदानस्य पुनरधिकमादानं गर्ह्यं कर्म।

वा०— मे स्याल्लोपो वा॥ १॥

मे स्यादिति पदद्वयस्य प्रत्यय उत्पन्ने वा लोपो भवति। द्विगुणं मे स्यादिति प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। विकल्पग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्—द्विगुणं मे स्यादिति वाक्यमपि यथा स्यात्।

वा०—वृद्धेर्वृधुषिभावः॥ २॥

मे स्याल्लोपो वेत्यनुवर्त्तते। वृद्धिर्मे स्यादिति प्रयच्छति वार्धुषिकः॥ ३०॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तद्' पद की अनुवृत्ति है। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से प्रयच्छति=देने अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में, यदि देय पदार्थ अल्प देकर अधिक लेने से निन्दित (गर्ह्य) वाच्य हो तो 'ठक्' प्रत्यय होता है। महाभाष्यकार ने गर्ह्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जो अल्पमात्रा में देकर अधिक लेता है, वह गर्ह्य है। सूत्र में ऐसा भाव स्पष्ट होता न देखकर वार्त्तिककार ने यह लिखा है—

---

* प्रतीपम्=प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः।
§ प्रतिलोमम्=प्रतिगतानि लोमान्यस्येति बहुव्रीहिः।
¶ अनुलोमम्=अनुगतानि लोमान्यस्येति बहुव्रीहिः। —सम्पादकः

वा०—मे स्याल्लोपो वा॥ १॥

अर्थात् गर्ह्य अभिधेय में प्रत्यय करने पर 'मे स्यात्' पदों का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे—द्विगुणं मे स्यादिति प्रयच्छति=द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। विकल्प का ग्रहण 'द्विगुणं मे स्यात्' वाक्य प्रयोग के लिये है।

वा०—वृद्धेर्वृधुषिभावो वा॥ २॥

यहाँ 'मे, स्यात्' पदों की अनुवृत्ति है। वृद्धि प्रातिपदिक से 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है और वृद्धि के स्थान पर वृधुषि आदेश हो जाता है। जैसे—वृद्धिर्मे स्यादिति प्रयच्छति=वार्धुषिकः।

कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ॥ ३१॥

पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। कुसीददशैकादशात् —५।१। ष्ठन्-ष्ठचौ —१।२। कुसीद दशैकादश इत्येताभ्यां द्वितीयासमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रयच्छति गर्ह्यमित्यर्थे ष्ठन्-ष्ठचौ प्रत्ययौ यथासंख्येन भवतः। एकादशार्था दश दशैकादश। कुसीदं प्रयच्छति कुसीदिकः। कुसीदिकी। दशैकादशिकः। दशैकादशिकी। षित्करणं ङीषर्थम्॥ ३१॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र की यहाँ अनुवृत्ति है। द्वितीया समर्थ कुसीद और दशैकादश प्रातिपदिकों से प्रयच्छति गर्ह्यम्=द्विगुणादि के निमित्त से निन्दित देनेवाले कर्त्तृवाच्य में यथासंख्य करके ष्ठन् और ष्ठच् प्रत्यय होते हैं। कुसीदं (वृद्ध्यर्थम्) प्रयच्छति=कुसीदिकः। कुसीदिकी। दशैकादशिकः। दशैकादशिकी। जो दश रुपये इसलिये देता है कि एकादश मेरे हो जायें, वह दशैकादशिक कहलाता है। प्रत्ययों में षित्करण स्त्रीलिंग में 'ङीष्' प्रत्यय के लिये है॥ ३१॥

उञ्छति॥ ३२॥

[उञ्छति—क्रि०प०] तदित्यनुवर्त्तते। उञ्छतीत्यस्य कर्त्ता प्रत्ययार्थः। भूमिगतस्यैकैकस्य कणस्यादान-मुञ्छनम्। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् उञ्छतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। श्यामाकान् उञ्छति श्यामाकिकः। गोधूमान् उञ्छति गौधूमिकः॥ ३२॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तद्' पद की अनुवृत्ति है। 'उञ्छति' क्रिया का कर्ता प्रत्यय का अर्थ है। फसल कटने पर खेतों में पड़े एक-एक कण का उठाना उञ्छन (शिल्ला) कहलाता है। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से उञ्छति=शिल्ला चुगने अर्थ की क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—श्यामाकान् उञ्छति श्यामाकिकः। गोधूमान् उञ्छति गौधूमिकः इत्यादि॥ ३२॥

रक्षति॥ ३३॥

[रक्षति—क्रि०प०] द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् रक्षतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। समाजं रक्षति सामाजिकः। गोमण्डलं रक्षति गौमण्डलिकः। कौटुम्बिकः॥ ३३॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से रक्षति=रक्षा करनेवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—समाजं रक्षति=सामाजिकः। गोमण्डलं रक्षति=गौमण्डलिकः। कौटुम्बिकः, इत्यादि॥ ३३॥

शब्ददर्दुरं करोति॥ ३४॥

शब्द-दर्दुरम् —२।१। करोति —[क्रि०प०]। द्वितीयासमर्थाभ्यां शब्ददर्दुर* इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां करोतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। करोत्यत्र रचनसाधने वर्तते। शब्दं करोति शाब्दिको वैयाकरणः। दार्दुरिकः॥ ३४॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ शब्द और दर्दुर प्रातिपदिकों से करोति=रचना करनेवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—शब्दं करोति=शाब्दिको वैय्याकरणः। दार्दुरिकः॥ ३४॥

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति॥ ३५॥

पक्षि-मत्स्य-मृगान्—२।३। हन्ति—[क्रि०प०]। पक्षि मत्स्य-मृगेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हन्तीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। झित्तद् विशेषाणां मत्स्याद्यर्थमित्युक्तवार्त्तिकेनात्र§ पर्य्यायवाचिनां तद् विशेषाणां च ग्रहणं भवति। पक्षिभ्यस्तावत्—पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः। शाकुनिकः। खैचरिकः। तद्विशेषेभ्यः—मायूरिकः। कपोतान् हन्ति कापोतिकः। शौकिकः। बाकिकः। मत्स्येभ्यः। शाफरिकः। शाकुलिकः। मृगेभ्यः—मृगान् हन्ति मार्गिकः। हारिणिकः। तद्विशेषेभ्यः—रौरविकः। पार्षतिकः। सारङ्गिकः॥ ३५॥

भाषार्थ—द्वितीय समर्थ पक्षी, मत्स्य तथा मृग प्रातिपदिकों से हन्ति=मारने अर्थ में क्रिया के कर्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। इस व्याकरण शास्त्र में 'स्वं रूपं०' (अ० १।१।६८) सूत्र के अनुसार शब्द के अपने स्वरूप का ही ग्रहण होता है, पर्यायवाची आदि का नहीं। किन्तु कुछ इस नियम के अपवाद भी हैं। उनमें 'झित्तद् विशेषाणां०' यह अपवाद भी है। इससे सूत्रपठित प्रातिपदिकों के स्वरूपों, पर्यायवाची तथा विशिष्ट शब्दों से भी प्रत्यय हो जाता है। जैसे—पक्षीवाचियों से—पक्षिणो हन्ति=पाक्षिकः। शाकुनिकः। खैचरिकः। तद्विशेषों से—मायूरिकः। कपोतान् हन्ति=कापोतिकः। शौकिकः। बाकिकः। मत्स्यवाचियों से—मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिकः। मीनान् हन्ति=मैनिकः। तद्विशेषों से शाफरिकः। शाकुलिकः मृगवाचियों से—मृगान् हन्ति=मार्गिकः। हारिणिकः तद्विशेषों से—रौरविकः। पार्षतिकः। सारङ्गिकः॥ ३५॥

परिपन्थं च तिष्ठति॥ ३६॥

हन्तीत्यनुवर्त्तते। परिपन्थम्-२।१। च [अ०]। तिष्ठति —[क्रि०प०]। द्वितीयासमर्थात् परिपन्थप्रातिपदिकात् तिष्ठतीत्यर्थे हन्त्यर्थे च ठक् प्रत्ययो भवति। परिपन्थं¶ तिष्ठति पारिपन्थिको दस्युः। परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः॥ ३६॥

---

* दर्दुर-शब्दः पात्रविशेषवाची, अनुकृतौ वा वर्त्तते।

§ एद वार्त्तिकं (अ० १।१।६८) सूत्रे वर्त्तते। —सम्पादक

¶ ननु च तिष्ठतिरकर्मकः। तत् कथ द्वितीयया सह सम्बन्धः? नैष दोषः। अकर्मकाणामपि हि कालभावाध्वानः कर्मसंज्ञाः प्रतिपद्यन्ते। तथा च 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति। (१।४।५१ वा०) (भाष्ये)। —अनुवादक

भाषार्थ—'हन्ति' पद की अनुवृत्ति आती है। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से तिष्ठति=ठहरने अर्थवाली तथा हन्ति मारने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में ठक् प्रत्यय होता है, जैसे परिपन्थं तिष्ठति=पारिपन्थिको दस्युः। परिपन्थं हन्ति=पारिपन्थिकः॥ ३६॥

माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति॥ ३७॥

माथोत्तरपद....पदम्—२।१। धावति—[क्रि०प०]। समाहारद्वन्द्वः। माथशब्दो मार्गपर्याय उत्तरपदं यस्य तस्मात्, पदवीअनुपद इत्येताभ्यां च द्वितीयासमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां धावतीत्यस्य कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। विद्यामाथं धावति वैद्यामाथिकः। धार्ममाथिकः। दाण्डमाथिकः। पदवीं धावति पादविकः। आनुपदिकः॥ ३७॥

भाषार्थ—सूत्र में माथोत्तरपद, पदवी, अनुपद शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास है। माथ शब्द मार्ग का पर्यायवाची है। माथ शब्द जिसके उत्तरपद में हों ऐसे प्रातिपदिकों तथा पदवी, अनुपद प्रातिपदिकों से धावति=शुद्ध्यर्थक तथा गत्यर्थक धाव क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—विद्यामाथं धावति वैद्यामाथिकः, धार्ममाथिकः। दाण्डमाथिकः, इत्यादि। पदवीं धावति पादविकः। आनुपदिकः

आक्रन्दाद् ठञ् च॥ ३८॥

धावतीत्यनुवर्त्तते। आक्रन्दात्—५।१। ठञ्—१।१। च—[अ०प०]। द्वितीयासमर्थाद् आक्रन्दप्रातिपदिकाद् धावतीत्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति, चकाराद् ठक् च। ठक्-ठञोः स्वरभेदः। आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः। आक्रन्दिकी॥ ३८॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'धावति' पद की अनुवृत्ति है। द्वितीया समर्थ आक्रन्द प्रातिपदिक से धावति शुद्ध्यर्थक तथा गत्यर्थक 'धाव' क्रिया के कर्त्तृवाच्य में ठञ् प्रत्यय होता है और चकार से ठक्। ठक् और ठञ् प्रत्ययों में स्वर का भेद है। जैसे—आक्रन्द* धावति आक्रन्दिकः। आक्रन्दिकी॥ ३८॥

पदोत्तरपदं गृह्णाति॥ ३९॥

पदोत्तरपदम्—२।१। गृह्णाति—[क्रि०प०]।[1] पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्। द्वितीयासमर्थात् पदोत्तरपदप्रातिपदिकाद् गृह्णातीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः। पदान्तादित्युच्यमाने बहुचपूर्वादपि स्यात्॥ ३९॥

भाषार्थ—पद शब्द उत्तरपद में है जिनके, उन द्वितीय समर्थ प्रातिपदिकों से गृह्णाति ग्रहण करने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—पूर्वपद गृह्णाति पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः, इत्यादि। सूत्र में 'पदान्तात्' ग्रहण करने में यद्यपि लाघव था, किन्तु वैसा इसलिये नहीं किया, जहाँ बहुच् प्रत्यय

* आक्रन्दन्त्यस्मिन्नित्याक्रन्दो देशः।

१ पदग्रहणेन स्वरूपमेव गृह्यते, न सुप्तिङन्तं पदम्। —सम्पादकः

पूर्व में होता है, वहाँ प्रत्ययविधि न हो॥३९॥

प्रतिकण्ठार्थललामं च॥ ४०॥

गृह्णातीत्यनुवर्त्तते। प्रतिकण्ठार्थललामम्—२।१। च—[अ०प०]। समाहारद्वन्द्वः। प्रतिकण्ठ, अर्थ, ललाम, इत्येतेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गृह्णातीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकी वेष्या। आर्थिकः। लालामिकः॥ ४०॥

भाषार्थ—यहाँ 'गृह्णाति' पद की अनुवृत्ति है। प्रतिकण्ठ, अर्थ तथा ललाम शब्दों का समाहारद्वन्द्व समास है। द्वितीया समर्थ प्रतिकण्ठ, अर्थ और ललाम प्रातिपदिकों से गृह्णाति=ग्रहण करने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—प्रतिकण्ठ गृह्णाति प्रातिकण्ठिकी वेष्या। आर्थिकः। लालामिकः॥ ४०॥

धर्मं चरति॥ ४१॥

धर्मम् — २।१।चरति—[क्रि०प०]। द्वितीयासमर्थाद् धर्मप्रातिपदिकाच् चरतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। धर्मं चरति धार्मिकः॥

वा०—अधर्माच्च॥ १॥

अधर्मं चरत्याधर्मिकः॥ ४१॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ धर्म प्रातिपदिक से चरति=पुनः पुनः आचरण करने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—धर्मं चरति धार्मिकः।

वा०—अधर्माच्च॥ १॥

और चरति=आचरण अर्थ में अधर्म* प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होवे। अधर्मं चरति=आधर्मिकः॥ ४१॥

प्रतिपथमेति ठंश्च॥ ४२॥

प्रतिपथम्—२।१।एति—[क्रि०प०]।ठन्—१।१।च—[अ०प०]। चकारग्रहणं ठक्समुच्चयार्थम्। द्वितीयासमर्थात् प्रतिपथप्रातिपदिकाद् एतीत्यर्थे ठन् प्रत्ययो भवति, चाद् ठक् च। प्रतिपथमेति प्रतिपथिकः। प्रातिपथिकः॥ ४२॥

भाषार्थ—सूत्र में चकार से ठक् प्रत्यय का समुच्चय है। द्वितीया समर्थ 'प्रतिपथ' प्रातिपदिक से एति=गत्यर्थक इण् धातु के अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है और चकार से 'ठक्'। जैसे—प्रतिपथमेति-प्रतिपथिकः। ठक्-प्रातिपथिकः॥ ४२॥

समवायान् समवैति॥ ४३॥

समवायान्—२।३। समवैति—[क्रि०प०]। 'झित्तद् विशेषाणां मत्स्याद्यर्थमिति' वचनाद् बहुवचननिर्देशाच्च स्वरूपविधिर्न भवति। समवायसाचिभ्यो§ द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समवैतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। समवायं समवैति सामवायिकः। सामाजिकः। सान्धिकः। सामूहिकः।

---

* ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधेर्निषेधात् प्रत्ययस्याप्राप्तौ विधानम्।

§ समवायशब्दः समूहवाची। —सम्पादक

सान्निवेशिकः॥४३॥

भाषार्थ—इस सूत्र में बहुवचन निर्देश करने से स्वरूप विधि नहीं होती और 'झित्तद्* विशेषाणां मत्स्याद्यर्थम्' इस वार्त्तिककार के नियम से समवायवाची शब्दों से प्रत्यय होता है। द्वितीया समर्थ समवायवाची प्रातिपदिकों से समवैति=मिलने अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—समवायं समवैति सामवायिकः। सामाजिकः। सांघिकः। सामूहिकः। सान्निवेशिकः, इत्यादि॥४३॥

परिषदो ण्यः॥४४॥

समवैतीत्यनुवर्त्तते। परिषदः —५।१। ण्यः —१।१। परिषच्छब्दोऽपि समवायवाची, तस्मात् पूर्वेण ठक् प्राप्तः, स बाध्यते। द्वितीयासमर्थात् परिषत्प्रातिपदिकाण् ण्यः प्रत्ययो समवैतीत्यर्थे भवति। परिषदं समवैति पारिषद्यः॥४४॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'समवैति' पद की अनुवृत्ति है। परिषद् शब्द के भी समवायवाची होने से पूर्वसूत्र से ठक् प्रत्यय प्राप्त था, उसका इस सूत्र से अपवाद विधान किया है। द्वितीयासमर्थ परिषत् प्रातिपदिक से समवैति=मिलने अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है। जैसे-परिषदं समवैति पारिषद्यः॥४४॥

सेनाया वा॥४५॥

ण्योऽनुवर्त्तते। सेनायाः —५।१। वा —[अ०प०]। सेना शब्दोपि समवायपर्यायस्तस्माद्ठकि प्राप्ते ण्यो विकल्प्यते। अत एवाप्राप्तविभाषा। द्वितीयासमर्थात् सेनाप्रातिपदिकाद् समवैतीत्यर्थे ण्यप्रत्ययो भवति विकल्पेन, पक्षे ठगेव। सेनां समवैति सैन्यः। सैनिकः। अतोऽग्रे समवैतीति नानुवर्त्तते॥४५॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'ण्य' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सेना शब्द भी समवाय का पर्यायवाची है, उससे समवायान् (अ० ४।४।४३) ठक् प्रत्यय की प्राप्ति में 'ण्य' प्रत्यय का विकल्प किया है। इसीलिये यह अप्राप्त विभाषा है। द्वितीया समर्थ 'सेना' प्रातिपदिक से समवैति=मिलने अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय विकल्प से होता है पक्ष में 'ठक्' ही होता है। जैसे -सेना समवैति सैन्यः। सैनिकः। इससे आगे 'समवैति' पद की अनुवृत्ति नहीं है॥४५॥

संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति॥४६॥

संज्ञायाम्—७।१।ललाट-कुक्कुट्यौ—२।२।पश्यति—[क्रि०प०]। द्वितीयासमर्थाभ्यां ललाट-कुक्कुटीप्रातिपदिकाभ्यां संज्ञायामभिधेयायां पश्यतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। ललाटं पश्यति लालाटिकः सेवकः। कुक्कुटीं पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुकः। ललाटं पश्यतीत्यनेन स्वामिकार्य्याणि सम्यङ् न करोतीति गम्यते॥४६॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ ललाट कुक्कुटी प्रातिपदिकों से संज्ञावाच्य हो तो पश्यति=देखने अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—ललाटं पश्यति लालाटिकः

* द्रष्टव्यम् (अ० १।१।६८ वा० सू०)। —सम्पादकः

सेवकः। जो मालिक के मुख पर ही देखता रहे और काम अच्छी प्रकार न करता हो, उस सेवक को लालाटिक कहते हैं। कुक्कुटीं* पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुः॥४६॥

तस्य धर्म्यम्॥४७॥

तदिति निवृत्तम्। तस्य —६।१। धर्म्यम् —१।१। धर्मादनपेतमच्युतं न्याय्यं धर्म्यम्§। तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् धर्म्यमित्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। हाटकस्य धर्म्यं हाटकिकम्। आकरिकम्। आपणिकम्॥४७॥

भाषार्थ—'तद्' पद की अनुवृत्ति अब नहीं है। धर्म से अनपेत=युक्त न्याय्य हो उसे धर्म्य कहते हैं। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से धर्म्य=धर्म से अविरुद्ध न्याय्य अर्थ में ठक प्रत्यय होता है। जैसे—हाटकस्य धर्म्यं हाटकिकम्। आकरिकम्। आर्पणिकम्, इत्यादि॥४७॥

अण् महिष्यादिभ्यः॥४८॥

अण् —१।१। महिष्यादिभ्यः —५।३। तस्येत्यनुवर्तते। पूर्वेण सामान्य-तष्ठक् प्राप्तस्तस्यापवादः। षष्ठीसमर्थेभ्यो महिष्यादिप्रातिपदिकेभ्यो धर्म्यमि-त्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। महिष्या धर्म्यम्=माहिषम्। प्राजावतम्।

अथ महिष्यादि—महिषी। प्रजापति। प्रजावती। प्रलेपिका। विलेपिका। अनुलेपिका। पुरोहित। मणिपाली। अनुचारक। होतृ। यजमान। इति महिष्यादयः॥४८॥

भाषार्थ—यहाँ समस्त पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से सामान्यरूप से ठक् प्रत्यय प्राप्त है, उसका अपवाद अण् का विधान किया है। षष्ठी समर्थ गणपठित महिष्यादि प्रातिपदिकों से धर्म्य=धर्म से अविरुद्ध न्याय्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे महिष्या धर्म्यं माहिषम्। प्राजावतम्, इत्यादि॥४८॥

ऋतोऽञ्॥४९॥

ऋतः —५।१। अञ् —१।१। ठकोऽपवादः। षष्ठीसमर्थाद् ऋकारान्तात् प्रातिपदिकाद् धर्म्यमित्यर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। होतुर्धर्म्यम्=हौत्रम्। पौत्रम्। दौहित्रम्। स्वास्त्रम्।

वा०—नृनराभ्यामञ्वचनम्॥१॥

नृशब्दात् सूत्रेणैवाञि सिद्धे वार्त्तिके पुनर्ग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। यथा नृशब्दाद् अञ् भवति, एवं नरशब्दादपि यथा स्यात्। यथा नुर्धर्म्या नारी, एवं नरस्य-अपि नारी॥१॥

वा०—विशसितुरिड्लोपश्च॥२॥

---

* अविक्षिप्तदृष्टिर्यो दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं स भिक्षुः कौक्कुटिक उच्यते। कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातो गृह्यते। —अनुवादकः

§ धर्मशब्दात् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (४।४।९२) सूत्रेण यत्। —सम्पादकः

विशसितृशब्दादञ् प्रत्ययस्तस्मिन्निड्लोपश्च भवति। विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम्॥ २॥

वा०—विभाजयितुर्णिलोपश्च॥ ३॥

विभाजयितृप्रातिपदिकाद् ञ्प्रत्ययस्तस्मिन् णिलोपश्च भवति। विभाजयितुर्धर्म्यम्=वैभाजित्रम्॥ ३॥ ४९॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से प्राप्त 'ठक्' प्रत्यय का अपवाद है। षष्ठीसमर्थ ऋकारान्त प्रातिपदिकों से धर्म्य=धर्म से अविरुद्ध न्याय्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है। जैसे—होतुर्धर्म्यं हौत्रम्। पौत्रम्। दौहित्रम्। स्वास्त्रम्, इत्यादि।

वा०—नृनराभ्यामञ्वचनम्॥ १॥

'नृ' शब्द से सूत्र से ही अञ् प्रत्यय प्राप्त है, फिर वार्त्तिक से विधान दृष्टान्त के लिये किया है। जैसे—नृ शब्द से धर्म्य अर्थ में 'अञ्' होता है, वैसे नर शब्द से भी होवे। जैसे—नुर्धर्म्या नारी, वैसे ही नरस्यापि नारी॥ १॥

वा०—विशसितुरिड् लोपश्च॥ २॥

'विशसितृ' शब्द से धर्म्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो और उसके परे होने पर इडागम का लोप हो जावे। जैसे—विशसितुर्धर्म्यम्=वैशस्त्रम्॥ २॥

वा०—विभाजयितुर्णिलोपश्च॥ ३॥

'विभाजयितृ' शब्द से धर्म्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो और उसके संयोग से 'णि' का लोप हो जावे। जैसे—विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्॥ ३॥ ४९॥

अवक्रयः॥ ५०॥

अवक्रयः—१।१। प्रत्ययार्थो निर्दिश्यते। अवपूर्वात् क्रीधातोः कर्त्तृभिन्ने कारके भावे वाऽच् प्रत्ययः। षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अवक्रय इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। गोशालाया अवक्रयो गौशालिकः। खारशालिकः॥ ५०॥

भाषार्थ—सूत्र में प्रत्यय के अर्थ का निर्देश किया है। 'अवक्रय' शब्द में अव पूर्वक क्रीञ् धातु से कर्त्ता से भिन्न कारक अथवा भाव मे अच् प्रत्यय है। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से अवक्रय=द्रव्य विनिमय=खरीदने और बेचने अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—गोशालाया अवक्रयः=गौशालिकः, खारशालिकः इत्यादि॥ ५०॥

तदस्य पण्यम्॥ ५१॥

तत्—१।१। अस्य—६।१। पण्यम्—१।१। पण्यसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। शाष्कुली पण्यमस्य शाष्कुलिकः। मोदकाः पण्यमस्य मौदकिकः। औषधिकः॥ ५१॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है, यदि जो प्रथमासमर्थ है, वह पण्य=विक्रय के लिये हो। जैसे—शष्कुली पण्यमस्य शाष्कुलिकः। मोदकाः पण्यमस्य मौदकिकः। औषधिकः, इत्यादि॥ ५१॥

लवणाट्‌ ठञ्‌॥५२॥

लवणात्‌ —५।१।ठञ्‌ —१।१।पूर्वेण ठक्‌ प्राप्तस्तस्यापवादः। पण्यसमानाधिकरणात्‌ प्रथमासमर्थाल्लवणप्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ्‌ प्रत्ययो भवति। ठक्ठञोः स्वरभेदः। लवणं पण्यमस्य लावणिकः॥५२॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'ठक्‌' प्रत्यय प्राप्त था, यह 'ठञ्‌' उसका अपवाद है। ठक्‌ और ठञ्‌ प्रत्ययों में स्वर का ही भेद है। प्रथमा समर्थ लवण प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठञ्‌' प्रत्यय होता है, जो प्रथमासमर्थ लवण है, वह पण्य होना चाहिये। जैसे—लवणं पण्यमस्य लावणिकः॥५२॥

किशरादिभ्यः ष्ठन्‌॥५३॥

किशरादिभ्यः —५।३।ष्ठन्‌ —१।१।प्रथमासमर्थेभ्यः पण्यसमानाधिकरणेभ्यः किशरादिप्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे ष्ठन्‌ प्रत्ययो भवति। किशरादयः शब्दा गन्धविशेषवाचकाः। किशराः पण्यमस्य किशरिकः। किशरिकी। नरदिकः। नरदिकी। षित्करणं ङीषर्थम्‌।

अथ किशरादिः—किशर। नरद। नलद। स्थागल। तगर। गुग्गुल। उशीर। हरिद्रा। हरिद्रायणी। इति किशरादिगणः॥५३॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ गणपठित किशर आदि प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ष्ठन्‌' प्रत्यय होता है, जो प्रथमासमर्थ किशरादि हैं, वे पण्य होने चाहिएँ। किशरादि शब्द गन्धविशेष के वाचक हैं। प्रत्यय का षित्‌करण ङीष्‌ के लिये है। जैसे—किशराः पण्यमस्य किशरिकः। किशरिकी। नरदिकः। नरदिकी, इत्यादि॥५३॥

शलालुनोऽन्यतरस्याम्‌॥५४॥

ष्ठन्नित्यनुवर्त्तते। शलालुनः —५।१।अन्यतरस्याम्‌[अ०]। सामान्येनाधिकाराद्‌ ठक्‌ प्राप्तः ष्ठन्‌ विकल्प्यते। अतोऽप्राप्तविभाषेयम्‌। शलालुशब्दो गन्धविशेषवाची। प्रथमासमर्थात्‌ पण्यसमानाधिकरणाच्छलालुप्रातिपदिकाद्‌ अस्येति षष्ठ्यर्थे विकल्पेन ष्ठन्‌ प्रत्ययो भवति पक्षे ठक्‌। शलालुपण्यमस्यास्या वा शलालुकः। शलालुकी। शालालुकः। शालालुकी॥५४॥

भाषार्थ—यहाँ ष्ठन्‌ प्रत्यय की अनुवृत्ति है। सामान्याधिकार से 'ठक्‌' प्रत्यय प्राप्त था इससे 'ष्ठन्‌' प्रत्यय का विकल्प किया गया है। इसलिये यह अप्राप्तविभाषा है। शलालु शब्द गन्ध विशेष का वाचक है। प्रथमासमर्थ शलालु प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में विकल्प से ष्ठन्‌ प्रत्यय होता है, पक्ष में ठक्‌। यदि वह प्रथमासमर्थ शलालु पण्य हो। जैसे—शलालु पण्यमस्य, अस्या वा शलालुकः। शलालुकी। शालालुकः। शालालुकी॥५४॥

शिल्पम्‌॥५५॥

पण्यमिति निवृत्तम्‌। तदस्येत्यनुवर्त्तते। शिल्पम्‌ —१।१। शिल्पशब्दः क्रियायाः कौशल्ये वर्त्तते। शिल्पसमानाधिकरणात्‌ प्रथमासमर्थात्‌ प्रातिपदिकाट्‌ ठक्‌ प्रत्ययो भवति, अस्येति षष्ठ्यर्थे। मृदङ्गस्य वादनं मृदङ्गवादनम्‌।

अत्र महाभाष्यप्रामाण्यादुत्तरपद लोपो भवति। शिल्पमिव शिल्पम्। इव शब्दो लुप्यते। मृदङ्गे मुख्यं शिल्पं कुम्भकारस्य*, तेन मृदङ्गवादयितोपमीयते। कुतः मार्दङ्गिक इति शब्देन लोके मृदङ्गवादयितुरभिधानात्। अन्यथा मार्दङ्गिकः कुम्भकारः स्यात्। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। एवम्—मौरजिकः। पाणविकः। पैठरिकः॥५५॥

भाषार्थ—यहाँ 'पण्यम्' पद की निवृत्ति तथा 'तद् अस्य' पदों की अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जो प्रथम समर्थ हो वह शिल्प होना चाहिये। मृदङ्गादि के प्रयोग में दो प्रकार की क्रिया (शिल्प) होती है। एक मृदङ्ग के बनाने या मढने में कुशलता, दूसरी उसे बजाने में। इस सूत्र से बनाने रूप शिल्प में प्रत्यय न हो, एतदर्थ महाभाष्य में उत्तरपद का लोप मानकर 'शिल्पमिव शिल्पम्' समाधान किया है। शिल्पकर्म मुख्यरूप से मृदङ्ग के बनाने में है, उसी की भांति यहाँ मृदङ्ग के बजानेवाले के वाच्य में प्रत्यय अभीष्ट है। जैसे—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। मौरजिकः। पाणविकः। पैटरिकः। इत्यादि॥५५॥

मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम्॥५६॥

मड्डुक-झर्झरात् —५।१। अण् —१।१। अन्यतरस्याम् [अ०]। अप्राप्तविभाषेयम्। ठकि प्राप्तेऽण् विकल्प्यते। शिल्पसमानाधिकरणाभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यां मड्डुक-झर्झरप्रातिपदिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थे विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। पक्षे ठक्। अत्रापि मड्डुक-झर्झरयोर्वादयितोपमीयते। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः। माड्डुकिकः। झर्झरवादनं शिल्पमस्य झार्झरः। झार्झरिकः॥५६॥

भाषार्थ—यहाँ 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति में 'अण्' का विकल्प किया गया है, अतः अप्राप्तविभाषा है। प्रथमासमर्थ मड्डुक और झर्झर प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है पक्ष में 'ठक्'। जो प्रथम समर्थ हैं, वे शिल्प समानाधिकरण हों। यहाँ भी पूर्वसूत्र की भाँति मड्डुक और झर्झर के बनानेवाले के समान वादयिता=बजानेवाले की कारीगरी ही प्रत्ययार्थ है। जैसे—मड्डुक वादनं शिल्पमस्य माड्डुकः। माड्डुकिकः। झर्झरवादनं शिल्पमस्य झार्झरः। झार्झरिकः॥५६॥

प्रहरणम्॥५७॥

शिल्पमिति निवृत्तम्। तदस्येति वर्त्तते। प्रहरणम् —१।१। प्रहरण समानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। कौक्षेयकः प्रहरणमस्य कौक्षेयकिकः। असिः प्रहरणमस्य, आसिकः। दाण्डिकः॥५७॥

---

* मृदङ्गादिषु द्विविधा क्रिया अभ्याहननलक्षणा निष्पादनलक्षणा च। तत्र निष्पादनलक्षणाया प्रत्ययो मा भूदिति कृतोऽत्रोत्तरपदलोपः। अभ्यासपूर्वकं क्रियासु कौशलम् शिल्पम्।

—अनुवादकः

भाषार्थ—इस सूत्र में 'शिल्पम्' पद की निवृत्ति तथा 'तद् अस्य' पदों की अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जो प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक है, वह प्रहरण होना चाहिये। जैसे कौक्षेयक: प्रहरणमस्य कौक्षेयकिक:। असि: प्रहरणमस्य आसिक:। दाण्डिक:॥५७॥

परश्वधाद् ठञ् च॥५८॥

प्रहरणमित्यनुवर्त्तते। परश्वधात् —५।१।ठञ् —१।१।च – [अ.प.] प्रहरणसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् परश्वधप्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। ठक् ठञोः स्वरभेद:। परश्वध: शस्त्रविशेष: प्रहरणमस्य पारश्वधिक:॥५८॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'प्रहरणम्' की अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ प्रहरण समानाधिकरणवाले परश्वध प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। ठक् और ठञ् प्रत्ययों में स्वर का ही भेद होता है। जैसे -परश्वध:=शस्त्रविशेष: प्रहरणमस्य पारश्वधिक:॥५८॥

शक्तियष्ट्योरीकक्॥५९॥

शक्ति-यष्ट्योः —६।२। ईकक् —१।१। अर्थाद् विभक्तेर्विपरिणाम इति पंचमी विपरिणम्यते। प्रहरणसमानाधिकरणाभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यां शक्ति-यष्टिप्रातिपदिकाभ्याम्-अस्येति षष्ठ्यर्थे ईकक् प्रत्ययो भवति। शक्ति: प्रहरणमस्य शाक्तीक:। याष्टीक:॥५९॥

भाषार्थ—अर्थ से विभक्ति का विपरिणाम=परिवर्तन हो जाता है, इस नियम से प्रहरणम् शब्द में सूत्र में पंचमी करके अर्थ किया गया है। प्रथमासमर्थ प्रहरण समानाधिकरणवाले शक्ति तथा यष्टि प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ईकक्' प्रत्यय होता है। जैसे—शक्ति: प्रहरणमस्य शाक्तीक:। याष्टीक:॥५९॥

अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः॥६०॥

अस्ति नास्ति दिष्टम् —१।१। मतिः —१।१। प्रहरणमिति निवृत्तम्। तदस्ये-त्यनुवर्त्तते। प्रथमासमर्थेभ्यो मतिसमानाधिकरणेभ्योऽस्ति नास्ति दिष्ट इत्येतेभ्य: प्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अस्तीति सत्तामात्रं नैव गृह्यते, किन्तु यो वेदादे: सत्यशास्त्राद् अविरुद्ध:। तेषु सर्वथा श्रद्धालु:। इयमत्र शंका जागर्त्ति—कश्चिद्विशेषोऽत्र नोक्त:। अस्ति मतिरस्येति चौरेऽपि प्राप्नोति। तस्मिन्नपि मतिर्वर्त्तते एव। तस्मादिति लोपोऽत्र द्रष्टव्य:। अस्तीत्यस्यमति: स आस्तिक:। सापेक्षत्वात् प्रेत्यभावादिकमस्तीत्याक्षिप्यते। तद्विपरीतो नास्तिक:। दिष्टं प्रारब्धमस्तीत्यस्य मति: स दैष्टिक:। अन्यथा नास्तिक इत्यस्य जडपदार्थे प्रवृत्ति: स्यात्॥६०॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'प्रहरणम्' पद की निवृत्ति तथा 'तदस्य' की अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ मति समानाधिकरणवाले अस्ति, नास्ति, दिष्ट प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। यहाँ 'अस्ति' पद से सत्तामात्र का ग्रहण नहीं है, किन्तु

जो वेदादि सत्य शास्त्रों की पुनर्जन्मादि मान्यताओं पर श्रद्धा रखता है, ऐसी बुद्धि रखनेवाला आस्तिक और इसके विरुद्ध नास्तिक समझा जाये। इस विषय में यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि सूत्र में कोई विशेष बात न कहने से जिसकी बुद्धि हो, ऐसा निर्वचन करने से चोरादि को भी आस्तिक मानना पड़ेगा। क्योंकि मति उनमें भी है। इसका समाधान महाभाय के अनुसार यह है कि यहाँ 'इति' शब्द का लोप समझना चाहिये। 'अस्तीत्यस्य मतिः स आस्तिकः' यहाँ सापेक्ष होने से प्रेत्य भाव=पुनर्जन्म, ईश्वरादि की सत्ता का आक्षेप कर लिया जायेगा। अन्यथा 'नास्तिक' शब्द का बुद्धिरहित जड़पदार्थों के लिये भी प्रयोग होना चाहिये। जैसे—अस्तीत्यस्य मतिः, आस्तिकः। नास्तीत्यस्य, नास्तिकः। दिष्टं=प्रारब्धमस्तीत्यस्य मतिः स दैष्टिकः॥ ६०॥

शीलम्॥ ६१॥

तदस्येत्यनुवर्त्तते। शीलम् —१।१। प्रथमासमर्थात् शीलसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अत्रापि लौकिकप्रयोगेणापूपादेर्भक्षयिताऽभिधीयते। अतो भक्षणशब्दस्याक्षेपोऽत्र द्रष्टव्यः। अपूपभक्षणं शीलमस्येत्यापूपिकः। शाष्कुलिकः। दौग्धिकः। मौदकिकः॥ ६१॥

भाषार्थ—यहाँ 'तद् अस्य' पदों की अनुवृत्ति है। प्रथमासमर्थ शील समानाधिकरणवाले प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। यहाँ भी 'शिल्पम्' सूत्र की भाँति लौकिक प्रयोग के अनुसार उत्तरपद का लोप समझना चाहिये। जिससे अपूप=पूड़ा आदि का खानेवाला 'आपूपिकः' कहलाये, न कि अपूपादि का बनानेवाला। अतः भक्षण शब्द का यहाँ आक्षेप किया गया है। जैसे—अपूपभक्षणं शीलमस्येत्यापूपिकः। शाष्कुलिकः। दौग्धिकः। मौदकिकः॥ ६१॥

छत्रादिभ्यो णः॥ ६२॥

शीलमित्यनुवर्त्तते। छत्रादिभ्यः —५।३। णः —१।१। प्रथमासमर्थेभ्यः शीलसमानाधिकरणेभ्यश्छत्रादिप्रातिपदिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे णः प्रत्ययो भवति। आतपादिनिवारणाय यद् धार्यते तच्छत्रमुच्यते।

भा०—किं यस्य छत्रधारणं शीलं स छात्रः। किंचातः। राजपुरुषे प्राप्नोति। एवं तर्ह्युत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः। छत्रमिवच्छत्रम्। गुरुश्छत्रम्, गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्यः। शिष्येण गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः॥

छात्रशब्देन लोके शिष्योऽभिधीयते। अतोऽयं यत्नः क्रियते। उपरिस्थमहाभाष्यवचनेन स्पष्टं गम्यते–छत्रेण गुरुरुपमेय इति। अज्ञानम्=अन्धकारं शिष्यस्य छादयति निवारयतीति छत्रं गुरुः। यथा स्वरक्षकं छत्रं यत्नेन रक्षन्ति, एवं गुरुसेवनशीलः शिष्यश्छात्र इत्यभिधीयते। यथ च छत्रेणातपादिजातानि, दुःखानि निवर्त्तन्ते, एवं गुरुणा मूढत्वादिजातानि दुःखानि निवार्य्यन्ते। छत्रं गुरुस्तत् सेवनं शीलमस्य स छात्रः। बुभुक्षा शीलमस्य बौभुक्षः। कन्या चेच्छात्रा, बौभुक्षा।

अत्राजयादित्यभट्टोजिदीक्षितादयो वदन्ति। गुरुकार्येष्ववहितस्तच्छिद्रावरणप्रवृत्तश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्र इति। तत्र जयादित्यादीनामयमभिप्रायः— यथा छत्रमावरकं भवत्येवं गुरोर्यानि कानिचिदयशस्कराणि पापकर्माणि तान्यावृणोत्यतश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्र इत्युच्यते। तदेतद् बुद्धिमद्भिः शिष्टैर्वैयाकरणैर्विचारणीयं महाभाष्यादेतेषां कियान् विरोध आयाति। एतत् सूत्रव्याख्यानेनैतदनुमीयते जयादित्यादयो महापापात्मानो बभूवुः। सत्यं पापप्रवृत्तीनां कुतो लज्जा? अथ छत्रादिगणः—छत्र। शिक्षा। भिक्षा। पुरोह। स्था। बुभुक्षा। चुरा। तितिक्षा। उपस्थान। ऋषि। कर्मन्। विश्वधा। तपस्। सत्य। अनृत। शिबिका। शिविखा। भक्षा। उदस्थान। पुरोडा। विक्षा। उक्षा। मन्द्र। इति च्छत्रादयः॥६२॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से यहाँ 'शीलम्' पद की अनुवृत्ति है। प्रथमा समर्थ शील समानाधिकरण छत्र आदि गण पठित प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ण्' प्रत्यय होता है। आतप=धूपादि के निवारण के लिए जिसे धारण किया जाता है, वह छत्र (छाता) कहाता है। लोक में छात्र शब्द विद्यार्थी का वाची है। महाभाष्य में सन्देह निवृत्ति के लिये ऐसा व्याख्यान किया है—क्या जिस का छत्र धारण करने का शील है, उस पुरुष को छात्र कहते हैं? नहीं, ऐसी व्याख्या करने से राजपुरुष के लिये भी छात्र का प्रयोग प्राप्त होगा। इसलिये यहाँ उत्तरपद का लोप समझना चाहिये—छत्रमिव=छत्रम्। अर्थात् यहाँ छात्र शब्द से गुरु उपमेय है। गुरु शिष्य के अज्ञानादि दोषों के निवारण करने से छत्र है, उसे शिष्य को छत्र की भाँति आच्छादन=दोषों से बचाना चाहिये और शिष्य को गुरु की छत्र की भाँति रक्षा करनी चाहिये। जैसे अपनी धूपादि से बचाकर रक्षा करनेवाले छत्र की लोग प्रयत्न करके रक्षा करते हैं, इसी प्रकार छत्ररूप गुरु की सेवा के द्वारा रक्षा करनेवाला शिष्य छात्र कहलाता है। और जैसे छत्र से धूप, वर्षा से होनेवाले दुःखों की निवृत्ति होती है, इसी प्रकार गुरु के द्वारा शिष्य के मूर्खत्वादि दुःखों की निवृत्ति की जाती है।

जैसे—छत्रं गुरुस्तत्सेवनं शीलमस्य स छात्रः। बुभुक्षा शीलमस्य बौभुक्षः। कन्या चेच्छात्रा। बौभुक्षा, इत्यादि॥

इस सूत्र पर जयादित्य तथा भट्टोजिदीक्षितादि कहते हैं—जो गुरु के बुरे कर्मों के आच्छादन करने के स्वभाववाला शिष्य है, वह छात्र कहाता है। यहाँ जयादित्यादि का आशय यह है कि जैसे छत्र=छाता ढकनेवाला होता है वैसे ही गुरु के अपयश=निन्दा करानेवाले दुष्कर्मों को जो ढक देता है वह छत्र जैसे स्वभाववाला शिष्य छात्र कहलाता है। इस व्याख्यान पर बुद्धिमान् शिष्ट वैय्याकरण विचार करें कि इस व्याख्या का महाभाष्य से कितना विरोध आता है। और इस सूत्र की व्याख्या से यह अनुमान होता है कि ये जयादित्य, भट्टोजिदीक्षितादि महापापी थे, इसीलिये ऐसी व्याख्या महाभाष्य के विरुद्ध उन्होंने की। सत्य ही कहा है कि पापी पुरुषों को लज्जा कहाँ?॥६२॥

कर्माध्ययने वृत्तम्॥ ६३॥

तदस्येत्यनुवर्त्तते। कर्म —१।१। अध्ययने ७।१। वृत्तम् १।१। कर्मशब्देनात्र शब्दस्य स्वं रूपं नैव गृह्यते, किन्तु कर्त्तुरीप्सितं कारकं गृह्यते। वृत्तकर्मसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। वृत्तं वार्त्ता प्रश्नसंख्या गृह्यते। एकमन्यदध्ययनवृत्तमस्य ऐकान्यिकः। द्वैयान्यिकः। एकस्यां परीक्षायां बहवः प्रश्ना भवन्ति, तत्राध्येतैकं द्वौ त्रीन् वाऽन्यप्रकारेणायाथातथ्येन करोति स उच्यते-ऐकान्यिकः। द्वैयान्यिकः। त्रैयान्यिको चेति॥ ६३॥

भाषार्थ—यहाँ 'तदस्य' पद की अनुवृत्ति है। इस सूत्र में कर्मशब्द से स्वरूप का ग्रहण नहीं है, अपितु कर्त्ता को ईप्सित कारक का ग्रहण होता है। अध्ययनकाल में वृत्त होनेवाले कर्म समानाधिकरण प्रातिपदिक से 'अस्येति' षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। 'वृत्त' शब्द से अध्ययकाल में होनेवाली वार्त्ता अथवा प्रश्नसंख्या का ग्रहण होता है। जैसे—एकमन्यद् अध्ययने कर्मवृत्तमस्य=ऐकान्यिकः। द्वैयान्यिकः। किसी परीक्षा में बहुत से प्रश्न होते हैं, उनमें से जो अध्येता=परीक्षार्थी एक, दो अथवा तीन प्रश्नों को ठीक रूप से नहीं कर सके, उस क्रम से 'ऐकान्यिकः, द्वैयान्यिकः, त्रैयान्यिकः' कहा जाता है॥ ६३॥

बह्वच्पूर्वपदाद् ठच्॥ ६४॥

पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। बह्वच्पूर्वपदात् —५।१। ठच् —१।१। पूर्वेण ठक् प्राप्तः स बाध्यते। [अध्ययने वृत्त कर्म समानाधिकरणात् प्रथमासमर्थाद् बह्वच्पूर्वपदात् प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठच् प्रत्ययो भवति।] एकादशान्यन्यान्यध्ययने वृत्तानि कर्माण्यस्यैकादशान्यिकः। द्वादशान्यिकः। उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति, ह्रस्वे वा वक्तव्ये दीर्घं ब्रवीत्येवमेकादश द्वादश वा यस्य दोषा भवन्ति स उच्यते—ऐकादशान्यिकः। द्वादशान्यिकः॥ ६४॥

भाषार्थ—यहाँ 'समस्त पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से ठक् प्रत्यय प्राप्त था, उसका 'ठच्' प्रत्यय बाधक है। अध्ययन काल में वृत्त=होनेवाले कर्म समानाधिकरण प्रथमा समर्थ बह्वच् पूर्वपद में है जिसके उस प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'ठच्' प्रत्यय होता है। जैसे—एकादशान्यन्यान्यध्ययने वृत्तानि कर्माण्यस्येति= ऐकादशान्यिकः। द्वादशान्यिकः। जो अध्ययन काल में उदात्त के स्थान में अनुदात्त अथवा ह्रस्व के स्थान में दीर्घ का उच्चारण करता है, इस प्रकार एकादश, या द्वादश बार दोष=अपपाठ करनेवाले पाठक को 'एकादशान्यिकः' 'द्वादशान्यिकः' कहा जाता है॥ ६४॥

हितं भक्षाः॥ ६५॥

हितम् —१।१। भक्षाः —१।३। भक्षा इति बहुवचननिर्देशात् तद्वाचिनो गृह्यन्ते। हितयोगे चतुर्थी निर्दिश्यते, तत्रास्येत्यनुवृत्तौ कथं निर्वाहः स्यात्? महाभाष्यप्रामाण्यात् परस्मिन् सूत्रे तदस्मा इति पदं विभज्यास्मिन् सूत्रे

योजनीयम्। हितं भक्षास्तदस्मा इति। तत् परत्राप्यनुवर्तिष्यते। अथवाऽस्येत्यनुवर्त्तते, तत्रार्थाद् विभक्तेर्विपरिणाम इति चतुर्थी विपरिणमयितव्या। हितसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थाद् भक्ष्यवाचिनः प्रातिपदिकादस्मा इति चतुर्थ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। मोदका हितमस्मै मौदकिकः। शाष्कुलिकः॥ ६५॥

भाषार्थ—यहाँ सूत्र में 'भक्षाः' पद में बहुवचन निर्देश से भक्षवाचियों का ग्रहण होता है, [स्वरूपविधि का नहीं]। 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति का विधान है। और यहाँ पूर्वसूत्र से अस्य=षष्ठ्यर्थ की अनुवृत्ति होने से संगति कैसे हो। (एवं वक्ष्यामि-'हितं भक्षास्तदस्मै' ततो 'दीयते नियुक्तम्') इस महाभाष्य के प्रमाण से अग्रिम सूत्र का विभाग करके 'तदस्मै' पदों को इस सूत्र में लगाना चाहिये। इससे 'हितं भक्षास्तदस्मै' सूत्र बनने से कार्यसिद्धि हो जायेगी और 'तदस्मै' पदों की अगले सूत्रार्थ में भी अनुवृत्ति हो जायेगी। अथवा दूसरा समाधान यह भी है—'अर्थाद् विभक्तेर्विपरिणामः' इस न्याय से अनुवृत्त षष्ठ्यर्थ चतुर्थ्यर्थ में परिवर्त्तित हो जायेगा। हितसमानाधिकरण प्रथमा समर्थ भक्ष्यवाची प्रातिपदिकों से अस्मै=चतुर्थ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—मोदका हितमस्मै मौदकिकः। शाष्कुलिकः, इत्यादि॥ ६५॥

तदस्मै दीयते नियुक्तम्॥ ६६॥

तत्—१।१। अस्मै—४।१। दीयते-[क्रि०प०]। नियुक्तम्—१।१। नियमेनाव्यभिचारेण दीयते नियुक्तं दीयते। प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकान्नियुक्तमस्मै दीयत इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अग्रासनमस्मै दीयते—आग्रासनिकः। आग्रभोजनिकः। अपूपा अस्मै दीयन्त इत्यापूपिकः। मौदकिकः॥ ६६॥

भाषार्थ—नियमपूर्वक निरन्तर देने को 'नियुक्तम्' कहते हैं प्रथमासमर्थ प्रातिपदिकों से चतुर्थ्यर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है, जो प्रथमा समर्थ है, वह यदि नियुक्तं दीयते=नियमपूर्वक दिया जाये। जैसे—अग्रासनमस्मै दीयते=आग्रासनिकः। आग्रभोजनिकः। अपूपा अस्मै दीयन्त इत्यापूपिकः। मौदकिकः, इत्यादि॥ ६६॥

श्राणामांसौदनाद् टिठन्॥ ६७॥

पूर्वसूत्रेण ठक् प्राप्तः स बाध्यते। श्राणामांसौदनात्—५।१। टिठन्—१।१। [प्रथमासमर्थाभ्यां श्राणा-मांसौदनप्रातिपदिकाभ्यां नियुक्तमस्मै दीयत इत्यर्थे टिठन् प्रत्ययो भवति।] श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते—श्राणिकः। मांसौदनिकः॥ ६७॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से ठक् प्रत्यय प्राप्त है, उसका 'टिठन्' बाधक है। [प्रथमासमर्थ श्राणा और मांसौदन प्रातिपदिकों से 'नियुक्तमस्मै दीयते' अर्थ में 'टिठन्' प्रत्यय होता है।] जैसे—श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते=श्राणिकः। मांसौदनिकः॥ ६७॥

भक्तादणन्यतरस्याम्॥ ६८॥ (अ०)

भक्तात्—५।१। अण्—१।१। अन्यतरस्याम् [अ०प०]। अप्राप्त

विभाषेयम्। अधिकाराद् ठकि प्राप्तेऽणविकल्पः। प्रथमासमर्थाद् भक्त प्रातिपदिकान् नियुक्तमस्मै दीयत इत्यर्थे विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति। पक्षे ठगेव। भक्तं नियुक्तमस्मै दीयते-भाक्तः। भाक्तिकः॥६८॥

भाषार्थ—यह अप्राप्तविभाषा है। अधिकार होनेसे ठक् प्रत्यय की प्राप्ति में अण् प्रत्यय का विकल्प किया है। प्रथमा समर्थ भक्त प्रातिपदिक से 'नियुक्तमस्मै दीयते'' अर्थ में विकल्प से 'अण्' प्रत्यय होता है। पक्ष में 'ठक्' ही होता है। जैसे—भक्तं नियुक्तमस्मै दीयते=भाक्तः। भाक्तिकः॥६८॥

तत्र नियुक्तः॥६९॥

तत्र —[अ०प०] नियुक्तः —१।१। नियुक्त इति प्रत्ययार्थो निर्दिश्यते। सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकान् नियुक्त इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। पाकशालायां नियुक्तः पाकशालिकः। शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः। हाटकिकः। आपणिकः॥६९॥

भाषार्थ—सूत्र में 'नियुक्त' शब्द से प्रत्ययार्थ का निर्देश है। सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से नियुक्त अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—पाकशालायां नियुक्तः= पाकशालिकः। शुल्कशालायां नियुक्तः=शौल्कशालिकः। हाटकिक,। आपणिकः। [पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'नियुक्तम्' होने पर भी पुनः 'नियुक्तम्' का पाठ अर्थभेद के कारण है। ऊपर 'नियोगेन युक्तं नियुक्तम्' और यहाँ 'नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारितः' का ग्रहण है]॥६९॥

अगारान्ताट्ठन्॥७०॥

अगारान्तात् —५।१ ठन् —१।१। पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। ठकोऽपवादः। सप्तमीसमर्थात् [अगारान्तात्] प्रातिपदिकान् नियुक्तार्थे ठन् प्रत्यो भवति। पाकागारे नियुक्तः-पाकागारिकः। विक्रयागारिकः। अश्वागारिकः॥७०॥

भाषार्थ—यहाँ समस्त पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है। यह ठक् प्रत्यय का अपवाद सूत्र है। सप्तमीसमर्थ अगारान्त प्रातिपदिकों से नियुक्त अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय होता है जैसे—पाकागारे नियुक्तः=पाकागारिकः। विक्रयागारिकः। अश्वागारिकः, इत्यादि॥७०॥

अध्यायिन्यदेशकालात्॥७१॥

तत्रेत्यनुवर्त्तते। नियुक्त इति निवृत्तम्। अध्यायिनि —७।१। अदेशकालात्—५।१। अध्यायिनि अध्ययनशीले। अदेशकालादिति विरुद्धार्थे नञ्। यस्मिन् देशे काले चाध्ययनं प्रतिषिध्यते, तस्मात् सप्तमीसमर्थाद् देशकालवाचिनः प्रातिपदिकादध्यायिन्यभिधेये ठक् प्रत्ययो भवति। अदेशात्तावत्-श्मशानेऽधीते-श्माशानिकः। शौद्रसांनिधिकः। अकालात्-अष्टम्यामधीते-आष्टमिकः। चातुर्दशिकः। पौर्णमासिकः॥७१॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' पद की अनुवृत्ति है और 'नियुक्त' पद निवृत्त हो गया है। 'अध्यायी' पद का अर्थ है—जिस देश=स्थान पर और काल में अध्ययन

का शास्त्रकारों निषेध किया है, उन देश व काल वाचक प्रातिपदिकों से अध्यायिनि= अध्ययनशील अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—अदेश से—श्मशानेऽधीते श्माशानिकः। शौद्रसांनिधिकः। अकाल से—अष्टम्यामधीते आष्टमिकः चातुर्दशिकः पौर्णमासिकः॥७१॥

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति॥७२॥

कठिनान्त संस्थानेषु —७।३। व्यवहरति-[क्रि०प०]।सप्तमीसमर्थात् कठिनान्तात् प्रातिपदिकात् प्रस्तार-संस्थानाभ्यां च व्यवहरतीत्यस्य कर्त्तरि ठक् प्रत्ययो भवति। कुलकठिने व्यवहरति-कौलकठिनिकः। कौटुम्बकठिनिकः। प्रस्तारे व्यवहरति-प्रास्तारिकः। संस्थाने व्यवहरति-सांस्थानिकः॥७२॥

भाषार्थ— सप्तमीसमर्थ कठिनान्त, प्रस्तार और संस्थान प्रातिपदिकों से व्यवहार करना क्रिया के कर्त्तृवाच्य में ठक् प्रत्यय होता है। जैसे—कुलकठिने व्यवहरति-कौलकठिनिकः। कौटुम्बकठिनिकः। प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिकः। संस्थाने व्यवहरति सांस्थानिकः॥७२॥

निकटे वसति॥७३॥

निकटे —७।१।वसति।-[क्रि०प०]।सप्तमीसमर्थान् निकटप्रातिपदिकाद् वसतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। निकटे वसति नैकटिकः॥७३॥

भाषार्थ—सप्तमीसमर्थ निकट प्रातिपदिक से वसति=बसने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ठक्' प्रत्यय होता है। जैसे—निकटे वसति नैकटिकः।.७३॥

आवसथात् ष्ठल्॥७४॥

आवसथात् —५।१ ष्ठल् —१।१। वसतीत्यनुवर्त्तते। सप्तमीसमर्थाद् आवसथप्रातिपदिकाद् वसतीत्यर्थे ष्ठल् प्रत्ययो भवति। आवसथे वसति आवसथिकः। आवसथिकी। षित्करणं ङीषर्थम्। लकारः स्वरार्थः॥७४॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'वसति' पद की अनुवृत्ति है सप्तमी समर्थ आवसथ प्रातिपदिक से बसने अर्थवाली क्रिया के कर्त्तृवाच्य में 'ष्ठल्' प्रत्यय होता है। जैसे—आवसथे वसति आवसथिकः। आवसथिकी। प्रत्ययमें षित्करण 'ङीष्' प्रत्यय के लिये है और लकार स्वरार्थ है॥७४॥

प्राग्घिताद् यत्॥७५॥

प्राक्-[अ०प०]। हितात् —५।१।यत् —१।१।वक्ष्यमाणसूत्रे वहति शब्दः पठ्यते। तस्मात्पूर्वं ठगधिकारः कृतः स इदानीं समाप्तः। तस्मिन् जीवत्येव द्वितीयो यदधिकारः स्थाप्यते। तस्मै हितमिति हिताधिकारात्पूर्वं पूर्वयेऽर्था वक्ष्यन्ते, तेषु सामान्येन यत् प्रत्ययस्याधिकारो वेदितव्यः॥७५॥

भाषार्थ—इससे अगले सूत्र में 'वहति' शब्द का पाठ है, उससे पूर्व तक 'ठक्' प्रत्यय का अधिकार किया था, वह अब समाप्त हुआ। उसके जीवित रहते हुए ही दूसरे 'यत्' प्रत्यय का अधिकार किया गया है। [जैसे—राजा जब वृद्ध हो जाता है, तो वह जीते हुए ही पुत्र को गद्दी पर बैठा देता है।] यहाँ से प्रारम्भ

करके 'तस्मै हितम्' इस अधिकार सूत्र से पूर्व जो जो अर्थ कहेंगे, उन उन में समान्यरूप में यत् प्रत्यय का अधिकार समझना चाहिए॥ ७५॥

तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम्॥ ७६॥

तत् —२।१ वहति। —[क्रि०प०] रथयुगप्रासङ्गम् —२।१। रथ, युग, प्रासङ्ग, इत्येतेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वहतीत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः। रथशब्दात्तस्येदमिति प्रकरणे 'यत्' विहितस्तत्र रथं वहति, रथस्य वोढेति समानमर्थाभिधानं प्रयोगश्चैक एव। पुनरुभयत्रकरणस्यैतत्प्रयोजनम्-यदा तदन्तविधिना द्विगुसंज्ञकाद् रथप्रातिपदिकात् प्रत्ययो विधास्यते, तदा रथस्य वोढेति सति प्रत्ययविधानस्य प्राग्दीव्यतीयत्वाद् 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्। द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः। द्वौ रथौ वहतीति विग्रहे सति द्विरथ्यः। एवमर्थं पुनरुच्यते। एवं हलसीरप्रातिपदिकाभ्यां तत्र ठग्विहितोऽत्रापि तस्मिन्नपि रथवद् व्यवस्था विज्ञेया॥ ७६॥

भाषार्थ—द्वितीयासमर्थ रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से वहति=ले चलने अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—रथं वहति=रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः।

रथ शब्द से 'तस्येदम्' प्रकरण में 'रथाद् यत्' (अ० ४।३।१२०) सम्बन्ध सामान्य मे 'यत्' प्रत्यय का विधान किया है। जैसे—'रथ वहति, रथस्य वा वोढेति' इन दोनों में अर्थ की समानता और प्रयोग एक ही है। अर्थभेद कुछ भी नहीं है। फिर दोनों स्थानों पर प्रत्यय विधान का प्रयोजन यह है कि जब तदन्तविधि मानके द्विगुसञ्ज्ञक 'रथ' प्रातिपदिक से प्रत्यय करेंगे, तब 'रथाद्यत्' (४।३।१२०) सूत्र से होनेवाला प्रत्यय प्राग्दीव्यतीय होने से 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (अ० ४।१।८८) सूत्र से प्रत्यय का लुक् हो जाएगा। जैसे—द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः। और जब 'द्वौ रथौ वहति' ऐसा विग्रह करके प्रत्यय करेंगे, तब 'द्विरथ्यः' प्रयोग में प्रत्यय का लुक् नहीं होगा। इसीलिए यहाँ पुनरुक्ति की है। इसी प्रकार हल-सीर प्रातिपदिकों से भी दोनों स्थानों पर एक प्रत्यय 'ठक्' का ही विधान किया है उसमें भी रथ की भाँति लुक् व अलुक् की व्यवस्था समझनी चाहिए॥ ७६॥

धुरो यड्ढकौ॥ ७७॥

धुरः —५।१। यत्-ढकौ —१।२। द्वितीयासमर्थाद् धुर् इत्येतस्मात् प्रातिपदिकाद् वहतीत्यर्थे यत्-ढकौ प्रत्ययौ भवतः। धुरं वहति धुर्य्यः। धौरेयः॥ ७७॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ 'धुर्' प्रातिपदिक से वहति=ले चलने अर्थवाली क्रिया के कर्तृवाच्य में यत् और ढक् प्रत्यय होते हैं। धुरं वहति=धुर्य्यः। धौरेयः॥ ७७॥

खः सर्वधुरात्॥ ७८॥

खः —१।१। सर्वधुरात् —५।१। धुरिति हलन्तात् समासान्तः।

पूर्वसूत्रेण तदन्तविधिना यत्-ढकौ प्राप्तावनेन बाध्येते। द्वितीयासमर्थात् सर्वधुरप्रातिपदिकाद् वहतीत्यर्थे खः प्रत्ययो भवति। सर्वधुरं वहति सर्वधुरीणः॥ ७८॥

भाषार्थ—सूत्रस्थ 'सर्वधुरात्' पद में 'ऋक् पू०' (अ० ५ ४ ७४) इस सूत्र से हलन्त 'धुर्' शब्द से समासान्त प्रत्यय है। पूर्वसूत्र से तदन्तविधि मानकर यत् और ढक् प्रत्यय प्राप्त हैं, उनका यह बाधक है। द्वितीया समर्थ 'सर्वधुर' प्रातिपदिक से वहति=ले चलने अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। जैसे—सर्वधुर वहति= सर्वधुरीणः॥७८॥

एकधुराल्लुक् च॥ ७९॥

ख इत्यनुवर्त्तते। एकधुरात् —५।१। लुक् —१।१। च —अ०प०। द्वितीयासमर्थाद् एकधुरप्रातिपदिकाद्वहतीत्यर्थे खः प्रत्ययो भवति, विहितस्य च प्रत्ययस्य लुक्। 'धुरो यड्ढकौ' इति तदन्तविधिना यड् ढकौ विहितौ तयोरेव लुक्। एकधुरं वहति एकधुरीणः। लुकि एकधुरः॥ ७९॥

भाषार्थ—इस सूत्र से ख प्रत्यय की अनुवृत्ति है। द्वितीयासमर्थ 'एकधुर' प्रातिपदिक से वहति=ले चलने अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है और 'धुरो यत् ढकौ' सूत्र से तदन्त विधि मानकर जो यत् ढक् प्रत्ययों का विधान किया है उनका लुक् हो जाता है। जैसे—एकधुरं वहति=एकधुरीणः। लुक् होने पर—एकधुरः॥७९।

शकटादण्॥ ८०॥

शकटात् —५।१। अण् —१।१। द्वितीयासमर्थाच्छकटप्रातिपदिकाद् वहतीत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। शकटं वहति शाकटो वृषभः॥ ८०॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ शकट प्रातिपदिक से वहति=ले चलने अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। यह अण् प्रत्यय यत् प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—शकटं वहति=शाकटो वृषभः॥८०॥

हलसीराट्ठक्॥ ८१॥

हलसीरात् —५।१। ठक् —१।१। द्वितीयासमर्थाभ्यां हलसीर-प्रातिपदिकाभ्यां वहतीत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। यत्प्राप्तः स बाध्यते। हलं वहति हालिकः। सैरिकः॥ ८१॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ हल और सीर प्रातिपदिकों से वहति=ले चलने अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। यत् प्रत्यय की प्राप्ति में ठक् बाधकरूप में विधान किया है। जैसे—हलं वहति=हालिकः। सैरिकः॥८१॥

संज्ञायां जन्याः॥ ८२॥

संज्ञायाम् —७।१।जन्याः —१।३।जनधातोरधिकरणकारक औणादिक इण् प्रत्ययः। तस्मात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति स्त्रियां ङीष्। जायेते पुत्रकन्ये

अस्यां सा जनी वधूः। द्वितीयासमर्थाज्जनीप्रातिपदिकात् संज्ञायामभिधेयायां वहतीत्यर्थे यत् प्रत्ययो निपात्यते। जनीं वधूं वहन्ति जन्याः। विवाहसमये वधूमानेतुं ये मनुष्या गच्छन्ति ते जन्या इत्युच्यन्ते॥८२॥

भाषार्थ—'जनी' शब्द में 'जन' धातु से अधिकरण कारक में औणादिक 'इण्' प्रत्यय हुआ है। और फिर 'जनि' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ''कृदिकारादक्तिनः' इस गणवार्त्तिक से ङीष् होकर 'जनी' शब्द सिद्ध होता है। ''जायेते पुत्र कन्ये अस्यां सा जनी वधूः'' इस व्युत्पत्ति से जनी शब्द वधू का पर्यायवाची है। द्वितीयासमर्थ जनी प्रातिपदिक से संज्ञा वाच्य हो तो ले जाने अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का निपातन किया है। जैसे—जनीं=वधूं वहन्ति जन्याः। विवाह के समय जो वरयात्री वधू को लाने के लिये जाते हैं, वे 'जन्या' कहलाते है॥८२॥

विध्यत्यधनुषा॥८३॥

विध्यति-[क्रि०प०]। अधनुषा —३।१। धनुःशब्दात् तृतीयैकवचनमुच्यते। तेन ज्ञायते शस्त्रवाचिभ्यो न भवतीति। द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् विध्यतीत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति, शस्त्रवाचिनो वर्जयित्वा। पादौ विध्यति पद्या दूर्वा। कण्ठं विध्यति कण्ठ्यो रसः। अधनुषेति किम् धनुषा विध्यति। शत्रुं विध्यति। अधनुषेति प्रतिषेधादुभयत्र न भवति॥८३॥

भाषार्थ—सूत्र में जो धनुष् शब्द से तृतीयान्त का निषेध किया है, उससे स्पष्ट है कि शस्त्रवाची से बेंधना हो तो यत् प्रत्यय नहीं होता। द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से विध्यति बेधने अर्थ में यत् प्रत्यय होता है, शस्त्रवाची को छोड़कर। जैसे—पादौ विध्यति-पद्या दूर्वा। कण्ठं विध्यति=कण्ठ्यो रसः। अधनुषेति किम्-धनुषा विध्यति। शत्रुं विध्यति*। यहाँ निषेध होने से उभयत्र प्रत्यय नहीं होता है॥८३॥

धनगणं लब्धा॥८४॥

धनगणम् —२।१।लब्धा —१।१। लब्धेति तृन्नन्तः कर्त्ता प्रत्ययार्थः। तद्योगे षष्ठ्याः प्रतिषेधाद् द्वितीया। द्वितीयासमर्थाभ्यां धन, गण, इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां लब्धरि यत् प्रत्ययो भवति। धनं लब्धा धन्यः। गण्यः॥८४॥

भाषार्थ—सूत्र में 'लब्धा' प्रयोग तृन् प्रत्ययान्त है, और वही प्रत्ययार्थ है। तृन् प्रत्ययान्त के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का 'न लोकाव्यय०' (२।३।६९) सूत्र से निषेध होने से द्वितीया का प्रयोग है। द्वितीया समर्थ धन, गण, प्रातिपदिकों से लब्धा प्राप्त करनेवाला कर्त्ता वाच्य हो तो यत् प्रत्यय होता है। जैसे—धन लब्धा धन्यः। गणं लब्धा गण्यः॥८४॥

अन्नाण्णः॥८५॥

अन्नात् —५।१।णः —१।१। द्वितीयासमर्थाद् अन्नप्रातिपदिकाल्लब्धे

---

* धनुषा करणविशेषण करणमात्र लक्ष्यते। अत एव भाष्ये—'विध्यत्यकरणेन' इति प्रोक्तम्। तेन 'शत्रुं विध्यति' एतदादिष्वपि प्रत्ययो न भवति। अथवा-अनभिधानात् प्रत्ययो न भविष्यति॥
—अनुवादकः

त्यर्थे णः प्रत्ययो भवति। अन्नं लब्धा आन्नः॥ ८५॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ अन्न प्रातिपदिक से लब्धा=प्राप्त करनेवाला कर्त्तावाच्य हो तो 'ण' प्रत्यय होता है। जैसे—अन्नं लब्धा आन्नः॥ ८५॥

वशं गतः॥ ८६॥

वशम् —२।१। गतः —१।१। द्वितीयासमर्थाद् वशप्रातिपदिकाद् गत इत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। वशं गतो वश्यः। वशशब्देनात्र धात्वर्थो गृह्यते। वशं गतः कामं प्राप्त इत्यर्थः॥ ८६॥

भाषार्थ—द्वितीया समर्थ 'वश' प्रातिपदिक से गत अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—वशं गतः=वश्यः। वश शब्द से यहां धात्वर्थ का ग्रहण होता है। जिससे 'वशं गतः' का अर्थ 'कामं प्राप्तः' है॥ ८६॥

पदमस्मिन् दृश्यम्॥ ८७॥

द्वितीयासमर्थविभक्तिर्निवृत्ता। पदम्—१।१ अस्मिन्—७।१ दृश्यम्—१।१ अत्र प्रथमानिर्देशादेव प्रथमाविभक्तिराश्रीयते। दृश्यसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् पदप्रातिपदिकादस्मिन्नित्यन्यपदार्थे यत् प्रत्ययो भवति। पदं दृश्यमस्मिन्—पद्यः कर्दमः। पद्याः सिकताः॥ ८७॥

भाषार्थ—यहाँ द्वितीया समर्थ विभक्ति की निवृत्ति हो गई है। सूत्र में प्रथमा के निर्देश से ही प्रथमा समर्थ 'पद' प्रातिपदिक से अस्मिन्=सप्तमी द्योत्य अन्यपदार्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—पदं दृश्यमस्मिन्=पद्यः कर्दमः। पद्याः सिकताः॥ ८७॥

मूलमस्याबर्हि॥ ८८॥

पूर्वस्मात् किमपि नानुवर्तते। मूलम्—१।१। अस्य—६।१। आबर्हि—१।१। आबर्हणमुत्पाटनमाबर्हः सोऽस्मिन्नस्तीत्याबर्हि मूलम्। आबर्हिसमानाधिकरणात् [प्रथमासमर्थात्] मूलप्रातिपदिकादस्येत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। आबर्हिमूलमेषामिति मूल्या माषाः॥ ८८॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से समर्थविभक्ति आदि की अनुवृत्ति नहीं है। 'आबर्हि' शब्द का अर्थ है –'आबर्हणम्=उत्पाटनम् आबर्हिः, सोऽस्मिन्नस्तीत्याबर्हि मूलम्' अर्थात् जो मूल के विना न उखाड़े जा सकें, ऐसे सुसम्पन्न धान्य वाच्य में यह प्रत्यय विधान है। आबर्हि समानाधिकरण प्रथमासमर्थ मूल प्रातिपदिक से षष्ठी अन्यपदार्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—आबर्हि—मूलमेषाम्=मूल्या माषाः॥ ८८॥

संज्ञायां धेनुष्या॥ ८९॥

संज्ञायाम् —७।१। धेनुष्या —१।१। संज्ञायां विषये धेनुष्येति स्त्रीलिङ्गः शब्दो धेनुशब्दाद्यत् प्रत्ययान्तः कृतषुगागमश्च निपात्यते। धेनुष्या॥ ८९॥

भाषार्थ—संज्ञा विषय में धेनुष्या शब्द का निपातन किया गया है—

अर्थात् स्त्रीलिङ्ग धेनु शब्द से संज्ञा वाच्य हो तो, यत् प्रत्यय और षुगागम का निपातन किया है। जैसे—धेनुष्या। 'धेनुष्या' वह गाय कहलाती है, जिसे अधमर्ण=कर्जदार उत्तमर्ण=कर्ज देनेवाले (धनवान्) को ऋण उतारने तक दे देता

है। इसे 'पीतदुग्धा' भी कहते हैं॥८९॥

गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः॥ ९०॥

गृहपतिना—३।१।संयुक्ते—७।१।ञ्यः—१।१। पूर्वसूत्रात् संज्ञाया-मित्यनुवर्त्तते। तृतीयासमर्थाद् गृहपतिप्रातिपदिकात् संयुक्त इत्यर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति संज्ञायामभिधेयायाम्। गृहपतिना संयुक्तो गार्हपत्यः। संज्ञायामित्यनु-वर्तनाद् दक्षिणाग्नेर्नाम न भवति॥ ९०॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से 'संज्ञायाम्' पद की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ गृहपति प्रातिपदिक से संयुक्त अर्थ में संज्ञा अभिधेय हो तो 'ञ्य' प्रत्यय होता है। जैसे—गृहपतिना संयुक्तो गार्हपत्यः। यहाँ 'संज्ञायाम्' पद की अनुवृत्ति होने से 'गार्हपत्य' नाम दक्षिणाग्नि के लिए प्रयुक्त नहीं होता॥ ९०॥

नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्य-समसमितसम्मितेषु॥ ९१॥

तृतीयासमर्थ विभक्तिरनुवर्त्तते। नौ-तुलाभ्यः—५।३ तार्य्य-सम्मितेषु—७।३ नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला, इत्येतेभ्यस् तृतीया समर्थेभ्योऽष्टाभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः, तार्य्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित, सम्मित, इत्येतेष्वष्टस्वर्थेषु यथासंख्यं यत् प्रत्ययो भवति। नावा तार्यं नाव्यम्। वयसा तुल्यो वयस्यः सखा। धर्मेण प्राप्यो धर्म्योऽपवर्गः। विषेण वध्यो विष्यः पापात्मा। मूलेनानाम्यं मूल्यम्। मूलेन कारणेन समो मूल्यो घटः। सीतया समितं संयुक्तं क्षेत्रं सीत्यम्। तुलया सम्मितं समानं तुल्यम्॥ ९१॥

भावार्थ—यहाँ तृतीया समर्थ विभक्ति की अनुवृत्ति है। तृतीया समर्थ नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला, इन आठ प्रातिपदिकों से तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित, सम्मित, इन आठ अर्थों में यथासंख्य करके 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—नावा तार्यं नाव्यम्। वयसा तुल्यो वयस्यः सखा। धर्मेण प्राप्यो धर्म्योऽपवर्गः। विषेण वध्यो विष्यः पापात्मा। मूलेनानाम्यं मूल्यम्। मूलेन कारणेन समो मूल्यो घटः। सीतया समितं संयुक्तं क्षेत्रं सीत्यम्। तुलया सम्मितं समानं तुल्यम्॥ ९१॥

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते॥ ९२॥

धर्मपथ्यर्थन्यायात्—५।१।अनपेते—७।१। अपेतश्च्युतः पृथग्भूतः। तत् प्रतिषेधः। अर्थवशादत्र पंचमीसमर्थत्वमाश्रीयते। धर्म, पथि, अर्थ, न्याय इत्यतेभ्यः पचमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनपेत इत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति धर्मादनपेतं धर्म्यं मार्गम्। पथ्यम्। अर्थ्यम्। न्याय्यम्। अनपेतो धर्मादिषु प्रसितमिति॥ ९२॥

भावार्थ—अपेत शब्द पृथक् होने अर्थ में है, उसका प्रतिषेध अनपेत है अर्थात् पृथक् न हो तो=युक्त होने अर्थ में प्रत्यय का विधान है। सूत्र में निर्देश से ही यहाँ पंचमी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है। धर्म, पथिन्, अर्थ, न्याय, इन पंचमी

समर्थ प्रातिपदिकों से अनपेत (युक्त) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—धर्मादनपेतं धर्म्यं मार्गम्। पथोऽनपेतं पथ्यम्। अर्थ्यम्। न्याय्यम्। यहाँ धर्मादि में लगे रहना ही अनपेत शब्द से अभिप्रेत है॥ ९२॥

छन्दसो निर्मिते॥ ९३॥

छन्दसः—५।१। निर्मिते—७।१। अत्रार्थानुकूल्यमाश्रित्य तृतीया विभक्तिराश्रीयते। इच्छावाची छन्दः शब्दोऽत्रगृह्यते। तृतीयासमर्थाच्छन्दः-प्रातिपदिकान्निर्मित इत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। छन्दसा निर्मितश्छन्दस्यः॥ ९३॥

भाषार्थ—यहाँ अर्थ निर्देशानुसार तृतीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है। और यहाँ छन्दस् शब्द इच्छा का पर्यायवाची है। तृतीया समर्थ 'छन्दस्' प्रातिपदिक से निर्मित अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—छन्दसा निर्मितश्छन्दस्यः॥ ९३॥

उरसोऽण् च॥ ९४॥

निर्मित इत्यनुवर्त्तते तृतीयासमर्थत्वं च। उरसः —५।१ अण् —१।१ च-[अ०प०]। तृतीयासमर्थादुरस् प्रातिपदिकान् निर्मित इत्यर्थेऽण् चाद् यच्च प्रत्ययो भवति। उरसा निर्मित औरसःपुत्रः। उरस्यः पुत्रः। यतोऽपवादोऽत्राण्॥ ९४॥

भाषार्थ—यहाँ निर्मित पद की अनुवृत्ति है और तत्साहचर्य से तृतीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है। तृतीया समर्थ 'उरस्' प्रातिपदिक से निर्मित, अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और चकार से यत्। जैसे—उरसा निर्मित औरसः पुत्रः। उरस्यः पुत्रः। इस सूत्र में 'यत्' के अपवाद 'अण्' का विधान है॥ ९४॥

हृदयस्य प्रियः॥ ९५॥

हृदयस्य —६।१। प्रियः —१।१। षष्ठीनिर्देशः समर्थविभक्त्यर्थः। प्रिय इति प्रत्ययार्थः। षष्ठीसमर्थाद् हृदयप्रातिपदिकात् प्रिय इत्यर्थे यत्प्रत्ययो भवति। हृदयस्य प्रियो हृद्यो देशः। हृदयस्य प्रिया हृद्या कन्या। 'हृदयस्य हृल्लेखयदण् लासेष्विति' यति परतो हृदयस्य हृदादेशः॥ ९५॥

भाषार्थ—सूत्र में निर्देश से ही यहाँ षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है और प्रत्यय का अर्थ प्रिय है। षष्ठी समर्थ हृदय शब्द से प्रिय अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—हृदयस्य प्रियो हृद्यो देशः। हृदयस्य प्रिया हृद्या कन्या। यहाँ 'हृदय' शब्द को यत् प्रत्यय परे होने पर 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' (अ० ६।३।५०) सूत्र से 'हृद्' आदेश हुआ है॥ ९५॥

बन्धने चर्षौ॥ ९६॥

हृदयस्येत्यनुवर्त्तते। बन्धने—७।१। च-[अ०प०]। ऋषौ—७।१। बध्यते येन सत्कर्मसु तद्बन्धनम्। ऋषिर्वेदः। तद् विशेषणं बन्धनम् [षष्ठीसमर्थाद् हृदयप्रातिपदिकात् बन्धनेऽर्थे ऋषावभिधेये यत् प्रत्ययो भवति।] हृदयस्य बन्धनमृषिर्हृद्यो वेदः। यो मनुष्यो वेदान् पठित्वा तदुक्तं धर्मादिकृत्यं निश्चिनोति तस्य हृदयं धर्मादिकृत्येषु बध्यते। अर्थाद् दुष्कृतानि स नैव करोतीति॥ ९६॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्वसूत्र से 'हृदयस्य' पद की अनुवृत्ति है। जिससे सत्कर्मों में मनुष्य बन्ध जाता है, उसे बन्धन कहते हैं। ऋषि शब्द वेद का पर्यायवाची है और 'बन्धन' शब्द ऋषि का विशेषण है। [षष्ठी समर्थ हृदय प्रातिपदिक से ऋषि-वेदवाची बन्धन अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है।] जैसे—हृदयस्य बन्धनमृषिर्हृद्यो वेदः। जो मनुष्य वेदों को पढ़कर वेदोक्त धर्मादिकृत्यों का निश्चय करना है उसका हृदय धर्मादि में बन्ध जाता है। अर्थात् वह दुष्कर्म नहीं करता है॥ ९६॥

मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु॥ ९७॥

षष्ठीसमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। मतजनहलात्—५।१। करणजल्पकर्षेषु—७।३। जल्पनं जल्पः। कर्षणं कर्षः। मत, जन, हल, इत्येतेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः करण-जल्प-कर्षेषु यथासंख्येन यत् प्रत्ययो भवति। मतस्य करणं मत्यम्। जनस्य जल्पो जन्यः। हलस्य कर्षो हल्यः। द्विहल्य इति तदन्तविधिरपि भवति॥ ९७॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्व सूत्रवत् सामर्थ्यलब्ध षष्ठी समर्थ विभक्ति की अनुवृत्ति है। 'जल्पनं जल्पः' तथा 'कर्षणं कर्षः' इससे जल्पादि में भाव में प्रत्यय का बोध होता है। षष्ठी समर्थ मत, जन, हल, प्रातिपदिकों से यथासंख्य करण, जल्प, कर्ष, अर्थों में यत् प्रत्यय होता है। जैसे—मतस्य करणं मत्यम्। जनस्य जल्पो जन्यः। हलस्य कर्षो हल्यः। यहाँ तदन्तविधि को मानकर 'द्विहल्यः' आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं॥ ९७॥

तत्र साधुः॥ ९८॥

तत्र—[अ०प०]। साधुः—१।१ सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् साधुरित्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। कर्मणि साधुः कर्मण्यः। पाके साधुः पाक्यः। सामन्यः॥ ९८॥

भाषार्थ—सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक मात्र से साधु प्रवीण या योग्य अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—कर्मणि साधुः=कर्मण्यः। पाके साधुः पाक्यः। सामसु साधुः सामन्यः। ['ये चाभावकर्मणोः' (अ० ६।४।१६८) सूत्र से यहा प्रकृतिभाव होने से 'सामन्यः' में टिलोप नहीं हुआ]॥९८॥

प्रतिजनादिभ्यः खञ्॥ ९९॥

प्रतिजनादिभ्यः—५।३। खञ्—१।१। पूर्वसूत्रेण यत्प्राप्तः स बाध्यते। सप्तमीसमर्थेभ्यः [प्रतिजनादिभ्यः] प्रातिपदिकेभ्यः साध्वर्थे खञ् प्रत्ययो भवति। प्रतिजने साधुः-प्रातिजनीनः। प्रातियुगीनः। ऐदंयुगीनः। सांयुगीनः।

अथ प्रतिजनादिः—प्रतिजन। इदंयुग। संयुग। समयुग। परयुग। परकुल। परस्यकुल। अमुष्यकुल। सर्वकुल। सर्वजन। विश्वजन। महाजन। पंचजन। इति प्रतिजनादिगणः॥ ९९॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से यत् प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह बाधक है। सप्तमी समर्थ प्रतिजनादि प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है। जैसे—प्रतिजने साधु

प्रातिजनीनः। प्रातियुगीनः। ऐदंयुगीनः। सांयुगीनः। इत्यादि॥ ९९।

भक्ताण्णः॥ १००॥

भक्तात्—५।१। णः—१।१। सप्तमीसमर्थाद् भक्तप्रातिपदिकात् साधुरित्यर्थे णः प्रत्ययो भवति। भक्ते साधुः-भाक्तः शालिः। भाक्ता ओदनाः॥ १००॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ भक्त प्रातिपदिक से साधु अर्थ में 'ण' प्रत्यय होता है। जैसे—भक्ते साधुः=भाक्तः शालिः। भाक्ता ओदनाः॥ १००॥

परिषदो ण्यः॥ १०१॥

परिषदः —५।१। ण्यः —१।१। सप्तमीसमर्थात् परिषत्प्रातिपदिकात् साध्वर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। परिषदि साधुः पारिषद्यः॥ १०१॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ 'परिषत्' प्रातिपदिक से साधु अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय होता है। यह 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—परिषदि साधुः पारिषद्यः॥ १०१॥

कथादिभ्यष्ठक्॥ १०२॥

कथादिभ्यः —५।३। ठक् —१।१। सप्तमीसमर्थेभ्यो गणोपदिष्टकथादि-प्रातिपदिकेभ्यः साधुरित्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। कथायां साधुः काथिकः वैकथिकः। वैतण्डिकः। आयुर्वेदिकः। अथ कथादिगणः—कथा। विकथा। विश्वकथा। संकथा। वितण्डा। कुष्टचित्। जनवाद। जनेवाद। जनोवाद। वृत्ति। संग्रह। गण। गुणः। आयुर्वेद। इति कथादिगणः॥ १०२॥

भाषार्थ—सप्तमीसमर्थ गणोपदिष्ट कथादि प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह यत् प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—कथायां साधुः काथिकः। वैकथिकः। वैतण्डिकः। आयुर्वेदिकः इत्यादि॥ १०२॥

गुडादिभ्यष्ठञ्॥ १०३॥

गुडादिभ्यः —५।३। ठञ् —१।१। सप्तमीसमर्थेभ्यो गुडादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः साधुरित्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। गुडे साधव इक्षवो गौडिकाः। कौल्माषिकाः। अथ गुडादिगणः—गुड। कुल्माष। सक्तु। अपूप। इक्षु। वेणु। संग्राम। संघात। प्रवास। निवास। उपवास। इति गुडादिः॥ १०३॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ गणोपदिष्ट गुडादि प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसे—गुडे साधव इक्षवः=गौडिकाः। कौल्माषिकाः। इत्यादि॥ १०३॥

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्॥ १०४॥

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेः —५।१। ढञ् —१।१। पथिन्, अतिथि, वसति स्वपति, इत्येतेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो [साधुरित्यर्थे] ढञ् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्॥ १०४॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ पथिन्, अतिथि, वसति, स्वपति, प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। यह यत् का अपवाद है। जैसे—पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्॥१०४॥

सभायाः यः॥१०५॥

सभायाः —५।१। यः —१।१। सप्तमीसमर्थात् सभाप्रातिपदिकात् साधुरित्यर्थे यः प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। सभायां साधुः सभ्यः॥१०५॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ 'सभा' प्रातिपदिक से साधु अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। यह यत् का अपवाद है। जैसे—सभायां साधुः सभ्यः। यहाँ य और यत् प्रत्ययों में स्वर का भेद है, प्रयोग का नहीं॥१०५॥

ढश्छन्दसि॥१०६॥

सभाया इत्यनुवर्तते। ढः —१।१। छन्दसि —७।१। पूर्वसूत्रेण सामान्यतो यः प्राप्तः स बाध्यते। सप्तमीसमर्थात् सभाप्रातिपदिकाच्छन्दसि वैदिकप्रयोग-विषये [साधुरित्यर्थे] ढः प्रत्ययो भवति। सभायां साधु सभेयम्। सादन्यं विदथ्यं सभेयम्। (ऋ० १।९१।२०)॥१०६॥

भाषार्थ—पूर्व सूत्र से सामान्यरूप में य प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह बाधक है। सप्तमी समर्थ 'सभा' प्रातिपदिक से छन्दसि (वैदिक प्रयोग विषय) में साधु अर्थ में 'ढ' प्रत्यय होता है। जैसे—सभायां साधु सभेयम्। सादन्यं विदथ्यं सभेयम्॥ (ऋ० १।९१।२०)॥१०६॥

समानतीर्थे वासी॥१०७॥

तत्रेत्यनुवर्तते। साधुरिति निवृत्तम्। समानतीर्थे —७।१। वासी —१।१। समानशब्दोऽत्रैकसंख्यावाची गृह्यते। अविद्यान्धकारात् तारकत्वात् तीर्थो गुरुरुच्यते। समानं तत् तीर्थं समानतीर्थम्। तस्मिन् वासीति ताच्छील्ये णिनिः। समानतीर्थे वस्तुं शीलः सतीर्थ्यो ब्रह्मचारी। 'तीर्थे ये' इति समानशब्दस्य सभावः। सप्तमीसमर्थात् समानतीर्थप्रातिपदिकात् वासीत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति॥१०७॥

भाषार्थ—यहाँ 'तत्र' की अनुवृत्ति है और अर्थान्तरनिर्देश होने से साधु पद निवृत्त हो गया है। अविद्यारूपी अन्धकार से पार करने के कारण 'तीर्थ' शब्द से गुरु का ग्रहण है। यहाँ समान शब्द एकसंख्या का वाची है। 'समानम् (एकम्) तत् तीर्थम्=समानतीर्थम्' इस विग्रह से समानतीर्थ शब्द एक गुरु का वाची है और 'वासी' प्रत्ययार्थ में ताच्छील्यार्थ में णिनि प्रत्यय है। सप्तमी समर्थ 'समानतीर्थ' प्रातिपदिक से वासी वसने अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। समानतीर्थे वासी=वस्तु शीलः=सतीर्थ्यो ब्रह्मचारी। जिनका एक गुरु पढ़ानेवाला हो और वेद का पाठ साथ-साथ हो, वे ब्रह्मचारी सतीर्थ्य कहाते हैं। 'सतीर्थ्य' शब्द में 'तीर्थे ये' (अ० ६।३।८६) सूत्र से 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश हुआ है॥१०७।

समानोदरे शयित ओ चोदात्तः॥१०८॥

समानोदरे—७।१ शयितः—१।१।ओ—१।१ च–[अ०प०]।उदात्तः—१।१। पूर्ववत् समानशब्दोऽत्रापि गृह्यते। समानं च तदुदरं समानोदरम्। सप्तमीसमर्थात् समानोदरप्रातिपदिकाच्छयित इत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। समानोदरशब्दे य ओकारः स कृतेऽपि प्रत्यये उदात्त एव भवति। तित्स्वरितमिति स्वरितस्य बलीयस्त्वाद् वर्ज्यमानस्वरेण सर्वस्य पदस्यानुदात्तत्वं प्राप्तं तदर्थ-मोकार उदात्तो विधीयते। समानोदरे शयितः समानोदर्य्यो भ्राता॥ १०८॥

भाषार्थ—इस सूत्र में भी समान शब्द पूर्व सूत्र की भाति एक संख्या का वाची है। 'समानमेकं च तदुदरं समानोदरम्' यह इसका विग्रह है। सप्तमी समर्थ 'समानोदर' प्रातिपदिक से शयित=सोने अर्थात् स्थित होने अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है और समानोदर शब्द के ओकार को प्रत्यय करने पर भी उदात्त ही होता है 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) सूत्र से स्वरितस्वर के बलवान् होने से वर्ज्यमान अर्थात् प्रत्यय से भिन्न शेष पद को जो अनुदात्तत्व प्राप्त है, उसका बाधक यह ओकार को उदात्त विधान किया है। जैसे—समानोदरे शयितः=समानोदर्य्यो भ्राता। यहाँ 'विभाषोदरे' (अ० ६।३।८७) सूत्र से विकल्प होने से 'समान' को 'स' आदेश नहीं हुआ है। जो एक माता के उदर से उत्पन्न हुए हैं, उन्हें समानोदर्य्य कहा जाता है॥ १०८॥

सोदराद्यः॥ १०९॥

शयित इत्यनुवर्त्तते। सोदरात् —५।१।यः —१।१।'विभाषोदरे' इति सूत्रेण यकारादौ प्रत्यय इति विषयसप्तमीं मत्वा पूर्वमेव समानस्य सभावः। यस्मिन् पक्षे समानस्य सभावो भवति, तस्मात् सप्तमीसमर्थात् सोदरप्राति-पदिकाच्छयित इत्यर्थे यः प्रत्ययो भवति। समानोदरे शयितः सोदर्य्यो भ्राता। स्वरविशेषार्थं प्रत्ययान्तरविधानम्॥ १०९॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्व सूत्र से 'शयित' पद की अनुवृत्ति है। यहाँ 'विभाषोदरे' (अ० ६।३।८७) सूत्र से यकारादिप्रत्यय के बुद्धिस्थ होने पर (विषय सप्तमी मानकर) पहले ही 'समान' को 'स' आदेश हो जाता है और जिस पद में 'स' आदेश होता है, वहीं इस सूत्र से प्रत्यय का विधान है। सप्तमी समर्थ 'सोदर' प्रातिपदिक से शयित शयन करने अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। जैसे—समानोदरे शयितः सोदर्य्यो भ्राता। यहाँ स्वरविशेष के लिये प्रत्ययान्तर का विधान किया है॥ १०९॥

भवे छन्दसि॥ ११०॥

भवे —७।१। छन्दसि —७।१। तत्रेत्यनुवर्त्तते यच्च। शैषिके भवे घादयोऽणादयश्च प्रत्ययाः प्राप्तास्तेऽनेन बाध्यन्ते। सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदि-काच्छन्दसि-वैदिकप्रयोगविषये भवार्थे यत् प्रत्ययो भवति। मेघे भवो मेघ्यः। विद्युत्यः। सिकत्यः। अत्र पादपर्यन्तं छन्दसीत्यधिकारः प्रवर्त्तते। भवाधिकारस्तु 'समुद्राभ्राद् घः' इति यावत्॥ ११०॥

भावार्थ—यहाँ 'तत्र' तथा 'यत्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। जो शैषिकाधिकार में भवार्थ में घादि तथा अणादि प्रत्ययों का विधान है, वे सब इससे बाधित हो जाते हैं। सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से छन्दसि=वैदिक प्रयोग विषय में 'भव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—मेघे भवो मेघ्यः। विद्युत्यः। सिकत्यः। यहाँ 'छन्दसि' का अधिकार इस पाद की समाप्ति तक है और 'भव' का अधिकार 'समुद्राभ्राद् घः' (अ० ४।४।११८) सूत्र तक जानना चाहिये॥११०॥

पाथोनदीभ्यां ड्यण्॥१११॥

पाथोनदीभ्याम् —५।२। ड्यण् —१।१। पाथस्, नदी, इत्येताभ्यां सप्तमीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि भव इत्येतस्मिन् विषये ड्यण् प्रत्ययो भवति। पाथसि भवः पाथ्यः। नाद्यः। पूर्वेण यत् प्राप्तस्तस्यापवादः॥१११॥

भावार्थ—सप्तमी समर्थ पाथस्, नदी, इन प्रातिपदिकों से वैदिक प्रयोग विषय में भवार्थ में 'ड्यण्' प्रत्यय होता है। जैसे—पाथसि भवः पाथ्यः। नाद्यः। पूर्वसूत्र से 'यत्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है॥१११॥

वेशन्तहिमवद्भ्यामण्॥११२॥

वेशन्त-हिमवद्भ्याम् —५।२। अण् —१।१। सप्तमीसमर्थाभ्यां वेशन्तहिमवत्प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि भव इत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। वेशन्ते भवो वैशन्तः। हिमवति भवो हैमवतः। यत्प्राप्तः स बाध्यते॥११२॥

भावार्थ—सप्तमी समर्थ वेशन्त, हिमवत् प्रातिपदिकों से वैदिक प्रयोग विषय में भावार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—वेशन्ते भवो वैशन्तः। हिमवति भवो हैमवतः। यह 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है॥११२॥

स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ॥११३॥

स्रोतसः —५।१। विभाषा-[अ०प०]। ड्यत्-ड्यौ —१।२। अप्राप्त-विभाषेयम्। यति प्राप्ते ड्यड्ड्यौ विकल्प्येते। सप्तमीसमर्थात् स्रोतस्प्राति-पदिकाच्छन्दसि भव इत्यर्थे विकल्पेन ड्यत्, ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पक्षे स एव यत् यस्य प्राप्ताविंय विभाषाऽऽरभ्यते। स्रोतसि भवः स्रोत्यः। स्रोतस्यः॥११३॥

भावार्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। यत् प्रत्यय की प्राप्ति में ड्यत् और ड्य प्रत्ययों का विकल्प किया गया है। सप्तमी समर्थ स्रोतस् प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोगविषय में भव अर्थ में विकल्प से ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं। पक्ष में वह 'यत्' ही होता है जिसकी प्राप्ति में यह विकल्प से प्रत्यय विधान किया है। जैसे—स्रोतसि भवः स्रोत्यः। स्रोतस्यः। [यहाँ ड्यत् तथा ड्य प्रत्ययों में स्वर में ही विशेषता होती है। ड्यत् प्रत्ययान्त में 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) से अन्तःस्वरित और ड्य प्रत्यय में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता है]। ११३॥

सगर्भसयूथसनुताद् यन्॥११४॥

सगर्भ-सयूथ-सनुतात् —५।१। यन् —१।१। सप्तमीसमर्थेभ्यः सगर्भ,

सयूथ, सनुत, इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि भव इत्यर्थे यन् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। यद्यनोः स्वरभेदः। सगर्भ्यः। सयूथ्यः। सनुत्यः॥ ११४॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ सगर्भ, सयूथ, सनुत, इन प्रातिपदिकों से वैदिक प्रयोग विषय में भव अर्थ में 'यन्' प्रत्यय होता है। यह 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है। यत् और यन् में स्वर का ही भेद है। जैसे सगर्भ्यः। सयूथ्यः। सनुत्यः॥ ११४॥

तुग्राद् घन्॥ ११५॥

तुग्रात् —५।१। घन् —१।१। सप्तमीसमर्थात् तुग्रप्रातिपदिकाच्छन्दसि भव इत्यर्थे घन् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्॥ ११५॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ 'तुग्र' प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में भव अर्थ में 'घन्' प्रत्यय होता है। यह यत् प्रत्यय का अपवाद है। जैसे—त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्॥ ११५॥

अग्राद् यत्॥ ११६॥

अग्रात् —५।१। यत् —१।१। परस्मिन् सूत्रेऽग्रप्रातिपदिकाद् घ-छौ प्रत्ययौ विधीयेते, तौ यतो बाधकौ मा भूतामिति पुनर्यद्विधानम्। सप्तमीसमर्थाद् अग्रप्रातिपदिकाच्छन्दसि भव इत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। अग्रे भवमग्र्यम्॥ ११६॥

भाषार्थ—इससे अगले सूत्र से 'अग्र' प्रातिपदिक से घ और छ प्रत्ययों का विधान किया है, वे दोनों समान्य 'यत्' के बाधक न बन जायें, इसलिए पुनः यत् प्रत्यय का विधान किया है। सप्तमी समर्थ अग्र प्रातिपदिक से वैदिक प्रयोग विषय में भव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—अग्रे भवम्=अग्र्यम्॥ ११६॥

घछौ च॥ ११७॥

अग्रादित्यनुवर्त्तते। घ-छौ—१।२। च—[अ०प०]। सप्तमीसमर्थाद् अग्रप्रातिपदिकाद् [भवार्थे] घ-छौ प्रत्ययौ भवतः। अग्रे भवम् अग्रियम्। अग्रीयम्॥ ११७॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्व सूत्र से 'अग्रात्' पद की अनुवृत्ति है। सप्तमी समर्थ अग्र प्रातिपदिक से भव अर्थ में घ और छ प्रत्यय होते हैं। जैसे—अग्रे भवम् अग्रियम्। अग्रीयम्॥ ११७॥

समुद्राभ्राद् घः॥ ११८॥

समुद्राभ्रात् —५।१। घः —१।१। सप्तमीसमर्थाभ्यां समुद्र, अभ्र, इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि भव इत्यर्थे घः प्रत्ययो भवति। समुद्रे भवं समुद्रियम्। अभ्रियम्।

जयादित्येनात्रोक्तम्-अभ्रशब्दस्य पूर्वनिपातो न कृतोऽल्पाच्तरमिति सूत्रस्य व्यभिचारित्वादिति। अहो! जयादित्यस्येदृशी बुद्धिर्यया सूत्रमिदं दूषितम्। नैतत्तेन विचारितम्-समुद्रशब्दोऽन्तरिक्षनामसु पठितम्। अभ्रशब्दश्च मेघवाची।

तत्रान्तरिक्षं पिता मेघोऽभ्रं पुत्रः। मेघानामन्तरिक्षादेव जायमानत्वात्। समुद्र-शब्दोऽभ्यर्हितं मेघस्योत्पत्तिकारणत्वात्।(अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति) भवत्येव समुद्रशब्दस्य पूर्वनिपातः॥ ११८॥

भाषार्थ—सप्तमी समर्थ समुद्र, अभ्र प्रातिपदिकों से वैदिकप्रयोग विषय में भव अर्थ में 'घ' प्रत्य होता है। जैसे—समुद्रे भवं समुद्रियम्, अभ्रियम्।

इस सूत्र पर जयादित्य ने लिखा है—इस सूत्र में 'अल्पाच्तरम्' सूत्र के नियम का व्यभिचार होने से अभ्र शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया है। ऐसी जयादित्य की बुद्धि पर आश्चर्य होता है, जिसने पाणिनि मुनि के सूत्र पर दोषारोपण किया है। उसने यह विचार नहीं किया कि वैदिक शब्दकोष निघण्टु में 'समुद्र' शब्द अन्तरिक्ष नामों में पठित है और अभ्रशब्द मेघवाची है। इनमें अन्तरिक्ष पितृतुल्य है और मेघ पुत्रवत् है, क्योंकि मेघ अन्तरिक्ष में ही उत्पन्न होते हैं। मेघ का उत्पत्ति कारण होने से समुद्र शब्द अभ्यर्हित है और 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' (अ० २।२।३४ वा०) इस वार्त्तिक सूत्र के नियम से समुद्र शब्द का पूर्व प्रयोग ठीक ही है॥ १८८॥

बर्हिषि दत्तम्॥ ११९॥

भव इति निवृत्तम्। बर्हिषि —७।१। दत्तम् —१।१। दत्तमिति प्रत्ययार्थः। सप्तमीसमर्थाद् बर्हिःप्रातिपदिकाद् दत्तमित्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। बर्हिषि दत्तं बर्हिष्यम्॥ ११९॥

भाषार्थ—'भवे' पद की यहाँ अनुवृत्ति नहीं है। 'दत्तम्' यह प्रत्ययार्थ है। सप्तमी समर्थ 'बर्हिष्' प्रातिपदिक से दत्त अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे बर्हिषि दत्तम्=बर्हिष्यम्॥ ११९॥

दूतस्य भागकर्मणी॥ १२०॥

दूतस्य —६।१।भागकर्मणी —१।२।तत्रेति सप्तमीसमर्थपदं नानुवर्त्तते। अत्र दूतस्येति निर्देशादेव षष्ठीसमर्थत्वमाश्रीयते। [षष्ठीसमर्थाद् दूतप्राति-पदिकाद् भागे कर्मणि चार्थे यत् प्रत्ययो भवति।] दूतस्य भागः कर्म वा दूत्यम्॥ १२०॥

भाषार्थ—इस सूत्र में 'तत्र' पद की अनुवृत्ति नहीं है। 'दूतस्य' इस सूत्र के निर्देश से ही षष्ठी समर्थ विभक्ति है। षष्ठी समर्थ दूत प्रातिपदिक से भाग और कर्म अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—दूतस्य भागः कर्म वा दूत्यम्। १२०।

रक्षोयातूनां हननी॥ १२१॥

रक्षोयातूनाम् —६।३।हननी —१।१।हन्यते यया सा करणे ल्युडन्तान् ङीप्। सप्तमीसमर्थाभ्यां रक्षोयातूप्रातिपदिकाभ्यां हननीत्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। रक्षसां हननी रक्षस्या तनूः। यातूनां हननी यातव्या॥ १२१॥

भाषार्थ—'हननी' पद में करण कारक में ल्युट् प्रत्ययान्त से ङीप् प्रत्यय है। 'हन्यते यया सा हननी।' सप्तमी समर्थ रक्षस्, यातू प्रातिपदिकों से हननी अभिधेय

में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—रक्षसां हननी रक्षस्यां तनूः। यातूनां हननी यातव्या॥१२१॥

रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये॥१२२॥

रेवती-जगती-हविष्याभ्यः —५।३। प्रशस्ये —७।१। षष्ठीसमर्थेभ्यो रेवती-जगती-हविष्याभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रशस्येऽर्थे यत् प्रत्ययो भवति। प्रशंसनं प्रशस्यम्। 'कृत्यल्युटो बहुलमिति' भावे यत्। रेवत्याः प्रशस्यं रेवत्यम्। जगत्यम्। हविष्यम्। यस्येति चेति हविष्याशब्दस्याकारलोपे सति 'हलो यमां यमि लोप' इति प्रथमस्य यकारस्य लोपः॥१२२॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ रेवती, जगती, हविष्या, इन प्रातिपदिकों से प्रशस्य अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। सूत्र के 'प्रशस्य' पद में 'प्रशंसनं प्रशस्यम्' अर्थ के अनुसार 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) सूत्र से भावे में 'यत्' प्रत्यय है। जैसे—रेवत्याः प्रशस्यं रेवत्यम्। जगत्यम्। हविष्यम्। 'हविष्या' शब्द से यत् प्रत्यय करने पर 'यस्येति च' (अ० ६।४।१४८) सूत्र से आकारलोप होने पर 'हलो यमां यमि लोपः' (अ० ८।४।६३) सूत्र से प्रथमयकार का लोप हुआ है॥१२२॥

असुरस्य स्वम्॥१२३॥

असुरस्य —६।१। स्वम् —१।१। स्वमिति प्रत्ययार्थः। स्व-स्वामि-सम्बन्धे तस्येदमित्यण् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठीसमर्थाद् असुर-प्रातिपदिकात् स्वमित्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। असुराणां स्वे असुर्य्याः॥१२३॥

भाषार्थ—'असुर' शब्द से स्व-स्वामि-सम्बन्ध में 'तस्येदम्' (अ० ४।३।११९) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त है, उसका यह अपवाद है। षष्ठी समर्थ 'असुर' प्रातिपदिक से स्व अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—असुराणां स्वे असुर्य्याः। असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। (यजु० ४०।३)॥१२३।

मायायामण्॥१२४॥

मायायाम् —७।१।अण् —१।१।असुरस्येत्यनुवर्त्तते। पूर्वेण सामान्यतो यत् प्राप्तः स बाध्यते। षष्ठीसमर्थाद् असुरप्रातिपदिकात् स्वकीयायां मायायाम् अण् प्रत्ययो भवति। असुरस्येयम् आसुरी माया॥१२४॥

भाषार्थ—यहाँ 'असुरस्य' पद की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र से सामान्यरूप से 'यत्' प्रत्यय प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। षष्ठी समर्थ 'असुर' प्रातिपदिक से स्वकीय माया अभिधेय हो तो 'अण्' प्रत्यय होता है। जैसे—असुरस्येयम्=आसुरी माया॥१२४॥

तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः॥१२५॥

तद्वान्—१।१ आसाम्—६।३ उपधानः—१।१ मन्त्रः—१।१ इति—[अ०प०]। इष्टकासु—७।३। लुक्—१।१। च-[अ०प०]। मतोः—६।१। तद्वान् इति निर्देशादेव षष्ठीसमर्थत्वमाश्रीयते। उपधीयते आधीयतेऽग्निर्येन स

उपधानो मन्त्रः। उपधान-मन्त्रसमानाधिकरणात् तद्वान् इति मतुबन्तात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् आसामिति षष्ठ्यर्थवाचिकास्विष्टकास्वभिधेयासु यत् प्रत्ययो भवति। प्रकृत्यन्तर्गतस्य मतोश्च लुक्। वर्चःशब्दोऽस्मिन्नस्ति स वर्चस्वान् मन्त्रः। वर्चस्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य वर्चस्वान् शब्दे यो मतुप् स लुप्यते। वर्चस्या इष्टकाः। सहस्याः। तेजस्याः। उपधान इति किम्? वर्चस्वान् उपस्थान मन्त्र आसामित्यत्र मा भूत्। मन्त्र इति किम्? स्रुङ्मानुपधानो हस्त आसामिति मा भूत्। इष्टकास्विति किम्? वर्चस्वानुपधानो मन्त्र एषां कपालानामित्यत्र मा भूत्॥ १२५॥

भाषार्थ—'तद्वान्' इस सूत्रनिर्देश से यहाँ षष्ठी समर्थविभक्ति का ग्रहण है। उपधान मन्त्र वह कहलाता है—जिससे अग्नि का यज्ञादि में आधान किया जाये। उपधान मन्त्र समानाधिकरण तद्वान्=मतुबन्त प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में इष्टका अभिधेय में 'यत्' प्रत्यय होता है और प्रकृत्यन्तर्गत 'मतुप्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। जैसे—'वर्चस्शब्दोऽस्मिन्नस्ति स वर्चस्वान् मन्त्रः। वर्चस्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानाम्' ऐसा विग्रह करके और 'यत्' प्रत्यय के परे 'मतुप्' का लुक् होने पर उदाहरण होगा—वर्चस्या इष्टकाः। सहस्याः। तेजस्याः।

यहाँ 'उपधान' का ग्रहण इसलिये है कि—वर्चस्वान् उपस्थान मन्त्र आसाम् यहाँ प्रत्यय न हो।

'मन्त्र' का ग्रहण इसलिए है कि—'स्रुङ्मान् उपधानो हस्त आसाम्' यहाँ प्रत्यय न हो। और 'इष्टका' ग्रहण इसलिए है कि—'वर्चस्वानुपधानो मन्त्र एषां कपालानाम्' यहाँ प्रत्यय न हो॥ १२५॥

अश्विमानण्॥ १२६॥

पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्त्तते। अश्विमान् —१।१। अण् —१।१। उपधान-मन्त्रसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थान् मतुबन्ताद् अश्विमान्प्रातिपदिकाद् आसामिति षष्ठ्यर्थेष्विष्टकास्वभिधेयास्वण् प्रत्ययो भवति। [प्रकृत्यन्तर्गतस्य मतोश्च लुक्।] पूर्वसूत्रेण यत् प्राप्तः स बाध्यते। अश्विशब्दो विद्यतेऽस्मिन् मन्त्रे सोऽश्विमान्। अश्विमान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य मतोर्लुक्। अश्विनीरुपदधाति। 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः॥ १२६॥

भाषार्थ—समस्त पूर्वसूत्र की यहाँ अनुवृत्ति है। पूर्वसूत्र से 'यत्' प्राप्त है, यह उसका अपवाद है। उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमा समर्थ मतुप् प्रत्ययान्त 'अश्विमत्' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ इष्टका अभिधेय हो तो 'अण्' प्रत्यय होता है और प्रकृत्यन्तर्गत 'मतुप्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। जैसे—'अश्विशब्दो विद्यतेऽस्मिन् मन्त्रे सोऽश्विमान्। अश्विमान् उपधान मन्त्र आसामिष्टकानाम्' ऐसा विग्रह करके और मतुप् का लुक् करने पर उदाहरण बनेगा—आश्विनीरुपदधाति। इस प्रयोग में 'अश्विन्' शब्द के टि भाग का 'इनण्यनपत्ये' (अ० ६।४।१६४) सूत्र से प्रकृति भाव होने से लोप नहीं हुआ है॥ १२६॥

वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप्॥ १२७॥

वयस्यासु —७।३।मूर्ध्नः —५।१।मतुप् —१।१।वयः शब्दोऽस्मिन् वर्त्तत इति वयस्वान् मन्त्रः। वयस्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य पूर्वसूत्रेण यत्। वयस्या इष्टकास्तासु। पूर्वसूत्रवद् अत्रापि सर्वमनुवर्त्तते। उपधानमन्त्रसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थान् मतुबन्तान्मूर्धन्प्रातिपदिकाद् वयस्यास्विष्टका स्वभिधेयासु मतुप् प्रत्ययो भवति।[प्रकृत्यन्तर्गतस्य मतोश्च लुक् भवति।] मूर्धन् शब्दोऽस्मिन् वर्त्तत इति मूर्धन्वान् मन्त्रः। मूर्धन्वान् उपधानो मन्त्र आसां वयस्यानामिष्टकानामिति विगृह्य मूर्धन्वच्छब्दस्थस्य मतुपो लुक्। पश्चाद् यतोऽपवादो द्वितीयो मतुप्। मूर्धन्वत्य इष्टकाः। वयस्यास्विति किम्-यस्मिन् मन्त्रे वयःशब्दो मूर्धन्-शब्दश्च वर्त्तते तत्रैव यथा स्यादन्यत्र माभूत्॥ १२७॥

भाषार्थ—वयस् शब्द जिस मन्त्र में हो उसे 'वयस्वान् मन्त्र' कहते हैं और 'वयस्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानाम्' ऐसा विग्रह करके पूर्वसूत्र से यत् प्रत्यय करने से और मतुप् प्रत्यय का लुक् होने से 'वयस्या' शब्द सिद्ध होता है। पूर्वसूत्र की भाँति यहाँ भी 'उपधानो मन्त्र' इत्यादि पदों की अनुवृत्ति है। उपधान-मन्त्र समानाधिकरण प्रथमा समर्थ मतुबन्त 'मूर्धन्' प्रातिपदिक से वयस्या (इष्टका) अभिधेय हो तो 'मतुप्' प्रत्यय होता है और प्रकृत्यन्तर्गत 'मतुप्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। जैसे—मूर्धन् शब्दोऽस्मिन् वर्त्तत इति मूर्धन्वान् मन्त्रः। 'मूर्धन्वान् उपधानो मन्त्र आसां वयस्यानामिष्टकानाम्' ऐसा विग्रह करके 'मूर्धन्वत्' शब्द के मतुप् का लुक् और यत् प्रत्यय का अपवादरूप द्वितीय मतुप् प्रत्यय होता है। मूर्धन्वत्य इष्टकाः।

वयस्यास्विति किम्—जिस मन्त्र में वयस् और मूर्धन् दोनों शब्दों का पाठ हो, वहीं प्रत्ययविधि है, अन्यत्र न होवे॥ १२७॥

मत्वर्थे मासतन्वोः॥ १२८॥

पूर्वं सर्वं निवृत्तम्। छन्दसि यदित्यनुवर्त्तते। मत्वर्थे—७।१ मासतन्वोः—७।२ मत्वर्थः—'तदस्यास्त्यस्मिन्निति'। मासतन्वोरिति प्रत्ययार्थविशेषण-मन्यपदार्थः। प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे मासतन्वोरन्यपदार्थयोः सतोर्यत् प्रत्ययो भवति, छन्दसि-वैदिकप्रयोगविषये। नभांसि विद्यन्तेऽस्मिन् नभस्यो मासः। तपस्यः। सहस्यः। तन्वां खलु—तेजो विद्यतेऽस्यां तेजस्या तनूः। ओजस्या तनूः।

मासतन्वोरिति किम्—चूताः सन्त्यस्मिन् वने तच्चूतिवनम्। तपस्वी पुरुषः।

वा०—मासतन्वोरित्यनन्तरार्थे वा॥ १॥

वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थे, समीपेऽन्यपदार्थे कार्यमिदं तथा स्यात्। मध्वस्मिन्नस्ति, मध्वस्मिन्ननन्तरमिति वा मधव्यः। माधवः। परस्य सूत्रस्येमे

उदाहरणे दत्ते, तेन ज्ञायते, द्वयोः सूत्रयोरुपरीदं वार्त्तिकम्।

वा०—लुगकारेकाररेफाश्च प्रत्ययाः॥ २॥

मासतन्वोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुक्, अकार, इकार, रेफ, इत्येते प्रत्ययाश्च भवन्ति। लुक् मधुः। नभः। तपः। मासानां नामान्येतानि। अकारः—ईषः। ऊर्जः। इकारः—शुचिः। तनूविशेषणमेतत्। रेफ शुक्रः॥ १२८॥

भाषार्थ—यहाँ पूर्व सूत्र में अनुवृत्त पदों की निवृत्ति हो गई है। केवल 'छन्दसि' और 'यत्' पदों की अनुवृत्ति है। 'मत्वर्थ' से अभिप्राय 'तदस्यास्त्यस्मिन्०' सूत्र में निर्दिष्ट अर्थ से है। और 'मासतन्वोः' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण है। प्रथमा समर्थ प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में मास और तनूवाच्य हों तो, वैदिक प्रयोग विषय में 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे नभांसि विद्यन्तेऽस्मिन् नभस्यो मासः। तपस्यः, सहस्यः। तनू वाच्य में—तेजो विद्यतेऽस्यां तेजस्या तनूः, ओजस्या तनूः। मासतन्वोरिति किम्—चूताः सन्त्यस्मिन् तच्चूतिवनम्। तपस्वी पुरुषः।

वा०—मासतन्वोरित्यनन्तरार्थे वा॥ १॥

वा शब्द का यहाँ समुच्चय अर्थ है। जिससे यह प्रत्ययविधि समीपवाले अन्य पदार्थ में हो। मध्वस्मिन्नस्ति, मध्वस्मिन्ननन्तरमिति वा मधव्यः। माधवः। इससे अगले सूत्र 'मधोरञ् च' (४।४।१२९) के ये उदाहरण देने से यह स्पष्ट होता है कि यह वार्त्तिक दोनों सूत्रों से सम्बद्ध है।

वा०—लुगकारेकाररेफाश्च प्रत्ययाः॥ २॥

मास और तनू अभिधेय में विहित प्रत्यय का वैदिक प्रयोग विषय में लुक् हो जाता है और अकार, इकार तथा रेफ ये प्रत्यय होते हैं। जैसे—लुक्—मधुः। नभः। तपः। ये सब मासों के नाम हैं, अकार—ईषः। ऊर्जः। इकारः—शुचिः। यह तनू का विशेषण है। रेफ—शुक्रः॥ १२८॥

मधोरञ् च॥ १२९॥

मधोः—५।१। अञ्—१।१। च-[अ०प०]। प्रथमासमर्थान्मत्वर्थीयान्मधुप्रातिपदिकान्मासतन्वोरन्यपदार्थयोरञ् प्रत्ययो भवति, चकाराद् यच्च। मधु-मधुरगुणा अस्यां सन्ति माध्वी तनूः। मधव्या तनूः। मधुस्तनूः। पूर्वस्मिन् सूत्रे वार्त्तिकोपसंख्यानाल्लुगपि भवति। [मासे—माधवो मासः। मधव्यः। मधुः।]

इदानीन्तनेषु मुद्रितपुस्तकेषु काशिकादिव्याख्यानेषु च मधोर्ञ चेति सूत्रं सर्वत्र वर्त्तते। जयादित्येनेदृशमेव व्याख्यातम्। तत्सर्वत्र भ्रमादेव केनापि लिखितम्। कुतः। ञ्ञि सति ङीब् भवति, अन्यथा स्त्रियां टाबेव स्यात्। षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादान्ते माध्वीति निपातनं कृतं, नैव तत्र स्त्रियां ङीप् निपातितः। किन्तु यणादेश एव तत्र निपातनम्॥ १२९॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ मधु प्रातिपदिक से मत्वर्थ में मास और तनू अभिधेय में 'अञ्' प्रत्यय तथा चकार से 'यत्' प्रत्यय होते हैं।

जैसे—मधु=मधुरगुणा अस्यां सन्ति माध्वी तनूः। यत्—मधव्या तनूः। मधुस्तनूः। इस प्रयोग में पूर्वसूत्र में वार्त्तिकोपसंख्यान करने से प्रत्यय का लुक् भी होता है। मास अभिधेय में—माधवो मासः। मधव्यः। मधुः।

वर्त्तमान में मुद्रित पुस्तकों में तथा व्याख्याग्रन्थ काशिकादि में 'मधोर्ञ च' सूत्र का पाठ मिलता है। काशिकाकार जयादित्य ने भी ऐसा ही सूत्र मानकर व्याख्या की है। किन्तु यह सूत्र का अपपाठ भ्रमवश हो गया है। क्योंकि 'अञ्' और 'ञ' प्रत्ययान्त प्रयोगों में स्त्रीलिङ्ग मे अन्तर हो जाता है। अञ् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होगा और ञ प्रत्ययान्त से टाप्। और इसका निर्णय करने के लिये षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद का अन्तिम सूत्र 'ऋत्व्य: वास्त्व०' (६।४।१७५) द्रष्टव्य हैं। उस सूत्र में 'माध्वी' प्रयोग में निपातन से यणादेश ही किया है ङीप् प्रत्यय नहीं। और जो न्यासकार ने 'माध्वी' निपातन में 'तस्येदम्' (४।३।११९) सूत्र से अण् माना है, वह भी चिन्त्य है। क्योंकि 'भवे छन्दसि' सूत्र पर यह लिखा है कि यह अधिकार अणादि और पादि प्रत्ययों का अपवाद है॥ १२९॥

ओजसोऽहनि यत्खौ॥ १३०॥

मत्वर्थ इत्यनुवर्त्तते। ओजसः—५।१। अहनि—७।१। यत्खौ—१।२। अहनीति प्रत्ययार्थः। प्रथमासमर्थाद् ओजस्प्रातिपदिकान् मत्वर्थेऽहनीत्यन्यपदार्थे यत्खौ भवतः। ओजोऽस्मिन् वर्त्तत इति-ओजस्यमहः। ओजसीनमहः॥ १३०॥

भाषार्थ—यहाँ 'मत्वर्थ' की अनुवृत्ति है। 'अहनि' यह प्रत्ययार्थ है। प्रथमा समर्थ ओजस् प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अहः=दिन वाच्य हो तो यत् और ख प्रत्यय होते हैं। जैसे—ओजोऽस्मिन् वर्त्तत इति ओजस्यमहः। ओजसीनमहः॥ १३०॥

वेशोयशआदेर्भगाद् यल्॥ १३१॥

मत्वर्थ इत्यनुवर्त्तते। वेशो यश आदेः-५।१। भगात्-५।१। यल्-१।१। वेशोयशसी शब्दावादी यस्य तस्मात् प्रथमासमर्थाद् वेशोयशादेर्भगान्तात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे यल् प्रत्ययो भवति। वेशो भगो विद्यतेऽस्मिन् वेशोभग्यः। यशोभग्यः॥ १३१॥

भाषार्थ—यहाँ मत्वर्थ की अनुवृत्ति है। वेशस् और यशस् आदि में हैं जिसके उस प्रथमासमर्थ भग शब्दान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'यल्' प्रत्यय होता है। जैसे—वेशोभगो विद्यतेऽस्मिन् वेशोभग्यः। यशोभग्यः॥ १३१॥

ख च॥ १३२॥

वेशो यश आदेर्भगादित्यनुवर्त्तते। ख—१।१। च—[अ०प०]। खेति लुप्तविभक्तिको निर्देशः। वेशोयश आदेर्भगान्तात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे ख प्रत्ययो भवति। वेशो भगो विद्यतेऽस्य वेशोभगीनः। यशोभगीनः। पृथग् योग उत्तरार्थः॥ १३२॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'वेशोयशआदेर्भगात्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। सूत्र में 'ख' पद में विभक्ति का लोप करके निर्देश किया गया है। वेशस् और यशस्

जिसके आदि में हैं, ऐसे प्रथमासमर्थ भगान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है। जैसे—यशो भगो विद्यतेऽस्य यशोभगीनः। यशोभगीनः। पृथक् योग करने का प्रयोजन उत्तरसूत्र के लिये है॥१३२॥

पूर्वैः कृतमिनियौ च॥१३३॥

मत्वर्थ इति निवृत्तम्। पूर्वैः—३।३। कृतम्—१।१। इनि यौ—१।२। च-[अ०प०]। पूर्वैरिति निर्देशादेव तृतीयासमर्थत्वमाश्रीयते। पूर्वैरिति बहुवचननिर्देशात् प्राक्तनाः पुरुषा गृह्यन्ते। कृतमिति प्रत्ययार्थः। तृतीया-समर्थात् पूर्वप्रातिपदिकाद् कृतमित्यर्थ इनि, य, इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पूर्वैः कृतः पन्थाः-पूर्वी। पूर्व्यः॥१३३॥

भावार्थ—सूत्र में 'पूर्वैः' निर्देश से ही तृतीयासमर्थ विभक्ति का ग्रहण है। और 'पूर्वैः' पद में बहुवचन निर्देश से प्राचीन पुरुषों का ग्रहण किया गया है। 'कृतम्' इससे प्रत्ययार्थ का ग्रहण है। तृतीया समर्थ 'पूर्व' प्रातिपदिक से कृत अर्थ में इनि और य प्रत्यय होते हैं। जैसे—पूर्वैः कृतः पन्थाः पूर्वी। पूर्व्यः। [यहाँ चकार से ख प्रत्यय का भी ग्रहण है, इसीलिये इससे पूर्व सूत्र में 'पृथग्योग उत्तरार्थः' लिखा है। इससे 'पूर्वीणः' उदाहरण भी सिद्ध होता है]॥१३३॥

अद्भिः संस्कृतम्॥१३४॥

अद्भिः—३।३। संस्कृतम्—१।१। तृतीयासमर्थाद् अप्प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्यर्थे यत्प्रत्ययो भवति। अद्भिः संस्कृतम्—अप्यं हविः॥१३४॥

सहस्रेण सम्मितौ घः॥१३५॥

सहस्रेण—३।१। सम्मितौ—७।१। घः—१।१। सम्मितं तुल्यं सदृशमिति प्रत्ययार्थः। तृतीयासमर्थात् सहस्रप्रातिपदिकात् सम्मितावभिधेयायां घः प्रत्ययो भवति। सहस्रेण सम्मितः सहस्रियोऽग्निः॥१३५॥

भावार्थ—सम्मित शब्द तुल्यादि के अर्थ में है और यह प्रत्ययार्थ है। तृतीया समर्थ सहस्र प्रातिपदिक से सम्मित-सदृश अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। जैसे—सहस्रेण सम्मितः सहस्रियोऽग्निः॥१३५॥

मतौ च॥१३६॥

सहस्रेण घ इत्यनुवर्त्तते। मतौ—७।१। च-[अ०प०]। 'अर्थाद् विभक्तेर्विपरिणाम' इति सहस्रशब्दात् प्रथमा विपरिणम्यते। प्रथमासमर्थात् सहस्रप्रातिपदिकान्मत्वर्थे घः प्रत्ययो भवति। 'तपः सहस्राभ्यां विनीनी' 'अण् चेति' सूत्रद्वयेन सहस्रशब्दान्मत्वर्थे इनि, अण्, इति प्रत्ययौ प्राप्तौ, तौ छन्दसि मा भूतामिति बाध्येते। सहस्रमस्य विद्यत इति सहस्रियः। छन्दसीत्येकत्र कथनेन सर्वत्र विज्ञेयम्॥१३६॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र से 'सहस्रेण घः' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। अर्थ से विभक्ति बदल जाती है, इस नियम से सहस्र शब्द यहाँ प्रथमान्त हो जाता है। प्रथमा समर्थ 'सहस्र' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'तपः

सहस्राभ्यां विनीनी' और 'अण् च' (अ० ५।२।१०२, १०३) इन सूत्रों से मत्वर्थ में प्राप्त इनि और अण् प्रत्ययों का वैदिक प्रयोगों में अपवाद होने से बाधक है। जैसे—सहस्रमस्य विद्यते सहस्रियः। 'छन्दसि' का एक बार कथन करने से इन सब सूत्रों में ग्रहण होता है॥१३६॥

सोममर्हति यः॥ १३७॥

सोमम् —२।१।अर्हति –[क्रि.प.] यः —१।१।निर्देशादेव द्वितीया-समर्थविभक्तिराश्रीयते। द्वितीयासमर्थात् सोमप्रातिपदिकाद् अर्हतीत्यस्य कर्त्तरि यः प्रत्ययो भवति। सोममर्हति सोम्यः। य-यतोः स्वरभेदः। अतः प्रत्ययान्तरविधानम्॥ १३७॥

भाषार्थ—सूत्रनिर्देश से ही यहाँ द्वितीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण किया गया है। द्वितीया समर्थ 'सोम' प्रातिपदिक से अर्हति=योग्यता रखनेवाले (समर्थ) कर्त्ता के वाच्य में 'य' प्रत्यय होता है। जैसे—सोममर्हति सोम्यः॥ य और यत् प्रत्ययों में स्वर का भेद है, अतः प्रत्ययान्तर का विधान किया है॥१३७॥

मये च॥ १३८॥

सोमं य इत्यनुवर्त्तते। मये —७।१। च —[अ०प०] मय इति मयडर्थो लक्ष्यते। आगत-विकार-अवयव-प्रकृता मयडर्थाः। सोमशब्दाद् यथायोगं समर्थ विभक्तिर्विपरिणम्यते। [सोमप्रातिपदिकाद् यथायोगं समर्थविभक्ति-योगान्मयडर्थे यः प्रत्ययो भवति।] सोमस्य विकारोऽवयवो वा सोम्यः। सोमादागतं सोम्यम्। प्रकृतः सोमः सोम्यः। इति सामान्येन मयडर्थे यः॥ १३८॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'सोमं यः' पदों की अनुवृत्ति है। यहाँ 'मये' पद से 'मयडर्थ' का ग्रहण है। 'मयट्' प्रत्यय के आगत, विकार, अवयव और प्रकृत अर्थ हैं। सोम शब्द से मयडर्थ के अनुसार समर्थ विभक्ति का परिवर्त्तन हो जाता है। [जिन-जिन अर्थों में जिस-जिस समर्थ विभक्ति से 'मयट्' प्रत्यय का विधान किया है, उन्हीं समर्थ विभक्तियों से 'सोम' प्रातिपदिक से 'मयट्' प्रत्यय के अर्थों में 'य' प्रत्यय होता है।] जैसे—सोमस्य* विकारोऽवयवो वा सोम्यः। सोमादागतम्=सोम्यम्। प्रकृतः सोमः सोम्यः। इस प्रकार इस सूत्र में सामान्य रूप में मयडर्थ में 'य' प्रत्यय का विधान किया गया है॥१३८॥

मधोः॥ १३९॥

मय इत्यनुवर्त्तते। मधोः —५।१। मधुप्रातिपदिकात् [यथायोगं समर्थ-विभक्तियोगात्] मयडर्थे यत् प्रत्ययो भवति। मधोर्विकारोऽवयवो वा मधव्यः। मधोरागतं मधव्यम्॥ १३९॥

भाषार्थ—मधु प्रातिपदिक से 'मयट्' प्रत्यय के अर्थों में यथायोग समर्थ

---

* विकारावयवयोरर्थयोः षष्ठी, प्रकृतवचने प्रथमा, आगतार्थे च पंचमी समर्थविभक्तिः। तथा च सूत्राणि—मयड् वैतयोर्भाषायाम्० (४।३।१४०), तत् प्रकृतवचने मयट् (५।४।२१), मयट् च (४।३।८२)। —अनुवादकः

विभक्ति से 'यत्' प्रत्यय होता है। जैसे—मधोर्विकारोऽवयवो वा मधव्यः। मधोरागतं मधव्यम्॥ १३९॥

वसोः समूहे च॥ १४०॥

[वसोः—५।१। समूहे—७।१। च—अ०प०] चकारग्रहणान्मय इत्यनुवर्त्तते। वसुप्रातिपदिकात् समूहे मयडर्थे च यत् प्रत्ययो भवति। यथायोगं समर्थविभक्तिराश्रयणीया। वसोः समूहो विकारोऽवयवादिर्वा वसव्यः।

वा०—अक्षरसमूहे छन्दस उपसंख्यानम्॥ १॥

छन्दः प्रातिपदिकादक्षरसमूहे यत्प्रत्ययो यथा स्यात्। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्। अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्। ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्। यजेति द्व्यक्षरम्। द्व्यक्षरो वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञमनुविहितः। अत्र छन्दस्यशब्देन सप्तदशाक्षराणि गणितानि॥ १॥

वा०—छन्दसि बहुभिर्वसव्यैरुपसंख्यानम्॥ २॥

हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैः। वसव्यैरिति वसुप्रातिपदिकात् स्वार्थे यदित्युपसंख्यातं वार्त्तिकेन॥ १४०॥

भाषार्थ—चकार ग्रहण से मय (मयड्) की अनुवृत्ति आ रही है। वसु प्रातिपदिक से समूह और मयट्प्रत्यय के अर्थों में यत् प्रत्यय होता है। यथायोग समर्थविभक्ति का आश्रय कर लेना चाहिए। वसोः समूहो विकारोऽवयवादिर्वा वसव्यः।

वा०—अक्षरसमूहे छन्दस उपसंख्यानम्॥ १॥

छन्दः प्रातिपदिक से अक्षरसमूह अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करना चाहिए। 'ओश्रावय' यह और 'अस्तु श्रौषट्' ये दोनों चार-चार अक्षरों के समूह हैं। ये यजामहे यह पञ्चाक्षरीय समूह है। 'यज' यह द्व्यक्षरात्मक है। 'वषट्' (वषट्कार) भी दो अक्षरोंवाला है। यह सत्रह अक्षरों का समूह छन्दस्य कहाता है। यह (छन्दस्य) यज्ञ में प्रजापति के दृष्ट होने का साधनरूप है। यहाँ छन्दस्य शब्द से सत्रह अक्षरों की गणना का ग्रहण किया जाता है।

वा०—छन्दसि बहुभिर्वसव्यैरुपसंख्यानम्॥ २॥

इस वार्त्तिक से छन्द में (वेद में) वसुप्रातिपदिक से स्वार्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया जाना चाहिए। हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यै। वसव्यैः पद में यत् प्रत्यय है॥ १४०॥

नक्षत्राद् घः॥ १४१॥

समूह इति नानुवर्त्तते। नक्षत्रात् —५।१। घः —१।१। नक्षत्रप्रातिपदिकात् स्वार्थे घः प्रत्ययो भवति। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा॥ १४१॥

भाषार्थ—'नक्षत्र' प्रातिपदिक से स्वार्थ में यत् प्रत्यय होता है जैसे—नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा॥ १४१॥

सर्वदेवात् तातिल्॥ १४२॥

सर्वदेवात् —५।१। तातिल् —१।१। सर्व, देव, इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां स्वार्थे तातिल् प्रत्ययो भवति। लकारः स्वरार्थः। सर्वतातिः। देवतातिः॥ १४२॥

भाषार्थ—वैदिक प्रयोग विषय में सर्व और देव प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'तातिल्' प्रत्यय होता है। प्रत्यय में लकार स्वर के लिए है। जैसे—सर्वतातिः। देवतातिः॥ १४२॥

शिवशमरिष्टस्य करे॥ १४३॥

तातिल् इत्यनुवर्त्तते। शिवशमरिष्टस्य —६।१ करे —७।१। अत्र निर्देशादेव षष्ठीसमर्थत्वम्। करोतीति करः। शिव, शम्, अरिष्ट, इत्येतेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कर इत्यर्थे तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवं करोतीति शिवतातिः। शंतातिः। अरिष्टतातिः॥ १४३॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र से 'तातिल्' प्रत्यय की अनुवृत्ति है। और सूत्र निर्देश से ही यहाँ षष्ठी समर्थ विभषित का ग्रहण है। 'करोतीति करः' [यह प्रत्ययार्थ है]। शिव, शम्, अरिष्ट, इन षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से कर (करने) अर्थ में 'तातिल्'-प्रत्यय होता है। जैसे—शिवं करोतीति शिवतातिः। शन्तातिः। अरिष्टतातिः॥ १४३॥

भावे च॥ १४४॥

शिवादयोऽनुवर्त्तन्ते तातिल् इति च। भावे —७।१। च —[अ०प०]। शिवादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भावे तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवस्य भावः शिवतातिः। शंतातिः। अरिष्टतातिः। अस्मिन् सूत्रे चकार इत्यर्थे समाप्तिं सूचयति॥ १४४॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादोऽध्यायश्च समाप्तः॥

[इति श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्-दयानन्द-सरस्वती-स्वामिना प्रणीतेऽष्टाध्यायी-भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः।]

भाषार्थ—इस सूत्र में 'शिवादि' तथा 'तातिल्' की अनुवृत्ति है। षष्ठी समर्थ शिव, शम् तथा अरिष्ट प्रतिपदिकों से वैदिक प्रयोग विषय में भाव अर्थ में तातिल् प्रत्यय होता है। जैसे—शिवस्य भावः शिवतातिः। शन्तातिः। अरिष्टतातिः। इस सूत्र में चकार इति (समाप्ति) अर्थ में है। और यह अध्याय की समाप्ति का सूचक है॥ १४४॥

यह चतुर्थ अध्याय का चतुर्थपाद और अध्याय समाप्त हुआ॥

इत्युत्तरप्रदेशान्तर्गत—गाजियाबाद—मण्डले फजलगढ—नाम्नि ग्रामे लब्धजन्म श्रील—शिवचरणात्मजेन, झज्जर-गुरुकुलेऽधीतविद्येन तत्रभवता श्रीयुतस्वामि ओमानन्दसरस्वतीनामन्तेवासिना दयानन्द-सन्देश—सम्पादकेन राजवीरशास्त्रिणा महर्षिपाणिनिकृताया अष्टाध्याय्याश्चतुर्थाध्यायस्य दयानन्दसरस्वतीकृत-संस्कृतभाष्य-स्यार्य-भाषायां व्याख्यातः चतुर्थाध्यायस्तृतीयभागश्चायं समाप्तिमगात्॥